अन्तर्राष्ट्रीय कानून

INTERNATIONAL LAW

(THEORY AND PRACTICE)

डॉ. हरिश्चन्द्र शर्मा

, एम. ए., पीएच. डी.

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, भारत में लोक प्रशासन, राजनय के सिद्धान्त,
भारत में राज्यों की राजनीति, भारत में स्थानीय प्रशासन आदि
पुस्तकों के लेखक

कॉलेज बुक डिपो
83, त्रिपोलिया बाजार (आतिश गेट के पास)
जयपुर-2 (राजस्थान)

अनुक्रमणिका

1

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रकृति और उसका क्षेत्र; क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक कानून है ? अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे अनुशास्तियाँ; अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार; अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वर्गीकरण और उसकी समस्याएँ

(Nature and Scope of International Law; Is International Law a Law ? Sanctions Behind International Law; Basis of International Law; Classification and Problems of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे अराजकता और अव्यवस्था का अर्थ मानव सभ्यता के विनाश को निमन्त्रण देना है। आधुनिक समय की परिस्थितियो मे राज्य अपने सामूहिक स्वरूप के होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के दूसरे सदस्यो के सम्बन्ध मे स्वय-एक सामाजिक इकाई बन गया है। राज्यों की एक-दूसरे पर निर्भरता आज एक तथ्य है। राज्यो के पारस्परिक व्यवहार का नियमन एक अनिवार्यता है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व की माँग करती है। राज्यो के आपसी सम्बन्धो के नियमन और नियन्त्रण के अनेक साधनों मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून अधिक सामान्य और अधिक निरन्तर प्रकृति के हैं। इन्हें राज्यों की नैतिक आचार-संहिता कहा जाता है। राज्यो की सहमति पर इनका अस्तित्व निर्भर है, तथापि सामान्यत: राज्य इनकी अवहेलना करने से बचते हैं क्योंकि इस अवहेलना का दूसरा अर्थ विश्व-शान्ति को भग करना है। बहुसख्यक विचारको ने माना है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को उचित रूप से पजीकृत कर दिया जाए और इनके आधार पर राज्यो के राजनीतिक सम्बन्धो को नियमित किया जाए तो ये अपनी आन्तरिक शक्ति के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय रगमंच पर हो रहे शक्ति-सघर्ष को प्रतिबन्धित कर सकते हैं। आज के आणविक युग म कोई भी राज्य दूसरे राज्यो के साथ व्यवहार मे मनमानी नहीं कर सकता और यदि करता है तो वह न केवल अपने लिए बल्कि समग्र मानव समाज के लिए खतरो को आमन्त्रण देता है। पिछले दो महायुद्धो और एशिया तथा हिन्द चीन के भयावह युद्धो ने यह भलीभाँति स्पष्ट कर दिया है कि आधुनिक युग मे

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण असाधारण महत्त्व रखते हैं। जिस प्रकार एक राज्य के नागरिकों के आपसी सम्बन्ध और व्यवहार उस राज्य के देशी या राष्ट्रीय कानून (Municipal Law) से नियन्त्रित होते हैं, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राज्यों के आपसी सम्बन्धों का नियमन अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा होना चाहिए। यदि सभ्य और सम्प्रभु राष्ट्र अपने व्यवहार के लिए स्वीकार किए गए परम्परागत और नवस्थापित नियमों को ठुकराते हैं तो फिर 'सभ्य' और 'असभ्य' राज्य का अन्तर कोई मायने नहीं रखता। इसी बात की ओर संकेत करते हुए ह्वीटन[1], हॉल[2], ह्यूज[3] आदि विद्वानों ने यह लिखा है कि राष्ट्रों के समाज का सदस्य बनने और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लागू होने से पूर्व 'सभ्य' होना जरूरी है। आवागमन और संचार साधनों के विकास के साथ-साथ आज 'एक संसार' (One World) की धारणा साकार होती जा रही है; अतः इस 'एक संसार' के सदस्यों (राष्ट्रों) के आचरण को नियमित करने वाली परम्पराओं, रूढ़ियों और कानूनों का निःसन्दिग्ध महत्त्व है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप
(Nature of International Law)

जब हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप (Nature) की बात करते हैं तो हमें अनेक पहलुओं पर विचार करना होता है। मुख्य रूप से यह देखना होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा क्या है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून को वास्तव में 'कानून' कहा जाना चाहिए या नहीं, नियम (Rule) और कानून (Law) में क्या अन्तर है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आवश्यक तत्त्व क्या हैं, अन्तर्राष्ट्रीय कानून किस प्रकार एक गतिशील प्रकृति लिए है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना और अन्य कारणों से क्या परिवर्तन उत्पन्न हुए हैं, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण में नई प्रवृत्तियाँ क्या हैं आदि।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषाएँ
(Definitions of International Law)

वर्तमान समय में 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून' की परिभाषा के सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय सुविख्यात ब्रिटिश विधिशास्त्री जेरेमी बेंथम (1748–1832) को दिया जाता है जिसने सन् 1780 में 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून' (International Law) शब्द की रचना की। इससे पूर्व राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों और सम्पर्क को नियन्त्रित करने वाले नियमों को लेटिन में 'राष्ट्रों का कानून' (Droit des gens) कहा जाता था। बेंथम ने इसके स्थान पर 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून' (Droit entere des gens) शब्दों के प्रयोग को उचित माना और तर्क दिया कि यह परिभाषा पिछली परिभाषा 'राष्ट्रों का कानून' से अधिक स्पष्ट और बोधगम्य है।

1 *Wheaton, H* : Elements of International Law, p 14.
2 *Hall, W. E. A* : Treatise on International Law, p. 1
3 *Hughes, C E.* : American Bar Association Journal, XVI (1930), p 153

मोटे तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन नियमों का समूह है जिनके अनुसार सभ्य राज्य शान्तिकाल तथा युद्धकाल में एक दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जिन नियमों का पालन आज सभ्य जगत में हो रहा है, उनके लिखित रूप का विकास मुख्यतः यूरोप और अमेरिका में हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय कानून देश, जाति, वर्ण, धर्म आदि की अपेक्षा नहीं करता। उसकी दृष्टि में सभी राज्य समान हैं। अतः संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर भी आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून बन गया है। विद्वानों के अनुसार कानून (Law) उस आचार को कहते हैं जिसकी अवहेलना करने पर दण्ड मिले। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की अवहेलना करने वाले राष्ट्रों के लिए विभिन्न प्रकार के आर्थिक और सैनिक दण्डों की व्यवस्था की गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। पुराने लेखकों ने तर्क और न्याय पर बल दिया है तो बाद के लेखक अन्तर्राष्ट्रीय जीवन पर बल देते हैं। तुलना के लिए दोनों ही पक्षों की कुछ प्रतिनिधि परिभाषाएँ चार्ल्स जी फेनविक ने निम्नानुसार प्रस्तुत की है[1]—

1 ह्वीटन (Wheaton)—"सभ्य राज्यों में माने जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून की यह परिभाषा की जा सकती है कि यह स्वतन्त्र राष्ट्रों में विद्यमान समाज का स्वरूप देख कर तर्क बुद्धि द्वारा निश्चित किए गए न्यायानुकूल आचरण के नियमों से निर्मित होता है। इसमें विभिन्न देशों की सामान्य सहमति से इन नियमों में किए गए संशोधन भी सम्मिलित होते हैं।"

2. सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine)—"राष्ट्रों का कानून एक जटिल पद्धति है जिसमें अनेक तत्त्वों का समावेश है। ये तत्त्व हैं—अधिकार और न्याय के वे सामान्य सिद्धान्त जो प्राकृतिक समन्याय (Equity) की दशा में रहने वाले व्यक्तियों के आचरण तथा राष्ट्रों के सम्बन्धों और आचरण के लिए समान रूप से उपयुक्त हों, प्रथाओं (Usages) तथा रूढ़ियों या आचारों (Customs) और विधिशास्त्रियों की सम्मतियों (Opinions) का संग्रह, सभ्यता और व्यापार का विकास, निश्चित कानून (Positive Law) की संहिता।"

3 काल्वो—"विभिन्न राष्ट्रों द्वारा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में व्यवहृत आचरण के नियमों के समूह को—दूसरे शब्दों में राज्य के पारस्परिक दायित्वों के योग को (जिसका आशय यही है कि इनका उन्हें अवश्य पालन करना चाहिए) अन्तर्राष्ट्रीय कानून समझा जाना चाहिए।"

4. हाल (Hall)—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून आचरण के उन कतिपय नियमों में निहित है जिन्हें वर्तमान सभ्य राज्य एक-दूसरे के साथ व्यवहार में ऐसी शक्ति के साथ बाधित रूप से पालन करने योग्य (Binding) समझते हैं जिस शक्ति के साथ सद्‌विवेकी कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति अपने देश के कानूनों का पालन करते हैं और यह भी मानते हैं कि यदि उन नियमों का उल्लंघन किया गया तो उपयुक्त साधनों द्वारा उन्हें लागू किया जा सकता है।"

1 *Fenwick Charles G.*: International Law, pp 30-31.

5. ह्यूज (Hughes)—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून क्या है ? यह सिद्धान्तों एवं नियमों का निकाय है जिसे सभ्य राष्ट्र अपने पारस्परिक सम्बन्धों में अपने ऊपर बन्धनकारी समझते हैं। यह सम्प्रभु राज्यों की सहमति पर आधारित है।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कुछ अन्य प्रमुख परिभाषाएं, जो आधुनिक लेखकों ने दी हैं, इस प्रकार हैं—

ओपेनहीम (Oppenheim)—"राष्ट्रों का कानून या अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन प्रथागत (Customary) तथा आपसी समझौतों से उत्पन्न अभिसमयात्मक (Conventional) नियमों का समूह है जिन्हें सभ्य राज्य अपने पारस्परिक व्यवहार में वैध रूप से पालन करने योग्य समझते हैं।"

केन्ट (Kent)—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून सार्वजनिक निर्देशों की वह संहिता है जो अधिकारों की व्याख्या करती है और राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रसंग में उनके कर्त्तव्यों का निर्धारण करती है।"

ब्रियर्ली (Brierly)—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह लक्षण किया जा सकता है कि वह उन नियमों तथा कार्य-सिद्धान्तों का समूह है, जो सभ्य राज्यों द्वारा एक दूसरे के साथ सम्बन्ध में बाधित रूप से पालन किए जाने वाले होते हैं।"

स्टार्क (Starke)—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे कानूनों का समूह है जिनका अधिकांश भाग आचरण के उन सिद्धान्तों और नियमों से बना हुआ है, जिनके सम्बन्ध में राज्य यह अनुभव करते हैं कि वे इनका पालन करने के लिए बाध्य हैं। अतएव वे साधारणतया अपने पारस्परिक सम्बन्धों में इनका पालन करते हैं। इसमें निम्नलिखित नियम भी सम्मिलित हैं[1]—(क) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा संगठनों की कार्य-प्रणाली से सम्बन्ध रखने वाले और इन संस्थाओं की राज्य तथा व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले कानून के नियम, एवं (ख) व्यक्तियों तथा राज्येतर सत्ताओं (Non-state entities) से सम्बन्धित कानून के नियम उस अंश तक, जिस अंश तक ऐसे व्यक्ति और ऐसी राज्येतर सत्ताएँ अन्तर्राष्ट्रीय समाज के अध्ययन का विषय हो।" स्टार्क की यह नई परिभाषा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के वर्तमान विकास और आधुनिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए दी गई है। यह परिभाषा हमारे समक्ष एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। परम्परागत परिभाषाओं के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून वह पद्धति है जिसमें राज्यों के आपसी सम्बन्धों को निश्चित करने वाले नियम ही आते हैं लेकिन स्टार्क की इस परिभाषा में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और संगठनों—यथा संयुक्त राष्ट्रसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ, विश्व स्वास्थ्य संघ आदि—के अन्तर्राष्ट्रीय वैध व्यक्तित्व को भी मान्यता दी गई है। स्टार्क ने व्यक्ति के मानवीय अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया है। स्टार्क की परिभाषा निःसन्देह बहुत व्यापक है, किन्तु पर्याप्त जटिल भी है।

1 *Starke* : The Introduction to International Law, p 1.

लॉरेन्स (Lawrence)—"ये (अन्तर्राष्ट्रीय कानून) ऐसे नियम हैं जो सभ्य राज्यों के सामान्य समूह हो के आपसी व्यवहारों का निर्धारण करते हैं।" लॉरेन्स की यह परिभाषा बड़ी सुन्दर और लघु है जिसमें विवादास्पद शब्दों से बचने का प्रयत्न किया गया है। इसमें कानून (Law) के स्थान पर नियम (Rule) और 'सब राज्यों' के स्थान पर 'सभ्य राज्यों के सामान्य समूह' शब्दों का प्रयोग किया गया है। लॉरेन्स ने अपनी परिभाषा में यह गुंजाइश रखी है कि यह हो सकता है कि विशेष परिस्थितियों में कुछ राज्य इन नियमों का उल्लंघन करें। पर उसका विश्वास है कि सभ्य राज्यों का सामान्य समूह इनका उल्लंघन नहीं करता। लॉरेन्स ने अपनी पुस्तक में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सभ्य राज्यों से उसका आशय केवल ईसाई राज्यों से नहीं है वरन् टर्की, जापान, चीन जैसे गैर-ईसाई राज्य भी उनमें सम्मिलित हैं। लॉरेन्स की परिभाषा का व्यवहार (Dealings) शब्द भी बहुत व्यापक है क्योंकि इसमें शान्तिपूर्ण और शत्रुतापूर्ण दोनों प्रकार के व्यवहार आ जाते हैं। लॉरेन्स की परिभाषा अन्य परिभाषाओं की तुलना में अधिक स्पष्ट, सुनिश्चित और सुन्दर है।

फ्रैंकोनिया विवाद (R.V Keya–The Franconia)—सन् 1876 में मुख्य न्यायाधीश लॉर्ड कॉलरिज ने कहा था कि राष्ट्रों का कानून उन रूढ़ियों अथवा परम्पराओं का समूह है जिनको सभ्य राज्यों ने एक-दूसरे के प्रति अपने व्यवहारों में मानना स्वीकार कर लिया है। ये रूढ़ियाँ क्या हैं, कोई विशेष रूढ़ि स्वीकृत की गई है या नहीं, इस प्रकार की बातें अवश्य ही साक्ष्य पर निर्भर होनी चाहिए।

एस एस लोटस विवाद (S. S. Lotus Case)—सन् 1927 में फ्रांस और टर्की के बीच हुआ था, अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय ने अपने निर्णय में लिखा था—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अभिप्राय उन सिद्धान्तों से है, जो सभी स्वतन्त्र राज्यों के बीच प्रचलित हैं।" इस परिभाषा में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर बल दिया गया है—एक तो इसकी सार्वभौमिकता पर और दूसरे इसकी मान्यता पर। इसमें 'स्वतन्त्र राष्ट्रों' शब्द पर अधिक बल इसलिए दिया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय के अनुसार वही सिद्धान्त प्रवर्तित किए जाते हैं जिनका सम्बन्ध 'सभी राष्ट्रों' से नहीं बल्कि 'सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों' से हुआ करता है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ—परम्परागत और आधुनिक—यह संकेत करती हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून सार्वभौम राज्यों के आपसी सम्बन्धों में प्रयुक्त होने वाला कानून है। यह उनके सम्बन्धों का नियमन करता है, अन्तर्राष्ट्रीय समाज में उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्याख्या करता है तथा उनके दायित्वों का स्पष्टीकरण करता है। यह कानून अन्तर्राष्ट्रीय समाज में व्यवस्था स्थापित करने का काम करता है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय समाज में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कार्य, स्वरूप और क्षेत्राधिकार में इतनी तेजी से परिवर्तन हुए हैं कि परम्परागत परिभाषाएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या नहीं कर पाती, उन्हें अन्तिम शब्द मान कर नहीं चला जा सकता। विलियम डी. कापलिन, मायर्स मैक्डूगल, स्टेनले होफमान, रिचार्ड फाल्क, फ्रिन्क्रेड जैक्स आदि

लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास की नई प्रवृत्तियों और अध्ययन की नई प्रणालियों को ध्यान में रखकर इसकी नए सिरे से व्याख्या करने की चेष्टा की है। उदाहरणार्थ, मायर्स मैक्डूगल ने लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून मात्र नियमों का समूह नहीं है वरन् उन नियमों को संस्थागत रूप मे सहायक एजेन्सियों के माध्यम से प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त करने की क्षमता भी रखता है। फ्रिडरिक जैंक्स का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल राज्यों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने वाला कानून ही नहीं है वरन् इसके अतिरिक्त भी काफी कुछ है। राज्यों के सम्बन्धों का नियमन करना इसके बहुतसीय कार्यों में से एक कार्य है। इस प्रकार की सभी नई परिभाषाओं से भी यह स्पष्ट होता है कि "सार्वभौम सत्ता के परम्परागत अर्थ तथा सार्वभौम सत्ता के प्रभाव क्षेत्र के बारे में प्रचलित विचारों मे परिवर्तन आने के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय कानून अभी भी राज्यों का कानून (लॉ ऑफ नेशन्स) बना हुआ है और इसे राज्यों तथा उन्हीं के समस्त कानूनी इकाइयों पर ही प्रयुक्त किया जाता है।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की साम्यवादी परिभाषाएं—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपर्युक्त परिभाषाएं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई हैं। यह उपयुक्त होगा कि हम साम्यवादी परिभाषाओं को भी—मुख्यत सोवियत एवं चीनी परिभाषाओं को—देख लें—

सोवियत परिभाषा के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून "राष्ट्रों के पारस्परिक संघर्ष और सहयोग, जिसमे राज्यों के शासन करने वाले वर्ग की इच्छा अभिव्यक्त होती है तथा जिसे राज्यों द्वारा व्यक्तिगत अथवा सामूहिक दबाव द्वारा प्राप्त किया जाता है, को नियन्त्रित करने वाले नियमों का कुल समूह है।"[1] स्टालिन की मृत्यु के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून की इस सोवियत परिभाषा को संशोधित करते हुए इसमे 'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व' के तत्त्व को भी जोड़ दिया गया है। बाद के सोवियत लेखकों ने इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा मे सह-अस्तित्व के इस नए तत्त्व पर अधिक बल दिया है।[2] सोवियत दृष्टिकोण के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्पूर्ण ढाँचे का आधार 'सह-अस्तित्व' होना चाहिए, केवल तभी अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा शान्ति और पारस्परिक समझौता प्रणाली को बढ़ावा मिल सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सोवियत परिभाषा की जो आलोचनाएँ की गई हैं उन्हें सारांश रूप मे व्यक्त करते हुए एस के कपूर ने लिखा है— 'सोवियत परिभाषा में राज्यों के संघर्ष तथा सहयोग, वर्ग-प्रकृति तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर बल दिया गया है। आज जबकि यह सामान्यत स्वीकार किया जाता है कि केवल राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय नहीं हैं, सोवियत संघ इस बात पर दृढ़ है कि राज्य है विषय है तथा वह राज्यों की ही प्रभुत्व-सम्पन्नता पर जोर देता है। सोवियत परिभाषा अनुपयुक्त है, क्योंकि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, व्यक्तियों, गैर-सरकारी

1 Adopted from *Olive J Lissitzyn* : International Law : Today and Tomorrow, p 49

2 *F. I Kozhenikow* . International Law, p 7.

बनाया है। आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून की यह परम्परागत परिभाषा अनुपयुक्त हो गई है कि यह सम्य राज्यों के आपसी सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाले नियमों का समूह है। इस परम्परागत परिभाषा में हमे नए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आवश्यक गुणों, रूपों तथा प्रकृति का बोध नहीं हो पाता। कानून की व्यक्तिगत धारणा का स्थान आज 'सामाजिक अन्तर्निर्भरता का कानून (Law of Social Inter-dependence) ले रहा है। आज नया अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल विधिक ही नहीं है बल्कि राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक भी है। इन विभिन्न परिवर्तनों के प्रकाश मे यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की एक ऐसी उचित और उपयुक्त परिभाषा हो जो इस क्षेत्र मे होने वाले परिवर्तनों तथा विकास की ओर सकेत करती हो तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को 'एक जीवित तथा विकसित होने वाली सहिता' (A Living and Expanding Code) के रूप मे प्रकट करती हो।" इस सम्बन्ध मे एडवर्ड कॉलिस (Edward Colins) की यह परिभाषा काफी सशक्त है कि ' अन्तर्राष्ट्रीय कानून निरन्तर विकसित होने वाले नियमो का एक ऐसा समूह है जो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्य सामान्यत. अपने पारस्परिक सम्बन्धों मे लागू करते हैं। ये नियम राज्यों को और कुछ कम हद तक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा व्यक्तियों को अधिकार एवं उत्तरदायित्व प्रदान करते हैं।"[1] इस परिभाषा की उपयुक्तता और अपने अभिमत को दर्शाते हुए एस. के. कपूर ने लिखा है कि वर्तमान समय मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकसित रूप, प्रकृति तथा निरन्तर विकास की क्षमता को ध्यान मे रखते हुए एडवर्ड कॉलिन्स की परिभाषाओं से अधिक उपयुक्त है। इस परिभाषा मे भी गैर-राज्य, इकाइयों का उल्लेख नहीं है, परन्तु क्योंकि 'अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्य' शब्दों का प्रयोग किया गया है, इसका अलग से उल्लेख आवश्यक नहीं था। इसके अतिरिक्त इसमे सामान्य सिद्धान्तो का भी स्पष्टतया उल्लेख नहीं है। निष्कर्ष मे यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि निरन्तर विकसित होने वाले नियमो तथा सिद्धान्तों का एक समूह है जो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धकों को नियन्त्रित करते हैं।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आवश्यक तत्त्व
(Essentials of Intrenational Law)

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जो आवश्यक तत्त्व स्पष्ट होते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक ऐसी कानूनी पद्धति है जिसका निर्माण मुख्यत: इन तत्त्वों से होता है—(क) विभिन्न राष्ट्रों के मध्य पाए जाने वाले आपसी व्यवहार या आचरण के नियम (Rules of Conduct), (ख) रीति-रिवाज अथवा परम्पराएँ (Usages), एव (ग) विभिन्न राज्यों मे किए जाने वाले समझौते अथवा अभिसमय (Conventions)।

1 *Edward Collins* : International Law in a Changing World, p 2.
2 एस के कपूर : वही, पृष्ठ 24.

2. *अन्तर्राष्ट्रीय कानून मूलतः ऐसे नियमों का समूह है जिन्हें सभी स्वतन्त्र* तथा सभ्य राज्यों ने पारस्परिक व्यवहार के नियमन के लिए स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार वे राज्य इन नियमों के पालन के लिए वैध रूप से बाध्य हैं।

3. अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रकृति 'सार्वभौमिक' है क्योंकि वर्तमान युग 'सभ्य राज्यों' का ही है। इसके प्रतिरिक्त औपनिवेशिक युग के अवशेष तेजी से मिटते जा रहे हैं और यदि सन् 1977 के इस प्रथम चरण में हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मानचित्र पर दृष्टि डालें तो गिने-गिने प्रदेश ही परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़े हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों की संख्या 147 तक पहुँच चुकी है।

4 अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अनिवार्य रूप से पालन कराने वाली वास्तविक शक्ति (Sanction) विवेक-बुद्धि है जो कि लोगों को सत्-असत् का बोध कराती है। जो विवेक-बुद्धि नागरिकों को इस बात के लिए बाध्य करती है कि वे अपने देश के कानूनों का पालन करें, वही विवेक-बुद्धि राष्ट्र के सत्ताधारियों को बाध्य करती है *कि वे दूसरे राष्ट्रों के साथ व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करें।* संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में दिए गए कतिपय अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के भंग होने पर उन नियमों को संघ द्वारा अथवा न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) द्वारा लागू किए जाने का प्रयत्न किया जाता है। चार्टर की अवहेलना करने वाले राज्यों के लिए विभिन्न प्रकार के आर्थिक और सैनिक दण्डों की व्यवस्था है।

प्रो फेनविक ने चार बातों पर जोर दिया है—(क) अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रों के समाज द्वारा स्वीकृत नियम हैं, (ख) इन नियमों द्वारा राष्ट्रों के अधिकार परिभाषित किए जाते हैं, (ग) इन अधिकारों की रक्षा की प्रक्रिया का उल्लेख किया जाता है, एवं (घ) इन अधिकारों के उल्लंघन पर रोक लगाने की विधि वर्णित की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में ऐसी विधि है जिसके अनुसार संसार में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रह सकती है और *जिसका उल्लंघन करने से राज्यों में* पारस्परिक युद्धों को प्रोत्साहन मिलता है।

कानून और नियम (Rule and Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रकृति के स्पष्टीकरण में नियम और कानून के अन्तर पर विचार कर लेना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के नियमों के लिए कानून शब्द का प्रयोग अनेक भ्रम उत्पन्न करता रहा है। नियमों का निर्माण इसलिए किया जाता है कि समाज में व्यक्तियों के आचरण को नियन्त्रित किया जा सके। ये नियम अनेक प्रकार के होते हैं और कई अवसरों पर कुछ नियमों का पालन तो कानून से भी अधिक बाध्यता के साथ किया जाता है, क्योंकि नियमों के अनुपालन के लिए *बाध्यकारी शक्ति या अनुशक्ति (Sanction) अधिक प्रबल होती है। जिस व्यक्ति का* अन्तःकरण धर्म और नीति से गम्भीर रूप से प्रभावित है वह धर्म विरुद्ध अथवा अनैतिक कार्य कभी नहीं करेगा। इसी प्रकार उन नियमों का उल्लंघन भी

प्राय बहुत कम किया जाता है जिनके पक्ष मे लोकमत प्रबल होता है और जो दीर्घकाल से व्यवहृत होने के कारण रूढि बन जाते हैं।

दूसरी ओर कानून वे नियम होते हैं जिनके पीछे राज्य की बाध्यकारी शक्ति होती है जिनका उल्लंघन करने वालों के लिए राज्य दण्ड की व्यवस्था करता है। राजकीय आदेश और राजदण्ड के भय से लोग कानूनों का पालन करते हैं। फिर भी राज्य के उन कानूनों का पालन प्राय अधिक होता है जिनके पक्ष मे लोकमत प्रबल होता है और जिन्हे अधिकाधिक व्यक्तियों के अन्तःकरण का समर्थन प्राप्त होता है। अनैतिक कार्य न करने के पीछे राजकीय दण्ड से भी अधिक भय इस बात का होता है कि समाज पापी को घृणा की दृष्टि से देखेगा और मृत्यु के उपरान्त ऐसा व्यक्ति नरक भोगेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून इस दूसरे अर्थ मे वस्तुत' कानून नही है। जैसा कि लॉर्ड सेलिसबरी ने लिखा है—"कानून शब्द को प्राय हम जिस अर्थ मे लेते हैं उस अर्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व नहीं है। इसको अनिवार्य रूप से लागू कराने वाला कोई न्यायालय नहीं है।" दूसरे शब्दो मे, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे राष्ट्रीय कानून जैसी बाध्यकारी शक्ति (Sanction) नहीं है। सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर ने व्यवहार मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का रूप धारण कर लिया है और चार्टर की अवहेलना करने वाले राष्ट्रो के लिए विभिन्न आर्थिक एव सैनिक दण्डो की व्यवस्था भी है, तथापि सघ इतना समर्थ नहीं है कि अपने आदेशो का अनिवार्यत पालन करा सके। राष्ट्रीय क्षेत्र मे सरकारी व्यवस्थाओ का बलपूर्वक पालन करवाने की शक्ति का विकास जिस प्रकार राज्यो मे हुआ है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे विभिन्न राज्यो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करा सकने मे पूर्ण रूप से समर्थ किसी भी शक्ति का अभी तक अभाव है। इसी कारण यह प्रश्न उठता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को 'कानून' कहना कहाँ तक उचित है और इसी प्रश्न के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा के सम्बन्ध मे विद्वानों मे मतभेद भी है।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कानून है ?
(Whether International Law is True Law ?)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप को समझने के लिए हमे इस सम्बन्ध मे अधिक विस्तार से विचार करना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव मे कानून है या नही। राज्यो की सम्प्रभुता के सम्बन्ध मे एकलवादी दृष्टिकोण के प्रतिपादक परम्परागत विधि-विशेषज्ञो का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कोई सत्ता नहीं है जबकि अधिकांश अर्वाचीन विचारकों और विधिशास्त्रियों के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव मे कानून है। यह उपयुक्त होगा कि हम दोनों ही पक्षों के मतों को सक्षेप मे प्रस्तुत करते हुए वास्तविकता के निकट पहुँचें।

(क) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरोधी विचार
(Concepts against International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को वास्तविक कानून न मानने वालो मे प्रमुख हैं—कॉलरिज, ऑस्टिन, हॉलैण्ड, हॉब्स, आदि।

(अ) प्रिवी कौंसिल के लॉर्ड चीफ जस्टिस कॉलरिज ने फ्रैंकोनिया (Franconia) विवाद मे अपना निर्णय देते समय कहा—"सच्ची बात तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक अयथार्थ शब्द (Inexact expression) है । यदि इसकी अयथार्थता पर ध्यान दिया जाए तो इससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है । कानून से यह सूचित होता है कि कोई कानून को बनाने वाला है और इस कानून को लागू करने वाला तथा उल्लघनकर्ताओ को दण्ड देने वाला कोई न्यायालय है । लेकिन सम्प्रभु राज्यो के लिए कोई विधान निर्माता नहीं और न ही किसी न्यायालय को यह अधि[illegible] वह राज्यों को अपने आदेशो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन के लिए बाध्य कर सके और इस कानून की अवहेलना करने वाले राज्य को दण्डित कर सके । राष्ट्रो का कानून उन प्रथाओ का ऐसा समूह है कि जिनको सभ्य राज्यो ने एक-दूसरे के प्रति अपने व्यवहार मे मानना स्वीकार कर लिया है । सन्धियाँ कवल राष्ट्रो के समझौता का परिणाम हैं और कम से कम इगलैण्ड मे ये सन्धियाँ न्यायालयो को बाधित नही कर सकती । यदि विधिशास्त्री किसी विषय मे एकमत हो तो उनका मतैक्य भी न्यायालयो को बाध्य नही कर सकता । यह केवल अन्तर्राष्ट्रीय विषयो मे राष्ट्रो के समझौते का सूचक है और ऐसे विषयो पर यदि ब्रिटिश न्यायालय कोई निर्णय देगे तो उसे इगलिश कानून का अग मानकर ही देंगे ।" कॉलरिज ने इस प्रकार अ[illegible] निर्णय मे यह स्पष्ट किया कि कानून वही है जिसे कोई बनाता है, लागू करता है और जिसका उल्लघन करने वालो को न्यायालय दण्डित करता है । पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इन शर्तों का अभाव है, क्योकि सम्प्रभु राज्य किसी का आदेश या निर्देश मानने के लिए बाध्य नहीं हैं और अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ राष्ट्रीय न्यायालयो पर कोई प्रतिबन्ध नही लगातीं । ये केवल पारस्परिक समझौते हैं जिनका औचित्य राष्ट्रीय कानून के आधार पर देखा जाता है ।

(आ) जॉन ऑस्टिन ने कानून शब्द का प्रयोग केवल ऐसे नियमो के लिए करना ही उचित माना है जिनको विधि निर्माण का अधिकार रखने वाली किसी निश्चित सस्था द्वारा बनाया गया हो तथा जिसे बल प्रयोग द्वारा लागू किया जा सकता हो । बल प्रयोग की शक्ति कानून के पीछे रहने वाला सम्मोदन (Sanction) है । यदि इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर विचार किया जाए तो वह कानून नही कहा जा सकता । अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे केवल नैतिक शक्ति होती है । इसका पालन राज्यो की सामान्य स्वीकृति के आधार पर किया जाता है । दूसरे देशों मे शत्रु-भाव उत्पन्न होने पर क्षति की सम्भावना के कारण राज्य इसका अनुगमन करते हैं । ऑस्टिन ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध मे पर्याप्त विचार करने के बाद यह मत व्यक्त किया है कि इसमे कानूनो की सामान्य विशेषताएँ उपलब्ध नहीं होतीं ।

हॉलैण्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को विधिशास्त्र (Jurisprudence) का तिरोधान बिन्दु (Vanishing Point) कहा है । उनका मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को विधि-शास्त्र का अग नहीं माना जा सकता है क्योंकि इससे पहले ही विधि-शास्त्र की सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं । अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कुछ

ो जाता है जो विधि की अवहेलना करता है, किन्तु इसके कारण विधि का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता।

4. ब्रायर्ली ने ऑस्टिन के कानून सम्बन्धी विश्लेषण को भ्रामक और अपूर्ण माना है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को जिन कारणों एवं विशेषताओं के परिणामस्वरूप कानून मानने से अस्वीकार किया जाता है वे राज्यों के कानून की प्रारम्भिक अवस्था में उपलब्ध थीं। प्रारम्भ में राष्ट्रीय कानून परम्पराओं पर आधारित था। न्यायालय को अपना क्षेत्राधिकार मानने में दोनों पक्ष स्वतन्त्र रहते थे। कानून को बनाने तथा उसे लागू करने की नियमित प्रक्रियाओं का अभाव था। राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना ठीक उसी प्रकार की जा सकती है जिस प्रकार व्यक्तियों द्वारा नागरिक कानून की अवहेलना की जाती है। कानून का उल्लंघनकर्ता नागरिक यह नहीं कह सकता कि वह कानून से परे है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करने वाले राष्ट्र भी अपने आपको इस कानून से परे नहीं मान सकते।

5. सर फ्रेडरिक पोलक (Sir Fredrick Pollock) के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार यदि केवल नैतिकता रही होती तो विभिन्न राज्यों द्वारा विदेश-नीति की रचना नैतिक तर्कों के आधार पर ही की जाती किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। विभिन्न राष्ट्र जब किसी बात का औचित्य सिद्ध करना चाहते हैं तो इसके लिए वे नैतिक भावनाओं का सहारा नहीं लेते वरन् पहले के उदाहरणों, सन्धियों और विशेषज्ञों की सम्मतियों का सहारा लेते हैं। कानून के अस्तित्व के लिए आवश्यक शर्त केवल यही है कि एक राजनीतिक समुदाय होना चाहिए और इसके सदस्यों को यह समझना चाहिए कि उन्हें आवश्यक रूप से कुछ नियमों का पालन करना है। ये शर्तें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सन्दर्भ में प्राप्त होती हैं और इसलिए इसे कानून मानने में कोई आपत्ति नहीं है। सर सेसिल हर्स्ट के कथनानुसार कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अधीनता से परे नहीं हो सकता।

6. स्टार्क (Starke) ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व मानते हुए ऑस्टिन की मान्यताओं की आलोचना की है। इसके लिए उन्होंने विभिन्न तर्क प्रस्तुत किए हैं—(क) आज की परिस्थितियाँ पूर्णतः बदल चुकी हैं और इन बदली हुई परिस्थितियों में ऑस्टिन के विचार सत्य नहीं ठहरते। विभिन्न सन्धियों और समझौतों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रचना एक बड़ी मात्रा में हुई है। (ख) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के पदाधिकारियों द्वारा हमेशा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को उचित माना गया है और इसलिए इसकी वैधता के सम्बन्ध में सन्देह के लिए अधिक स्थान नहीं है। (ग) विधि शास्त्र से सम्बन्धित ऐतिहासिक सिद्धान्त ने ऑस्टिन के कानून विषयक सामान्य सिद्धान्त का परित्याग कर दिया है। सामान्य सिद्धान्त प्रायः आजकल लागू नहीं किए जाते। उदाहरण के रूप में ऐसे विभिन्न समाज प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें *कानून निर्मात्री कोई संस्था नहीं थी और उन नियमों या सिद्धान्तों को बाध्यकारी* रूप से लागू नहीं किया जाता था किन्तु फिर भी वे कानून थे।

7. आधुनिक युग के प्रसिद्ध विधिशास्त्री ओपेनहेम के अनुसार, 'कानून

कसी समाज के अन्तर्गत लोगों के आचरण के लिए उन नियमों के समूह का नाम है
} उस समाज की सामान्य स्वीकृति से एक बाह्य शक्ति द्वारा लागू किए जाते हैं।"
पेनहेम की इस परिभाषा में कानून के अस्तित्व के लिए जिन बातों को आवश्यक
ाना गया है, वे हैं—एक समुदाय, इसमें मानवीय आचरण के लिए कुछ नियमों
ा समूह, बाहरी शक्ति द्वारा इन नियमों को लागू करना और ऐसा करने के लिए
ामान्य स्वीकृति। ओपेनहेम ने ऑस्टिन के विचारों की आलोचना करते हुए यह
ुझाव दिया है कि हमें कानून का सही अर्थ समझने के लिए कानून और नैतिकता
ी तुलना करनी चाहिए। ये दोनों मानवीय आचरण तथा परस्पर व्यवहार के
ियमों का निर्धारण करते हैं। नियमों को उस समय नैतिकता कहा जाता है जब
मुदायों की सामान्य सम्मति से ये केवल अन्त.करण पर लागू होने वाले समझे
ाएँ। दूसरी ओर नियम उस समय कानून बन जाते हैं जब एक समुदाय की
ामान्य सहमति से उनको बाहरी सत्ता द्वारा लागू किया जाता है। राष्ट्रीय कानून
े विकास की प्राथमिक अवस्था में कानूनी प्रश्नों का समाधान किसी न्यायालय
ारा नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज द्वारा किया जाता था। उस समय कानून बनाने वाली
ोई राज्यशक्ति नहीं थी और न ही इनको भंग करने पर दण्ड देने वाला न्यायालय
ा। समाज के विकास के साथ परिस्थितियाँ बदली और सम्पूर्ण समाज के लिए
ानूनों की रचना और नियमन का कार्य असम्भव बन गया। फलत विधानमण्डलों
ौर न्यायपालिकाओं का विकास हुआ।

ओपेनहेम ने माना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून इतनी बाध्यता और शक्ति के
ाथ लागू नहीं किए जा सकते जितनी शक्ति और बाध्यता के साथ राज्य के कानून।
ाज्यों के कानून की अपेक्षा ये कम स्पष्ट और कम निश्चित हैं। इतने पर भी
नको कानून मानने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य-
ाष्ट्र इनको उपयुक्त मानते हैं और साधारणत. इनका उल्लंघन करना उनके लिए
म्भव नहीं है। लोकमत के भय से राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अनुशीलन
िया जाता है। इनके उल्लंघन से जन्म लेने वाले संकटों का भय भी विभिन्न देशों
ो इनके अनुशीलन के लिए प्रेरित करता है।

ओपेनहेम ने किसी भी समाज के लिए नैतिकता और कानून का अस्तित्व
ानिवार्य माना है। नैतिकता अन्तरात्मा की शक्ति से और कानून बाहरी शक्ति से
ागू किए जाते हैं। "अन्तर्राष्ट्रीय कानून यद्यपि राष्ट्रीय कानून की सभी विशेषताओं
ो युक्त नहीं है फिर भी नि सन्देह इसे कानून माना जाएगा।" ओपेनहेम का कहना
ै कि यदि हम यह जानना चाहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून कहा जाए
थवा नहीं; तो हमें यह देखना चाहिए कि वे कानून के अस्तित्व की निम्नलिखित
ावश्यक शर्तों को पूरा करते हैं अथवा नहीं—

(क) कानून की पहली शर्त समुदाय का अस्तित्व (Existence of a
Community) है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इस शर्त को पूरा करता है। अन्तर्राष्ट्रीय
माज का अस्तित्व है। समुदाय ऐसे व्यक्तियों के विकास को कहा जाता है जो

सामान्य हितों से परस्पर इस प्रकार बंधे हुए हों कि उनके बीच निरंतर अनेक प्रकार के व्यवहार सचालित हो सकें। समुदाय की यह परिभाषा न केवल व्यक्तियों के ही समुदाय से सम्बन्ध रखती है वरन् राष्ट्रों के समुदाय को भी इंगित करती है। जहाँ तक सभ्य राज्यों का प्रश्न है उनका एक समुदाय बन चुका है और यह समुदाय प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय पर्याप्त स्पष्ट रूप से सामने आया। कला और विज्ञान भी अपनी प्रकृति के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय है। इसके सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों के लोग परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।

इसके अतिरिक्त व्यापारिक तथा अन्य हितों की दृष्टि से विभिन्न महाद्वीपों के बीच आवागमन और सचार-साधनों का जाल बिछा हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय डाक सेवा, तार सेवा, रेडियो सेवा एव दूरभाषी यन्त्र का प्रबन्ध आदि अन्तर्राष्ट्रीय समाज के अस्तित्व का प्रमाण माने जा सकते हैं। इन सभी विकासों के परिणामस्वरूप राष्ट्रों की दूरियाँ कम हुई हैं और वे एक-दूसरे के पर्याप्त निकट आए हैं। दृष्टिकोण और परम्पराओं की एकरूपता के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय समाज एक निर्विवाद सत्य बन चुका है। इस प्रकार कानून के अस्तित्व की पहली शर्त पूरी हो जाती है।

(ख) दूसरी शर्त आचरण के कुछ नियमों का अस्तित्व है। यह शर्त भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निःसन्देह रूप से पूरी हो जाती है। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करने के लिए सैकड़ों वर्षों से नियमों का विकास हो रहा है। ये नियम बहुत कुछ परम्परागत हैं। इन परम्परागत और अलिखित नियमों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा प्रतिदिन अधिक लिखित नियमों का विकास किया जाता है। सन् 1856 की पेरिस घोषणा, सन् 1899 तथा 1907 के भूमि-युद्ध सम्बन्धी हेग-नियम इसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के इन नियमों के प्रति राज्यों के समाज की सामान्य स्वीकृति है। इसके सदस्य इन नियमों को बाहरी सत्ता द्वारा पालन कराया जाना उपयुक्त समझते हैं।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व की तीसरी शर्त (कानून का पालन कराने वाली शक्ति सम्बन्धी) भी पूरी हो जाती है—(i) सबसे बड़ी बाध्यकारी शक्ति या अनुज्ञप्ति (Sanction) तो विश्व का प्रबल लोकमत है जिसके सम्मुख महाशक्तियों तक को नतमस्तक होना पड़ता है। जब अक्तूबर, 1956 में इंग्लैण्ड ने फ्रांस ने मिस्र पर आक्रमण किया तो विश्व-लोकमत के प्रबल विरोध से बाध्य होकर ही आक्रमणकारियों को अपनी सेनाएँ वापस बुलाने के लिए विवश होना पड़ा। इस आक्रमण का ब्रिटिश लोकमत ने इतना विरोध किया कि तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ईडन को पदत्याग करना पड़ गया। (ii) आज आर्थिक दृष्टि से राष्ट्रों की एक दूसरे पर निर्भरता इतनी बढ़ रही है कि एक देश को दूसरे देश के लोकमत का सम्मान करना पड़ता है और यदि वह ऐसा नहीं करता तो दूसरे देशों के आर्थिक बहिष्कार द्वारा उसे इसके लिए विवश किया जा सकता है। सन् 1956 में मिस्र पर ब्रिटिश आक्रमण को अमेरिका ने समर्थन नहीं दिया और आर्थिक सहायता देने के लिए भी यह शर्त जोड़ दी कि ब्रिटिश फौजें मिस्र से वापस बुला ली जाएँ।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बलपूर्वक लागू कराने वाली एक अन्य बड़ी शक्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की है। संघ की सुरक्षा परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के खातिर प्रभाव वाली सैनिक कार्यवाही करने का पूरा अधिकार है और इस शक्ति का सफल प्रयोग कई अवसरों पर हुआ है। संघ की महासभा में दिसम्बर, 1950 में पारित एक प्रस्ताव के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के उल्लंघन-कर्त्ताओं तथा व्यक्तियों को दण्डित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय स्थापित करने का निश्चय किया गया है। हेग का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय विभिन्न राष्ट्रों के कानूनी विवादों का निर्णय करता है।

ओपेनहेम का स्पष्ट मत है कि कानून की उपरोक्त तीनों शर्तें पूरी करने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून मानना सर्वथा उचित है।

8. सुविख्यात ब्रिटिश विधि-शास्त्री हॉल ने अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून मानने के पक्ष में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण तर्क दिए हैं—

1 विभिन्न राज्य और विधिशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून समझते रहे हैं और इसी रूप में वर्णन करते रहे हैं।

2 अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों का विकास कानूनी तर्कों के आधार पर होता रहा है।

3. *अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में पूर्वोदाहरण (Precedents) का कानूनी तौर पर* प्रयोग किया जाता रहा है।

4 जिस तरह राज्यों के देशीय कानूनों में प्रामाणिक विधिशास्त्रियों की सम्मतियाँ उद्धृत की जाती हैं उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून में भी प्रामाणिक कानून-विशारदों की सम्मतियों को महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघनकर्त्ता राज्यों के आचरण की आलोचना प्रायः कानूनी दृष्टि से की जाती रही है।

6 जिस प्रकार देशीय कानून (Municipal Law) के पीछे राज्य की बाध्यकारी शक्ति है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे भी बाध्यकारी शक्ति पाई जाती है और वह है—प्रबल लोकमत की। राष्ट्रीय कानूनों में दण्ड देने वाली निश्चित राजनीतिक सत्ता का विकास भी बहुत देर में हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय कानून में, जो अभी प्रारम्भिक दशा में है—दण्डकारी शक्ति और कानून को बलपूर्वक लागू कराने वाली सत्ता का विकास होता जा रहा है। अभी इस सत्ता का पूरी तरह विकास नहीं हुआ है, पर इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून न मानना उचित नहीं है।

7. अन्तर्राष्ट्रीय कानून और नैतिकता में बड़ा अन्तर है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कानून और नैतिकता दो सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल नैतिकता का ही एक रूप होता तो विदेश नीति सम्बन्धी राजपत्रों को तैयार करने वाले अपने पक्ष की पुष्टि में नैतिक युक्तियों पर ही अपना सारा बल लगाते।

इसके विपरीत वे यह बात स्वयं सिद्ध मानकर चलते हैं कि राष्ट्रों के मामले में नैतिक बाध्यताओं के अतिरिक्त अनेक ऐसी कानूनी बाध्यताएँ भी हैं जिन्हें राजनीतिज्ञ और विधिशास्त्रियों ने स्वीकार किया है। कार्डोज़ो (Cardozo) का यह कथन महत्त्व रखता है कि यदि हम तथ्यों को भ्रम से बचाना चाहते हैं तो हमें परिभाषा का क्षेत्र इतना व्यापक रखना चाहिए ताकि वास्तविकताओं का पर्याप्त उत्तर दिया जा सके। जन-साधारण प्राय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन से सूचित रहता है किन्तु इस पर निर्भरता से वह प्राय अनभिज्ञ रहता है। वह इससे आश्चर्य-चकित नहीं होता कि विदेश कार्यालयों द्वारा एक बड़ा कानूनी स्टाफ रखा जाता है, तथा राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण प्राय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर ही किया जाता है। युद्ध के भय, क्षतिपूर्ति की आशंका आदि से प्राय. सभी राज्य आशंकित रहते हैं। राज्य स्वयं को सामान्य स्वीकृत नियमों से बन्धा हुआ अनुभव करते हैं और यह सोचते हैं कि इन नियमों का उल्लंघन करने पर उन्हें विश्व लोकमत के सामने स्पष्टीकरण देना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के लागू होने के पीछे दबाव कुछ भी हो पर यह सच है कि राष्ट्रों द्वारा इनके अनुपालन के कारण इनकी प्रभावशीलता बढ़ती जा रही है। फिलिप ब्राउन ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे निहित दबावों का वर्णन करते हुए इन्हें 'पारस्परिक लाभ का आकर्षण और बदले का भय' (Compulsory force of reciprocal advantage and fear of retaliation) कहा है। सन् 1910 के उत्तरी अटलांटिक कोस्ट फिशरीज न्यायाधिकरण के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के दबावों में लोकमत के नाम अपील, पत्र-व्यवहार का प्रकाशन, संसदीय कानून द्वारा काट-छाँट, न्यायाधिकरण की माँग, सम्बन्धों का समाप्त होना, बदला, क्षतिपूर्ति आदि का उल्लेख किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की स्वयंसिद्ध प्रकृति का अनुभव इतनी तीव्रता के साथ किया जाता है कि राष्ट्रीय कानून इनके सुगम सचालन के लिए उपयुक्त यन्त्र की स्थापना कर लेता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अधिकांश भाग राष्ट्रों के दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में नियमित रूप से स्वीकार किया जाता है तथा इनका उल्लंघन कदाचित् ही किया जाता है। ब्रायर्ली का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि "पुलिस शक्ति का अस्तित्व किसी भी कानूनी व्यवस्था को सुदृढ़ और सम्मानजनक नहीं बनाता वरन् कानून की शक्ति ही पुलिस सगठन की शक्ति का आधार होती है।"[1] समाचार-पत्रों में सन्धियों के अनुपालन और शान्ति तथा व्यवस्था की खबरें इतनी प्रकाशित नहीं होतीं जितनी सन्धि भग और युद्ध आदि अस्वाभाविक घटनाओं की। इसीलिए जन-साधारण में इस भ्रान्त धारणा को बल मिला है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अव-हेलना अधिक होती है। येल विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान के सचालक डाडा ने लिखा है कि—जो सन्धियों का उल्लंघन करते हैं वे इस तथ्य की उपेक्षा कर देते हैं कि अधिकांश सन्धियों का प्राय: पूरी ईमानदारी और नियमितता के

1 *Brierly* ; Law of Nations, pp 59 60

साथ प्रतिकूल परिस्थितियों मे भी पालन किया जाता है। सन्धिकर्त्ता दोनों ही पक्ष असुविधाएं झेलकर भी इनका पालन करते हैं। कोई अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उत्पन्न होने पर उभय पक्ष अपने दावे को न्यायपूर्ण सिद्ध करने के लिए कानूनी युक्तियों का सहारा लेते हैं जो इस बात की सूचक हैं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विषय-वस्तु एवं क्षेत्र
(Subject-Matter and Scope of International Law)

विभिन्न परिभाषाओं के सन्दर्भ में बताया जा चुका है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक जीवित तथा विकासमान संहिता' (A Living and Expanding Code) है। इसके परम्परागत क्षेत्र का बहुत अधिक विस्तार हो चुका है क्योंकि समय और परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार पिछले कुछ दशकों में इसमें अनेक नए आयाम जुड़े हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अब भी विकास हो रहा है, अत. इसका क्षेत्र स्थैतिक' (Static) न होकर निरन्तर 'गत्यात्मक' (Dynamic) है। *अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विषय-वस्तु एवं क्षेत्र को सारांश रूप में निम्न प्रकार से* स्पष्ट किया जा सकता है—

1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विषय-वस्तु अथवा इसके पात्र 'सार्वभौम राज्य' हैं जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की इकाइयाँ भी कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इन्हीं स्वतन्त्र एवं सार्वभौम राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में प्रयुक्त होने वाला कानून है।

2. कुछ ऐसी इकाइयाँ होती हैं जो राज्य तो नहीं हैं और न ही वे सार्वभौमिकता प्राप्त हैं लेकिन वे सार्वभौम सत्ता की प्रतिनिधि या उससे अधिकार प्राप्त करके काम करती हैं। ऐसी स्थिति में अधिकार देने वाली सार्वभौम शक्ति से सम्बन्ध के आधार पर इस प्रतिनिधि संस्था को भी हम सार्वभौम प्रकृति ही समझ सकते हैं, जैसे ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी कोई सार्वभौम सत्तावान संस्था नहीं थी लेकिन ब्रिटिश सरकार से प्राप्त अधिकार-पत्र के आधार पर यह भारत में प्रशासन ही नहीं चला रही थी बल्कि सार्वभौम व्यक्तित्वसम्पन्न देशीय राज्यों के साथ सन्धियाँ व समझौते करती थी जिन्हें क्राउन ने कानूनी सन्धियों और समझौतों के रूप में स्वीकार *किया और ब्रिटेन की कानूनी संहिताओं में समाविष्ट किया।*[2]

3. भूमि, जनसंख्या, सरकार तथा सार्वभौमिकता के चार मूलभूत तत्त्वों को मिलाकर राज्य की जो परम्परागत परिभाषा है, वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा ग्रहण की गई है। जॉन आस्टिन ने कहा था कि, "राज्य की सार्वभौम सत्ता आन्तरिक एवं बाह्य रूप से अनियन्त्रित है, और इस परिभाषा को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में एक संगत कानूनी परिभाषा के रूप में स्वीकारा गया है।"

1 *Jessop* : A Modern Law of Nations, p 7
2 डॉ. घोष के आधार : वही, पृ 13.

4. स्वतन्त्र एवं सार्वभौम राज्यों के अतिरिक्त उपनिवेश, सह-राज्य, आदिष्ट प्रदेश, संरक्षित प्रदेश, तटस्थीकृत प्रदेश आदि भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पात्र या उसकी इकाइयाँ बनते रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत उनके अधिकारों की व्यवस्था की गई है। अभिप्राय यह हुआ कि आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल राज्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों तक सीमित नहीं हैं वरन् वे राजनीतिक इकाइयाँ भी जो राज्य की श्रेणियों में नहीं आतीं, उत्तरोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय नियमन का विषय बनती जा रही हैं।

5. अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और संस्थाएँ भी अन्तर्राष्ट्रीय नियमन का विषय हैं। उदाहरणार्थ, संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्व-संस्थाओं को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र से बाहर नहीं रखा जा सकता। ऐसी सार्वदेशीय संस्थाओं का चरित्र कुछ दृष्टियों से राज्य जैसा ही है। इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के कर्मचारियों को भी राजनयिकों का दर्जा दिया जाता है तथा सार्वभौम राज्यों के राजनयिकों जैसी ही सुविधाएँ और अधिकार उन्हें प्रदान किए जाते हैं।

6 अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के सार्वभौमिक समानता को स्वीकार करता है। इस प्रकार कानूनी दृष्टि से जो स्थान रूस, ब्रिटेन या संयुक्त राज्य अमेरिका का है, वही स्थान चिल्ली या पेरू या साइप्रस या घाना का है। सार्वभौमिक समानता का सिद्धान्त ही अन्तरराष्ट्रीय कानूनों के पात्रों अर्थात् राज्यों में एकरूपता स्थापित करता है तथा एक संगठित समाज की दिशा में पहल करता है फिर भी "कानून के समक्ष समानता का सिद्धान्त आन्तरिक राजनीति में जितना महत्त्वपूर्ण है अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होते हुए भी प्रभावहीन है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य कानून को मदद प्राय कम ही लेते हैं। वे शक्ति के आधार पर ही अपने हितों की रक्षा करते हैं। कानून स्वयं आगे बढ़कर कमजोर राज्य की रक्षा के लिए सामने नहीं आता है। सिद्धान्त में चिल्ली अमेरिका की सार्वभौम प्रभुसत्ता को एक ही स्तर देने पर भी अमेरिका के वोट में जो शक्ति है, वह चिल्ली के वोट में नहीं क्योंकि अमेरिका शक्ति का प्रतीक है।"

7. अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पात्र राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व खोते या प्राप्त करते रहते हैं। कई राज्य संघ में शामिल होकर अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खो देते हैं। कभी संघ के विघटन से कई स्वतन्त्र राज्य उत्पन्न हो जाते हैं। राज्यों के विभाजन से भी राज्यों की संख्या में वृद्धि होती है। उपनिवेशों की स्वतन्त्रता से या न्यास व्यवस्था समाप्त होने से भी राज्यों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त होता है। इन सभी परिस्थितियों में राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि की इकाई या विषय-वस्तु बने रहते हैं।

8. पिछले 50 वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विकास की गति में अत्यधिक वृद्धि हुई है। न केवल राज्यों की आन्तरिक विधि से इसके सम्बन्धों में निकटता बनी है, अब एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने इसको समृद्ध बनाया है, वरन् व्यक्ति से सम्बन्धित

एक नए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी विकास हुआ है।[1] अब प्रश्न यह उठता है कि *अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामने व्यक्ति का क्या स्थान है। सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था* जिस धुरी के आसपास चक्कर काटती है वह व्यक्ति ही है। लेकिन व्यक्ति का स्वयं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व नहीं है। वह उस राज्य से पहचाना जाता है जिसकी राष्ट्रीयता या नागरिकता उसके पास है। राज्य उसका हर जगह संरक्षक व प्रहरी है और वही अपने नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि की इकाई के रूप में व्यक्ति प्रत्यक्ष तौर पर कुछ नहीं है, जो भी उसका स्थान है वह राज्य के माध्यम से ही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति का कोई महत्त्व ही नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवीय कल्याण के लिए जो कुछ किया जाता है उसके पीछे भावना व उद्देश्य मानव की भलाई ही है। जैसे बाल सहायता कोष, शरणार्थी सहायता कोष, श्रमिक संघ, स्वास्थ्य संघ, कृषि संघ, यूनेस्को आदि संस्थाएँ, *बड़े पैमाने पर मानव के कल्याण की अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं। रंगभेद की नीति के* खिलाफ अभियान, दास व्यापार को रोकना, मानव अधिकारों का घोषणा-पत्र आदि मानव कल्याण की भावना से प्रेरित कार्य हैं। लेकिन तथ्यतः यह सही है कि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पात्र या इकाई नहीं बल्कि उसका उद्देश्य या लक्ष्य है।[2]

9. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत जिन बातों को लिया जा सकता है उनका उल्लेख विचारकों ने अलग-अलग प्रकार से किया है। ग्रोशियस ने युद्ध और शान्ति के कारणों को इसका प्रमुख भाग माना है। प्रो. ओपेनहेम ने भी इसी दृष्टि से अपने ग्रन्थों को दो खण्डों में विभाजित किया है और एक में युद्ध तथा दूसरे में शान्ति के कानूनों का उल्लेख किया है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित परम्परावादी दृष्टिकोण उसे दो भागों में विभाजित करता है। युद्ध से सम्बन्धित कानून युद्धकर्ता एवं तटस्थ राष्ट्रों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का उल्लेख करता है। युद्ध के समय शान्तिकालीन कानून लागू नहीं होते। अनेक लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की नई दिशाओं का उल्लेख किया। जहाँ प्रथम महायुद्ध से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय कानून का लक्ष्य केवल राज्यों के पारस्परिक कूटनीतिक सम्बन्धों का नियमन करना था वहाँ युद्धोत्तर युग में विश्व-व्यवस्था में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को उत्तरोत्तर प्रोत्साहन मिला है और विशेषकर द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत इन्हीं सम्बन्धों को प्रधानता प्राप्त हुई है। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून आज एक नकारात्मक व्यवस्था की सीमा से उठकर सकारात्मक व्यवस्था बन गया है। इसका उद्देश्य केवल युद्ध का विरोध कर विश्व-शान्ति बनाए रखना मात्र नहीं है, बल्कि यह विश्व में सुख, समृद्धि और सम्पन्नता लाने का ध्येय ही रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून यद्यपि सदैव से ही दासता, नशीली वस्तुओं के व्यापार निरोध, व्यभिचार निरोध, अन्तर्राष्ट्रीय यातायात तथा संचार साधनों की

1 *Dr. B V A. Roling* op cit, p xxii
2 डॉ. शीतल के. आलोक: वही, पृष्ठ 14

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार है। इस प्रकृतिवादी मत के अन्य समर्थकों में प्यूफेनडॉफ (Pufendorf), क्रिश्चियन थामेसियस (Christian Thomasius) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

स्पष्ट है कि प्रकृतिवादी मत के अनुसार प्राकृतिक कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार है और इस प्राकृतिक कानून में ही बंधनकारी शक्ति प्रदान की है। किन्तु कठिनाई यह है कि इस मत के विभिन्न अनुयायियों ने प्राकृतिक कानून के अलग-अलग अर्थ बनाए हैं। इस प्रकार प्राकृतिक कानून का अर्थ बहुत ही अनिश्चित बन गया है। एक मुख्य दोष यह भी है कि प्रकृतिवादी मत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा वास्तविकताओं और राज्यों के वास्तविक व्यवहारों पर आधारित नहीं है। तथापि, इन आलोचनाओं के बावजूद यह सुनिश्चित है कि प्राकृतिक कानून ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को काफी प्रभावित किया है और आदर्शवाद के रूप में भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर प्रभाव डाला है।

(ख) अस्तित्ववादी मत
(Positivism)

अस्तित्ववादी मत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार के रूप में प्रकृतिवादी मत से सहमत नहीं है। इस मत के समर्थकों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार राज्यों का वास्तविक व्यवहार है। संधियाँ और प्रथाएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख स्रोत हैं। अस्तित्ववादी मत का 18वीं शताब्दी में बहुत बोलबाला रहा और इसके प्रमुख समर्थक ब्यांकर शोयेक (Bynker Shoek) ने अनेक पुस्तकें लिखकर इस मत को उचित ठहराया। अस्तित्ववादियों ने अपना अन्तिम विश्लेषण यह ही प्रस्तुत किया कि 'राज्यों की इच्छा' अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत है, अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम का आधार 'राज्यों की सहमति' है। अस्तित्ववादियों की परिभाषा के अनुसार—अन्तर्राष्ट्रीय कानून, कानून के उन *नियमों का समूह है जिन्हें राज्यों ने अपनी शक्तियों को स्वतः कम करके अपनी* स्वीकृति या सहमति प्रदान की है।

अस्तित्ववादियों का मत अधिकांशतः राज्यों के वास्तविक व्यवहारों पर आधारित है। किन्तु इसकी अनेक दृष्टियों से आलोचना की गई है, जिन्हें सारभूत रूप में एस. के. कपूर ने निम्नवत् प्रस्तुत किया है—

"(1) राज्यों की इच्छा की जो धारणा इस मत ने प्रस्तुत की है, वह एक पूर्णतः रूपक के रूप में है। यह वास्तविक तथ्यों को नहीं स्पष्ट करती है। वास्तव में राज्य की इच्छा व्यक्तियों की इच्छा है जिनसे मिलकर राज्य बनता है।

(2) यह मत कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि राज्यों की सहमति पर आधारित है, वास्तविकता से परे है। यह मत नए राज्यों के राष्ट्रों के समुदाय में प्रवेश करने वाले उदाहरण को समझाने में असमर्थ है। जब कोई नया राष्ट्र राष्ट्रों के समुदाय का सदस्य बनता है तो उसकी सहमति के बिना ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि उस पर लागू

हो जाती है, जबकि सहमति के सिद्धान्त के अनुसार केवल वही अन्तर्राष्ट्रीय विधि लागू होनी चाहिए जिसकी उसने सहमति दी है। सहमति के सिद्धान्त की आलोचना प्रमुख विधिशास्त्री सर सीसिल हर्स्ट (Sir Cecil Hurst) ने भी की है, तथा इसे गलत बताया है।

(3) व्यवहार में यह कभी आवश्यक नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के किसी नियम के बारे में यह स्पष्ट किया जाए कि इस पर राज्य ने अपनी सहमति प्रदान की है।

(4) कुछ ऐसे भी सिद्धान्त हैं जो कि राज्यो पर लागू होते है यद्यपि राज्यो ने उन पर अपनी सहमति प्रदान नही की है। इस विषय मे संयुक्त राष्ट्र चार्टर का अनुच्छेद 2 (6) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अन्तर्गत गैर-सदस्यो को भी संयुक्त राष्ट्र चार्टर के उद्देश्य तथा सिद्धान्तो के अनुसार चलना है, विशेषकर शान्ति और सुरक्षा के मामलो मे। यह स्पष्ट है कि गैर-सदस्यो ने इस सिद्धान्त के बारे में अपनी सहमति प्रदान नही की है परन्तु फिर भी यह नियम अन्तर्राष्ट्रीय विधि का एक सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया है। कुछ लोगो ने यह नियम प्रतिपादित किया है कि राज्यो को उसी प्रकार व्यवहार करना चाहिए जैसा वह दीर्घकाल से करते आए हैं।"[1]

इन आलोचनाओ के बावजूद अस्तित्ववादी मत के इस अच्छाई को स्वीकार करना होगा कि यह राज्यो के वास्तविक व्यवहारों पर आधारित है और इस बात पर बल देता है कि उन्हीं नियमो को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम मानना चाहिए जो कि वास्तव मे राज्यों ने अपनाए हैं और उनका प्रयोग करते हैं। अस्तित्ववादी मत ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे 'यथार्थवादी अथवा वास्तविकतापूर्ण दृष्टिकोण, को प्रोत्साहन दिया है और ऐसे वादो (Cases) की संख्या कम नहीं है जिनमे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रथा सम्बन्धी नियमों के बारे मे अस्तित्ववादी मत को अपनाया है। कुछ उल्लेखनीय वाद ये हैं– कोलम्बियन पेरूवियन शरणवाद (The Asylum Case), ऐंग्लो-नारवेजियन मत्स्यवाद (The Anglo-Norwegian Fisheries Case) तथा मोरक्को वादो मे अमेरिकियों के अधिकार सम्बन्धी वाद (Right of the U S Nationals in Morocco Cases)।

(ग) कुछ अन्य मत (Some other Theories)

उपर्युक्त दोनो मतों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार के सम्बन्ध मे कुछ अन्य प्रमुख मत ये हैं—

1 मूल अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of Fundamental Rights)—ब्रायर्ली (Brierly) का मत है कि मूल अथवा मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त प्रकृति अवस्था (State of Nature) के सिद्धान्त के माध्य मे है। राज्य

1 एस के कपूर, अन्तर्राष्ट्रीय विधि पृ 140.

नियमन को अर्थात् स्वयं लगाए हुए नियन्त्रण का ठहरा देता। व्यवहार में प्रायः ऐसा नहीं पाया जाता है। आत्म-नियमन द्वारा उत्पन्न उत्तरदायित्व की कोई निश्चितता नहीं रहती, यह भ्रमात्मक है। तीसरे, आत्म-नियमन सिद्धान्त यह स्पष्ट नहीं कर पाता कि किस प्रकार राज्य केवल अपने द्वारा लगाए गए उत्तरदायित्वों से बाध्य है। चौथे, यह तर्क भी असंगत है कि अपनी सार्वभौमिकता के कारण राज्य केवल अपने द्वारा स्वयं पर लगाए गए नियन्त्रणों से ही बाध्य हो सकते हैं। इन्हीं सब आलोचनाओं के कारण आत्म नियमन का सिद्धान्त, जिसके प्रमुख प्रतिपादक विधिशास्त्री जेलिक (Jellinck) हैं, साधारणतया असफल माना जाता है।

4. पेक्टा सन्ट सर्वेन्डा (Pacta Sunt Servanda)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय इटली के विधि शास्त्री एँजीलाटी (Anzilotti) को जाता है। एँजीलाटी की मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बन्धनकारी शक्ति एक उच्च मौलिक सिद्धान्त अथवा नियम पर आधारित है और यह उच्च सिद्धान्त या नियम 'पैक्टा सन्ट सर्वेन्डा' है जिसका अर्थ है कि राज्य परस्पर की गई सन्धियों का पालन सद्भाव के आधार पर करना। एक बार सन्धि समझौतों की शर्तों पर परस्पर स्वीकृति हो जाने के बाद सम्बन्धित पक्ष उन शर्तों का पालन करने के लिए सामान्यतया बाध्य होते हैं। जब राज्य इस सिद्धान्त (पैक्टा सन्ट सर्वेन्डा) का पालन करेंगे तो स्वतः ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी पालन हो जाएगा। इस प्रकार यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून की नींव है। उल्लेखनीय है कि अस्तित्ववादी ने अपने मत (Positivism) का आधार राज्यों के वास्तविक व्यवहार को माना है और पैक्टा सन्ट सर्वेन्डा का सिद्धान्त भी अस्तित्ववादी मत के सिद्धान्त पर आधारित है।

पेक्टा सन्ट सर्वेन्डा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य परस्पर की गई सन्धियों पर अमल नहीं करेंगे तो अव्यवस्था और असुरक्षा की स्थिति पैदा हो जाएगी। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह एक आधारभूत सिद्धान्त है कि राज्य जब कोई सन्धि करते हैं तो उसकी शर्तें उन पर बन्धनकारी होती हैं। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बन्धनकारी शक्ति केवल पैक्टा सन्ट सर्वेन्डा पर ही आधारित हैं। यह सिद्धान्त प्रथा सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विधिक आधार के विषय में कोई प्रकाश नहीं डालता। दूसरे, यह सिद्धान्त इस बात को भी स्पष्ट नहीं करता कि सन्धियों या समझौतों का बन्धनकारी प्रभाव राज्यों की सहमति के आधार पर होता है। तीसरे, यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि स्वाभाविक रूप से सन्धियाँ केवल पक्षकारों पर ही बन्धनकारी होंगी, जबकि कुछ सिद्धान्त ऐसे भी हैं जो गैर-पक्षकारों पर भी बन्धनकारी होते हैं, उदाहरणार्थ—संयुक्त राष्ट्र चार्टर का अनुच्छेद 2(6)। सन्धियों की विधि पर 'वियना अभिसमय' में भी इस प्रकार का प्रावधान है। पाँचवें, अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अन्तर्राष्ट्रीय .. ओं का विशेष महत्व है और पेक्टा सन्ट सर्वेन्डा अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा का ही एक नियम है, अतः यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार नहीं हो सकता।

5 नैतिकता विधि का आधार (Morality as the Basis of Law)-- ब्रेयर्ली के अनुसार विधि अथवा कानून का आधार नैतिकता है। कानून के अनुपालन का उत्तरदायित्व एक नैतिक कर्त्तव्य है और यही उत्तरदायित्व कानून की बधनकारी शक्ति का आधार है। अन्य कानूनों की तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी इस नैतिक उत्तरदायित्व पर आधारित है।

इस सिद्धान्त को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार नहीं माना जा सकता। यदि कानून के अनुपालन का उत्तरदायित्व एक नैतिक कर्त्तव्य है तो इसका आशय हुआ कि कानून का प्रत्येक विशिष्ट नियम विशुद्ध रूप से नैतिक नियम होगा, जबकि कानून वास्तव में नैतिकता से भिन्न होता है।

6. सामाजिक आधार (Sociological Basis) --कुछ विधिशास्त्रियों ने कानून के सामाजिक आधार की वकालत की है। उनका मत है कि अन्य कानूनों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बधनकारी शक्ति का आधार भी सामाजिक आधार' होना चाहिए। इस मत के प्रमुख प्रवर्तक ड्यूगिट(Duguit) है। ड्यूगिट का कहना है कि मानव-अस्तित्व के लिए परस्पर अधीनता (Solidarity) एक सामान्य विधि है और चूँकि मनुष्यता के मध्य परस्पर अधीनता सार्वभौमिक है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी इसका विद्यमान होना आवश्यक है।[1]

सामाजिक आधार को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार स्वीकार करना कठिन है। यह स्पष्ट नहीं होता कि किस प्रकार, केवल परस्पर अधीनता, कानून के नियमों को बधनकारी शक्ति प्रदान कर सकती है, यद्यपि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कानून सामाजिक वास्तविकता का एक भाग है तथा सामाजिक दशाएँ कानून या विधि को प्रभावित करती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वास्तविक या सही आधार

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वास्तविक आधार यह है कि विश्व की वर्तमान परिस्थितियों में कोई भी आधुनिक राज्य सबसे सम्बन्ध विच्छेद करके अलग थलग जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। राजनीतिक विचारों, कला, साहित्य और वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रसार तथा आर्थिक आवश्यकताओं ने राज्यों की पारस्परिक निकटता को एक 'वास्तविक' बना दिया है और इस निकटता ने उन्हें एक समुदाय में सगठित कर दिया है। आज कोई भी राज्य एकाकी जीवन नहीं बिता सकता। एक राज्य की घटना का प्रभाव अन्य राज्यों पर पड़ना स्वाभाविक ही है। राज्य की यह पारस्परिक निकटता और अन्तर-निर्भरता सर सेसिल हर्स्ट (Sir Cecil Hurst)के इस कथन को सत्य सिद्ध करती है कि 'कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अधीनता से मुक्त नहीं हो सकता।' राज्यों की परस्पर निर्भरता के कारण उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों के बीच सतुलन का होना अत्यावश्यक है और इस आवश्यकता की पूर्ति कानून द्वारा ही सम्भव है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार राज्यों की परस्पर निर्भरता है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि ऐसा करने में उनका हित निहित है। आधुनिक परिस्थितियों में विभिन्न राज्य सामाजिक प्राणी बन गए

1 एस. के. कपूर: वही, पृ. 45.

है और उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समाज के दूसरे सदस्यों के साथ मिलकर रहना है। विभिन्न राज्यों की एक-दूसरे पर निर्भरता आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का तथ्य बन गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व सम्भवतः इसलिए है क्योंकि यह अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है। राज्यों की पारस्परिक निर्भरता ने जाने अनजाने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास को प्रेरणा दी है। ये कानून विभिन्न राज्यों के कानूनी सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह पुराना कार्य है जिसे वह आज की उलझी हुई दुनिया में भी सम्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त पारस्परिक लाभ के मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून अनुशासित आचरण प्रेरित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य–राज्यों को कानून की दृष्टि से समान समझा गया है। यह सच है कि शक्ति, प्रदेश और ऐसी ही अन्य बातों के सम्बन्ध में राज्य समान नहीं हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य के रूप में सिद्धान्ततः वे समान हैं। उनकी यह समानता सम्प्रभुता के सिद्धान्त पर आधारित है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रणालियाँ
(Methods of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विश्लेषण की प्रणालियों में तीन उल्लेखनीय हैं—

1 शक्ति प्रणाली—शक्ति-प्रणाली का समर्थन मॉर्गेन्थो जैसे लेखकों द्वारा किया गया है। मॉर्गेन्थो के अनुसार समस्त राजनीति की भांति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी शक्ति के लिए युद्ध की स्थिति है। व्यक्ति की भांति राष्ट्र भी दूसरे राष्ट्रों के मस्तिष्क एवं कार्यों पर नियन्त्रण करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। राजनीतिक शक्ति एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यह शक्ति सम्पन्न लोगों को उनसे सम्बन्धित करती है जिन पर शक्ति का प्रयोग किया जाएगा। ये सम्बन्ध धमकियों, प्रभावों आदि के माध्यम से स्थापित किए जाते हैं। शक्ति के लिए संघर्ष (आन्तरिक और बाह्य) अपरिहार्य है। युद्ध में शत्रुओं के संहार जैसी भावनाएँ दूसरों पर शासन करने की इच्छा से प्रेरित होती हैं। शक्ति-राजनीति (Power Politics) के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक विशेष समूह या हित की राष्ट्रीय शक्ति पर निर्भर करता है।

शक्ति-प्रणाली की मान्यताएँ कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम, यह हमें उन शक्तियों के सम्बन्ध में यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रदान करती है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धांत का रूप निर्धारण करती हैं। दूसरे, यदि शक्ति को उचित रूप से समन्वित किया जाए और स्वस्थ मार्गों की ओर प्रेरित किया गया तो यह राज्यों के आपसी सम्बन्धों में शान्ति ला सकेगी। तीसरे, लॉसवेल तथा कैपलान का कहना है कि शक्ति-प्रणाली हमें अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के महत्त्व से परिचित कराती है तथा इनको नीति का आधार बनाने के लिए प्रेरित है।

पर अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के विश्लेषण की यह प्रणाली दोषपूर्ण भी है। यदि इस प्रणाली को अपना लिया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून शक्ति का कानून बन जाता है। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कानून की शक्ति (Power of Law) होनी चाहिए। 'शक्ति' द्वारा कानून की रचना न होकर वह कानून पर निर्भर हो। दूसरे, यदि इस प्रणाली को मान लिया जाए तो विदेश-नीतियाँ इसी विकृत तत्त्व पर निर्भर

हो जाएँगी और विश्व-शान्ति खतरे में पड़ जाएगी। तीसरे, शक्ति-प्रणाली द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की नींव को कमजोर किया जाता है।

2. न्यायिक प्रणाली – अन्तर्राष्ट्रीय कानून की न्यायिक प्रणाली का समर्थन केल्सन आदि विद्वानों ने किया है। केल्सन के मतानुसार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन के लिए राजनीतिक प्रणाली का प्रयोग खतरनाक है। यह दृष्टिकोण केवल उसी अध्ययनकर्त्ता के लिए उपयुक्त माना जा सकता है जो अपने देश के अनुकूल शक्ति राजनीति को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार सही सिद्ध करना चाहता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की छाया में राजनीतिक विचारधारा का अध्ययन है। इसके लिए न्यायिक-प्रणाली अपनाई जानी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायवेत्ता का कार्य यह है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय समाज के नियमों के क्षेत्र को विस्तृत कर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र को व्यापक बनाए।

न्यायिक प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रचनात्मक और प्रतिबन्धात्मक पहलुओं पर बल देती है। यह दृष्टिकोण हमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र की अपर्याप्तता से परिचित कराता है। यह दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण इसलिए है क्योंकि इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाओं का दूर करने का निर्देश नहीं दिया जाता। यह न्यायाधीशों का दृष्टिकोण अपनाकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विषयपरक प्रकृति पर प्रकाश डालता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल कानून नहीं है, एक सामाजिक दर्शन भी है जिसके प्रति सजगता के बिना अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रचना का कार्य अव्यावहारिक हो जाएगा।

3 समाजशास्त्रीय प्रणाली – अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विश्लेषण की समाजशास्त्रीय प्रणाली सबसे अधिक स्वीकृत है। 'कानून समाजशास्त्र' एक नया विषय है जिसके अन्तर्गत कानून की सम्पूर्ण सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन किया जाता है। कॉर्ल मेनहीम ने सामाजिक विज्ञानों के लिए एक नई प्रणाली का उल्लेख किया है। उसने ज्ञान के निषेधात्मक परम्परागत तरीकों को चुनौती दी है जिनमें विषयपरक या व्यक्ति अथवा सामूहिक आधारों को छोड़कर केवल वस्तुनिष्ठता पर विचार किया जाता है। मेनहीम का कथन है कि वस्तुनिष्ठता विषय से सम्बन्ध रखती है और विषय हमको ज्ञान के सकारात्मक, रचनात्मक और मूल्यात्मक पहलुओं को समझने में मदद करता है।

आजकल समाजशास्त्री प्रणाली के साथ-साथ अनुभववादी प्रणाली भी अपनाई जाती है। यह प्रणाली परीक्षात्मक या प्रयोगात्मक प्रणाली द्वारा सामाजिक वास्तविकताओं का निर्धारण करती है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कानून सामाजिक विज्ञान बनता जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकेन्द्रित स्वरूप
(Decentralized Nature of International Law)

वैधानिक समुदाय के सदस्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन व्यक्तिगत रूप से किया जाता है, अतः यह विकेन्द्रित व्यवस्था कहलाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों

के निर्माण के तरीके, उनकी व्याख्या के रूपों और व्यवहार की प्रणालियों आदि से यही पुष्टि होती है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप विकेन्द्रित है, राष्ट्रीय कानून की भाँति केन्द्रित नहीं। मॉर्गेन्थो के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विकेन्द्रित प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय समाज के विकेन्द्रित ढाँचे का आवश्यक परिणाम है। जिस प्रकार एक राष्ट्र के कानूनों का निर्माण तथा सचालन कुछ सुव्यवस्थित एवं सुविकसित अंगों द्वारा किया जाता है वैसी कोई व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रचलित नहीं है और न ही हो सकती है। जब तक अपने अपने क्षेत्रों में सम्प्रभु राज्यों द्वारा विश्व-समुदाय की इकाइयों की भूमिका अदा की जाती है तब तक कानून का निर्माण करने वाली तथा उसे लागू करने वाली कोई केन्द्रीय व्यवस्था जन्म नहीं ले सकती। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अस्तित्व एवं व्यवहार दो तत्त्वों के कारण है—

(i) राज्यों के समान अथवा एक-दूसरे के पूरक हित,

(ii) राज्यों के बीच सन्तुलन की स्थापना।

यह कहा जाता है कि जहाँ समुदायों के हित नहीं होते तथा उनके बीच शक्ति का सन्तुलन नहीं पाया जाता है, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं रह सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास एवं पालन वस्तुपरक सामाजिक शक्तियों (Objective Social Force) का परिणाम है। प्रोफेसर ओपनहेम ने शक्ति-सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अभिन्न शर्त माना है। उनका मत है कि यदि शक्तियाँ एक-दूसरे का नियमन नहीं कर सकतीं तो कानून का कोई प्रभाव नहीं रह सकता क्योंकि एक शक्तिशाली राष्ट्र स्वभावतः मनमानी करना चाहेगा तथा वह कानून का उल्लंघन करेगा। सम्प्रभु राज्यों के ऊपर कोई केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता नहीं रह सकती, इसलिए यह आवश्यक है कि शक्ति सन्तुलन द्वारा राष्ट्रों के परिवार के प्रत्येक सदस्य को स्वेच्छाचारी होने से रोका जाए। समरूप एवं परस्पर सहायक हित (Identical and Complementary Interests) भी विकेन्द्रीकरण रूप में सदैव क्रियाशील रहते हैं। वे प्रत्येक वैधानिक व्यवस्था के विधायी न्यायिक एवं कार्यपालक तीनों ही कार्यों पर प्रभाव डालते हैं। मॉर्गेन्थो ने इन्हें जीवन-रक्त की संज्ञा दी है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण
(Creation of International Laws)

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण नहीं होता इनका प्रायः विकास किया जाता है। सम्प्रभु राष्ट्रों के ऊपर ऐसी कोई संस्था नहीं है जिसे सर्वोच्च कहा जा सके और जो ऐसे कानूनों का निर्माण कर सके जिनको राष्ट्रों द्वारा बाध्यकारी रूप में मनवाया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का विकास दो रूपों में होता है अथवा यों कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माता दो प्रकार से होता है—प्रथम प्रकार से तो इन कानूनों के 'व्यवहार एवं प्रचलन की क्रमिक प्रक्रिया' द्वारा विकास होता है। दूसरे प्रकार के अनुसार ये 'सन्धियों की रचना एवं स्वीकृति' के माध्यम से जन्म लेते हैं। प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास मुख्यतः प्रचलन एवं व्यवहार द्वारा किया गया है, किन्तु इन कानूनों की व्याख्या करने वाला कोई अन्तर्राष्ट्रीय

न्यायालय न होने के कारण इनका व्यवस्थित रूप से विकास नहीं हो पाता। यह निश्चय करना भी बड़ा मुश्किल है कि कौन-सी प्रथा या प्रचलन कानून बन जाएगा। अनेक बार ऐसा होता है कि रीति रिवाज प्रचलित होने पर भी सार्वभौमिक (Universal) नहीं बन पाते। प्रचलित कानूनों (Customary Law) की बड़ी कमी यह भी है कि इनके द्वारा विश्व की घटनाओं के परिवर्तित एवं गत्यात्मक (Dynamic) रूप के साथ समायोजन नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि दो या दो से अधिक राज्यों द्वारा सन्धि अथवा सम्मेलनों में नवीन नियमों का निर्माण किया जाता है, सन्धियाँ प्रायः प्रचलित कानून के आधार पर की जाती हैं, सन्धि की इकाइयाँ राज्य होते हैं। सन्धियों की कार्यवाही राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा सचालित की जाती है तथा इसके उपबन्धों का प्रभाव केवल उन देशों पर पड़ता है जो इसमें भाग लेते हैं। सन्धि एवं समझौतों द्वारा जिन कानूनों का निर्माण किया जाता है वे मुख्यतः राज्यों की सामान्य समस्याओं का मुकाबला करने के सहयोगपूर्ण प्रयास का प्रतीक होते हैं। कुछ का सम्बन्ध सामाजिक, व्यावसायिक एवं आर्थिक मामलों से होता है जबकि दूसरे शान्ति और युद्ध जैसी समस्याओं से सम्बन्धित रहते हैं। राष्ट्र सघ एवं सयुक्त राष्ट्रसघ के परिपत्रों द्वारा सन्धियों के मार्ग को आसान बना दिया गया था, ताकि कूटनीति को दूर किया जा सके। सयुक्त राष्ट्रसघ द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक सन्धि को पहले पजीबद्ध (Registered) कराया जाएगा तथा बाद में सचिवालय उसे प्रकाशित कर देगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे दबाव
(Sanctions Behind International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को लागू नहीं किया जा सकता। इसका पालन स्वतत्र एवं सम्प्रभु राष्ट्रों की इच्छा पर निर्भर है जो सदैव स्वार्थ में लिप्त तथा शक्ति वृद्धि के लिए सलग्न रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय स्वार्थ एवं राष्ट्रीय शक्ति का अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हो सकता है, किन्तु प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप में तो वह एक प्रभावशील बाधक का ही कार्य करता है। राष्ट्रों द्वारा जान बूझकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना की घोषणा की जाती है पर फिर भी ऐसा कोई साधन उपलब्ध नहीं जिसके द्वारा उनको इस अवांछनीय कार्य के लिए दण्डित किया जा सके। तथ्यों के आधार पर कुछ विचारकों ने यह मत प्रकट किया है कि ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सुधार होता है अर्थात् इसका स्तर ऊँचा उठता है त्यों-त्यों इसके मानने वालों की, इस पर अमल करने वालों की सख्या भी कम होती चली जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन कुछ निश्चित परिस्थितियों का परिणाम होता है। एक राष्ट्र-विशेष के उद्देश्य एवं दृष्टिकोण भी उसे ऐसा करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्रियान्वयन में अनेक परिस्थितियों, मनोभावों घटनाओं आदि का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हाथ रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करने के लिए एक राष्ट्र को प्रेरित करने वाले विभिन्न तत्त्वों में मुख्य तत्त्व अग्रानुसार हैं—

(1) आदत, (2) सुविधा, (3) आत्म-चेतना, (4) अनौपचारिक दबाव, (5) स्वार्थ (Self-Interest) आदि। प्रत्येक राष्ट्र एक समय में अनेक प्रकार के ढंग अपनाने के लिए स्वतन्त्र रहता है, उदाहरण के लिए, वह दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध मनोवैज्ञानिक या आर्थिक प्रभाव का उपयोग कर सकता है। ये प्रभाव प्रायः सभी वैधानिक व्यवस्थाओं में प्रयुक्त किए जाते हैं। इनके अतिरिक्त एक राज्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को क्रियान्वित कराने के कुछ अन्य औपचारिक साधन भी अपनाए जा सकते हैं। इन साधनों को प्राय अनुशास्ति या दण्ड (Sanctions) कहा जाता है। श्लीचर (Schleicher) के शब्दों में, "अनुशास्ति एक ऐसी क्रिया है जो कि साधारणतः अवैध होती है, किन्तु कानून तोड़ने वाले के विरुद्ध वैध समुदाय (Legal Community) द्वारा इसे स्वीकार किया जाता है।"[1] कानून का पालन करने वाले के विरुद्ध ये प्रयुक्त नहीं की जातीं। राष्ट्रसंघ एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ के व्यवस्था-पत्रों में इस प्रकार की अनुशास्तियों का उल्लेख किया गया है। राष्ट्रसंघ एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा इस प्रकार के कदम सामूहिक सुरक्षा प्रयत्नों के आंशिक रूप में ही अपनाए गए। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि यदि सामूहिक सुरक्षा के शान्तिपूर्ण साधन असफल हो जाएँ तो शक्ति का प्रयोग भी किया जा सकता है। इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि एक आदर्श कानून को क्रियान्वित करने के साधन भी वैधानिक ही होने चाहिए, शक्ति द्वारा उनको लागू कराने का अर्थ होगा कानून की आत्मा का हनन कर देना। इसी आधार पर श्लीचर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'संयुक्त राष्ट्रसंघ यथार्थ में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को नष्ट करता है, वह इनको लागू करने का स्वयं उत्तरदायित्व नहीं लेता है।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की समस्याएँ और सुधार के सुझाव
(The Problems of International Law and Suggestions for Improvement)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपयोगिता के सम्बन्ध में विचारक प्रायः एकमत हैं, लेकिन यह अभी परिपक्व अवस्था में नहीं पहुँचा है अतः इसकी विभिन्न सीमाएँ और समस्याएँ ये हैं—

(1) व्यवस्थापन सम्बन्धी समस्याएँ

रीति-रिवाज और सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख स्रोत हैं। अधिकांश परम्परागत कानूनों को संहिताबद्ध कर दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के समय पर राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति अपनी स्वीकृति अभिव्यक्त की है। ऐसी स्थिति में सन्धियाँ ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य स्रोत बन गई हैं। पिछली शताब्दी में नैतिक सन्धियों की मात्रा पर्याप्त रही। राज्यों को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वे किसी सन्धि को स्वीकार करें अथवा न करें। समझौता होने के बाद भी इसे कानून जैसा परिवर्तन नहीं होती और वह अनुलंघनीय नहीं बन पाता। कानूनों

[1] International Relations p 385.

का संहिताकरण एक प्रकार से व्यवस्थापन ही है और इसके सम्बन्ध में विचारक प्रायः एकमत नहीं हो पाते।

(2) न्यायिक कार्य सम्बन्धी सीमाएँ

न्यायिक कार्य व्यवस्थापन के क्षेत्र की सीमाएँ निम्नलिखित परिस्थितियों के कारण जन्म ले लेती हैं—

(अ) न्यायिक यन्त्र की प्रकृति—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिकांश भाग राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा क्रियान्वित किया जाता है। यदि एक व्यक्ति विदेश में वादी या प्रतिवादी बनता है तो स्थानीय न्यायालयों में उसकी सुनवाई होगी। ये न्यायालय उन स्थानीय कानूनों का प्रयोग करेंगे जो विदेशियों के न्याय की आवश्यकता से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुकूल हों। यदि प्रभावित व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसे न्याय नहीं मिला तो वह अपनी सरकार से अपील करेगा। उसकी सरकार समझौता-वार्ता को अस्वीकार कर सकती है तथा किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण को मना कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय की स्थापना के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण हमेशा इस कार्य के लिए चुने गए व्यक्ति या निकाय द्वारा किया जाता था। प्रत्येक विवाद के समय एक नया न्यायालय बनता था। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना के फलस्वरूप यह समस्या सुलझ गई है किन्तु दूसरी समस्याएँ अभी भी कायम हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, न्यायालयों के वास्तविक पद-सोपान में सर्वोच्चता नहीं रखते और इसलिए केवल उन्हीं मामलों में कानून की आवश्यक एकरूपता है जिन पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने विचार किया है और अपना निर्णय दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अपनी परम्पराओं का अनुगमन करने के लिए बाध्य नहीं है। इसके अतिरिक्त राज्यों के राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर एक दूसरे के निर्णय को, यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों को भी, अस्वीकार करने के लिए स्वतन्त्र हैं। राष्ट्रीय स्तर की न्यायपालिका के स्तर का उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नहीं मिल पाता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून बहुत कुछ महत्त्व रखता है। इसके व्यावहारिक महत्त्व को बढ़ाने के लिए अब विस्तार के साथ नियम बनाए जा रहे हैं और इसके अमूर्त सिद्धान्तों को व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है।

(ब) अनिवार्य क्षेत्राधिकार का अभाव—एक अन्य समस्या यह है कि कोई भी राज्य अपने झगड़ों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख लाने के लिए बाध्य नहीं है। एक राज्य एक विशेष अवसर पर न्यायिक प्रक्रिया को सहमति दे सकता है किन्तु दूसरे अवसरों पर वह इस स्वीकृति को वापस भी ले सकता है। सिद्धान्त रूप में सहमति एक पूर्व आवश्यकता है। राज्य या तो अकेले अथवा मिलकर किसी भी एक राज्य की निन्दा कर सकते हैं अथवा उसे दण्ड दे सकते हैं किन्तु न्यायिक प्रक्रिया उस समय तक संचालित नहीं हो सकती जब तक कि प्रभावित राज्य उसके लिए स्वीकृति प्रदान न करे। विश्व-शान्ति, व्यवस्था और न्याय को हानि पहुँचाने वाला राज्य भी न्यायालय के सम्मुख जाने से मना कर सकता है।

कुछ प्रकार के कानूनी विवादों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार से अलग रखा गया है। वह केवल तभी कार्य प्रारम्भ कर सकता है जब कि विवाद से सम्बन्धित सभी पक्ष इसके लिए सहमत है। एच्छिक प्रावधान भी अनेक महत्त्वपूर्ण सरक्षणों के साथ स्वीकार किया जा सकता है।

(स) **कानून की अस्पष्टता और अनिश्चितता**—अन्तर्राष्ट्रीय समझौते प्राय व्यापक और सामान्य भाषा में अभिव्यक्त किए जाते है। परम्परागत कानून में अस्पष्टता है। विभिन्न राज्यों द्वारा जब इन कानूनों की अवहेलना की जाती है तो यह स्पष्ट नही हो पाता कि इसे कानून माना जाए अथवा नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन होने पर वह कार्यवाही नही की जा सकती जो राष्ट्रीय कानून के उल्लघन पर की जा सकती है। कानून की अस्पष्टता और अनिश्चितता के कारण न्यायालयों का क्षेत्राधिकार प्रभावित होता है।

(द) **प्रजा ही न्यायाधीश है**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय (राज्य) ही इसके न्यायाधीश होते है। दूसरे शब्दो मे व्यक्तिगत राज्य अथवा उनके अभिकरण कानून की व्याख्या करने का अधिकार रखते हैं। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए प्रत्येक देश कानून की अस्पष्टता और तकनीकीपन का प्रयोग अपने हित मे करता है। अन बहुत कम विवाद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख आ पाते हैं।

राज्य आवश्यक क्षेत्राधिकार के विषय नही है, इसलिए उन्हे यह कहने का अधिकार है कि वे कौनसा विषय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक प्रक्रिया के सम्मुख प्रस्तुत करेंगे और कौनसा नहीं करेंगे? वे न्यायिक और गैर-न्यायिक विवादों के बीच भेद करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय वकीलों का मत है कि ये दोनों समूह वास्तविक प्रकृति की दृष्टि से भिन्न हैं। दूसरे विचारकों ने इस अन्तर को अवास्तविक माना है। इस प्रकार का कोई अन्तर राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे नही होता। राष्ट्रीय स्तर पर आत्मरक्षा के लिए किए गए कार्यों पर भी न्यायिक कार्यवाही की जा सकती है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा सम्भव नही है।

(3) कार्यपालिका सम्बन्धी सेवाएं

कार्यपालिका की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाएँ उतनी ही स्पष्ट हैं जितनी न्यायपालिका और व्यवस्थापिका की दृष्टि से हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो को क्रियान्वित करने के कोई अभिकरण उपलब्ध नहीं हैं। यह प्रभावित राज्यों को कुछ करने का अधिकार देता है किन्तु किसी पर भी दायित्व नहीं डालता। सयुक्त राष्ट्र की कार्यवाही भी सामान्यत एक राज्य द्वारा शिकायत करने पर ही प्रारम्भ होती है। यह राष्ट्रीय कानून की भाँति स्वचालित नही है।

(4) कानून का सकुचित क्षेत्र

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाएँ अत्यन्त सकुचित हैं। यह राज्यों से जो माँग करता है वे असल मे इतनी सकुचित हैं कि इसके नियमों को सामान्यत स्वीकार कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए आर्थिक सम्बन्धो पर व्यक्तिगत राज्यो को

पूरा-पूरा अधिकार है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के मुख्य कारण ये ही होते हैं। इसी प्रकार तटस्थता, विस्थापना, अपनी राष्ट्रीयता के लोगों से किया जाने वाला व्यवहार, नागरिकता प्रदान करना एवं सरकार का कोई भी रूप अपनाना आदि विषय भी *अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र से परे हैं। इसी आधार पर ब्रायर्ली ने यह मत* व्यक्त किया है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कभी भी प्रभावशाली योगदान नहीं कर सकता। इसे प्रभावशाली बनने के लिए अनेक उन विषयों को अपने क्षेत्र के साथ जोड़ना होगा जो अभी तक घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत हैं।"

सुधार के सुझाव (Suggestions for Improvement)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपरोक्त दोष उसके महत्त्व एवं उपयोगिता को घटा देते हैं। इन दोषों को मिटाने या हटाने तथा कानूनों को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने के लिए विचारकों ने अनेक सुझाव प्रस्तुत किए हैं। कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को स्पष्ट तथा निश्चित करने के लिए उसका संहिताकरण किया जाए। इसकी उपयोगिता और प्रभावशीलता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा राष्ट्रीयता की भावना और प्रभुसत्ता की धारणा है। विश्व-शान्ति और न्याय की आवश्यकता *एवं औचित्य की दृष्टि से इन पर सीमाएँ लगाए जाने की उपयोगिता का प्रचार* करना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो सके अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय हित के साथ संघर्ष में न आने दिया जाए और यदि हो सके तो राष्ट्रीय हित को साधक बनाने के लिए प्रयास किए जाएँ। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को क्रियान्वित करने के तरीकों और साधनों को प्रभावशाली बनाया जाए। जिस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर कानून के उल्लंघन को गम्भीर अपराध माना जाता है और उसके विरुद्ध दण्ड की व्यवस्था की जाती है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी व्यवस्था की जानी चाहिए। यद्यपि इसके मार्ग में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं किन्तु इनके निराकरण के लिए यथासम्भव प्रयास किए जाएँ। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के पालन की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बढ़ाया जाए। वैसे अब तक अधिकांश देश इस न्यायालय के सम्मुख अपने विवादों को लाते रहे हैं और इनका निर्णय न्यायालय ने पर्याप्त निष्पक्षता और सजगता के साथ दिया है। राज्यों ने इन निर्णयों को मान्यता भी प्रदान की है किन्तु अनेक निर्णय राज्यों की अवहेलना का शिकार भी बने हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सभी विवादों के सम्बन्ध में अनिवार्य क्षेत्राधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। केवल तभी यह विश्व-शान्ति की दृष्टि से उपयोगी साबित हो सकेगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्राधिकार बढ़ाने के लिए दो तरीके अपनाए जा सकते हैं—(क) इन कानूनों को न केवल राज्यों पर वरन् व्यक्तियों पर भी लागू किया जाना चाहिए। (ख) इसे राज्यों के घरेलू मामलों पर भी लागू किया जाए। इस समय घरेलू क्षेत्राधिकार से सम्बन्धित ऐसे अनेक मामले हैं जो दूसरे देशों पर प्रभाव डालते हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाओं से बाहर हैं। प्रो. ब्रायर्ली के मतानुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून उस समय तक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकता जब तक उसके क्षेत्राधिकार को न बढ़ाया जाए।" अनेक विषय ऐसे

हैं जिनको घरेलू क्षेत्राधिकार मे लिया हुआ है किन्तु जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव रखते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को सकट में डालने वाले इन विषयो को जब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिधि मे नहीं लाया जाएगा तब तक यह अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सुधार की दृष्टि से विचारकों ने एक अन्य सुझाव यह भी प्रस्तुत किया है कि युद्ध के सम्बन्ध मे राज्यों का दृष्टिकोण बदला जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को हल करने का एकमात्र तरीका युद्ध को नहीं माना जाना चाहिए। उचित और अनुचित या न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण युद्धों के बीच स्पष्ट अन्तर नही किया जा सकता। प्रत्येक युद्धकर्त्ता अपने उद्देश्यो को न्यायपूर्ण सिद्ध करना चाहता है, ऐसी स्थिति मे युद्धो पर प्रभावशाली नियन्त्रण सर्वथा अव्यावहारिक है। मि. हाल के कथनानुसार, 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामने युद्ध को स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही है, चाहे वह अन्यायपूर्ण ही क्यों न हो ? इस कमी को पूरा किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे कोई शक्ति नहीं होगी तब तक वह महत्त्वपूर्ण नहीं बन सकेगा।"

इस प्रकार विचारको ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दोषो का निराकरण करने के लिए विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किए हैं। उनके मतानुसार ये सुधार अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुरूप होने चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे सार्वभौमिकता अथवा प्रादेशिक आधार पर परिवर्तन किए जाने चाहिए। इनका सहिताकरण किया जाए और इनकी रचना और क्रियान्विति के लिए शक्ति सम्पन्न केन्द्रीय सत्ता की रचना की जाए। इन विभिन्न सुझावों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वर्गीकरण
(Classification of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वर्गीकरण कई दृष्टियो से किया जाता है। इनमे निम्नलिखित उल्लखनीय हैं—

1 सार्वजनिक और वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून—कुछ लेखको ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सार्वजनिक तथा वैयक्तिक इन दो रूपों में विभाजित किया है। सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का नियमन करता है। इस प्रकार यह राज्यों का कानून है। दूसरी ओर व्यक्तिगत अन्तर्राष्ट्रीय कानून यह निर्धारित करता है कि कानून की कौनसी व्यवस्था उन पक्षो के अधिकारों का नियमन करे जिनका मामला अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का है। इनका सम्बन्ध व्यक्तियों से होता है राज्यों से नही। सम्बन्धित व्यक्ति दो या दो से अधिक राज्यों के होते हैं, इसलिए ये अन्तर्राष्ट्रीय बन जाते हैं। वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन नागरिक विवादो से सम्बन्ध रखती है जिनको निर्णय के लिए किसी एक देश के न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है किन्तु इसमे कोई न कोई विदेशी तत्त्व अवश्य शामिल होता है। कई मामलो मे यह प्रश्न उठता है कि किस देश का कानून उन पर लागू किया जाए। यदि कोई अमेरिकी नागरिक अमेरिका मे शादी करके भारत आ जाए और फिर

उसके विवाह या तलाक के सम्बन्ध में कोई समस्या उठे तो किस देश के कानून का अनुगमन किया जाए ? प्रो डायसी ने इस स्थिति को कानून का संघर्ष कहा है। मि. पिट कौबेट ने भी व्यक्तिगत अन्तर्राष्ट्रीय कानून को ऐसे नियमों का समूह माना है जो दीवानी मामलों में किसी देश के न्यायालय के सम्मुख आते हैं तथा जिनमें कोई विदेशी तत्त्व शामिल होता है। इस प्रकार के मामले विदेशी व्यक्ति, वस्तु व्यापारिक लेन देन अथवा कानूनी पद्धति से सम्बन्धित होते हैं।

वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कई उद्देश्य हैं जैसे —

1 यह निर्णय करना कि किसी भी अभियोग या विवाद को सुनने की योग्यता किसी न्यायालय में है अथवा नहीं है। कानूनों के संघर्ष के समय किस देश के न्यायालय को निर्णय का अधिकार है—यह निश्चित किया जाना चाहिए।

2 यह निश्चित करना कि इस प्रकार के विवादपूर्ण मामलों में किस देश का कानून लागू किया जाए ?

3. विदेशी न्यायालयों द्वारा किए गए निर्णयों की वैधता का उल्लेख करना।

वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रत्येक देश में अलग-अलग होती है और इसलिए वह सार्वजनिक विधि से मेल नहीं खाती। इस कानून का अपना महत्त्व है क्योंकि एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में वस्तुओं तथा व्यक्तियों का आना-जाना निरन्तर बना रहता है। अनेक समझौते परिवार, सम्पत्ति उद्यम आदि राष्ट्रीय सीमाओं से पार अपना प्रसार रखते हैं। इसलिए उनके व्यक्तिगत अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का निर्धारण तथा क्षेत्राधिकार से सम्बन्धित समस्याओं को सुलझाना जरूरी बन जाता है। ऐसे कानूनों के लिए व्यक्तिगत अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का प्रयोग प्राय यूरोप में किया जाता है किन्तु संयुक्तराज्य अमेरिका में इसके लिए कानूनों का संघर्ष शब्द प्रयुक्त होता है।

कुछ विचारकों ने व्यक्तिगत अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अन्तर्राष्ट्रीय मानने से इन्कार किया है। उदाहरण के लिए प्रो डायसी का नाम लिया जा सकता है। इनके मतानुसार "यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं है वरन् राष्ट्रीय कानून है क्योंकि इसमें प्रत्येक देश का न्यायालय अपने राष्ट्रीय कानून के अनुसार ही निर्णय लेता है।" प्रो फेनविक के अनुसार "वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त का आधार दूसरे देश के कानून का एक देश में व्यवहार नहीं है वरन् विभिन्न देशों की सद्भावना है। सज्जनता के कारण ही इन कानूनों का पालन किया जाता है किन्तु यह अनिवार्य नहीं है और इस रूप यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इस विभाजन के सम्बन्ध में अधिक [illegible] न होते हुए प्रो. फेनविक [illegible] देते हैं कि सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों और सिद्धान्तों का वर्गीकरण किया जाना चाहिए। इस वर्गीकरण के लिए [illegible] जन्म, प्रकृति और न्यायिक सम्बन्धों के सामान्य क्षेत्र में उनके [illegible] को महत्त्व दिया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिक व्यापक विभाजन [illegible]

2. वास्तविक एवं प्रक्रियात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून – अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक अन्य [illegible] प्रक्रिया [illegible] तथा वास्तविक रूप में किया जाता है।

वास्तविक (Substantive) कानून उसे कहते हैं जिसका सम्बन्ध देश की स्वतन्त्रता अथवा किसी देश पर स्वामित्व से रहता है। इन अधिकारों की रक्षा करने के तरीके या अधिकारों का हनन होने पर उनके प्रतिकार के उपाय प्रक्रियात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत रखे जाते हैं।

3. युद्ध और शान्ति के अन्तर्राष्ट्रीय कानून—विचारकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को युद्ध एवं शान्ति की दृष्टि से दो भागों में वर्गीकृत किया है। शान्तिकाल के अन्तर्राष्ट्रीय कानून युद्धकाल में अनुपयोगी बन जाते हैं और युद्धकालीन कानूनों की शान्ति के समय कोई उपयोगिता नहीं रहती। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जन्मदाता ग्रोशियस ने अपने ग्रन्थ में इस वर्गीकरण का उल्लेख किया है। प्रो. ओपेनहीम की रचना भी दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम का सम्बन्ध शान्ति से है और द्वितीय युद्ध से सम्बन्धित है। सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून मुख्य रूप से शान्ति का कानून होता है। यह राज्यों के पारस्परिक व्यवहारों तथा सम्बन्धों का नियन्त्रण करता है। युद्ध के कानूनों और तटस्थ राष्ट्रों के अधिकारों का प्रश्न केवल युद्ध छिड़ने अथवा युद्ध की घोषणा होने पर ही उठता है।

4 क्षेत्र के आधार पर वर्गीकरण—अन्तर्राष्ट्रीय कानून कितने देशों पर लागू होता है ? इस दृष्टि से भी इसको विशेष, सामान्य और सार्वभौम नामक तीन भागों में विभाजित किया जाता है। विशेष अन्तर्राष्ट्रीय कानून वह है जिसका सम्बन्ध केवल दो देशों के मध्य होने वाली सन्धियों से रहता है। सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन सन्धियों, समझौतों तथा नियमों से सम्बन्ध रखता है जो विश्व के प्रमुख देशों अथवा अधिकांश देशों से सम्बन्ध रखते हैं। तीसरे वर्ग में रखे जाने वाले सार्वभौमिक कानून वे होते हैं जिनको संसार के सभी देशों द्वारा स्वीकार किया जाता है। उदाहरण के लिए राजदूतों के विशेष अधिकार।

5 अन्तर्राष्ट्रीय कानून उद्देश्य की दृष्टि से—एक अन्य विभाजन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून को शक्ति, सहयोग और पारस्परिकता के रूप में भी वर्गीकृत किया जाता है। शक्तिशाली और निर्बल राज्यों के बीच स्थित सम्बन्धों का निर्धारण जिन कानूनों द्वारा किया जाता है उनको शक्ति कानून कहा गया है। सहयोग कानून वे होते हैं जिनको क्रियान्वित करने के लिए सभी देश एक दूसरे से सहयोग करते हैं। पारस्परिकता के अन्तर्राष्ट्रीय कानून वे हैं जिनका पालन एक देश इसलिए करता है क्योंकि दूसरे देश भी उसका पालन कर रहे हैं। एक देश में दूसरे देशों के राजदूतों को इसलिए सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं क्योंकि दूसरे देशों में उसके राजदूतों को वे सुविधाएँ और स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की गतिशील प्रकृति
(Dynamic Nature of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रकृति स्थिर नहीं है। वैसे तो प्रत्येक कानून परिस्थितियों और समय के अनुसार परिवर्तनशील होता है किन्तु यह परिवर्तनशीलता और गतिशीलता अन्तर्राष्ट्रीय कानून में विशेष रूप से उपलब्ध होती है। अन्तर्राष्ट्रीय

जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों में पहला कानून निरर्थक अथवा महत्त्वहीन बन सकता है और ऐसी स्थिति में उसमें आवश्यकतानुसार संशोधन एवं परिवर्तन करने होंगे। कोई भी कानूनी व्यवस्था यदि अपने कार्यों को केवल हिंसा के व्यवहार को रोकने तक ही सीमित रखे तो वह प्रभावशाली नहीं हो सकती। यदि कानूनी व्यवस्था समाज में व्यवस्था की स्थापना करना चाहती है तो उसे कानून का ऐसा मापदण्ड निर्धारित करना होगा जो समाज द्वारा आर्थिक और सामाजिक न्याय के आधार के अनुरूप समझा जाए। जब न्याय के इन मापदण्डों के आधार पर कोई निर्णय लिया जाए तो इसके लिए सम्पूर्ण समाज के उच्चतर हितों को ध्यान रखा जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून यदि अपने उच्च उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहता है तो उसे राष्ट्रीय कानून की भाँति गत्यात्मक होना चाहिए। इस समस्या पर प्रो डन (Prof Dunn), डलेस (Dulles), विलियम्स (Williams) आदि ने गहन विचार किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय समाज को समय-समय पर अपने सिद्धान्तों के बारे में जाँच करनी चाहिए और वांछित उद्देश्यों के प्रकाश में उनका अध्ययन करना चाहिए। उद्देश्यों को भी समय-समय पर परिभाषित किया जाना चाहिए और ऐसा करते समय अपने सदस्य राष्ट्रों की आवश्यकताओं और इन्हें प्राप्त करने के लिए उपलब्ध साधनों तथा तरीकों का ध्यान रखना चाहिए। जब एक राष्ट्र का अन्तर्राष्ट्रीय समाज से सम्बन्ध निर्धारित किया जाए तो ऐसा करते समय राष्ट्र की सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता के बीच सन्तुलन स्थापित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार के कानून के विकास में स्थायित्व और न्याय के बीच भी सन्तुलन स्थापित किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की गतिशीलता का अर्थ यह नहीं है कि आए दिन इनमें परिवर्तन किए जाएँ। अधिकारों और कर्त्तव्यों की निरन्तरता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निश्चित होना अनिवार्य है। इन कानूनों में इतनी लोचशीलता होनी चाहिए ताकि ये अन्तर्राष्ट्रीय जीवन और पारस्परिक व्यवहार की बदलती हुई परिस्थितियों का सामना कर सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्थिरता और लोचशीलता का अनुपम समन्वय है। एक सीमा तक ही स्थिरता को मान्य समझा जा सकता है किन्तु उसके बाद यह कानून को निरर्थक बना देती है।

2 अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत

(Sources of International Law)

स्रोत (Source) से सामान्यतया हमारा अभिप्राय 'उद्गम' से होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उद्गम और विकास की प्रक्रिया इतनी जटिल रही है कि हम इसके उद्गम को तुरन्त वैसे नहीं समझ सकते जैसे हम राष्ट्रीय कानून के उद्गम को समझ सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण किसी निश्चित अवधि में किसी विधि-निर्मात्री संस्था द्वारा नहीं हुआ है, वरन् यह एक विकासोन्मुख कानून है जो राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में विकास की प्रक्रिया के साथ साथ विकसित होता रहा है और होता जा रहा है। जो तत्व राज्यों के आपसी सम्बन्धों को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं, वे ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में भी योग देते हैं। सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास और नियमन का प्रमुख माध्यम रही हैं तो ये सन्धियाँ ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक प्रमुख स्रोत हैं जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख नियमों का जन्म हुआ है। इसी प्रकार परम्पराओं और व्यवहार के सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर राज्य पारस्परिक सम्बन्धों तथा दायित्वों का निर्वाह करते हैं। दूसरे शब्दों में, परम्पराओं, व्यवहार के सामान्य सिद्धान्तों और प्रथाओं अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास होता रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों पर विचार किया है। एडवर्ड कॉलिन्स (Edward Collins) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों से हमारा अभिप्राय उन तरीकों और प्रक्रिया से है जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्म होता है।[1] लॉरेन्स (Lawrence) के अनुसार यदि हम कानून के स्रोत का अर्थ कानून के आरम्भ से लें और उसे सम्पूर्ण बाध्यता की शक्ति से आविष्ट मानें तो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सम्बन्ध में कानून का केवल एक स्रोत है और वह है—राष्ट्रों की सहमति। यह सहमति 'प्रकट' भी हो सकती है और 'परोक्ष' भी। 'प्रकट सहमति' सन्धियों द्वारा या अन्तर्राष्ट्रीय प्रलेखों द्वारा

1 *Edward Collins* : op cit., p [illegible]

जिनका प्रभाव सन्धियों के ही समान होता है, दी जाती है। 'परोक्ष सहमति' अन्तर्राष्ट्रीय आचरण में सन्निहित होती है।

प्रो. स्टार्क (Starke) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत से हमारा आशय उस वास्तविक सामग्री से है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के नियम आदि में प्रयोग करने के लिए प्रयुक्त करते हैं।[1] स्टार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों को निम्न चार वर्गों में बाँटा है—

1. रीति-रिवाज (Customs)।
2. सन्धियाँ (Treaties)।
3. पच-निर्णय एवं न्यायालयों के निर्णय (Decisions of Arbitral or Judicial Tribunals)।
4. विधिशास्त्रियों के ग्रन्थ (Juristic Works)।

ओपेनहेम (Oppenheim) का मत है कि राज्यों की विधि या कानून के स्रोत केवल सन्धियाँ (Treaties) ही मानी जानी चाहिए।

ब्रायर्ली ने रूढ़ियों तथा युक्तियों (Reasons) को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य स्रोत माना है।

वेस्टलेक के अनुसार प्रथा और तर्क, यही दो स्रोत, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निकट हैं। वेस्टलेक ने रोमन कानून को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक सहायक कानून माना है। प्रथा इस बात का प्राथमिक साक्ष्य प्रस्तुत करती है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून क्या है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक स्रोत है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न प्रकार के स्रोतों का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (संयुक्त राष्ट्रसंघ चार्टर द्वारा स्थापित) की संविधि (Statute) के अनुच्छेद 38 'ए' में उल्लेख किया गया है। तदनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निम्नलिखित पाँच स्रोत हैं—

1 सामान्य या विशेष अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (International Conventions)—जिनमें ऐसे नियमों की स्थापना होती हो जिन्हें प्रतिस्पर्द्धी राज्यों ने प्रकट रूप से स्वीकार कर लिया हो।

2 अन्तर्राष्ट्रीय रीति रिवाज (International Customs)—जो इस बात का प्रमाण है कि किसी सामान्य व्यवहार (Practice) को कानूनी मान्यता मिल गई है।

3 कानून के ऐसे सामान्य सिद्धान्त (General Principles of Law) जिन्हें सभ्य राज्यों ने स्वीकार कर लिया है।

4 अनुच्छेद 59 के उपबन्धों के अधीन न्यायिक निर्णय (Judicial Decisions) और विभिन्न राष्ट्रों के उत्कृष्ट योग्यता वाले अन्तर्राष्ट्रीय विधि-विशेषज्ञों के कथन विधि के नियमों के निर्धारण के लिए सहायक साधनों के रूप में।

1 *J G Starke*, op cit p 34

5 सन्धियाँ द्विपक्षीय, बहुपक्षीय तथा सार्वदेशीय--यद्यपि सभी सन्धियों में सीमित अथवा विस्तृत रूप में सम्बन्धित पक्षों के लिए नियम होते हैं, तथापि कुछ सन्धियाँ मात्र कानून निर्मात्री ही होती हैं, अर्थात् उनका उद्देश्य ही कानून बनाना होता है। ऐसी सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए कानून का स्वरूप प्रस्तुत करती हैं, अत उन्हें सम्बन्धित पक्षों के अलावा अन्य राज्य भी स्वीकार कर सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के चार्टर के अनुच्छेद 38 में दी गई व्याख्या मात्र घोषणात्मक है। यह अनुच्छेद अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नए स्रोतों और विधि-निर्माण की नवीन प्रक्रियाओं के बारे में मौन है। इस अनुच्छेद का अर्थ सिर्फ कानूनी दृष्टि से ही लिया जाना चाहिए। यह अपेक्षा की जाती है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को कानूनी समाधान में इन तत्त्वों का हवाला देगा और इनकी सहायता लेगा।

उपर्युक्त प्रमुख स्रोतों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के और भी अनेक स्रोत हैं, यथा—अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (International Comity), सन्धियों के अतिरिक्त राजकीय पत्र (State Papers), राज्यों द्वारा अपने अधिकारियों के पथ-प्रदर्शन के लिए जारी किए गए निर्देश, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के प्रस्ताव, विभिन्न देशों की संसदों तथा विधानसभाओं के कानून, न्यायालयों के निर्णय, अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं की तथा इस विषय पर ग्रन्थ-लेखकों की समितियाँ, आदि। मिशेल विराली ने 'मैन्युअल ऑफ पब्लिक इण्टरनेशनल लॉ' में सन्धियों, अन्तर्राष्ट्रीय *परम्पराओं, कानून के सामान्य सिद्धान्तों, न्यायिक निर्णयों, न्यायविदों की रचनाओं,* राज्यों के एकतरफा व्यवहार तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के निर्णयों को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत माना है।

इस पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण एवं गौण स्रोतों का विस्तार से उल्लेख करेंगे—

1 रीति-रिवाज या चलन (Customs),
2 अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ (International Treaties),
3. कानून के सामान्य सिद्धान्त (General Princ ples of Law),
4. न्यायिक निर्णय (Judicial Decisions),
5 विधिवेत्ताओं के ग्रन्थ (Writings of Publicists),
6 अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (International Comity),
7 अन्तर्राष्ट्रीय राजपत्र (International State Papers),
8 तर्कशक्ति (Reason),
9 विशेषज्ञों की व्यवस्था,
10. राज्यों के निर्देश,
11 राजनयिक व्यवहार।

(1) रीति-रिवाज या चलन (Customs)

रीति-रिवाज या चलन अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्राचीन और मौलिक स्रोत है।

20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक रीति रिवाज अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्त्वपूर्ण स्रोत रहे किन्तु बाद में कानून निर्माता सन्धियों की संख्या बढ़ जाने के कारण इनका महत्त्व घट गया। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय उपलब्ध सन्धि के प्रावधानों पर विचार करने के लिए बाध्य है किन्तु इन सन्धियों की व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज के सन्दर्भ में की जाती है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सन्धियों की व्याख्या करते समय रिवाजों पर निर्भर रहा है और इस प्रकार परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में योगदान दिया है। विभिन्न राज्यों के प्रदेश, उनके क्षेत्राधिकार, राजदूतों के विशेष अधिकार एवं दूसरे ऐसे ही प्रश्नों के सम्बन्ध में विभिन्न परम्पराएँ विकसित हुई हैं।

रिवाज अथवा आचार से हमारा अभिप्राय ऐसे नियमों से है जो एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया के बाद विकसित होते हैं तथा जिन्हें राष्ट्रों के समाज ने स्वीकार कर लिया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की परम्पराएँ विभिन्न राज्यों द्वारा अनिवार्य समझी जाने पर ही रिवाज बन जाती हैं। जोनवेस्टलेक ने लिखा है कि 'रिवाज अथवा आचार आचारण की वह पद्धति है जिसका अनिवार्य रूप से पालन करना समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है।" रिवाजों का विकास एक क्रमिक प्रक्रिया का परिणाम है। विभिन्न राज्य सुरक्षा की भावना या सुविधा की दृष्टि से कुछ व्यवहारों को अपनाते हैं। इन व्यवहारों का आधार राज्यों की इच्छा होती है। वे आसानी से इस व्यवहार का उल्लंघन कर सकते है। कालान्तर में उपयोगिता और महत्त्व की दृष्टि से कुछ व्यवहारों को स्वीकार कर लिया जाता है तथा अनुपयोगी व्यवहार इतिहास के गर्भ में खो जाते हैं। तीसरी अवस्था में ये व्यवहार सामान्य स्वीकृति प्राप्त करके रिवाज बन जाते हैं और सभी सभ्य राज्यों द्वारा इनका अनुशीलन अनिवार्य कर्त्तव्य मान लिया जाता है। रिवाज बनने के बाद कोई भी देश इन व्यवहारों को सार्वजनिक निन्दा की जोखिम उठा कर ही अस्वीकार कर सकता है।

रिवाज (Custom) और प्रथा (Usage) के बीच अन्तर है। यद्यपि इनको कभी-कभी पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त कर लिया जाता है किन्तु ऐसा करना भ्रमपूर्ण है। प्रो ब्रायर्ली के कथनानुसार "कानूनी दृष्टि से रिवाज का अर्थ आदत या प्रथा से कुछ अधिक है। यह ऐसी प्रथा है जिसका पालन करने वाले लोग इसे बाध्यकारी समझते हैं।" 'प्रथा' रिवाज का पूर्व रूप है। ओपेनहीम के मतानुसार दोनों के बीच भेद किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधीश की भाषा में दोनों का भिन्न अर्थ होता है। प्रारम्भ में प्रत्येक रिवाज एक प्रथा के रूप में रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र के द्वारा रिवाज शब्द का प्रयोग केवल तभी किया जाता है जब कुछ निश्चित कार्यों को सुस्पष्ट एवं निरन्तर रूप से करने की आदत का विकास इस विश्वास के साथ हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इनका सम्पन्न करना बाध्यकारी अथवा उचित है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में राज्यों का कुछ आचरण परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अतिरिक्त भी हो सकता है।

प्रथा में हमेशा रिवाज बनने की प्रवृत्ति होती है। एक प्रथा कितने समय में रिवाज बन जाएगी ? इस सम्बन्ध में सैद्धान्तिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, यह केवल व्यवहार का प्रश्न है। सिद्धान्त रूप से तो यही कहा जा सकता है कि जब एक व्यवहार को राज्यों द्वारा स्वीकार कर लिया जाए और वे उसे बाध्यकारी या कानूनी रूप से उचित मानने लगें तो वह प्रथा बन जाती है। रिवाज एक ऐसी प्रथा है जिसका पालन करना कानून की भाँति बाध्यकारी समझा जाता है। राज्यों के बीच यह भावना स्थित रहती है कि यदि प्रथा का उल्लंघन किया गया तो किसी न किसी प्रकार का दबाव उल्लंघनकर्त्ता पर अवश्य डाला जाएगा। रिवाज के अस्तित्व का प्रमाण राज्यों के परस्पर व्यवहार का अध्ययन ही हो सकता है।

रिवाज के नियमों का जन्म या तो कुछ राज्यों के व्यवहार में होता है जिन्हें उपयोगी होने के कारण दूसरे राज्यों द्वारा अपना लिया जाता है अथवा एक बड़ा शक्तिशाली देश अपनी इच्छा अपने पड़ोसियों पर लागू करके रिवाज चला देता है। यह स्मरण रखने योग्य है कि केवल प्रथा, कानूनी दायित्व के बिना कानून का शासन स्थापित नहीं कर सकती। जब भी कभी एक राष्ट्र किसी रिवाज के आधार पर अपने व्यवहार को उचित या दूसरे राज्यों के व्यवहार को अनुचित सिद्ध करने का प्रयास करता है तो ऐसी स्थिति में वह यह सिद्ध करेगा कि सम्बन्धित रिवाज कानून के रूप में स्वीकार किया गया सामान्य व्यवहार है। रिवाज का प्रमाण अनेक आधारों पर दिया जा सकता है। विभिन्न राज्य अनेक ऐसी घोषणाएँ करते हैं जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप की व्याख्या की जाती है। इस प्रकार के कार्य या घोषणा इस बात का प्रमाण हो सकती हैं कि सम्बन्धित क्षेत्र में कानून का शासन है या रिवाज है।

कोई भी प्रथा केवल तभी रिवाज बनती है जबकि उसमें कुछ-एक विशेषताएँ हों, उदाहरण के लिए—उसमें प्राचीनता, तर्क-सगतता, निरन्तरता, एकरूपता, सुनिश्चितता, अनिवार्यता और नैतिकता का होना आवश्यक है। प्रथा को रिवाज के रूप में आवश्यक रूप से सभी राज्यों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता किन्तु जिन राज्यों द्वारा भी स्वीकार किया जाता है वे संख्या में पर्याप्त होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रिवाज का महत्त्व इसलिए अधिक है क्योंकि राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करने वाली कोई सामान्य संस्था नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज में उपयुक्त संगठन का अभाव है। राज्य-स्तर की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर कोई ऐसी संस्था नहीं है जो कानून का निर्माण कर सके। राज्य जिन परम्पराओं को उपयुक्त समझते हैं उन्हें अपना लेते हैं और वे ही कुछ समय बाद सामान्य स्वीकृति प्राप्त करके रिवाज बन जाती हैं।

रिवाजों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में समय-समय पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों ने विचार किया है। सामान्य स्वीकृति का मापदण्ड पर्याप्त व्यापक है। अत [illegible] कानूनी व्यवस्था को न्यायालयों द्वारा प्रमाणित किया

जाता है तो इसकी अनिश्चितता घट जाती है और यह कानून की भांति निश्चित बन जाती है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यवस्थाओं का अन्तर मुख्य रूप से निश्चितता का नहीं वरन् अनिश्चितता का है। एक नए रिवाज का विकास पर्याप्त धीमी प्रक्रिया है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज की प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसे और भी धीमी बना देती है। ऐसी स्थिति में कानून की प्रगति में सन्धियों का योगदान बिगड़ जाता है। इतने पर भी रिवाज का विकास आज भी सम्भव है। जब इसकी आवश्यकता पर्याप्त स्पष्ट और जरूरी होती है तो यह विकसित हो जाता है। वायु पर सम्प्रभुता के सिद्धान्त का तीव्र विकास इसका एक उदाहरण है।

जब भी कभी किसी मामले में रिवाज की प्रामाणिकता पर विचार किया जाता है तो यह सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है कि अमुक व्यवहार बार-बार और नियमित रूप से होता रहा है। ल्यूबेक बनाम मैकलेनबर्ग (Lubeck Vs Macklanburg) के मामले में जर्मनी के न्यायालय ने बताया कि किसी भी राज्य अथवा *शासन-सत्ता द्वारा एक बार किया गया कार्य रिवाज नहीं बन जाता। उसे रिवाज* बनाने के लिए नियमित रूप से बार-बार किया जाना चाहिए। सन् 1950 में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने एक शरणागत के विषय में बताया कि "कोलम्बो सरकार को यह सिद्ध करना चाहिए कि वह जिस नियम को प्रमाण के रूप में पेश कर रही है वह राज्य द्वारा एक रूप में तथा निरन्तर व्यवहार में लाया जाने वाला नियम है। यह प्रथा शरण देने वाले राज्य का अधिकार है और प्रादेशिक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि इसे मान्यता प्रदान करे।'

इसी प्रकार से दूसरे मामलों में भी अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजों को कानून के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अनेक निर्णय इन्हीं प्रथाओं के आधार पर किए गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने लोटस विवाद के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया कि महासमुद्रों में दो जहाजों में टक्कर हो जाने पर कोई ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज नहीं है जिसके आधार पर टक्कर के मामले पर विचार करने का अधिकार एकमात्र उस देश को हो जिसका झण्डा उस जहाज पर फहरा रहा था। रिवाजी कानून का आधार विभिन्न राज्यों की सहमति है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के अन्य सदस्यों के भय से एक राज्य इसे स्वीकृति देता है। जब एक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज का सदस्य बनता है तो उस पर रिवाजी कानून स्वतः ही लागू हो जाता है। संयुक्तराज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने स्कोटिया (The Scotia) के मामले में अपना निर्णय देते हुए बताया कि 'समुद्र के कानून को कोई एक राष्ट्र नहीं बदल सकता क्योंकि यह सभ्य समाजों की सामान्य स्वीकृति पर आधारित है। आचरण के नियम के रूप में सामान्य रूप से स्वीकार हो जाने के कारण यह शक्ति रखता है किन्तु जब दो देशों द्वारा नौचालन के नियम निर्धारित कर दिए जाते हैं और तीस से भी अधिक प्रमुख नौचालन वाले देशों द्वारा उन्हें स्वीकार कर लिया जाता है तो वे समुद्र के कानून का भाग बन जाते हैं और एक प्रथा का स्थान कानूनी रिवाज ले लेता है। यह कहा जाता है कि किसी रिवाज के बनने पर जब एक राज्य उसका

पालन न करने का सकल्प प्रकट करता है तो दूसरे राज्य उसे पालन करने के लिए विवश नहीं कर सकते।"

रिवाजी कानून की कमजोरियाँ (Weaknesses of Customary Law)–रिवाजी कानून का विकास और प्रगति अनेक कमियों और अपर्याप्तताओं के साथ हुई है—

1 रिवाजो का विकास एक धीमी प्रक्रिया द्वारा होता है, इसलिए यह राज्यो के बदलते हुए सम्बन्धो के साथ एकरूप नहीं हो पाता। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे अनेक नए प्रश्न उठते हैं किन्तु इन प्रश्नो का समाधान परम्परागत कानूनो द्वारा उचित रूप से नहीं हो पाता।

2 रिवाजी कानून का पालन करने के लिए प्रत्येक राज्य बाध्य नहीं है।

3 स्पष्ट सुविधा के मामलो म एक सुस्थापित प्रथा के अस्तित्व को निर्धारित करना कठिन नहीं होता और बाध्यकारी रिवाज की शक्ति को माना और जाना जा सकता है, किन्तु दूसरे मामलों मे जहाँ विरोधी स्वार्थ हैं वहाँ विदेशी कार्यालयो के बीच रिवाजो के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। प्रश्न यह उठता है कि किसी प्रथा के विकास को किस बिन्दु पर रिवाज मान लिया जाए। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय परम्पराओ के अनुसार निर्णय नहीं ले सकता।

4. कोई भी नई कानून-निर्माता सन्धि विरोधी रिवाजी कानून को महत्त्वहीन बना देती है। यदि रिवाजी कानून के प्रावधान इतने सामान्य रूप से स्वीकृत हों कि वे उल्लघन होने पर राष्ट्रीय जीवन मे हलचल ला दें तो उनका मानना जरूरी बन जाता है किन्तु सामान्य रूप से ऐसी शक्ति प्राय राष्ट्रीय कानून म नहीं होती।

हाल ही में एशिया, अफ्रीका, लेटिन अमेरिका और कुछ सर्वाधिकारवादी देशो मे रिवाजी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को चुनौती दी जाने लगी है। इन देशो म कानूनी व्यवस्था यूरोप से भिन्न है किन्तु रिवाजी कानून का विकास योरोपीय कानूनी परम्परा का ही परिणाम है। विभिन्न देशो के भिन्नतापूर्ण धार्मिक कानूनो ने प्रचलित रिवाजो के प्रति विरोध प्रकट किया है और इसलिए उनकी शक्ति घटी है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय सधियाँ
(International Treaties)

अन्तरराष्ट्रीय कानून का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो को माना जाता है। सम्बन्धित देश सन्धि के निहित नियमो के प्रति अपनी स्वीकृति प्रकट करते हैं और उनका अनुशीलन करते हैं। एक बात उल्लेखनीय यह है कि सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत केवल तभी हो सकती हैं जब उनको राष्ट्रो द्वारा एक निकाय के रूप मे स्वीकार किया जाए। दो व्यक्तिगत राज्यो पर यह कोई दायित्व नहीं डालता। इनको विशेष अन्तर्राष्ट्रीय कानून माना गया है। जिस प्रकार राष्ट्रीय कानूनों के अधीन नागरिको के बीच व्यक्तिगत समझौते होते हैं उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे भी विभिन्न सन्धियाँ अलग-अलग हितो के लिए किए जाने

वाले समझौते मात्र हैं। जब दो राज्यो के बीच होने वाली सन्धियाँ अन्य राज्यो द्वारा भी अपना ली जाती हैं तो वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत बन जाती हैं।

प्रो. ब्रायर्ली ने माना है कि केवल कुछ विशेष प्रकार की सन्धियाँ ही सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत मानी जा सकती हैं। जो सन्धि कुछ विशेष उद्देश्यो के लिए दो या कुछ राज्यो के बीच की जाती है वह सामान्य कानून की स्थापना का कारण नही मानी जा सकती। केवल वे सन्धियाँ ही सामान्य कानून का स्रोत समझी जाती हैं जिनमे बहुत-से देश भाग लेते हैं। देशो के बीच होने वाली हजारों सन्धियाँ ऐसी होती हैं जिनके द्वारा एक भी सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रचना नहीं की जाती। उदाहरण के लिए, विभिन्न देशो के बीच होने वाली व्यापारिक या सैनिक सन्धियाँ राष्ट्रों के समाज के आचरण के लिए किसी प्रकार का नियम निर्धारित नहीं करती हैं। इस दृष्टि से हम सन्धियो को निम्नलिखित भागो मे विभाजित कर सकते हैं—

(अ) विधिसूचक सन्धियाँ (Declaratory of Law Treaties)—कुछ सन्धियो का उद्देश्य यह स्पष्ट करना होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय नियम का स्वरूप क्या है। प्रो ब्रायर्ली के मतानुसार, "अनेक राज्य इस उद्देश्य से भी सन्धि कर सकते हैं कि किसी भी एक विशेष विषय पर कानून क्या है, यह समझाया जाए।" इस प्रकार की सन्धि कोई नया नियम नहीं बनाती वरन् पूर्व स्थित नियमो को स्वीकार करती है। उदाहरण के लिए स्वीडन और डेनमार्क के मध्य की गई सन् 1794 की सन्धि का नाम लिया जा सकता है।

(ब) कानून-निर्माता सन्धियाँ (Law-making Treaties)—अन्तर्राष्ट्रीय परिवार का रूप राज्य की भाँति सुसगठित नही है और इसलिए ससद् की भाँति यहाँ किसी सस्था द्वारा कानून नहीं बनाए जा सकते। 'सजग रूप से कानून बनाने का यहाँ एकमात्र तरीका विभिन्न राज्यो द्वारा की जाने वाली सन्धियाँ हैं। इन सन्धियो मे उनके भविष्य के व्यवहार से सम्बन्धित कुछ नियम रहते हैं। यह सच है कि इस प्रकार की विधायक सन्धियाँ केवल समझौते मे शामिल देशो के लिए ही कानून की रचना करती हैं। सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून तब बनता है जब राष्ट्रो के परिवार के सभी सदस्य इन सधियो मे शामिल होते हैं। मि ग्लान ने केवल विधायक सधियो को ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत कहा है। ये एक जैसे हित वाले अनेक देशो द्वारा एक नया नियम बनाने की दृष्टि से की जाती हैं। दूसरे राज्य भी स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से उसे मान्यता प्रदान करते हैं। इस प्रकार एक विधायक सन्धि वह साधन है जिसके माध्यम से बहुत-से राज्य एक विशेष कानून के शासन के प्रति अपनी वफादारी घोषित करते हैं और जिसके द्वारा राज्यों के भावी आचरण को स्वीकार करने या बनाने के लिए नए सामान्य नियम निर्धारित किए जाते हैं। इसके द्वारा स्थित रिवाजो अथवा अभिसमयात्मक नियमों को समाप्त किया जाता है या बदला जाता है। यह कुछ नए अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण भी निर्मित करती है।

आधुनिक राज्यो की सम्प्रभु प्रकृति के कारण ये सन्धियाँ केवल उन्हीं राज्यो

' लागू होती है जो उन्हे हस्ताक्षर करके स्वीकार करते हैं। यदि हस्ताक्षरकर्त्ता ज्य कम हैं तो वह सन्धि कोई नया सामान्य नियम नहीं बना सकेगी वरन् केवल ...थ या क्षेत्रीय-व्यवहार का नियम बना सकेगी। यदि शेष राज्य भी इसे स्वीकार करने लगें तो यह सामान्य बन जाएगी। प्रो ब्रायर्ली के कथनानुसार, कानून निर्माता सन्धि भी दूसरे प्रकार की सन्धियों की भाँति अनेक सीमाओं से पूर्ण होती है। यह उन राज्यो पर बाध्यकारी नही होती जिन्होने इस पर हस्ताक्षर नही किए हैं।" कुछ राज्यो द्वारा स्वीकृत सन्धियाँ सामान्य कानून की रचना कर सकती है किन्तु सार्वभौमिक कानून की रचना नही कर सकती। इन सन्धियो का कानून निर्माण की दृष्टि से सीमित महत्त्व है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन और संस्थाएँ, जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय या सयुक्त राष्ट्रसघ आदि कुछ राष्ट्रो के बीच किए गए समझौते हैं।

कानून निर्माता सन्धि की तुलना राष्ट्रीय स्तर के व्यवस्थापन से की जा सकती है किन्तु यह तुलना पर्याप्त अपूर्ण है क्योंकि राष्ट्रीय व्यवस्थापन सम्बन्धित राज्य की समस्त प्रजा पर लागू किया जाता है।

सन्धियो को मि ओपेनहीम ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मौलिक स्रोत नही माना है। उनके मतानुसार रिवाज अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मूल स्रोत होते हैं और सन्धियाँ रिवाजो से शक्ति प्राप्त करती हैं। यह भी एक रिवाज ही है कि सन्धियाँ समझौता करने वाले देशो पर बाध्यकारी रूप से लागू होगी। विधायक सधियो के उदाहरण के रूप मे सन् 1648 की वेस्टफेलिया की सधि का नाम लिया जा सकता है जिसने सम्प्रभु राज्यो की आधुनिक व्यवस्था की नींव डाली। इसके बाद वियना कांग्रेस ने कानून निर्माता निकाय का कार्य सम्भाला। इसमे विचार-विमर्श के बाद अनेक समझौते किए गए। उदाहरण के लिए, राइन का अन्तर्राष्ट्रीयकरण, कूटनीतिक अधिकारियों का वर्गीकरण आदि। यह कुछ समय बाद सारे यूरोप का कानून बन गया। सन् 1856 की पेरिस की शान्ति घोषणा यद्यपि मौलिक रूप से केवल हस्ताक्षरकर्त्ता देशो के बीच ही का कानून थी किन्तु जल युद्ध के समय तटस्थ राज्यो के कुछ अधिकारो आदि के सम्बन्ध मे यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून बन गई। जेनेवा रेडक्रास अभिसमय (1864) भी शक्तिशाली देशो के एक समूह द्वारा स्वीकृत ऐसी सधि का उदाहरण है जिसे बाद मे प्राय. सभी देशो ने स्वीकार कर लिया। य सधियाँ जब अनेक राज्यो द्वारा स्वीकार कर ली गईं तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रमुख स्रोत बन गईं।

19वीं शताब्दी मे अनेक सधियाँ सम्मेलनो और कांग्रेसो द्वारा कुछ सामान्य आर्थिक और सामाजिक हितो के प्रशासन के नियमन हेतु की गईं। विशेष राष्ट्रो के विवादपूर्ण दावो का नियमन करने की अपेक्षा इनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सामान्य कल्याण की वृद्धि से था। इनके द्वारा समझौता करने वाले पक्षो के सघो या विशेष सस्थाओ की रचना की गई ताकि कुछ विशेष उद्देश्यो की पूर्ति की जा सके। इन अभिसमयों मे उल्लेखनीय हैं—सन् 1874 का सार्वभौमिक डाक अभिसमय,

1883 के औद्योगिक सम्पत्ति अभिसमय, सन् 1890 का अफ्रीकी दासों के व्यापार को दबाने वाला अभिसमय आदि आदि। अनुमान है कि सन् 1864 से 1929 तक लगभग 486 कानून निर्माता सन्धियाँ हुई। सन् 1949 के जेनेवा अभिसमय द्वारा युद्ध के कुछ पहलुओं का नियमन किया गया और युद्ध-बन्दियों तथा दबाई हुई भूमि के सम्बन्ध मे निर्णय लिया गया। सन् 1958 मे जेनेवा मे समुद्र के नियमों के सम्बन्ध मे विचार किया गया; इसी प्रकार सन् 1960 के वियना अभिसमय मे कूटनीतिक विशेषाधिकारो और उन्मुक्तियो के सम्बन्ध मे विचार किया गया।

सन् 1920 मे सयुक्त राष्ट्रसघ की स्थापना के बाद के सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय हितो की वृद्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय बनाए गए। इनको बहुपक्षीय सन्धि माना जा सकता है। प्रो. फैनविक ने सघ के घोषणा-पत्र को कानून निर्माता सन्धि माना है। राष्ट्रसघ की सभा की बैठकें अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो पर विचार करने के लिए सार्वजनिक मच बन गई हैं। आर्थिक और सामाजिक हितो पर विचार करने वाले सम्मेलनो तथा काग्रेसों की सख्या पर्याप्त बढ़ गई है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय अनेक सन्धियो की सीरीज का स्रोत बन गया है। इन अनेक बहुपक्षीय सन्धियो ने महत्त्वपूर्ण कानूनो की रचना की है और सामूहिक सुरक्षा की कमजोरियों को दूर करने का प्रयास किया है।

कानून निर्माता सधियों को उनकी विषय-वस्तु और अभिप्राय के आधार पर विभिन्न भागो मे विभाजित किया जा सकता है। इनमे से कुछ का उद्देश्य रिवाजी कानून या कानूनी नियमों को बदलना होता है। वियना काग्रेस के अन्तिम अधिनियम को इस श्रेणी मे रखा जा सकता है। इसने नौचालन की स्वतन्त्रता से सम्बन्धित नियमों को सहिताबद्ध किया तथा कूटनीतिक प्रतिनिधियो का वर्गीकरण किया। दूसरी कानून निर्माता सन्धियाँ कानूनों मे किसी प्रकार की वृद्धि किए बिना स्थित रिवाजी अथवा अभिसमयात्मक नियमो की व्याख्या करती हैं। कुछ सधियाँ अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा कानून के नए सिद्धान्तो की रचना करती हैं, उदाहरण के लिए— सन् 1944 का अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक नौचालन अभिसमय, अन्तर्राष्ट्रीय अफीम अभिसमय, सन् 1912 और 1909 का मोटर गाड़ियों के सचार से सम्बन्धित अभिसमय उल्लेखनीय हैं। अनेक कानून निर्माता सन्धियाँ एक ही साथ इनमें से एक या दो उद्देश्यो की पूर्ति करती हैं।

(ख) सविदा सन्धियाँ (Contract Treaties)—सविदा सन्धियाँ कानून निर्माता सधियो से भिन्न होती हैं। जब एक ही विषय पर विभिन्न राज्य आपस मे समझौता करते हैं तो ये समझौते अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज बन जाते हैं और इस प्रकार कानून के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। 19वीं शताब्दी मे अनेक देशो ने अपराधियो की वापसी के सम्बन्ध मे कुछ समझौते किए और ये समझौते बाद मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भाग बन गए।

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ रिवाजी कानून की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती हैं और इनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध होती है। सम्भव है कि सन्धियो को सार्वभौमिक

स्वीकृति प्राप्त न हो सके और इनका व्यवहार केवल कुछ राज्यों तक ही सीमित रहे; किन्तु ऐसी स्थिति में भी ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार बनती हैं, यद्यपि इनका प्रभाव केवल क्षेत्रीय होता है।

(3) कानून के सामान्य सिद्धान्त
(General Principles of Law)

कानून के सामान्य सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून का तीसरा स्रोत हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि के अनुच्छेद 38 में सभ्य राष्ट्रों द्वारा मान्य सामान्य सिद्धान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के स्रोतों में स्थान दिया गया है। यह शब्द पर्याप्त व्यापक है। इसमें राष्ट्रीय न्यायालयों में प्रशासित होने वाले व्यक्तिगत कानून के सिद्धान्तों को भी शामिल किया जाता है यदि वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर लागू होते हों। व्यक्तिगत कानून सामान्यतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा अधिक विकसित होता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए एक प्रकार की सुरक्षित विधि का काम देता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रारम्भिक लेखकों ने रोमन कानून को इसी प्रकार ग्रहण किया था। यह प्रक्रिया अभी भी चल रही है।

सभ्य राष्ट्रों द्वारा मान्य कानून का अर्थ बहुत समय से विवाद का विषय रहा है। इस सम्बन्ध में दो प्रमुख मत व्यक्त किए जाते हैं—

1 इस मत के अनुसार इसका अर्थ घरेलू न्यायशास्त्र के उन सामान्य सिद्धान्तों से है जिनको अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों पर लागू किया जा सके। इन सिद्धान्तों में यह विचार निहित है कि किसी भी विवाद के समय दोनों पक्षों को सुना जाना चाहिए, सम्बन्धित पक्षों में से किसी को भी न्यायाधीश नहीं बनाया जाना चाहिए, आदि-आदि।

2. दूसरा दृष्टिकोण कहता है कि यह न्याय के उस सामान्य सिद्धान्त का वर्णन करता है जो प्राकृतिक कानून के साथ जुड़ा हुआ है और जिसकी व्याख्या आधुनिक समय में की गई है। दूसरे शब्दों में कानून के व्यापक सार्वभौमिक सिद्धान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेष नियमों पर लागू किया जाए। कानूनी दृष्टि से प्राकृतिक कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अत्यन्त व्यापक और अपर्याप्त रूप से परिभाषित स्रोत है।

अधिकांश आधुनिक लेखक कानून के सामान्य सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का गौण स्रोत मानते हैं। उनका मत है कि व्यवहार में इनका प्रयोग कदाचित ही किया जाता है और कुछ अवसरों पर ही ये उपयोगी बनते हैं। ओपेनहेम के मतानुसार न्यायालय कानून के सामान्य सिद्धान्तों को प्रयुक्त करने का अवसर कभी-कभी ही पाता है। इसका कारण यह है कि अभिसमयात्मक और रिवाजी अन्तर्राष्ट्रीय कानून उसके निर्णयों को आवश्यक आधार प्रदान करने के लिए पर्याप्त होते हैं। इतने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इसे कानून का आवश्यक स्रोत मान कर महत्त्व दिया है। न्याय के सामान्य सिद्धान्तों अथवा प्राकृतिक कानून से उत्पन्न होने वाले अधिकांश नियमों की निकट से परीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि

रिवाज और कानून के सामान्य सिद्धान्तो के बीच विभाजक रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है।

कानून के सामान्य सिद्धान्तो को उस समय अपनाया जाना चाहिए जब किसी विवाद के समय उपलब्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून कोई मदद न कर सकें। राज्यो द्वारा सहमत नियमो को ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून मानने वाला अस्तिवादी सम्प्रदाय इस स्रोत का समर्थक है। इस स्रोत को स्वीकार करने मे प्रमुख बाधा यह आती है, कि यदि *नैतिकता और न्याय को हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अग्ग मानें तो ये दोनों* अनेक लोगों की दृष्टि में विषयगत धारणाएँ हैं। 'न्याय' नैतिकता का ही एक भाग है किन्तु इसे अनेक प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। न्याय की विभिन्न परिभाषाएँ न केवल देशो के अनुसार भिन्नता रखती हैं वरन् एक ही देश मे अनेक होती हैं। ऐसी स्थिति मे इस स्रोत का कानूनी दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

कनून और न्याय का सम्बन्ध आवश्यक नहीं है। दूसरी ओर प्रत्येक कानून चाहे वह घरेलू है या अन्तर्राष्ट्रीय; वह कानून निर्माता के न्याय के विचार का प्रतिनिधित्व करता है। यह कानून निर्माता एक व्यक्ति या समूह या स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारें अथवा राज्य हो सकते हैं। कुछ लेखको का कहना है कि अ तर्राष्ट्रीय कानून के रिवाजो नियम अपने जन्म की दृष्टि से अभिसमयात्मक कानून के नियमों की अपेक्षा, कानून के सामान्य सिद्धान्तो को अधिक अभिव्यक्त करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो के कुछ नियमों को नि.सदेह कानून के सामान्य सिद्धान्तो के अनुरूप माना जा सकता है किन्तु ऐसे उदाहरणो की सख्या अत्यन्त कम है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओ और राजनीतिज्ञो ने सामान्य सिद्धान्तों के दावे के औचित्य मे सन्देह व्यक्त किया है। कुछ लेखको ने इस समस्या पर एक नया दृष्टिकोण विकसित किया है, उनके मतानुसार सामान्य सिद्धान्तों के साथ बुद्धि को भी जोड देना चाहिए। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक अन्य प्रमुख स्रोत बन जाएगा। उनका मत है कि यदि किसी विवाद मे कोई सन्धि और रिवाजी कानून का कोई नियम लागू नहीं होता तो बुद्धि का प्रयोग करके यह निर्धारित करना चाहिए कि कौनसा विशेष सामान्य सिद्धान्त लागू हो सकेगा और कौनसा निष्कर्ष तथ्य को देखते हुए उपयुक्त रहेगा। प्रो. हर्टमैन (*Prof Hartman*) के शब्दो मे, "एक विशेष मामले मे कानून के सामान्य सिद्धान्त प्रयुक्त किए जाने चाहिए।" यह प्रक्रिया गणित के विद्यार्थी के लिए परिचित है। वह अज्ञात को जानने के लिए प्रदत्त या उपलब्ध के आधार पर तर्क या बुद्धि का प्रयोग करता है।

(4) न्यायिक निर्णय (Judicial Decisions)

न्यायालयो अथवा न्यायाधिकारणो के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून का गौण अथवा अप्रत्यक्ष स्रोत होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि के अनुच्छेद 38 मे यह कहा गया है कि न्यायालय कुछ सीमाओ के साथ कानून के शासन का निर्धारण करने के लिए न्यायिक निर्णयों का प्रयोग कर सकता है। असल मे ये निर्णय न्यायवेत्ताओं द्वारा कानून के सम्बन्ध मे दिए गए निष्पक्ष और सुविचारित कथन

होते हैं और वास्तविक समस्याओं के प्रकाश में दिए जाते हैं। उनका आधार तर्क और निर्णय होता है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अपने पूर्व निर्णयों से बँधा हुआ नहीं है फिर भी विभिन्न मामलों में वह उनका सन्दर्भ देखता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संहिताबद्ध करने की कठिनाइयाँ यदि नहीं होतीं तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास बहुत कुछ हो गया होता। राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय इस अर्थ में कानून का स्रोत नहीं हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय उनसे बँध जाएँ किन्तु फिर भी अधिक महत्त्वपूर्ण राज्यों के न्यायालयों द्वारा लिए गए एक जैसे निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज का प्रमाण बन जाते हैं। राज्यों के न्यायालय अपना निर्णय देते समय यह ध्यान नहीं देते कि उनकी सरकार विदेशी मामलों में क्या दृष्टिकोण रखती है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून क्या है ?

प्रो. स्टॉर्क के मतानुसार न्यायालयों और विभिन्न न्यायाधिकरणों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ है। उदाहरण के लिए तटस्थता, राज्य का क्षेत्राधिकार, प्रादेशिक प्रभुता, राज्य का उत्तरदायित्व आदि-आदि। राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय भी यह जानने की दृष्टि से महत्त्व रखते हैं कि सही अन्तर्राष्ट्रीय विधि का शासन क्या होगा ? दूसरी ओर राष्ट्रीय न्यायालय भी निर्णय देते समय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से प्रेरणा और शान्ति प्राप्त करते हैं। मुख्य न्यायाधीश मार्शल के कथनानुसार, "राष्ट्रों का कानून एक बहुत बड़ा स्रोत है जिससे हम उन नियमों को ग्रहण करते हैं जो सभ्य एवं व्यापारिक राज्यों द्वारा अपनाए गए हैं। यह कानून आंशिक रूप से लिखित, आंशिक रूप से अलिखित होता है।" अलिखित को ज्ञात करने के लिए बुद्धि और न्याय के सिद्धान्त को आधार बनाना होता है। विभिन्न देशों के निर्णय अलग अलग प्रकार के कानूनों पर निर्भर करते हैं इसीलिए उनको सत्तापूर्ण न मानकर केवल सम्मानपूर्ण माना जा सकता है। न्यायालयों के निर्णयों को हम दो भागों में विभाजित करके देख सकते हैं—राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय और अधिग्रहण न्यायालयों के निर्णय। जहाँ तक राष्ट्रीय न्यायालयों का प्रश्न है ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिक प्रतिष्ठित स्रोत नहीं हैं। इनको अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में पूरी तरह से लागू नहीं किया जा सकता। ये निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति राष्ट्रीय दृष्टिकोण का प्रमाण-पत्र समझे जा सकते हैं। विभिन्न देशों की अदालतों के निर्णय यद्यपि प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किए जाते किन्तु उनका आदर किया जाता है।

अधिग्रहण न्यायालय (Prize Courts) युद्ध में लगे हुए देशों द्वारा इसलिए स्थापित किए जाते हैं ताकि वे अपने युद्धपोतों द्वारा निगृहीत माल और जहाजों के स्वत्व के बारे में वैधता का निर्णय कर सकें। इन न्यायालयों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को क्रियान्वित रूप दिया जाता है। प्रथाओं और रिवाजों पर आधारित व्यवहार को इन न्यायालयों द्वारा अपनाया जाता है। राष्ट्रीय कानूनों से सीमित होते हुए भी ये न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को मान्यता देते हैं। इन न्यायालयों के निर्णयों का सम्मान न्यायाधीश की योग्यता, निष्पक्षता और विद्वता पर निर्भर करता है। राज्यों द्वारा इनके निर्णयों में बहुत कम हस्तक्षेप किया जाता है। इतने पर भी अपने देश की परिस्थितियों और मूल्यों से ये न्यायाधीश अवश्य प्रभावित होते हैं।

कुल मिलाकर निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों और न्यायाधिकरणों के निर्णय एवं पंचाट एक नियम की व्याख्या करते हैं, नियम को लागू करते हैं अथवा नियम को मिटाते हैं। इस प्रकार ये निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में योगदान करते हैं।

(5) विधिवेत्ताओं के ग्रन्थ (Writings of Publicists)

विधिवेत्ताओं के ग्रन्थों और लेखों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का गौण स्रोत माना जा सकता है। आजकल ये कानून की विभिन्न व्याख्याओं के निर्धारण का महत्त्वपूर्ण साधन बन गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में लेखकों का कार्य अधिक विशेषतापूर्ण नहीं है। वे कानून बनाने की सत्ता रखने का दावा नहीं कर सकते। वास्तव में वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए वही सेवा प्रदान कर सकते हैं जो अन्य किसी भी कानूनी व्यवस्था में प्रदान की जा सकती है। प्रो ब्रायली के कथनानुसार पर्याप्त व्यावसायिक योग्यता होने पर भी कोई लेखक अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रचना नहीं कर सकता। एक प्रतिभाशाली लेखक केवल इतना कर सकता है कि कानून की यथास्थिति का उल्लेख कर दे और भावी विकासों के सम्बन्ध में कल्पना कर ले। वह अपने मतानुसार यह बता सकता है कि कानून की किस बात को कैसे सुधारा जाता है। यदि किसी योग्य लेखक के सुझावों को कई सरकार स्वीकार करले और उनके आधार पर दूसरे देशों के साथ विधि निर्मात्री सन्धियाँ कर ले तो वे सुझाव अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अप्रत्यक्ष स्रोत बन जाते हैं। सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार किया गया है कि विधिवेत्ताओं के लेख कानून के अस्तित्व का प्रमाण हैं। न्यायाधीश ग्रे ने संयुक्तराज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय में निर्णय देते हुए कहा था कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून हमारे कानून का एक भाग है और उचित क्षेत्राधिकार वाले न्यायालयों द्वारा प्रशासित किया जाना चाहिए।" इस उद्देश्य के लिए जहाँ कोई सम्बन्धित सन्धि नहीं है और कोई नियन्त्रणकर्त्ता कार्यपालिका या व्यवस्थापिका न्यायपालिका का निर्णय नहीं है वहाँ सभ्य राष्ट्रों के रिवाजों और प्रथाओं को मान्यता दी जानी चाहिए। इनके परिणामस्वरूप उन न्यायाधीशों तथा आलोचकों के कार्यों को महत्त्व दिया जाना चाहिए जो अपने वर्षों के परिश्रम, अनुसन्धान और अनुभव से सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ बन गए हैं। उनके ग्रन्थ वास्तविक कानून का स्वरूप प्रतिपादित करने वाले विश्वसनीय साक्षी होते हैं।

ग्रेट ब्रिटेन में एक वर्ग द्वारा इनको कानून का स्रोत नहीं माना जाता। फ्रेंकोनिया के मामले में मुख्य न्यायाधीश लॉर्ड कॉकबर्न ने निर्णय देते हुए कहा था कि 'यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लेखक कानून का स्पष्टीकरण और निर्धारण करने की दृष्टि से महत्त्व रखते हैं किन्तु वे कानून का निर्माण नहीं करते क्योंकि किसी कानून के बाध्य रूप से पालन करने के लिए आवश्यक है—इसे सम्बन्धित देश अपनी सहमति प्रदान करे।" इस प्रकार लेखकों की रचनाओं में बाध्यकारी शक्ति का अभाव होने के कारण उनको कानून नहीं माना जा सकता फिर भी सर हेनरीमैन आदि कुछ विचारकों ने यह मत प्रकट किया है कि लेखकों के विचार कानून के पालन के लिए

उपयुक्त वातावरण तैयार करते हैं। उनके प्रचार और प्रसार के कारण ऐसी सामान्य भावना पैदा हो जाती है जिसके फलस्वरूप निश्चित नियमों की उपेक्षा या उल्लघन नहीं किया जा सकता। न्यायाधीशों के अतिरिक्त निजी लेखकों की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के सम्बन्ध मे पर्याप्त भिन्न रही है। आजकल न्यायिक निर्णय, रिवाजी कानून और अभिसमयात्मक कानूनों का विकास हो जाने के कारण लेखकों की रचनाओं का महत्त्व घट गया है। पिछली शताब्दियों मे विधिवेत्ताओं के कार्यों का पर्याप्त महत्त्व रहा। कानून के इतिहास मे ग्रोशियस, जेण्टिली, डी वैटेल आदि महामूर्तियों ने पर्याप्त योगदान किया है। लेखकों की रचनाएँ एक ऐसा वातावरण तैयार करती हैं जो कानून का रूप बदलने की दृष्टि से उल्लेखनीय बन जाती हैं।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य
(International Comity)

अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत कहा जाता है। राज्यों द्वारा अपने आपसी व्यवहार मे न केवल कानूनी नियमों और परम्पराओं या प्रथाओं पर आधारित नियमों को अपनाया जाता है वरन् सौजन्य, सद्‌भावना और सुविधा प्रदर्शित करने वाले कुछ नियमों को भी अपनाया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के ये नियम कानून नहीं होते वरन् सौजन्य होते हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न राष्ट्रों द्वारा राजदूतों को चुंगी के नियमों से अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के आधार पर मुक्त नहीं किया जाता, केवल सौजन्य के आधार पर किया जाता है। प्रो ओपेनहीम की मान्यता के अनुसार, "यद्यपि सौजन्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत नहीं है फिर भी यह सच है कि अनेक नियम, जो प्रारम्भ में सौजन्य पर आधारित थे, बाद मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम बन गए।" तार्किक और बौद्धिक दृष्टि से सौजन्य और कानून के बीच स्पष्ट अन्तर है किन्तु वास्तविक व्यवहार मे यह अन्तर नही देखा जा सकता। अमेरीकी और अंग्रेजी न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्थान पर प्रायः सौजन्य शब्द का प्रयोग करते हैं। सम्भव है कि अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य के अनेक नियम भविष्य मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का रूप धारण कर लेंगे। सौजन्य के नियमों से भिन्न अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के नियम होते हैं। व्यक्तिगत सम्बन्धों की भाँति राज्यों के आपसी सम्बन्धों मे भी नैतिकता के नियम लागू होने चाहिए।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय राज-पत्र
(International State Papers)

विभिन्न राज्यों द्वारा आपस मे जो पत्र-व्यवहार किया जाता है उसे श्वेत, नील या लाल आदि रंगों के आवरण से युक्त पुस्तकों में प्रकाशित किया जाता है। उदाहरण के लिए, भारत और चीन के सीमा-विवाद के समय दोनों देशों के बीच हुए पत्र व्यवहार को भारत सरकार द्वारा श्वेत-पत्र के रूप में प्रकाशित किया गया। संयुक्तराज्य अमेरिका मे ऐसे पत्र-व्यवहारों को प्रकाशित करते हुए इन्हें 'अमेरिका के विदेशी विषयों से सम्बन्ध रखने वाले पत्र' का शीर्षक दिया जाता है। इन पत्रों मे अन्तर्राष्ट्री[illegible] नन के मौलिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया जाता है। सरकारी

विधिशास्त्री विभिन्न प्रश्नों को पर्याप्त विद्वता और सावधानी के साथ स्पष्ट करते हैं। प्रो. लॉरेन्स ने लिखा है कि अनेक बार इन विवादों में बहुत-से ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है जिनकी ओर अभी तक कोई ध्यान नहीं दिया गया था।

(8) तर्कशक्ति (Reason)

प्रो ब्रायर्ली ने तर्कशक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से बहुत महत्त्व दिया है। जब किसी विवाद या नवीन परिस्थिति के लिए कोई नियम नहीं होता तो विधिवेत्ताओं द्वारा तर्क प्रणाली के आधार पर इन प्रश्नों को सुलझाया जाता है। कानून की कोई भी व्यवस्था केवल निर्मित नियमों से पूर्ण नहीं बन जाती क्योंकि ये नियम इतने विस्तृत और पर्याप्त नहीं होते कि कानूनी निर्णय की आवश्यकता वाली प्रत्येक स्थिति को पहले देख सकें। अप्रत्याशित नई परिस्थितियों के लिए कानून के प्रशासकों को ऐसे सिद्धान्त अपनाने होते हैं जिन्हें मध्यकालीन लेखकों ने प्राकृतिक कानून और आजकल इसको बुद्धि कहा जाता है। *यहाँ बुद्धि का अर्थ किसी बुद्धिशील* व्यक्ति की तर्कशक्ति से नहीं है वरन् न्यायिक तर्क से है।

जिस नवीन परिस्थिति के लिए कोई नियम नहीं होता उसकी खोज विधिवेत्ताओं द्वारा सर्वत्र वैध स्वीकार किए जाने वाली तर्क प्रणाली द्वारा होनी चाहिए। कानून का यह स्रोत उचित माना जाता है और इसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों के निर्णयों में और विदेशी कार्यालयों द्वारा एक-दूसरे के साथ किए गए कानूनी तर्कों में प्रयुक्त किया जाता है। सन् 1910 में अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के बीच समझौते द्वारा निर्मित न्यायाधिकरण ने बताया कि संघीय या अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विशेष नियम ही सब कुछ नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून या राष्ट्रीय कानून में किसी विशेष मामले को सुलझाने के लिए स्पष्ट नियम न हो तो विधिशास्त्र का कार्य है कि वह परस्पर विरोधी अधिकारों और हितों के समाधान के लिए सामान्य सिद्धान्तों की तर्क पद्धति को लागू करके समस्या का समाधान करे। यह न्यायशास्त्र *का तरीका है। इसके अन्तर्गत राज्यों तथा व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का* निर्णय किया जाता है। इस सम्बन्ध में लॉर्ड मैंसफील्ड का यह कथन उल्लेखनीय है कि "राष्ट्रों का कानून न्याय, न्याय की भावना, सुविधा और तर्कशक्ति पर आधारित और लम्बी परम्पराओं द्वारा मान्य होता है।"

(9) विशेषज्ञों की व्यवस्था

विशेषज्ञों से व्यवस्था उस समय प्राप्त की जाती है जब किसी राज्य का मन्त्रिमण्डल स्वयं निर्णय करने में अपने को असमर्थ पाता है। निष्पक्ष विद्वानों की सम्मति को अधिकांश राज्य मान लेते हैं और यह निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधि का रूप ग्रहण कर लेता है।

(10) राज्यों के निर्देश

राज्यों द्वारा अपने देश के लिए निकाले गए निर्देश भी उचित और सर्वमान्य होने के कारण राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत होकर अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अंग बन जाते हैं।

अमेरिकी सरकार ने सन् 1863 में अपनी सेना के लिए कुछ नियम बनाए। ये नियम शीघ्र ही सर्वमान्य हो गए।

(12) राजनयिक व्यवहार

राजनयिक वास्तव में समस्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रमुख अभिकर्ता एवं माध्यम हैं। वे अपने राज्य तथा दूसरे राज्य के मध्य सम्बन्धों को ठोस आधार प्रदान करते हैं। राजनयिक व्यवहार से स्वत: कानूनों का निर्माण नहीं होता वरन् उनसे यह स्पष्ट होता है कि उसका राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के किस नियम के प्रति क्या दृष्टिकोण रखता है। इस प्रकार विभिन्न राजनयिकों के माध्यम से मौजूदा नियमों का निर्धारण होता है और प्रकट स्वीकृति के आधार पर उन्हें ठोस स्वरूप प्राप्त होता है। राजनयिकों को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का व्यावहारिक अनुभव होता है, अत उनके व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत बन जाते हैं। राजनयिकों के संस्मरणों से इस बात का भी पता चलता है कि जिन देशों में उन्होंने अपने राज्य का प्रतिनिधित्व किया है उन देशों का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति क्या विचार अथवा दृष्टिकोण है। जॉर्ज एफ केनान, के. एम. पनिक्कर, जॉन फास्टर डलस, आइजनहावर, कैनेडी, हेनरी कीसिंगर आदि के संस्मरणों से हमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति उनके राज्यों के दृष्टिकोण की अच्छी झलक मिलती है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों के प्रयोग का क्रम
(Order of the Sources of International Law)

यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों को किस क्रम में प्रयुक्त किया जाए। इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के अनुच्छेद 38 में निम्नलिखित क्रम दिया हुआ है—

(क) अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ,

(ख) प्रथाएँ या रीति-रिवाज,

(ग) सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत कानून के सामान्य नियम,

(घ) न्यायिक निर्णय और विधिशास्त्रियों तथा टीकाकारों के मत।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों के प्रयोग के इस क्रम पर टिप्पणी करते हुए एस. के. कपूर ने लिखा है—"अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय उपर्युक्त क्रम को ही मानता है, अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सबसे पहले यह देखता है कि सम्बन्धित विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि है या नहीं। यदि सन्धि होती है तो न्यायालय का निर्णय उसी पर आधारित होता है। यदि कोई अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि नहीं होती तो न्यायालय उस विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा को लागू करता है। यदि सम्बन्धित विषय पर कोई निश्चित तथा सर्वमान्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा नहीं भी है तो न्यायालय उस विषय पर सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य नियमों द्वारा मामले पर अपना निर्णय देता है। यदि उपर्युक्त तीनों स्रोत अनुपस्थित होते हैं तो न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय तथा राज्यों के न्यायालयों के निर्णय तथा विधिशास्त्रियों के मतों को गौण साधन मानता है और उनके द्वारा सम्बन्धित विषय पर विधि के नियमों को निर्धारित करता है।

यहाँ पर यह भी नोट करना आवश्यक है कि उपर्युक्त वर्णित क्रम से यह भी स्पष्ट होता है कि यदि किसी वाद मे किसी मसले पर एक से अधिक स्रोत से सम्बन्धित नियम उपलब्ध हैं तो कौनसा अधिक मान्य होगा। उदाहरण के लिए, यदि किसी विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि कोई नियम प्रतिपादित करती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा भी है, तो अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि द्वारा प्रतिपादित नियम ही अधिक मान्य होगा, क्योंकि स्रोतों के क्रम में यह स्रोत प्रथम आता है। यही नियम दूसरे स्रोतो के सम्बन्ध मे भी लागू होगा।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कानूनी प्रकृति
(Legal Nature of International Law)

कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून न कह कर नीति शास्त्र की एक शाखा के रूप मे वर्गीकृत किया जाए। इसे समझने के लिए नैतिकता और कानून की परिभाषा करना आवश्यक होगा। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कानूनी प्रवृत्ति को मानने से अस्वीकार करते हैं उनके अनुसार प्राय नैतिकता को घटिया विशेषण माना जाता है। प्रो. ब्रायर्ली का कहना है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कानूनी प्रकृति को अस्वीकार करना व्यावहारिक रूप से असुविधाजनक है और न्यायिक विचार की दृष्टि के भी विरुद्ध है।" यह असुविधाजनक इसलिए है क्योंकि अगर अन्तर्राष्ट्रीय कानून नैतिकता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है तो समस्या यह उत्पन्न होगी कि इसे दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकताओं से किस प्रकार अलग किया जाए, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून ही सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता नहीं है। साधारण प्रथाओं के अनुसार एक राज्य के कार्य को उचित सिद्ध करने के प्राय: दो प्रकार के मापदण्डों का प्रयोग किया जाता है—नैतिक तथा गैर-नैतिक। प्रत्येक राज्य आदत-वश स्वार्थपूर्ण व्यवहार करता है और इसके परिणामस्वरूप दूसरे राज्य गम्भीर रूप से प्रभावित होते हैं। फिर भी ऐसे कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विपरीत नहीं होते। नैतिक रूप से उन्हें हम उचित नहीं कह पाते। विदेश कार्यालयो के अधिकारियो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न को कानूनी प्रश्न माना जाता है और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो मे कूटनीतिक विवादो के समय कानूनी रूपों और प्रणालियो का प्रयोग किया जाता है। ये न्यायालय नैतिक दृष्टि से विचार नहीं करते और कार्य के औचित्य की दृष्टि से निर्णय नही लेते वरन् हमेशा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि किसी नियम का उल्लंघन किया गया है अथवा नहीं किया गया है।

इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून और नैतिकता एक ही चीज नहीं है और कुछ मामलो मे इसकी कानूनी प्रकृति झलकती है तो हम इसे निश्चित रूप से स्वीकार करने में क्यों ऐतराज करते हैं? यह विवाद हॉब्स और ऑस्टिन जैसे लेखकों के अनुयायियो द्वारा उठाया गया। इनका कहना है कि कानून सम्प्रभु की इच्छा के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। इस मान्यता को आजकल स्वीकार नहीं किया जा सकता; अन्यथा अंग्रेजी कॉमन लॉ कानून ही न रहे। परम्पराओ और प्रथाओं का महत्व कानून की दृष्टि से पर्याप्त होता है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय

कानून में प्रथाओं और परम्पराओं का महत्त्व अधिक होने के कारण उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

राष्ट्रीय कानून से भिन्न बनाने वाली अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अनेक विशेषताएँ उसकी कानूनी प्रकृति के सम्बन्ध में सदेह उत्पन्न कर देती हैं, उदाहरण के लिए—इसका आधार अन्तर्राष्ट्रीय विवाद है, न्यायालयों के सामने विवाद के पक्षों का माना उनकी स्वेच्छा पर आधारित है, इसकी रचना और क्रियान्विति के लिए नियमित प्रक्रिया का अभाव है आदि-आदि। आजकल यह विश्वास किया जाता है कि राज्यों द्वारा जब राष्ट्रीय कानून बनाया जाएगा तो ऐसा करते समय राज्यों की इच्छा को ध्यान में रखा जाएगा। सभी दृष्टियों से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून नैतिकता नहीं वरन् कानून है।

3 अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून के बीच सम्बन्ध; विभिन्न सिद्धान्त
(Relation Between International Law and Municipal Law; Various Theories)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रकृति को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय कानून (Municipal or National Law) से उसका सम्बन्ध और अन्तर समझ लिया जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून के बीच सम्बन्ध : *विभिन्न सिद्धान्त*
(Relation Between International Law and Municipal Law : Various Theories)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में प्रयुक्त होने वाला कानून है जबकि राष्ट्रीय कानून राज्य की भौगोलिक सीमा (प्रादेशिक क्षेत्राधिकार) के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्तियों, संस्थाओं, निगमों, विदेशी नागरिकों आदि पर प्रयुक्त होता है। केल्सन ने लिखा है—*राष्ट्रीय कानून व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित करता है* और राष्ट्रीय कानून राज्यों के व्यवहार को। राष्ट्रीय कानून के नियम राज्य के 'आन्तरिक सम्बन्ध' अथवा तथाकथित 'घरेलू मामले' हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय राज्यों के बाह्य सम्बन्ध अर्थात् उनके 'वैदेशिक मामले' हैं। आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का इतना विकास हो चुका है कि वह केवल राज्यों के *पारस्परिक सम्बन्धों को ही नियमित नहीं करता वरन् अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों* के सम्बन्धों को नियंत्रित करता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून न केवल राज्य, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, व्यक्तियों और कुछ गैर-राज्य इकाइयों पर भी लागू होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून—दोनों ही अपने स्रोत की दृष्टि से समान हैं। दोनों का स्रोत प्रमुख परम्पराएँ और अभिव्यक्त समझौते हैं। तथापि दोनों एक नहीं हैं, उनके मध्य अनेक महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं। दोनों के *व्यवस्थापन यन्त्र* में भिन्नता पाई जाती है। न्यायिक प्रक्रियाओं की दृष्टि से भी दोनों पूर्ण भिन्नता रखते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में न्यायिक कार्य पूर्ण रूप से विकेन्द्रित होता है जबकि राष्ट्रिय कानून में यह प्रभावशाली नियंत्रण के अधीन रहता है।

दोनों प्रकार के कानूनों में न केवल न्यायिक दृष्टि से वरन् कार्यपालिका की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं। प्रो फेनविक ने लिखा है—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपने औपचारिक रूप में राज्यों के सम्बन्धों को प्रशासित करने वाला है अन्तर्राष्ट्रीय समाज के पास कोई ऐसा कार्यपालिका का अंग नहीं है जो इसके नियमों को प्रभावी बनाने के लिए अपने अभिकरणों द्वारा कार्य कर सके।" राष्ट्रीय कानून अपने आप में सार्वभौम कानून है जिसका अनुपालन अनिवार्य होता है और पालन न किए जाने पर जबर्दस्ती पालन करवाए जाने की व्यवस्था दण्ड द्वारा की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इस प्रकार का सार्वभौम कानून नहीं है। हालांकि इससे सार्वभौम कानून एवं राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन होता है। यद्यपि प्रतिशोध, प्रत्युपकार, हस्तक्षेप, युद्ध आदि बल-प्रयोग के तरीके अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पास भी मौजूद हैं किन्तु उनका प्रयोग उतनी ही सरलता से नहीं किया जा सकता जितनी सरलता से राज्य द्वारा अपने कानून का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध दण्ड का प्रयोग किया जाता है। विशेष विवादों में कानून के नियमों को करने के लिए अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को प्रभावशाली बनाने के लिए विभिन्न राज्यों के सरकारी अभिकरणों की सहायता ली जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की क्रियान्विति प्रभावित पक्ष की पहल पर निर्भर करती है जबकि राष्ट्रीय कानून एक उत्तरदायी कार्यपालिका द्वारा लागू किया जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उपलब्ध नहीं होती।

अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय कानून में उत्पत्ति क्षेत्र, विषयवस्तु, बाध्यकारिता आदि की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर हैं तथापि व्यवहार में ये दोनों एक दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए, एक दूसरे के साथ मिश्रित होते हुए, और एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए दिखाई देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं राष्ट्रीय कानून के मध्य स्थित सम्बन्धों के बारे में मुख्य विवाद इस प्रश्न पर रहा है कि यदि घरेलू कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच विरोध हो तो क्या राष्ट्रीय न्यायालय को अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू करना चाहिए? इस प्रश्न के समाधान की दृष्टि से कुछ प्रमुख सिद्धान्तों (Theories) का प्रतिपादन किया गया है जो निम्नलिखित हैं—

(1) द्वैतात्मक अथवा द्वैतवादी सिद्धान्त (Dualistic Theory)
(2) एकात्मक अथवा एकलवादी सिद्धान्त (Monistic Theory)
(3) रूपान्तरवादी सिद्धान्त (Transformation Theory)
(4) प्रत्यायोजन या समर्पणवादी सिद्धान्त (Delegation Theory)
(5) विशिष्ट ग्रहणीकरणवादी सिद्धान्त (Specific Adoption Theory)

(1) द्वैतात्मक अथवा द्वैतवादी सिद्धांत (Dualistic Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून मूलतः एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं। दोनों के बीच यह भिन्नता और असमानता कई आधारों पर निर्भर

है। जर्मन न्यायाधीश ट्राइपल (Triepel) और इटली के न्यायाधीश अन्जीलोटी (Anzelotti)ने इस मत का समर्थन किया है। इसके मतानुसार कानून के इन दोनो रूपों के बीच भिन्नताएँ निम्न प्रकार की हैं—

(A) स्रोतों की भिन्नताएँ—दोनो प्रकार के कानून अलग-अलग स्रोतो से जन्म लेते हैं। प्रो ओपेनहेम के कथनानुसार राष्ट्रीय कानून का स्रोत सम्बन्धित राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत विकसित परम्पराएं हैं तथा कानून-निर्माता निकाय द्वारा बनाई गई सविधियां हैं। दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत विभिन्न राज्यों के बीच विकसित परम्पराएँ एव उनके द्वारा की गई कानून-निर्माता सन्धियां हैं।

(B) सम्बन्धों की भिन्नताएँ—अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून के बीच दूसरा मुख्य अन्तर उसके द्वारा विनियमित किए जाने वाले सम्बन्धो की दृष्टि से है। राष्ट्रीय कानून द्वारा अपने राज्य मे रहने वाले नागरिकों के सम्बन्धो का नियमन किया जाता है और राज्य तथा व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन होता है। *दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो मे राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का नियमन किया जाता है।*

(C) प्रकृति की भिन्नता—दोनो प्रकार के कानूनो के बीच अन्य अन्तर उनकी मूल प्रकृति का है। राष्ट्रीय कानून सम्प्रभु का कानून होता है और देश के सभी नागरिकों पर सर्वोच्च अधिकार रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रचना विभिन्न राज्यो के पारस्परिक समझौतो द्वारा होती है और उसके पीछे कोई एक सम्प्रभु नही होता। वह सम्प्रभु राज्यों के बीच का कानून है उनके ऊपर का नहीं है।

इस प्रकार द्वैतवादी दृष्टिकोण राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच उल्लेखनीय अन्तर मानता है। राष्ट्रीय कानून का मौलिक सिद्धान्त उसका अनिवार्य अनुशीलन है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार यह मानता है कि राज्यो के आपसी समझौतो का सम्मान किया जाना चाहिए। दोनो प्रकार के कानूनो के इन मौलिक अन्तरो के कारण इनके बीच सघर्ष की कोई सम्भावना नही रह जाती। यह द्वैतवादी सिद्धान्त अधिक सत्य नही माना जाता और कहा जाता है कि *विषय की दृष्टि से दोनो प्रकार के कानूनो मे भेद नहीं किया जा सकता।* अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल राज्यो के सम्बन्धो पर ही विचार नहीं करता वरन् व्यक्तियो के आपसी विषय भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत आने लगे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार केवल राज्यो की स्वेच्छा ही नहीं है वरन् इसके अनेक आधार और भी है। उदाहरण के लिए सन्धियां, प्रथाएँ, न्यायाधीशो के निर्णय, विधि-शास्त्रियों के ग्रन्थ आदि आदि।

द्वैतवादी सिद्धान्त के विभिन्न दोषो का उल्लेख एकलवादी सिद्धान्त के समर्थको ने किया है। इन आलोचको की मान्यता के अनुसार *राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। दोनो द्वारा अखण्ड रूप से विधि-शास्त्र की* रचना की जाती है। दोनों एक-दूसरे के पूरक माने जा सकते हैं क्योंकि वे लोगों के आचरण को दो ..ष्टिया मे नियन्त्रित करके व्यवस्था की स्थापना करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य है किन्तु राज्य का व्यक्ति से परे कोई महत्व

नहीं है। राज्य के माध्यम से असल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। अनेक अवसरों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रावधान राष्ट्रीय कानून से भिन्न प्रतीत होते हैं और उनके बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। द्वैतवादी सिद्धान्त में इसका स्पष्टीकरण प्राप्त नहीं होता।

(2) एकलवादी सिद्धान्त (Monistic Theory)

इस मत के समर्थकों का कहना है कि कानून के इन दोनों रूपों के बीच कोई अन्तर नहीं है। एक के द्वारा राज्य के आचरण का नियमन होता है और दूसरे के द्वारा व्यक्ति के आचरण का। दोनों ही स्थितियों में विधि एक आदेश है। यह अपने अधीनस्थों की इच्छा का नियमन करती है और इस प्रकार उनकी स्वतन्त्र इच्छा के लिए बन्धनकारी है। इस मत के समर्थकों में प्रो केलसन, वैरड्रोस (Verdross), बोकिन (Bouquin), राइट (Wright) आदि का नाम लिया जा सकता है। इस मत के समर्थकों ने द्वैतवादियों की तीनों मान्यताओं को अस्वीकार किया। इस मत के समर्थकों के अनुसार दोनों कानूनों का विषय अधिक भिन्न नहीं है। दोनों में ही अन्तिम रूप से व्यक्ति के चरित्र का नियमन किया जाता है। अन्तर केवल यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यक्तियों का आचरण राज्य के माध्यम से अध्ययन का विषय बनता है जबकि एकलवादी दृष्टिकोण के अनुसार दोनों क्षेत्रों में कानून ऐसी बाध्यकारी शक्ति है जो अपने विषयों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध लागू होती है। कानून के इन दोनों रूपों को भिन्न समझने की अपेक्षा कानून की एक ही धारणा का अभिव्यक्तिकरण समझा जाना चाहिए। यदि हम कानून के इन दोनों रूपों को अलग-अलग मान लेते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानूनी पद्धति का अंग नहीं समझा जा रहा है, जबकि यह एक तथ्य नहीं है। एक ही कानूनी पद्धति के ये दो छोर हैं; दोनों के बीच कोई मौलिक भिन्नता नहीं है और न ही वे अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं।

यह एकलवादी सिद्धान्त प्रथम विश्व-युद्ध के बाद विकसित हुआ। इस मत के ही एक समर्थक प्रो. डुग्वी (Prof Duguit) के मतानुसार—"अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधीन केवल राष्ट्र ही नहीं है वरन् राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति है।" अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी मौलिक विचार उच्चतर वैधानिक आदेश पर आधारित हैं जिनसे राष्ट्रीय कानून प्रत्यायोजित रूप में ग्रहण किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों की व्यक्तिगत एवं प्रादेशिक योग्यता की क्षेत्राधिकार सम्बन्धी सीमाओं का निर्धारण किया जाता है। इसी प्रकार उच्चतर वैधानिक नियम के सन्दर्भ में सम्प्रभु राज्यों की समानता और स्वतन्त्रता का विचार ग्रहण किया जाता है। यदि इस प्रकार का उच्चतर कानूनी आदेश न रहे तो ऐसी स्थिति में विभिन्न सम्प्रभु राज्य अपने आपको उच्चतर घोषित करने का प्रयास करेंगे। यह सच है कि राष्ट्रीय न्यायालय अपने कानून द्वारा ऐसी संविधियों को लागू करने के लिए बाध्य है किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून और संगठन की कमजोरी के

के कारण ही ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। एक ही कानूनी व्यवस्था मे कई बार कर्त्तव्यो का संघर्ष उत्पन्न हो जाता है किन्तु इसका अर्थ भिन्नरूपता कदापि नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से राष्ट्रीय न्यायालय की इस प्रकार की घोषणाएँ केवल प्राविधिक महत्त्व रखती हैं, इससे अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का महत्त्व कम नही होता। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से यह आवश्यक समझा जाता है कि राज्यो के न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आदर करें।

(3) रूपान्तरवादी सिद्धान्त (Transformation Theory)

अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानूनो के सम्बन्धो का उल्लेख करने वाला तीसरा सिद्धान्त रूपान्तरवादी है। इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो को देश के नागरिको पर उस समय लागू किया जाता है जब वे वहाँ की संसद या विधान सभा द्वारा अपने देश के कानून के रूप मे परिवर्तित कर लिए जाते हैं। जब तक इस प्रकार का रूपान्तर नही होता तब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अनुशीलन नही होगा। जब किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि को राष्ट्रीय कानून के रूप मे बदला जाता है तो यह औपचारिकता मात्र नहीं होती वरन् एक वास्तविकता होती है। इसके बिना कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून वैध नही बनता और न ही उसका पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। राज्य का विशेष कानून अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि का स्वीकार कर लेना है। इसी अर्थ मे यह सिद्धान्त विशेष अङ्गीकार सिद्धान्त भी कहलाता है।

इस सिद्धान्त के समर्थको ने विभिन्न देशो के उदाहरणो द्वारा अपनी मान्यताओ को सत्य सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसके विरोधियो का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून को दो स्वतंत्र पद्धतियाँ मानना अनुचित है। इसके अतिरिक्त यह मान्यता भी सही नही है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून या सन्धियो को क्रियान्वित करने के लिए राष्ट्रीय कानून के रूप मे परिणत होना जरूरी है। इस सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न देशों म भिन्न-भिन्न परम्पराएँ उपलब्ध हैं। अनेक सन्धियाँ बिना किसी राष्ट्रीय कानून का समर्थन किए लागू की जाती हैं। सन्धियों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो के दूसरे प्रावधानो का राष्ट्रीय कानून के रूप मे परिवर्तन रूपान्तर नही माना जा सकता क्योकि रूपान्तर मे स्वरूप का परिवर्तन निहित है *जबकि ये सन्धियाँ यथावत् स्वीकार की जाती हैं। ऐसी स्थिति में रूपान्तर शब्द का* प्रयोग भ्रम उत्पन्न करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून को क्रियान्वित करने का एक तरीका माना जा सकता है। असल मे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक ही व्यवस्था के अग हैं और इसलिए उनके रूपान्तर का प्रश्न नही उठता। राष्ट्रीय कानून के सन्दर्भ मे मि हालैण्ड का प्रक्रिया का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी लागू होता है। यह एकरूपता दोनों प्रकार के कानूनो के बीच आवश्यक सम्बन्ध स्थापित करती है।

(4) प्रत्यायोजन-सिद्धान्त (Delegation Theory)

प्रत्यायोजन-सिद्धान्त के समर्थकों का यह कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का

विषय राज्य होते हैं। इन राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा क्रियान्विति के क्षेत्र में शक्ति हस्तान्तरित की जाती है। प्रत्येक राज्य को यह अधिकार सौंपा जाता है कि वह स्वयं यह निर्णय करे कि कोई सन्धि कब और कैसे लागू की जाएगी तथा उसे किस प्रकार राष्ट्रीय कानून का भाग बनाया जाएगा? यह सिद्धान्त प्रतिदिन के व्यवहार की वास्तविकताओं से दूर छिटक जाता है और गलत रूप में यह मान लेता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है।

(5) विशिष्ट ग्रहणीकरणवादी सिद्धान्त
(Specific Adoption Theory)

अस्तित्ववादियों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में लागू नहीं किया जा सकता। इसे लागू करने के लिए जरूरी है कि इसको विशिष्ट रूप से राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में ग्रहण किया जाए। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें राष्ट्रीय कानून अपनी विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा स्वीकृति प्रदान करें।

अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून के मध्य स्थित सम्बन्ध के बारे में विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करने के बाद यह कहा जा सकता है कि ये दोनों प्रकार के कानून एक-दूसरे पर निर्भर हैं और पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हैं। राज्य को अपना राज्यत्व अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बदौलत प्राप्त होता है। कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों को राष्ट्रीय कानून में शामिल कर लिया जाता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधीनस्थ है अथवा यह उसका रूपान्तर मात्र है। यह केवल कुछ सिद्धान्तों का परिवर्तन मात्र है। इन सभी दृष्टियों से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि एकलवादी सिद्धान्त अधिक उपयुक्त और न्यायोचित है।

प्राथमिकता का प्रश्न
(Question of Primacy)

अथवा

दोनों कानूनों के बीच संघर्ष
(Conflict Between Both Kinds of Laws)

विभिन्न मतों का अवलोकन करने के बाद इस बात पर विचार आवश्यक है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून (जिसे राज्य विधि भी कहा जाता है) का आपस में संघर्ष हो तो प्राथमिकता किसकी होगी? यदि द्वैतवादी विचारधारा राष्ट्रीय कानून को प्राथमिकता दिए जाने के पक्ष में है तो एकलवादी विचारक इस बारे में एकमत नहीं हैं। उदाहरणार्थ, एकलवादी मत के प्रवर्तक केलसन के अनुसार प्राथमिकता अन्तर्राष्ट्रीय कानून अथवा राष्ट्रीय कानून किसी की भी हो सकती है।

वास्तव में यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रत्येक दृष्टि से निश्चित और संक्षिप्त रहे होते तो कोई समस्या नहीं थी। आसानी से यह कहा जा सकता था कि राज्य

के अधिकार और कर्त्तव्य जहाँ प्रारम्भ होते हैं और कहाँ समाप्त हो जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून से निश्चितता और स्पष्टता की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि संघ राज्यों के संविधानिक कानून में भी अनेक बार केन्द्र सरकार और संघ की इकाइयों की सरकारों के बीच क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में निरन्तर संघर्ष बने रहते हैं। राज्यों के व्यावहारिक सम्बन्धों में अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून के बीच उत्पन्न विवाद बहुत कुछ क्षेत्राधिकार से सम्बन्ध रखते हैं।

राज्य का यह अधिकार है कि वह अपनी प्रादेशिक सीमाओं में नागरिकों तथा विदेशियों आदि सभी व्यक्तियों के ऊपर क्षेत्राधिकार का प्रयोग करे। उसका यह कर्त्तव्य भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मापदण्डों के अनुसार विदेशियों की रक्षा करे। यदि राज्य की व्यवस्थापिका विदेशियों की सम्पत्ति जब्त करने का कानून बनाए तो कार्यपालिका के अधिकारियों को यह राष्ट्रीय कानून क्रियान्वित करना ही पड़ेगा, चाहे ऐसा करने से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन प्रतीत होता हो। इसी प्रकार राज्य की न्यायपालिका विदेशियों के कष्टों का निवारण करने से मना कर देगी चाहे उसका यह विश्वास है कि व्यवस्थापिका का कानून अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं पर आधारित विदेशियों के अधिकारों का हनन करता है। इन दोनों स्थितियों में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यद्यपि व्यवस्थापिका और न्यायपालिका देश के संविधानिक कानून की दृष्टि से सही है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्डों के विपरीत है। इसी प्रकार के अनेक उदाहरणों में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का संघर्ष सामने आता है।

राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच स्थित संघर्ष दूर करने के लिए विचारकों ने विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किए हैं। प्रथम सुझाव यह है कि राज्यों को यथासम्भव अपने राष्ट्रीय कानूनों में अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों को स्थान देना चाहिए। दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि को सभी स्थित कानूनों से ऊपर माना जाना चाहिए और विरोध उत्पन्न होने पर सन्धियों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। तीसरे यदि अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानूनों के बीच कोई संघर्ष उत्पन्न हो जाए तो प्रथम को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून के संघर्ष में राष्ट्रीय कानून को प्राथमिकता देने की बात है, अनेक विद्वानों ने इसे उचित नहीं माना है। इस सम्बन्ध में एस. के. कपूर ने लिखा है कि—

"यदि एक बात हम मान लें कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि राज्य-विधि (राष्ट्रीय कानून) से उच्च नहीं है तो प्राथमिकता 152 से अधिक विभिन्न राज्य-विधियों (राष्ट्रीय कानूनों) को होगी।" इस प्रकार का मत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अव्यवस्था फैलाएगा। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का मत निम्नलिखित दो कारणों से भी उचित नहीं प्रतीत होता—

(क) यदि यह स्वीकार किया जाए कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि को राज्यों के संविधान से वैधता प्राप्त होती है तो इसका तात्पर्य होगा कि संविधान के लुप्त होने

पर यह वैधता समाप्त हो जाएगी। परन्तु यह मत उचित नहीं है। करीब-करीब सभी विधि-शास्त्रियों को इस बात पर सहमति है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर राज्यों के सविधानों के लुप्त या राज्यों के सविधान में परिवर्तन होने से प्रभाव नहीं पड़ेगा। आन्तरिक सविधान के परिवर्तन से सन्धियों की शक्ति समाप्त नहीं होती।

(ख) जब कोई नया राज्य राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य बनता है तो वह राज्य अपनी इच्छा के बिना भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि को मानने को बाध्य हो जाता है। वास्तव में प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपनी विधि तथा सविधान को अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार ही बनाए।

इसके अतिरिक्त यह भी नोट करना आवश्यक है कि अधिकतर राज्यों ने अपने सविधानों अथवा मौलिक विधि में राज्य के अन्दर भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सर्वोच्चता को स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए, जो देश अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अपनी राज्य-विधि का ही एक भाग मानते हैं, तो यदि कोई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय इस विधि का स्पष्टीकरण करता है तो यह स्वतः निष्पादित (Self-executory) इस अर्थ में हो जाता है कि उक्त स्पष्टीकरण राज्य-विधि (राष्ट्रीय कानून) का एक भाग बन जाता है।

वास्तव में उपयुक्त यह है कि 'समन्वयवादी' दृष्टिकोण अपनाया जाए। समन्वयवादी दृष्टिकोण के समर्थकों में केल्सन का नाम प्रमुख तौर पर लिया जा सकता है। जैसा कि डॉ. आसोपा ने लिखा है कि—'सभी अन्तर्राष्ट्रीयवादी विचारकों को इसके समर्थकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। राष्ट्रीय विधि द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों को ग्रहण कर व्यवहार में लाए जाने को ही रूपान्तर कहा जाता है। जैसे राष्ट्र की सावैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि की उपयुक्त सस्था या अधिकारी द्वारा पुष्टि किए जाने के बाद वह राष्ट्रीय कानून का अग बन जाती है और राष्ट्रीय अदालतें उससे सम्बद्ध मुकदमों पर विचार के समय सन्धि द्वारा निर्मित नियमों का प्रयोग करती है। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन को राष्ट्र द्वारा स्वीकार किए जाने के बाद उसे व्यवस्थापन प्रक्रिया द्वारा देश के कानून में समाविष्ट करके भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का राष्ट्रीय विधि में रूपान्तर या समन्वय किया जाता है। अपराधी प्रत्यार्पण सन्धियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व विषयक सन्धियाँ तो प्रत्यक्ष रूप से ही राष्ट्र के आन्तरिक कानून का अग बन जाती हैं। अधिग्रहण न्यायालयों की स्थापना राष्ट्रीय विधि के अनुसार की जाती है लेकिन वे अधिग्रहण से सम्बन्धित मुकदमों पर विचार के समय अन्तर्राष्ट्रीय विधि का ही प्रयोग करते हैं। सयुक्त राष्ट्रसघ के तत्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा प्रस्तावित सन्धियों व कन्वेंशनों के मसविदों को राष्ट्रों द्वारा स्वीकृति देकर उनके आधार पर राष्ट्रीय व्यवस्थापन के माध्यम से नियमों का निर्माण किया गया है। राजनयिकों की उन्मुक्तियों व विशेषाधिकारों एव सन्धि विषयक कानूनों के आधार पर सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्य राज्यों ने राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण किया है।

Ltd Vs The Ring) लॉर्ड एल्डर स्टाम ने यह बताया कि जब इंग्लैण्ड के राष्ट्रीय न्यायालयों के सामने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न आएँगे तो वे इस कानून को स्वीकार करके लागू करेंगे। सन् 1905 में यह स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून देश के कानून का ही एक भाग है। न्यायालय के मतानुसार जिस विषय में सभी सभ्य देशों की सहमति प्राप्त हो चुकी है उनको इंग्लैण्ड की स्वीकृति भी प्राप्त होनी चाहिए। इस प्रकार प्रतिष्ठित सिद्धान्त पुनः लागू कर दिया गया।

ग्रेट ब्रिटेन के सन्दर्भ में उल्लेखनीय बात यह है कि जो सन्धियाँ व्यक्तिगत अधिकारों को प्रभावित करती हैं और सामान्यतः जिनकी क्रियान्विति के लिए देश के न्यायालयों को कार्य करना है उन्हें संसद के कानून द्वारा संसदीय स्वीकृति प्रदान की जानी चाहिए। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भाग होते हुए भी बाध्यकारी सन्धियाँ उस समय तक देश के कानून का भाग नहीं बनतीं जब तक कि व्यवस्थापिका द्वारा ऐसा न किया जाए। राष्ट्रीय कानून के रूप में परिवर्तित न होने पर जो सम्भव असुविधा होती है वह सिद्धान्त रूप में अधिक है और व्यावहारिक रूप में इतनी नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि व्यवहार में नियमानुसार संसद् को प्रस्तावित सन्धि पर विचार करने और स्वीकार करने का अवसर दिया जाता है और इस प्रकार सन्धि होने से पहले ही व्यवस्थापन हो जाता है। इस विषय में सांविधानिक परम्पराओं की एकरूपता के कारण यह जरूरी नहीं होता कि न्यायालय आवश्यक रूप से यह देखें कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ बिना व्यवस्थापन के लागू नहीं की जा सकेंगी। सन्धियाँ विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं उदाहरण के लिए—ब्रिटिश नागरिकों के व्यक्तिगत अधिकारों को प्रभावित करने वाली, कॉमन लॉ अथवा संसद् के कानून को प्रभावित करने वाली, ब्रिटिश ताज को अतिरिक्त शक्तियाँ देने वाली, ब्रिटिश सरकार पर अतिरिक्त वित्तीय दायित्व डालने वाली ब्रिटिश प्रदेश दिए जाने से सम्बन्धित और इसी प्रकार की दूसरी सन्धियाँ। इन सन्धियों के बारे में संसद् की स्वीकृति प्राप्त करना अनिवार्य है। कुछ सन्धियाँ ऐसी भी हैं जिन पर ऐसी स्वीकृति आवश्यक नहीं होती। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय कानून में परिवर्तन न करने वाले मामूली प्रशासनिक समझौते आदि।

इंग्लैण्ड का सविधि कानून इंग्लैण्ड के न्यायालयों पर बाध्य रूप से लागू होता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साथ संघर्षपूर्ण होने पर भी लागू होगा। संदिग्ध मामलों में यह माना जाता है कि संसद् का कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विरोध नहीं करेगा। प्रो. ओपनहेम के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून यदि राष्ट्रीय कानून का एक भाग है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि सभी परिस्थितियों में इंग्लैण्ड के कानून ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सर्वोच्चता को स्वीकार किया है।

इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन में अधिकांश परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का भाग मान लिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा अपनी व्याख्या के अनुसार लागू किए जाते हैं। जब सन्धियों को ब्रिटिश संसद् द्वारा कानून का रूप दे दिया जाता है तो वे न्यायालयों द्वारा लागू होने लगती हैं।

2 संयुक्तराज्य अमेरिका में अन्तर्राष्ट्रीय कानून—संयुक्तराज्य अमेरिका मे भी ग्रेट-ब्रिटेन की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का भाग माना जाता है। इस देश मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दायित्वो का निर्वाह करने के लिए राष्ट्रीय कानून मे आवश्यक समायोजन अनेक न्यायिक निर्णयो मे वर्णित किए गए हैं। न्यायाधीश ग्रे ने स्पष्टतः लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून हमारे कानून का भाग है और इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित होने पर उपयुक्त अधिकार-क्षेत्र वाले राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा इनका निर्धारण और प्रशासन होना चाहिए।" न्यायालयो ने यह निर्णय लिया कि जो विषय उनके क्षेत्राधिकार मे नही हैं या कानून द्वारा उनके क्षेत्राधिकार मे नहीं रखे गए हैं उन विषयो पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो को लागू करें। मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने एक मामले मे यह निर्णय लिया कि जब तक कांग्रेस का अधिनियम पारित न किया जाए तब तक न्यायालय राष्ट्रों के कानून द्वारा बाध्य है जो कि देश के कानून का एक भाग है। एक अन्य मामले मे मुख्य न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि कांग्रेस के अधिनियम की व्याख्या यथासम्भव ऐसी नही होनी चाहिए जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विरोध करती हो।

सन् 1899 मे अमेरिका न्यायालय ने यह घोषणा की कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून अमेरिका के राष्ट्रीय कानून का एक भाग है और इसलिए उचित क्षेत्राधिकार वाले न्यायालयो द्वारा इसका प्रशासन होना चाहिए। अमेरिका की व्यवस्था के अनुसार वहाँ का न्यायालय सरकार द्वारा किए गए सभी समझौतो को स्वीकार करने के लिए बाध्य है। कांग्रेस द्वारा पारित कानून के विरुद्ध होने पर भी ये समझौते बाध्यकारी रूप से लागू किए जाएँगे। अमरीकी व्यवहार के अनुसार परम्परागत और रूढिगत अन्तर्राष्ट्रीय कानून सपर्वपूर्ण होने पर अमेरिकी सविधिक कानूनो को स्थान देगा। सदिग्ध मामलों में यह आशा की जाती है कि न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना नहीं करेंगे। इस प्रकार अमेरिका मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विशेष महत्त्व है। अमरीकी सविधान ने सधियों को सर्वोच्चता प्रदान की है। सविधान की धारा 6 ने सभी सधियो को देश का सर्वोच्च कानून माना है। यदि राष्ट्रपति द्वारा की गई सधि सीनेट की स्वीकृति प्राप्त कर लेती है तो वह देश का कानून बन जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित मामलो मे न्यायालय द्वारा जो क्षेत्राधिका स्वीकार किया जाता है उसके अतिरिक्त यहाँ ब्रिटेन तथा दूसरे अनेक देशो के भाँि ऐसे अनेक कानून भी हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दायित्वो को लागू करते हैं। कार्यपालिका विभाग राजनीतिक प्रश्नों के सम्बन्ध मे निर्णय लेने के लिए स्वेच्छा क प्रयोग करते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे मामलों मे कांग्रेस ने राष्ट्रपति और प्रशासनिक विभागो के हाथो को निर्देशित किया है। कांग्रेस ने ऐसे पेनल अधिनियम बनाए है जिनके द्वारा सयुक्तराज्य अमेरिका के क्षेत्र मे नागरिको तथा दूसरे लोगो को ऐसे कार्य करने से मना किया गया है जिनके लिए देश को अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यो का उल्लघनकर्त्ता ठहराया जा सकता है। इस दृष्टि से सन् 1793 और 1818 के विभिन्न तटस्था अधिनियमो का उल्लेख किया जा सकता है।

3 फ्रांस में अन्तर्राष्ट्रीय कानून—फ्रांस में भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में सम्मिश्रणवाद का सिद्धान्त अपनाया गया है। इस देश में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को उस समय तक राष्ट्रीय कानूनों का भाग समझा जाता है जब तक उनका देश के संविधान या व्यवस्थापिका के कानून से कोई विरोध न हो। विदेशी संधियों के सम्बन्ध में फ्रांस के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अलग-अलग प्रकार के निर्णय दिए हैं। किसी निर्णय में इन संधियों को व्यवस्थापिका परिषद् द्वारा पास किए गए कानून से अधिक प्रबल माना है जबकि दूसरे निर्णयों में कानून को अधिक महत्त्वपूर्ण घोषित किया गया है। कुछ संधियों के सम्बन्ध में यह आवश्यक माना गया है कि वे कानूनों की भाँति उद्घोषित की जानी चाहिए। दूसरी संधियों को केवल प्रकाशित करना ही पर्याप्त माना जाता है।

4. जर्मनी में अन्तर्राष्ट्रीय कानून—जर्मनी के वाईमर गणतंत्र (Weimar Republic) में यह स्वीकार किया गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम वैध हैं और वे जर्मनी के संघीय कानून का अंग हैं। संविधान की धारा 4 में यह बात स्वीकार की गई। सन् 1933 में जर्मनी के सर्वोच्च न्यायालय ने देश की सम्प्रभुता को महत्त्व दिया और बताया कि जर्मनी को यह निर्णय लेने का अधिकार है कि कौन-सी बातें अन्तर्राष्ट्रीय समझी जाएँ और कौनसी नहीं? जर्मनी यह भी अधिकार रखता है कि किसी संधि की व्यवस्थाओं का विरोधी कानून प्रचलित कर सके।

5 सोवियत रूस में अन्तर्राष्ट्रीय कानून—सोवियत रूस में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के सम्बन्धों के बारे में सहअस्तित्व का दृष्टिकोण अपनाया गया है। सोवियत रूस के न्यायाधीश क्रिलोव (Krylob) के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून के सामान्य नियम एक जैसे न होते हुए भी परस्पर सहअस्तित्व रखते हैं। राज्य की सामान्य इच्छा इन दोनों के रूप में अभिव्यक्त होती है। परम्परागत कानूनों के सम्बन्ध में राज्य की सहमति मूक-भाव से दे दी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में आने पर इसे साकार रूप प्राप्त होता है।

6 अन्य देशों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून – कुछ लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित महाद्वीपीय दृष्टिकोण एवं आंग्ल-भाषी दृष्टिकोण में अन्तर माना है, किन्तु यह अन्तर सैद्धान्तिक रूप से जितना स्पष्ट है व्यावहारिक रूप से उतना नहीं है। अधिकतर भ्रम इसलिए पैदा होता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दायित्वों को पूरा करने के राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व और राष्ट्रीय संविधान के अन्तर्गत राज्य की व्यवस्थापिका, न्यायपालिका और प्रशासनिक शक्तियों के बीच स्पष्टतः अन्तर नहीं किया जाता। प्रथम विश्वयुद्ध के समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून का व्यापक रूप से उल्लंघन हुआ और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून को प्रत्येक राज्य के राष्ट्रीय कानून के साथ संयुक्त करने के प्रयास किए जाने लगे। नार्वे में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियमों को इस देश के कानूनों का अंग समझा जाता है। यह व्यवस्था की गई है कि संधियों पर व्यवस्थापिका परिषद् का समर्थन प्राप्त होना चाहिए, केवल तभी वे देश के नियम से प्रबल माने जाएँगे। सन् 1931 के स्पेन के संविधान की धारा 9 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को देश के कानूनों का भाग माना जाता

है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अनेक देशों ने अपने संविधानों में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के महत्त्व को स्वीकार किया है।

7 **भारत में अन्तर्राष्ट्रीय कानून**—भारतीय संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून को पर्याप्त महत्त्व देते हैं। संविधान के चौथे अध्याय की धारा 51 अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के सम्बन्ध में यह प्रावधान करती है कि राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा संधियों से उत्पन्न दायित्वों के प्रति सम्मान में वृद्धि हो। राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त किसी न्यायालय द्वारा लागू नहीं किए जा सकते। इतने पर भी राज्य के शासन संचालन में इनको मौलिक समझा जाएगा और राज्य कानून बनाते समय इन सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने का प्रयास करेगा। भारतीय संविधान की ये धाराएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून और नैतिकता का सम्मानजनक स्थान देती हैं। भारतीय न्यायालयों ने अपने विभिन्न निर्णयों में इस बात की पुष्टि की है।

8 **लेटिन अमेरिकी राज्यों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून**—लेटिन अमेरिका के राज्यों में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच का सम्बन्ध विवादपूर्ण है। यह कहा जाता है कि ये राज्य महाद्वीपीय दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। इसके विपरीत *जब अध्ययन किया जाता है तो यह दृष्टिकोण असत्य साबित हो जाता है।* सन् 1916 में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अमेरिकी संस्थान ने यह घोषणा की थी कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक ही साथ राष्ट्रीय भी है और अन्तर्राष्ट्रीय भी है। यह राष्ट्रीय इस दृष्टि से है क्योंकि यह प्रदेश का कानून है और अपने सिद्धान्तों से सम्बन्धित प्रश्नों के सभी निर्णयों पर लागू होता है और अन्तर्राष्ट्रीय इस अर्थ में है कि यह राष्ट्रों के समाज का कानून है और इस समाज के सदस्यों के आपसी सम्बन्धों का निर्णय करता है।

अनेक अमेरिकी राज्यों ने अपने संविधानों में यह विशेष प्रावधान शामिल किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून उनके देश के कानून का एक भाग है।

सामान्य नियम के विशेष प्रयोग
(Specific Applications of the General Rules)

अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करने की दृष्टि से राज्यों को यह कर्त्तव्य सौंपा जाता है कि अपने राष्ट्रीय कानून में कुछ नियमों को अपनाएँ और कुछ नियमों को अस्वीकार कर दें, उदाहरण के लिए–प्रत्येक देश के राष्ट्रीय कानून में ऐसे नियम होते हैं जो *विदेशी कूटनीतिज्ञों को विशेष अधिकार देते हैं, अपने प्रदेश में रहने वाले* विदेशी नागरिकों के जीवन और स्वतन्त्रता की रक्षा तथा विदेशियों के विरुद्ध किए गए कार्यों के लिए दण्ड की व्यवस्था करते हैं। दूसरी ओर प्रत्येक राज्य के राष्ट्रीय कानून में कुछ नियमों को अपनाने से अस्वीकार किया जाता है उदाहरण के लिए जो नियम महासमुद्रों की स्वतन्त्रता का विरोध करते हैं या विदेशी व्यापारियों के आवागमन को रोकते हैं या अपने देश में विदेशी नागरिकों के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को हानि पहुँचाते हैं। यदि किसी राज्य के राष्ट्रीय कानून में अन्तर्राष्ट्रीय

कानून विरोधी नियम हैं अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा स्वीकृत नियमों का अभाव है तो यह अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य की अवहेलना समझी जाएगी।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून के पारस्परिक सम्बन्धों में उत्पन्न भ्रम को कम करने के लिए इस समस्या के कुछ पहलुओं तथा उनके समाधान का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

1 एक सामान्य सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा प्राथमिकता रखता है। जब तक यह सामान्य नियम स्वीकार नहीं किया जाता तब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई महत्त्व नहीं है। यदि स्वीकार कर लिया जाए तो इसे व्यावहारिक रूप देने की समस्या उत्पन्न होती है।

2 उपर्युक्त रूप मे स्वीकृत और मान्य सन्धि राष्ट्रीय संविधान के अनुरूप होनी चाहिए, ऐसा न होने का अर्थ हुआ कि सन्धि का स्वीकार करने मे राज्य की भावनाएँ गलत रही हैं। ऐसा भी हो सकता है कि सन्धि को स्वीकार करने वाला अभिकरण संविधानिक प्रतिबन्धो से अनभिज्ञ रहा हो अथवा उनकी कोई चिन्ता न की हो। सन्धि कानून नहीं होती इसलिए ऐसा करना असंविधानिक भी नहीं है, फिर भी सम्बन्धित राज्य को यह बता देना चाहिए कि संविधान का विरोध होने के कारण दूसरे राज्यो पर क्या दायित्व आएँगे? ऐसा करने मे अनुचित देरी, दो देशो के बीच अविश्वास पैदा करती है और उनके सम्बन्धो मे मनमुटाव लाती है।

3 एक सन्धि स्वीकृत होने के बाद स्वत ही देश के कानून का भाग बन जाती है और इससे पहले के समस्त कानूनो से अधिक प्राथमिकता रखने लगती है। यदि सन्धि के प्रावधानों का व्यवहार अवरुद्ध हो जाए तो राज्यो का दायित्व है कि वे राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा उसे क्रियान्वित करने की चेष्टा करें।

4 सन्धि को स्वीकार करने, इसके प्रावधानो को क्रियान्वित करने के विरुद्ध पारित किए गए विधेयक अथवा प्रशासनिक कार्य गैर कानूनी हैं और राष्ट्रीय सरकार के उपयुक्त अभिकरण द्वारा वे घोषित किए जाने चाहिए। इसी प्रकार यदि राष्ट्रीय व्यवस्थापन या प्रशासनिक निर्णय के प्रति कोई सन्देह है तो इस सन्देह का लाभ सन्धि के प्रावधानो को दिया जाना चाहिए।

5. जिन सन्धियो को क्रियान्वित करने के लिए कोई व्यवस्थापन जरूरी है उनके सम्बन्ध में राष्ट्रीय व्यवस्थापिका का यह दायित्व हो जाता है कि उपयुक्त कानून पास करें। सन्धियो की स्वीकृति से सम्बन्ध रखने वाले राष्ट्रीय संविधान के प्रावधानो मे यह बात स्वीकार कर लेनी चाहिए।

6 एक संघ-राज्य के विभिन्न सदस्य राष्ट्रीय सरकार द्वारा की गई संधि के प्रावधानो से स्वत ही बँध जाते हैं। संधि के प्रावधानो के विरुद्ध स्थित व्यवस्थापन गैर कानूनी सिद्ध हो जाता है और संधि को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक व्यवस्थापन एक कानूनी दायित्व बन जाता है।

7 परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम भी सन्धियो के प्रावधानो की भाँति बाध्यकारी होंगे। इनके बारे मे अनिश्चितता रहने पर न्यायिक अभिकरण

इन्हें तभी लागू करेंगे जब राष्ट्रीय व्यवस्थापिका या सरकार का प्रशासनिक विभाग उनकी व्याख्या करे। जहाँ इस प्रकार का संघर्ष पूर्ण व्यवस्थापन या प्रशासनिक निर्णय नहीं है वहाँ न्यायिक अभिकरण परम्परागत कानून के नियम को उसकी बाध्यकारी प्रकृति के अनुसार लागू करेंगे।

8 राज्य को यह देखना चाहिए कि उसकी व्यवस्थापिका अन्तर्राष्ट्रीय परम्परागत कानून को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक अधिनियम बनाए। इस कर्त्तव्य को सन्तोषजनक रूप से सम्पन्न करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं की निश्चित प्रकृति होनी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रगतिशील संहिताकरण द्वारा परम्परागत कानून की अनेक अनिश्चितताओं को मिटाया जा सकता है।

9 जिन विषयों पर किसी संधि के प्रावधान और परम्परागत कानून के विशेष नियम नहीं हैं वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्नों का निर्णय राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा न्याय के उन सामान्य सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिए जो अन्तर्राष्ट्रीय समाज में परम्परागत हैं। ऐसे मामलों में राष्ट्रीय न्यायालय केवल उन्हीं व्यवस्थापनों और प्रशासनिक निर्णयों को स्वीकार करेंगे जो सामान्य सिद्धान्त के अनुरूप हैं।

10. अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के जिन प्रावधानों पर राज्यों के प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर हैं वे कानूनी दायित्वों की पूरी शक्ति रखते हैं। संधि के दायित्वों से उन्हें बाध्यकारी प्रकृति के आधार पर भिन्न नहीं किया जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का निर्वाह करने का राज्य का दायित्व कार्यपालिका विभाग द्वारा निर्धारित किया जाएगा। इस विभाग का संविधान द्वारा दूसरे राज्यों के साथ समझौता करने की शक्ति दी जाती है। राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय आचरण न तो केवल व्यवस्थापिका के कानूनों के आधार पर मापा जाना चाहिए और न ही राष्ट्रीय न्यायपालिका के निर्णय के आधार पर।

स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कुछ नियमों का अनुशीलन किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों को कुछ अधिकार प्रदान किए जाते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वे इन सभी अधिकारों का प्रयोग करें। प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह इस प्रकार के पूर्ण या आंशिक प्रयोग को अपने कानून द्वारा अस्वीकार कर दें। यदि इस प्रकार का कोई प्रयास नहीं किया गया है तो राष्ट्रीय न्यायालय को इन अधिकारों का प्रयोग न्याय की दृष्टि से करना चाहिए। राष्ट्रीय व्यवस्थापिकाओं एवं राष्ट्रीय कार्यपालिका का महत्त्वपूर्ण दायित्व है।

4 अन्तर्राष्ट्रीय कानून का ऐतिहासिक विकास, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के तत्त्व, सोवियत संघ, चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों और विकासशील राष्ट्रों का उदय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर उनका प्रभाव, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न सम्प्रदाय

(Historical Development of International Law; Factors Helping the Growth of International Law; Emergence of USSR, China and other Communist Countries and Developing Nations and their Impact on International Law; Different Schools of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून आधुनिक सभ्यता का विकास है तथा लगभग चार शताब्दियों पुराना ही है। वैसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की जड़ें विभिन्न देशों के इतिहास के गर्भ में उपलब्ध हैं। दूसरे देशों के साथ रखे जाने वाले सम्बन्धों के नियमों और परम्पराओं में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीज पाए जाते हैं। प्राचीन भारत और चीन, सत्यापक यूनान और योरोप के इतिहास में अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यवस्था के दर्शन होते हैं किन्तु विशेष अन्तर्राष्ट्रीय नियम और सस्थाएँ जो वर्तमान समय की विशेषता है, वे 16वीं और 17वीं शताब्दियों में विकसित हुईं। योरोप में जब सम्प्रभु राज्यों का विकास हुआ तो राजनीतिक शक्ति का एकीकरण और अपनी सीमाओं में शक्ति के प्रयोग का एकाधिकार मुख्य बन गया। इस समाज के सदस्यों के बीच शक्ति सम्बन्ध पर्याप्त जटिल बन गए।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धारणा के पीछे एक लम्बा और निरन्तर चलने वाला इतिहास है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून शब्द का प्रयोग सबसे पहले जेरेमी बैन्थम ने सन् 1780 में किया था। इससे पूर्व राज्यों के सम्बन्धों का नियमन करने वाले कानून राष्ट्रों के कानून कहे जाते थे। बैन्थम ने यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून शब्द का प्रयोग किया किन्तु इसका विकास पूर्णतः आधुनिक युग की ही देन है। प्राचीन विचारकों या राजनीतिज्ञों के पास अन्तर्राष्ट्रीय कानून की शब्दावली का अभाव था। प्रो जिमर्न

ने लिखा है कि "प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व राज्यों के पास तटस्थता की स्थिति अभिव्यक्त करने के लिए कोई शब्द नहीं था। विभिन्न देशों के सम्बन्ध में जब परस्पर मनमुटाव पैदा होता था तो इसके परिणामस्वरूप कुछ अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ अस्तित्व में आती थीं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज का रूप बदलता रहा है। इसके सदस्य राज्य क्रमश परिवार, कुटुम्ब, जाति, नगर-राज्य, राष्ट्रराज्य और साम्राज्य के रूप में विकसित हुए। विकास की यह प्रक्रिया प्रत्येक क्षेत्र में एकरूप नहीं रही है।" प्रो फेनविक के कथनानुसार—'अन्तर्राष्ट्रीय कानून का इतिहास राष्ट्रों के बीच एकीकरण और पृथक्करण की प्रवृत्तियों का इतिहास है। मनुष्य के ऐतिहासिक युग में मानव जाति कठोर रूप से विभाजित समूह में वर्गीकृत दिखाई देती है और सभ्यता की प्रवृत्ति अनेक प्रभावों द्वारा इन समूहों के प्रसार की कहानी है।"

युद्ध और विजय ने राजधानियों और साम्राज्यों को बनाया और मिटाया है। राष्ट्र राज्यों के उदय ने स्थानीय अराजकता के स्थान पर व्यवस्था की रचना की किन्तु विरोधी सम्प्रभुताओं के बीच शक्ति सन्तुलन की धारणाओं द्वारा देशों की एकता को समाप्त कर दिया। फलत राष्ट्रवाद का जन्म हुआ जिसने राज्य के अधिकार को कठोर बनाया और नागरिकों में स्वामिभक्ति जाग्रत की। दो विश्व-युद्धों के बाद अन्तर्राष्ट्रीय समाज की धारणा स्पष्ट रूप से समझी जाने लगी है। नैतिक और भौतिक हितों की दृष्टि ने राज्यों को शान्ति और न्याय के सामान्य सिद्धान्तों को स्वीकार करने तथा उन्हें व्यावहारिक बनाने के लिए सगठन स्थापित करने के लिए प्रेरित किया।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास का इतिहास एक लम्बी कहानी है। इसके केवल महत्त्वपूर्ण चरणों का उल्लेख करना ही उपयुक्त और वांछनीय रहेगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का विकास जिस राजनीतिक वातावरण में हुआ है उसका सर्वेक्षण उस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को समझने की दृष्टि से अनिवार्य है जिस पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भावी विकास निर्भर करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों की रचना और विनाश पर अनेक तत्त्वों ने प्रभाव डाला है। व्यक्ति ने जब से अलग समूह बना कर रहना प्रारम्भ किया है प्राय तभी से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मूलभूत समस्या का जन्म हुआ। पुरातत्व विज्ञान और मनोविज्ञान की खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि व्यक्ति हजारों वर्ष पहले समूह बनाकर रहने लगा। ये समूह सामाजिक व्यवस्था और परम्पराओं की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता रखते थे और इसलिए इनके आपसी सम्बन्धों के निर्धारण हेतु कुछ नियमों का विकास करना जरूरी बन गया। प्राचीन काल स्वतन्त्र राज्यों ने अपने आपसी सम्बन्धों के लिए कई प्रकार के नियम स्वीकार किए जो उनके व्यापारिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान को सम्भव बनाते थे।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में प्रसिद्ध कानूनवेत्ता ह्यूगो ग्रोशियस का नाम पर्याप्त महत्त्व रखता है। इसने जो विश्लेषण प्रस्तुत किया वह इस विषय पर एक क्रान्तिकारी मोड है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास का अध्ययन

करते समय प्रो. ओपेनहेम ने उसे मोटे रूप से दो कालों में विभाजित किया है—(क) ग्रोशियस से पहले का काल और (ख) ग्रोशियस के बाद का काल।

ग्रोशियस से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास
(Development of International Law before Grotius)

1 प्राचीन काल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून
(International Law in Ancient Times)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रारम्भिक रूप वह है जो राज्यों के तत्कालीन पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन में उपलब्ध होता है। प्राचीनकाल में राज्य छोटे होते थे और उनके बीच सम्पर्क भी अत्यन्त कम था। उस समय के नियमों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहना अधिक उपयुक्त नहीं रहता क्योंकि उनमें कानून की प्रकृति उपलब्ध नहीं होती थी। प्राचीनकाल में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के नियम प्रत्येक स्थान पर एक जैसे नहीं थे। भिन्न भिन्न देशों में इनका विकास अलग, अलग रूपों में हुआ।

(अ) भारत—भारत में प्राचीनकाल से ही राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण करने के लिए ही विभिन्न नियमों का विकास हुआ। महाभारत, रामायण, कौटिल्य का अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में युद्ध के नियम, दूतों की अवध्यता, विदेश व्यापार की सुविधाएँ आदि विभिन्न विषयों से सम्बन्धित प्रावधान हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दूतों के भेद किए गए हैं और उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिए इसका भी उल्लेख है। स्मृति ग्रन्थों में अनेक ऐसे सिद्धान्तों और नियमों का उल्लेख किया गया है जो आज के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के सामान्य नियम हैं। उदाहरण के लिए मनु ने बताया है कि युद्ध में शत्रुओं को धोखा देने वाले क्रूर हथियारों से लड़ाई न की जाए। लोहे की नोक वाले जहर से बुझे हुए और जलते हुए बाणों से न की जाए। यही बात आधुनिक काल में हेग के चौथे सम्मेलन में स्वीकार की गई है और 'डमडम' जैसी गोलियों तथा शस्त्रों का निषेध किया गया है। युद्ध के अन्य नियमों में स्थान स्थान पर भारतीय ग्रन्थों ने जो कुछ कहा है उनमें उल्लेखनीय प्रबन्धों का वर्णन है। यह कहा गया है कि जो रथ से उतर कर जमीन पर आ जाए, नपुंसक हो, हाथ जोड़ने वाला हो, सोया हुआ हो, कवच खोले हुए हो, नग्न और निःशस्त्र हो, न लड़ने वाला हो, घायल, डरा हुआ और युद्ध से विमुख होकर भागने वाला हो उसे नहीं मारना चाहिए। भारतीय ग्रन्थों के युद्ध सम्बन्धी नियम मानवता की भावना से परिपूर्ण थे। यद्यपि अनेक नियमों का उल्लंघन किया जाता था किन्तु ऐसे अवसर निन्दनीय समझे जाते थे। व्यवहार के आधार पर भारतीय विचारकों ने युद्धों को धर्म-युद्ध और कूट-युद्ध दो भागों में विभाजित किया था। प्रथम युद्ध के नियमों का पालन किया जाता था किन्तु दूसरे में किसी नियम का पालन अनिवार्य नहीं था।

विदेशी संधियों के सम्बन्ध में भी ग्रन्थों ने बहुत कुछ कहा गया है। शत्रु और मित्र राज्यों के बीच भेद करने के अनेक आधार बनाए गए हैं। मण्डल सिद्धान्त के आधार पर राज्य की विदेश नीति के संचालन का मार्ग बताया गया और दूसरे देशों

को अपना मित्र बनाने पर जोर दिया गया। कौटिल्य ने जल-युद्ध के कुछ नियमों का उल्लेख किया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख विभिन्न प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में मिलता है किन्तु उस समय यूरोप से सम्बन्ध न रहने के कारण इनका कानून के विकास पर बहुत कम प्रभाव पड़ा।

प्राचीन कालीन भारत में राज्यों के आपसी सम्बन्धों के बारे में कितने परिपक्व और आधारभूत नियमों का प्रतिपादन हो चुका था अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रस्थापना की दृष्टि से भारत कितना आगे बढ़ा हुआ था, इस पर प्रायः विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विवेचनाओं में बहुत कम प्रकाश डालने की चेष्टा की है अथवा इसकी उपेक्षा की है। प्रख्यात विधि-विशेषज्ञ सांवलिया बिहारीलाल वर्मा ने भारत सरकार द्वारा प्रकाशित अपने ग्रन्थ में प्राचीन वैदिक काल, रामायण काल और महाभारत-काल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास का जो संक्षिप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है वह हमें वस्तुस्थिति का कुछ बोध कराता है—

(1) प्राचीन वैदिक-काल—भारत असीरिया, मिस्र, चीन तथा ईरान दुनिया के सबसे प्राचीन सभ्य देश हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई के बाद निश्चित हो गया है कि इन सब देशों में भारत की सभ्यता और संस्कृति सबसे प्राचीन है। यह निर्विवाद है कि संसार के प्राप्त ग्रन्थों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें वर्णित भाषा तथा दार्शनिक भावना को देखने हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के रचना काल में भारत सभ्यता के क्षेत्र में बहुत अग्रसर हो चुका था। ऋग्वेद से यह भी स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद काल के व्यापारी लोग सुदूर देशों से व्यापार करते थे। जब इन देशों का धर्म, शिक्षा, कला कौशल और व्यापार बहुत उन्नत अवस्था में था, तब यह निश्चित सा है कि उनको अपने व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय नियम बरतने पड़ते रहे होंगे। ऋग्वेद में यद्यपि दस राजाओं के युद्ध का विवरण है किन्तु युद्ध सम्बन्धी नियमों का आभास नहीं मिलता, किन्तु ऋग्वेद में वर्णन है कि इन्द्र ने दास वर्ण को पैरों तले कुचल कर गुफाओं में ढकेल दिया था। सम्भवतः यही व्यवहार वैदिक आर्यों के व्यवहार का सूचक है। वैदिक वाङ्मय में विष से बुझे बाणों के उपयोग का भी वर्णन है।

अथर्ववेद के काण्ड 3 सूत्र 1 में शत्रु के संहार की प्रणाली दी गई है। कहा जाता है कि सम्मुख से पीछे से और चारों ओर से भागते वाली शत्रु सेना का ह्रास करके उनके चित्त में ऐसी घबराहट उत्पन्न करनी चाहिए जिससे वे चारों दिशाओं में भाग जाएँ, किन्तु युद्ध सम्बन्धी नियम कहीं नहीं मिलता। काण्ड 5 सूत्र 8 में शत्रु का नाश करने का उपदेश देता है। यहाँ भी हम युद्धकाल में व्यवहृत होने वाले नियम का कहीं पता नहीं चलता।

(2) रामायण काल—वाल्मीकि रामायण के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि रामायण काल में युद्ध एवं शान्तिकालीन नियम थे जिनका आदर किया जाता था। जिस समय मेघनाद हनुमान को पराजित कर और बाँधकर रावण के सम्मुख ले गया, रावण ने हनुमान का सौष्ठवयुक्त किन्तु निर्भीक तथा अप्रिय भाषण सुनकर क्रोध

मे उनके वध की आज्ञा दी। विभीषण ने दूत को मारना अच्छा नहीं समझा और रावण से निवेदन किया—"प्रतिष्ठित राजा दूत को नहीं मारा करते। इस कपि का मारना, राजधर्म के विरुद्ध, लोकाचार से निन्दित और तुम्हारे अयोग्य है।"

विभीषण की बात सुनकर क्रुद्ध रावण ने कहा कि पापियों के वध मे कुछ पाप नहीं होता, अतः मैं इस पापी का वध करूँगा। इस प्रकार अधर्ममूलक क्रोध से कहा गया वचन सुनकर विभीषण परमार्थ तत्त्वयुक्त वचन बोले—"हे लंकेश्वर! प्रसन्न होओ। धर्मार्थ युक्त वचन सुनो। सज्जन लोग कहते हैं कि दूत किसी समय तथा कहीं भी वध्य नहीं होते। निश्चित ही यह शत्रु बड़ा प्रबल है। इसने आपका बहुत अप्रिय किया है। तो भी, सज्जनों का कहना है कि दूत अवध्य है। उसके लिए अन्य बहुत से दण्ड हैं, जैसे, विरूप कर डालना, लोहशलाका आदि से पीटना, भौंहे मुण्डा देना आदि। दूत का वध तो हमने कभी सुना ही नहीं।"

रामायण-काल मे शस्त्र रहित शत्रु के वध की भी प्रथा न थी। जब सेना सहित राम समुद्र पार करके लंका मे उतर आए तब रावण ने दो गुप्तचरों को वानर सेना मे प्रवेश करके उनके बल आदि का ज्ञान प्राप्त करने का आदेश दिया। किन्तु वे पकड़ लिए गए। जब वे राम के पास लाए गए तब राम ने कहा—"तुम लोग मारे जाने या कैद किए जाने का भय न करो क्योंकि शस्त्ररहित मनुष्य तथा दूत मारे जाने योग्य नहीं हैं।"

रामायण-काल मे सूर्यास्त के बाद युद्ध बन्द कर देने का विधान था। दिन भर युद्ध करने के बाद सैनिक सूर्यास्त की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते थे।

जब एक योद्धा विपक्ष के किसी योद्धा से संलग्न रहता था तब सहायता देना अनुचित समझा जाता था। नील के साथ लड़ते हुए रावण पर वार करना हनुमान ने अनुचित समझते हुए कहा—"दूसरे के साथ युद्ध करते देख तुम्हारे ऊपर अब दौड़ना उचित नहीं है।"

स्त्रियों, युद्ध मे सक्रिय भाग न लेने वालों, सन्धि की याचना करने वालों तथा शरणागतों को मारना पाप का काम था। किसी व्यक्ति पर अकारण ही वार करना, किसी और से लड़ते हुए सैनिक पर हमला करना, किसी एक व्यक्ति के अपराध के कारण असंख्य लोगों को मौत के घाट उतार देना तथा शरणागत को शरण न देना निन्दनीय था। सोते हुए, अस्त्रशस्त्रों से हीन, थके हुए, नशे में चूर या स्त्रियों से घिरे हुए शत्रु पर वार करना अनुचित था। जब रावण थक गया तब राम ने उसे घर लौट जाने के लिए कहा था। फिर भी शत्रु की कमजोरियों से लाभ उठाना वर्जित नहीं था। लक्ष्मण ने यज्ञ कर्म मे व्यस्त मेघनाद पर वार किया था और राम ने छिपकर बाली पर बाण चलाया था। उत्तरकाण्ड से ज्ञात होता है कि शत्रुघ्न ने लवणासुर पर उस समय अकस्मात् आक्रमण किया था जब उसके पास उसका विख्यात शूल नहीं था। किन्तु ऐसा कार्य शोभनीय नहीं समझा जाता था। इसी कारण बाली ने राम से कहा था—"अकारण ही किसी पर आक्रमण कर देना अशोभनीय है तथा उदासीन तटस्थ के प्रति युद्ध छेड़ना अनुचित है।"

रामायण-काल मे युद्ध न करने वाले, शरणागत तथा भागते हुए को मारने का चलन नहीं था। इस विधान का आभास हमे युद्ध काण्ड मे मिलता है। जब मेधनाद द्वारा अनेक वानर मारे गए तब क्रुद्ध लक्ष्मण राम से बोले—"मैं ब्रह्मास्त्र चलाकर सब राक्षसो को मार डालूँगा।' इस पर राम ने लक्ष्मण से कहा—"केवल इन्द्रजीत के कारण पृथ्वी के सब राक्षसो को मारना अनुचित है। युद्ध न करने वाले, अदृश्य, शरणागत और विक्षिप्त को कभी नहीं मारना चाहिए।"

(3) महाभारत-काल—महाभारतकाल में भी शान्ति और युद्ध सम्बन्धी नियम थे जिनका आदर होता था। उद्योग पर्व मे वर्णित परशुराम-भीष्म युद्ध के प्रारम्भ मे भीष्म ने कहा था कि मैं रथ पर बैठा हूँ और आप भूमि पर खड़े हैं। ऐसी दशा मे मैं आप से युद्ध नहीं कर सकता। यदि आप समरभूमि मे मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं तो रथ पर आरूढ हो जाइए और कवच भी बाँध लीजिए। इस युद्ध मे कई बार परशुराम और भीष्म मूर्छित हुए किन्तु मूर्छित अवस्था मे न परशुराम ने भीष्म की हत्या की न भीष्म ने परशुराम की। युद्ध चौबीस दिन हुआ। नियमित रूप से प्रतिदिन सूर्योदय होने पर युद्ध प्रारम्भ होता था और सूर्यास्त होते ही समाप्त हो जाता था। अत स्पष्ट है कि युद्ध सम्बन्धी नियम महाभारत के युद्ध के पूर्व प्रचलित थे और उनका आदर होता था।

प्राचीन-काल मे सबसे बड़े और भीषण युद्ध के लिए जब कुरुक्षेत्र के मैदान मे पाण्डवो की सात अक्षौहिणी और कौरवो की ग्यारह अक्षौहिणी सेना एकत्र हुई तब युद्ध सम्बन्धी नियम निश्चित किए गए। नियमों का वर्णन महाभारत के भीष्म पर्व के प्रथम अध्याय के श्लोक 26 से 34 मे निम्न प्रकार है—

तत्पश्चात् कौरव, पाण्डव तथा सोमको ने परस्पर मिलकर युद्ध के सम्बन्ध मे कुछ नियम बनाए और युद्ध धर्म की मर्यादा स्थापित की। ये नियम निम्न प्रकार हैं—

(क) चालू युद्ध के बन्द होने पर सध्याकाल मे हम सब लोगो मे परस्पर प्रेम बना रहे। उस समय पुन किसी का किसी के साथ शत्रुतापूर्ण अयोग्य बर्ताव नहीं होना चाहिए।

(ख) जो वाग्युद्ध में प्रवृत्त हो, उनके साथ वाणी द्वारा ही युद्ध किया जाए।

(ग) जो सेना से बाहर निकल गए हो, उनका वध कदापि न किया जाए।

(घ) रथी को रथी से ही युद्ध करना चाहिए। इसी प्रकार हाथी सवार के साथ हाथी सवार, घुडसवार के साथ घुडसवार तथा पैदल के साथ पैदल ही युद्ध करें।

(च) जिसमे जैसी योग्यता, इच्छा, उत्साह तथा बल हो उसे विपक्षी को बताकर तथा उसे सावधान करके ही उसके ऊपर प्रहार किया जाए।

(छ) जो विश्वास करके असावधान हो रहा है अथवा जो युद्ध से घबराया हुआ हो, उस पर प्रहार करना उचित नही है।

(ज) घोड़ों की सेवा के लिए नियुक्त सूतो (सईस), बोझा ढोने वालो,

शस्त्र पहुँचाने वालो तथा भेरी और शख बजाने वालों पर कोई किसी प्रकार का प्रहार न करे।

उपर्युक्त नियम बनाकर कौरवो, पाण्डवो तथा सोमको ने एक-दूसरे की ओर देखा और वे बडे आश्चर्यचकित हुए। तदनन्तर, वे पुरुषरत्न अपने-अपने रथ पर स्थित हो सैनिको सहित प्रसन्नचित्त होकर हर्ष एव उत्साह से भर गए।

इस युद्ध मे उपर्युक्त नियमों का साधारणतया पालन किया गया, किन्तु उनके कुछ अपवाद भी हैं। सर्वप्रथम कौरवो ने नियम भग कर सप्तरथियों द्वारा चारो ओर से घेर कर अभिमन्यु का वध किया। इस कार्य के लिए कौरवों की काफी निन्दा हुई। प्रतिकार रूप मे बाद मे द्रोण का वध उसी अवस्था मे किया गया जब वे पुत्र-शोक से विह्वल होकर शस्त्र त्याग कर निश्चेष्ट बैठ गए थे। कर्ण का भी वध उसी समय किया गया जब वे रथ के धँसे हुए पहिए को बाहर निकाल रहे थे। यद्यपि माण्डल विजयी हुए, तथापि वे इन नियम-विरुद्ध कार्यों के लिए निंदित भी हुए।

महाभारत के युद्ध के अन्त मे दुर्योधन और भीम के बीच गदा-युद्ध हुआ। युद्ध मे लडते-लडते जब वे थक जाते थे तब दोनो घडी भर विश्राम कर लेते थे। धर्म-युद्ध मे नाभि से नीचे के अग में गदा का प्रहार करने का विधान नहीं था, तथापि भीम ने दुर्योधन के जाँघों पर बडे वेग से गदा मारी और उस वज्र सरीखी गदा ने दुर्योधन की दोनों जाँघो को तोड डाला और वह आर्तनाद करता हुआ जमीन पर गिर पडा। धर्म-युद्ध के नियम का उल्लघन करने के कारण बलराम जी को क्रोध हुआ और वे भीम की हत्या करने पर उद्यत हो गए। कृष्ण के रोकने पर वे भीम से सघर्ष करने से विरत हो गए किन्तु उन्होने स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया कि भीम ससार मे कपटपूर्ण युद्ध करने वाला कहा जाएगा। इस अनियमित युद्ध से क्षुब्ध होकर अश्वत्थामा ने रात्रि मे सोए हुए पाण्डव पक्ष के अनेक वीरों की अन्यायपूर्ण रीति से हत्या की।

अत रामायण-कालीन और महाभारतकालीन युद्ध घटनाओ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आर्य राम और अनार्य (राक्षस) रावण ने तत्कालीन प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन किया, किन्तु महाभारत काल में युद्ध के आरम्भ मे आपस की राय से युद्ध सम्बन्धी नियम निश्चित हो जाने पर भी उभय पक्ष के वीरो ने समय-समय पर उनकी अवहेलना की जिस कारण वे निन्दित हुए।

ज्ञात होता है कि रामायण और महाभारत-काल के बाद युद्ध की अनिवार्यता अनुभव कर प्राचीन भारतीय विचारको ने उसकी भीषणता कम करने की यथासम्भव चेष्टा की और इस हेतु उन लोगो ने ऊँचे आदर्श का प्रतिपादन किया।

स्मृतियो ने एक स्वर म विष-बाण के प्रयोग का निषेध किया। उन्होने यह भी लिखा कि जब शत्रु असावधान हो, पूरी तरह से शस्त्रो से लैस या तैयार न हो ... प्रकार की विपत्ति मे हो तो उस पर प्रहार नहीं करना चाहिए। मनु ने तो युद्ध-धर्म पर सम्यक् रूप से प्रकाश डाला है।

याज्ञवल्क्य स्मृति का कथन है कि भूमि के लिए जो संग्राम छेड़ते हैं उन्हें रणक्षेत्र से पीठ नहीं दिखानी चाहिए, किन्तु निषिद्ध आयुधों का व्यवहार करना उचित नहीं है। योद्धा योगी है और सन्तों की भाँति स्वर्ग उपलब्ध करता है।

किन्तु शुक्र का विचार मनु और याज्ञवल्क्य से भिन्न है। आपका कथन है कि युद्ध में न्याय और अन्याय का विचार बेकार है। पराक्रमी शत्रु के विनाश के लिए कूट-युद्ध से बढ़कर कोई दूसरा युद्ध नहीं है। युद्ध में शत्रु का ध्वंस ही परम ध्येय है। अतः यह आवश्यक नहीं कि युद्ध न्यायसंगत हो। शत्रु पर अकस्मात् आक्रमण करना चाहिए। दूर से डाकू की तरह शत्रु पर टूट पड़ना चाहिए।

कामन्दक शुक्र की नीति का समर्थक है। अभीष्ट सिद्धि के लिए गाढ़ी निद्रा में पड़े हुए शत्रु का वध करने में कभी संकोच नहीं करना चाहिए, किन्तु शुक्र और कामन्दक की नीति स्मृतियों में अपवाद स्वरूप है।

बोधायन भी मनु और याज्ञवल्क्य की तरह शुक्र और कामन्दक की नीति को पसन्द नहीं करते। उनका कथन है कि वृद्ध, स्त्री, बच्चे, भागते अथवा शरणागत के सूचक तालु पर तृण रखे हुए शत्रु की हत्या नहीं करनी चाहिए। जो शत्रु घबरा गया हो, तितर-बितर हो गया हो उसका पीछा नहीं करना चाहिए। सोए हुए, प्यासे, थके, जिसका हथियार हाथ से छूट गया है, पागल, जो अपने शिविर से बाहर सामान खरीदने गया हो, बाजा बजाने वाले, पहरेदार आदि की हत्या नहीं करनी चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक धर्म विजय का आदर्श सम्मुख था, राज्यों के होने की घटनाएँ बहुत कम होती थी। लड़ाई में भी धर्म-युद्ध का आदर्श प्रधान रहता था और उदारता तथा वीरता से काम लिया जाता था। पर जब साम्राज्यवाद की भावना ने जोर पकड़ा और सामन्त राज्यों की दासता की शृंखला कसी जाने लगी, तब आत्मरक्षा की भावना भी प्रबल हो उठी और युद्ध में सफलता पाने के लिए सभी उचित और अनुचित साधन ठीक समझे जाने लगे। कौटिल्य ने इस विषय में सलाह दी है कि जब तक अपना पलड़ा भारी रहे तब तक धर्म-युद्ध के आदर्श पर चलने में हानि नहीं, अन्यथा जिस उपाय में सफलता मिले वही करना उचित है, चाहे वह धर्म हो या अधर्म।

फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि धर्म युद्ध के आदर्श पर चलने की चेष्टा यथाशक्ति होती थी और इसी का परिणाम था कि मध्य युग तक राजपूतों में धर्म युद्ध का आदर्श जीवित रहा। इसमें सन्देह नहीं कि आर्यों का धर्म-युद्ध उच्च कोटि का था। उसकी समता विश्व की कोई जाति नहीं कर सकती थी। शरणागत की रक्षा के लिए भारतीय वीर प्राणों का परित्याग करता था। शत्रु भी रो पड़े या शरण में आए तो उसे मुक्ति प्रदान करने में बहुत आनन्द आता था। अस्तु, शत्रु को प्राणदान या अभयदान देने की भी निश्चित परिपाटी थी। शस्त्र रख देने या शरण में आने पर पराजित शत्रु पर हाथ उठाना निषिद्ध था। घायल या भागते हुए शत्रु पर भी वार करना मना था। घायल युद्धवन्दियों की चिकित्सा की जाती

आवश्यक थी। साधारणतः युद्ध बन्दियों को दास बनाया या बेचा भी नहीं जाता था बल्कि उन्हें युद्ध समाप्त होने पर घर जाने की अनुमति दे दी जाती थी।'

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि भारत के कूट युद्ध के काण्ड भी प्राचीनकाल के अन्य देशों की युद्ध की बर्बरता के सामने सौम्य प्रतीत होते हैं।

ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में सन्धि सम्बन्धी विधान मान्य था। कामन्दकीय नीतिसार में 16 प्रकार की सन्धियों का उल्लेख मिलता है।

(ब) यहूदियों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून—यहूदी लोग अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के स्तर को अधिक नहीं उठा सके। उन्होंने केवल एक महत्त्वपूर्ण व्यवहार अपनाया कि सभी विदेशियों को अपने देशवासियों के समान अधिकार सौंपे। यहूदी लोग दूसरे राज्यों को धार्मिक विश्वास की भिन्नता के कारण अपने समान नहीं समझ सके। बाईबिल के विभिन्न भागों में यह उल्लेख है कि यहूदी कुछ राष्ट्रों के कट्टर शत्रु थे। यहूदी राज्य दूसरे राष्ट्रों के साथ जब युद्ध छेड़ते थे तो वे न केवल युद्ध-क्षेत्र में लड़ने वालों को मार देते थे वरन् वृद्धों, स्त्रियों और बच्चों को भी उनके घरों में जाकर हत्या कर देते थे।

जो राष्ट्र यहूदियों के शत्रु नहीं समझे जाते थे उनके साथ वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध रखते थे। राजदूतों को अवध्य माना जाता था और सन्धियों का पालन किया जाता था। इस प्रकार के देशों के साथ युद्ध होने पर भी उनका व्यवहार अधिक क्रूरतापूर्ण नहीं होता था। विदेशी दासों के प्रति यहूदियों के नियम नरम थे, किन्तु उन्हें किसी प्रकार का कानूनी संरक्षण नहीं दिया जाता था। यदि कोई स्वामी दास की हत्या कर दे तो उसे सजा दी जाती थी। नियमानुसार यदि स्वामी द्वारा पिटने पर दास के आँख या दाँत चले जाएँ तो वह स्वतन्त्र कर दिया जाता था। यहूदियों के व्यवहार में देशवासियों और अपरिचितों के प्रति एक ही प्रकार के कानूनों का अनुशीलन किया जाता था। यहूदियों ने अपने आदर्श ईसाईदुनियाँ को सौंपे। यहूदियों के पुराने अहमदनामे की पुस्तक ड्रिट्रानमी में स्त्रियों और बच्चों को युद्ध में मारने की मनाई की गई है। कठिन परिस्थितियों में भी शत्रु को दिए गए वचनों का पालन करने की बात कही गई है।

(स) यूनान में अन्तर्राष्ट्रीय कानून—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से यहूदियों के योगदान की अपेक्षा यूनानियों का योगदान भिन्न था। यूनानियों की सभ्यता के विकास ने पड़ौसियों की तुलना में उन्हें बहुत आगे कर दिया। इसलिए वे पड़ौसियों को जंगली समझने लगे। पड़ौसियों के साथ उनका सम्बन्ध अधिक घनिष्ठतापूर्ण न हो सका। यूनान के नगर राज्य एक-दूसरे से पूरी तरह स्वतन्त्र थे। इनके आपसी सम्बन्धों के नियम अन्तर्राष्ट्रीय कानून का रूप माने जा सकते हैं। एक जाति, धर्म, रक्त और सभ्यता होने के कारण उनके आपसी सम्बन्ध पर्याप्त घनिष्ठ हो सके। यूनान के नगर-राज्यों के बीच अनेक राजनीतिक सन्धियाँ होती थीं। वे अपने विवादों का निर्णय पंच फैसले द्वारा किया करते थे। परस्पर युद्ध के समय उनका व्यवहार पर्याप्त नम्रतापूर्ण रहता था। यूनान के छोटे प्रदेश में विभिन्न राज्यों

के बीच क्षेत्रीय एकता की भावना का विकास इसलिए नही हो सका क्योकि नगर राज्यो मे स्थानीय देश प्रेम की शक्तिशाली भावना विकसित हो चुकी थी। इन नगर राज्यो मे व्यक्ति के चरित्र और मानवता के गुणो पर जिस प्रकार जोर दिया जाता था उसमे पृथकता व स्वतन्त्रता की भावनाएँ विकसित हुई। जो सम्प्रभुता की भावना आज के राज्यो मे उपलब्ध होती है ठीक वही यूनान के उन छोटे नगर-राज्यो मे वर्तमान थी। इनमे विदेशियों की सत्ता कानूनी रूप से स्वीकार की गई थी। व्यापार और वाणिज्य कार्यों मे लगे हुए विदेशी कानूनी रक्षा तथा अन्य नागरिक अधिकार प्राप्त करते थे किन्तु उनको राजनीतिक अधिकार प्राप्त नही थे।

यूनान मे धर्म का अधिक प्रभाव होने के कारण नगर-राज्यो के सम्बन्ध मे धार्मिक परम्पराओ का अनुशीलन किया जाता था। युद्ध और सन्धियो के बारे मे अनेक नियम प्रचलित थे। युद्ध भूमि मे मारे गए योद्धाओ का दाह सस्कार किया जाता था। एक नगर को हस्तगत करने के बाद उस नगर के जो लोग मन्दिर मे शरण लेते थे उनको छोड दिया जाता था। युद्धबन्दियो की अदला-बदली की जाती थी, उनके साथ बुरे से बुरा व्यवहार उनको दास बनाना था। कुछ पवित्रतम स्थान स्थाई रूप से अनुल्लघनीय थे। कुछ पवित्र लोगो को भी क्षम्य माना जाता था।

यूनान के लोग युद्ध शब्द का प्रयोग केवल गैर-यूनानी जातियों के साथ सघर्ष के लिए करते थे। यूनानियो मे आपसी सघर्ष को फूट और बीमारी का नाम दिया जाता था। वे इससे बचने का उपाय किया करते थे और यदि आवश्यक ही हो जाए तो उसकी उग्रता को कम करने का प्रयास किया जाता था। यूनानियो मे नियम था कि लडाई मे जीतने की स्मृति को स्थाई रखने के लिए पत्थर या कांसे के स्थाई स्मारक न बनाए जाएँ।[1] यूनानियो के व्यवहार और विचारो का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर अधिक प्रभाव नही पडा। मि. नसबोम के अनुसार, 'यूनानियो के अधिकांश नियम धार्मिक थे। ये अन्तर्राष्ट्रीय नियम न होकर केवल अन्तर्देशीय कहे जा सकते है।" इस मत के विपरीत प्रो ओपेनहीम ने माना है कि "यूनानियो ने इतिहास मे यह उदाहरण छोडा कि स्वतन्त्र और सम्प्रभु राज्य ऐसे समाज मे रह सकते हैं अथवा रहने के लिए बाध्य किए जा सकते हैं जिसमे सदस्य राज्यो के लिए 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के नियम प्रस्तुत किए जाएँ।" इतने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो से उनकी तुलना नहीं की जा सकती क्योकि यूनानियो के मतानुसार उनके अन्तर्राष्ट्रीय नियम कानूनी रूप से बाध्यकारी नही थे वरन् केवल धार्मिक रूप स बाध्यकारी थे। इस तथ्य का कारण यह था कि यूनानियो ने कानून, धर्म और नैतिकता के बीच वह अन्तर नही माना जो आजकल माना जाता है। इतने पर भी यूनानी नगर-राज्य भावी स्वतन्त्र राज्यो के लिए इस बात के उदाहरण थे कि वे ऐसे समाज मे रह सकते है जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कुछ नियमो और परम्पराओ द्वारा प्रशासित किए जाते हैं। यूनानियो ने रोमन विचार और व्यवहार को प्रभावित

1 ऐसा करने से स्थायी द्वेष फैलने की सम्भावना हो जाती है और एक पीढी का द्वेष दूसरी पीढी का बन जाता है।

किया और इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में योगदान किया। यूनानी नगर-राज्य सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का विकास नहीं कर सके। आक्रमणकारी के विरुद्ध सुरक्षा के लिए संघ बनाए गए थे किन्तु ये संघ वास्तविक व्यवहार में बहुत कम सफल हो पाते थे।

(द) रोम में अन्तर्राष्ट्रीय कानून—यूनान की अपेक्षा रोम ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में अधिक योगदान दिया है। यद्यपि रोमवासियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिक महत्त्व नहीं था किन्तु इनकी कानूनी पद्धति ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मध्यकालीन विचारों को प्रेरणा दी। राज्यों के समाज की धारणा की दृष्टि से रोम के इतिहास को दो कालों में विभाजित किया जा सकता है—नगर राज्यों का काल और साम्राज्य का काल। प्रथमकाल में रोम दूसरे नगर राज्यों की भाँति एक नगर-राज्य था और इसके सम्बन्ध यूनानी नगर-राज्यों के समान थे। ईसा से तीसरी शताब्दी पूर्व रोम ने दूसरे स्वतन्त्र समाजों का अस्तित्व स्वीकार किया और औपचारिक सन्धियों के माध्यम से उनके साथ सम्बन्ध बनाए। रोम ने अपने लेटिन तथा इटली के मित्रों पर पर्याप्त अधिकार रखा किन्तु अपने आपको उनके प्रति कानूनी दायित्वों से बँधा हुआ भी अनुभव किया। द्वितीय प्यूनिक युद्ध के बाद रोम ने अपने इतिहास के महत्त्वपूर्ण काल में प्रवेश किया। अब वह दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध पारस्परिक स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर नहीं रखता था किन्तु अब उसके सम्बन्ध रोम के अधिकार से प्रभावित थे।

प्रारम्भ में रोम में बीस पुरोहितों की एक श्रेणी होती थी जिनको फैटियाल्स (Fetials) कहा जाता था। यह विदेशी सम्बन्धों के कार्यों का प्रबन्ध करने के लिए उत्तरदायी थी। अपने कार्यों की सम्पन्नता के लिए फैटियाल्स द्वारा विशुद्ध रूप से धर्मनिरपेक्ष कानूनों का प्रयोग नहीं किया जाता था वरन् धार्मिक और दैवीय कानून भी अपनाए जाते थे। फैटियाल्स की नियुक्ति प्रायः उस समय की जाती थी जब युद्ध की घोषणा की गई है या शान्ति की स्थापना की गई है या मित्रता की सन्धियाँ की गई हैं अथवा विदेशी राज्यों के विरुद्ध रोमवासियों का कोई दावा है अथवा विदेशियों का रोमवासियों के विरुद्ध कोई दावा है।

रोमवासियों ने भी यूनानियों की भाँति सन्धियों और विद्रोह के कार्यों को धार्मिक कार्य समझा। उस समय दो प्रकार के युद्ध माने जाते थे—न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण। न्यायपूर्ण युद्ध वह होता था जो चार में से किसी भी कारण से लड़ा गया हो—रोमन प्रदेश का अतिक्रमण, राजदूतों के विशेष अधिकारों का उल्लंघन, सन्धियों का भंग करना और मित्र राष्ट्रों द्वारा युद्ध के समय शत्रु को सहायता देना। इन कारणों के उपस्थित होने पर युद्ध तभी किया जाता था जब फैटियाल पुरोहित देवताओं को साक्षी बना कर युद्ध के कारणों की सत्यता घोषित करें। युद्ध से पूर्व सम्बन्धित पक्ष से विचारों का आदान-प्रदान किया जाता था और यदि वह विचार के लिए समय चाहता तो उसे 30 या 33 दिन की अवधि प्रदान की जाती थी। वार्ता द्वारा समस्या न सुलझने पर फैटियाल्स युद्ध को न्यायपूर्ण घोषित कर देते थे।

लडाई की विधिपूर्ण घोषणा के लिए एक फेंटियाल रोम की सीमा से एक भाला दूसरे देश की ओर फेंकता था। इस प्रकार के न्यायपूर्ण और धार्मिक युद्ध मे *रोमवासियों के विश्वास के अनुसार उन्हें देवताओं की सहायता मिलती थी* और उनका मोरेल बना रहता था। रोम का न्यायपूर्ण युद्ध का विचार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है।

रोमवासियों के अनुसार युद्ध की समाप्ति तीन प्रकार से की जाती थी—शान्ति सन्धि द्वारा, शत्रु के देश पर आधिपत्य करके और शत्रु द्वारा समर्पण होने पर। सन्धियाँ तीन भागो मे विभाजित की गई थीं—मित्रता सन्धि, सौहार्द्र अथवा सहयोगपूर्ण सन्धि और आतिथ्य सन्धि। सन्धियाँ करते समय धार्मिक प्रक्रिया अपनाई जाती थी और यह समझा जाता था कि सन्धियाँ पवित्र होती हैं। कई प्रकार के यज्ञो और देवताओं की पूजा द्वारा सन्धियो की पवित्रता को बनाए रखा जाता था। राजदूतो की अवंध्यता का सिद्धान्त रोम मे माना गया।

युद्ध और शान्ति के सम्बन्ध मे कानूनी *नियम वर्तमान थे। युद्ध को रोम वालों* ने एक कानूनी सस्था माना। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को रोमवासियो ने जो कानूनी रूप प्रदान किया उसकी तुलना आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो से नही की जा सकती किन्तु फिर भी रोमवासियों ने अपने विभिन्न तर्कों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भावी विचारको का मार्ग सरल बना दिया। रोमन साम्राज्य के पतन के समय रोम की अधीनता में रहने वाले विभिन्न राज्य स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगे।

(2) मध्य युग मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून

रोमन साम्राज्य धीरे-धीरे समस्त प्राचीन सभ्य दुनिया पर छा गया। रोम वालो ने अपने साम्राज्य की सीमा से परे कोई स्वतन्त्र सभ्य राज्य नहीं देखा था और इसलिए जब तक साम्राज्य रहा तब तक किसी कानून की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई। यह सच है कि इस विश्व-साम्राज्य की सीमाओ पर हमेशा युद्ध होते रहते थे किन्तु इन युद्धो ने केवल कुछ नियमो और परम्पराओ के व्यवहार को ही अवसर प्रदान किया। बाद मे रोमन साम्राज्य पूर्व और पश्चिम दो भागो मे विभाजित हो गया। सन् 476 मे पश्चिमी साम्राज्य भी नष्ट हो गया और यह प्रदेश भिन्न-भिन्न भागो के अधिकार मे आ गया।

रोमन साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर जो शासन व्यवस्थाएँ स्थापित हुई उन पर प्राय बर्बर जातियो का आधिपत्य था। यद्यपि वे ईसाई धर्म को स्वीकार कर चुके थे किन्तु उन्नत सभ्यता के बराबर आने में उनको अनेक वर्ष लगे। सैकडो वर्षों के बाद पुराने रोमन साम्राज्य के विभिन्न लोगो ने राष्ट्र-राज्य का विकास किया। सन् 800 में चार्लीमैग्ने को रोम का सम्राट् बनाया गया और रोमन साम्राज्य पुन स्थापित हुआ। पुन रोम एक साम्राज्य बन गया और पोप इसका आध्यात्मिक तथा राजा इसका सांसारिक स्वामी बना। ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए कोई स्थान या आवश्यकता नहीं रही। यह साम्राज्य अधिक दिनों तक नहीं चल सका और वैरडन की सन्धि के अनुसार तीन भागों में बँट गया।

जब पुराने साम्राज्य को नए आधार पर संगठित किया गया तो वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व नहीं रहा। उपनिवेशवादी प्रशासन की रोमन व्यवस्था के स्थान पर सामन्तवादी व्यवस्था स्थापित हो गई। सम्राट् के हाथों में सत्ता का केन्द्रीकरण हो गया। विभिन्न सामन्तवादी राज्यों के बीच सामाजिक भावना नहीं रही। राज्य के कामन-लॉ की भाँति राष्ट्रों का कामन-लॉ भी असम्भव था। कभी कभी सम्राट् अपनी उच्च स्थिति के कारण राजाओं और राजकुमारों के बीच मध्यस्थ का काम करता था किन्तु ऐसा करते समय वह अपने विशेष अधिकारों पर निर्भर मान्य कानूनी अधिकारों का प्रयोग करने की अपेक्षा व्यक्तिगत व्यवहार का प्रयोग करता था।

(3) 15वीं और 16वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय कानून

राष्ट्रों के कानून की आवश्यकता उस समय तक नहीं पड़ी जब तक कि पूर्ण रूप से स्वतन्त्र अनेक राज्य स्थापित नहीं हुए। फ्रेड्रिक तृतीय सन् 1440 से 1493 तक जर्मनी का सम्राट् रहा। यह पोप द्वारा बनाया गया अन्तिम सम्राट् था। असल में उस समय योरोप अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित था और इनके आपसी सम्बन्धों पर विचार करने के लिए कानून की आवश्यकता थी। भावी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के विकास के लिए उस समय सात महत्त्वपूर्ण तत्त्वों द्वारा आधारभूमि तैयार की गई। ये निम्न प्रकार थे—

1. नागरिक तथा कैननवादी—नागरिकों और कैननवादियों ने 12वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रोमन कानून को पश्चिम में प्रचारित किया। इन नागरिक-जनों के अनुसार रोमन कानून सभ्य संसार का कानून था और जर्मन बादशाहों ने इसे रोम के सम्राटों से ग्रहण किया था। Corpus Juriscivilis पर उनके विचारों ने भावी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक प्रश्नों को छूआ। कैननवादियों ने युद्ध से सम्बन्धित भावी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक प्रश्नों पर नैतिक और धार्मिक दृष्टि से विचार किया। धर्म सुधार के काल तक इनका अत्यन्त प्रभाव रहा।

2. समुद्री कानून—समुद्री कानूनों के संग्रह ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योगदान किया। 8वीं शताब्दी के बाद विश्व व्यापार घट गया था क्योंकि रोमन साम्राज्य के पतन और लोगों के विस्थापन के काल में पुरानी सभ्यता के विनाश के फलस्वरूप यह सम्भव नहीं रहा। 15वीं और 16वीं शताब्दी में इसका पर्याप्त विकास हो चुका था। समुद्री व्यापार के सम्बन्ध में अनेक नियमों का विकास हुआ; इनको कानूनी संहिताओं में एकत्रित किया गया और किसी न किसी प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्रदान की गई। इस प्रकार के नियमों के संग्रहों में उल्लेखनीय हैं—Consolato dal Mare, Laws of Oleron, Rhodian Laws, Tabula Amalfitana एवं Leges Wisbuenses। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के कारण महासमुद्रों की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न हुआ। इसने अप्रत्यक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून को प्रभावित किया।

3 व्यापारिक नगरों का संघ—एक तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व अनेक व्यापारिक नगरो का सघ है। इनमे से मुख्य उल्लेखनीय 13वीं शताब्दी मे रचित हेन्सीएटिक (Hanseatic) है। इन सघो ने अपने सदस्य नगरो के बीच विवादो के समय पच-निर्णय को प्रोत्साहित किया। उन्होने दूसरे राज्यों मे व्यापारिक विशेषाधिकार प्राप्त किए। अपने हितो की रक्षा के लिए उन्होंने आवश्यकता के समय युद्ध भी लड़े।

4 रूढ़ियों का विकास—राज्यो के बीच आदान-प्रदान के समय धीरे-धीरे रूढियो का विकास हुआ। मध्य युग मे केवल पोप को फ्रँक्स राजाओ के न्यायालय मे स्थाई कानूनी अधिकार प्राप्त था। बाद मे इटली के गणराज्यो ने अपने राजदूत भेजे। वैनिश और फ्लोरेन्स आदि राज्यो द्वारा भेजे गए राजदूतो ने उन राज्यो की राजधानियो में निवास किया जिनके लिए उन्हें भेजा गया था। अन्त मे 15वीं शताब्दी के समाप्ति काल मे यह एक सामान्य रूढि बन गई कि विभिन्न राज्यो के राजा एक दूसरे के राज्यों मे अपने स्थाई प्रतिनिधि रखें। इसके परिणामस्वरूप सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय हितों पर विचार करने के लिए अवसर मिल सका। विदेशो मे राजदूतो की स्थिति ने अनेक प्रश्न उठाए और उनके समाधान की दृष्टि से अनेक नए विकास हुए।

5 स्थाई सेना का विकास—बड़े राज्यो ने स्थाई सेना रखने की परम्परा का विकास किया। यह विकास भी 15वीं शताब्दी की देन है। इन सेनाओ के एकरूप तथा कठोर अनुशासन ने युद्ध के सामान्य नियमों और व्यवहारो को जन्म दिया।

6. पुनर्जागृति और धर्म-सुधार—*अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर प्रभाव* डालने वाला अन्य महत्त्वपूर्ण विकास पुनर्जागृति और धर्म-सुधार आन्दोलन है। विज्ञान और कला के क्षेत्र मे जो नए विकास हुए उनके परिणामस्वरूप यूनानी जीवन के दार्शनिक और सौंदर्यात्मक आदर्श आधुनिक जीवन मे बदल गए। बाद मे ईसाई धर्म के प्रचार पर भी इसने प्रभाव डाला। यह धारणा विकसित हुई कि ईसाई धर्म द्वारा ईसाई दुनिया को एकीकृत किया गया है। इन सिद्धान्तो को राष्ट्रीय विषयो की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय विषयो मे भी लागू करने की बात कही गई। दूसरी ओर धर्म-सुधार आन्दोलन ने सभ्य दुनिया पर पोप के आध्यात्मिक स्वामित्व को समाप्त कर दिया। प्रोटेस्टेन्ट राज्यो ने पोप के इस दावे को अस्वीकार कर दिया कि वह उनके आपसी विवादो मे पच-फैसला करे।

7 शान्ति स्थापना के कार्यक्रम—आन्तरिक शान्ति की स्थापना के लिए 14वी शताब्दी के प्रारम्भ मे ही प्रयास किए गए। यद्यपि इनमे से अधिकांश कार्यक्रम केवल दार्शनिक और कल्पनाशील ही रहे हैं किन्तु ईसाई राष्ट्रो के राजकुमारो को प्रभावित करके इन्होने विभिन्न स्वतन्त्र राज्यो के सगठन को महत्त्वपूर्ण बनाया। इन कार्यक्रमो मे प्रथम उल्लेखनीय फ्रांसीसी वकील पियरे डुबोय (Pire Dubenco) *की योजना है जिसने सन् 1305 मे प्रकाशित अपनी पुस्तक मे यह सुझाव दिया कि सभी* ईसाई शक्तियाँ आपस मे मेल कर लें ताकि शान्ति की स्थापना हो सके। इस सधि के सदस्यों के बीच उत्पन्न विवादो को सुलझाने के लिए एक स्थाई न्यायालय भी बनाया

जाए । दूसरा प्रयास सन् 1461 मे बोहेमियाँ के राजा द्वारा किया गया जिसने अपने चान्सलर की राय पर विदेशी न्यायालयो के साथ वार्ता की और तत्कालीन ईसाई राज्यो को मिला कर एक संघ-राज्य की नीव डालने का प्रयास किया।

तीसरी योजना फ्रांस के हेनरी चतुर्थ ने सन् 1603 मे प्रस्तावित की जिसके अनुसार सम्पूर्ण यूरोप को 15 राज्यों मे विभाजित कर दिया जाए और इन राज्यों का एक संघ बनाया जाए। इस संघ मे महापरिषद् को सर्वोच्च अंग रखा जाए जिसकी सदस्यता सदस्य राज्यो द्वारा भेजे गए आयुक्तो को प्रदान की जाए। सन् 1623 मे एक अन्य कार्यक्रम प्रस्तावित किया गया जिसमे न केवल ईसाई राज्यो को वरन् सभी राज्यों को सदस्य बनाने की बात कही गई। इसके सबसे बड़े अंग महासभा में सभी सदस्य राज्यो के राजदूतो को रखने का सुझाव दिया गया।

(4) आधुनिक युग के विचारक

मध्ययुग मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अभिव्यक्त किए गए विचारों का दृष्टिकोण मूलत. धार्मिक रहा है किन्तु आधुनिक युग की प्रवृत्तियाँ अधिकतर धर्म-निरपेक्ष रहीं। सन् 1492 मे कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज के साथ एक नए युग का श्रीगणेश हुआ। धर्म-सुधार आन्दोलन और पुनर्जागृति के प्रभाव से जो नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई उनके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार एवं मान्यताएँ बहुत कुछ बदल गई। इसके कारण पोप की सार्वभौमिक धार्मिक सत्ता का अन्त हुआ और विभिन्न राष्ट्रीय राज्य उत्पन्न हुए। यूरोप की धार्मिक एकता नष्ट हो गई। कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट मत वाले राज्यों के बीच 30 वर्ष तक भयानक युद्ध छिड़ा। ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अभाव एवं आवश्यकता अनुभव की गई। अमेरिका के विभिन्न प्रदेशो से स्वामित्व के सम्बन्ध मे अनेक प्रश्न उठे और विवादो को जन्म मिला। इस काल मे राष्ट्रीयता की भावना का व्यापक रूप से प्रसार हुआ। सन् 1648 मे वैस्टफेलिया की संधि द्वारा पवित्र रोमन साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों की पृथक् सत्ता मान ली गई। फ्रांस और इंग्लैण्ड आदि देशो मे भी राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होती जा रही थी। फलत अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विभिन्न समस्याओं को जन्म मिला और अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध मे अपने विचार रखे। इनमे से प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

(i) फ्रांसिस्को विटोरिया (1480-1546)—स्पेन के सालामाका विश्व-विद्यालय मे यह धर्मशास्त्र का प्राध्यापक था। इसके समय मे स्पेन का यह विश्वास था कि जो देश अथवा राजा ईसाई नहीं है उस पर ईसाई राजाओं को चढ़ाई करने तथा उन्हें नष्ट करने का पूरा पूरा अधिकार है। विटोरिया ने पहली बार इस बात पर बल दिया कि गैर-ईसाई राज्य और राजा भी अस्तित्व का अधिकार रखते हैं। उनके विरुद्ध भी केवल न्यायपूर्ण कारणों से युद्ध छेड़ा जा सकता है। विटोरिया ने अमेरिका में स्पेनवासियों के स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन किया। उसने विश्व के राष्ट्रों के समुदाय की भावना का प्रतिपादन किया।

(ii) फ्रांसिस्को सुआरेज (1548–1617)—यह भी विटोरिया की भाँति धर्म-शास्त्र का प्राध्यापक था। इसे जेसुइट सम्प्रदाय का विचारक माना जाता है। इसने जस जैंसियम और प्राकृतिक नियम की विशद् व्याख्या की और/अन्तर्राष्ट्रीय कानून से उनके सम्बन्ध का उल्लेख किया। ग्रोशियस तथा दूसरे विचारकों पर उसकी रचनाओं ने पर्याप्त प्रभाव डाला। सुआरेज ने युद्धों की न्यायिकता पर विस्तार के साथ विचार किया है। उसके कथनानुसार अन्यायपूर्ण युद्धों पर रोक लगाई जानी चाहिए और ऐसे युद्ध छेड़ने वाले राजा के सैनिकों को मारा जा सकता है अन्यथा सैनिकों को अवध्य माना गया है। राजा को युद्ध छेड़ने से पूर्व विद्वानों से परामर्श लेना चाहिए कि वह न्यायपूर्ण है या नहीं है। सुआरेज की एक महत्त्वपूर्ण देन यह मानी जाती है कि उसने विभिन्न राज्यों को राष्ट्रीय जीवन में स्वतन्त्र मानते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में परस्पर निर्भर और एक कानून के अधीन माना है।

(iii) पैरिनो वैली (1502–1575)—इटली के इस विचारक ने स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय की सेवा में लम्बे समय तक कार्य किया। अपनी पुस्तक 'On Military Matters and Wars' में उसने सैनिक विषयों की चर्चा के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में भी विचार किया है। युद्ध की घोषणा एवं उसके कारणों पर विचार करते समय रोमन कानून के मूल स्रोतों और टीकाकारों के उद्धरणों का उल्लेख किया गया है। उसने युद्ध-बन्दियों के साथ क्रूर व्यवहार का विरोध किया है और शत्रु के अधिकृत प्रदेश के निवासियों के साथ अच्छा व्यवहार करने की बात कही है। यदि कोई शासक पंचनिर्णय द्वारा विवाद को सुलझाने के लिए राजी हो जाए तो उसके विरुद्ध युद्ध की कार्यवाही बन्द कर देनी चाहिए।

(iv) बल्थसर अयाला—यह विचारक अन्तर्राष्ट्रीय कानून को धार्मिक क्षेत्र से सांसारिक क्षेत्र में लाने वाला मुख्य विचारक था। इसने हॉलैण्ड में स्पेन की सेना द्वारा किए गए अत्याचारपूर्ण कार्यों को सही सिद्ध करने का प्रयास किया। उसका कहना था कि शत्रु के साथ विश्वासघात नहीं करना चाहिए, किन्तु विद्रोहियों और अन्यायपूर्ण युद्ध करने वालों के साथ इस नियम का पालन करना जरूरी नहीं है।

(v) एल्बेरिको जैंन्टिली (1552–1608)—यह ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में कानून का प्राध्यापक था। इसकी विद्वता के कारण सन् 1584 में ब्रिटिश सरकार ने स्पेन के राजदूत मेंडोजा के मामले में इससे परामर्श लिया। इस राजदूत ने रानी एलिजाबेथ को सिंहासन से हटाने तथा मारने के लिए रचे गए षड्यन्त्र में भाग लिया था ताकि कैथोलिक रानी स्कॉटलैण्ड की मेरी को बन्धनमुक्त किया जा सके। जैन्टिली की राय थी कि राजदूत होने के कारण मेंडोजा अबाध्य है और देश के न्यायालय में उस पर विचार नहीं किया जा सकता। सरकार ने इस परामर्श का आदर किया और राजदूत पर मुकदमा न चला कर उसे देश से निकाल दिया। इसके बाद जैन्टिली ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर कई ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'On the Law of War' उल्लेखनीय है।

जैन्टिली ने अपने ग्रन्थो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर विचार किया है। राजदूतो के अधिकारो पर उसने अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए। यह कहा जाता है कि इस विषय पर उसका ग्रन्थ पहली बार किया गया व्यवस्थित विवेचन है। उसने युद्ध के कारणों, युद्ध के स्वरूप और शान्ति सन्धियो के बारे मे विस्तार से विवेचन किया है। जैन्टिली के मतानुसार सन्धियो का पालन न केवल सम्बन्धित राजा द्वारा बरन् उसके उत्तराधिकारियो द्वारा भी किया जाना चाहिए। यह कह कर सन्धि को अमान्य नही ठहराया जा सकता कि भय अथवा दबाव के कारण यह स्वीकार की गई थी। जैन्टिली के अनुसार सन्धियों का पालन केवल उसी समय तक किया जा सकता है जब तक उनकी परिस्थितियाँ अपरिवर्तित रहती हैं। जैन्टिली का एक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण योगदान अन्तर्राष्ट्रीय कानून को धर्म से अलग करना था। न्यायपूर्ण युद्ध के निर्धारण मे जैन्टिली ने धर्म को कोई महत्त्व नही दिया। उसके ग्रन्थ मे अधिकांश उदाहरण धार्मिक रचनाओ की अपेक्षा ऐतिहासिक और दार्शनिक ग्रन्थो से लिए गए हैं। समुद्रो की स्वतन्त्रता को जैन्टिली ने अनेक प्रतिबन्धो के साथ स्वीकार किया है। समुद्री डाकुओ का उसने कड़ा विरोध किया है।

जैन्टिली को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण विचारक माना जाता है किन्तु उसकी पद्धति मे कुछ दोष भी थे। वह अत्यधिक वाद-विवादप्रिय, और धर्म-निरपेक्षता का समर्थक होने के कारण नैतिकता को कोई महत्त्व नही देता था जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर नैतिकता का उल्लेखनीय प्रभाव रहता है। उसके विचारो मे कोई निश्चित सैद्धान्तिक आधार नही था।

ग्रोशियस और उसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय कानून

(International Law after Grotius)

ग्रोशियस से पूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय पर पुराने समय से विचारको ने महत्त्वपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किए हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधुनिक कलेवर को देखते हुए ये अधिक प्रभाव नही रखते। ग्रोशियस को इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विचारक माना जाता है जिसने विस्तार के साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विभिन्न समस्याओ पर विचार प्रस्तुत किए। यही कारण है कि यह आधुनिक कानून का जन्मदाता कहा जाता है। ग्रोशियस का जन्म सन् 1583 मे हॉलैण्ड के एक सुप्रतिष्ठित परिवार मे हुआ था।

परिस्थितियों का प्रभाव—ग्रोशियस की रचनाओ पर उसके समय की परिस्थितियो का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा है। 17वी शताब्दी मे अनेक स्वतन्त्र राज्यो की स्थापना हुई और विशेष रूप से यूरोप मे नए राज्यो की बाढ़-सी आ गई। इन राज्यों के अनेक पारस्परिक हितों और उद्देश्यो ने इनको राज्यों के समाज मे सगठित होने के लिए प्रेरित किया। इस स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून-हीनता एक असम्भवता बन गई। यही कारण है कि सन् 1625 मे प्रकाशित ग्रोशियस की रचना युद्ध और शान्ति का कानून (De Jure Bille ac Pacis, Libri III), अन्तर्राष्ट्रीय ध्यान

और आकर्षण का कारण बनी। इस रचना को जी. वी. ग्लान (G V Glahn) ने फौस में सकारात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रथम व्यवस्थित प्रयास कहा है।

ग्रोशियस ने अपने ग्रन्थ की रचना व्यावहारिक उद्देश्य के लिए की। युद्ध के कानून के सम्बन्ध में उसने इसलिए लिखा क्योंकि उसी के कथनानुसार उसने यह देखा कि "समस्त ईसाई दुनिया में युद्ध छेड़ने पर रोक केवल इतनी ही थी जिससे असभ्य राष्ट्र भी शर्म का अनुभव करते हैं। लोग छोटी छोटी बातों पर अथवा बिना किसी बात के युद्ध करते हैं और जब एक बार हथियार उठ जाता है तो किसी भी मानवीय अथवा दैविक कानून के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।" इस अराजकता की स्थिति के स्थान पर राज्यों को एक ही समाज का अपने आपको सदस्य मानना चाहिए। व्यक्ति विशुद्ध रूप से एक स्वार्थी पशु नहीं है। उसमें सामाजिक इच्छाएँ और समाज रक्षा की कामनाएँ रहती हैं। यही प्राकृतिक कानून का स्रोत है।

ग्रोशियस के समय तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक आवश्यकता बन चुका था। इस कानून के विभिन्न सिद्धान्त मान्यता प्राप्त कर चुके थे और ग्रोशियस ने इन्हें अपना लिया। उसने अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को एक कानूनी आधार प्रदान किया। यद्यपि उसकी 'ग्रोशियस रचनाओं' को विश्वव्यापी लोकप्रियता मिली किन्तु यह मानना गलत होगा कि ग्रोशियस ने उन सिद्धान्तों को एकदम पूर्णतः स्वीकार कर लिया था। ऐसा न तो हुआ, न हो सकता था। महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न के उठने पर ग्रोशियस के ग्रन्थ को देखा जाता था और अनेक बार इसके नियम सही मान लिए जाते थे। इन अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को विचारकों ने मान्यता दी और बाद में लेखकों ने स्वीकार किया। यह सब क्रमिक विकास का परिणाम था।

17वीं शताब्दी के अन्त तक सभी सभ्य देश अन्तर्राष्ट्रीय कानून से अपने को बाध्य समझने लगे। इनमें से अधिकांश नियम वही थे जो ग्रोशियस द्वारा स्वीकार किए गए थे। विभिन्न राष्ट्रों द्वारा इन नियमों को स्वीकार करने के बाद भी प्रायः तोड़ा जाता था। विभिन्न सरकारों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को अपने हितों के अनुकूल होने पर स्वीकार किया, किन्तु अनेक बार चेतन या अचेतन रूप से उनको तोड़ा। जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को किसी देश द्वारा तोड़ा गया तो सम्बन्धित सरकार ने यही मत व्यक्त किया कि यह उनका उद्देश्य नहीं था अथवा उसने तोड़ा ही नहीं है या इनको तोड़ना उन परिस्थितियों में न्यायपूर्ण था। ग्रोशियस ने जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए तब यूरोप में 30 वर्षीय युद्ध चल रहा था, अव्यवस्था और अशान्ति का वातावरण था। उसे दूर करने के लिए राज्यों के आपसी व्यवहार के लिए कुछ नियम निर्धारित करना उपयुक्त समझा गया।

प्राकृतिक कानून—*ग्रोशियस* के मतानुसार विभिन्न समुदायों के आपसी व्यवहार को प्राकृतिक कानून द्वारा नियमित किया जाता है। प्राकृतिक कानून का लक्षण बताते हुए उसने कहा कि "यह सद्बुद्धि द्वारा किया गया आदेश है। यह इस

बात का सूचक है कि कोई विशेष कार्य व्यक्ति की बौद्धिक प्रकृति के प्रतिकूल या अनुकूल होने के कारण या तो असत् है अथवा आवश्यक है। इसलिए इस कार्य को प्रकृति के निर्माता भगवान द्वारा या तो निषिद्ध ठहराया गया है अथवा स्वीकार किया गया है।" ग्रोशियस ने माना कि सभी राष्ट्रों के निवासियों की प्रकृति एक जैसी होती है और इसलिए वे प्राकृतिक नियमों के आदेशों का पालन करते हैं।

ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानून के साथ-साथ राज्यों की इच्छा पर आधारित कानूनों को भी स्वीकार किया। विभिन्न राष्ट्र एक-दूसरे के साथ की गई सन्धियों और समझौतों का पालन अपनी सहमति या रीति-रिवाज या चलन के आधार पर करते हैं। यह कानून भी यदि सद्बुद्धि के आदेशों के अनुकूल है तो प्राकृतिक कानून का एक अंग बन जाता है। दोनों के बीच विरोध की स्थिति में प्राकृतिक कानून को ही प्रामाणिक मानना चाहिए। इस प्रकार ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानूनों को एक कसौटी माना और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सभी प्रश्नों का समाधान इनके आधार पर किया। ग्रोशियस ने अपने कानूनी विवेचन को अनेक स्रोतों से प्राप्त किए गए उदाहरणों और अवतरणों द्वारा सजीव एवं प्रामाणिक बनाया।

परम्परागत नियम—युद्ध के नियमों के सम्बन्ध में ग्रोशियस परम्परागत लेखकों की ओर झुक गया। उसने अनेक अवतरण विशेषत विटोरिया की रचनाओं में से दिए हैं। परम्परागत जस जेन्सियम की प्रकृति पर विचार करते हुए ग्रोशियस ने स्पष्ट किया कि उसके मतानुसार इसमें मानवीय और इच्छापूर्ण नियमों का प्रतिनिधित्व होता है। यह उन नियमों का संग्रह है जो लोगों द्वारा मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनाए गए हैं। दूसरे शब्दों में, राज्यों के आपसी सम्बन्धों को प्रशासित करने वाले नियम केवल देशाचार अथवा सद्बुद्धि के प्रयोग से प्राप्त किए गए नहीं थे वरन् मानवीय इच्छा द्वारा स्वतन्त्र रूप से निर्मित नियम थे। इस प्रकार ग्रोशियस ने स्पष्टतः दो प्रकार के नियमों का उल्लेख किया। इनमें से एक को उसने जस जेन्सियम का जो परम्परागत नियमों का संग्रह होता है और दूसरे को जस नेचूरल जो प्रकृति के कानून का परिणाम है। दुर्भाग्य से ग्रोशियस कानून के इन दोनों प्रकारों में अन्तर न कर सका और स्पष्ट रूप से कोई विभाजक रेखा न खींच सका।

ग्रोशियस ने परम्परागत या इच्छा पर आधारित कानून को अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण माना है और उसके अधिकांश लेख प्राकृतिक कानून का ही उल्लेख करते हैं। ग्रोशियस द्वारा किए गए इस विभाजन की व्याख्या बाद में मि जोसे(Mr Zouche) द्वारा की गई और फलतः 17वीं तथा 18वीं शताब्दी में कानूनी दर्शन के तीन प्रमुख सम्प्रदायों को जन्म मिला, ये थे—प्रकृतिवादी, अस्तिवादी और ग्रोशियसवादी। प्रकृतिवादियों (Naturalists) ने यह माना कि रीति रिवाज या सन्धियों से राष्ट्रों का कोई सकारात्मक नियम जन्म नहीं लेता। थॉमस हॉब्स की भाँति इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने यह माना कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रकृति के कानून का एक

भाग मात्र है। प्रतिवादी विचारकों (Positivists) ने मि. प्यूफेनड्रोफ (Mr Pufendrof) के उस मत का विरोध किया कि राष्ट्रों का सकारात्मक कानून परम्पराओं और सन्धियों पर निर्भर करता है। यह राज्यों की स्वीकृति पर आधारित है और यह प्राकृतिक कानून से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। कुछ लेखकों ने प्राकृतिक कानून के अस्तित्व को भी अस्वीकार किया। इस सम्प्रदाय के विचारकों मे प्रसिद्ध डच न्यायाधीश मि. सी. वी. बिंकर शौक (Mr C V Bynker Shock) का नाम उल्लेखनीय है। ग्रोशियसवादी सम्प्रदाय के समर्थकों ने मध्य की स्थिति अपनाई और बताया कि दोनों प्रकार के कानूनों का समान महत्त्व है।

व्यापक विचार-क्षेत्र—ग्रोशियस के पूर्ववर्ती विचारकों ने अपने विचार-विमर्श को न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण युद्धों के सम्बन्ध में सघर्ष प्रारम्भ होने तक सीमित रखा, किन्तु ग्रोशियस ने सैनिक कार्यवाही और उसके कानूनी परिणामों को शामिल करके वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श के लिए एक नया क्षेत्र खोल दिया। अपनी गहरी दृष्टि, सहिष्णुता और अतीत से लिए उदाहरणों द्वारा उसने युद्ध-कला मे उदारता लाने का तर्क दिया और पराजित राष्ट्र के स्तर एव भाग्य तथा सम्पत्ति के विनाश पर विचार किया। हारे हुए लोगों के धार्मिक विश्वासों की समस्याएँ तथा अन्य इसी प्रकार के प्रश्नों के सम्बन्ध में ग्रोशियस से पूर्व विचार नहीं किया गया था। युद्ध को कम भयानक बनाने के लिए ग्रोशियस ने जो सुझाव प्रस्तुत किए हैं उन्हें वह युद्ध एव शान्ति के नियमों का कोई कानूनी रूप से बाध्यकारी भाग नहीं मानता, किन्तु वह इसे राजनीतिज्ञों और सैनिक कमाण्डरों के लिए अपना व्यक्तिगत परामर्श कहता है। श्रेष्ठ मानवीय प्रकृति की श्रद्धा के रूप मे विचारकों ने ग्रोशियस के ग्रन्थ के इस भाग को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण माना है।

मौलिकता—ग्रोशियस की रचनाओं मे अनेक विषयों पर नए और मौलिक विचार मिलते हैं। उदाहरण के लिए, तटस्थता, समुद्रों की स्वतन्त्रता, सन्धियाँ और कूटनीतिक व्यवहार का नाम लिया जा सकता है। ग्रोशियस के समय तटस्थता का अस्तित्व प्राय सीमित अवस्था मे था। उसके विश्लेषण मे पहली बार तटस्थ राज्य के कानून स्तर, अधिकारों, विशेष अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान होता है। उसके समय की परिस्थितियों को देखते हुए इसमे कोई आश्चर्य नहीं कि युद्धकर्त्ता राज्यों को तटस्थ राज्यों की अपेक्षा अधिक पक्षपात मिला है। जहाँ तक महासमुद्रों का सम्बन्ध है उनके बारे में ग्रोशियस वह पहला लेखक था जिसने विश्व के समुद्रों की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया।

सन्धियाँ सम्बन्धी विचार—सन्धियों के सम्बन्ध मे विचार करते हुए ग्रोशियस ने इनको साधारण समझौतों से भिन्न बताया। उसके मतानुसार सन्धियाँ न केवल कर्त्ता पर लागू होंगी वरन् उसके उत्तराधिकारियों पर भी लागू होंगी। यद्यपि ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों की पवित्रता मे विश्वास किया है किन्तु वह इस पुराने विचार को अस्वीकार नहीं कर सकता कि परिस्थितियों के बदलने पर सन्धियों को अस्वीकार किया जा सकता है। व्यापारिक हितों से युक्त देश का निवासी होने

के कारण ग्रोशियस ने तर्कपूर्ण रूप से यह स्वीकार नहीं किया कि ज्योंही परिस्थितियाँ बदलें सन्धियों को अस्वीकार कर दिया जाए, किन्तु फिर भी वह इस तथ्य से परिचित था कि अगर परिस्थितियों में गम्भीर परिवर्तन आया तो सन्धियाँ टूट जाएँगी। ऐसी स्थिति में उसने एक समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाया और कहा कि जो सन्धियाँ जिन परिस्थितियों में की जाएँ वे उन्हीं परिस्थितियों में लागू होनी चाहिए।

ग्रोशियस का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान कूटनीति के नियमों की दृष्टि से यह था कि उसने कूटनीतिज्ञ को उस देश के क्षेत्राधिकार से अलग माना जहाँ उसको भेजा गया है। अपनी मान्यता को स्पष्ट करने के लिए उसने कूटनीतिक प्रतिनिधियों के विशेष अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का विस्तार के साथ उल्लेख किया।

आलोचना—ग्रोशियस की तर्क प्रणाली और विश्लेषण का मूल्यांकन करते हुए कुछ विचारकों ने इसे अत्यन्त दोषपूर्ण पाया है। उदाहरण के लिए, मि. नसबोम का कहना है कि "ग्रोशियस की तर्क प्रणाली अत्यन्त भारपूर्ण थी और उसने पाण्डित्य का प्रदर्शन आवश्यकता से अधिक किया है। ग्रोशियस की रचनाओं में प्राय सभी उदाहरण प्राचीन साहित्य और इतिहास से लिए गए हैं। इनमें अनेक दकियानूसी और प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त हैं, उदाहरण के लिए, उसने अनेक ग्रामीणों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जनता को अत्याचारी राजा का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं है।" ग्रोशियस के विचार असन्तुलित रूप से अभिव्यक्त हुए हैं।

योगदान—कुछ कमियों के होते हुए भी ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में एक नई दिशा का सूत्रपात किया। ग्रोशियस से पूर्व किसी विचारक ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का समग्र रूप से विश्लेषण नहीं किया है। संसार की प्राय सभी प्रमुख भाषाओं में ग्रोशियस के ग्रन्थ अनुवादित होकर प्रकाशित हुए हैं। ग्रोशियस के विचारों को अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तथा प्रश्नों के समाधान का आधार बनाया गया है। स्टार्क के कथनानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास पर ग्रोशियस का स्थायी प्रभाव पड़ा है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि ग्रोशियस की पुस्तक से अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ। ग्रोशियस के ग्रन्थों की लोकप्रियता का कारण विभिन्न परिस्थितियों को माना जा सकता है। ग्रोशियस इस समय तक इतना विख्यात हो चुका था कि उसके विचारों को विद्वानों में आदर की दृष्टि से देखा जाता था। हॉलैण्ड का निवासी होने के नाते ग्रोशियस के विचार अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर सके। इसके ग्रन्थों में यूनानी और रोमन प्रभाव के कारण धर्म-सुधार के युग में इनको अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। तत्कालीन युद्धों की स्वेच्छाचारिता से लोग मुक्त होने के लिए उत्सुक थे और इसलिए ग्रोशियस के विचारों का व्यापक रूप से प्रसार-प्रचार किया गया। ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानून को सदाचार की कसौटी बनाया और इसलिए उसके विचार पर्याप्त आकर्षक एवं लोकप्रिय प्रतीत हुए।

रिचार्ड जूसे (Richard Zouche, 1590–1660)

रिचार्ड जूसे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में नागरिक कानून का प्राध्यापक और जल-सेना न्यायालय का न्यायाधीश रहा। यह अस्तित्ववादी (Positivist) सम्प्रदाय का प्रमुख विचारक है। कानून के विषय मे इसने कई महत्त्वपूर्ण रचनाएँ कीं। इनमे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रतिपादन भी पर्याप्त विस्तार के साथ किया गया है। सन् 1690 में उसके प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना हुई जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विभिन्न समस्याओं पर विचार किया है। अपने विद्यार्थियों के लिए सकलित इस ग्रंथ मे जूसे ने जस जेन्सियम को अधिक महत्त्व दिया है। इसकी रचना अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रथम परिपत्र कही जाती है। इसमे प्राकृतिक कानून को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार के रूप मे मानने से अस्वीकार नहीं किया गया है किन्तु राज्य के व्यवहारो की परम्पराओं से उत्पन्न कानून को प्राथमिकता दी गई है। कभी-कभी उसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधीशों के अस्तित्ववादी सम्प्रदाय का प्रेरक भी माना जाता है, जिसने केवल राज्यो के व्यवहार को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एकमात्र स्रोत माना। जूसे ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तरीकों मे सुधार किया। उसने शान्ति के कानून और युद्ध के कानून के बीच स्पष्ट विभाजन किया और दोनों मे प्रथम को अधिक महत्त्वपूर्ण बताया। युद्ध को राज्यो के बीच असाधारण सम्बन्ध माना गया। यद्यपि जूसे के ग्रन्थो मे अनेक कमियाँ थीं और उसके द्वारा वर्णित कई बातो को आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे नहीं लिया जाता किन्तु फिर भी इसके विचारो को हम पुरातन और नवीन के बीच की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी मान सकते हैं।

सेमुअल प्यूफेन्डोर्फ (*Samuel Pufendorf, 1632–1694*)

प्यूफेण्डोर्फ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रथम प्राध्यापक था। विचारको मे इस सम्बन्ध में अभी तक मतभेद है कि कानून के विकास मे कितना योगदान रहा, किन्तु यह स्पष्ट है कि वह लेखको के तथाकथित प्रकृतिवादी सम्प्रदाय का प्रतिपादक था। उसने न्यायशास्त्र की अपनी एक नई व्यवस्था का विकास किया और सन् 1660 मे अपनी पुस्तक Two Books on the Elements of Universal Jurisprudence मे इसे प्रकाशित किया। इस रचना मे प्रतिपादित विचारों से वह पर्याप्त लोकप्रिय हो गया। सन् 1670 मे पढाने के लिए वह स्वीडन चला गया जहाँ उसने एक अन्य महत्त्वपूर्ण रचना 'Eight Books on the Law of Nature and of Nations' प्रकाशित की। उसका शेष जीवन इतिहास के अध्ययन में व्यतीत हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मूल तत्त्वो का उल्लेख प्यूफेन्डोर्फ का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान है। उसने ग्रोशियस तथा हॉब्स के प्रति आभार प्रकट करते हुए दोनों के विचारों को मिलाने का प्रयास किया है। वह बलन और सन्धियो के महत्त्व तथा बाध्यकारी शक्ति को अस्वीकार करता है और उन्हें कानून का सच्चा स्रोत नहीं मानता। सामान्य रूप से उसके समय के अधिकांश विचारकों के साथ वह भी प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व मे विश्वास करता है और मानता है कि इस पूर्व राजनीतिक स्थिति मे सभी लोगो पर प्राकृतिक कानून बाध्यकारी था। केवल यही

कानून, न कि राज्य की स्वीकृति, कानूनी रूप से बाध्यकारी सिद्धान्त स्थापित कर सकता है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एकमात्र स्रोत माना जाएगा। प्राकृतिक कानून की धारणा मानवीय व्यवहार के उन मापदण्डों पर जोर देती है जिन्होंने अनुभव और बुद्धि से व्यक्ति को दिखाया है कि व्यक्तिगत और सामाजिक भलाई के लिए क्या चीज आवश्यक है? इस प्रकार प्यूफेन्डोर्फ के मतानुसार प्राकृतिक कानून को समाज में बुद्धि और अनुभव की उपज के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। उसने बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्राकृतिक कानून का एक भाग है। शान्ति की स्थापना युद्ध की अपेक्षा प्राकृतिक कानूनों द्वारा हो सकेगी।

सी वी बिंकरशोक (C V Bynkersbock, 1673–1743)

यह एक डच न्यायाधीश था। इसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न शीर्षकों पर रचनाएँ की हैं। सन् 1724 से अपनी मृत्यु तक वह हॉलैण्ड के सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश बना रहा। इसे प्रतिवादी (Positivist) सम्प्रदाय का मुख्य विचारक माना जाता है। महत्वपूर्ण समुद्री और व्यापारिक व्यवहार के प्रश्नों का बिंकरशोक को विस्तृत ज्ञान था। इस दिशा में लेखकों को प्रेरित करने की दृष्टि से उसका उल्लेखनीय स्थान है। उसने कानून को चलन पर आधारित माना। यह चलन बुद्धि द्वारा नियन्त्रित और स्पष्ट किया जाना चाहिए। उसका मत था कि राज्यों का आलोच्य व्यवहार प्राचीन काल की अपेक्षा चलन का अधिक मूल्यवान प्रमाण है।

बिंकरशोक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मूल आधार राज्यों की सामान्य सहमति में पाता है। यह सहमति चलन या संधियों के रूप में हो सकती है। कानून का स्रोत बुद्धि में है। एक विशेष समस्या के लिए सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक न्यायपूर्ण समाधान पाने के लिए बुद्धि का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार की बुद्धि संधियों में एवं स्थापित परम्पराओं में सहमति प्राप्त कर सकती है। प्राचीन इतिहास के प्रमाणों और उदाहरणों को अपनाने की अपेक्षा उसने राज्यों के आलोच्य व्यवहार को उपयुक्त माना। उसका मत था कि जब चलन बदल जाते हैं तो राष्ट्रों के कानून भी बदल जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में उसका महत्वपूर्ण योगदान तटस्थता के नियमों के क्षेत्र में था। उसने बताया कि एक राष्ट्र के सीमावर्ती प्रादेशिक जल पर उसका नियन्त्रण इतनी दूर तक रहेगा जहाँ तक तोप का गोला जा सकता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया। प्रादेशिक जल की सीमा तीन मील रख दी गई।

ई डी. वैटिल (E D Vattel, 1714–1769)

स्विट्जरलैण्ड का यह निवासी प्रोशियन सम्प्रदाय का मुख्य समर्थक था। अपने वयस्क जीवन के अधिकांश वर्ष उसने कूटनीतिज्ञ के रूप में बिताए। बाद में एक प्रिवी काउंसिलर के रूप में वह विदेश कार्यालय का अधीक्षक बन गया। उसकी प्रमुख रचना अन्तर्राष्ट्रीय कानून या राष्ट्रों और सम्प्रदायों के कार्य तथा आचरण पर लागू होने वाले प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त हैं। ये राजनीतिज्ञों के लिए व्यावहारिक निर्देश हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में यह यूरोप का एक मारक सन्दर्भ ग्रंथ बन गया।

आज भी कुछ अवसरों पर इसे उद्धृत किया जाता है। प्रो जी.वी. ग्लान का मत है कि ग्रोशियस के महत्त्वपूर्ण योगदान के बावजूद भी किसी एक लेखक ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के कानूनी क्षेत्र में आचरण करने वाले लोगों पर इतना महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं डाला जितना मि. वेटिल द्वारा डाला गया। वेटिल को राज्यों की समानता के सिद्धान्त का जन्मदाता कहा जाता है। प्रो ब्रायर्ली के शब्दों में इसकी कल्पनाओं से निकाला गया गलत निष्कर्ष था। इसकी रचना में राज्यों की सम्प्रभु स्वतन्त्रता पर निरन्तर अतिशयोक्तियाँ की गई हैं।

मान्यताएँ—वेटिल के लेखों को आज भुला दिया गया है। आधुनिक कानूनी इतिहासकारों ने इसकी कटु आलोचना की है क्योंकि उसने प्राकृतिक कानून का विरोध किया था। उसने प्राकृतिक कानून के महत्त्व को घटाया किन्तु इच्छापूर्ण कानून के सम्बन्ध में कोई प्रभावशाली स्पष्टीकरण नहीं दिया है। विभिन्न राज्य इच्छापूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन करने के लिए क्यों बाध्य होते हैं? इसका कारण नहीं दिया गया है और इसलिए उसकी रचनाओं में अनेक गलत विरोधाभास उत्पन्न हो गए हैं।

वेटिल का मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपने जन्म की दृष्टि से राष्ट्रों पर लागू किया जाने वाला स्वाभाविक कानून है, इसमें परिवर्तन नहीं होते। इसके विरुद्ध जो सन्धियाँ या रीति रिवाज हैं वे गैर-कानूनी हैं। वेटिल ने कहा कि प्राकृतिक कानून प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्रता प्रदान करता है, फलतः प्रत्येक राज्य अपने कार्यों का स्वयं निर्धारण करता है। वह प्राकृतिक कानून के व्यवहार के लिए स्वयं की अन्तरात्मा के प्रति उत्तरदायी है। दूसरे राज्य एक राज्य के आचरण को सुधारने के लिए प्रार्थना कर सकते हैं। यह माँग वेटिल के मतानुसार राष्ट्रों का इच्छापूर्ण कानून है, इसमें राज्यों की स्वीकृति महत्त्वपूर्ण है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक सम्प्रभु राज्य को अपने आचरण के लिए आवश्यक कानून बनाने चाहिए और दूसरे राष्ट्रों को इच्छापूर्ण कानून का लाभ उठाने की अनुमति देनी चाहिए। राज्यों की स्वतन्त्रता पर वेटिल ने इतना अधिक जोर देकर प्राकृतिक कानून के महत्त्व को घटा दिया है जिसे ग्रोशियस ने राज्यों के आपसी व्यवहार में स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध एक कानूनी बाधा मानी थी।

वेटिल ने इच्छापूर्ण कानून के लिए कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया, इसका पालन करने के लिए राज्यों की बाध्यता का स्रोत स्पष्ट करने में भी वह असमर्थ रहा। इस असन्तोषजनक विभाजन का परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण रहा, उदाहरण के लिए वेटिल ने कहा कि आवश्यक कानून द्वारा राज्य को यह कर्त्तव्य सौंपा गया है कि वाणिज्य की स्वतन्त्रता की रक्षा करें क्योंकि ऐसा करना मानव जाति के लिए लाभकारी है, किन्तु इच्छापूर्ण कानून द्वारा यह ऐसे प्रतिबन्ध लगा सकता है जो इसकी सुविधा के अनुकूल हो। इस प्रकार राज्य के स्वयं के प्रति कर्त्तव्य उसके दूसरों के प्रति कर्त्तव्यों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। अनिवार्य कानून के अनुसार युद्ध के तीन कानूनी कारण हो सकते हैं—आत्म-रक्षा, अपराधों का

दण्ड और न्याय की स्थापना। लेकिन इच्छापूर्ण कानून की दृष्टि से हमें यह मानना चाहिए कि प्रत्येक पक्ष युद्ध छेड़ने के लिए कानूनी कारण रखता है। राज्यों के इच्छापूर्ण कानून के पचनिर्णय के समक्ष यही काफी है कि राज्यों ने युद्ध छेड़ते समय पर्याप्त बुद्धिमानी से काम लिया।

योगदान—कुछ दृष्टियों से वैटिल की व्यवस्था अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा प्रगति की सूचक थी। उसने युद्ध के अधिकारों के सम्बन्ध में मानवतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाने का पक्ष लिया। उसने सरकार की प्रकृति के पैतृक सिद्धान्त को अस्वीकार किया जिसे ग्रोशियस ने मान्यता दी थी। उसका मत था कि राज्य पैतृक न तो है और न हो सकता है क्योंकि पैतृकता हमेशा स्वामी के हित के लिए होती है जबकि राजा केवल राज्य के हित के लिए नियुक्त किया जाता है। वैटिल ने माना कि कुछ परिस्थितियों में एक राष्ट्र का अधिकार उसे दूसरे राज्यों से पृथक् करने के लिए अनिवार्य है। इस सिद्धान्त ने संयुक्तराज्य अमेरिका में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की। वैटिल का प्रभाव ही उसकी सफलता का प्रतीक है। ग्रोशियस और वैटिल की तुलना करते हुए प्रो ब्रायर्ली ने लिखा है कि—"ग्रोशियस ने पूर्णतावाद का अन्तर्राष्ट्रीय कानून लिखा और वैटिल ने राजनीतिक स्वतन्त्रता का कानून लिखा है।"

दोष—वैटिल के योगदान का पर्याप्त महत्त्व होने हुए भी उसमें अनेक सैद्धान्तिक कमजोरियाँ पाई जाती हैं। आजकल कानूनी व्यक्तिवाद का सिद्धान्त महत्त्वहीन बन चुका है और इसलिए वैटिल के प्रभाव का अस्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं है। यदि इनको अपनाया गया तो ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए खतरनाक सिद्ध होंगे। जब वैटिल ने बताया कि राज्य एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं और यह स्वतन्त्रता उनकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता है तो इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि उनमें सामाजिक बन्धन का अस्तित्व क्यों है और वे कानून का पालन क्यों करें? सच तो यह है कि उनकी स्वतन्त्रता जितनी स्वाभाविक है उतनी ही स्वाभाविक उनकी परस्पर निर्भरता भी है। ये दोनों ऐसे तथ्य हैं जिनके अस्तित्व को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कोई भी सिद्धान्त गलत सिद्ध नहीं कर सकता। यह सच है कि वैटिल के समय में राज्यों की परस्पर निर्भरता इतनी स्पष्ट नहीं थी जितनी आज है। आज्ञाकारिता ने उपयुक्त सिद्धान्त और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपयुक्त बन्धन के अभाव में वैटिल के सिद्धान्त ने अधिक हानि की जिसकी पूर्ति अभी तक नहीं की जा सकी है।

जे. जे. मोसर (J. J. Moser, 1701-1785)

बिंकरशोक के अतिरिक्त अस्तित्ववादी (Positivist) सम्प्रदाय के जन्मदाताओं में मोसर का नाम भी उल्लेखनीय है। उसने निषेधात्मक रूप से अस्तित्ववादी सम्प्रदाय को सहयोग दिया। उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति प्राचीन दृष्टिकोण के विरुद्ध जोरदार आक्रमण किया। उसकी प्रमुख रचना नवीन यूरोपीय अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर निबन्ध आठ पुस्तकों में प्रकाशित हुई। इसमें प्राकृतिक कानून सम्प्रदाय की कटु आलोचना की गई। उसकी आलोचना का मुख्य आधार यह था कि इस कानून के

समर्थक मौलिक सिद्धान्तों के बारे मे एकमत नहीं हो सके हैं। इसके अतिरिक्त दुनियाँ के राजाओं ने भी इसे कोई महत्त्व नहीं दिया है। प्राकृतिक कानून के स्थान पर मोसर ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तो का मुख्य आधार सन्धियो को माना है। इसका दूसरा प्रमुख स्रोत वे अनेक परम्पराएँ हैं जो कानूनी रूप से बाध्यकारी प्रकृति प्राप्त कर चुकी हैं। उसका दृष्टिकोण शीघ्र हो 19वीं और 20वीं शताब्दी के लेखको का एक मुख्य दृष्टिकोण बन गया। न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के अनुच्छेद 38 मे इसे स्वीकार कर लिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तीन सम्प्रदाय
(Three Schools of International Law)

ग्रोशियस के बाद जिन विचारको का हमने अध्ययन किया वे मूलतः तीन सम्प्रदायो का प्रतिनिधित्व करते हैं। विचारको के सम्बन्ध में व्यक्तिगत रूप से अध्ययन करने के बाद यह जरूरी बन जाता है कि इन तीनो सम्प्रदायो की मान्यताओं और उनके आधारभूत अन्तरो का अध्ययन किया जाए। इनमे पहला सम्प्रदाय प्राकृतिक कानून को प्रमुखता देने के कारण प्रकृतिवादी कहलाया। दूसरे सम्प्रदाय ने राष्ट्रों के वास्तविक आचरण को अधिक महत्त्व दिया और बताया कि राज्यो के बीच व्यवहार की परम्पराएँ ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य आधार है। निश्चित कानून की सत्ता मे विश्वास रखने के कारण यह सम्प्रदाय अस्तिवादी कहा गया। तीसरा सम्प्रदाय उक्त दोनो सम्प्रदायो की मध्य स्थिति रखता है। यह ग्रोशियस का समर्थक होने के कारण ग्रोशियसवादी सम्प्रदाय कहलाया। इन तीनो सम्प्रदायो की प्रमुख मान्यताएँ निम्न प्रकार हैं—

(1) प्रकृतिवादी सम्प्रदाय (Naturalists School)

इस सम्प्रदाय के विचारक अन्तर्राष्ट्रीय कानून को प्राकृतिक कानून का अङ्ग मानते हैं। प्राकृतिक कानून की विशद् व्याख्या हॉब्स की रचना लेवियाथान मे की गई है। मध्यकालीन विचारकों ने प्राकृतिक कानून को ईश्वरीय कानून माना है। प्रो प्यूफेन्डोर्फ ने प्राकृतिक कानूनों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में लागू कर दिया इस सिद्धान्त के समर्थको के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का निर्धारण रीति-रिवाज अथवा सन्धियो द्वारा नही किया जा सकता वरन् बुद्धि के प्रयोग द्वारा किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एकमात्र स्रोत प्राकृतिक कानून है।

(2) अस्तिवादी सम्प्रदाय (Positivist School)

प्रकृतिवादियो के विपरीत अस्तिवादियो ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पृथक् से अस्तित्व माना है। इसे केवल प्राकृतिक कानून का अङ्गमात्र नही कहा है। इनके मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून रीति-रिवाजो और सन्धियो के आधार पर बनता है और प्राकृतिक कानून से श्रेष्ठ है। रिचार्ड जूमे ने सन् 1647 मे इस सम्प्रदाय का श्रीगणेश किया। इन्होने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का लक्षण अधिकांश सभ्य राष्ट्रो द्वारा स्वीकृत ऐसी प्रथाओं को माना जो बुद्धि के अनुकूल है। न्यायाधीश बिंकरशोक ने इस मत का समर्थन किया और प्राकृतिक कानून के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून

का स्रोत बुद्धि और प्रथाओं को माना। इसका कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून विभिन्न राज्यों द्वारा स्वेच्छापूर्वक किए गए समझौतों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

(3) ग्रोशियन सम्प्रदाय (Grotian School)

इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने दोनों मतों के बीच सामञ्जस्य स्थापित किया। इसके मतानुसार कानून दो प्रकार का होता है—प्राकृतिक कानून और राज्यों की इच्छा पर आधारित प्रथाओं और सन्धियों के रूप में स्वीकृत कानून। जर्मनी के दार्शनिक उल्फ और मि. वैटिल को इस सम्प्रदाय का प्रमुख समर्थक माना जाता है। इनका कहना था कि जिस प्रकार सभी मनुष्य समान होते हैं उसी प्रकार समस्त राज्य भी समान होते हैं। राज्यों के आकार अथवा उनकी शक्ति के आधार पर अन्तर नहीं किया जाना चाहिए। सभी राज्य समान रूप से सम्प्रभु हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कई भेद हैं—आवश्यक या प्राकृतिक कानून, राष्ट्रों का ऐच्छिक कानून और अभिसमयात्मक कानून। इस विचारधारा में वर्णित मत ने प्रत्येक राज्य की स्वाधीनता का और प्रभुसत्ता के सिद्धान्तों का समर्थन किया। वैटिल तथा ग्रोशियस दोनों के उद्देश्य अलग-अलग थे। प्रथम ने राजनीतिक स्वतन्त्रता की सराहना की जबकि द्वितीय ने निरंकुश सत्ता का समर्थन किया।

सन् 1815 के बाद अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रगति
(Progress of International Law Since 1815)

संस्थापक लेखकों के बाद अनेक कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने भारी प्रगति की। इस दृष्टि से प्रो ओपेनहीम ने तीन कारणों को उल्लेखनीय माना है—(1) वियना कांग्रेस के बाद अधिकांश राज्य कानून के नियमों के अधीन रहने के लिए तैयार हो गए। (2) पिछले 150 वर्षों में अनेक कानून निर्माता सन्धियाँ की गईं। (3) प्राकृतिक कानून की अपेक्षा अस्तिवाद का प्रभाव बढ़ गया। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रकृतिवादी (Naturalists), अस्तिवादी (Positivists) और ग्रोशियसवादी (Grotians) तीनों ही सम्प्रदाय कायम थे किन्तु धीरे-धीरे अस्तिवादियों का प्रभाव बढ़ता गया और अन्त में ये विजयी हुए। यद्यपि अनेक लेखकों ने राष्ट्रों के प्राकृतिक कानून के सम्बन्ध में लिखा किन्तु 19वीं शताब्दी के अन्त और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अस्तिवादी प्रभाव बढ़ गया। अब यह समझा जाने लगा कि केवल राष्ट्रों की इच्छा ही कानून का स्रोत है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजनीतिक तत्त्वों के आगमन और प्राकृतिक कानून के महत्त्वहीन होने से अस्तिवादियों का विकास हुआ। राष्ट्रवाद की भावना ने एक के बाद एक राज्य को शक्ति की राजनीति में उलझा दिया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धारणा मुख्यतः नैतिक आधारों पर आश्रित रही। अनेक अस्तिवादियों ने मानव-निर्मित कानून से उच्चतर व्यवस्था के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया किन्तु स्पष्ट रूप से यह कहा कि इस व्यवस्था का राज्यों के आपसी सम्बन्धों के कानूनी पहलुओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद दृष्टिकोण में स्पष्ट रूप से परिवर्तन आया और न्यायिक विचारों की प्रवृत्ति परम्परागत अस्तिवादी दर्शन के कठोर अनुशासन से हट गई। यह कहा जाता है कि विशुद्ध अस्तिवाद अब समाप्त हो चुका है और उसके स्थान पर पुराने ग्रोशियन सम्प्रदाय से मिलता हुआ दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा है।

अस्तिवादियों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बहुत कुछ बदल दिया। उन्होंने वास्तविकता का बलिदान करके जिन सिद्धान्तों को अपनाया उसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवहार की माँगें अपर्याप्त सिद्ध हुईं। दूसरी ओर यह भी सच है कि नैतिक सिद्धान्त और आचार-शास्त्र आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बहुत कम योगदान करता है और अधिकांश व्यवहार रीति-रिवाजों तथा सन्धियों के माध्यम से संचालित होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यदि आज की परिस्थिति में देखा जाए तो ज्ञात होगा कि शक्ति राजनीति के इस युग में भी इसका क्षेत्र पर्याप्त बढ़ गया है। प्रो कैलमन ने अस्तिवादियों के नए सम्प्रदाय को जन्म दिया। इस सम्प्रदाय ने प्राकृतिक कानून और अस्तिवादी कानून के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचकर कानून का विशुद्ध विज्ञान निर्मित किया।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में मूल मान्यता यह थी कि रीति-रिवाज के पीछे रचनात्मक शक्ति रहती है जो कानून के शासन को बाध्यकारी बनाती है। इसके बाद सन्धियों का नाम आता है। ये अपनी बाध्यकारी शक्ति परम्परागत कानून से ग्रहण करती हैं। इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों द्वारा बनाए गए नियम आते हैं। दूसरे एकलवादी विचारक उदाहरण के लिए मि वेरड्रोस का कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रमुखता का होना आवश्यक है, इसके बिना कोई भी एकीकृत कानूनी व्यवस्था कायम नहीं रह सकती। इससे भिन्न कुछ विचारकों ने यह मत व्यक्त किया है कि कानूनी सिद्धान्तों की रचना में सामाजिक पहलुओं का महत्वपूर्ण स्थान है। मि शैल और डुग्वी जैसे विचारकों का कहना था कि कानून स्वभावत: सामाजिक संगठन और समाज की परम्पराओं से उदित होता है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक प्रकृतिवादी यह विश्वास करते हैं कि कानूनी सिद्धान्त औचित्य और न्यायपूर्णता के अतिरिक्त कुछ आकस्मिक कार्यों या घटनाओं के तार्किक परिणाम होते हैं। इस प्रकार सम्प्रभुता को कानून का कारण नहीं माना गया वरन् इसके स्थान पर सामाजिक एकरूपता और वास्तविक समाज की समस्याओं को आकस्मिक तत्त्व माना गया।

सन् 1933 के प्रारम्भ में न्यायाधीश ए एलवरेज (A Albarez) ने लोगों के मनोविज्ञान पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय कानून की पुन रचना का समर्थन किया। इसी के आधार पर दार्शनिक-मनोविज्ञान सिद्धान्त विकसित हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित सिद्धान्त जब बदलते हैं तो उनके साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप भी बदल जाता है तथा उसके सिद्धान्त बदल जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून बहुत समय तक संक्रमण की स्थिति में रहा, अनेक सन्धियों द्वारा नए सिद्धान्त जोड़े गए। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर, 1949 के बाद जेनेवा अभिसमय और स्वीकृत नियमों की व्याख्याओं ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कलेवर

को बढ़ाया है। इन कानूनो को संहितावद्ध करने के लिए सरकारी और गैर-सरकारी निकायो द्वारा अनेक अनुसधान किए जा रहे हैं।

जो नियम आज से 30 साल पहले सामान्य रूप से स्वीकार किए जाते थे, उनको अब चुनौती दी जाती है। विशेषतः यूरोप और एशिया के साम्यवादी देशो ने उनको चुनौती दी है। साम्यवादी ससार मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को नए रूप मे पारभाषित किया गया। सोवियत सघ मे इस दृष्टि से अपनाया गया विचार समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है। स्टालिन की मृत्यु के बाद इसमे गम्भीर परिवर्तन आए हैं। सोवियत कानूनी विचार का मूल आधार राष्ट्रीय सम्प्रभुता का सिद्धान्त है। इसमे दूसरे राज्यो के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने की बात कही गई है। सोवियत सघ का हस्तक्षेप का सिद्धान्त उसकी दोहरी नीति का प्रतीक है क्योंकि एक ओर तो वह क्रान्तिकारी के रूप मे ससार में साम्यवाद की स्थापना का इच्छुक है, किन्तु दूसरी ओर राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार किसी राष्ट्र के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो को तीन भागो मे विभाजित किया—(1) वे नियम जो समाजवादी या साम्यवादी देशों के आपसी व्यवहार पर लागू होंगे, (2) वे नियम जो गैर-साम्यवादी अर्थात् पूँजीवादी देशो के साथ सम्बन्धों पर लागू किए जाएँगे, और (3) वे नियम जो समाजवादी और पूँजीवादी देशो के आपसी सम्बन्धों का नियमन करेंगे। इनमे अन्तिम वर्ग के नियमो पर स्वीकृति और सम्प्रभुता की शर्तें लागू होती है। एक ही कार्य का इन तीनो स्थितियो मे सोवियत विचारक भिन्न दृष्टियो से देखेंगे और अलग-अलग रूप से उसकी परिभाषा करेंगे। साम्यवादी देशो ने सामान्य विश्वास के विपरीत परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकाँश नियमो को और दूसरे राज्यो एव अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के साथ किए गए समझौतो को नए रूप मे परिभाषित किया है। सोवियत रूस द्वारा स्वीकार किए गए और पालन किए गए कानूनो का आधार मुख्यतः साम्यवादी और गैर-साम्यवादी देशो के मध्य स्थित सहअस्तित्व की भावना है। असलग्न और लेटिन अमेरिकी देशों मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रचार ऐसे-ऐसे नारो के साथ किया जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून से लिए गए हैं। उदाहरण के लिए, आत्म-निर्णय, अहस्तक्षेप और समानता आदि।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे इन परिवर्तनो और चुनौतियो के रहते हुए इसके नियम तथा सिद्धान्त स्थायी प्रकृति के नही हो सकते। अनेक बार एक अभिसमयात्मक नियम असामयिक या अपर्याप्त बन जाता है, उदाहरण के लिए, युद्ध सम्बन्धी नियमों का उल्लेख किया जा सकता है। कुछ राज्यो की आपसी क्रियाओ मे पर्याप्त रिक्त स्थानों का जन्म हो जाता है। शान्ति और युद्ध के समय आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उल्लेखित किए जा सकते हैं। बदली हुई परिस्थितियों मे अन्तर्राष्ट्रीय कार्य के नए क्षेत्र विकसित होने की सम्भावना है। यह आशा की जाती है कि समय, बुद्धि और सद्भावना मिलकर नियमो का एक ऐसा निकाय निर्मित

करेंगे जो सुविधा, न्याय और शान्ति की दृष्टि से उपयुक्त माने जा सकें। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सन्धियों, सम्मेलनों और समझौतों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

1. वियना कांग्रेस (Vienna Congress)—सितम्बर, 1814 से जून, 1815 तक वियना कांग्रेस की बैठक हुई। इसमें कानून-निर्माता निकाय के योगदान पर विचार किया गया। स्वीडन और नार्वे तथा हॉलैण्ड और बेल्जियम का संघ बनाकर नए राज्यों की रचना की गई। इसमें नेपोलियन द्वारा विभिन्न जर्मन राज्यों के एकीकरण को स्वीकार किया गया और 39 सदस्यों का एक ढीला-ढाला संघ बनाया गया। 30 मार्च, 1814 को प्रमुख शक्तियों ने पेरिस की सन्धि की घोषणा की। इसमें यह बताया गया कि यूरोप के उपद्रवों को समाप्त करने के लिए और स्थाई शान्ति द्वारा लोगों के दुःखों को दूर करने के लिए विभिन्न शक्तियों का न्यायपूर्ण विभाजन कर दिया जाए और इसके स्थायित्व की गारण्टी दी जाए। इस घोषणा का उद्देश्य उन प्रतिक्रियावादी सिद्धान्तों ने पीछे रख दिया जो वियना कांग्रेस में पर्याप्त प्रभावपूर्ण थे।

वियना की सन्धि रूस, प्रशा और आस्ट्रिया की तीन महाशक्तियों द्वारा स्वीकार की गई। ये जार अलेक्जेण्डर की पहल पर कार्य कर रही थी। जार का नाम एक शताब्दी से भी अधिक समय के लिए तानाशाही शक्तियों के रूप में लिया गया। जार द्वारा प्रस्तवित सन्धि (The Holy Alliance) केवल सम्प्रभुओं का व्यक्तिगत संघ था जिसका उद्देश्य ईसाई नैतिकता के सिद्धान्तों को अपने घरेलू कार्यों के प्रशासन में तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में लागू करना था। अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति के कारण ही अधिकांश यूरोपीय राज्यों ने इस सन्धि को स्वीकार किया। ग्रेट ब्रिटेन सन्धि की प्रकृति के कारण इसमें शामिल न हुआ।

19वीं शताब्दी में शक्ति सन्तुलन की स्थापना प्रमुख शक्तियों की निर्धारित नीति बनी रही। अनुत्तरदायी राजाओं के स्थान पर सांविधानिक सरकारों की स्थापना होने से शक्ति संतुलन एक पूर्ण सिद्धान्त बन गया। इसकी स्थापना के लिए सन्धियों के विरुद्ध सन्धियाँ की जाने लगी। युद्ध को राष्ट्र की नीति का साधन स्वीकार किया गया किन्तु केवल आत्म-रक्षा के लिए लड़े जाने वाले युद्ध को उपयुक्त माना गया। आत्म-रक्षा का उद्देश्य इतना अस्पष्ट है कि इसके आधार पर सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि दूसरे के आक्रमण की आशंका के विरुद्ध आक्रमण कर देना भी आत्म-रक्षा ही माना जाएगा।

सन् 1853 में शक्ति संतुलन बिगड़ गया जबकि रूस ने टर्की पर आक्रमण कर दिया और ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि आटोमन साम्राज्य की रक्षा के लिए सामने आए। टर्की को सन् 1856 के पेरिस शान्ति सम्मेलन में औपचारिक रूप से राष्ट्रों के समाज का सदस्य मान लिया गया। सन् 1877 में रूस ने टर्की को पुनः हराकर शक्ति सन्तुलन को बिगाड़ दिया। केन्द्रीय और पश्चिमी यूरोप के राजनीतिक सन्तुलन में भी पुनः समायोजन की आवश्यकता थी। सन् 1870 में जब इटली का एकीकरण

हुआ तो यह एक नई शक्ति बन गई। वियना काँग्रेस में बना जर्मनी का संघ सन् 1866 में टूट गया और उत्तरी जर्मनी के राज्यों ने प्रशा के नेतृत्व में अलग से एक संघ बनाया। शक्ति-सन्तुलन के बदलने पर पुनः सन्धियाँ और प्रति-सन्धियाँ की गईं।

2 आर्थिक और सामाजिक हितों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास (The Development of International Law by Economic and Social Interests)—विभिन्न राजनीतिक सम्मेलनों के अतिरिक्त समय-समय पर सामाजिक और आर्थिक हितों के लिए भी अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए। विशेष हितों के स्थाई प्रशासन के लिए विशेष संघ बनाए गए। अन्तर्राष्ट्रीय जन-स्वास्थ्य, जन-नैतिकता और जन सुरक्षा की समस्याओं पर रचनात्मक रूप से विचार करने के लिए इस प्रकार की व्यवस्था की गई, जैसे—राष्ट्रों का एक सच्चा अन्तर्राष्ट्रीय समाज बन चुका हो। विभिन्न देशों के राजनीतिज्ञों और जन-नेताओं ने कानून और व्यवस्था की दुनिया का स्वप्न देखना प्रारम्भ किया जिसका आधार सम्प्रभु तथा स्वतन्त्र राज्यों की इच्छा पर आधारित सहयोग था। इसके फलस्वरूप सामान्य हितों की धारणा विकसित हुई।

3 हेग सम्मेलन (The Hague Conference)—20वीं शताब्दी का यह एक विरोधाभास था कि इसमें अस्थायी राजनीतिक रूप-रचना के कारण युद्ध अपरिहार्य बन गए किन्तु दूसरी ओर राज्यों के आर्थिक और सामाजिक हित अधिक से अधिक स्पष्ट बनते जा रहे थे। 18 मई, 1899 को रूस के जार के निमन्त्रण पर पहला हेग सम्मेलन आयोजित किया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य हथियारों पर सामान्य सीमा लगाना था। सम्मेलन के सभी सदस्यों का मत था कि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की स्थापना जरूरी है। इस सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने के लिए शान्तिपूर्ण समझौतों और पंच फैसले की बात कही गई और युद्ध के आचरण को नियमित बनाने की सिफारिशें की गईं। पंच फैसले को ऐसे विवादों के सुलझाने का सर्वाधिक प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण साधन माना गया जिन्हें सुलझाने में कूटनीति असमर्थ हो गई है। यह सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय समाज की राजनीतिक रचना को रूप देने में असमर्थ रहा।

सन् 1907 में दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सम्मेलन हुआ। इसमें लेटिन अमेरिकी राज्यों द्वारा भी प्रतिनिधि भेजे गए और प्रतिनिधि राज्यों की संख्या बढ़ गई, कानून निर्मात्री निकाय के रूप में दूसरा सम्मेलन प्रथम से अधिक भिन्न नहीं था। किन्तु इसमें अपनाए गए अभिसमयों की संख्या और क्षेत्र प्रथम से पूर्णतः भिन्न थे। पंच निर्णय और जाँच की प्रक्रिया में सुधार किया गया किन्तु पंच-निर्णय को बाध्यकारी नहीं बनाया जा सका।

4. राष्ट्रसंघ का घोषणा-पत्र (Covenant of League of Nations)—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों और जर्मनी के बीच वर्साय सन्धि हुई। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक परिवर्तनों को शामिल किया गया। सन्धि द्वारा स्थापित राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र का महत्त्व दो दृष्टियों से है—(1) इसने राष्ट्रों के समाज को

मगठन मे परिवर्तन किया, और (2) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मूल तथा प्रक्रिया सम्बन्धी भाग मे परिवर्तन किए। राष्ट्रसघ द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और प्रादेशिक सम्प्रभुता के सम्बन्ध मे सशर्त गारण्टियाँ दी गईं। पिछड़े हुए तथा अर्द्ध-विकसित देशो के प्रशासन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रावधान रखे गए। विवादो के निपटारो के लिए अनिवार्य पच-निर्णय की स्थापना की गई। स्थाई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना के लिए प्रावधान रखा गया। राष्ट्रसघ के घोषणा पत्र के अतिरिक्त दूसरे प्रावधान भी रखे गए ताकि राष्ट्रो के समाज को बदला जा सके।

राष्ट्रसघ की स्थापना के बाद 16 दिसम्बर, 1920 को न्याय के स्थाई न्यायालय की स्थापना हुई और इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र बढ गया। पहले जिन प्रश्नो को राजनीतिक समझा जाता था उनको अब लीग के क्षेत्र मे शामिल किया जाने लगा। लीग के सदस्यो ने अपने अनेक सम्प्रभु अधिकारो को छोड दिया ताकि अपने मामले मे स्वय न्यायाधीश बन सकें। अपने दावो को लागू करने के लिए युद्ध छेड़ने का अधिकार अब घटा दिया गया। लीग के व्यक्तिगत सदस्य आत्मरक्षा के लिए अब केवल अपने अधिकारो पर निर्भर नही रहे, वरन् सुरक्षा के लिए सामूहिक प्रयास अपनाए जाने लगे। सामूहिक सुरक्षा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन गई। सन् 1925 के लोकार्नो समझौते ने सघ के घोषणा-पत्र को आगे बढाया। इसमे हस्ताक्षरकर्त्ता राज्यों ने आक्रमण न करने और विवादपूर्ण दावों को शान्तिपूर्वक सुलझाने का निर्णय लिया। परन्तु सन् 1936 मे जर्मनी ने इस समझौते का पालन करने से इन्कार कर दिया।

सन् 1928 मे केलाग-ब्रियाँ पैक्ट, जिसे पेरिस पैक्ट भी कहते हैं, हुआ जिसके द्वारा सम्बन्धित राष्ट्रो ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवाद. जो शान्तिपूर्ण ढग से निपटाने मे अपना विश्वास प्रकट किया और इस प्रकार के विवादो या झगडो के लिए युद्ध का राष्ट्रीय नीति के रूप मे परित्याग कर दिया। 'युद्ध के विधिव नियन्त्रण' के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण सन्धि थी। सन् 1929 मे जेनेवा प्रतिज्ञा (Geneva Convention, 1929) सामने आई। विश्व के 47 देशो ने जेनेवा कन्वेन्शन पर हस्ताक्षर किए। इस सन्धि मे युद्धबन्दियों के व्यवहार सम्बन्धी अनेक नियमो को स्वीकार किया गया। इस सन्धि मे युद्धबन्दियो के विरुद्ध बलपूर्वक प्रतिकार, अमानवीय व्यवहार और सामूहिक दण्ड को वर्जित कर दिया गया। युद्ध-बन्दियों को स्वास्थ्य सम्बन्धी तथा कुछ अन्य सुविधाएँ प्रदान करने के सम्बन्ध मे नियम बनाए गए।

सन् 1931 मे मचूरिया पर जापान के आक्रमण के साथ राष्ट्रसघ की व्यवस्था को धक्का लगा। इतने पर भी सघ के अधिकांश सदस्य आक्रमणकारियों के विरुद्ध कार्यवाही करने में असमर्थ थे। सन् 1938 मे आस्ट्रिया पर जर्मनी का आक्रमण हुआ और इसे 'रीक' मे मिला लिया गया। राष्ट्रसघ के प्रावधान और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्था द्वितीय महायुद्ध को होने से नहीं रोक सकी।

द्वितीय महायुद्ध और संयुक्त राष्ट्रसघ की स्थापना—14 अगस्त, 1941

को अटलांटिक चार्टर की घोषणा की गई जिसमे ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्तराज्य अमेरिका कुछ सामान्य सिद्धान्तो पर सहमत हो गए जो उनके मतानुसार जर्मनी की नाज़ी शक्ति के पतन के बाद शान्ति के स्थाई आधार बन सकते थे। द्वितीय महायुद्ध के बाद अटलांटिक चार्टर के सिद्धान्तो को संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र मे शामिल कर लिया गया। अक्टूबर, 1943 मे सोवियत रूस, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश मन्त्रियो ने मास्को मे एक बैठक की और अनेक प्रकार की घोषणाएँ कीं जिनमे पहली घोषणा यह थी कि ऐसा सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध यथासम्भव शीघ्र स्थापित किया जाए जो सभी शान्तिप्रिय देशो की समानता और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तो पर आधारित हो तथा शान्ति की सुरक्षा बनाए रखने के लिए सभी छोटे-बड़े देशो को इसमें सदस्यता दी जाए। सान फ्रांसिस्को के सम्मेलन मे 26 जून, 1945 को संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के मूल प्रस्तावो को स्वीकार कर लिया गया और 24 अक्टूबर, 1945 को विधिवत् संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। चार्टर मे न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से सम्बन्धित संविधियाँ भी शामिल की गईं और इनको चार्टर का आवश्यक भाग माना गया। सन् 1946 मे अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के निर्णय के लिए *न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय* (International Court of Justice) बनाया गया। सन् 1948 मे मानवीय अधिकारो का 'सार्वभौम घोषणा-पत्र' तैयार किया गया और जातिवध (Genocide), शरणार्थियो आदि के सम्बन्ध मे अनेक समझौते किए गए। संयुक्त राष्ट्रसंघ का अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) भी बना। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने कई अभिसमयो और सन्धियो के प्रारूप तैयार किए जिन्हें राज्यों ने हस्ताक्षर तथा अनुसमर्थन करके स्वीकार किया। इस प्रकार विधि आयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्रमिक विकास और संहिताकरण मे योग दिया गया। ऐसी सन्धियो और अभिसमयों मे कुछ प्रमुख ये हैं—

(क) समुद्र कानून के जेनेवा अभिसमय, 1918 (Geneva Conventions on the Law of Sea, 1918)

(ख) राजनयिक सम्बन्धों पर वियना अभिसमय, 1961 (Viena Conventions on Diplomatic Relations, 1961)

(ग) सन्धियों के कानून पर वियना अभिसमय, 1969 (Viena Conventions on the Law of Treaties, 1969)

स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक 'गत्यात्मक धारणा' (Dynamic Concept) है जिसका निरन्तर विकास हुआ है। विभिन्न समझौतों और सन्धियो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नए क्षेत्र पनप रहे हैं और नवीन राजनीतिक परिस्थितियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून की पुरानी और परम्परागत पद्धति में परिवर्तन ला रही हैं। सन् 1972 मे स्टाक होम मे 'मानवीय पर्यावरण' (Human Environment) पर हुए सम्मेलनो मे एक महत्त्वपूर्ण घोषणा-पत्र तैयार किया गया और संयुक्त राष्ट्र संघ के पर्यावरण कार्यक्रम (United Nations Environment Programme–

UNEP) को क्रियान्वित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाया गया। इसी प्रकार अगस्त, 1975 में बुखारेस्ट में संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व जनसंख्या सम्मेलन द्वारा विश्व की बढ़ती आबादी को रोकने के लिए एक योजना (Action Plan) बनाई गई। मई-जून, 1977 में मानवीय बस्तियों पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मेलन (*United Nations Conference on Human Settlement*) ने एक महत्त्वपूर्ण घोषणा स्वीकार की। इन विभिन्न सम्मेलनों में किए गए विभिन्न समझौतों और घोषणा-पत्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में निरन्तर नवीन विस्तार और विकास हो रहा है। परमाणु शक्ति के आविष्कार और परमाणु अस्त्रों के उत्पादन तथा प्रसार ने विश्व व्यवस्था को क्रान्तिकारी रूप में प्रभावित किया है और जहाँ एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की अन्त:निर्भरता को आवश्यक ठहराया है, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की सम्भावनाओं को भी तेजी से बढ़ाया है। इन सबका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर पड़ा है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून नए परिवर्तन और नए प्रभाव
अथवा
अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर रूस, चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों और विकासशील राष्ट्रों की विचारधारा के प्रभाव

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऐतिहासिक विकास का संक्षिप्त अवलोकन करने के बाद यह उपयुक्त होगा कि हम उसके वर्तमान स्वरूप का और उसमें विकसित हो रही नवीन प्रवृत्तियों का अध्ययन करें। रूस, चीन और अन्य साम्यवादी देशों के उदय ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को काफी प्रभावित किया है। इसी प्रकार नवोदित अफ्रेशियाई देशों ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर अपना प्रभाव डाला है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में नए परिवर्तनों और नए प्रभावों का अध्ययन हम इस प्रकार करेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर उपलब्ध अध्ययन सामग्री अथवा विभिन्न देशों की अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी ग्रन्थों की भी हमें जानकारी हो जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर व्यवहारवादी प्रभाव

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर व्यवहारवादी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुआ। जैसा कि डॉ. आसोपा ने लिखा है—"अनेक ब्रिटिश विचारकों ने आधुनिक व्यवहारवादी (पोजीटीविस्ट) दृष्टिकोण अपनाया है। सर विलियम स्कॉट ने एडमिरलटी न्यायालय के न्यायाधीश की हैसियत से अधिग्रहण न्यायालयों में व्यवहारवादी दृष्टिकोण को ही लागू किया। मैनिंग ने सन् 1839 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'कमेन्टरीज ऑन द ला ऑफ नेशन्स' में पुरातन और आधुनिक में समन्वय की चेष्टा करते हुए ग्रोशियन दृष्टिकोण को अपनाते हुए प्राकृतिक कानून को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार बताया है। फिलिमोर ने सन् 1854 में प्रथम प्रकाशित अपनी पुस्तक *कमेन्टरीज ऑन इन्टरनेशनल लॉ में* परम्परा एवं प्रथा को कानून का आधार मानते हुए उन्हें राज्यों की स्वीकृति का परिचायक कहा है।

साथ ही यह भी कहा है कि यह स्वीकृति इसलिए सहज उपलब्ध हुई है कि राज्य ऐसा मानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्राकृतिक कानून पर आधारित है जो कि मात्र निर्मित न होकर दैवी कानून है। हॉल ने सन् 1880 में प्रकाशित अपनी पुस्तक इन्टरनेशनल लॉ में पूर्ण व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाया है। वाल्कर ने सन् 1893 में प्रकाशित अपनी पुस्तक साइन्स ऑफ इन्टरनेशनल लॉ में तथा ट्रिस्ट्री ऑफ द लॉ ऑफ नेशन्स (1889) में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के व्यावहारिक पक्ष का समर्थन करते हुए इसके अध्ययन पर जोर दिया है। वेस्टलेक तथा ओपेनहेम ने भी व्यवहारवादी पक्ष को ही सामने रखा है यद्यपि परम्परावादी दृष्टिकोण से भी पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया है। अमेरिकी विद्वान हेनरी व्हीटन ने सन् 1836 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'एलीमेन्टस ऑफ इन्टरनेशनल लॉ' में व्यवहारवादी और प्रकृतिवादी दोनों ही विचारधाराओं का समन्वय प्रस्तुत किया है। पुनश्च व्यावहारिक दृष्टिकोण ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को एक सैद्धान्तिक परिकल्पना बनने से बचाया है और उसे एक स्वस्थ भित्ति पर खड़ा किया है। जब व्यावहारिक दृष्टिकोण से इसका अध्ययन किया जाने लगा तो इसके विकास का क्षेत्र बढ़ने लगा और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के हर क्षेत्र में विधि के महत्त्व को महसूस किया जाने लगा। प्रथम महायुद्ध के बाद पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण, विकास एवं वैज्ञानिक व्याख्या की दिशा में संगठित प्रयासों की शुरुआत हुई। राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र, वर्साय की सन्धि तथा अन्य इसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय अनुबन्धों का व्यावहारिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना और अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के जन्म ने इस दिशा में पूर्ण प्रगति एवं विकास की नई सम्भावनाओं को प्रस्तुत किया है।

प्राकृतिक कानून का प्रभाव कम होना

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह है कि प्राकृतिक कानून का प्रभाव पहले की तुलना में कम हो गया है। पिछले कुछ दशकों में ईसाई सभ्यता के प्राकृतिक कानून आदि सिद्धान्तों में विश्वास न रखने वाले एशिया और अफ्रीका के नवीन राज्यों का अभ्युदय हुआ है। नवोदित अफ्रेशियाई देश सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में यूरोप में विकसित अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ मौलिक सिद्धान्तों को चुनौती दे रहे हैं। आज के युग में इतनी अधिक वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति हो चुकी है तथा आर्थिक आवश्यकताएँ भी इतनी जटिल प्रकृति की हो गई हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ परम्परागत मौलिक सिद्धान्त उतने महत्त्व के नहीं रह गए हैं, पुराने नियमों और धारणाओं में परिवर्तन आवश्यक हो गया है।

अफ्रेशियाई देशों का प्रभाव

जैसा कि ऊपर कहा गया है, नवोदित स्वतन्त्र अफ्रेशियाई राष्ट्रों का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बारे में परम्परागत पाश्चात्य दृष्टिकोण से कुछ रूपों में भिन्न हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के 150 से भी अधिक सदस्यों में अधिकांश एशिया

तथा अफ्रीका के नव-स्वतन्त्रता प्राप्त राष्ट्र हैं जिन्होंने उपनिवेशवाद के उन्मूलन, आत्म-निर्णय, गुट-निरपेक्षता, तटस्थता, शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में अपना विशिष्ट योग दिया है। इनमें भारतीय चुनौती तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में उसका योगदान अपना विशिष्ट स्थान लिए हैं। जैसा कि एस के कपूर ने लिखा है—"दूसरे नए राज्यों की भाँति, भारत ने भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के कुछ स्वीकृत नियमों तथा सिद्धान्तों को अस्वीकार करने अथवा सशोधित करने का प्रयास किया है। भारत ने भी न तो पूर्ण रूप से परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि को स्वीकार किया है और न ही अस्वीकार किया है। भारत ने पश्चिम में विकसित अन्तर्राष्ट्रीय विधि के कुछ सिद्धान्तों के प्रति अपनी असहमति व्यक्त की है। *इसका अर्थ यह नहीं* है कि भारत का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि की विधिक प्रणाली के महत्व को न्यून करना है। इसके अतिरिक्त भारतीय चुनौती सोवियत संघ की चुनौती के समान भी नहीं है। वास्तव में भारत, अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सोवियत धारणाओं की अपेक्षा पश्चिमी धारणाओं से अधिक प्रभावित है। विश्व-प्राँगण में नए राज्य के रूप में उदीयमान होने के पश्चात् भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्रमिक विकास में अपना योगदान दिया है। भारत का योगदान अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सहिताकरण उपनिवेशवाद की समाप्ति, शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व तथा गुट-निरपेक्षता के क्षेत्रों में विशेष उल्लेखनीय है।"

अफ्रो-एशियाई देशों के दृष्टिकोण की झलक हमें बाण्डुग सम्मेलन काहिरा और बेलग्रेड सम्मेलन, अल्जीयर्स सम्मेलन तथा अन्य गुट-निरपेक्ष सम्मेलनों की कार्यवाही और विज्ञप्तियों में मिलती है। इनमें हमें गुट-निरपेक्षता तटस्थता, अहस्तक्षेप, आत्म-रक्षा के अधिकार, आत्म निर्णय के अधिकार, राज्यों तथा सरकारों की मान्यता आदि के बारे में अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों के दृष्टिकोणों का पता चलता है। इन बातों पर अफ्रो-एशियाई देशों के विचारों में काफी समानता पाई जाती है। विभिन्न भारतीय लेखकों, जैसे सरदार के एम पन्निकर, आर के आनन्द, लक्ष्मीमल्ल सिंघवी नगेन्द्रसिंह, गोपाल स्वरूप पाठक, राधाविनोद पाल, एल एन गुप्ता, काशी प्रसाद मिश्र, सुब्रतराय चौधरी आदि ने गुट निरपेक्ष देशों के दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने में उल्लेखनीय कार्य किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर साम्यवादी चीन के सन्दर्भ ग्रन्थ

अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर साम्यवादी चीन के दृष्टिकोण का काफी कुछ ज्ञान हमें साम्यवादी चीन के सन्दर्भ ग्रंथों से होता है। इन पर सक्षेप में प्रकाश डालते हुए डॉ आसोपा ने लिखा है—

"चीन में कोई ऐसी विशिष्ट संस्था नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर ही विशेष अध्ययन में लगी हुई हो। पॉलिटिकल साइंस एण्ड लॉ एसोसिएशन (पीकिंग) वह प्रथम संस्था है जिसने इस विषय पर विशिष्ट अध्ययन का काम शुरू किया। इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर ही प्रकाशित किए जाने वाली पत्रिकाओं का भी अभाव है। स्टडीज इन पॉलिटिकल साइंस एण्ड लॉ, स्टडीज इन इन्टरनेशनल प्रॉब्लम्स, तथा साइंस ऑफ लॉ प्रमुख पत्रिकाएँ हैं। ये पत्रिकाएँ क्रमशः चाइना पॉलिटिकल

साइंस एण्ड लॉ एसोशियन, इंस्टीट्यूट ऑफ इन्टरनेशनल रिलेशन्स ऑफ द चायनीज एकेडेमी ऑफ साइसेज तथा शघाई लॉ एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित की जाती है। स्फुट लेख पीपुल्स डेली, पीपुल्स चायना तथा पेकिंग रिव्यू में प्रकाशित होते हैं।

चीन में प्रकाशित अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सामग्री को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—(1) मौलिक पुस्तकें, (2) अनूदित सामग्री, (3) सधियों एव राजनयिक दस्तावेजों का सकलन। प्रथम श्रेणी में उपलब्ध सामग्री बहुत ही कम है। अभी तक चीन के लेखको ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर कोई पाठ्-पुस्तक तैयार नहीं की है। जिन पुस्तको के नाम उल्लेखनीय हैं, वे हैं—(1) चाउ केन श्युंग की ट्रेन्ड्स इन दी थॉट ऑफ मॉडर्न इंग्लिस एण्ड अमेरिकन इन्टरनेशनल लॉ, (2) चेंग आग्रो की द क्वेश्चन ऑफ ज्यूडिशियल जूरिसडिक्शन ऑफ इन्टरनेशनल लॉ, (3) फू चू की द टेरीटोरियल सी ऑफ अवर कन्ट्री और (4) वॉग याओ त दीन की इन्टरनेशनल ट्रेड, ट्रीटीज एण्ड एग्रीमेन्ट्स।

दूसरी श्रेणी में अनूदित सामग्री है। यह अनुवाद रूसी एव पश्चिमी देशों में प्रकाशित पुस्तको में से लिया गया है। इनमें लुन्ज को प्राइवेट इन्टरनेशनल लॉ, कोजेन विनिग्रोव की इन्टरनेशनल लॉ, क्रीलोव की इन्टरनेशनल कोर्ट ऑफ जस्टिस ऑफ द यूनाइटेड नेशन्स तथा लेनिन ऑन इन्टरनेशनल लॉ उल्लेखनीय हैं।

तीसरी श्रेणी में चीन के द्वारा अन्य देशो के साथ को गई सधियो का, राजनयिक दस्तावेजो का, सयुक्त राष्ट्रसघ द्वारा स्वीकृत प्रस्तावो व अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेन्शनों व सम्मेलनो के प्रस्तावो का सकलन आता है। ये हैं—कम्पाइलेशन ऑफ ट्रीटीज ऑफ द पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चायना, कम्पाइलेशन ऑफ डाक्यूमेंट्स रिलेटिंग टू फॉरेन रिलेशन्स ऑफ द पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चायना। इसके अतिरिक्त 8 खण्डों में सन् 1914 से अब तक की जाने वाली सधियों को ट्रीटी सीरीज में सकलित किया गया है।

माओ की सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान सन् 1966–67 में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन को स्थगित कर दिया गया था और इस दौरान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बारे में कोई रचना प्रकाशित नहीं की गई। सम्भवत अब सयुक्त राष्ट्रसघ में चीन की सदस्यता से चीन का अलगाव कम हुआ है और आशा की जाती है कि अब चीन में भी सीमित परिधि से बाहर निकल कर सभ्य राज्यो के बीच प्रचलित आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन को बढ़ावा मिलेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर रूसी ग्रन्थ

सोवियत रूस के अभ्युदय ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को काफी प्रभावित किया। सोवियत परिभाषा के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून "राज्यो के पारस्परिक सघर्ष और सहयोग, जिसमें राज्यों के शासन वर्ग की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है तथा जिसे राज्यो द्वारा व्यक्तिगत अथवा सामूहिक दबाव द्वारा प्राप्त किया जाता है" को नियन्त्रित करने वाले नियमों का कुल समूह है। स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सोवियत परिभाषा में 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व' का जो तत्व जोड़ा गया है, उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वर्तमान सहअस्तित्व की मान्यता को

बल प्रदान किया है। सह-अस्तित्व के दृष्टिकोण के प्रमुख प्रतिपादक गुट-निरपेक्ष देश हैं जिनमें भारत प्रमुख रहा है। गुट-निरपेक्षता को अन्तर्राष्ट्रीय जामा पहनाने में भारत की भूमिका सर्वोपरि मानी जा सकती है। रूस जैसी महाशक्ति द्वारा मान्यता प्राप्त होने से सह-अस्तित्व का दृष्टिकोण काफी प्रभावशाली हो गया है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मजबूत आधार के रूप में इसे लिया जाने लगा है। रूस का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार सह-अस्तित्व की भावना है जिसमें परिवर्तन केवल संधियों या समझौतों द्वारा किए जा सकते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ का अन्तर्राष्ट्रीय अथवा सार्वभौम स्वरूप बनाए रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि सह-अस्तित्व पर आधारित सम्मति के सिद्धान्त को मान्यता मिली है। साम्यवादी चीन ने भी सह-अस्तित्व का नारा बुलन्द किया है लेकिन उसकी कथनी और करनी में अन्तर रहा है। साम्यवादी चीन यह मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून साम्यवादी देशों के हाथों में उनके द्वारा 'असमय राज्य कहलाने वाले देशों को सताने और उन पर नियन्त्रण रखने का एक अस्त्र' इसी तर्क के आधार पर चीन ने यूरोपीय राज्यों द्वारा एशियाई देशों पर जबरदस्ती थोपी गई 'असमान सन्धियों' *(Unequal Treaties)* को रद्द करने की नीति, राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों (Wars of National Liberation) को विशेष महत्व दिया है। *चीन का तर्क वजनी और युक्तिसंगत है लेकिन इस तथ्य* से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि चीन ने अपने संकुचित राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए *इस तर्क का सहारा लिया है और अपनी स्वयं की विस्तारवादी* आकांक्षाओं की पूर्ति की दिशा में कदम बढ़ाए हैं। भारत के साथ बहुत कुछ इसी तर्क की आड़ में सीमा विवाद छेड़कर चीन ने अपनी विस्तारवादी मनोवृत्ति स्पष्ट कर दी है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की नई धारणाओं और नए क्षेत्रों का प्रादुर्भाव

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की कुछ नई धारणाएँ पनपी हैं और इसके कुछ नए क्षेत्रों का प्रादुर्भाव हुआ है यथा—

(1) पहले केवल राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय समझा जाता था किन्तु अब सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ भी कानून का विषय बन गई हैं।

(2) पहले व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय नहीं था अब कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में व्यक्ति भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बन गया है।

(3) विचारधारागत संघर्षों का अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर काफी प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ, साम्यवादी देशों ने पाश्चात्य विश्व के कानूनों को पूँजीवादी और साम्राज्यवादी बताकर इसे नकारा है और काफी समय तक अपने को इसका पालन करने से अलग रखा। शीत युद्ध के शिथिल होने और साम्यवादी चीन के संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश के बाद से दोनों खेमों के मतभेदों में कमी हो रही है जिसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर पड़ने लगा है, क्योंकि सह-अस्तित्ववाद को बल मिला है।

(4) परमाणु शक्ति के आविष्कार और परमाणु अस्त्रों के प्रसार ने अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की सम्भावनाओं को इतना तीव्र किया है कि युद्ध की आधुनिक तकनीकों और यातायात तथा संचार साधनों के तीव्र प्रसार ने दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की अन्तर-निर्भरता को जितना बढ़ाया है उन सबका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर पड़ा है। *इन सबके फलस्वरूप, डॉ. आयोपा के शब्दों में, 'सार्वभौमिकता* की परम्परागत परिभाषा अब पुरानी पड़ गई है। प्रादेशिक सीमा के नए अर्थ सामने आ गए हैं। राज्यों के उत्तरदायित्वों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परोक्ष इकाई नहीं है अपितु वह उसकी धुरी बन गया है और समूचे राज्य व अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में उसका स्थान महत्त्वपूर्ण बनता जा रहा है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय समाज व परिस्थितियों एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के उभरते नए स्वरूपों से प्रभावित भी हो रही है और उनको प्रभावित भी कर रही है। कानून का जितनी जल्दी विकास होगा और जितनी जल्दी वह सार्वदेशीयता के आधार पर बाध्यकारी स्वरूप ग्रहण करेगा उतनी ही जल्दी विश्व को संघर्ष के खतरों से बचाना सम्भव हो सकेगा। विनाश के अस्त्र कहीं उनके स्वामियों का ही नष्ट न कर दें इस आशंका को सशक्त कानून ही निर्मूल कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि को सशक्त एवं बाध्यकारी बनाने की दिशा में राज्य एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ प्रयत्नशील हैं।"

(5) आणविक और ताप आणविक ऊर्जा (Thermo-nuclear Energy) के क्षेत्रों के लिए नए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के निर्माण की आवश्यकता हो रही है ताकि पेट्रोलियम के मूल्य में भारी वृद्धि और तेल भण्डारों के समाप्त होने जैसी समस्याओं का समाधान किया जा सके।

(6) अन्तरिक्ष में प्रवेश के साथ-साथ बाह्य अन्तरिक्ष समस्याओं के बारे में *अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का निर्माण आवश्यक हो गया है।*

(7) विश्व की जनसंख्या में भारी वृद्धि एक गम्भीर चिन्ता का विषय है अतः जनसंख्या नियन्त्रण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाए जा रहे हैं।

(8) स्थलीय साधनों में निरन्तर आ रही कमी के कारण समुद्र-तल में विद्यमान आर्थिक साधनों के विकास के लिए तथा प्रदूषण की रोकथाम के लिए विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम बनाए जा रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में किए जाने वाले समझौतों और घोषणा-पत्रों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में निरन्तर विस्तार हो रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में यद्यपि अनेक बाधाएँ हैं, किन्तु उनका निराकरण करना ही होगा। आज के आणविक युग में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और सहयोग की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का शासन स्थापित करना होगा।

---

5 अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण

(Codification of International Law)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में यह प्रावधान रखा गया है कि महासभा राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देने के लिए अध्ययनों की पहल करेगी और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास तथा संहिताकरण को प्रोत्साहन देगी। *इस प्रावधान में अभिव्यक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण सम्बन्धी विचार अत्यन्त उल्लेखनीय हैं।*

संहिताकरण का अर्थ
(The Meaning of Codification)

कानून के संहिताकरण का अर्थ विभिन्न दृष्टियों से प्रतिपादित किया गया है। प्रो. फेनविक के कथनानुसार संहिता शब्द ऐतिहासिक दृष्टि से विभिन्न प्रकार के विधि के शासन के पुनर्वचनों और प्रबन्धों के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इसके तीन अर्थ हो सकते हैं—

1. राज्यों के बीच वास्तव में लागू होने वाले नियमों को व्यवस्थित रूप प्रदान कर दिया जाए।

2. वर्तमान नियमों का इस प्रकार संग्रह किया जाए ताकि इनका संशोधित रूप समय की आवश्यकताओं और न्यायोचित मानवीय आचरण के लिए निर्धारित मापदण्डों को पूरा कर सके।

3. वर्तमान कानूनी व्यवस्था की पूर्ण रूप से पुन रचना की जाए और इस प्रकार उसे नवीन सिद्धान्तों पर तथा आचरण के आदर्श मापदण्डों पर निर्भर रखा जाए।

उपर्युक्त तीनों *रूपों का प्रयोग परिस्थितियों और आवश्यकताओं को देख कर ही किया जा सकता है।* अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों में धीमी प्रगति के कारण निश्चितता का अभाव है और इसीलिए उनके संहिताकरण की आवश्यकता महसूस की गई। प्रस्तावित संहिताओं में कुछ ने प्रथम रूप को अपनाया। वैसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपनी विभिन्न शाखाओं में इतना अधिक दोषपूर्ण है कि संहिता बनाने वाले

उसमें अधिक सुधार नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त रिवाजी कानून के पुराने नियमों की प्रकृति इतनी अनिश्चित है कि वास्तव में प्रयुक्त नियमों और संग्रह कर्त्ता द्वारा वांछित नियमों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। एतद् बार अधिक प्रदर्शवादी संहिता वास्तविक परिस्थितियों से दूर छिटक जाती है।

संहिताकरण में कर्त्ता की दृष्टि से भी भेद किया जाना चाहिए। संहिताकरण व्यक्तिगत न्यायवेत्ताओं, उनके समूहों अथवा इस कार्य के लिए विशेष रूप से बुलाए गए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों द्वारा किया जा सकता है जो बाद में इसे स्वीकृति प्रदान करते हैं। अनेक बार निजी समूह द्वारा बनाई गई संहिताएँ अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों का आधार बन जाती हैं और कानून के विकास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखती हैं। उदाहरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए संस्थान का नाम लिया जा सकता है।

संहिताकरण के लाभ
(Advantages of Codification)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताबद्ध करने की परिस्थितियाँ एवं आवश्यकताएँ उसके लाभों को अभिव्यक्त करती हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

1 इससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्पष्ट, सरल और सुनिश्चित बन जाएगा। उसके विभिन्न सन्देहों को दूर किया जा सकेगा। जब सम्बन्धित परिस्थिति के लिए स्पष्ट कानून मिल जाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्य सुगम बन जाता है।

2 संहिताकरण द्वारा कानूनों में पाए जाने वाले विरोधों को दूर किया जा सकता है और इस प्रकार उनके बीच एकरूपता स्थापित की जा सकती है। विभिन्न राज्यों में अनेक प्रकार के नियम क्रियान्वित होने के कारण उनके बीच असंगति एवं विरोध उत्पन्न होने का भय रहता है। इन कानूनों को संहिताबद्ध कर देने पर अनेकरूपता और विरोध समाप्त हो जाएगा।

3 अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को संहिताबद्ध करने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस विषय में कानून है और किस विषय में उनका अभाव है। अभाव ज्ञात होने पर इसे दूर करने का प्रयास भी किया जा सकेगा। यह प्रक्रिया कानून के कलेवर को बढ़ाने की दृष्टि से उपयोगी है।

4 कानून को संहिताबद्ध करने से उसकी गति में तीव्रता आ जाती है और प्रथाओं पर आधारित विकास की मन्द गति से उत्पन्न समस्याएँ दूर हो जाती हैं। आधुनिक वैज्ञानिक युग में परिस्थितियाँ बड़ी तीव्रता के साथ बदल रही हैं और यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने इनका समुचित ध्यान नहीं रखा तो निश्चय ही वह पिछड़ कर असामयिक तथा अनुपयोगी बन जाएगा।

5 कानून को संहिताबद्ध बनाने से निश्चय ही उसकी लोकप्रियता बढ़ जाएगी। स्पष्टता और सुनिश्चितता के कारण इसका पालन अधिक से अधिक देश करने लगेंगे। अस्पष्टता के कारण अभी अधिकांश देश अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना उपयुक्त नहीं समझते।

संहिताकरण के अवगुण
(Defects of Codification)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के अवगुण निम्न प्रकार हैं—

1 इससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास रुक जाएगा। लिखित और निश्चित कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून को जड बना देंगे और वह एक बोझ का अनुभव करने लगेगा जिसमे कोई गति नहीं है। इस सम्बन्ध में मि कार्डोजो ने लिखा है, 'रात भर के लिए यात्री को शरण देने वाली सराय उसकी यात्रा का अन्तिम लक्ष्य नहीं होती। *यात्री की भाँति कानून को भी कल की यात्रा के लिए तैयार रहना चाहिए।* इसमे विकास का सिद्धान्त बना रहना चाहिए। संहिताकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून की यह विशेषता घट जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे इस प्रकार की गति और लचीलापन होना चाहिए ताकि वह समय की परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको मोड सके। जब तक आवश्यकतानुसार सामंजस्य की सम्भावना नहीं होगी तब तक यह जीवित नहीं माना जाता।"

2 संहिताकरण करते समय कानून-निर्माता नियमों की बाल की खाल निकालते हैं और कानूनी रूप से उनको परिभाषित करते हैं किन्तु ऐसा करना अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्वाभाविक स्वरूप को समाप्त कर देना है।

3 *जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संहिताबद्ध करने का प्रयास किया जाता*, तो अनेक कानूनी विवाद उत्पन्न हो जाते हैं जिनके बीच समझौता नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए, सन् 1930 मे राष्ट्रसंघ ने यह प्रयास किया था कि कुछ कानूनों को संहिताबद्ध कर लें किन्तु वह सफल न हो सका। इसी प्रकार के अनेक सम्मेलन और संघ किसी सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचे बिना ही भंग हो जाते हैं।

4 कानूनों को संहिताबद्ध करना विभिन्न राज्यों की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं है। वे यद्यपि संधियों मे विश्वास करते हैं किन्तु उनको संहिताबद्ध करना नहीं चाहते। सम्भवत इसका कारण यह है कि वे नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर व्यवहार की स्वतन्त्रता चाहते है और संहिता के नियमों को स्वीकार करके अपने *हाथों को बाँधना नहीं चाहते। यह स्थिति कानून के मूल उद्देश्यों को ही समाप्त कर* देती है।

संहिताकरण की कठिनाइयाँ
(Difficulties of Codification)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण यद्यपि लाभप्रद है किन्तु इसमे अनेक कठिनाइयाँ भी हैं— (1) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय पर्याप्त विवादग्रस्त होते हैं। उनके बीच समन्वय स्थापित करके किसी सर्वसम्मत व्यवस्था का निर्माण करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। ये जिस स्थिति में उपलब्ध होते हैं उससे संहिताकरण की प्रक्रिया की कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। यदि लिखित कानून सुस्थापित हैं और सामान्यतः स्वीकृत रिवाजी नियमों या संविदात्मक व्यवस्थाओं अथवा न्यायालयों के निर्णय अधिनियमों के रूप में हैं तो संहिताकर्ता का काम केवल व्यवस्थित प्रारूप का रूप

जाता है। यहाँ उसका काम केवल प्रस्तुतीकरण का रह जाता है न कि कानून की नीति निर्धारित करने का। (2) सहिताकरण के मार्ग की अन्य कठिनाई यह है कि इसमें विरोधी दृष्टिकोणों के बीच सामजस्य स्थापित करना होता है। सहिताकरण के विभिन्न प्रयास इसी कारण सफल नहीं हो पाए। जब ये सहिताकर्त्ता विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं तो ये अपनी सरकार के हितानुकूल दृष्टिकोण अपनाए जाने पर बल देते हैं। राजनीतिक स्वार्थों की विभिन्नता और परस्पर विरोधी प्रवृत्ति के कारण उनके बीच समझौता प्राय नही हो पाता। यदि प्रतिनिधियों के स्थान पर योग्य कानूनवेत्ताओं को बुलाया जाए तो उनके निर्णयों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करना राज्यो की इच्छा पर निर्भर रहेगा और वे निश्चय ही अपने हितो के विरुद्ध उन्हें स्वीकार नहीं करेंगे।

कानून को सहिताबद्ध करने म विभिन्न राज्यो की सहमति प्राप्त करना कितना कठिन है यह सन् 1923 मे राष्ट्रसघ के तत्वावधान मे आयोजित सहिताकरण सम्मेलन को देखकर स्पष्ट हो जाता है। सम्मेलन के सम्मुख विचारार्थ तीन उद्देश्य थे—राष्ट्रीयता का कानून, प्रादेशिक जल और एक राज्य की सीमा मे विदेशियों के लिए की गई हानि का दायित्व। इन विषयो से सम्बन्धित कानूनों को सहिताबद्ध करते समय अनेक कठिनाइयाँ सामने आई।

सहिताकरण का इतिहास
(History of Codification)

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो के सहिताकरण का विचार 18वी शताब्दी के अन्त मे उत्पन्न हुआ। यह विचार सबसे पहले बैंथम (Bentham) द्वारा प्रतिपादित किया गया। उसने सभी सभ्य राज्यो मे शान्ति की स्थापना के लिए एक आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय कानून तैयार किया। फाँस की राज्य क्रान्ति के बाद सन् 1792 के राष्ट्रीय सम्मेलन मे राज्यो के अधिकारो का घोषणा-पत्र बनाने का निर्णय लिया गया। यह कार्य मानव जाति के अधिकारों की घोषणा के अनुकूल था। इसका प्रारूप बनाने का काम मि. ऐब्बेग्रेगायर (Mr Abbegregoire) को सौंपा गया। उसने सन् 1795 म 21 अनुच्छेदो वाला प्रारूप प्रस्तुत किया किन्तु सम्मेलन ने इसे अस्वीकार कर दिया और बात यही रुक गई।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सहिताकरण अनेक सोपानो मे होकर गुजरा। इस कार्य मे जिन व्यक्तियो ने अपना योगदान किया उनम ब्लन्शली (Bluntschli) का नाम उल्लेखनीय है। इसकी सहिता म 862 अनुच्छेद थे। ब्लन्शली की धारणा के अनुसार इसका उद्देश्य सभ्य दुनिया के स्थित विचारो को स्पष्ट रूप प्रदान करना था। ब्लन्शली के समय म दुर्भाग्य से यह परम्परा थी कि यदि विवादो को शान्तिपूर्ण तरीके से नहीं सुलझाया जा सके और पच फैसला अव्यावहारिक बन जाए तो प्रभावित राज्य को कानून अपने हाथ म लेने का अधिकार है।

19वी शताब्दी क उत्तरार्द्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सहिताबद्ध करने के लिए विभिन्न प्रयास किए गए। सन 1861 म ऑस्ट्रिया के विधि शास्त्री ने प्रयास

किया। इसके बाद सन् 1863 मे न्यूयार्क के प्रो. फ्रांसिस लाईबर (Prof Francis Liber) *ने राष्ट्रपति लिंकन की प्रार्थना पर भूमि-युद्ध के कानूनों का संहिताबद्ध* किया। सन् 1864 मे 12 बड़े देशों के प्रतिनिधियों का जेनेवा मे सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में रणभूमि में घायल लोगो को राहत देने और युद्ध मे संलग्न न होने वालो की उन्मुक्तियों पर विचार किया गया। इसके परिणामस्वरूप प्रथम रेडक्रास *सम्मेलन का जन्म हुआ। सन् 1868 में इस सम्मेलन में कुछ परिवर्तन किए गए* किन्तु उनको स्वीकार नहीं किया जा सका।

सन् 1874 मे प्रमुख शक्तियों के प्रतिनिधि ब्रुसेल्स मे मिले। रूस के जार की प्रेरणा से बुलाए गए इस सम्मेलन मे 60 अनुच्छेदों वाली एक संहिता तैयार की *गई जिसे ब्रुसेल्स घोषणा कहा जाता है। व्यक्तिगत स्तर पर किए गए प्रयासों को* देखकर यह काम गैर-सरकारी संगठनो ने अपने हाथ मे लिया। सन् 1880 मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संस्थान ने भूमि पर युद्ध के नियमों का संग्रह प्रस्तुत किया। सन् 1890 और 1910 मे क्रमशः इटली तथा ब्राजील के विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय *कानून के सम्बन्ध मे ग्रन्थों का प्रकाशन किया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संहिताबद्ध* करने के लिए जो विभिन्न सम्मेलन और सभाएँ बुलाई गईं, वे निम्नलिखित हैं—

1. प्रथम हेग शान्ति सम्मेलन (First Hague Peace Conference)— सन् 1899 में प्रथम शान्ति सम्मेलन हेग मे रूस के सम्राट् निकोलस द्वितीय के *व्यक्तिगत प्रयासों के आधार पर बुलाया गया। यह सम्मेलन युद्ध के कानूनों और* रिवाजों से सम्बन्धित अभिसमयों को प्रारूप देने मे सफल हो गया। इसने यह सिद्ध कर दिया कि राष्ट्रों के कानून संहिताबद्ध किए जा सकते हैं। जल-युद्ध के सम्बन्ध मे जेनेवा अभिसमय को स्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त दो नए महत्त्वपूर्ण अभिसमय भी स्वीकार किए गए। इनमे प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्वक सुलझाने से सम्बन्धित अभिसमय था और दूसरा भूमि पर युद्ध के कानूनों और रिवाजो से सम्बन्धित था। प्रथम अभिसमय व्यावहारिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण था। ओपेनहीम के कथनानुसार प्रथम हेग शान्ति सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास मे एक युग निर्माता घटना है।

2 द्वितीय हेग शान्ति सम्मेलन (Second Hague Peace Conference)— सन् 1907 मे द्वितीय हेग शान्ति सम्मेलन बुलाया गया जिसमे 13 अभिसमयों को जन्म मिला। इनमे से कुछ जल सेना कानून से सम्बन्धित हैं। 13 अभिसमयों मे से 3 तो वही थे जिन्हे प्रथम सम्मेलन मे स्वीकार किया गया था किन्तु अन्य 10 नए थे। इनका सम्बन्ध युद्ध के नियमन और भूमि तथा समुद्र पर युद्ध में तटस्थता से था। इसके अतिरिक्त संविदा के ऋणों को प्राप्त करने के लिए शक्ति के प्रयोग पर सीमा लगाने और मनमुटाव पैदा करने के सम्बन्ध मे भी व्यवस्था की गई। सम्मेलन मे 44 राज्यों ने भाग लिया।

सन् 1908-9 मे लन्दन से समुद्री युद्ध के नियम बनाने के सम्बन्ध मे महाशक्तियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमे विनिदिष्ट वस्तुओं की सूची तैयार

करने का प्रयास किया गया किन्तु विभिन्न विरोधी स्वार्थों के बीच सामंजस्य नहीं हो सका। युद्ध छिड़ने पर हेग संहिता के केवल मानवीय प्रावधान ही बने रहे किन्तु ये भी युद्ध के नए साधनों के सामने खड़े नहीं रह सके।

3 प्रथम विश्वयुद्ध के बाद संहिताकरण (Codification after First World War)—प्रथम विश्वयुद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से गम्भीर खतरा पैदा कर दिया। इसको मुक्त रूप से तोड़ा गया। युद्ध के बाद विभिन्न देशों ने युद्ध की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए विभिन्न प्रयास किए। सन् 1929 में एक सामान्य सम्मेलन हुआ जिसमें युद्धबन्दियों, बीमारों और घायलों से सम्बन्धित प्रावधान रखे गए। सन् 1925 में जहरीली और हानिकारक गैसों के विरुद्ध व्यवस्था की गई। शान्ति के कानून के क्षेत्र में इस काल में पर्याप्त आंशिक संहिताकरण हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थाई न्यायालय और राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र द्वारा ये प्रयास आगे बढ़ाए गए। सन् 1928 में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए की गई सन्धि, युद्ध के बहिष्कार के लिए की गई सन्धि और भूमि, वायु तथा जल-युद्ध से सम्बन्धित विभिन्न प्रावधान अपनाए गए। वैज्ञानिक मार्मिक और मानवीय प्रकृति की अनेक परम्पराएँ विकसित की गई। ये सभी सम्मेलन विशेष विषयों से सम्बन्धित थे और इनको केवल आंशिक रूप से संहिताकरण का प्रयास माना जा सकता है। राष्ट्रसंघ में संहिताकरण की समस्या पर पहली बार व्यवस्थित रूप में विचार किया गया।

4 राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत संहिताकरण (Codification under the Auspices of League of Nations)—प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति और राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद कानून की विभिन्न शाखाओं के संहिताकरण के लिए प्रयास किए गए। 22 सितम्बर, 1924 को राष्ट्रसंघ की महासभा के प्रस्ताव के अनुसार संघ की परिषद् ने एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त की जिसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का काम सौंपा गया। इस समिति ने विभिन्न देशों की सरकारों को प्रश्नावलियाँ भेजी और इसके आधार पर सात देशों को संहिताकरण के लिए उपयुक्त स्वीकार किया। 16 न्यायवेत्ताओं की यह समिति संहिताकरण के लिए नहीं वरन् उन विषयों के चयन के लिए नियुक्त की गई थी जो संहिताकरण के लिए उपयुक्त हैं और जिनका संहिताकरण किया जा सकता है। अप्रेल, 1927 में इस समिति ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें इन सात विषयों को संहिताकरण के उपयुक्त माना गया—राष्ट्रीयता, प्रादेशिक समुद्र, अपने प्रदेश में होने वाली विदेशी सम्पत्ति या शरीर की क्षति के लिए राज्य की जिम्मेदारी, कूटनीतिक विशेष अधिकार और उन्मुक्तियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और सन्धियाँ करने तथा इनका प्रारूप तैयार करने की विधियाँ, समुद्री डकैती और समुद्र की वस्तुओं का उपयोग।

राष्ट्रसंघ की महासभा ने सितम्बर, 1930 की बैठक में एक प्रस्ताव पास करके इनमें से प्रथम तीन प्रश्नों के सम्बन्ध में संहिताकरण करने के लिए सम्मेलन बुलाने का विचार किया। यह सम्मेलन हेग में सन् 1930 में बुलाया गया।

13 मार्च 1930 से 12 अप्रेल, 1930 तक इस सम्मेलन की बैठक हुई और विचारणीय तीनों प्रश्नों पर अलग-अलग समितियाँ बनाई गईं। सम्मेलन की प्रथम समिति की प्राप्तियों में उल्लेखनीय हैं—राष्ट्रीयता एवं कानूनों के बीच संघर्ष के कुछ प्रश्नों के सम्बन्ध में समझौता, दोहरी राष्ट्रीयता की स्थिति में सैनिक दायित्वों के सम्बन्ध में समझौता तथा राज्यहीनता के बारे में किया गया विशेष समझौता। इन विभिन्न समझौतों को कुछ राज्यों ने मान्यता प्रदान की। सम्मेलन में विचारणीय अन्य दो प्रश्नों के सम्बन्ध में मतभेद के कारण कोई समझौता नहीं किया जा सका। राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में सम्मेलन ने जो निर्णय लिए उन पर 31 राज्यों ने हस्ताक्षर किए, शेष दो प्रश्नों को भविष्य में विचार के लिए छोड़ दिया गया। इस सम्मेलन का कुछ कार्य स्थाई मूल्य का था किन्तु कुल मिला कर सम्मेलन ने अच्छाई की अपेक्षा बुरा अधिक किया। जब इसके नियमों को सरकारों के ऊपर बाध्यकारी बनाने की बात की गई तो प्रश्न उठा कि क्या आवश्यकता के समय वे इन नियमों को चुनौती नहीं दे सकते? अथवा क्या वे इन्हें अस्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि इसके विभिन्न प्रावधानों का उन्होंने विरोध किया था। दोनों स्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून सामान्य न रह कर विशेष बन जाते हैं।

प्रादेशिक समुद्रों के कानूनी स्तर आदि विषयों पर कुछ सहमति थी किन्तु दूसरे विषयों में विभिन्नताओं के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण की दिशा में अधिक प्रगति नहीं हो सकी। सन् 1930 के सम्मेलन की असफलता के कारण राष्ट्रसंघ का उत्साह घट गया और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण की आशाएँ धूमिल दिखाई देने लगीं। इस सम्मेलन में भाग लेने वालों ने प्रारम्भ में यह मान लिया था कि संहिताकरण का काम अनेक श्रेणियों में होकर किया जा सकेगा। सम्मेलन ने भविष्य में सम्मेलन बुलाने के लिए विभिन्न तरीकों पर भी विचार किया।

सन 1930 में संघ की 11वीं सभा ने संहिताकरण के काम में अपनी रुचि प्रदर्शित की और सम्मेलन की सिफारिशों के प्रति सदस्यों की राय आमन्त्रित की। यह राय अधिक प्रतिकूल नहीं थी और संहिताकरण के काम को जारी रखा जा सकता था किन्तु 12वीं महासभा में भावी प्रक्रिया के सम्बन्ध में विस्तार के साथ व्यवस्था की गई। इसका मुख्य प्रभाव यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का काम संघ और उसके विभिन्न अंगों से हटा कर संघ के सदस्यों को सौंप दिया गया और इस प्रकार निकट भविष्य में संहिताकरण के अवसर कम हो गए।

5. वैज्ञानिक संस्थाओं द्वारा संहिताकरण (Codification by Scientific Associations)—राष्ट्रसंघ के प्रयासों के साथ-साथ अनेक वैज्ञानिक निकायों के कार्य भी चल रहे थे। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संस्थान, अन्तर्राष्ट्रीय कानून संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अनुसंधान समूह आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संस्थान ने कानून की प्रत्येक शाखा में उल्लेखनीय योगदान किया। उदाहरण के लिए विदेशियों का स्तर, विदेशी राज्यों के सम्बन्ध में न्यायालय की योग्यता, नौचालन सम्बन्धी सन्धियाँ, कूटनीतिक

विशेष अधिकार, तटस्थता और अन्य अनेक विषय। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सगठन ने प्रक्रिया सम्बन्धी कानून और मूल कानून के सम्बन्ध में आयोजन किया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में किए जाने वाले अनुसधानों ने भी सहिताओं के प्रारूप की शृ खला प्रसारित की। इसमें राष्ट्रसघ के कार्य के साथ यथासम्भव सहयोग किया गया। राष्ट्रसघ के अधीन सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था पर्याप्त अनिश्चित थी, इसलिए वैज्ञानिक निकायों ने भूमि और जलयुद्ध की सहिता बनाने की ओर ध्यान दिया।

सयुक्तराज्य अमेरिका में कानूनों को सहिताबद्ध करने की दिशा में उल्लेखनीय प्रयास हुए। अमेरिकी राज्यों ने सहिताकरण के कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए नए अभिकरणों की रचना की। सन् 1939 में द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होने पर अन्त अमेरिकी तटस्थ समिति बनाई गई और इसे सन् 1940 में एक प्रारूप तैयार करने का काम सौंपा गया। इसको तटस्थता से सम्बन्धित सभी विषयों में स्वीकृत नियम और सिद्धान्त उल्लेखित करने का काम सौंपा गया। सन् 1942 में सयुक्त राज्य अमेरिका के युद्ध में शामिल होने के बाद एक समिति को नियमों के सहिताकरण का काम सौंपा गया। सन् 1945 में मेक्सिको के युद्ध और शान्ति की समस्याओं से सम्बन्धित इस समिति को सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सहिताकरण का केन्द्रीय अभिकरण बनाने की सिफारिश की गई।

सयुक्त राष्ट्रसघ और संहिताकरण
(U N O and Codification)

सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर की धारा 13 में यह स्वीकार किया गया है कि सघ की महासभा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास और इसके सहिताकरण के लिए प्रोत्साहन देने हेतु सिफारिशें करेगी और अध्ययनों की पहल करेगी। इस प्रावधान का फल द्वितीय महासभा का सन् 1947 का वह निर्णय था जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून आयोग (International Law Commission) को कानून के सहिताकरण और विकास का काम सौंपा गया। महासभा ने आयोग से सम्बन्धित एक सविधि स्वीकार की जिसमें आयोग के कार्यों को परिभाषित किया गया और महासभा द्वारा इसके सदस्यों के सामयिक निर्वाचन को नियमित किया गया। सविधि के अनुसार आयोग में 21 सदस्य होंगे जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून में पर्याप्त अनुभव व जानकारी रखेंगे। आयोग में सभ्यता के प्रमुख रूपों और प्रमुख कानूनी व्यवस्थाओं का प्रतिनिधित्व रहेगा। आयोग का निर्वाचन सर्वप्रथम सन् 1948 में किया गया। इसके सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और राष्ट्रों के कानून का गहरा ज्ञान रखते हैं। किसी भी देश का एक से अधिक सदस्य इस आयोग में नहीं लिया जाता। ये सदस्य सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्य राज्यों में से तीन वर्ष के लिए चुने जाते हैं। आयोग सहिताबद्ध करने योग्य विषय के सम्बन्ध मे अपनी सिफारिशें महासभा के सम्मुख प्रस्तुत करता है। ऐसा करते समय सम्बन्धित पूर्व उदाहरणों सन्धियो, न्यायाधीशों के निर्णयों और स्थित मतभेदों एव विवादों का उल्लेख किया जाता है। धारा 28 के अनुसार आयोग का यह कार्य है कि औपचारिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रतिपादन करने वाली सामग्री को सकलित और प्रकाशित करे।

है। वकीलो द्वारा दिए गए वैज्ञानिक विवरण सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई प्रामाणिकता नही रखते किन्तु इनके आन्तरिक गुणो के कारण यह आशा की जाती है कि इनको अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो के रूप मे स्वीकार किया जाएगा और राज्यों द्वारा उनके व्यवहार मे इन्हे अपनाया जाएगा। यदि सघ की महासभा इन वैज्ञानिक विवरणो को स्वीकार कर ले तो निश्चय ही इनका प्रभाव बढ जाएगा। असल मे सहिताकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया का उपयोग और न्यायोचितता स्थित सिद्धान्तो के विवरण तथा नए सिद्धान्तो की रचना के सयोग द्वारा निर्धारित की जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग का कार्य
(The Work of International Law Commission)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने सन् 1949 मे सहिताकरण के लिए 14 विषयो को उपयोगी माना था। ये निम्न प्रकार हैं—

(1) राज्यो की मान्यता (Recognition of States),
(2) राज्यो तथा सरकार का उत्तराधिकार (Succession of States and Governments),
(3) राज्यो तथा इनकी सम्पत्ति की क्षेत्राधिकार विषयक उन्मुक्तियाँ (Jurisdictional Immunities of States and their Property),
(4) राष्ट्रीय प्रदेश से बाहर किए गए अपराधो का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction with regards to crimes committed outside national territory),
(5) महासमुद्रो का क्षेत्र (Regime of high seas),
(6) प्रादेशिक समुद्रो का क्षेत्र (Regime of territorial waters),
(7) राष्ट्रीयता (Nationality),
(8) विदेशियो से व्यवहार (Treatment of aliens),
(9) आश्रय का अधिकार (Right of Asylum),
(10) सन्धियो का कानून (Law of treaties),
(11) राजनयिक सम्बन्ध और उन्मुक्तियाँ (Diplomatic Intercourse & Immunities),
(12) राज्य का उत्तरदायित्व (State's responsibility),
(13) राजपुरुषो के सम्पर्क और उन्मुक्तियाँ (Consular Intercourse and Immunities) और
(14) पचनिर्णय की प्रक्रिया (Arbitral Procedure)।

विधि आयोग ने यह निर्णय लिया कि उपर्युक्त 14 विषयो मे से सन्धियो के कानून, पचनिर्णय की प्रक्रिया तथा महासमुद्रो के क्षेत्र को प्राथमिकता दी जाए। बाद मे सघ की महासभा ने प्राथमिकता प्राप्त विषयो की इस सूची मे प्रादेशिक समुद्रो की सीमा और कूटनीतिक सम्बन्धो एव उन्मुक्तियो को भी रखने का परामर्श दिया। प्रो ब्रायर्ली के कथनानुसार, "आयोग ने अपनी सूची के 14 विषयों मे से 1962 तक

9 विषयो म पर्याप्त उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त महासभा ने इस आयोग को अनेक विषय सौंपे। उदाहरण के लिए राष्ट्रों के अधिकारो और कर्त्तव्यों म सम्बन्धित घोषणा, न्यूरेम्बर्ग चार्टर के सिद्धान्तो की रचना, मानवता की शान्ति और सुरक्षा के विरुद्ध अपराधो की संहिता को रूप देना, आक्रमण की परिभाषा अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का क्षेत्राधिकार आदि-आदि। महासभा ने यह भी कहा है कि विधि आयोग द्वारा शरणागत के कानून का संहिताकरण किया जाए ताकि ऐतिहासिक जल का अध्ययन किया जाए।

न्यूरेम्बर्ग सिद्धान्तो का निरूपण (Formulation of Nuremberg Principles) आयोग का महत्त्वपूर्ण कार्य था। जून जुलाई, 1950 के अपने दूसरे अधिवेशन मे आयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सात सिद्धान्तों की एक श्रेणी बनाई जो कि न्यूरेम्बर्ग न्यायाधिकरण के चार्टर तथा उसके निर्णय मे स्वीकृत किए गए थे। इन सात सिद्धान्तो की श्रेणी को एम पी टण्डन ने संक्षेप मे इस प्रकार रखा है—

"1 कोई व्यक्ति जो ऐसा कार्य करता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत एक अपराध है, वह उसके लिए उत्तरदायी है और दण्ड का भागी है।

2. यदि कोई कार्य जिसकी गणना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत अपराध मे है, पर आन्तरिक कानून के अन्तर्गत दण्डनीय नहीं है, किसी व्यक्ति द्वारा किया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तगत वह व्यक्ति उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं होता।

3 यदि कोई कार्य जिसकी गणना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत अपराध मे है, किसी व्यक्ति द्वारा राज्य के अध्यक्ष अथवा उत्तरदायी सरकारी पदाधिकारी के रूप मे किया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत वह व्यक्ति उत्तरदायित्व से मुक्त नही होता।

4 यदि कोई कार्य किसी व्यक्ति द्वारा अपनी सरकार अथवा अपने से सर्वोच्च के आदेशानुसार किया जाए तो वह व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत इस अनुबन्ध के साथ कि उस व्यक्ति के लिए नैतिक विकल्प (Moral Choice) सम्भव हो रहा हो, दायित्व स मुक्त नही होता।

5. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत अपराध के लिए आरोपित किसी व्यक्ति को तथ्य तथा न्यायानुसार उचित विचारण (Trial) का अधिकार है।

6 यथाक्रम रखे हुए अपराध अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत अपराधो के रूप मे दण्डनीय हैं—(अ) शान्ति के विरुद्ध अपराध, (आ) युद्धापराध, (इ) मानवता के विरुद्ध अपराध।

7 सिद्धान्त 6 म उल्लिखित शान्ति के अपराध, युद्धापराध अथवा मानवता के विरुद्ध अपराध मे भाग लेना भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत अपराध है।"

संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा तथा सामान्य सभा मे अपने सन् 1950 के अधिवेशन में आयोग की सिफारिशो को सदस्य देशो की सरकारो के पास उनकी टिप्पणी के लिए भेजा।

आयोग ने अपने दूसरे अधिवेशन में यह सिफारिश भी की कि संयुक्त राष्ट्र के अंगों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के सम्बन्ध में किए गए प्रकाशनों का यथासाध्य विस्तृत रूप में वितरण किया जाए। महासभा सरकारों का ध्यान अपने राजनीतिक पत्र-व्यवहार के संक्षिप्त संग्रह के प्रकाशन की उपादेयता की ओर आकर्षित करे।

आयोग का कार्य जिन प्रश्नों पर प्रशंसनीय रहा, उनमें महासमुद्रों और प्रादेशिक समुद्रों से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख किया जा सकता है। इन नियमों को सन् 1958 और 1960 के जेनेवा सम्मेलनों में स्वीकार किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास और संहिताकरण से सम्बन्धित अभिसमयों का श्रेय विधि आयोग को दिया जा सकता है। एक अन्य प्रारूप अभिसमय जो कूटनीतिक सम्बन्धों और उन्मुक्तियों से सम्बन्धित था, 1931 में वियना के सम्मेलन में स्वीकार किया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को संहिताबद्ध करने का कार्य शीतयुद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के युग में काफी मन्दा पड़ गया। विरोधी गुटों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुप्रतिष्ठित और पुराने विचारों को चुनौती दी जाने लगी। संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी राज्यों द्वारा विकसित अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का साम्यवादी गुट के देशों और एशिया तथा अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों द्वारा विरोध किया गया। अनेक बार सम्मेलनों और बैठकों में दोनों गुटों के बीच भारी मतभेद होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के मार्ग में बाधाएँ आती रहीं। उदाहरण के लिए, सन् 1958 तथा 1960 के जेनेवा सम्मेलनों में प्रादेशिक समुद्र की सीमा इसी मतभेद के कारण तय नहीं की जा सकी। पश्चिमी देश इसे तीन मील रखना चाहते थे जबकि सोवियत रूस ने इसे 12 मील बनाए रखने पर बल दिया।

बाधाओं के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के संहिताकरण का काम चलता रहा। संयुक्त राष्ट्रसंघ के ढाँचे के अन्तर्गत 'अग्रधर्षण' (आक्रमण, Aggression) की परिभाषा देने के लिए एक विशिष्ट समिति का गठन किया गया। काफी वर्षों से इस दिशा में जो प्रयास किए गए थे, वे सफल नहीं हो सके थे। आखिर 'विधिक दक्ष व्यक्तियों की यू एन समिति' (United Nations Committee of Legal Experts) ने, जिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ के 35 सदस्य-राष्ट्र शामिल थे और जिसमें चीन को छोड़कर सभी बड़ी शक्तियों ने भाग लिया था 12 अप्रेल, 1947 को 'अग्रधर्षक अथवा आक्रमण' (Aggression) की परिभाषा मान्य करने में सफलता प्राप्त कर ली। इस महासभा ने अपने एक सत्र में निर्देश दिया कि आयोग राज्यों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के मध्य तथा दो अथवा अधिक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के मध्य सन्धियों के बारे में भी प्रारूप-अनुच्छेद तैयार करे और अन्तर्राष्ट्रीय जल मार्गों के नौचालन के अतिरिक्त प्रयोग के बारे में कानून निर्माण हेतु अपना अध्ययन जारी रखे। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा महासभा ने निश्चय किया कि सन्धियों के बारे में राज्य उत्तराधिकार पर अभिसमय के लिए सन् 1977 में एक सम्मेलन बुलाया जाए। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने सन् 1974 में इस बारे में एक समझौता तैयार किया जिसे सन् 1977 में वियना में एक अभिसमय द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

प्रादेशिक शरण पर विधि आयोग द्वारा तैयार किया गया प्रारूप (Draft Convention of 1975 on Territorial Asylum) भी जिनेवा मे सन् 1977 मे स्वीकार किया गया है। जून, 1977 मे वैमकूवर मे मानवीय शक्तियो के बारे मे घोषणा स्वीकार की गई।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण की दिशा मे कार्य सतत् रूप से चल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग इस कार्य मे लगा है और इसने बड़ा ही सराहनीय कार्य किया है। हाल ही के वर्षों मे हुए कुछ अभिसमय और सन्धियाँ काफी महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा कि एस. के. कपूर ने लिखा है कि, सन् 1958 की समुद्र विधि पर जेनेवा अभिसमय, सन् 1961 के राजनयिक सम्बन्धो पर वियना अभिसमय, सन् 1965 के राज्यो तथा अन्य राज्यो के नागरिकों के मध्य पूँजी सम्बन्धी झगडों के निस्तारण सम्बन्धी अभिसमय, सन् 1969 की सन्धियो की विधि का वियना अभिसमय, सन् 1968 का युद्ध-अपराधो तथा मनुष्यता के विरुद्ध अपराधो पर अधिनियम द्वारा परिसीमाएँ न लगने के सम्बन्ध मे अभिसमय, खुले समुद्र के तेल द्वारा दूषित होने से सम्बन्धित अभिसमय तेल के दूषित होने से उत्पन्न क्षति के सम्बन्ध मे नागरिक उत्तरदायित्व पर अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय, नागरिक हवाई जहाज चालन के विरुद्ध अवैध कार्यों को रोकने के सम्बन्ध मे अभिसमय सन् 1971 का जीवाणु तथा जहरीले शस्त्रों के विकास एव उत्पादन तथा एकत्र करने पर निषेध और उनको नष्ट करने के सम्बन्ध मे अभिसमय, जातिभेद के अपराध को रोकने तथा दण्डित करने का सन् 1973 का अभिसमय, राज्यो द्वारा की गई सन्धियो के सम्बन्ध म उत्तराधिकार का सन् 1978 का अभिसमय आदि संहिताकरण और अतर्राष्ट्रीय कानून क क्रमिक विकास के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कानून (International Trade Law) के क्रमिक विकास एव संहिताकरण के लिए एक संयुक्त राष्ट्र आयोग नियुक्त किया गया है। समुद्र-कानून क क्रमिक विकास एव संहिताकरण के लिए तृतीय संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के आठ सत्र सन् 1973 से लेकर 1979 तक हो चुके हैं। अन्तरिक्ष विधि के संहिताकरण के प्रयास (Attempts of Codification of Space Law) भी प्रगति पर हैं।

विधि आयोग के कार्यों का संक्षिप्त विवरण

(Brief Description of the Functions of Law Commission)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने जो विभिन्न कार्य सम्पन्न किए हैं उनका उल्लेख निम्न शीर्षकों मे किया जा सकता है—

(अ) राज्यों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रारूप की घोषणा—विधि आयोग ने राज्यों क चार अधिकारो का उल्लेख किया है, ये हैं—स्वतन्त्रता का अधिकार, राज्य के प्रदेश पर क्षेत्राधिकार, समानता का अधिकार और सशस्त्र आक्रमण क विरोध के लिए व्यक्तिगत या सामूहिक आत्मरक्षा का अधिकार।

राज्यों के इन अधिकारो के अतिरिक्त कतिपय कर्त्तव्य भी गिनाए गए हैं। ये कर्त्तव्य अग्रानुसार हैं—

(i) दूसरे राज्य के मामले में हस्तक्षेप न करना।

(ii) दूसरे राज्य के गृह-युद्ध को प्रोत्साहित न करना।

(iii) अपने राज्य में ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न होने से रोकना जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था को खतरा पहुँचाती हो।

(iv) युद्ध के मार्ग का अवलम्बन करना।

(v) दूसरे राज्य की प्रादेशिक स्वतन्त्रता और अखण्डता का सम्मान करना और इसके लिए खतरा पैदा करने वाली परिस्थितियाँ पैदा न करना।

(vi) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियमों का पालन करना।

(vii) विवादों को शान्तिपूर्ण साधनों से सुलझाना।

(viii) अपने क्षेत्राधिकार के सभी व्यक्तियों को मानवीय अधिकार एवं मौलिक स्वतन्त्रताएँ प्रदान करना। ऐसा करते समय जाति, धर्म, भाषा आदि का कोई भेदभाव न करना और सभी के साथ समानतापूर्ण बर्ताव करना।

(ट) न्यूरेम्बर्ग सिद्धान्तों की रचना—न्यूरेम्बर्ग में मित्र राष्ट्रों ने द्वितीय युद्ध के बाद जर्मनी के प्रधान सेनापतियों और प्रमुख अधिकारियों पर मुकदमे चलाए। जुलाई, 1950 में चलाए गए इन अभियोगों में और संघ के चार्टर में स्वीकार किए गए युद्ध अपराधों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने मुख्यत सात सिद्धान्त स्वीकार किए। इनका उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति दण्ड का भागी होगा।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वाला देश राष्ट्रीय कानून का बहाना नहीं ले सकता। वह यह तर्क नहीं दे सकता कि राष्ट्रीय कानून उसे निर्दोष साबित करता है।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्य अथवा शासन के अध्यक्ष पर भी समान रूप से लागू होगा। वे अपराध की जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकते।

(iv) किसी राज्य की सरकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून से ऊपर नहीं है और इसीलिए सरकारी आदेश का बहाना लेकर कोई व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन के दोष से अपने को मुक्त नहीं कर सकता।

(v) अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार देता है कि वह अपने ऊपर लगाए गए दोषों की जाँच करा सके और कानून तथा तथ्यों के माध्यम से अपनी रक्षा कर सके।

(vi) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से तीन प्रकार के कानून को दण्डनीय माना गया है। ये हैं—शान्ति के विरुद्ध किए हुए अपराध, युद्ध अपराध और मानवता के विरुद्ध किए गए अपराध।

(vii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से उपर्युक्त अपराधों में सहयोग देना भी कानून का उल्लंघन है और यह दण्डनीय है।

(स) मानवता की शान्ति और सुरक्षा के विरुद्ध अपराधों की प्रारूप संहिता—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को संकट में डालने वाले निम्नलिखित अपराधों का उल्लेख किया है—

(i) आक्रमण से सम्बन्धित कोई कार्य—आक्रमण उसी स्थिति में माना जाएगा, जबकि कोई देश राष्ट्रीय अथवा सामूहिक सुरक्षा के अतिरिक्त उद्देश्य के लिए सेना का प्रयोग करे।

(ii) आक्रमण की धमकी देना।

(iii) आक्रमण के लिए सशस्त्र सेनाएँ भेजने की तैयारी करना।

(iv) किसी अन्य राज्य में गृह-युद्ध को प्रोत्साहन देना।

(v) जातिवध का कार्य करना और अनुचित रूप से दूसरे प्रदेश को अपने में मिला लना।

(द) अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने सन् 19:0 में सोचा कि अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी मामलों पर विचार करने के लिए एक न्यायालय की स्थापना की जाए। इस न्यायालय को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से स्वतन्त्र रखने की बात कही गई। महासभा ने इस सम्बन्ध में एक समिति नियुक्त की जिसने अपनी सिफारिशों में बताया कि यह महासभा के प्रस्ताव द्वारा नहीं वरन् समझौते द्वारा बनाया जाए। यह सामयिक न होकर स्थाई रूप में बनाया जाए, महासभा द्वारा 9 वर्ष के लिए 9 कानून विशेषज्ञों को इसका न्यायाधीश चुना जाए।

(य) अन्य कार्य—विधि आयोग ने कुछ अन्य अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में भी नियम बनाए हैं और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कलेवर को बढ़ाने में योगदान किया है। सन्धियों के बारे में इसने विभिन्न नियम बनाए जो सन्धियाँ तैयार करने एवं स्वीकार करने आदि से सम्बन्ध रखते हैं। इसके अतिरिक्त समुद्र में जीवन की सुरक्षा, जहाजों की राष्ट्रीयता, समुद्री डकैती एवं दास व्यापार करने वाले जहाजों को पकड़ने का अधिकार आदि के सम्बन्ध में नियम बनाए गए। विधि आयोग ने अनेक विषयों पर नियम बनाए और उनको प्रत्येक राज्य के पास स्वीकृति के लिए भेजा। राज्यों की सम्मतियाँ आने पर विधि आयोग ने कुछ विषयों से सम्बन्धित नियमों का अन्तिम प्रारूप तैयार किया। विधि आयोग ने संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपयोगी ग्रन्थों, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के प्रतिवेदनों, संयुक्त राष्ट्रसंघ की सन्धियों और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वार्षिक विवरण के प्रकाशन पर पर्याप्त बल दिया है।

संहिताकरण का भविष्य
(Future of Codification)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण की प्रक्रिया इन कानूनों के विकास की दूसरी प्रणालियों से भिन्न है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का विकास इस बात पर निर्भर करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज की रचना करने वाले विभिन्न देश एक दूसरे पर कितना विश्वास करते हैं। यह आशा की जाती है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधीन

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापन की प्रक्रिया कानून की अनेक दूरियों को मिटाने में समर्थ हो सकेगी। जहाँ तक इन अभिसमयों की विषय-वस्तु का सम्बन्ध है वह अन्तर्राष्ट्रीय ऐसा क्षेत्र हो सकता है जो अभी तक सामान्य नियमों से प्रशासित न हुआ हो। इनके सम्बन्ध में सहिताकरण की अपेक्षा व्यवस्थापन की प्रक्रिया अपनानी होगी। यह आशा की जाती है कि न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अनेक विस्तृत नियमों का विकास अपने निर्णयों द्वारा करेगा। फिर भी परम्पराओं की रचना द्वारा न्यायिक प्रणाली से कानून का विकास सहिताकरण नहीं माना जा सकता।

सहिताकरण का भविष्य सम्बन्धित परिस्थितियों पर निर्भर करता है। सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर मे घोषित किए गए सहिताकरण के उद्देश्यों को राज्यो के कम महत्त्वपूर्ण सम्बन्धों के बारे मे बिना अधिक कठिनाई के प्राप्त किया जा सकता है किन्तु जहाँ राज्यो के स्वार्थ टकराते हैं वहाँ इस प्रकार का कोई समझौता नहीं हो सकता। दूसरे विषयो में राज्यों के मध्य विश्वास की भावना सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के सफल सचालन के साथ-साथ विकसित होगी। अनेक अतीतकालीन विवादपूर्ण मामले सुरक्षा के राष्ट्रीय हित के सामने महत्त्वहीन बन गए। राज्यों की पारस्परिक निर्भरता बढने के साथ-साथ नियमो के पालन के प्रति उनकी भावना का विकास भी हुआ। प्रो फेनविक के कथनानुसार, "राज्यों के अनेक सम्बन्धों ने अब तक सहिताकरण का विरोध किया है किन्तु अधिक पारस्परिक विश्वास के वातावरण मे अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होने की सम्भावना है।" आशा है यह सम्भावना वास्तविकता बनेगी।

6

राज्य–सार्वभौम राज्य और आँशिक रूप से सार्वभौम राज्य, संघ, राष्ट्र-मण्डल, तटस्थीकृत राज्य

(States-Sovereign States and Part Sovereign States, Unions, Commonwealth of Nations, Neutralized States)

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व : राज्यों का स्वरूप और प्रकार

(International Personality : The Nature and Classification of States)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध राष्ट्रों के परिवार से है। इसमें उन नियमों को शामिल किया जाता है जिनको सभ्य राज्यों ने अपने आपसी व्यवहार के लिए कानूनी रूप से बाध्य माना है। प्रत्येक राज्य जो एक सभ्य राज्य है राष्ट्रों के इस परिवार का सदस्य है और इस प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति है।

अन्तर्राष्ट्रीय समाज की जड़ें उस समय के यूरोपियन राज्यों की परम्पराओं में निहित हैं जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने आधुनिक रूप धारण किया। यह सच है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज की धारणा अत्यन्त कानूनी प्रकृति की थी और यह ऐसी किसी संस्था में अभिव्यक्त नहीं होती थी जो इसे कानूनी रूप प्रदान कर सके। कानूनी व्यवस्था का अस्तित्व और व्यवहार इस बात की माँग करता है कि सामान्य मूल्यों और दृष्टिकोणों की एक व्यवस्था का अस्तित्व हो। यही भावना एक समाज की भावना है जिसने राष्ट्रों के परिवार का रूप निर्धारित किया है।

सम्पूर्ण मानवता के समाज की धारणा प्राचीन काल से ही विचारकों के चिंतन का आदर्श रही है। स्टोइक दार्शनिकों से प्रारम्भ होकर यह अनेक सम्प्रदायों और विचारकों के आकर्षण का केन्द्र रही। पुनर्जागृति के काल में ये विचार प्रकट किए गए कि मनुष्य की प्रकृति, आवश्यकता और इच्छा पारस्परिक सहायतापूर्ण है जो एक व्यक्तिगत राज्य में पूरी नहीं हो सकती। इसके लिए सम्पूर्ण मानवता को एक महान् समाज में परिणत करना होगा। वर्तमान समाज में यह स्वीकार किया जाता है कि एक विश्वव्यापी समाज कायम है। इसका प्रमाण यह है कि अनेक लोग इस प्रकार बातें करते हैं, लिखते हैं और व्यवहार भी करते हैं मानो वे एक ही समाज

के सदस्य हैं। अनेक अवसरों पर राज्यों की आधारभूत एकता स्पष्ट होती है; किन्तु इसस यह नहीं समझना चाहिए कि विश्व समाज उतनी ही एकता और एकरूपता रखता है जितनी एक राज्य में होती है। राज्यों के समाज में एकता, सामाजिक भावना और इसके व्यक्तिगत सदस्यों में किसी सामान्य नियम का पालन करने की इच्छा विद्यमान रहती है। जब हम वास्तविक राष्ट्रीय व्यवहार की दृष्टि से देखते हैं तो पाते हैं कि स्वतन्त्र राज्यों द्वारा बाध्यकारी रूप से स्वीकृत कोई भी सामान्य मूल्य नहीं है। मि. ग्लान का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज एक सुचालित व्यवस्था की अपेक्षा सम्भावित व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। बन्थम ने समाज की परिभाषा करते हुए उसे एक काल्पनिक निकाय माना है। इसके व्यक्तिगत सदस्य आवश्यक अंग माने जाते हैं। सम्पूर्ण समाज का हित मूलतः इसके कुछ सदस्यों के हितों का योग है।

विश्व समाज
(The World Community)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रकृति विश्व समाज की प्रकृति द्वारा निर्धारित होती है और इसलिए विश्व समाज का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मूल्यांकन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बन जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के साथ-साथ अनेक ऐसे तत्त्व भी विकसित होते जा रहे हैं जिन्होंने राज्यों को एक-दूसरे पर निर्भर बनाया है। वैज्ञानिक प्रगति ने सुविधाओं में वृद्धि की है और संचार के द्रुतगामी साधन उपलब्ध कराए हैं। व्यापार के विकास ने दूसरे देशों की वस्तुओं के लिए माँग पैदा की। प्रो ब्रायर्ली का कहना है "यदि मानवीय व्यवहार अधिक बुद्धिपूर्वक व्यवस्थित होंने और यदि व्यक्ति अपने हित को और भली प्रकार देख सकते तो राज्यों की पारस्परिक निर्भरता उनमें सामाजिकता की भावना ला सकती थी।" केवल भौतिक चीजों की निर्भरता पर्याप्त नहीं है। उनमें सामान्य सामाजिक चेतना होनी चाहिए। बिना इसके वे न केवल भिन्न हैं वरन् भेदभाव की दिशा में भी बढ़ सकते हैं। किसी भी कानून व्यवस्था के पीछे समान दायित्वों की भावना का होना आवश्यक है। यह किसी कानून के पीछे रहने वाली आवश्यक शर्त है। कानून की शक्ति इसी भावना के आधार पर मापी जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय समाज की कानूनी प्रकृति के सम्बन्ध में 19वीं शताब्दी के विचारकों ने अधिक नहीं लिखा है। उस समय इसका व्यक्तिगत सदस्य राज्यों से पृथक् नहीं था; किन्तु फिर भी यह केवल न्याय की कल्पना से अधिक था। यह एक ऐसा समाज था जिसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को स्वीकार कर लिया था और एक-दूसरे के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध बना लिए थे। समय गुजरने के साथ-साथ न्यायिक धारणा अधिक से अधिक मूर्त रूप धारण करती चली गई। अन्तर्राष्ट्रीय समाज का सदस्य बनने पर राज्यों को कुछ अधिकार और दायित्व सौंपे जाने लगे। जब एक नए राज्य को मान्यता दी जाती है तो मान लिया जाता है कि वह राज्य

अन्तर्राष्ट्रीय समाज के दायित्वों को स्वीकार करेगा और सामान्य रूप से स्वीकृत नियमों के विपरीत व्यवहार नहीं करेगा।

न्याय वेलाम्रो ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा संगठनों में अन्तर्राष्ट्रीय संघ की अनुभूति की है। सन् 1815 की वियना कांग्रेस को राष्ट्रों के परिवार की स्वनियुक्त कार्यपालिका समिति माना जा सकता है जिसने नेपोलियन के युद्धों की समाप्ति के बाद व्यवस्था की स्थापना का प्रयास किया। सन् 1854–1856 का पेरिस सम्मेलन और सन 1878 का बर्लिन सम्मेलन यूरोप की प्रमुख शक्तियों द्वारा यूरोपीय कार्यों को नियमित करने का एक अन्य उदाहरण है। सन् 1885 की बर्लिन कांग्रेस ने अफ्रीका का शान्तिपूर्ण विभाजन किया। इसके विभाजन को दूसरी शक्तियों द्वारा भी स्वीकार किया गया। सन् 1899 और 1907 के हेग सम्मेलनों में अन्तर्राष्ट्रीय समाज का रूप अधिक निखर कर सामने आया। सन् 1920 में राष्ट्रसंघ की स्थापना ने राष्ट्रों के समाज को अधिक संगठित करने का प्रयास किया। संघ के जन्मदाताओं ने आशा की थी कि कुछ समय बाद संसार के सभी देश इसे सामान्य रूप से स्वीकार कर लेंगे। संयुक्तराज्य अमेरिका स्थायी रूप से राष्ट्रसंघ से बाहर रहा। दूसरे देश भी इसके सदस्य नहीं बन सके। फलतः यह विश्व समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर सका। राष्ट्रसंघ के बाहर भी राज्यों के समूह बनने लगे। इसके परिणामस्वरूप अनेक कानूनी और व्यावहारिक उलझनें आईं। राज्यों का पुराना समाज राष्ट्रसंघ के साथ चलता रहा और समय-समय पर दोनों के बीच संघर्ष भी उत्पन्न हुआ।

जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून की शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय समाज की एकरूपता पर आधारित मानते हैं उनको यह जानकर निराशा होती है कि विश्व समाज में एकरूपता की अपेक्षा फूट के अवसर अधिक हैं। इतने पर भी आशा की किरण यह दिखाई देती है कि विश्व समाज की रचना के लिए सतत प्रयत्न किए जा रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज को ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जिनके माध्यम से इसके सदस्य एक जैसे सामाजिक उद्देश्यों के लिए साथ मिलकर काम करना सीखें। राष्ट्रसंघ इस दृष्टि से प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयोग था किन्तु सफल न हो सका। संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में दूसरा प्रयास किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय समाज के कानूनी स्तर के सम्बन्ध में विचारकों के मध्य मतभेद है। इस समाज में आने वाले नए सदस्य राज्य स्वाभाविक रूप से परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून से बँध जाते हैं। उनको सामान्य रूप से इनका पालन करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में अमेरिकी विदेश मन्त्री डी. वैबस्टर (D Webster) ने सन् 1842 में कहा था कि— प्रत्येक राष्ट्र स्वयं की प्रार्थना पर जब सभ्य सरकारों के बीच ले लिया जाता है तो उसे समझना चाहिए कि वह न केवल सम्प्रभुता के अधिकार और राष्ट्रीय चरित्र का सम्मान रखता है वरन् उस उन सभी सिद्धान्तों, कानूनों और परम्पराओं का भी विश्वसनीय रूप से पालन करना होगा जो सभ्य राष्ट्रों द्वारा मान्य हो चुके हैं और जो युद्ध के दुर्भाग्यों को घटाने का प्रयत्न करते हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के व्यक्ति- राज्य
(Persons of International Law The States)

राष्ट्रों के समाज के सदस्य कौन होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर राज्यों का नाम लेकर दिया जा सकता है। राज्य अपनी परिभाषा के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य होते हैं। यद्यपि यूरोपीय कोयला और इस्पात समाज आदि की प्रकृति भी कानूनी व्यक्तित्व रखती है किन्तु वे ऐसे व्यक्ति नहीं है जिनको राष्ट्रों के परिवार का सदस्य माना जा सके। केवल राज्यों को ही यह स्तर प्रदान किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उद्देश्य विभिन्न राज्यों के आपसी सम्बन्धों का नियन्त्रण करना है। इसलिए इसका प्रधान विषय राज्य ही बन जाते हैं।

राज्य का अर्थ
(The Meaning of States)

राज्य का अर्थ और परिभाषा विचारकों ने अलग अलग अभिव्यक्त की है। प्रो फेनविक के कथनानुसार—"जैसा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे समझा जाता है, राज्य एक स्थायी रूप से सगठित राजनीतिक समाज है जिसका निश्चित प्रदेश होता है और जो अपने प्रदेश की सीमाओं मे किसी दूसरे राज्य के नियन्त्रण से स्वतन्त्र रहता है।" कई लोग राष्ट्र शब्द का प्रयोग राज्य के समानार्थक रूप मे कर देते हैं किन्तु ऐसा करना सही नहीं है। राष्ट्र का अर्थ लोगों के ऐसे निकाय से है जो बहुत कुछ एक जाति, धर्म भाषा और ऐतिहासिक परम्पराओं वाले होते हैं। एक अन्य विचारक मि. हॉल (Mr Hall)ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से राज्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—"स्वतन्त्र राज्य की रचना करने वाला समाज स्थायी रूप से राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति के लिए सगठित होता है। उसका एक निश्चित प्रदेश होता है और बाहरी नियन्त्रण से मुक्त होता है।" प्रो गार्नर ने राज्य को बहुसख्यक व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय माना है जो किसी प्रदेश के निश्चित भाग मे स्थायी रूप से रहता हो, बाहरी शक्ति के नियन्त्रण से पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से स्वतन्त्र हो और जिसमे ऐसी सरकार स्थित हो जिसके आदेशों का पालन नागरिकों के विशाल समुदाय द्वारा स्वभाववश किया जाता हो।

प्रो आयर्ली ने राज्य एक ऐसी सस्था को माना है जिसे कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लोग स्थापित करते हैं। इन उद्देश्यो मे व्यवस्था की स्थापना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक राज्य प्रादेशिक होते हैं। उनकी सरकारें अपनी सीमाओं में व्यक्तियों और वस्तुओं पर नियन्त्रण रखती हैं। राज्य का अर्थ उसके प्रदेश मे रहने वाले सम्पूर्ण समाज से नहीं है। यह अनेक सस्थाओं मे से एक सस्था है। दूसरी सस्थाएँ भी व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि राज्य इन सब सस्थाओं मे अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रो ओपेनहीम ने माना है कि—"एक राज्य का अस्तित्व तब माना जाता है जब जनता अपनी प्रभुसत्ता-सम्पन्न सरकार के आधीन किसी देश मे बस जाती है।"

इस प्रकार राज्य के अस्तित्व के लिए चार आवश्यक तत्वों का होना वांछनीय है—प्रथम तत्व जनता है। जनता का अर्थ एक साथ जीवन बिताने वाले नर-नारियों के समूह से है, चाहे उनकी जाति, धर्म, रंग आदि कुछ भी हो। दूसरा तत्व एक निश्चित प्रदेश का होना है जिसमें लोग रह सकें। जहाँ तहाँ घूमने वाली जनता राज्य नहीं कही जा सकती। यह प्रदेश छोटा और बड़ा दो प्रकार का हो सकता है। तीसरे, राज्य में सरकार होनी चाहिए अर्थात् जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले एक अथवा अधिक व्यक्ति हों जो राज्य के कानून के अनुसार शासन का संचालन करें। अराजकतापूर्ण अव्यवस्थित समाज को राज्य नहीं कहा जा सकता। राज्य की चौथी और अन्तिम शर्त सरकार का सम्प्रभु होना है। राज्य एक सर्वोच्च सत्ता है और अन्य सभी सांसारिक सत्ताओं से स्वतंत्र होती है।[1] सम्प्रभु शक्ति पर आन्तरिक या बाहरी किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं रहता।

संयुक्तराज्य अमेरिका तथा दक्षिणी अमेरिका के राज्यों के बीच सन् 1933 में सम्पन्न हुए माण्टेविडियो के समझौते (Montevideo Convention) की पहली धारा में राज्य की चार विशेषताएँ बतलाई गई हैं—

1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय के रूप में राज्य के पास स्थायी आबादी होनी चाहिए।

2 राज्य के पास सुनिश्चित प्रदेश होना चाहिए।

3 एक निश्चित सरकार होनी चाहिए जिसके आदेशों को उस प्रदेश पर बसे सभी व्यक्तियों, कानूनी इकाइयों एवं संस्थाओं पर निर्विरोध रूप से लागू किया जाता हो।

4 अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता होनी चाहिए। क्षमता का अर्थ यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के निर्वाह की इच्छा और क्षमता से है। यह क्षमता किसी संघ राज्य (Federation) के सदस्य को नहीं होती, संरक्षित राज्य (Protectorate) ही विदेशी मामलों में स्वतंत्र नहीं होते, अतः उन्हें राज्य नहीं माना जाता है। उदाहरणार्थ, भारत के संघ की विभिन्न इकाइयों, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, बंगाल, आदि को यह अधिकार नहीं है, अत. 'राज्य' कहलाने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय परिभाषा की दृष्टि से वे राज्य की श्रेणी में नहीं आते।

अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री हॉल (Hall) ने राज्य होने के लिए एक आवश्यक शर्त "यूरोपियन सभ्यता का अनुयायी होना बताया है।"[2] हॉल का मत है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून आधुनिक यूरोपियन सभ्यता की उपज है, इसे विभिन्न प्रकार की सभ्यता वाले अन्य देश नहीं समझ सकते, अतः उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून से नियन्त्रित होने वाला राज्य नहीं माना जा सकता—वे तभी राज्य बन सकते हैं जबकि विधिवत् किसी संघ द्वारा वे इस कानून को स्वीकार करें। टर्की को सन् 1856 की पेरिस की

1 *Oppenheim* : International Law, Part I, p 119.
2 *Hall* International Law, p 47-49

संधि द्वारा यूरोप के सभ्य राज्यों में स्वीकार किया गया था और जापान को सन् 1886 में जेनेवा समझौता करने पर सभ्य राज्य माना गया था। चूँकि आजकल एशिया और अफ्रीका के सभी राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त स्वीकार कर लिए हैं, हॉल की उपरोक्त शर्तों का अब कोई महत्त्व नहीं रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से राज्य होने की एक अन्य आवश्यकता तो यह है कि उसे अन्य राज्यों द्वारा मान्यता (Recognition) मिले। जब तक यह मान्यता नहीं मिलती, वह राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति (International Person) का रूप धारण नहीं कर सकता।

प्रो. फिलमोर (Prof Philmore) ने राज्य एक ऐसी जनता को कहा है जो स्थित भू-भाग पर स्थायी रूप से निवास करती है, एक जैसे कानूनों, आदतों और रिवाजों से बंधी हुई है, एक संगठित सरकार के माध्यम से अपनी सीमा के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों और वस्तुओं पर स्वतंत्र प्रभुसत्ता का प्रयोग एवं नियन्त्रण करती है और जिसे धरती के राज्यों के साथ युद्ध और संधि करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार है।

उपरोक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय के रूप में राज्य के पाँच मुख्य आवश्यक तत्त्व हैं—1 जनता (Population) 2. प्रदेश (Territory), 3 राजनीतिक संगठन या सरकार (Government), 4 सम्प्रभुता (Sovereignty) तथा 5 अन्य राज्यों द्वारा इसे दी गई मान्यता। राज्य के ये तत्त्व राष्ट्रीय दृष्टि से अनेक विशेषताओं में प्रकट होते हैं। उदाहरणार्थ, प्रत्येक राज्य का अधिकार है कि अपने प्रदेश में व्यक्तियों पर अपना शासन लागू कर सके तथा उन पर कर लगा सके। दूसरे शब्दों में वह प्रभुसत्ता और स्वतन्त्रता का प्रयोग कर सकता है। राज्य को स्वयं की जल, स्थल और वायु सेना रखने का अधिकार है। प्रत्येक राज्य का अपना पृथक् झण्डा होता है और वह दूसरे राज्य में अपने राजदूत भेजता है। राज्य को दूसरे राज्यों के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का और उनके साथ शान्ति-संधि करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त दूसरे राज्यों द्वारा इसके अस्तित्व को मान्यता भी प्रदान की जाती है।

राज्यों की स्थिति
(Position of States)

राज्यों की स्थिति की सही जानकारी के लिए उनके मौलिक अधिकारों एवं दायित्वों का अध्ययन करना आवश्यक है। जैसे एक राज्य में सभी नागरिकों के कुछ मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य माने जाते हैं, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कानूनी व्यक्तित्व रखने वाले राज्यों के कुछ मूलभूत अधिकार स्वीकार किए जाते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधि आयोगों ने राज्यों के अधिकारों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार विभिन्न राज्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों की संख्या 14 बताई गई है। ये हैं–स्वतन्त्रता का अधिकार, अपने प्रदेश की सभी वस्तुओं एवं व्यक्तियों पर क्षेत्राधिकार के प्रयोग का अधिकार, दूसरे राज्यों के आन्तरिक या बाहरी मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करने का कर्त्तव्य, दूसरे राज्यों में गृह युद्ध प्रेरित न करने या न

छेड़ने के कर्त्तव्य, राज्यों की समानता का अधिकार, बिना किसी भेदभाव के मानवीय अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य से समान व्यवहार करने का कर्त्तव्य, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था को नष्ट करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न न होने देने का कर्त्तव्य, दूसरे देशों के साथ विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान करने का कर्त्तव्य, राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का परित्याग, संयुक्त राष्ट्रसंघ की आज्ञानुसार दूसरे देशों के साथ निरोधात्मक कार्यवाही, सशस्त्र हमले के विरुद्ध व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा का अधिकार, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ तथा कानून द्वारा उत्पन्न दायित्वों का ईमानदारी के साथ पालन और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार दूसरे राज्य के साथ आचरण आदि। राज्य के इन सभी अधिकारों और कर्त्तव्यों में स्वतन्त्रता और समानता का अधिकार विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

राज्यों की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता
(Independence and Sovereignty of States)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अभिनेता 'राज्य' होते हैं। ये राज्य अपनी प्रकृति के अनुसार स्वतन्त्र और सम्प्रभु हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य राज्यों को बाहरी और आन्तरिक सम्प्रभुता प्राप्त होती है। प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों के बाहरी नियन्त्रण से मुक्त है और अपने क्षेत्र के सभी व्यक्तियों एवं संस्थाओं पर उसे पूरा अधिकार प्राप्त है। एक राज्य अपनी विदेश नीति स्वयं तय करने का अधिकार रखता है। अपने क्षेत्र में रहने वाले विदेशी नागरिकों और उनकी सम्पत्ति पर भी उसका पूरा अधिकार रहता है। अपने नागरिकों को दूसरे देशों से बुलाकर उन पर मुकदमे चला सकता है। सम्भवतः इसी अर्थ में ऑस्टिन, बोदाँ और हॉब्स ने सम्प्रभुता को असीमित, अविभाज्य, अपरिमेय और अनियन्त्रित कहा है। अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को दूर करने के लिए सम्प्रभुता की इस प्रकार की धारणा अनिवार्य थी।

राज्य की पूर्ण सम्प्रभुता की यह धारणा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मान्यताओं से भिन्न दिखाई देती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रत्येक लेखक ने अपने विषय को पूर्ण सम्प्रभुता के साथ समायोजित करने का प्रयास किया है। उनके प्रयास सम्प्रभुता की स्व-सीमा के विचार पर आधारित हैं। इस सम्बन्ध में एक सिद्धान्त यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून, समन्वय (Co-ordination) का कानून है। यह अधीनस्थता का कानून नहीं है। इतने पर भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सम्प्रभुता के ऊपर कुछ सीमा रहनी चाहिए। इस प्रकार की विभिन्न सीमाओं का उल्लेख किया जा सकता है। पहली सीमा द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय सन्धियों द्वारा लगाई जा सकती है जिन्हें सम्बन्धित राज्य स्वयं स्वीकार करते हैं। दूसरी सीमा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की है और कोई भी सभ्य राज्य इसका उल्लंघन नहीं करता। यद्यपि प्रत्येक राज्य को अधिकार है कि दूसरे देश के नागरिकों के साथ मनमाना व्यवहार करे। इतने पर भी वास्तविक जगत में प्रायः प्रत्येक राज्य विदेशी नागरिकों के साथ सज्जनतापूर्ण व्यवहार करता है और अधिकारियों को विशेष अधिकार तथा

उन्मुक्तियाँ सौंपता है। प्रत्येक राज्य से यह आशा की जाती है कि अपनी सीमा वाले प्रादेशिक समुद्र में से दूसरे देशों के व्यापारिक जहाजों को सुरक्षित रूप से गुजरने देगा। प्रत्येक राज्य युद्ध छेड़ने का अधिकार रखता है किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकारपत्र पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध न करने की नीति अपनाई है। इस प्रकार सम्प्रभुता के अधीन प्रत्येक अधिकार रहते हुए भी राज्य स्वयं के ऊपर सीमाएँ लगा लेता है। ऐसा करना उचित भी है।

प्रो ओपेनहीम के मतानुसार "यदि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है, तो कानून निश्चय ही उनके ऊपर है और उन्हें कानून की अधीनस्थता स्वीकार करनी पड़ेगी। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में शान्ति व्यवस्था बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि स्वतन्त्र राष्ट्र-राज्यों को कुछ अंश में अपनी प्रभुसत्ता का त्याग करना होगा।" प्रो स्टॉर्क के कथनानुसार "वर्तमान समय में प्राय सभी देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के हितों की दृष्टि से अपनी स्वतन्त्रता पर कुछ पाबन्दियाँ लगाना स्वीकार किया है।" द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद शान्ति के सगठन का अध्ययन करने के लिए नियुक्त किए गए एक अमेरिकी आयोग ने लिखा है कि "एक सम्प्रभु राज्य अपने विवादों का स्वयं निर्णय लेने की शक्ति का दावा करता है, अधिकारों की अपनी मान्यता को लागू करने, असीमित रूप से अपने हथियारों को बढ़ाने, अपने देशवासियों के साथ मनचाहा व्यवहार करने और पड़ोसियों का ध्यान रखे बिना अपने आर्थिक जीवन का नियमन करने का दावा करता है। सम्प्रभुता के इन प्रतीकों को सीमित किया जाना चाहिए।" अन्तर्राष्ट्रीय कानूनवेत्ता के लिए सम्प्रभुता एक आदि-भौतिक मान्यता नहीं है और यह राज्यपन का मूलभूत भाग है वरन् यह एक ऐसा शब्द है जो कुछ विशेष बातों के योग का प्रतीक है। कानून के प्रति राज्य की विषयगतता का उद्देश्य अभी तक साकार नहीं हो सका है तथा इसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसकी हम अवहेलना नहीं कर सकते।

राज्य साधारणत स्वतन्त्र होता है और इसलिए वह पूर्ण रूप से सम्प्रभु है। साथ ही अनेक राज्य ऐसे भी हैं जो पूर्ण रूप से सम्प्रभु नहीं होते। इन राज्यों को अपूर्ण सम्प्रभुता प्राप्त कहा जाता है। सभी राज्यों को अपने कुछ कार्यों में सर्वोच्च-सत्ता और स्वतन्त्रता रहती है जबकि दूसरे कार्यों में वे दूसरे राज्यों की सत्ता के अधीन रहते हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या हम कम सम्प्रभु राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति या राष्ट्रों के कानून का विषय मान सकते हैं?

राज्य की सम्प्रभुता का अर्थ समय-समय पर बदलता रहा। 16वीं और 17वीं शताब्दियों में सम्प्रभुता को राज्य में पूर्ण और निरन्तर शक्ति माना जाता था। बोदाँ के मतानुसार यह राज्य में सर्वोच्च शक्ति होती है जिस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। इस पर केवल ईश्वर के आदेश और प्रकृति के नियम का प्रतिबन्ध रहता है। इस काल की सम्प्रभुता न केवल असीमित थी वरन् निरंकुश, अनियन्त्रित और अविभाज्य भी थी। 18वीं शताब्दी में वस्तुस्थिति बदलने के साथ सम्प्रभुता की धारणा में भी परिवर्तन आया। वैस्ट फेलिया की सन्धि के बाद अनेक छोटे-छोटे

राज्य स्थापित हो गए जो एक-दूसरे से स्वतन्त्र थे। इनमे से कुछ राज्यो के पास पूर्ण स्वतन्त्रता थी। जो राज्य दूसरे राज्यो पर निर्भर थे उनको सापेक्षिक सम्प्रभु या आधा सम्प्रभु कहा गया। इस अन्तर द्वारा सम्प्रभुता का विभाजन स्वीकार किया गया। जब सन् 1787 मे संयुक्तराज्य अमेरिका विभिन्न राज्यो का समूह बन गया तो सिद्धान्त रूप मे सम्प्रभु संघ राज्य के सदस्य के बीच सम्प्रभुता का विभाजन स्वीकार कर लिया गया। 19वीं शताब्दी मे सम्प्रभुता के विभाजन की समस्या समाप्त हो गई। अर्द्ध स्वतन्त्र राज्यो के अस्तित्व ने इस समस्या को अन्तिम रूप से सुलझा दिया। 20वी शताब्दी मे सम्प्रभुता की समस्या विचारकों के आकर्षण का केन्द्र बन गई। विश्व-युद्ध के बाद और पहले इस समस्या पर अलग-अलग विचार किया गया। वर्तमान विश्व मे राज्य की पूर्ण सम्प्रभुता की धारणा एक कल्पना मात्र है क्योंकि राज्य वास्तविक व्यवहार मे एक-दूसरे पर निर्भर हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं प्रगति के लिए यह आवश्यक बन गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को महत्त्व दिया जाए। बहुलवादियो ने सम्प्रभुता के विचार को बुरी तरह ठुकरा दिया।

राज्यो की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता दूसरे राज्यो पर यह दायित्व डाल देती है कि वे एक राज्य के मामलो मे हस्तक्षेप न करें। हस्तक्षेप अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से एक विशेष अर्थ रखता है। प्रो ओपेनहीम के कथनानुसार, "इसका अर्थ एक राज्य द्वारा वास्तविक स्थिति को बनाए रखने के लिए या बदलने के लिए दूसरे राज्यों के कार्यों मे तानाशाही ढग से बाधा डालना है।" यही बात प्रो जेक्सन ने कही है। उनके मतानुसार, "हस्तक्षेप एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य की स्वतन्त्रता का तानाशाही ढग से अतिक्रमण करना है।" स्पष्ट है कि हस्तक्षेप के अन्तर्गत एक राज्य दूसरे राज्य के मामलो मे उसकी इच्छा के विरुद्ध बाधा डालता है। हस्तक्षेप मे हमेशा यह धमकी छिपी रहती है कि यदि उसे नहीं माना गया तो क्या परिणाम होगा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के इतिहास मे इस प्रकार के हस्तक्षेपो के उदाहरणों की कमी नहीं है।

राज्यो की सम्प्रभुता से एक अन्य बात यह प्रकट होती है कि कोई राज्य दूसरे राज्य के प्रदेश मे अपनी प्रभुसत्ता का प्रयोग नही कर सकता। दूसरे शब्दों मे प्रत्येक राज्य अपने मामलो मे स्वयं निर्णय लेगा और अपनी सीमाओं के अन्तर्गत वह किसी की बात को मानने के लिए बाध्य नही है। यदि किसी राज्य की प्रभुसत्ता को हानि पहुँचाने वाला कार्य किया गया तो इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा खतरे मे पड़ जाएगी। इस दृष्टि से राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह दूसरे राज्यो की सम्प्रभु शक्ति का आदर करे और उसमे किसी प्रकार की बाधा न डाले। इस दृष्टि से राज्यों का यह कर्त्तव्य भी उल्लेखनीय बन जाता है कि वे अपनी सीमाओ मे ऐसे कार्यों तथा व्यक्तियो को प्रोत्साहन न दें जो दूसरे राज्यो में आतक फैलाने वाले हो। राष्ट्रसंघ ने अपने एक निर्णय मे घोषणा की है कि एक राज्य को अपने प्रदेश मे राजनीतिक उद्देश्य से आतकवादी कार्यों को न तो प्रोत्साहित करना चाहिए और न बर्दाश्त करना चाहिए; राजनीतिक प्रकृति के

आतंकवादी कार्यों का सदैव दमन करना चाहिए और विदेशी सरकार की प्रार्थना पर ऐसे कार्यों के दमन मे पूरा सहयोग देना चाहिए। विद्रोहियो को दिया गया प्रोत्साहन सम्बन्धित राज्य द्वारा एक शत्रुतापूर्ण कार्य समझा जाता है।

राज्यो की समानता का सिद्धान्त

(The Doctrine of the Equality of States)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विचारधारा मे राज्यो के कानून का सिद्धान्त प्रकृतिवादी लेखकों द्वारा वर्णित किया गया। इनके मतानुसार जिस प्रकार राज्य की स्थापना से पूर्व अर्थात् प्राकृतिक अवस्था मे सभी व्यक्तियो के समान अधिकार थे उसी प्रकार आजकल राज्य प्राकृतिक अवस्था मे हैं क्योकि विश्व राज्य का अभाव है। इस प्राकृतिक अवस्था मे सभी राज्य समान हैं। विभिन्न राज्यो के बीच यद्यपि आकार, जनसंख्या, शक्ति, सभ्यता आदि दृष्टियो से अनेक भिन्नताएँ पाई जाती हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि मे सभी राज्य समान होते हैं। इसका अर्थ यह है कि राज्यो के अधिकार और कर्त्तव्य पूर्ण रूप से एक जैसे होते हैं। प्रो फेनविक के कथनानुसार, 'प्रत्येक राज्य को समान रूप से अपनी सुरक्षा करने का अधिकार और दूसरो की सुरक्षा बनाए रखने का कर्त्तव्य प्राप्त है।" प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्रता का अधिकार समान रूप से दिया गया है। इसके अनुसार वह दूसरे राज्यो के मामलों में हस्तक्षेप किए बिना अपनी विदेश नीति और गृह-नीति का निर्धारण पूर्णत इच्छानुसार कर सकता है।

राज्यो की समानता से सम्बन्धित प्रकृतिवादियो का तर्क अनुपयुक्त प्रतीत होता है और किसी भी मापदण्ड पर सही नही उतरता। विश्व के राज्य धन, शक्ति, सभ्यता के स्तर, जनसंख्या और आकार की दृष्टि मे पर्याप्त असमानता रखते हैं। राज्यो की समानता से अर्थ केवल कानून के सम्मुख समानता से है। अनेक आधारो पर अन्तर रहते हुए भी विभिन्न राज्य कानून के सामने समान हैं। प्रो ओपेनहीम के मतानुसार राज्यो की यह कानूनी समानता चार परिणाम उत्पन्न करती है। ये निम्न प्रकार हैं—

1 अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो और विवादों मे प्रत्येक राज्य को मत देने का अधिकार होगा और वह केवल एक मत दे सकेगा। इसी सिद्धान्त के आधार पर संयुक्त राष्ट्रसंघ मे विशाल और शक्तिशाली राज्यो को भी एक मत देने का अधिकार है और छोटे-छोटे नवोदित राज्यो का भी एक ही मत देने का अधिकार है।

2 कानूनी दृष्टि से छोटे और बड़े सभी राज्यों का मत एक समान महत्त्व रखता है। एक कमजोर देश का मत भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना एक शक्तिशाली बड़े देश का मत महत्त्व रखता है।

3 किसी राज्य को दूसरे राज्य के ऊपर अपने अधिकार-क्षेत्र का दावा करने का अधिकार नही है दूसरे शब्दो मे, एक राज्य के नागरिको या अधिकारियो पर दूसरे राज्यो मे मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता।

4 एक राज्य के न्यायालय दूसरे राज्य के सरकारी कार्य की वैधता मे किसी

प्रकार का सन्देह प्रकट नहीं कर सकते क्योंकि वे उनके क्षेत्राधिकार के बाहर हैं। कानून की दृष्टि से ये सभी कथन सही हैं। समानता के किसी सिद्धान्त को स्पष्ट करने या न्यायोचित सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

वास्तविक व्यवहार में राज्यों की समानता का सिद्धान्त पूरा नहीं उतरता क्योंकि व्यवहार में बड़े और शक्तिशाली देश हमेशा छोटे और शक्तिहीन राज्यों की अपेक्षा अधिक विशेष अधिकार रखते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् के पाँच बड़े राज्यों को स्थाई पद मिला हुआ है। ये पाँचों महाशक्तियाँ विशेषाधिकार रखती हैं *जबकि दूसरे राज्यों को यह स्तर और शक्ति प्राप्त नहीं है। इसी आधार पर कुछ* विचारकों का यह कथन उपयुक्त है कि सब राज्यों की समानता का विचार सर्वथा असत्य है। राज्यों के आकार, प्रकार, जनसंख्या, प्रदेश, भौतिक साधनों और समृद्धि में महान् विषमता होने के कारण वे समान नहीं हैं। उनमें केवल एक दृष्टि से समानता है कि वे अपने घरेलू मामलों की व्यवस्था करने का पूरा अधिकार रखते हैं। प्रो ब्रायर्ली ने माना है कि सब राज्यों के अधिकार समान स्वीकार करना गलत है। राजनीतिक रूप से महाशक्तियों को राज्यों के बीच प्रमुखता मिली हुई है। राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ में इसको कानूनी प्रधानता के रूप में परिणत किया गया है। राज्यों के बीच अनेक असमानताएँ हैं। उदाहरण के लिए कुछ राज्य महाशक्तियों के संरक्षण राज्य हैं। दूसरे राज्यों का अधिकार-क्षेत्र समर्पण की पद्धति के कारण सीमित हो गया है। कुछ राज्यों को अपनी प्रजा के अल्पसंख्यकों के प्रति ऐसी अनेक कानूनी बाध्यताओं का पालन करना पड़ता है जिनसे दूसरे राज्य मुक्त हैं। यदि हम यह कहें कि विभिन्न राज्य वास्तव में चाहे कुछ भी करें किन्तु उन्हें समान अधिकार मिलने चाहिए तो यह सिद्धान्त भयंकर बन जाएगा। सन् 1907 के हेग सम्मेलन में यह तर्क सामने आया। जब न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की रचना की योजना बनाई गई तो इसे कुछ छोटी शक्तियों ने अस्वीकार कर दिया क्योंकि वे न्यायालय में सभी राज्यों के समान प्रतिनिधित्व में कम कोई बात स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। यह सच है कि वर्तमान संसार के विभिन्न राज्यों को अधिक अच्छे रूप में संगठित होना चाहिए किन्तु यदि छोटे या बड़े प्रत्येक राज्य की आवाज एक जैसी मानी जाएगी तो प्रत्येक नए सहकारी उद्यम में बाधा उत्पन्न होगी।

राज्यों में आपस का व्यवहार

यह बात तो स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार सब राज्य एक दूसरे के बराबर हैं, किन्तु सब राज्य धनबल या प्रभाव में बराबर नहीं हैं तथापि उनके आपस में मिलने-जुलने, पत्र व्यवहार और सलामी आदि के नियम बराबर की नींव पर बने हैं। पूर्व काल में कभी-कभी व्यावहारिक उपचारों के उल्लंघन के कारण युद्ध छिड़ जाते थे। *सभी देशों में उपचारों का बड़ा आदर था।* भारत के राज्यों में भी बहुत से नियम रहे हैं। किसका स्वागत कमरे के बाहर तक आकर किया जाए, किसके लिए आगे कमरे तक आया जाए, किसके लिए केवल खड़ा हुआ जाए, कौन आगे चले, किसका छत्र और डंके के साथ निकलने का अधिकार है यदि दो नरेश

मिलें तो कब और कौन दाहिने बैठे और कौन बाएँ बैठे, ये सब टेढ़े प्रश्न थे। पाश्चात्य देशो मे नियम है कि दो के मिलने पर जो बडा होगा वही पहले मिलने के लिए हाथ बढाएगा। छोटे का पहले हाथ बढाना बडे का अपमान है। कहा जाता है कि इग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् और सम्पादक मि. स्टेड जब रूस के जार से मिलने गए तब उन्होने अपना हाथ पहले बढा दिया, जिस कारण दोनों राज्यो मे लडाई की नौबत आ गई और किसी प्रकार झगडा शान्त हुआ किन्तु ये सब इतिहास की बातें हो गई हैं। आजकल पाश्चात्य जगत् मे इन पर कम ध्यान दिया जाता है, तथापि मर्यादा की प्रथा कायम है। सरकारी भोज मे किसी देश के राजदूत की पत्नी को भी गलत जगह बैठने का कह देने से राष्ट्र के मान अपमान का प्रश्न उठ खडा होता है। जिस राज्य को मान्यता प्राप्त नहीं हुई है, उसके प्रतिनिधि से मान्यता देने वाले राज्य न मिलते हैं न साथ बैठकर खाते हैं और न किसी प्रकार का व्यवहार खुलकर करते है। 18 अक्टूबर, 1954 मे मास्को मे एक रात्रि भोज था। वहाँ बैठने का प्रबन्ध इस प्रकार था कि ब्रिटिश, अमेरिकी और फ्रांसीसी राजदूतो की कुर्सियाँ उसी मेज पर लगी थीं जिस पर साम्यवादी चीन और पूर्वी जर्मनी के प्रतिनिधि बैठाए जाने वाले थे। इस पर ये तीनो राजदूत बिना भोजन किए ही उठकर चले आए, क्योंकि इनकी सरकारो ने इन दोनो राज्यो का मान्यता नहीं दी थी।

आजकल एक दूसरे से मिलने के समय प्राय निम्नलिखित क्रम का पालन किया जाता है—

(1) पहले पूर्ण प्रभु राज्य आते हैं।

(2) यदि किसी स्थान पर पोप उपस्थित हों तो रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के अनुयायी राज्यो के ऊपर उनका स्थान होता है। अन्य मतावलम्बी उनको यह प्रतिष्ठा नहीं देते।

(3) स्वतन्त्र राज्यो मे भी जिनके प्रधान अभिषिक्त नरेश हो, उनका स्थान दूसरे से पहले होता है। जहाँ अभिषिक्त नरेशों के साथ छोटे अनभिषिक्त नरेश मिलते हैं वहाँ तो यह नियम चलता है, पर सयुक्तराज्य अमेरिका और रूस जैसे प्रबल प्रजातन्त्र इस परिपाटी को नही मानते। उनका स्थान बडे-बडे नरेशों के साथ ही होता है। इन नियमो का पालन उन सब स्थलों पर होना है जहाँ राजाओ के प्रतिनिधि किसी कार्य-विशेष से सम्मिलित होते हैं, चाहे वे प्रतिनिधि स्वय नरेश या राष्ट्रपति हों या कोई मुख्य कर्मचारी।

सन्धि पर हस्ताक्षर करने के समय किस क्रम से हस्ताक्षर किए जाएँ, इसका भी बडा झगडा था। कभी तो चिट्ठी डालकर क्रम निश्चित होता था पर सन्धि की जो प्रति जिस राज्य में रहती थी उस पर राज्य के प्रतिनिधि का हस्ताक्षर सबसे ऊपर होता था। आज तो वर्णक्रमानुसार दस्तखत होते हैं। उदाहरणार्थ ब्रिटेन, अफगानिस्तान, भारत और पाकिस्तान तथा तुर्की में यदि सन्धि हो तो क्रमश: अफगानिस्तान, भारत, पाकिस्तान, तुर्की और इग्लैण्ड के हस्ताक्षर होगे। किसी

देश मे भिन्न-भिन्न राज्यो के भिन्न-भिन्न कोटि के राजदूत हो तो किसी उत्सव आदि मे एक कोटि के राजदूतों को उस राज्य मे राजदूत के पद पर आरूढ होने की तिथि के क्रम से स्थान मिलेगा। उदाहरणार्थ, यदि अमेरिका के दूत ने सन् 1956 मे पद ग्रहण किया और ब्राजील के राजदूत ने सन् 1955 मे तो उस अवस्था मे ब्राजील को प्रथम स्थान मिलेगा।

इसी नियम के अनुसार जब सन् 1947 मे भारत स्वतन्त्र हुआ, तब स्वतन्त्र राष्ट्रो की ओर से नीदरलैण्ड के राजदूत ने बधाई दी।

जगी जहाज तथा किलों से सलामी के नियम भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। पहले यह सर्वथा अनिश्चित था और प्राय झगडा हो जाता था। आजकल सलामी के प्रचलित नियम निम्न प्रकार हैं –

1. यदि कोई लडाई का जहाज किसी विदेशी बन्दरगाह मे प्रवेश करता है या उसके सामने से निकलता है तो वह पहले सलाम करता है, पर यदि उस पर उसके राज्य का प्रधान या राजदूत हो तो पहले बन्दरगाह से सलामी मिलती है, फिर सलामी का जवाब दिया जाता है। यदि बन्दरगाह मे कोई किला हो तो वह सलामी देता है, नही तो कोई लडाई का जहाज सलामी देता है। जवाब मे भी उतनी ही बार तोप दाग़ी जाती है।

2 यदि भिन्न-भिन्न राज्यो के जहाज मिलते हैं, तब पहले वह सलाम करता है जिसका नायक छोटे दर्जे का होता है।

3 यदि सैनिक जहाज और व्यापारी जहाज का सामना हो तो व्यापारी जहाज सलाम करता है। यदि उस पर तोप न हो तो वह अपना ऊपर वाला मस्तूल झुका देता है।

4 सलामी 21 तोपो से अधिक की नही होती।

भिन्न-भिन्न राज्य डाक, तार, टेलीफोन, रेल, बेतार के तार आदि के सम्बन्ध मे सन्धि द्वारा अथवा विचार-विनिमय द्वारा व्यवस्था करते रहे हैं। सयुक्त राष्ट्रसघ के सगठन के बाद इस प्रकार के अनेक कार्यों की व्यवस्था भिन्न-भिन्न सस्थाओ द्वारा होती है। इन सस्थाओं के प्रायः समस्त राज्य सदस्य हैं।

अनेक देश अपने यहाँ बनने वाले सामान को प्रश्रय देने के उद्देश्य से बाहर से आने वाले माल पर कर लगाते हैं और आवश्यकता के अनुसार आयात को बन्द भी कर देते हैं। इस तरह की रोक-टोक अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अवहेलना नहीं समझी जाती। अब तो राज्यो मे आर्थिक, व्यापारिक, स्वास्थ्य-सुधार आदि के सम्बन्ध मे भी सहयोग की भावना प्रबल होती जा रही है। सन् 1944 मे राज्यो मे अन्तर्राष्ट्रीय बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि (International Monetary Fund) के सम्बन्ध मे जो समझौता हुआ है, वह इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

प्रत्येक राज्य को अपने देश के प्रधान अथवा नागरिकों तथा विदेशियो को भी उपाधि देने का अधिकार है, किन्तु अन्य राज्य इस बात के लिए बाध्य नहीं हैं कि वे किसी प्रधान अथवा नागरिक की नई उपाधियो को स्वीकार करके पत्र इत्यादि व्यवहारादि मे उनका प्रयोग करें। स्वतन्त्र भारत ने ब्रिटेन द्वारा दी हुई उपाधियो

को स्वीकृत नही किया है, अतः आज सरकारी पत्र, रिपोर्ट आदि मे व्यक्ति विशेष के नाम के साथ उन उपाधियो का उल्लेख नहीं रहता, सिर्फ उन्हीं उपाधियों का उल्लेख होता है अथवा आदर किया जाता है जिन्हे स्वतन्त्र भारत की सरकार ने स्वीकार कर लिया है अथवा स्वय दिया है।

वास्तव मे सब राष्ट्र बराबर नहीं हैं और वैटल के शब्दो में बौने आदमी और बहुत बड़े तथा बलवान की शक्ति म अन्तर है। किन्तु हैं दोनो मानव। जिस प्रकार राज्य का नियम बलिष्ठ और कमजोर मे भेद नहीं करता, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि मे सब राज्य बराबर हैं और उनको दूसरो से बराबरी का व्यवहार करने का अधिकार है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता को तिलांजलि देकर किसी समृद्धिशाली के मातहत अपनी गरीबी अथवा अन्य परिस्थिति के कारण नौकरी करता है, उसी प्रकार विधि की दृष्टि मे समान होने पर भी छोटा और निर्बल राज्य अपनी आवश्यकता और सुविधा के अनुसार बड़े राज्यो से धन और शक्ति प्राप्त करने मे अपनी समानता खोकर भी लाभान्वित होता है। आज ससार के अनेक राज्य अमेरिका से धन, युद्ध सामग्री आदि की सहायता लेने के कारण अपने स्वतन्त्र व्यवहार को त्याग कर उसके इशारे पर चल रहे हैं।

निष्कर्ष यह है कि आपस के व्यवहार मे कोई राज्य किसी ऐसी बात को मानने के लिए बाध्य नही है, जिसे वह स्वीकृत नहीं करता, किन्तु अपने स्वार्थ के लिए वह दूसरे देश की इच्छा के मुताबिक बर्ताव करता है।

राज्यों का वर्गीकरण
(Classification of States)

राज्यो को उनके स्तर और स्थिति तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की दृष्टि से कई वर्गों म बाँटा जाता है। पहला वर्ग स्वतन्त्र (Independent) राज्यो का है जो पूर्ण प्रभुतासम्पन्न (Sovereign) होने स अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उपयुक्त विषय है। उदाहरणार्थ भारत, सयुक्तराज्य अमेरिका, ब्रिटेन या फ्रांस स्वतन्त्र, पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य हैं क्योंकि वे अपने आन्तरिक शासन मे अथवा वैदेशिक सम्बन्धो मे सब प्रकार के नियन्त्रणो से मुक्त हैं। किन्तु विश्व समाज मे पूर्णत स्वतन्त्र एव सम्प्रभु राज्यो के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सदस्य भी हैं जिन्हें स्वान ने 'सशर्त सदस्यता' कहा है। अनेक आंशिक रूप से प्रभुसत्ताधारी राज्य (Part Soereign States) हैं तथापि उनमे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के बहुत से लक्षण विद्यमान हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्यो की विभिन्न श्रेणियों का वर्गीकरण हम निम्नलिखित प्रकार से कर सकते हैं—

1 स्वतन्त्र राज्य (Independent States)—इस वर्ग मे हम उन राज्यों को ले सकते हैं जो पूर्ण प्रभुता-सम्पन्न हैं। राज्य की स्वतन्त्रता का अर्थ आन्तरिक और बाहरी दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता से है। एक स्वतन्त्र राज्य के निर्णय दूसरे राज्य द्वारा नियन्त्रित नहीं होते। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध बहुत कुछ ऐसे स्वतन्त्र राज्यों से रहता है। स्वतन्त्रता केवल एक वर्णनात्मक शब्द है। इसकी कोई

नैतिक विषय-वस्तु नहीं होती। आवश्यक नहीं कि एक स्वतन्त्र राज्य की स्वतन्त्रता नैतिक दृष्टि से सही या सामाजिक दृष्टि से वांछनीय हो। स्वतन्त्रता के अधिकार पर केवल तभी जोर दिया जाता है जब राज्य स्वतन्त्रता की स्थिति से आश्रयता की स्थिति की ओर गमन करता है। अमेरिका के स्वतन्त्र राज्यों ने जब अपना संघ बनाया तो ऐसा ही हुआ। इसमें केवल कानूनी स्तर का परिवर्तन नहीं होता वरन् एक नैतिक हानि भी होती है।

2. अधीनस्थ राज्य (Dependent States)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय केवल पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य ही नहीं होते वरन् ऐसे राज्य भी होते हैं जिनको दूसरे राज्यों पर किसी न किसी रूप में आश्रित कहा जा सकता है। लॉर्ड बर्किनहैड और वैस्टलेक आदि विद्वानों का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का विषय बनने के लिए किसी राज्य का स्वतन्त्र होना आवश्यक नहीं है। अधीनस्थ या पराधीन राज्यों का भी अपना जीवन होता है और उनके भी कुछ अधिकार होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। ऐसे राज्यों की सदस्यता सीमित अथवा सशर्त होती है। 19वीं शताब्दी में इन देशों के लिए अर्द्ध-सम्प्रभु राज्य की संज्ञा प्रयुक्त की जाती थी। सम्प्रभुता की धारणा के कारण इन शब्दों में तार्किक विरोधाभास दिखाई दिया और इसलिए इसके स्थान पर आश्रित या पराधीन राज्य शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। यह शब्द राज्यों की कानूनी तथा तथ्यगत् स्थिति को स्पष्ट कर देता है। इस श्रेणी के राज्य अपने घरेलू मामलों के प्रशासन पर पूरा नियन्त्रण रखते हैं अर्थात् उन्हें आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है किन्तु वे दूसरे राज्यों से अपने सम्बन्ध रखने में किसी न किसी राज्य की अधीनता स्वीकार करते हैं। इस श्रेणी के अधिकांश राज्य आजकल स्वतन्त्र राज्यों में गिने जाने लगे हैं।

3. वशवर्ती राज्य (Vassal States)—वशवर्ती राज्य उनको कहा जाता है जो किसी अधीश्वर अथवा अधिपति के पूर्ण नियन्त्रण में रहते हैं। ऐसे राज्यों की स्वतन्त्रता पर्याप्त सीमित होती है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इनका स्थान नगण्य रहता है। ये राज्य अपने घरेलू मामलों में कुछ स्वायत्तता का प्रयोग करते हैं किन्तु विदेशी सम्बन्धों की दृष्टि से पूर्ण रूपेण दूसरे देश पर निर्भर रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में ऐसे राज्यों का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता किन्तु फिर भी दूसरे देशों से ये सन्धि और विग्रह करते हैं और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय समाज में उनका स्थान बनता है। आन्तरिक मामले में स्वाधीन होने के कारण ये राज्य आंशिक रूप से सम्प्रभु कहे जा सकते हैं किन्तु विदेशी मामलों में ये दूसरे देश के अधीन रहने के कारण राज्यों के परिवार के सदस्य नहीं रह जाते। मिस्र, ट्रांसवाल, बाह्य मंगोलिया और तिब्बत आदि राज्य इस स्थिति के उदाहरण बन चुके हैं। सामान्यतः वशवर्ती राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व लुप्त हो जाता है, फिर भी इतिहास में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें अपवाद स्वरूप वशवर्ती राज्यों ने स्वतन्त्रतापूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन किया है। टर्की के संरक्षण में रहते हुए भी मिस्र को टर्की की अनुमति के बिना ही दूसरे राज्यों से संधियाँ करने की स्वतन्त्रता प्राप्त थ

4. सरक्षित राज्य (Protectorate)—सरक्षित शब्द का प्रयोग भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे ढीले ढाले रूप मे किया जाता है और विभिन्न प्रकार के अधीनस्थ राज्यों को इसके अन्तर्गत रखा जाता है। इनमे से कुछ तो निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखते हैं जबकि दूसरो के पास यह नहीं होता। सामान्य रूप से एक सरक्षित राज्य वह होता है जिसने औपचारिक सधि द्वारा अपने आपको किसी शक्तिशाली राज्य के सरक्षण मे रख दिया है, अपने विदेश-सम्बन्धों का नियत्रण इस राज्य को सौंप दिया है और घरेलू सरकार पर अपने नियत्रण को बहुत कुछ बनाए रखा है।

सरक्षणकर्त्ता राज्य ही सरक्षित राज्य के वैदेशिक सम्बन्धो का सचालन करता है। वशवर्ती राज्य और सरक्षित राज्यो के बीच अन्तर स्वायत्तता की मात्रा का है। कुछ बडे देशों के सविधान दूसरे राज्यों को वशवर्ती राज्य बनाने से रोकते हैं। ऐसी स्थिति मे वे सरक्षित राज्य रखते हैं। जो राज्य सरक्षित बनने से पहले स्वतत्र थे वे अपनी स्वेच्छा से सरक्षण स्वीकार करते हैं किन्तु इसके विपरीत वशवर्ती राज्य को दी गई स्वायत्ता अधिपति राज्य की मेहरबानी होती है। सन्धि मे बँधने से पूर्व सरक्षित राज्य के पास स्वतत्रता रहती है। कोई राज्य महाशक्तियों के एक निकाय के अथवा किसी एक राज्य के सरक्षण मे रह सकता है।

सरक्षित राज्य अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे पृथक् अस्तित्व न रखते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय होता है। यह आवश्यक नही कि ऐसा राज्य अपने सरक्षण के साथ ही युद्ध मे भाग ले। सरक्षण राज्य द्वारा की गई सधियाँ आवश्यक रूप से सरक्षित राज्य पर लागू नही होतीं।

सरक्षित राज्यो का विकास पिछली दो शताब्दियो मे ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद के विकास के कारण हुआ, किन्तु अब साम्राज्यवाद के पराभव के साथ इनका ह्रास हो रहा है। जिन राज्यों अथवा प्रदेशो को सीधे रूप में अपना वशवर्ती बनाने में दूसरे देशो का प्रबल विरोध होता था, अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष उत्पन्न होने की आशका होती थी, उनको प्राय: किसी राज्य के सरक्षण में मान लिया जाता है। एशिया और अफ्रीका मे इस प्रकार के बहुत से सरक्षित राज्य थे, किन्तु अब इन महाद्वीपो में नवजागरण और पाश्चात्य साम्राज्यवाद के अन्त के फलस्वरूप ऐसे देशों की सख्या नगण्य रह गई है। उदाहरणार्थ, पहले फ्रांस का अफ्रीका मे ट्यूनिस तथा मोरक्को पर, हिन्द चीन मे टोंकिन तथा कम्बोडिया पर, स्पेन का मोरक्को पर, अंग्रेजो का सन् 1914 से 1922 तक मिस्र एव मलाया प्रायद्वीप के राज्यो पर सरक्षण था। किन्तु सन् 1957 मे ट्यूनिस पर 1881 से चला आने वाला फ्रांस का सरक्षण समाप्त हो गया और ट्यूनिस एक स्वतन्त्र गणराज्य के रूप में स्थापित हुआ। इसी प्रकार सन् 1956 में फ्रांस और स्पेन दोनों ने मोरक्को को सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न स्वतन्त्र राज्य मान लिया। सितम्बर 1955 मे कम्बोडिया ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा की और मलाया के 9 राज्यो का सघ भी अगस्त, 1957 में ब्रिटिश सरक्षण से मुक्त हो गया। यूरोप मे इस समय केवल दो छोटे देश—

सरक्षित राज्य हैं—पहला फ्रांस और स्पेन की सीमा पर पिरेनीज पर्वतमाला का छोटा-सा राज्य एण्डोरा (Andorra), और दूसरा सैन मेरिनो (San Marino)। एण्डोरा का क्षेत्रफल केवल 175 वर्गमील है और जनसंख्या मात्र 5,200 है और यह राज्य फ्रांस तथा स्पेन के सयुक्त संरक्षण एव आधिपत्य मे है। सैन मैरिनो का क्षेत्रफल केवल 38 वर्गमील और जनसख्या 14,000 है और यह इटली के संरक्षण मे है। मिस्र ग्रेट ब्रिटेन और टर्की के बीच सन् 1914 मे युद्ध छिड़ने के पूर्व टर्की का सामत या वशवर्ती राज्य था किन्तु फिर विजयी ब्रिटेन ने मिस्र को अपने सरक्षकत्व मे ले लिया। सन् 1922 मे ब्रिटेन ने मिस्र को एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य घोषित किया, तथापि मिस्र के रक्षा सम्बन्धी कुछ विषय, ब्रिटिश यातायात, साधनो की सुरक्षा, मिस्र तथा सूडान मे अल्पसख्यको का सरक्षण आदि अपने विवेकानुसार निश्चय किए जाने के लिए अस्थाई रूप से अपने हाथो मे अलग रख लिए। अगस्त, 1936 मे ब्रिटेन और मिस्र के बीच मे एक मैत्री सन्धि हुई जिसके अनुसार ब्रिटेन ने मिस्र की प्रभुसत्ता को स्वीकार करते हुए भी स्वेज नहर पर उसकी रक्षा के लिए अपना सैनिक दल रखने का अधिकार अपने हाथ मे रखा। किन्तु अक्टूबर, सन् 1951 मे मिस्र ने ब्रिटिश सैनिक दलो को स्वेज नहर मे जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, समाप्त करके सन् 1936 की सन्धि को भग कर दिया। सन् 1880 मे ब्रिटेन और चीन के बीच हुई सन्धि के अनुसार सिक्किम पर ब्रिटिश सरक्षण स्वीकार किया गया था, और जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो सिक्किम के साथ एक सन्धि द्वारा भारत ने उस पर अपना सरक्षण स्थापित किया। तदनुसार सिक्किम को आन्तरिक विषयो मे पूरी स्वतन्त्रता रही किन्तु उसकी रक्षा, विदेश नीति तथा सचार साधनो का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर रहा। *अब सिक्किम राज्य अधिनियम, 1974' की धारा 30 तथा* भारतीय सविधान के 36वें सशोधन के फलस्वरूप सिक्किम की सरक्षित राज्य की हैसियत समाप्त हो गई है और 23 अप्रैल, 1975 से सिक्किम भारतीय सघ का 22वां राज्य बन गया है। भूटान राज्य भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर है और सिक्किम, तिब्बत एव नेफा को तीन तरफ से स्पर्श करता है। सन् 1865 की सन्धि द्वारा, जो कि तत्कालीन भारत सरकार और भूटान के बीच हुई थी, भूटान को भारतीय रियासत का रूप दिया गया, तथापि सिक्किम की भांति उसे भी एक विशेष स्थिति का राज्य माना गया। वर्तमान मे भूटान भारत का सरक्षित राज्य है और इस सम्बन्ध का आधार सन् 1949 की सन्धि है जिसके अनुसार आन्तरिक मामलों मे यद्यपि भूटान को पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त है लेकिन उसकी वैदेशिक नीतियो का नियन्त्रण भारत सरकार करती है। यद्यपि सितम्बर, 1971 मे यह सरक्षित राज्य सयुक्त राष्ट्रसघ का एक सदस्य बन गया, तथापि सन् 1949 की सन्धि यथावत् लागू है।

5. प्रशासित प्रदेश (Administered Provinces)—वशवर्ती राज्यों और सरक्षित प्रदेशो के अतिरिक्त ऐसे भूमिक्षेत्र भी होते हैं जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व नही के बराबर होता है। *प्रशासित प्रदेश शब्द का प्रयोग प्राय: ऐसे क्षेत्र के लिए किया* जाता है जो एक राज्य की सम्प्रभुता के अधीन है जबकि उस पर प्रशासनिक नियन्त्रण

दूसरे राज्य का होता है। सन् 1878 की बर्लिन सन्धि के अनुसार बोसानियाँ और हर्जेगोविना टर्की की सम्प्रभुता के अधीन थे किन्तु वे आस्ट्रिया-हंगरी द्वारा प्रशासित होते थे। ग्रेट ब्रिटेन ने टर्की के साथ सन्धि करके साइप्रस पर ऐसा ही प्रशासनिक नियन्त्रण सन् 1875 से लेकर 1914 तक रखा। इसी प्रकार सन् 1895 से 1903 तक क्यूबा पर संयुक्तराज्य अमेरिका का मैन्डेट रहा।

6 सह-राज्य (Condominium)—जब किसी प्रदेश पर दो या दो से अधिक बाहरी शक्तियों का संयुक्त-नियन्त्रण होता है तो इसे सह-राज्य कहा जाता है। इसमे यद्यपि जनता पर संयुक्त प्रभुसत्ताधिकार होता है तथापि संयुक्त रूप से शासन करने वाले राज्यों मे से प्रत्येक राज्य अपनी प्रजा के ऊपर भिन्न क्षेत्राधिकार रखता है। ऐंग्लो-इजिप्शियन सूडान (Anglo-Egyptian Sudan), दक्षिणी समुद्र (South Seas) मे फोयनिक्स द्वीप (Phoenix Islands) जो अंग्रेजों तथा अमेरिका वालो के समान प्रशासन मे रहे तथा न्यू हैब्रिड्स (New Hebrides) जो अंग्रेजो तथा फ्रांस वालों के समान प्रशासन मे रहे, सह-राज्य के उदाहरण हैं। सन् 1898 मे ब्रिटिश सेनाओं से सूडान पर विजय प्राप्त की और बाद मे एक सन्धि द्वारा इस पर मिस्र तथा ग्रेट ब्रिटेन का संयुक्त अधिकार स्वीकार किया गया। सन् 1936 में पुन: एक सन्धि द्वारा इसकी पुष्टि की गई, किन्तु सन् 1953 मे एक समझौते द्वारा इस सह-राज्य को समाप्ति की व्यवस्था करते हुए यह तय किया गया कि सूडानी स्वयमेव जनमत द्वारा इस बात का निर्णय करेंगे कि वे मिस्र के साथ मिले रहना चाहते हैं या पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं। दिसम्बर, 1955 में हुई मतगणना के बाद 1 जनवरी, 1956 से सूडान पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया।

7 तटस्थीकृत राज्य (Neutralised States)—तटस्थीकृत राज्य और तटस्थ राज्य के बीच अन्तर होता है। तटस्थीकरण एक स्थायी संस्था है। इसका अनुसरण युद्धकाल और शान्ति-काल मे समान रूप से किया जाता है। असल मे बाहरी शक्तियों के समूहों द्वारा तटस्थीकरण को लादा जाता है। दूसरी ओर तटस्थ राज्य अपनी इच्छा से दूसरे देशों के बीच युद्ध छिड़ने पर तटस्थ दृष्टिकोण अपनाते है। यह तटस्थता अस्थायी होती है। युद्ध के समय कोई राष्ट्र जब तक चाहे तटस्थ रह सकता है और जब चाहे इसका परित्याग करके युद्ध मे शामिल हो सकता है। दूसरी ओर तटस्थीकृत राज्य एक समझौते द्वारा हमेशा युद्ध मे पृथक् रहने का निर्णय लेता है। इस प्रकार के देश युद्ध मे केवल तभी शामिल होते हैं जब इनके ऊपर कोई देश आक्रमण करे। इस प्रकार एक का आधार बाध्यता है जबकि दूसरे का आधार स्वेच्छा है। इसके अतिरिक्त एक की प्रकृति स्थायी है और दूसरे की प्रकृति अस्थायी है।

तटस्थीकृत राज्य उसे कहा जाता है जिसकी स्वतन्त्रता और राजनीतिक तथा प्रादेशिक अखण्डता को स्थायी बनाए रखने की दूसरे राज्य गारण्टी देते हैं और प्रभावित देश यह शर्त स्वीकार करता है कि आत्मरक्षा के अतिरिक्त किसी कारण वह दूसरे राज्य पर आक्रमण नहीं करेगा और न ही ऐसी मैत्री सन्धियों में शामिल होगा

जिनसे उसकी निष्पक्षता समाप्त हो जाए और युद्ध करने के लिए बाध्य होना पड़े। महाशक्तियाँ किसी देश को इसलिए तटस्थ रखना चाहती हैं ताकि उनके बीच स्थित किसी भी छोटे राज्य की स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके अथवा शक्ति-सन्तुलन बना रहे और शक्तिशाली राज्य अपने पड़ौसी छोटे राज्य पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन न करें तथा अधिक शक्तिशाली बन कर शक्ति सतुलन को न बिगाड़े। तटस्थता की गारण्टी या तो व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से दी जा सकती है।

तटस्थीकृत राज्यों की संख्या कभी भी अधिक नहीं रही है। स्विट्जरलैण्ड, बेल्जियम, लक्जमबर्ग, आयोनियन द्वीप और कांगो ऐसे तटस्थ राज्यों के उदाहरण हैं। दो महायुद्धों के समय यह स्पष्ट हो गया कि तटस्थ देशों को दी गई गारण्टियों का उल्लघन किया जाता है और तटस्थता को अव्यावहारिक बना दिया जाता है। केवल ऑस्ट्रिया, लाओस और स्विट्जरलैण्ड को ही तटस्थ राज्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है। स्विट्जरलैण्ड के तटस्थीकृत स्तर के परिणामस्वरूप ही राष्ट्रसघ मे उसे सदस्य बनाते समय उसके घोषणा-पत्र के अनुच्छेद 16 के दायित्वों से मुक्त रखा गया था। यह देश सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य नहीं बना है किन्तु न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की कार्यवाहियों मे भाग लेता है।

किसी भी देश को तटस्थ बनाने के लिए एक सामूहिक सविदा का सम्पन्न होना परम आवश्यक है। तटस्थीकृत बनाए जाने वाले देश से सम्बन्धित शक्तियाँ आपस में मिलकर एक सन्धि करती हैं और इस सन्धि द्वारा स्थाई रूप से एक देश को तटस्थ मान लिया जाता है। उदाहरण के लिए, बेल्जियम की तटस्थता 15 नवम्बर, 1831 को की गई एक सन्धि मे मानी गई जिसके अनुसार ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, ऑस्ट्रिया, प्रशिया, रूस और बेल्जियम ने एक सन्धि द्वारा बेल्जियम को तटस्थ घोषित किया। कोई भी देश एकपक्षीय रूप से तटस्थता की घोषणा नही कर सकता। दक्षिणी एशिया की राजधानी लाओस का तटस्थीकरण जुलाई, 1962 मे 14 राष्ट्रों के जेनेवा सम्मेलन में स्वीकार किया गया। 23 जुलाई, 1962 की सन्धि और घोषणा के अनुसार एक तटस्थीकृत राज्य की स्थापना की गई ताकि दक्षिणी एशिया मे बिगड़ती हुई सैनिक और राजनीतिक स्थिति को रोका जा सके। सन् 1938 मे स्विट्जरलैण्ड ने जब अपनी तटस्थता और स्वतन्त्रता की घोषणा करके राष्ट्रसघ से इसे स्वीकार कराना चाहा तो इस पर सोवियत सघ के प्रतिनिधि ने आपत्ति उठाई और कहा कि सभी सम्बद्ध राज्यों से समझौता किए बिना वह ऐसा नहीं कर सकता।

तटस्थ राज्यों के ऊपर सैनिक सन्धियाँ न करने और युद्ध न छेड़ने के लिए जो प्रतिबन्ध लगाया जाता है उसके आधार पर सम्बन्धित राज्य की सम्प्रभुता कुछ सीमित हो'ती है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे उसकी स्थिति और व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं आता। कुछ लेखकों का विचार है कि तटस्थीकृत राज्य को स्वतन्त्र और पूर्णत सम्प्रभु राज्यों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय समाज का सदस्य नहीं माना जा सकता क्योंकि उनके मतानुसार स्वतत्र राज्य की महत्वपूर्ण विशेषता युद्ध छेड़ने का अधिकार है किन्तु तटस्थीकृत राज्य को प्रत्यक्ष आत्म-रक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी

कार्य से युद्ध छेड़ने का अधिकार नहीं है। मि मान ने इस मत का विरोध करते हुए तटस्थ राज्यों को पूर्णत. सम्प्रभु माना है और अन्तर्राष्ट्रीय समाज में उनको स्थान दिया है। उन्होंने केवल यह अन्तर किया है कि ऐसे राज्यों को सशर्त पूर्ण सदस्यों की श्रेणी में रखा है। तटस्थीकृत राज्यों के सम्बन्ध में मुख्य रूप से चार कर्त्तव्य निर्धारित किए गए हैं—

(1) आत्म-रक्षा के अतिरिक्त युद्ध में शामिल न होना है।
(2) आक्रमण होने की दशा में उसका सामना करना और तटस्थता की गारण्टी देने वाले देशों से सहायता की माँग करना है।
(3) इन देशों को सैनिक सधियों एवं समझौतों में शामिल नहीं होना चाहिए।
(4) अन्य राज्यों के बीच यदि कभी युद्ध छिड़ता है तो इन राज्यों को तटस्थता के नियमों का पालन करना चाहिए।

जो बड़े देश तटस्थ राज्यों को गारण्टी देते हैं उनको भी चाहिए कि यदि कोई देश इस तटस्थता को मिटाने की धमकी देता है या ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करता है तो उसका विरोध किया जाए। यदि कोई देश तटस्थ राज्य पर आक्रमण ही कर दे तो उसकी रक्षा के लिए पूरी व्यवस्था की जाए।

8 सशर्त राज्य (States Admitted under Conditions)—कुछ राज्य ऐसे होते हैं जिनका राष्ट्रों के समाज में कुछ विशेष शर्तों के साथ शामिल किया जाता है। ये शर्तें सदस्य राज्यों द्वारा प्रवेश शुल्क के रूप में लगाई जाती हैं। इस प्रबन्ध के पीछे सिद्धान्त यह है कि सम्बन्धित राज्यों की सम्प्रभुता पर कोई आँच नहीं आएगी क्योंकि ये शर्तें जब लगाई जाती हैं तो इसके लिए होने वाले समझौते और शान्ति-वार्ताएँ सम्बन्धित देश की इज्जत का पूरा-पूरा ध्यान रखती हैं। तथ्य यह है कि लगाई जाने वाली शर्तें सम्बन्धित देश की आन्तरिक स्थिति को प्रभावित करती हैं और उसे बहुत कुछ तटस्थ राज्य की श्रेणी में ला देती हैं। लगाई जाने वाली शर्तें भिन्न-भिन्न होती हैं। लगाई गई शर्तों को कठोरता के साथ लागू करने के लिए सम्बन्धित देशों द्वारा कोई प्रयास नहीं किया जाता। कई बार तो केवल जबानी लेन-देन ही पर्याप्त बन जाता है।

9. वेटिकन नगर (The City of Vatican)—राम के पोप की स्थिति, पद एवं सत्ता लिए ग्रन्थकारों ने होली सी' (Holy Sea) शब्द का प्रयोग किया है। रोम के पास 100 एकड़ में फैला हुआ पोप का निवास स्थान है जो वेटिकन नगर कहा जाता है। मध्यकाल में इटली के विशाल भू-भाग पर पोप का अधिकार था। 19वीं शताब्दी में अनेक राज्यों ने अपने को पोप की शक्ति से अलग कर लिया। पोप ने यद्यपि इसका विरोध किया, किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। सन् 1870 में इटली के देशभक्तों ने छोटे-छोटे राज्यों का एकीकरण करके पोप की सत्ता को समाप्त कर दिया। जब रोम पर इनका अधिकार हो गया तो पोप वेटिकन चला गया और अपने आप को वेटिकन का बन्दी घोषित कर दिया। पोप की प्रतिष्ठा और

सम्मान के कारण इटली की सरकार ने गारण्टियों के कानून द्वारा पोप को सम्प्रभु राज्यों के अधिकारियों की भाँति कुछ विशेष अधिकार सौंपे। पोप ने इटली की संसद् के कानून द्वारा प्रदान किए गए इन विशेष अधिकारों को स्वीकार नहीं किया और बताया कि इन अधिकारों को इटली की संसद् कभी भी बदल सकती है। इनको पवित्रता देने के लिए आवश्यक समझा गया कि दूसरे देशों द्वारा भी इनको स्वीकार कराया जाए ताकि पोप की स्थिति सुरक्षित रह सके और उसके अधिकारों को कोई परिवर्तित नहीं कर सके।

इस प्रश्न पर पोप और इटली की सरकार के बीच बहुत समय तक विवाद बना रहा। 1929 में मुसोलिनी ने एक सन्धि द्वारा इसका समाधान किया। यह व्यवस्था की गई कि रोम के पोप को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में पूर्ण सम्प्रभुतासम्पन्न बना दिया जाए और इसके निवासियों को पृथक् नागरिकता प्रदान की जाए। पोप को दूसरे देशों के साथ अपने राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार मिल गया। आजकल वैटिकन नगर की स्थिति बहुत कुछ एक तटस्थ राज्य की-सी है। कोई दूसरा राज्य इसकी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता। द्वितीय विश्व-युद्ध में किसी राज्य ने इसकी तटस्थता का उल्लंघन नहीं किया। यह सच है कि अभी तक वैटिकन नगर की स्थिति स्पष्ट नहीं हो सकी है। कुछ अर्थों में यह एक स्वतंत्र नगर प्रतीत होता है जबकि अन्य दृष्टियों से इसे राष्ट्रों के समाज के कुछ सदस्य तटस्थ मानते हैं। 108.7 एकड़ भूमि का यह प्रदेश अपना एक विशेष स्थान रखता है। यह विश्वव्यापी रुचि और संसार की प्रमुख हलचलों का मुख्य स्थान है। विश्व समाज का एक विशेष सदस्य होने के कारण इसका पृथक् अस्तित्व है। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है किन्तु सार्वभौमिक डाक संघ का सदस्य अवश्य है।

10 संयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति (Composite International Person)—जब एक से अधिक राज्य मिलकर संयुक्त हो जाते हैं तो उनको भी एक राजनीतिक व्यक्तित्व प्राप्त हो जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय समाज में उनको एक इकाई के रूप में स्वीकार किया जाता है। कई राज्यों से मिलकर बने होने के कारण इनको अन्तर्राष्ट्रीय समाज का संयुक्त व्यक्ति कह दिया जाता है। इस प्रकार के संयुक्त व्यक्ति अपने संगठन और रूप रचना की दृष्टि से कई प्रकार के होते हैं। दो रूप आजकल प्रमुख हैं। वास्तविक संघ और संघात्मक राज्य। इनके अतिरिक्त तथाकथित व्यक्तिगत संघ और प्रसंघान भी उल्लेख रखते हैं किन्तु इनको अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति नहीं माना जाता। इन विभिन्न प्रकार के संयुक्त व्यक्तियों का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है —

(A) व्यक्तिगत संघ (Personal Union)—व्यक्तिगत संघ उस समय बनता है जब दो सम्प्रभु राज्य इसलिए मिल जाते हैं क्योंकि वे एक ही राजा के अधीन हैं। इस प्रकार के संघ प्रायः आकस्मिक घटना के परिणाम होते हैं। विदेशी मामलों में दोनों राज्य अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं। इस प्रकार के संघ के उदाहरण के रूप में (1714 से 1837 तक) ग्रेट ब्रिटेन और हनोवर का संघ, नीदरलैण्ड और लक्जमबर्ग का (1815 से 1890 तक का) संघ और (1885 स

1908 तक) बेल्जियम और कांगो के स्वतन्त्र राज्य का संघ उल्लेखनीय हैं। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का प्रत्येक सदस्य ग्रेट ब्रिटेन से ऐसा ही सम्बन्ध रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से ऐसे संघ का प्रत्येक राज्य अपना पृथक् अस्तित्व रखता है और ऐसे संघ के सदस्य एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध भी लड़ सकते हैं। यदि संघ के सदस्यों का प्रतिनिधित्व किसी विदेशी राजधानी में एक व्यक्ति कर रहा है तो उसे एक ही समय में दोनों राज्यों का प्रतिनिधि माना जाएगा, संघ का नहीं।

(B) प्रसंघान (Confederation)—प्रसंघान के अन्तर्गत अनेक स्वतन्त्र राज्य किसी सन्धि द्वारा किसी विशेष प्रयोजन के लिए आपस में इस प्रकार मिलते हैं कि सम्प्रभुता बनी रहे और कुछ कार्यों के लिए एक विशेष संगठन बनाया जाए। केन्द्रीय संयुक्त सरकार या विशेष संगठन की शासन सत्ता सदस्य राज्यों पर निर्भर करती है किन्तु राज्यों में रहने वाले नागरिकों पर इन्हें कोई अधिकार नहीं होता। इस प्रकार के प्रसंघान भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति नहीं हैं। इसका प्रत्येक सदस्य-राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पृथक् विषय होता है। सभी सदस्य राज्य दूसरे देशों के साथ सन्धि कर सकते हैं, विदेशों में अपना कूटनीतिक प्रतिनिधित्व करते हैं और प्रत्येक दृष्टि से एक राष्ट्र के रूप में व्यवहार करते हैं।

इतिहास साक्षी है कि इस प्रकार के संगठन अधिक, सन्तोषजनक नहीं रहे हैं और कालान्तर में इनका रूप बदल कर प्रायः संघात्मक बन जाता है। इस प्रकार के संगठनों के उदाहरणों में नीदरलैण्ड (1580 से 1795), संयुक्तराज्य अमेरिका (1778 से 1787), जर्मन प्रसंघान (1815 से 1866), स्विट्जरलैण्ड (1201 से 1798) आदि उल्लेखनीय हैं। जर्मन प्रसंघान की रचना सन् 1815 में वियना-कांग्रेस के बाद की गई। इसमें 38 पूर्ण सम्प्रभुता सम्पन्न राज्यों को मिलाया गया। इसका मुख्य अंग डायट नामक एक सभा थी जिसमें सभी राज्यों द्वारा अपने प्रतिनिधि या दूत भेजे हैं। इसका अधिकार केवल अन्तर्राष्ट्रीय विषयों तक सीमित था। नियमानुसार जो देश डायट की आज्ञा नहीं मानेगा उसके विरुद्ध दूसरे देश युद्ध छेड़ सकते थे। दूसरी स्थिति में युद्ध करना वर्जित था। डायट द्वारा अपने सदस्यों के आन्तरिक प्रशासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता था। कुछ विदेशी विषयों में सदस्य-राज्य दूसरे राज्यों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी रख सकते थे।

(C) वास्तविक संघ (Real Union)—प्रसंघान का एक विशेष रूप वास्तविक संघ है। यह उस समय अस्तित्व में आता है जब दो या दो से अधिक राज्य एक ही राजा के अधीन रहते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य से एक राज्य के रूप में काम करते हैं। इस प्रकार वास्तविक संघ एक राज्य नहीं होता वरन् दो पृथक् राज्यों का संघ होता है जो एक संयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप में कार्य करते हैं। सामान्यतः सन्धि अथवा समझौते के अन्तर्गत वे एक दूसरे के विरुद्ध अथवा अन्य किसी राज्य के विरुद्ध अकेले युद्ध नहीं छेड़ सकते। घरेलू मामलों में इन राज्यों को पूर्ण रूप से स्वायत्तता प्राप्त होती है। ये दूसरे देशों के साथ यद्यपि अलग से युद्ध ~~~ने किन्तु सन्धि अवश्य कर सकते हैं। वाणिज्य और व्यापार की दृष्टि

से ये विभिन्न समझौते कर सकते हैं। वास्तविक संघ का उदाहरण आज उपलब्ध नहीं होता किन्तु इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। सन् 1867 में ऑस्ट्रिया-हंगरी का वास्तविक संघ बना। इसके अन्तर्गत ऑस्ट्रिया ने हंगरी को अपना पृथक् राज्य और सरकार बनाने की अनुमति दे दी किन्तु दोनों देशों का सम्राट् फ्रांसिस जोसेफ ही बना रहा। दोनों देशों के विदेशी मामलों का संचालन समान अधिकारी द्वारा किया जाता था। यह संघ सन् 1918 में युद्ध में हार के परिणामस्वरूप भंग हो गया। इसका दूसरा उदाहरण डेन्मार्क और आइसलैण्ड का संघ है जो सन् 1918 से 1944 तक चला। इसके अतिरिक्त स्वीडन और नार्वे का संघ सन् 1814 से 1905 तक चला। प्रो. ग्लान के कथनानुसार—"वास्तविक संघ के सदस्य निःसन्देह रूप से सम्भावित व्यक्तिगत अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।" मिस्र और सीरिया का संघ जब संयुक्त अरब गणराज्य के अधीन संगठित हुआ तो यह वास्तविक संघ का प्रतिनिधित्व नहीं करता था वरन् दो सम्प्रभु इकाइयों का एकात्मक राज्य में मिलन था। डेन्मार्क तथा आइसलैण्ड का इसी प्रकार का एकीकरण सन् 1944 में समाप्त हुआ।

(D) संघ राज्य (Federal States)—प्रसंघान की अपेक्षा संघ में उसके सदस्यों के बीच अधिक घनिष्ठता रहती है। यह अनेक प्रभुतासम्पन्न राज्यों के स्थाई सम्मिलन द्वारा बनता है। संघ के अन्तर्गत न केवल राज्यों पर वरन् राज्यों के नागरिकों पर भी पूरा अधिकार रहता है। संघ की रचना इकाइयों द्वारा की गई पारस्परिक सन्धि के परिणामस्वरूप होती है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से संघ राज्य वास्तविक राज्य होता है। केवल संघ सरकार ही युद्ध की घोषणा, शान्ति की वार्ता और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक या सैनिक समझौते करने के लिए उत्तरदायी होती है। संघ की कोई भी इकाई, इन कार्यों को सम्पन्न नहीं कर सकती। उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समाज का पृथक् सदस्य नहीं कहा जा सकता है। संघ राज्य की इकाइयों को कभी-कभी संविधान द्वारा आन्तरिक मामलों में थोड़ी बहुत स्वायत्तता प्रदान कर दी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस प्रकार का कोई अधिकार उन्हें प्राप्त नहीं होता। संघ राज्यों के उदाहरण संयुक्तराज्य अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड, सोवियत संघ, कनाडा, मेक्सिको, ब्राजील आदि राज्यों के रूप में दिए जा सकते हैं।

प्रसंघान और संघ दोनों ही सम्प्रभु राज्यों का सम्मिलन होते हैं किन्तु दोनों की प्रकृति में अनेक मूलभूत अन्तर हैं। प्रसंघान में सभी सदस्य-राज्यों का पृथक् अस्तित्व रहता है। वे सम्प्रभु होते हैं और इसलिए उनकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बनी रहती है किन्तु संघात्मक राज्यों में सत्ता केन्द्र और राज्यों के बीच विभाजित रहती है तथा विदेशी मामलों पर पूर्णरूप से सरकार का एकाधिकार रहता है। प्रसंघान में केन्द्रीय सरकार का अधिकार-क्षेत्र केवल राज्यों तक सीमित रहता है किन्तु संघ के अन्तर्गत इसके अधिकार-क्षेत्र में इकाई और राज्य दोनों सम्मिलित होते हैं। प्रसंघान राज्यों का एक ढीला-ढाला संगठन होता है किन्तु इसके विपरीत संघ का संगठन पर्याप्त सुदृढ़ होता है। इसका एक अन्य भेद यह है कि प्रसंघान कुछ उद्देश्यों

की पूर्ति के लिए अल्पकालीन और अस्थाई संगठन होता है किन्तु संघ एक स्थाई संगठन है।

प्रसंघान में प्रभुसत्ता सदस्य राज्यों के पास रहती है किन्तु संघ मे यह संघ सरकार तथा राज्यों के बीच विभाजित रहती है। प्रसंघान के अन्तर्गत केन्द्र सरकार का सदस्य राज्यों के नागरिकों से व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रहता किन्तु संघ में संघीय सरकार विभिन्न इकाइयों की जनता के साथ सीधा सम्पर्क रखती है। स्पष्ट है कि प्रसंघान में इकाइयों की स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता बनी रहती है, किन्तु संघ में य समाप्त हो जाती हैं और एक नए राज्य का निर्माण होता है। प्रसंघान के नागरिकों को केवल एक राज्य की नागरिकता प्राप्त होती है जबकि संघ के नागरिकों को दोहरी नागरिकता मिली रहती है।

11 राष्ट्रमण्डल (Commonwealth of Nations)—यह ब्रिटिश साम्राज्य का एक सुदीर्घकालीन विकास है। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत वे राज्य है जो कभी ब्रिटिश साम्राज्य के भाग थे किन्तु अब स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता प्राप्त कर चुके हैं। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्यों का स्तर अपने आप में अनोखा है और इसे किसी भी परम्परागत श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। ब्रिटिश साम्राज्य में से सर्वप्रथम कनाडा आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका आदि ने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करके स्वाधीन उपनिवेश अथवा डोमीनियन (Dominion) का दर्जा प्राप्त किया। द्वितीय महायुद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया एकदम तीव्र हो गई और इसके अनेक अंग स्वतन्त्र होकर डामीनियन बनने लगे। सन् 1947 में भारत और पाकिस्तान स्वाधीन होने के बाद इसका अंग बने। ब्रिटेन द्वारा एशिया तथा अफ्रीका के अधीनस्थ दूसरे राज्यों को स्वतन्त्रता देने की नीति के फलस्वरूप राष्ट्रमण्डल के सदस्यों की संख्या बढने लगी। सन् 1948 में इसके सदस्यों के लिए 'डोमीनियन' शब्द का प्रयोग कम होने लगा और ज्यों-ज्यों इसमें अन्य जातियों की संख्या बढती गई, राष्ट्रमण्डल के साथ 'ब्रिटिश' शब्द के विशेषण का परित्याग कर दिया गया, अर्थात् 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' के स्थान पर अब इस 'राष्ट्रमण्डल' के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।

राष्ट्रमण्डल के सदस्य प्रत्येक प्रकार से सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य हैं। वे किसी भी देश के साथ सन्धि कर सकते हैं, अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार और आन्तरिक मामलों में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता है। ब्रिटिश संसद् द्वारा बनाया गया कोई भी कानून उन पर लागू नहीं होता। यह कहना चाहिए कि सुदीर्घकाल तक ब्रिटेन के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध बने रहने के कारण अब भी राष्ट्रमण्डल के सदस्यों के रूप में ब्रिटेन और इन विभिन्न राज्यों की पारस्परिक मैत्रीपूर्ण एकता को बनाए रखने की चेष्टा की गई है।

राष्ट्रमण्डल एक विचित्र प्रकार का संगठन है जिसे न तो प्रादेशिक संगठन कहा जा सकता है और न राज्य की संज्ञा ही दी जा सकती है। राष्ट्रमण्डल का हम प्रम[illegible] क्योंकि इसकी रचना किसी सन्धि के कारण नहीं हुई है

और न इसके सदस्य राज्यों पर अधिकार रखने वाली कोई केन्द्रीय सत्ता है। इसे हम वास्तविक संघ भी नहीं कह सकते। प्रो स्टॉर्क ने माना है कि 'राष्ट्रमण्डल न तो कोई अधिराज्य है और न संघ राज्य है, वरन् यह स्वतन्त्र और समान राज्यों का एक समूह है।" इसके स्वरूप के सम्बन्ध में बोलते हुए कनाडा के तत्कालीन प्रधानमन्त्री लॉरेन ने 10 जनवरी, 1951 को कहा था—'राष्ट्रमण्डल एक राजनीतिक इकाई नहीं माना जा सकता है। वह एक सन्धि-व्यवस्था भी नहीं है। उसकी कोई सामान्य नीति नहीं है। विश्व-राजनीति की समस्याओं के सम्बन्ध में राष्ट्रमण्डल के सदस्य-राष्ट्र पृथक् पृथक् सोचते और निर्णय करते हैं और उसका कोई भी सदस्य स्वतन्त्र निर्णय के अपने एकाधिकार का परित्याग करने का तैयार नहीं है।" यद्यपि सामान्य नीति की रचना के लिए राष्ट्रमण्डल के प्रधानमन्त्री सम्मेलन करते हैं किन्तु इन सम्मेलनों में उनके बीच तीव्र मतभेद पाया जाता है। उनके व्यवहार को देख कर यह कहा जा सकता है कि वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और सम्प्रभु होते हैं। प. जवाहरलाल नेहरू का कहना था कि सदस्यों के बीच मतभेद होते हुए भी राष्ट्रमण्डल का विकास हुआ है। अनेक अवसरों पर सदस्यों के विरोधी स्वार्थ उनको प्रतिकूल दिशा में ले जाने का प्रयास करते हैं किन्तु फिर भी वे आपस में मैत्रीपूर्ण रूप से मिलते हैं और एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करते हैं ताकि कार्य करने का एक सामान्य तरीका खोजा जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से राष्ट्रमण्डल के सदस्य स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं। उनकी कार्य करने की स्वतन्त्रता पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता, सम्प्रभु राज्य की भाँति उनका पृथक् से अस्तित्व है। यह सदस्य-राज्यों की इच्छा पर आधारित सहयोग पर बनाई गई एक संस्था है।

राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से भारत को विभिन्न प्रकार के और ठोस लाभ प्राप्त होते रहे हैं। इनमें सदस्य देशों के विशेषज्ञों के बीच व्यावसायिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, कानूनी और तकनीकी विषयों पर विचारों और जानकारी का निरन्तर आदान-प्रदान शामिल है। राष्ट्रमण्डलीय सम्पर्क की उपयोगिता के अन्य उदाहरण राष्ट्रमण्डल दूर सचार समझौता, राष्ट्रमण्डल वायु परिवहन परिषद् और राष्ट्रमण्डल कृषि ब्यूरो से मिलते हैं। वरिष्ठ राष्ट्रमण्डल अधिकारियों के लिए शासन में व्यावहारिक अध्ययन का कोर्स अपनाना सम्भव है और सरकारी प्रशासन के सामान्य क्षेत्र में वे अनुभव का आदान-प्रदान भी कर सकते हैं। वैधानिक व कानून सम्बन्धी प्रारूप तैयार करने वालों के प्रशिक्षण के कार्यक्रम भी शुरू किए गए हैं। राष्ट्रमण्डल सदस्य-देशों के नेताओं को विचारों के आदान-प्रदान का उपयोगी मंच प्रदान करता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रमण्डलीय मामलों में उनके बीच अधिक सद्भाव और सहयोग उत्पन्न होता है। एक बार इस छोटे, पर अपेक्षाकृत अधिक संगठित मंच पर आम सहमति प्राप्त हो जाने के बाद अपेक्षाकृत बड़े अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जैसे संयुक्त राष्ट्र में अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य किया जा सकता है।

राष्ट्रमण्डल की उपयोगिता पर अनेक क्षेत्रों में सन्देह व्यक्त किया गया है। इस

सम्बन्ध मे इकॉनॉमिस्ट (Economist) ने लिखा था—"ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल राष्ट्रों के एक अव्यवस्थित संग्रह से अधिक कुछ नहीं है। इसमे विश्व के मामलों में परस्पर संगति रखने की कोई कार्य पद्धति नहीं है और न किसी प्रकार के सामान्य उत्तरदायित्व हैं। इसमे कई राष्ट्र एक-दूसरे से झगड़ा भी करते रहते हैं। ये राष्ट्र मिलकर एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति उपस्थित करते हैं जिसे राष्ट्रमण्डल कहना इस शब्द का उपहास करना होगा।"

12. मैन्डेट पद्धति (Mandate System)—राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की धारा 22 के अनुसार मैण्डेट व्यवस्था स्थापित की गई जिसके अन्तर्गत कुछ उपनिवेशों और प्रदेशो पर अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण लागू किया गया। प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप ये प्रदेश अपने पूर्व स्वामियों से छीन लिए गए और विजेता राष्ट्रों द्वारा इन पर संरक्षण लागू किया गया क्योंकि इनमें स्वयं प्रशासित होने की क्षमता नहीं थी। इस प्रकार यह व्यवस्था केवल जर्मनी और टर्की के प्रदेशों तक ही सीमित थी तथा मित्रराष्ट्रों और उनके सहयोगियो के प्रदेशों और उपनिवेशों पर लागू नहीं होती थी। यह व्यवस्था लिखित समझौतों की शर्तों के आधार पर राष्ट्रसंघ के संरक्षण में की गई। इन समझौतों का शासनादेश (Mandate) कहा गया। यह इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि पिछड़े हुए देशो का विकास करना सभ्य देशों का उत्तरदायित्व है और इस दायित्व को सम्पन्न करने की व्यवस्था राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र मे की जानी चाहिए। पिछड़े हुए प्रदेशों का दायित्व उन सभ्य और उन्नत देशों को सौंपा गया जो अपने साधनो, अनुभव एवं भौगोलिक स्थिति के कारण इस दायित्व का निर्वाह कर सकते थे और इसके लिए इच्छुक थे। मैण्डेट वाले राज्यों को विजेता देश द्वारा राष्ट्रसंघ की अनुमति के बिना राष्ट्रसंघ मे नहीं मिलाया जा सकता था।

मैण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत यद्यपि प्रभावित राज्य के शासन संचालन मे सम्बन्धित बड़े राष्ट्र का पूरा हस्तक्षेप रखा गया था किन्तु यह व्यवस्था साम्राज्यवादी व्यवस्था से भिन्न थी। दोनो व्यवस्थाओं के बीच अनेक मूलभूत अन्तर थे। मिलाए हुए (Annexed) प्रदेश और आदिष्ट (Mandate) प्रदेश के बीच प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं—

(i) मिलाए हुए प्रदेश पर सम्बन्धित राज्य मनमाना शासन करता है जबकि आदिष्ट प्रदेश पर शासन का संचालन संघ के निरीक्षण और तत्वावधान में किया जा सकता था।

(ii) आदिष्ट प्रदेश एक पवित्र धरोहर के रूप मे दिया जाता था किन्तु मिलाए हुए प्रदेश पर विजेता को पूरा-पूरा स्वामित्व प्राप्त होता है।

(iii) मिलाए हुए प्रदेश के बारे में सम्बन्धित देश को इस बात का पूरा अधिकार होता है कि वह उसे दूसरे राज्य को सौंप दे या उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन कर दे। किन्तु आदिष्ट प्रदेश के सम्बन्ध मे ऐसा कोई अधिकार प्रदान नहीं किया गया।

(iv) मिलाए हुए प्रदेश के नागरिकों को विजेता राज्य सेना मे भर्ती करने और सैनिक प्रशिक्षण देने की नीति अपना सकता है किन्तु आदिष्ट प्रदेश मे उसे केवल *आन्तरिक पुलिस और प्रतिरक्षा के लिए ही* नागरिकों को फौज मे भर्ती करने का अधिकार प्राप्त होता है ।

(v) मिलाए हुए प्रदेश मे विजेता द्वारा कोई भी आर्थिक व्यवस्था लागू की जा सकती है और विदेशी शक्तियों को व्यापार करने से रोका जा सकता है; किन्तु आदिष्ट प्रदेशो मे मुक्त द्वार की नीति अपनाने का समर्थन किया गया । किसी देश को इनके साथ व्यापार करने से रोका नहीं जा सकता था ।

(vi) आदिष्ट प्रदेश के शासन के लिए सम्बन्धित देश को ऐसी नीति अपनाने की आवश्यकता थी जो उसके विकास की दृष्टि से उपयोगी हो, किन्तु मिलाए हुए प्रदेशो मे विजेता मनमाने ढग से शासन चला सकता था । सघ ने आदिष्ट प्रदेशो की प्रगति का निरीक्षण करने के लिए 10 सदस्यो का शासनादेश आयोग बनाया । इसके अधिकांश सदस्य उन देशो के होते थे जिनके अधीन कोई आदिष्ट प्रदेश नहीं है । आयोग द्वारा आदिष्ट प्रदेश की प्रगति के सम्बन्ध मे सघ को भेजे गए प्रतिवेदन पर विचार किया जाता था । इस प्रकार स्पष्ट है कि मिलाए हुए प्रदेश और आदिष्ट प्रदेश के बीच अनेक महत्त्वपूर्ण अन्तर रहते हैं ।

शासनादेश के अधीन प्रदेशो को उनके विकास के स्तर के आधार पर मुख्यतः तीन वर्गों मे विभाजित किया गया—

प्रथम श्रेणी—आदिष्ट प्रदेशो की प्रथम श्रेणी मे तुर्क साम्राज्य के उन प्रदेशों को रखा गया जो विकास के ऐसे स्तर तक पहुँच चुके थे जहाँ उनको कुछ समय बाद स्वतन्त्रता दी जा सकती थी । इन प्रदेशो को आत्म-निर्भरता की स्थिति तक पहुँचने तक के लिए उन्नत राज्यो का परामर्श और सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की गई । ये ऐसे प्रदेश थे जो प्राविधिक रूप से राज्य मान लिए गए । इस श्रेणी मे ईराक, पेलेस्टाइन *का प्रदेश ग्रेट ब्रिटेन को और सीरिया तथा लेबनान का प्रदेश* फ्रांस को दिया गया ।

द्वितीय श्रेणी—इसके अन्तर्गत वे प्रदेश रखे गए जो पहले मध्य अफ्रीका मे जर्मनी के *उपनिवेश थे । प्रथम श्रेणी के प्रदेशो से भिन्न द्वितीय समूह के प्रदेशो का* स्वतन्त्र रूप से कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व नही था । इनके सम्बन्ध मे मैण्डेट पाने वाले देश का पूरा उत्तरदायित्व होता था । इन प्रदेशो का शासन इस प्रकार सचालित किया जाना चाहिए था ताकि यहाँ के निवासियो को धर्म और अन्तःकरण की स्वतन्त्रता हो और दास-प्रथा, शराबखोरी आदि बुराइयो को दूर किया जा सके । इन प्रदेशो मे सैनिक तथा नौ-सैनिक अड्डे नहीं बनाए जा सकते थे और यहाँ के निवासियों को पुलिस के उद्देश्य के अतिरिक्त कार्यों के लिए सैनिक शिक्षा प्रदान नहीं की जा सकती थी । इस श्रेणी के टांगानिका, टोगोलैण्ड तथा ब्रिटिश कैमरून के प्रदेश ग्रेट ब्रिटेन को दिए गए और फ्रेंच कैमरून तथा फ्रेंच टोगोलैंण्ड फ्रांस को दिए गए । रूआ .[illegible] एव बेल्जियम को दिए गए ।

तृतीय श्रेणी — इस श्रेणी के अन्तर्गत जर्मनी के दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के उपनिवेशों और प्रशान्त-महासागर में जर्मनी के उपनिवेशों को रखा गया। ये प्रदेश जनसंख्या की दृष्टि से छोटे थे और सभ्यता के केन्द्रों से दूर थे। इसके अतिरिक्त उनके विकास का स्तर पिछड़ा हुआ था, इसलिए इनका प्रशासन इस प्रकार किया जाता था जैसे ये अपने प्रदेश के आवश्यक भाग हों। यहाँ के मूल निवासियों को कुछ संरक्षण प्रदान किया गया था ताकि स्थानीय जनता के हितों का पूरा ध्यान रखा जा सके।

इस प्रकार मैण्डेट व्यवस्था में विभिन्न प्रदेशों को उनके विकास के स्तर के आधार पर भिन्न भिन्न श्रेणियों में रखा गया। वस्तुतः इस व्यवस्था का मूल उद्देश्य सम्बन्धित प्रदेश का चहुँमुखी विकास करके उन्हें आत्म-निर्भरता की स्थिति में ला देना था। यह व्यवस्था सन् 1919 से 1946 तक चलती रही और इसके बाद इसका स्थान न्यास पद्धति ने ले लिया।

13 न्यास पद्धति (Trusteeship System)—संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकार-पत्र की धारा 75 में यह व्यवस्था की गई है कि न्यास प्रदेशों के प्रशासन और देखभाल के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति की स्थापना की जाएगी। राष्ट्रसंघ नष्ट होने के बाद मैण्डेट व्यवस्था समाप्त हो गई और जब उसका स्थान संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यास पद्धति ने लिया तो दक्षिण अफ्रीका के संघ ने दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के न्यास प्रशासन के सम्बन्ध में मतभेद होने से मना कर दिया। दक्षिण अफ्रीका संघ ने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के संघ को न्यास पद्धति में रखना स्वीकार नहीं किया और संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा इस पर निरीक्षण के अधिकार को स्वीकार नहीं किया। इस सम्बन्ध में जब अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्श के रूप में सम्मति माँगी गई तो उसने 11 जुलाई, 1950 को बहुमत के आधार पर यह राय प्रकट की कि संयुक्त राष्ट्रसंघ क्योंकि राष्ट्रसंघ का उत्तराधिकारी है इसलिए महासभा और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय दोनों को राष्ट्रसंघ की मैण्डेट व्यवस्था पर पूरा अधिकार है। इतने पर भी दक्षिण अफ्रीका के संघ ने अभी तक संघ के निरीक्षण के अधिकार को स्वीकार नहीं किया है। यद्यपि दक्षिण अफ्रीका एक नए न्यास समझौते को मानने के लिए कानूनी रूप से बाध्य नहीं है किन्तु राष्ट्रसंघ की धारा 22 में उल्लेखित मैण्डेट समझौते के दायित्वों को मानने के लिए उत्तरदायी है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकार-पत्र के ग्यारहवें और तरहवें अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति का उल्लेख किया गया है। यह व्यवस्था राष्ट्रसंघ की मैण्डेट प्रणाली से अधिक व्यापक है। संयुक्त राष्ट्रसंघ का अनुच्छेद 73 गैर-आत्म-प्रशासित प्रदेशों के सम्बन्ध में घोषणा करता है। इसमें कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य उन प्रदेशों के शासन के लिए उत्तरदायी हैं जिनकी जनता स्वायत्त शासन के लिए पूर्ण रूप से समर्थ नहीं है। इन प्रदेशों के कल्याण का प्रोत्साहन एक पवित्र उत्तरदायित्व है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकार-पत्र की धारा 76 में न्यास पद्धति के उद्देश्यों का उल्लेख किया गया है। ये उद्देश्य निम्नानुसार हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा दिया जाए,
(2) न्यास प्रदेशों के निवासियों के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विकास को प्रोत्साहित किया जाए
(3) प्रत्येक प्रदेश की परिस्थितियों के अनुसार स्वायत्त सरकार तथा स्वतन्त्रता की दिशा में प्रगतिशील विकास को प्रोत्साहन दिया जाए,
(4) जाति, लिंग, भाषा, धर्म आदि के भेद-भाव के बिना मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति प्रतिष्ठा को बढ़ावा दिया जाए,
(5) संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों और उनकी राष्ट्रीयताओं के लिए सामाजिक, आर्थिक और व्यापारिक मामलों में समान व्यवहार प्राप्त कराया जाए और
(6) संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य-राज्यों के नागरिकों के लिए प्रशासन में समानता की उपलब्धि करा दी जाए।

ये सभी उद्देश्य पर्याप्त उदार, व्यापक और विशाल हैं। अत्यधिक व्यापक और उदार प्रकृति के कारण कभी-कभी इनको सफलर मात्र भी कह दिया जाता है। इतने पर भी इन उद्देश्यों का अपना महत्व है। इनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में वृद्धि होती है। न्यास प्रदेशों ने स्वतन्त्रता की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को अधिक महत्व दिया है। कुछ न्यास प्रदेश ऐसे हैं जिनकी व्यवस्था के सम्बन्ध में महाशक्तियों के बीच तीव्र मतभेद हैं। यदि इनको संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधीन न रखा जाता तो ये अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति के कारण बन जाते। इस सम्बन्ध में मि डकन हॉल का यह कथन उल्लेखनीय है कि "न्यास प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय सीमान्त के ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ प्रतियोगी महाशक्तियों के राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव तथा उनकी प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं की सीमान्त रेखाएँ एक-दूसरे से टकराती हैं।"

न्यास पद्धति के अधीन तीन प्रकार के प्रदेश आते हैं—(1) वे प्रदेश जो मैण्डेट व्यवस्था के अधीन रहे हैं, (2) वे प्रदेश जो युद्ध के परिणामस्वरूप शत्रु राज्यों से अलग हुए हैं, और (3) वे प्रदेश जो स्वेच्छा से इस व्यवस्था के अधीन रखे गए हैं। न्यास पद्धति के अधीन रहने वाले प्रदेश कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व नहीं रखते। प्रशासक सत्ता ही न्यास प्रदेश का प्रतिनिधित्व करती है और स्वयं ही न्यास प्रदेश के अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों और दायित्वों का निर्वाह करती है। प्रशासक सत्ता एक अथवा एक से अधिक राज्य हो सकते हैं। इनके द्वारा एक समझौते में कुछ शर्तों पर संघ से यह प्रदेश प्राप्त किया जाता है। प्रशासक सत्ता का मुख्य दायित्व सम्बन्धित प्रदेश को स्वायत्तता और स्वतन्त्रता के लक्ष्य की ओर अग्रसर करना है। प्रशासक सत्ता को यह अधिकार है कि वह अपने देश में सैनिक, हवाई अड्डे तथा नौ-सैनिक केन्द्र स्थापित कर सके, किलेबन्दियाँ कर सके और प्रदेश में अपनी सेनाएँ रख सके। वह निवासियों को सैनिक प्रशिक्षण भी दे सकती है।

न्यास सम्बन्धी कार्यों का संचालन संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा द्वारा किया जाता है किन्तु यदि किसी भाग को सामरिक क्षेत्र मान लिया गया है तो उसका प्रशासन सुरक्षा परिषद् करती है।

उल्लेखनीय है कि न्यास पद्धति के अन्तर्गत प्रारम्भ में निम्नलिखित 11 प्रदेश थे (कोष्ठों में क्रमश प्रशासक देश, प्रदेश की जनसंख्या और क्षेत्रफल दिया गया है) —

(1) न्यूगिनी (आस्ट्रेलिया, 10,06,200; 93 000 व.मी.),
(2) रूआण्डी (बेल्जियम, 37,18,696; 20,916 व मी.),
(3) फ्रेंच कैमरून्ज (फ्रांस, 2,70,25,001; 66,767 व.मी),
(4) फ्रेंच टोगोलैण्ड (फ्रांस, 9,44,446 ; 21,236 व मी),
(5) पश्चिमी समोग्रा (न्यूजीलैण्ड, 72,936; 1,113 व.मी.),
(6) टांगानिक्सा (ग्रेट ब्रिटेन, 70,79,557; 3,62,688 व.मी),
(7) ब्रिटिश कैमरून्ज (ग्रेट ब्रिटेन, 9,91,000, 34,081 व मी),
(8) नोरू (आस्ट्रेलिया, 3,162; 8 25 व मी),
(9) प्रशान्त महासागर के द्वीपो का न्यास प्रदेश (स॰ राज्य अमेरिका, 60,000; 687 व मी),
(10) सुमालीलैण्ड (इटली, 91,50,001; 94,000 व.मी.) एव
(11) ब्रिटिश टोगोलैण्ड (ग्रेट ब्रिटेन, 7,24,408; 22,282 व मी) ।[*]

इन सरक्षित प्रदेशो मे नौ पुराने राष्ट्रसघ की सरक्षण-पद्धति के अन्तर्गत थे। ब्रिटिश टोगोलैण्ड जो पहले ब्रिटेन के द्वारा शासित होता था, 6 मार्च, 1957 को घाना के साथ मिलकर स्वतन्त्र राज्य बन गया। फ्रेंच कैमरून्स 1 जनवरी, 1960 को तथा फ्रेंच टोगोलैण्ड 27 अप्रेल, 1960 को स्वतन्त्र हो गए। 1961 मे ब्रिटिश कैमरून्ज, टांगानिका, पश्चिमी समोआ और रूआण्डा-उरुण्डी स्वतन्त्र हो गए। नोरू 31 जनवरी, 1968 को और पपुवा तथा न्यूगिनी 1 दिसम्बर, 1973 को स्वतन्त्र हो गए। अब केवल प्रशान्त महासागर लघु द्वीप (माइक्रोनेशिया) ही चार्टर की व्यवस्था के अनुसार सयुक्तराज्य अमेरिका के प्रशासन मे है।

न्यास परिषद् सयुक्त राष्ट्रसघ का महत्त्वपूर्ण अग है, यह अनेक उपयोगी कार्य सम्पन्न करती है। उदाहरण के लिए वह प्रशासक सत्ता द्वारा भेजे गए प्रतिवेदनों पर विचार करती है, महासभा के परामर्श से न्यास प्रदेशो के निवासियो से प्रार्थना-पत्र लेती है और उन पर विचार करती है। यह प्रशासक सत्ता की सहमति से न्यास प्रदेशो के निरीक्षण के लिए प्रतिनिधि-मण्डल भेजती है, न्यास प्रदेश के रहने वालो की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षणिक प्रगति के सम्बन्ध मे प्रश्नावलियाँ तैयार करती है। न्यास समझौते के अनुसार निर्धारित दूसरे कार्य करती है। न्यास परिषद् में प्राय तीन प्रकार के सदस्य लिए जाते हैं—न्यास प्रदेश का प्रशासन करने वाले सदस्य, सुरक्षा परिषद् के वे स्थाई सदस्य जो न्यास प्रदेशो के प्रशासक नहीं हैं और महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिए निर्वाचित सदस्य। न्यास परिषद् की सदस्य-सख्या इतनी रखी गई कि न्यास का प्रशासन करने वाले राज्यों के सदस्य बराबर-बराबर सख्या मे हो जाएँ।

न्यास परिषद् अपने निर्णयों को लागू करने की शक्ति नहीं रखती। यह

केवल प्रशासक सत्ताओं द्वारा भेजे गए वार्षिक प्रतिवेदनों का विचार एवं मूल्यांकन कर सकती है। इसके द्वारा न्यास प्रदेश के निवासियों की शिकायतें और प्रार्थना-पत्र स्वीकार किए जाते हैं। इसके सभी कार्य केवल विचारात्मक हैं, इसके निर्णयों की प्रकृति सुझावात्मक है और इसके पास इन्हें क्रियान्वित कराने के लिए आवश्यक प्रशासकीय सत्ता नहीं है।

मेण्डेट पद्धति तथा न्यास पद्धति की तुलना—संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यास पद्धति अनेक प्रकार से राष्ट्रसंघ की मैंण्डेट पद्धति की अपेक्षा एक सुधार मानी जा सकती है—

(1) न्यास पद्धति के उद्देश्य मेण्डेट व्यवस्था की अपेक्षा अधिक विशाल उदार तथा व्यापक हैं। फील्ड स्मट्स ने कहा था कि—यह योजना क्षेत्र की दृष्टि से राष्ट्रसंघ की पुरानी योजना से बहुत भिन्न है। यह अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की एक नवीन व्यवस्था है, इसका क्षेत्र विस्तृत है, इसकी शक्तियाँ व्यापक हैं और इसकी सफलता की सम्भावना मैंण्डेट पद्धति की अपेक्षा कहीं अधिक है। मैंण्डेट व्यवस्था केवल जर्मनी और टर्की से छीने हुए प्रदेशों तक सीमित थी जबकि न्यास व्यवस्था केवल शत्रु से छीने गए प्रदेशों के लिए ही नहीं है वरन् स्वशासन न करने वाले (Non Self Governing) पराधीन और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का शिकार बने सभी क्षेत्रों पर लागू होती है।

(2) न्यास व्यवस्था में न्यासी प्रदेशों पर शासन करने वाली शक्तियों पर मैंण्डेट व्यवस्था की अपेक्षा अधिक कठोर निरीक्षण स्थापित किया गया है। न्यास परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक स्थायी और प्रधान अंग है। मैंण्डेट व्यवस्था में स्थाई मैंण्डेट आयोग को न तो संरक्षित प्रदेशों में जाकर निरीक्षण करने का अधिकार था और न ही वह संरक्षण के सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रार्थना-पत्रों पर ही विचार कर सकता था। तात्पर्य यह है कि संरक्षण के सम्बन्ध में देखने और सुनने दोनों प्रकार के अधिकारों से संरक्षण आयोग (Mandate Commission) वंचित था। न्यास व्यवस्था में न्यास परिषद् आवेदन पत्र सुन सकती है और जाँच पड़ताल के लिए अपने संरक्षक मण्डल तक भेज सकती है। अतः इसका निरीक्षण मैंण्डेट प्रणाली के निरीक्षण से निश्चित रूप से अधिक प्रभावशाली, विस्तृत एवं क्षमतापूर्ण है।

(3) न्यास पद्धति इस दृष्टि से अधिक उदार है कि इसमें मानवीय अधिकार और मौलिक स्वतन्त्रताओं पर बल दिया गया है।

(4) मैंण्डेट प्रणाली में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को इतना महत्व नहीं दिया गया था जितना कि न्यास पद्धति ने दिया है। मैंण्डेट पद्धति में मैंण्डेट पाने वाले राष्ट्रों पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया था कि वे अपने प्रदेश में कोई सैनिक अड्डे स्थापित नहीं करेंगे, निवासियों को पुलिस के अतिरिक्त सैनिक प्रशिक्षण नहीं देंगे। किन्तु न्यास पद्धति में यह प्रतिबन्ध नहीं रखे गए। ओपेनहम के मतानुसार—संयुक्त राष्ट्रसंघ के उपरोक्त उद्देश्य यह स्पष्ट करते हैं कि राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा पत्र

व मैण्डेट पाने वाले राष्ट्रों पर इन प्रदेशों में फौजी भर्ती तथा किलेबन्दी के जो प्रतिबन्ध लगाए थे, उनका परित्याग कर दिया गया है।

(5) न्यास पद्धति में मुक्त द्वार (Open Door) की नीति का परित्याग कर दिया गया है जबकि मैण्डेट पद्धति ने इसे अपनाया था।

(6) न्यास परिषद् का सगठन भी स्थाई मैण्डेट आयोग से भिन्न और उत्तर है क्योंकि—

(क) न्यास परिषद् जहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक स्थाई और प्रधान अंग है वहाँ स्थाई मैण्डेट आयोग राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त किया गया है।

(ख) न्यास परिषद् के सदस्य सरकारों के प्रतिनिधि होते हैं जबकि मैण्डेट आयोग के सदस्य विशेषज्ञ थे जिनकी नियुक्ति राष्ट्रसंघ की परिषद् ने उनकी विशेष योग्यता के आधार पर की थी।

(ग) न्यास-परिषद् में न्यास-प्रदेशों पर शासन करने वाले और गैर शासक देशों की सख्या बराबर बराबर है जबकि मैण्डेट आयोग में अधिकांशत सदस्य राज्य ऐसे थे जो मैण्डेट में शामिल नहीं थे, एव

(घ) सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक स्थाई सदस्य को न्यास-परिषद् में स्थान प्राप्त है। इस प्रकार पाँच महान् शक्तियों और न्यास प्रदेशों पर शासनकर्त्ता देशों को भी यहाँ स्थाई प्रतिनिधित्व प्राप्त है, जबकि शेष सदस्यों का चुनाव महासभा 3 वर्ष के लिए करती है।

(7) न्यास व्यवस्था में मैण्डेट व्यवस्था की अपेक्षा उत्तरदायित्व का अधिक विस्तृत विचार रखा गया है। न्यास व्यवस्था इस बात पर स्पष्ट रूप से बल देती है कि देशी जनता का हित न्यास प्रदेशों के प्रशासन का सर्वप्रमुख लक्ष्य है। इसमें उपनिवेशवाद के उन्मूलन की स्पष्ट व्यवस्था है जबकि मैण्डेट प्रणाली में ऐसा नहीं था।

(8) न्यास व्यवस्था मैण्डेट व्यवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक सफल सिद्ध हुई है। महासभा के चौथे अधिवेशन के अध्यक्ष सी टी रोमुलो ने कहा था कि, "न्यास पद्धति की सतत् प्रगति आधुनिक जगत में राजनीतिक और नैतिकता के उच्च बिन्दु का प्रतिनिधित्व करती है।" न्यास पद्धति की व्यावहारिक सफलता का ज्वलन्त प्रमाण यही है कि जहाँ अधिकांश मैण्डेट प्रदेश राष्ट्रसंघ का अन्त हो जाने तक भी पराधीन रहे वहाँ अधिकांश न्यास प्रदेश 15 वर्ष की छोटी-सी अवधि में ही स्वाधीन हो गए।

कुछ आलोचकों ने पुरानी मैण्डेट व्यवस्था और वर्तमान न्यास व्यवस्था को एक ही सिक्के के दो पहलू कहकर कटु आलोचना की है और संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यास व्यवस्था को राष्ट्रसंघ की मैण्डेट व्यवस्था के समान एक चमकीला धोखा (*A Glamorous Fraud*) कहा है, किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रशासनिक दृष्टिकोण से दोनों प्रणालियों के गठन में समान सिद्धान्तों और उपायों का अवलम्बन लिया गया है, लेकिन विस्तार की बातों में दोनों में कई महत्त्वपूर्ण अन्तर दृष्टिगत

होते हैं और ये अन्तर प्रकट करते हैं कि न्यास पद्धति कई कारणों से मैण्डेट व्यवस्था से अधिक उत्कृष्ट व्यवस्था है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञों में मण्डेटों की प्रभु सत्ता के सम्बन्ध में उग्र विवाद था किन्तु न्यास प्रदेशों के सम्बन्ध में ऐसा कोई विवाद नहीं है। स्पष्ट है कि प्रशासक सत्ताएँ न्यास प्रदेशों के सम्बन्ध में सम्प्रभु नहीं है। वे संयुक्त राष्ट्रसंघ के निरीक्षण में कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करती हैं। न्यास प्रदेश एक प्रकार के धरोहर होते हैं और कोई देश इन पर स्वामित्व का दावा या मनमाना व्यवहार नहीं कर सकता। यद्यपि न्यास प्रदेश के सम्बन्ध में प्रशासकीय सत्ता को सम्प्रभु शक्ति प्राप्त नहीं होती फिर भी यह व्यापक शक्तियाँ रखती है।

14 लड़ाकू समाज (Belligerent Communities)—कुछ समाज ऐसे होते हैं जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है अथवा पूरे राज्य पर विद्रोही नियन्त्रण स्थापित करना चाहते हैं। इन समाजों का अपना कोई राज्य नहीं होता। एक देश में इस प्रकार की विद्रोही कार्यवाही दूसरे देशों पर भी प्रभाव डालती है। यह आवश्यक बन जाता है कि इस स्थिति में युद्ध के नियम लागू किए जाएँ। जब विद्रोही की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की बन जाती है तो दूसरे राज्य इस विद्रोही समाज का कुछ अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्रदान करने लगते हैं और इस प्रकार योद्धा के स्तर को मान्यता दे देते है और उस समूह को एक योद्धा समाज कह देते हैं।

योद्धा स्तर की कानूनी रचना के लिए दूसरे राज्यों द्वारा मान्यता प्राप्त करना परम आवश्यक है। यह मान्यता इस रूप में होती है कि एक समाज को लगातार विद्रोही घोषित किया जाता रहे। इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कानूनी स्तर प्राप्त करने वाले राज्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे राजनीतिक समाज भी होते हैं जो पृथक् राज्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष करते रहते हैं। इनको अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तथ्यगत स्तर की मान्यता प्रदान की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से विद्रोही समाज उसी राज्य का भाग होता है जिसके विरुद्ध यह अपने को पृथक् करने के लिए लड रहा है किन्तु स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष के दौरान यह स्वतन्त्रता की ऐसी स्थिति प्राप्त कर सकता है जिसमें अन्य राज्य उससे इस प्रकार व्यवहार करें मानो वह एक स्वतन्त्र राज्य है इन समाजों की स्थिति अनिश्चित होती है। दूसरे राज्यों द्वारा इन्हें राज्यपन के कुछ अधिकारों और विशेष अधिकारों का प्रयोग करने की सुविधा दी जाती है। ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रक्षा करने के लिए कानूनी रूप से उत्तरदायी नहीं होते वरन् नैतिक रूप से उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार के समाजों को युद्ध में रत राज्य का स्तर प्रदान किया जाता है। यदि यह समाज युद्ध के कानूनों का और विदेशी सम्पत्ति तथा विदेशी व्यक्तियों के अधिकारों का उल्लंघन करता है तो उसे उत्तरदायी ठहराया जाएगा। योद्धा समाज के युद्ध पोतों को चलने-फिरने का अधिकार दिया जाता है किन्तु उनके ऊपर पूरा निरीक्षण रखा जाता है।

इस समाज के लिए कोई कूटनीतिक एजेंट नहीं भेजा जाता। यह किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में शामिल नहीं हो सकता। यदि कानूनी सरकार विद्रोही को

योद्धा समाज स्वीकार नहीं करती तो दूसरे राज्य उसे यह मान्यता देने अथवा न देने के लिए स्वतन्त्र हैं किन्तु यह कार्य सम्बन्धित कानूनी सरकार द्वारा शत्रुतापूर्ण समझा जाएगा। यदि विद्रोही गुट कानूनी सरकार के मौलिक प्रदेश के बहुत बड़े भाग पर नियन्त्रण नहीं रखता अथवा विद्रोही के पास ऐसी नियमित सरकार का अभाव है जो उसके द्वारा हस्तगत प्रदेश पर प्रभावशाली नियन्त्रण रख सके अथवा विद्रोही ऐसी सगठित सेनाओं के माध्यम से न लड़े, जो सैनिक अनुशासन में बद्ध हैं तथा युद्ध के कानूनों और रीति-रिवाजों को स्वीकार करते हैं तो उसका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर गिर जाता है।

इस प्रकार यह एक गृहयुद्ध की स्थिति है जिसमें विद्रोही समूह अथवा तथ्यगत् सम्प्रभु और कानूनी सरकार या कानूनी सम्प्रभु का अस्तित्व होता है। यदि कोई अन्य राज्य कानून सरकार को सहायता देता है तो उसे तथ्यगत सरकार द्वारा शत्रु समझा जाएगा। यदि वह तथ्यगत सरकार को मान्यता देता है और वह हार जाती है तो कानूनी सरकार द्वारा उसे अन्यायपूर्ण आक्रमण घोषित किया जाएगा तथा मान्यता को अपरिपक्व बताया जाएगा। कुल मिलाकर यह एक लॉटरी जैसी स्थिति बन जाती है। इसीलिए परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त इस स्थिति में दूसरे राज्यों को तटस्थ रहने का आदेश देते हैं। गृहयुद्ध के दौरान यदि विद्रोही समूह को मान्यता प्रदान की जाती है तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन माना जाएगा।

योद्धा राज्य की मान्यता एक राज्य की मान्यता के समान नहीं है। इसका कारण यह है कि योद्धा समाज कानूनी रूप से अभी भी उस राज्य का आवश्यक भाग है जिसकी सरकार के विरुद्ध यह विद्रोही कार्य कर रहा है। राज्य की मान्यता एक समाज केवल तभी प्राप्त कर सकेगा जब वह अपने प्रयास में सफल हो जाए और या तो स्वतन्त्रता प्राप्त करले अथवा अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को कानूनी सरकार के स्थान पर स्थापित कर दे। जब तक इस प्रकार की सफलता नहीं मिलती उस समय तक युद्धरत समाज केवल सीमित अर्थ में महत्त्व रखेगा। यह अस्थाई प्रकृति का अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व होगा और इसीलिए राष्ट्रों के समाज का अस्थाई तथा सीमित सदस्य माना जाएगा।

वामन या अति लघु ह्रासमान राज्यों का प्रश्न
(The Question of Mini states or Micro states or Diminutive States)

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अधिकांश उपनिवेश स्वतन्त्रता प्राप्ति कर चुके हैं। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में पिछले लगभग 20 वर्षों में एशिया तथा अफ्रीका में पाश्चात्य देशों तथा अमेरिका के अधीन सैनिक अड्डों व पराधीन बस्तियों के स्वतन्त्र होने से अत्यन्त छोटे क्षेत्रफल और बहुत कम आबादी रखने वाले नवीन राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ है जिन्हें अति लघु या वामन राज्य (Mini-states or Micro-states) अथवा ह्रासमान राज्य (Diminutive States) कहा जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव ने सन् 1966 67 की रिपोर्ट में 'अति लघु' या 'मानव राज्य' का

लक्षण बताते हुए लिखा था कि 'यह क्षेत्रफल आबादी और मानवीय और आर्थिक साधनों की दृष्टि से असाधारण रूप से छोटा होता है।" तथापि यह अवश्य है कि पराधीनता से मुक्त होने पर ऐसा या अति लघु या ह्रासमान राज्य एक 'स्वतन्त्र राज्य' का रूप धारण कर लेता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण प्रशान्त महासागर में सिडनी से लगभग 22 मील उत्तर-पूर्व में स्थित नौरू टापू है। केवल 8·25 वर्गमील के क्षेत्रफल और लगभग 3000 की आबादी वाला यह टापू आस्ट्रेलिया की सरक्षता में था किन्तु अब एक स्वतन्त्र राज्य है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव के अनुसार आत्म निर्णय के अधिकार का प्रयोग करते हुए छोटे-से-छोटे प्रदेशों का भी स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अधिकार है, तथापि ये राज्य स्वतन्त्र होते हुए भी अपने सीमित साधनों और बहुत छोटी जनसंख्या के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता के उत्तरदायित्वों को पूरा नहीं कर सकते। चूँकि ऐसे छोटे-मोटे राज्यों को संयुक्त राष्ट्र संघ में मतदान का अधिकार प्राप्त है, अत. अधिकार और उत्तरदायित्व का जोड़ा नहीं बैठ पाता और आज इन ह्रासमान या वामन या अति लघु राज्यों के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक समस्या उठ खड़ी हुई है। चूँकि ये राज्य विश्व संगठन के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह नहीं कर सकते अत इन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ की पूर्ण सदस्यता दिए जाने के प्रति कई विचारकों ने आपत्ति उठाई है।

अति लघु या वामन या ह्रासमान राज्यों के प्रश्न पर जो विभिन्न विचार प्रकट किए गए हैं, संयुक्त राष्ट्रसंघ में इनकी पूर्ण सदस्यता पर जो सन्देह प्रकट किया गया है, तथा समस्या के जो अन्य पहलू हैं—उन पर प्रकाश डालते हुए एम. पी टण्डन ने लिखा है—

'एक सम्प्रभु राज्य उसे कहते हैं जिसमें एक स्थायी जनसंख्या, निर्धारित सीमाएँ प्रभावकारी सरकार और स्वतन्त्रता हो। राज्य के लिए आकार की कोई सीमा निश्चित नहीं है। छोटे राज्य जिस समय संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रविष्ट हुए थे, उस समय किसी ने उनके आकार पर प्रश्न नहीं उठाया था, उनके द्वारा प्रयुक्त सम्प्रभुता को अवश्य ध्यान में रखा गया। आकार के साथ ही इस बात का भी दूसरा प्रश्न उठता रहता है कि ये ह्रासमान राज्य संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता के भारों का निर्वहन कहाँ तक कर सकते हैं, जिसमें चार्टर के अनुच्छेद 17(2) में निर्धारित संयुक्त राष्ट्रसंघ के आय-व्ययक में अभिदान करने का आभार कभी-कभी इन राज्यों के ऊपर बहुत बोझ बन सकता है। तीसरा प्रश्न ऐसे राज्यों की इच्छा पर निर्भर करता है कि वे किस सीमा तक संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बने रहने के इच्छुक हैं। यदि इन्हें संघ की सदस्यता से वंचित कर दिया जाता है तो जेक्स के अनुसार ये राज्य बड़ी शक्तियों द्वारा विधि विहीन कार्यों के करने के क्रीड़ा क्षेत्र बना दिए जाएँगे। यदि इन्हें सदस्य बने रहने दिया जाता है तो संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा अपने-अपने शक्ति गुटों के साथ बड़े राज्यों की भाँति ही मतदान करते और उनके मतों को प्रभावित करते हैं अत संयुक्त राष्ट्र संघ में इनका क्या स्थान हो, एक विचारणीय प्रश्न बना हुआ है।"

संयुक्त राष्ट्र विधिक परिषद् ने विभिन्न प्रस्तावों का परीक्षण संयुक्त राष्ट्र चार्टर को दृष्टि में रखकर किया और निष्कर्ष दिया कि चार्टर के अनुच्छेद 4 में सहायक सदस्य (Associate Membership) अथवा सहायक सदस्यों (Associate Members) का कोई उल्लेख नहीं किया गया है और चार्टर का संशोधन किए बिना उस इंस्ट्रूमेंट के प्रति एक पक्षकार बनने के सम्बन्ध में किसी अन्य साधन का सृजन किया जाना सम्भव नहीं है। लीगल कौंसिल ने चार्टर के अनुच्छेद 9 का भी उल्लेख किया जिसमें यह उपबन्धित था कि, महासभा में संयुक्त राष्ट्रों के सभी सदस्य शामिल होंगे और यह कि अनुच्छेद को, यदि अमेरिका के प्रस्तावों को प्रभावित करना है तो 'और सभी सहयोगी सदस्यों' को जोड़कर संशोधित करना होगा। अन्तिम रूप में विधिक परिषद् ने इस बात पर सन्देह व्यक्त किया कि प्रस्तावित सहयोगी सदस्यों को वित्तीय अंशदानों के आभार से मुक्त करना सम्भव न होगा।

जहाँ तक ब्रिटिश प्रस्ताव का सम्बन्ध था उसमें प्रस्तावित था कि छोटे राज्यों को संयुक्त राष्ट्रों के पूर्ण सदस्यों के रूप में माना जाए किन्तु वे स्वेच्छापूर्वक संघ के मतदानों से अपने को अलग रखें और संघ के पदों को धारण न करें। परिषद् ने इस बात पर भी सन्देह व्यक्त किया कि यह प्रस्ताव चार्टर के अनुच्छेद के अनुकूल होगा कि राज्य संयुक्त राष्ट्रों की सदस्यता प्राप्त कर लें और चार्टर में उत्पन्न वित्तीय आभारों की पूर्ति न करें। इसके उपरान्त चार्टर के अनुच्छेद 18(1) में अनुबंधित है कि "महासभा के ऐसे सदस्यों को एक मत प्रदान करने का अधिकार होगा और यह कि यदि वे चाहें तो मत देने के अपने अधिकार का स्वेच्छा से त्याग कर सकेंगे।" चार्टर के अनुच्छेद 2(1) में घोषित किया गया था कि 'संघ अपने सभी सदस्यों की सम्प्रभुता की समानता के सिद्धान्त पर आधारित है।" इस चार्टर के अधीन अनिवार्य अधिकारों और कर्तव्यों के बीच समानता सुनिश्चित हो गई है। इसलिए इस सम्बन्ध में गम्भीर सन्देह उत्पन्न हो सकते हैं कि एक राज्य अपने मूलभूत चार्टर अधिकारों को वैध रूप में छोड़ सकता है अथवा नहीं। जब तक ऐसा राज्य सम्प्रभु बना रहता है तब तक वह अत्यन्त कठिनाई के बराबर बचा रह सकता है। इसके उपरान्त विधिक परिषद् ने कहा कि यदि मूलभूत अधिकारों का त्याग किया जा सकता है तो क्या मूलभूत कर्तव्यों को भी छोड़ा जा सकता है जैसे कि राज्यों का यह कर्तव्य है कि अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाया जाए।

---

7 राज्यों एवं सरकारों की मान्यता

(Recognition of States and of Governments)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से राज्यों की मान्यता का विशेष महत्त्व है। मान्यता शब्द का अर्थ एक स्थित राज्य की सरकार द्वारा की जाने वाली वह घोषणा है कि वह कुछ परम्परागत कानूनी परिणामों को तथ्यों से मिलाना चाहती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में मान्यता का एक विशेष अर्थ हो जाता है। इसके अन्तर्गत एक नए राज्य के अस्तित्व या एक नई सरकार के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है और मान्यता प्रदान करने वाला राज्य उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने का निर्णय लेता है। मान्यता के साथ सम्बद्ध कुछ अन्य परम्पराएँ भी जुड़ी हुई हैं। जब तक एक राज्य को दूसरे राज्यों की मान्यता प्राप्त नहीं होती तब तक वह अन्तर्राष्ट्रीय समाज का सदस्य नहीं माना जाता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिए दूसरे राज्यों द्वारा उसकी मान्यता रखना परम आवश्यक है।

मान्यता का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Recognition)

प्रो. ओपेनहीम के मतानुसार—"राष्ट्रों के कानून का आधार सभ्य राज्यों की सामान्य स्वीकृति है।' केवल राज्य की विशेषताओं से युक्त होना ही एक राज्य को राष्ट्रों के परिवार की सदस्यता नहीं दिला देता। राष्ट्रों के समाज के सदस्य या तो मौलिक सदस्य हैं अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून रीति-रिवाज और सन्धियों के माध्यम से उन राज्यों के बीच क्रमशः विकसित हुआ है अथवा वे ऐसे सदस्य हैं जिनको राष्ट्रों के समाज ने मान्यता दी है। इस प्रकार कोई भी राज्य मान्यता के बाद ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति बन पाता है। प्रो. ब्रायर्ली के मतानुसार—'इस दृष्टिकोण में अनेक गम्भीर कठिनाइयाँ हैं। मान लीजिए एक राज्य के स्तर को 'क' राज्य द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है किन्तु उसे 'ख' राज्य मान्यता नहीं देता तो ऐसा राज्य एक ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व है और नहीं भी है। इसके अतिरिक्त एक अन्य कठिनाई यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार मान्यता-विहीन राज्य का न तो कोई अधिकार है और न अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति उसका कोई कर्त्तव्य है।" जब तक एक राज्य को

मान्यता नहीं दी जाती तब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकार और दायित्व उस पर लागू नहीं किए जा सकते।

प्रो. फेनविक के मतानुसार—"मान्यता का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के स्थित सदस्य द्वारा ऐसे राज्य अथवा राजनीतिक दल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को स्वीकार करना है जिसके साथ अब तक उसके सरकारी सम्बन्ध नहीं थे।" प्रो जेसप ने लिखा है कि 'एक राज्य को मान्यता देना ऐसा कार्य है जिसके द्वारा दूसरा राज्य यह स्वीकार करता है कि जिस राज्य को मान्यता दी जा रही है उसमें राज्य की सभी विशेषताएँ उपलब्ध हैं।" स्पष्ट है कि मान्यता द्वारा ही एक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज का अंग बनता है और उसे अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार एवं कर्तव्य सौंपे जाते हैं प्रदेश, जनसख्या, सरकार और सम्प्रभुता राज्य के आवश्यक अंग हैं। इनके होने पर एक समाज राज्य बन जाता है चाहे उसे मान्यता प्राप्त हो अथवा न हो। दूसरे शब्दों मे एक नए राज्य का प्रारम्भ कानून का प्रश्न न होकर तथ्य का प्रश्न है।

विचारकों मे इस सम्बन्ध में मतभेद है कि मान्यता की प्रकृति केवल घोषणाकारी है अथवा रचनात्मक है। दूसरे शब्दों में, क्या राज्य मान्यता से पहले कायम था? अथवा मान्यता के बाद अस्तित्व में आया। प्रो. लॉटरपैक्ट ने रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया है।[1] जबकि अमेरिकी गणराज्यों ने सन् 1933 में मॉण्टेविडियो (Montevideo) में घोषणाकारी दृष्टिकोण अपनाया है। इसमें यह माना गया था कि एक राज्य का राजनीतिक अस्तित्व दूसरे राज्यों की मान्यता से स्वतन्त्र है। मान्यता से पहले भी राज्य को यह अधिकार था कि वह अपनी एकता और स्वतन्त्रता की रक्षा कर सके, सम्पन्नता को प्रोत्साहन दे सके और अपनी इच्छानुसार संगठित हो सके। दूसरे राज्य एक नए राज्य को मान्यता प्रदान करके केवल यह निर्णय लेते हैं कि वे नए राज्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करेंगे अथवा नहीं। प्रो ब्रायर्ली ने यह स्वीकार किया है कि "एक नए राज्य को मान्यता देने का कार्य रचनात्मक नहीं है किन्तु घोषणाकारी है। मान्यता के द्वारा किसी ऐसे राज्य को अस्तित्व में नहीं लाया जा सकता जिसका अभी तक जन्म नहीं हुआ है।" इसके अतिरिक्त बिना मान्यता प्राप्त किए भी एक राज्य कायम रहता है और दूसरे राज्य चाहे उसे मान्यता प्रदान न करें किन्तु राज्य के रूप में उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं। इस प्रकार विभिन्न विचारकों के मत और राजनीतिक व्यवहार से यह स्पष्ट होता है कि नए राज्यों को मान्यता देना एक राजनीतिक कार्य है जिसके कानूनी परिणाम होते हैं।

मान्यता का कानूनी महत्त्व
(Legal Significance of Recognition)

मान्यता के कानूनी महत्त्व के सम्बन्ध में विचारकों के बीच मतभेद हैं। जब किसी राज्य को मान्यता प्रदान की जाती है तो कुछ मान्य सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार किया जाता है किन्तु इन मान्यताओं में प्रायः एकरूपता का अभाव पाया

[1] *Lauterpacht* : Recognition of States in International Law

जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वर्तमान स्वरूप मे विभिन्न राज्य अलग-अलग प्रकार से व्यवहार करते हैं। इसका अर्थ यह नही कि सभी व्यवहार उचित और सार्थक हैं, किन्तु य इस तथ्य का प्रमाण है कि सही व्यवहार को निर्धारित करने वाली कोई प्रक्रिया कायम नही है। विभिन्न देशो के पारस्परिक, राजनीतिक विवादों और कूटनीतिक स्वार्थों के कारण विभिन्न देशो द्वारा मान्यता प्रदान करने मे सामान्य सिद्धान्तो का अनुसरण नही किया जाता। सैद्धान्तिक और विचारधारागत मतभेद भी इस दृष्टि मे महत्त्व रखत हैं। राज्यो की मान्यता के पीछे विभिन्न देशों के राष्ट्रीय हित कार्य करत हैं और इन्ही के द्वारा उनके व्यवहार को निर्धारित किया जाता है। इजराइल को संयुक्तराज्य अमरिका ने उसकी स्थापना के कुछ घण्टों बाद ही मान्यता प्रदान कर दी किन्तु लाल चीन को अभी तक स्वीकार नही किया है। भारत ने इजराइल को मान्यता नहीं दी है। सोवियत रूस मे साम्यवादी सरकार की स्थापना के बहुत समय बाद तक मित्र राष्ट्रो ने उसे मान्यता नही दी जबकि पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया राज्यो को उनके निर्माण से पहले ही मान्यता दे दी गई। मान्यता का प्रश्न इतना जटिल होने के कारण ही प्रो. स्टॉर्क ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अत्यन्त जटिल और क्लिष्ट अग बताया है। राज्यो की मान्यता के सम्बन्ध मे मुख्यतः दो सिद्धान्त प्रचलित हैं।

मान्यता के सिद्धान्त
(Principles of Recognition)

1 निर्माणात्मक सिद्धान्त (Constitutive Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार मान्यता ही राज्य को जन्म देती है। जब तक किसी राज्य को मान्यता नही दी जाती तब तक उसकी अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता नहीं होती। एक राज्य केवल मान्यता के बाद ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति बन पाता है। दूसरे शब्दो मे, राज्यो के समाज द्वारा किसी राज्य को मान्यता के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व सौंपा जाता है। इस मान्यता का जन्मदाता हीगल को माना जाता है। इसके प्रमुख समर्थक प्रो ओपेनहीम जैलिनेक और हॉलैण्ड है। हॉलैण्ड ने माना है कि जब तक राज्य पर मान्यता की मुहर अकित नही होती तब तक वह परिपक्व अवस्था प्राप्त नही कर पाता।

मान्यता प्राप्ति के बाद राज्य अपने सभी अधिकारों का पूरा-पूरा उपयोग कर पाएगा। यह दृष्टिकोण सकारात्मकवादियो का है और इसीलिए इन्होने स्वीकृति को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रमुख स्रोत माना है। तार्किक दृष्टि से यह दृष्टिकोण सही नही है क्योंकि यदि हम नए राज्यो के अधिकारो और कर्त्तव्यों को उसकी स्वय की इच्छा पर आधारित मानते हैं तो वे दूसरे राज्यो की इच्छा से ग्रहण किए गए नही माने जा सकते।

निर्माणात्मक सिद्धान्त से सम्बन्धित एक अन्य दृष्टिकोण यह है कि जिस प्रकार घरेलू स्तर पर निगमो द्वारा नए निगमों को अधिकार पत्र सौंपा जाता है उसी प्रकार स्थिर राज्य नए राज्यो को मान्यता प्रदान करके अधिकार सौंपते हैं। यह दृष्टिकोण इसलिए सही नहीं माना जा सकता क्योंकि निगमो को अधिकार सौंपने

वालो सम्बन्धित सत्ता सभी नियमो से सर्वोच्च होती है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसी कोई सत्ता नही है।

इस सम्बन्ध म हम राज्यो के समाज की धारणा को एक बार पुन. देखना होगा। यह कहा जाता है कि राष्ट्रो का समाज नए सदस्यो को मान्यता के माध्यम से अपने मे शामिल करता है, किन्तु अनेक समुदाय एसे है जो राष्ट्रो के समाज मे शामिल होने से पहले ही प्रत्येक दृष्टि से राज्य बन गए, उदाहरण के लिए–लालचीन, टर्की स्याम, सोवियत रूस आदि। इनके आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपन के लिए मान्यता अनिवार्य नही है। अन्तर्राष्ट्रीय रगमच पर केन्द्रीकृत सस्थाओ का अभाव होने के कारण यह सिद्धान्त उचित प्रतीत नही होता। यह राज्यो की सम्प्रभुता के विरुद्ध आक्रमण है।

2 घोषणात्मक या प्रमाणात्मक सिद्धान्त (Declaratory or Evidentary Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की रचना और जन्म का उसकी मान्यता से बहुत कम सम्बन्ध है। अनेक उदाहरणो मे तो राज्य का जन्म मान्यता से पहले ही हो चुका होता है। मान्यता केवल उन तथ्यो की औपचारिक स्वीकृति है जो पहले से ही स्थित है। इस दृष्टिकोण का समर्थन अनेक अवसरो पर अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयो, पचफैसले के निर्णयो तथा न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो द्वारा किया गया है। जो राज्य पहले से हो विद्यमान है उसे मान्यता देना एक प्रकार से तथ्यो की घोषणा करना है अथवा राज्य की सत्ता के लिए एक अन्य प्रमाण प्रस्तुत करना है। इस प्रकार मान्यता किसी नए राज्य को जन्म नही देती वरन् पहले हो से कायम राज्य को स्वीकार करती है। यह एक राजनीतिक कार्य है और इसका उद्देश्य नए राज्य के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित करना है।

घोषणात्मक सिद्धान्त की एक सीमा यह है कि कोई भी राज्य अपने न्यायालयों मे दूसरे राज्य की पहुँच स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने के लिए स्वतन्त्र है और इसलिए अपने आपको राज्य कहने वाला प्रत्येक समाज स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के सम्मुख प्रस्तुत होने का अधिकार नही रखता।

सक्षेप मे, मान्यता का मूलभूत कार्य इस तथ्य को पहिचानना है कि जिस समाज ने राज्य की विशेषताएँ प्राप्त कर ली है, इसमे पहले राज्य का स्वरूप अनिश्चित रहता है। जब मान्यता प्रदान कर दी जाती है तो स्पष्ट हो जाता है कि इसे प्रदान करने वाला राज्य सम्बन्धित राज्य के कार्य के परिणामों को स्वीकार करता है और मान्य राज्य के साथ सामान्य सम्बन्ध बनाने के लिए सहमत है।

राज्यों की मान्यता से सम्बन्धित दोनों सिद्धान्तो मे कुछ सत्यता है। प्रो स्टार्क के मतानुसार, "सच्चाई सम्भवत दोनो के मध्य स्थित है। कुछ परिस्थितियों मे पहला सिद्धान्त सही प्रतीत होता है किन्तु दूसरी परिस्थितियो मे दूसरा सिद्धान्त सत्य ठहरता है।" यदि किसी नए राज्य को अनेक राज्य मान्यता दे चुके है तो उसे कुछ राज्यो द्वारा मान्यता प्रदान न करना अधिक महत्त्व नही रखता।

घोषणात्मक सिद्धान्त बहुत कुछ सही प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त की सत्यता के प्रमाणस्वरूप कुछ अन्य तर्क भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

(1) जब नए राज्य के न्यायालयो मे यह प्रश्न उठता है कि इसका जन्म कब हुआ तो इसका निर्णय उस समय से नहीं किया जाता जब वह अन्य राज्यों से सन्धि करने लगा या वरन् उस समय से किया जाता है जब यह राज्य होने की समस्त आवश्यकताएँ पूरी कर चुका था। (2) नए राज्यों को दी गई स्वीकृति प्रतीतकाल के उस बिन्दु से ही प्रारम्भ हो जाती है जब नई सरकार ने कार्य करना प्रारम्भ किया था अर्थात् मान्यता से पहले भी नई सरकार का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। यदि ऐसा नहीं होता तो सक्रमणकाल मे किए गए नागरिकों के व्यवहार और समझौते असत्य घोषित हो जाते। घोषणात्मक सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि ऐसा कोई समय नहीं होता जब राज्य का अस्तित्व नहीं होता। किसी न किसी रूप मे राज्य हर समय अवश्य कायम रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनवेत्ता मि. लॉटरपैक्ट (Lauterpacht) के मतानुसार निर्माणात्मक सिद्धान्त सही है क्योंकि यह राज्यो के आचरण और सुनिश्चित कानूनी सिद्धान्तों के अनुरूप है। जब कोई राज्य या सरकार राज्य की आवश्यक शर्तों को पूरा कर लेती है तो दूसरे राज्यो का कर्त्तव्य होता है कि वे इसे मान्यता प्रदान करें। सन् 1948 मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह सम्मति दी कि सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्यों को नए राज्यो को मान्यता देते समय राजनीतिक स्वार्थों की दृष्टि से नहीं सोचना चाहिए।

लॉटरपैक्ट का यह मत केवल एक सद्भावना मात्र प्रतीत होता है क्योंकि वास्तविक जीवन मे राज्यो द्वारा राजनीतिक स्वार्थ की दृष्टि से विचार किया जाता है। इसी स्वार्थ के कारण वे दूसरे राज्यो को मान्यता प्रदान करने या न करने के अपने कानूनी कर्त्तव्य को पूरा नहीं करते। ऐसी स्थिति मे क्या किया जाए यह स्पष्ट नहीं है? राजनीतिक स्वार्थों के सामने विभिन्न देश अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो की अवहेलना करते हैं। इस तथ्य से स्पष्ट है कि घोषणात्मक सिद्धान्त अधिक सही और उपयुक्त है।

मान्यता के तरीके
(Methods of Recognition)

विभिन्न राज्यों को दी जाने वाली मान्यता के अनेक तरीके होते हैं। इनमे से कोई भी एक तरीका सामान्य रूप से स्वीकृत नहीं है। प्रो. जैसप का कहना है कि "मान्यता स्पष्ट या ध्वनित हो सकती है, एकपक्षीय अथवा सयुक्त हो सकती है, यह घोषणा के रूप मे अथवा सन्धि के रूप मे या कूटनीतिक प्रतिनिधियों के विनिमय के रूप मे हो सकती है।" राष्ट्रसघ के घोषणा-पत्र के अनुसार एक नए राज्य को मान्यता देने का तरीका यह था कि अनुच्छेद 1 के अनुसार महासभा के दो-तिहाई बहुमत द्वारा उस राज्य को राष्ट्रसघ की सदस्यता प्रदान कर दी जाती थी। सघ के स्थाई मैण्डेट आयोग ने सन् 1931 म उन शर्तों की सूची बनाई जिनका पूरा किए जाने के बाद ही राज्य के रूप म उसे मान्यता दी जा सकती थी।

किसी राज्य को मान्यता देने के लिए जो तरीके अपनाए जाते हैं उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं —

1 सन्धियों द्वारा—जब किसी नए राज्य के साथ दूसरा राज्य सन्धि करने लगता है तो वह उसे मान्यता प्रदान करता है। आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार की सन्धि में *मान्यता का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया जाए। संयुक्तराज्य अमेरिका ने* स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब फ्रांस के साथ सन्धि की तो उसमें फ्रांस ने स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा था कि वह उस मान्यता प्रदान करता है किन्तु सन्धि की शर्तें कुछ इस प्रकार की थीं जो केवल स्वतन्त्र राज्यों के बीच ही कायम रह सकती हैं। अन्य सन्धियाँ ऐसी होती हैं जो स्पष्ट रूप से नए राज्यों को मान्यता प्रदान करती हैं।

किसी सन्धि के पालन से एक अमान्य देश को मान्यता प्राप्त होती है अथवा नहीं होती है, यह प्रश्न सन् 1963 की अणुशस्त्र निरोध सन्धि के समय सामने आया। यह समस्या उठी कि अब तक जिन देशों को मान्यता प्राप्त नहीं है क्या वे बहुपक्षीय सन्धि में शामिल होने के कारण मान्यता प्राप्त समझे जाएँगे। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से पहले पूर्वी जर्मनी की सरकार को संयुक्तराज्य अमेरिका ने मान्यता नहीं दी थी। पूर्वी जर्मनी के अधिकारियों ने अणु परीक्षा निरोध सन्धि का अनुशीलन किया, इससे क्या हमें यह मानना चाहिए कि संयुक्तराज्य अमेरिका पूर्वी जर्मनी की सरकार को मान्यता प्रदान करता है? इसका उत्तर नकारात्मक है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में मान्यता निर्धारित करने या न करने के लिए स्पष्ट रूप से उल्लेख करने की व्यवस्था है। प्रो ग्लान के कथनानुसार, 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून में *यह एक सुस्थापित व्यवस्था है कि जो बहुपक्षीय सन्धि सामान्य स्वीकृति के लिए खुली* रहती है उसमें किसी भी अमान्य सरकार का शामिल होना उसकी मान्यता का प्रश्न पैदा नहीं करता।"

2 **संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता**— राष्ट्रसंघ की भाँति संयुक्त राष्ट्रसंघ भी नए राज्यों को अपना सदस्य बनाकर उन्हें मान्यता प्रदान करता है, उदाहरण के लिए, कनाडा जैसे ब्रिटिश डोमिनियनों को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता द्वारा मान्यता प्राप्त हुई। मान्यता का यह तरीका सामूहिक है। इसके बाद व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग राज्यों द्वारा मान्यता प्राप्त करने का प्रश्न नहीं उठता।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा को अधिकार-पत्र के चौथे अध्याय के अन्तर्गत जो शक्तियाँ प्राप्त हैं व बहुत कुछ परामर्शदात्री हैं फिर भी अनुच्छेद 18 के अनुसार उसे यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी नए राज्य को मान्यता प्रदान करने के लिए यह बता सके कि उसमें राज्य के आधारभूत गुण हैं या नहीं हैं यही कारण है कि प्रत्येक नया राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनना चाहता है। यह सदस्यता अधिकार-पत्र की धारा 4 के अनुसार सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा के निर्णय द्वारा प्रदान की जाती है। महासभा द्वारा कुछ ऐसे नियमों की घोषणा की जा सकती है जिन्हें वह किसी नए राज्य को सदस्य बनाते समय अपनाएगी। इन नियमों में राज्य के मूल तत्त्वों को शामिल किया जाएगा किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ और भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, उस नए राज्य में राज्य की विशेषताओं के

साथ-साथ संघ के अधिकार-पत्र के दायित्वों का निर्वाह करने की क्षमता और इच्छा हो। इसके अतिरिक्त वह राज्य एक शान्तिप्रिय राज्य हो।

3. दौत्य सम्बन्ध द्वारा—जब किसी नए राज्य के साथ दूसरे राज्य अपना दौत्य सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं अथवा किसी नई राजनीतिक सत्ता के साथ अपने दूतों और राजनीतिक प्रतिनिधियों का आदान-प्रदान करते हैं तो यह समझ लिया जाता है कि नए राज्यों को मान्यता प्रदान कर दी गई है क्योंकि दौत्य सम्बन्ध मान्य राज्यों के बीच ही स्थापित होते हैं।

4. एकपक्षीय घोषणा—कभी-कभी एक राज्य की सरकार दूसरे नए राज्य को एकपक्षीय घोषणा द्वारा भी स्वीकार कर लेती है। उदाहरण के लिए, इजराइल की स्थापना के 10 मिनट बाद ही संयुक्तराज्य अमेरिका की सरकार ने उसे एक घोषणा द्वारा स्वीकार कर लिया।

5 सामूहिक घोषणा—जब एक नए राज्य को मान्यता प्रदान करने के इच्छुक कई राज्य होते हैं तो वे एकसाथ मिलकर घोषणा करते हैं। उदाहरण के लिए, 24 जनवरी 1871 को जर्मन साम्राज्य को मान्यता प्रदान करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, उत्तरी जर्मनी, रूस आदि राज्यों ने एक प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किए।

6 अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रवेश—कुछ उदाहरणों में नए राज्यों को इसलिए मान्यता दे दी गई क्योंकि उन्होंने महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लिया था। *उदाहरण के लिए, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया पेरिस सम्मेलन में भाग* लेने और वारसा की सन्धि पर हस्ताक्षर करने के कारण ही राज्य मान लिए गए।

मान्यता के रूप
(The Forms of Recognition)

किसी भी नए राज्य को मान्यता देने के तरीकों के आधार पर हम मान्यता के विभिन्न रूपों का उल्लेख कर सकते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

1 ध्वनित और स्पष्ट मान्यता (Expressed and Implied Recognition)-ध्वनित मान्यता से तात्पर्य उससे है जब एक राज्य विभिन्न राजनीतिक कारणों से किसी नए राज्य को स्पष्ट रूप से मान्यता प्रदान नहीं करता किन्तु इस प्रकार व्यवहार करता है जिससे यह प्रतीत होता हो कि उसने सम्बन्धित सत्ता को मान्यता प्रदान कर दी है। द्विपक्षीय सन्धियाँ दौत्य सम्बन्धों की स्थापना और वाणिज्य दूतों का आदान-प्रदान कुछ ऐसे ही व्यवहार हैं जो ध्वनित मान्यता के प्रतीक कहे जा सकते हैं। मान्यता का यह एक गुप्त और अप्रत्यक्ष तरीका है। इसके अन्तर्गत मान्यता प्रदान करने वाला राज्य नए राज्य के झण्डे को स्वीकार करता है अथवा सलामी देता है, उस राज्य के प्रमुख अधिकारी से पूर्ण रूप से विचार-विमर्श करता है *उसके साथ समझौते करता है और इस प्रकार विभिन्न तरीकों से उस नए राज्य के* अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है।

दूसरी ओर स्पष्ट मान्यता वह होती है जिसमें एक राज्य किसी नई राजनीतिक सत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। 14 मई, 1948 को ज

इजराइल राज्य की स्थापना हुई उसके बाद 15 मई को राष्ट्रपति ट्रूमेन ने एक घोषणा द्वारा उसे स्वीकार कर लिया। उन्हीं के शब्दों में—"यह सरकार सूचित की गई है कि पैलेस्टाइन में एक यहूदी राज्य स्थापित हुआ। इस राज्य की प्राविधिक सरकार ने मान्यता की प्रार्थना की है। संयुक्तराज्य अमरिका की सरकार इजराइल के नए राज्य की प्राविधिक सरकार का तथ्यगत सत्ता मानती है।" राष्ट्रपति का यह कथन नए राज्य और उसकी सरकार की स्पष्ट मान्यता का संकेत करता है। केवल राज्य का स्वीकार करना अनुचित है। किसी भी नए राज्य की मान्यता का निर्णय परिस्थितियों के अनुसार भिन्नता रखता है। अनेक व्यापारिक हित और राजनीतिक हित इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि कितने राज्य मान्यता प्रदान कर चुके हैं—मान्यता प्रदान करने से देश की राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ेगा, नए राज्य को अपना सैनिक मित्र बनाने से क्या सम्भावनाएँ बढ़ जाएँगी, और मानवीय दृष्टि से यह कितना उपयोगी रहेगा।

2 एकाकी और सामूहिक मान्यता (Single and Collecture Recognition)—जब किसी नए राज्य को दूसरे राज्य व्यक्तिगत रूप से मान्यता प्रदान करते हैं तो उसे एकाकी मान्यता कहा जाता है। अनेक बार इससे भिन्न तरीका भी अपनाया जाता है जिसके अन्तर्गत अनेक राज्य मिलकर किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन या समझौते में अनेक नए राज्यों को एक साथ मान्यता प्रदान कर देते हैं। यह सामूहिक मान्यता कहलाती है। अनेक अवसरों पर राज्यों ने इस प्रकार की मान्यताएँ प्रदान की हैं। सामूहिक मान्यता की प्रक्रिया राष्ट्रों के समाज के अस्तित्व को सिद्ध करती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद सामूहिक मान्यता के उदाहरण बढ़ गए। इससे पहले भी सन् 1921 में मित्रराष्ट्रों ने ईस्टोनिया और अल्बानिया को स्वीकार किया। इसी प्रकार सन् 1878 में बर्लिन कांग्रेस ने रूमानिया, बल्गारिया, सर्विया और मोन्टीनीग्रो आदि देशों को मान्यता प्रदान की।

यह कहा जाता है कि सामूहिक मान्यता व्यक्तिगत मान्यता की अपेक्षा कम लोकप्रिय है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद भी इसकी लोकप्रियता में विशेष अन्तर नहीं आया। किसी भी राज्य का संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश यह अर्थ नहीं रखता और न रख सकता है कि संगठन के दूसरे सदस्य आवश्यक रूप से इस नए राज्य को मान्यता प्रदान करेंगे, अपने न्यायालयों में उसे प्रवेश देंगे, उनके साथ अपने कूटनीतिक प्रतिनिधियों का आदान-प्रदान करेंगे और संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाहर उनके साथ ऐसा व्यवहार करेंगे मानो उन्हें मान्यता प्रदान कर दी गई हो। संयुक्त राष्ट्रसंघ को व्यक्तिगत रूप से किसी राज्य को मान्यता देने का कोई अधिकार नहीं है। उसकी इच्छा उसके सदस्यों की इच्छा है।

3 वास्तविक तथा कानूनी मान्यता (De-facto and De-Jure Recognition)—कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब एक समाज विशेष, जो वास्तव में राज्य है, उसकी वांछनीयता के सम्बन्ध में सन्देह किया जा सकता है। — स्थिति न वास्तविक और कानूनी सम्प्रभुओं के बीच भेद करने के लिए मान्यता

को भी दो रूपों में विभाजित कर लिया जाता है। जो तथ्यगत राज्य हैं उसे कानूनी रूप में सम्प्रभु स्वीकार न करके केवल वास्तविक मान्यता प्रदान कर दी जाती है।

प्रो स्टॉर्क के मतानुसार—'कानूनी या विधिवत् मान्यता वह है जिसमें मान्यता देने वाले के अनुसार प्रत्याशी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्धारित सभी आवश्यकताओं को पूरी करता है और अन्तर्राष्ट्रीय समाज में भावशाली स्थान ग्रहण करने की क्षमता रखता है।" वास्तविक मान्यता में मान्यता देने वाले राज्य की दृष्टि में प्रत्याशी राज्य अस्थायी रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपर्युक्त आवश्यकताओं को पूरा करता है। वास्तविक मान्यता प्रायः ऐसी नई राज्य-सत्ता को दी जाती है जो देश में क्रान्ति अथवा विद्रोह के कारण स्थापित हुई है और जो यद्यपि अपने नियन्त्रण में स्थित प्रदेश पर पूरा अधिकार रखती है तथा स्वतन्त्र होती है किन्तु पूर्ण रूप से स्थिर नहीं होती और अपनी अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियों को पूरी तरह नहीं निभा सकती। साम्यवादी क्रान्ति के बाद जब सोवियत रूस में नई सरकार स्थापित हुई तो अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन ने उसे बहुत समय तक मान्यता प्रदान नहीं की। इसे वास्तविक सरकार मानते हुए भी कानूनी सरकार इसलिए नहीं माना गया क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करने के लिए सहमत नहीं थी। रूस की साम्यवादी सरकार ने दूसरे राज्यों से जार की पुरानी सरकार द्वारा लिए गए ऋणों को चुकाना अस्वीकार कर दिया। इसके अतिरिक्त *यह नई सरकार विदेशी प्रजाजनों की जब्त की गई सम्पत्ति को वापस करने के लिए* तैयार नहीं थी।

तथ्य के अनुसार दी जाने वाली मान्यता एक अस्थायी मान्यता है। मि स्लान के मतानुसार—"तथ्यगत मान्यता तार्किक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से आपत्तिजनक है। सम्बन्धित समाज एक राज्य हो भी सकता है और नहीं भी। राज्य की मान्यता के लिए आवश्यक शर्तों को यह पूरा नहीं करता फिर भी इसे तथ्यगत मान्यता प्रदान कर दी जाती है।" दूसरी ओर कुछ विशेष परिस्थितियों में यह अस्थायी मान्यता कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति करती है। उदाहरण के लिए जब सम्बन्धित राज्य के भावी जीवन या विकास के सम्बन्ध में सन्देह वर्तमान हो, जब एक राज्य का अस्तित्व निर्धारित होने में कुछ समय हो तो उसे अस्थायी मान्यता दी जानी चाहिए। अन्य राज्यों द्वारा विशेष प्रतिनिधियों तथा कूटनीतिक अभिकरणों का आदान-प्रदान किया जा सकता है तथा अनेक पारस्परिक सन्धियाँ की जा सकती हैं।

विधिवत् मान्यता से भिन्न तथ्यगत मान्यता राज्य के अस्तित्व को केवल इस शर्त पर स्वीकार करती है कि बाद में इसे वापस ले लिया जाएगा। यह व्यवहार *विद्रोही प्रदेश के सम्बन्ध में विशेष महत्व रखता है।* इसके पीछे *यह मान्यता रहती है कि* राज्यपन की तथ्यगत मान्यता कम आक्रान्ता है और यह इसलिए विधिवत् मान्यता का प्रतिनिधित्व नहीं करती। यह तर्क कुछ विचारकों को अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता। उनका कहना है कि विद्रोही समाज द्वारा अभी तक पूर्ण स्वतन्त्रता

प्राप्त नहीं की जा सकी है। इसलिए यदि इसे कानूनी मान्यता प्रदान की गई तो मातृ-राज्य द्वारा इसे शत्रुतापूर्ण कार्य समझा जाएगा और यह अपरिपक्व मान्यता समझी जाएगी। इन परिस्थितियों में राज्य को मान्यता देने की अपेक्षा उसे योद्धा के रूप में स्वीकार किया जाना अधिक बुद्धिपूर्ण रहेगा।

इस प्रकार तथ्यगत या वास्तविक मान्यता की पूर्वरूप होती है और यह मान्यता देने वाली सरकार को अनेक कठिनाइयों तथा झंझटों से बचा लेती है। तथ्य अनुसार मान्यता सम्बन्धित राज्य को यह कहकर दी जाती है कि इस प्रदेश पर तुम्हारा अधिकार है भले ही वह अधिकार अन्यायपूर्ण या अल्पकालीन ही क्यों न हो। यह प्राय इसलिए दी जाती है क्योंकि इसे देने वाले राज्य को अनेक आर्थिक लाभ होते हैं। वह उस देश में अपने नागरिकों के हितों की रक्षा कर सकता है। जब नया राज्य पूरी तरह से स्थिर हो जाता है तो उसे विधि के अनुसार मान्यता दे दी जाती है। अनेक उदाहरणों से यह बात स्पष्ट की जा सकती है कि तथ्यगत मान्यता विधिवत् मान्यता की पूर्ववर्ती है। प्रथम को द्वितीय की भूमिका माना जा सकता है। यद्यपि यह अस्वीकार अथवा रद्द की जा सकती है किन्तु ऐसा प्राय नहीं होता।

इन दोनों मान्यताओं के बीच स्थित अन्तर प्रत्येक देश के व्यवहार पर निर्भर करता है, उदाहरण के लिए -- ग्रेट-ब्रिटेन के कानून में दोनों में विशेष अन्तर नहीं माना जाता। दोनों को पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सरकार स्वीकार किया जाता है और तब से ही लागू होती है जबकि सरकार की स्थापना हुई थी। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि दौत्य सम्बन्ध केवल विधिवत् मान्यता में ही स्थापित होते हैं।

विधिवत् और तथ्यगत मान्यता प्राप्त सरकारों के बीच संघर्ष होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश न्यायालय के अनुसार तथ्यगत सरकार को अधिक न्यायोचित माना जाता है।

4 युद्धरत समाज की मान्यता (Recognition of a Belligerent Community) — युद्धरत समाजों को मान्यता देने से सम्बन्धित समस्या ने अतीत काल में अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। यदि युद्धरत समाज को मान्यता दे दी जाए तो वह युद्ध में नियमों का अनुशीलन कर सकेगा। परम्परागत रूप से ऐसे समाज को मान्यता प्रदान करने से पूर्व कुछ शर्तें पूरी की जानी चाहिए। प्रो. ग्लान के मतानुसार ये शर्तें हैं—(1) विद्रोहियों द्वारा नियन्त्रित क्षेत्र में एक सरकार और सैनिक संगठन स्थापित तथा संचालित होना चाहिए। (2) विद्रोहकर्ता उस स्तर तक पहुँच गया हो जिस स्थानीय क्रान्ति से अधिक कहा जा सके। दूसरे शब्दों में युद्ध की परिस्थितियाँ दो राज्यों में होने वाले युद्ध के समान बन गई हों। (3) विद्रोही सरकार के पास मूल-राज्य का एक बहुत बड़ा प्रदेश हो। इन तीनों परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर विद्रोही समुदाय को मान्यता दी जा सकती है।

एक राजनीतिक समाज को राज्य के रूप में मान्यता देने से पहले दूसरे राज्य उसके साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। अतीतकाल में इस प्रकार के सम्बन्ध

स्थापित हुए तथा चले हैं। जब कोई राज्य दूसरे राज्य पर किसी प्रकार प्राश्रित है अथवा अधीनस्थ है तो उसके साथ दूसरे राज्यों को समायोजन करना होगा। उपनिवेशों, संरक्षित प्रदेशों आदि के सम्बन्ध में यह बात सही है। इन इकाइयों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय माना जाता है। मुख्य समस्या तब उत्पन्न होती है जब एक उपनिवेश अथवा दूसरी अधीनस्थ इकाई अपने मातृ-देश के नियन्त्रण को उखाड़ने का प्रयास करती है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार विद्रोही उपनिवेश को परिपक्व मान्यता देना हस्तक्षेप माना जाता है और मातृ-देश की दृष्टि से एक शत्रुतापूर्ण कार्य है। परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत राज्यों का यह रिवाज रहा है कि वे गृह युद्ध के दौरान संघर्ष के विकास के विभिन्न स्तरों को पहिचान लेते हैं। विद्रोह को मान्यता देने का मुख्य परिणाम विद्रोह की युद्ध जैसी क्रियाओं से विद्रोही की रक्षा करना है। विशेष रूप से महासमुद्रों में उसके हिंसात्मक कानून-विहीन व्यवहार मान्यता के अभाव में समुद्री डाकुओं जैसे बन जाएंगे।

युद्धरत राज्य की मान्यता तीसरे राज्यों पर यह दायित्व डालती है कि वे संघर्ष में हस्तक्षेप न करें। यह भी हो सकता है कि विद्रोही को उसके द्वारा नियन्त्रित प्रदेश में तथ्यगत मान्यता दे दी जाए ताकि मान्यता देने वाला राज्य अपने अधिकारों और हितों की रक्षा कर सके। जब विद्रोही पर्याप्त सुसंगठित हो जाएँ, वे अपनी कार्यवाही को युद्ध के नियमों के अनुसार सचालित करें और अपने नियन्त्रण में एक निश्चित प्रदेश रखें तो उनको युद्धकर्त्ता के रूप में दूसरे राज्यों द्वारा मान्यता दी जा सकती है। यहाँ तीसरे राज्यों का यह दायित्व हो जाता है कि वे ठीक उसी तरह तटस्थ बने रहें जिस प्रकार दो राज्यों के बीच युद्ध छिड़ने पर वे बने रहते हैं।

किसी विद्रोही समुदाय द्वारा आवश्यक शर्तों को पूरा किया गया है अथवा नहीं इसका निश्चय या तो मातृ-सरकार करेगी अथवा बाहर वाले राज्य करेंगे। यदि ये शर्तें पूरी की जा चुकी हैं तो युद्धरत समाज के रूप में विद्रोही की मान्यता न्यायपूर्ण है। जब मान्यता प्रदान कर दी जाती है तो युद्ध और तटस्थता से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम प्रभाव में आते हैं और शान्ति के दौरान विद्रोही द्वारा किए गए सभी कार्यों के अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों से मातृ सरकार को मुक्त कर दिया जाता है।

विद्रोही को युद्धरत समाज के रूप में मान्यता देना मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से वांछनीय है। यह तीसरे पक्ष द्वारा अपरिपक्व मान्यता प्रदान करने की अपेक्षा श्रेष्ठ है और इसके सभी बुरे परिणाम इसमें से दूर हट जाते हैं। सम्भवतः अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के निर्धारण में व्यावहारिक प्रभाव अधिक महत्त्व रखते हैं और इसलिए कभी-कभी राज्य तथ्यगत मान्यता देने के लिए मजबूर हो किए जाते हैं।

मान्यता न देने के दायित्व
(Obligations of Non-Recognition)

किसी राज्य तथा सरकार को मान्यता न देने का अर्थ केवल यही नहीं है कि

उसके साथ दूसरा राज्य सम्बन्ध स्थापित नहीं करेगा वरन् इससे कुछ अधिक है। 1917 से 1921 तक ग्रेट ब्रिटेन ने सोवियत सरकार को मान्यता देने से मना कर दिया। 1921 में उसने सोवियत सरकार को तथ्यगत सरकार माना और 1924 में विधिवत् सरकार स्वीकार किया। सन् 1927 में उसने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिए, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि उसने सोवियत सरकार को दी गई मान्यता वापस ली है। स्पष्ट है कि एक राज्य दूसरे राज्यों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध न रखते हुए भी उसे मान्यता दे सकता है। वैसे वास्तविक व्यवहार में कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ना और किसी राज्य को मान्यता न देना परस्पर बहुत कम अन्तर रखते हैं।

इस सम्बन्ध में विभिन्न लेखक सहमत हैं कि किसी स्थित राज्य को मान्यता न देना एक प्रभावहीन राजनीतिक प्रयास है। मान्यता न देने से उत्पन्न बुरे परिणाम अनेक हैं—(1) अमान्य में राज्य दूसरे राज्यों के नागरिकों के हितों की रक्षा पर्याप्त रूप से नहीं की जा सकती। (2) जिस राज्य को मान्यता नहीं दी गई है उसके न्यायालयों तक पहुँच नहीं हो सकती। (3) अमान्य राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में शामिल होने से रोका जा सकता है और सामान्य अभिसमयों को उन पर लागू होने से रोका जा सकता है। ऐसा करने से अमान्य देश की अपेक्षा दूसरे राज्यों का अहित अधिक है क्योंकि वे विश्व-शान्ति के अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि मान्यता न देना कोई प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय दबाव नहीं है। उदाहरण के लिए, मन्चूरिया का नाम लिया जा सकता है जिसे सामूहिक अमान्यता प्रदान की गई थी। 24 फरवरी, 1933 को राष्ट्रसंघ के सदस्यों की सभा ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि वे मन्चूरिया के नए राज्य को न तो तथ्यगत स्वीकार करेंगे और न विधिवत्। राष्ट्रसंघ ने एक परामर्शदाता समिति नियुक्त की जो संघ के सदस्यों को नए राज्य को मान्यता न देने के संयुक्त निर्णय के सम्बन्ध में आवश्यक कार्यवाही करने के लिए सुझाव दे सके।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अमान्यता की नीति इसे अपनाने वाले राज्यों के लिए उपयोगी होने की अपेक्षा अनुपयोगी अधिक है। अनेक अवसरों पर इस नीति का प्रयोग पहले से स्थित राज्य के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए किया जाता है। प्रो ओपेनहीम के कथनानुसार अमान्यता का साधन राष्ट्रीय नीति के लिए एक अपूर्ण हथियार स्वीकार किया गया है। वे इसे पर्याप्त नैतिक और कानूनी क्षमता वाला पूरक हथियार मानते हैं।

सशर्त मान्यता
(Conditional Recognition)

राज्यों को कुछ शर्तों के आधार पर मान्यता दी जाती है। प्रो जेसप ने सशर्त मान्यता के व्यवहार को निरर्थक बताया है। उनके मतानुसार मान्यता देने से पहले यह देख लेना चाहिए कि सम्बन्धित राज्य शान्तिप्रिय है अथवा नहीं है किन्तु इस तथ्य को सशर्त मान्यता कहना गलत होगा। मि. बैंटो के मतानुसार, नए राज्य

के साथ सम्बन्धों का प्रारम्भ ही उसके राज्यपन को स्वीकार करना है। इससे यह स्पष्ट है कि मान्यता कभी भी सशर्त नहीं हो सकती। मान्यता का मूल तत्त्व यह है कि मान्यता देने वाला राज्य यह समझता है कि जिस राज्य को मान्यता दी जा रही है उसमें राज्य की सभी विशेषताएँ हैं। किसी राज्य के सम्बन्ध में यह शर्त लगाना कि अगर उसका व्यवहार सतोषजनक रहा तो यह मान लिया जाएगा कि उसमें राज्य की विशेषताएँ हैं, अत्यन्त बहूदा है। मि बैंटी के अनुसार, यह ठीक इस प्रकार है जैसे किसी मिथ्या से कहा जाए कि यदि वह एक अच्छी लडकी होने का वायदा करे तो उसका सवाल सही मान लिया जाएगा। कहने का अर्थ यह है कि राज्यपन की विशेषताएँ और सतोषजनक व्यवहार दो अलग-अलग बातें हैं इनके बीच कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि केवल मान्यता प्रदान करने वाला राज्य ही शर्त रखने का अधिकार नहीं रखता वरन् मान्यता प्राप्त करने वाला राज्य भी रखता है। असल में मान्यता, जैसा कि प्रो ओपेनहीम का मत है, न तो संविदापूर्ण प्रबन्ध है और न राजनीतिक रियायत है, यह तो क्षमता की घोषणा है। ऐसी स्थिति में मान्यता को केवल इस शर्त का विषय बनाया जा सकता है कि सम्बन्धित राज्य का अस्तित्व है और निरन्तर अस्तित्व जारी है। राज्यों के व्यवहार को देखने पर यह प्रकट होता है कि कुछ उदाहरणों में मान्यता प्रदान करने से पहले शर्तें लगाई गई थीं। मान्यता देने के बाद यदि आवश्यक शर्तों का अभाव हो जाए तो दी गई मान्यता को वापिस नहीं लिया जा सकता था। इस प्रकार मान्यता के पीछे कोई शर्त नहीं रखी जा सकती, इसलिए मान्यता कोई प्रभावशाली साधन के रूप में व्यवहार नहीं करती।

भूत-प्रभावी मान्यता
(Retroactivity of Recognition)

ब्रिटिश और अमेरिकी न्यायालयों के अनुसार मान्यता भूत-प्रभावी होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि नए राज्य को दी जाने वाली मान्यता का प्रभाव भूतकाल में उस समय से समझा जाएगा जब इस राज्य की स्थापना हुई थी। यह नियम सिद्धान्त की अपेक्षा सुविधा का विषय है। राष्ट्रों के बीच सुविधा और सद्भावना यह माँग करती है कि एक बार यदि किसी राज्य या सरकार को मान्यता दे दी जाती है तो उसके किसी काल के किसी कार्य को गलत नहीं समझा जाए। सिद्धान्त की दृष्टि से यह महत्त्वहीन है क्योंकि मान्यता प्राप्त करने से पहले राज्य का कोई कार्य उसकी इच्छा से नहीं किया गया था और इसलिए उसको प्रभावपूर्ण मानना अनुचित है।

मान्यता प्रदान करने वाला राज्य यह अधिकार रखता है कि अधिकारी रूप से एक दिनांक निश्चित करदे और उसी के अनुसार राज्य के कार्यों को उचित स्वीकार करे। इस सिद्धान्त के व्यवहार के अपवाद समय-समय पर विभिन्न राष्ट्रीय न्यायालयों में प्रदर्शित हुए हैं।

मान्यता वापिस लेना
(Withdrawal of Recognition)

मान्यता का अर्थ किसी राजनीतिक अस्तित्व को स्वीकार करना है। एक बार यदि अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया तो फिर उसे अस्वीकार करना अनुपयुक्त है। केवल तथ्यगत मान्यता के सम्बन्ध में ऐसा किया जा सकता है। मान्यता को वापिस लेने का एकमात्र उचित अवसर तब आता है जब नया राज्य अपनी स्वतन्त्रता खो दे अर्थात् मान्यता प्रदान करते समय उसमें जो विशेषताएँ थीं उनसे वंचित हो जाए। इस स्थिति में मान्यता वापिस लेने का कार्य अनेक रूपों में किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उस राज्य में से अलग होकर बने दूसरे राज्य को मान्यता दे देना या कूटनीतिक प्रतिनिधियों को वापिस बुला लेना आदि-आदि।

प्रो ओपेनहीम ने माना है कि राज्यपन की विशेषताएँ या सरकारी क्षमता या युद्धरत समाज की आवश्यक योग्यताएँ स्थायी नहीं होतीं और आवश्यक रूप से हमेशा नहीं बनी रहतीं। एक राज्य अपनी स्वतन्त्रता खो सकता है, सरकार प्रभावहीन हो सकती है और गृह-युद्ध में युद्धरत कोई भी पक्ष हार सकता है। इन सभी मामलों में मान्यता को वापिस लिया जा सकता है। मान्यता की वापसी के लिए कभी-कभी सम्बन्धित राज्य को एक सूचना दी जाती है। नियमानुसार मान्यता की वापसी विरोधी सरकार का विधिवत् सरकार के रूप में मानकर की जाती है। ग्रेट ब्रिटेन ने 1938 में एबीसीनिया के इटली में मिलने को विधिवत् स्वीकार करके एबीसीनिया को स्वतन्त्र राज्य के रूप में अपनी मान्यता को वापिस ले लिया। इसी प्रकार सन् 1939 में क्रान्तिकारी सरकार को सम्पूर्ण स्पेन की विधिवत् सरकार के रूप में मान्यता देकर पूर्व स्पेन सरकार से अपनी मान्यता वापिस ले ली। मान्यता की वापसी विरोधी को विधिवत् मान्यता प्रदान करने से होती है, तथ्यगत मान्यता प्रदान करने से नहीं। मान्यता को वापिस लेने में राजनीतिक कारणों या व्यक्तिगत स्वार्थों का प्रभाव प्रायः रहता है किन्तु इस नीति को राष्ट्रीय हित का साधन बनाने वाला देश प्राय. दूसरे राज्यों का सम्मान प्राप्त नहीं कर पाता।

मान्यता और राजनीतिक परिस्थितियाँ
(Recognition and Political Conditions)

परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार दूसरे राज्य को मान्यता प्रदान करना प्रत्येक राज्य का एक स्वतन्त्र अधिकार माना जाता है। राज्य की इच्छा है कि वह किसी राज्य को मान्यता दे या न दे अथवा देकर लौटा ले। उसके व्यवहार के सम्बन्ध में कोई कानूनी बाध्यता नहीं है। राज्य की यह स्वतन्त्रता अनेक राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है। यही कारण है कि एक राज्य कुछ राज्यों को शीघ्र मान्यता प्रदान कर देता है किन्तु दूसरे राज्यों को मान्यता प्रदान करते समय हाथ खींच लेता है। उदाहरण के लिए, प्रथम विश्वयुद्ध के काल में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और संयुक्तराज्य अमेरिका ने पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया को उनके बनने से पहले ही मान्यता दे दी। इसका कारण यह था कि आस्ट्रिया, हंगरी

और जर्मनी के विरुद्ध युद्ध मे वे इनके साथ थे । इसी प्रकार सोवियत रूस मे स्थापित साम्यवादी सरकार को राजनीतिक कारणो से ग्रेट ब्रिटेन और सयुक्तराज्य अमेरिका ने बहुत समय तक मान्यता नही दी । वे साम्यवादी सरकार को भय और शका की दृष्टि से देखते थे । इसके अतिरिक्त सोवियत रूस ने अमेरिकी सरकार के कर्ज को वापिस लौटाने से मना कर दिया । राष्ट्रीयकरण द्वारा इन देशो की कम्पनियो को सरकार के अधीन कर दिया गया ।

साम्यवादी चीन को सयुक्तराज्य अमेरिका ने 22 वर्षों तक मान्यता नहीं दी । इसका कारण भी राजनीतिक रहा । 31 अक्टूबर, 1949 को पीकिंग मे चीनी जनता के गणराज्य की स्थापना हुई । च्यांग काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार को फारमोसा टापू पर भगाने के लिए बाध्य करके साम्यवादी सरकार ने समूचे चीन महाद्वीप पर अपना अधिकार कर लिया । साम्यवादी चीन के सम्बन्ध मे अमेरिकी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए सन् 1957 मे अमेरिकी विदेश मन्त्री डलेस ने कहा कि चीन मे साम्यवादी दल ने हिंसा द्वारा शक्ति प्राप्त की है और हिंसा के आधार पर ही उसकी शक्ति कायम है, उसे चीनी जनता की इच्छा से नही वरन् व्यापक और भीषण दमन से सत्ता प्राप्त हुई है । ऐसे अनेक उदाहरणो का उल्लेख किया जो साम्यवादी चीन को युद्धप्रिय, हिंसात्मक तथा विश्व-शान्ति का शत्रु सिद्ध करते थे । डलेस ने स्पष्ट शब्दो मे घोषित किया कि "साम्यवादी चीन का पिछला इतिहास सशस्त्र आक्रमण का इतिहास है और उसे हम मान्यता नहीं दे सकते ।" दूसरी ओर साम्यवादी देशों ने चीन को तत्काल मान्यता प्रदान कर दी और भारत ने भी इसके स्थापित होने के तीन महीने बाद ही 30 दिसम्बर, 1949 को । जवाहरलाल नेहरू ने इसका कारण यह बताया कि स्पष्ट रूप से साम्यवादी चीन का लगभग सभी मुख्य भूमि पर अधिकार हो चुका था, यह सरकार सुदृढ हो चुकी थी और ऐसी कोई शक्ति नही जो इसे हटा सके या बदल सके । इन्हीं तर्कों के आधार पर ग्रेट ब्रिटेन ने साम्यवादी चीन को मान्यता दी ।

साम्यवादी चीन से भिन्न इजराइल को सयुक्तराज्य अमेरिका ने तुरन्त तथ्यगत सत्ता स्वीकार कर लिया । राज्य की स्थापना के कुछ मिनट बाद ही मान्यता देने से स्पष्ट है कि अमेरिका पहले ही उसे मान्यता देने का निर्णय कर चुका था । भारतवर्ष ने 17 सितम्बर, 1950 को इसे मान्यता प्रदान की किन्तु इसके साथ कूटनीतिक सम्बन्ध अभी तक स्थापित नही किए हैं । इसका कारण भारतीय राजनीति मे मुसलमानो का प्रभाव है जो अरब के मुसलमानो की सहानुभूति मे इजराइल विरोधी दृष्टिकोण अपनाते हैं । इसके अतिरिक्त इजराइल विरोधी राज्य मिस्र, सीरिया और अरब गणराज्य आदि ने भी भारत पर दबाव डाला कि वह उसके शत्रु को मान्यता न दे । स्पष्ट है कि नए राज्य को मान्यता देने का प्रश्न विभिन्न राजनीतिक हितो से प्रभावित होता है ।

मान्यता और हस्तक्षेप
(Recognition and Intervention)

नए राज्य को मान्यता देने के तथ्यगत अध्ययन से स्पष्ट है कि यह राज्यो

के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का साधन बना है। विभिन्न राज्यों के मान्यता सम्बन्धी निर्णय ऐसे रहे हैं जिनमें पूर्व आवश्यकताओं का कुछ भी विचार नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए, संयुक्तराज्य अमेरिका ने सरकारों के अपेक्षित स्थायित्व को देखे बिना ही उन्हें मान्यता दे दी और कहीं-कहीं स्थायित्व होने पर भी मान्यता प्रदान करने का निर्णय नहीं लिया। अपने इस व्यवहार को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए उसने यह तर्क दिया कि अपने नागरिकों की सम्पत्ति की रक्षा के लिए ऐसा करना उचित था। यहाँ एक मुख्य कठिनाई यह है कि उचित अधिकारों की रक्षा और आर्थिक हितों की वृद्धि के बीच स्पष्ट रूप से अन्तर नहीं किया जा सकता। इस समस्या का एक रचनात्मक समाधान तभी हो सकता है जब विदेशियों की रक्षा और विदेशी कम्पनियों के साथ किए गए सरकारी समझौतों के मामलों में राज्य के दायित्व से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिक निश्चित नियम स्वीकार किए जाएँ किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून अभी तक इतना विकसित नहीं हो सका है। फलतः प्रत्येक राज्य अपनी सरकार की न्याय की भावना के अनुसार काम करता है। किसी राज्य को मान्यता प्रदान करने के लिए कुछ विशेष शर्तें लगाना उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना है।

सरकारों की मान्यता
(Recognition of Governments)

सरकारों की मान्यता राज्यों को दी जाने वाली मान्यता से भिन्न है। यह अलग से दी जाती है। मान्यता का कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तीसरे राज्य की इच्छा और राजनीतिक विचार विमर्श पर नहीं छोड़ा जाता। जब एक राज्य की सरकार का मान्यता प्रदान करने से अस्वीकार कर दिया जाता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय समाज की सदस्यता से प्राप्त होने वाले लाभों से वंचित रह जाता है।

जब एक सरकार अपने राज्य की अधिकांश जनसंख्या पर प्रभाव रखती है और उसमें आशाजनक स्थायित्व है तो वह मान्यता प्राप्त करने योग्य है और सम्बन्धित राज्य की प्रतिनिधि है। संयुक्तराज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन ने सरकारों की मान्यता के सम्बन्ध में जो व्यवहार अपनाया है वह प्रभावशीलता पर आधारित है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद बनने वाली अधिकांश सरकारों को मान्यता देते समय अधिकतम जनता पर शक्ति का प्रयोग ही पर्याप्त समझा गया।

सरकार का परिवर्तन यदि संवैधानिक रूप से हुआ है तो अन्य राज्यों द्वारा उसे मान्यता प्रदान करना आवश्यक नहीं है। असल में यहाँ सत्ता का प्रत्यक्ष और स्वयमेव परिवर्तन होता है इसलिए नई सरकार नहीं बनती। किसी भी देश का राजनीतिक दल दूसरे दल द्वारा चुनावों में स्थानान्तरित किया जा सकता है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी दृष्टि से देश में वही सरकार मानी जाएगी। यदि सत्ता के परिवर्तन में छोटी-छोटी संविधानिक अनियमितताएँ होती हैं तो भी दूसरे राज्यों की सरकारों द्वारा उसको और विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। ऐसा प्रायः तब होता है

जब सम्बन्धित देश में स्थायित्व दिखाई दे और राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को अतीत की भाँति निभाए।

नई सरकार को मान्यता देने का प्रश्न उस समय उठता है जबकि संविधान का गम्भीर रूप से उल्लंघन किया जाए अथवा सरकार मूलभूत रूप से परिवर्तित हो जाए। ऐसी स्थिति में तय करना होगा कि क्या नई सरकार विदेशी सम्बन्धों में अपने राज्य का प्रतिनिधित्व कर सकती है ? यह निर्णय स्पष्टतः अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि एक सरकार को कानूनी रूप से उत्तरदायी केवल तभी माना जा सकता है जबकि दूसरे राज्यों ने उसे मान्यता दी है।

परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में किसी नई सरकार को मान्यता देने या वापस लेने की दृष्टि से राज्यों को पूरी तरह से स्वतन्त्र रखा गया था किन्तु इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हुए शक्तिशाली राज्यों ने कमजोर राज्यों के मामले में हस्तक्षेप किया। उदाहरण के लिए, संयुक्तराज्य अमेरिका और कैरीबियन क्षेत्र के गणराज्यों के आपसी सम्बन्धों का उल्लेख किया जा सकता है। एक देश की सरकार को मान्यता न देने का प्रभाव उस देश की सरकार के आर्थिक जीवन पर व्यापक रूप से पड़ता है क्योंकि समस्त विदेशी बाजार व्यापार केन्द्र उसके लिए बन्द हो जाते हैं। *सामुदायिक हित के सिद्धान्तों की स्वीकृति परम्परागत स्थिति को बदलने* की माँग करती है।

इस सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न होने से रोकने के लिए मान्यता देने और कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना करने के बीच अन्तर किया जाना आवश्यक है। इन दोनों कार्यों को एकरूप बनाने की प्रवृत्ति अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न करती है। *विशेष रूप से राष्ट्रीय न्यायालयों में यह कठिनाई होती है कि किसी देश में कार्य* करने वाली सरकार उस देश की वास्तविक सरकार है अथवा नहीं है। यह सच है कि सरकार के बदलने से राज्य नहीं बदलता और इसीलिए उसमें निरन्तरता रहती है। सरकार को मान्यता दी जाए अथवा न दी जाए किन्तु यह निरन्तरता बनी रहती है। किसी राज्य को मान्यता देना और उस राज्य के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध बनाए रखना एक ही बात नहीं है। दो सरकारों के बीच जब भारी *मत-भिन्नता* रहती है तो उनके बीच कूटनीतिक सम्बन्ध नहीं हो पाते। प्रत्येक राज्य दूसरे राज्य से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ने के लिए प्रत्येक समय स्वतन्त्र है। दूसरे राज्य की सरकार के प्रति जब कभी उसे असन्तोष होता है तो वह स्वतन्त्रतापूर्वक ऐसा निर्णय ले सकता है। कूटनीतिक सम्बन्ध टूट जाने पर भी एक राज्य को दी गई मान्यता नहीं लौटाई जा सकती।

आजकल यह व्यवहार कम अपनाया जाता है कि बिना कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए प्रायः मान्यता प्रदान नहीं की जाती। एक समय यह प्रचलन था कि किसी राज्य में जब नई सरकार तथ्यगत सम्प्रभु बन जाती थी तो उसे तुरन्त मान्यता दे देते थे। जेफर्सन के मतानुसार, ज्योंही एक सरकार राष्ट्र की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने लगती है *उसे मान्यता प्रदान कर दी जानी चाहिए। इस व्यवहार के अन्तर्गत* मान्यता देना नई सरकार की स्थापना का प्रमाण बन जाता था। बाद में मान्यता

न देना एक राजनीतिक हथियार बन गया जिसके द्वारा नई सरकार को मान्यता देने वाले राज्य की मांगो के प्रति रियायत देने के लिए बाध्य किया जाने लगा।

सरकारो को मान्यता देने के लिए दो कसौटियो का प्रयोग किया जाता है। इनम प्रथम वस्तुगत कसौटी है जिसके द्वारा यह देखा जाता है कि क्या नई सरकार का राज्य के अधिकांश प्रदेश पर प्रभावशाली नियन्त्रण है ? दूसरी कसौटी आत्मगत है जिसके अनुसार यह देखा जाता है कि क्या नई सरकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दायित्वो और सयुक्त राष्ट्रसघ के अधिकार-पत्र के उद्देश्यो को स्वीकार तथा व्यवहार करती है ? इन दोनो कसौटियो के सम्बन्ध मे कुछ विस्तार से जाना उपयुक्त रहगा।

1 वस्तुगत कसौटी (Objective Tests) – परम्परागत रूप से किसी सरकार को मान्यता देने से पहले सम्बन्धित सरकार की क्षमता को कुछ प्रश्नो की कसौटी पर कसकर देखा जाता था, जैसे—(1) क्या नई सरकार अपने देश के प्रशासकीय यन्त्र पर तथ्यगत नियन्त्रण रखती है ? (2) क्या नई सरकार की सत्ता का विरोध नहीं किया जाता ? (3) क्या नई सरकार को अपने देश के भारी जनमत का समर्थन प्राप्त है ? उत्तर विधेयात्मक होने पर यह माना जाता है कि सम्बन्धित सरकार राज्य का सही प्रतिनिधि है और उसे मान्यता दी जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकांश लेखकों ने इस सम्बन्ध मे बताया है कि सविधान की पवित्रता का तिरस्कार आज तक किसी भी विधि के शासन ने नही किया है। कोई विधि का शासन अपनी जनता को सरकार का रूप बदलने के अधिकार से वंचित नही कर सकता। कोई भी नियम यह व्यवस्था नही करता कि यह परिवर्तन किसी बहुमत का खिलौना है।

सन् 1913 से 1929 तक सयुक्तराज्य अमेरिका की सरकार ने इस बात पर जोर दिया कि किसी भी नई सरकार को तथ्यगत या विधिवत् स्वीकार करने के लिए आवश्यक है कि वह सरकार कानूनी और सांविधानिक साधनों से शक्ति मे आई हो। यह तथाकथित विल्सन सिद्धान्त मैक्सिको, कोस्टारिक और निकारागुआ आदि की सरकारो पर लागू किया गया। इस प्रकार इस सिद्धान्त के आधार पर एक देश की जनता को मनमाने तरीके से अपनी सरकार का चयन करने की स्वतन्त्रता नही दी गई। दूसरे शब्दों म, सयुक्तराज्य अमेरिका ने विदेशी सरकार के कानूनी औचित्य का निर्णय लेने की शक्ति का दावा किया। यह स्पष्ट रूप से दूसरे राज्य की सम्प्रभुता एव आन्तरिक क्षेत्र म हस्तक्षेप करना था। हूवर प्रशासन के समय इस सिद्धान्त को ठुकरा दिया गया।

वस्तुगत कसौटी सन्तोषजनक रूप से पूरी हो जाने पर एक नई सरकार को तुरन्त मान्यता दे दी जाती है। यदि विशेष राजनीतिक अड़चनें हों तो बात दूसरी है। आधुनिक इतिहास मे इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। यहाँ तक कि सन् 1933 मे जर्मनी की हिटलरशाही सरकार को भी मान्यता दे दी गई। यद्यपि उसकी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति थी और उसने जिस सांविधानिक तरीके से शक्ति प्राप्त की थी उसे वह पूर्णतः ठुकरा चुकी थी।

2. आत्मगत कसौटी (Subjective Tests)–19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक अन्य कसौटी सामने आई और नई सरकारों को मान्यता प्रदान करते समय इस कसौटी को अपनाया जाने लगा। यह आत्मपरख कसौटी थी। इसमें यह देखा जाता है कि सरकार अपने राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी दायित्वों को पूरा करने की इच्छा रखती है। ऐसा लगता है कि यह कसौटी अधिक सारपूर्ण नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि जो भी सरकार अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करेगी, वह नि सन्देह अपने कानूनी दायित्वों का भी निर्वाह करेगी। इतने पर भी व्यवहार में इस कसौटी का प्रभाव रहा है। यदि कोई नई सरकार असंविधानिक या हिंसात्मक साधनों से शक्ति में आई है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का पूरा नहीं करेगी। जिस प्रकार यह नई सरकार घरेलू संविधान और कानूनों का पालन करेगी उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का भी निर्वाह करेगी। यदि नई सरकार आन्तरिक अशान्ति द्वारा अस्तित्व में आई है तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सम्मान नहीं रखेगी अथवा उनका पालन नहीं करेगी।

आत्मपरख कसौटी सरकार के भावी व्यवहार के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ निर्णय लेना चाहती है। विचारधाराओं के उदय को भी अनेक सरकारों द्वारा गलत या सही रूप में शत्रुतापूर्ण अथवा मित्रतापूर्ण मान लिया जाता है। विचारधारा के अनुयायी कुछ सरकारों पर नियन्त्रण पाना चाहते हैं और इसीलिए मान्यता प्रदान करने से पहले आत्मपरख कसौटी के अनुसार विचार किया जाना पर्याप्त महत्त्वपूर्ण बन जाता है। फ्रांस की क्रान्तिकारी सरकार को सन् 1789 से 1793 तक राजतन्त्रात्मक सरकारों ने मान्यता देने से इसीलिए मना कर दिया। नवम्बर, 1917 की क्रान्ति से उत्पन्न सोवियत सरकार को मान्यता देने में किया गया सोच विचार भी इसी प्रकार का था। इसी आधार पर संयुक्तराज्य अमेरिका साम्यवादी चीन की सरकार को अब तक मान्यता नहीं दे रहा है। सोवियत संघ को मान्यता न देने के व्यवहार का समर्थन करते हुए 21 मार्च, 1923 को अमेरिकी विदेश मन्त्री ने कहा कि "एक सरकार की मान्यता में मौलिक प्रश्न यह है कि क्या इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूरा करने की क्षमता एवं योग्यता प्रकट की जाती है? स्थायित्व महत्त्वपूर्ण है, यह आवश्यक है, किन्तु यदि यह स्थायित्व सम्पत्ति को हड़पने का कार्य करे तो इसका उपयोग ही क्या रहेगा? रूस के मामले में हमारी कसौटी अत्यन्त सरल और मौलिक रूप से महत्त्वपूर्ण है। यह अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूरा करने की सद्भावना है। सद्भावना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है क्योंकि शब्द तो आसानी से बोले जा सकते हैं। इन मीठे शब्दों और आश्वासनों का क्या लाभ है? यदि सम्पत्ति को हड़प लिया जाता है और उचित दायित्वों एवं अधिकारों को भुला दिया जाता है।"

संयुक्तराज्य अमेरिका ने 19वीं शताब्दी के अन्त तक आत्मपरख कसौटी का बहुत कम प्रयोग किया किन्तु 20वीं शताब्दी में इसका पर्याप्त प्रयोग किया। चीन

की जनता के गणराज्य को मान्यता न देने का मुख्य कारण अमेरिकी अधिकारी प्रवक्ताओं द्वारा यही बताया गया कि चीन में अमरिका की व्यक्तिगत सम्पत्ति को बिना किसी मुआवजे के छीन लिया गया। अमेरिका के व्यक्तिगत गैर-सरकारी नागरिकों एवं राजनयिक सेवी-वर्ग के अधिकारियों को बिना कारण बन्दी बनाया गया और उनके साथ जंगली व्यवहार किया गया।

विभिन्न देशों द्वारा उपर्युक्त दोनों कसौटियों का समय-समय पर उपयोग किया गया है। साम्यवादी चीन के सम्बन्ध में भारतवर्ष वस्तुपरख कसौटी को अपनाता है जबकि संयुक्तराज्य अमेरिका ने आत्मपरख कसौटी को अपनाया है।

जब तक एक सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की जाती तब तक उसके द्वारा किए जाने वाले कार्य अवैध घोषित नहीं किए जाते। मान्यता न मिलने पर भी एक सरकार कायम रहती है। सरकारें बदलती हैं किन्तु राज्य वही रहता है। गोल्ड के कथनानुसार 'किसी राज्य में प्रादेशिक परिवर्तन तथा शासन पद्धति के परिवर्तन होने पर भी वह वही पुराना राज्य माना जाता है। इसे नया राज्य तभी समझा जाएगा जब उसमें होने वाले परिवर्तन अत्यन्त मौलिक हों और इसकी बनावट में ऐसे परिवर्तन आ जाएँ जो कि नया राज्य पुराने राज्य से जरा भी न मिले।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में बहुत समय से यह मौलिक सिद्धान्त स्वीकृत है कि प्रत्येक जनता अपनी इच्छानुसार सरकार का चयन करने की स्वतन्त्रता रखती है। संविधानिक संगठन का निर्धारण और सरकारी अधिकारियों का चुनाव पूर्ण रूप में राज्य की इच्छा पर निर्भर रहता है। जब एक सरकार सामान्य संविधानिक प्रक्रिया द्वारा शक्ति में आती है तो वह नियमित रूप से जन-इच्छा को अभिव्यक्त करती है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में नए सरकारी अधिकारियों को दूसरे राज्यों द्वारा मान्यता प्रदान करने का कोई प्रश्न नहीं उठेगा क्योंकि वह परिवर्तन प्रत्यक्ष और स्वतः हुआ है? इन मामलों में नई सरकार शब्द का प्रयोग करना ही गलत होगा। मुख्य समस्या उस समय उठती है जब संविधान के प्रावधानों को तोड़ा जाता है। ऐसी स्थिति में यह देखना होगा कि क्या नई सरकार इतनी योग्य और सक्षम है कि उसके साथ दूसरे राज्य सम्बन्ध स्थापित कर सकें? अन्तर्राष्ट्रीय कानून कभी दूसरे देश के संविधान का पवित्रता नहीं देता और असंविधानिक तरीकों से भी उसे बदला जा सकता है। लाचहीन संविधान में परिवर्तन केवल क्रांति के माध्यम से ही हो सकते हैं।

नई सरकार को मान्यता देने से पहले विषयगत या वस्तुगत कसौटी को अपनाया कैसे जाए यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या है? अनेक प्रश्नों पर व्यवहार की दृष्टि से अनेक विवाद उत्पन्न हो जाते है, उदाहरण के लिए, सम्प्रभुता के प्रयोग के सम्बन्ध में दो राज्यों के बीच मतभेद हो सकता है। इसी प्रकार किसी सन्धि के विशेष दायित्वों के सम्बन्ध में भी विरोध उत्पन्न हो जाते हैं। यह प्रश्न किया जाता है कि यदि एक सरकार ने किसी सन्धि को दबाव में आकर स्वीकार किया है तो क्या वह उसे मानने के लिए बाध्य है? दूसरे राज्य नई सरकार को केवल तभी

मान्यता देंगे जब उनको यह विश्वास हो जाए कि यह सरकार अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा कर सकेगी। प्रत्येक राज्य को मान्यता देने की स्वतन्त्रता है और यही कारण है कि प्राय: महाशक्तियों द्वारा इस अवसर का दुरुपयोग किया जाता है।

निर्वासित सरकार को मान्यता
(Recognition of Government in Exit)

सरकारें अपने पद और स्थिति के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत की जा सकती हैं। इनमें से निर्वासित सरकार ऐसे देश की सरकार होती है जिस पर आक्रमण करके दूसरे देश ने अधिकार कर लिया है और वहाँ की सरकार अन्य देश में चली गई है। इस प्रकार की सरकारों के उदाहरण के रूप में द्वितीय विश्व युद्ध के समय पोलैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हॉलैण्ड और फ्रांस आदि की सरकारों का उल्लेख किया जा सकता है। ये सरकारें हिटलर के आक्रमण के समय लन्दन चली गई और वहाँ से स्वदेश को स्वतन्त्र कराने का प्रयास करती रहीं। इसी प्रकार तिब्बत की दलाईलामा सरकार ने अपनी भूमि में चीनी हस्तक्षेप के बाद भारत में शरण ली। इस प्रकार की निर्वासित सरकारें मान्यता प्राप्त कर लेती हैं और अपने देश को स्वतन्त्र कराने के बाद स्वतन्त्र सरकारें बन जाती हैं किन्तु यदि वे अपने प्रयास में सफल न हो सकें तो उनकी मान्यता समाप्त हो जाती है।

इस सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त प्रचलित हैं।

(A) स्टिमसन का सिद्धान्त (Stimson's Doctrine)—अमेरिकी विदेश मन्त्री स्टिमसन ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोड़ कर उत्पन्न की गई परिस्थिति को मान्यता प्रदान करके वैध घोषित नहीं किया जा सकता। सन् 1932 में जब जापान ने मंचूरिया के चीनी प्रान्त पर आक्रमण कर दिया तो स्टिमसन ने यह सुझाव दिया कि यदि जापान बलपूर्वक चीन के इस प्रदेश को हड़प ले तो किसी देश द्वारा जापान के इस अधिकार को मान्यता नहीं दी जानी चाहिए। ऐसी स्थितियों में राष्ट्रसंघ और पेरिस सन्धि के प्रावधानों को प्रमुखता दी गई। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद महाशक्तियों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह निर्णय लिया कि संघ के अधिकार-पत्र को भंग करने वाली किसी व्यवस्था को मान्यता नहीं दी जाएगी।

(B) एस्ट्रेडा सिद्धान्त (The Estrada Doctrine)—मैक्सिको के विदेश मन्त्री जेनारो एस्ट्रेडा ने सन् 1930 में विदेशी राजदूतों के निर्देशों में एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो उन्हीं के नाम से जाना जाता है। मैक्सिको के कूटनीतिक प्रतिनिधियों को भेजे गए इन निर्देशों में सरकार की नई नीति को अभिव्यक्त किया गया था। इनमें यह कहा गया था कि मैक्सिको किसी देश की ऐसी सरकार को मान्यता प्रदान नहीं करेगा जो षड्यन्त्रों या क्रान्तियों द्वारा शक्ति में आई है। मैक्सिको सरकार विदेशों में सरकार बदलने पर उनके साथ अपना दौत्यपन बनाए रखेगी किन्तु नई सरकार को मान्यता देने के विषय में कोई सम्मति प्रकट नहीं करेगी। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्यों को मान्यता देने की प्रथा समाप्त कर देनी

चाहिए क्योंकि यह दूसरे देशों की सम्प्रभुता में हस्तक्षेप है और उन देशों के लिए लज्जाजनक तथा अपमानजनक है। इसके द्वारा दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप होता है। इस प्रकार मैक्सिको सरकार केवल कूटनीतिक प्रतिनिधियों के आदान-प्रदान को ही महत्त्व देती है।

सुविधा और आवश्यकता के अनुसार यह सम्बन्ध तोड़ा अथवा प्रारम्भ किया जा सकता है। ऐसा करते समय वह सरकार के परिवर्तन को स्वीकार करने या न करने से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगी। तथ्यगत रूप से मैक्सिको की स्थिति को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है—'क' राज्य में एक सफल क्रान्ति हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप बनने वाली नई तथ्यगत सरकार को कुछ राज्य मान्यता देने और अन्य राज्य मान्यता न देने का निर्णय करेंगे किन्तु मैक्सिको इसे मान्यता प्रदान करने या न करने के बारे में कोई दृष्टिकोण अभिव्यक्त नहीं करेगा तथा केवल अपने कूटनीतिक प्रतिनिधि भेजता रहेगा। यदि सरकार-परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ अन्य गम्भीर परिस्थितियाँ भी पैदा हो जाएं तो मैक्सिको सरकार अपने कूटनीतिक प्रतिनिधि को वापस बुला लेगी।

सैद्धान्तिक रूप से एस्ट्रेडा सिद्धान्त के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। लेकिन अमेरिकी समीक्षकों ने इस दृष्टिकोण को इसलिए वांछनीय माना है क्योंकि यह राज्य की पूर्ण सम्प्रभुता को मान्य कर देता है और सरकार का आन्तरिक मामलों में विदेशी हस्तक्षेप को दूर रखता है। इसके अतिरिक्त यह भी तर्क दिया जाता है कि एस्ट्रेडा सिद्धान्त के अनुसार कूटनीतिक प्रतिनिधि सरकार के नहीं वरन् राज्य के मान जाने चाहिए। क्रान्तिकारी हलचलों के समय विदेशी राज्यों को यह निर्णय लेना चाहिए कि वैध हस्तक्षेप की नीति अपनाएँगे अथवा स्थित सरकार के समर्थन की नीति अपनाएँगे। जब क्रान्तिकारी गुट की युद्धरतता स्पष्ट हो जाती है और विदेशी राज्य तटस्थता के दायित्व से निर्देशित होता है तो समस्या पर्याप्त सरल बन जाती है। यह कहा जाता है कि एस्ट्रेडा सिद्धान्त राज्य की निरन्तरता के सिद्धान्तों और राज्यों की न्यायिक एकता के सिद्धान्तों के अनुरूप है। कहा जाता है कि तथ्यगत सरकारें आवश्यक रूप से विधिवत् सरकारें हैं और एस्ट्रेडा सिद्धान्त एक नए राज्य की मान्यता और एक नई सरकार की मान्यता के बीच भेद करता है।

व्यावहारिक रूप से एस्ट्रेडा सिद्धान्त सभी कठिनाइयों का दूर नहीं करता। सरकार बदलने पर कूटनीतिक सम्बन्ध अप्रभावित नहीं रहते। सारे देश में क्रान्तिकारियों का तथ्यगत नियन्त्रण स्थापित हो जाने पर पहले की विधिवत् सरकार केवल राजधानी प्रदेश में ही रह जाती है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या इस सरकार के साथ हो विदेशी कूटनीतिज्ञ अपना सम्पर्क बनाए रखें? इसके विपरीत स्थिति भी हो सकती है कि राजधानी पर क्रान्तिकारियों का अधिकार हो जाए और विधिवत् सरकार दूसरे प्रदेशों में सीमित हो जाए। ऐसी स्थिति में विदेशी राज्यों को क्या करना चाहिए? इसी तरह के अन्य अनेक प्रश्न व्यवहार में उठते हैं। विदेशी राज्य को आवश्यक रूप से चयन करना होता है क्योंकि यदि उसने ऐसा नहीं किया तो वह

अपने हितो की रक्षा उचित प्रकार से नही कर सकेगा। मौलिक रूप से एस्ट्रेडा सिद्धान्त शान्तिपूर्ण मत-पत्र और क्रान्ति द्वारा सरकार के परिवर्तन के बीच किसी प्रकार का भेद नही करता। यद्यपि कूटनीतिक पदो के परिचय पत्रो के प्रस्तुत करने की औपचारिकता को गैर-महत्त्वपूर्ण मान कर अस्वीकार किया जा सकता है किन्तु औपचारिकताएँ प्राय अन्तर्निहित सत्यता का उद्घाटन करती हैं। जब संयुक्तराज्य अमेरिका मे नया राष्ट्रपति चुना जाता है तो दूसरे राज्यो के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध अटूट बने रहते हैं। एस्ट्रेडा सिद्धान्त के अनुसार यही बात क्रान्ति के द्वारा सरकार बदलने पर होगी। इससे भिन्न आजकल राज्यो का व्यवहार यह है कि ज्योही किसी दूसरे राज्य मे सरकार के परिवर्तन की सम्भावना देखते हैं, अपने विदेशी मिशनो को वापिस बुला लेते हैं।

प्रो ब्रिग्स (Briggs) के मतानुसार, "यद्यपि एस्ट्रेडा सिद्धान्त से सरकारो की मान्यता का अभ्यास समाप्त होने का सकेत मिलता है किन्तु इससे राजनयिक सम्बन्धो की समाप्ति नहीं हो जाती।" प्रो फेनविक ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि 'इस सिद्धान्त के आधार पर मान्यता का अर्थ तथ्यगत राज्य की नई सरकार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो को पूरा करने की योग्यता और इच्छा से है और इसलिए उसे मान्यता दी जानी चाहिए।" स्वर्लियन (Svarlian) ने माना है कि "एस्ट्रेडा सिद्धान्त स्पष्ट रूप से यह मानता है कि राजनयिको का सम्बन्ध राज्यो से होता है सरकारो से नही। राजदूत सरकारो को नही भेजे जाते वरन् राज्यो को भेजे जाते हैं। राज्यो का अस्तित्व निरन्तर बना रहता है किन्तु सरकारो मे यह निरन्तरता नहीं पाई जाती।"

सरकारो की मान्यता की प्रणालियाँ
(Methods of Recognition of Governments)

राज्यो की भाँति सरकारो को मान्यता प्रदान करने के लिए भी अनेक प्रणालियाँ हैं। उदाहरण के लिए सम्बन्धित राज्यों की सरकार के साथ सन्धिबद्ध होकर, सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता प्रदान करके, उसके साथ राजनयिक प्रतिनिधियो का आदान प्रदान करके उसकी मान्यता की एकपक्षीय अथवा सामूहिक घोषणा करके, अन्तर्राष्ट्रीय काँग्रेस मे उसे प्रविष्ट करके और अपने वाणिज्य दूत वहाँ भेजकर किसी भी नई सरकार को मान्यता दी जाती है। मान्यता की इन विभिन्न प्रणालियो मे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो द्वारा और सामूहिक रूप में की जाने वाली मान्यता का विशेष महत्त्व है।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो द्वारा नई सरकारो को अपना सदस्य बना कर मान्यता प्रदान कर दी जाती है। राष्ट्रसघ और सयुक्त राष्ट्रसघ मे इस प्रकार के प्रावधान रख गए हैं। इस सम्बन्ध मे प्रश्न यह उठता है कि क्या नई सरकार को राष्ट्रसघ का सदस्य बनाने से पहले ही दूसरे राज्यो द्वारा मान्यता दी जाए अथवा सघ मे प्रवेश-मात्र से ही सघ के सदस्यो की मान्यता उसे प्राप्त हो जाती है? दूसरी सम्भावना सही नहीं है क्योकि किसी सरकार विशेष को मान्यता प्रदान करने के सम्बन्ध मे

सभी राज्य एकमत नहीं होते। कुछ राज्य मान्यता देना चाहते हैं जबकि दूसरे राज्य इसका विरोध करते हैं। यहाँ सामूहिक मान्यता और व्यक्तिगत मान्यता के बीच भेद किया जाना चाहिए।

राष्ट्रसंघ ने सोवियत संघ बनाम लक्जमबर्ग और सार कम्पनी के मामले में निर्णय करते हुए बताया था कि यदि संघ के सदस्यों का बहुमत एक राज्य को मान्यता देना चाहे किन्तु कुछ राज्य ऐसा न चाहें तो ऐसी स्थिति में न चाहने वाले राज्यों को भी संघ का निर्णय स्वीकार करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और स्वतन्त्रता की रक्षा करना प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य बन जाता है सिद्धान्त रूप में यह सब सच है किन्तु व्यवहार की दृष्टि से प्रत्येक राज्य का पृथक् एवं स्वतन्त्र रूप से मान्यता प्रदान करना आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी राष्ट्रसंघ की भाँति शान्ति प्रेमी राज्यों के लिए अपनी सदस्यता का मार्ग खुला हुआ रखा है। संघ का सदस्य बनने पर एक राज्य को दूसरे राज्यों की अस्पष्ट मान्यता स्वत ही प्राप्त हो जाती है। संघ में शामिल होते ही एक राज्य संघ के चार्टर द्वारा सौंपे गए कर्त्तव्यों और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सामान्य सिद्धान्तों के अधीन हो जाता है। महासभा का निर्णय सदस्यों की सामूहिक इच्छा का सूचक होता है।

सामूहिक मान्यता की प्रणाली में प्रत्येक सन्देह को दूर रखने की चेष्टा की जाती है। विभिन्न विचारकों और कानूनवेत्ताओं ने यह मत व्यक्त किया है कि नई सरकारों को व्यक्तिगत रूप से मान्यता देने की अपेक्षा उन्हें सामूहिक रूप में मान्यता प्रदान की जानी चाहिए। उनकी दृष्टि से इसका लाभ सम्भवतः यह रहा होगा कि स्वतन्त्र रूप से व्यक्तिगत स्तर पर दी जाने वाली मान्यता में राजनीतिक और आर्थिक हितों को ध्यान में रखा जाता है। इस पद्धति के प्रमुख समर्थक मि. रॉबर्टसन ने ऐसे उदाहरणों का उल्लेख किया है जब सामूहिक मान्यता की पद्धति को अपनाया गया था। अनेक देशों को दूसरे राज्यों ने पारस्परिक सन्धि द्वारा एक साथ मान्यता प्रदान की है। सामूहिक मान्यता के विरुद्ध यह कहा जाता है कि इसके पक्ष में दिए गए उदाहरण असल में एक साथ दी गई व्यक्तिगत मान्यताओं के ही उदाहरण हैं। समूह के विभिन्न राज्य जब किसी नए राज्य को एक ही समय में मान्यता प्रदान करते हैं तो वे पृथक् पृथक् रूप से ऐसा करते हैं। दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि मान्यता की सामूहिक व्यवस्था में राज्यों की स्वतन्त्रता संकुचित और सीमित बन जाती है। यही कारण है कि विभिन्न देश इसे मान्यता प्रदान नहीं करते।

मान्यता के आर्थिक और राजनीतिक कारण
(Economic and Political Factors of Recognition)

नई सरकार को मान्यता देने का प्रश्न राजनीतिक और आर्थिक हितों से प्रभावित होता है। पूर्व-सरकार ने मान्यता देने वाली सरकार से ले रखा था अथवा दे रखा था, यह तथ्य नई सरकार की मान्यता के निर्णय को प्रभावित करता है। विशेष रूप से लेटिन अमेरिका में यह अभ्यास विकसित हो गया है कि एक नई सरकार को मान्यता देने की कीमत के रूप में अतीत के दायित्वों के प्रति औपचारिक

स्वीकृति माँगी जाती है। नई सरकारें मान्यता प्राप्त करने की इच्छुक होती हैं और वे तुरन्त इस प्रकार का आश्वासन दे देती हैं किन्तु जब थोड़े समय बाद उस सरकार का तख्ता पलट जाता है तो आने वाली सरकार इस प्रकार के वायदों को सम्मान देने से मना कर देती है। यह कहा जाता है कि जब संयुक्तराज्य अमेरिका ने सोवियत सरकार को मान्यता देना स्वीकार कर दिया तो तत्कालीन नेता मान्यता की कीमत के रूप में कुछ वायदे करने के लिए तैयार हुए और सम्भवतः इसीलिए अक्तूबर क्रान्ति हुई। इस प्रकार मि. ग्लान का यह कहना सही है कि, "मान्यता देने अथवा देने को शक्ति कम से कम तकनीकी रूप से अहस्तक्षेप के कर्तव्य का उल्लंघन किए बिना दूसरे देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का प्रभावशील साधन बन गई।"

एक नई सरकार को मान्यता देना सामान्यतः राज्य का व्यक्तिगत कार्य है। नई सरकार को सामूहिक मान्यता देने का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सदस्यता उसके दूसरे सदस्यों द्वारा दी जाने वाली तथ्यगत या विधिवत् मान्यता नहीं है। यह मान्यता संगठन द्वारा सम्बन्धित सरकार को केवल सदस्य बनाने के लिए दी जाती है। यदि सामूहिक रूप से मान्यता को समाप्त भी कर दिया जाए तो भी इसका अर्थ यह नहीं होता कि सभी राज्य आवश्यक रूप से नई सरकार से अपने सम्बन्ध तोड़ लेंगे। कई अवसरों पर विशुद्ध रूप से राजनीतिक या मनोवैज्ञानिक कारणों से यह कहा जाता है कि जो राज्य मित्र नहीं है उसकी मान्यता को वापस ले लिया जाए ऐसा करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता। इसके विपरीत यह हानि होने की सम्भावना रहती है कि कूटनीतिक सम्बन्ध टूट जाएँगे और मान्यता न देने वाले राज्य के नागरिकों के हितों की रक्षा भी उचित रूप से नहीं की जा सकेगी।

मान्यता के परिणाम
(Consequences of Recognition)

नई सरकार को मान्यता देने का परिणाम क्या होता है इसके सम्बन्ध में बहुत कम लिखा गया है। सामान्य रूप से इसके कई कानूनी परिणाम होते हैं। मान्यता प्राप्त राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से विभिन्न अधिकार प्राप्त हो जाते हैं—(1) इसके बिना एक राज्य अन्य राज्य के न्यायालय में दावा नहीं कर सकता। संयुक्तराज्य अमेरिका के न्यायालय ने एक विवाद के दौरान यह विचार प्रकट किया कि कोई भी विदेशी शक्ति हमारे न्यायालयों में अपना मामला किसी अधिकार के नाते नहीं ला सकती किन्तु केवल अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य के नाते ला सकती है। स्पष्ट है कि जब तक एक राज्य नई सरकार को मान्यता नहीं देता तब तक इस सौजन्य का कोई प्रश्न नहीं उठता। (2) नई सरकार को मान्यता न मिलने पर उसके प्रतिनिधि दूसरे राज्यों में उन्मुक्ति का दावा नहीं कर सकते। (3) अमान्य सरकार दूसरे राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करने, सन्धि करने या राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार नहीं रखती। (4) अमान्य सरकार

को मिलने वाली सम्पत्ति उसे न मिलकर पहले वाली सरकार को मिलती है जिसे दूसरे राज्य कानूनी मानते हैं। इस प्रकार मान्यता प्राप्त न होने का कार्य सम्बन्धित राज्य को अनेक सुविधाओं से वंचित कर देता है।

मान्यता प्राप्त करने के बाद एक सरकार की उपर्युक्त अयोग्यताएँ और कमियाँ दूर हो जाती हैं साथ ही उसे अनेक अधिकार और सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाते हैं। सामान्य रूप से एक सरकार को मान्यता प्रदान करने का अर्थ यह है कि मान्यता देने वाला राज्य उसे स्थायी मानता है और अपने दायित्वों का निर्वाह करने की उसकी इच्छा को स्वीकार करता है। मान्यता देने वाली सरकार नई सरकार के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बन्ध जाएगी। मान्यता प्राप्त करने के बाद एक सरकार अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों और सभी सरकारी दायित्वों के प्रति उत्तरदायी बन जाती है। राज्य की मान्यता की भाँति सरकार की मान्यता का भी पहले से ही प्रभाव होता है। यह उसी समय से लागू हो जाती है जब से कि नई सरकार ने पद सम्भाला है। प्रो. ओपेनहीम के मतानुसार, नई सरकार की मान्यता के निम्नलिखित कारण हैं—

1 मान्यता प्राप्त होने के बाद नई सरकार को यह क्षमता प्राप्त हो जाती है कि वह दूसरे राज्यों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करे और उनके साथ सन्धियाँ करे।

2 कुछ सीमाओं के अन्तर्गत पहले की गई सन्धियाँ पुनः जीवित एवं लागू हो जाती हैं।

3 मान्यता प्राप्त होने के बाद नई सरकार मान्यता देने वाले राज्य के न्यायालयों में मुकदमा चला सकती है।

4 मान्य सरकार अपने लिए और अपनी सम्पत्ति के लिए मान्यता प्रदान करने वाले राज्य के न्यायाधिकारियों के अधिकार क्षेत्र से मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

5 मान्य सरकार को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि मान्यता प्रदान करने वाले राज्य के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत पूर्व सरकार की सम्पत्ति पर कब्जा पा सके और उसे प्राप्त कर सके। इस दृष्टि से मान्यता देने वाले राज्य में स्थित उसकी बैंकों, दूतावास के भवनों, समस्त निवेश आदि पर नई सरकार का अधिकार हो जाता है। अपने पूर्ववर्ती की सभी प्राप्तियों की उत्तराधिकारी बन जाती है।

6. मान्यता क्योंकि पहले ही प्रभावी होती है, इसलिए इस सरकार के समस्त कार्यों और कानूनों की वैधता के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जा सकता है।

प्राविधिक मान्यता
(Provisional Recognition)

कभी-कभी एक क्रान्तिकारी सरकार पर विषयगत एवं वस्तुगत कसौटियों को एकदम लागू करना कठिन बन जाता है। हम यह निर्णय नहीं ले पाते कि क्रान्तिकारी सरकार स्थायी है या नहीं है और वह अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा

कर सकेगी अथवा नहीं कर सकेगी ? ऐसी परिस्थिति में व्यवहार यह है कि सरकार को तथ्यगत मान्यता प्रदान कर दी जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि दूसरे राज्य इस आधार पर केवल एक सरकार को मान्यता देते हैं कि वह देश के प्रशासन पर बहुत कुछ नियन्त्रण रखती है। यदि मान्यता न दी जाए तो ये राज्य उसके साथ व्यापारिक सम्बन्ध नहीं रख सकते और अपनी सरकारी एवं नागरिक सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर सकते। यदि इसी समय दूसरे राज्य यह निर्णय करने लगें कि क्रान्तिकारी सरकार अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर राज्य का प्रतिनिधित्व कर सकेगी अथवा नहीं कर सकेगी तो इसके लिए मान्यता को रोकना होगा और ऐसा होने पर क्रान्तिकारी सरकार मान्यता न देने वाले राज्य की सम्पत्ति के साथ जो भी व्यवहार करे वह उसकी इच्छा पर निर्भर रहेगा।

प्राविधिक मान्यता के सम्बन्ध में विभिन्न समस्याएँ उठती हैं क्योंकि तथ्यगत सरकार का राज्य के पूरे प्रदेश पर पूरा नियन्त्रण नहीं होता। यह भी निश्चित नहीं है कि प्राविधिक सरकार गृह युद्ध में जीत ही जाएगी और यदि नहीं जीती तो ऐसी स्थिति में स्थित सरकार द्वारा मान्यता प्रदान करने वाले राज्य का कार्य शत्रुतापूर्ण माना जाएगा। किसी भी हालत में इस प्रकार दी गई मान्यता अपरिपक्व समझी जाएगी और कानूनी सरकार के सम्प्रभु स्तर के लिए अमैत्रीपूर्ण रहेगी।

इस समस्या का उदाहरण द्वारा समझ जा सकता है। स्पेन के गृह-युद्ध में जनरल फ्रांको के नेतृत्व में विद्रोहियों ने इस मान्यता की समस्या को पर्याप्त रोचक बना दिया। जब 4 नवम्बर, 1937 को मि. एटली द्वारा प्रधान मन्त्री चेम्बरलेन से हॉउस ऑफ कामन्स में यह पूछा गया कि स्पेन की फ्रांको सरकार को ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा मान्यता प्रदान करने का क्या लाभ है तो प्रधान मन्त्री ने उत्तर दिया कि "ब्रिटिश नागरिकों और ब्रिटेन के व्यापारिक हितों की सम्पूर्ण स्पेन में रक्षा, विशेषत: उन क्षेत्रों में जहाँ जनरल फ्रांको की सेनाओं का प्रभावशाली नियन्त्रण है, तब तक नहीं की जा सकती जब तक उसे मान्यता न दी जाए।" केवल अवसरगत सम्पर्कों द्वारा ग्रेट-ब्रिटेन के हितों से सम्बन्धित अनेक प्रश्न सुलझाए नहीं जा सकते। 17फरवरी और 28 मई,1938 को ब्रिटेन के विदेश कार्यालय ने वहाँ के न्यायालयों को सूचित किया कि स्पेन गणराज्य की सरकार को स्पेन की विधिवत् सरकार और जनरल फ्रांको की राष्ट्रवादी सरकार को तथ्यगत सरकार मान लिया है क्योंकि वह स्पेन के प्रदेश के बड़े भू-भागों पर प्रशासनिक नियन्त्रण रखती है। जब न्यायालय ने इस सूचना की व्याख्या करते हुए यह घोषित किया कि फ्रांको सरकार को तथ्यगत मान्यता दी जा चुकी है तो सरकार ने अधिकृत रूप से इस व्याख्या को अस्वीकार कर दिया। 13 फरवरी, 1939 को प्रधान मन्त्री चेम्बरलेन ने बताया कि फ्रांको सरकार को मान्यता देने के सम्बन्ध में अभी कोई निर्णय नहीं लिया गया है।

अमान्य सरकारों के साथ भी कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए जा सकते हैं और ऐसी स्थिति में जब तक स्पष्ट घोषणा न की जाए तब तक मान्यता अथवा अमान्यता के बारे में कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता। यह स्थिति न्यायालयों के

कार्य को पर्याप्त जटिल बना दिया है। श्री हिक्स ने विधिवत् और तथ्यगत मान्यताओं के अन्तर को स्पष्ट करते हुए बताया है कि नई सरकार को तथ्यगत मान्यता देने का अर्थ यह है कि पूर्व सरकार के कानूनी पद को नई सरकार को सौंपा जा रहा है किन्तु सरकारी कागजों में ऐसा नहीं कहा जाता। किसी सरकार को तथ्यगत मान्यता देना कानूनी सिद्धान्तों पर निर्भर न होकर सुविधा पर आधारित है।

राज्य की मान्यता और व्यक्ति
(Recognition of State and Individuals)

किसी राज्य विशेष को मान्यता देने अथवा न देने से उस राज्य के नागरिकों पर क्या प्रभाव होता है ? इसके सम्बन्ध में विचारकों ने पर्याप्त विश्लेषण किया है। मान्यता के सम्बन्ध में यह बात पर्याप्त महत्त्व रखती है न केवल राज्य वरन् व्यक्ति भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय होते हैं और उनके जीवन पर इस कानून का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। मान्यता प्रदान करते समय व्यक्तियों की राय नहीं ली जाती। उनका स्तर मान्यता पर निर्भर नहीं करता। विभिन्न कम्पनियों के व्यापारिक-स्तर की पारस्परिक मान्यता से सम्बन्धित सन्धियों के प्रावधान उन राज्यों के आपसी समझौते के कानूनों में शामिल कर लिए जाते हैं। राज्य और सरकार की मान्यता केवल शाब्दिक होती है, अन्त में इसका प्रभाव व्यक्तियों पर पड़ता है। उदाहरण के लिए, हस्तक्षेप या तटस्थता की नीति के कर्त्तव्य व्यक्तियों के कन्धे पर आकर आश्रित होते हैं। राष्ट्रीय कानून के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्ति के जीवन का नियमन करता है। राष्ट्रीय न्यायालयों में व्यक्तियों पर की जाने वाली अदालती कार्यवाही में यह ध्यान रखा जाता है कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के निर्धारित अंग द्वारा मान्यता दी गई है अथवा नहीं।

संयुक्तराज्य अमरिका और ग्रेट-ब्रिटेन में न्यायिक निर्णयों द्वारा यह संविधानिक सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि मान्यता एक राजनीतिक कार्य है और इसलिए एक सरकार की राजनीतिक शाखा विदेशी सरकार या राज्य के मान्य अथवा अमान्य-स्तर की सूचना दूसरी सरकार की राजनीतिक शाखा से प्राप्त करेगी। यह सिद्धान्त उस समय पूरा होता है जब एक उचित संविधानिक अंग सामान्य कथन द्वारा एक बार हमेशा के लिए न्यायिक शाखा को यह सूचित करदे कि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के निर्णयों को अमुक दृष्टिकोण में स्वीकार करेगा। इतने पर भी न्यायालयों द्वारा यह उपयुक्त प्रक्रिया मानी जाती है कि वे विदेश कार्यालय या विदेश विभाग से पूछताछ करें और यह उत्तर में न्य यालय को परामर्श दे कि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने क्या स्थिति अपनाई है ?

इस प्रकार राष्ट्रीय न्यायालय स्थानीय सरकारी अभिकरण का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के साधन के रूप में प्रयुक्त करते हैं और उनके माध्यम से कानून को व्यक्ति स्तर तक लाते हैं। कुछ ऐसे भी मामले होते हैं जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय-सत्ता के निर्णय स्पष्ट नहीं होते। इन मामलों में निर्णय न्यायिक स्वेच्छा के आधार पर लिए जाते

हैं । राज्य की मान्यता अथवा अमान्यता का कानूनी परिणाम न्यायालय द्वारा निर्धारित किया जाएगा ।

राज्य की मान्यता म एक व्यक्ति की प्रत्यक्ष रुचि होती है । यदि वह विदेश मे यात्रा करता है तो उसे अपने राज्य द्वारा पासपोर्ट लेना होता है । यदि वह किसी अमान्य समाज का सदस्य है तो विदेशो मे उसकी स्थिति एक राज्यहीन व्यक्ति के समान बन जाएगी । यदि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय अधिकार विधेयक के अधीन किसी अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता के सम्मुख अपने राज्य के विरुद्ध अपील करता है तो इससे कोई अन्तर नही पडेगा कि उस राज्य को मान्यता प्राप्त हुई है अथवा नही हुई है ।

भारत की मान्यता विषयक नीति
(India's Policy Regarding Recognition)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने अनेक नए देशो को मान्यता प्रदान की है । इसने किसी भी राज्य को मान्यता देते समय इस बात पर विचार नहीं किया कि सम्बन्धित देश की विचारधारा क्या है और वह अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो का पालन करने योग्य है अथवा नही है । भारत का दृष्टिकोण है कि मान्यता देना न तो किसी राज्य को दिया जाने वाला दण्ड है और न यह कोई पुरस्कार है । इसमे व्यक्तिगत पसन्द या नापसन्द का प्रश्न नही उठता । इसलिए मान्यता विषयक निर्णय इस *विचार से प्रभावित नहीं होना चाहिए कि राज्य मित्र है या शत्रु है । यदि नवनिर्मित* सरकार अपने प्रदेश मे प्रभावशाली नियन्त्रण रखती है तो उसे मान्यता प्रदान कर दी जानी चाहिए । इस प्रकार भारत की मान्यता विषयक धारणा उन देशो से भिन्न है जो अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो के पालन की क्षमता को अधिक महत्त्व देते हैं ।

सयुक्तराज्य अमेरिका जैसे कुछ देश विचारधाराओ (Theories) को इस दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व देते है । यही कारण है कि साम्यवादी चीन को सयुक्तराज्य अमेरिका ने अभी तक मान्यता नही दी है । दूसरी ओर भारत ने क्रान्ति के बाद *स्थापित होने वाली प्रत्येक सरकार को मान्यता* दी है और उनकी *विचारधारा* के आधार पर किसी प्रकार का भेद नहीं किया है । प्रभावशाली नियन्त्रण की कसोटी को भारत ने कुछ मामलों मे स्वीकार नहीं किया है, इसका मुख्य कारण सम्बन्धित देश का विभाजन है । अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर भारतवर्ष ऐसे किसी भी विभाजन को अनुचित मानता है । उत्तरी वियतनाम, दक्षिणी वियतनाम, उत्तरी कोरिया, दक्षिणी कोरिया और पूर्वी जर्मनी को मान्यता न देने के पीछे भारत का यही विश्वास है कि वह शीत युद्ध से पृथक् रहे और इस आधार पर विभाजित सरकारो को मान्यता न दे ।

भारतवर्ष कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करना मान्यता के लिए आवश्यक मानता है । इसके बिना केवल घोषणा करके किसी राज्य को मान्यता प्रदान कर देना केवल कागजी मान्यता है । मान्यता प्रदान करते समय यह वैधता की ओर कम *ध्यान देता है और नियन्त्रण की प्रभावशीलता की ओर अधिक ।* कुछ देशों की मान्यता के सम्बन्ध मे भारत के व्यवहार का अध्ययन करके इसके मान्यता विषयक विचारो को समझा जा सकता है ।

लाल चीन सम्बन्धी नीति—चीन मे 1 अक्तूबर, 1949 को साम्यवादी सरकार का आधिपत्य हो गया। उसने दूसरे राज्यों से मान्यता प्रदान करने की प्रार्थना की। उस समय चीन मे भारत के राजदूत पनिक्कर थे। उनका विचार था कि जब राष्ट्रवादी सरकार का चीन की मुख्य भूमि मे से किसी प्रदेश पर अधिकार न रहे तो साम्यवादी सरकार को मान्यता दी जाए। उनके दृष्टिकोण के पीछे सम्भवतः प्रादेशिक नियन्त्रण की प्रभावशीलता ही मुख्य कार्य कर रही थी। जब च्यांगकाई शेक की सरकार फारमोसा टापू मे चली गई तो भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय ने अपनी एक प्रेस-विज्ञप्ति मे यह स्वीकार किया कि चीन की नई सरकार के साथ दौत्य सम्बन्ध निश्चित किए जाने चाहिए। स्वयं प्रधान मन्त्री नेहरू ने इस बात को स्वीकार किया कि साम्यवादी चीन को इसलिए मान्यता दी गई क्योंकि उसका चीन की सारी भूमि पर प्रभावशाली नियन्त्रण है। यह सुदृढ़ शासन है और दूसरी शक्ति द्वारा इस हटाए जाने की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार नेहरू की सरकार ने मान्यता से सम्बन्धित प्रो ओपेनहीम के विचारों को स्वीकार किया। ओपेनहीम ने माना है कि एक देश की मान्य सरकार और राज्य का प्रतिनिधि उसे मानना चाहिए जो अधिकांश जनता से स्वाभाविक रूप से अपनी आज्ञाओं का पालन कराती हो तथा उसके स्थिर बने रहने की सम्भावना हो। अनेक देश प्रायः इसी आधार पर मान्यता प्रदान करते हैं। सन् 1962 मे चीन ने भारत पर सशस्त्र आक्रमण किया और कई हजार वर्गमील के प्रदेश पर अनुचित रूप से नियन्त्रण कर लिया किन्तु भारत फिर भी साम्यवादी चीन को मान्यता देने और उसे विश्व संस्था का सदस्य बनाने का पक्षधर बना रहा।

इजराइल विषयक नीति—इजराइल की मान्यता विषयक भारत की नीति उसके विश्वासों को स्पष्ट करने का अन्य साधन है। 15 मई, 1948 को इजराइल राष्ट्र का जन्म हुआ। संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत संघ जैसी महाशक्तियों ने इसे तुरन्त मान्यता दे दी किन्तु भारतवर्ष ने इजराइल सरकार के निरन्तर आग्रह के बाद और संसद् से प्रश्न पूछे जाने पर भी इतनी जल्दी मान्यता न दी तथा 17 दिसम्बर, 1950 तक इसे रोके रखा। इसका कारण सम्भवतः यह था कि भारत की मुसलमान जनसंख्या इजराइल को मान्यता देने के विरुद्ध थी। इसके अतिरिक्त भारत को अरब राज्यों की मित्रता समाप्त हो जाने का भय था। भारत सरकार ने इजराइल और अरब राज्यों के बीच समझौता कराने का प्रयास किया फिर भी मान्यता के प्रश्न को अधिक दिनों तक नहीं टाला जा सकता था। इसे मान्यता प्रदान करने का कारण स्पष्ट करते हुए विदेश विभाग के एक प्रवक्ता ने बताया कि इजराइल की सरकार को स्थापित हुए दो वर्ष हो चुके हैं और अब उसकी स्थिति के सम्बन्ध मे सन्देह नहीं किया जा सकता। इजराइल की मान्यता के पीछे एक कारण यह भी था कि संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में वह भारत का तथा अन्य देशों का सहयोग करता रहा है।

स्पेन की मान्यता का प्रश्न—जनरल फ्रांको की सेनाओं ने 28 मार्च, 1939

की राजधानी पर अपना अधिकार कर लिया। ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस ने फ्रांको की सरकार को इससे पूर्व ही 2 फरवरी, 1939 को मान्यता दे दी। फ्रांको की सहायता हिटलर और मुसोलिनी ने की थी। इसने अपने देश के साम्यवादियों को बुरी तरह से कुचल कर एक निरकुश शासन स्थापित किया। स्पेन धुरी राष्ट्रों का साथी था और इसलिए वह मित्रराष्ट्रों का विरोधी माना गया। स्पेन की सरकार लोकतन्त्र विरोधी और निरकुश शासन की समर्थक थी, अत. भारत ने भी स्पेन विरोधी नीति अपनाई। सयुक्त राष्ट्रसघ की महासभा ने 21 दिसम्बर, 1946 को स्पेन को सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बनने से रोकने का प्रस्ताव पास किया और सघ के सदस्यों को यह निर्देश दिया कि वे स्पेन से अपने राजदूत वापिस बुला लें अथवा सम्बन्ध तोड़ लें।

स्पेन से सम्बन्धित नीति मे बाद में कुछ परिवर्तन आए और 4 नवम्बर, 1950 को स्पेन विषयक प्रस्ताव को रद्द करने के लिए महासभा मे एक प्रस्ताव आया। स्पेन के प्रति इस समय भारत ने तटस्थता की नीति अपनाई बाद मे भारत और स्पेन के सम्बन्धों में घनिष्ठता आने लगी। सन् 1950 मे व्यापारिक समझौते की वार्ता प्रारम्भ हुई। सन् 1955 में स्पेन सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बना। भारत ने उसके पक्ष में मत दिए। 25 मई, 1956 को विदेश मन्त्रालय की एक घोषणा के अनुसार भारत ने स्पेन सरकार के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने और राजदूतों का आदान-प्रदान करने का निर्णय लिया। इस प्रकार भारत ने स्पेन की सरकार को उसकी स्थापना के 15 वर्ष के बाद मान्यता दी। स्पेन को मान्यता देने के कारणों का उल्लेख करते हुए प नेहरू ने लोकसभा मे कहा कि—"हमारी यह नीति है कि हम किसी भी राज्य को मान्यता प्रदान करें जो स्वतन्त्र रूप से कार्य करता है और सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य है। स्पेन सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बन चुका था इसलिए नीति सम्बन्धी प्रश्न पर मतभेद रहते हुए भी भारत ने उसे मान्यता दे दी। मान्यता देने में विलम्ब इसलिए किया गया क्योंकि स्पेन में हुआ रक्त-पात, हत्या-काण्ड और वहाँ की तानाशाही व्यवस्था भारत के विश्वास और नीतियों से मेल नहीं खाती थी।"

स्पेन को मान्यता देने के पीछे निहित कुछ अन्य कारणों का उल्लेख किया गया है। इसका एक कारण यह बताया जाता है कि पुर्तगाल ने गोवा, दमन और दीव को स्वतन्त्र न करके इन प्रदेशो मे भारतीयो का उग्र दमन किया। फलत पुर्तगाल के साथ भारत के सम्बन्ध बिगड गए। इसके परिणामस्वरूप अगस्त, 1955 म दोनो देशो के राजनयिक सम्बन्ध पूर्ण रूप से भग हो गए। पुर्तगाल की सरकार ने यह प्रचार किया कि भारतीय सरकार ईसाइयत का और रोमन कैथोलिको का विरोध करती है। भारत ने स्पेन को मान्यता देकर इस प्रचार को झूठा सिद्ध कर दिया। स्पेन का भारतीय दूतावास पुर्तगाल सम्बन्धी समाचार भारत भेजने मे भी सहायक बन सकता था।

मान्यता विषयक अमेरिकी नीति
(American Policy Regarding Recognition)

सयुक्तराज्य अमेरिका की नीति इस सम्बन्ध मे समय-समय पर बदलती रही है।

अपनी परम्परागत नीति के अनुसार संयुक्तराज्य अमेरिका किसी भी तथ्यगत सरकार को मान्यता दे सकता है। यह सरकार क्रान्तिकारी है या बलपूर्वक स्थापित हुई है या वैध नहीं है— इससे उसकी मान्यता पर प्रभाव नहीं पड़ता। यदि सरकार देश पर अपना सुदृढ़ शासन स्थापित कर सकती है तो उसे मान्यता दी जा सकती है। सन् 1792 में तत्कालीन विदेश मन्त्री जैफर्सन ने अमेरिका की मान्यता विषयक नीति को स्पष्ट किया। उनका कहना था कि—"हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल है कि हम ऐसी सरकार को ठीक समझें जो जनता की ठोस रूप से उद्घोषित इच्छा द्वारा बनाई गई हो।" जैफर्सन ने यह माना कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी इच्छानुसार किसी भी पद्धति से शासन कर सकता है उसे अपनी इच्छा से बदल सकता है तथा दूसरे राज्यों के साथ अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। संयुक्तराज्य अमेरिका अपनी इस नीति का अनुशीलन 19वीं शताब्दी तक करता रहा। सन् 1851 में फ्रांस के सम्राट् नेपोलियन तृतीय का मान्यता प्रदान करते समय भी संयुक्तराज्य अमेरिका का यही दृष्टिकोण था। इस समय अमेरिकी विदेश मन्त्री ने फ्रांस स्थित अपने राजदूत को लिखा कि प्रत्येक राज्य को अपनी इच्छानुसार अपना शासन करने का अधिकार है। यह सिद्धान्त राष्ट्रपति वाशिंगटन के समय से ही चला आ रहा है। प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह अपने विवेक से अपनी शासन-संस्थाओं को बदल दे और विदेश कार्यों के संचालन के लिए मनचाही प्रक्रिया अपनाए।

19वीं शताब्दी तक अमेरिका इस नीति का अनुगमन करता रहा किन्तु सन् 1914 में उसकी नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आए। इस वर्ष जब मैक्सिको की नई सरकार को मान्यता देने का प्रश्न आया तो राष्ट्रपति विल्सन ने बताया कि केवल कानून पर आधारित सरकार के साथ ही सहयोग सम्भव है। स्वेच्छाचारी शक्ति पर आधारित सरकार के साथ यह सम्भव नहीं है। इसी आधार पर मैक्सिको की सैनिक तानाशाही को स्वीकार नहीं किया गया। इस प्रकार विल्सन के समय से ही मान्यता विषयक अमेरिकी नीति में एक नए सिद्धान्त का जन्म हुआ। अब अमेरिकी हितों को सुरक्षित रखने की इच्छा एवं क्षमता को भी महत्त्व दिया जाने लगा।

सन् 1917 में रूस की क्रान्ति के बाद नई सरकार बनी किन्तु संयुक्तराज्य अमेरिका ने उसे मान्यता नहीं दी। इसका कारण यह था कि सोवियत संघ की नई सरकार ने पुरानी सरकार द्वारा लिए गए ऋणों के दायित्वों का निर्वाह करना अस्वीकार कर दिया था। विदेश मन्त्री ह्यूजेस ने 21 मार्च, 1923 को मान्यता विषयक अमेरिका की इस नई नीति पर प्रकाश डालते हुए बताया कि किसी सरकार को मान्यता देने के सम्बन्ध में मौलिक प्रश्न यह उठता है कि वह सरकार अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का पालन करने की योग्यता और इच्छा कहाँ तक रखती है। इस प्रकार एक नया मापदण्ड विकसित किया गया, एक नई शर्त लागू की गई। राज्य की स्थिरता को गौण बना दिया गया और उसके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व महत्त्वपूर्ण बन गए। अमेरिकी विदेश मन्त्री ने बताया कि ऐसी स्थिरता का

कोई लाभ नहीं जिसका उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय परित्याग और सम्पत्ति को जब्त करने के लिए किया जाए। सोवियत सघ मे अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो को पूरा करने के प्रति सद्भावना नही थी और इसलिए सयुक्तराज्य अमेरिका ने 14 वर्ष तक उसे मान्यता देने से मना किया। इसी मापदण्ड के आधार पर उसने साम्यवादी चीन को लगभग 22 वर्ष तक मान्यता नही दी।

साम्यवादी चीन के अतिरिक्त सयुक्तराज्य अमेरिका ने प्राय उन सभी नवोदित राज्यो को मान्यता प्रदान कर दी जो यूरोपीय साम्राज्यवाद के चगुल से मुक्त हुए। कुछ राज्यो को सयुक्तराज्य अमेरिका ने स्वतन्त्र होने से पहले ही मान्यता प्रदान कर दी। अमेरिका भारत की स्वतन्त्रता का पक्षपाती था और इसीलिए 18 दिसम्बर, 1942 को, जबकि भारत आजाद नही हुआ था, अमेरिका ने भारत मे राजदूत पद वाले व्यक्ति को नियुक्त कर दिया और इस प्रकार उसे मान्यता दे दी। साइप्रस के उदाहरण मे भी ऐसा ही मिलता है। साइप्रस 16 अगस्त, 1960 को स्वतन्त्र हुआ किन्तु अमेरिका ने 1 अगस्त, 1960 को ही उसे मान्यता प्रदान कर दी। *सयुक्तराज्य अमेरिका नए राज्यो को मान्यता प्रदान करते समय यह देखता* है कि वे राज्य सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्य बन जाएँ। स्वतन्त्र होने के साथ ही जिन राज्यो को सयुक्तराज्य अमेरिका ने मान्यता दी उनकी सूची पर्याप्त लम्बी है। सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बन जाने के बाद तो वह प्राय सभी राज्यो को मान्यता प्रदान कर देता है। यही कारण है कि अमेरिका साम्यवादी चीन को विश्व सस्था का सदस्य बनने से रोकने के लिए हर कदम पर बाधा उत्पन्न करता रहा है ताकि उसे मान्यता देने के लिए सिद्धान्तत मजबूर न होना पडे।

मान्यता के प्रति आन्तरिक दृष्टिकोण
(Internal View of Recognition)

मान्यता के बाहरी रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे उसकी वास्तविक स्थिति को पूरी तरह नही समझा जा सकता। मान्यता और सरकार तथा राजनीति के आन्तरिक कार्यों के मध्य स्थित सम्बन्धो के बारे मे ज्ञान प्राप्त करना मान्यता के कार्यों को पूरी तरह समझने के लिए आवश्यक है। इस दृष्टि से एक उल्लेखनीय बात यह है कि किसी भी नए राज्य अथवा सरकार को मान्यता देने का कार्य प्राय सभी देशो के राजनीतिक विभागो को सौंपा जाता है। वहाँ के न्यायालयों को नहीं सौंपा जाता। सयुक्तराज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। जोन्स बनाम सयुक्तराज्य अमेरिका के मामले मे सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि "एक प्रदेश का तथ्यगत या कानूनी सम्प्रभु कौन है, यह प्रश्न न्यायिक नहीं है वरन् राजनीतिक है। किसी भी सरकार के व्यवस्थापिका या *कार्यपालिका विभागो द्वारा किए गए निर्णय से न्यायाधीश तथा उस सरकार के* अन्य अधिकारी, नागरिक और दूसरी प्रजाएँ बाध्य होगी, यह सिद्धान्त इस न्यायालय द्वारा हमेशा अपनाया गया है और विभिन्न प्रकार की परिस्थितियो म इस स्वीकार किया गया है।"

मान्यता सम्बन्धी प्रश्न न्यायिक प्रकृति का न होकर कार्यपालिका प्रकृति का है। इसीलिए अनेक बार यह आन्तरिक राजनीति का प्रश्न न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों का विषय बन जाता है। देश की दलीय राजनीति और दबाव समूह मान्यता सम्बन्धी प्रश्नों पर निर्णायक प्रभाव रखते हैं। इस प्रकार मान्यता का राजनीतिक पहलू न केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रंगों द्वारा प्रपूर्ण होता है वरन् राष्ट्रीय राजनीति भी उस पर उल्लेखनीय प्रभाव रखती है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मान्यता का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण है। मान्यता देना एक देश पर जहाँ अनेक दायित्व डालता है वहाँ उसे निश्चय ही कुछ सुविधाएँ भी उपलब्ध कराता है। नवोदित राज्य को मान्यता देने के क्या प्रभाव होंगे, यह मूलतः उस राज्य की प्रकृति पर निर्भर करता है। मान्यता की प्रकृति कानूनी कम है और राजनीतिक अधिक है। राज्यों का व्यवहार यह सिद्ध करता है कि वे मान्यता के प्रश्नों को प्राय राजनीतिक आधार पर ही तय करते हैं।

शक्ति के प्रयोग अथवा धमकी से बने राज्यों को मान्यता न देने का नवीन सिद्धान्त

सन् 1945 में संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की स्वीकृति और फिर संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे राज्यों को मान्यता देने के सम्बन्ध मे एक नवीन सिद्धान्त का विकास हो रहा है, और वह है—शक्ति के प्रयोग अथवा धमकी से बने राज्यों को मान्यता न दी जाए। यह सिद्धान्त अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों और समझौतों मे स्वीकार किया गया है—

(1) अप्रैल, 1948 की अमेरिकी राज्यों के सगठन के बोगोटा चार्टर की 17वी धारा मे उल्लेख है कि शक्ति अथवा दबाव के अन्य साधनों से प्राप्त प्रदेशों या विशिष्ट लाभों को मान्यता प्रदान नहीं की जानी चाहिए।

(2) सन् 1948 मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा तैयार किए गए 'राज्यों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की घोषणा के प्रारूप' (Draft Declaration on the Rights and Duties of States) की धारा 11 मे प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य माना गया है कि वह किसी राज्य द्वारा ऐसी प्रदेश प्राप्ति को मान्यता न दे जो किसी अन्य राज्य से शक्ति-प्रयोग अथवा धमकी द्वारा प्राप्त किया गया हो।

(3) 22 जुलाई, 1969 को स्वीकृत सन्धियों के कानून के वियना समझौते (Vienna Convention on the Law of Treaties) की धारा 52 म कहा गया है कि यदि कोई सन्धि शक्ति के प्रयोग से अथवा धमकी देकर सम्पन्न की गई है तो वह असिद्ध एव शून्य या रद्द मानी जाएगी।

(4) सन् 1970 मे संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा द्वारा स्वीकृत सघ के चार्टर के अनुसार राज्यों मे मैत्री सम्बन्ध एव सहयोग विषयक अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों की घोषणा (The Declaration on Principles of International Law Concerning Friendly Relations in Accordance with the UN

Charter) मे उल्लेख है कि "शक्ति के प्रयोग से या शक्ति की धमकी द्वारा प्राप्त होने वाले किसी भी प्रदेश को मान्यता नही दी जाएगी।"

इस नवीन सिद्धान्त के दो प्रसिद्ध उदाहरण रोडेशिया एव दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका (नामीबिया) हैं। रोडेशिया ने श्वेत जातियो के प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए 11 नवम्बर, 1965 को अपनी एकपक्षीय स्वतन्त्रता की घोषणा की। चूंकि उपरोक्त नियमो के अनुसार इसे मान्यता नही दी जा सकती थी, अत: 17 नवम्बर, 1966 को पारित अपने एक प्रस्ताव मे सयुक्त राष्ट्रसघ की महासभा ने पुर्तगाल एव दक्षिण अफ्रीका की इस बात के लिए निन्दा की कि वे रोडेशिया का समर्थन कर रहे हैं और साथ ही ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया कि वह इस राज्य को समाप्त करने हेतु आवश्यक कार्यवाही करे। 17 नवम्बर, 1970 को सुरक्षा परिषद् ने अपन एक प्रस्ताव मे राज्यो से अनुरोध किया कि वे रोडेशिया को मान्यता न दें। दूसरा उदाहरण दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका (नामीबिया) का है। यह प्रदेश प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर मैण्डेट के रूप मे दक्षिण अफ्रीका को दिया गया था, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त सयुक्त राष्ट्रसघ की महासभा ने यहाँ दक्षिणी अफ्रीका का मैण्डेट समाप्त करने की घोषणा की। महासभा की दृष्टि मे दक्षिण अफ्रीका ने मैण्डेट के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन नही किया। 29 जून, 1968 को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस सम्बन्ध मे अपने परामर्श मे कहा था कि सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्यों का कत्तव्य है कि वे नामीबिया मे दक्षिण अफ्रीका की अवैध उपस्थिति को स्वीकार न करें। स्टाक का अभिमत है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की परामर्शात्मक सम्मति केवल दक्षिण अफ्रीका के नमीबिया के सम्बन्ध मे है लेकिन भविष्य मे इसे अधिक व्यापक रूप मे लागू करने की सम्भावनाएँ हैं और एक यह सामान्य नियम प्रस्थापित किया जा सकता है कि सब राज्यों का यह कर्त्तव्य है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करके स्थापित किए गए राज्यों को मान्यता न दें।

8 राज्यों का उत्तराधिकार

(Succession of States)

अन्तर्राष्ट्रीय समाज के विभिन्न सदस्य उत्तराधिकार के नियमों द्वारा प्रशासित होते हैं। राज्यों के उत्तराधिकार के नियम सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जन्मदाता ग्रोशियस द्वारा प्रतिपादित किए गए। राज्य के उत्तराधिकार की परिभाषा देना सरल नहीं है फिर भी इसे इस रूप में समझा जाता है कि जब किसी राज्य का एक प्रदेश उसकी प्रभुता और आधिपत्य से निकल कर दूसरे राज्य को मिल जाता है तो ऐसी स्थिति में पहला राज्य पूर्वअधिकारी कहलाता है और दूसरा राज्य उत्तराधिकारी बन जाता है।

अर्थ एवं परिभाषाएं
(Meaning and Definitions)

प्रो फेनविक ने माना है कि—"राज्यों के उत्तराधिकार को केवल सरकारों के उत्तराधिकार से अलग किया जाना चाहिए।" सरकारों के उत्तराधिकार में नई विधिवत् सरकार पूर्वाधिकारी विधिवत् अथवा कानूनी सरकार की उत्तराधिकारी बन जाती है और उसके समस्त उत्तरदायित्वों को सम्भाल लेती है। दूसरी ओर राज्य का उत्तराधिकार सम्प्रभुता का परिवर्तन है।

सम्प्रभु विधिवत् है अथवा नहीं है, यह एक अन्य प्रश्न है किन्तु उत्तराधिकार में एक विशेष क्षेत्र पर नया सम्प्रभु अपने अधिकार का दावा करने लगता है और उसके दायित्वों का निर्वाह करना अपना कर्त्तव्य मान लेता है। ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों के उत्तराधिकार का विचार रोमन नागरिक कानून के नियम के आधार पर रखा। इसके अनुसार एक बीमार व्यक्ति का उत्तराधिकारी उसका स्थानापन्न बन जाता था और कानून की दृष्टि से वह उसके अधिकारों और दायित्वों के जामे को स्वयं पहन लेता था। अन्तर्राष्ट्रीय समाज की संयुक्त प्रकृति के कारण ग्रोशियस द्वारा स्थापित विधि का शासन पूरी तरह से लागू नहीं किया जा सकता। आज भी हम इस स्थिति में नहीं हैं कि राज्यों के सम्बन्ध में उत्तराधिकार के नियमों को स्वीकार कर लें। उत्तराधिकार के व्यावहारिक नियम जो राज्यों की वास्तविक

परम्पराओं से निकले हैं, स्पष्ट नहीं हैं। उत्तराधिकार का व्यवहार निश्चित् परम्पराओं अथवा नियमों की अपेक्षा सन्धियों से निर्धारित हुआ है।

प्रो. ओपेनहीम ने राज्यों के उत्तराधिकार का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि—"अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों का उत्तराधिकार उस समय होता है जब एक या अधिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति की स्थिति में कुछ परिवर्तन होने के कारण उसका स्थान ले लेते है।" राज्यों के उत्तराधिकार के उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में अनेक मिलते है। अगस्त, 1947 में भारतीय उप-महाद्वीप पर ग्रेट-ब्रिटेन के दो उत्तराधिकारियों का अधिकार हो गया, ये थे—भारत और पाकिस्तान। इस प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति का स्थान दो अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों ने ले लिया। यह उत्तराधिकार की प्रक्रिया या तो शान्तिपूर्ण सन्धियों द्वारा सम्पन्न हो सकती है अथवा बलपूर्वक एक राज्य द्वारा दूसरे के प्रदेश को छीना जा सकता है। कई बार एक से अधिक राज्य मिलकर किसी राज्य के भू-भाग का अपहरण करते हैं।

अनेक आधुनिक लेखकों ने सच्चे उत्तराधिकार के अस्तित्व के प्रति सन्देह प्रकट किया है। यह शब्द व्यक्तिगत कानून की शब्दावली से लिया गया है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में लागू नहीं होता। प्रो. स्टार्क ने माना है कि "उत्तराधिकार व्यक्तिगत कानून में हो सकता है जहाँ व्यक्ति मरते हैं और अपने दायित्व तथा प्राप्तियाँ अपने उत्तराधिकारी को सौंप जाते हैं। राज्यों में ऐसा नहीं होता।" प्रो. ब्रायर्ली ने भी उत्तराधिकार को व्यक्तिगत कानून का सिद्धान्त माना है। उनका मत है कि "कुछ अंशों में राज्यों की समाप्ति की तुलना व्यक्ति की मृत्यु में की जा सकती है किन्तु असल में राज्यों की कभी मृत्यु नहीं होती। उनकी जनसंख्या और प्रदेश बने रहते है केवल राजनीतिक परिवर्तन होता है।"

कुछ विचारकों ने व्यक्तिगत उत्तराधिकार और राज्यों के उत्तराधिकार के बीच समानता देखने का प्रयास किया है। व्यक्तिगत स्तर पर मृत्यु और दिवालियेपन के कारण उत्तराधिकार का प्रश्न उठता है। उसी प्रकार जब एक राज्य युद्ध में हार जाता है या विघटित हो जाता है तो उसका स्थान दूसरा राज्य ग्रहण कर लेता है। विघटित या हारा हुआ राज्य या तो विभिन्न राज्यों के बीच वितरित हो जाता है अथवा उसका एक अलग राज्य बन जाता है। राज्यों के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जाता है कि जब एक राज्य के प्रदेश दूसरे राज्य में मिल जाते हैं तो सम्बन्धित राज्य को एक नया व्यक्तित्व मानना चाहिए अथवा उसको पूर्ववत् स्वीकार किया जाना चाहिए। प्रो. ओपेनहीम ने माना है कि जब एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति समाप्त हो जाता है तो उसके साथ व्यक्ति के रूप में उसके सारे अधिकार तथा समस्त कर्तव्य समाप्त हो जाते हैं। स्पष्ट है कि राष्ट्रीय जीवन की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में उत्तराधिकार की प्रक्रिया सचालित नहीं होती। इस सम्बन्ध में कोई सामान्य नियम उपलब्ध नहीं है।

राज्य-उत्तराधिकार के दो रूप
(Two Kinds of State Succession)

सामान्य रूप से राज्य के उत्तराधिकार के दो रूप स्वीकार किए जाते हैं– आंशिक उत्तराधिकार और सार्वदेशिक उत्तराधिकार। इन दोनों रूपों के बीच मूलभूत अन्तर हैं।

(1) आंशिक उत्तराधिकार
(Partial Succession)

आंशिक उत्तराधिकार तब माना जाता है जब एक राज्य भूमि के उस भाग पर सम्प्रभुता प्राप्त कर लेता है जो पहले दूसरे राज्य को प्राप्त था। इस उत्तराधिकार के उदाहरण के रूप में हम यह कह सकते हैं कि जब एक संघ या प्रसंघान का सदस्य राज्य अथवा संरक्षित राज्य पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है या वर्तमान राज्य में से नया अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व बना लिया जाता है तो आंशिक उत्तराधिकार जन्म लेता है। इस प्रकार आंशिक उत्तराधिकार के अन्तर्गत किसी राज्य का पूरा प्रदेश नहीं छीना जाता वरन् उसका एक भाग मात्र लिया जाता है। आंशिक उत्तराधिकार मुख्यतः निम्न दशाओं में होता है—

1 जब एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के प्रदेश का एक भाग किसी क्रान्ति में उससे अलग हो जाता है और स्वतन्त्रता प्राप्त करके एक अलग अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति बन जाता है। सन् 1776 में संयुक्तराज्य अमेरिका इसी प्रकार का एक अलग क्षेत्र बन गया था। इसी का एक उदाहरण सन् 1971 में बंगलादेश का उद्भव है।

2 जब एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति दूसरे राज्य के एक हिस्से पर अपना अधिकार जमा ले और वहाँ राज्य स्थापित कर ले।

3 जब कोई सम्प्रभु राज्य एक संघ-राज्य में प्रवेश करके या संरक्षित राज्य बनकर अपनी सम्प्रभुता का कुछ भाग खो दे अथवा अर्द्ध-सम्प्रभु राज्य पूर्ण सम्प्रभु बन जाए, उदाहरण के लिए, सन् 1938 में चेकोस्लोवाकिया का विच्छेद इसी प्रकार कर दिया गया।

आंशिक उत्तराधिकार की समस्याएँ—आंशिक उत्तराधिकार अनेक जटिल समस्याओं को जन्म देता है, जिनका सम्बन्ध अधिकारों और दायित्वों के वितरण या विभाजन से होता है। प्रमुख समस्याएँ प्रायः निम्नलिखित क्षेत्रों में उठती हैं—

(A) सरकारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों पर प्रभाव—इस प्रकार के प्रश्नों में सामान्यतः केवल दो पक्ष सामने आते हैं। सौभाग्य से अनुभव ने यह सिखा दिया है कि इस प्रकार के प्रश्नों पर कैसे विचार किया जाए। जब एक प्रदेश का अधिकार हस्तान्तरित किया जाता है तो उसके साथ ही ऐसे विषय भी जोड़ दिए जाते हैं। कभी-कभी तीसरा पक्ष भी आंशिक उत्तराधिकार में उभर आता है क्योंकि वह भी अपने नागरिकों अथवा राज्य की सम्पत्ति का उस प्रदेश में दावा करने लगता है।

आंशिक उत्तराधिकार के अन्तर्गत पूर्व-राज्य की सम्पत्ति उत्तराधिकारी राज्य

को मिल जाती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार तुरन्त अथवा स्वतः ही प्रभावित नहीं होते। नया सम्प्रभु हस्तान्तरित क्षेत्र के प्रति किसी सन्धि मे बंधा हुआ न होने के कारण अधिकृत प्रदेश मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का सम्मान करने के लिए बाध्य नही है। दूसरी ओर सम्पूर्ण राजनीतिक एवं विधायी शक्तियां उत्तराधिकारी राज्य को एक ही बार मे हस्तान्तरित कर दी जाती हैं।

(B) घरेलू और विदेशी ऋण—नए सम्प्रभु द्वारा हस्तान्तरित प्रदेश के ऋणों को स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है। अधिकांश लेखकों ने यह मत व्यक्त किया है कि जो ऋण सम्बन्धित प्रदेश के विकास के हेतु लिए जाते हैं उन्हें उत्तराधिकारियों द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए। व्यवहार मे अधिकांश उत्तराधिकारी राज्य इससे भिन्न दृष्टिकोण अपनाते हैं। कभी-कभी उस प्रदेश का सरकारी ऋण उत्तराधिकारी और प्रदेश द्वारा मिलकर सहन किया जाता है। कभी-कभी उत्तराधिकारी राज्य स्वयं ऐसे ऋणों को सहन करता है।

सन् 1919 के शान्ति समझौतों मे एक मुख्य बात यह हुई थी कि हस्तगत किए गए सभी क्षेत्रों मे उत्तराधिकारी राज्यों ने समस्त जर्मन सम्पत्ति को हस्तगत कर लिया और उत्तराधिकार राज्यों द्वारा उस सम्पत्ति का भुगतान मित्र राष्ट्रों के क्षतिपूर्ति आयोग को किया। उत्तराधिकारी राज्यों ने जर्मनी के राष्ट्रीय और राज्य ऋणों को भी सहन किया।

इस प्रकार हस्तगत प्रदेश मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार औपचारिक रूप से प्रभावित नहीं होते। भूमि का स्वामित्व उत्तराधिकारी राज्य द्वारा रक्षित होता है, समाजवादी या साम्यवादी विचारधारा वाले राज्यों की बात अलग है क्योंकि उनमे समस्त भूमि के राष्ट्रीयकरण की विचारधारा का समर्थन किया जाता है।

सन्धियों पर प्रभाव—उत्तराधिकार की दृष्टि से एक अन्य पहलू भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे पर्याप्त विवाद का कारण बना है। इसका सम्बन्ध पूर्व-स्थित राज्य द्वारा की गई सन्धियों से है। क्या उत्तराधिकारी राज्य को इन सन्धियों का सम्मान करना चाहिए? यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते या एक पक्ष अपनी सरकार का रूप बदल ले या अपनी भौगोलिक सीमाओं मे वृद्धि या कमी कर ले तो सन्धि के प्रावधान प्रायः इन परिवर्तनों से अप्रभावित रहते हैं। यदि परिवर्तन बहुत गम्भीर हैं तो वे नई प्रकार की सन्धि की मांग कर सकते हैं।

(2) सार्वदेशिक उत्तराधिकार
(Universal Succession)

सार्वदेशिक अथवा सार्वभौमिक उत्तराधिकार वह होता है जब एक राज्य दूसरे राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को पूर्णरूप से अपने मे मिला ले और दूसरे राज्य के कानूनी अधिकारों और दायित्वों का पूर्णरूप से प्रतिनिधि बन जाए। सार्वदेशिक उत्तराधिकार या तो विजय द्वारा अथवा अन्य शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा प्राप्त किया जाता है। सार्वदेशिक उत्तराधिकार उस समय भी होता है जब एक राज्य के अनेक टुकड़े हो जाते हैं और उनमे से कोई भी अपना अलग अस्तित्व

बना लेता है, ऐसा होने पर उत्तराधिकारी अनेक बन जाएँगे, मिलाया हुआ राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि मे कोई महत्त्व नहीं रखता और उसके पहले के नागरिक उत्तराधिकारी राज्य के कार्यों के विरुद्ध कोई अन्तर्राष्ट्रीय अपील नही कर सकते। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सार्वदेशिक उत्तराधिकार निम्न परिस्थितियो म होता है—

1 जब एक राज्य शक्ति या शान्ति किसी साधन द्वारा दूसरे राज्य को पूर्णरूप से अपने मे मिला ले। उदाहरण के लिए, सन् 1901 मे ग्रेट ब्रिटेन ने दक्षिण अफ्रीका को मिला लिया, सन् 1910 मे जापान ने कोरिया को और सन् 1936 मे इटली ने ऐबीसीनिया को मिला लिया।

2 जब अनेक राज्य एक सघ मे मिलने के लिए सहमत हो जाते हैं, उदाहरण के लिए, सन् 1871 मे जर्मनी के राज्य जर्मन साम्राज्य बनाने के लिए मिलने को सहमत हो गए फरवरी, 1958 मे मिस्र और सीरिया, सयुक्त अरब गणराज्य बनाने के लिए सहमत हो गए।

3 जब किसी राज्य को विभिन्न भागो मे विभाजित कर दिया जाता है और वे भाग अपना पृथक् से अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त कर लेते हैं, उदाहरण के लिए, सन् 1947 मे भारत और पाकिस्तान दो अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों की रचना पहली बार की गई। इनम स प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य उत्तराधिकारी राज्य बन जाता है।

राज्य उत्तराधिकार क परिणाम
(Consequences of State Succession)

वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे सामान्य उत्तराधिकार अस्तित्व मे नहीं आता। एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के परिवर्तन का अर्थ उसके अधिकारो और कर्त्तव्यों का समाप्त होना है। यह भी सच है कि कुछ अधिकार और कर्त्तव्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति को अपने पूर्ववर्ती से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार राज्य-उत्तराधिकार एक वास्तविकता है। इतने पर भी उत्तराधिकार के सभी मामलो मे कोई सामान्य नियम स्थापित नही किया जा सकता और प्रत्यक मामले का अलग से ही अध्ययन करना होता है। राज्य उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे अनेक अनिश्चितताएँ इसलिए दिखाई देती हैं क्योकि विचारको द्वारा इसे सही रूप मे परिभाषित नहीं किया गया है। प्रो जोन्स के मतानुसार राज्य उत्तराधिकार शब्द ही अपने आप मे भ्रमपूर्ण है। इसका अर्थ तथ्यगत उत्तराधिकार भी हो सकता है और कानूनी उत्तराधिकार भी हो सकता है। जब एक प्रदेश मे एक राज्य की जगह दूसरा राज्य आ जाता है तो यह तथ्यगत उत्तराधिकार कहलाता है और जब क्षेत्राधिकार मे स्थानापन्नता आती है तो वह कानूनी उत्तराधिकार होता है। कुछ लेखको ने यह विचार प्रकट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के समाप्त होने पर कोई अधिकार और दायित्व जिन्दा नही रह सकता। दूसरे-विचारकों का मत है कि ये अधिकार और कर्त्तव्य उत्तराधिकारी राज्य को मिल जाते हैं। उत्तराधिकार की स्थिति मे पूर्वस्थित राज्य की सन्धियो, समझौतो, ऋणो, सम्पत्ति आदि के बारे में जो अधिकार उत्तराधिकारी को मिलते उनका उल्लेख विभिन्न विचारकों ने किया है।

(A) सन्धियो के सम्बन्ध में उत्तराधिकार
(Succession with Regard to Treaties)

सन्धि विषयक दायित्वो को प्रशासित करने वाला मुख्य सिद्धान्त यह है कि सन्धियाँ व्यक्तिगत प्रकृति की होती हैं। वे केवल प्रादेशिक विषय नही होती वरन् राज्य से सम्बन्ध होती हैं और इसलिए उनका अस्तित्व तभी तक है जब तक कि स्वय राज्य का अस्तित्व है। इस दृष्टिकोण से देखने पर ऐसा लगता है कि सन्धियो मे निहित अधिकारो और दायित्वो का उत्तराधिकार नही होता। इसलिए जब एक राज्य के प्रदेश को दूसरा राज्य ले लेता है तो सन्धियो द्वारा स्थापित अधिकारों और दायित्वो पर कोई प्रभाव नही पडता जिनमे ये राज्य एकपक्ष होत है। इस सिद्धान्त के कुछ अपवाद भी हैं। एक लम्बे समय से चली आ रही परम्परा के अनुसार मिलाए गए या हस्तगत किए गए क्षेत्र से सम्बन्धित सन्धियो का कोई औचित्य नही रह जाता। सयुक्तराज्य अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन दोनो देशो ने यही दृष्टिकोण अपनाया था जब फ्रांस ने सन् 1831 मे अल्जीयर्स का मिला लिया था।

सन्धियो के सम्बन्ध मे उत्तराधिकारी राज्य के अधिकार इस बात पर निर्भर करते हैं कि उत्तराधिकार की प्रवृत्ति क्या है? जब एक राज्य अपनी इच्छा से या विजित होकर स्वय का अस्तित्व खो देता है और उत्तराधिकारी राज्य मे पूर्णरूप से मिल जाता है तो उसके द्वारा की गई समस्त सन्धियाँ अपना महत्त्व खो देती हैं। राजनीतिक या मैत्रीपूर्ण अथवा व्यापारिक सन्धियाँ इसी श्रेणी मे आती हैं। सन् 1910 मे कोरिया को जापान ने मिला लिया तो जापान ने कोरिया से सम्बन्धित समस्त पूर्वसन्धियो को प्रभावहीन बना दिया। प्रो कीथ का कहना सही है कि 'विजेता राज्य उत्तराधिकार मे कोई सन्धि प्राप्त नहीं करते। सभी पचफैसल, सन्धियाँ और तटस्थता से सम्बन्धित समझौते राज्य की समाप्ति के बाद अपना महत्त्व खो देते हैं। य व्यक्तिगत सन्धियाँ होती हैं और वे स्वाभाविक, कानूनी और आवश्यक दृष्टि से यह माँग करती हैं कि उन्हे करने वाले राज्य का अस्तित्व रहे।" व्यापारिक सन्धियो के सम्बन्ध मे विचारको के बीच मतभेद है। अधिकांश विचारकों का मत है कि यद्यपि ये सन्धियाँ अराजनीतिक होती हैं किन्तु फिर भी इनमे कुछ राजनीतिक विशेषताएँ निहित रहती हैं। प्रो ओपेनहीम, हॉलैण्ड और हॉल ने इस मत का समर्थन किया है। वे इसे कोरी स्लेट का सिद्धान्त (Clean Slate Theory) कहते हैं। इसके अनुसार नया राज्य पिछली सभी सन्धियों को धो-पोंछ कर कोरी स्लेट पर सर्वथा नई सन्धियाँ लिखता है।

यदि दो राज्यों के सम्मिलन से नए अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति का जन्म हुआ है तो पूर्वकर्त्ता सन्धियाँ अपने मूल रूप मे ही प्रवर्तित मानी जाती हैं। जब तक ये सन्धियाँ सघ राज्य के अधिकारियो और कर्तव्यो के बीच कोई विरोध उत्पन्न नही करतीं तब तक इन्हे स्वीकार किया जाता है।

कोई भी सन्धि जिन परिस्थितियो मे की जाती है वह केवल उन्ही मे लागू रहती है किन्तु य दि परिस्थितियाँ गम्भीर रूप से परिवर्तित हो जाएँ तो इनमे की

गई सन्धियाँ सामान्य बन जाएँगी। यह वस्तुत एक सन्धि-कानून का विषय है, यह राज्य उत्तराधिकार का विषय नहीं है। यदि एक राज्य की प्रादेशिक अखण्डता को एक सन्धि द्वारा गारटी दी गई है और उस राज्य द्वारा बहुत बडा प्रदेश प्राप्त कर लिया जाता है तो सन्धि द्वारा दी गई गारटी समाप्त हो जाएगी।

पूर्व-स्थित राज्य द्वारा की गई कुछ सधियाँ नए राज्य को स्वीकार करती हैं। इनमें मुख्यत वे सधियाँ आती हैं जो प्रदेश से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं और उनको अलग नहीं किया जा सकता, उदाहरण के लिए—एक ऐसी सधि जो दो राज्यो के बीच की सीमा का निर्धारण करती है। इस प्रकार की सधियाँ स्थानीय अधिकारों और प्रादेशिक अधिकारो का उल्लेख करती हैं। इनके द्वारा नदियो, सडको, रेलो, नदियों के नौचालन, सीमान्त रेखाओं तथा दूसरे प्रकार की सुविधाओं का उल्लेख किया जाता है। इन सन्धियों का पालन प्राय. नए राज्य द्वारा भी किया जाता है। जो सधियाँ अन्तर्राष्ट्रीय भोगाधिकार (Servitudes) रखती हैं वे राज्य के उत्तराधिकार मे भी जीवित रहती हैं। उदाहरण के लिए, 30 मार्च, 1856 का ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस और रूस से सम्बन्धित अभिसमय जो पेरिस की सधि से सम्बन्धित था, उल्लेखित किया जा सकता है। इस अभिसमय द्वारा रूस को आलन्द द्वीप की किलेबन्दी न करने की बात कही गई थी। बाद मे राष्ट्रसघ की परिषद् ने न्यायाधीशो की एक समिति नियुक्त की जिसने यह दृष्टिकोण प्रकट किया कि सन् 1856 का अभिसमय फिनलैण्ड पर भी लागू होता है क्योंकि यह यूरोप के सार्वजनिक कानून का एक भाग है। 20 अक्तूबर, 1921 के अभिसमय के अनुसार फिनलैण्ड को द्वीप की किलेबदी नही करनी चाहिए।

प्रो आयर्लो की मान्यता के अनुसार कुछ सधियाँ प्रदेश की व्यवस्थापक होती हैं। उनका कहना है कि "जब कोई राज्य इस प्रकार की सधि से प्रभावित प्रदेश को ग्रहण करता है तो यह केवल उस प्रदेश को ही नहीं वरन् उससे सम्बन्धित सारे दायित्वो और सधियों को भी ग्रहण कर लेता है। उदाहरण के लिए, सीमावर्ती नदियो के प्रयोग की सधि और तटस्थीकरण से सम्बन्धित सधि का नाम लिया जा सकता है। यदि एक राज्य को दूसरे राज्य का थोडा प्रदेश प्राप्त होता है तो उसके सधि विषयक अधिकारो एव दायित्वों मे कोई परिवर्तन नहीं आता। जब एक राज्य का कुछ भाग अलग होकर नया राज्य बन जाता है तो उसे पूर्व-स्थित राज्य की समस्त सधियों का पालन करना पडता है।"

भोगाधिकारों की प्रवृत्ति प्रादेशिक होती है और इसलिए उनको राज्य के उत्तराधिकार की प्रक्रिया के माध्यम से अलग नहीं किया जा सकता। उनका सम्बन्ध उस उद्देश्य के साथ सम्बन्धित है जिसके लिए उन्हें किया गया है। प्रदेश का स्वामित्व बदल जाने पर भी इनका अस्तित्व रहता है। डॉ. रीड (Dr. Reid) के कथनानुसार, "भोगाधिकार द्वारा एक प्रदेश का दूसरे प्रदेश के साथ स्थाई कानूनी सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। किसी भी प्रदेश में सम्प्रभुता के परिवर्तन से इसमे कोई अन्तर नहीं आता। यह केवल पारस्परिक सहमति द्वारा ही हट सकता है।"

जब कभी कुछ राज्य मिलकर एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति की रचना करते है, उदाहरण के लिए, एक सघ-राज्य की तो वे सभी सधियाँ समाप्त हो जाती हैं जो इन राज्यो द्वारा पहले की गई थी। यही बात उस समय लागू होती है जब एक राज्य विभाजित होकर अनेक राज्यो मे बँट जाता है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद ऑस्ट्रिया के अधिकारियो ने इसी सिद्धान्त का काम मे लिया। अब पुराने ऑस्ट्रिया के राज्य का अस्तित्व समाप्त हो गया और नए ऑस्ट्रिया राज्य अथवा उनके किसी भी उत्तराधिकारी को वे अधिकार और दायित्व नहीं सौंपे गए जो पुराने राज्य द्वारा की गई सधियो मे निहित थे।

(B) ऋणों के सम्बन्ध में उत्तराधिकार
(Succession with Regard to Debts)

राज्य के व्यवहार मे इस सम्बन्ध मे भी पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है कि उत्तराधिकारी राज्य को ऋणो के सम्बन्ध मे दायित्वो का निर्वाह करना चाहिए अथवा नही करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे राज्य भिन्न-भिन्न व्यवहार करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे ऐसा कोई निश्चित नियम नही है जिसके अनुसार उत्तराधिकारी राज्य पूर्ववत् राज्य के सम्पूर्ण अथवा कुछ दायित्वों को सहन करे। इस सम्बन्ध मे सामान्य नियम है कि इस प्रकार के प्रश्न सन्धि-प्रबन्धो द्वारा सुलझाए जाते हैं। इतिहास मे ऐसे उदाहरण हैं जब उत्तराधिकारी राज्य ऋणो से सम्बन्धित दायित्वो को स्वीकार करता है। एक सामान्य धारणा यह भी है कि उत्तराधिकारी राज्य अपने पूर्वस्थित राज्य के दायित्वो को निभाएगा तथा ऋणो का भुगतान करेगा। कभी-कभी एक राज्य स्पष्ट रूप से यह घोषित करता है कि वह मिलाए हुए राज्य की सार्वजनिक ऋण चुकाने की जिम्मेदारियो को पूरा करेगा। उदाहरण के लिए, सन् 1808 म जब इटली ने ऑस्ट्रिया से लोमबार्डी का प्रदेश लिया तो उसके स्थानीय ऋण का उत्तरदायित्व भी सम्भाल लिया। कभी-कभी एक राज्य का थोड़ा-सा प्रदेश लेने पर भी उत्तराधिकारी राज्य उसके ऋण सम्बन्धी दायित्वो को सम्भाल लेता है। दक्षिण अफ्रीका के सम्बन्ध मे ग्रेट-ब्रिटेन ने कानूनी जिम्मेदारी स्वीकार किए बिना ही आंशिक उत्तरदायित्व सम्भाल लिया। वैस्टरेण्ड सैन्ट्रल गोल्डमाइनिंग कम्पनी बनाम राजा के प्रसिद्ध विवाद मे न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसके द्वारा उत्तराधिकारी राज्य मिलाए हुए प्रदेश के वित्तीय उत्तर-दायित्वो को वहन करने के लिए बाध्य हो जब तक कि यह जिम्मेदारी स्पष्ट रूप मे स्वीकार न की जाए। ऐसी स्थिति मे सम्बन्धित राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह क्या व्यवहार अपनाए।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के इतिहास मे ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जहाँ विशेष सधि प्रावधानों के माध्यम से उत्तराधिकारी राज्यों ने ये दायित्व स्वीकार किए। उदाहरण के लिए, 1912 की लोसाने सधि द्वारा इटली ने ट्रिपोलिटाना ओ-साइरेनिका प्रान्तो से सम्बन्धित टर्की के सरकारी ऋणो का भुगतान करने की नीति अपनाई। इसी प्रकार 1919 की वर्साय की सधि द्वारा जर्मनी की साम्राज्यवादी ऋण

का एक भाग उन राज्यों द्वारा स्वीकार किया गया जिनको जर्मन रीक का प्रदेश सौंपा गया था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद ऑस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के विभाजन का उल्लेख हम कर ही चुके हैं। सन् 1919 की सांजरम की सन्धि की धारा 201 के अनुसार यह व्यवस्था की गई कि पूर्वस्थित राजतन्त्र के किसी भी प्रदेश को लेने वाले प्रत्येक राज्य को उस ऋण का एक भाग चुकाना पड़ेगा जो 28 जुलाई, 1914 को पूर्वस्थित राजशाही के ऊपर था। किस राज्य को कितना भाग सौंपा जाए, इसका निर्णय क्षतिपूर्ति आयोग के हाथों में सौंपा गया। इसी सन्धि द्वारा यह निर्धारित किया गया कि बोसानियाँ और हर्जेगोविना के सरकारी ऋण स्थानीय क्षेत्र के ऋण हैं और इनको पूर्व साम्राज्य के ऋण का भाग नहीं समझा जाना चाहिए।

24 जुलाई, 1923 की लौसान की सन्धि द्वारा ओटोमन साम्राज्य के विभिन्न सरकारी ऋण उत्तराधिकारी राज्यों के बीच वितरित कर दिए गए। भारत विभाजन के बाद पाकिस्तान और भारतवर्ष दो उत्तराधिकारी राज्यों के बीच सम्पत्ति का बँटवारा किया गया, फिर भी दोनों देशों के शरणार्थियों द्वारा जो सम्पत्ति छोड़ी गई उसके सम्बन्ध में कोई सन्तोषजनक निर्णय नहीं हो सका। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि मिलाए हुए अथवा नष्ट किए हुए देश के सरकारी ऋणों को उत्तराधिकारी राज्य द्वारा सम्भाल लिया जाता है। इतने पर भी यह सच है कि विभिन्न राज्य इस सम्बन्ध में कोई सामान्य नीति नहीं अपनाते क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में स्पष्ट रूप से इसके लिए कोई सामान्य सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता। प्रो ओपेनहीम के कथनानुसार कुछ न्यायवेत्ताओं ने यह मत व्यक्त किया है कि उत्तराधिकारी राज्य को विनष्ट राज्य के सभी ऋणों का भार स्वीकार करना चाहिए चाहे उनकी मात्रा उससे प्राप्त होने वाले राजस्व से अधिक ही क्यों न हो। कहा नहीं जा सकता कि राज्य अपने व्यवहार में इस परामर्श को कहाँ तक स्वीकार करेंगे।

(C) निजी अधिकारों पर राज्य-उत्तराधिकार का प्रभाव

(The Effect of State Succession upon Private Rights)

व्यक्तिगत या निजी अधिकारों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह सामान्य नियम है कि ऐसे अधिकार उत्तराधिकार से अप्रभावित रहते हैं। संयुक्तराज्य अमेरिका बनाम पर्चमैन के विवाद में[1] न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि "यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति का सामान्य अपहरण किया गया तो राष्ट्रों की आधुनिक प्रथा, जो कानून बन चुकी है, का उल्लंघन होगा और सम्पूर्ण सभ्य संसार प्रभावित होगा। लोग अपनी स्वामिभक्ति बदल लेते हैं प्राचीन सम्प्रभु से उनका सम्बन्ध समाप्त हो जाता है किन्तु उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा सम्पत्ति के अधिकार यथावत् बने रहते हैं।"

विचारकों ने सम्पत्ति के अधिकार को एक प्राकृतिक अधिकार माना है जिसे व्यक्ति से छीना नहीं जा सकता। जॉन मार्शल ने निजी सम्पत्ति के अधिकारों को

1 United States Supreme Court . Marshall, Chief Justice

मूलभूत और मौलिक प्रकृति का माना। इनको राज्यों के उत्तराधिकार मात्र से समाप्त नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए यद्यपि स्पष्ट रूप से कोई प्रावधान नहीं रखा जाता फिर भी वे अनुल्लंघनीय हैं। न्यायाधीश मार्शल की भाँति शिकागो, रोक आइसलैण्ड तथा प्रशान्त रेलवे कम्पनी बनाम मैकग्लिन के विवाद में न्यायालय ने निर्णय दिया कि "यह सार्वजनिक कानून का सामान्य नियम है कि एक राष्ट्र या सम्प्रभु से दूसरे राष्ट्र या सम्प्रभु को कोई भी राजनीतिक क्षेत्राधिकार अथवा विधायी शक्तियाँ सौंपी जाएँ किन्तु निजी अधिकारों की रक्षा के कानून पूर्ववत् उस समय तक लागू रहेंगे जब तक उन्हें नई सरकार द्वारा बदला न जाए। उत्तराधिकार में सरकारी सम्पत्ति एक सरकार से दूसरी सरकार के हाथ में चली जाती है किन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति पूर्ववत् बनी रहती है और उसके शान्तिपूर्ण उपयोग से सम्बन्धित कानून भी बने रहते हैं।" उत्तराधिकार की प्रक्रिया में केवल वे कानून बदलते हैं जो राजनीतिक हैं तथा पूर्व-सरकार के विशेष अधिकारों से सम्बन्ध रखते हैं।

(D) रियायतों एवं संविदाओं पर उत्तराधिकार का प्रभाव
(The Effect of Succession upon Concessions and Contracts)

उत्तराधिकार के मामलों में उन रियायतों से सम्बन्धित कानूनी मत भिन्नतापूर्ण है जो निजी और सरकारी अधिकारों की रचना करते हैं। सन् 1901 में ब्रिटिश सरकार द्वारा ट्रांसवाल रियायत आयोग नियुक्त किया गया। इसके मतानुसार, कानूनी रूप से एक राज्य अधीकृत राज्य द्वारा किए गए किसी भी समझौते को मानने के लिए बाध्य नहीं है। यदि उत्तराधिकारी राज्य इन संविदाओं को मानना अस्वीकार कर दे तो कोई न्यायालय उन्हें लागू नहीं कर सकता।

इस सम्बन्ध में प्रो. ओपेनहीम ने यह मत प्रकट किया है कि राज्यों के वर्तमान व्यवहार की प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऐसे नियम स्थापित करने की ओर है जिनके अनुसार उत्तराधिकारी राज्यों का यह कर्त्तव्य बन जाए कि वे चाहे किसी प्रकार से उत्तराधिकार प्राप्त करें किन्तु व्यक्तियों द्वारा प्राप्त सम्पत्ति संविदा और रियायतों के अधिकारों का सम्मान करें। यद्यपि ओपेनहीम की यह राय अत्यन्त वांछनीय है किन्तु वास्तविक व्यवहार में उपलब्ध नहीं है। अनेक बार राज्यों द्वारा इसके विपरीत व्यवहार किया जाता है। ब्रिटिश न्यायालय ने वैस्टरेण्ड सैन्ट्रल गोल्ड माइनिंग कम्पनी बनाम राजा के विवाद में बताया कि विजय प्राप्त करने वाला सम्प्रभु राज्य विजित प्रदेश के आर्थिक दायित्वों के सम्बन्ध में अपनी इच्छानुसार कोई भी शर्त लगा सकता है। इनको स्वीकारना पूर्णतः उसकी सद् इच्छा पर निर्भर करता है। स्पष्ट है कि उत्तराधिकारी राज्य अपने पूर्व अधिकार की संविदाओं या रियायतों को मानने के लिए बाध्य नहीं है और इस सम्बन्ध में निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्र है।

दूसरे विचारक इस मत में विश्वास नहीं करते। उनका विचार है कि उत्तराधिकार के बाद भी उत्तराधिकारी को पूर्वस्थित राज्य द्वारा दी गई रियायतों

और समझौतों का सम्मान करना चाहिए। यूरोपीय सन्धियों की समस्त शृंखला में, जो प्रदेशों के स्थानान्तरण से सम्बन्धित थी, उत्तराधिकारी राज्य द्वारा उन सभी संविदाओं को पूरा करने के लिए विशेष प्रावधान रखे गए जो पूर्वस्थित राज्य द्वारा किए गए थे। इन सन्धियों म आस्ट्रेलिया और फ्रांस की सन्धि (17 अक्तूबर, 1797), पेरिस की सन्धि (30 मई 1814), ज्यूरिक की सन्धि (10 नवम्बर, 1859), लन्दन की सन्धि (1864) ऑस्ट्रिया और इटली की सन्धि (1866) और जर्मनी तथा फ्रांस की सन्धि (11 दिसम्बर, 1871) का नाम लिया जा सकता है।

प्रो ब्रायर्ली के मतानुसार ओपेनहीम का मत सही है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की यथार्थ स्थिति में आगे की अवस्था को सूचित करता है। स्थाई न्यायालय ने एक से अधिक बार इस प्रश्न की ओर संकेत किया किन्तु इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट नियम नहीं बनाया। ब्रायर्ली का मत है कि सभी प्रकार के संविदात्मक अधिकारों और दायित्वों के सम्बन्ध म एक प्रकार से लागू होने वाले नियम की आशा नहीं की जा सकती।

स्थित कानून के अनुसार व्यक्तिगत अधिकारों को प्रभुसत्ता में परिवर्तन के साथ नहीं बदला जा सकता। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व प्रशा ने कुछ जर्मन-व्यक्तियों को नई भूमियों पर बसाया। कुछ शर्तों के पूरा होने पर इन लोगों को सम्बन्धित भूमि का पूरा स्वामित्व मिल जाता था। युद्ध के बाद यह प्रदेश पोलैण्ड का दे दिया गया। पोलैण्ड की सरकार ने जर्मनों को उनकी जमीन म बेदखल करना चाहा। उसका तर्क था कि प्रशा द्वारा जर्मनों वालो को ये सुविधाएँ जर्मन जनसंख्या बढ़ाने के लिए प्रदान की गई थी इसलिए इन्हें मानने के लिए वह बाध्य नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मत था कि संविदाओं पर आधारित व्यक्तिगत अधिकार उत्तराधिकारी राज्य म भी यथावत् बने रहते हैं और वह-इन्हें देने से इन्कार नहीं कर सकता। उत्तराधिकारी राज्य पूर्व राज्य के केवल उन्हीं दायित्वों को ठुकराने में औचित्य रखता है जो उसके विरुद्ध युद्ध करने के उद्देश्य से माने गए थे।

जब एक राज्य किसी व्यक्ति या कम्पनी को रियायत देता है तो उत्तराधिकारी राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उन रियायतों को स्वीकार करे। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने भी कई मामलों म इस प्रकार का मत व्यक्त किया है। राष्ट्रीय सत्ता के परिवर्तनों द्वारा उन व्यक्तिगत रियायतों का समाप्त नहीं किया जा सकता जो कानूनी अधिकार-पत्र द्वारा सौंपी गई है।

(E) पद के अधिकार (Rights to Office)

उत्तराधिकार के बाद किसी पद के अधिकार या उससे प्राप्त होने वाली आमदनी रहती है अथवा नहीं रहती है—इस प्रश्न का निर्णय सन् 1908 म संयुक्तराज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा एक प्रसिद्ध विवाद (O Reilly de Comara V Brooke) म दिया गया। सन् 1728 म मि प्यूरटा ने हवाना (क्यूबा) नगर के उच्च शैरिफ का पद सार्वजनिक नीलाम में खरीदा। स्पेन के

क्राउन से खरीदा गया यह पद निरन्तर और वंश परम्परागत घोषित किया गया। कालान्तर में यह दूसरे लोगों को उत्तराधिकार में दे दिया गया। इस पद के कार्यों में एक यह भी था कि शुल्क लेकर माँस का निरीक्षण किया जाए। यह शुल्क हवाना के बूचड़खानों में मारे गए मवेशियों के अनुपात में होता था। सन् 1895 में डॉ ड्यूप्लेसिस ने इस कार्यालय का आधा अधिकार अपने निजी ऋण के बदले ग्रहण कर लिया। अब सन् 1898 में संयुक्तराज्य अमेरिका ने हवाना पर सैनिक अधिकार कर लिया तो इन दोनों को कार्यालय के अधिकारों एवं आमदनी से वंचित कर दिया गया। उन्होंने अमेरिकी सरकार के सामने अपील की और बताया कि यह कार्यालय उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति थी और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार इसकी रक्षा की जानी चाहिए। याचिका प्रस्तुत करने वालों ने यह तर्क दिया कि सम्बन्धित कार्यालय के अधिकार स्पेन सरकार के साथ की गई व्यक्तिगत संविदा पर निर्भर करते हैं और इसलिए अभी तक न्यायपूर्ण हैं।

संयुक्तराज्य अमेरिका के तत्कालीन युद्ध मन्त्री ने बताया कि हवाना के शैरिफ का कार्यालय निरन्तर रहने वाला अथवा वंश परम्परागत नहीं था। याचिका प्रस्तुत करने वाले को किसी सम्पत्ति से वंचित नहीं रखा गया है। उत्तराधिकार में उसे जो कार्यालय अधिकार या विशेष अधिकार मिले थे वे सभी उन्हें प्रदान करने वाली सम्प्रभुता के साथ समाप्त हो गए। अन्त में यह मामला सन् 1960 में संयुक्तराज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के सामने आया तो न्यायाधीश होम्स ने युद्ध मन्त्री मि रूट के साथ सहमति प्रकट करते हुए कहा कि वादी की कोई सम्पत्ति ऐसी नहीं मानी जा सकती जो स्पेन की सम्प्रभुता समाप्त हो जाने के बाद भी उसकी रहे। ये अधिकार जिस स्रोत से प्राप्त होते हैं उसके अस्तित्व पर निर्भर करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य के उत्तराधिकार में पद के अधिकार जीवित नहीं रहते।

(F) टार्ट्स तथा राज्य का उत्तराधिकार

पूर्व अधिकारी राज्य द्वारा किए गए गलत कार्य से यदि किसी व्यक्ति को हानि पहुँचती है तो उसके लिए नया उत्तराधिकारी राज्य उत्तरदायी नहीं माना जाएगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कोई ऐसा नियम नहीं है जो उत्तराधिकारी राज्यों को पूर्ववर्ती राज्यों द्वारा किए गए अपराधों के लिए जिम्मेदार बनाए। सन् 1923 के संयुक्तराज्य अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन के दावों से सम्बन्धित न्यायाधिकरण ने राबर्ट ई. ब्राउन के मामले में निर्णय लिया। यह मामला इस प्रकार था—सन् 1902 में जब इंग्लैण्ड ने दक्षिण अफ्रीका के राज्य को अपने में मिला लिया तो संयुक्तराज्य अमेरिका ने राबर्ट ई ब्राउन की ओर से दावा किया। मि ब्राउन एक अमेरिकी खान इन्जीनियर था। दक्षिण अफ्रीका में इसके खान सम्बन्धी दावों को अस्वीकार कर दिया गया और अपने कष्टों की मुक्ति के लिए जब उसने न्यायालय की शरण लेनी चाही तो मना कर दिया। इस विषय पर ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण लॉर्ड लैन्सडाउन द्वारा 4 नवम्बर, 1903 को अमेरिकी राजदूत द्वारा दिए गए एक पत्र में अभिव्यक्त किया गया। 18 अगस्त, 1910 को संयुक्तराज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के बीच एक विशेष समझौता हुआ। इसके अनुसार एक दावा

न्यायाधिकरण की स्थापना की गई जिसके सम्मुख अमरीकी सरकार ने 3,30,000 पौण्ड का दावा प्रस्तुत किया। न्यायाधिकरण ने अपने 23 नवम्बर, 1923 के एवार्ड में बताया कि ब्राउन को वास्तव में न्याय प्राप्ति से वंचित किया गया है किन्तु दक्षिण अफ्रीकी गणतन्त्र द्वारा किए गए इस अपराध का दायित्व ब्रिटिश सरकार पर नहीं डाला जा सकता।

बाद में इसी न्यायाधिकरण ने हवाई निवासियों के दावों पर विचार किया। संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा हवाई गणराज्य को मिलाए जाने के पूर्व ब्रिटिश प्रजा को हवाई गणराज्य के अधिकारियों ने जो कष्ट दिए उनके विरुद्ध यह दावा किया गया था। ब्रिटिश सरकार का कहना था कि इस मामले में ब्राउन के मामले को परम्परा नहीं बनाया जाना चाहिए क्योंकि दोनों के तथ्य और परिस्थितियाँ भिन्न हैं। प्रमुख तर्क यह था कि हवाई गणराज्य अपनी इच्छा से समाप्त हुआ किन्तु दक्षिण अफ्रीका को विजय किया गया था। ब्रिटिश सरकार के इस दावे को अस्वीकार करते हुए न्यायाधिकरण ने निर्णय दिया कि इन दोनों मामलों में कोई अन्तर नहीं है। उत्तराधिकार की प्रक्रिया चाहे किसी भी रूप में सम्पन्न हुई हो किन्तु मूल बात यह है कि उत्तराधिकारी राज्य को पूर्वस्थित राज्य के दोषों के लिए जिम्मेदार नहीं बनाया जा सकता। जब गलती करने वाली कानूनी इकाई समाप्त हो जाती है तो उसके द्वारा की गई गलती का दायित्व भी समाप्त हो जाता है।

(G) उत्तराधिकार एवं सार्वजनिक सम्पत्ति

(Succession and Public Property)

सार्वजनिक सम्पत्ति से सम्बन्धित सारे दायित्व उत्तराधिकारी पर आ जाते हैं। वे सभी सार्वजनिक उपक्रम जिनका स्वामित्व राज्य करता है, उत्तराधिकारी राज्य के अधिकार में आ जाते हैं। उत्तराधिकार की प्रक्रिया उनको नए राज्य की सम्पत्ति बना देती है। आजकल यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गया है क्योंकि आर्थिक उत्पादन के साधनों पर सरकार का स्वामित्व बढ़ता ही जा रहा है।

सन् 1938 में जर्मनी ने आस्ट्रिया का विलय कर लिया तो संयुक्तराज्य अमेरिका ने उसे एक नोट लिखकर दिया। इसमें कहा गया "यह विश्वास किया जाता है कि विद्वान् अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इस सामान्य सिद्धान्त का स्पष्ट समर्थन करते हैं कि एक राज्य का विलय करने पर नया राज्य विलय किए गए राज्य के समस्त लाभों और दायित्वों के लिए उत्तरदायी होगा।"

(H) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता

(Membership of the International Organisations)

परम्पराओं द्वारा यह स्पष्ट हो चुका है कि उत्तराधिकारी राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता प्रदान नहीं की जाएगी। उत्तराधिकारी राज्य पृथक् से किसी सदस्यता का दावा नहीं कर सकता किन्तु यदि किसी राज्य का कोई हिस्सा अलग होकर नया राज्य बना है तो वह पृथक् से ही अपनी सदस्यता प्राप्त करेगा। जब आयरिश फ्री स्टेट ग्रेटब्रिटेन से पृथक् होकर स्वतन्त्र राज्य बना तो

राष्ट्रसंघ में वह नए सदस्य के रूप में प्रविष्ट हुआ। डेनमार्क से पृथक् होकर आइसलैण्ड ने सन् 1944 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की सदस्यता स्वतन्त्र रूप से प्राप्त की। सन् 1947 में जब भारत का विभाजन हुआ तो भारत तो पहले की भाँति संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना रहा किन्तु पाकिस्तान को इसका नया सदस्य बनना पड़ा। इस प्रकार के विभाजन की स्थिति में जो राज्य पृथक् होता है वह एक नया राज्य समझा जाता है और बाकी बचा हुआ भाग समस्त अधिकारों एवं कर्त्तव्यों से युक्त वर्तमान राज्य के रूप में बना रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का उत्तराधिकार

(Succession of International Organisations)

राज्यों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का भी उत्तराधिकार होता है। जब एक स्थित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को समाप्त करके उसी उद्देश्य के लिए एक नया संगठन स्थापित किया जाता है तो उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा होता है। द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने पर राष्ट्रसंघ और इसी प्रकार के दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन समाप्त कर दिए गए और उनके स्थान पर नए संगठनों की रचना की गई तो उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। इस प्रकार के संगठन सन्धि द्वारा निर्मित किए जाते हैं। प्रो. ओपेनहीम के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में निरन्तरता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि उन सभी स्थितियों में उत्तराधिकार को स्वीकार किया जाए जिनमें दोनों संगठनों के उद्देश्यों की एकरूपता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका के स्तर से सम्बन्धित मामले में सन् 1950 में अपना परामर्शदाता राय देते हुए उस मत का समर्थन किया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा को इस प्रदेश का देख-भाल करने का कानूनी अधिकार उसी रूप में प्राप्त है जिस रूप में राष्ट्रसंघ का प्राप्त था। दक्षिण अफ्रीका संघ को इस प्रदेश पर महासभा के निरीक्षण और नियन्त्रण को स्वीकार करने और उसे प्रदेश के प्रशासन के सम्बन्ध में अपना वार्षिक प्रतिवेदन देने को कहा गया। न्यायालय ने बताया कि दक्षिण अफ्रीका अभी भी दिसम्बर, 1920 के मैण्डेट वाला प्रदेश है।

उत्तराधिकार की विधियाँ

(Methods of Succession)

किसी भी राज्य का पूर्ण अथवा आंशिक उत्तराधिकार कई रूपों में हो सकता है। उत्तराधिकार की प्रमुख प्रणालियाँ निम्न प्रकार हैं—

1 विद्रोह द्वारा दबाकर (On the Suppression of a Revolt)—जब एक विद्रोह इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह स्थित सरकार को पलट देता है तो उत्तराधिकार का प्रश्न उपस्थित होता है। यह समस्या उठ खड़ी होती है कि दबाई हुई सरकार की सम्पत्ति पर किसका अधिकार है? नई सरकार क्योंकि उसी प्रदेश में रह रही है जिसके विरुद्ध विद्रोह किया गया था, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रश्न खड़ा नहीं होता। किन्तु जो सम्पत्ति दूसरे राज्यों की प्रदेश में स्थित है उस पर

द्रोही सरकार का अधिकार माना जाए अथवा नई सरकार का, इस प्रश्न का समाधान करते समय यह देखना होगा कि सम्पत्ति का रूप क्या है और वह किस प्रकार से प्राप्त की गई थी। विद्रोही सरकार के ऋणों और गलत कार्यों के दायित्व अति विकट और उलझे हुए हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि नई सरकार उस सरकार के ऋणों और अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को मानने के लिए बाध्य नहीं है जिसके विरुद्ध विद्रोह किया गया है।

2 विभाजन द्वारा उत्तराधिकार (Succession by Dismemberment)—जब एक राज्य कई भागों में बँट जाता है और प्रत्येक भाग एक पृथक् राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व बन जाते हैं अथवा उस अलग हुए भाग को समीपवर्ती राज्य द्वारा अपने में मिला लिया जाता है तो उस पर वही नियम लागू होते हैं जो एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को अपने में विलीन करने पर होते हैं। कठिनाई उस समय होती है जब किसी राज्य विशेष की भूमि को विभिन्न राज्यों द्वारा अपने में मिला लिया जाता है। यहाँ भी उत्तराधिकार तो होता है क्योंकि प्रदेश विशेष से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार और कर्त्तव्य नए राज्य को मिल जाते हैं।

उत्तराधिकार इस अर्थ में भी माना जाएगा कि प्रदेश की सम्पत्ति और कोष पर सम्बन्धित राज्य का अधिकार हो जाता है। इसके अतिरिक्त मिलाए गए राज्य के ऋणों का दायित्व भी उत्तराधिकारी को सम्भालना पड़ता है। समस्या यहाँ उठती है कि राजकोषीय सम्पत्ति और कोष के उत्तराधिकारी अनेक बन जाते हैं। केवल यह नियम बनाया जा सकता है कि विभिन्न उत्तराधिकारियों द्वारा ऋण के भाग का एक अनुपात ही ग्रहण किया जाए।

1905 में स्वीडन नार्वे का संघ समाप्त हो गया और इसके सदस्य पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति बन गए तो उत्तराधिकार हो गया। संघ द्वारा की गई सभी सन्धियाँ पूर्व-सदस्यों के साथ साथ समाप्त हो गई। केवल वे ही सन्धियाँ रह गई जो संघ द्वारा किसी भी एक सदस्य के बारे में की गई थी। जिनका सम्बन्ध पूरे संघ से था, वे सन्धियाँ संघ की समाप्ति के बाद अपना महत्त्व खो देती हैं।

3 पृथक्करण द्वारा उत्तराधिकार—जब युद्ध के कारण अथवा अन्य किसी कारण से एक राज्य का कोई भाग दूसरे राज्य में मिल जाता है अथवा एक राज्य का प्रदेश उससे अलग हो जाता है और पृथक् राज्य बनकर एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व बन जाता है तो उत्तराधिकार जन्म लेता है। उस प्रदेश के सम्बन्ध में पूर्व स्थित राज्य के अधिकार उत्तराधिकारी को मिल जाते हैं। उत्तराधिकारी को अपने पूर्ववर्ती के ऋणों का भार भी उठाना पड़ता है। अनेक इस प्रकार की सन्धियाँ जो पूर्ववर्ती राज्य के ऋणों का भार उत्तराधिकारी पर डालती है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की घोषणा मानी जा सकती है। पृथक्करण में सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न संयुक्तराष्ट्र संघ की सदस्यता का उठता है। भारत के प्रसंग में यह समस्या उठी कि इसका जो भाग स्वतन्त्रता के बाद अलग हो गया उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता किस प्रकार दी जाए ? पाकिस्तान ने महासभा के सम्मुख यह विचार व्यक्त किया कि उसका जन्म

भारत के साथ साथ हुआ है और इसलिए उसे स्वत ही सदस्यता मिल जानी चाहिए। महासभा ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया। उसके मतानुसार जब एक नया राज्य बनता है तो उसका क्षेत्र और जनसंख्या चाहे कुछ हो और चाहे वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राज्य का पहले भाग रहा हो किन्तु संघ के चार्टर की व्यवस्था के अनुसार वह उस समय तक संघ का सदस्य होने का दावा नहीं कर सकता जब तक कि औपचारिक रूप से उसे ऐसा न मान लिया जाए।

सन्धियों के बारे मे सामान्य स्थिति यह है कि जब पृथक्करण के परिणामस्वरूप नए राज्य की रचना होती है तो नए राज्य को विधि-निर्माण प्रकृति की सामान्य सन्धियों को स्वीकार करना पड़ता है, विशेषत. उन सन्धियों को जो मानवतावादी प्रकृति की हैं। इस प्रकार 1949 मे पाकिस्तान और बर्मा ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के संविधान के उन दायित्वों को अपने ऊपर बाध्य माना जो उनके प्रदेशो पर उस समय लागू होते थे, जब वे भारत के भाग थे। इसी प्रकार पाकिस्तान ने अपने आपको 1921 के उस अभिसमय का भाग माना जो स्त्रियों और बच्चों के व्यापार पर रोक लगाते थे।

9 राज्य का प्रदेश : प्रदेश प्राप्त करने और खोने के प्रकार

(State Territory : Modes of Acquisition and Loss of Territory)

राज्य के चार मूल तत्वों में एक प्रदेश भी है जिसके बिना उसके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रदेश का प्रकार छोटा या बड़ा कैसा भी हो सकता है। राज्य के प्रदेश को उसकी प्रादेशिक सम्पत्ति भी कहा जाता है। यह सम्पत्ति व्यक्तिगत नहीं होती वरन् सार्वजनिक होती है। राज्य को किसी राजा या सम्राट् की सम्पत्ति कहना एक भारी भूल है। पिछली शताब्दियों में लेखकों तथा राजनीतिज्ञों ने प्रायतौर से यह भूल की है। आजकल राज्य के प्रदेश और राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति के बीच स्पष्ट रूप से विभाजक रेखा खींच दी गई है। राजा द्वारा राज्य के किसी प्रदेश का लेन-देन संसद् की स्वीकृति के बिना नहीं किया जा सकता।

प्रदेश का अर्थ
(Meaning of Territory)

राज्य के प्रदेश की मान्यता अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जन्म से अब तक गम्भीर रूप से परिवर्तित हुई है। प्रदेश की परिभाषा अनेक प्रकार से की गई है। प्रो स्वार्जेन के कथनानुसार—"एक राज्य के प्रदेश में उसकी सीमाओं और क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत समस्त भूमि और जल की सतह, इस सतह के नीचे समस्त भूमि और जल तथा इसके ऊपर स्थित समस्त वायु आती है।" प्रदेश के बिना किसी राज्य का अस्तित्व नहीं रह सकता। यदि किसी कारण एक राज्य का प्रदेश छिन जाए तो राज्य के रूप में उसका व्यक्तित्व भी बिखर जाएगा।

राज्य के प्रदेश का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि राज्य इसके ऊपर अपनी सर्वोच्च-सत्ता का प्रयोग करता है। प्रो ओपेनहेम के कथनानुसार—"राज्य का प्रदेश राष्ट्रों के कानून का उद्देश्य है क्योंकि यह प्रत्येक राज्य के प्रदेश में उसकी सर्वोच्च सत्ता को मान्यता देता है।" राज्य के प्रदेश में जो वस्तु या व्यक्ति प्रवेश करता है वह राज्य की सर्वोच्च सत्ता का विषय होता है। विदेशी राजदूतों और

सम्प्रभुओं को यद्यपि उन्मुक्तियाँ प्रदान कर दी जाती हैं किन्तु दूसरे राज्य के प्रदेश में उनका अपना कोई मौलिक अधिकार नहीं होता। एक प्रदेश में केवल एक सम्प्रभु कार्य करता है। इसके कुछ अपवाद भी हमें इतिहास में मिलते हैं। इनके अनुसार किसी-किसी राज्य में संयुक्त सम्प्रभुता का व्यवहार उपलब्ध होता था।

कभी-कभी एक राज्य द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली राज्य की सम्प्रभुता वास्तव में कहीं और निहित रहती है। साइप्रस का तुर्किश द्वीप सन् 1878 से 1914 तक ब्रिटिश प्रशासन के अधीन था। मैक्स ह्यूबर के कथनानुसार—"राज्यों के सम्बन्ध में प्रभुसत्ता का अर्थ उनकी स्वतन्त्रता से है। प्रदेश के एक भाग में स्वतन्त्रता का आशय यह है कि वहाँ केवल एक राज्य को ही कार्य करने का अधिकार रहेगा।" प्रभुसत्ता के अर्थ को स्पष्ट करने वाले विचारकों ने उसकी विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख किया है। अविभाज्यता सम्प्रभुता का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

प्रादेशिक अखण्डता के अपवाद
(Exceptions of Exclusiveness of Territory)

राज्य अपने प्रदेश पर जो सर्वोच्च सत्ता प्रयुक्त करता है उसे किसी बाहरी शक्ति द्वारा कोई निर्देशन नहीं दिया जाता। सिद्धान्त में एक ही प्रदेश में दो अथवा दो से अधिक पूर्ण सम्प्रभु राज्य असम्भव होते हैं फिर भी व्यवहार में सम्प्रभुता का विभाजन किया जा सकता है। सम्प्रभुता की अखण्डता या अविभाज्यता के कुछ वास्तविक या अवास्तविक अपवाद भी हैं। प्रो. ओपनहम ने इन अपवादों का उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

1. राज्य की प्रादेशिक अखण्डता का प्रथम और महत्त्वपूर्ण अपवाद सहराज्यों (Condominium) का सिद्धान्त है। इसके अनुसार एक भूमि का प्रदेश अपनी धरती और जल सहित दो या इससे अधिक राज्यों के संयुक्त स्वामित्व में रहता है। ये राज्य इस प्रदेश और इसमें रहने वाले व्यक्तियों पर संयुक्त रूप से सम्प्रभुता का प्रयोग करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में इस प्रकार के उदाहरण अनेक मिल जाएँगे। कभी-कभी यह प्रबन्ध ऐसे प्रदेश के सम्बन्ध में भी अपनाया जाता है जिसके भाग्य का निर्णय अभी नहीं हो सका है। अन्तिम निर्णय होने तक सम्बन्धित राज्य उस प्रदेश पर एकमात्र सम्प्रभुता का प्रयोग नहीं करते और संयुक्त प्रशासन के सम्बन्ध में सहमत हो जाते हैं। सन् 1919 की शान्ति सन्धियों ने मित्र राष्ट्रों और सहयोगी राष्ट्रों को ऐसे प्रदेश सौंपे जिनका प्रबन्ध उन्होंने संयुक्त रूप से किया। 5 जून, 1945 को ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत संघ और फ्रांस ने जर्मनी की हार के सम्बन्ध में की गई एक घोषणा में इस देश की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार किया। यह सम्प्रभुता के संयुक्त व्यवहार का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण माना जा सकता है।

2. दूसरा अपवाद यह है कि जो राज्य वास्तव में सम्प्रभुता का प्रयोग करता है उसके पास वह कानूनी रूप से नहीं रहता, कानून उस प्रदेश की सम्प्रभुता अन्य कहीं निहित रखता है। स्वामी राज्य की अनुमति से कभी-कभी एक विदेशी राज्य

सत्ता उसके किसी भाग का प्रशासन करने लगती है। उदाहरण के लिए सन् 1878 से 1908 तक बासनिया और हर्जगोविना के टर्की के प्रान्त आस्ट्रिया-हंगरी के प्रशासन में रहे। ऐसे उदाहरणों मे प्रदेश पर कानूनी अधिकार उसके मौलिक स्वामी का रहता है, किन्तु सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए अधिकार प्रशासक-सत्ता के हाथ में चले जाते हैं।

3 तीसरा अपवाद विदेशी सत्ता को पट्टे पर दिए गए प्रदेश का माना जा सकता है। उदाहरण के लिए–1898 मे चीन ने अपने विभिन्न प्रदेश जर्मनी, ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस और रूस को पट्टे पर दे दिए। इस प्रकार पट्टे पर दिए गए प्रदेशों के सम्बन्ध में स्वामी राज्य को अनेक रियायतें प्रदान की जाती हैं। असल में ये प्रदेश पट्टाधारी राज्य की सम्पत्ति बन जाते हैं।

4 प्रादेशिक अखण्डता का अन्य अपवाद यह है कि स्वामी राज्य अपने प्रदेश के एक भाग को दूसरे राज्य को सौंप देता है तथा इसके सम्बन्ध में वह किसी सम्प्रभु अधिकार का प्रयोग नहीं करता। इस प्रकार पनामा गणराज्य ने सन् 1903 मे 10 मील चौड़ी पट्टी का प्रदेश संयुक्तराज्य अमेरिका को सौंप दिया ताकि वह पनामा नहर की रचना, प्रशासन और रक्षा कर सके। इस स्थिति में प्रदेश सौंपने वाला उस पर कानूनी अधिकार रखता है जबकि सम्प्रभुता का प्रयोग प्राप्ति–कर्ता पक्ष द्वारा किया जाता है।

5. पाँचवाँ अपवाद सघ राज्य को माना जा सकता है। सघ अपने आपको एक राज्य मानता है, किन्तु तथ्य रूप मे उसकी विभिन्न इकाइयाँ सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करती हैं। सम्प्रभुता सघ राज्य एव उसके सदस्यों के बीच बँट जाती है

6. मैन्डेट प्रदेश अथवा न्यास प्रदेश वास्तव मे इस राज्य के भाग नहीं होते जो उन पर सम्प्रभुता का प्रयोग करता है। संयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर के अनुसार कुछ राज्यों द्वारा संयुक्त न्यास की सम्भावना का उल्लेख भी किया गया है।

राज्य की सीमायें
(Boundaries of States)

राज्य के प्रदेश की सीमाएँ उसे अन्य राज्य से पृथक् करती हैं तथा उसके क्षेत्राधिकार का निश्चय करती है। इन सीमाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है प्राकृतिक सीमाएँ और कृत्रिम सीमाएँ।

1 प्राकृतिक सीमायें (Natural Boundaries)—प्राकृतिक सीमायें वे होती हैं जिनकी रचना नदियों, पर्वतों, मरुस्थलों, समुद्रतटों, झीलों आदि प्रकृति के विभिन्न उपकरणों द्वारा की जाती है। फ्रांस की प्राकृतिक सीमा का निर्धारण राइन नदी द्वारा किया जाता है। भारतवर्ष की प्रादेशिक सीमाओं को निर्धारित करने में प्राकृतिक तत्व महत्वपूर्ण योगदान करता है। इस दृष्टि से हिमगिरि का उत्तुंग शिखर उत्तरी प्रहरी कहा जाता है, हिन्दूकुश पर्वत उसका उत्तर-पश्चिमी वैज्ञानिक सीमान्त है। भारत को पाकिस्तान से पृथक् करते हुए कुछ दूर तक रावी नदी बहती है।

2 कृत्रिम सीमायें (Artificial Boundaries)—काल्पनिक अथवा मानव-निर्मित सीमाओं को प्रदेश की कृत्रिम सीमा कहा जाता है। इनमें प्रायः दीवालों, स्तम्भों, डण्डों आदि को शामिल किया जाता है। कभी-कभी अक्षांश रेखा (Latitude) भी इसका निर्धारण करती है। उदाहरण के लिए संयुक्तराज्य अमेरिका और कनाडा की सीमा 49वीं उत्तरी अक्षांश रेखा है।

प्रदेशों की उपर्युक्त प्राकृतिक और कृत्रिम सीमाएँ अनेक बार विवादों का कारण बन जाती हैं। प्राकृतिक सीमाओं के निर्धारण में विशेष रूप से कठिनाइयाँ आती हैं। नदियों के सम्बन्ध में सीमा निर्धारण की समस्या पर सन् 1919 के शान्ति सम्मेलन में विचार किया गया था। इसमें यह निर्धारित किया गया कि नौ चालन योग्य नदियों के सम्बन्ध में यदि विशेष सन्धि नहीं है तो नदी की मुख्य धारा के बीच में होकर गुजरने वाली रेखा सीमान्त रेखा मानी जाएगी। यह रेखा नदी के मोड के साथ-साथ घूमती रहेगी।

नौ-चालन योग्य नदियों के सम्बन्ध में सीमान्त रेखा उसे माना गया जो सबसे गहरी नौ-चालन योग्य धारा के मध्य में होकर गुजरती है। पर्वतों के बारे में सामान्य रूप से जल विभाजक पहाड़ों की शिखर शृंखलाओं को सीमा निर्धारण करने वाली मान लिया जाता है। मैकमोहन रेखा के पीछे यही सिद्धान्त है। जब झीलों और प्रदेश से घिरे हुए समुद्रों की सीमान्त रेखा निश्चित की जाती है तो इनकी गहराई, बनावट ससरूपण एवं नौ-चालन की दृष्टि से इनकी उपयोगिता आदि का ध्यान रखा जाता है।

भूमि सीमाओं का निर्धारण
(Determination of Land-boundaries)

जिस प्रकार किसी नागरिक की घरेलू वास्तविक सम्पत्ति निर्धारित की जाती है उसी प्रकार निश्चित सीमा रेखाओं द्वारा एक राज्य के क्षेत्राधिकार में आने वाला प्रदेश निर्धारित होता है। भूमि से सम्बन्धित अधिकांश सीमायें अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों या शान्ति सन्धियों द्वारा निर्धारित की जाती हैं। वेस्ट फेलिया की सन्धि (1648), वियना कांग्रेस (1815), शान्ति सन्धियाँ (1919) तथा (1947) आदि ने योरोपीय राज्यों की सीमाओं का समग्र-रूप से निर्धारण किया। व्यक्तिगत समझौतों द्वारा राज्यों की विवादपूर्ण सीमा रेखाओं का निर्धारण किया जाता है।

प्राकृतिक सीमा के सम्बन्ध में समय-समय पर विवाद प्रस्तुत किए जाते हैं। इन विवादों का मूल आधार प्राकृतिक सीमाओं में निश्चय का अभाव है। जब एक बार किसी अभिसमय अथवा शान्ति सन्धि द्वारा एक निश्चित स्थान पर सीमा रेखा निर्धारित हो जाती है तो सीमा प्रायोग जैसी कोई संस्था सर्वेक्षण द्वारा उसे वास्तविक रूप देती है। इस सर्वेक्षण के दौरान् कभी-कभी व्यावहारिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जो सम्बन्धित पक्षों में मत-मुटाव पैदा कर कर देती हैं। इस सम्बन्ध में कुछ नियम प्रचलित हैं।

1. ग्रेशियसवादी नियम (The Grotian Rule)—नदियों को राज्य के बीच की सीमान्त रेखा का भाग माना जाता है। ग्रोशियसवादी नियम के अनुसार नदी में सीमा का निश्चित निर्धारण उसकी मध्य रेखा पर किया जाना चाहिए। यह नियम नौ-चालन योग्य झरनों के सम्बन्ध में अनेक अप्रत्याशित समस्याएँ पैदा करता है। जल की गहराई हमेशा नदी के बीच की धारा में नहीं होती, इसलिए किसी भी जल पोत को उसमें होकर गुजरते समय भिन्न-भिन्न राज्यों के प्रदेश में आना पड़ेगा।

2 थालवेग का नियम (Thalweg Rule)—ग्रोशियसवादी नियम में चुंगी कर की समस्याएँ आती है, कर संग्रह का कार्य कठिन बन जाता है और सम्प्रभु राज्य की इच्छा के विरुद्ध प्रवेश के अवसर पैदा हो जाते हैं। इनसे बचने के लिए 19वीं शताब्दी में यह नियम बदला गया और अब नौ-चालन योग्य नदियों की सीमा उस मुख्य धारा के मध्य में मानी जाने लगी जो सबसे अधिक गहरी होती है और तकनीकी रूप में जिसे थालवेग कहा जाता है।

इस नियम का मुख्य लाभ यह है कि व्यापार के मुख्य मार्ग के अनुरूप सीमा का निर्धारण होगा और प्रत्येक सम्बन्धित राज्य को मार्ग पर बराबर का हिस्सा मिल सकेगा। थालवेग का नियम विभिन्न राज्यों द्वारा नदियों की सीमाओं के निर्धारण हेतु अपनाया जाता है। एक राज्य के राजनीतिक उपखण्डों के बीच सम्भवत घरेलू विवादों की स्थिति में भी ये लागू किया जाने लगा है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि भूमि के कटाव अथवा अभिवृद्धि के द्वारा यदि थालवेग क्रमशः परिवर्तित हो जाए तो सीमान्त रेखा भी मुख्य धारा के साथ-साथ बदल जाएगी। यदि यह परिवर्तन क्रमश न होकर अचानक और व्यापक रूप से हुआ हो तो सीमान्त रेखा अपनी पूर्व स्थिति से अपरिवर्तित रहेगी।

3 सेतु सीमा के मध्य का सिद्धान्त (Principle of Middle of a Bridge-boundary)—थालवेग सिद्धान्त ने यद्यपि मुख्य धारा के सम्बन्ध में परिवर्तन किया है किन्तु इसके परिणामस्वरूप सेतुओं के सम्बन्ध में कोई परिवर्तन नहीं आया। अभी भी पुल की मध्य रेखा को दो राज्यों के बीच की सीमान्त रेखा माना जाता है। नदी नौ-चालन योग्य मुख्य धारा का स्थान कहीं भी हो सकता है। इस सिद्धान्त के पीछे मूल विचार यह रहा है कि एक पुल को बनाने में जो लागत आई है वह सम्बन्धित राज्यों के बीच बराबर बाँट दी जाए।

राज्य के प्रदेश के विभिन्न भाग
(The Different Parts of State Territory)

राज्य के प्रदेश का अर्थ अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए इसमें आने वाली विभिन्न इकाइयों की जानकारी आवश्यक है। प्रदेश के विभिन्न भागों का अध्ययन हमें प्रदेश प्राप्ति के तरीके और दूसरे विषयों के अध्ययन में भी सहायक प्रतीत होगा। मोटा वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

(अ) प्रदेश के वास्तविक भाग (Real Parts of Territory)—प्रदेश के वास्तविक भागों में भूमि और जल का नाम उल्लेखनीय है। सीमा में तटवर्ती राज्य

की भूमि की सीमाओं से संलग्न जल को भी लिया जा सकता है। सीमावर्ती जल दो प्रकार का होता है—राष्ट्रीय और प्रादेशिक।

राष्ट्रीय जल में एक राज्य के प्रदेश की झीलें, उसकी नहरें, नदियाँ तथा उनके मुहाने, बन्दरगाह, खाड़ियाँ, दर्रे आदि आते हैं। राष्ट्रीय जल भौतिक रूप से नहीं तो कम से कम कानूनी रूप से तो भूमि के समतुल्य होता है।

प्रादेशिक जल में उस जल को शामिल किया जाता है जो एक विशेष क्षेत्र अथवा पट्टी में रहता है। इसे समुद्री या सीमान्त पट्टी कहा जाता है। इसमें राज्य की खाड़ियों और दर्रों के जल का भी कुछ भाग रहता है।

राष्ट्रीय और प्रादेशिक जल के मध्य स्थित अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से महत्व रखता है। प्रो. ओपेनहेम ने दोनों के बीच कई अन्तरों का उल्लेख किया है। प्रादेशिक जल में अन्य राज्य भी अपने जहाजों के निकालने का दावा कर सकते हैं, जबकि राष्ट्रीय जल में इस प्रकार का दावा नहीं किया जा सकता। अनेक देशों में राष्ट्रीय कानून दोनों से सम्बन्धित क्षेत्राधिकार में अन्तर करते हैं।

(ब) प्रदेश के कल्पनात्मक भाग (Fictional Parts of Territory)—राज्य के प्रदेश के उक्त वास्तविक भागों के अतिरिक्त कुछ अन्य चीजें भी राज्य के प्रादेशिक भाग मानी जाती हैं। वे कल्पनात्मक दृष्टि से ही राज्य के भाग हैं। उदाहरण के लिए, महासमुद्रों तथा विदेशी प्राकृतिक समुद्रों में युद्धपोत अथवा दूसरे सार्वजनिक जलपोत अपने राज्य के तैरते हुए भाग माने जाते हैं। महासमुद्रों में व्यापारियों के जहाज भी कुछ दृष्टियों से ध्वजा वाले राज्य के तैरते हुए भाग माने जाते हैं। विदेशों में स्थित एक राज्य के दूतावास उसके प्रदेश के भाग हैं।

(स) प्रादेशिक अवभूमि (Territorial Subsoil)—प्रादेशिक भूमि के नीचे स्थित अवभूमि और जल को तार, टेलीफोन जैसे कार्यों के लिए महत्वपूर्ण माना जाता है। बड़ी-बड़ी खानें राज्य की अवभूमि में स्थित होती हैं। यह प्रदेश का कोई विशेष भाग नहीं होता फिर भी अनेक बार इस पर जोर दिया जाता है। राष्ट्रों के कानून का यह एक सार्वभौम रूप से मान्य नियम है कि असीमित गहराई तक अवभूमि उसी राज्य की होती है जो सतह के प्रदेश का स्वामित्व करता है।

(द) भू-भागीय वायुमण्डल (Territorial Atmosphere)—अवभूमि की भाँति भू-भागीय वायुमण्डल भी प्रदेश का एक विशेष भाग नहीं होता, किन्तु इसका महत्व आजकल अधिक बढ़ गया है। तार, टेलीफोन और विद्युत संचार के साथ-साथ वायुमार्ग से की जाने वाली यात्रा ने इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण बना दिया है।

राज्य के प्रदेश के उक्त भाग अन्य-संक्राम्य नहीं होते केवल भूमि और उससे सम्बन्धित प्रादेशिक जल ही इस प्रकार का विशेष गुण रखते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न प्रकार के प्रदेशों पर कुछ विस्तार से विचार किया जाना अधिक उपयुक्त होगा।

1 नदियाँ (Rivers)

भौगोलिक सुविधा की दृष्टि से तथा राजनीति के लिए अपने महत्त्व की दृष्टि से नदियाँ राज्यों की सीमा रेखाएँ मान ली जाती हैं। सीमावर्ती नदी की विभाजक रेखा का निर्धारण ग्रोशियसवादी और थालवेग दोनो सिद्धान्तो के आधार पर किया जा सकता है। विभिन्न राज्य परस्पर सीमा सम्बन्धी सन्धियो मे स्पष्ट रूप से यह निर्धारित करते हैं कि नदियो की विभाजक रेखा किस आधार पर निश्चित करेंगे। सिद्धान्त और व्यवहार मे सामान्य रूप से यह नियम स्वीकार किया जाता है कि नदियाँ तटवर्ती राज्यो का प्रदेश होती हैं। यदि एक नदी अपने स्रोत से लेकर मुहाने तक एक ही राज्य की सीमा म आती है तो उस पर उसी राज्य का पूरा अधिकार होता है। इन नदियो को राष्ट्रीय नदियाँ कहा जाता है।

कुछ नदियाँ राष्ट्रीय होती हैं, किन्तु अधिकांश नदियाँ एक से अधिक राज्यों के प्रदेशों मे होकर बहती हैं। दूसर प्रकार की नदियाँ वे होती हैं जो सीमावर्ती नदियाँ कहलाती है तथा दो राज्यो को विभाजित करते हुए बहती हैं तीसरे, कुछ नदियाँ कई राज्यो मे होकर बहती हैं और इसलिए उनको गैर-राष्ट्रीय नदियाँ कहा जाता है। इन नदियो पर एक से अधिक राज्यों का स्वामित्व रहता है। सीमावर्ती नदियाँ उन राज्यो की होती हैं जिनको वे विभाजित करती हैं। विभाजन की मध्य रेखा नदी अथवा नदी की मुख्य धारा के बीच मे होकर गुजरती है। जब एक नदी कई राज्यो मे होकर बहती है तो प्रत्येक राज्य उसके अपने प्रदेश मे स्थित भाग पर नियन्त्रण रखता है। चौथी प्रकार की नदियाँ वे होती हैं जो खुले समुद्र से नौ-चालन योग्य होती हैं। वे अपने स्रोत से लेकर मुहाने तक कई राज्यो को विभाजित करती हैं। ये नदियाँ भी सम्बन्धित राज्य के प्रदेश होती हैं, किन्तु इन्हे अन्तर्राष्ट्रीय नदियाँ कहा जाता है। परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार शान्तिकाल मे इन नदियो पर सभी राज्यो को नौ-चालन का स्वतन्त्र अधिकार होता है। भारतवर्ष मे व्यास, रावी, झेलम, सतलज, चिनाव इन नदियो के उदाहरण हैं। ये नदियाँ हिमालय की पर्वत श्रेणियो से निकलती हैं और कुछ दूर तक भारतीय प्रदेश मे रहकर पाकिस्तान चली जाती हैं। योरोप मे राइन, डेन्यूब आदि विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय नदियाँ हैं।

प्रत्येक राज्य अपने प्रदेश मे से गुजरने वाली नदी के भाग पर पूरा अधिकार रखता है। दूसरे राज्यों को उस पर नौ-चालन का कितना अधिकार होगा यह प्रश्न प्रारम्भ से ही विवाद का विषय रहा है। कुछ विचारक सभी राज्यो को समान अधिकार सौंपने का पक्ष लेते हैं। दूसरो के अनुसार केवल नदी तटवर्ती राज्यो को ही नौ-चालन का अधिकार दिया जा सकता है। ग्रोशियस प्रथम मत का समर्थक था। व्यावहारिक रूप मे यह मत मान्य नहीं है। प्रो ओपेनहेम ने लिखा है, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून का ऐसा कोई नियम नहीं है जो विदेशी राज्यो को राष्ट्रीय नदियो पर सरकारी या निजी जलपोत गुजरने का अवसर देता हो।" व्यापारिक या दूसरी सन्धियो द्वारा यदि राज्य ने यह अधिकार नहीं सौंपा है तो वह किसी भी विदेशी जहाज को अपनी

राष्ट्रीय नदी से बाहर रख सकता है अथवा कुछ शर्तों पर उन्हें प्रवेश दे सकता है। ब्लशली के मतानुसार, खुले समुद्र से नौ-चालन योग्य नदियाँ शान्ति के समय सभी राष्ट्रों के जहाजों के लिए खुली रहनी चाहिए। यह मान्यता अन्तर्राष्ट्रीय विधि के भावी भाग का निर्देश बन सकती हैं। जो सीमावर्ती नदियाँ राष्ट्रीय नहीं हैं और कुछ राज्यों में होकर बहती हैं उन पर नौ-चालन को नदी तटवर्ती राज्य नियमित कर सकते हैं। वे गैर-नदी तटवर्ती राज्यों के जहाजों को आने से रोक सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय नदियों पर नौ-चालन—विभिन्न सन्धियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नदियों पर नौ-चालन के अधिकार की व्यवस्था की गई है। 19वीं शताब्दी में इन पर स्वतन्त्र नौ-चालन के अधिकार को मान्यता दी गई। वियना काँग्रेस (1815) के अनुसार योरोप की अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में सभी राज्यों के व्यापारियों का स्वतन्त्र नौ-चालन का अधिकार माना गया। सन् 1919 की सन्धियों में इसकी पुन पुष्टि की गई। द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने तक योरोप की प्राय सभी बड़ी नदियों के सम्बन्ध में सब राज्यों को स्वतन्त्र नौ-चालन की सुविधा प्राप्त हो गई।

सन् 1856 की पेरिस शान्ति सन्धि के अनुसार डेन्यूब (Danube) नदी और उसके मुहाने पर स्वतन्त्र नौ-चालन का अधिकार माना गया। योरोपीय डेन्यूब आयोग की स्थापना की गई ताकि नौ-चालन का नियमन किया जा सके। डेन्यूब नदी 1725 मील लम्बी है। यह जर्मनी से निकलती है और ऑस्ट्रिया हंगरी होते हुई युगोस्लाविया में प्रवेश करती है, किन्तु इससे पूर्व रूमानिया और बलगारिया की सीमा निर्धारित करती है। योरोपीय डेन्यूब आयोग में नदी तटवर्ती और गैर-नदी तटवर्ती दोनों प्रकार के सदस्य रखे गए। वर्साय की सन्धि द्वारा डेन्यूब नदी को अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया गया। सन् 1921 के एक समझौते में डेन्यूब के ऊपरी तथा निचले भू-भागों में नौ-चालन की व्यवस्था के लिए दो आयोग बनाए गए। सन् 1947 में पेरिस की शान्ति परिषद् ने डेन्यूब नदी पर सभी देशों की नौ-चालन की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया। सन् 1948 के बेलग्रेड सम्मेलन में व्यवस्था की गई कि नदी तटवर्ती और अ-नदी तटवर्ती राज्यों के साथ व्यवहार में अन्तर किया जा सकता है।

प्रथम महायुद्ध के बाद की गई शान्ति सन्धियों ने अन्य योरोपीय नदियों को भी अन्तर्राष्ट्रीय घोषित किया। विभिन्न नदियों के कुछ भागों को नौ-चालन की दृष्टि से स्वतन्त्र बनाया गया। बार्सिलोना में 40 राज्यों के प्रतिनिधि मिले (1921)। इस सम्मेलन में एक अभिसमय स्वीकार किया गया इसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में नौ-चालन की स्वतन्त्रता दी गई और विभिन्न राज्यों में होकर माल ढोने की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध म विचार किया गया। 22 जुलाई, 1956 को बैंकाक अभिसमय स्वीकार किया गया। इसने एशिया की नदियों के नौ-चालन में सुविधाएँ प्रदान की गई।

उक्त सभी प्रयासों के बाद भी तथ्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में से गुजरने का कोई सामान्य नियम नहीं है। दो बातों के सम्बन्ध में विश्व जनमत की सहमति प्रतीत होती है—(अ) नदी तटवर्ती राज्य नौ-चालन के बारे में मनमाने

और अधिक चुंगी लगाने वाले कानून न बनाएँ, तथा—(ब) अ-नदी तटवर्ती राज्यों के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाए।

नदियों के प्रवाह का उपयोग—नौ चालन की भाँति नदियों के प्रवाह का उपयोग भी महत्त्व रखता है। राष्ट्रीय नदियों के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है क्योंकि उन पर स्थानीय राज्यों को पूरा-पूरा अधिकार रहता है। गैर-राष्ट्रीय, सीमावर्ती और अन्तर्राष्ट्रीय नदियों पर तटवर्ती राज्यों को स्वेच्छापूर्ण अधिकार नहीं रहता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह नियम है कि कोई भी राज्य अपने प्रदेश की प्राकृतिक परिस्थितियों को इस प्रकार नहीं बदल सकता कि पड़ोसी राज्य के प्रदेश की प्राकृतिक स्थिति को हानि पहुँचे, यह नियम नदियों के प्रवाह पर भी लागू होता है। इसके अनुसार नदी के तटवर्ती राज्य को नदी के जल का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए ताकि दूसरे राज्यों के नौ-चालन को हानि न पहुँचे। कोई राज्य नदी के अपने प्रदेश के प्रवाह को इस प्रकार बदल या मोड नहीं सकता कि पड़ोसी राज्य को इससे कोई हानि हो।

9 दिसम्बर, 1923 को जल विद्युत के विकास के सम्बन्ध मे एक अभिसमय पर 16 राज्यों ने हस्ताक्षर किए। इस सम्बन्ध मे उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय विवादों ने स्थिति को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। सन् 1937 मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने समान बँटवारे का सिद्धान्त लागू किया। भारत और पाकिस्तान के बीच नहरी पानी विवाद इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। पाकिस्तान का कहना था कि भारत ने सतलज पर भाखड़ा-नांगल जैसे बाँध बनाकर पाकिस्तान की बाढ नियन्त्रण, सिंचाई और जल विद्युत के विकास की योजनाओं को बाधा पहुँचाई है। पुनर्निर्माण और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने सुझाव दिया कि दोनों देशों मे नदियों का बँटवारा कर दिया जाए अर्थात् सिन्ध, झेलम और चिनाब का जल पाकिस्तान को और रावी, व्यास तथा सतलज का पानी भारत को मिले। इस कार्य मे पाकिस्तान को जो व्यय करना पड़ेगा उसका एक बडा भाग वह भारत से लेने का इच्छुक है। 19 सितम्बर, 1960 को दोनों देशो ने सिन्धु जल सन्धि पर हस्ताक्षर किए और 12 फरवरी, 1961 से इसे लागू किया। 29 सितम्बर, 1977 को भारत ने बंगला देश के साथ गंगा जल के बारे में फरक्का समझौता किया। इस समझौते में भारत और बंगला देश दोनों को आवश्यकतानुसार फरक्का बाँध से पानी देने के लिए आवश्यक व्यवस्था की गई है और गंगा की जलराशि बढ़ाने के लिए संयुक्त नदी आयोग बनाया गया है।

2 झीलों और भूमि से घिरे समुद्र
(Lakes and Land-Locked Seas)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्त और व्यवहार मे यह माना जाता है कि झीलें और एक ही राज्य से घिरे समुद्र सम्बन्धित राज्य के प्रदेश के भाग हैं। जो झीलें अथवा भूमि से घिरे समुद्र कुछ राज्यों के प्रदेश से लगे हुए हैं उनके सम्बन्ध मे कोई एकरूपता नहीं मिलती। कुछ विचारक इन्हें महासमुद्रों की भाँति सभी राज्यों के लिए खुला मानते हैं जबकि अन्य वे अनुसार ये सम्बन्धित राज्य के भाग हैं।

उदाहरण के लिए जेनेवा झील स्विट्जरलैण्ड और फ्रांस से सम्बन्धित है। इसी प्रकार कान्सटेंस झील जर्मनी, ऑस्ट्रिया और स्विट्जरलैण्ड से घिरी हुई है। इसी प्रकार की झीलों को अन्तर्राष्ट्रीय कहा जा सकता है। इसलिए इन पर अन्तर्राष्ट्रीय नदियों के सिद्धान्तों को लागू किया जाना चाहिए। कांगो जिले की झीलें स्वतन्त्र नौ-चालनों के लिए खुली हुई हैं। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में इस सिद्धान्त को मान्यता दी जाएगी और सभी अन्तर्राष्ट्रीय झीलों को सभी व्यापारिक जहाजों के लिए खोल दिया जाएगा।

काला सागर को भूमि से घिरे समुद्र का उदाहरण माना जा सकता है। यह निःसन्देह तुर्किश प्रदेश का भाग था। इसलिए यह भी राष्ट्रों के व्यापारियों के लिए खुला नहीं था। बाद में यह रूमानिया, बल्गारिया और रूस के प्रदेश से सम्बद्ध हो गया। इसलिए इसे खुले समुद्र का भाग बना दिया गया और यह एक राज्य की सम्पत्ति नहीं रहा।

3 नहरें (Canals)

नहरें कृत्रिम रूप से निर्मित जल मार्ग होते हैं और इसलिए ये सम्बन्धित राज्य के प्रदेश का भाग होते हैं। इन पर नदियों से सम्बन्धित सभी नियम लागू होने चाहिए। जो नहरें अन्तर्सागरी होती है उनको कभी-कभी तटस्थ या अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया जाता है; अर्थात् इन जल मार्गों में कोई संघर्ष नहीं छेड़ा जाता। स्वेज नहर, दादनेलीज, बोसफोरस कील नहर, पनामा नहर आदि इस प्रकार की नहरों के उदाहरण हैं जिनका समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया गया है। एक राज्य के प्रदेश में रहने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय यातायात की दृष्टि से महत्त्व रखने वाली नहर अन्तर्राष्ट्रीय बन जाती हैं। ये नहरें प्राय. विभिन्न महासमुद्रों को जोड़ती हैं और अनेक राज्य इनका लाभ उठाते है। इनमे तीन उल्लेखनीय हैं—

(क) स्वेज नहर (Suez Canal)—यह लाल सागर को भू-मध्य सागर से जोड़ती है। एक फ्रांसीसी कम्पनी ने इस नहर की रचना की थी। 29 अक्तूबर, 1888 को कुस्तुनतुनिया अभिसमय द्वारा ग्रेट-ब्रिटेन, ऑस्ट्रिया, हंगरी, स्पेन, फ्रांस, जर्मनी, हालैण्ड, इटली और टर्की ने इस नहर के सम्बन्ध में एक सन्धि स्वीकार की। सन्धि की महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाएँ ये थीं—(1) नहर शान्तिकाल और युद्धकाल में सभी राज्यों के व्यापारियों एवं युद्ध-कर्त्ताओं के लिए खुली रहेगी। इसके स्वतन्त्र प्रयोग को प्रतिबन्धित करने का कोई प्रयास नहीं किया जाएगा, (2) नहर के अन्दर या इसके बन्दरगाह से तीन मील की दूरी तक कोई शत्रुतापूर्ण कार्य नहीं किया जा सकता। युद्धकारी देशों के जंगी जहाज नहर क्षेत्र से तुरन्त निकल जाएँगे। वे 24 घण्टे से अधिक नहीं रुक सकते। नहर या इसके बन्दरगाहों में युद्ध सामग्री को उतारा अथवा लादा नहीं जा सकता, (3) नहर के अन्तर्गत कोई जंगी जहाज नहीं रोका जा सकता। पोर्ट सैयद और स्वेज बन्दरगाहों पर दो जंगी जहाजों को रोका जा सकता है। युद्धकारी राज्यों को इन बन्दरगाहों में भी कोई जंगी जहाज नहीं रखने दिया जाएगा। नहर में कोई स्थायी किलेबन्दी नहीं की जा सकती, और (4) हस्ताक्षरकर्त्ता

देशों को यह दायित्व सौंपा गया कि सन्धि की सूचना अन्य राज्यों को दें और उन्हें स्वीकृति के लिए आमन्त्रित करें।

18 दिसम्बर, 1914 को ग्रेट-ब्रिटेन ने मिस्र को अपने संरक्षण में ले लिया। 28 फरवरी, 1922 को मिस्र की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी गई किन्तु स्वेज नहर के सुरक्षा विषयक अधिकारों को ब्रिटेन ने अपने पास सुरक्षित रखा। 26 अगस्त, 1936 को मिस्र और ग्रेट-ब्रिटेन के बीच हुई सन्धि में स्वेज नहर को मिस्र का अभिन्न भाग माना गया। यह ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों के बीच संचार का मुख्य साधन थी। इसलिए स्वेज नहर की रक्षा हेतु मिस्र की सेनाओं के साथ-साथ ब्रिटिश सेनाओं ने भी योगदान किया। ब्रिटिश सेनाएँ यहाँ उस समय तक रह सकती थीं जब तक मिस्र की सेनाएँ स्वयं रक्षा करने में समर्थ न हों। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद ब्रिटिश सेनाएँ हटाने की माँग की गई। 27 जुलाई, 1954 को काहिरा समझौते में ग्रेट ब्रिटेन ने 20 महीने के अन्तर्गत सेनाएँ हटाना स्वीकार किया।

राष्ट्रपति नासिर ने जुलाई, 1956 में स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी। ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस ने इजराइल के साथ मिलकर अक्टूबर,1956 में स्वेज पर आक्रमण कर दिया। बाद में आक्रान्ताओं को अपनी सेनाएँ हटानी पड़ीं। मिस्र की सरकार ने 24 अप्रेल, 1957 को अपनी घोषणा में स्वेज नहर को सन् 1888 के समझौते के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का मान लिया और इसमें नौ-चालन की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार किया। मिस्री सरकार ने सन् 1888 के समझौते के दायित्वों का पालन स्वीकार करते हुए स्पष्ट कर दिया कि नहर के प्रशासन के सम्बन्ध में होने वाली शिकायतों को निर्णय के लिए पंचायती कमेटी को देना तथा उसका निर्णय मानना दोनों ही पक्षों के लिए आवश्यक हो। सन् 1888 की सन्धि-कर्त्ता राज्यों में सन्धि की धाराओं की व्याख्या के सम्बन्ध में कानूनी प्रश्नों पर मतभेद होने की सूरत में मिस्र ने इसमें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का अनिवार्य क्षेत्राधिकार स्वीकार कर लिया। यद्यपि मिस्र स्वेज नहर को सब देशों के लिए खुला रखता है तथापि फिलीस्तीन के प्रश्न पर शत्रुता रखने वाले इजराइल के लिए माल ले जाने वाले जहाजों को इस नहर से नहीं गुजरने देता है। जब डेनमार्क का एक जहाज 'इगटापट' स्वेज नहर से होकर इजराइल माल ले जा रहा था तो मिस्री अधिकारियों ने जहाज को लगभग आठ महीने तक पोर्ट सईद में रोके रखा और अन्त में 5 फरवरी, 1960 को इस जहाज को तभी मुक्त किया जब सारा माल बन्दरगाह में उतार लिया गया।

(ख) कील नहर (Kiel Canal)—यह बाल्टिक सागर को उत्तरी सागर से जोड़ती है। इसे जर्मनी द्वारा रणनीति की दृष्टि से बनाया गया था। यह पूर्णतः जर्मन प्रदेश में बहती है। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व इस नहर पर नौ-चालन की स्वतन्त्रता होते हुए भी जर्मनी द्वारा उन्हें नियन्त्रित किया जाता था। वह किसी भी देश के लिए किसी भी समय इसे बन्द कर सकता था। वर्साय की सन्धि की धारा 380-386 द्वारा व्यवस्था की गई कि कील नहर जर्मनी के साथ लड़ाई न रखने

वाले सभी राज्यो के व्यापारिक तथा युद्धपोतो के लिए समान शर्तों पर खुली रहेगी। सन् 1923 मे Wimbledon के मामले मे स्थायी न्यायालय ने कील नहर के स्तर पर विचार किया। न्यायालय का निर्णय था कि कील नहर उन सभी राज्यो के लिए खुली हुई है जो जर्मनी के साथ शान्ति रखते हैं, चाहे वे दूसरे राज्यो से युद्धरत हों। जर्मनी ने 14 नवम्बर, 1936 को वर्साय की सन्धि की ये धाराएं अस्वीकार कर दीं। सन्धिकर्ता राज्यो ने इसका स्पष्ट रूप से विरोध नहीं किया। 16 जनवरी, 1937 को एक घोषणा के अनुसार जर्मनी ने यह आवश्यक बना दिया कि प्रत्येक राज्य के जहाज नहर मे प्रवेश से पूर्व जर्मनी की अनुमति लें।

(ग) पनामा नहर (Panama Canal)—यह नहर पनामा राज्य मे होती हुई अन्ध महासागर को प्रशान्त महासागर से जोडती है। सन् 1901, 1903 और 1906 मे की गई सन्धियों के अनुसार इस नहर मे यातायात के नियमों की व्यवस्था होती है। 18 नवम्बर, 1901 के अनुसार यह नहर सभी राष्ट्रो के व्यापारिक और युद्धपोतो के लिए समान रूप से खुली रहेगी। इसका कभी परिवेष्टन नहीं किया जा सकता। इसके अन्तर्गत न कोई युद्ध किया जाएगा और न शत्रुता की कोई कार्यवाही। नहर की अव्यवस्था और अराजकता के विरुद्ध रक्षा करने के लिए संयुक्तराज्य अमेरिका सैनिक पुलिस रख सकता है। प्रथम विश्व-युद्ध मे संयुक्तराज्य अमेरिका ने युद्धकारी देशो के रणपोतो को गुजरने पर प्रतिबन्ध लगाया किन्तु सभी देशों के व्यापारिक जहाजो को गुजरने दिया गया। संयुक्तराज्य अमेरिका को पनामा नहर क्षेत्र मे स्थायी रूप से सेना और नियन्त्रण रखने का अधिकार है। पनामा राज्य की प्रभुसत्ता केवल कानूनी और नाम मात्र की ही है, वास्तविक तथ्यानुसार (De Facto) सत्ता वाशिंगटन के पास है। 25 जनवरी, 1955 को संयुक्तराज्य अमेरिका और पनामा के बीच जो पारस्परिक सहयोग की सन्धि हुई उससे भी यही ध्वनि निकलती है।

किन्तु 7 सितम्बर 1977 को पनामा और संयुक्तराज्य अमेरिका ने दो अन्य सन्धियो पर हस्ताक्षर किए जिनमे से एक सन्धि द्वारा पनामा नहर की स्थाई तटस्थता की घोषणा की गयी और दूसरी सन्धि मे 31 दिसम्बर, 1999 तक पनामा नहर तथा पनामा नहर क्षेत्र की रक्षा के सम्बन्ध मे प्रावधान किया गया। यह व्यवस्था की गयी कि 31 दिसम्बर 1999 के बाद इस नहर पर पनामा राज्य का नियन्त्रण स्थापित हो जाएगा, पनामा की प्रभुसत्ता कायम हो जाएगी। सितम्बर 1979 मे की गयी अन्य सन्धि द्वारा संयुक्तराज्य अमेरिका ने नहर के लगभग 15 किलोमीटर के क्षेत्र को पनामा राज्य को सौंप दिया है।

4 खाडियाँ और आखात (Bays and Gulfs)

खाडियो और आखातों के कारण एक राज्य की सीमा का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन बन जाता है। मेराइन लीग के नियमानुसार खाडियों एवं आखातों का समुद्र से प्रवेश द्वार 6 मील से अधिक चौडा नहीं है वे आन्तरिक अथवा क्षेत्रीय हैं। यदि यह आर-पार 6 मील से अधिक है तो दोनों ओर के तीन-तीन मील भाग

क्षेत्रीय अधिकारी की सम्पत्ति होते हैं और बीच का जल मार्ग किसी राज्य की सम्पत्ति न होकर सभी के समान उपयोग के लिए होता है। व्यवहार में यह नियम अधिक दृढ नहीं है। कुछ आखात अधिक चौड़े होते हुए भी क्षेत्रीय जल का भाग माने जाते हैं। प्रो ओपेनहेम लिखते हैं—'वे आखात और खाड़ियाँ जो एक ही राज्य की भूमि पर होते हैं और जिनका समुद्र से प्रवेश 6 मील से अधिक चौड़ा नहीं होता वे निश्चय ही प्रादेशिक होते हैं।"

पहले ग्रेट-ब्रिटेन में यह परम्परा थी कि 6 मील की चौड़ाई तक खाड़ियों को आन्तरिक जल माना जाता था। दूसरे देशों में 6 मील के स्थान पर 10 मील की चौड़ाई मानी गई। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने 'Anglo-Norwegian Fisheries' के *विवाद (1951) में यह मानने से अस्वीकार कर दिया कि अधिकांश राज्यों द्वारा* जो 10 मील की सीमा मानी जाती है वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई सामान्य नियम बन गई है। इस निर्णय के आधार पर कुछ नियम बनाए गए हैं; जैसे—(क) यदि किसी खाड़ी अथवा आखात के जल को एक राज्य अपना आन्तरिक जल मानता है और दूसरे राज्य भी इसका समर्थन करते रहे हैं तो शेष राज्यों द्वारा भी इसे स्वीकार कर लेना चाहिए, (ख) प्रथा के प्रभाव में तटवर्ती राज्य यह अधिकार रखता है कि आर्थिक आवश्यकता या खाड़ी के साथ अपने पुराने सम्बन्ध के आधार पर खाड़ी के जल को प्रादेशिक समुद्र बना ले, (ग) खाड़ी के उतने भाग को आन्तरिक या प्रादेशिक समझा जाए जिसका मुहाना 15 मील से अधिक चौड़ा नहीं है। सन् 1960 में जब समुद्री कानून सम्मेलन हुआ तो यह सीमा 24 मील कर दी गई।

अनेक खाड़ियों और आखातों के सम्बन्ध में यह भ्रम बना रहता है कि वे प्रादेशिक हैं अथवा नहीं हैं। यूरोप में प्रादेशिक खाड़ियों में मुख्य हैं—जुईडर जी (डच), स्टेटिंग की खाड़ी (जर्मन), जेड खाड़ी (उत्तरी सागर) आदि।

प्रादेशिक *खाड़ियाँ और आखात वे कहलाते हैं जो एक राज्य के प्रदेश से घिरे* रहते हैं और जिनका मुहाना इतना चौड़ा होता है कि उसे समुद्रतटीय नहीं माना जा सकता। दूसरी ओर एक से ज्यादा राज्यों की भूमि से घिरे हुए आखात और खाड़ियाँ चाहे उनका प्रवेश द्वार कितना ही सकीर्ण हो, गैर-प्रादेशिक कहलाते हैं। वे खुले समुद्र के भाग हैं। खाड़ियों और आखातों के अन्दर सीमान्त पट्टी को इसका अपवाद माना जा सकता है। गैर-राष्ट्रीय खाड़ियाँ और आखात शान्ति और युद्ध के समय सभी राज्यों के जलपोतों के लिए खुले रहते हैं। जंगी जहाज एवं मछलीगाहों को इनमें प्रादेशिक नियमों के पालन के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

प्रादेशिक खाड़ियों और आखातों में नौ-चालन मछलीगाह और क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि वे नियम लागू होंगे जो प्रादेशिक समुद्री पट्टी के सम्बन्ध में लागू होते हैं। इन पर मछली पकड़ने का अधिकार तो केवल प्रादेशिक राज्य का रहेगा, नौ-चालन के लिए ये सभी राज्यों के लिए खुले रहेंगे। विदेशी जंगी ...ने उस समय तक इनमें प्रविष्ट नहीं किया जाएगा जब तक इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय यातायात का मार्ग न मान लिया जाए।

5. जलडमरूमध्य (Straits)

जो जलडमरूमध्य 6 मील से अधिक चौड़े नहीं होते वे प्रादेशिक होते हैं और उन पर राज्य का पूर्ण क्षेत्राधिकार रहता है। कहीं-कहीं पर रिवाज ने 6 मील से अधिक चौड़ाई वाले जलडमरूमध्यों को भी प्रादेशिक सीमा में शामिल किया है। डेनमार्क की बडी पट्टी औसतन् 10 मील चौडी होने पर भी उसके प्रदेश का भाग है। जब जलडमरूमध्य द्वारा एक ही राज्य की भूमि को विभाजित किया जाता है तो वह इस राज्य के प्रदेश की सम्पत्ति बन जाता है।

दूसरी ओर जिन जलडमरूमध्यो द्वारा दो राज्यो के प्रदेशो को विभाजित किया जाता है वे दोनों राज्यों के प्रदेश का भाग होते हैं। यदि इस सम्बन्ध मे कोई सन्देह होता है तो मध्य रेखा द्वारा उन्हें विभाजित कर दिया जाता है। 10 मील से अधिक चौडे जलडमरूमध्य को मि हॉल (Hall) तथा हरशे (Hershey) ने प्रादेशिक माना है किन्तु वेस्टलेक तथा टेलर आदि—इसे ऐसा नही मानते। अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री मार्ग बनाने वाले जलडमरूमध्यो मे होकर गुजरने का अधिकार विदेशो के व्यापारी तथा लडाकू दोनों प्रकार के जहाजों को होता है। यदि कोई जलडमरूमध्य खुले समुद्र को प्रादेशिक खाडी या भूमि से घिरे समुद्र से मिलाता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय मार्ग नही है। जुआन-डि-फूका प्रशान्त महासागर को प्यूजेट खाडी से मिलाता है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय नही है। इस जलडमरूमध्य की औसतन चौडाई 15 मील है। सयुक्तराज्य अमेरिका और कनाडा दोनो ही इस पर अपनी प्रादेशिक सम्प्रभुता का दावा करते हैं। मैगलान (Magellan) के जलडमरूमध्य पर चिली अपने प्रादेशिक अधिकार का दावा करता है।

समुद्री पट्टी के अन्तर्गत नौ-चालन, मछलीगाह और क्षेत्राधिकार के जो नियम लागू होते हैं वे सभी जलडमरूमध्यो के सम्बन्ध मे भी सत्य हैं, अतः विदेशी व्यापारियों को बाहर नहीं निकाला जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के महामार्ग होने के कारण इनमे विदेशी युद्धपोत प्रवेश कर सकते हैं। कोर्फ्यू चैनल विवाद मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने बताया कि जलडमरूमध्य महासमुद्रों के दो भागों के बीच वैकल्पिक मार्ग होते हुए भी उपयोगी होते हैं; अत शान्तिकाल मे तटवर्ती राज्य विदेशी जहाजो के आवागमन को नही रोक सकता। यदि कोई सकीर्ण जलडमरूमध्य दो राज्यो के प्रदेश को विभाजित करता है तो इन पर दोनों राज्यो का क्षेत्राधिकार एव मछली पकडने का अधिकार रहेगा।

कुछ जलडमरूमध्यो के सम्बन्ध मे विशेष नियम और सन्धियाँ होती हैं; उदाहरण के लिए भू-मध्य सागर को कृष्ण सागर से जोडने वाले बास्फोरस और डार्डनेल्स ऐसे ही जलडमरूमध्य हैं। इन पर पहले टर्की का अधिकार था। सन् 1841 के समझौते के अनुसार कोई विदेशी रणपोत इनमे नहीं आ सकता था। 18वीं शताब्दी में रूस भी कृष्ण सागर का तटवर्ती राज्य बन गया तो ये जलडमरूमध्य टर्की के प्रादेशिक भाग नहीं रह गए। कुछ सन्धियो द्वारा टर्की ने इनमे विदेशी व्यापारियों को नौ-चालन की स्वतन्त्रता दी फिर भी युद्धपोतों को इसमे अलग बनाए

रखा गया। प्रथम महायुद्ध में मित्र राज्यों ने इन्हे जीत लिया और वे सैन्यीकरण करके सभी राज्यों के जहाजों के लिए खोल दिया। सन् 1923 की लौसाने की सन्धि में टर्की पर प्रतिबन्ध लगाए गए किन्तु दूसरे राज्यों को अधिक अधिकार सौंपे गए। जलडमरूमध्यों पर निरीक्षण के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग द्वारा पर्यवेक्षण रखने की व्यवस्था की गई। 20 जुलाई, 1936 को मोन्ट्रू अभिसमय द्वारा टर्की को पुन किलेबन्दी और सैनिक देख-रेख करने का अधिकार दे दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय आयोग समाप्त करके कुछ शर्तों के साथ टर्की की पूर्ण प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली गई। युद्धपोतों के प्रवेश के लिए शान्तिकाल और युद्धकाल मे अलग अलग व्यवस्थाएँ की गई।

6 प्रादेशिक समुद्र (Territorial Sea)

समुद्री सीमा वाले राज्यों के बारे मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का इस प्रकार का नियम है कि समुद्र मे कुछ मील की दूरी तक का प्रदेश राज्य की सीमा के अन्तर्गत माना जाय। इस जलीय सीमा तक उस राज्य की प्रादेशिक प्रभुसत्ता (Territorial Sovereignty) होती है और यह जलीय प्रदेश ही प्रादेशिक समुद्र (Territorial Sea), क्षेत्रीय समुद्र अथवा समुद्री मेखला (Marine Belt) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रादेशिक समुद्र की सीमा के निर्धारण का माप दण्ड समय-समय पर बदलता रहा है। बिंकर शौक (Byanker Shock) के मतानुसार, तटवर्ती, राज्य की सत्ता समुद्र में उतनी ही दूर तक रहेगी जहाँ तक तोप के गोले की मार हो सके। विचारको ने प्रारम्भ मे प्रादेशिक समुद्र की सीमा तीन मील उपयुक्त मानी। इस सीमा का आधार तोप के गोले की मार नहीं हो सकता था क्योंकि उन दिनों की तोपें तीन मील तक गोले की मार नहीं कर सकती थीं। सन् 1966 तक भारत तीन मील का प्रादेशिक समुद्र स्वीकार करता था किन्तु सन् *1967* में भारत ने अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा बारह मील तक बढ़ने की घोषणा कर दी। अब प्रादेशिक समुद्र की सीमा बारह मील तक (Twelve Mile Territorial Sea) मानने का सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य हो चला है। इस सीमा में निर्दोष यात्रा का अधिकार भी लगभग सभी देश स्वीकार करते हैं, लेकिन इस सीमा में जानबूझ कर वातावरण-प्रदूषण के *कार्य नहीं किये जा सकते और पनडुब्बियाँ तटवर्ती-राज्य की अनुमति न* होने की सूरत मे समुद्र के ऊपरी तल पर अपने देश के झण्डे के साथ ही यात्रा कर सकती हैं।

प्रादेशिक समुद्र की सीमा तय करने के सम्बन्ध में समय-समय पर विचार-विमर्श और समुद्री कानून सम्मेलन होते रहे हैं। प्रादेशिक समुद्र के सम्बन्ध में दो *प्रश्न मुख्य रूप से विचारणीय हैं—प्रथम, समुद्री तट के किस हिस्से से प्रादेशिक* समुद्र की नाप ली जाय, एवं द्वितीय, प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई कितने मील मानी जाय। प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्त यह है कि इस नाप की आधार-रेखा (Base Line) भाटे में समुद्र के पानी के हटने की सबसे निचली रखा होनी चाहिए, इसे निम्न जलचिह्न (Low Water-Mark) कहा जाता है। दूसर

प्रश्न अर्थात् प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई के सम्बन्ध में पहले सामान्य सिद्धान्त तीन मील का था। सन् 1818 की एंग्लो अमेरिकन मत्स्यग्रहण सन्धि में तीन मील के नियम को अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज के रूप में स्वीकार किया गया। ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अनेक देश इसी सीमा के पोषक रहे हैं *जबकि नार्वे, स्वीडन, स्पेन तथा पुर्तगाल प्रादेशिक समुद्री सीमा को बढ़ाने के पक्ष में* ही रहे हैं। अनेक देशों ने प्रादेशिक समुद्र की सीमा 12 मील घोषित की है और यह सिद्धान्त अब अधिकाधिक मान्यता ग्रहण करता जा रहा है तथापि यह अवश्य है कि जहाँ प्रादेशिक समुद्र की न्यूनतम सीमा तीन मील है, वहाँ अधिकतम सीमा के बारे में इसे सत्य नहीं माना जा सकता। जो विभिन्न समुद्री कानून सम्मेलन हुए हैं उनमें अभी तक प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई की सीमा के प्रश्न का कोई सर्वमान्य हल नहीं निकल सका है।

प्रथम सम्मेलन—24 फरवरी से 28 अप्रैल 1958 तक जेनेवा में 97 राज्यों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें समुद्री कानून से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर विचार किया गया। प्रादेशिक समुद्र की सीमा एवं चौड़ाई के सम्बन्ध में राज्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के मत प्रकट किये फलतः कोई समझौता नहीं हो सका। इस प्रश्न पर विभिन्न देशों के दृष्टिकोणों में प्रबल तथा गम्भीर मतभेद थे। *अन्तर्राष्ट्रीय* कानून आयोग ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट में प्रादेशिक समुद्र की किसी सीमा का निर्देश न करते हुए केवल इतना ही कहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसकी सीमा आधार रेखाओं से 12 मील[1] से आगे बढ़ाने की अनुमति नहीं देता। आयोग के इस कथन से कुछ देशों ने यह परिणाम निकाला कि आयोग ने 12 मील की सीमा स्वीकार कर ली है, किन्तु अन्य देशों ने पुरानी परम्परा के आधार पर प्रादेशिक समुद्र की सीमा तीन मील तक रखने पर ही बल दिया। सम्मेलन में विभिन्न देशों द्वारा प्रादेशिक समुद्र की निम्नलिखित सीमाएँ निश्चित् करने पर बल दिया गया—

(1) **तीन मील की सीमा**—इसके मुख्य समर्थक ग्रेट ब्रिटेन, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अधिकांश देश, फ्रांस, यूनान, जापान, हालैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका थे।

(2) चार मील की सीमा का समर्थन डेनमार्क, नार्वे तथा स्वीडन ने किया।

(3) छः मील की सीमा का प्रतिपादन भारत, इटली तथा स्याम ने किया।

(4) बारह मील की सीमा के समर्थक घाना, ग्वाटेमाला, इण्डोनेशिया, मैक्सिको, सऊदी अरब, वेनेजुएला तथा सोवियत रूस थे।

1 इस प्रकरण में मील का अभिप्राय समुद्री मील (Nositical Mile) से है। यह 6,076 फुट होता है जबकि सामान्य मील 5,280 फुट होता है। तीन समुद्री मील स्थान के 3½ मील के बराबर होता है।

दूसरा सम्मेलन—17 मार्च से 25 अप्रेल, 1960 तक जेनेवा में समुद्री कानून पर विचार करने के लिए दूसरा सम्मेलन (Second U. N Conference on the Law of Sea) आयोजित किया गया जिसमें प्रादेशिक समुद्र की चौडाई तथा ऐसे सस्पर्शी क्षेत्र (Contiguous Zones) की चौडाई पर पुन विचार किया गया जिसमे तटवर्ती राज्यों को मछली पकडने के अनन्य अधिकार हो। इन दोनो प्रश्नों पर 1958 के सम्मेलन मे कोई सहमति नहीं हो सकी थी और इस दूसरे सम्मेलन मे भी इस समस्या का कोई समाधान नही हो सका।

1960 के जेनेवा सम्मेलन की असफलता के बाद सयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन ने घोषणा की कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत प्रादेशिक समुद्र की सीमा तीन मील समझी जानी चाहिए जबकि पाकिस्तान, कनाडा, मलाया और कुछ अन्य राज्यों ने अपना-प्रादेशिक समुद्र तीन मील से बढाकर 12 मील कर दिया। अनेक नवोदित राज्यो ने भी 12 मील को प्रादेशिक समुद्री सीमा अपनाने की घोषणा की। जहाँ 1960 मे 43 प्रतिशत राज्य तीन मील की प्रादेशिक समुद्री सीमा मानते थे वहाँ 1973 मे इन राज्यो का प्रतिशत केवल 24 रह गया और इसी अवधि मे 12 मील का प्रादेशिक समुद्र मानने वाले राज्यो का प्रतिशत 22 से 47 हो गया। आज स्थिति यह है कि विश्व के अधिकांश राज्य 12 मील के प्रादेशिक समुद्र अथवा 12 मील तक अनन्य मत्स्य क्षेत्र के पक्ष मे हैं। प्रो ब्रूक्रे ने कुछ वर्ष पूर्व जो आंकडे एकत्रित किए उनके अनुसार उस समय कुल मिलाकर 49 राज्य अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा 12 मील मानते थे और 17 राज्य यद्यपि प्रादेशिक समुद्र की सीमा 12 मील से कम मानते थे। लेकिन मत्स्यहरण के लिए 12 मील तक समुद्री क्षेत्र पर अनन्य अधिकार का दावा करते थे। इसमें आस्ट्रेलिया, डेनमार्क, पश्चिमी जर्मनी, ब्रिटेन, सयुक्त राज्य अमेरिका, न्यूजीलैण्ड, नार्वे, स्पेन, पुर्तगाल, दक्षिणी अफ्रीका, टर्की आदि राज्य सम्मिलित थे। 19 राज्य अपने प्रादेशिक समुद्र तथा अनन्य मत्स्य क्षेत्र के लिए 12 मील से कम क्षेत्र का दावा करते हैं। अभिप्राय यह हुआ कि विश्व के 85 (49+17+19) राज्य प्रादेशिक समुद्र और मत्स्य क्षेत्र की 12 मील की सीमा से सन्तुष्ट थे। 18 राज्य ऐसे थे जो 12 मील से अधिक प्रादेशिक समुद्री सीमा अथवा मत्स्य क्षेत्र का दावा कर रहे हैं। इनमें दस दक्षिणी अमेरिकी और अफ्रीकी राज्य 200 मील तक दावा कर रहे हैं। अर्जेन्टाइना ब्राजील, चिली, कोस्टारिका, इक्वेडोर, एलसाल्वेडोर, पनामा, पीरू, सियरालियोन तथा उरुग्वे प्रादेशिक समुद्र की सीमा 200 मील मानते हैं। उल्लेखनीय है कि सबसे पहले लेटिन अमेरिका के देशों ने, जिनके साधनो का विकास अधिक नही हुआ है, अपने मछली उद्योग के लिए 200 मील तक समुद्र को राष्ट्रीय सीमा के अन्दर घोषित करने की माँग की थी लेकिन बाद मे कम से कम 10-12 देश ऐसे थे जो 200 मील तक की दूरी के समुद्र को आर्थिक क्षेत्र घोषित करने के पक्ष मे थे।

भारत की स्थिति : 12 मील समुद्री सीमा घोषित करना—1966 तक भारत अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा तीन मील मानता रहा, किन्तु 1967 मे भारत ने यह सीमा 12 मील तक बढाने की घोषणा कर दी। इसका मुख्य कारण

यह था कि यह पाया गया कि भारत के प्रादेशिक समुद्र मे थोरियम का भण्डार है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 279(3) के अनुसार संसद् कानून द्वारा प्रादेशिक समुद्र की सीमा या चौड़ाई का निश्चय कर सकती है और अपने इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए भारतीय संसद ने 1976 मे प्रादेशिक समुद्र, महाद्वीपीय समुद्रतल, अनन्य आर्थिक क्षेत्र तथा अन्य समुद्री क्षेत्र अधिनियम (The Territorial Waters, Continental Shelf, Exclusive Economic Zone and the Maritime Zones Act,1976) पारित किया जिस पर 25 अगस्त,1976 को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो गए और इसी तिथि से इसने कानून का रूप ग्रहण कर लिया। अधिनियम मे कहा गया है कि भारत की प्रभुसत्ता प्रादेशिक समुद्र पर तथा उसके नीचे के समुद्री तल पर तथा उसके ऊपर आकाश पर है। यह प्रादेशिक समुद्र उपयुक्त आधार-रेखा (Base Line) से प्रत्येक स्थान पर 12 समुद्री मील होगा। परन्तु अधिनियम की धारा 3 (3) मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राज्यों के व्यवहार को ध्यान मे रखते हुए यदि आवश्यक हो तो केन्द्रीय सरकार विज्ञप्ति द्वारा प्रादेशिक समुद्र की सीमा मे परिवर्तन कर सकती है। 12 मील के प्रादेशिक समुद्र के अतिरिक्त इसमे 24 मील तक सस्पर्शी क्षेत्र (Contiguous Zone) तथा 200 मील तक अनन्य आर्थिक क्षेत्र (Exclusive Economic Zone) पर भारत की प्रभुसत्ता घोषित की गई है।

तीसरा समुद्री सम्मेलन समुद्री कानून सम्बन्धी दस सामान्य नियमों पर सहमति—समुद्री कानून के सयुक्त राष्ट्र सघ के तीसरे सम्मेलन (Third United Nations Conference on the Law of the Sea–UNCLOS) के 1973, 1974, 1975, 1976, 1978 और 1979 मे कई अधिवेशन हो चुके हैं, लेकिन अभी तक कोई सर्वमान्य सामुद्रिक नियम नहीं बन सके हैं। मुख्य मतभेद विकसित और विकासशील देशों के बीच है। विकासशील देशो के पास समुद्र के गर्भ मे छिपी हुई सम्पदा निकालने और आवश्यक तकनीक और साधन नहीं हैं तथा उन्हें आशका है कि जब तक वे ऐसा तकनीकी ज्ञान और क्षमता प्राप्त कर पाएँगे तब तक रूस, अमेरिका आदि विकसित देश महासमुद्रो की सम्पदा का पूरा दोहन और शोषण कर लेंगे। अत विकासशील देशो की नीति महासमुद्रो पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता के प्रभुत्व की स्थापना की है ताकि इसका लाभ सभी देशों को समान रूप से मिल सके।

बावजूद असहमतियो के, सम्मेलन के विभिन्न अधिवेशनो मे हुए विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप कुछ महत्त्वपूर्ण विषयो पर दस सामान्य नियमो पर सभी देशों की सहमति हो गई है। स्टॉर्क ने अपनी पुस्तक 'An Introduction to International Law' के आठवें सस्करण मे इन दस सामान्य नियमो का वर्णन किया है, जिनका सक्षेप श्री वेदालकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(1) प्रादेशिक समुद्र की सीमा बारह मील (Twelve Mile Territorial Sea) तक मानने का सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य हो चला है। इस सीमा मे निर्दोष यात्रा का अधिकार भी सभी देश स्वीकार करते हैं किन्तु इस सीमा मे जान-बूझकर

वातावरण प्रदूषण के कार्य नहीं किए जा सकते हैं और पनडुब्बियों को तटवर्ती राज्य की अनुमति न होने की दशा में समुद्र के ऊपरी तल पर अपने देश के झण्डे के साथ ही यात्रा कर सकती हैं।

(2) 200 मील की दूरी तक के समुद्र को तटवर्ती राज्य का अनन्य आर्थिक क्षेत्र (Exclusive Economic Zone–EEZ) मानने का विचार भी प्रायः सब देशों द्वारा स्वीकार किया जा चुका है। इसके अनुसार तटवर्ती राज्य (Coastal State) को समुद्र तट से 200 मील की दूरी तक समुद्र तल की, समुद्र से नीचे और ऊपर की सब प्रकार की नवीकरण (Renewable) और अनवीकरणीय (Non renewable) प्राकृतिक सम्पदा को दोहन एवं प्राप्त करने का पूरा अधिकार है। नवीकरणीय साधनों का अभिप्राय मछलियों जैसी सम्पदा से है जो हर साल बढ़ती रहती हैं। समुद्रतल में विद्यमान मैंगनीज सोना, चांदी आदि खनिज पदार्थ अनवीकरणीय सम्पदा है।

(3) अनन्य आर्थिक क्षेत्र के साथ, सस्पर्शी क्षेत्र (Contiguous Zone) का विचार भी सर्वमान्य हो गया है। 24 मील तक विस्तृत इस क्षेत्र पर तटवर्ती राज्य की प्रभुसत्ता इसलिए आवश्यक समझी जाती है कि वह अपने प्रदेश या प्रादेशिक समुद्र में अपराध करके भागने वालों को पकड़ कर दण्ड दे सके और ऐसे अपराधों की रोकथाम कर सके।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय नौचालन के लिए जलडमरूमध्यों के विशेष क्षेत्र (Special Regime for Straits) की आवश्यकता मानी जाने लगी है।

(5) द्वीपसमूहीय सिद्धान्त (Archipelagic Principle) को मान्यता दी जाने लगी है। इसके अनुसार किसी द्वीप-समूह के विभिन्न टापुओं के बीच में और चारों ओर आने वाले टापुओं के सभी ओर के समुद्र इस द्वीप-समूह पर प्रभुसत्ता रखने वाले राज्य के आन्तरिक समुद्र (Internal Water) स्वीकार किए जाते हैं।

(6) समुद्री वातावरण को दूषित होने से बचाने के लिए आवश्यक नियन्त्रण का अधिकार तटवर्ती राज्य को है। इस प्रकार का सिद्धान्त सर्वमान्य हो चुका है, किन्तु इस प्रकार के नियन्त्रण से अन्य देशों के जलपोतों के गुजरने में कोई अनुचित हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

(7) महासमुद्री क्षेत्रों (High Sea) में विद्यमान मछली आदि सजीव साधनों के संरक्षण और आवश्यक व्यवस्था के लिए सब राज्यों में सहयोग करने का सिद्धान्त सर्वसम्मत हो चुका है।

(8) चारों ओर स्थल से घिरे राज्यों (Landlocked State) को समुद्र तक पहुँचने के लिए आवश्यक सुविधाएँ देने वाले नियमों को बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

(9) सब राज्य एक अन्तर्राष्ट्रीय समुद्रतल सत्ता (International Seabed Authority) स्थापित करने के सिद्धान्त पर सहमत हैं। यह राष्ट्रीय अधिकार क्षेत्र से परे के महासमुद्रों के प्रदेश में समुद्र तल के आर्थिक साधनों के दोहन का नियन्त्रण करेगी।

किन्तु इसको दिए जाने वाले अधिकारो की मात्रा के बारे में विभिन्न देशों मे उग्र मतभेद हैं। एक ओर विकासशील देश इस सत्ता को समुद्र तल के साधनों को खोजने और निकालने के लिए पूर्ण नियन्त्रण के अधिकार देना चाहते हैं और इस संस्था द्वारा कमाए गए लाभ को विकासशील देशों मे समुचित मात्रा मे बाँटना चाहते हैं, दूसरी ओर समुद्र तल के साधनो के निकालने की तकनीक का आवश्यक ज्ञान रखने वाले अमेरिका, इग्लैंड आदि विकसित देश अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता को सीमित अधिकार देना चाहते हैं। समुद्री सम्पदा का दोहन सभी देश एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की शर्तों के अनुसार कर सकेंगे। इस पर अन्तर्राष्ट्रीय समुद्रतल सत्ता का एकमात्र अनन्य (Exclusive) अधिकार नहीं होगा, सभी देशो की निजी कम्पनियाँ समुद्र तल की सम्पत्ति को निश्चित नियमो के अनुसार निकाल सकेंगी।

(10) समुद्री कानून के नवीन नियमो को लागू करने के बाद इनके सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले विवादो के समाधान के लिए समुद्री कानून का विशेष न्यायाधिकरण बनाया जाएगा।

प्रादेशिक समुद्र का समझौता, 1958 (Convention on the Territorial Sea and the Contiguous Zone)—यद्यपि सन् 1958 की समुद्र-कानून-सम्मेलन मे प्रादेशिक समुद्र की सीमा या चौडाई के बारे मे कोई निर्णय नहीं लिया जा सका, तथापि सम्मेलन मे कुछ अन्य प्रश्नो पर एक समझौता स्वीकार किया जिसकी प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

(क) प्रादेशिक समुद्र का स्वरूप और लक्षण—समझौते की धारा 1 और 2 मे कहा गया है कि एक राज्य की प्रभुसत्ता उसके स्थलीय प्रदेश से परे उसके समुद्र तक के साथ लगी हुई समुद्री मेखला (अथवा प्रादेशिक समुद्र), प्रादेशिक समुद्र के ऊपर के आकाश और इसके तल पर तथा अधोभूमि पर भी विस्तीर्ण होती है। धारा 3 मे कहा गया कि प्रादेशिक समुद्र की चौडाई समुद्री तट के साथ निम्नतम जल सतह से नापी जाती है। धारा 6 मे कहा गया कि वहाँ खाड़ियाँ किसी देश का आन्तरिक समुद्र मानी जाएँगी जिनका मुहाना 24 मील से अधिक चौड़ा न हो। जिन खाड़ियों का मुहाना 24 मील से अधिक चौड़ा होगा उन खाडियों मे राज्य का अधिकार केवल 24 मील की चौडाई तक स्वीकार किया जाएगा।

(ख) निर्दोष गमन का अधिकार—समझौते की धारा 14 मे निर्दोष गमन या निर्दोष मार्ग के अधिकार (Right of Innocent Passage) के बारे में व्यवस्था दी गई। तदनुसार जैसा कि डॉ कपूर ने लिखा है—'सभी राज्यो को किसी राज्य की सामुद्रिक पेटी में निर्दोष मार्ग का अधिकार प्राप्त है। 'मार्ग' से सामान्यतया तात्पर्य आन्तरिक पानी मे बिना प्रवेश करे सामुद्रिक पेटी से गुजरना है तथा इसमें उक्त क्षेत्र मे रुकना अथवा लगर डालना भी शामिल होता है। मार्ग तब तक निर्दोष समझा जाता है जब तक कि वह सामुद्रिक पेटी वाले राज्य के हितों के विरुद्ध नहीं होता है। व्यापारिक तथा युद्ध पोत दोनों को ही यह अधिकार प्राप्त होता है। अनुच्छेद 16 के अनुसार सामुद्रिक पेटी वाले राज्य को यह अधिकार प्राप्त है कि

यदि किसी पोत का मार्ग निर्दोष नहीं है तो वह आवश्यक कार्यवाही करे। आणविक हथियारों से लैस पोत के बारे मे स्थिति स्पष्ट नही है। अत: समुद्र-विधि मे हाल मे होने वाले सम्मेलन मे यह प्रस्ताव रखा गया कि ऐसे जहाज निर्दोष-मार्ग के अधिकार का उपभोग करते समय पूरी सावधानी बरतें तथा जहाज के सम्बन्ध मे आवश्यक कागजात सदैव अपने पास रखें।

उल्लेखनीय है कि भारतीय ससद द्वारा पारित सन् 1976 के अधिनियम मे इस सम्बन्ध मे यह प्रावधान है कि—"युद्धपोतो के अतिरिक्त, सभी विदेशी जहाजो को सामुद्रिक पेटी से होकर जाने के लिए निर्दोष मार्ग प्राप्त होगा परन्तु मार्ग तभी तक निर्दोष समझा जाएगा जब तक कि वह शान्ति, अच्छी व्यवस्था तथा भारत की सुरक्षा के विरुद्ध न हो। विदेशी युद्धपोत सामुद्रिक पेटी मे पूर्वसूचना देकर प्रवेश कर सकते हैं अथवा उससे गुजर सकते हैं। यदि शान्ति, अच्छी व्यवस्था तथा भारत की सुरक्षा के लिए आवश्यक हो तो केन्द्रीय सरकार विज्ञप्ति द्वारा पूर्ण रूप से या कुछ अपवादो के अधीन सभी या किसी विशेष वर्ग के जहाजो के सामुद्रिक पेटी पर प्रवेश को निलम्बित कर सकती है।"

(ग) सस्पर्शी क्षेत्र—समझौते की धारा 24 के अनुसार महासमुद्रों के सस्पर्शी-क्षेत्र (Contignous Zone) की सीमा-तट की आधार रेखा से 12 मील तक निश्चित की गई है। इस क्षेत्र मे तटवर्ती राज्य को अधिकार है कि वह अपने प्रदेश एव प्रादेशिक समुद्र में होने वाले चुंगी, वित्त, आव्रजन और स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमो के उल्लघन को रोक सके तथा उल्लघनकर्त्ताओ को दण्ड दे सके।

जब तटवर्ती सागर यानी प्रादेशिक समुद्र की सीमा बढ़ाई जा रही हो और आर्थिक क्षेत्र के बाहर गहरे समुद्र के आर्थिक उपयोग के अधिकारो का बँटवारा करने की बात हो रही हो तो उन देशो की माँग को झुठलाया नहीं जा सकता जो सयोगवश समुद्र के किनारे नहीं हैं। दुनिया में कम से कम 29 देश ऐसे हैं जिनके चारो ओर भूमि ही है, जो दूसरे देशों की सीमाओ से घिरे हैं। इन देशो की माँग है कि समुद्र मे हमे भी हिस्सा मिले। तर्क और व्यवहार दोनो दृष्टियों से यह माँग बहुत जायज है। समुद्र के साधनो के उपयोग का उन्हें भी अधिकार मिलना चाहिए। यह बात सही है कि लगभग सभी भूवेष्टित देशो को समुद्र तक पहुँचने की सुविधा रास्ते के देशों ने दी है लेकिन यह नाकाफी है। इन देशो को जो कि अपने महाद्वीपीय भूखण्ड के हिस्से मे हैं उस सागर के मथन में हिस्सा मिलना ही चाहिए जो उनके महाद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए हैं।

7 महाद्वीपीय समुद्रतल
(Continental Shelf)

600 फुट से कम गहरा ढालू प्रदेश महाद्वीपीय समुद्र तल कहलाता है। विज्ञान की प्रगति से पहले इस क्षेत्र का कोई महत्त्व नहीं था, किन्तु वैज्ञानिक यन्त्रो की सहायता से खुदाई करके यहाँ से कोयला, तेल एव दूसरी वस्तुएँ प्राप्त की जाने लगी हैं। प्रत्येक राज्य को अधिकार है कि वह अपने महाद्वीपीय तल की प्राकृतिक

सामग्री पर क्षेत्राधिकार और नियन्त्रण रखे। 28 सितम्बर, 1945 को अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमेन ने इस सम्बन्ध में घोषणा की। फलतः 8 हजार वर्गमील का समुद्र-तल उसके अधिकार मे आ गया। अमेरिका के बाद अर्जेन्टाइना, चिली, पेरू आदि राज्यों ने इस प्रकार की घोषणाएँ कीं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश लौटरपेक्ट ने इन दोवों को युक्तिसंगत माना और इनको तल तक सीमित न करके सभी अध समुद्रीय (Sub marine) क्षेत्रो मे भी लागू किया जाना चाहिए।

महाद्वीपीय तल पर तटवर्ती राज्य का अधिकार उपयुक्त है। यदि इस प्रदेश को स्वामीहीन घोषित किया गया तो समुद्र के गर्भ की प्राकृतिक सम्पत्ति को लेने के लिए अन्य राज्य इस पर अधिकार करके तटवर्ती राज्य के लिए खतरा पैदा कर सकता है। अत तटवर्ती राज्य को ही इसका कानूनी अधिकार देना उपयुक्त है।

विधि आयोग के नियम—सन् 1956 मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने महाद्वीपीय समुद्र-तल के सम्बन्ध मे कुछ नियम निर्धारित किए, जो ये हैं—

(क) तटवर्ती राज्य महाद्वीपीय समुद्र-तल के प्राकृतिक साधनो को प्राप्त करने का प्रभुतासम्पन्न अधिकार रखते हैं।

(ख) इस तल के ऊपर महासमुद्रों और आकाश पर इनको कोई अधिकार नहीं होगा।

(ग) समुद्र के गर्भ मे स्थित तार-व्यवस्था को कोई हानि नहीं होनी चाहिए।

(घ) मछलीगाहो तथा नौचालन मे इस व्यवस्था से कोई बाधा नहीं पहुँचनी चाहिए।

(च) यदि किसी महाद्वीपीय समुद्रतल का स्पर्श दो राज्य करते हैं और बीच मे कोई सन्धि व समझौता नहीं है तो इनकी सीमान्त रेखा प्रादेशिक समुद्र की आधार रेखाओं से सम-दूरी के सिद्धान्त पर निर्धारित की जानी चाहिए।

सन् 1958 का अभिसमय–समुद्र के कानून पर सन् 1958 के जेनेवा सम्मेलन मे एक समझौता किया गया। इसमे महाद्वीपीय समुद्रतल की परिभाषा एव अधिकार के सम्बन्ध मे व्यवस्था की गई। परिभाषा मे यह कहा गया कि यह प्रादेशिक समुद्र की सीमा से बाहर उस स्थल तक के समुद्रतट का समीपवर्ती समुद्र तल एव अध-समुद्री प्रदेशो का निम्न धरातल है जहाँ समुद्र 200 मीटर गहरा हो। इस गहराई मे प्राकृतिक साधनो का शोषण किया जाता है। स्पष्ट है कि प्रादेशिक समुद्र के 200 मीटर की गहराई तक की समुद्र महाद्वीपीय समुद्रतल कहलाता है।

अभिसमय द्वारा समुद्रतल मे प्राकृतिक साधनों के शोषण का अधिकार तटवर्ती राज्य को सौंपा गया। तटवर्ती राज्य समुद्रतल की केवल उन्हीं वस्तुओं का शोषण कर सकता है जो निश्चित और निष्क्रिय पडी हैं; समुद्र के गतिशील प्राणियों पर यह लागू नहीं होता। तटवर्ती राज्य समुद्रतल की वस्तुओ के उपयोग का अधिकार रखता है, किन्तु उसके ऊपर महासमुद्र तथा उसके आकाश पर इसका अधिकार नहीं होता।

समुद्रतल के प्राकृतिक साधनो का उपयोग करने मे राज्य सभी आवश्यक उपाय अपना सकता है, किन्तु इसके कारण दूसरे राज्यो के अधिकारों मे कोई बाधा नही आनी चाहिए। तटवर्ती राज्य प्राकृतिक साधनो के शोषण के लिए वैज्ञानिक यन्त्र लगा सकता है। 500 मीटर चौड़े सुरक्षित क्षेत्र स्थापित कर सकता है, सीमा को प्रदर्शित करने के लिए प्रकाश की बत्तियाँ एवं तैराकी पीपे लगा सकता है। इनको तटवर्ती राज्य की भूमि नहीं माना जाएगा और प्रादेशिक समुद्र की सीमा में कोई अन्तर नहीं आएगा। यदि वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए दूसरा राज्य महाद्वीपीय समुद्रतल को चुने तो उसे तटवर्ती राज्य की अनुमति लेनी होगी। तटवर्ती राज्य इन अनुसंधानों मे भाग लेने और परिणामो को प्रकाशित करने का अधिकार रखता है। जब एक समुद्रतल दो अथवा अधिक राज्यो के निकट होता है तो इन राज्यो की सीमाएँ आपसी समझौता द्वारा तय कर ली जाती हैं। यदि समझौता नहीं किया गया तो सीमा मध्य रेखा द्वारा तय की जाएगी।

झींगा मछली विवाद (Lofster Dispute)—ब्राजील और फ्रांस के बीच इस विवाद ने 30 जनवरी 1963 का उग्ररूप ले लिया। ब्राजील ने अपने उत्तरपूर्वी समुद्रतट से 67 मील की दूरी पर फ्रांस की नौकाओ को मछली पकड़ने के अपराध मे पकड़ लिया। फलतः दोनो देशो मे तनाव पैदा हो गया। पारस्परिक वार्ता द्वारा इस समस्या को सुलझाने का प्रयास किया गया किन्तु यह पुनः गम्भीर बन गई।

विवाद यह था कि ब्राजील 60 मील तक के महाद्वीपीय समुद्रतल को अपना राष्ट्रीय प्रदेश मानता था। उसका तर्क था कि झींगा मछलियाँ दूसरी मछलियो से भिन्न होती हैं, वे चलकर समुद्रतट पर आती हैं। फ्रांस के मतानुसार ब्राजील समुद्रतल की केवल अचल वस्तुओं पर अधिकार रखता है। झींगा मछलियाँ गतिशील प्राणी हैं। अन्य मछलियो की भाँति ही उनका भी शिकार किया जा सकता है।

फ्रांस ने अपने दावे को स्वीकार कराने के लिए 19 जनवरी, 1960 को Tartu नामक रणपोत विवादपूर्ण समुद्री प्रदेश मे भेज दिया। उधर ब्राजील के भी दो विध्वंसक पोत चल दिए। ब्राजील की जल सेना युद्ध के लिए सतर्क कर दी गई। इस संघर्ष को गम्भीर बनने से रोकने के लिए वार्ता प्रारम्भ हुई। अन्त मे 2 अप्रैल, 1963 को यह विवाद निर्णय के लिए हेग के पंच निर्णय के स्थाई न्यायालय को सौंप दिया गया।

भारतीय नीति—भारतीय संविधान की धारा 297 प्रादेशिक समुद्र के अन्दर की वस्तुओं पर संघ सरकार को अधिकार सौंपती है। 30 अगस्त, 1955 को भारत के राष्ट्रपति ने विशेष गजट में यह घोषणा की कि "भारत को इसके प्रदेश से लगे हुए और प्रादेशिक समुद्र से परे महाद्वीपीय समुद्रतल की अधोभूमि मे पूर्ण, अनन्य और प्रभुसत्तापूर्ण अधिकार है तथा उसे सदैव यह अधिकार प्राप्त रहे हैं।" राष्ट्रपति की यह घोषणा महाद्वीपीय समुद्रतल की सीमा का निर्धारण नहीं करती। इसे सम्भवतः राज्यों के सामान्य व्यवहार पर छोड़ दिया गया। विधिमन्त्री अशोककुमार

राज्य भोगाधिकार[1]
(States Servitudes)

अर्थ एवं परिभाषा—सिद्धान्त रूप से प्रत्येक राज्य अपने प्रदेश पर पूर्ण प्रभुसत्ता रखता है किन्तु व्यवहार में वह कभी-कभी इस प्रदेश में अन्य राज्य के कुछ अधिकार भी स्वीकार कर लेता है। इसी को भोगाधिकार कहा जाता है। यह राज्य के क्षेत्राधिकार पर एक कानूनी प्रतिबन्ध है। प्रो ओपेनहेम के कथनानुसार, "राज्य का भोगाधिकार किसी राज्य की प्रादेशिक सर्वोच्चता पर सन्धि द्वारा लगाए गए वे अपवादात्मक प्रतिबन्ध हैं जिनके द्वारा एक राज्य के सम्पूर्ण या आंशिक प्रदेश को दूसरे राज्य के विशेष उद्देश्य या स्वार्थ की पूर्ति के लिए बाध्य होना पड़ता है।" स्पष्ट है कि भोगाधिकार द्वारा राज्य की सर्वोच्च सत्ता पर लगाए गए प्रतिबन्ध सामान्य नहीं होते वरन् अपवादरूप होते हैं। ये किसी भी सन्धि द्वारा लगाए जाते हैं। प्रो ग्लान (Prof G V Glahn) के कथनानुसार, "भोगाधिकार एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य अथवा राज्यों के पक्ष में अपने सम्पूर्ण प्रदेश या उसके किसी भाग के विशेष प्रयोग की अनुमति देने के बाध्यकारी दायित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं।" भोगाधिकार सम्बन्धित प्रदेश से बाध्यकारी रूप में बँधा रहता है। सरकार के रूप में होने वाले परिवर्तन इस दायित्व में किसी प्रकार का अन्तर नहीं लाते। राज्य बदल जाते हैं किन्तु ये पूर्ववत् बने रहते हैं। उत्तराधिकारी राज्य भोगाधिकार से सम्बन्धित पूर्ववर्ती राज्य के दायित्वों को अपने ऊपर ले लेता है और जब तक अन्य किसी प्रकार की व्यवस्था न हो तब तक उनका पालन करता है।

भोगाधिकार से राज्य की सम्प्रभुता प्रतिबन्धित होती है और कभी-कभी इसके सम्बन्ध में सन्देह भी होने लगता है। भोगाधिकार कहाँ स्वतन्त्रता का विरोधी बन जाता है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। प्रो. फेनविक ने माना है कि एक राज्य यद्यपि अपने प्रदेश पर पूरा क्षेत्राधिकार रखता है, किन्तु अपवाद रूप में वह अपनी औपचारिक सम्प्रभुता को यथावत् रखते हुए भी दूसरे राज्य के पक्ष में अपने प्रदेश पर प्रतिबन्धों को स्वीकार कर लेता है। इसकी परिभाषा किसी प्रदेश पर स्वामित्व रखने वाले राज्य के ऐसे दायित्व के रूप में की जा सकती है जिसके द्वारा वह दूसरे राज्य अथवा राज्यों को इस प्रदेश के उपयोग की सुविधा देता है। प्रो स्टार्क ने भोगाधिकार राज्य की प्रादेशिक प्रभुसत्ता पर लगाए गए ऐसे असाधारण प्रतिबन्धों को कहा है जो दूसरे राज्य के हितों को पूरा करने के लिए लगाए जाते हैं।

इस दृष्टि से एक राज्य अभिसमयात्मक रूप से अपने अपने पड़ोसी राज्य को

1 Servitudes शब्द का हिन्दी रूपान्तर 'भोगाधिकार' मानविकी-शब्दावली—I (वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मन्त्रालय, भारत-सरकार), पृष्ठ 167 के अनुसार है। इसे सुविधा-अधिकार, अधिसेविता, सुविधा-भार, परवशता आदि के रूप में भी अनूदित किया जा सकता है।

सीमाओं की अपने प्रदेश से से गुजरने की अनुमति देता है अथवा पड़ोसी के हित के लिए किसी प्रदेश विशेष पर किलेबन्दियाँ नहीं करता। भोगाधिकार और राज्यों की प्रादेशिक सम्प्रभुता पर लगाए गए सामान्य प्रतिबन्धों के बीच भेद है। इन प्रतिबन्धों का प्रादेशिक सर्वोच्चता पर स्वाभाविक प्रतिबन्ध (Natural Restrictions) कहा जाता है। जब एक राज्य अपनी प्रादेशिक समुद्री पट्टी से होकर विदेशी व्यापारी *जहाजों को निकलने की अनुमति देता है तो वह भोगाधिकार के कारण नहीं वरन्* स्वाभाविक प्रतिबन्ध के कारण ऐसा करता है।

विभिन्न राज्य भोगाधिकार की परिभाषा और क्षेत्र के सम्बन्ध में एकमत नहीं है। एक विशेष प्रतिबन्ध को भोगाधिकार माना जाए अथवा नहीं माना जाए इस सम्बन्ध में भी उनके बीच मतभेद रहता है। फिर भी यह सच है कि अधिकांश लेखकों और राज्यों के व्यवहार द्वारा राज्य भोगाधिकार की धारणा को स्वीकार किया जाता।

भोगाधिकार के विषय—भोगाधिकार के एक मात्र और अनन्य विषय राज्य होते हैं। केवल राज्यों के बीच ही यह कायम रह सकता है। विदेशी व्यक्तियों और निगमों को एक राज्य द्वारा चाहे कोई भी अधिकार दिया जाए किन्तु यह राज्य भोगाधिकार नहीं कहा जा सकता।

भोगाधिकार के उद्देश्य—भोगाधिकार का उद्देश्य हमेशा उस राज्य का पूर्ण अथवा आंशिक प्रदेश होता है जिसकी प्रादेशिक सर्वोच्चता को भोगाधिकार द्वारा प्रतिबन्धित किया गया है। राज्य के प्रदेश में उसके विभिन्न भाग आ जाते हैं जिनका अध्ययन इसी अध्याय में हम कर चुके हैं अर्थात् भूमि, नदियाँ, समुद्री पट्टी, प्रादेशिक अधोभूमि, प्रादेशिक आकाश आदि। भोगाधिकार के अन्तर्गत हो सकता है कि एक राज्य दूसरे राज्य को अपनी समुद्री पट्टी में मछली पकड़ने का अधिकार दे या उसमें होकर तार बिछाने की अनुमति दे अथवा सीमावर्ती पहाड़ों का प्रयोग करने की स्वीकृति दे। राज्य भोगाधिकार के अन्तर्गत एक राज्य अपने पड़ोसी के आकाश में होकर अपने सैनिक यान भेजने अथवा उसके प्रदेश में सेनाएँ रखने की सुविधा प्राप्त कर लेता है। महासमुद्र सभी राज्यों के लिए खुले रहते हैं वे किसी राज्यविशेष का प्रदेश नहीं होते। इसलिए राज्य भोगाधिकार के विषय नहीं बन पाते।

राज्यों की सर्वोच्चता पर लगाया गया प्रत्येक प्रतिबन्ध भोगाधिकार नहीं होता। जब तक कोई राज्य दूसरे राज्य को अपने प्रदेश का उपयोग करने की सुविधा न दे तब तक इसे भोगाधिकार नहीं कहा जा सकेगा।

भोगाधिकार तथा इसके उद्देश्य को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में मान्यता प्रदान कर दी गई, किन्तु किन प्रतिबन्धों को भोगाधिकार कहा जा सकता है और ये भोगाधिकार राज्य पर जो सीमाएँ लगाते हैं उनकी कानूनी प्रकृति क्या है ? इस सम्बन्ध में सामान्य सहमति नहीं है।

भोगाधिकार की कानूनी प्रकृति—भोगाधिकारों द्वारा सम्बन्धित अधिकारी की औपचारिक सम्प्रभुता को कितना सीमित किया जा सकता है ? दूसरे राज्य को विशेष अधिकार देने से क्या उस प्रदेश में राज्य का क्षेत्राधिकार सीमित हो जाता है ? क्या भोगाधिकार उन सीमाओं को ही कहेंगे जिनके बिना किसी विशेषाधिकार का प्रयोग न किया जा सके ? ये विभिन्न प्रश्न भोगाधिकार की कानूनी प्रकृति को स्पष्ट करते हैं। उत्तर-पूर्वी मछलीगाह पंच-फैसले में संयुक्तराज्य अमेरिका ने माना कि भोगाधिकार विदेशी राज्य का प्रशासनिक नियन्त्रण का अधिकार है। यह तर्क न्यायाधिकरण द्वारा अस्वीकार किया गया क्योंकि यह सम्प्रभुता के सिद्धान्तों के विपरीत है। सामान्य नियम के अनुसार भोगाधिकार एक प्रदेश से जुड़ा हुआ अस्तित्व है और यह वस्तुगत होता है। राज्य में होने वाले परिवर्तनों से यह अप्रभावित रहता है। यही कारण है कि इसे अविरल दायित्व भी कहा जाता है।

भोगाधिकार के प्रकार
(Kinds of Servitudes)

भोगाधिकार को प्रकृति और विषयगत दृष्टि से कई भागों में विभाजित किया जाता है। कुछ भोगाधिकार परम्परागत होते हैं और वे लम्बे समय से चली आ रही प्रथाओं से जन्म लेते हैं। अन्य भोगाधिकार अभिसमयात्मक होते हैं। इनकी रचना विभिन्न पक्षों के बीच होने वाले स्पष्ट समझौते के कारण होती है।

मि. ग्लान ने भोगाधिकार को वर्गीकृत करने के लिए दो दृष्टिकोण वर्णित किए हैं—सामान्यतः इसे निषेधात्मक, विधेयात्मक अथवा निष्क्रिय और सक्रिय के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। सम्बन्धित राज्य अपने प्रदेश में एक या कुछ सम्प्रभु अधिकारों को विलम्बित करने पर सहमत हो जाता है अथवा विदेशी राज्य को वह अपने प्रदेश में कुछ अधिकारों के प्रयोग की स्वीकृति प्रदान कर देता है। निषेधात्मक भोगाधिकार का उदाहरण अपने प्रदेश में किले-बन्दी न करने या एक निश्चित सीमा तक सेना को घटाने के सम्बन्ध में सहमत होने से सम्बन्ध रखता है। विधेयात्मक भोगाधिकार के उदाहरण के रूप में (क) एक राज्य के प्रदेश में दूसरे राज्य को दिए गए मछली पकड़ने के अधिकार का उल्लेख किया जा सकता है। (ख) भोगाधिकार का दूसरा अन्तर दायित्वों के उद्देश्य पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से सैनिक और आर्थिक दो प्रकार के भोगाधिकार उल्लेखनीय हैं।

कुल मिलाकर राज्य भोगाधिकार को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है, ये निम्नलिखित हैं—

1 निश्चयात्मक (Affirmative)—जब एक राज्य को दूसरे राज्य के प्रदेश पर कुछ कार्य जैसे—रेल बनाना, सेनाएँ गुजारना, घुड़सवार बनाना, कुछ स्थानों पर फौजें रखना, बन्दरगाह का प्रयोग करना आदि सम्पन्न करने का अधिकार मिल जाता है तो उसे निश्चयात्मक अथवा सक्रिय भोगाधिकार कहा जाता है। निश्चयात्मक भोगाधिकार उसे भी कहा जाएगा जब एक राज्य के नागरिकों को दूसरे राज्य के प्रदेश में कुछ कार्य सम्पन्न करने का अधिकार प्रदान किया जाए जैसे—प्रादेशिक समुद्र में मछली पकड़ने का कार्य।

2 निषेधात्मक (Negative)—निषेधात्मक भोगाधिकार वह होता है जिसके अन्तर्गत एक राज्य से दूसरे राज्य से यह माँग करता है कि वह कुछ प्रदेशो मे अपनी प्रादेशिक सर्वोच्चता का प्रयोग न करे। इस दृष्टि से एक राज्य अपने पडोसी से माँग कर सकता है कि वह सीमा के निकट कुछ जिलो मे किले-बन्दियाँ न करे अथवा एक विशेष बन्दरगाह मे विदेशी युद्धपोतो को प्रवेश न दे।

3 सैनिक (Military)—जो भोगाधिकार सैनिक उद्देश्यो के लिए, प्राप्त किए जाते हैं उन्हें सैनिक भोगाधिकार कहा जाता है। उदाहरण के लिए, विदेशी प्रदेश मे सेनाएँ रखने, उसमे होकर सशस्त्र सेनाएँ भेजने या विदेशी प्रदेश में किलेबन्दी न करने देने का अधिकार, आदि।

4 आर्थिक (Economic)—आर्थिक भोगाधिकार वे होते हैं जो व्यापारिक हितों, यातायात एव सामान्य सम्पर्क के लिए प्राप्त किए जाते हैं। उदाहरण के लिए, विदेशी जल में मछली पकड़ने का अधिकार, चुंगीरहित स्वतन्त्र क्षेत्र का लाभ उठाने का अधिकार या एक नदी पर स्वतन्त्र नौ-चालन का अधिकार, आदि।

राज्य के भोगाधिकार व्यक्तिगत अधिकारो से भिन्न होते हैं। आजकल दीवानी कानून के भोगाधिकार का सिद्धान्त भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बन गया है। आधुनिक व्यवहार के अनुसार आर्थिक की अपेक्षा सैनिक भोगाधिकार की स्थापना का पक्ष लिया जाता है। इसके उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास मे अनेक मिल जाते हैं। सन् 1713 और सन् 1783 के बीच मे फ्रांस को डनकिर्क (Dunkirk) की किलेबन्दी न करने का दायित्व सौंपा गया; पेरिस की सन्धि (1816) द्वारा अन्तवर्प के सैन्यीकरण के विरुद्ध लगाए गए प्रतिबन्ध, पोर्ट्स माउथ की सधि (1905) मे जापान और रूस द्वारा पारस्परिक दायित्वों को स्वीकार करना आदि इसके उदाहरण हैं।

सभी प्रकार के भोगाधिकारो का मुख्य आधार द्वि-पक्षीय अथवा बहुपक्षीय सन्धियाँ होती हैं। परम्पराओ और रिवाजो पर कम भोगाधिकार अवलम्बित रहते हैं।

भोगाधिकारो का निलम्बन
(Termination of Servitudes)

भोगाधिकार कई प्रकार से निलम्बित किए जा सकते हैं। इनमे चार तरीके उल्लेखनीय हैं—(क) सन्धि द्वारा भोगाधिकार से लाभान्वित राज्य विशेष स्थिति को समाप्त करने के लिए सहमत हो जाता है। यह तरीका अत्यन्त सामान्य है। राज्य के उत्तराधिकार के समय भी प्राय इसी तरीके को प्रयुक्त करके भोगाधिकार की समाप्ति की जाती है। (ख) भोगाधिकार के निलम्बन का दूसरा तरीका लाभान्वित राज्य अथवा राज्यो द्वारा की गई एक पक्षीय घोषणा है। ऐसी घोषणा करते समय प्रभावित राज्य को शामिल नहीं किया जाता। (ग) भोगाधिकार के निलम्बन का तीसरा तरीका वह है जब लाभान्वित और प्रभावित राज्यो मे से कोई भी दूसरे का अपने अधिकार मे ले ले। घरेलू विधि निर्माण द्वारा यह भोगाधिकार समाप्त कर दिया जाएगा। (घ) समझौता करने वाले किसी भी पक्ष के समाप्त हो

जाने पर भोगाधिकार की स्थापना करने वाला समझौता भी मिट जाता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्रभावित राज्य भोगाधिकार को रद्द करने की एक-पक्षीय घोषणा यह कह कर नहीं कर सकता कि अब परिस्थितियाँ बदल चुकी है।

भोगाधिकार के व्यवहारिक तथ्य
(Practical Facts of Servitudes)

वास्तविक व्यवहार में भोगाधिकार सम्बन्धी तथ्यों का अध्ययन करने के लिए इसे सुविधा की दृष्टि से सामान्य और विशेष दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(अ) सामान्य भोगाधिकार
(General Servitudes)

इस शीर्षक के अन्तर्गत हम नदियों, खाडियों प्रखातों, भीलों, नहरों, जलडमरूमध्यों आदि को सम्मिलित कर सकते हैं। इनके सम्बन्ध में पृथक् से अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

नदियाँ—मध्ययुग में ही नौ-चालन योग्य नदियों के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त अपनाया जाता रहा है कि वे उनके दोनों किनारों का नियन्त्रण करने वाले एक राज्य अथवा अलग-अलग दो राज्यों के क्षेत्राधिकार में रहेंगी। वैसे ग्राशियस ने इन नदियों पर सभी राज्यों के नौ चालन की स्वतन्त्रता का समर्थन किया था, किन्तु अन्य विचारक अनन्य क्षेत्राधिकार का समर्थन करते रहे। पेरिस की सन्धि (1814) और वियना कांग्रेस (1815) के बाद इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। अब कुछ नदियों के सम्बन्ध में राज्यों के स्वतन्त्र नौ-चालन के सैद्धान्तिक अधिकार को व्यवहार की वास्तविकता बनाया गया। राइन, डेन्यूब, मोसेली (Moselle) तथा मेसी (Meuse) आदि नदियाँ सभी राज्यों के नौ-चालन के लिए खोल दी गई।

नदियों में नौ-चालन से सम्बन्धित प्रावधानों को क्रियान्वित करने के लिए तटवर्ती राज्यों की ओर से कार्य करने वाला एक आयोग नियुक्त किया गया। सन् 1883 में एक नई सन्धि की गई। इसमें डेन्यूब (Danube) के लिए एक मिश्रित आयोग बनाया गया। इस आयोग को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व सौंपा गया। इसके नियमों का उल्लंघन करने वाले राज्य के विरुद्ध यह बहुमत के आधार पर दण्ड का निर्णय ले सकता था। यह आयोग अपने भवनों पर स्वयं का झण्डा फहराता था। इसके जलयानों पर स्वयं के नाविक तथा नदी-पुलिस होती थी।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद योरोपीय नदियों के अन्तर्राष्ट्रीयकरण के प्रयासों को बढ़ा दिया गया। अन्तिम बार नए भोगाधिकार को जन्म मिला। वर्साय की सन्धि ने योरोप की कई नदियों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया। सन् 1921 में नई डेन्यूब सविधि ने घोषित किया कि उल्मा और कृष्णसागर के बीच सभी देशों के जहाजों को नौ-चालन का समान अधिकार रहेगा। डेन्यूब स्थित योरोपीय आयोग का क्षेत्राधिकार बढ़ा दिया गया। एक नया अन्तर्राष्ट्रीय आयोग भी बनाया गया।

सन् 1921 में नौ-चालन योग्य जलमार्गों की सत्ता पर सामान्य अभिसमय को अनेक राज्यों में बारसीलोना में स्वीकार किया। इसके अनुसार हस्ताक्षरकर्त्ता राज्य अपनी सम्प्रभुता वाले जलमार्गों पर पारस्परिक आधार पर नौ-चालन की स्वतन्त्रता देने के लिए सहमत हुए। इसी दिन एक अन्य सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए जिसके द्वारा पारस्परिक आधार पर वाणिज्य के लिए सभी जल मार्गों को खोलने का निर्णय लिया गया।

14 नवम्बर, 1936 को जर्मन सरकार ने एकपक्षीय रूप से वर्साय समझौते के प्रतिबन्धों को हटा दिया। उसने घोषणा की कि सन्धि के जो प्रावधान जर्मनी के प्रमुख जल मार्गों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण और नियन्त्रण करते हैं वे उचित और बाध्य नहीं माने जाएँगे।

जुलाई–अगस्त, 1945 में हुए पोट्सडाम सम्मेलन में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यह प्रस्ताव रखा कि योरोपीय महाद्वीप के सभी आन्तरिक जल मार्गों पर सभी राष्ट्रों के लिए नौ-चालन की स्वतन्त्रता हो और इस पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखा जाए। राष्ट्रपति ने इसे अमेरिकी विदेश नीति की 12 मौलिक बातों में शामिल करते हुए कहा—"हम विश्वास करते हैं कि सभी राष्ट्रों को समुद्रों की स्वतन्त्रता और सीमावर्ती नदियों तथा जल मार्गों एवं एक से अधिक देशों में होकर गुजरने वाले जल मार्गों तथा नदियों पर नौ-चालन का समान अधिकार होना चाहिए।"[1] सन् 1945 के बाद विश्व की राजनीति में जो परिवर्तन आए और राष्ट्रवाद तथा शीत-युद्ध का विकास हुआ उसके परिणामस्वरूप ट्रूमैन के प्रस्ताव प्रभावहीन बन गए और बाद में भुला दिए गए।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने राजनीतिक व प्रादेशिक परिवर्तनों द्वारा डेन्यूब के भाग्य को ही बदल दिया। फलत नियन्त्रण की नई व्यवस्था आवश्यक बन गई। इसके लिए अगस्त, 1948 में बेलग्रेड में एक सम्मेलन बुलाया गया इस समय तक अधिकांश राज्य लौह आवरण के पीछे जा चुके थे। सोवियत संघ ने रूमानिया के साथ एक समझौता किया जिसके द्वारा डेन्यूब के निचले भाग के नौ-चालन का नियन्त्रण सोवियत संघ के हाथ में आ गया। डेन्यूब से सम्बन्धित सभी राज्यों ने सोवियत संघ के सभी प्रस्तावों को स्वीकार किया और पश्चिमी शक्तियों के सभी प्रस्तावों को अस्वीकार किया। सोवियत संघ ने एक नई सविधि प्रस्तावित की जिसे पश्चिमी विरोध के बाद भी यथावत् स्वीकार कर लिया गया। डेन्यूब आयोग में सभी तटवर्ती राज्यों के 7 सदस्य हैं। संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस अब इसके सदस्य नहीं रहे। यद्यपि नदी में स्वतन्त्र नौ-चालन की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है किन्तु अमेरिकी प्रस्ताव के अनुसार इसे बिना भेदभाव के नहीं दिया गया है। पश्चिमी शक्तियों ने डेन्यूब से सम्बन्धित नई सविधि को अस्वीकार किया है और पूर्व-समझौतों के प्रावधानों के अनुसार अपने अधिकारों को उचित माना है।

1 The New York Times, 28 Oct., 1945

योरोपीय नदियों की भाँति संसार के दूसरे भागों की नदियाँ भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय स्थान रखती हैं। उत्तरी अमेरिका में मिसीसिप्पी भोगाधिकार का विषय बनी। सन् 1795 की सन्धि के अनुसार नदी के निचले भाग पर अमेरिका और स्पेन को संयुक्त नौ-चालन के अधिकार मिले। सन् 1919 में ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका एक-दूसरे के नागरिकों के लिए कनाडा और अमेरिका के बीच सभी नौ-चालन योग्य सीमावर्ती जिलों को खोलने के हेतु सहमत हो गए।

दक्षिणी अमेरिका की अधिकांश नदियाँ विभिन्न राज्यों की सीमाओं को छूती हैं और इसलिए उनके सम्बन्ध में संकीर्ण राष्ट्रीयता से प्रभावित दावे कम उठते हैं। सन् 1852 में अर्जेन्टाइन संघ ने पराना और उरूगुए नदियों को सभी राज्यों के जलपोतों के लिए खोल दिया। सन् 1867 में ब्राजील ने आमाजोन और सन् 1869 में वेनेजुएला ने ओरीनीको नदियों को खोल दिया। इन दोनों मामलों में एकपक्षीय भोगाधिकार का उदाहरण मिलता है जिसमें राज्यों ने स्वयं अपने ऊपर सीमा लगाई।

अफ्रीका में सन् 1885 के बर्लिन सम्मेलन के अन्तिम अधिनियम द्वारा नील, कांगो और नाइजर का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर लिया गया।

मध्यपूर्व में पिछले 100 वर्षों में नदियों के प्रयोग से सम्बन्धित अनेक विवाद उत्पन्न हुए। सिंचाई और विद्युत के लिए इस जल के प्रयोग के सम्बन्ध में पाकिस्तान, अफगानिस्तान, टर्की, मिस्र आदि देशों में अनेक विवाद उठे। इस क्षेत्र की नदियों का सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ है; जितने भी समझौते किए गए हैं वे सभी या तो नौ-चालन के लिए हैं अथवा जल का अन्यत्र प्रयोग करने के लिए हैं। ये एक पक्ष को किसी न किसी रूप में भोगाधिकार सौंपते हैं।

नदियों के बहाव और मोड़ों के सम्बन्ध में नियन्त्रण की व्यवस्था भी भोगाधिकार का कारण बनती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई सिद्धान्त उस नदी पर राज्य के अनन्य अधिकार का समर्थन नहीं कर सकता, जिसका नीचे का बहाव दूसरे राज्य की सीमा में आता है। जब एक नदी दो राज्यों में होकर बहती है तो कोई भी राज्य उसके बहाव रोकने या मोड़ने का अधिकार नहीं रखता जिसके कि कारण अन्य को नुकसान हो सके। इस सम्बन्ध में अनेक बार विवाद उठे हैं और ये विवाद इस सीमा तक पहुँच गए कि इन्हें सुलझाने के लिए युद्ध का सहारा लेना पड़ा। बाद में जो सन्धि की गई उससे भोगाधिकार की स्थापना हुई। संयुक्तराज्य अमरिका और मैक्सिको के मध्य हुआ सन् 1906 का समझौता उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है।

जल के अन्य स्रोत—नदियों के अतिरिक्त प्राकृतिक जल के स्रोत भी भोगाधिकार को जन्म देते हैं। जहाँ तक प्रादेशिक खाड़ियों का सम्बन्ध है वे किसी दूसरे राज्य को भोगाधिकार नहीं सौंपती। परम्परागत कानून के अनुसार दूसरे राज्यों के जहाजों को खाड़ियों में होकर निर्दोष-गमन का अधिकार रहता है।

भूमि से घिरे हुए समुद्र के सम्बन्ध में व्यवस्था है कि यह जिस राज्य के प्रदेश से घिरा हुआ रहता है उस पर किसी अन्य राज्य को भोगाधिकार प्राप्त नहीं होता।

भीलों के सम्बन्ध में नदियों की भांति कुछ विवाद छिड़ जाते हैं क्योंकि सम्बन्धित राज्य इसके मार्ग को मोड़ देता है। इस सम्बन्ध में वही प्रावधान लागू होने चाहिए जो नदियों के सम्बन्ध में लागू होते हैं। कोई राज्य भील से इतना पानी नहीं ले सकता कि वह उसके स्तर को नीचे गिरा कर दूसरे राज्य को हानि पहुँचाए। कुछ बड़ी भीलें जो कृत्रिम जल मार्गों द्वारा समुद्र से सम्बद्ध होती हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सीमावर्ती दो राज्यों के प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में रहती हैं। प्रत्येक राज्य अपने प्रदेश में स्थित भाग के प्रयोग का पूरा अधिकार रखता है। नौ-चालन के लिए दोनों राज्य पूरी भील का उपयोग कर सकते हैं, किन्तु मछलीगाह के लिए दोनों केवल अपने क्षेत्र में अधिकार रखते हैं। तटवर्ती राज्य भील का प्रयोग उस सीमा तक करेगा जहाँ तक उसका स्तर इतना नीचा न हो जाए कि दूसरे राज्य को हानि पहुँचाने लगे। जो नहरें भील के जल स्तर को अधिक नीचे गिराने का कारण बनती हैं उन पर रोक लगाई जानी चाहिए। मुख्य समस्या उस समय उत्पन्न होती है जब कोई भील पूर्णत भूमि से घिरी हुई न हो और एक संकीर्ण नौ-चालन योग्य जलडमरूमध्य द्वारा खुले समुद्र से सम्बन्धित हो। ऐसी भील जब एक से अधिक राज्यों से घिरी रहती है तो वह सभी राज्यों के व्यापार के लिए खोल दी जाती है।

कृष्णसागर को मूलरूप से टर्की तथा रूस द्वारा एक अवरुद्ध सागर माना जाता है। पेरिस की सन्धि (1856) की धारा 11 के अनुसार कृष्ण सागर में कोई भी युद्धपोत प्रवेश नहीं कर सकता। दूसरी सभी दृष्टियों से कृष्ण सागर खुले समुद्रों अथवा महासमुद्रों का एक भाग समझा जाना चाहिए।

परम्परागत कानून सागर की सीमा से लगने वाले सभी राज्यों को भोगाधिकार सौंपता है। सभी राज्यों के जलपोत इसके प्रादेशिक जल में होकर निर्दोष-गमन का अधिकार रखते हैं। तूफान या अन्य किसी संकट के समय राहत पाने के लिए भी हर प्रकार के जल का प्रयोग किया जा सकता है। भोगाधिकार के सम्बन्ध में कुछ परिवर्तन एवं सीमायें लगाई गई हैं। सम्बन्धित राज्य नौ-चालन की सुरक्षा के लिए नियम प्रसारित करेगा। सुरक्षा की दृष्टि से वह कुछ विशेष भागों में निर्दोषगमन पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। युद्धकाल में भोगाधिकार पर प्रतिबन्ध अधिक कड़े हो जाते हैं।

प्रादेशिक खाड़ियों या समुद्रों को सागर से जोड़ने वाले जलडमरूमध्यों पर वही नियम लागू होते हैं जो प्रादेशिक खाड़ी या समुद्र पर होते हैं। जलडमरूमध्य जब दो समुद्रों या सागरों को जोड़ता है तो समस्या उत्पन्न हो जाती है। इस सम्बन्ध में कुछ अभिसमय स्वीकार किए गए हैं जो जलडमरूमध्यों की स्थिति को स्पष्ट करते हैं। दार्दनेलीज और बास्फोरस के जलडमरूमध्यों से सम्बन्धित अभिसमयों ने टर्की की अखण्डता को बनाए रखने और सभी राष्ट्रों के व्यापारिक जहाजों के लिए उसे खोलने का कार्य किया। 19वीं शताब्दी में ये जलडमरूमध्य कुछ विवाद का कारण रहे। रूस आत्म-रक्षा और व्यापारिक स्वतन्त्रता के लिए इन पर नियन्त्रण करना चाहता था और ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य शक्तियाँ रूस की प्रगति पर रोक लगाना चाहती थीं।

सन् 1809 में ग्रेट-ब्रिटेन ने टर्की के साथ दार्दनेलीज के सम्बन्ध में सन्धि की। इसके अनुसार विदेशी युद्धपोतों को जलडमरूमध्य से बाहर रखा गया। सन् 1841 के लन्दन अभिसमय द्वारा इस नियम को औपचारिक मान्यता दे दी गई। सन् 1856 की पेरिस की सन्धि ने इस अभिसमय को संशोधित किया। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद की गई शान्ति सन्धियों में 24 जुलाई, 1923 को एक पृथक् जलडमरूमध्य अभिसमय पर लौसाने में हस्ताक्षर किए गए। इसमें समझौता करने वाले पक्षों ने यह घोषित किया कि जलडमरूमध्यों में होकर जल और वायु के नौ-चालन एवं निष्क्रमण की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त मान्य है। इस नए अभिसमय ने कुछ सीमाओं के साथ सभी प्रकार के जहाजों को प्रवेश की स्वीकृति प्रदान की और इस प्रकार युद्धपोतों को बाहर रखने की व्यवस्था को अस्वीकार किया। लौसाने के अभिसमय के बाद सन् 1936 में मोन्ट्रीक्स अभिसमय लागू किया गया। इसके द्वारा जलडमरूमध्य में होकर निकलने और नौ-चालन करने की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया गया।

जलडमरूमध्यों से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय विवाद 22 अक्तूबर, 1946 को कोर्फ़ू के जलडमरूमध्य में उठा। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विजेता शक्तियों ने योरोप के तटों के इर्द-गिर्द तैरती हुई सुरंगों तथा अन्य रुकावटों को हटाने के लिए अनेक जहाज लगाए। ब्रिटिश जलपोतों ने कोर्फ़ू के जलडमरूमध्यों को साफ किया। कुछ समय बाद ही सुरंगों का तोड़ते हुए दो ब्रिटिश विध्वंसक टकरा गए तब ग्रेट ब्रिटेन ने जलडमरूमध्य में सुरंग साफ करने वाले (Mine-sweepers) भेजे। यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय सुरंग साफ करने से सम्बन्धित आयोग के निर्णय के अनुसार था। अल्बानिया ने इसका विरोध करते हुए अपनी प्रादेशिक सम्प्रभुता के विरुद्ध इसे आक्रमण माना दूसरी ओर ग्रेट ब्रिटेन ने अपने विध्वंसकों की टूट-फूट के कारण क्षतिपूर्ति की माँग की। अन्त में यह विवाद संयुक्तराष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद के सामने लाया गया। सुरक्षा परिषद के बहुमत ने 25 मार्च, 1947 को यह निर्णय दिया कि जलडमरूमध्य में सुरंग बिछाने के लिए अल्बानिया उत्तरदायी है। सोवियत संघ के निषेधाधिकार के कारण यह निर्णय प्रभावहीन बन गया। फलतः यह विवाद ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख लाया गया। जिसने यह निर्णय दिया कि अल्बानिया को 24 लाख डॉलर का हर्जाना देना चाहिए।

नहरें ये कृत्रिम जल मार्ग होते हैं इन्हें इनके स्वामी द्वारा स्वयं की लागत से बनाया जाता है और इसीलिए प्राकृतिक जलडमरूमध्यों की भाँति निर्दोष उपयोग के भोगाधिकार का विषय नहीं होते। अनेक नहरें जो केवल प्रादेशिक प्रकृति की होती हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई भी प्रश्न पैदा नहीं करतीं। उन्हें ऐसी नदी की श्रेणी में रखा जा सकता है जिसमें प्रादेशिक सम्प्रभु को नौ-चालन का अनन्य अधिकार होता है। यदि इस प्रकार की नहर समुद्रों को जोड़नेवाली कड़ी का कार्य करती है तो भी इस पर भोगाधिकार प्रदान नहीं किया जाता। जिस राज्य के प्रदेश में नहर है वह चाहे तो उसे दूसरे राज्यों के जहाजों के प्रयोग के लिए प्रस्तुत कर सकता है।

जहाँ तक उत्तरी सागर को बाल्टिक से जोड़ने वाली कील नहर का सम्बन्ध है इसके बारे में वर्साय की सन्धि में यह प्रतिपादित किया गया था कि जर्मनी के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध रखने वाले सभी राज्यों के लिए यह खुली रहेगी। इससे सम्बन्धित कोई भी विवाद पहले तो कील स्थित जर्मन न्यायालय के सम्मुख जाएगा और उसके बाद यदि आवश्यक हुआ तो स्थायी न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया जाएगा। इन प्रावधानों ने कील नहर के सम्बन्ध में निश्चय ही भागाधिकार की व्यवस्था की। नहर में दूसरे राज्यों की सम्पत्ति, कर एवं यातायात सुविधाओं के सम्बन्ध में वही व्यवस्था की जो जर्मनी ने राष्ट्रों, सम्पत्ति तथा जलपोतों के सम्बन्ध में की गई है।

विम्बलडेन विवाद (Wimbledone-case) में स्थायी न्यायालय में फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन, इटली तथा जापान ने जर्मनी के विरुद्ध आरोप लगाया। न्यायालय ने निर्णय दिया कि जर्मनी की कार्यवाही वर्साय की सन्धि की धारा 380 के अन्तर्गत उसके दायित्वों का उल्लंघन थी। जर्मनी का तर्क था कि स्वेज और पनामा नहरों द्वारा स्थापित परम्पराओं के सदर्भ में उसका दायित्व कोई महत्त्व नहीं रखता।

पनामा नहर के सम्बन्ध में संयुक्तराज्य अमरिका ने स्वयं ही भोगाधिकार का दायित्व अपने ऊपर लिया। उसने विश्व समाज के सभी देशों को इसमें होकर निर्गम गमन का अधिकार दिया। सम्बन्धित राज्य को क्षतिपूर्ति और दूसरी औपचारिक शर्तें पूरी करनी होंगी। पनामा नहर का वर्तमान स्तर 18 नवम्बर, 1901 की संधि पर निर्भर करता है। इसके अन्तर्गत संयुक्तराज्य अमरिका को पनामा नहर की रचना नियमन, प्रबन्ध और सुरक्षा का दायित्व सौंपा गया। यह समान आधार पर सभी राज्यों के व्यापारिक जहाजों और युद्धपोतों के लिए खोल दी गई। युद्धकाल में युद्धकारी राज्यों द्वारा शत्रुतापूर्ण कार्यों के विरुद्ध नहर की सुरक्षा का दायित्व संयुक्तराज्य अमरिका को सौंपा गया। यह माना गया कि संयुक्तराज्य अमरिका चुंगी या दूसरे करों के सम्बन्ध में किसी राज्य के विरुद्ध भेद भाव नहीं करेगा। यह मान्यता स्वयं आरोपित भोगाधिकार का उदाहरण मानी जा सकती है।

पनामा नहर के सम्बन्ध में मुख्य समस्या युद्ध के समय उसके उपयोग के बारे में होती है। तटस्थीकरण के सामान्य सिद्धान्तों के अनुसार यह समझा गया कि नहर को युद्ध के समय सभी युद्धकारी राज्यों के जहाजों के लिए खुला छोड़ देना चाहिए बशर्ते कि वे इसके प्रयोग से सम्बन्धित नियमों का पालन करें। यदि संयुक्तराज्य अमेरिका स्वयं एक युद्धकारी देश है तो यह स्वाभाविक हो जाता है कि नहर का वह अपने शत्रु राज्यों के लिए न खोले। ऐसी स्थिति में संयुक्तराज्य अमेरिका नहर की किलेबन्दी का अधिकार रखता है। सन् 1912 में उसने इस अधिकार का प्रयोग भी किया। दोनों विश्व-युद्धों के समय संयुक्तराज्य अमरिका तब तक तटस्थ बना रहा जब तक कि सभी राज्यों के युद्धपोत इस नहर में होकर स्वतन्त्र रूप से गुजरे। यहाँ तक कि युद्ध जर्मन जहाजों ने इसका प्रयोग किया। जब संयुक्तराज्य अमरिका युद्ध में सक्रिय हो गया तो नहर शत्रु राज्यों के लिए बन्द कर दी गई।

सन् 1936 मे और उसके बाद सन् 1955 मे सयुक्तराज्य अमेरिका और पनामा राज्य के बीच सन्धि हुई। इनके द्वारा पनामा जोन (Panama Zone) के सम्बन्ध मे व्यवस्था की गई।

स्वेज नहर भी पनामा नहर की भाँति अन्तर्समुद्री नहर है। यह भू-मध्य सागर को लाल सागर से जोड़ती है। सन् 1956 मे मिस्र द्वारा अधिकृत करने से पहले यह नहर भागाधिकार के इतिहास मे प्रमुख उल्लेख रखती थी। स्वेज नहर का भाग्य समय के साथ-साथ बदलता रहा है। सन् 1869 मे इस नहर की रचना की गई। सन् 1883 के बाद मिस्र ग्रेट-ब्रिटेन का सरक्षित राज्य बन गया। 29 अक्तूबर, 1888 को कौन्सटेन्टिनोपोल मे 9 प्रमुख योरोपीय राज्यो ने एक अभिसमय पर हस्ताक्षर किये यद्यपि किसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन की व्यवस्था नही की गई थी, किन्तु नहर को सभी राज्यों के जहाजो के लिए खोल दिया गया। नहर की नाकाबन्दी नही की जा सकती थी। इसके क्षेत्र मे कोई शत्रुतापूर्ण कार्य अथवा किलेबन्दियाँ नही की जा सकती थी। ग्रेट-ब्रिटेन को इस सम्बन्ध मे एक विशेष स्थिति सौंपी गई। यह अभिसमय केवल कुछ इरादो की घोषणा के अतिरिक्त कुछ नहीं था। इसे सन् 1904 मे फ्रांस तथा ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा की गई सन्धि मे अधिक स्पष्ट किया गया।

सन् 1922 मे मिस्र एक स्वतन्त्र राजधानी बन गया, किन्तु उसके जलमार्ग के सम्बन्ध मे कोई विशेष परिवर्तन नही आया। सन् 1936 के समझौते ने स्वेज नहर को मिस्र के प्रदेश का अभिन्न भाग बना दिया। 19 अक्तूबर, 1954 को सभी ब्रिटिश सेनाएँ मिस्र के बाहर चली गई उसके बाद 26 जुलाई, 1956 को मिस्र ने स्वेज नहर कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर दिया और मिस्र ने इसकी समस्त सम्पत्ति को अपने नियन्त्रण मे ले लिया। मिस्र की कार्यवाही के प्रति विदेशों मे कड़ी प्रतिक्रिया हुई। 2 अगस्त, 1956 को ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, और सयुक्तराज्य अमेरिका ने एक सयुक्त वक्तव्य मे सन् 1888 के अभिसमय को मानने पर जोर दिया। अक्टूबर, 1956 मे फ्रांस और ग्रेट-ब्रिटेन ने मिस्र पर सशस्त्र आक्रमण कर दिया। सयुक्तराष्ट्र सघ, सयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत रूस के दबाव के कारण आक्रमणात्मक कार्यवाही रोक दी गई।

स्वेज नहर के इतिहास का अन्तिम अध्याय अनेक औपचारिक समझौतो के माध्यम से लिखा गया। 24 अप्रैल, 1957 को मिस्र द्वारा की गई घोषणा मे सन् 1888 के अभिसमय की शर्तों को स्वीकार किया गया। इसके अन्तर्गत सभी राष्ट्रो को स्वतन्त्र और निर्बाध नौ चालन का अधिकार दिया गया। कैरो सरकार ने इस बात पर जोर दिया कि वह इजराइल से आने जाने वाले जहाजों को देखने, तलाशी लेने और रोकने का अधिकार रखता है। इजराइल और मीरिया तथा मिस्र के बीच हुए युद्ध-विराम समझौते मे इसे अवशिष्ट शक्ति के रूप मे माना गया। सन् 1888 का अभिसमय स्वेज नहर [illegible] अन्तर्राष्ट्रीय स्तर को स्वीकार करता है और सभी राज्यो को इस [illegible] उपयोग करने की स्वतन्त्रता देता है।

मिस्र ने सन् 1888 के प्रतिसमय से भिन्न इजराइल के सभी सामान का नहर में होकर गुजरने पर रोक लगाई है। यह व्यवहार सुरक्षा परिषद् के 1 सितम्बर, 1951 के प्रस्ताव तथा 13 अक्टूबर, 1956 को सुरक्षा परिषद् द्वारा नहर सचालन के लिए स्वीकृत छः सिद्धान्तो मे द्वितीय और तृतीय की अवहेलना है।

विशेष भोगाधिकार (Special Servitudes)

इस शीर्षक के अन्तर्गत उन भोगाधिकारो को लिया जाता है जिनका सम्बन्ध किसी विशेष राज्य अथवा राज्यों से रहता है। इनका महत्व सामान्य भोगाधिकारो की अपेक्षा कम है। ये इसलिए उल्लेखनीय हैं क्योंकि ये एक राज्य की प्रादेशिक प्रभुता पर समय समय पर डाले गए प्रतिबन्धो और सम्प्रभुता की पूर्ण प्रकृति के बीच विरोध उत्पन्न करते हैं। कभी-कभी एक राज्य से सम्बन्धित ये भोगाधिकार सामान्य बनने की प्रवृत्ति दिखाते हैं।

17वी और 18वीं शताब्दियो मे विशेष भोगाधिकार अत्यन्त सामान्य थे। प्रादेशिक सम्प्रभुता का विचार अधिक कठोर बनने पर ये कम सामान्य बन गए। ये प्राय किसी भी सन्धि द्वारा निर्मित किए जाते हैं। प्रायः निषेधात्मक भोगाधिकार के सम्बन्ध मे यह सच है। इसके अन्तर्गत राज्य को विशेष रूप से प्रादेशिक क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने से रोक दिया जाता है। विधेयात्मक भोगाधिकार के अन्तर्गत दूसरे राज्य को एक राज्य मे कुछ कार्य करने की सुविधा दी जाती है। सामान्यत यह भी सन्धि-समझौतो पर निर्भर करता है।

सामान्य भोगाधिकार की भाँति विशेष भोगाधिकार की कानूनी प्रकृति के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज स्पष्ट नहीं है। प्रदेश मे ये किस सीमा तक दिए जाते है, प्रदेशों के एक राज्य से दूसरे राज्य के लिए स्थानान्तरण का क्या प्रभाव होता है और दोनों सम्बन्धित पक्षों के बीच इसकी क्या स्थिति होगी आदि प्रश्नो के सम्बन्ध में यह स्पष्ट नहीं है। विशेष भोगाधिकार के निषेधात्मक और विधेयात्मक भाग निम्न प्रकार है—

(क) विधेयात्मक भोगाधिकार (Positive Servitudes)—ये अनेक उद्देश्यों के लिए निर्मित किए जाते हैं। इनमे कुछ की प्रकृति आर्थिक होती है। उदाहरण के लिए, दूसरे राज्य के प्रादेशिक जल मे मछली पकड़ने का अधिकार, उस राज्य में होकर रेल लाइन निकालने का अधिकार आदि। सन् 1783 की सन्धि द्वारा ब्रिटिश प्रादेशिक जल पर यह दायित्व डाला गया कि सयुक्तराज्य अमेरिका की जनता इसमे कुछ स्थानों पर मछली पकड सकती है। सन् 1812 के युद्ध ने इन दायित्वों पर क्या प्रभाव डाला इस सम्बन्ध मे दोनों पक्षो के बीच विवाद उत्पन्न हो गया। सन् 1818 मे नई सन्धि की गई। इसके सम्बन्ध मे विवाद उत्पन्न होने पर बाद में सन् 1854, 1871 और 1885 मे सन्धि की गई। अन्त मे सन् 1910 में पच फैसले द्वारा मामले को सुलझाया गया। न्यायाधिकरण द्वारा प्रमुख बातो मे ग्रेट-ब्रिटेन का पक्ष लिया गया। इसने भोगाधिकार की कानूनी प्रकृति पर विस्तार से विचार किया। भोगाधिकार का पूरा सिद्धान्त अस्वीकार कर दिया गया क्योंकि

यह आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त से असंगति रखता था। आजकल राज्यों की सम्प्रभुता और स्वतन्त्रता में विश्वास किया जाता है तथा आधुनिक राज्यों के संविधान इसे स्वीकार करते हैं।

अपने प्रदेश में होकर रेल मार्ग का भोगाधिकार प्रदान करने का उदाहरण चीन को माना जा सकता है। सन् 1895 और सन् 1898 के समझौतों द्वारा पीकिंग सरकार ने रूस और जर्मनी की सरकार को क्रमश मन्चूरिया और शान्तुंग प्रदेश में रेल मार्ग बनाने और चलाने का अधिकार दिया। सन् 1905 में रूस के अधिकारों को जापान ने ग्रहण कर लिया। उसने सन् 1914 में जर्मनी के अधिकारों को भी ले लिया।

(ख) निषेधात्मक भोगाधिकार (Negative Servitudes)—ये प्रायः राजनीतिक और सैनिक उद्देश्यों से सम्बन्धित होते हैं। 17वीं और 18वीं शताब्दियों में की जाने वाली शान्ति-सन्धियों की यह आम शर्त होती थी कि किसी विशेष नगर की किलेबन्दी न की जाए। सन् 1713 की सन्धि ने फ्रांस पर डनकिर्क (Dunkirk) में किलेबन्दी करने से रोक लगा दी। सन् 1814 की पेरिस सन्धि ने यह व्यवस्था की कि अन्तवर्प (Antwerp) को कभी सैनिक द्वीप नहीं बनाया जाए। सन् 1856 की पेरिस सन्धि ने रूस से कृष्ण सागर के तीरों में किलेबन्दियों को हटाने और उस जल में नौ-सेना न रखने की मांग की। यह भोगाधिकार रूस पर उसकी इच्छा के विरुद्ध थोपा गया था। सन् 1870 में फ्रांस और प्रशा के बीच युद्ध छिड़ने पर इस भोगाधिकार को मिटा दिया गया।

निषेधात्मक भोगाधिकार का अन्य महत्त्वपूर्ण उदाहरण सन् 1919 की वर्साय की सन्धि के अनुसार जर्मनी से सम्बन्ध रखता है। सन्धि की शर्तों के अनुसार राइन प्रदेश से पूर्व दिशा में 50 किलोमीटर पर खींची गई रेखा से पश्चिम की ओर जर्मन प्रदेश में सभी किलेबन्दियाँ एवं सर्वेक्षण कार्य रोक कर उसे पूर्ण असैनिक क्षेत्र बना दिया गया। इस क्षेत्र में प्रत्येक प्रकार की किलेबन्दियाँ रोक दी गई। जब 7 मार्च, 1936 को जर्मनी ने इस क्षेत्र का सैन्यीकरण किया तो अपने पक्ष में यह कहा कि फ्रांस ने लोकार्नो सन्धि का उल्लंघन किया है अतः जर्मनी भी ऐसा कर सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की गई सन्धियों में पूर्ण अथवा आंशिक सैन्यीकरण का उल्लेख किया गया था। विभिन्न सन्धियों द्वारा स्थानीय प्रतिबन्ध लगाए गए। इनके अतिरिक्त सीमाओं की सुरक्षा के लिए भूमि और वायु शस्त्रीकरण एवं किलेबन्दियों पर रोक लगाई गई।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि किसी भी राज्य का प्रदेश उसकी भूमि, जल और वायु के विभिन्न भागों और रूपों का संयोग है। प्रदेश की सीमाएँ विभिन्न राष्ट्रों के बीच होने वाली विशेष अथवा सामान्य सन्धियों द्वारा निश्चित की जाती हैं। परम्पराएँ और रिवाज इन सीमाओं के निर्धारण का मुख्य आधार बनते हैं। अनेक बार क्षेत्रीय अथवा विश्वयुद्ध और उ के बाद की जाने वाली शान्ति-सन्धियाँ राज्य की सीमाओं में गम्भीर परिवर्तन कर देती हैं। अनेक प्रकार से राज्यों

के प्रदेश उनसे विलग हो जाते हैं अथवा उन्हें नए प्रदेशों की प्राप्ति हो जाती है। प्रदेश प्राप्त करने और खोने के विभिन्न प्रकार पृथक् से उल्लेख रखते हैं।

प्रदेश प्राप्त करने और खोने के प्रकार
(Modes of Acquiring and Lossing Territories)

अन्तर्राष्ट्रीय रगमंच पर न केवल नए राज्य बनते हैं वरन् स्थित राज्य नए प्रदेश भी प्राप्त करते हैं जो या तो किसी राज्य के स्वामित्व से नहीं थे अथवा दूसरे राज्य के अधिकार में थे। भू-भाग का एक ऐसा प्रदेश जिस पर अभी तक कोई व्यक्ति निवास नहीं करता था अथवा जो किसी स्थित राज्य की सीमा में नहीं था उसमें जब अनेक लोग प्रवेश पा लेते हैं तो एक राज्य बन जाता है। जन्मते ही यह राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज का सदस्य नहीं हो जाता। जब दूसरे राज्य इसे मान्यता प्रदान करते हैं तब वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बनता है।

कभी-कभी गैर-सरकारी व्यक्ति या निगम भी ऐसे प्रदेश प्राप्त कर लेते हैं जो किसी राज्य की प्रादेशिक सर्वोच्चता के अन्तर्गत नहीं आते। प्रदेश की यह प्राप्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्ध नहीं रखती। इस कानून के नियम यहाँ लागू नहीं होते। यदि यह व्यक्ति या निगम सुरक्षा चाहता है तो उसे नए राज्य की घोषणा करनी चाहिए तथा दूसरे राज्यों से अपनी मान्यता की प्रार्थना करनी चाहिए।

किसी राज्य द्वारा नया प्रदेश प्राप्त करने और उस पर प्रभुसत्ता की स्थापना करने के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही विचारकों में मतभेद रहा है। विवाद का मुख्य कारण यह है कि राज्य के प्रदेश का अर्थ समय-समय पर बदलता रहा है। जब ग्रोशियस ने आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून की नींव रखी तो राज्य को मध्ययुग की भाँति राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति समझा जाता था। इसलिए ग्रोशियस ने राज्य द्वारा प्रदेश की प्राप्ति के लिए निजी सम्पत्ति से सम्बन्धित रोमन कानून के नियमों को अपनाया। आजकल राज्य द्वारा प्रदेश प्राप्ति का अर्थ केवल ऐसे प्रदेश पर सम्प्रभुता की प्राप्ति से लगाया जा सकता है। इन परिस्थितियों में रोमन कानून के नियम लागू नहीं किए जा सकते। राज्य द्वारा प्रदेश की प्राप्ति के प्रकार, व्यवहार को देखकर निश्चित किए जाने चाहिए।

प्रो ओपेनहेम के मतानुसार, राज्य जीवधारी सावयवी के समान प्रदेश को घटाते और बढ़ाते रहते हैं। राज्य द्वारा नया प्रदेश प्राप्त करने और उस पर प्रभुसत्ता कायम करने के पाँच प्रकार हैं—(1) आवेशन (Occupation), (2) दीर्घकालीन उपभोग (Prescription), (3) उपचय (Accretion), (4) हस्तान्तर (Cession) और (5) विजय (Conquest)। इसके अतिरिक्त शान्ति की सन्धियाँ और गठबन्धन आदि को भी प्रदेश की प्राप्ति का साधन माना जाता है।

अनुसंधान और खोज ऐतिहासिक दृष्टि से प्रदेश प्राप्त करने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। 18वीं शताब्दी तक प्रदेश पर कानूनी अधिकार के लिए केवल उसकी खोज करना ही पर्याप्त था, किन्तु उसके बाद प्रभावशील आवेशन कानूनी

अधिकार प्राप्ति के लिए आवश्यक बन गया। प्रदेश प्राप्ति के उक्त प्रकारों का सामान्य परिचय निम्न प्रकार किया जा सकता है—

1 आवेशन (Occupation)

आवेशन का अर्थ एक राज्य द्वारा ऐसी भूमि को अपने प्रदेश मे मिलाना है जो अभी तक किसी राज्य की नही है। यदि प्रदेश के रहने वाले लोग आदिवासी अथवा कम सभ्य हैं तो भी इसे रिक्त भूमि माना जाएगा। ऐसे प्रदेश पर राज्य का वास्तविक स्वामित्व तब होता है जब खोज पर आधारित अपने दावे को वह दूसरों द्वारा मान्य बना दे। मछलीमारों का केवल समय-समय पर आना-जाना और वहाँ मछलियाँ पकड़ना किसी प्रदेश पर स्वामित्व का आधार नहीं बनता। वेटेल ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि 'जो चीजें अभी तक किसी के कब्जे मे नही हैं उनके बारे में सभी लोग समान अधिकार रखते हैं। ये चीजें उसकी होती हैं जो पहले कब्जा करता है। इसलिए जब एक राष्ट्र किसी प्रदेश को जनशून्य अथवा स्वामीहीन पाता है तो कानूनी रूप से वह उस पर अधिकार कर लेता है। इस सम्बन्ध मे अपने अभिप्राय के पर्याप्त प्रमाण देने के बाद वह दूसरे राष्ट्र द्वारा उससे वंचित नही किया जा सकता।"[1]

प्रो फेनविक (Prof. Fenwick) के कथनानुसार—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे आवेशन का अर्थ एक राज्य द्वारा ऐसे प्रदेश को प्राप्त करना है जो अभी तक खाली है। इस प्रदेश की प्राप्ति उसे राष्ट्रीय अधिकार मे लाने और उस पर सम्प्रभुता का प्रयोग करने के लिए की जाती है।" ब्रायर्ली के मतानुसार, 'आवेशन का अभिप्राय ऐसा प्रदेश प्राप्त करना है जो किसी अन्य राज्य का भाग न हो।" प्रो ओपेनहेम ने लिखा है कि "आवेशन विनियोग का कार्य है जिसके द्वारा एक राज्य साभिप्राय ऐसे प्रदेश पर सम्प्रभुता प्राप्त करता है जो उस समय दूसरे राज्य की सम्प्रभुता के अधीन नहीं है।" प्रो ग्लान लिखते हैं कि "आवेशन का अर्थ एक राज्य द्वारा सम्बन्धित भूमि को राष्ट्रीय प्रदेश मे मिलाने के लिए ऐसे प्रदेश को प्राप्त करना है जो अभी तक किसी दूसरे राज्य का भाग नहीं है।"

विद्वानो के कथनों से आवेशन के अर्थ के बारे में निम्न बातें स्पष्ट होती हैं-

(क) आवेशन साभिप्राय होता है।
(ख) आवेशन एक राज्य द्वारा अपने प्रदेश को बढ़ाने और उस पर सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करने के लिए किया जाता है।
(ग) आवेशित भूमि किसी अन्य राज्य के अधिकार मे नही होती।
(घ) आवेशित भूमि खोज का परिणाम होती है।

[1] "All men have an equal right to things which have not yet come into the possession of anyone, and these things belong to the person who first takes possession When therefore a nation findaa country un-inhabited and without an owner, it may lawfully take possession of it, and after it has given sufficient signs of its intention in this respect it may not be deprived of it by another nation"

—E de Vattel, Le droit des gens, edition of 1758, Book I, Secs 207-8.

(च) यह भूमि या तो जनशून्य होती है अथवा ऐसे लोगों से मुक्त होती है जिन्हे असभ्य या आदिवासी कहा जाता है।

(छ) इस भूमि पर ऐसे लोगो या राज्य का आवेशन नहीं होता जिनका राजनीतिक सगठन आवेशन के पूर्व अधिकारो का दावा करे।

आवेशन का महत्त्व उस समय विशेष था जब धरती के अनेक भू-भाग मानव ज्ञान की परिधि मे बाहर थे। आजकल शीत ध्रुवीय प्रदेशो के अतिरिक्त प्रायः सभी भू मण्डलीय प्रदेशो पर किसी न किसी राज्य की सत्ता स्थापित हो चुकी है। इस प्रकार आवेशन का महत्त्व कम हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा कुछ समय पूर्व तक सभ्य और असभ्य जनता के बीच विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकी। सामान्यत अन्तर्राष्ट्रीय कानून घुमक्कड जातियो के स्थायित्व को मान्यता नहीं देता।

आवेशन की शर्तें—किसी प्रदेश पर आवेशन द्वारा अधिकार स्थापित करने के लिए आवश्यक शर्तें निम्नलिखित हैं—

(क) स्वामित्वहीनता (Res-Nullius)—जिस प्रदेश का आवेशन किया जा रहा है वह किसी दूसरे राज्य के स्वामित्व मे नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह आवश्यक रूप से निर्जन प्रदेश हो, किन्तु केवल यह है कि उस पर किसी दूसरे राज्य के स्वामित्व का दावा न हो। यदि ऐसा हुआ तो वह आवेशन न रह कर हडपना बन जाएगा। आवेशन मे बल प्रयोग द्वारा किसी सत्ता को हटाने का प्रश्न नही उठता। इस प्रदेश मे राजसत्ता का सर्वथा अभाव होता है। ऐसा प्रदेश प्राय वही हो सकता है जिसकी हाल ही खोज की गई है। इस प्रदेश मे स्वदेशी लोग अपने आदिवासी सगठनों के अधीन रह सकते हैं तथा बिना राज्य की स्थापना किए व्यक्तिगत सम्पत्ति का उपभोग कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज से बाहर स्थित राज्य भी यदि प्रदेश पर अधिकार रखता है तो उसका आवेशन नही किया जा सकता। यदि किसी प्रदेश पर एक समय राज्य का अधिकार था और अब उसने वह छोड दिया है तो उसका आवेशन किया जा सकेगा। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने ग्रीनलैंड पर नार्वे के अधिकार को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया था कि इस पर पहले से ही डेनमार्क की प्रभुसत्ता वर्तमान है।

जो प्रदेश स्वतन्त्र माना जाता है उसे भी आवेशन का विषय नहीं बनाया जा सकता। उदाहरण के लिए, खुला समुद्र या उसके तट सभी राज्यों के प्रयोग के लिए खुले रहते हैं इसलिए उन पर कोई विशेष राज्य अपना अधिकार नहीं जमा सकता।

(ख) प्रभुता प्राप्ति की इच्छा (Intention to Exercise Sovereignty)—सम्बन्धित राज्य का प्रदेश पर अधिकार करने की इच्छा और इरादा होना चाहिए। उसकी यह इच्छा शान्तिपूर्ण तरीके से वास्तविक सत्ता के प्रदर्शन द्वारा अभिव्यक्त होनी है। कभी कभी विशेष परिस्थितियों में सत्ता का प्रदर्शन असम्भव बन जाता है तो राज्य द्वारा स्वामित्व का इरादा व्यक्त करना ही पर्याप्त हो जाता है। फ्रांस और मैक्सिको के बीच एक विवाद मे पच-फैसले मे 1931 मे इसी सम्बन्ध में अपना

निर्णय दिया। यह विवाद मैक्सिको के पश्चिमी तट से 670 मील दूर के एक निर्जन टापू से सम्बन्धित था जिसे फ्रांस ने 1858 में अपने राज्य का अंग घोषित किया। यद्यपि उसने इस पर आधिपत्य नहीं किया, किन्तु निरन्तर अपने स्वत्व की घोषणाएँ तथा अधिकार का इरादा प्रकट करता रहा। मैक्सिको ने इस पर प्रभावशाली आवेशन कर लिया, किन्तु फ्रांस के इरादे को देखकर इसे अनुचित माना गया।

(ग) वास्तविक आवास आवश्यकता (Necessity of Actual Settlement)- निर्जन प्रदेश पर कब्जा करने का इरादा व्यक्त करने के अतिरिक्त राज्य को अपने खोजे हुए प्रदेश को अन्तिम और निश्चित रूप से अपना बनाने तथा दूसरे राज्यों का सम्मान प्राप्त करने के लिए वास्तव में वहाँ बसना होगा। इसके लिए राज्य को वहाँ झण्डा गाड़ कर अपनी प्रभुसत्ता की घोषणा करने, बस्ती बनाने और प्रशासन का प्रबन्ध करने की व्यवस्था भी सचालित करनी होगी। ओपेन्हेम के कथनानुसार, औपचारिक घोषणाएँ तब तक केवल काल्पनिक आवशेन रहेंगी जब तक कि ध्वजा की सत्ता को बनाये रखने के लिए आवास की व्यवस्था न की जाए। आवास का रूप स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार बदल सकता है। प्रारम्भ में प्रदेश को मिलाने के औपचारिक कार्य और बस्तियाँ बनाने या सैनिक सत्ता की वास्तविक स्थापना के बीच पर्याप्त समय गुजर जाता था। उत्तरी अमेरिका ब्रिटिश ताज को सौंपने और वर्जीनिया तथा न्यू इगलैण्ड के उपनिवेश बसने के बीच एक शताब्दी गुजर गई। इस सम्बन्ध में उत्पन्न कुछ विवादों ने यह स्पष्ट किया है कि जब एक राज्य किसी नए प्रदेश की खोज करता है तो उसका केवल असम्पूर्ण अधिकार (Inchoade Title) स्थापित होता है किन्तु प्रभावशाली आवेशन द्वारा ही यह पूर्ण बन पाता है। असम्पूर्ण अधिकार एक उपयुक्त समय तक ही मान्य समझा जाता है और यदि राज्य ने इस काल में वास्तविक अधिकार नहीं किया तो उसका दावा महत्वहीन बन जाएगा।

1906 में Island of Palmas के मामले में हेग के पचायती न्यायालय के पच ह्यूबर (Huber) ने इस प्रश्न का विस्तृत विवेचन किया है। पालमास का टापू फिलिपाइन द्वीप समूह और पूर्वी द्वीप समूह के मध्य स्थित है। इसकी खोज स्पेन द्वारा की गई थी। 1898 की सन्धि द्वारा स्पेन ने अमेरिका को फिलिपाइन द्वीप समूह सौंप दिया। इस नाते सयुक्त राज्य अमेरिका अपने को इस टापू का उत्तराधिकारी समझने लगा। दूसरी ओर पूर्वी द्वीप समूह डचों के अधिकार में था और वे इस टापू में भी अपना स्वत्व मानते थे। इस विवाद के सम्बन्ध में ह्यूबर ने अपना निर्णय देते हुए तर्क दिया कि स्पेन ने यद्यपि इस टापू की खोज की है, किन्तु स्पेन वासियों ने यहाँ आवास नहीं किया, यहाँ के मूल निवासियों से कोई सम्पर्क नहीं रखा और टापू पर प्रभावशाली प्रभुत्व स्थापित नहीं किया। अत स्पेन और और उसके उत्तराधिकार के रूप में सयुक्तराज्य अमेरिका अब इस पर कोई अधिकार नहीं रखता। यह टापू डच प्रभुत्व में माना जाएगा क्योंकि इसमें हालैण्ड ने निरन्तर और शान्तिपूर्ण नीति से अपनी सत्ता का प्रदर्शन किया है।

(घ) अन्य राज्यों को सूचित करना (Notification to other States)–आवेशन को वैध बनाने के लिए सम्बन्धित राज्य दूसरे राज्यों को सूचित करे या न करे इस सम्बन्ध मे मतभेद है। हालैण्ड और पिट काब्वेट ने इसे आवश्यक माना है किन्तु ओपेनहेम ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए महत्त्वहीन समझा है। उनके मतानुसार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम ऐसा नही है जो दूसरे राज्यों को आवेशन की सूचना देना आवश्यक बताता हो।

(च) आवेशन क्षेत्र का आधार (Extent of the Area of Occupation)—आवेशन को तभी उचित माना जाता है जब प्रभावशाली हो। अतः केवल उतने क्षेत्र का ही आवेशन किया जाना चाहिए जिस पर प्रभावशील नियन्त्रण रखा जा सके। व्यवहार मे राज्यों ने अतीतकाल मे इस नियम के अनुरूप न तो कार्य किया है और न करना चाहते हैं। इसके विपरीत उन्होंने अधिक से अधिक क्षेत्र को अपने अधिकार मे लेने की चेष्टा की है।

आवेशन के क्षेत्र के आकार के सम्बन्ध मे दो सिद्धान्त प्रचलित हैं–निरन्तरता का सिद्धान्त और सस्पर्शिता (Contingency) का सिद्धान्त। प्रथम के अनुसार किसी प्रदेश को आवेशित करने वाले राज्य अपनी प्रभुता इतने बड़े क्षेत्र पर रख सकता है जो उस प्रदेश की सुरक्षा और भूमि के विकास के लिए आवश्यक हो। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार आवेशन करने वाला राज्य अपने पड़ोसी प्रदेशों पर प्रभुता का विस्तार कर सकता है जो भौगोलिक रूप से उसके निकट है। ये दोनों सिद्धान्त अस्पष्टता और व्यापकता रखते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने इनके सम्बन्ध मे कोई निश्चित नियम नहीं अपनाया है।

आवेशित प्रदेश का आकार उसकी प्रकृति पर भी निर्भर करता है। ओपेनहेम के मतानुसार, इस सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाते हैं उनका कोई सच्चा कानूनी अपराध नही है। केवल यह सामान्य नियम महत्त्वपूर्ण है कि आवेशन उतने प्रदेश का किया जाए जितने पर वह प्रभावशाली सिद्ध हो सके। यह सच है कि जब एक राज्य किसी प्रदेश पर कब्जा करता है और उसके किसी भाग पर बसता है तो उसकी इच्छा आवेशन द्वारा एक बड़ा क्षेत्र प्राप्त करने की रहती है। यह इच्छा केवल तभी वास्तविकता मे परिणत हो सकती है जबकि आवेशनकर्ता राज्य सम्प्रभुता का प्रयोग कर सके। एक राज्य जितने प्रदेश पर प्रभावशाली नियन्त्रण रख सकता है उसका निर्धारण कई तत्त्वों द्वारा किया जाता है जैसे—उस प्रदेश के निवासियों की भावनाएँ, सेना या पुलिस के प्रबन्ध की सम्भावना, सम्बन्धित प्रदेश के बारे मे की गई सन्धियाँ आदि-आदि।

(छ) स्वामित्व खोना (Loss of Title)–प्रदेश का स्वामित्व उस समय समाप्त हो जाता है जब उसके स्वामी द्वारा अपना अधिकार छोड़ दिया जाए। इस सम्बन्ध मे कुछ विवाद अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे उत्पन्न हुए हैं। फाकलैण्ड द्वीपों से सम्बन्धित विवाद ने कानून और तथ्य दोनों की दृष्टि से समस्या उत्पन्न की। इस द्वीप पर स्पेन और ग्रेट-ब्रिटेन दोनों अपनी खोज का दावा कर रहे थे। इसमे सर्वप्रथम आवास फ्रांस के

नाम पर 1764 में किया गया। इसके अधिकार 1767 में स्पेन को स्थानान्तरित कर दिए गए। इस बीच 1765 में द्वीप पर ग्रेट-ब्रिटेन के नाम से कब्जा कर लिया गया। 1771 में स्पेन ने द्वीप को ब्रिटेन के कब्जे में छोड़ दिया। तीन वर्ष बाद ब्रिटेन वालों ने अपने कब्जे के कुछ चिन्ह और सूचनाएँ छोड़कर सेनाएँ वापस बुला लीं। स्पेन का आवेशन 1810 तक रहा। बाद में ब्यूनो एयर्स की सरकार ने 1833 तक आवेशन रखा। इसके बाद ग्रेट ब्रिटेन का इस पर वास्तविक कब्जा रहा और इस आधार पर वह स्वामित्व का दावा करने लगा जिसके लिए अर्जेन्टाइना भी दावा कर रहा था। उसका यह कहना था कि ग्रेट-ब्रिटेन ने 1774 से 1810 तक के लम्बे समय तक प्रदेश से अपने को दूर रखा, इसलिए उसका दावा समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त ग्रेट-ब्रिटेन ने 1810 में पुनः अधिकार पाने के लिए जो दबाव का प्रयोग किया है उसके आधार पर चिरकालिक मुक्ति का दावा समाप्त हो जाता है।

इस सम्बन्ध में एक दूसरा उदाहरण शान्तालूसिया (Santa Lucia) का है। यह केरीबियन सागर का एक टापू है। सन् 1640 में यहाँ केरीब-भारतीयों द्वारा ब्रिटिश उपनिवेश की नरहत्या द्वारा समाप्ति कर दी गई। उसके बाद टापू के आवेशन का कोई प्रयास नहीं किया गया। सन् 1650 में फ्रांस ने इस निर्जन प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य उदाहरण भी हैं जैसे—अफ्रीका में डीलागोआ खाड़ी के आसपास का क्षेत्र तथा इला-डा-त्रिनिडेडे का अटलांटिक द्वीप आदि फाकलैण्ड को छोड़कर इस क्षेत्र में कोई विवाद नहीं रहा।

आवेशन सम्बन्धी नियम (Rules of Occupation)

आवेशन के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के कुछ नियम विकसित हुए हैं। अनेक विवादों में समय-समय पर दिए गए निर्णय भविष्य की परम्परा निर्धारित करते हैं। निरन्तरता और स्पर्शिता के नियमों की दृष्टि से राज्यों के बीच अनेक विवाद रहे हैं। इन विवादों को सुलझाने में स्थित कानूनी सिद्धान्त अपर्याप्त रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इस सामान्य नियम से अधिक कुछ व्यवस्था नहीं कर पाता कि आवेशन उतना किया जाए जितना कि प्रभावशाली हो सके। परम्परागत कानून में उस स्थिति के लिए कोई व्यवस्था नहीं जिसमें प्रदेश का रचनात्मक आवेशन बिना वास्तविक आवेशन के किया जाता है।

19वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में अफ्रीका के विभाजन के समय कानून के नए सिद्धान्त विकसित हुए। आने वाले समय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर्याप्त उन्नत बना और अधिकांश राज्यों द्वारा यह इच्छा प्रकट की जाने लगी कि उनके उपनिवेशों को दूसरे राज्यों द्वारा मान्यता प्रदान की जाए। अब खोज आदि पुरानी औपचारिकताओं के स्थान पर निश्चित सूचनाओं को आवश्यक समझा जाने लगा है। आवेशनकर्त्ता राज्य को अपने अभिप्राय की सूचना देनी चाहिए। सन् 1884 के बर्लिन सम्मेलन के अन्तिम अधिनियम की धारा 34 में यह व्यवस्था की गई है कि अफ्रीका महाद्वीप के तटवर्ती प्रदेशों पर कब्जा करने वाले राज्यों को इसकी सूचना

सभी हस्ताक्षरकर्ता शक्तियों के लिए भेजनी चाहिए ताकि वे यदि चाहें तो अपना दावा कर सकें।

आधुनिक नियम के अनुसार सूचना के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि आवेशित प्रदेश से व्यवस्था स्थापित करने के लिए स्थानीय सरकार बनाई जाए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संस्थान ने इस प्रश्न पर विचार किया और सन् 1888 में प्रदेशों के आवेशन से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा का प्रारूप प्रस्तुत किया। प्रारूप के अनुसार प्रदेश पर कब्जा करने के बाद एक उत्तरदायी स्थानीय सरकार स्थापित की जानी चाहिए जो आवेशित प्रदेश में अपनी सत्ता का नियमित रूप से प्रयोग कर सके और व्यवस्था स्थापित कर सके। यह कहा गया कि कब्जे से सम्बन्धित सूचना देते समय आवेशित प्रदेश की अनुमानित सीमाओं का उल्लेख किया जाना चाहिए।

पार्श्ववर्ती भूमि का सिद्धान्त
(Doctrine of Hinterland)

यह सिद्धान्त आवेशन की दृष्टि से उल्लेखनीय है। यद्यपि आज के व्यवहार की दृष्टि से इसका महत्त्व, खोज एवं आवेशन की भाँति केवल ऐतिहासिक रूप में हो रह गया है। अमेरिका महाद्वीप की आन्तरिक सीमाओं के निर्धारण के सम्बन्ध में उत्पन्न समस्याओं की दृष्टि से 19वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में अफ्रीका का विभाजन करने वाली प्रमुख शक्तियों ने अनेक द्विपक्षीय समझौते किए। इनके द्वारा तटों के निकटवर्ती प्रारम्भिक आवासों के संस्पर्शी प्रादेशिक क्षेत्रों को सीमित किया गया। ये भीतरी क्षेत्र (Interior Zones) पार्श्ववर्ती भूमि (Hinterland or Track-country) कहलाए। इन प्रदेशों पर वास्तविक स्थायी निवास नहीं किया गया था, अत: ये तटवर्ती आवास पर आधारित राज्य के हितों का क्षेत्र माने गए। शीघ्र ही पार्श्ववर्ती प्रदेश (Hinterland) को उपनिवेश माना जाने लगा और जब बाद में भीतरी सीमाएँ निर्धारित की गईं तो पार्श्ववर्ती प्रदेश को नए उपनिवेश का भाग माना गया।

19वीं शताब्दी के अन्त तक ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी और पुर्तगाल के मध्य होने वाले द्वि-पक्षीय समझौतों ने उनके औपनिवेशिक कब्जों की भीतरी सीमाओं को निश्चित रूप से तय कर दिया। उल्लेखनीय है कि ये सन्धियाँ केवल सम्बन्धित पक्षों से ही सम्बन्ध रखती हैं। तीसरा राज्य किसी भी प्रदेश के बारे में अपना दावा कर सकता है।

कुछ प्रादेशिक विवाद (Some Territorial Disputes)

आवेशन से सम्बन्धित कुछ विवादों का उल्लेख करने पर यह विषय अधिक स्पष्ट हो जाएगा। कुछ महत्त्वपूर्ण विवाद निम्नलिखित हैं—

पूर्वी ग्रीनलैंड विवाद—यह विवाद डेनमार्क तथा नार्वे के मध्य था। 10 जुलाई, 1931 को नार्वे ने एक सूचना प्रसारित की जिसमें यह घोषित किया गया कि पूर्वी ग्रीनलैंड के कुछ प्रदेशों पर इसने अधिकार कर लिया है। नार्वे का कहना था कि यह जन शून्य भूमि है जिस पर किसी राज्य का अधिकार नहीं है।

घोषणा के विरुद्ध डेनमार्क ने आपत्ति की और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से इसे अवैध घोषित करने को कहा। उसका कहना था कि इस प्रदेश और समस्त टापू पर डेनमार्क की प्रभुसत्ता है। 5 अप्रैल, 1933 को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि समस्त ग्रीनलैण्ड पर डेनमार्क का न्यायपूर्ण स्वामित्व है। यद्यपि पूर्वी ग्रीनलैण्ड पर डेनमार्क ने सम्प्रभु अधिकारों का प्रयोग कम किया है किन्तु दूसरा कोई राज्य इस प्रदेश पर अपना दावा नहीं करता, इसके अतिरिक्त दुर्गम प्रदेश होने के कारण यहाँ निरन्तर सत्ता का प्रयोग किया जाना सम्भव नहीं था। अत नार्वे का यह कहना गलत है कि यह कोई स्वामित्वहीन प्रदेश था।

लैटिसिया विवाद—क्लिपर्टन द्वीप के सम्बन्ध में फ्रांस तथा मैक्सिको के बीच विवाद था जिसका सन् 1931 में निर्णय किया गया। फ्रांस ने इस द्वीप को सन् 1858 में प्राप्त किया था और उसके बाद ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला कि फ्रांस इस द्वीप को छोड़ना चाहता हो। द्वीप की प्रकृति को देखकर लगातार प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित करना सम्भव नहीं था।

लैटिसिया विवाद में कोलम्बिया और पेरू के बीच सन् 1922 में समझौता किया गया किन्तु पेरू ने इस सन्धि के औचित्य पर सन्देह किया। अन्त में तीन सदस्यों का एक आयोग बैठाया गया। इसने 24 मई, 1934 को रियो-डी जेनीरो में एक प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किए। इसने सन् 1922 की सीमा सन्धि को स्वीकार किया तथा दोनों देशों पर बाध्यकारी बताया।

चाल चाको विवाद—ग्रान चाको सीमा पर बोलिविया और पेरागुएसो के बीच गम्भीर विवाद था। कुछ वर्षों की तनातनी के बाद सन् 1933 में इसने युद्ध का रूप धारण कर लिया। अमेरिकी गणराज्यों तथा राष्ट्रसंघ के प्रयासों के बाद सन् 1935 में दोनों पक्ष युद्ध रोकने तथा विवाद को छः अमेरिकी राज्यों के पंच निर्णय के लिए सौंपने को सहमत हुए। 21 जुलाई, 1938 को शान्ति, मित्रता और सीमाओं की सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए तथा सीमा रेखा के निर्धारण का कार्य पचों को सौंप दिया गया।

यूकेडर तथा पेरू विवाद—यह विवाद लगभग 100 वर्ष तक चला। प्रदेश के स्वामित्व से सम्बन्धित इस विवाद के बारे में अनेक पंच फैसले और मध्यस्थताएँ असफल साबित हुई। अन्त में 29 जनवरी, 1942 को की गई रियो-डी-जेनीरो की सन्धि द्वारा मामला तय किया गया। इसमें विवादास्पद क्षेत्र का अधिकांश भाग पेरू को दे दिया गया। यूकेडर ने इस समझौते को खतरे के समय में अमेरिकी एकता को बनाए रखने की दृष्टि से स्वीकार किया। यद्यपि यूकेडर की व्यवस्थापिका ने इस समझौते को तीस दिन के भीतर स्वीकार कर लिया था, किन्तु सरकार ने इसे दबाव पूर्ण मानकर इसकी निन्दा की।

बेलाइज विवाद—ग्वाटेमाला तथा ग्रेट-ब्रिटेन के बीच बेलाइज (Belize) के स्वामित्व के सम्बन्ध में विवाद था। स्पेन तथा बाद में ग्वाटेमाला के विरोध के बाद भी यह ब्रिटिश उपनिवेश बन गया। सन् 1859 की सन्धि द्वारा ग्वाटेमाला ने इस

प्रदेश पर ग्रेट-ब्रिटेन की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। इस सन्धि ने ग्रेट-ब्रिटेन पर अटलांटिक तट से ग्वाटेमाला नगर तक सड़क बनाने का दायित्व डाला। अत. मुख्य विवाद किसी प्रादेशिक प्रावेशन से सम्बन्धित न होकर सन् 1859 की सन्धि को क्रियान्वित करने के बारे मे था।

ग्रेट-ब्रिटेन ने यह प्रस्ताव किया कि विवाद को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख रखा जाए, किन्तु ग्वाटेमाला ने उस समय तक इस प्रस्ताव को मानने से अस्वीकार कर दिया जब तक निर्णय में दूसरे गैर-कानूनी प्रश्नों पर विचार न किया जाए। ग्रेट ब्रिटेन ने यह सुझाव नहीं माना अत. विवाद उलझा रहा।

2. उपचय तथा अभिवृद्धि (Accretion)

उपचय द्वारा राज्यों के प्रदेश धीरे-धीरे प्राप्त किए तथा खोये जाते हैं। फेनविक की परिभाषा के अनुसार—"यह नदियों के बहाव या तट पर समुद्रों के कार्य द्वारा भूमि मे की गई धीमी वृद्धि है।"[1] प्रो. ओपेनहेम के कथनानुसार—'उपचय नवीन स्थापना द्वारा भूमि की वृद्धि का नाम है।"[2] यह नवीन रचना स्थित राज्य के प्रदेश मे परिवर्तन द्वारा की जा सकती है। कभी-कभी नदी में टापू निकल आता है किन्तु इसे प्रदेश की नई रचना नहीं माना जा सकता क्योंकि नदी पहले ही राज्य का भाग थी। जब समुद्री पट्टी (Maritime belt) मे कोई द्वीप निकलता है तो उसे प्रदेश की अभिवृद्धि माना जाता है। परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार नई रचना द्वारा प्रदेश का प्रसार राज्य के सजग प्रयास के बिना ही हो जाता है। इसके लिए किसी औपचारिक कार्यवाही अथवा घोषणा की आवश्यकता नहीं होती। प्राय. यह वृद्धि शनै-शनै. होती है किन्तु यह सहसा भी हो सकती है। ग्रोशियस ने उपचय से सम्बन्धित नियम रोमन कानून से ग्रहण किए थे और उसके अनुयायियों ने इनको अपरिवर्तित रखा।

प्रो स्टार्क के मतानुसार उपचय के अन्तर्गत एक राज्य की प्रभुसत्ता मे स्थित प्रदेश मे प्राकृतिक कारणों से नए प्रदेश की वृद्धि होती है और वह नया प्रदेश इसमें सम्मिलित होता है।

उपचय के प्रकार—उपचय के अन्तर्गत प्रदेश का प्रसार तीन प्रकार से होता है—(1) नदियों द्वारा धीरे-धीरे लाई गई अथवा बाढ़ द्वारा एकत्रित मिट्टी से बना प्रदेश, (2) समुद्र द्वारा इस प्रकार बढ़ाई गई भूमि और (3) नदियों के मध्य बनने वाले टापू। किसी राज्य के प्रादेशिक समुद्र मे नया टापू बन जाने पर उसका समुद्री क्षेत्राधिकार व्यापक हो जाता है। क्योंकि उसके प्रादेशिक समुद्र की सीमा टापू के अन्तिम छोर से नापी जाती है।

1 "It may be defined as the slow addition made to land by the action of rivers flowing past it or by the action of the ocean on the coast."
—*Charles G Fenwick*, op. cit., p 419.

2 "Accretion is the name for the increase of land through new formations"
—*L Oppenheim*, op cit., p 563

प्रो. ओपेनहेम ने उपचय द्वारा नए निर्माण को मोटे रूप से दो भागों में बाँटा है—कृत्रिम उपचय (Artificial accretion) और प्राकृतिक उपचय (Natural accretion)। यदि उपचय मानवीय प्रयासों का परिणाम है तो इसे कृत्रिम कहा जायेगा और यदि यह प्रकृति के व्यवहार का फल है तो प्राकृतिक कहलाएगा। प्राकृतिक उपचय को आगे गई भागों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे—नदियों में बाढ़ द्वारा मिट्टी का जमाव (Alluvions), डेल्टाज (Deltas), नवजात टापू (New-born Islands) तथा सूखे हुए नदी के तल (Abandoned river-beds) आदि।

(A) कृत्रिम उपचय—नदियों अथवा समुद्र की तटवर्ती रेखा के निकट बाँध बनाकर कृत्रिम उपचय किया जा सकता है। यदि नदियों के किनारे ऐसे बाँध बनाए गए तो पानी का फैलाव दूसरे किनारे पर बढ़ सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार कोई राज्य अपनी प्राकृतिक स्थिति में स्वेच्छापूर्वक ऐसा परिवर्तन नहीं कर सकता जो पड़ोसी राज्य के लिए हानिकारक हो। बाँध बनाने से पूर्व उसे पड़ोसी राज्य से पूछना होगा। जल की निम्न सतह से परे समुद्र में कोई भी राज्य कृत्रिम रचना करके पर्याप्त भूमि और प्रदेश प्राप्त कर सकता है।

(B) मिट्टी का जमाव—नदी के बहाव अथवा सागर की लहरों के साथ आने वाली मिट्टी जमकर नए प्रदेश की रचना करती है। यह प्रक्रिया अत्यन्त धीमी और क्रमिक है। इसके द्वारा एक राज्य की सीमा पर्याप्त बढ़ सकती है। यदि यह जमाव प्रादेशिक समुद्र में हुआ है तो इसकी सीमाएँ अब बढ़े हुए किनारे से मापी जाएँगी। यदि यह सीमावर्ती नदी के किनारे हुआ है तो नदी का जल दूसरे किनारे पर फैल जाएगा और उसकी मध्यवर्ती रेखा उस प्रदेश तक फैल जाएगी जो पहले अन्य तटवर्ती राज्य की सीमा में था।

(C) डेल्टाज—नदियों के मुहाने के ऊँचे टीले को डेल्टा कहा जाता है। इसका आकार त्रिभुज ($\triangle$) जैसा होता है। जब नदियों की मिट्टी, पत्थर और भूमि धीरे-धीरे उनके मुहाने पर जमने लगती है जो डेल्टा बन जाता है। ये डेल्टाज धीरे-धीरे बढ़ते जाते हैं और पर्याप्त प्रदेश को घेर लेते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार ये उस देश के प्रदेश की वृद्धि माने जा सकते हैं। जिसका यह मुहाना है, यद्यपि डेल्टा प्रादेशिक समुद्री पट्टी के बाहर बना है।

(D) नवजात टापू—जिस प्राकृतिक प्रक्रिया द्वारा नदियों के किनारे मिट्टी का जमाव किया जाता है तथा मुहानों पर डेल्टाज बनाए जाते हैं वह नए टापुओं के जन्म का कारण बन जाती हैं। यदि ये महासमुद्रों में समुद्री पट्टी के बाहर बनते हैं तो इन पर किसी राज्य का अधिकार नहीं होता तथा आवेशन द्वारा ये किसी राज्य द्वारा स्वीकार किए जा सकते है। यदि ये नदियों, झीलों या समुद्री पट्टी में बनते हैं तो वे पड़ोसी राज्य के प्रदेश की अभिवृद्धि माने जाते हैं।

उदाहरण के लिए, अन्ना (Anna) के विवाद को प्रस्तुत किया जा सकता है। सन् 1805 में स्पेन तथा ग्रेट-ब्रिटेन के युद्ध के दौरान ब्रिटिश जहाज मिनर्वा ने

स्पेनिश जलपोत ग्रान्ना को मिसीसिप्पी नदी के मुहाने पर पकड़ लिया। जब ग्रान्ना को ब्रिटिश फौजी न्यायालय के सम्मुख लाया गया तो संयुक्तराज्य अमेरिका ने यह दावा किया कि जहाज को अमेरिकी प्रादेशिक समुद्री पट्टी के अन्तर्गत पकड़ा गया है। लॉर्ड स्टोवेल (Lord Stowell) ने इस दावे के पक्ष में निर्णय दिया। यद्यपि जहाज जहाँ पकड़ा गया था वह स्थान महाद्वीप के तट से तीन मील से दूर था, किन्तु कीचड़ और मिट्टी से बने द्वीप से तीन मील की सीमा के अन्तर्गत था।

(E) सूखे हुए नदी तल—कभी-कभी एक नदी पूरी तरह सूख जाती है। यदि यह नौ-चालन योग्य सीमावर्ती नदी है तो सीमा रेखा पुराने थालवेग (Thalweg) के बीच में होकर जाएगी। व्यवहार में प्राय: ऐसा नहीं होता और नदी के सूखे तल के मध्य में होकर सीमा रेखा जाती है चाहे ऐसा करने से एक राज्य का प्रदेश घट जाए और दूसरे राज्य का बढ़ जाए।

3. दीर्घकालीन उपयोग (Prescription)

यह एक कानूनी शब्द है। इसका अर्थ है निरन्तर आवेशन। दूसरे राज्य के वास्तविक और मौलिक स्वामित्व में रहने पर भी एक प्रदेश पर कोई राज्य दीर्घकाल तक अपना कब्जा बनाए रखता है। मूल रूप से यह पूर्ण त्याग से समरूपता रखता है किन्तु तकनीकी रूप से दोनों के बीच अन्तर है। परित्याग में खुले रूप से एक प्रदेश को खाली किया जाता है, किन्तु दीर्घकालीन उपभोग में एक राज्य ऐसे प्रदेश पर अपना अधिकार बनाए रखता है जिस पर स्वामित्व का दावा दूसरा राज्य कर रहा है। उपभोक्ता राज्य सक्रिय विरोध नहीं करता और लम्बे समय तक सम्प्रभुता के अधिकारों का प्रयोग करता रहता है। अन्त में मौलिक स्वामित्व समाप्त हो जाता है और उपभोग-कर्त्ता को वह स्वामित्व प्राप्त हो जाता है।

कानून की दृष्टि से दीर्घकालीन उपभोग का हमेशा विरोध किया जाता है। विचारकों ने इस साधन द्वारा प्रदेश की प्राप्ति की आलोचना की है। ओपेनहेम के कथनानुसार—"यह किसी प्रदेश पर इतने समय तक निरन्तर एवं निर्बाध रूप में सम्प्रभुता के प्रयोग द्वारा उस प्रदेश पर प्रभुसत्ता पाना है जो ऐतिहासिक विकास के परिणामस्वरूप यह विश्वास उत्पन्न कर सके कि वर्तमान वस्तु-स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुरूप है।" अन्तर्राष्ट्रीय कानून में दीर्घकालीन उपभोग का वही आधार है जो राष्ट्रीय कानून में इसका रहता है। प्रो. स्टार्क ने माना है कि—"दीर्घकालीन उपभोग से शुरू होने वाला अधिकार किसी अन्य राज्य की प्रभुसत्ता वाले प्रदेश पर दीर्घकाल तक तथ्यानुसार प्रभुता बनाए रखने का परिणाम होता है।" आवेशन से इसका अन्तर स्पष्ट है। आवेशन में सम्बन्धित प्रदेश स्वामीहीन होता है किन्तु दीर्घकालीन उपभोग में इस प्रदेश पर दूसरे राज्य का स्वामित्व होता है।

दीर्घकाल की लम्बाई के सम्बन्ध में प्रारम्भिक विचारकों के बीच पर्याप्त मतभेद था। वे आवेशन के निश्चित वर्षों के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं कर सके। अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कोई ऐसी मापक संख्या नहीं है जो दीर्घकालीन उपभोग का अर्थ स्पष्ट कर सके। ग्रोशियस ने इस अवधि को स्मरणातीत माना है।

वैटिल के मतानुसार यह वर्षों की पर्याप्त बड़ी संख्या है। वाशिंगटन सन्धि (1871) ने इसे 50 वर्ष माना है जबकि ब्रिटिश गायना के पंच निर्णय (1899) द्वारा इसे 20 वर्ष ही स्वीकार किया है। वैटिल ने सुझाया था कि यदि पड़ोसी देश इस सम्बन्ध में सन्धियों द्वारा सहमति प्राप्त कर लें तो अधिक उपयुक्त रहेगा। अनेक लेखकों ने दीर्घकालीन उपभोग के आधार पर प्रदेश के स्वामित्व की सम्भावना को अस्वीकार किया है। वे कानूनी आधार पर ऐसा नहीं करते वरन् अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की रक्षा के लिए यह व्यक्त करते हैं।

प्रदेश प्राप्त करने का यह एक मौलिक तरीका है अथवा गैर-मौलिक तरीका है इस सम्बन्ध में विचारक एकमत नहीं हैं। कुछ ने इसे गैर-मौलिक माना है क्योंकि इसका सम्बन्ध ऐसी भूमि से रहता है जो पहले किसी दूसरे राज्य के स्वामित्व में थी। दूसरे लोग इसे मौलिक के रूप में वर्गीकृत करते हैं क्योंकि इसे पूर्व स्वामी से प्रत्यक्ष रूप में ग्रहण नहीं किया जाता वरन् उसके द्वारा त्यागने के बाद भूमि को स्वीकार किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में दीर्घकालीन उपभोग द्वारा प्रदेशों की प्राप्ति का अपना उपयोग है। ग्रोशियस का कहना था कि यदि राजधानियों और सीमाओं से सम्बन्धित विवादों को समय के साथ तय नहीं किया गया तो युद्ध होंगे। इसलिए विवाद के सन्देह का जोखिम दूर करना मानव समाज के हित में रहेगा। वैटिल ने माना कि मानव जाति की शान्ति और कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि सम्प्रभुओं को उनके कब्जे से बेदखल न किया जाए और अनेक वर्षों तक यदि उनके स्वामित्व का विरोध न किया जाए तो उसे उचित और रक्षणीय मान लिया जाए। अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने रोड्ज टापू और मैसाचूसेट के एक विवाद में अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू करते हुए यह प्रतिपादित किया कि राज्यों अथवा व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा के लिए दीर्घकालीन कब्जे पर आधारित स्वामित्व के दावे को स्वीकार किया जाना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पुराने विचारक ग्रोशियस और वैटिल आदि ने प्रदेश प्राप्ति के इस साधन का समर्थन किया है, किन्तु डमोरटेन्स (Damoretens) तथा रिवियर (Rivier) आदि विचारकों ने इसके अस्तित्व को ही अस्वीकार किया है। प्रो. ब्रायर्ली के मतानुसार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इसका महत्त्व अधिक नहीं है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसके पीछे स्थित सिद्धान्त को मानता है, किन्तु यह दीर्घकालीन उपभोग को स्वीकार नहीं करता। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में अभी तक विशद नियम नहीं बन सके हैं।

4 इच्छापूर्ण हस्तान्तर (Voluntary Cession)

प्रो फेनविक के शब्दों में, "हस्तान्तर को एक निश्चित प्रदेश की सम्प्रभुता के एक राज्य से दूसरे राज्य को औपचारिक हस्तान्तरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।" यह प्राय दो पक्षों के बीच की जाने वाली सन्धि द्वारा सम्पन्न होता है। इस सन्धि में हस्तान्तरित प्रदेश की परिभाषा की जाती है और हस्तान्तरण की शर्तों को निश्चित किया जाता है। ये शर्तें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। स्थान के

मतानुसार 'तिब्बित हस्तान्तरण नए स्वामी के विधि सम्मत् स्वामित्व को इंगित करता है।" प्रो स्वारहीन (Prof Svarhen) ने इसे द्विपक्षीय लेन-देन माना है। इसे स्वामित्व का व्युत्पन्न रूप माना जाता है क्योंकि ऐसे प्रदेश का स्वामित्व हमेशा उस राज्य से ग्रहण किया जाता है जिसका पहले स्वामित्व था। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इसका औचित्य सन्देह-हीन है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्थापित नियम इस दृष्टि से महत्त्व रखते हैं और वे ही प्रभावशाली माने जाते हैं, किन्तु यदि किसी देश का संविधान इनसे भिन्नता रखता हो तो ये मान्य नहीं समझे जा सकते। प्रत्येक राज्य सम्प्रभु होने के नाते अपने प्रदेश के हस्तान्तर का पूरा अधिकार रखता है।

हस्तान्तर तो तभी कानूनी माना जाता है जब इसके कर्त्ता अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति होते हैं। इसका प्रकार गैर सरकारी व्यक्तियों, निगमों या छोटे रजवाड़ों द्वारा किया गया हस्तान्तरण अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कोई स्थान नहीं रखता। सम्बन्धित राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज के मान्य सदस्य होने चाहिएँ। यदि कोई मान्य राज्य किसी अमान्य राज्य को प्रदेश हस्तान्तरित करता है तो यह इस आधार पर कानूनी माना जाएगा कि सन्धि के माध्यम से दूसरा राज्य भी एक अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय समाज का सदस्य बन गया है।

राज्य अपने प्रदेश का कोई भाग दूसरे राज्य को सौंपने का अधिकार रखता है, किन्तु यह नियम भूमि से परे सीमान्त समुद्रों पर लागू नहीं होता। समुद्री पट्टी को राज्य का अदेय भाग माना जाता है। यह स्वतन्त्र रूप से दूसरे राज्य को नहीं दी जा सकती।

हस्तान्तरण के रूप—1 हस्तान्तर से सम्बन्धित सन्धि के कई रूप हो सकते हैं। प्राचीन काल में विक्रय की सन्धि (Treaty of Sale) का प्रचलन आम रूप से किया जाता था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने लोसियाना, फ्लोरेडा और एलास्का को क्रमश 1803, 1819 और 1857 में इसी प्रकार खरीदकर अपने प्रदेश का भाग बनाया। 20वीं शताब्दी (1916) में उसने डेनिश वैस्ट इंडीज को खरीदा। प्रदेश की खरीददारी द्वारा क्षेत्र का प्रसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

2 हस्तान्तरण का दूसरा रूप यह है कि इसमें प्रदेश के बदले प्रदेश ले लिया जाता है। उदाहरण के लिए 1890 में ग्रेट-ब्रिटेन ने जर्मन, पूर्वी अफ्रीका के निकट वर्ती क्षेत्रों के बदले जर्मनी को हैलीगोलैण्ड का टापू हस्तान्तर किया।

3. कभी-कभी एक राज्य दूसरे राज्य को अपना प्रदेश मुफ्त भेंट करता है। उदाहरण के लिए 1850 में ग्रेट-ब्रिटेन ने आयर झील का एक [illegible] संयुक्तराज्य अमेरिका को इस शर्त पर सौंपा कि वह इस पर प्रकाश [illegible] ouse) बनाए जो दोनों देशों के नौ-चालन के लिए उपयोगी हो [illegible] द्वि को 1859 में लोम्बार्डी और 1866 में वाल्डिनिया भेंट कर दि

4 हस्तान्तर का एक विशेष रूप आजकल प्राय. नहीं मिलता, वह राजा की मृत्यु होने पर किया जाना है। 1908 मे राजा लियोपाल की मृत्यु के बाद कांगो स्वतन्त्र राज्य बेल्जियम को हस्तान्तरित कर दिया गया। अपनी मृत्यु के समय यह व्यक्तिगत क्षमता के कारण बेल्जियम का राजा होने के साथ-साथ कांगो का सम्प्रभु भी था।

5 हस्तान्तर का एक छिपा हुआ रूप भी होता है। 1878 की बर्लिन सन्धि मे यह प्रावधान था कि बोसनिया और हर्जेगोविना पर आस्ट्रिया-हंगरी का स्वामित्व और प्रशासन रहेगा। यह दिए हुए हस्तान्तर का उदाहरण है। 1908 मे आस्ट्रिया-हंगरी की एक पक्षीय सन्धि द्वारा टर्की की सम्प्रभुता हो गई।

हस्तान्तर को वैध बनाने के लिए सम्बन्धित प्रदेश के निवासियो की सहमति आवश्यक नहीं है। ग्रोशियस का मत इससे भिन्न है। आजकल का वास्तविक व्यवहार ग्रोशियस के मत को उचित सिद्ध करता है क्योंकि प्रादेशिक हस्तान्तर के अनेक मामलो मे जनमत संग्रह की आवश्यकता अनुभव की गई है। प्रादेशिक हस्तान्तर को निर्धारित करने के इस सिद्धान्त को कूटनीतिज्ञ भुला देते हैं और कानूनी लेखक इसकी निन्दा करते हैं, किन्तु विश्व युद्ध के बाद यह राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का रूप धारण करके आया। जनमत संग्रह की प्रक्रिया 19वीं शताब्दी मे अत्यन्त लोकप्रिय थी। संयुक्तराज्य अमेरिका ने डेनिस वैस्ट इडीज के मामले मे 1916 में जनमत संग्रह का विरोध किया है किन्तु अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन ने प्रथम विश्व युद्ध के बाद प्रतेक प्रादेशिक समस्याओ के सम्बन्ध मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। 22 जनवरी, 1917 को अमेरिकी सीनेट मे दिए गए अपने भाषण में उन्होने इसे शान्ति और व्यवस्था के लिए आवश्यक माना।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रत्येक हस्तान्तर के साथ जनमत संग्रह को अनिवार्य नहीं बनाता। व्यक्तिगत राज्यो द्वारा की गई सन्धि मे ऐसी व्यवस्था स्वीकार की जाती है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसे सामान्य नियम नहीं बनाता। कुछ अवसरों पर अन्तर्राष्ट्रीय नीति की आवश्यकताएँ इस जनमत संग्रह की माँग कर सकती है किन्तु दूसरी परिस्थितियो मे यह माँग अनुचित भी सिद्ध हो सकती है।

हस्तान्तर के बाद एक प्रदेश के निवासी दूसरे राज्य के अधिकार मे आ जाते हैं। इसके फलस्वरूप उन्हे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए हस्तान्तर की सन्धि मे यह लाभदकारी प्रावधान रखा जा सकता है कि हस्तान्तरित प्रदेश के निवासियो को अपनी पुरानी नागरिकता बनाये रखने का विकल्प दिया जाए। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे की गई अनेक हस्तान्तर सन्धियो मे इस प्रकार का प्रावधान था। 4 अगस्त, 1916 को डेनिस वैस्ट इण्डीज की हस्तान्तर की सन्धि मे यहाँ के निवासियो को डेनमार्क की नागरिकता बनाए रखने के सम्बन्ध मे उदार शर्तें रखी गई। प्राप्तिकर्ता राज्य को अधिकार है कि वह इस विकल्प को अपनाने वाले व्यक्तियो को देश निकाला दे सके क्योंकि हस्तान्तरित प्रदेश की सभी जनसंख्या यदि अपनी पूर्व नागरिकता बनाए रखे तो ये

विदेशी प्राप्तिकर्त्ता राज्य की सुरक्षा को खतरे मे डाल सकते हैं। हस्तान्तरित प्रदेश के निवासियों की राहत के लिए अन्य सुविधा यह दी जा सकती है कि उन्हे एक निश्चित समय दिया जाता है। इच्छुक व्यक्ति इस अवधि मे अपनी राष्ट्रीयता या निवास स्थान बदल सकते हैं।

5 विजय (Conquest)

युद्ध मे सेना द्वारा दूसरे राज्य को पराजित करके उसके प्रदेश को अपनी सम्प्रभुता के अधीन कर लेना विजय कहलाता है। इसे अनैच्छिक हस्तान्तर भी कहते हैं। युद्ध मे हारा हुआ देश आत्म-समर्पण कर देता है। उसकी सरकार और सेनाएँ नही रहती तथा उसका प्रदेश विजेता राज्य का बन जाता है। उसे अपने मे मिलाकर वह हारे हुए राज्य का कानूनी स्वामित्व प्राप्त कर लेता है।

केवल युद्ध मे विजय किसी राज्य को विजित प्रदेश का सम्प्रभु नही बनाती। विजय इसका पहला और आवश्यक कदम माना जा सकता है। युद्ध के बाद हारे हुए राज्य का वशीकरण (Subjugation) उसे विजेता के प्रदेश का भाग बनाता है। प्रो ओपेनहेम ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए बताया है कि 'युद्धकारी राज्य शत्रु के प्रदेश के एक भाग को जीत लेता है और उसके बाद हार हुए राज्य को शान्ति सन्धि करके प्रदेश को अपने मे मिला लेता है तो इसे विजय न कह कर हस्तान्तर कहा जाएगा।" यह परम्परा 19वीं शताब्दी मे पर्याप्त सामान्य थी। 1920 मे राष्ट्रसघ के घोषणा-पत्र को स्वीकार दिए जाने तक युद्ध एक कानूनी तरीका था और हारे हुए राज्य को शान्ति सन्धि द्वारा अपने प्रदेश हस्तान्तर करने के लिए मजबूर किया जाता था। 1871 मे फ्रैंकफर्ट की सन्धि द्वारा अल्सास-लारेन के प्रदेश जर्मनी को सौंपना उस समय को परिस्थितियो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा उपयुक्त समझा गया। 1919 में वर्साय की सन्धि द्वारा यह प्रदेश जर्मनी ने फ्रांस को सौंप दिया। इस प्रकार शान्ति सन्धि द्वारा दिए गए स्वामित्व को कानूनी समझा जाता था और तीसरे राज्य भी इसे ऐसा ही समझते थे। हारा हुआ राज्य परिस्थितियाँ बदलने की प्रतीक्षा करता और अवसर आते ही किसी अन्य प्रश्न पर युद्ध छेड देता। विजेता होने पर एक नई शान्ति सन्धि द्वारा अपने छोडे हुए राज्य को ले लेता था।

राष्ट्रसघ की स्थापना के बाद विचारको का दृष्टिकोण बदला। इससे पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय कानून युद्ध को राष्ट्रीय नीति का महत्त्वपूर्ण साधन स्वीकार करता था। दूसरे राज्यो पर अपना प्रभाव जमाने के लिए युद्ध किए जाते थे। युद्ध मे शामिल होने वाला प्रत्येक राज्य यह जानता था कि वह अपने अस्तित्व को जोखिम मे डाल रहा। विजय प्राप्त करने के बाद राज्य अपनी राष्ट्रीय एकता और भावी आक्रमण के विरुद्ध अपनी सुरक्षा के लिए प्रदेशों को मिलाना आवश्यक मानता था।

अधीनता और आवेशन—हारे हुए शत्रु राज्य का प्रदेश उसी के अधीन बना रहता है जब तक कि जीता हुआ प्रदेश उसे अपने मे न मिला ले। मिल जाने

के बाद हारा हुआ राज्य समाप्त हो जाता है और विजेता राज्य की सम्प्रभुता के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार हारा हुआ प्रदेश एक क्षण के लिए भी वह राज्य, राज्य विहीन नहीं रहता उस पर जीते हुए राज्य का आवेशन हो जाता है।

विजय पर आधारित स्वामित्व का बहिष्कार—राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र, संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर और युद्ध विरोधी सामान्य सन्धि मे विजय को प्रदेश प्राप्ति का अनुचित साधन माना गया है। अब अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह सिद्धान्त समान्य बन गया है कि विजय गैर कानूनी कार्य नही है। युद्ध की भयानकता को देख कर उनके पूर्ण बहिष्कार का दृष्टिकोण अपनाया जाता है। यदि कोई राज्य युद्ध द्वारा दूसरे राज्य के प्रदेश को विजय करता है तो वह अपने उत्तरदायित्व से मुकरता है। ऐसा गैर-कानूनी कार्य सामान्यतः कानून भगकर्त्ता के लिए लाभदायक नहीं हो सकता।

युद्ध द्वारा बढ़ाए गए प्रदेशो को मान्यता न देने की नीति युद्धों को नहीं रोक सकती। इसके लिए स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर देनी चाहिए कि गैर-कानूनी साधन में उत्पन्न प्रादेशिक स्वामित्व के दावे को उचित स्वीकार नहीं किया जाएगा।

20वी शताब्दी में भी वशीकरण (Subjugation) के उदाहरण मिलते हैं। 1936 मे इटली ने विजय के बाद इथोपिया को अपने प्रदेश मे मिलाया और समाप्त कर दिया। मई, 1945 मे सोवियत सघ ने पोलैण्ड को जीतकर अपने में मिला लिया और जर्मनी तथा उसके मित्रो को सोवियत सघ और पश्चिमी मित्रो ने इसी प्रकार अपने अधीन कर लिया।

राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की धारा–10 में सदस्य राज्यो पर यह दायित्व डाला गया था कि दूसरे सदस्यो के हथियाये हुए प्रदेशो को मान्यता देने से अस्वीकार कर दें। यह धारा गैर-सदस्यों के प्रदेशो के सम्बन्ध मे लागू नही होती। दिसम्बर, 1939 मे जब सोवियत सघ ने फिनलैण्ड के विरुद्ध आक्रमण किया तो उसे निकालने के प्रश्न पर धारा की व्याख्या व्यवहार मे सार्थक रूप से नही की जा सकी।

ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमे युद्ध द्वारा प्राप्त किए गए प्रदेश की निन्दा की गई है। 1931-32 मे जापान ने मन्चूरिया को हस्तगत कर लिया। इस पर अमेरिकी विदेशमन्त्री हेनरी स्टिमसन (Henry Stimson)ने इसके औचित्य को अस्वीकार करने के सम्बन्ध मे घोषणाएँ की, क्योंकि इसमे शक्ति का प्रयोग किया गया था। लेकिन अमेरिकी राज्यों ने इस प्रकार प्रदेशों को अधिकार मे लेने का बहिष्कार किया। बोलीविया तथा पैरागुएसी के बीच चाको युद्ध छिड़ने के बाद और इसके पश्चात् 1933, 1936, 1938 मे अन्तःअमेरिकी सम्मेलनो तथा 1940 मे हवाना मे हुए विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन मे इसकी कड़ी निन्दा की गई।

उल्लेखनीय है कि स्टिमसन का गैर-मान्यता का सिद्धान्त क्षेत्रीय अन्त अमेरिकी कानून का मूल सिद्धान्त है किन्तु सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नहीं।

यद्यपि प्रदेशों के स्वामित्व के स्रोत के रूप में विजय को अनुचित बनाने वाली अनेक व्यक्तिगत और सामूहिक घोषणायें की गई हैं किन्तु दुनिया के राज्यों का इसके

विपरीत व्यवहार इन्हे महत्त्वहीन बना देता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद से संयुक्त-राष्ट्र संघ की स्थापना तक विजय द्वारा मिलाए गए प्रदेशों के असंख्य उदाहरण प्राप्त होते हैं। जो यह सिद्ध करते हैं कि राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र, पेरिस की संधि और अन्त अमेरिकी घोषणायें इस सम्बन्ध मे महत्त्वहीन सिद्ध हुई हैं।

आज भी राज्य शक्ति के प्रयोग द्वारा दूसरे राज्यों के प्रदेशो को मिलाने की सफल चेष्टा करते हैं। इनमे से बहुत कम उदाहरणों को कुछ देशो द्वारा कानूनी नहीं माना जाता, किन्तु असंख्य उदाहरणों मे इन प्रदेशों को विजेता राज्य के राष्ट्रीय प्रदेश का भाग मान लिया जाता।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर लागू होने पर विजय द्वारा प्रदेश की प्राप्ति का औचित्य समाप्त हो गया। इसके अनेक प्रावधान स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि शक्ति का प्रयोग अथवा उसकी धमकी कानूनी दृष्टि से संघ के चार्टर के दायित्वों का उल्लंघन माना जाएगा। संगठन के सभी सदस्यों को दूसरे राज्यों से प्रदेश प्राप्त करने में इस साधन का प्रयोग करने के लिए मना किया गया है। इसके बाद भी संघ के सदस्यों ने सैनिक शक्ति का सहारा लेकर अपने प्रदेश का प्रसार किया है। इन अवसरों पर संघ ने या तो दबी जबान से सहमति प्रदान की अथवा प्रभावहीन विरोध करके रह गया।

18 दिसम्बर 1961 को भारत ने पुर्तगाली प्रदेश गोवा को पुर्तगाल के सैनिक विरोध के बिना ही अपने प्रदेश मे मिला लिया। दूसरे ही दिन यह मामला सुरक्षा परिषद् के सामने आया। संयुक्तराज्य अमेरिका और दूसरे देशों ने भारतीय सेना की वापसी और विवाद के शान्तिपूर्ण समाधान का प्रस्ताव रखा, किन्तु सोवियत संघ के निषेधाधिकार ने उसे प्रभावहीन बना दिया। गोवा के साथ दमन और दीव का प्रदेश भी मिला हुआ था। भारत ने अपने पक्ष में यह तर्क दिया कि संघ की महासभा ने उपनिवेशवाद की निन्दा की है और यह भारत का घरेलू मामला है क्योंकि इसका सम्बन्ध उन औपनिवेशिक प्रदेशों से है जो भारत के अभिन्न भाग हैं। फैनविक ने इस सम्बन्ध में परिषद् के निर्णय को राजनैतिक माना है।

ग्लास ने संघ के चार्टर की यह कमी बताई है कि इसमे कहीं भी विजय द्वारा अंगीकृत प्रदेश को मान्यता न देने की बात नही कही गई है। सुरक्षा परिषद् मे निषेधाधिकार की व्यवस्था ने आक्रमणकारी के विरुद्ध कोई कार्यवाही करने से उसके हाथ बाँध दिए हैं। इजराइल ने सन् 1948 मे सैनिक शक्ति के सहारे एक बड़े प्रदेश को अपने राज्य का भाग बना लिया और संघ ने उसे मान्यता दे दी। ओपेनहेम का कहना है कि कोई भी अवैध कार्य सामान्यत कानून तोड़ने वाले राज्य के लिए हितकर नहीं हो सकता। जब युद्ध को अवैध कार्य माना गया है तो स्पष्ट है कि यह किसी राज्य को किसी प्रदेश पर कानूनी अधिकार स्थापित करने में सहायता नहीं दे सकता। युद्ध की सफलता उसे न्यायोचित नहीं बना सकती।

वशीकरण (Subjugation) के परिणाम—यद्यपि वशीकरण प्रदेश प्राप्ति का मौलिक प्रकार है क्योंकि प्राप्तिकर्त्ता राज्य की सम्प्रभुता प्रदेश के पूर्व स्वामी से

व्युत्पन्न नहीं है फिर भी नया स्वामी-राज्य कई दृष्टियों से पूर्व स्थित राज्य का उत्तराधिकारी नहीं है। जहां तक राष्ट्रों के कानून का सम्बन्ध है कि उसके अनुसार वशीकरणकर्त्ता राज्य अगीकृत प्रदेश के निवासियों की निजी सम्पत्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। व्यवहार में यह उनका सम्प्रभु होता है और इसलिए अपनी मर्जी से कोई भी दायित्व डाल सकता है। सम्प्रभु होने के नाते वह उनकी निजी सम्पत्ति को जब्त भी कर सकता है, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून उसे मान्यता नहीं देता।

वशीकृत राज्य के प्रजाजनों के राष्ट्रीय स्तर के सम्बन्ध में यह व्यवस्था है कि वह वशीकरणकर्त्ता राज्य की प्रजा बन जाते हैं। किन्तु इस प्रदेश के जो लोग विदेशों में रह रहे हैं तथा लौटे नहीं हैं और जिन्होंने अगीकरण से पूर्व या उसके तुरन्त बाद देश को छोड़ दिया है, उनके राष्ट्रीय स्तर का प्रश्न विवादपूर्ण है। कुछ लेखकों ने इन्हें वशीकर्त्ता राज्य की प्रजा माना है किन्तु दूसरे ऐसा नहीं मानते। राज्यों के व्यवहार के सम्बन्ध में एक जैसा नियम नहीं है। ओपेनहेम के मतानुसार, जो लोग अगीकरण से पूर्व विदेशों में हैं उनके और जिन्होंने अगीकरण के बाद देश को छोड़ा है, के बीच अन्तर किया जाना चाहिए। द्वितीय श्रेणी के लोग वशीकर्त्ता राज्य के अधीन हैं किन्तु प्रथम श्रेणी के लोग उसके बाहर हैं।

अगीकरण के बाद उस प्रदेश के निवासियों की स्थिति क्या रहेगी? यह प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं वरन् राष्ट्रीय कानून का विषय है। उनके साथ इच्छा के अनुसार कैसा भी व्यवहार किया जा सकता है?

तीसरे राज्य की शक्तियाँ—विजय द्वारा प्राप्त किया गया कोई भी स्वामित्व उस समय तक अधूरा है जब तक इसे तीसरे पक्षों द्वारा मान्यता प्रदान न की जाए। सेना के आधार पर प्राप्त किए गए प्रदेश का स्वामित्व उस समय तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक कि दूसरी शक्तियाँ उसे स्वीकार न कर लें। वशीकरण को प्रदेश प्राप्ति का मौलिक प्रकार माना जाता है और इसीलिए नियमानुसार तीसरी शक्ति को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है फिर भी विजेता राज्य विजित राज्य के प्रदेश के अगीकरण की असीमित सम्भावनाएँ नहीं रखता। जब शक्ति सतुलन खतरे में पड़ जाता है अथवा राज्यों के दूसरे स्वार्थ दाव पर होते हैं तो वे हस्तक्षेप करते हैं। इतिहास में ऐसे हस्तक्षेप के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। इतने पर भी वशीकरणकर्ता राज्य का स्वामित्व तीसरे राज्य की मान्यता पर निर्भर नहीं करता और न ही उसका विरोध कोई कानूनी अधिकार रखता है।

6 दबाव के अन्तर्गत विलय (Assimilat on under Pressure)

यह अनैच्छिक हस्तान्तर से सम्बन्धित एक अन्य प्रयास है। इसका अर्थ यह है कि शक्तिशाली राज्य अपने पड़ोसी पर पूरा दबाव डालता है। यहाँ तक कि युद्ध की धमकी भी देता है ताकि वह वांछित प्रदेश शक्तिशाली राज्य को दे सके। राज्यों के प्राचीन और आधुनिक इतिहास में इसके उदाहरणों की कमी नहीं है। कोरिया की राजधानी जो जापान का सरक्षित राज्य था, सन् 1910 में जापान के साथ विलय के लिए सहमत हो गई। अब यह राष्ट्रों के परिवार का सदस्य नहीं रहो।

आस्ट्रिया में चान्सलर डौल्फस (Dallfuss) की हत्या के बाद जर्मन समर्थक सरकार बनी। आस्ट्रिया में जब जर्मन स्थल और वायु सेना के अनेक यूनिट प्रविष्ट हो गये तो उसने डर कर जर्मनी के साथ विलय की प्रार्थना की। सन् 1939 में इस्टोनिया, लैटविया और लिथुवानिया बाल्टिक राज्यों में सोवियत दबाव ने वहाँ की सरकारों को सोवियत संघ के प्रति मैत्रीपूर्ण बना दिया। उसके साथ अनाक्रमण सन्धियाँ की गई और प्रत्येक राज्य में रूसी सेना रखना स्वीकार किया गया। सन् 1940 में इन तीनों देशों ने अपने आपको सोवियत संघ में विलय के लिए समर्पित कर दिया।

7. पट्टे पर आधारित प्रदेश (Leased Territories)

विचारकों ने पट्टे का भी प्रदेश प्राप्ति का एक प्रकार माना है। सन् 1898 में चीन ने अपने प्रदेश जर्मनी, फ्रांस और रूस को पट्टे पर दिये। सन् 1903 में पनामा गणराज्य ने स्थाई पट्टे पर पनामा नहर क्षेत्र अमेरिका को सौंप दिया। दूसरे महायुद्ध के समय ग्रेट-ब्रिटेन ने कैरिबियन समुद्र और सीमावर्ती समुद्रों के अनेक नौ सैनिक और हवाई अड्डे संयुक्तराज्य अमेरिका को 99 वर्ष के पट्टे पर दिए।

पट्टे पर देने वाली कानूनी स्थिति व्यवहार में अधिक शक्तिशाली नहीं होती। इस प्रकार ली गई भूमि के नियन्त्रण के हस्तान्तरण नाममात्र के प्रादेशिक सम्प्रभु की राय जाने बिना ही किए जाते रहे हैं। सन् 1904 5 के रूसी जापानी युद्ध के बाद पोर्ट आर्थर तथा डेलनी का चीनी प्रदेश रूस ने जापान को सौंप दिया। इसी प्रकार कियाओ चाओ पर जर्मनी के अधिकार वर्साय की सन्धि द्वारा चीनी सरकार से पूछे बिना ही जापान को सौंप दिया। सन् 1922 में जापान यह प्रदेश चीन को लौटाने पर सहमत हुआ।

पट्टे पर आधारित प्रदेशों में इस समय अमेरिका द्वारा नियन्त्रित पनामा नहर क्षेत्र तथा ब्रिटेन द्वारा नियन्त्रित हाँगकाँग के सम्मुख नये प्रदेश प्रमुख हैं।

राज्य के प्रदेशों का खोना
(Loss of State Territory)

राज्य के प्रदेश प्राप्ति के जिन विभिन्न प्रकारों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें स्वामी-हीन प्रदेशों से सम्बन्धित प्रकारों को छोड़कर अन्य सभी प्रदेश खोने के साधन भी हैं। जब एक राज्य को प्रदेश प्राप्त होता है तो किसी न किसी राज्य द्वारा खोया भी जाएगा।

प्रो ओपेनहेम ने राज्य का प्रदेश खोने के छः प्रकारों का उल्लेख किया है, ये हैं—(1) हस्तान्तर (Cession), (2) त्याग (Dereliction), (3) वशीकरण (Subjugation), (4) प्राकृतिक कार्य (Operations of Nature), (5) दीर्घकालीन उपभोग (Prescription), तथा (6) क्रान्ति (Revolt)। इनमें से प्रथम पाँच तो प्रदेश प्राप्ति के प्रकारों से सादृश्यता रखते हैं, किन्तु अन्तिम विशेष रूप से प्रदेश का प्रकार माना गया है। विजय, दीर्घकालीन उपयोग और हस्तान्तर के सम्बन्ध में हम इतना विस्तार से अध्ययन कर चुके हैं कि अधिक की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति के कार्य, क्रान्ति एवं त्याग विशेष रूप से विचारणीय हैं।

प्रकृति के कार्य (Operations of Nature)

प्रदेश खोने में प्रकृति के कार्य उसी प्रकार महत्व रखते हैं जिस प्रकार 'उपचय' (Accretion) प्रदेश प्राप्त करने में महत्वपूर्ण है। उपचय द्वारा एक राज्य बढ़ सकता है किन्तु प्रकृति के कार्यों द्वारा वह घट भी सकता है। ज्वालामुखी पर्वतों के फटने पर, समुद्र में टापुओं के नष्ट होने पर तथा सीमा पर स्थित नदी की धारा में परिवर्तन होने पर एक राज्य का प्रदेश कम हो जाता है। जब समुद्र तट के टापू जल में निमग्न हो जाते हैं तो उनके सिरे से नापी जाने वाली प्रादेशिक समुद्र की सीमा अब समुद्री तट से नापी जाने लगती है और इसलिए प्रदेश कम हो जाता है। यदि एक तटवर्ती नदी अपना बहाव बदल लेती है तो सम्बन्धित राज्य का बड़ा प्रदेश घट सकता है क्योंकि उसकी सीमा नदी के नए बहाव की मध्य रेखा तक रहेगी।

क्रान्ति (Revolt)

क्रान्ति को प्रदेश खोने का एक ऐसा तरीका माना जा सकता है जिसके समरूप प्रदेश प्राप्ति का कोई तरीका नहीं है। क्रान्ति के बाद नई सरकार पद सम्भालती है। क्रान्ति द्वारा राज्य के प्रदेश खोने का कोई समय निश्चित नहीं किया जा सकता क्योंकि इस प्रकार से अलग हुआ प्रदेश कब सुरक्षा एवं स्थायित्व प्राप्त कर लेगा यह अनिश्चित रहता है। कभी-कभी क्रान्ति के बाद निर्मित राज्य को तीसरे राज्यों द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है किन्तु मातृदेश इसे अपना खोया हुआ प्रदेश नहीं मानता और समय पर उसे वापस जीतने में सफल हो जाता है। मातृभूमि के विरुद्ध सफल विद्रोह का ताजा उदाहरण सन् 1971 में पाकिस्तान के पूर्वी भाग (बंगलादेश) द्वारा किया गया विद्रोह है जिसके फलस्वरूप बंगला-देश की स्थापना की गई है।

त्याग (Dereliction)

प्रदेश खोने के इस तरीके की समानता प्रदेश प्राप्त करने के तरीके आवेशन (Occupation) से स्थापित की जा सकती है। इसके अन्तर्गत एक प्रदेश को वर्तमान स्वामी राज्य की सम्प्रभुता से स्वतन्त्र कर दिया जाता है। यह राज्य हमेशा के लिए हटने के अभिप्राय से इस प्रदेश का परित्याग करता है और इसीलिए सम्प्रभुता के सभी प्रतीकों को यहाँ से हटा लेता है।

आवेशन की भाँति त्याग के भी दो कदम हैं—(1) प्रदेश को वास्तव में परित्याग कर देना, और (2) उस पर अपनी सम्प्रभुता को त्यागने का अभिप्राय घोषित करना। प्रदेश का परित्याग कर देना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि हो सकता है कि सम्बन्धित राज्य पुनः उस प्रदेश पर कब्जा करने की इच्छा एवं क्षमता रखता हो अतः तत्सम्बन्धी घोषणा करना भी अनिवार्य है। त्यागी हुई भूमि को अन्य राज्य आवेशन द्वारा अपने अधिकार में ले सकता है; इतिहास में इस प्रकार के कई उदाहरण हैं। प्राय. यह देखा गया है कि जब कोई राज्य ऐसे प्रदेश का आवेशन करना चाहता है तो पहला स्वामी विरोध करता है और नए राज्य को उसे प्राप्त करने से रोकने का प्रयास करता है। सान्ता लूसिया के टापू को उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है।

10 राज्य के अधिकार एवं कर्त्तव्य
(Rights and Duties of States)
अथवा
आत्म-रक्षा, हस्तक्षेप, आवश्यकता और आत्म-संरक्षण का सिद्धान्त
(Self-Defence; Intervention; Doctrine of Necessity and Self-Preservation)

पिछली दो शताब्दियों में राज्यों में अधिकारों और कर्त्तव्यों से सम्बन्धित विषय न्यायवेत्ताओं एव लेखकों की रुचि का केन्द्र रहा है। समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण और विकास में रुचि रखने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों एव वैज्ञानिक संस्थाओं ने इसे विचार-विमर्श एव प्रस्तावों का विषय बनाया है। राज्यों के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं।

अधिकारों से सम्बन्धित सिद्धान्त
(Theories Concerning of Rights)

जब राज्यों के अधिकारों एव कर्त्तव्यों का उल्लेख किया जाता है तो न्यायाधीश और लेखकगण अनेक सैद्धान्तिक समस्याओं के उतार-चढ़ावों में होकर निकलते हैं। वे मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने वाले आचरणों के सिद्धान्तों को ही यहाँ लागू करना चाहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पुराने लेखकों जैसे—ग्रोशियस, जोशे, प्यूफेनडोर्फ, वैटिल आदि ने सामान्य नैतिक सिद्धान्तों एव नागरिक के विशेष नियमों पर बहुत जोर दिया। फलत राज्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों को वर्गीकृत करने की वही प्रवृत्ति विकसित हुई जो नागरिक कानून को वर्गीकृत करती है। ये पुराने लेखक किसी सामान्य दृष्टिकोण को लेकर नहीं चलते थे और इसीलिए इनके पद-चिह्नों पर चलने वाले बाद के लेखकों ने समस्या के प्रति भिन्न दृष्टिकोण अपनाया। इस सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न सिद्धान्तों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

1. मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त—19वीं शताब्दी के अन्त तक न्यायाधीश सर्वसम्मत रूप से यह मानते थे कि राष्ट्रों के समाज में रहने वाले सभी सदस्य राज्यों

को तथाकथित मौलिक अधिकार प्राप्त होते हैं, जैसे—समानता, अस्तित्व, बाहरी स्वतन्त्रता, आत्म-रक्षा, प्रादेशिक सर्वोच्चता, पारस्परिक सम्बन्धो एव आदर्श से सम्बन्धित अधिकार, आदि।

उस समय के लेखको का विश्वास था कि ये मौलिक अधिकार स्वय सिद्ध हैं क्योंकि राष्ट्रो के समाज के सदस्य सम्प्रभु राज्य होते हैं। इन मौलिक अधिकारों की सख्या, व्यवहार एव विषय-वस्तु के सम्बन्ध मे सामान्य सहमति नहीं मिलती। बदलती हुई परिस्थितियों मे वस्तु-स्थिति का नए सिरे से अध्ययन किया जाना जरूरी बन गया। अनेक विचारक आज यह विश्वास करने लगे हैं कि राज्यो के मौलिक अधिकारों की मान्यता राष्ट्रो के कानून की परिधि से पूर्णत. हटा दी जानी चाहिए। यह मान्यता प्राकृतिक कानून के सिद्धान्तों पर आधारित है। ये अधिकार मूलभूत तथा पूर्ण माने गए हैं और किसी भी उस समाज के लिए अनिवार्य हैं जो राज्य होने का दावा करता है। प्रकृति की परिभाषा करना तार्किक दृष्टि से चाहे कितना ही असम्भव रहा हो किन्तु यह सच है कि प्रकृति मे एक निर्धारक इच्छा होती है जो किसी भी सगठित मानवीय समाज पर कर्त्तव्य डालती है और उसे अधिकार सौंपती है। इसी सिद्धान्त का नवीनतम सस्करण यह कहता है कि राज्यो के अधिकार उन कानूनी सिद्धान्तो का प्रतिनिधित्व करते है जिन पर समस्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून निर्भर हैं। यह सस्करण इस स्पष्ट तथ्य की अवहेलना करता है कि कानूनी सिद्धान्त केवल कानूनी व्यवस्था द्वारा ही बनाया जा सकता है और इससे पहले इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त राज्यों के कुछ अधिकार ऐसे मानता है जो उन्हें राज्य होने के नाते प्राप्त होते हैं। ये राज्यों की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता पर आधारित रहते हैं। विभिन्न प्रान्तों मे इन मौलिक अधिकारो की सूची अलग-अलग मिलती है। कुछ विचारक तो सभी अधिकारों का पृथक् अस्तित्व मानते हैं जबकि दूसरे अन्य अधिकारों को अस्तित्व के अधिकार से ही निकला हुआ कहते हैं। रचनात्मक विचारक अपना पृथक् वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं। मौलिक अधिकार राज्यो को किसी सन्धि अथवा समझौते के आधार पर नहीं मिलते। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य के रूप में विभिन्न राज्य इनका आपस में आदान-प्रदान करते हैं।

2 समझौता सिद्धान्त—राज्यो के मौलिक अधिकारो के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए विचारको ने बताया कि ये राज्यों के व्यक्तित्व का अनिवार्य भाग नहीं हैं। इनके मतानुसार राज्य का अलग व्यक्तित्व होता है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य अपनी इच्छा से बनते हैं और सदस्य बनने के बाद ही उन्हें ये अधिकार प्राप्त होते हैं। यह दृष्टिकोण राज्यों के अधिकारों के सम्बन्ध मे मौलिक अधिकारों की मान्यताओं को स्वीकार करता है तथा सामाजिक समझौते की पुरानी धारणा से मिलता-जुलता है। यह राज्यों के विश्वव्यापी समाज की कानूनी धारणा, पारस्परिक सहमति या समझौते पर निर्भर है।

यद्यपि इस प्रकार का समझौता कभी नहीं हुआ और इसे केवल एक कपोल कल्पना माना जा सकता है फिर भी यह भावना सुविधाजनक है कि विश्व समाज के सदस्य सामान्य कर्त्तव्यों से बँधे हुए हैं और सामान्य अधिकारों का उपभोग करते हैं। इस सिद्धान्त का रचनात्मक पहलू इस तथ्य द्वारा प्रदर्शित किया जाता है कि जब नया राज्य कानूनी व्यवस्था में प्रवेश पाता है तो इसके लिए किसी स्पष्ट स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती और वह परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून से बँध जाता है। जब समाज के दूसरे सदस्य उसे राज्य के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं तभी से यह परम्परागत कानून उसके ऊपर लागू हो जाता है।

3 **पूर्णतावादी सिद्धान्त**—मौलिक अधिकारों के सिद्धान्त में ही लेखकों का एक समूह यह मानता है कि राज्यों के अधिकारों की प्रवृत्ति पूर्ण होती है। किसी भी राज्य के नागरिक के रूप में एक व्यक्ति को जो अन्तिम और अविच्छेद्य अधिकार प्राप्त होते हैं वे ही राज्य को भी प्राप्त होते हैं। कुछ लेखकों ने व्यक्ति के अधिकारों और राज्य के अधिकारों के बीच स्थित समानता को उदाहरणों द्वारा अभिव्यक्त किया है। जिस प्रकार व्यक्ति का व्यक्तित्व पवित्र होता है उसी प्रकार राज्यों का सामूहिक व्यक्तित्व भी पवित्रता रखता है। यह दृष्टिकोण प्रायः उन लेखकों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है जो राज्य को उसके नागरिकों के सन्दर्भ में पूर्णतायुक्त व्यक्तित्व नहीं देना चाहते। उनकी इच्छा सम्भवतः बड़ी शक्तियों के प्रभाव के विरुद्ध कमजोर राज्यों को रक्षा प्रदान करने की दिखाई देती है। उनका विश्वास था कि कुछ अधिकारों को पूर्ण बताने पर उन्हें छीनने का खतरा घट जाएगा।

4 **कर्त्तव्यों का सिद्धान्त**—परम्परागत सिद्धान्तों के प्रति असन्तोष के कारण अनेक लेखक सम्पूर्ण मान्यता को ठुकराने का तर्क देते हैं। उनके मतानुसार सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधीन राज्य के अधिकार हमेशा उन कर्त्तव्यों को अभिव्यक्त करते हैं जो परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा दूसरे राज्य पर डाले गए हैं। प्रो केलसन (Prof Hans Kelsen) के कथनानुसार "अधिकारों की *अपेक्षा कर्त्तव्यों का प्रमुत्व सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय* कानून के सामान्य आदर्श राज्यों पर अनेक कर्त्तव्य डालते हैं और ऐसा करके वे दूसरे राज्यों को अधिकार सौंपते है। यदि कर्त्तव्य सही रूप में निर्धारित कर दिए जाएँ तो अधिकारों को निर्धारित करना विशेष महत्त्व नहीं रखता।"

यदि यह दृष्टिकोण सही मान लिया जाए और एक राज्य के अधिकार दूसरे राज्यों को सौंपे गए *कर्त्तव्यों की अभिव्यक्ति मान ली जाए तो भी यह आवश्यक हो* जाएगा कि राज्यों द्वारा जिन अधिकारों का दावा किया जाता है उनका सर्वेक्षण किया जाए। अधिकांश न्यायवेत्ता इस दृष्टिकोण को सही नहीं मानते और विशेष रूप से छोटे राज्यों की सरकारें अपने मौलिक अधिकारों के अस्तित्व और महत्त्व पर जोर देते हुए देखी जाती हैं ताकि वे अपने शक्तिशाली पड़ोसी की आक्रमणकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध अपनी रक्षा कर सकें।

प्रो फेनविक के मतानुसार राष्ट्रीय कानून की भांति अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे भी अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर सम्बन्धित होते हैं अर्थात् एक राज्य का अधिकार दूसरे राज्य पर यह कर्त्तव्य डालता है कि वह उसका आदर करे। जब विभिन्न राज्य मौलिक सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप देते हैं तो उनके बीच विभिन्न सघर्ष पूर्ण दावे उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी वादी के अधिकार की दृष्टि से विधि के शासन का समर्थन किया जाता है और दूसरे समय सम्बन्धित राज्यो के कर्त्तव्यो का उल्लेख किया जाता है। आशा की जाती है कि अधिकारों पर कर्त्तव्यों की अपेक्षा अधिक जोर दिया जाएगा। राज्य अपने अधिकारों का प्रयोग करना चाहेंगे और अपने पड़ोसी को वैसे ही अधिकार का प्रयोग करने की सुविधा नही देंगे। सघर्षपूर्ण अधिकारो और उनसे सम्बन्धित कर्त्तव्यो के बीच समायोजन स्थापित करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य कार्य है। यह व्यवहार में इतना अधिक प्रभावशाली हो गया है कि यह अमूर्त सिद्धान्तों को आचरण के मूर्त नियमों मे बदल देता है। इस प्रकार राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर सम्बन्धित होते हैं और एक के बिना दूसरे की आशा नहीं की जा सकती।

5. परम्परा का सिद्धान्त—कुछ लेखक राज्यों के मौलिक अधिकारो की परम्परा को स्वीकार करते हुए अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। ये विचारक अधिकारों को केवल ऐसी धारणा मानते हैं जो पिछले 300 वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय समाज की सदस्यता की आवश्यक शर्त बन गई है। ऐसी स्थिति मे कानूनों की पूर्ण अथवा अन्तर्निहित प्रकृति के उल्लेख करने का कोई प्रश्न नहीं उठता। राज्य व्यक्ति के लिए बनाया गया था, व्यक्ति राज्य के लिए नहीं बनाया गया। जब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्प्रभु राज्यो का कानून रहता है तब तक सम्प्रभु राज्यो के परम्परागत अधिकार भी उसमे सम्मिलित होने चाहिए किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून हमेशा सम्प्रभु राज्यो का कानून हो। एक समय ऐसा आ सकता है जब सम्प्रभु राज्यो के स्थान पर विश्व समाज बन जाए और अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के सम्प्रभु समाज पर लागू किया जाए।

6. मान्यता का सिद्धान्त—लेखकों के एक सम्प्रदाय का मत है कि मौलिक या आकस्मिक, पूर्ण या सापेक्षिक, प्रमुख या गौण का प्रश्न असम्बद्ध है, तथाकथित विधेयात्मक परम्परा के न्यायाधीश केवल अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के तथ्यो की ओर देखते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्यो पर ध्यान देते हैं। उनका मत है कि इस समय के व्यवहार के लिए सैद्धान्तिक मान्यता के प्रतिपादन की आवश्यकता ही क्या है। अधिकार केवल इसीलिए अधिकार है क्योकि उसे अधिकार माना जाता है। राज्य केवल उसी अधिकार का दावा कर सकता है जो परम्पराओ द्वारा स्थापित है अथवा सन्धियो द्वारा स्वीकार किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार स्वीकृति है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय समाज के कुछ सदस्य अधिकारो को मान्यता देते हैं तो यही पर्याप्त है।

मौलिक अधिकारो की मान्यता मे कठिनाई यह है कि अनेक बार 'क्या

मौलिक है और क्या मौलिक नहीं है' के बीच अन्तर स्पष्ट नहीं रहता। उचित यही रहेगा कि राज्यों के स्वीकृत अधिकारों पर विचार-विमर्श किया जाए, उनकी विषय-वस्तु की सुविधा के अनुसार वर्गीकरण किया जाए न कि उनकी आन्तरिक प्रकृति के आधार पर। प्रोफेसर ओपेनहेम ने भी इस मत के साथ सहमति प्रकट की है कि राष्ट्रों के कानून से सम्बन्धित ग्रन्थों में से राज्यों के मौलिक अधिकार पूरी तरह से समाप्त किए जाने चाहिए।

सरकारों का व्यवहार न्यायवेत्ताओं की अपेक्षा अधिक अनुभववादी रहा है। सामान्यतः छोटे राज्यों ने ही मौलिक अधिकारों की धारणा पर अधिक जोर दिया है ताकि वह बड़े राज्यों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध अपनी रक्षा कर सकें। राज्य मौलिक अधिकारों के सिद्धान्त का सहारा प्राय तब लेते हैं जब सम्बन्धित विषय पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हो। मौलिक अधिकार वे अधिकार बन गए जिनके लिए लड़ना अत्यन्त उपयुक्त था और एक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज में अपनी नाक नीची कराए बिना इन अधिकारों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की रियायत नहीं दे सकता। दूसरे अधिकारों के सम्बन्ध में रियायत दी जा सकती, उनसे सम्बन्धित विवादों में पंच फैसला किया जा सकता है और यह सब करने में किसी विशेषाधिकार की हानि नहीं होती। राज्य के कानूनी व्यक्तित्व को स्वीकार करते हुए भी इनका उल्लंघन किया जा सकता था। कोई विशेष विषय मौलिक अधिकारों से सम्बन्ध रखता है अथवा नहीं रखता है, यह बात न्यायाधीशों के विचार-विमर्श का प्रश्न बन जाती है।

7. राज्य एवं अन्तर्राष्ट्रीय समाज—कुछ समय पूर्व तक यह परम्परा थी कि न्यायाधीश राज्यों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श दो या दो से अधिक राज्यों के आपसी सम्बन्धों के सन्दर्भ में करते थे। व्यक्ति एवं विश्व समाज के आपसी सम्बन्धों के बारे में बहुत कम कहा जाता था। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सन्दर्भ में उन पर विचार किया जाता है।

मौलिक अधिकारों की घोषणा
(Declaration of Fundamental Rights)

राज्यों के अधिकारों की घोषणा करने का प्रयास सर्वप्रथम क्षेत्रीय अन्तअमेरिकी समाज के अन्तर्गत हुआ। सन् 1916 में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अमेरिकी संस्थान ने राज्यों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की घोषणा की। इसके बाद 'अमेरिकी गणराज्यों के मौलिक अधिकार एवं कर्त्तव्य' के नाम से एक परियोजना (Project) तैयार की गई। इसे सन् 1927 में रियोडी-जेनीरो (Riode Janeiro) में होने वाले न्यायवेत्ताओं के अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के सामने प्रस्तुत किया जाना था। इस परियोजना के आधार पर न्यायवेत्ताओं के आयोग ने सन् 1928 के हवाना सम्मेलन में 'राज्यों, उनके अस्तित्व, समानता एवं मान्यता' के सम्बन्ध में सन्धि का एक प्रारूप प्रस्तुत किया किन्तु यह प्रस्तावित सन्धि संयुक्तराज्य अमरिका के विरोध के कारण अस्वीकृत हो गई। अमेरिका पूर्ण हस्तक्षेप के सिद्धान्त का विरोध कर रहा था।

मोन्टेवीडियो अभिसमय (Montevideo Convention)–राज्यों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों से सम्बन्धित सर्वप्रथम आधिकारिक प्रयास मोन्टेवीडियो सम्मेलन में सन् 1933 में किया गया। उस समय इस विषय पर एक अभिसमय की रचना की गई। इसमें अधिकांश हस्ताक्षरकर्त्ता राज्य इस बात पर सहमत हो गए कि राज्य का राजनैतिक अस्तित्व मान्यता से स्वतन्त्र है। अधिकार क्षेत्र की दृष्टि से राज्य समानता रखते हैं, राज्यों के मौलिक अधिकार किसी प्रकार प्रभावित नहीं होते। एक राज्य की मान्यता उसके व्यक्तित्व को महत्त्वपूर्ण बना देती है। किसी राज्य को दूसरे राज्य के आन्तरिक या बाहरी मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। राष्ट्रीय नागरिकों एवं विदेशियों को एक राज्य में एक ही कानून द्वारा सुरक्षा प्रदान की जाएगी। विदेशी लोग अपने लिए विशेषाधिकारों अथवा विशेष कानूनों की माँग नहीं कर सकते। राज्यों के मध्य उत्पन्न विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा किया जाना चाहिए, शक्ति के आधार पर दबाए गए प्रदेश अथवा किसी भी अधिकार को मान्यता नहीं दी जानी चाहिए। इस प्रकार मोन्टेवीडियो अभिसमय ने राज्यों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

उक्त सिद्धान्तों को ब्यूनस आयर्स सम्मेलन (Buenos Aires Conference) तथा पुनः 1938 के लाइमा सम्मेलन (Lima Conference) में स्वीकार कर लिया गया। 1945 में युद्ध और शान्ति की समस्याओं के सम्बन्ध में मैक्सिको नगर में एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसके अनुसार राज्यों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की घोषणा करने के साथ मानव व्यक्ति के अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारों एवं दायित्वों की घोषणा का भी सकल्प किया गया। इन घोषणाओं को पान (Pan) अमेरिकी व्यवस्था के नए चार्टर के साथ मिलाना था। पान-अमेरिकी संघ ने इनका प्रारूप गणराज्यों की स्वीकृति के लिए जुलाई, 1946 में प्रस्तुत किया गया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ—राज्यों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को परिभाषित करने का एक आधुनिक महत्त्वाकांक्षापूर्ण प्रयास संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के प्रस्ताव 178 (II) के अनुसार किया गया जिसे 21 नवम्बर, 1947 को स्वीकार किया गया था। इस प्रस्ताव के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग को यह काम सौंपा गया कि राज्यों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का प्रारूप तैयार करें। आयोग के प्रारूप में चार अधिकारों का उल्लेख किया गया–स्वतन्त्रता, प्रादेशिक क्षेत्राधिकार, कानून के सम्मुख समानता एवं आत्म-रक्षा। इसमें दस कर्त्तव्यों पर विचार किया गया। उसके बाद इस विषय में कोई प्रगति नहीं देखी गई है। आयोग ने राज्यों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों से सम्बन्धित 14 धाराओं वाला अपना प्रारूप 1949 के प्रथम अधिवेशन में ही स्वीकार कर लिया। इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नए विकासों को ध्यान में रखा गया साथ ही संघ के चार्टर के प्रावधानों के प्रति भी सम्मान प्रकट किया गया। महासभा ने प्रारूप को विचार विमर्श के लिए सदस्य राज्यों को भेजा। [illegible] प्रारूप पर कोई कार्यवाही न होने से यह स्पष्ट हो गया कि रुचि ने मोह

ले लिया । अब महासभा की रुचि का विषय था—"संघ के चार्टर के अनुरूप राज्यों के बीच सहयोग और मित्रतापूर्ण सम्बन्धों विषयक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त ।" इसका एक प्रारम्भिक प्रारुप 18 दिसम्बर, 1962 को महासभा द्वारा स्वीकार किया गया ।

इस अध्याय मे हम राज्य के कुछ प्रमुख अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का अध्ययन करेंगे । इस सम्बन्ध मे हम अपने पूर्वोक्त कथन को दोहराना चाहेंगे कि अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने राज्यों के अधिकारों की अपेक्षा उनके कर्त्तव्यों को अधिक महत्त्व दिया था । राज्यो पर कर्त्तव्यों का भार डाला गया किन्तु ऐसा करके अन्य राज्य के अधिकारों का उल्लेख किया गया । प्रोफेसर केल्सन का यह कहना सही था कि यदि कर्त्तव्य सही रूप मे निर्धारित कर दिए जाएँ तो अधिकारों का उल्लेख करना महत्त्वहीन बन जाता है । राज्यों के अधिकारों का उल्लेख हम इसी भूमिका के सन्दर्भ मे करेंगे ।

अधिकारों का वर्गीकरण : समानता, आत्मरक्षा, स्वतन्त्रता और प्रादेशिक सर्वोच्चता आदि

(Classification of Rights Equality, Self-Defence, Independence and Territorial Sovereignty etc)

राज्यों के अधिकारों की कोई सर्वसम्मत सूची प्रस्तुत नहीं की गयी है । विचारकों के अनुसार इस सूची के स्वरूप एव आकार मे विभिन्नता आ जाती है । सामान्यत जिन अधिकारों के सम्बन्ध में विचारक एकमत हैं, अथवा राज्यों के जो बुनियादी अधिकार हैं, वे निम्नलिखित हैं—

1 समानता का अधिकार
2 राष्ट्रीय अस्तित्व का अधिकार (आत्मरक्षा का अधिकार)
3 स्वतन्त्रता का अधिकार
4 प्रादेशिक अखण्डता का अधिकार
5. गौरव या प्रतिष्ठा (राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा) का अधिकार

(1) समानता का अधिकार

(The Right to Equality)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्मुख राज्यों की समानता उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व से प्राप्त की जाती है । यह एक प्राचीनतम अधिकार है जिसका दावा राज्यों द्वारा किया जाता है । ह्यूगो-ग्रोशियस के समय से विचारक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सारे ढाँचे को सम्प्रभु राज्यों की कानूनी समानता पर निर्भर करते हैं । न्यायाधीश मार्शल ने एन्टीलोप के मामले मे लिखा कि सामान्य कानून का कोई सिद्धान्त राष्ट्रों की पूर्ण समानता से अधिक नहीं पहचाना गया है । कोई भी अधिकार सभी की स्वीकृति पर निर्भर करता है, कोई भी राष्ट्र दूसरों के लिए नियम निर्धारित नहीं कर सकता । इसी प्रकार कोई राज्य राष्ट्रों का कानून नहीं बना सकता ।

ग्रोशियस के समय से लेकर अगणित सरकारी घोषणाओं तथा अमेरिकी गणराज्यों के बीच इस अधिकार को स्वीकार किया गया। सम्भवतः यह सही है कि विश्व के राज्य अनेक दृष्टियों से समानता नहीं रखते। वे अपने क्षेत्र, जनसंख्या, साधन, समुद्रों तक पहुँच, हथियार एवं राष्ट्रीय शक्ति के दूसरे तत्वों की दृष्टि से परस्पर भिन्नता रखते हैं। कोई भी दो राज्य इन दृष्टियों से समान नहीं कहे जा सकते। तथ्यगत रूप से राज्यों के बीच भिन्नताएँ उपलब्ध होती हैं। उनमें समानता केवल कानून की दृष्टि से ही मानी जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने 1935 में तथ्यगत समानता और कानूनी समानता के बीच अन्तर किया। अल्बानिया में अल्पसंख्यक स्कूलों के मामले में न्यायालय ने कहा कि—"सम्भवतः तथ्यगत समानता और कानूनी समानता के विचारों के बीच स्थित अन्तर को परिभाषित करना सरल नहीं है। यह कहा जा सकता है कि तथ्यगत समानता का अर्थ केवल औपचारिक समानता नहीं है। कानूनी समानता प्रत्येक प्रकार के भेदभाव को दूर करती है किन्तु तथ्यगत समानता भिन्न भिन्न व्यवहारों को आवश्यक बना सकती है ताकि भिन्न परिस्थितियों के बीच सन्तुलन बना रहे।"

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 2 में इसके सदस्यों की सम्प्रभु समानता का उल्लेख किया गया है किन्तु धारा 23 में इसे तोड़ा गया है, जिसके अनुसार केवल पाँच सदस्य सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य होते हैं और अन्य सदस्य दो वर्ष के लिए चुने जाने वाले अस्थायी पदाधिकारी होते हैं। ये अस्थायी सदस्य धारा 27 के अनुसार पुनः असमान बना दिए गए हैं क्योंकि स्थायी 5 सदस्यों को विशेषाधिकार प्रदान किया गया है।

संघ की धारा 23 इतिहास में महाशक्तियों द्वारा किए गए योगदान का वास्तविक मूल्यांकन है। सम्पूर्ण 19वीं शताब्दी से दुनिया के प्रमुख राज्यों ने राज्यों की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्थित सिद्धान्तों के होते हुए भी इन बड़े राष्ट्रों ने अपनी अनेक राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को स्वयं ने तय किया। इन सम्मेलनों के परिणामस्वरूप किए गए निर्णय कानून की शक्ति रखते थे। अन्य देश जो, शक्ति में कम थे, महाशक्तियों के निर्णयों को मानने के लिए कानूनी रूप से बाध्य नहीं थे किन्तु निर्णय-कर्त्ताओं की शक्ति को स्वीकार करते हुए इनको मान्यता देनी पड़ती थी।

यद्यपि अनेक लेखक महाशक्तियों की प्रमुखता के कानूनी आधार अथवा कानूनी परिणाम को अस्वीकार करते हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के तथ्य और इतिहास के अभिलेख इस बात का समर्थन करते हैं कि महाशक्तियों के कार्यों का कोई कानूनी औचित्य अवश्य होना चाहिए। जो बात 19वीं शताब्दी में सही थी वह 20वीं शताब्दी में भी सही है। वास्तविक व्यवहार को देखने पर ऐसा लगता है कि राज्यों का समानता का सिद्धान्त एक कानूनी कल्पना है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के कठोर तथ्यों से सम्पर्क नहीं रखता। प्रो जे एच राल्स्टन (Prof J H Ralston) ने लिखा है कि—"समानता का सिद्धान्त और भ्रम छोटे राष्ट्रों के लिए हृदयप्रिय होता है। राज्यों का वास्तविक व्यवहार पूर्ण समानता की नींव को

खण्डित कर देता है ।" फिर भी विभिन्न लेखक अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी सिद्धान्त की इस मान्यता का सम्मान देते हैं । लेखकों ने बदलते हुए युग के अनुसार इसे परिभाषित किया है । 1920 मे ई डी डिकिन्सन (E D Dickinson) ने लिखा है "कानून के सम्मुख समानता राष्ट्रों के स्थायी समाज के लिए पूर्णरूप से अनिवार्य है, यदि इसे अस्वीकार किया गया तो इसका विकल्प है—सार्वभौमिक साम्राज्य अथवा सार्वभौमिक अराजकता ।"

सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर मे सदस्यों की सम्प्रभु समानता का उल्लेख किया गया है । यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे अब स्थापित हो चुका है, फिर भी इसके आधार के सम्बन्ध मे न्यायवेत्ताओं के बीच सहमति नहीं है । इसके व्यवहार का क्षेत्र तथा इसके आधार पर किए गए अनुमान परस्पर भिन्नता रखते हैं ।

सिद्धान्त का इतिहास एवं अर्थ—राज्यो की समानता और सम्प्रभुता की कानूनी अभिव्यक्ति सबसे पहले वेस्ट फेलिया की सन्धि मे हुई । इसमे ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज को आवश्यक बताया गया जिसका प्रत्येक सदस्य कानूनी दृष्टि से दूसरे सदस्य के समान हो । इसमे कोई देश सामान्यत सर्वोच्च स्वीकार नहीं किया गया अर्थात् सभी को समान माना गया । वेटिल ने इस विचार को सन् 1758 मे लिपिबद्ध किया । इसने प्राकृतिक अवस्था के सिद्धान्त को मान्यता देते हुए यह नियम प्रतिपादित किया कि—"जब प्रकृति की दृष्टि से सभी व्यक्ति समान हैं तो व्यक्तियों से बने हुए राज्य भी समान होंगे । एक बौना आदमी भी उसी प्रकार मनुष्य है जिस प्रकार एक लम्बा-चौडा आदमी मनुष्य है । इसी तरह एक छोटा राज्य भी उतनी ही सम्प्रभुता रखता है जितनी बडे राज्यों को प्राप्त होती है ।" इस तर्क का तरीका चाहे दोषपूर्ण हो किन्तु यह एक सस्थापक सिद्धान्त बन गया । छोटे राज्यों ने इसे अपनी ढाल के रूप मे प्रयुक्त किया और अधिक शक्तिशाली राज्यो के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त की । बडे राज्यों ने इस सिद्धान्त को व्यापक अर्थ मे स्वीकार कर लिया किन्तु जब यह उनकी आक्रमणकारी नीतियों के विरुद्ध जाता तो वे इसका विरोध करते थे ।

राज्यों की समानता के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे न्यायवेत्ताओं ने अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाया । कुछ आलोचकों ने बताया कि यह उस असामयिक परम्परा की उपज है जो आज अन्तर्राष्ट्रीय प्रगति की बाधा बन चुकी है । दूसरे लोग यथार्थवादी के रूप मे कानूनी सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के तथ्यों के विरुद्ध भी स्वीकार करते हैं । वे कानूनी और राजनीतिक समानता के मध्य अन्तर करते हैं और इस प्रकार सिद्धान्त को असगतियों से बचाने का प्रयास करते हैं । दूसरी ओर ऐसे न्यायवेत्ता भी हैं जिनका विश्वास है कि वह सिद्धान्त न्यायपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की मूलभूत शर्त है । यह उतना ही महत्त्व रखता है जितना आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक सविधान मे ध्वनि को प्राप्त है । भ्रम इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि इस विषय के लेखक सिद्धान्त के विभिन्न व्यावहारिक प्रयोगों पर इस प्रकार विचार करते है मानो सभी का सिद्धान्त पर एक जैसा प्रभाव हो ।

परम्परावादी विचारकों ने राज्यो की कानूनी समानता का अर्थ यह माना कि राज्य अपने क्षेत्र, जनसख्या, शक्ति, सभ्यता, धन आदि की भिन्नता होते हुए भी

अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप मे समानता रखते हैं। कानूनी समानता का एक अर्थ यह भी है कि जब किसी प्रश्न को राज्यो की सहमति से तय करना हो तो प्रत्येक राज्य को एक मत देने का अधिकार दिया जाए अर्थात् एक कमजोर और छोटे राज्य का मत भी उतनी ही शक्ति रखता है जितनी शक्ति शक्तिशाली राज्य के मत को प्राप्त है। कोई राज्य दूसरे राज्य पर अपने क्षेत्राधिकार का दावा नहीं कर सकता। साधारणत. एक राज्य पर दूसरे राज्य के न्यायालय मे अभियोग नहीं चलाया जा सकता और न उसकी स्वीकृति के बिना दूसरा राज्य उस पर कर लगा सकता है। दूसरे राज्य के क्षेत्र में जो भी सरकारी कार्यवाहियाँ उस राज्य द्वारा की जा रही हैं उनको स्वीकार करना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त समानता का एक अन्य पहलू भी उल्लेखनीय है। इसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई भी नियम उस समय तक एक राज्य पर लागू नहीं किया जा सकता जब तक कि सम्बन्धित राज्य उसे स्वीकृति प्रदान न करे। यह सिद्धान्त मुख्य न्यायाधीश मार्शल द्वारा प्रतिपादित किया गया था। एन्टीलोप (The Antelope) के विवाद मे मार्शल ने बताया कि दासों का व्यापार, जो उस समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून में वैध था, किसी राज्य द्वारा गलत घोषित करके दूसरे राज्य के अधिकारों को सीमित नहीं किया जा सकता। उन्हीं के शब्दों मे—"सामान्य कानून का कोई भी सिद्धान्त इतने सार्वभौम रूप मे स्वीकार नहीं किया जाता, जितना राष्ट्रों की समानता का सिद्धान्त। रूस और जेनेवा समान अधिकार रखते हैं। इसी समानता के परिणामस्वरूप कोई राज्य दूसरे राज्य पर अपना नियम नहीं लाद सकता। प्रत्येक राज्य स्वय अपने लिए व्यवस्थापन करता है किन्तु उसका व्यवस्थापन केवल उसी पर लागू होगा।" मार्शल के इस कथन के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। यह सच है कि कोई राज्य उस नियम से बाध्य नहीं माना जाएगा जिसे उसने स्वीकृति प्रदान नहीं की है। सिद्धान्त रूप मे यह सब सही है किन्तु व्यवहार में प्रश्न यह उठता है कि क्या एक सेनाहीन छोटे राज्य से भी कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापन करते समय यह पूछा जाएगा? राज्यो का व्यवहार इस प्रश्न का जवाब निषेधात्मक रूप में देता है। महाशक्तियों ने इस दृष्टि से राज्यों की समानता को मानने से मना कर दिया और स्वय ही नियम निर्धारित किए। उदाहरण के लिए वियना काँग्रेस, (1815), पेरिस काँग्रेस (1856), बर्लिन काँग्रेस (1878 तथा 1885) तथा अल्जीयर्स सम्मेलन (1906) का नाम लिया जा सकता है।

सन् 1899 तथा 1907 के हेग शान्ति सम्मेलनों मे एक विशेष परिवर्तन दृष्टिगत हुआ। छोटे राष्ट्रों से आए हुए प्रतिनिधियो तथा मतदान प्रक्रिया मे समानतापूर्ण व्यवहार के समर्थकों ने महाशक्तियों व छोटे राज्यो के दृष्टिकोण को सम्मान देने पर जोर दिया। कानून के नए नियमो का प्रारूप तैयार करते समय इन राज्यों की आवाज को सुना नहीं गया था। पूर्ण कानूनी समानता के आधार पर ही इस सम्मेलन के अभिसमयो पर कुछ राज्यो ने हस्ताक्षर किए, कुछ ने नहीं किए और कुछ सरकारो ने अपने प्रतिनिधियो के हस्ताक्षर करने के बाद भी इसको अस्वीकार कर दिया। इसके परिणामस्वरूप न्यायिक पचनिर्णय के न्यायालय की रचना की। यह योजना अस्वीकृत हो गई जिसे महाशक्तियो ने सामान्य समर्थन प्रदान किया था,

किन्तु छोटे राज्यों ने इसका विरोध कट्टरता के साथ किया था। यह न्यायालय सभी स्वतन्त्र राज्यों की पूर्ण समानता के सिद्धान्त पर आधारित नहीं था।

उपर्युक्त विचार-विमर्श के निष्कर्ष के रूप में हम प्रो ओपेनहेम द्वारा वर्णित कानूनी समानता के चार परिणामों का उल्लेख कर सकते हैं, ये इस प्रकार हैं—

1. सर्वसम्मति से सुलझाए जाने वाले प्रश्न पर मत देने का अधिकार प्रत्येक राज्य को होगा किन्तु जब तक इससे भिन्न निर्णय न लिया जाए, प्रत्येक राज्य को केवल एक ही मत देने का अधिकार होगा।

2 कमजोर तथा छोटे राज्य का मत भी उतना ही प्रभावशाली होगा जितना कि एक शक्तिशाली तथा बड़े राज्य का मत है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सन्धि द्वारा किया जाने वाला कोई भी परिवर्तन केवल उसी राज्य पर लागू होगा जिसने सन्धि पर हस्ताक्षर किए हैं अथवा जिसने बाद में उसे स्वीकार कर लिया है। यदि राज्यों की अल्पसंख्या किसी सन्धि के प्रावधान का विरोध करती है तो वे प्रावधान उन राज्यों पर लागू नहीं होंगे।

3 कोई भी राज्य दूसरे राज्य पर क्षेत्राधिकार का दावा नहीं कर सकता। जब तक एक राज्य इसके लिए सहमति प्रदान न करे तब तक दूसरे राज्य के न्यायालय में उस पर अभियोग नहीं चलाया जा सकता।

4 एक राज्य का न्यायालय दूसरे राज्य की सरकार के कार्यों के औचित्य को चुनौती प्रदान नहीं कर सकता। ये कार्य यदि उसके स्वयं के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत हैं और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन नहीं करते हैं तो इनके सम्बन्ध में किसी भी बाहरी शक्ति को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

सिद्धान्त का व्यवहार

समानता के सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप की तीन प्रमुख बातों पर विचार किया जा सकता है। प्रथम का सम्बन्ध इस तथ्य से है कि सभी राज्यों को समान अधिकार एवं समान दायित्व सौंपे गए हैं। दूसरे शब्दों में, सभी राज्य कानून के सम्मुख समान हैं। दूसरी का सम्बन्ध इन अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा सौंपी गई सुरक्षा से है। इसके अनुसार प्रत्येक राज्य के अधिकारों का सम्मान दूसरे राज्यों द्वारा किया जाना चाहिए। राज्यों के न्यायपूर्ण दावों के लिए तथा उनके आपसी विवादों को सुलझाने के लिए एक जैसे नियमों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। ऐसा न हो कि शक्तिशाली और शक्तिहीन के लिए अलग-अलग नियम हों। सिद्धान्त का तीसरा प्रयोग राज्यों के उस योगदान से सम्बन्ध रखता है जो उनके भावी अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का निर्धारण करने वाले कानून के नए नियमों को निर्धारित करने में किया जाता है। समानता के इन तीनों पहलुओं पर विचार करने के बाद हम अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की वर्तमान मूल विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

1. **मूलभूत अधिकारों की समानता**—राष्ट्रीय-स्तर पर जिस प्रकार नागरिकों को कानून के सम्मुख समानता प्रदान की जाती है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर

पर सभी राज्य कानून के सम्मुख समान समझे जाते हैं। कानून उनके बीच किसी प्रकार की असमानता स्थापित नहीं करता। जिस बात का दावा एक राज्य कर सकता है उसी का दूसरा राज्य भी कर सकता है; जो कार्य एक को करना चाहिए वही दूसरे राज्य को भी करना चाहिए। इस दृष्टि से प्रत्येक राज्य राष्ट्रीय सुरक्षा का अधिकार रखता है, साथ ही दूसरे राज्यों की सुरक्षा का आदर करने का दायित्व भी रखता है। प्रत्येक राज्य स्वतन्त्रता का अधिकार रखता है तो दूसरी ओर वह दूसरे राज्यों की स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप न करने का दायित्व भी रखता है। सम्प्रभु राज्यों की पूर्ण समानता एवं पूर्ण स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का विचारकों एवं न्यायवेत्ताओं ने समय-समय पर समर्थन किया। कुछ राज्य एक सन्धि द्वारा अपने आपको कुछ अधिकारों के प्रयोग से रोक सकते हैं किन्तु ऐसा करते समय वे अपने अधिकार को त्याग नहीं देते।

2 समान कानूनी क्षमता—समानता के अधिकार के व्यावहारिक रूप मे एक अन्य बात सामने यह आती है कि कानून की दृष्टि से सभी राज्यों की क्षमता एक जैसी रहेगी। राज्यों की भौतिक क्षमता एवं भौगोलिक विशेषताएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं किन्तु उसको एक जैसे अधिकार तथा संरक्षण प्रदान करता है। सभी राज्यों को समान अवसर दिए जाते हैं। इन अवसरों का प्रयोग निश्चित ही राज्यों की भौतिक क्षमता पर निर्भर करेगा। विश्व-समाज के सदस्यों को जो अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं उनके प्रयोग मे किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं की जा सकती। भौतिक असमर्थता के कारण उत्पन्न बाधा को कानूनी-स्तर की समानता के विपरीत नहीं माना जा सकता।

3 अधिकारों की रक्षा की समानता—कानून द्वारा अधिकारों की रक्षा का प्रत्येक राज्य को समान अवसर दिया जाता है। इस अवसर के बिना अधिकारों का वास्तविक व्यवहार मे कोई महत्त्व नहीं रह जाता। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह मुख्य दोष बताया जाता है कि उस समय राज्यों को अधिकार तो प्राप्त थे किन्तु उनकी रक्षा का समान अवसर उपलब्ध नहीं था। कानून द्वारा लगाए गए दबाव अपर्याप्त थे। प्रभावित राज्य को आक्रमण के विरुद्ध रक्षा करने के लिए और शक्तिशाली राज्य के दावों के विरुद्ध रक्षा करने के लिए अपने सीमित साधनों के आधार पर ही प्रयास करना होता था। कमजोर राज्यों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए समर्थ कोई अन्तर्राष्ट्रीय कार्यपालिका अभिकरण नहीं था। फलतः 19वीं और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे महाशक्तियों ने ऐसे कार्य किए जिनके सामने समान अधिकारों का सिद्धान्त एक रिक्त सूत्र बन गया। रूस और जापान के युद्ध के समय चीन की तटस्थता के उल्लंघन को अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत ने यह मान कर अवहेलना कर दी कि इसका परिणाम कोई गम्भीरता नहीं रखता। इसी प्रकार जब सन् 1910 में कोरिया का अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप मे अस्तित्व ही समाप्त कर दिया गया तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने उसे किसी प्रकार की सुरक्षा प्रदान नहीं की। कानूनी सिद्धान्त एवं व्यवहार के तथ्यों के बीच इतना विरोध था कि सन् 1914 के पूर्व यथार्थवादियों

ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि समानता सम्बन्धी समस्त व्यवस्था अपने आप में एक विरोधाभास है।

4 नए कानून की स्वीकृति के विषय में समानता—कानून के नए नियमों को स्वीकार करने में राज्यों द्वारा जो योगदान किया जाता है वह भी उनकी समानता का प्रतीक है। इस दृष्टि से प्रत्येक राज्य अपने आकार प्रकार की भिन्नता रखते हुए भी एकरूपता रखता है। कोई भी एक देश कानून को बदल नहीं सकता। राष्ट्रों के सभी नियमों की भाँति ये राज्यों की सामान्य सहमति पर निर्भर रहते हैं।

महाशक्तियों की सर्वोच्चता (Supremacy of Great Powers)—कानून के प्रमुख समानता को प्रो ओपेनहेम ने राजनीतिक समानता से भिन्न किया है। राज्यों की राष्ट्रीय विशेषताओं में स्थित असमानताओं के कारण उनकी शक्ति भिन्न-भिन्न बन जाती है। राजनीतिक दृष्टि से विभिन्न राज्य समान नहीं होते। बड़ी शक्तियों द्वारा जो प्रबन्ध किए जाते हैं उनको छोटे राज्य स्वीकार कर लेते हैं। महाशक्तियों की स्थिति यद्यपि पर्याप्त महत्त्वपूर्ण होती है किन्तु उनकी यह शक्ति राष्ट्रसंघ की स्थापना से पूर्व कानून पर आधारित नहीं थी। महाशक्तियों को उच्च अधिकार प्राप्त नहीं थे वरन् कार्य करने की प्राथमिकता थी। किसी राज्य का आकार, शक्ति और आर्थिक प्रभाव उसे महाशक्ति बना देते हैं। यही कारण है कि देशों की शक्ति स्थिति बदलती रहती है। सन् 1815 की वियना काँग्रेस में ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, ऑस्ट्रिया, पुर्तगाल, प्रशा, स्पेन, स्वीडन और रूस महाशक्ति माने जाते थे। संयुक्त-राज्य अमेरिका सन् 1865 के गृह-युद्ध के बाद महाशक्ति बन गया। इसी प्रकार जापान भी सन् 1895 में चीन के साथ युद्ध करने के बाद महाशक्ति बन गया। प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी और ऑस्ट्रिया हंगरी की हार हो गई। रूस में आन्तरिक परिवर्तनों के कारण एक नया अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित हुआ। शेष चार देश—ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान प्रमुख शक्तियाँ माने गए तथा राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की धारा 4 में इनको स्थायी स्थान दिया गया। इस प्रकार बड़ी शक्तियों के राजनीतिक प्रमुत्व को पहली बार कानूनी आधार प्रदान किया गया। द्वितीय विश्व-युद्ध में धुरी राष्ट्रों की हार के बाद पाँच राज्य—संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन, सोवियत रूस और राष्ट्रवादी चीन महाशक्तियाँ माने गए।

महाशक्तियों की प्रभुसत्ता का मुख्य कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास एक ऐसे युग में हुआ जब राज्यों के समाज की मान्यता केवल यूरोपीय क्षेत्र तक सीमित थी। 19वीं शताब्दी में महाशक्तियों ने राज्यों की समानता को केवल अमूर्त रूप में स्वीकार किया। उन्होंने अपनी मूर्त समस्याओं को सुलझाने के लिए आपस में मिलकर निर्णय लेने की प्रक्रिया अपनाई। वियना काँग्रेस, पेरिस काँग्रेस, बर्लिन काँग्रेस, लदन सम्मेलन आदि में इसी प्रकार से मामलों को सुलझाया गया।

महाशक्तियों की इस प्रमुसत्ता का प्रयोग विभिन्न परिस्थितियों में किया गया था। यह बाद में एक स्थापित रिवाज और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक स्वीकृत तथ्य बन गया। इ व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका प्रक्रियाओं की

कमियों के अनुपूरक के रूप में प्रयुक्त किया गया। अनेक काँग्रेसों और सम्मेलनों में लिए गए निर्णय तीसरे राज्यों पर लागू नहीं होते थे, किन्तु व्यावहारिक रूप से यह जरूरी था कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज के दूसरे सदस्य भी इन्हें अपनी स्पष्ट स्वीकृति प्रदान करते थे क्योंकि इनके समर्थक राज्यों की शक्ति एवं सम्मान ऊँचा था।

हेग शान्ति सम्मेलनों में महाशक्तियों को अपनी इच्छानुसार निर्णय लेने में कठिनाई का अनुभव हुआ। इन सम्मेलनों के औपचारिक संगठन में समानता का सिद्धान्त कठोरता के साथ लागू किया गया।

राष्ट्र संघ की भाँति संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी महाशक्तियों की प्रमुखता को स्थान दिया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर अपने सदस्यों की सम्प्रभु समानता सिद्धान्त पर आधारित बताया जाता है। यह राज्यों की समानता के परम्परागत सिद्धान्त में क्रमशः होने वाले परिवर्तनों का द्योतक है। महासभा में प्रतिनिधि व और मतदान शक्ति की समानता है किन्तु सुरक्षा परिषद् में पाँच महाशक्तियों को स्थायी प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है। शेष अस्थायी सदस्यों को केवल दो वर्ष के लिए चुना जाता है। सुरक्षा परिषद् में प्रत्येक निर्णय पर सभी स्थायी सदस्यों की सहमति अनिवार्य है। केवल प्रक्रिया सम्बन्धी मामले इसके अपवाद हैं। ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्रसंघ राज्यों की समानता के अधिकार की अवहेलना कर देता है।

कुछ विचारकों के मतानुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशेष प्रावधान समानता के अधिकार को अस्वीकार नहीं करते। वास्तविक व्यवहार इस मत के पक्ष में नहीं है। कानून की समान सुरक्षा की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ का अभिलेख उसे पूर्णरूप से असफल सिद्ध करता है। सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों की एकता प्रारम्भ से ही टूट गई। सम्प्रभु समानता का सिद्धान्त घोषित होने से पूर्व ही लिथुआनियाँ, ईस्टोनिया और लैटविया की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई। अल्बानिया, बल्गारिया, हंगरी और पोलैण्ड आदि की स्वायत्तता समाप्त हो गई और वे सोवियत संघ के अधिराज्य बन गए। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के सम्बन्ध में विशेष प्रावधान रखे गए ताकि वे अपनी आक्रमणकारी नीतियों को पुनः प्रारम्भ न कर सकें। दक्षिण कोरिया पर आक्रमण होने की स्थिति में सामूहिक सुरक्षा की नीति को क्रियान्वित किया गया किन्तु इसके परिणाम सन्तोषजनक नहीं रहे। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इजराइल और मिस्र के बीच विवाद के समय मनमुटाव को दूर करने के लिए एक अन्य प्रयास किया तथा शक्तिशाली राज्यों के विरुद्ध कमजोर राज्यों की रक्षा के चार्टर के उद्देश्य को पूरा किया।

(2) राष्ट्रीय अस्तित्व का अधिकार
(Right of National Existence)

राष्ट्रीय अस्तित्व का अधिकार राज्यों का एक मौलिक अधिकार माना गया है। प्रत्येक कानूनी व्यवस्था आत्म-रक्षा के अधिकार को स्वीकार करती है और इसका समर्थन करती है। मतभेद प्रायः उन परिस्थितियों के सम्बन्ध में होता है जिनमें इस अधिकार की रक्षा की जाए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रारम्भ से ही आत्म-

रक्षा को राज्य के अनेक कार्यों के लिए औचित्य का आधार माना गया है जबकि इस आधार पर कई कार्यों को अनुचित सिद्ध किया गया है। इस दृष्टि से कुछ लेखकों ने सेना के प्रयोग को भी उचित ठहराया है। नियमानुसार सभी राज्य एक दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान करने का कर्त्तव्य रखते हैं। आत्मरक्षा के लिए यदि अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लघन किया जाता है तो वह भी अनुचित नहीं माना जाता। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में भी राष्ट्रों के इस मौलिक अधिकार को स्वीकार किया गया है। प्रत्येक राज्य का आत्म-रक्षा का अधिकार होने के कारण सभी राज्य दूसरे की आत्म-रक्षा को कोई खतरा पैदा न करने का कर्त्तव्य रखते हैं। असल मे आत्म-रक्षा को विभिन्न देशो ने एक ढाल बना लिया है। यदि आत्म-रक्षा की दृष्टि से एक देश अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन करता है तो भी यह उल्लघन ही माना जाएगा। यह हो सकता है कि इसकी सजा सम्बन्धित राज्य को कम या अधिक प्रदान की जाए।

राज्य के दूसरे अधिकारों की माँग केवल तभी की जा सकती है जबकि राज्य का अस्तित्व है और इसलिए अपनी एकता और व्यक्तित्व की रक्षा करना एक-राज्य का प्रमुख अधिकार बन जाता है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून विज्ञान का केन्द्र-बिन्दु राज्यों के अस्तित्व का अधिकार है। अनेक न्यायवेत्ताओ ने इसे दूसरे अधिकारो का स्रोत माना है। अस्तित्व के अधिकार के सिद्धान्त मे सरकारो की रुचि बहुत कम होती है। वे इसके व्यावहारिक रूपों को अलग अलग नामो से पुकारते हैं, जैसे—राष्ट्रीय सुरक्षा, आत्मरक्षा का अधिकार आत्म-सुरक्षा का अधिकार, मौलिक कानून, प्रकृति का प्रथम कानून आदि-आदि। मि स्वालिन ने माना है कि "जिस प्रकार व्यक्ति का एक मुख्य मौलिक अधिकार आत्मरक्षा है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय समाज के न्यायिक व्यक्ति राज्यों के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता है अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा तैयार किए गए घोषणा-पत्र के प्रारूप की प्रथम धारा के अनुसार प्रत्येक राज्य स्वतन्त्रता का अधिकार रखता है तथा अपनी सरकार के रूप का चयन करते समय स्वतन्त्रता का उपयोग करता है।"

जब यह कहा जाता है कि प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्रता का अधिकार है तो इसकी तर्क प्रणाली गलत बताई जाती है। सही कथन यह होगा कि "प्रत्येक राज्य स्वतन्त्रता का अधिकार रखता है किन्तु स्वतन्त्रता और प्रादेशिक या व्यक्तिगत सर्वोच्चता कोई अधिकार नहीं होता। ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप मे राज्य के मान्य एव रक्षित गुण हैं। अत. यह कहना सही है कि राज्यों को राष्ट्रों के परिवार के सदस्य के रूप मे अपना अस्तित्व बनाए रखने का अधिकार होता है। किसी राज्य को अस्तित्व का अधिकार प्रदान न करने का अर्थ यह है कि उसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को अस्वीकार किया जा रहा है, उसे राष्ट्रों के समाज में कानूनी व्यक्तित्व पाने से वंचित किया जा रहा है। यदि अस्तित्व शब्द का हम सकीर्ण अर्थ में तो यह कहना होगा कि इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं होता।"

अधिकार की सीमाएँ—प्राय यह कहा जाता है कि आत्मरक्षा के लिए की गई प्रत्येक अवहेलना क्षम्य है किन्तु वास्तविक व्यवहार में यह बात सही नहीं है। आत्मरक्षा के लिए किया गया कोई कार्य तभी क्षम्य कहा जा सकता है जबकि वह आवश्यक हो। यदि ऐसा नहीं हुआ तो सम्बन्धित राज्य को इसका बुरा परिणाम भुगतना होगा क्योंकि दूसरे राज्य उसके विरुद्ध अवहेलना करने लगेंगे। एक राज्य यदि किसी कानून को तोड़े बिना अपनी रक्षा कर सकता है फिर भी कानून तोड़ता है तो इसके लिए उसे क्षमा नहीं किया जा सकता, उदाहरण के लिए—यदि एक देश का पड़ोसी उस पर आक्रमण करने के उद्देश्य से सशस्त्र सेना सगठित कर रहा है जो इसके लिए चिन्तनीय है तो ऐसी स्थिति में पड़ोसी राज्य के अधिकारियों को सूचित किया जाना चाहिए। यदि पड़ोसी राज्य से की गई अपील फलहीन हो या देर करने से खतरा बढ़ता हो तो कानून का उल्लंघन आवश्यक बन जाता है। प्रभावित देश यदि पड़ोसी पर आक्रमण करके उसकी सैनिक तैयारी पर रोक लगा दे तो गलत नहीं होगा क्योंकि प्रत्येक राज्य आत्म रक्षा का अधिकार रखता है।

आत्म-रक्षा का अधिकार एक राज्य को दूसरे राज्यों द्वारा उसे मान्यता प्रदान करने से पूर्व ही मिल जाता है। ज्योंही राज्य में राज्यपन की विशेषताएँ आती हैं त्योंही वह पृथक् व्यक्ति बन जाता है और अपने इस व्यक्तित्व की रक्षा का अधिकारी हो जाता है। इस अधिकार के दुरुपयोग को रोकने के लिए अनेक सधियों के द्वारा इसे सीमित करने का प्रयास किया गया है। रियो सधि, अटलाँटिक सन्धि और वारसा सन्धि का नाम इस दृष्टि से लिया जा सकता है। इसके परिणाम-स्वरूप अस्तित्व के अधिकार के व्यावहारिक पहलू में थोड़ा अन्तर आया है। प्रो बेकोबिनी के कथनानुसार, "यद्यपि ये समझौते राजनीतिक दृष्टि से की गई संधियाँ हैं फिर भी ये राज्यों को दूसरे राज्यों के आक्रमण के विरुद्ध गारण्टी देती हैं।"

वस्तु-स्थिति की अनिवार्यता के कारण प्रत्येक राज्य स्वय यह निर्णय करता है कि आत्म-रक्षा की आवश्यकता उत्पन्न हुई अथवा नहीं। इस निर्णय के औचित्य का निर्धारण एक न्यायिक सत्ता अथवा सघ की सुरक्षा परिषद् जैसे राजनीतिक निकाय द्वारा किया जाना चाहिए ताकि जानबूझकर कोई कानून का उल्लंघन न कर सके। यदि सम्बन्धित राज्य अपने निर्णय को किसी निष्पक्ष निकाय की जाँच का विषय बनाने के लिए सहमत हो तो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आत्म-रक्षा के नाम पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन किया गया है।

सयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में यह प्रावधान है कि यदि एक राज्य पर आक्रमण होता है तो सुरक्षा परिषद् की कार्यवाही होने तक वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से उस आक्रमण के विरुद्ध रक्षा करने का अधिकार रखता है। चार्टर के अनुसार आत्म-रक्षा के लिए उठाए गए कदमों की सूचना तुरन्त सुरक्षा परिषद् को दी जानी चाहिए और ये कदम ऐसे नहीं होने चाहिए कि शान्ति बनाए रखने तथा उसकी रक्षा करने के सुरक्षा परिषद् के सामान्य दायित्व को प्रभावित करें।

नहीं चाहता और अपने बुरे इरादों पर नकाब डालने के लिए पड़ोसी पर दोषारोपण करने लगता है।

आत्म-रक्षा की व्याख्या अत्यन्त व्यापक क्षेत्र रखती है। तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर यह सिद्ध करना आक्रमणकारी के लिए कठिन नहीं होता कि आक्रान्त की नीतियों ने प्रथम की सुरक्षा को किस प्रकार खतरे में डाल दिया था ? आक्रमण का तात्कालिक खतरा स्पष्ट होने पर भी यह तय करना कठिन बन जाता है कि सबसे पहले आग किसने लगाई और किसने इसे बढ़ावा दिया ? उदाहरण के लिए, जर्मनी यह कह सकता है कि जुलाई, 1914 में रूसी सैनिक तैयारी ने उसकी आत्म-रक्षा की तत्काल आवश्यकता पैदा की। रूस भी यह कह सकता है कि जर्मनी ने अपनी विरोधी औपचारिक घोषणाओं द्वारा युद्ध आरम्भ किया। युद्ध का सही दायित्व किसी राज्य पर डालना अत्यन्त कठिन कार्य है। सन् 1919 की पेरिस की सन्धि में युद्ध का दायित्व निर्धारित करने वाले आयोग का निर्णय न्यायिक न होकर राजनीतिक था।

युद्ध के समय एक योद्धा राज्य सैनिक आवश्यकता के परिणामस्वरूप तटस्थ सरकार के अधिकारों का भी उल्लंघन कर सकता है और वह अपने इस कार्य को आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक बताता है। जापान ने रूस के साथ अपने युद्ध के दौरान कोरिया पर आक्रमण कर दिया ताकि यह प्रदेश शत्रु के हाथ में न चला जाए। जापान ने अपने कार्य का औचित्य आत्म-रक्षा के आधार पर सिद्ध किया।

जर्मनी ने सन् 1914 में बेल्जियम तथा लक्जमबर्ग की तटस्थता को तोड़ दिया। 1 अगस्त, 1914 की रात को जर्मनी की सेनाएँ लक्जमबर्ग की ओर बढ़ीं और उसको अपने अधिकार में कर लिया। दूसरे दिन बेल्जियम से कहा कि वह जर्मन सेनाओं को अपने प्रदेश से निकलने दे नहीं तो उसे शत्रु माना जाएगा। बेल्जियम के मना करने पर 4 अगस्त, 1914 को जर्मनी की सेनाओं ने उस पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की। अपने कार्य का औचित्य सिद्ध करते हुए जर्मनी ने बताया कि उसे रूस और फ्रांस दोनों ओर से आक्रमण की धमकी दी जा रही थी। अतः आत्म-रक्षा के लिए उसकी सेनाओं ने यह उचित समझा कि फ्रांस की ओर एक निर्णायक कदम बढ़ाया जाए। यह विश्व के दूसरे राज्यों ने स्वीकार नहीं किया।

एक राज्य उन अनुत्तरदायी सशस्त्र लोगों के विरुद्ध भी आत्म-रक्षा का अधिकार रखता है जो उसकी शान्ति एवं व्यवस्था के लिए खतरा पैदा करते हैं। इस प्रकार के उदाहरण 19वीं शताब्दी में पर्याप्त मिलते हैं। पड़ोसी देश की सरकार के सम्बन्ध सामान्य रहते हुए भी उस देश का कोई अनुत्तरदायी समूह यदि किसी राज्य में गड़बड़ी करे तो आत्म-रक्षा के लिए उस राज्य को क्या कदम उठाने चाहिए ? यह एक विवादपूर्ण प्रश्न है। इसके लिए वह राज्य अपने पड़ोसी के विरुद्ध आक्रमण भी कर सकता है। आत्म-रक्षा की इस कार्यवाही के लिए दो शर्तों का पूरा होना अनिवार्य है—(1) आत्म-रक्षा की आवश्यकता गम्भीर प्रकृति की हो, और (2) जिस राज्य के प्रदेश को चुनौती दी गई है वह उसका मुकाबला करने की इच्छा या

सामर्थ्यता न रखता हो । सन् 1837 मे जब कनाडा मे क्रान्तिकारी प्रगति पर थे तो कनाडा सरकार को यह आशका हुई कि नियाग्रा नदी मे एक द्वीप पर स्थापित विद्रोहियो द्वारा उसके प्रदेश पर आक्रमण किया जाएगा । फलतः सरकार ने अपनी सेना नदी के पार अमेरिका सीमा तक तैनात कर दी जहाँ से विद्रोही हथियार पा रहे थे । इस सेना ने केरोलाइन नाम की एक छोटी नाव को पकड लिया और नष्ट कर दिया । उसके हथियार ले लिए, नाव मे आग लगा दी और अवशेषों को नियाग्रा प्रपात के नीचे छोड दिया । इस घटना मे दो अमेरिकी मारे गए तथा कुछ घायल हुए । अमेरिका ने शिकायत की कि ब्रिटेन ने उसकी प्रादेशिक सर्वोच्चता का उल्लघन किया है । ब्रिटेन ने अपनी आत्म-रक्षा के लिए इस कदम को आवश्यक बताया ।

(B) आक्रमण की अप्रत्यक्ष धमकी के विरुद्ध आत्म-रक्षा—जब दूसरे राज्य द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से आक्रमण की धमकी दी जाती है तो निश्चय ही एक राज्य उसे अपनी रक्षा के लिए चुनौती समझेगा और सैनिक तैयारी करके मुकाबले के लिए तत्पर रहेगा । वह अपनी दूरगामी रक्षा-नीतियो द्वारा शक्ति बढ़ाएगा तथा विरोधी परिस्थितियो का दमन करेगा । आक्रमण की आशकाएं कई बार गलत तथ्यो पर निर्भर रहती हैं तथा भ्रमपूर्ण होती हैं । यदि अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर कोई ऐसा सगठन होता जो भावी आक्रमणों के विरुद्ध अपने सदस्यो की रक्षा की गारन्टी दे सकता तो कोई समस्या नहीं थी । इसके अभाव मे प्रत्येक देश के राजनीतिक नेतृत्व को इस प्रकार का होना चाहिए ताकि वह भविष्य को देख सके, दूसरे राज्यों मे राजनीतिक क्रियाओ का अध्ययन कर सके और वहाँ खतरे के किसी भी तत्त्व की खोज कर सके । अमेरिकी विदेश-मत्री मि रूट (Mr. Root) के कथनानुसार, "प्रत्येक सम्प्रभु राज्य का यह अधिकार है कि वह ऐसी परिस्थिति को रोक कर अपनी रक्षा कर सके जहाँ उसकी रक्षा की सम्भावनाएँ अतीत के गर्त मे जा चुकी हों ।"

पडोसी राज्य के हथियारों की धमकी अपने-आप मे महत्त्व रखती है । 19वीं शताब्दी मे यह प्रश्न पर्याप्त महत्त्वपूर्ण था कि एक राज्य को सम्भावित भावी आक्रमण से रक्षा के लिए अपनी सैनिक तैयारी कितनी करनी चाहिए तथा किस सीमा से आगे हथियारो के निर्माण को एक पडोसी राज्य अपनी स्वतन्त्रता के लिए खतरा समझ सकता है ? हथियारों का सग्रह जिस उद्देश्य के लिए किया जाता है उसका प्रयोग आवश्यक रूप से उसी तक सीमित नहीं रहता । प्राय प्रत्येक देश हथियारो की दौड मे आत्मरक्षा का तर्क देकर ही शामिल होता है किन्तु इनका प्रयोग असल मे आक्रमण के लिए ही किया जाता है । ग्रोशियस ने उन विद्वानों की कटु आलोचना की है जो किसी शक्ति के विरुद्ध हथियारों की वृद्धि का समर्थन करते हैं और उस समय तक बढ़ाने को कहते हैं जब तक वे खतरनाक न बन जाएँ । अस्त्र-शस्त्रो की यह दौड़ अत्यन्त भयानक होती है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मूल उद्देश्य को भी पीछे छोड देती है ।

पारस्परिक आत्मरक्षा के लिए शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त का भी समर्थन किया जाता है। मि. वेटेल ने इसे यूरोपीय व्यवस्था में स्वतन्त्रता की रक्षा एवं व्यवस्था की स्थापना के लिए मूलभूत शर्त माना है। उनके मतानुसार शक्ति सन्तुलन का अर्थ कार्यों का ऐसा प्रबन्ध है जिसमें कोई भी राज्य इस स्थिति में नहीं होता कि दूसरों पर पूर्ण स्वामित्व एवं प्रभाव रख सके। सन् 1815 की वियना कांग्रेस ने इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए यूरोप के नक्शे को बदल दिया। सन् 1854 का क्रीमियाई युद्ध, सन् 1878 की बर्लिन कांग्रेस आदि ने शक्ति सन्तुलन की स्थापना का प्रयास किया। दोनों विश्वयुद्धों तथा उनके बीच के समय में राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों में होने वाले उतार-चढ़ावों पर शक्ति सन्तुलन के विचार ने पर्याप्त प्रभाव डाला है।

राष्ट्रसंघ की स्थापना सामूहिक प्रयत्न द्वारा आत्मरक्षा को साकार रूप देने का ही एक प्रयास था। सन् 1920 में संघ की स्थापना यही सोचकर की गई थी कि इसका आत्मरक्षा के अधिकार पर व्यावहारिक प्रभाव रहेगा। अनुच्छेद 11 के अनुसार युद्ध एवं युद्ध की धमकी को सम्पूर्ण संघ के महत्त्व का विषय बना दिया गया। यह एक सामूहिक दायित्व बन गया। इसने महाशक्तियों की विरोधाभासपूर्ण स्थिति का निराकरण कर दिया जिसमें वे आक्रमण होने पर तटस्थ बन जाती थीं। शान्तिपूर्ण समझौता की प्रक्रिया ने युद्ध को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। धारा-16 के दबावों से सम्बन्धित प्रावधानों ने आत्मरक्षा की आवश्यकता को अत्यन्त सीमित बना दिया।

राष्ट्रसंघ ने यद्यपि सहकारी सुरक्षा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो कर दिया किन्तु उनके प्रति विश्वास जमाना बड़ा कठिन था। यह तथ्य शस्त्रों को घटाने के लिए किए जाने वाले प्रयासों के समय ही सामने आ गया। 1921-22 के वाशिंगटन सम्मेलन में कुछ जहाजों एवं युद्ध पोतों की घटा-बढ़ी ही की जा सकी किन्तु व्यक्तिगत सुरक्षा का स्थान सामूहिक सुरक्षा ने नहीं लिया। निःशस्त्रीकरण के लिए एक आवश्यक पूर्व-शर्त आत्म-सुरक्षा थी किन्तु शस्त्रों की सीमा के लिए पूर्व-शर्त सामूहिक सुरक्षा थी। ये दोनों कार्य एकसाथ नहीं किए जा सके और इसीलिए राष्ट्रीय आत्म-रक्षा के लिए शस्त्रीकरण की नीति चलती रही।

पेरिस की सन्धि (1928) अथवा केलॉग-ब्रियां पैक्ट में आत्मरक्षा के अधिकार की ओर संकेत नहीं किया गया था। इस सन्धि में आत्मरक्षा के अधिकार को प्रतिबन्धित करने वाली कोई बात नहीं थी। यह कहा गया कि आत्मरक्षा का अधिकार प्रत्येक सम्प्रभु राज्य का अधिकार है और प्रत्येक सन्धि में निहित रहता है। प्रत्येक राज्य आक्रमण के विरुद्ध अपने प्रदेश की रक्षा के लिए प्रत्येक समय स्वतन्त्र है। वह स्वयं यह निर्णय लेगा कि आत्मरक्षा के लिए युद्ध छेड़ना आवश्यक है अथवा नहीं। पेरिस की सन्धि एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने के मध्यकाल में ऐसे अनेक प्रयास किए गए ताकि आक्रमणकारी युद्धों एवं आत्मरक्षा के लिए किए गए युद्धों के बीच विभाजक रेखा खींची जा सके। युद्ध के बाद जब स्थायी शान्ति की

स्थापना के लिए प्रयास किए जाने लगे तब ही यह बात स्पष्ट हो गई कि आत्मरक्षा के अधिकार को मान्यता देनी होगी किन्तु इसे कठोर सीमाओं में बाँधने का प्रयास किया गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 51 में यह कहा गया है कि यदि संघ के किसी भी सदस्य के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्मरक्षा का अधिकारी है।

आत्म-रक्षा के अधिकार का महत्त्व सामरिक विद्या की प्रगति के साथ-साथ बढ़ता चला गया। विचारकों एवं राजनीतिज्ञों ने सामूहिक आत्मरक्षा को क्रियान्वित करने एवं प्रभावशाली बनाने के लिए प्रयास किए। अमेरिकी राज्यों ने इस दृष्टि से पहल की और 2 सितम्बर, 1947 को रियोडी जेनेरो (Riodo Janeiro) में एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए। इसके परिणामस्वरूप उत्तरी अटलांटिक सन्धि संगठन (NATO) का जन्म 1949 में हुआ। सन् 1955 में वारसा पैक्ट हुआ इसी वर्ष दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन (SEATO) का गठन हुआ तथा कुछ क्षेत्रीय प्रबन्ध किए गए। इन सभी क्षेत्रीय प्रबन्धों का अध्ययन सामूहिक सुरक्षा के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। अणुशक्ति के आविष्कार के बाद कोई भी एक देश संगठित समाज के निर्णयों को चुनौती देने में समर्थ हो गया है। ऐसी स्थिति में सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था कमजोर पड़ गई है।

(C) मुनरो सिद्धान्त—संयुक्तराज्य अमेरिका में मुनरो सिद्धान्त आत्म-रक्षा की दृष्टि से ही अपनाया गया। राष्ट्रपति मुनरो का विचार था कि यूरोपीय गतिविधियों का प्रभाव अमेरिकी क्षेत्र में वहाँ की शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरनाक रहेगा। अमेरिका के लिए उसका भौगोलिक पृथक्करण उसकी सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसीलिए यह उपयुक्त समझा गया कि अमेरिका दूसरे महाद्वीप से अपने आपको पृथक् रखे। राष्ट्रपति मुनरो के कथनानुसार, "अमेरिकी प्रदेश को किसी भी यूरोपीय शक्ति द्वारा भावी उपनिवेशीकरण का विषय नहीं बनाना चाहिए।" अमेरिका ने भी यूरोपीय शक्तियों के उपनिवेशों में हस्तक्षेप न करने का अपना इरादा स्पष्ट किया।

19वीं शताब्दी के दौरान मुनरो सिद्धान्त को संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा आत्म-रक्षा का एक प्रमुख साधन माना गया। इस सिद्धान्त के प्रति सबसे गम्भीर चुनौती सन् 1863 में आई जबकि फ्रांस के लुई नेपोलियन ने मैक्सिको पर राजतन्त्रात्मक सरकार थोप दी। सन् 1861 में स्पेन ने सान्तो दोमिंगो का प्रदेश अपने में मिलाकर और सन् 1864 में पेरू की प्रादेशिक अखण्डता को चुनौती देकर मुनरो सिद्धान्त को हिला दिया गया किन्तु दोनों स्थितियों में मुकाबला कठोरता के साथ किया गया। इसके बाद भी सिद्धान्त को विभिन्न देशों की चुनौतियों का सामना करना पड़ा। मुनरो सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुरूप था। यूरोप के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की निषेधात्मक नीति अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारों का हनन नहीं करती। राष्ट्रसंघ की स्थापना मुनरो सिद्धान्त को कई प्रकार से प्रभावित करती थी। एक तो यह कहा गया कि राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र में जो बातें कही गई हैं वे मुनरो सिद्धान्त

के अनुरूप हैं। दूसरी ओर यह माना गया कि संयुक्तराज्य अमेरिका मुनरो सिद्धान्त के व्यवहार के लिए उपयुक्त परिस्थितियों मे व्यक्तिगत कार्य के अधिकार को छोड़ देगा जबकि यूरोपीय शक्तियाँ घोषणा-पत्र के अनुसार सामूहिक कार्य करेंगी।

सन् 1936 तक मुनरो सिद्धान्त संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा एक विशेष नीति के रूप में परिभाषित किया गया। इसे एक पवित्र राष्ट्रीय धरोहर माना गया जिसकी रक्षा और आदर दूसरे देश करेंगे। संयुक्तराज्य अमेरिका दुनिया का विरोध होने पर भी इसकी रक्षा करने के लिए इच्छुक था। सिद्धान्त की एकपक्षीय प्रकृति के कारण दूसरे अमेरिकी राज्यों ने इसे आत्मरक्षा के लिए एक ढाल माना। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस शक्ति के सिद्धान्त की घोषणा की ताकि योरोपीय शक्तियों के हस्तक्षेप को प्रेरित करने वाली परिस्थितियों को समाप्त किया जा सके। इसके साथ ही मुनरो सिद्धान्त के रूप मे परिवर्तन आया। सन् 1923 में अमेरिकी विदेश मंत्री ने यह मत व्यक्त किया कि मुनरो सिद्धान्त में निहित नीति संयुक्तराज्य अमेरिका की विशेष नीति है और इसलिए स्वयं अमेरिकी सरकार ही इसकी व्याख्या, परिभाषा और व्यवहार का अधिकार रखती है।

सन् 1936 के बाद संयुक्तराज्य अमेरिका ने अपनी एकपक्षीय नीति को छोड़ा और उसके स्थान पर बहु-पक्षीय नीति अपनाई। सान-फ्रान्सिस्को सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का रूप बनाते समय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और कठिन समस्या यह आई कि क्षेत्रीय संगठनों एवं विश्व संगठन के मध्य किस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किए जाएँ? संघ के चार्टर की धारा 51 संघ के सदस्यों को आक्रमण की स्थिति में व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो प्रकार से कार्यवाही करने की शक्ति देती है।

मुनरो सिद्धान्त की भाँति कुछ अन्य देशों से भी दूसरे सिद्धान्त अपनाए गए। उदाहरण के लिए, ग्रेट-ब्रिटेन के विदेश मंत्रालय ने एक बार यह स्पष्ट किया कि संसार के कुछ क्षेत्रों का कल्याण और एकता ब्रिटेन की शक्ति और सुरक्षा के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है और इन क्षेत्रों मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप सहन नहीं किया जा सकता। फ्रांस ने 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे यह मत व्यक्त किया कि उसकी अफ्रीकी उपनिवेशों के साथ बाहरी शक्तियों की संचार व्यवस्था न हो। सन् 1904 मे जापान ने रूस के विरुद्ध जिन कारणों से युद्ध छेड़ा वे मुनरो सिद्धान्त से मिलते थे। सन् 1930 मे चीन के विरुद्ध अपने कार्य का औचित्य भी जापान ने आत्मरक्षा के आधार पर सिद्ध किया।

(D) सामूहिक आत्मरक्षा—आत्मरक्षा की धारणा का इतिहास नया नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना से पूर्व विभिन्न स्तरों पर सामूहिक आत्मरक्षा सुविदित थी, फलत सभी सैनिक सन्धियों का केन्द्र-बिन्दु आक्रमणों के विरुद्ध रक्षा की भावना थी। सामूहिक सुरक्षा शब्द का प्रयोग भ्रमपूर्ण दिखाई देता है, इसका वास्तविक अर्थ सुरक्षा से है। आक्रमण के विरुद्ध एक राज्य अथवा राज्यों के एक [illegible] द्वारा सुरक्षा की जा सकती है। यह पद संयुक्त राष्ट्रसंघ की सत्ता द्वारा किए

कार्यों को इंगित नहीं करता। दूसरे शब्दों में, सामूहिक आत्मरक्षा शब्द सामूहिक सुरक्षा का समानार्थक नहीं है। इसका अर्थ कुछ राज्यों द्वारा एक राज्य की ओर से संघ के चार्टर की धारा 51 में उल्लेखित विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत सशस्त्र सेनाओं का स्वतन्त्र प्रयोग है। इस प्रकार यह संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा आक्रमणकारी को दण्ड देने का कार्य नहीं है वरन् एक गैर-कानूनी सशस्त्र आक्रमण के विरुद्ध किसी राज्य को सहायता देना है।

सामूहिक सुरक्षा के सम्बन्ध में एक मुख्य बात यह है कि इसका प्रयोग केवल गैर-कानूनी आक्रमण के विरुद्ध किया जा सकता है। सेनाओं के वैध प्रयोग के विरुद्ध निश्चय ही इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। यदि कोई राज्य आत्मरक्षा के लिए लड़ रहा है अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णयों को लागू कराने के लिए सेनाओं का प्रयोग कर रहा है तो उसके विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा का कदम नहीं उठाया जाना चाहिए। यहाँ समस्या यह उठती है कि न्यायोचित युद्ध किसे स्वीकार किया जाए? आत्मरक्षा शब्द का प्रयोग अनेक बार आक्रमणकारी इरादों को छिपाने के लिए किया जाता है। संघ के चार्टर की धारा 51 आत्मरक्षा पर एक सीमा लगाती है। यह संघ के सदस्य पर सशस्त्र आक्रमण होने की स्थिति में ऐसा कदम उठाने के निर्देश देती है अर्थात् केवल सैनिक शक्ति द्वारा आक्रमण होने की स्थिति में ही आत्मरक्षा की कार्यवाही का समर्थन किया गया है। दुर्भाग्य से दुनिया के राज्यों में इस सम्बन्ध में कोई सामान्य सहमति नहीं है कि आक्रमण का अर्थ क्या है? चार्टर की धारा 39 के प्रावधानों के अनुसार सुरक्षा परिषद् को यह निर्धारण करने की शक्ति दी गई है।

इस प्रकार वास्तविक समस्या उस कार्य की प्रवृत्ति पर केन्द्रित हो जाती है जिसके विरुद्ध व्यक्तिगत या सामूहिक आत्मरक्षा के सिद्धान्त का प्रयोग किया जाएगा। इस दृष्टि से चार्टर के प्रावधान बुरी तरह असफल हुए हैं।

(3) स्वतन्त्रता और प्रादेशिक एवं व्यक्तिगत सर्वोच्चता
(Independence and Territorial and Personal Supremacy)

विश्व के राष्ट्रों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकार स्वतन्त्रता का अधिकार है। इसके अनुसार एक राज्य अपने घरेलू मामलों के प्रबन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय समाज के दूसरे सदस्यों के साथ अपने सम्बन्धों के निर्धारण में बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने का दावा करता है। अस्तित्व के अधिकार की भाँति स्वतन्त्रता का अधिकार भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मौलिक धारणा है। यह एक सिद्धान्त होने की अपेक्षा एक मान्यता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की एक मूलभूत शर्त है। इसे न्यायवेत्ताओं द्वारा वर्गीकरण की सुविधा के कारण अस्तित्व के अधिकार से अलग करके देखा जाता है। राज्यों की आन्तरिक और बाहरी स्वतन्त्रता उनकी सम्प्रभुता का प्रतीक है।

सर्वोच्च सत्ता के रूप में सम्प्रभुता धरती को किसी भी सत्ता से स्वतन्त्र ..ती है और इसलिए वह अपना स्थान पृथक् रखती है। सम्प्रभुता दूसरी सत्ता पर

आश्रित नहीं रहती और विशेषत. दूसरे राज्यों से पृथक् रहती है। इसलिए विचारकों ने सम्प्रभुता को ही स्वतन्त्रता कहा है। स्वतन्त्रता अथवा सम्प्रभुता के आन्तरिक और बाह्य दो रूप हैं। जब एक राज्य दूसरे राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों का संचालन बिना किसी हस्तक्षेप के करता है तो इसे बाह्य सम्प्रभुता कहा जाता है। आन्तरिक सम्प्रभुता का अर्थ अपनी सीमाओं के अन्तर्गत राज्य की कार्य करने की स्वतन्त्रता से है।

आन्तरिक स्वतन्त्रता—राज्य की स्वतन्त्रता का आन्तरिक पहलू वह है जिसके अनुसार वह अपने घरेलू मामलों के संचालन में स्वतन्त्र शक्ति का प्रयोग करता है। प्रो ओपेनहीम ने माना है कि—"एक राज्य की स्वतन्त्रता और उसकी प्रादेशिक तथा व्यक्तिगत सर्वोच्चता असल में अधिकार नहीं है वरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप में राज्य की विशेषताएँ या मान्य और रक्षित गुण हैं।" इस दृष्टि से राज्य में बिना किसी हस्तक्षेप के अपने कार्यों का स्वतन्त्र संचालन करने की शक्ति होती है अर्थात् राज्य जैसा उचित समझे वैसे ही प्रकार का संगठन अपना सकता है। इच्छा और आवश्यकता के अनुसार उपयुक्त संविधान अपना सकता है। सम्पत्ति के अधिकारों पर कैसे भी नियम और सीमाएँ लगा सकता है। अपने नागरिकों को कोई भी व्यक्तिगत अधिकार देना स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। वह स्वयं ही निश्चय करता है कि किन परिस्थितियों में विदेशियों को अपने यहाँ प्रवेश की स्वीकृति प्रदान करें। दूसरे शब्दों में, एक स्वतन्त्र राज्य अपने घरेलू मामलों का पूर्ण स्वामी होता है। उसके ऊपर कुछ सीमाएँ होती हैं, उदाहरण के लिए—सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों की सीमाएँ अथवा दूसरे राज्यों के साथ की गई सन्धियों के प्रावधानों की सीमाएँ आदि। मूल रूप से आन्तरिक अथवा घरेलू स्वतन्त्रता का अर्थ दूसरे राज्यों के हस्तक्षेप से उन्मुक्ति है। हाल ही में न्यायवेत्ताओं ने राज्य की स्वतन्त्रता का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय समाज की सर्वोच्च-सत्ता से स्थापित किया है। आन्तरिक स्वतन्त्रता के अधिकार को अधिक स्पष्ट करते हुए इसे राष्ट्रीय स्वायत्त सरकार का अधिकार कहा जा सकता है।

बाहरी स्वतन्त्रता—स्वतन्त्रता का दूसरा पहलू एक राज्य द्वारा अपनी योग्यता और इच्छा के अनुसार विदेश सम्बन्धों के संचालन से सम्बन्ध रखता है। इस पर दूसरे राज्यों का कोई पर्यवेक्षण अथवा नियन्त्रण नहीं रहता। बाहरी स्वतन्त्रता अथवा बाहरी नियन्त्रण का अभाव इसलिए जरूरी है ताकि राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा कर सके। जब कोई नया राज्य राष्ट्रों के समाज में प्रवेश पाता है तो उसकी पहली शर्त बाहरी स्वतन्त्रता मानी जाती है। यदि राज्य में इस विशेषता का अभाव है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज का सदस्य नहीं बनाया जा सकता। राज्यों का यह अधिकार अन्य राज्यों पर दायित्व डालता है कि वे दूसरे राज्यों के मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। इस प्रकार मूल रूप से यह किसी राज्य का अधिकार होने की अपेक्षा दूसरे राज्यों का दायित्व बन जाता है। प्रत्येक सम्प्रभु राज्य को अन्य सम्प्रभु राज्यों की स्वतन्त्रता का सम्मान करना

चाहिए। इस दृष्टि से एक देश के न्यायालय दूसरे राज्य की सरकार के कार्यों पर निर्णय देने के लिए नहीं बैठते। अपने प्रदेश में राज्य जो भी कार्य करेगा उसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी है और सही तथा गलत का निश्चय भी वह स्वयं करता है। यदि दूसरे राज्य इस नियम को स्वीकार न करें तो राज्य की स्वतन्त्रता अर्थहीन बन जाती है।

प्रतिबन्ध—यहाँ एक बात यह उल्लेखनीय है कि आन्तरिक और बाहरी स्वतन्त्रताओं को केवल सापेक्षिक दृष्टि से पूर्ण समझा जाना चाहिए। यद्यपि किसी राज्य के आन्तरिक और बाहरी मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा किन्तु फिर भी राज्य को उन प्रतिबन्धों को स्वीकार करना पड़ेगा जो सभी राज्यों पर बाध्यकारी स्वीकार किए गए हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य अनेक उद्देश्यों के लिए विभिन्न प्रकार की सन्धियाँ करता है जिनके प्रावधानों का मानना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार दुनिया का कोई भी राज्य उस अर्थ में स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता जिस अर्थ में जीन बोदाँ ने सम्प्रभुता की परिभाषा की है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रत्येक नया नियम राज्य की वास्तविक स्वतन्त्रता पर एक प्रतिबन्ध है। इसी प्रकार अपनाई गई प्रत्येक सन्धि के प्रावधान विशेष क्षेत्र में राज्य की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। द्विपक्षीय सन्धियों के विशेष दायित्वों के साथ-साथ आधुनिक राज्य अनेक बहुपक्षीय सन्धियों के विषय बन गए हैं। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लागू हो गए हैं। बाहरी स्वतन्त्रता के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर द्वारा राज्यों के व्यवहार पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। उदाहरण के लिए, कोई राज्य अपने पारस्परिक सम्बन्धों में शक्ति का प्रयोग नहीं करेगा और झगड़ों के निपटारे के लिए शान्तिपूर्ण प्रक्रिया अपनाएगा। आन्तरिक स्वतन्त्रता पर भी अनेक विस्तृत प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। कोई सरकार अपने नागरिकों के साथ मनमाना व्यवहार नहीं कर सकती। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति आदर-भाव रखने की बात कही गई है। यद्यपि इन अधिकारों को लागू करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय यन्त्र द्वारा अभी तक कोई प्रावधान नहीं रखा गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने बहुत समय पूर्व ही राज्यों पर यह दायित्व डाला कि वे दूसरी राष्ट्रीयता वाले लोगों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करें जो उनके यहाँ स्थाई अथवा अस्थाई रूप से आ गए हैं। एक राज्य को विदेशी राज्यों के कूटनीतिज्ञों के विशेष अधिकारों और उन्मुक्तियों की भी रक्षा करनी चाहिए। अपने प्रदेश के लोगों को पड़ोसी राज्यों पर सशस्त्र आक्रमण करने से रोकना चाहिए। प्रत्येक राज्य को अपने आन्तरिक मामलों का नियमन इस प्रकार करना चाहिए ताकि पड़ोसी राज्यों की स्वतन्त्रता और शान्ति खतरे में न पड़े।

घरेलू प्रश्नों का क्षेत्र—राज्यों की स्वतन्त्रता से सम्बन्धित समस्या का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि किन प्रश्नों को राज्य के घरेलू मामले समझे जाएँ और किनको इससे बाहर रखा जाए? अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता के विषय और विशुद्ध रूप से घरेलू विषयों के बीच एक विभाजक रेखा खींची जाना परम आवश्यक

है। अब तक यह कार्य संतोषजनक रूप से सम्पन्न नहीं किया जा सका है। सामान्य रूप से प्रत्येक सरकार इस बात पर जोर देती है कि कुछ क्रियाएँ पूर्ण रूप से उसी के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत हैं तथा उन पर बाहरी सत्ता का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का सुरक्षित क्षेत्र होना राष्ट्र-राज्यों के लिए परम आवश्यक है। इस प्रकार के घरेलू प्रश्नों के उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में नहीं हैं। राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ दोनों की प्रारूप रचना में सम्बन्धित परिषदों को राज्यों के घरेलू क्षेत्राधिकार से दूर रखा गया। यदि किसी मामले में कोई घरेलू प्रश्न उलझा हुआ है तो विश्व संस्था उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं ले सकती। इस प्रकार के प्रश्नों को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सामने लाने के लिए एक राज्य को बाध्य नहीं किया जा सकता। किसी राज्य द्वारा घरेलू मामला बताए जाने पर एक मामले को सुरक्षा परिषद् केवल तभी अपने विचार का विषय बना सकती है जब वह शान्ति के लिए कोई चुनौती है या शान्ति भंग करने वाला अथवा आक्रमणकारी कार्य है। अनेक मामलों में एक विभाजक रेखा खींचना अत्यन्त कठिन और विवादपूर्ण बन जाता है। यदि किसी राज्य की नीति या आचरण आक्रमणकारी है अथवा दूसरे राज्य के लिए घातक है तो परिणामस्वरूप किसी घरेलू प्रश्न को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण का विषय नहीं बनाया जा सकता। विस्थापितों पर नियन्त्रण एक घरेलू विषय स्वीकार किया गया है। अनेक वर्षों तक बहुत-से देशों की प्रशुल्क नीतियाँ दूसरे देशों के आर्थिक हितों के लिए हानिकारक रहीं किन्तु घरेलू विषय होने के कारण इस सम्बन्ध में कोई शिकायत नहीं की जा सकी।

घरेलू क्षेत्राधिकार की अस्पष्टता—समय के साथ-साथ सुरक्षा परिषद् के निर्णय निश्चय ही विधि के शासन की परम्परा बन गए हैं, किन्तु किसी भी विशेष मामले में निहित राजनीतिक कारणों ने परिषद् को निर्णय लेने से रोक दिया है। अनेक प्रश्न ऐसे हैं जिनमें घरेलू क्षेत्राधिकार स्पष्ट नहीं होता। 1948 में जब चेकोस्लोवाकिया के एक राजनैतिक दल ने सोवियत संघ के हस्तक्षेप का स्वागत किया तो क्या यह उसका घरेलू क्षेत्राधिकार था? 1946 में दक्षिण अफ्रीका में स्थित भारतीयों के प्रति दुर्व्यवहार से सम्बन्धित भारत की शिकायत के उत्तर में दक्षिण अफ्रीका सरकार द्वारा इस विषय को घरेलू बताना क्या सही था? 1949 में बल्गारिया, हंगरी और रूमानिया के विरुद्ध मौलिक मानवीय अधिकारों का उल्लंघन करने के विरुद्ध महासभा ने कार्यवाही करनी चाही। जब अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने यह मामला परामर्श के लिए प्रस्तुत किया गया तो न्यायालय को इस दायित्व के निर्वाह के लिए कोई साधन न मिल सका। 1956 में जब सोवियत सेनाओं ने हंगरी पर आक्रमण किया तो भी कोई कदम न उठाया जा सका। सुरक्षा परिषद् में सोवियत निषेधाधिकार ने इसे घरेलू मामला सिद्ध कर दिया और महासभा केवल निन्दा प्रस्ताव पास करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकी।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की भाँति अमेरिकी राज्यों के संगठन के चार्टर की धारा-15 में यह कहा गया है कि किसी भी अन्य राज्य के आन्तरिक मामलों में किसी भी

कारण से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। स्थित सन्धियों के अनुसार शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिए किए गए प्रयासों को इसका अपवाद माना गया।

संरक्षित विषय—संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने अनेक विषयों को संरक्षित रखा है और इन पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के वैकल्पिक क्लॉज को स्वीकार किया है। ये संरक्षित विषय-क्षेत्र की दृष्टि से पर्याप्त व्यापक हैं तथा इनके नाम पर कोई राज्य न्यायिक प्रक्रिया को असम्भव बना कर विश्व-शान्ति के लिए खतरा पैदा कर सकता है।

स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता का अधिकार पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यह राज्यों को दायित्व सौंपता है कि वे अपने अभिकरणों एवं प्रजाजनों को कोई भी ऐसा कार्य करने से रोकें जो दूसरे राज्य की स्वतन्त्रता या प्रादेशिक अथवा व्यक्तिगत सर्वोच्चता का उल्लंघन करता हो। इस कर्त्तव्य की अवहेलना करने वाले सभी कार्यों की सूची प्रस्तुत करना सरल नहीं है, फिर भी प्रो ओपेनहेम ने इसके कुछ उदाहरण दिए हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भाँति राज्यों को स्वतन्त्रता भी सब कुछ करने की छूट नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज का सदस्य होना ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर एक प्रतिबन्ध का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त सन्धियों आदि के माध्यम से भी एक राज्य अपने ऊपर अनेक दायित्व स्वेच्छा से डाल लेता है। स्वतन्त्रता के प्रतिबन्धों की भी एक सीमा है जिसके आगे वे राज्यों को अर्ध-सम्प्रभु बनाकर उसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को बदल देते हैं।

प्रादेशिक सर्वोच्चता पर प्रतिबन्ध—स्वतन्त्रता की भाँति प्रादेशिक सर्वोच्चता का अधिकार है *कि उसके व्यापारी दूसरे देश की जलपट्टी में होकर गुजर सकते हैं।* विदेशी राजाओं, राजनयिकों, सशस्त्र सेनाओं आदि के साथ विशेष व्यवहार किया जाना चाहिए। एक देश अपने प्रदेश मे रहने वाले, वहाँ होकर गुजरने वाले विदेशी नागरिकों को ऐसी धमकियाँ नहीं दे सकता जैसी वह अपने नागरिकों को दे सकता है, उदाहरण के लिए, वह उनको अपनी जल-सेना या थल-सेना मे कार्य करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। अपने प्रदेश का स्वामी होने पर भी एक राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने प्रदेश की प्राकृतिक परिस्थितियों को इस प्रकार बदल दे *कि दूसरे राज्यों के लिए हानिकारक हो। उदाहरण के लिए, स्वयं के प्रदेश से बहती* हुई पड़ोसी राज्य मे जाने वाली नदी की धारा को बन्द किया या मोड़ा नहीं जा सकता। एक राज्य अपने प्रदेश का प्रयोग इस प्रकार नहीं कर सकता कि पड़ोसी राज्य के निवासियों को उससे हानि हो। फैक्ट्रियों की बहुतायत यदि विषैला धुंआ छोड़ती है तो पड़ोसियों को अवश्य आपत्ति होगी। प्रदेश का प्रयोग राज्य को इस प्रकार करना चाहिए ताकि दूसरे राज्य के अधिकारों पर किसी प्रकार का आघात न हो।

व्यक्तिगत सर्वोच्चता पर प्रतिबन्ध—राज्यों की व्यक्तिगत सर्वोच्चता भी उनको असीमित [illegible] नहीं सौंपती। विदेशों में स्थित अपने नागरिकों पर एक

राज्य का अधिकार होता है किन्तु इसका प्रयोग वह सम्बन्धित देश की प्रादेशिक सर्वोच्चता के प्रति आदर भाव रखते हुए ही करेगा। दूसरे राज्य के प्रदेश में कोई राज्य अपनी सम्प्रभुता का प्रयोग नही कर सकता। विदेशी नागरिकों को उस देश के राष्ट्रीय कानून द्वारा लगाए गए सभी प्रतिबन्ध स्वीकार करने होंगे जहाँ वे रह रहे हैं। सन्धि द्वारा भी एक राज्य का अपने नागरिकों पर अधिकार सीमित हो जाता है। इसके अतिरिक्त मानवीय अधिकारों एव मौलिक स्वतन्त्रताओं को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का भाग बनाया जा रहा है। अत. राज्यों को अपने नागरिकों के सम्बन्ध में इनका भी सम्मान करना होगा।

(4) गौरव अथवा प्रतिष्ठा का अधिकार
(Right for Dignity)

प्रत्येक राज्य का गौरव अथवा प्रतिष्ठा भी उसका एक महत्वपूर्ण मौलिक अधिकार मानी जा सकती है। कुछ लेखकों का मत है कि इस प्रकार का अधिकार अस्तित्व नहीं रखता क्योंकि इसके अनुरूप किसी कर्त्तव्य का उल्लेख नहीं किया जा सकता। एक राज्य का सम्मान उसके नागरिकों के व्यवहार पर निर्भर करता है। यदि किसी राज्य की सरकार भ्रष्ट है और अनुचित रूप से कार्य करती है तथा दूसरे राज्यों के साथ उचित व्यवहार नहीं करती तो बुरा समझा जाएगा किन्तु यदि एक राज्य की सरकार अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में ईमानदार और न्यायपूर्ण बर्ताव करती है तो उसे सम्मान दिया जाएगा।

परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून में राज्यों के गौरव के कुछ कानूनी परिणामों का उल्लेख किया गया है। वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के रूप में कुछ माँग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए वे यह आशा कर सकते हैं कि उनके अध्यक्षों के ऊपर मुकदमा न चलाया जाए और न उनका अपमान किया जाए। विदेशों में इन राज्यों के अध्यक्षों एव राजनयिकों को प्रदेश के कानून से बाहर समझा जाए। दूसरे राज्यों के प्रतिनिधियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते समय उनको कुछ पदवियाँ प्रदान की जानी चाहिए। किसी राज्य के झण्डे या सैनिक निशानों का दुरुपयोग नहीं किया जाए। जब एक राज्य की सरकार, उनके अग और उसके सेवक सम्मान और प्रतिबन्धों के कर्त्तव्य से बँधे रहते हैं तो यह संदिग्ध है कि एक देश अपने प्रजाजनों को कार्य से न रोके जो एक दूसरे राज्य के सम्मान के विरुद्ध हैं।

जिन कार्यों से दूसरे राज्यों के सम्मान और प्रतिष्ठा को ठेस लगती है उन कार्यों को रोका जाना चाहिए। नीति की आलोचना या किसी राज्य अथवा उसके अतीतकालीन प्रशासक की आलोचना या राज्य के अनैतिक कार्यों की आलोचना और नैतिकता की अवहेलना का दोषारोपण आदि बातें ऐसी हैं जिनके विरुद्ध न तो नागरिकों को दबाया जा सकता है और न उनको दण्ड दिया जा सकता है। स्थिति उस समय भिन्न होती है जबकि सम्बन्धित व्यक्ति सरकारी सेवा में हो अथवा देशी सरकार से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखता हो।

कर्त्तव्यों का वर्गीकरण
(Classification of Duties)
अथवा
अहस्तक्षेप, हस्तक्षेप तथा अन्य कर्त्तव्य
(Non-intervention, Intervention and Other Duties)

राज्यो को उपर्युक्त अधिकारों के साथ-साथ कुछ कर्त्तव्य भी सौंपे जाते हैं। असल में ये कर्त्तव्य अधिकारों के साथ जुड़े हुए हैं। एक राज्य के अधिकार ही दूसरे राज्य के कर्त्तव्य बन जाते हैं। उदाहरण के लिए एक राज्य का समानता का अधिकार है किन्तु उसका यह कर्त्तव्य भी है कि दूसरे राज्यो को समान समझे। इसी प्रकार राज्य को अपना अस्तित्व बनाए रखने का अधिकार है किन्तु साथ ही *दूसरों को उनका अस्तित्व बनाए रखने की सुविधा देना उसका कर्त्तव्य भी है।* असल में राज्यो के अधिकार उन्हें कुछ देने की अपेक्षा उन पर उत्तरदायित्व का भार डालते हैं। चाहे कोई विचारक राष्ट्रों के मध्य स्थित सम्बन्धों मे नैतिक संहिता का अस्तित्व स्वीकार करें अथवा न करें किन्तु यह सत्य है कि व्यावहारिक राजनीतिज्ञ और सभी विचारक किसी न किसी प्रकार की आचार-संहिता के अस्तित्व के बारे में विश्वास करते हैं। जब राज्य दूसरे राज्यो के साथ सन्धियाँ करते हैं तो उनका यह विश्वास रहता है कि इन सन्धियों का अनुशीलन किया जाएगा। जो राज्य सन्धि का उल्लंघन करता है वह या तो सन्धि के अस्तित्व को ही अस्वीकार करता है अथवा स्पष्ट तर्क देकर अपने व्यवहार को कानूनी और नैतिक रूप से सही सिद्ध करना चाहता है। ऐसी स्थिति में यह देखना आवश्यक बन जाता है कि राज्यों के आपसी सम्बन्धों मे कौन-कौन से कर्त्तव्य शामिल किए जा सकते हैं। सन् 1949 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने राज्यो के अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध मे एक प्रारूप घोषणा तैयार की। इसके अतिरिक्त प्रथाओं और परम्पराओं ने भी राष्ट्रों के समाज पर लागू होने वाले कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है। इन कर्त्तव्यो मे से कुछ का वर्णन हम निम्न प्रकार कर सकते हैं—

1. हस्तक्षेप न करने का कर्त्तव्य
(The Duty of Non-Intervention)

यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज मे अपना व्यक्तित्व बनाए रखने का राज्य का अधिकार उस पर यह सम्बन्धित दायित्व भी डालता है कि वह दूसरे राज्यो के आन्तरिक या बाहरी मामलों में हस्तक्षेप न करें। सम्प्रभु राज्य आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाने के हेतु स्वतन्त्र हैं। यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून की निगाह में स्पष्टता रखता है किन्तु इसके साथ ही दूसरे राज्यो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे किसी भी सम्प्रभु राज्य के अधिकारो का हनन न करें। दूसरे राज्य के अधिकारों के प्रति हस्तक्षेप को केवल उचित माना जा सकता है, जब सम्बन्धित खतरा वास्तविक और तात्कालिक है और दूसरे साधनों द्वारा दूर नहीं किया जा सकता है। हस्तक्षेप न करने के कर्त्तव्य को सही रूप में समझने के लिए हमें देखना

होगा कि हस्तक्षेप का अर्थ क्या है, किन परिस्थितियों में हस्तक्षेप करना कर्त्तव्य बन जाता है, किन परिस्थितियों मे हस्तक्षेप न करना कर्त्तव्य होता है, हस्तक्षेप के प्रकार कौन-कौन से हैं, एक राज्य किस प्रकार दूसरे राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है, आदि आदि।

हस्तक्षेप का अर्थ—हस्तक्षेप के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए प्रो ओपेनहेम ने इसे एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के मामले मे तानाशाही प्रकृति की दखलन्दाजी माना है जिसका उद्देश्य वस्तु-स्थिति को बनाए रखना अथवा बदलना होता है। यह हस्तक्षेप अधिकारी और अनाधिकारी दोनो रूपों मे हो सकता है, फिर भी इसका सामान्य सम्बन्ध किसी भी राज्य की बाहरी स्वतन्त्रता या प्रादेशिक अथवा व्यक्तिगत सर्वोच्चता से होता है। यही कारण है कि यह राज्य की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे हस्तक्षेप के लिए मना करता है जो किसी राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व पर सीमा लगा दे। इसके कुछ अपवाद भी हैं जिनमे हस्तक्षेप एक अधिकार के नाते किया जाता है।

हस्तक्षेप एक राज्य के बाहरी और आन्तरिक दोनों ही मामलों मे किया जा सकता है। इसका सम्बन्ध बाहरी स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अथवा व्यक्तिगत सर्वोच्चता से रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की यह एक पुरानी समस्या है कि उन परिस्थितियों का निर्धारण किया जाए जिनसे एक राज्य दूसरे राज्यों के आन्तरिक या बाहरी मामलो मे हस्तक्षेप कर सकता है। यदि पडोसी राज्य की सरकार अनुचित कार्य करती है या वहाँ की राजनीति विश्व-शान्ति के लिए खतरनाक है या स्वय राज्य की घरेलू व्यवस्था के लिए हानिकारक है तो क्या उस राज्य के मामले में हस्तक्षेप किया जा सकता है ? यह समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी सम्भवतः मानव सभ्यता। यूनानी नगर-राज्य और रोमन सभ्यता इससे परिचित थीं। आधुनिक काल मे इसने हस्तक्षेप के अधिकार का रूप धारण कर लिया है। राज्य आत्म-रक्षा के नाम पर दूसरे राज्यो के मामलो में हस्तक्षेप करने लगे हैं। सुरक्षा के साधनों मे युद्ध का स्थान प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण रहा है। जब एक राज्य पडोसी राज्य में अपनी सुरक्षा के लिए खतरा देखता है तो युद्ध की घोषणा कर देता है और उसे हराने के बाद शान्ति की ऐसी शर्तें लगाता है जो सम्बन्धित राज्य की सुरक्षा के खतरे को दूर रख सकें। यह एक भयानक उपचार था और इसके परिणाम अनिश्चित तथा अप्रत्याशित हो सकते हैं।

हस्तक्षेप अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो मौलिक सिद्धान्तों के बीच सघर्ष उत्पन्न करता है—शिकायत करने वाले राज्य की आत्म-रक्षा और जिसके विरुद्ध शिकायत की गई है उसकी स्वतन्त्रता और स्वायत्त सरकार। इस समस्या को सुलझाने के लिए अनेक बार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पास कोई उपचार नहीं होता।' हस्तक्षेप करने वाला राज्य पड़ोसी के दुर्व्यवहार की शिकायत करता है और पड़ोसी के लिए गए दोषारोपण को अस्वीकार करके हस्तक्षेप को गैर-कानूनी और अनुचित बताता है।

हस्तक्षेप के आधार-- कई राज्य दूसरे राज्य के मामलो मे कई आधारो पर हस्तक्षेप कर सकता है।

1 अमेरिकी विदेश मन्त्री ने कैरोलाइन के मामले के सम्बन्ध मे हस्तक्षेप के सिद्धान्त की व्याख्या की है। उसने ब्रिटिश सरकार से यह मांग की कि अमेरिका की प्रादेशिक सर्वोच्चता का उल्लघन करने के लिए यह क्षमा याचना करे और यदि आत्म रक्षा की दृष्टि से इसे आवश्यक सिद्ध न कर सके तो इसकी क्षतिपूर्ति भी दे। कहने का अर्थ यह है कि हस्तक्षेप केवल तभी उपयुक्त माना जा सकता है जब सम्बन्धित राज्य उसे आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक बताए।

2 हस्तक्षेप का एक दूसरा आधार यह भी हो सकता है कि कर्ता राज्य को प्रभावित राज्य मे अपने नागरिको के प्रति कोई अन्याय दिखाई दे अथवा साधारण न्याय से उनको वचित किया जाए। इस सम्बन्ध मे प्रत्येक राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ न्यूनतम मानदण्डो को स्वीकार करने की बात कही गई है किन्तु ये क्या होंगे, इस सम्बन्ध मे निश्चित और स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। विभिन्न राष्ट्रो मे न्याय सम्बन्धी विचार भी अलग-अलग होते हैं इनके बीच किसी प्रकार का समायोजन नहीं किया जा सकता।

3 सरकारी ऋणो को एकत्रित करने के लिए भी कभी कभी एक राज्य दूसरे के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण कर देता है। जब एक राज्य अथवा उसके नागरिक दूसरे राज्य से ऋण लेते है और वे उस ऋण का भुगतान करने का इरादा नहीं रखते तो ऋणदाता राज्य हस्तक्षेप करने के लिए तत्पर हो जाता है।

हस्तक्षेप को प्राचीन काल मे ही बुरा माना जाता रहा है। परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अनेक बहुपक्षीय अभिसमयो द्वारा इसे राष्ट्रो का पवित्र कर्त्तव्य घोषित किया गया है। वास्तविक व्यवहार मे हस्तक्षेप को राज्यो द्वारा इतना गैर-कानूनी नहीं माना गया है। असल मे अनेक राज्यो की विदेश नीतियाँ इस रूप मे निर्धारित की जाती हैं ताकि दूसरे राज्य भी विदेश नीति की सफलता को रोक सकें। कोई भी राज्य इस प्रकार के व्यवहार को गैर-कानूनी नहीं मानता। कभी-कभी यह हस्तक्षेप कानून के अनुरूप और कानून को बढावा देने वाला भी बन जाता है।

हस्तक्षेप को रोकने के सम्बन्ध मे जो वाद-विवाद रहा है उतना कुछ हो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के सम्बन्ध म रहा है। हस्तक्षेप के व्यवहार की परिभाषा के सम्बन्ध मे सामान्य सहमति का अभाव है। इसके अतिरिक्त अनेक लेखक और राजनीतिज्ञ यह भी कहते हैं कि विशेष परिस्थितियो के अन्तर्गत हस्तक्षेप करना न केवल एक राज्य का अधिकार है वरन् यह उसका कर्त्तव्य भी है। आजकल अधिकांश समालोचक यह मानने लगे है कि हस्तक्षेप का अर्थ एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के मामलो म या तो वस्तु स्थिति को बनाए रखने के लिए अथवा उसे बदलने के लिए किया जाने वाला तानाशाही हस्तक्षेप है। इस प्रकार का हस्तक्षेप अधिकृत रूप स भी हो सकता है और अनाधिकृत रूप स भी। किन्तु प्रत्येक स्थिति म यह सम्बन्धित

राज्य की स्वतन्त्रता, प्रदेश या सर्वोच्चता से सम्बन्ध रखता है। हस्तक्षेप के इस रूप पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रतिबन्ध लगाता है ताकि राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व की रक्षा की जा सके। इस सिद्धान्त के कुछ अपवाद भी हैं जहाँ हस्तक्षेप कानूनी बन जाता है और राज्य के कानूनी स्तर को बनाए रखने के लिए जरूरी होता है।

हस्तक्षेप अधिकार के रूप में—स्पष्ट है कि जो हस्तक्षेप अधिकार के रूप में किया जाता है वह हस्तक्षेप के दूसरे प्रकारों की अपेक्षा भिन्न होगा। जहाँ हस्तक्षेप का अधिकार नहीं होता वहाँ यह प्रभावित राज्य की बाहरी स्वतन्त्रता या प्रादेशिक सर्वोच्चता या व्यक्तिगत सर्वोच्चता का उल्लंघन करता है किन्तु जहाँ हस्तक्षेप अधिकार के रूप मे होता है वहाँ यह इस प्रकार का उल्लंघन नहीं करता। अनेक न्यायवेत्ताओं ने हस्तक्षेप के कुछ प्रकारों को न्यायोचित बताया है। ये विचारक मानवीय दृष्टि से या राजनीतिक दृष्टि से अथवा औचित्यपूर्ण तर्कों की दृष्टि से हस्तक्षेप को उचित बताते हैं। एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध हस्तक्षेप करने का अधिकार मुख्यतः सात कारणों से रखता है—

1. एक संरक्षित राज्य (Protected State) की रक्षा के लिए संरक्षक राज्य हस्तक्षेप कर सकता है। यह अधिकार उसे किसी संधि द्वारा प्रदान किया जाता है।

2 यदि एक राज्य के विदेश सम्बन्ध दूसरे राज्य के भी विदेश सम्बन्ध हैं तो दूसरा राज्य कानूनी रूप से पूर्व-राज्य के मामलों मे हस्तक्षेप कर सकता है। इस प्रकार दोनों राज्य एकमत होकर अपनी विदेश नीति का संचालन करते हैं।

3 यदि एक राज्य की प्रादेशिक सम्प्रभुता या बाहरी स्वतन्त्रता को किसी संधि द्वारा प्रतिबिम्बित किया गया है और वह इन प्रतिबन्धों का उल्लंघन करता है तो उसके विरुद्ध दूसरा पक्ष हस्तक्षेप करने का कानूनी अधिकार रखता है।

4 यदि एक राज्य सामान्य रूप से स्वीकृत परम्परागत कानून अथवा अभिसमयात्मक कानून के नियमों को भंग करता है तो दूसरे राज्य हस्तक्षेप करने का अधिकार रखेंगे। यदि एक युद्धरत देश किसी तटस्थ राज्य के अधिकारों को तोड़ता है तो तटस्थ राज्यों को यह अधिकार है कि युद्धरत राज्य के मामलों मे हस्तक्षेप कर सकें। जब एक राज्य संधि मे स्वीकार की गई बातों की अवहेलना करके उनके विपरीत व्यवहार करता है तो निश्चय ही दूसरे राज्य उसके व्यवहार पर रोक लगाने के लिए हस्तक्षेप करेंगे। उदाहरण के लिए, यदि एक राज्य अपने क्षेत्राधिकार को दूसरे राज्यों के व्यापारियों तक प्रसारित करता है तो यह मामला केवल इन सम्बन्धित दो देशों का ही मामला नहीं रह जाएगा वरन् दूसरे राज्यों को भी हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा क्योंकि समुद्र की स्वतन्त्रता सामान्य रूप से सर्व-मान्य सिद्धान्त है। जब एक राज्य किसी सन्धि के प्रावधानों को तोड़ता है तो सभी सदस्य राज्य उसके विरुद्ध हस्तक्षेप कर सकते हैं।

5. यदि एक राज्य के नागरिकों के साथ दूसरे देश में अच्छा व्यवहार नहीं होता है तो निश्चय ही उस राज्य के मामलों में हस्तक्षेप किया जा सकता है।

हस्तक्षेपकर्ता राज्य अपने नागरिकों की ओर से ऐसा करते हैं। उदाहरण के लिए, सयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा सन् 1909 मे निकारागुआ के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप किया गया। इसके समर्थन मे यह कहा गया कि अमेरिका के व्यक्तिगत हितो एव नागरिको की रक्षा के लिए ऐसा करना जरूरी था। इतिहास मे इसी प्रकार के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। इस प्रकार जब एक राज्य विदेशी नागरिको के हितो की रक्षा का प्रयास नहीं करता तो उसके आन्तरिक विषयो मे भी हस्तक्षेप किया जा सकता है।

6 एक राज्य दूसरे राज्य की सरकार को सन्धि द्वारा गारटी दे देता है और जब कोई उस सरकार को बदलने का प्रयास करे तो गारटीदाता राज्य हस्तक्षेप कर सकता है। ऐसा तभी हो सकता है जब सन्धि राज्य के बीच की गई हो न कि प्रशासको के बीच। किसी भी कानूनी सरकार की स्थापना के लिए राज्य सहायता दे सकता है और यह सहायता हस्तक्षेप का रूप धारण कर लेगी।

7 कानूनी हस्तक्षेप वह भी माना जाएगा जो राष्ट्रो के समाज की ओर से अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो और सिद्धान्तो को क्रियान्वित करने के लिए किया जाए। राष्ट्रसघ के घोषणा पत्र मे यह कहा गया था और सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर मे भी बताया गया है कि सदस्य राज्यो को युद्ध छेड़कर या शक्ति की धमकी देकर विश्व की शान्ति भग करने दिया जाएगा। यदि कोई राज्य ऐसा करता है तो उसके विरुद्ध सामूहिक हस्तक्षेप किया जाएगा। घोषणा-पत्र मे कुछ स्थितियो मे गैर-सदस्य राज्यो के मामलो मे हस्तक्षेप करने की बात भी कही गई थी। सयुक्त राष्ट्रसघ का चार्टर सगठन पर यह कर्त्तव्य डालता है कि इससे गैर-सदस्य राज्य भी इसके सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करेंगे ताकि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखा जा सके। सयुक्त राष्ट्रसघ तानाशाही रूप से हस्तक्षेप नहीं करेगा। उसका हस्तक्षेप मानवीय अधिकारो के क्षेत्र मे अध्ययन, विचार-विमर्श, जाँच और सिफारिशो के आधार पर होगा।

अधिकारों से असम्बद्ध हस्तक्षेप—उपर्युक्त हस्तक्षेपो के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के हस्तक्षेप भी हो सकते हैं जिनको हम अधिकार की दृष्टि से उपयुक्त नहीं कह सकते किन्तु फिर भी मान्य और स्वीकृत होते हैं। ये स्वीकार्य हस्तक्षेप आत्म-रक्षा के उदाहरणो पर केन्द्रित अधिकारो पर आधारित होते हैं। इस मामले मे आत्म-सहायता की दृष्टि से आमन्त्रित किया जाने वाला हस्तक्षेप आत्म-रक्षा की कार्यवाही होता है। किसी सशस्त्र आक्रमण के विरुद्ध की गई आत्म-रक्षा की कार्यवाही गैर कानूनी हस्तक्षेप नहीं कही जाएगी, किन्तु आक्रमण का खतरा निकटवर्ती होने चाहिए। अन्य प्रकार का सैनिक हस्तक्षेप गैर-कानूनी माना जाएगा। उदाहरण के लिए, 1956 में ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा मिस्र में किया गया हस्तक्षेप। यदि सैनिक हस्तक्षेप सयुक्त राष्ट्रसघ या चार्टर के अन्तर्गत क्षेत्रीय सुरक्षा सगठन की ओर से किया जाता है तो उसे भी कानूनी माना जाएगा।

स्पष्ट है कि अधिकारपूर्ण हस्तक्षेपों के अतिरिक्त कुछ ऐसे हस्तक्षेप भी होते हैं जिनको गैर-कानूनी नहीं कहा जा सकता यद्यपि ये हस्तक्षेप सम्बन्धित राज्य की स्वतन्त्रता का उल्लंघन करते हैं और उसकी प्रादेशिक या व्यक्तिगत सर्वोच्चता को चुनौती देते हैं। इस प्रकार के हस्तक्षेपों में प्रो. ओपेनहेम ने दो रूपों का उल्लेख किया है—आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक हस्तक्षेप और शक्ति सन्तुलन के हित में हस्तक्षेप।

1 आत्म-रक्षा के लिए हस्तक्षेप—यदि कोई देश एक राज्य की आत्म-रक्षा के लिए खतरा पैदा करता है या उसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को चुनौती देता है तो उसके विरुद्ध किया गया हस्तक्षेप क्षम्य होगा। आत्म-सहायता के लिए किया गया कार्य कब आत्म-रक्षा का बन जायेगा, यह केवल मात्रा का प्रश्न है। कई मामले ऐसे आते हैं जब स्पष्ट रूप से यह निर्णय नहीं हो पाता कि हस्तक्षेप आत्म-रक्षा के लिए हुआ है अथवा नहीं हुआ है।

2 शक्ति सन्तुलन के हित में हस्तक्षेप—अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, जैसे राष्ट्रसंघ, के अभाव में शक्ति सन्तुलन के हित में किया गया हस्तक्षेप भी उचित माना जाता था। सन् 1648 की वेस्टफेलिया की सन्धि के बाद शक्ति-सन्तुलन ने योरोप के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। अनेक सन्धियों और सम्मेलनों में इसे मान्यता प्रदान की गई। शक्ति सन्तुलन उस समय विश्व-शान्ति की स्थापना में उपयोगी रहा। यदि कोई राज्य शक्ति सन्तुलन को तोड़ने का प्रयास करता तो दूसरे राज्य हस्तक्षेप करके उसके व्यवहार पर रोक लगा सकते थे।

हस्तक्षेप के इन दो रूपों के अतिरिक्त इस श्रेणी में आने वाले कुछ दूसरे रूपों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

3 मानवीय हस्तक्षेप—ग्रोशियस, वेटेल और वेस्टलेक जैसे लेखकों ने उस समय हस्तक्षेप को कानूनी रूप से उचित माना है जब लोगों को उनके मौलिक अधिकारों से वंचित किया जाए और मानवता की आत्मचेतना को दबाया जाए। दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप यह कह कर समर्थित किया गया कि यदि कुछ व्यवहार और कार्य सामान्य नैतिकता और सज्जनता के मापदण्ड के विरुद्ध किए जाते हैं तथा पड़ोसियों के विरोध और बाधाओं की अवहेलना की जाती है तो मानवता की दृष्टि से हस्तक्षेप की सीमाएँ तोड़नी पड़नी हैं और हस्तक्षेप का निर्णय न्यायपूर्ण बन जाता है। इस प्रकार के हस्तक्षेप का उदाहरण 19वीं शताब्दी में कुछ प्रमुख शक्तियों के कार्यों के रूप में दिया जा सकता है जब उन्होंने कुछ राज्यों में दासता के विरुद्ध हस्तक्षेप किया और दासों के व्यापार को रोकना चाहा। हाल ही में अनेक अफ्रीकी राज्यों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में काफी लोगों के प्रति दक्षिण अफ्रीका की सरकार के प्रति शिकायत की और सम्बन्धित सरकार पर दबाव डालने का प्रस्ताव रखा ताकि उसमें दुर्व्यवहारों को रोका जा सके।

प्रादेशिक और व्यक्तिगत सर्वोच्चता की दृष्टि से यह उपयुक्त है कि प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों के साथ मनचाहा व्यवहार करे किन्तु वास्तविक व्यवहार में यदि कोई राज्य अपने नागरिकों के विरुद्ध निर्दयतापूर्ण व्यवहार करता है तो मानवीय

आधार पर उसकी स्वेच्छा पर प्रतिबन्ध लगाया जाता चाहिए। मानवता के हित मे हस्तक्षेप को उस समय तक कानूनी समझा जाएगा जब वह मानव-आत्मा की मुक्ति के लिए और मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए किया जाता है। सन् 1827 मे क्रान्तिकारी यूनान और टर्की के बीच सघर्ष मे जो निर्दयता बरती गई उसके कारण फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन और रूस ने हस्तक्षेप किया। इस प्रकार का हस्तक्षेप प्राय आवश्यकता के अनुसार नहीं हो पाता क्योंकि यदि हस्तक्षेप के पीछे पूरी शक्ति नहीं हुई तो यह लाभप्रद होने की अपेक्षा हानिप्रद बन जायेगा। इसमे एक खतरा यह भी है कि यदि हस्तक्षेप किसी व्यक्तिगत राज्य की ओर से किया गया तो इसमे स्वार्थ-भावना की प्रधानता हो सकती है और इसलिए यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विपरीत बन जाएगा। यह आपत्ति सामूहिक सुरक्षा के विरुद्ध लागू नहीं होती। सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर मे मौलिक मानवीय अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का आदर करने की बात कही गई है। यह विश्व सगठन का एक प्रमुख कर्तव्य है। इतने पर भी चार्टर मे राज्य के घरेलू क्षेत्राधिकार को हस्तक्षेप से बाहर रखा गया है।

मानवतावादी हस्तक्षेप अत्यन्त महत्वपूर्ण है ताकि मानवता की चेतना की रक्षा की जा सके और नैतिक मूल्यों को बनाए रखा जा सके। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या हस्तक्षेप जैसी क्रिया द्वारा किसी सद्-उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है। हस्तक्षेप का औचित्य इस बात पर निर्भर करता है कि इसका उद्देश्य स्वार्थपूर्ण नहीं होना चाहिए। *कुछ लेखकों के अनुसार सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर ने मानव* अधिकारों और स्वतन्त्रताओं पर इतना जोर दिया है, इसलिए विधि का शासन भी मानवतावादी हस्तक्षेप को उचित सिद्ध करता है।

4 अन्तर्राष्ट्रीय दुराचार को कम करने के लिए—हस्तक्षेप का औचित्य सिद्ध करते हुए एक अन्य बात यह कही जाती है कि अन्तर्राष्ट्रीय दुराचरण को हस्तक्षेप द्वारा कम किया जा सकता है। अनेक असहनीय व्यवहारो का इलाज केवल हस्तक्षेप होता है। सन् 1898 मे सयुक्तराज्य अमेरिका ने जब क्यूबा मे सैनिक कार्यवाही की तो इसी आधार पर उसने अपना औचित्य वर्णित किया। सन् 1939 मे रूस की रक्षा के लिए हस्तक्षेप किया गया। इसी प्रकार सन् 1932 मे जब जापान ने मचूरिया पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की तो यही तर्क प्रस्तुत किया गया।

इस सिद्धान्त के अनुसार जब एक पडोसी राज्य के प्रदेश की परिस्थितियाँ अराजकता के नजदीक पहुँच जाएँ और उस प्रदेश की सरकार अपने क्षेत्र मे होने वाली गडबडियों को रोकने तथा व्यवस्था की स्थापना करने मे असमर्थ रहे तो एक राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह हस्तक्षेप करे ताकि उसकी सीमाओं के आस पास व्यवस्था बनी रहे और प्रदेश द्वारा की अव्यवस्था दूर हो सके। यदि *हस्तक्षेप मे कोई स्वार्थपूर्ण उद्देश्य नहीं है तो इसके औचित्य को अस्वीकार नहीं किया* जा सकता है।

5 सामूहिक हस्तक्षेप—अनेक बार एक अन्य प्रकार के हस्तक्षेप का भी समर्थन किया जाता है जिसे सामूहिक हस्तक्षेप अथवा सार्वजनिक दबाव का नाम

दिया गया है। इसका एक प्रमुख उदाहरण सन् 1863 में मिलता है जब ग्रेट ब्रिटेन, नीदरलैण्ड, फ्रांस, रूस और संयुक्तराज्य अमेरिका ने जापान को विदेशी बेड़ों पर आक्रमण करने से रोकने के लिए मिलकर हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया। इसी प्रकार चीन में भी पश्चिमी शक्तियों ने सामूहिक कार्यवाही की।

6. प्रतिरोधात्मक हस्तक्षेप—हस्तक्षेप का एक रूप यह भी है कि किसी राज्य को गैर-कानूनी हस्तक्षेप करने से रोका जाए। इसे प्रतिरोधात्मक हस्तक्षेप का नाम दिया जाता है। इस प्रकार के हस्तक्षेप का उदाहरण सन् 1861 में मैक्सिको में फ्रांसीसी हस्तक्षेप के विरुद्ध अमेरिकी विरोध को माना जा सकता है। जब दूसरे राज्यों से अपना ऋण वापस लेने और अपने दावों को पूरा करने के सारे प्रयास असफल हो जाएँ तो सैनिक हस्तक्षेप किया जा सकता है। विभिन्न राज्यों द्वारा किए गए इस प्रकार के हस्तक्षेपों की मानव इतिहास में कोई कमी नहीं है। इन प्रकार हस्तक्षेप का औचित्य कई आधारों पर सिद्ध किया गया है। इनमें से कुछ नैतिक या वांछनीय हैं जबकि अन्य व्यावहारिक दृष्टि से उचित बताए गए हैं। हस्तक्षेप से प्राय. दूसरों के अधिकारों का उल्लंघन होता है और हमेशा दो राज्यों के बीच मन-मुटाव पैदा करता है। हस्तक्षेप का प्रभावशाली रूप में व्यवहार इस बात पर निर्भर करता है कि हस्तक्षेप करने वाले राज्य की शक्ति कितनी है। पिछले वर्षों में सशस्त्र हस्तक्षेप के अनेक उदाहरण सामने आए हैं। सन् 1960 में कांगो में हस्तक्षेप किया गया। 20 जून, 1960 को कांगो अपरिपक्व रूप में स्वतन्त्र हो गया किन्तु शीघ्र ही एक सैनिक विद्रोह के कारण अराजकता की स्थिति से ग्रस्त हो गया। यहाँ के लोगों को रक्षा के लिए बेल्जियम ने पैराट्रुप्स द्वारा हस्तक्षेप किया। दो दिन के अन्दर-अन्दर सुरक्षा परिषद् ने कांगो की सरकार को सहायता देने का समर्थन किया और कांगो में अन्तर्राष्ट्रीय सेनाएँ भेजने का समर्थन किया। 23 जुलाई, 1960 को कटंगा प्रान्त को छोड़कर अन्य स्थानों से बेल्जियम का एकपक्षीय हस्तक्षेप हट गया।

17 अप्रैल, 1961 को संयुक्तराज्य अमेरिका ने क्यूबा में कास्त्रो सरकार को अपदस्थ करने के लिए हस्तक्षेप किया। संयुक्तराज्य अमेरिका की सहायता से क्यूबा के निर्वासितों ने एक स्वतन्त्र सेना का गठन किया और उसे अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित किया।

2 नि.शस्त्र हस्तक्षेप (Unarmed Intervention)

हस्तक्षेप के ऊपर वर्णित रूप सशस्त्र हस्तक्षेप थे। इनके अतिरिक्त ऐसे हस्तक्षेप भी होते हैं जो नि शस्त्र कहे जा सकते हैं। एक राज्य दूसरे राज्यों के मामले में केवल सेना या हथियारों के बल पर ही हस्तक्षेप नहीं कर सकता वरन् दूसरे साधनों से भी कर सकता है। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

1 राज्यों का विद्रोहक या व्यवस्था भजक हस्तक्षेप—प्रो क्विन्सी राइट *(Prof Quincy Wright) ने राज्यों के विद्रोहक हस्तक्षेप (Subversive Inter-*vention by States) का उल्लेख किया है। संसार में अनेक विरोधी विचारधारा वाले राज्य हैं। कुछ राज्यों में पूंजीवादी सरकारें हैं। विभिन्न राज्यों में मानवीय ~ ~ टाई सम्मान नहीं दिया जाता। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार

राज्यों का यह दायित्व माना गया है कि किसी भी राज्य के मामले में हस्तक्षेप न करें और दूसरे राज्यों की प्रादेशिक अखण्डता एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता का आदर करें। दूसरी ओर संघ का यही चार्टर संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों को यह दायित्व सौंपता है कि मानव अधिकारों के प्रति और लोगों के आत्म निर्णय के प्रति सम्मान रखें ये दो प्रकार के विरोधी दायित्व कभी कभी यह समस्या पैदा कर देते हैं कि इन दोनों कानूनी दायित्वों में से किसको प्राथमिकता दी जाए ? हस्तक्षेप न करने का कर्त्तव्य परम्परागत कानून और अनेक बहुपक्षीय सन्धियों में वर्णित किया गया है किन्तु मानवीय अधिकारों और आत्म-निर्णय के अधिकार को राष्ट्रों के समाज के सदस्यों ने स्वीकार नहीं किया है। ऐसी स्थिति में मानवीय अधिकारों के सम्बन्ध में कोई राज्य बाध्यता का प्रयोग नहीं कर सकता।

प्रत्येक राज्य का यह दायित्व अथवा कर्त्तव्य माना गया है कि वह विद्रोहक हस्तक्षेप से दूर रहे तथा कोई ऐसा प्रचार न करें, अधिकारी वक्तव्य न दें तथा किसी प्रकार का व्यवस्थापिका कार्य न करें जिसके कारण दूसरे राज्य की सरकार के विरुद्ध क्रान्ति या विद्रोह हो। 3 नवम्बर, 1947 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें सभी प्रकार के विरोधी प्रचारों की निन्दा की गई थी। 1 दिसम्बर, 1949 को महासभा ने कहा कि सभी राज्यों को ऐसी धमकियों अथवा कार्यों से दूर रहना चाहिए जो किसी राज्य में गृह-युद्ध छेड़ सके या दूसरे किसी राज्य की जनता की इच्छा को दबा सके। 17 नवम्बर, 1950 को यही बात पुनः दुहराई गई।

इस प्रकार के हस्तक्षेप की निन्दा करने वालों में संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत संघ अग्रगण्य थे। अमेरिकी नेताओं द्वारा साम्यवादी गुट के राज्यों पर यह आरोप लगाया गया कि वे अपने कार्यों द्वारा जिस विद्रोही प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर रहे हैं वह एक प्रकार से अप्रत्यक्ष आक्रमण है।। यह छिपा हुआ आक्रमण स्पष्ट और घोषित आक्रमण की अपेक्षा अधिक भयानक होता है। दूसरी ओर सोवियत संघ और उसके मित्रों ने गैर साम्यवादी देशों द्वारा दी जाने वाली प्रत्येक सहायता को साम्राज्यवादी हस्तक्षेप कह कर पुकारा। यही विरोधी विचार दोनों गुटों के बीच शीत-युद्ध का प्रमुख कारण बन गए।

इस प्रकार के विद्रोहक हस्तक्षेप की मुख्य समस्या यह है कि प्रत्येक राज्य का क्षेत्राधिकार प्रादेशिक है, उसकी अपनी सीमाओं में मर्यादित है फिर भी अनेक राज्य विदेशों में रुचि लेते हैं और ऐसी विदेश-नीति अपनाते हैं जिसमें दूसरे राज्यों की निकटता अनिवार्य बन जाती है। प्रत्येक राज्य के हित आपस में एक दूसरे से जुड़े हुए रहते हैं। अपने हितों के अनुसार ही राज्य यह चाहता है कि पड़ोसी राज्य में सरकार किस प्रकार की होनी चाहिए, उसकी विचारधारा कैसी हो, उसकी अर्थ-व्यवस्था का रूप क्या हो, उसकी विदेश नीति का रूप कैसा हो, आदि-आदि। यही कारण है कि वह पड़ोसी राज्य को इतना दबाता है ताकि वांछनीय परिणाम प्राप्त किए जा सकें। इस प्रकार की नीति जब सामान्य बन जाती है तो राज्यों की

स्वतन्त्र अभिव्यक्ति समाप्त हो जाती है तथा उसकी सीमाओं में विदेशी प्रचार को रोकना एक समस्या बन जाती है।

विदेशी सरकार द्वारा की जाने वाली घुसपैठ की कार्यवाहियाँ इस दृष्टि से अपना उल्लेख रखती हैं। यह भी हस्तक्षेप का एक रूप है। जब एक विदेशी सरकारी संगठन किसी राज्य में घुसपैठ करने लगता है तो उसकी कार्यवाही को पहचानना एक कठिन समस्या बन जाती है। इस प्रकार के हस्तक्षेप में हस्तक्षेपकर्त्ता राज्य उसी देश के निवासियों का सहारा लेता है जिसमें घुसपैठ की जा रही है। इस संगठन पर प्रभावित नागरिक विश्वास करने लगते हैं। देशवासी लोगों का सहारा होने के कारण दूसरे नागरिकों को संदेह ही नहीं होता और यदि होता भी है तो वे उसे पहचान नहीं पाते। यदि यह सिद्ध हो जाए कि घुसपैठिये विदेशी सरकार के एजेन्ट हैं तो उनको गैर-कानूनी करार दिया जा सकता। एक राज्य के विरुद्ध खुलकर प्रचार करना आक्रमण माना जाता है तथा यह गैर-कानूनी है। यदि न्यूरेम्बर्ग चार्टर के प्रावधानों को सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नए नियम माना जाए तो युद्ध को उकसाने वाली नीति अपनाना भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से एक अपराध बन जाता है। फिर भी हस्तक्षेप के अस्तित्व का निर्धारण करने के लिए हमको प्रो. क्विन्सी राइट द्वारा उल्लेखित मापदण्ड अपनाना चाहिए। वह है--स्पष्ट एवं वर्तमान खतरे का अस्तित्व। यदि यह नहीं है तो हस्तक्षेप भी नहीं है।

2. गैर-सरकारी समूहों द्वारा विद्रोहक हस्तक्षेप—उपर्युक्त विवरण का सम्बन्ध सरकारी संगठनों द्वारा राज्य के कार्यों में किये जाने वाले विद्रोही हस्तक्षेप से है। गैर-सरकारी समूह या व्यक्ति भी कभी-कभी ऐसी कार्यवाही करते हैं किन्तु सरकार प्रायः इनके कार्यों का दायित्व अपने ऊपर लेने से मना कर देती है। यदि किसी राज्य के विरुद्ध दूसरे राज्य की गैर-सरकारी संस्थाएँ प्रचार कर रही है तो स्पष्ट है कि वह राज्य इसका न केवल विरोध करेगा वरन् इसे अपने नागरिकों तक न पहुँचने देने के लिए पूरा-पूरा प्रयास करेगा। इस प्रकार के अवरोधात्मक कार्यों की प्रकृति चाहे कुछ भी हो, ये सुरक्षात्मक प्रयास माने जाएँगे और इन्हें प्रत्येक राज्य के कानूनी अधिकारों का ही रूप माना जाएगा।

यही प्रश्न यहाँ उठता है कि जब एक प्रजातन्त्रात्मक राज्य के नागरिक अपने पड़ोसी अप्रजातान्त्रिक राज्य की आलोचना और बुराइयाँ करते हैं तो क्या वे इस प्रकार दूसरे राज्य में हस्तक्षेप को प्रोत्साहन नहीं दे रहे हैं? इसी प्रकार यदि सत्तावादी राज्य दूसरे राज्य के प्रचारात्मक विचारों का प्रवेश यहाँ आने से रोकता है तो उसकी कार्यवाही स्वतन्त्रता और जनता के आत्म-निर्णय के अधिकारों का उल्लंघन न मान कर आत्म-रक्षा के लिए प्रेरित क्यों न मानी जाए? स्टालिन के सोवियत संघ की लौह आवरण की नीति का इस सन्दर्भ में उल्लेख किया जा सकता है।

जनता द्वारा या गैर-सरकारी संगठनों द्वारा जब दूसरे राज्य के सम्बन्ध में कोई विरोधी वक्तव्य दिया जाता है अथवा रेडियो प्रसारण किया जाता है तो उसका

दायित्व सम्बन्धित राज्य पर नहीं डाला जा सकता। व्यक्तिगत प्रसारण का दायित्व सरकार पर उस समय डाला जा सकता है जबकि स्टेशन पर सरकार का स्वामित्व या नियन्त्रण हो। उदाहरण के लिए, यदि वॉयस ऑफ अमेरिका से कोई ऐसा व्यक्तिगत प्रसारण होता है तो इसका दायित्व पूरी तरह से सरकार पर आएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार क्रियाओं पर उपयुक्त नियन्त्रण स्थापित करने की समस्या पर्याप्त गम्भीर है। इसके लिए पूरी जाँच के बाद उपयुक्त कदम उठाया जाना बहुत जरूरी बन जाता है। इस नियन्त्रण की कठिनाई इसी तथ्य से प्रकट हो जाती है कि कोई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था इसका भार अपने ऊपर लेने के लिए तत्पर नहीं है। इस विषय पर विपुल साहित्य उपलब्ध होता है किन्तु प्राप्तियाँ अल्प हैं। विचारधाराओं के संघर्ष ने विश्व के देशों को परस्पर विभाजित कर दिया है। ऐसी स्थिति में उपयुक्त कार्य योग्य नियन्त्रण व्यवस्था बहुत कुछ आदर्श-कल्पना मात्र ही दिखाई देती है। वर्तमान परिस्थितियों में सम्भावना यह है कि राज्य इच्छुक हों तो वे पारस्परिक आधार पर विद्रोहक हस्तक्षेप की कार्यवाहियों पर नियन्त्रण लगा सकते हैं।

3. गृह-युद्ध के समय हस्तक्षेप

गृह युद्ध के समय दूसरे राज्यों द्वारा किया जाने वाला हस्तक्षेप अनेक विवादों का विषय बना है। यह कहा जाता है कि न्यायपूर्ण सरकार के पक्ष में किया गया हस्तक्षेप उचित होता है। न्यायपूर्ण सरकार किसे माना जाए, यह एक उलझी हुई समस्या है। एक राजतन्त्रात्मक सरकार के अनुसार दूसरे देश की न्यायपूर्ण सरकार वह होगी जो पूर्ववर्ती सरकार की सही वारिस है किन्तु प्रजातन्त्रात्मक सरकार विद्रोहियों को सही बताएगी ताकि जनता की इच्छा पर आधारित संविधानिक सरकार की स्थापना की जा सके। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि दोनों प्रकार की व्यवस्थाएँ एक राज्य के गृह-युद्ध में विरोधी पक्षों का समर्थन करेंगी और एक का हस्तक्षेप निश्चय ही गलत और गैर-कानूनी माना जाएगा। फिर भी कौन-सा पक्ष अनुचित और अवैध है इस सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

अमेरिकी गणराज्यों को अपने गृह युद्ध के समय हस्तक्षेप का पर्याप्त अनुभव हो चुका था, अतः उन्होंने सन् 1928 में हवाना में ऐसे मामलों में तीसरे राज्यों के अधिकारों एवं कर्तव्यों पर विचार-विमर्श किया। यह सोचा गया कि तीसरे राज्यों को अपने सभी उपलब्ध साधनों का प्रयोग करना चाहिए ताकि पड़ोसी राज्य के गृह-युद्ध में हस्तक्षेप करने से विद्रोही सेनाओं को रोका जा सके। जब तक विद्रोहियों का युद्धरत सरकार के रूप में स्वीकार न किया जाए तब तक उन्हें हथियार नहीं भेजना चाहिए। सन् 1928 के अभिसमय की पूर्ति सन् 1957 के एक अधि-पत्र द्वारा की गई। इसमें शक्तिशाली सरकार को बदलने के लिए शरणार्थियों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं के प्रकाश में दायित्वों को प्रमाणित किया गया।

सन् 1936 में स्पेन के गृह-युद्ध में तीसरे राज्यों का हस्तक्षेप सामान्य संघर्ष का आधार बन गया। जर्मनी और इटली ने जनरल फ्रांको की ओर से हस्तक्षेप किया जबकि रूस ने दूसरे पक्ष का समर्थन किया। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने दोनों ही पक्षों

के विरुद्ध कार्यवाही की। राष्ट्रसंघ की परिषद् ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमे दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने की बात कही गई। किन्तु भविष्य मे ऐसी स्थिति आने पर राज्यों के व्यवहार को रोकने के लिए कोई विशेष कार्यवाही नहीं की गई और न ही कोई रचनात्मक नियम बनाए गए। यह अनिश्चित है कि कानूनी सरकार को सहायता देना एक वैध कार्य है अथवा नहीं है क्योंकि इसके परिणामस्वरूप दूसरे राज्य विद्रोहियों को सहायता दे सकते हैं और इस प्रकार युद्ध का खतरा बढ जाएगा।

सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर ने सेना के स्वेच्छापूर्ण प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाए हैं। हस्तक्षेप के परम्परागत रूपों की स्पष्ट निन्दा की गई है। यहाँ तक कि एक निकाय के रूप मे सयुक्त राष्ट्रसघ का सामूहिक हस्तक्षेप भी रोका गया है। इसके अपवाद रूप मे उन प्रयासों का समर्थन किया गया जो सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को लागू कराने के लिए किए जाते हैं। इस प्रावधान का क्षेत्र विवाद का विषय है और इसकी व्याख्या परिषद् के सामने आने वाले मामलो के प्रकाश मे ही की जा सकती है। सन् 1945 मे सोवियत सघ ने विद्रोहियों को सहायता देकर ईरान में हस्तक्षेप किया, यह मामला सुरक्षा परिषद् के सामने आया। रूस ने अपने को ईरान के घरेलू मामलों में हस्तक्षेपकर्त्ता स्वीकार नहीं किया। सन् 1946 मे ग्रेट-ब्रिटेन और सन् 1947 मे यूगोस्लोवाकिया, अल्बानिया और बल्गारिया पर यूनान में हस्तक्षेप करने का आरोप लगाया गया। सन् 1947 मे जब सयुक्तराज्य अमेरिका ने यूनान और टर्की को ऋण दिया तो सोवियत सत्ताओं ने इसे हस्तक्षेप माना। सन् 1952 मे क्यूबा की सहमति से सोवियत सघ का हस्तक्षेप और सन् 1965 मे वियतनाम मे अमेरिकी हस्तक्षेप पृथक् महत्त्व रखता है।

हस्तक्षेप की रोक की सीमाएँ—अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों के हस्तक्षेप पर रोक लगाई जाती है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय समाज के दूसरे सदस्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा की जा सके। यह एक ऐसा कार्य नहीं है जिसे समस्याहित के लिए सामूहिक क्रिया का विषय बनाया जा सके अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सामूहिक क्रियाविधि का विषय कहा जा सके। हस्तक्षेप के अधिकार पर लगाई गई रोक का सम्बन्ध व्यक्तिगत क्षमता में विशेष हित के लिए कार्य कर रहे राज्य से होता है। अत जब कभी यह रोक लगाई जाए तो उसे इसी अर्थ में देखा जाना चाहिए। सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर मे यह निर्धारित किया गया है कि किसी राज्य के व्यक्तिगत या घरेलू मामलो मे हस्तक्षेप नहीं किया जाता चाहिए।

4 राज्यों के अन्य कर्त्तव्य
(Other Duties of States)

हस्तक्षेप से सम्बन्धित कर्त्तव्यों के अतिरिक्त राज्य के दूसरे कर्त्तव्य भी होते हैं, उनका उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

1 राज्य के दूसरे कर्त्तव्यों मे प्रथम उल्लेखनीय कर्त्तव्य जो सिद्धान्त रूप मे सामान्यत. स्वीकार किया जाता है और व्यवहार मे जोडा जाता है वह यह है कि

दूसरे राज्यों के प्रदेश में होने वाले गृह-युद्धों में दखल देने से प्रत्येक राज्य को रोका जाना चाहिए। यह कर्त्तव्य यद्यपि अहस्तक्षेप के कर्त्तव्य में शामिल हो जाता है फिर भी राज्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रारूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने इसे अलग स्थान दिया है।

2 प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रदेश में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न न होने दे, जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा पैदा करें। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने इस कर्त्तव्य को अभिसमय के पनामाई प्रारूप के एक भाग से ग्रहण किया। यदि कोई राज्य अपने प्रदेश में इतना नियन्त्रण नहीं रख पाता कि पड़ोसियों के खतरे पर रोक लगा सके तो उसे एक सम्प्रभु सरकार के रूप में अपनी असफलता के परिणामों के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

3 एक अन्य कर्त्तव्य जो तकनीकी दृष्टि से केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों पर लागू होता है, यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा किया जाए। यह चार्टर संगठन के गैर-सदस्य राज्यों पर लागू नहीं होता और इसलिए वे शान्तिपूर्ण साधनों के असफल होने पर ताकत का प्रयोग कर सकते हैं। सन् 1945 के बाद के तथ्य यह बताते हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने भी आत्म-रक्षा के अतिरिक्त उद्देश्यों के लिए शक्ति का प्रयोग किया।

4. उपर्युक्त कर्त्तव्य से मिलता हुआ राज्यों का एक अन्य कर्त्तव्य यह है कि वे युद्ध को अपनी राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में न अपनाएँ और दूसरे राज्य के विरुद्ध शक्ति के प्रयोग की धमकी भी न दें। इस कर्त्तव्य का क्षेत्र युद्ध की परिभाषा पर निर्भर करता है। इस कर्त्तव्य का समर्थन सम्प्रभु राज्यों के इस परम्परागत अधिकार को अस्वीकार करता है कि जब दूसरे साधन असफल हो जाएँ तो प्रत्येक राज्य युद्ध छेड़ने का अधिकार रखता है।

5 राज्यों का एक अन्य कर्त्तव्य, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों पर लागू होता है, यह है कि कोई भी राज्य ऐसे किसी राज्य को सहायता नहीं देगा जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ प्रतिरोधात्मक उपाय अपना रहा है। यह कर्त्तव्य एक प्रकार से चार्टर के अनुच्छेद 2 (5) का ही पुनर्कथन है। इस दायित्व को उन राज्यों पर लागू नहीं किया जा सकता जो संघ के सदस्य नहीं हैं। उदाहरण के लिए, यदि राष्ट्रसंघ अपने किसी सदस्य के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का निर्णय ले तो गैर-सदस्य राज्य सम्बन्धित राज्य की सहायता के लिए आ सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी साम्यवादी राज्य के विरुद्ध कार्यवाही करने का निर्णय लिया गया है तो संघ का सदस्य न होने के नाते लालचीन उस राज्य की सहायता के लिए आ सकता है।

6 केवल संघ के सदस्यों पर लागू होने वाला अन्य कर्त्तव्य यह है कि यदि किसी राज्य ने चार्टर के प्रावधान को तोड़कर किसी प्रदेश को हस्तगत किया है तो उसको मान्यता न दी जाए। यदि यह मान लिया जाए कि आत्मरक्षा अथवा सामूहिक कार्य के अतिरिक्त किए जाने वाले सभी युद्ध गैर-कानूनी हैं तो यह सिद्धान्त

सार्वभौमिक रूप से लागू हो सकता है। जब तक यह सन्देहशील है तब तक यह कर्त्तव्य केवल संघ के सदस्यों पर ही लागू होगा।

सभी राज्यों का यह एक कर्त्तव्य माना जाता है कि वे संधियों और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दूसरे दायित्वों से उत्पन्न होने वाले कर्त्तव्यों का सद्भावना के साथ पालन करें। इस कर्त्तव्य की अवहेलना करके कोई भी राज्य अपने संविधान या कानूनों में ऐसा प्रावधान नहीं रख सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक पुराना सिद्धान्त यह है कि संधियों का पालन किया जाए। यदि अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के दायित्वों का पालन करना एक पवित्र कर्त्तव्य न माना जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यवस्था समाप्त हो जाएगी और अराजकता मानव-जाति की साधारण स्थिति बन जाएगी। संसार के सभी देश जंगल के प्राकृतिक कानून की ओर बढ़ जाएँगे। दायित्वों को इज्जत देना कानूनी व्यवस्था की मूलभूत शर्त है और इस कर्त्तव्य के अस्तित्व के बारे में कोई सन्देह नहीं किया जाता। यद्यपि इसके क्षेत्र के सम्बन्ध में अलग-अलग व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

7 प्रत्येक राज्य का एक अन्य कर्त्तव्य यह है कि वह दूसरे देशों के साथ अपने सम्बन्धों का संचालन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुरूप करे। यह कर्त्तव्य भी कानूनी व्यवस्था के अस्तित्व के लिए परम आवश्यक है। यद्यपि सभी मामलों में इस कर्त्तव्य को पूरा करने की आशा नहीं की जा सकती फिर भी यह एक पवित्र कर्त्तव्य है और प्रत्येक राज्य द्वारा इसे बाध्यकारी समझा जाना चाहिए।

8 प्रत्येक राज्य को यह देखना चाहिए कि उसके क्षेत्राधिकार में ऐसा कोई कार्य सम्पन्न न किया जाए जो पड़ोसी राज्य की वायु अथवा जल के लिए हानिकारक हो। यद्यपि इस विषय पर परम्परागत कानून नहीं है फिर भी न्याय के सामान्य सिद्धान्त इस कर्त्तव्य के अस्तित्व को सम्भव बनाते हैं। अनेक द्विपक्षीय समझौतों में यह विश्वास प्रकट किया गया है। प्रत्येक राज्य अपने क्षेत्र के धुएँ, आग की लपट और पानी से दूसरे राज्य को होने वाली हानि के लिए उत्तरदायी होता है। अणु आयुधों के प्रयोग से उत्पन्न स्थिति भी इसी शीर्षक के अन्तर्गत आती है।

9 राज्यों का अन्य दायित्व यह है कि वे अपने क्षेत्र में दूसरे देश के सिक्के, नोट, डाक टिकिट और प्रतिभूति आदि को न बनने दें। युद्ध के समय शत्रु-राज्य के प्रति दूसरे कर्त्तव्यों की भाँति यह कर्त्तव्य भी समाप्त हो जाता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय जर्मनी ने ब्रिटेन के पाँच पौण्ड के नोट छापे जबकि ब्रिटेन ने जर्मनी के डाक टिकिटों को अपने यहाँ छपवा दिया ताकि प्रचारात्मक पोस्टकार्डों को डाक से भेजने में गड़बड़ी की जा सके। जर्मनी के सरकारी डाक थैलों में इस प्रकार के टिकिट और पते लिखे हुए कार्ड भारी मात्रा में पाए गए। यह सोचा गया कि आक्रमण के भ्रम के दौरान शायद ये थैलियाँ डाक गाड़ियों से गुम गई होंगी। यह सोचकर उन्हें नजदीक के डाक घर को वापस कर दिया गया ताकि पता लिखे हुए स्थानों तक पहुँचाया जा सके।

10 अनेक लेखकों तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रयोग के अनुसार प्रत्येक राज्य अपने क्षेत्राधिकार के सभी व्यक्तियों के मानवीय अधिकारों और मौलिक अधिकारों

का आदर करेगा तथा ऐसा करते समय वह जाति, लिंग, भाषा या धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा। नैतिक दृष्टि से यह कर्त्तव्य चाहे कितना ही उपयुक्त और प्रशंसनीय हो किन्तु इसे सामान्य नहीं बनाया जा सकता। इस कर्त्तव्य को लागू करते समय राज्य के घरेलू मामले आकर उलझते हैं और इसलिए कई बार इस कर्त्तव्य के अस्तित्व में भी सन्देह होने लगता है। हो सकता है कि भविष्य में कभी अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सभी सदस्य इसे सामान्य रूप से स्वीकार करें और उपयुक्त घरेलू व्यवस्थापन द्वारा इसे क्रियान्वित करें। इतने पर भी इस कर्त्तव्य की क्रियान्विति को लागू करना अत्यन्त कठिन है।

11. प्रत्येक राज्य का यह दायित्व माना जाता है कि वह अपने न्यायालयों में दूसरे राज्यों को अभियोग चलाने की स्वीकृति दे। प्रत्येक राज्य मित्रतापूर्ण सम्बन्ध वाले राज्यों के न्यायालयों में अभियोग चलाने का अधिकार रखता है। इसे भी हम एक कर्त्तव्य न मानकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना मानेंगे। दूसरी ओर किसी भी राज्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध एक राज्य अपने न्यायालय का विषय नहीं बना सकता।

इस प्रकार राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्यों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की जा सकती है। राज्यों के अधिकार उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्रदान करते हैं किन्तु कर्त्तव्यों का पालन करके वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को व्यावहारिक वास्तविकता देते हैं।

आवश्यकता तथा आत्म-संरक्षण का सिद्धान्त
(Doctrine of Necessity and Self Preservation)

पिछले पृष्ठों के वर्णन से हमें राज्यों के 'आवश्यकता तथा आत्म-संरक्षण सिद्धान्त' का स्पष्ट आभास हो जाता है। वास्तव में सुदीर्घ काल से यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्थाई नियम रहा है कि एक राज्य को आत्म-संरक्षण के अधिकार के प्रयोग में अन्य राज्य या राज्यों के अधिकारों का उल्लंघन करने का अधिकार है। ग्रोशियस का स्पष्ट मत था कि 'आवश्यकता एक निश्चित अधिकार उत्पन्न कर देती है और केवल एक बहाना नहीं समझी जा सकती।" संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्र-सचिव द्वारा कैरोलीन केस सन् '1837' में कहा गया था कि "यद्यपि यह उचित है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि से विषयों के विशेषतः राज्यों की प्रादेशिक पूर्णता के सिद्धान्त के, जो आत्मरक्षा के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त से विकसित हुआ है, अपवाद विद्यमान है फिर भी निस्सन्देह न्यायोचित यही है कि ये अपवाद उन्हीं मामलों तक सीमित रहने चाहिए जिनमें उस आत्म-रक्षा की आवश्यकता तात्कालिक हो, घबराहट उत्पन्न करने वाली हो तथा उसके समानान्तर अन्य कोई साधन न रह गया हो और विचार के लिए समय न हो। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि जो कार्यवाही की गई हो उसमें कोई अनौचित्य या अति न की गई हो, क्योंकि कार्य का औचित्य आवश्यकता एवं संरक्षण के लिए ही है, अस्तु उसमें केवल आवश्यकता ही स्पष्टतः सीमित होनी चाहिए।" व्हीटन का मत है कि "रक्षा साधनों के प्रयोग में कोई भी स्वतन्त्र राज्य किसी दूसरी वैदेशिक शक्ति द्वारा प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकता। किन्तु कोई दूसरा राष्ट्र यदि वह चाहता है तो अपने आत्म-संरक्षण के

अधिकार के प्रयोग मे, यदि इन तैयारियों मे वह *किसी प्रकार से सावधान हो जाने* का अवसर समझता है या वह किसी आक्रमण की आशका से भयभीत है तो उस सम्बन्ध मे निराकरण माँग सकता है।"

जैसा कि श्री टण्डन ने लिखा है कि—"राष्ट्र-सचिव, फ्रैंक व केलॉग ने सन् 1928 मे ब्रियाँ-केलाग गठबन्धन (Briand-Kellogg Pacts) तय करने के प्रसग मे *कहा था कि आत्म-रक्षा का अधिकार प्रत्येक प्रभुसत्ताधारी राज्य में* अन्तर्निहित है और प्रत्येक सन्धि मे निस्सन्देह विद्यमान है। प्रत्येक राज्य हर समय सन्धियों के अनुबन्धों का बिना ध्यान किए अपने प्रदेश को धावे अथवा आक्रमण से बचाने के लिए स्वतन्त्र है और वही अकेले इस बात को निर्णय करने के लिए सक्षम है कि परिस्थितियों मे आत्म-रक्षा हेतु युद्ध का सहारा लेना न्यायोचित है अथवा नहीं। *सीनेटर रूट (Senator Root) के अनुसार इस अतिक्रमणकारी प्रभाव का सबसे* बड़ा उदाहरण किसी एक शक्ति की तात्कालिक सीमा पर दूसरी शक्ति द्वारा भारी सख्या मे सैन्य-सग्रह है। यद्यपि वह सैनिक कार्यवाही अपनी ही सीमा में हो सकती है, फिर भी आतंकित राज्य को अपनी रक्षा हेतु युद्ध छेड़ देने का अधिकार है।"

श्री टण्डन ने आवश्यकता तथा आत्म-सरक्षण के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इन्हें टण्डन के ही शब्दो मे उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

प्रथम विश्व युद्ध—प्रथम विश्व युद्ध के बीच सन् 1914 मे जर्मनी ने आत्म-रक्षा के सिद्धान्त के बहाने बेल्जियम तथा लक्जम्बर्ग की तटस्थता भग कर दी। जर्मनी ने लक्जम्बर्ग तथा बेल्जियम की स्थायी तटस्थता का उल्लघन इस आधार पर किया कि उसको दो ओर से रूस तथा फ्रांस द्वारा आक्रमण की धमकी दी जा रही है और आत्म-सरक्षण के आधार पर उसका यह अधिकार है कि उसकी सेनाएँ आत्म-रक्षार्थ फ्रांस पर आक्रमण करने के लिए लक्जम्बर्ग तथा बेल्जियम में बलात प्रवेश करे। जर्मनी के चांसलर ने रीश-स्टैग के समक्ष अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहा—"हमारी सेनाओं ने लक्जम्बर्ग पर अधिकार कर लिया है और शायद वे इस समय बेल्जियम की भूमि पर हैं। महाशयो, यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि की आज्ञाओं के विरुद्ध है। यह सत्य है कि फ्रांसीसी सरकार ने ब्रुसेल्स मे यह घोषणा की है कि फ्रांस बेल्जियम की तटस्थता का उस समय तक सम्मान करने को तैयार है जब तक *कि उसके शत्रु उसका सम्मान करें। हमको फिर भी विदित था कि फ्रांस आक्रमण* के लिए तैयार खड़ा था। फ्रांस प्रतीक्षा कर सकता था, परन्तु हम नहीं कर सकते थे—किसी को भी जिसे इस प्रकार की धमकी दी जा रही हो, जिस प्रकार कि हमे दी गई है उसमे केवल एक ही विचार उचित हो सकता है कि वह जिस प्रकार अपना रास्ता काट कर साफ कर सकता है, करे।" यह आत्मरक्षा की दलील विश्व सम्मति द्वारा अस्वीकृत कर दी गई, क्योंकि यह जर्मनी ही था जिसने रूस तथा फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की और उसे फ्रांस को बेल्जियम के मध्य से अतिक्रमण करने का कोई उचित कारण नहीं था।"

मन्चूरिया का झगड़ा—सन् 1931 तथा 1932 में चीन तथा जापान के बीच मन्चूरिया वाले झगड़े में जापान ने चीन के विरुद्ध कार्यवाही प्रारम्भ करने के पूर्व आत्मरक्षा के सिद्धान्त की शरण ली परन्तु लीग की सभा ने जांच के आयोग के निष्कर्षों से सहमत होते हुए यह निश्चय किया कि जापानियों का कार्य न्यायसंगत आत्म-रक्षा का उपाय नहीं माना जा सकता।

रूस का फिनलैण्ड पर आक्रमण—सन् 1939 में रूस द्वारा फिनलैण्ड पर आक्रमण *दोनों देशों के बीच हाल ही में हस्ताक्षरित अनाक्रमण समझौता के होते* हुए भी जर्मनी द्वारा पहले आक्रमण की आशा करते हुए रूस की ओर से एक आत्मरक्षा का उपाय था। जर्मनी ने भी सन् 1940 में जब उसमें नार्वे, डेनमार्क, हालैण्ड, बेल्जियम तथा लक्जम्बर्ग पर आक्रमण किया तो आत्म-रक्षा का अधिकार घोषित किया।

अमेरिका वालों की तटस्थता—द्वितीय विश्व-युद्ध में वास्तविक रूप से भाग लेने के पूर्व संयुक्त राज्य विध्वंसकों को ग्रेट ब्रिटेन का हस्तान्तरित कर रहा था और *मित्र राष्ट्रों को उधारपट्टा अधिनियम सन् 1941 द्वारा सहायता दे रहा था।* मित्र राष्ट्रों के साथ इन सहायता के कार्यों के लिए जिनसे कि वास्तविक तटस्थता के सिद्धान्त का उल्लंघन होता था, अमेरिका ने अपने कार्यों को आत्म-संरक्षण के आधार पर न्यायोचित ठहराया, क्योंकि उसका विचार था कि अमेरिका ने राष्ट्रीय प्रयोजन को जर्मनी द्वारा विश्व-प्राधिपत्य की प्रत्यक्ष इच्छा से धमकी दी जा रही थी;

कोरिया का मामला—सन् 1950 में कोरिया के मामले में चीन की कम्युनिस्ट सरकार द्वारा हस्तक्षेप को भी आत्म संरक्षण के सिद्धान्त पर न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न किया गया। तत्कालीन ब्रिटिश कार्य सचिव, श्री रिचर्ड स्टोक्स ने यहाँ तक कहा कि उनकी समझ में नहीं आता है कि जब विदेशी सेनाएँ चाहे वे किसी प्रकार ही की हों, रूस मन्चूरिया की सीमा तक पहुँच गयी हों, तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि चीनी लोग मौन रहते।

तिब्बत पर आक्रमण—समान दृष्टान्त के अनुसार चीन ने सन् 1950 में तिब्बत पर आक्रमण कर दिया जिसका भारत ने तीव्र विरोध किया। किन्तु चीन ने *अपने आक्रमण का इस आधार पर समर्थन* किया कि *मित्र राष्ट्रों की सेनाओं द्वारा* कोरिया में 38वें अक्षांश के पार किए जाने तथा उसके मन्चूरिया की सीमा में आगे बढ़ने से चीन के लिए अपने अस्तित्व की रक्षा के उपाय स्वरूप तिब्बत पर आक्रमण करना आवश्यक कर्त्तव्य हो गया था।

इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह निःशक्त राज्यों के हाथों में एक शक्तिशाली यन्त्र दे रहा है जिससे वे छोटे राज्यों की स्वतन्त्रता का उल्लंघन कर देते हैं, विश्व की शान्ति को भंग करते हैं।

अक्तूबर 1956 में हंगरी और चैकोस्लोवाकिया के मामले में रूस का हस्तक्षेप जो कि वहाँ के गृह-युद्ध को दबाने के अभिप्राय से किया गया था और 1962 में क्यूबा के मामले में अमेरिका का हस्तक्षेप जो कि प्रकल्पित आत्मरक्षा के नाम पर किया गया था अथवा वियतनाम और कम्बोडिया के मामले में सामूहिक आत्मरक्षा के *नाम पर किया —— इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय विधि में न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।*

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के उपबन्ध—जैसा कि डॉ० कपूर ने लिखा है वर्तमान समय में आत्मरक्षा का सिद्धान्त संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 51 में प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार राज्य को व्यक्तिगत या सामूहिक रक्षा का अधिकार है। यदि उस पर पहले हमला हुआ हो। इसके अतिरिक्त यह अधिकार तभी तक रहता है जब तक कि सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को बनाये रखने के लिए कोई कदम नहीं उठाती। अनुच्छेद 51 में यह भी निर्देश है कि किसी राज्य द्वारा ऐसी कार्यवाही सुरक्षा परिषद् की विश्व-शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखने के अधिकार तथा जिम्मेदारी को प्रभावित नहीं कर सकती।
के लिए निम्नलिखित शर्तें हैं—

प्रो० जूलियस स्टोन (Julius Stone) के अनुसार, अनुच्छेद 51 के प्रयोग

(क) सशस्त्र आक्रमण होना चाहिए,

(ख) यह अधिकार तभी तक रहता है जब तक सुरक्षा परिषद् कोई कार्यवाही नहीं करती है,

(ग) इसकी सूचना सुरक्षा परिषद् को दी जानी चाहिए,

(घ) सुरक्षा परिषद् इसका पुन निरीक्षण करने की अधिकारिणी है,

(ङ) इस अधिकार से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के लिए सुरक्षा परिषद् की जिम्मेदारी प्रभावित नहीं होनी चाहिए, तथा

(च) गैर-सदस्यों को यह अधिकार उपलब्ध नहीं है।

सामूहिक आत्मरक्षा पर विचार द्वितीय महायुद्ध के बाद विभिन्न सन्धियों के स्थापन द्वारा प्रवृत्त किया गया है, यथा—अन्तर अमेरिकी पारस्परिक सहायता सन्धि (1947), अमेरिकी राज्य संघ का बगोटा अधिपत्र (1948), पश्चिम-यूरोपीय सहकारिता तथा सामूहिक आत्मरक्षा सन्धि (1948), उत्तर अटलाण्टिक सन्धि (1949), आदि। उत्तर अटलाण्टिक सन्धि की धारा 5 में व्यवस्था है कि यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में किसी एक या अधिक पक्षकारों के विरुद्ध किया गया कोई भी सैनिक आक्रमण उन सब के विरुद्ध आक्रमण समझा जाएगा और उनमें से प्रत्येक उत्तर अटलाण्टिक क्षेत्र की सुरक्षा को बनाए रखने एवं पुनः शान्ति स्थापित करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुच्छेद 51 द्वारा स्वीकृत व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार के प्रयोग में ऐसा कार्य करके जैसाकि यह आवश्यक समझे (जिसमें सैनिक बल प्रयोग भी शामिल) आक्रमित पक्षकार की सहायता करेगा। इस प्रकार के जो भी कार्य किए जाएँगे वे तत्काल सुरक्षा परिषद् को प्रतिवेदित किए जाएँ और उस समय समाप्त हो जाएँगे जब परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाए रखने एवं पुनः स्थापित करने के लिए आवश्यक उपाय कर लेगी।

वास्तव में आत्मरक्षा तथा आत्म-संरक्षण (Self-defence and Self-preservation) को सुदीर्घ काल से हस्तक्षेप (Intervention) का वैध आधार माना जाता रहा है। किसी भी राज्य को अपनी आत्म रक्षा और आत्म-संरक्षण की आवश्यकता की पूर्ति हेतु दूसरे राज्यों के आन्तरिक या बाह्य मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार है।

11 राज्यों का उत्तरदायित्व

(Responsibility of States)

राज्यो के अधिकार और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध मे विवेचन करने के बाद इसी से सम्बन्धित एक अन्य प्रश्न का अध्ययन महत्वपूर्ण बन जाता है। इसका सम्बन्ध राज्यों के उत्तरदायित्वो से है। एक राज्य दूसरे राज्यो के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते हुए न केवल कुछ अधिकारो का उपभोग करता है वरन् कर्त्तव्यो का निर्वाह भी करता है। इन कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने मे यदि किसी प्रकार की अव्यवस्था या अनियमितता होती है तो इसका उत्तरदायित्व सम्बन्धित राज्य द्वारा उठाया जाता है। राज्य के क्षेत्राधिकार मे यदि राष्ट्रो के समाज के सदस्य के विरुद्ध कोई अपराध हो जाता है तो उसकी क्षतिपूर्ति का दायित्व राज्य को ही सहन करना पड़ता है।

प्रायः यह कहा जाता है कि एक राज्य सम्प्रभु व्यक्ति है और इसलिए उसका कोई कानूनी दायित्व नहीं है। यह बात केवल राज्य के कुछ अधिनियम के सन्दर्भ मे सही है। राज्य अपने राष्ट्रीय कानून के भागो को समाप्त कर सकता है। यह नय राष्ट्रीय कानून भी बना सकता है और ऐसा करके अपने कानूनी दायित्वो को बदल सकता है किन्तु जहाँ तक राज्य के बाहरी उत्तरदायित्व का प्रश्न है उसके सम्बन्ध मे स्थिति भिन्न है। इस क्षेत्र मे प्रत्येक राज्य का दायित्व एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप मे है। अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यो से सम्बन्धित उसका उत्तरदायित्व कानूनी उत्तरदायित्व बन जाता है। कोई भी राज्य अपने राष्ट्रीय कानून की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बनाने या मिटाने की शक्ति नही रखता। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी कर्त्तव्य की प्रत्येक अवहेलना एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है। प्रभावित राज्य शान्तिपूर्ण तथा हिंसात्मक साधनो द्वारा कर्त्तव्यो की अवहेलना करने वाले राज्य को उसके अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए बाध्य कर सकता है। राज्य के दायित्वों को आजकल सामान्य मान्यता प्राप्त हो चुकी है और इनके पूरा होने पर राज्य को क्षतिपूर्ति देने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

मि इग्लेटन (Mr Clyde Eagleton) के मतानुसार इसमे कोई सन्देह नहीं कि राज्यो के दायित्व अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मौलिक सिद्धान्त हैं।[1] कार्येज के मामले मे पच फैसले के न्यायालय ने हेग मे यह प्रतिपादित किया कि यदि कोई शक्ति अपने दायित्वो को पूरा करने मे असफल हो जाए तो इसके लिए उसे गम्भीर रूप से दण्डित किया जाना चाहिए। यद्यपि राष्ट्रो के उत्तरदायित्व को सामान्य रूप से स्वीकार किया गया है किन्तु इस सम्बन्ध के विचारको म सहमति नही है कि इन दायित्वो को किस प्रकार पूरा किया जाएगा। लागू करने की प्रक्रिया और सम्बन्धित सिद्धान्त के बारे मे उत्पन्न भ्रम इसका प्रमुख कारण है। यदि किसी राज्य के क्षेत्र मे दूसरे राज्य को किसी प्रकार की हानि होती है तो इसके लिए सम्बन्धित राज्य उत्तरदायी समझा जाएगा।

राज्यो का मौलिक एव प्रतिनिधि के माध्यम से उत्तरदायित्व
(Original and Vicarious State's Responsibility)

राज्यो के उत्तरदायित्वो को मुख्य रूप से दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। इनमे एक मौलिक है और दूसरा प्रतिनिधिमूलक है। जहाँ तक प्रथम का सम्बन्ध है इसके बारे में राज्य पूरा उत्तरदायित्व सम्भालता है। इसका आधार स्वय राज्य के अधिकारियो का कार्य होता है किन्तु दूसरे मामले मे राज्य अपने कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं होता वरन् अपने से भिन्न दूसरो के कार्यो के लिए उत्तरदायी होता है। यदि राज्य के कहने पर किसी व्यक्ति के द्वारा कोई कार्य किया जाता है तो उसके लिए सम्बन्धित राज्य मौलिक रूप से उत्तरदायी होता है। दूसरी ओर यदि राज्य के स्वय के अधिकारी अनधिकृत रूप से कोई कार्य करते हैं तो उनका उत्तरदायित्व राज्य पर अप्रत्यक्ष रूप से पडेगा। दोनों प्रकार के कार्यों के सम्बन्ध मे राज्य की प्रक्रिया भिन्न हो सकती है किन्तु वह इसमे से किसी भी कार्य से पूर्ण मुक्त होने का दावा नहीं कर सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राज्य कुछ मामलो मे न केवल अपने कार्यों के लिए वरन् दूसरो के कार्यों के लिए भी उत्तरदायी होते हैं। राज्यों के अभिकरण या उनकी प्रजा अथवा कुछ समय के लिए राज्य के प्रदेश में रहने वाले विदेशी जो कार्य करते हैं उनका दायित्व राज्य पर ही आएगा।

मौलिक और प्रतिनिधियो द्वारा किए गए कार्यों का उत्तरदायित्व परस्पर जो भेद रखता है उसका उल्लेख सर्वप्रथम 1905 मे किया गया। दोनों प्रकार के उत्तरदायित्व परस्पर भिन्नता रखते हैं। इनमे पहला राज्य की स्वय के कार्यों के प्रति अवहेलना का परिणाम है तो दूसरा ऐसा नहीं है। राज्य जब अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी कर्त्तव्यो की अवहेलना करता है तो स्पष्ट रूप से अपराधी बन जाता है। इस अपराध का दायित्व राज्य के लिए विशेष रूप से भयकर होता है। अनधिकृत रूप से राज्य के अधिकारी जब कोई गलत कार्य कर बैठते हैं तो उसके लिए भी राज्य को मुआवजा देना होता है। राज्य इनके सम्बन्ध मे न केवल क्षमा याचना करता है

1 *Clyde Eagleton* The Responsibility of States in International Law, p 1

वरन् दोषी व्यक्तियों या अभिकरणों को यथासम्भव क्षतिपूर्ति के लिए बाध्य भी करता है। आवश्यकता होने पर वह गलती करने वाले को दण्ड भी दे सकता है। यदि राज्य इन बातों को पूरी कर देता है तो निश्चय ही उसके ऊपर दायित्वों का भार नहीं आता, किन्तु यदि राज्य इन्हें पूरा करने से मना कर दे तो वह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अपराधी माना जाएगा और प्रतिनिधियों का दायित्व बदलकर राज्य का मौलिक उत्तरदायित्व बन जाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों के लिए राज्य का दायित्व
(State Responsibility for International Delinquencies)

अन्तर्राष्ट्रीय अपराध उसे कहते हैं जब एक राज्य का अध्यक्ष अथवा सरकार अपने अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व की अवहेलना करके दूसरे राज्य को कष्ट पहुँचाती है। अध्यक्ष अथवा सरकार के कार्यों से मिलते हुए कार्य उन व्यक्तियों अथवा अधिकारियों के हैं जिनको राज्य ने शक्ति सौंपी है या उत्तरदायी बनाया है। अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसके अन्तर्गत सन्धि के दायित्वों को तोड़ने की साधारण घटनाएँ भी आती हैं और अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा मान्य दूसरे फौजदारी कार्य भी आते है।

प्रो ओपेनहीम ने अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों को राष्ट्रों के कानून के विरुद्ध अपराधों से भिन्न किया है। विभिन्न राज्यों के फौजदारी कानून की शब्दावली मे दूसरे राज्यों के विरुद्ध व्यक्तियों के कुछ कार्यों को फौजदारी घोषित किया जाता है। इसके अन्तर्गत प्राय वे कार्य आते हैं जिनके लिए राज्य उत्तरदायी रहा है। महासमुद्रों मे समुद्री डकैती या दास व्यापार आदि इस प्रकार के अपराधो के उदाहरण हैं। इनको रोकने के लिए राज्य या तो स्वय के कानून के अनुसार कार्य करेगा अन्यथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर इस दायित्व को पूरा करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का मैत्रीपूर्ण कार्य भी नही समझा जाना चाहिए। ये कार्य कानून विरोधी नही हैं और इसलिए ये अपराधी प्रकृति के नहीं हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय अपराध के कर्त्ता या विषय
(Subjects of International Delinquencies)

अन्तर्राष्ट्रीय अपराध के विषय अथवा कर्त्ता भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु मूल रूप से उनका दायित्व राज्य पर ही आता है। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

1 राज्य—राज्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय अपराध किए जा सकते हैं। ये अपराध कर्त्ता राज्य पूर्ण सम्प्रभु, अर्द्ध-सम्प्रभु अथवा आंशिक सम्प्रभु हो सकते हैं। अर्द्ध-सम्प्रभु राज्यों का भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर होता है। उनको कुछ अधिकार और कर्त्तव्य मिले रहते हैं और इसलिए वे अन्तर्राष्ट्रीय अपराध कर सकते हैं। प्रत्येक मामले पर व्यक्तिगत रूप से विचार करने के बाद ही यह जाना जा सकता है कि अर्द्ध-राज्य का उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष है अथवा वह अप्रत्यक्ष रूप से किसी पूर्ण राज्यों के अपराधों का माध्यम है। कोई भी राज्य अपने अधिकारियों के माध्यम से ही विभिन्न कार्य सम्पन्न करता है। इन अधिकारियों को कानूनी आधार पर नियुक्त किया जाता है। राज्य

एक अमूर्त इकाई है। इसकी अभिव्यक्ति विभिन्न अधिकारियों और अङ्गों के माध्यम से होती है। जब एक राज्य किसी व्यक्ति को सत्ता सौंपता है तो उस व्यक्ति के कार्य राज्य के कार्य बन जाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधीन उनका उत्तरदायित्व राज्य पर आता है।

जिन राज्यों का कोई अन्तर्राष्ट्रीय स्तर नहीं होता वे अन्तर्राष्ट्रीय अपराधी घोषित नहीं किए जा सकते। यदि फ्रांस सरकार के विरुद्ध अमेरिकी संघ के कैलीफोर्निया राज्य द्वारा कोई अपराध किया जाता है तो इसके लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय अपराधी नहीं माना जाएगा वरन् यह दायित्व संयुक्तराज्य अमेरिका पर आएगा।

2 राज्य के अङ्ग—राज्य एक न्यायिक व्यक्ति होता है। राज्य की इच्छाओं और भावनाओं की अभिव्यक्ति जिन अभिकरणों और व्यक्तियों के माध्यम से होती है वे राज्य के कार्यों के लिए उत्तरदायी बन जाते हैं। राज्य के अध्यक्ष या सरकार के किसी सदस्य द्वारा किया जाने वाला कार्य राज्य का ही कार्य माना जाएगा। सरकार जिन व्यक्तियों और दूसरे अधिकारियों को आदेश देती है उनके कार्य भी अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का विषय बन जाते हैं। जो अधिकारी एवं सदस्य व्यक्तिगत क्षमता मे कोई कार्य करते हैं उनका उत्तरदायित्व राज्य पर नहीं आता। वैसे अप्रत्यक्ष रूप से राज्य को ही इसके लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकेगा।

3 राज्य के व्यक्ति—राज्य के निवासियों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून या अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का विषय किस प्रकार बनाया जा सकता है, यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। न केवल समुद्री डकैती या ऐसे ही दूसरे मामलों मे वरन् सम्पूर्ण युद्ध के कानून के सम्बन्ध मे यह माना जाता है कि इसका आदेश न केवल राज्यों पर वरन् उनके निवासियों पर भी लागू होंगे। 8 अगस्त, 1945 के समझौते में धुरी राष्ट्रों के युद्ध अपराधियों को दण्ड देने का प्रश्न आता है। ये व्यक्ति न केवल युद्ध अपराधों के लिए उत्तरदायी थे वरन् इनको मानवता के विरुद्ध अपराधी भी माना गया। मैसी के मामले में मि नेल्सन (Mr Nielson) ने लिखा है—"राष्ट्रीय कानून मे दुराचारी का पद और स्तर चाहे कुछ भी रहा हो किन्तु यदि इस सम्बन्ध मे राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करने में असफल रहा है तो उसके सेवकों द्वारा किए गए गलत कार्यों का उत्तरदायित्व राज्य को सम्भालना पड़ेगा।"

प्रत्येक विशेष मामले मे तथ्यों और परिस्थितियों पर ही यह निर्भर करता है कि किसी छोटे अधिकारी के कार्य उसके देश के अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों की अवहेलना करते हैं अथवा नहीं। यह सुझाव दिया जाता है कि राज्य का उत्तरदायित्व दोषी अधिकारी के पद के अनुपात मे होना चाहिए किन्तु अनेक मामलों में दिए गए निर्णय इस सुझाव को अस्वीकार करते हैं। अमल म किए गए अपराध की प्रकृति ही राज्य के उत्तरदायित्व को निर्धारित करती है।

व्यक्तिगत उत्तरदायित्व अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से परम आवश्यक बन जाता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध अपराध आसमान के फरिश्तों द्वारा नहीं किए जाते वरन् व्यक्तियों द्वारा ही किए जाते हैं। ऐसे अपराधियों को सजा देकर

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रावधान लागू किए जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में न्यूरेम्बर्ग अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण ने 30 सितम्बर, 1946 को अपने निर्णय में उन सुझावों को ठुकरा दिया जिनके मतानुसार यह कहा गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध सम्प्रभु राज्यों से है और इसलिए व्यक्तियों को कोई दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। व्यक्ति राज्य के प्रतिनिधि के रूप में जो कार्य करते हैं उसके लिए वे व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं हैं। उन्हें राज्य की सम्प्रभुता का संरक्षण प्राप्त होगा।

इन सुझावों के विपरीत आज की बदलती हुई परिस्थितियों में व्यक्तियों का उत्तरदायित्व बढ़ गया है। विध्वंस के असीमित क्षमता वाले वैज्ञानिक हथियारों ने आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जटिलताओं को बढ़ा दिया है। इसी सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय की स्थापना का सुझाव दिया जाता है।

राज्यों के अपराधों के सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि यदि एक राज्य का कार्य दूसरे राज्य को कष्ट पहुँचाता है तो भी यह अन्तर्राष्ट्रीय अपराध नहीं माना जाएगा यदि उसे इच्छापूर्वक अथवा गलत इरादे से या स्पष्ट अवहेलना द्वारा नहीं किया गया है। यदि राज्य अधिकार के रूप में कोई कार्य करता है या आत्म-रक्षा की दृष्टि से कदम उठाता है तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय अपराध नहीं माना जाएगा चाहे इसके परिणामस्वरूप दूसरे राज्यों को कितना ही कष्ट क्यों न होता हो। ग्रेट-ब्रिटेन और अल्बानिया के बीच कोर्फ़ू चेनल विवाद को इसका एक उदाहरण माना जा सकता है। इस विवाद में न्यायपालिका ने निर्णय दिया कि किसी भी राज्य को केवल इसलिए उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता कि दूसरे राज्य की हानि उसके प्रदेश में हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय अपराध के उद्देश्य
(Objects of International Delinquencies)

अन्तर्राष्ट्रीय अपराध शब्द का प्रयोग सन्धियाँ तोड़ने और सन्धियों के बाहर कार्य करने के लिए किया जाता है। यह कार्य विभिन्न उद्देश्यों के लिए सचालित किए जाते हैं। दूसरे राज्य द्वारा अनुचित हस्तक्षेप करने पर एक राज्य की स्वतन्त्रता के लिए खतरा पैदा होता है। सन्धि का उल्लंघन करने से राज्य के सन्धि सम्बन्धी अधिकार समाप्त हो जाते हैं। विदेशों में अपने नागरिकों की सम्पत्ति या व्यक्तित्व का उल्लंघन करने वाले किसी भी कार्य द्वारा वह विदेश स्थित अपने नागरिकों की रक्षा के अधिकार को खो देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का स्वरूप उसके उद्देश्य की दृष्टि से बदलता रहता है। इनमें प्रमुख उल्लेखनीय उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—

1 ऋणों एवं हानियों का भुगतान न करना—आजकल मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय अपराध वे होते हैं जिनमें एक राज्य समझौते के अन्तर्गत किए जाने वाले भुगतान को अस्वीकार कर देता है अथवा दूसरे राज्यों के निवासियों की माँग पर उनके ऋणों को देना अस्वीकार कर देता है। ऐसे मामलों में सेना का प्रयोग नहीं किया जाएगा। यह बात 1907 के हेग अभिसमय (2) में मानी गई थी। कुछ राज्यों में विदेशी जनता

वहाँ की सरकार से यह समझौता कर लेती है कि कोई विवाद उत्पन्न होने पर स्थानीय न्यायाधिकरणों द्वारा उसे सुलझा दिया जाएगा और किसी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही नही की जाएगी। ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से विदेश मे रहने वाला नागरिक अपने राज्य पर कोई दायित्व नहीं डालता।

2 अधिकारों का दुरुपयोग—अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्य को जो अधिकार सौंपता है उनका दुरुपयोग होने पर राज्य अपराधी बन जाता है। कभी कभी एक राज्य अपने अधिकारो का प्रयोग स्वेच्छाचारी रूप से करने लगता है, इसके परिणाम-स्वरूप दूसरे राज्यो को हानि होती है किन्तु कर्त्ता राज्य अपने लाभ की दृष्टि से इसका औचित्य सिद्ध नही कर पाता। इस प्रकार के कार्यों के लिए राज्य अपराधी माना जाएगा। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों ने यह मत व्यक्त किया है कि एक राज्य स्वेच्छा-चारी रूप से विदेशियों को निकालने के लिए उत्तरदायी बन जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय का यह मत था कि कुछ परिस्थितियों में राज्य तकनीकी रूप से कानूनों के अनुसार व्यवहार करता हुआ भी वास्तव में अपने अधिकारों के दुरुपयोग का दोषी बन जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के व्यक्तिगत न्यायाधीशों ने भी समय-समय पर यही मत व्यक्त किया है। राज्यों का यह दायित्व है कि वे सद्भावना के साथ कार्य करें।

कोई भी राज्य अपने प्रदेश मे स्थित विदेशियों के प्रति सामान्य रूप से यह उत्तरदायित्व रखता है कि उनके साथ ऐसा ही व्यवहार करें और उतनी ही सुरक्षा प्रदान करें जैसा व्यवहार और सुरक्षा वह अपने नागरिको को देता है। साधारण रूप से यह माना जाता है कि विदेशी नागरिकों को राज्य अपने नागरिको और जनता की भाँति सुरक्षा प्रदान नहीं कर पाता। यह सच है कि विदेशियो के साथ राज्य का दायित्व स्वदेशियो के समान नही है। यह भी सच है कि विदेशियों को स्वदेशी नागरिकों की अपेक्षा अधिक सुरक्षा प्रदान नहीं की जा सकती। प्रत्येक राज्य अपने नागरिको के साथ व्यवहार के लिए इच्छानुसार कोई भी मापदण्ड अपना सकता है किन्तु विदेशियों के साथ उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का न्यूनतम मापदण्ड अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। स्पष्ट है कि एक राज्य अपने नागरिकों और विदेशियों के बीच असमानतापूर्ण व्यवहार कर सकता है, फिर भी विदेशियो को उसे न्यूनतम व्यवहार का मापदण्ड देना ही होगा। वह अपने दायित्व से यह कह कर नहीं बच सकता कि उसके नागरिको की स्थिति अधिक अच्छा नही है। कोरी समानता को व्यवहार का मापदण्ड नही बनाया जा सकता जब तक कि सभ्यता के साधारण मापदण्डों के साथ अनुरूपता स्थापित न की जाए।

मि क्लाइड इग्लेटन (Mr. Clyde Eagleton) इस विषय के विशेषज्ञ माने जाते हैं। उनके मतानुसार यद्यपि विदेशियों के विरुद्ध न्याय के मामले मे किया गया भेद-भाव अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा समर्थित नही है किन्तु फिर भी इस कानून के मापदण्ड उनके पक्ष मे भेदभावपूर्ण हो सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का इस सम्बन्ध मे न्यूनतम मापदण्ड क्या होगा, यह निश्चित करना पर्याप्त कठिन है।

अधिकारों का दुरुपयोग रोकने का सिद्धान्त निश्चित नहीं है तथा उसका व्यवहार पर्याप्त विवादपूर्ण है। व्यक्तिगत परिस्थितियों में इसे लागू करने और विकसित करने का दायित्व अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण को सौंप दिया जाता है।

3 राष्ट्रीयता के दावे—जब एक राज्य किसी दावे आयोग (Claims Commission) अथवा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के सामने किसी दावे को प्रस्तुत करता है तो वह यह प्रदर्शित करने की स्थिति में होना चाहिए कि यह मामला राष्ट्रीयता से सम्बन्ध रखता है। यह सिद्धान्त दावेदार की राष्ट्रीयता से सम्बन्धित है। सामान्य सिद्धान्त की दृष्टि से एक कष्टभोगी विदेशी उसी राज्य की राष्ट्रीयता रखता है जिसके द्वारा उसका मामला उठाया गया है। ऐसा न होने पर कोई विवाद अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विमर्श का विषय नहीं बन सकता। राज्य-विहीन लोगों के सम्बन्ध में भी यह नियम लागू होता है।

4 समय का प्रभाव—समय निकल जाने पर दावे प्रस्तुत करने का अधिकार समाप्त हो जाता है। विचारकों का सुझाव है कि इस सिद्धान्त का व्यवहार लोचशील होना चाहिए और निश्चित समय की सीमाओं को निर्धारित करने के लिए प्रयास नहीं किया जाना चाहिए। एक दावे को प्रस्तुत करने में होने वाली देरी सम्बन्धित *मामले के लिए दुर्भाग्यपूर्ण नहीं समझी जानी चाहिए। इस सिद्धान्त की मुख्य* न्यायोचितता यह है कि यदि सम्बन्धित व्यक्ति अपने दावे के बारे में प्रमाण प्राप्त न कर सके तो उसे निराश न होना पड़े। यदि अपराध घटित होने के समय सूचना दे दी गई है तो दावे प्रस्तुत करने में देरी को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए।

5 भेदभाव न करने की नीति—यह एक सुस्थापित सिद्धान्त है कि कोई राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व से बचने के लिए राष्ट्रीय कानून का बहाना नहीं ले सकता। इसी कारण जब एक राज्य के विरुद्ध विदेशियों के साथ व्यवहार के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के उल्लंघन की बात कही जाती है तो राज्य अपने बचाव के लिए अपने राष्ट्रीय कानून का उदाहरण देकर यह सिद्ध नहीं कर सकता कि उसने विदेशियों के साथ वही व्यवहार किया है जो वह स्वदेशियों के साथ करता है। सभ्यता के न्यूनतम स्तर का उल्लेख इस सम्बन्ध में बार-बार किया जाता है। जो राज्य इसके अनुसार व्यवहार करने में असफल रहता है वह इस अपराध का दोषी है।

देश के निवासियों की तुलना में विदेशियों की सम्पत्ति के साथ व्यवहार की स्थिति और भी अधिक कठिन है। यह नियम स्पष्ट रूप से स्थापित हो चुका है कि राज्य को विदेशियों की सम्पत्ति का आदर करना चाहिए। यह नियम दो कारणों से पर्याप्त मर्यादित बन जाता है—(1) अधिकांश राज्यों के कानून व्यक्तिगत सम्पत्ति में राज्य के पर्याप्त हस्तक्षेप की स्वीकृति देते हैं। राज्य करारोपण, पुलिस कार्य, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सार्वजनिक उपयोगिताओं के प्रशासन के लिए सम्पत्ति के क्षेत्र में पर्याप्त हस्तक्षेप करता है। (2) राजनीतिक व्यवस्था और आर्थिक संरचना में होने वाले मौलिक परिवर्तन तथा दूरगामी सामाजिक सुधार बड़े स्तर पर

व्यक्तिगत सम्पत्ति को प्रभावित करते हैं। ऐसे मामलो में विदेशियो की सम्पत्ति के प्रति आदर की भावना अथवा सम्पत्तिहीन देशवासियो से पूर्ण समानता समस्या का सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत नही करती। इस प्रकार के समाधान केवल आंशिक क्षतिपूर्ति दे सकते है।

अन्तर्राष्ट्रीय अपराधो के लिए मुआवजा
(Reparation for International Delinquencies)

अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का एक मुख्य कानूनी परिणाम नैतिक और भौतिक गलतियो के लिए की गई क्षतिपूर्ति है। विशेष मामलों के लाभ और परिस्थितियाँ परस्पर इतने भिन्न होते हैं कि राष्ट्रो का कानून सबके लिए एक साथ यह निर्णय नही ले सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय अपराध के कानूनी परिणाम क्या होंगे। सिद्धान्त और व्यवहार द्वारा जो एकमात्र नियम सर्वसम्मति से स्वीकार्य नियमानुसार प्रभावित राज्य अपराधी राज्य से यह प्रार्थना कर सकता है कि उसे की गई गलती के लिए आवश्यक मुआवजा प्रदान किया जाए। यह मुआवजा किस प्रकार का होगा, यह बात प्रत्येक मामले के अनुसार तय की जाएगी। प्रत्येक मामले मे अपराधी राज्य औपचारिक क्षमायाचना करेगा और साथ ही भौतिक क्षति के बदले प्रभावित राज्य को भुगतान भी करेगा। औपचारिक क्षमायाचना किसी भी रूप मे हो सकती है। उदाहरण के लिए, राज्य के झण्डे की सलामी, दूतावास के लिए क्षमायाचना का लिखित पत्र आदि। जानबूझ कर और बुरे इरादे से किए गए अन्तर्राष्ट्रीय अपराध एवं मात्र अवहेलना द्वारा हुए अपराध के विरुद्ध दिए जाने वाले मुआवजे के रूप मे निश्चय ही भेद होगा।

यदि कोई अपराधी राज्य अपने द्वारा किए गए गलत कार्यों के लिए मुआवजा देने से मना कर दे तो प्रभावित राज्य मुआवजा पाने के लिए शान्तिपूर्ण समझौते का कोई भी साधन अपना सकता है। प्राय यह कहा जाता है कि राज्यो की सम्प्रभुता को सम्मान देते हुए उनके ऊपर कोई ऐसा मुआवजा नहीं लादा जा सकता जो उनकी सम्प्रभुताओं की सीमाओं को पार कर जाए। सिद्धान्त और व्यवहार मे इस दृष्टिकोण का समर्थन बहुत कम मिलता है। ऐसे निर्णय देते समय न्यायाधिकरण अधिकतर पंच-फैसले के समझौते की समस्याओं से अनुशासित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणो ने अनेक मामलो मे ऐसे निर्णय दिए हैं जो विश्लेषण करने पर दण्ड प्रतीत होते हैं। इन निर्णयो का सम्बन्ध प्राय ऐसे मामलों से है जिनमे एक राज्य विशेष विदेशियो के विरुद्ध अपराधी व्यक्तियो को सजा न देने का दोषी माना जाता है।

राज्यो का दायित्व केवल दण्ड की प्रकृति वाली हानियों तक ही सीमित नही रहता। राज्य तथा उसकी ओर से काम करने वाले लोग फौजदारी दायित्व भी रखते हैं। यदि एक राज्य की सरकार अपने प्रदेश में निवास करने वाले सभी विदेशियो की हत्या का आदेश दे तो ऐसी स्थिति में राज्य या आज्ञा देने वाले व्यक्ति और इस आदेश को क्रियान्वित करने वाले लोग अपराधी माने जाएँगे। आक्रमणकारी

युद्ध की तैयारी और क्रियान्विति आजकल बुरी नजर मानी जाती है और इसके लिए भी राज्य को समान रूप से उत्तरदायी ठहराया जाता है।

प्रो ओपेनहीम के कथनानुसार ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक निर्णयों का अभाव है जो राज्यों के उत्तरदायित्व के फौजदारी सिद्धान्त को लागू करें। इस क्षेत्राधिकार में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण का अभाव है। परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार इसे तोड़ने वाले राज्य के विरुद्ध युद्ध करके एवं क्षतिपूर्ति लेने की स्वीकृति दी गई थी। इस प्रकार यह एक बाध्यकारी दबाव था। युद्ध, अपराधियों के लिए नियमानुसार व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं ठहराया जाता था वरन् उन्हें राज्य के अंग के रूप में तथा राज्य की ओर से अपराधी माना जाता था।

सामूहिक उत्तरदायित्व और सामूहिक दण्ड की समस्या अनेक कानूनी और नैतिक प्रकृति की कठिनाइयाँ उत्पन्न करती थी। व्यक्तिगत रूप से अपराध घोषित करना और दण्ड निर्धारित करना अपेक्षाकृत सरल होता है, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं होता कि राज्य के रूप में समूहीकृत होकर और बुरा काम करने की अपनी क्षमताओं को बढ़ाकर व्यक्ति अपराधी के दायित्व और इसके परिणामों से अपने आपको उन्मुक्ति प्रदान कर देंगे।

स्पष्ट है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का मुख्य कानूनी परिणाम उन लोगों के लिए क्षतिपूर्ति का भुगतान होगा जिनका नुकसान हुआ है। यह क्षतिपूर्ति दो सम्भावित रूपों में की जा सकती है—वस्तु-स्थिति को पूर्ववत् बनाकर और आर्थिक मुआवजा देकर। यह मुआवजा की गई क्षति के अनुपात में होना चाहिए ताकि प्रभावित पक्ष को कुछ राहत मिल सके। इस सम्बन्ध में कोई सामान्य नियम प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। क्षतिपूर्ति की मात्रा और प्रकार प्रत्येक मामले की व्यक्तिगत परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। कुछ अवसरों पर केवल औपचारिक क्षमायाचना ही पर्याप्त होती है।

राज्य के अंगों के कार्य के लिए राज्य का उत्तरदायित्व
(State Responsibility for Acts of State Organs)

राज्य की इच्छाओं की अभिव्यक्ति उसके विभिन्न अंगों के माध्यम से होती है। इन अंगों के कार्यों का उत्तरदायित्व भी राज्य पर आता है। इस उत्तरदायित्व की मात्रा प्रत्येक अंग के साथ अलग अलग होती है। राज्य के अध्यक्ष, सरकार के सदस्य, कूटनीतिक कार्यकर्त्ता, संसद्, प्रशासनिक अधिकारी तथा सैनिक और नौसैनिक शक्तियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से घातक कार्यों के लिए राज्यों का उत्तरदायित्व अलग-अलग प्रकार का बन जाता है। राज्य के इन विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में पृथक् से दो शब्द कहना उपयुक्त रहेगा।

राज्य के अध्यक्षों के कार्य—राज्य के अध्यक्ष जब अपने पद के कार्यों को सम्पन्न करते समय अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अनुचित कार्य भी कर सकते हैं तो इनको अन्तर्राष्ट्रीय अपराध की परिधि में लिया जाता है। यहाँ हमारा सम्बन्ध राज्य के ऐसे कार्यों से है जिन्हें वह दूसरे व्यक्तियों की भाँति अपने व्यक्तिगत जीवन में सम्पन्न

करता है किन्तु जो अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से घातक होते हैं। जब एक राज्य का अध्यक्ष राज्य के अन्दर अथवा बाहर रहता है तो वह न तो किसी न्यायालय के क्षेत्राधिकार में रहता है और न उस पर कोई अनुशासनात्मक नियन्त्रण रखा जा सकता है। इसलिए यह जरूरी बन जाता है कि इन अध्यक्षों के व्यक्तिगत जीवन में जो अन्तर्राष्ट्रीय पीडाकारक कार्य होते हैं उनके लिए राज्य ही अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी बनाया जाए। उदाहरण के लिए, यदि विदेश में रुका हुआ एक राजा किसी विदेशी नागरिक की सम्पत्ति को हानि पहुँचाता है और उसके लिए पर्याप्त मुआवजा नहीं देता तो राजा की एवज उसके राज्य से मुआवजे का भुगतान करने की प्रार्थना की जा सकती।

सरकारी सदस्यों के कार्य—जब सरकार के विभिन्न सदस्य अपनी अधिकारी क्षमता के अतिरिक्त कोई गलत कार्य करते हैं तो उसके लिए वे तथा उनका राज्य उत्तरदायी होंगे। सरकार के सदस्यों की स्थिति राज्य के अध्यक्षों की भाँति विशेष नहीं होती और इसलिए वे न्यायालय के क्षेत्राधिकार में आते हैं। सरकार के सदस्य द्वारा व्यक्तिगत क्षमता में किए गए कार्यों के लिए राज्य को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। इनको न्यायालय की उन्मुक्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं; अतः ये न्यायिक प्रक्रिया के विषय बन जाते हैं।

कूटनीतिक कर्मचारियों के कार्य—कूटनीतिक कर्मचारियों को अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं। दूसरे राज्य के प्रदेश में इनके द्वारा जो अन्तर्राष्ट्रीय पीडाकारक कार्य किए जाते हैं वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं किन्तु इन कार्यों को न्यायदवस्त देश के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजनयिकों के सभी कार्यों के लिए उनके मातृदेश को उत्तरदायी बनाता है। इनके पीडाकारक कार्यों के लिए इनको वापस बुलाने के अतिरिक्त क्या दण्ड दिया जाना चाहिए, इसका निर्णय सम्बन्धित मामले को देखकर ही किया जा सकता है। जिन कार्यों को राजनयिक अपने राज्य की आज्ञा के अनुसार सम्पन्न करता है वे अन्तर्राष्ट्रीय अपराध की रचना करते हैं और उनके लिए राज्य मौलिक रूप से उत्तरदायी रहता है।

संसद के कार्य—किसी देश के राजनीतिक जीवन में संसद चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण योगदान करती है किन्तु यह दूसरे राज्यों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अपने राज्य का प्रतिनिधित्व नहीं करती। स्पष्ट है कि संसद का कार्य विदेशी राज्य के लिए चाहे कितना ही पीडाकारक हो किन्तु यह अन्तर्राष्ट्रीय अपराध की रचना कभी नहीं कर सकता। दूसरी ओर, राज्य अपनी व्यवस्थापिका के ऐसे कार्यों का पूरा अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व उठाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध हैं और जो उसके राष्ट्रीय कानून का भाग बन चुके हैं।

न्यायिक कार्यकर्त्ताओं के कार्य—न्यायिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा जो अन्तर्राष्ट्रीय *पीडाकारक कार्य सम्पन्न किए जाते हैं,* उनके लिए वे दूसरे व्यक्तियों की भाँति उत्तरदायी होते हैं। ये अधिकारी जब अपने पद की हैसियत से कार्य करते हैं तो प्रश्न यह उठता है कि इनके कार्यों के लिए राज्य को कितना उत्तरदायी माना जाए।

ये अधिकारी आधुनिक सभ्य राज्यों में अपनी सरकार से प्रायः पूर्णत स्वतन्त्र होते हैं। यदि न्यायिक कार्यकर्ता अपने अन्तर्राष्ट्रीय पीडाकारक कार्यों के लिए स्वय उत्तरदायित्व ग्रहण नही करते तो ऐसी स्थिति मे राज्य को ऐसे न्यायालयों पर दबाव डालना होगा। इसी प्रकार यदि एक न्यायालय किसी कानून का बुरे इरादे से गलत प्रयोग करता है और वह दूसरे राज्य के लिए पीडाकारक है तो इस पर भी यही बात लागू होगी। कहने का अर्थ यह है कि प्रभावित राज्य केवल उसी स्थिति मे मुआवजे की आशा कर सकता है जब न्यायिक कार्यकर्त्ताओं ने जानबूझ कर अनियमितता की है। दूसरी ओर, यदि न्यायालय न्याय के अपने सही तरीके का प्रयोग करता है और कभी कोई अन्यायपूर्ण आदेश या निर्णय नही निकालता तो प्रभावित राज्य को क्षतिपूर्ति पाने के शान्तिपूर्ण साधनों से आशा बहुत कम रह जाती है।

प्रशासनिक अधिकारियों और सैनिकों के कार्य—एक राज्य के प्रशासनिक अधिकारी और जल एवं स्थल सेनाएँ यदि राज्य की आज्ञा के बिना कोई अन्तर्राष्ट्रीय पीडाकारक कार्य कर देती हैं तो इसको अन्तर्राष्ट्रीय अपराध नहीं माना जा सकता क्योंकि ये राज्य के कार्य नहीं हैं। इस प्रकार के कार्यों का उत्तरदायित्व राज्य पर अप्रत्यक्ष रूप से आता है क्योंकि इनके प्रशासनिक अधिकारी और सेनाएँ हमेशा राज्य के अनुशासनात्मक नियन्त्रण के अधीन रहती हैं। इन अधिकारियों और सेना के सभी कार्य एक प्रकार से राज्य के ही कार्य हैं। इनके ज्ञान पर राज्य पहले तो इनके लिए दुःख प्रकट करेगा और प्रभावित राज्य से क्षमा याचना करेगा किन्तु जहाँ आवश्यक हो वहाँ क्षतिपूर्ति भी की जाएगी। अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाएगा। इन अधिकारियों और सेनाओं द्वारा किए गए किन कार्यों को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से पीडाकारक समझा जाएगा, इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था है कि जो कार्य स्वय राज्य द्वारा या राज्य के कहने पर किए जाते हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय अपराध बन जाते हैं। इन कार्यों को इस क्षेत्र मे रखा जाता है।

उल्लेखनीय है कि प्रशासनिक अधिकारियों या सेनाओं के वैध कार्यों द्वारा यदि किसी विदेशी को कोई हानि होती है तो राज्य उसका उत्तरदायित्व अपने सिर पर नहीं लेता। जब एक व्यक्ति विदेशी राज्य के प्रदेश में पाँव रखता है तो वह अपने आपको उसी देश के कानून का विषय बना देता है। इन विदेशियों के साथ विशेष प्रकार का व्यवहार नहीं किया जा सकता। यदि एक राज्य विदेशियों को निकाल देता है तो इसका उत्तरदायित्व अथवा हर्जाना वह स्वय सहन करने के लिए उत्तरदायी नहीं है। इसी प्रकार एक राज्य युद्ध, विद्रोह, राजनैतिक उपद्रव आगजनी, महामारी आदि के कारण विदेशियों को होने वाली क्षति-पूर्ति करने के लिए भी उत्तरदायी नहीं है।

यह एक मान्य नियम है कि कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण उस समय तक किसी विदेशी की शिकायत नहीं सुनेगा जब तक कि वह सम्बन्धित देश में उसके लिए उपलब्ध न्यायिक उपचारों का सहारा न ले। राज्य का अध्यक्ष अथवा

उत्तरदायी अधिकारी जब तक ऐसी घोषणा न करे तब तक यह स्पष्ट नहीं होता कि उसके लिए न्याय को अस्वीकार किया गया है।

गैर-सरकारी व्यक्तियों के कार्यों के लिए राज्य का उत्तरदायित्व
(*State Responsibility for Acts of Private Persons*)

जहाँ तक गैर-सरकारी व्यक्तियों के कार्यों का प्रश्न है उनके लिए राज्य उत्तरदायी उस स्थिति में होता है *जब यह कार्य राज्य के आदेश के अनुसार किया गया हो।* अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रत्येक राज्य पर यह कर्त्तव्य डालता है कि यह यथासम्भव अपने नागरिकों को दूसरे राज्यों के विरुद्ध पीड़ाकारक कार्य करने से रोके। एक राज्य यदि जानबूझकर गलत इरादे से अथवा अवहेलना करके अपने कर्तव्य को पूरा नहीं करता तो वह अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का भागी होगा और इसके लिए मौलिक रूप से उत्तरदायी होगा। व्यवहार में एक राज्य गैर-सरकारी व्यक्तियों के सभी पीड़ाकारक कार्यों पर रोक नहीं लगा सकता। यही कारण है कि *अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राज्य को इन असफलताओं के लिए उत्तरदायी ठहराया* गया है।

गैर-सरकारी व्यक्तियों के कार्य के लिए राज्य का अप्रत्यक्ष उत्तरदायित्व केवल सापेक्षिक है। राज्य का एकमात्र कार्य इस सम्बन्ध में यह है कि निजी व्यक्तियों के कार्यों पर रोक लगा सके, प्रभावित राज्य के लिए उनसे मुआवजा दिला सके, अपराधियों को दण्डित कर सके और जहाँ सम्भव हो वहाँ हानि का मुआवजा दिला सके। इस सीमा से बाहर एक राज्य गैर-सरकारी व्यक्तियों के कार्यों के लिए उत्तरदायी *नहीं है। यदि अपराधी भुगतान न कर सके तो राज्य* क्षतिपूर्ति का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी नहीं है। यदि राज्य गैर-सरकारी व्यक्तियों पर पूरी देख-रेख रखने के अपने उत्तरदायित्व को पूरा नहीं कर पाता है तो उसे क्षतिपूर्ति के लिए उत्तरदायी बनाया जा सकता है।

गैर सरकारी व्यक्तियों के कार्यों के लिए राज्य अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी तब होते हैं जब वे विदेशियों के विरुद्ध कोई अपराध करें। यदि राज्य के अध्यक्षों और राजनयिकों के विरुद्ध गैर-सरकारी व्यक्ति अपराध करते हैं तो उन्हें राज्य *के कानून के अनुसार दण्ड दिया जाना* चाहिए और प्रदेश के न्यायालय में विदेशी जनता को पहुँच प्रदान की जानी चाहिए।

विद्रोहियों और उपद्रवकारियों के प्रति राज्यों का उत्तरदायित्व वैसा ही है जैसाकि साधारण व्यक्तियों का होता है। एक राज्य उपयुक्त देख-रेख रखकर इसका उपचार कर सकता है। उसे उपद्रवकारियों को तत्काल दबा देना चाहिए। राज्य अपने राष्ट्रीय कानून के अनुसार इन उपद्रवकारियों को सजा देगा। शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के बाद ये उपद्रवकारी विदेशी राज्य के विरुद्ध अपराध करने *के दोषी ठहराए जाएँगे। कभी कभी कुछ मामलों में विद्रोह या उपद्रव होने पर* विदेशी राज्य अपने नागरिकों को होने वाली क्षति के लिए मुआवजा माँगने लगते हैं।

इस सम्बन्ध में सही दृष्टिकोण यह है कि यदि सम्बन्धित राज्य पर्याप्त देख-रेख रखे तो विद्रोहियों और उपद्रवकारियों के कार्यों से विदेशियों को होने वाले

नुकसान की पूर्ति राज्य द्वारा नहीं की जाएगी। जो व्यक्ति विदेशी भूमि में प्रवेश करते हैं उन्हें विद्रोह और उपद्रव की जोखिम उठाने के लिए तैयार रहना चाहिए। यदि उपद्रवकारियों के कारण विदेशियों को कोई नुकसान होता है तो कुछ व्यक्तियों का नाम लेकर न्यायालय में उनके विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि राज्यों के व्यवहार में क्षति-पूर्ति के सम्बन्ध में बहुत-कुछ एकरूपता पायी जाती है। किसी-किसी मामले में जब बहुत ज्यादा धन क्षति-पूर्ति के रूप में मांगा जाता है तो राज्य उसे देने से मना कर देता है। अनेक मामले ऐसे देखे गए हैं जिनमें राज्य पड़ोसी राज्य के दावे को अस्वीकार कर देता है और उपद्रवकारियों के कार्यों के लिए अपने आपको उत्तरदायी नहीं बनाता है।

गैर-सरकारी व्यक्तियों के कार्यों के लिए राज्यों का उत्तरदायित्व प्रदेश से सम्बन्ध रखता है न कि राष्ट्रीयता से, 'यही कारण है कि एक राज्य विदेशों में बसे हुए उसकी राष्ट्रीयता वाले लोगों के कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं होता किन्तु उसके प्रदेश में रहने वाले विदेशियों के व्यवहार के लिए उसको स्वयं को उत्तरदायी बनाया जा सकता है। एक सम्प्रभु राज्य अपने क्षेत्राधिकार में पूरी शक्ति रखता है किन्तु इसके लिए वह सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समाज के प्रति उत्तरदायी है। मि. एडवर्ड हॉल के कथनानुसार, ' एक राज्य को न केवल स्वयं कानून का पालन करना चाहिए वरन् उसे पूरी सावधानी रखनी चाहिए कि उसके क्षेत्र में कोई अवैध कार्य न कर पाए।" दूसरे राज्य एक राज्य के प्रदेश में कार्य करने का अधिकार रखते हैं इसलिए राष्ट्रीय कानून में ऐसा प्रावधान होना चाहिए ताकि विदेशी लोग दूसरे राज्यों के अधिकारों के लिए पीड़ादायक कार्य न कर सकें और कानून का पालन उचित रूप से करें।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप में राज्य के कुछ उत्तरदायित्व होते हैं। इन उत्तरदायित्वों का निर्वाह वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए करता है। इन दायित्वों की अवहेलना का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अराजकता और अशान्ति है। राज्यों के बीच महत्त्वपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना केवल तभी हो सकती है जब प्रत्येक राज्य अपने दायित्वों के प्रति सजग है और दूसरों के अधिकारों का सम्मान करता है। इन दायित्वों के प्रति विभिन्न राज्यों में सजगता की स्थापना किस प्रकार की जाए, यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की एक विशेष समस्या है।

12 राज्य का क्षत्राधिकार एवं राज्य के क्षेत्राधिकार पर सीमाएँ

(Jurisdiction of State, Limits on State's Jurisdiction)

एक राज्य के प्रदेश में रहने वाली प्रत्येक वस्तु व व्यक्ति सम्बन्धित राज्य की सम्प्रभुता के अधीन रहते हैं और इसलिए ये सभी उस राज्य के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत हैं। प्रत्येक राज्य को यह अधिकार होता है कि वह अपने क्षेत्र में निवास करने वाले सभी लोगों एवं स्थित सम्पत्ति के सम्बन्ध में विवादों को सुन सके। राज्य को अपने प्रदेश में जो अधिकार प्राप्त होता है उसे क्षेत्राधिकार कहा गया है। एक सम्प्रभु राज्य के रूप में प्रत्येक देश अपनी प्रादेशिक सीमाओं के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्तियों व वस्तुओं पर क्षेत्राधिकार रखता है और इन सीमाओं में उत्पन्न सभी दीवानी और फौजदारी मामलों पर विचार करने का अधिकार रखता है।

प्रो. फेनविक के कथनानुसार अपनी राष्ट्रीय सीमाओं में स्थित सभी लोगों और सम्पत्ति पर एक राज्य के क्षेत्राधिकार द्वारा उस राज्य को दूसरे राज्यों के प्रति अनेक दायित्व सौंपे जाते हैं। इन अनेक दायित्वों के परिणामस्वरूप राज्य को ऐसे प्रयास करने पड़ते हैं जिनके द्वारा वह अन्य राज्यों के लिए पीड़ाकारी कार्यों पर रोक लगा सके। इन्हीं दायित्वों के परिणामस्वरूप एक राज्य दूसरे राज्यों के सम्प्रभु आगन्तुकों पर अपने राष्ट्रीय कानून को लागू होने से रोकता है, दूसरे देश की सम्पत्ति की रक्षा करता है और उनके प्रति सद्भाव रखता है।

राज्यों का क्षेत्राधिकार उनके प्रदेश में भी असीमित नहीं होता। इसके ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा कुछ प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। प्रो. बायर्ली के कथनानुसार *सामान्य रूप में प्रत्येक राज्य अपने प्रदेश के अन्तर्गत अकेला क्षेत्राधिकार रखता है* किन्तु यह क्षेत्राधिकार पूर्ण नहीं होता क्योंकि इस पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा अनेक सीमाएँ लगाई जाती हैं। प्रत्येक राज्य में ऐसे लोग या वस्तुएँ होती हैं जिनको पूर्णत अथवा अंशत राज्य के क्षेत्राधिकार से अलग रखा जाता है और इनके ऊपर उस राज्य का कानून लागू नहीं होता। इन व्यक्तियों या वस्तुओं को स्थानीय *क्षेत्राधिकार से मुक्ति प्राप्त रहती है।* राज्यों के क्षेत्राधिकार पर लगी हुई इन सीमाओं को जानना परम आवश्यक है। इसके बिना राज्य के अधिकारों के बारे में भ्रम पैदा होने की सम्भावना रहती है। विभिन्न क्षेत्रों पर राज्य का अधिकार और उसकी सीमाओं का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से महत्त्व रखता है।

(A) व्यक्तियों पर क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction over Persons)

प्रत्येक राज्य मे अनेक प्रकार के लोग निवास करते हैं। सम्प्रभु होने के कारण राज्य उन सभी पर क्षेत्राधिकार रखता है। इसका मुख्य सम्बन्ध उन व्यक्तियों से रहता है जो इसके नागरिक हैं और सही अर्थों मे इसके सदस्य हैं। अधिकांश देशो के कानूनी लेखको और व्यवस्थापिकाओ ने इस सम्बन्ध मे दो शब्दो का प्रयोग किया है। यह जरूरी नहीं कि ये दोनों शब्द प्रत्येक स्थिति मे समानार्थक सिद्ध हो, ये हैं—नागरिक और राष्ट्रिक (National)। सामान्यत. राष्ट्रिक का अर्थ नागरिक से कहीं व्यापक है। एक राज्य के निवासी दूसरे राज्य के राष्ट्रीय व्यक्ति हो सकते हैं किन्तु नागरिक होना आवश्यक नहीं है। दूसरी ओर एक देश का नागरिक उस देश का राष्ट्रीय व्यक्ति भी होता है। राष्ट्रीयता के सम्बन्ध मे विस्तृत अध्ययन पुस्तक मे यथास्थान किया जाएगा। यहाँ हमारा उद्देश्य केवल यह देखना है कि राज्य उनके सम्बन्ध मे क्या क्षेत्राधिकार रखता है। व्यक्तियो पर राज्य के क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णित किया जा सकता है—

(1) विदेशों में स्थित राष्ट्रिकों पर क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction over Nationals Abroad)

एक देश और उसके राष्ट्रिकों के बीच अटूट सम्बन्ध होता है। यदि इनके द्वारा राज्य के प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से परे कोई अपराध किया जाता है तो इसका दायित्व भी उस राज्य के ऊपर आता है। कुछ राज्य अपने राष्ट्रिकों को उनके द्वारा किए गए अपराधो के लिए दण्ड देने का अधिकार रखते हैं, जबकि ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका जैसे देशों ने परम्परागत रूप से अपने फौजदारी क्षेत्राधिकार या अपने राज्य की सीमाओ तक ही मर्यादित रखा है। इन देशों मे भी आजकल दृष्टिकोण बदलता जा रहा है। यदि एक राष्ट्रिक दूसरे देश के राष्ट्रिक के विरुद्ध अपराध करके स्वदेश लौट आता है तो उसकी सरकार उसके विरुद्ध न्यायिक कार्यवाही कर सकती है। इसके अतिरिक्त यदि राष्ट्रिक द्वारा विदेश मे कोई ऐसा अपराध किया जाए जो उसके स्वयं के देश को प्रभावित करे तो ऐसी स्थिति मे स्वदेश वापस आने पर उसके विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है। अपने राष्ट्रिकों के सम्बन्ध मे एक राज्य को अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं—

1 राज्यो का पहला अधिकार यह है कि अपने राष्ट्रिकों पर उनके द्वारा विदेशों मे कमाई गई आय पर कर लगा सके। दोहरे करारोपण को रोकने के लिए विभिन्न राज्यों की सरकारें आपस मे समझौते कर लेती हैं।

2. राज्य अपने राष्ट्रिकों को वापस बुला सकते हैं। अपराधों के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही मे सहयोग पाने के लिए भी इन राष्ट्रिकों को वापस बुलाया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे मि हॉल ने यह सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि "राज्य के कानून उसके राष्ट्रिकों के साथ यात्रा करते हैं। जहाँ कहीं वे जाते हैं, वे उनके साथ रहते हैं, चाहे वह स्थान दूसरी शक्तियों के क्षेत्राधिकार मे है अथवा

नही है।" एक राज्य दूसरे राज्य के प्रदेश मे अपने कानूनो को लागू नही कर सकता किन्तु इसकी प्रजा द्वारा इनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। यदि एक व्यक्ति इसके कानूनो को तोडता है तो उसके स्वदेश लौटने पर उसके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जा सकती है।

3 राज्य का तीसरा अधिकार अपने राष्ट्रिको के देशद्रोह के कार्यों पर नियन्त्रण रखना है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद यह क्षेत्राधिकार पर्याप्त प्रचारित हुआ है। इसके अनुसार प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह अपने प्रदेश के बाहर अपने राष्ट्रिको या गैर-राष्ट्रिको द्वारा किए गए राजद्रोह के कार्यों को दण्डित कर सके। जिन विदेशियो की रक्षा का राज्य उत्तरदायित्व लेता है अथवा जो उसके पासपोर्ट पर यात्रा करते हैं, उनके सम्बन्ध मे भी यह बात लागू होती है। इस दृष्टि से सुविदित विवाद सयुक्तराज्य अमेरिका बनाम चांदलर का है। सयुक्तराज्य अमेरिका ने चांदलर पर उसके जर्मनी मे निवास के दौरान राजद्रोह के अपराध का आरोप लगाया था। चांदलर का कहना था कि शत्रु के प्रदेश मे रहने पर शत्रु की आज्ञा मानना राजद्रोह के अपराध की परिभाषा मे नही आता। इस व्याख्या को जिला न्यायालय ने अस्वीकार कर दिया। उसने यह कहा कि, 'राजद्रोह के कार्य सयुक्त-राज्य अमेरिका की सम्प्रभुता को खतरे मे डाल देते हैं। इसमे कोई सन्देह नही कि कांग्रेस अमेरिका के प्रादेशिक क्षेत्राधिकार के बाहर किए गए उन कार्यों को दण्डित करने का अधिकार रखती है जो अमेरिका की सरकार के लिए प्रत्यक्ष रूप से पीडाकारी है। कोई भी विदेशी अजनबी एक राज्य मे रहते हुए उसके प्रति केवल अल्पकालीन स्वामिभक्ति रखता है। उसकी यह स्वामिभक्ति विदेशी सरकार द्वारा उसे प्रदान की गई सुरक्षा का प्रतिदान है। इसके साथ ही सयुक्तराज्य अमेरिका के नागरिक अपनी सरकार के प्रति पूर्ण और सच्ची सहानुभूति रखते हैं। विदेशी यात्रा के समय कोई भी नागरिक कुछ समय के लिए सम्बन्धित देश की भक्ति स्वीकार कर सकता है किन्तु ऐसा करके वह अपने देश या सरकार के प्रति दायित्वो अथवा स्वामिभक्ति को नही भुला सकता।"

स्पष्ट है कि अपने विदेश-निवास के दौरान कोई भी राष्ट्रिक केवल अल्पकाल के लिए उस देश की स्वामिभक्ति स्वीकार कर सकता है किन्तु ऐसा करते हुए भी वह अपने मूल देश का नागरिक और उसके प्रति स्वामिभक्त बना रहता है।

इस क्षेत्राधिकार पर प्रतिबन्ध—प्रथम विश्व-युद्ध के बाद प्रादेशिक स्वामित्व मे जो गम्भीर परिवर्तन आए उनके कारण अल्पसख्यको को दिए गए अधिकारो को प्रसारित करने की आवश्यकता हुई। परिणामस्वरूप विभिन्न राष्ट्रो ने आस्ट्रिया, यूनान, बल्गारिया, हगरी, पोलैण्ड, टर्की, रूमानिया, युगोस्लाविया आदि के साथ अनेक सन्धियाँ की। इन सन्धियों का आधार जाति, भाषा, धर्म पर आधारित अल्प-सख्यको के दमन के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करना था। कुछ समय बाद इसी प्रकार की गारण्टियाँ अल्बानिया, इस्टोनिया, ईराक, लेटविया और लिथुआनिया आदि को भी दी गई। ये गारण्टियाँ एकपक्षीय घोषणाएँ थी। सघ की परिषद् ने विभिन्न प्रस्ताव स्वीकार करके इन घोषणाओ के लिए कानूनी आधार प्रदान किया।

अल्पसंख्यकों को दिए गए विभिन्न अधिकारों की क्रियान्विति को सम्भव बनाने के लिए अल्पसंख्यकों का क्लॉज स्वीकार किया गया। इसे राष्ट्रसंघ की गारन्टी के अधीन रखा गया और लीग की परिषद् के बहुमत की स्वीकृति के बिना इसमें परिवर्तन न करने की व्यवस्था की गई। राष्ट्रसंघ ने क्लॉज से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करने के लिए एक निश्चित प्रक्रिया स्वीकार की।

यह सब व्यवस्था कागज पर तो बहुत अच्छी थी किन्तु जब इसे क्रियान्वित किया गया तो कठिनाइयाँ सामने आई। अल्पसंख्यकों को दी गई गारन्टियों का उद्देश्य चाहे कुछ भी था किन्तु सम्बन्धित सरकारों ने इन्हें अपने सम्प्रभु राज्य के घरेलू क्षेत्राधिकार में असहनीय हस्तक्षेप माना। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि केवल कानून ही पर्याप्त नहीं है वरन् इसका व्यवहार भी किया जाना चाहिए। लेटिन अमेरिका के देशों ने तो जातीय अथवा धार्मिक समूह को अल्पसंख्यकों का स्तर प्रदान करना अनुचित माना।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पराजित इटली, हंगरी, बल्गारिया, रूमानिया के साथ पश्चिमी मित्रों द्वारा शान्ति सन्धियाँ की गई। इनमें जाति, धर्म, भाषा, लिंग का अन्तर किए बिना मानवीय अधिकारों व मूल स्वतन्त्रताओं का उपभोग करने की दृष्टि से समस्त निवासियों की रक्षा का उद्देश्य अपनाया गया।

एक राज्य द्वारा अपने नागरिकों के साथ किए जाने वाले व्यवहार की समस्या इस प्रश्न पर निर्भर करती है कि क्या इस व्यवहार के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। यदि ऐसा अधिकार नहीं है तो एक राज्य अपने घरेलू क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में लिए गए विदेशी सुझाव को अस्वीकार कर देगा। दूसरी ओर, यदि इस अधिकार का अस्तित्व मान लिया जाए तो अपने नागरिकों के प्रति व्यवहार से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परम्परागत अथवा मान्यता असत्य साबित हो जाती है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय रंग-मंच पर व्यक्ति के अधिकार मूल रूप से केवल कागजी हैं। मानव अधिकारों की दृष्टि से जब तक एक देश व्यवस्थापन नहीं करता तब तक किसी अधिकार को सार्थक नहीं माना जा सकता है।

(2) विदेशियों पर क्षेत्राधिकार

(Jurisdiction over Aliens)

सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि एक राज्य को विदेशियों पर वैसा ही क्षेत्राधिकार होगा जैसा वह अपने नागरिकों पर रखता है। यह सच है कि कोई भी विदेशी जिस देश में रहता है उसके कानूनों का उल्लंघन नहीं कर सकता। राज्य और विदेशी राज्यों के नागरिकों का आपसी सम्बन्ध जितना विवादपूर्ण है उतना अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई विषय नहीं है। यह सम्बन्ध दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—ऐसे विदेशियों के साथ सम्बन्ध जो राज्य के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत रह रहे हैं और राज्य के नागरिकों की भाँति व्यापारिक तथा सामाजिक कार्य सम्पन्न कर रहे हैं। आधुनिक युग में व्यापारिक सम्बन्धों के विकास ने कुछ देशों में विदेशियों की बड़ी मात्रा में उपस्थिति को एक तथ्य बना दिया है। जिन देशों में श्रम एवं

व्यापारिक उद्यम के लिए भारी मात्रा में अवसर होते हैं उनमें विदेशों से आकर लोग बसने लगते हैं। दूसरी ओर राज्यों की व्यक्ति के अधिकारों एवं सम्पत्ति के सम्बन्ध में नीतियाँ निरन्तर बदल रही हैं। इनमें उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिए पुराने सुझाव पर्याप्त सिद्ध हुए हैं। इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय कानून संक्रमण की स्थिति में है। प्रश्न यह है कि क्या एक राज्य विदेशियों को अपने क्षेत्र में प्रवेश करने से रोक सकता है अथवा क्या उन्हें प्रवेश करने के बाद बाहर निकाल सकता है? यह प्रश्न क्षेत्राधिकार की अपेक्षा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अधिक है।

अपनी सीमा में स्थित विदेशियों के सम्बन्ध में एक राज्य को जो अधिकार प्राप्त हैं, उनका अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(A) बाहर निकालने का अधिकार—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का यह एक सुस्थापित सिद्धान्त है कि कोई राज्य अपने प्रदेश में किसी भी विदेशी को प्रवेश करने से रोक सकता है अथवा उसे अपने द्वारा निर्धारित शर्तों पर ही प्रवेश की अनुमति दे सकता है। यह अधिकार राज्य की सम्प्रभुता अथवा स्वतन्त्रता का स्वाभाविक परिणाम है। इसका निर्णय पूर्ण रूप से एक राज्य का घरेलू मामला है। इस अधिकार के अन्तर्गत यह तथ्य भी निहित है कि राज्य उन विदेशियों को अपने प्रदेश से बाहर करने का अधिकार रखता है जो गैर-कानूनी रूप से प्रवेश पा चुके हैं अथवा कानूनी रूप से प्रवेश पाने के बाद देश की सुरक्षा एवं व्यवस्था के लिए खतरा सिद्ध हुए हैं। ऐसे विदेशियों को साधारणतः उनके स्वयं के राज्य को ही वापस भेजा जाता है। वह राज्य ऐसे व्यक्तियों को वापस लेने से मना भी कर सकता है। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि वे लोग राज्यहीन प्रकृति के हों अथवा उनका पुराना व्यवहार अपराधी प्रकृति का रहा हो। यहाँ एक बात उल्लेखनीय यह है कि विदेशी को बाहर निकालने के लिए उपयुक्त कारण होना चाहिए, उसके विरुद्ध राष्ट्रीय न्यायालय में पूरी कार्यवाही की जानी चाहिए। ऐसा किए बिना ही यदि कोई राज्य विदेशी को अपने यहाँ से निकालता है तो उसका अपना देश इस सम्बन्ध में एतराज कर सकता है।

प्रो फेनविक के मतानुसार, विदेशियों को बाहर निकालने का अधिकार सिद्धान्त रूप में जितना पूर्ण है उतना वास्तव में नहीं है। कोई भी राज्य वास्तविक व्यवहार में यह नहीं चाहता कि बाहरी दुनिया से वह पूर्ण रूप से सम्बन्ध विच्छेद कर ले। सामाजिक एवं व्यापारिक सम्बन्धों का निर्वाह आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की एक साधारण शर्त मानी जाती है। इतने पर भी यदि कोई राज्य विदेशियों को पूर्णरूप से निकालना चाहे तो वह अधिकृत रूप से ऐसा कर सकता है और दूसरे राज्यों द्वारा कानूनी आधार पर विरोध नहीं किया जा सकता।

(B) न्यायिक कार्यवाही एवं दण्ड देने का अधिकार—जिन विदेशियों को एक राज्य अपने प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में प्रवेश की अनुमति देता है वे उसके राष्ट्रीय कानून का विषय बन जाते हैं। यदि वे स्वागतकर्ता राज्य के प्रदेश में या उसके द्वारा पंजीकृत जहाज अथवा वायुयान में कोई अपराध करें तो दण्ड के भागी होंगे। यदि

वे देश की मुद्रा, डाक टिकिट या सरकारी प्रालेखो के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की गड़बड़ी करते हैं तो उन पर न्यायालय मे कार्यवाही की जाएगी और वे दण्ड के भागी होगे। यदि कोई विदेशी एक राज्य की स्वतन्त्रता या सुरक्षा के विरुद्ध कार्य करता है तो वह चाहे कहीं का भी रहने वाला हो, दण्ड का भागी होगा। यह अधिकार राज्य की आत्मरक्षा के अधिकार की आवश्यक शर्त है। कोई भी राज्य उस विदेशी पर मुकदमा चलाने और दण्ड देने का अधिकार रखता है जिसने चाहे कहीं भी अपराध किया हो किन्तु राष्ट्रों के कानून के अन्तर्गत उसका कार्य समुद्री डकैती माना जाता है। कुछ देशों का यह मत है कि यदि विदेशियो द्वारा राज्य की सीमाओ के बाहर भी कोई पीड़ाकारी कार्य किया जाता है तो वह उस पर मुकदमा चला सकता है और दण्ड दे सकता है। संयुक्तराज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन राज्यों के इस अधिकार के अस्तित्व को हमेशा से अस्वीकार करते रहे हैं। संयुक्तराज्य अमेरिका बनाम बेकार के मामले मे न्यूयार्क के जिला न्यायालय ने यह बात स्पष्ट कर दी।

(C) राज्य के अनुसार भेदभाव—वास्तविक व्यवहार मे राज्य किसी अन्य राज्य के नागरिको का पक्ष लेता है किन्तु दूसरे राज्य के नागरिको का विरोध करता है। कभी कभी एक राज्य द्वारा विदेशियों को बिना उसके अपराध के केवल इसलिए निकाला जाता है क्योंकि वे विरोधी राज्य के नागरिक हैं। सम्भवत. राज्य का यह व्यवहार उसके भावी हित की दृष्टि से न्यायोचित् माना जा सकता है किन्तु व्यक्तिगत दृष्टि से यह उपयुक्त नहीं है। यदि कोई राज्य मूर्खों या भिखारी विदेशियो को अपनी सीमा से बाहर निकालता है तो यह विरोध का विषय नहीं माना जाता क्योंकि वह विशुद्ध रूप से उसका घरेलू मामला है। विदेशियों को नागरिकता के लिए अनुपयुक्त ठहरा कर या उन्हें प्रवेश के अयोग्य बता कर एक राज्य विदेशियो के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। जब सभी विदेशियो को निष्पक्ष रूप से बाहर निकाला जाता है तो इसमे भेदभाव का प्रश्न नहीं उठता, किन्तु एक विशेष देश के नागरिको को बाहर रखने का अर्थ यह होता है कि उस देश को उन अधिकारो से वंचित किया जा रहा है जो दूसरे को प्रदान किए हैं। कुछ विशेष जातियों को राज्य मे प्रवेश के अयोग्य ठहराना कानूनी प्रश्न न होकर एक राजनीतिक प्रश्न है।

प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह सार्वजनिक कारणों से विदेशियों का अपने राज्य से बाहर निकाल दे किन्तु ऐसा करते समय वह किसी विशेष राज्य के साथ भेदभाव नहीं करेगा। परम्परागत रूप से यदि एक राज्य विदेशियों को निकालने का निर्णय स्वेच्छाचारी रूप से लेता है तो उसे सम्बन्धित राज्य को हर्जाना देना होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रत्येक राज्य के इस अधिकार का आदर करता है कि वह अपने प्रदेश में विदेशियों को निवास की सुविधा प्रदान करे। इन विदेशी निवासियों को क्या अधिकार सौंपे जाएंगे तथा उनके जीवन एवं सम्पत्ति को कितनी सुरक्षा दी जाएगी यह उस राज्य का व्यक्तिगत मामला है। आधुनिक युग मे अधिकांश राज्य अपने यहाँ के विदेशियो को एक जैसे अधिकार एवं स्वतन्त्रताएं सौंपते हैं किन्तु ये वहाँ

के नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों से भिन्न होते हैं। प्रत्येक राज्य मे विदेशियों के अधिकारो की सीमाएँ अलग-अलग होती हैं। अनेक देशों मे विदेशियों को राष्ट्रीय सीमाओं से लेकर एक निश्चित दूरी तक भूमि का स्वामित्व करने का अधिकार नहीं दिया जाता। ब्राजील आदि देशो मे विदेशियों को खान सचालित करने तथा जल-शक्ति व्यवस्था सचालित करने की सुविधा नहीं दी जाती। यह सुविधा केवल राष्ट्रिकों तक ही मर्यादित रहती है। ब्राजील के सन् 1946 के सविधान ने विदेशियो को समाचार-पत्रों के स्वामित्व से वंचित किया तथा रेडियो स्टेशनों से भी अलग रखा।

कुछ विशेष देशों के निवासियों के प्रति कभी-कभी अधिक भेदभाव बरता जाता है। कुछ परिस्थितियों मे यह जरूरी बन जाता है कि एक राज्य किसी विशेष राज्य के निवासियों को ऐसे विशेष अधिकार सौंपे जिनसे दूसरे राज्य के निवासियों को वंचित किया गया है। सन् 1906 मे सान-फ्रांसिस्को ने जापानियों के लिए अलग स्कूल की व्यवस्था की। जापान के विरोध करने पर संयुक्तराज्य अमेरिका ने यह जवाब दिया कि ऐसा करने के लिए बौद्धिक आधार था। इस कार्यवाही से जापान के सम्मान पर कोई आघात नहीं होता। राज्य द्वारा इस प्रकार के भेदभाव आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों से किए जाते हैं किन्तु प्रभावित देश इसकी व्याख्या जातीय, धार्मिक, वर्गीय इत्यादि के आधार पर कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून विदेशियों के स्तर को दो भागो मे विभाजित करता है—वे विदेशी जो अस्थायी रूप से देश मे दर्शक के रूप मे आते है और वे विदेशी जो स्थायी रूप से देश मे बस गए हैं। दोनों के साथ विभिन्न व्यवहार की अनुभूति दी गई है। स्थायी निवासी स्थाई स्थानीय कानूनों का पालन करता है तथा राज्य द्वारा लगाए गए करो का भुगतान करता है। इसके अतिरिक्त आवश्यकता के समय इन विदेशियों से देश की पुलिस या सैनिक सेवा मे योगदान करने के लिए भी कहा जा सकता है। मुख्य समस्या उस समय उत्पन्न होती है जब विदेशियों से युक्त सेना वाला राज्य उसी राज्य के विरुद्ध युद्ध छेड़ता है जो विदेशियों का अपना है। ऐसी स्थिति मे हो सकता है कि विदेशी को सैनिक सेवा मे न लिया जाए। विदेशी अपनी राष्ट्रीयता वाले राज्य की सफलता के लिए कुछ भी करने के हेतु बाध्य नहीं है।

(D) विदेशियों की कानूनी स्थिति—एक राज्य के प्रादेशिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत विदेशियों की कानूनी स्थिति उस राज्य विशेष के निर्णय पर निर्भर करती है। वह स्वयं यह निर्णय करेगा कि जीवन व सम्पत्ति की रक्षा के अतिरिक्त कौन-कौन से अधिकार उसे सौंपे जाएँ। विदेशियों को प्राय अधिकार और विशेषाधिकार नहीं सौंपे जाते किन्तु दूसरे नागरिक अधिकार राष्ट्रिकों की भाँति सौंप दिए जाते हैं। सामान्यत. विदेशियो को सम्पत्ति रखने, उसे वश परम्परा मे देने तथा हस्तान्तरण करने का अधिकार होता है। ये समझौते कर सकते हैं, आज्ञानुसार कोई भी व्यवसाय कर सकते हैं, धार्मिक पूजा का अधिकार और दूसरे अनेक नागरिक अधिकार इन विदेशियों को सौंपे जाते हैं। विदेशियों के इन सभी अधिकारों पर समय, परिस्थिति और वस्तुस्थिति के अनुसार विभिन्न सीमाएँ लगाई गई हैं। राज्य का यह अधिकार

होता है कि वह अपने राष्ट्रिकों द्वारा विदेशों में किए गए कार्यों पर भी व्यक्तिगत क्षेत्राधिकार का प्रयोग करें और जब ये राष्ट्रिक उसके प्रदेश में लौट आएँ तो अपने क्षेत्राधिकार को प्रभावपूर्ण बनाएँ। प्रश्न यह है कि क्या इसी प्रकार का क्षेत्राधिकार एक विदेशी पर रखा जा सकता है जिसने विदेश में कोई व्यवहार किया है किन्तु जो समय-समय इस राज्य के क्षेत्र में आता रहता है? इस प्रश्न पर पर्याप्त वाद-विवाद रहा है। विदेशियों के जो कार्य किसी राज्य अथवा उसके नागरिकों के लिए प्रत्यक्ष रूप से पीड़ाकारक न हो उनको विचार-विमर्श से बाहर रखा जा सकता है किन्तु जो कार्य प्रत्यक्ष रूप से पीड़ाकारी होते हैं उनके सम्बन्ध में महाद्वीपीय न्यायवेत्ता सामान्य रूप से ऐसे मामलों में दण्ड के अधिकार का समर्थन करते हैं।

विदेश में किए जाने वाले कार्य यदि राष्ट्र के प्रदेश पर प्रभाव डालते हैं तो क्या किया जाए? यह प्रश्न भी महत्त्व रखता है। इस सम्बन्ध में लोटस विवाद (1927) का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है जिसने क्षेत्राधिकार के प्रश्न को अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के सम्मुख रखा, इस पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वाद-विवाद हुआ था।

विभिन्न उदाहरणों को देखकर उन सीमाओं एवं प्रतिबन्धों का ज्ञान होता है जो विदेशियों से सम्बन्धित राज्य के क्षेत्राधिकार पर प्रभाव डालती हैं। गैर-ईसाई राज्यों में विदेशियों के सम्बन्ध में विशेष छूट दी जाती है। मध्यकाल में एक सामान्य व्यवहार था कि व्यापारिक नगर विदेशी व्यापारियों को पृथक् से ऐसे स्थान सौंप देता था जहाँ वे रह सकें। इनको घरेलू कानून द्वारा प्रशासित किया जाता था। यह विशेषाधिकार प्रादेशिक सम्प्रभुता के विकास के साथ यूरोप से समाप्त हो गया किन्तु फिर भी यह टर्की में जारी रहा क्योंकि मुसलमानी कानून की धार्मिक प्रकृति के कारण विदेशी लोगों को उनके देश का कानून पालन करने की अनुमति दी जाती थी। अप्रादेशिक क्षेत्राधिकार की व्यवस्था रीति-रिवाज और सन्धियों के एकपक्षीय दायित्वों के आधार पर विकसित हुई। 19 वीं शताब्दी के दौरान यह व्यवस्था गैर-ईसाई राज्यों में प्रसारित हो गई जिनके रीति रिवाज और कानूनी व्यवस्थाएँ यूरोप से पर्याप्त भिन्न थीं। जापान ने सन् 1899 में अपनी सम्प्रभुता पर लगी हुई सीमाओं को हटा दिया और विदेशियों को अपने स्थानीय क्षेत्राधिकार से मुक्ति प्रदान की।

मानव अधिकारों के सम्बन्ध में की गई सार्वभौमिक घोषणा और इससे सम्बन्धित विभिन्न समझौते राज्यों के क्षेत्राधिकार पर सीमाएँ लगाते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने व्यक्तिगत मानवीय अधिकारों पर विचार करने की अपेक्षा उन पर सामूहिक रूप से विचार किया।

विदेशियों (Aliens) पर क्षेत्राधिकार की सीमाएँ—यद्यपि विदेशियों को अपने प्रदेश में प्रवेश देने के लिए कोई राज्य कानूनी रूप से बाध्य नहीं है किन्तु यदि वह ऐसा करता है तो उसे विदेशियों के साथ उपयुक्त व्यवहार करना चाहिए। यदि उपयुक्त व्यवहार न करने पर विदेशियों को कोई हानि होती है तो उनका राज्य क्षतिपूर्ति की माँग कर सकता है। व्यावहारिक रूप से प्रत्येक राज्य यह चाहता है कि

विदेशों में उसके नागरिकों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाए। ऐसा केवल तभी हो सकता है जब वह स्वय के देश में उस देश के नागरिकों के प्रति सद्व्यवहार करे।

विदेशियों द्वारा किए जाने वाले दावे प्रत्येक राज्य में विवाद का कारण बन जाते हैं। सामान्य रूप से जब एक व्यक्ति अपनी इच्छा से एक राज्य के प्रदेश में प्रविष्ट होता है तो उसे वहाँ स्थित संस्थाओं को स्वीकार करना चाहिए। वह प्रत्येक दृष्टि से समानतापूर्ण व्यवहार की माँग नहीं कर सकता। प्रायः वह नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों से वंचित रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून देश के नागरिकों की तुलना में विदेशियों के साथ भेदभाव करने पर किसी प्रकार की रोक नहीं लगाता। दूसरी ओर यदि एक राज्य में स्वय के नागरिकों के प्रति न्याय का स्तर नीचा है तो विदेशियों की स्थिति विशेषाधिकारपूर्ण हो जाती है। विदेशियों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्धारित कानून के अनुसार व्यवहार करना होता है। यह दायित्व कुछ लेटिन अमेरिकी देशों में पूरा नहीं किया जाता। इनका मत है कि यदि राज्य अपने नागरिकों और गैर-नागरिकों के साथ एक जैसा व्यवहार करता है तो वह अपना अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व पूरा करेगा ऐसा मानने पर प्रत्येक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा वांछनीय मापदण्ड का स्वय निर्णायक बन जाता है। संयुक्तराज्य अमेरिका एवं मेक्सिको के दावे प्रायोग ने रॉबर्ट्स के मामले में यह बताया कि विदेशियों और राष्ट्रिकों के साथ एक राज्य का समान व्यवहार विदेशियों की शिकायत को निर्धारित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो सकता है किन्तु यह समानता अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रकाश में अधिकारियों के कार्यों का अन्तिम मापदण्ड नहीं हो सकती। मोटे रूप में यह मापदण्ड सभ्यता के साधारण मापदण्ड को विदेशियों के साथ व्यवहार में अपनाना है। मि. हॉल के कथनानुसार "स्वय अन्तर्राष्ट्रीय कानून आधुनिक यूरोप की विशेष सभ्यता की उपज है।" अतः इसका अनुगमन प्रत्येक सभ्य राज्य को करना चाहिए। जो राज्य अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अनुगामी बताता है उसे आवश्यक रूप से यह व्यवस्था अपनानी चाहिए। विदेशियों द्वारा एक राज्य में स्थित संस्थाओं को स्वीकार करने का नियम इस शर्त से युक्त है कि ये संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा स्थापित मापदण्ड के अनुसार होनी चाहिए। यदि राज्य इस मापदण्ड का पालन न करे और विदेशियों की सम्पत्ति अथवा व्यक्ति को पीडा पहुँचाए तो उनका राज्य क्षतिपूर्ति की माँग कर सकता है। व्यवहार का अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्ड निश्चित नहीं है और न ही परिस्थितियों से अलग यह सरकारी कार्यकुशलता की माँग करता है। उदाहरण के लिए, राजधानी नगर में पुलिस की सुरक्षा की जितनी आवश्यकता है उतनी दूसरे प्रदेशों में नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्ड को ध्यान में रखते हुए भी कोई राज्य अपने राष्ट्रीय कानून के किसी प्रावधान से मुक्त नहीं समझा जाएगा।

विदेशी को होने वाली पीडा का अन्तर्राष्ट्रीय दावा केवल तभी स्वीकार किया जा सकता है जब पहले राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत उपलब्ध उपचारों का वह परीक्षण कर ले। एक राज्य किसी विदेशी को यह गारन्टी नहीं देता कि उसकी सम्पत्ति अथवा व्यक्ति को हानि नहीं पहुँचाई जाएगी। व्यवहार में यदि हानि पहुँचाई भी जाती है तो विदेशी राज्य क्षतिपूर्ति के लिए प्रार्थना नहीं कर सकता। यदि सम्बन्धित

राज्य मे विदेशी को होने वाली क्षति के विरुद्ध प्रभावशील कानूनी व्यवस्था की जाती है तो इसका पालन राज्य का कर्त्तव्य बन जाता है। दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक राज्य अपनी ओर से अपने तरीके का न्याय प्रदान करने के लिए स्वतन्त्र है। यदि स्थानीय न्यायाधिकरण अपने भ्रष्टाचार के लिए बदनाम है और विदेशियों के साथ भेदभाव करते हैं तो यह आवश्यक नहीं कि प्रभावित व्यक्ति वहाँ न्याय की माँग करे क्योकि जहाँ न्याय बिकता है वहाँ न्याय की फरियाद नहीं की जा सकती।

किसी भी विदेशी को एक राज्य के अधिकारियो, राजनीतिक नेताओं, सैनिक अधिकारियों एव असैनिक अधिकारियों आदि किसी से भी पीड़ा पहुँच सकती है और ऐसी स्थिति में वह राहत पाने का अधिकारी बन जाता है।

(3) विदेशों मे स्थित सशस्त्र सेनाओं पर क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction over Armed Forces Abroad)

एक राज्य का क्षेत्राधिकार सामान्यत. अपनी उन सेनाओं पर भी रहता है जो उसकी सीमा के बाहर स्थित हैं फिर भी यह सत्ता इतनी पूर्ण नहीं होती जितनी दिखाई देती है। सम्बन्धित राज्य की अनुमति से प्रवेश करने के बाद भी दूसरे राज्य की सेनाएँ हमेशा स्वागतकर्ता देश के क्षेत्राधिकार से अलग नहीं रहतीं। पनामा के सर्वोच्च न्यायालय के वक्तव्य के अनुसार स्थानीय क्षेत्राधिकार से छूट को समस्त सभ्य राष्ट्रों द्वारा मान्यता दी जाती है और उसे उनकी सम्प्रभुता अथवा स्वतन्त्रता का उल्लघन नहीं माना जाता। इस सम्बन्ध में मतभेदों को दूर करने के लिए स्वागत-कर्ता राज्य के साथ विशेष समझौता कर लिया जाता है। इसमें यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि सम्बन्धित राज्य कितनी छूट दे सकेगा और उन पर अपना कितना क्षेत्राधिकार बनाए रखेगा। द्वितीय विश्वयुद्ध तक इस प्रकार के समझौते सेना भेजने वाले पक्ष को पर्याप्त शक्ति देते थे। 27 मार्च, 1941 के आंग्ल-अमेरिकी समझौते की धारा–4 मे यह कहा गया था कि अमेरिकी नेताओ द्वारा ब्रिटिश द्वीप मे यदि कोई गैर-सैनिक अपराध किया जाएगा तो वह ब्रिटिश क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आएगा। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान इस सम्बन्ध मे जो सबक मिला उसके परिणाम-स्वरूप मित्रो की सशस्त्र सेनाओं की स्थिति को विस्तार के साथ नियमित किया गया। 19 जून, 1951 के सेना समझौते के स्तर (NATO) की धारा 7 मे सेना भेजने वाले और स्वागत करने वाले राज्यो का आसन्तुक सेनाओ पर समान अधिकार स्वीकार किया गया। सोवियत सघ ने भी अपने उन प्रभावित राज्यो के ऐसे ही समझौते किए जिनमे रूसी सेना की इकाइयाँ रखी गई थीं।

सयुक्तराज्य अमेरिका ने जापान और दूसरे अनेक देशों के साथ सुरक्षा सधियाँ की। इनके अनुसार अमेरिकी सशस्त्र सेनाओ की उन्मुक्तियों के लिए प्रशासनिक समझौते करने की शक्ति प्रदान की गई।

स्पष्ट है कि जब एक देश की सेनाएँ दूसरे देश मे जाती हैं तो उनको कुछ अंशों मे प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से मुक्ति मिल जाती है। इस मुक्ति का स्वरूप और मात्रा प्रत्येक देश मे भिन्न भिन्न होती है। देश के सैनिक न्यायालय और सेनापति को

सैनिकों द्वारा किए गए अपराधों पर विचार करने का अनन्य अधिकार होता है। स्थानीय न्यायालयों को इनके क्षेत्राधिकार से वंचित रखा जाता है ताकि सेनाओं का कार्य भली प्रकार चल सके। जब स्थानीय न्यायालय सैनिक मामलों में दखल देने लगते हैं तो उनके अनुशासन और नियन्त्रण को हानि पहुँचती है। संयुक्तराज्य अमेरिका के दृष्टिकोण के अनुसार दूसरे देश की सेनाओं को स्थानीय क्षेत्राधिकार से पूर्ण मुक्ति प्रदान की जानी चाहिए। ग्रेट-ब्रिटेन और ऑस्ट्रेलिया इस मत को स्वीकार नहीं करते। ऑस्ट्रेलिया के न्यायालय ने एक मामले में यह निर्णय दिया था कि विदेशी सैनिकों को स्थानीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार में लाने पर उनकी कार्यक्षमता को हानि नहीं पहुँचती।

(B) विदेशी राज्यों एवं उनके अध्यक्षों पर क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction over Foreign States and their Heads)

प्रत्येक राज्य की प्रभुसत्ता उसे दूसरे राज्यों के साथ में सम्बन्ध की पूर्ण *स्वतन्त्रता सौंपती है। इसके परिणामस्वरूप प्रत्येक सम्प्रभु राज्य दूसरे की स्वतन्त्रता* और सम्मान का आदर करता है। कोई राज्य अपने न्यायालय के माध्यम से दूसरे सम्प्रभु के व्यक्ति या राजदूत पर प्रादेशिक क्षेत्राधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता वह किसी राज्य के राजदूत अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति पर अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता। यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के साथ-साथ परम्परागत कानून का भी एक नियम है। इसका अर्थ यह है कि विदेशी सम्प्रभु, राज्य उसकी सार्वजनिक सम्पत्ति और इसके सरकारी अभिकरण स्थानीय क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त रहते हैं जब तक विदेशी राज्य इनके सम्बन्ध में स्वीकृति प्रदान न करें। यदि प्रादेशिक सम्प्रभु और विदेशी राज्य के बीच कोई प्रश्न उठता है तो यह केवल कूटनीतिक साधनों से अथवा अन्तर्राष्ट्रीय तरीके से सुलझाया जाता है। राज्य की उन्मुक्ति का सिद्धान्त पर्याप्त स्पष्ट है किन्तु इसका क्षेत्र इतना सक्षिप्त नहीं है। राज्य अथवा उसके अधिकारियों को उन्मुक्ति प्रदान करने का अर्थ यह नहीं होता कि वे सम्प्रभु राज्य के कानूनों का पालन नहीं करेंगे अथवा कानूनी रूप से उत्तरदायी नहीं होंगे। *जब एक कूटनीतिज्ञ अपना पद छोड़ देता है और उसे किसी प्रकार की उन्मुक्ति* नहीं रहती तो उसे उसके उन निजी कार्यों के लिए न्यायालय में ले जाया जा सकता है जो उसने अपने कार्यालय में किए थे तथा जिनके लिए वह कानून द्वारा उन्मुक्त नहीं किया गया था। एक दूसरी बात यह है कि उन्मुक्ति हमेशा स्वयं राज्य के लिए प्राप्त होती है न कि उन व्यक्तियों के लिए जो राज्य का कार्य सम्पन्न करते हैं।

राज्य और उसके अधिकारी जिस प्रकार उन्मुक्त रखे जाते हैं उनके सम्बन्ध में पृथक् से अध्ययन करना उपयुक्त रहेगा। किसी भी राज्य या उसके अध्यक्ष पर दूसरा राज्य उस समय तक मुकदमा नहीं चला सकता जब तक कि वे स्वयं ही इन न्यायालयों का क्षेत्राधिकार स्वीकार न कर लें। यह उन्मुक्ति जिन कारणों से प्रदान की जाती है उनसे सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख प्रो स्टार्क ने किया है। पहला सिद्धान्त यह मानता है कि प्रभुसत्ता का क्षेत्राधिकार केवल अपने वशवर्ती

अधीनस्थ व्यक्तियों पर ही हो सकता है, यह दूसरी प्रभुसत्ता पर कभी नहीं हो सकता और इसलिए उसे आवश्यक रूप से उन्मुक्त करना होगा। दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय शील अथवा सौजन्य इस बात की माँग करता है कि दूसरे राज्यों के शासनाध्यक्षों को अपने राज्य के क्षेत्राधिकार से मुक्ति प्रदान की जाए। तीसरा सिद्धान्त यह है कि यदि राष्ट्रीय न्यायालय ने विदेशी राज्य के विरुद्ध कोई निर्णय दिया है तो उसे क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा किया जाएगा तो इसे एक शत्रुतापूर्ण कार्य समझा जाएगा। चौथा सिद्धान्त यह है कि जब एक राज्य दूसरे राज्य के अध्यक्ष अथवा प्रतिनिधि को अपने यहाँ आने की स्वीकृति देता है तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह उनकी उन्मुक्तियों को स्वीकार कर रहा है।

ग्रेट-ब्रिटेन के कानून की दृष्टि से विदेशी राज्यों एवं उनके अध्यक्षों को दो प्रकार की उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं–(1) किसी विदेशी राजा पर कानूनी कार्यवाही करके कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। (2) विदेशी राजा की सम्पत्ति को कानूनी प्रक्रिया द्वारा जब्त नहीं किया जा सकता। ग्रेट-ब्रिटेन ने अपने कई मामलों में इस बात को स्पष्ट किया है। सन् 1939 में लॉर्ड सभा ने क्रिस्टीना के विवाद में इन नियमों को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया। यह एक स्पेन का जहाज था। स्पेन में गृह युद्ध के समय यह कार्डिफ के ब्रिटिश बन्दरगाह में आ गया। स्पेन की गणराज्य की सरकार की ओर से वहाँ के वाणिज्य दूतावास ने इस पर स्वामित्व पा लिया। जब जहाज के मालिकों ने इसके स्वामित्व का दावा किया तो स्पेन की सरकार की प्रार्थना पर यह दावा रद्द कर दिया गया। जब जनरल फ्रैंको की सरकार को तथ्यगत मान्यता प्रदान कर दी गई तो इस जहाज पर उसका स्वामित्व हो गया। विदेशी सरकार की सम्पत्ति होने के कारण जहाज को ब्रिटिश न्यायालय की प्रक्रिया से मुक्त समझा गया। ब्रिटेन की लॉर्ड सभा ने विभिन्न मामलों में इस बात पर जोर दिया कि सही सिद्धान्त के अनुसार उन्मुक्ति तब दी जानी चाहिए जबकि मौलिक प्रक्रियाएँ विदेशी सम्प्रभु को अलग बनाए रखती हैं। जब सम्पत्ति के सम्बन्ध में उन्मुक्ति का दावा स्पष्ट हो जाता है तो न्यायालय को उस पर विचार करने से पूर्णतः वंचित कर दिया जाता है।

विदेशी राज्य न केवल दूसरे देश के न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्त रहते हैं वरन् उन्हें कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त होते हैं। वे दूसरे राज्यों के न्यायालयों में अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए कानूनी कार्यवाही कर सकते हैं। यदि राज्य ने एक बार ऐसी प्रार्थना न्यायालय से की तो उसे निश्चित रूप से स्थानीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वीकार करना पड़ेगा और राष्ट्रीय कानूनों को मान्यता प्रदान करनी होगी। इस विशेष अधिकार का प्रयोग करते हुए विदेशी राज्य दूसरे देशों में अपने दण्ड-विधान अथवा कर-विषयक कानूनों को लागू नहीं करा सकते। ब्रिटिश न्यायालय ने एक विवाद के समय निर्णय देते हुए बताया कि ब्रिटिश अदालतें विदेशी राजाओं को लाभ पहुँचाने के लिए विदेशी राज्यों के करों की वसूली का कार्य नहीं करेंगी।

विदेशों के राजनयिक प्रतिनिधि राज्य के क्षेत्राधिकार से फौजदारी मामलों में पूर्णरूपेण और दीवानी मामलों में आंशिक रूप से उन्मुक्त रखे जाते हैं। विदेशी राज्य का अध्यक्ष, चाहे वह राजा है अथवा राष्ट्रपति, जब अन्य राज्य में होकर गुजरता है तो वह अपने राज्य की सम्प्रभुता को व्यक्ति के रूप में समाहित करके चलता है। विदेशी प्रदेश में से गुजरते समय वह दीवानी और फौजदारी दोनों ही क्षेत्राधिकारों से मुक्त रखा जाता है।

राज्य के अध्यक्षों की उन्मुक्ति सबसे पहले सन् 1884 में मानी गई। यह उन्मुक्ति स्वयं राज्य की उन्मुक्ति है। यह किसी भी राजा अथवा राष्ट्रपति के पद से जुड़ी हुई नहीं है। पद से अलग होने के बाद भूतपूर्व अध्यक्ष द्वारा व्यक्तिगत रूप में किए गए कार्यों पर साधारण व्यक्ति की तरह मुकदमा चलाया जा सकता है।

प्रारम्भ में उन्मुक्ति का कानून राज्य के अध्यक्ष के अतिरिक्त कूटनीतिज्ञों और दूतों पर भी लागू होता था। आजकल राज्यों के बीच सम्बन्धों का क्षेत्र बढ़ गया है और संचार के साधन पर्याप्त सुधर गए हैं। इसके कारण कूटनीति का रूप भी बदल गया है। आजकल विभिन्न देशों के प्रधान मन्त्री, विदेश मन्त्री, वाणिज्य मन्त्री आदि प्रत्यक्ष वार्तालाप के लिए एक-दूसरे के देशों का दौरा करते हैं। समय-समय पर दूत भी विशेष मिशन के रूप में भेजे जाते हैं। तकनीकी मिशन भेजना भी आजकल एक साधारण बात बन गई है। ये सामयिक प्रयोग और मिशन आधुनिक कूटनीति में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। ग्रेट-ब्रिटेन में विदेशी कूटनीतिज्ञों के लिए जो उन्मुक्ति प्रदान की जाती है वे आंशिक रूप से कामन लॉ पर और आंशिक रूप में सन् 1708 के कूटनीतिक विशेष अधिकार अधिनियम पर निर्भर करती हैं। कहीं-कहीं ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून की माँग से भी परे पहुँच जाती हैं। यह निश्चित करना सरल नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकताएँ क्या हैं और इसीलिए प्रायः यह अनिश्चित रहता है कि दी जाने वाली विशेष उन्मुक्ति किसी प्रकार के कानून का परिणाम है अथवा केवल सौजन्य है। ग्रेट-ब्रिटेन में सन् 1708 के बाद सन् 1950 और सन् 1952 में भी अधिनियम बनाए गए। इन कानूनों के द्वारा जो विशेष अधिकार कूटनीतिक प्रतिनिधियों को सौंपे जाते हैं वे निम्नलिखित हैं—

1 कूटनीतिक प्रतिनिधि जिस देश को भेजा गया है उस देश की फौजदारी कार्यवाही और पुलिस के क्षेत्राधिकार से वह पूरी तरह उन्मुक्त रहता है, उसे बन्दी नहीं बनाया जा सकता तथा नजरबन्द नहीं किया जा सकता। वैसे उसका यह कर्त्तव्य है कि अपने स्वागतकर्त्ता देश के फौजदारी कानून और पुलिस नियमों का आदर करें किन्तु यदि वह उन्हें तोड़ता है तो उसके विरुद्ध कार्यवाही केवल उसी का राज्य कर सकता है। इसके लिए उसके राज्य की सरकार से शिकायत की जाएगी। यदि मामला गम्भीर है तो उसे देश से निकाला जा सकता है। कुछ अपवादस्वरूप मामलों में राजनयिकों के विरुद्ध कार्यवाही भी की जा सकती है किन्तु ऐसा केवल आत्म रक्षा के लिए अथवा अधिकारों को अपराध करने से रोकने के लिए ही किया जा सकता है।

2 कूटनीतिक प्रतिनिधि साधारणतः स्वागतकर्त्ता देश की दीवानी कार्यवाही से उन्मुक्त रहता है, उसे अदालत मे गवाही देने के लिए नही बुलाया जा सकता। यह कहा जाता है कि कूटनीतिक अधिकारियो की न्यायिक प्रक्रिया से छूट केवल वहीं तक रहती है जहाँ तक कि वे सरकारी कर्त्तव्य का पालन करने के लिए आवश्यक समझते हैं किन्तु यदि कोई राजदूत व्यक्तिगत रूप से कार्य-व्यापार सम्पन्न करता है तो इस विषय म वह देश के दीवानी कानून की प्रक्रिया से मुक्त नही होगा। प्रो॰ आयर्ली के मतानुसार सामान्य रूप से व्यवहार मे यह छूट भी लागू होती है। ग्रेट-ब्रिटेन ने अपने सन् 1708 के अधिनियम मे प्रबल शब्दो मे इसका समर्थन किया। राजदूत को गिरफ्तार करने वाले, उसकी सम्पत्ति को जब्त करने वाले और इसी प्रकार के अन्य आदेशो को निरर्थक एव अमान्य ठहराया गया। इस प्रकार के आदेशो को जारी करने वाले और क्रियान्वित करने वाले राष्ट्रीय कानून का उल्लघन करने वाले माने गए। यदि कोई राजदूत अपनी इच्छा से देश के दीवानी कानून का क्षेत्राधिकार स्वीकार कर ले तो यह उस पर पूर्ण रूप से लागू होगा।

3 राजदूतो एव कूटनीतिज्ञों को कुछ अशो मे राज्य के करो से भी मुक्त किया जाता है। यह मुक्ति सम्बन्धित राज्य की कर-व्यवस्था पर निर्भर करती है। इस सम्बन्ध मे वियना अभिसमय के परिणामस्वरूप कुछ एकरूपता प्राप्त हुई है। इसके अनुच्छेद 34 मे कहा गया है कि सिद्धान्त रूप से एक कूटनीतिज्ञ सभी करो से मुक्त है, चाहे वे हर व्यक्तिगत, वास्तविक, राष्ट्रीय क्षेत्रीय अथवा नगरपालिका आदि किसी भी प्रकृति के हो। उन्मुक्त करो म अप्रत्यक्ष कर सम्मिलित होत हैं। वियना अभिसमय के अनुसार कूटनीतिज्ञ के व्यक्तिगत प्रयोग के लिए आवश्यक वस्तुओ को भी चुंगी कर से मुक्त रखा गया है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने इस उन्मुक्ति को कानून की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य का विषय माना किन्तु अब यह व्यवहार इतना सामान्य हो चुका है कि इसे कानून का भाग बना लिया जाना चाहिए। वियना सम्मेलन मे इस सुझाव का अनुगमन किया गया।

4 राजदूत का निवास स्थान अनतिक्रम्य मे होता है अर्थात् उसकी सीमा के अन्तर्गत बिना उसकी अनुमति के कोई प्रवेश नही कर सकता। उसका निवास स्थान, उसकी सम्पत्ति एव मिशन की दूसरी चीजों को तथा यातायात के साधनो को भी उन्मुक्त रखा गया है। उसके बारे मे कोई खोज बीन, अधिग्रहण अथवा क्रियान्विति नही हो सकती। उसका निवास स्थान सभी प्रकार के करो से मुक्त रहता है, केवल कुछ सेवाओ के लिए भुगतान प्राप्त किया जा सकता है। मिशन का सरकारी पत्र-व्यवहार अनुल्लघनीय होता है। कूटनीतिक थैलो को खोला नहीं जा सकता। मिशन का यह अधिकार है कि वह सकेतो तथा गूढ़ के रूप म अपना समाचार भेज सके। यहाँ एक बात यह उल्लेखनीय है कि कूटनीतिक थैले म केवल सरकारी उपयोग के कूटनीतिक कागज ही होने चाहिए। सन्देह की स्थिति मे स्वागतकर्त्ता राज्य मिशन के अध्यक्ष अथवा राज्य के अध्यक्ष तक बात को ले जा सकता है। यदि दूतावास म से किसी व्यक्ति को गिरफ्तार करना है तो इसके लिए राजदूत स प्रार्थना करना

होगी। इस प्रार्थना को स्वीकार करना अथवा न करना स्वय राजदूत का कार्य है। ध्यान रहे कि कोई राजदूत इन उन्मुक्तियों की आड मे अपने दूतावास को ऐसे व्यक्तियों की शरण का स्थान नही बना सकता जो स्थानीय न्यायिक प्रक्रिया से बच कर भागे है। यदि एक सन्दिग्ध अपराधी दूतावास में शरण लेता है तो मिशन के अध्यक्ष को या तो स्वय उसका समर्पण कर देना चाहिए अथवा स्थानीय पुलिस को उसे निवास स्थान मे बन्दी बनाने की अनुमति प्रदान कर देनी चाहिए। उन्मुक्ति केवल मिशन के उद्देश्यो के लिए प्रदान की गई है। निवास स्थान का प्रयोग मिशन के कार्य के विपरीत नही किया जा सकता।

5 जो उन्मुक्तियाँ राजनयिक प्रतिनिधियों को प्रदान की जाती हैं वे ही उसके परिवार और अनुचर वर्ग पर भी लागू होती हैं। मिशन के प्रशासनिक और तकनीकी स्टॉफ का भी ये उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। वियना कन्वेंशन के अधीन मिशन का सेवी वर्ग अपने कार्यकाल के दौरान सम्पन्न किए गए कार्यों के लिए उन्मुक्त किया जाता है। उनके वेतन पर किसी प्रकार का कर नहीं लिया जाता। निजी सेवकों को भी उनके वेतन पर कर सम्बन्धी छूट दी जाती है किन्तु इसके अतिरिक्त केवल वे ही विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ दी जाती हैं जिन्हें स्वागतकर्त्ता देश उनको प्रदान करना चाहे। इग्लैण्ड मे घरेलू नौकरो को दीवानी प्रक्रिया से सन् 1708 के अधिनियम के द्वारा उन्मुक्त किया गया है। इन्हें फौजदारी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त नही किया जाता।

इस सम्बन्ध मे व्यवहार यह है कि प्रत्येक मिशन का अध्यक्ष विदेश कार्यालय को ऐसे लोगों की सूची प्रस्तुत करता है जिनके लिए किसी प्रकार का कूटनीतिक स्तर प्रदान किया जाना है। सूची के स्वीकृत होने पर यह प्रकाशित कर दी जाती है और न्यायालयो को इसका सदर्भ दिया जाता है। सन्देह उत्पन्न होने पर विदेश मन्त्रालय की राय को अन्तिम माना जाएगा। विदेश कार्यालय की स्वीकृति ही उचित विशेषाधिकारो और उन्मुक्तियो का प्रमाण बन जाती है। व्यक्तिगत उन्मुक्तियाँ स्थानीय राष्ट्रिको को प्रदान नहीं की जाती।

किसी व्यक्ति को दी गई उन्मुक्तियाँ या विशेषाधिकार उसके कार्यकाल तक ही नहीं रहते वरन् उस समय तक रहते हैं जब तक वे अपना सामान एकत्रित करके सम्मान-सहित स्वदेश न लौट जाएँ। जिन व्यक्तियों को राजदूत पद से हटाया जाता है अथवा जिनको राजदूत ने पद से हटा दिया है उनको ये उन्मुक्तियाँ केवल कार्यकाल तक ही प्राप्त होती हैं। जब एक राजदूत अपने पद के कर्त्तव्यों से भटक जाता है और जासूसी करने लगता है तो उसके विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ समाप्त हो जाती हैं।

राजदूतो को विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ इसलिए प्रदान की जाती हैं ताकि वे अपने देश का कार्य पूरी स्वतन्त्रता से कर सकें। उनके कार्यों में हस्तक्षेप करना उचित नहीं होता। अतीतकाल में तीसरे राज्यों ने कूटनीतिज्ञों को अपने प्रदेश से निकलने में सम्बन्धित कुछ सुविधाएँ प्रदान नहीं कीं किन्तु बाद मे इसे एक सौजन्य का विषय समझा गया। जब एक देश का राजदूत दूसरे राज्य मे अपना पद ग्रहण

करने के लिए जा रहा है तो मध्यस्थित राज्यों द्वारा उसे गुजरते समय विशेषाधिकार सौंपे जाएँ, ऐसा करने के लिए वे कानूनी रूप से बाध्य नहीं होते। यह व्यवस्था है कि तीसरे राज्य भी कूटनीतिक पत्र-व्यवहार और सचार के लिए वही स्वतन्त्रता, सुरक्षा और अनुलघनीयता प्रदान करें जो कूटनीतिक मिशनों को प्रदान की जाती है। ये प्रावधान कूटनीति सम्बन्धो के कानूनों में महत्त्वपूर्ण विकास माने जा सकते हैं।

वाणिज्य दूतों को राजनयिक प्रतिनिधि नहीं समझा जाता। ये अपने राज्य अथवा प्रजा के लिए दूसरे राज्य में अनेक कर्त्तव्य सम्पन्न करते हैं। ये किसी भी राज्य के राष्ट्रिक हो सकते हैं और सामान्य रूप से उस देश के कूटनीतिक प्रतिनिधियों की सत्ता के विषय होते हैं जिसके लिए वे कार्य करते हैं। ये अपने राज्य के व्यापारिक हितों की देखभाल करते हैं तथा इसके लिए सूचना एकत्रित करते हैं। उस राज्य के राष्ट्रिकों को परामर्श देते हैं, उनकी सम्पत्ति को प्रशासित करते हैं, उनके जन्म को पजीकृत करते हैं तथा उनकी शादियों का लेखा रखते हैं। इसके अतिरिक्त वे पासपोर्ट आदि के लिए प्रमाण और गवाह का काम करते हैं। इनको जहाजरानी के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य मिले रहते हैं। वे इससे सम्बन्धित अनेक समस्याओं का समाधान करते हैं।

वाणिज्य-दूतों (Consuls) की उन्मुक्तियाँ कूटनीतिज्ञों की भाँति स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं हैं फिर भी परम्परागत कानून ने दो नियमों की स्थापना की है। प्रथम यह है कि वाणिज्य-दूत के अभिलेखों और पत्र-व्यवहार को अनुलघनीय रखा जाए और दूसरे, वाणिज्य दूतावास के अधिकारियों को उनके द्वारा अधिकारी क्षमता में किए गए कार्यों के लिए दीवानी अथवा फौजदारी प्रक्रियाओं से उन्मुक्ति प्रदान की जाए। पिछले कुछ वर्षों में अनेक द्विपक्षीय वाणिज्य दूत अभिसमयों में इनके विशेष अधिकारों एवं उन्मुक्तियों का वर्णन किया गया है। इनमें वाणिज्य दूतों के स्तर का एक सामान्य आधार प्रस्तुत किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि-आयोग ने इस सम्बन्ध में अभिसमय तैयार करते समय इनके सिद्धान्तों पर जोर दिया है तथा इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया है कि इन सिद्धान्तों को परम्परागत कानून में कितना स्वीकार किया गया है। विधि आयोग ने वाणिज्य दूतों, उनके पत्र-व्यवहारों तथा सचारों की अनुलघनीयता को स्वीकार किया और कूटनीतिक मिशनों की भाँति उन्हें भी करों से मुक्त करने का विचार प्रकट किया।

वाणिज्य-दूतों के कर्मचारियों को भी स्थानीय क्षेत्राधिकार से कुछ मुक्ति प्रदान की गई किन्तु इसकी सीमा सकुचित थी। इनके कार्यों में भी कम से कम हस्तक्षेप करने की व्यवस्था की गई। भयानक अपराधों को छोड़कर दूसरे मामलों में वाणिज्य-दूतों को बन्दी बनाने या जेल भेजने पर रोक लगाई गई। वाणिज्य दूतों को केवल उन्हीं कार्यों के सम्बन्ध में छूट दी गई जिन्हें वे अपने पद की हैसियत से सम्पन्न करते हैं। फौजदारी प्रक्रियाओं में उनको क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत रखा गया। तीसरे राज्य के दायित्व और उन्मुक्तियों की समाप्ति के सम्बन्ध में वियना अभिसमय की बातों को माना गया। विधि आयोग के प्रारूप के अभिसमय की धारा 36 में

वाणिज्य-दूत और उसके स्वय के राज्य के राष्ट्रिकों के बीच पत्र व्यवहार की गोपनीयता की गारन्टी दी गई है।

(C) पोत अथवा जहाजों पर अधिकार
(Jurisdiction over Vessels)

एक राज्य कुछ परिस्थितियों म अपने कानूनी क्षेत्राधिकार का प्रादेशिक सीमाओं के बाहर भी प्रभावशाली बना सकता है। अपने राज्य के प्रति एक नागरिक की स्वामीभक्ति व्यक्तिगत होती है और दुनिया के किसी भाग को जाया कर, यह बनी रहती है। जब वह अपने राज्य के प्रदेश में वापस आता है तो उसका राज्य उसे उन कार्यों के लिए उत्तरदायी बनाएगा जो उसने विदेश में किए थे। यदि विदेशों में एक राज्य का नागरिक अपने जहाज पर स्वदेशी झण्डा उड़ाता हुआ चलता है तो वह कानूनी रूप से उसी स्थिति में होगा जैसा कि वह अपने प्रदेश वापस आने पर होता है। इसी अर्थ में एक राष्ट्र के जहाज का उस राष्ट्र के प्रदेश का प्रसार माना जाता है।

किन परिस्थितियों में एक जहाज पर किसी राष्ट्र का झण्डा फहराया जा सकता है, इसका निर्धारण प्रत्येक राज्य स्वय करता है। एक बार जब किसी जहाज को एक राज्य मे पंजीकृत कर लिया जाता है तो उसे उस राज्य द्वारा और दूसरे राज्यों द्वारा एक कानूनी व्यक्ति मान लिया जाता है। यह मुकदमा चला सकता है तथा इसके विरुद्ध मुकदमा चलाया जा सकता है।

साधारणत किसी राज्यविहीन जहाज को दूसरे राज्य के बन्दरगाह में प्रविष्ट नहीं किया जाता। जिन राज्यों को तटवर्ती या द्वीप राज्य के रूप में स्वीकार किया जाता है वे ही जहाजों को पंजीकृत करने का अधिकार रखते हैं तथा वे ही इन जहाजों को अपना झण्डा उड़ाने की अनुमति देते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद विभिन्न शान्ति-सन्धियों में इस परम्परा को स्थापित किया गया। इसके अनुसार मित्र-राष्ट्रों एवं धुरी राष्ट्रों के झण्डे को मान्यता दी गई। इसके बाद सन् 1922 में बाइसेलोना सम्मेलन मे भाग लेने वाले राज्य जलपोतों के लिए राष्ट्रीय झण्डों को मान्यता देने के हेतु सहमत हो गए। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय प्रमुख युद्धरत शक्तियाँ दुनिया के समुद्रों पर स्विट्जरलैण्ड के झण्डे को मान्यता देने के लिए सहमत हो गई।

प्रारम्भ मे यह बात साहित्यिक अर्थ में ली जाती थी कि एक राज्य के झण्डे को फहराने वाला जहाज उसका प्रादेशिक विस्तार है। अमेरिकी और ब्रिटिश न्यायालयों ने अपने अनेक निर्णयों मे इसे स्वीकार किया। 20वीं शताब्दी में यह दृष्टिकोण अपनाया गया कि एक जहाज जिस राज्य के झण्डे से युक्त है वह महासमुद्रों में उसी का प्रतिनिधित्व करेगा अर्थात् जहाज द्वारा विदेश में किए गए सभी कार्यों पर उसी राज्य के कानून और नियम लागू होंगे। यहाँ एक बात उल्लेखनीय यह है कि कुछ मामलों में यह क्षेत्राधिकार सीमित हो जाता है। शान्तिकाल में सभी नौचालक राज्यों के सरकारी जहाजों का निरीक्षण किया जा सकता है बशर्ते कि

यह सन्देह करने का आधार हो कि वह जहाज समुद्री डकैती या दासों के व्यापार का कार्य कर रहा है। यदि राज्यों को यह सन्देह हो जाए कि विदेशी झण्डे को फहराने वाला जहाज धोखे के लिए ऐसा कर रहा है और इस जहाज का प्रयोग विद्रोहियों अथवा उपद्रवकारियों द्वारा आक्रमण के लिए किया जा सकता है। यह राज्य उस जहाज को जब्त कर सकता है। युद्ध के समय युद्धकर्ता राज्यों के युद्धपोत प्रत्यर्पण और नाकाबन्दी लागू करने का अधिकार रखते हैं।

शताब्दियों के इतिहास द्वारा दुनिया के राज्यों ने परम्पराओं के आधार पर समुद्र का एक सामान्य कानून विकसित किया है। यद्यपि आधुनिक कानून बहुत कुछ राष्ट्रीय व्यवस्थापन और अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों से ग्रहण किया गया है किन्तु फिर भी पुराने रीति-रिवाजों एवं प्रारम्भिक नौचालन संहिताओं का भी इस दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रहा है। आज की परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्य के इस अधिकार को मान्यता देता है कि वह अपनी प्रादेशिक सीमाओं के परे प्रभावशाली क्षेत्राधिकार का प्रसार करे। राज्य और उसके नागरिकों के बीच का सम्बन्ध व्यक्तिगत है, इसलिए राज्य के प्रति नागरिकों की स्वामीभक्ति हमेशा रहेगी चाहे वे दुनिया के किसी भी भाग में चले जाएँ। यह सच है कि एक राज्य अपने नागरिकों को स्वयं के कानून मानने के लिए उस समय बाध्य नहीं कर सकता जब वह दूसरे राज्य के क्षेत्राधिकार में है, किन्तु जब वह उसके क्षेत्राधिकार में लौट कर आता है तो राज्य उसे उत्तरदायी बना सकेगा। जहाज पर उड़ने वाला झण्डा उसे सम्बन्धित राज्य के फौजदारी और दीवानी कानूनों का विषय बना देता है। राज्य का प्रादेशिक क्षेत्राधिकार व्यापारी जहाजों पर क्षेत्राधिकार के माध्यम से क्रियान्वित होता है।

विदेशी व्यापारी जहाजों पर क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction over Foreign Merchant Vessels)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कोई ऐसा कानून नहीं है जो उन परिस्थितियों को नियमित कर सके जिनके अन्तर्गत जहाज एक विशेष राज्य के झण्डे को उड़ाने के लिए उत्तरदायी होते हैं और इस प्रकार राज्य के नागरिकों की प्रकृति का दिग्दर्शन कराते हैं। पंजीकरण की शर्तें प्रत्येक राज्य स्वयं निश्चित करता है और उनके सम्बन्ध में कोई एकरूपता नहीं है। कुछ राज्य उन जहाजों को पंजीकृत करने से मना कर देते हैं जिन पर राज्य के नागरिकों का पूरा स्वामित्व नहीं है। दूसरे राज्य उन जहाजों को भी पंजीकृत कर देते हैं जिन पर देश के नागरिकों का आंशिक स्वामित्व है अथवा जिन पर विदेशियों का स्वामित्व है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में यह व्यवस्था है कि कोई राज्य जहाज को अपना झण्डा प्रयुक्त करने की अनुमति तभी देता है जबकि उसके सारे कागजात सही हैं। ऐसा करके वह कानून द्वारा स्वीकृत क्षेत्राधिकार की मात्रा का प्रयोग करता है। पंजीकृत होने के बाद जहाज स्वयं एक कानूनी व्यक्ति बन जाता है। जहाज का राष्ट्रीय चरित्र यह निर्धारित करेगा कि उसकी प्रादेशिक स्थिति क्या है। जो जहाज पंजीकृत नहीं होते तथा जिनके ऊपर कोई राज्य क्षेत्राधिकार का दावा नहीं करता वे कानूनी रूप से अधिकारविहीन होते हैं।

यदि ये जहाज किसी प्रकार एक बन्दरगाह छोड़ दें तो इनको दूसरे बन्दरगाह में प्रवेश नहीं करने दिया जाएगा। सन् 1920 से पहले कोई राज्य समुद्रतट के बिना जहाजों को पंजीकृत नहीं करता था और न उन्हें समुद्री झण्डा प्रदान करता था। इसके बाद वर्साय की संधि, महासमुद्रों पर जेनेवा अभिसमय आदि ने वस्तु-स्थिति को बदल दिया। इस अभिसमय के अनुसार एक जहाज केवल एक राज्य का झण्डा रख सकता है। यदि किसी जहाज पर दो या दो से अधिक राज्यों के झण्डे हैं और वे उनका प्रयोग सुविधा के अनुसार करते हैं तो अन्य राज्यों की दृष्टि से वे अपनी राष्ट्रीयता खो देंगे।

क्षेत्राधिकार का सैद्धान्तिक आधार—18वीं शताब्दी में जहाजों पर क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त विकसित किया गया। बहुत समय तक इसे स्वीकृति प्राप्त रही और इसलिए यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सिद्धान्त समझा जाने लगा। जहाजों को राज्य के प्रदेश का तैरता हुआ भाग समझा जाने लगा, जहाजों पर घटने वाली प्रत्येक घटना राज्य की मुख्य भूमि पर घटने वाली घटना समझी जाने लगी। एक राज्य की ध्वजा को फहराने वाला जहाज उसी राज्य का तैरता हुआ टापू कहा जाने लगा। इस पर ध्वजा वाले देश का कानून लागू होता है तथा इस पर होने वाले अपराध की सुनवाई का अधिकार भी उसी देश को है। इस सिद्धान्त को अनेक आधुनिक लेखकों ने अस्वीकार किया है क्योंकि यह जहाज के दूसरे सम्बन्धों के साथ समरसता नहीं रखता। ब्रिटिश न्यायालय ने इसका विरोध करते हुए बताया कि जहाज अपनी ध्वजा वाले राज्य का अंश नहीं हो सकता यद्यपि उस पर राज्य का क्षेत्राधिकार अपने प्रदेश की भाँति होता है। प्रो ब्रायर्ली ने यह मत व्यक्त किया है कि इसे स्वीकार कर लेने पर बड़े बेहूदा परिणाम होंगे। यदि यह जहाज अपने ध्वजा वाले राज्य का प्रदेश है तो इस जहाज के चारों ओर तीन मील तक का सागर क्या प्रादेशिक समुद्र माना जाएगा? यह प्रदेश जहाज की यात्रा के साथ बदलता रहेगा। जब दो विभिन्न जहाजों की टक्कर होगी तो बड़ी कठिनाई होगी। इस प्रकार विद्वानों ने इस सिद्धान्त की आलोचना की है।

जहाज पर क्षेत्राधिकार की उपयोगिता इस तथ्य में मिलती है कि इससे पारस्परिक सुविधा रहेगी। ध्वजायुक्त जहाज पर राज्य का क्षेत्राधिकार पूर्ण होने की अपेक्षा सशर्त होता है। ऐसा होने पर ही दूसरे बन्दरगाहों में अस्थायी रूप से रहने पर एक राज्य का क्षेत्राधिकार उस पर स्वीकार किया जा सकेगा। जब युद्ध के समय जहाज का झण्डा तटस्थ है तो युद्धरत राज्य उसका निरीक्षण करने का अधिकार रखता है।

जब महासमुद्रों को छोड़कर विदेशी व्यापारी जहाज एक राज्य के प्रादेशिक जल तथा बन्दरगाह में प्रवेश करता है तो स्वाभाविक रूप से क्षेत्राधिकार का प्रश्न उपस्थित हो जाता है क्योंकि जहाज की राष्ट्रीयता कुछ और है तथा वह जिस प्रदेश में स्थित है वह कुछ और है। यह संघर्ष कुल मिलाकर रीति रिवाज और सन्धि कानूनों द्वारा समायोजित किया जाता है। एक ही साथ जहाज पर दो राज्यों का क्षेत्राधिकार लागू हो जाता है। राष्ट्रीय जल और बन्दरगाह में प्रविष्ट होने पर

विदेशी व्यापारी जहाज पर एक राज्य का जो क्षेत्राधिकार होगा उसे निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

निर्दोष गमन का अधिकार—एक विदेशी जहाज जब तटवर्ती राज्य के प्रादेशिक समुद्र में प्रवेश करता है तो उसे निर्दोष गमन का अधिकार है। इस अधिकार के अन्तर्गत जहाज को रोकना अथवा उसको बाधा पहुँचाना भी शामिल है किन्तु ये साधारण नौचालन के लिए केवल आकस्मिक होते हैं। विदेशी मत्स्य जहाज उस समय निर्दोष नहीं समझा जाता जब वह तटवर्ती राज्य के उन कानूनों और नियमों का पालन न करे जो इसे प्रादेशिक समुद्र में मछली पकड़ने से रोकने के लिए प्रसारित किए गए हैं। यदि तटवर्ती राज्य की राष्ट्रीय सुरक्षा इस बात की माँग करे तो वह विदेशी जहाजों को अपने प्रादेशिक समुद्र के किसी विशेष क्षेत्र में निर्दोष गमन के अधिकार को अस्थायी रूप से रोक सकता है। ऐसा करते समय वह विभिन्न राष्ट्रों के जहाज के साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा।

कोई भी तटवर्ती राज्य किसी विदेशी जहाज के निर्दोष गमन को उन मार्गों मे नही रोक सकता जिनका प्रयोग महासमुद्रों के एक भाग से दूसरे भाग तक अन्तर्राष्ट्रीय नौचालन के लिए किया जाता है। विदेशी जहाज यद्यपि निर्दोष-गमन का अधिकार रखते हैं किन्तु तटवर्ती राज्य के कानूनों और नियमों को मानना उनका कर्त्तव्य है। प्रादेशिक समुद्र मे होकर विदेशी जहाज का गुजरना यदि तटवर्ती राज्य की शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरनाक है तो उसे निर्दोष नहीं समझा जा सकता अर्थात् व्यवहार में जहाज को उन प्रतिबन्धों एवं रोकों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए जो तटवर्ती राज्य द्वारा चुंगी, आयात-निर्यात एवं जन स्वास्थ्य की दृष्टि से लगाई गई हैं। यदि विदेशी जहाज स्पष्ट रूप से तटवर्ती राज्य द्वारा लगाए गए आयात और निर्यात सम्बन्धी नियन्त्रणों और चुंगी सम्बन्धी नियमों को तोड़ने के लिए प्रादेशिक समुद्र का प्रयोग करता है तो वह निर्दोष गमन के अधिकार का दावा नहीं कर सकता।

फौजदारी क्षेत्राधिकार—जब एक विदेशी जहाज तटवर्ती राज्य के प्रदेश मे होकर गुजरता है तो उसका आन्तरिक अनुशासन ध्वजा वाले राज्य के नियमों और कानूनों के अनुसार किया जाता है। यदि जहाज का कैप्टन तटवर्ती राज्य के अधिकारियों से सहायता की माँग करे तो तटवर्ती राज्य को आंशिक हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त होगा। यदि एक जहाज तटवर्ती राज्य के प्रादेशिक समुद्र में प्रवेश करने से पहले कोई अपराध कर चुका है तो उस जहाज के किसी भी व्यक्ति को बन्दी बनाने या उस अपराध के सम्बन्ध मे जाँच करने का अधिकार तटवर्ती राज्य को मिल जाता है। जब एक विदेशी जहाज प्रादेशिक समुद्र मे होकर गुजर रहा है तो तटवर्ती राज्य का फौजदारी क्षेत्राधिकार उस जहाज पर लागू नहीं होगा। यह केवल उसी स्थिति मे लागू हो सकता है जब जहाज के अपराध का प्रभाव तटवर्ती राज्य पर पड़ता हो अथवा यह उस देश की शान्ति को भंग करता हो या प्रादेशिक समुद्र की सुव्यवस्था को भंग करता हो अथवा यह नशीली वस्तुओं के अवैध व्यापार को रोकने के लिए आवश्यक है।

जेनेवा अभिसमय (1958) की धारा-19 के अनुसार तटवर्ती राज्य का यह अधिकार प्रभावित नहीं होता, कि जब एक विदेशी जहाज आन्तरिक जल का छोड़ कर इसके प्रादेशिक समुद्र मे होकर गुजरे तो यह उसे बन्दी बना सके अथवा उसकी जाँच कर सके। इस सम्बन्ध मे भेद भाव इसलिए किया जाता है क्योंकि जब एक जहाज समुद्र में से निर्दोष गमन करता है तो यह तटवर्ती राज्य के हितों को इतना प्रभावित नहीं करता जितना प्रादेशिक समुद्र मे रुका हुआ जहाज अथवा किसी बन्दरगाह से रुक कर वहाँ आने वाला जहाज करता है।

जेनेवा अभिसमय के अनुसार विदेशी जहाज को प्रादेशिक समुद्र मे होकर गुजरने से नहीं रोकना चाहिए किन्तु यदि तटवर्ती राज्य के जल मे कोई घटना घटित होती है तो विदेशी जहाज को बन्दी भी बनाया जा सकता है।

बन्दरगाह में जहाज—जब एक विदेशी व्यापारी जहाज किसी तटवर्ती राज्य के बन्दरगाह मे प्रविष्ट होता है तो एक कानूनी विवाद उत्पन्न हो जाता है। आंग्ल-अमेरिकी दृष्टिकोण यह है कि प्रादेशिक समुद्र मे विदेशी व्यापारी जहाजो पर तटवर्ती राज्य को नियंत्रण पूर्ण होता है। केवल सद्भावना और परम्परा ही उसे आन्तरिक अनुशासन की स्वतन्त्रता सौंपती है। फ्रांस तथा अन्य योरोपीय देश लम्बे समय से यह दावा करते रहे हैं कि विदेशी जहाज पर ध्वजा वाले राज्य का पूर्ण क्षेत्राधिकार रहता है।

संयुक्तराज्य अमेरिका के संविधान का 18वाँ संशोधन और उससे सम्बन्धित नियम विदेशी जहाजो और स्थानीय सत्ताओं के मध्यस्थित सम्बन्धों के बारे मे कई समस्याएँ उठाते हैं। जब शराबबन्दी से सम्बन्धित संशोधन विदेशी जहाजो के सम्बन्ध मे लागू किया जाता है तो उलझन पैदा हो जाती है। अनेक विदेशी जहाज केवल इसीलिए विदेशों को गमन करते हैं क्योंकि वहाँ के उपभोक्ताओं को वे नशीली चीजें देना चाहते हैं। संयुक्तराज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने एक विवाद मे यह निर्णय दिया कि कानून को क्रियान्वित करने वाले अधिकारी विदेशी जहाजों की नशीली वस्तुओं की पूर्ति को रोक सकते हैं। इस मान्यता के अन्तर्गत किसी भी राज्य का क्षेत्राधिकार उसके प्रवेश मे पूर्ण होता है और यदि कोई उन्मुक्ति देनी है तो वह उसे राज्य द्वारा ही दी जा सकेगी।

बन्दरगाह में विदेशी व्यापारी जहाज के विरुद्ध एक राज्य का नागरिक दीवानी मुकदमा चला सकता है। जैसे वे राज्य का कानून तोड़ने पर दीवानी प्रक्रिया के विषय होते हैं उसी प्रकार फौजदारी प्रक्रिया के भी विषय बन जाते हैं।

दुरभि सन्धि (Coollusion) की स्थिति में क्षेत्राधिकार—विभिन्न ध्वजाओं को फहराने वाले जहाजों के बीच दुरभि सन्धि होने की स्थिति मे क्षेत्राधिकार का संकट उत्पन्न हो जाता है। यदि यह दुरभि सन्धि महासमुद्रों में हो जाए तो ऐसी स्थिति में अनेक समुद्री देश अपने न्यायालयों को पीड़ित राज्य द्वारा दोषारोपण करने के लिए अनुमति दे देंगे चाहे उनकी राष्ट्रीयता कुछ भी हो। सन् 1952 मे दो अभिसमयों पर ब्रूसेल्स में सन्धि हुई। इनके द्वारा स्थिति को स्पष्ट किया गया।

शरणागति प्रदान करना—यहाँ एक बात उल्लेखनीय यह है कि व्यापारी जहाजो को शरणागति का स्थल नहीं बनाया जा सकता। इनमे फौजदारी न्याय से भागे हुए या राजनीतिक शरणार्थियो को स्थान नही दिया जाएगा। स्थानीय अधिकारियों को यह कानूनी अधिकार है कि वे इन जहाजों से शरणार्थियो अथवा सजा प्राप्त लोगो को हटा सकें। यदि व्यापारी जहाजो पर शरण न देने के नियम का उल्लघन किया गया तो स्थानीय राज्य ऐसे जहाज के कमाण्डर पर मुकदमा चला सकता है।

स्पष्ट है कि जब एक व्यापारी जहाज महासमुद्रो को छोडकर विदेशी बन्दरगाहों मे प्रविष्ट होता है तो उसके राज्य का क्षेत्राधिकार विदेशी राज्य के क्षेत्राधिकार के साथ सघर्ष मे आ जाता है। यह सघर्ष रीति-रिवाज और सधियो के प्रचलन द्वारा समायोजित किया गया है। एक विवाद मे न्यायालय ने कहा कि—"यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक भाग है कि जब एक देश के व्यापारकि जहाज व्यापार के लिए दूसरे देश के बन्दरगाह मे प्रविष्ट हो तो उन पर उसी राज्य का कानून लागू हो जिसमे ये प्रविष्ट हुए हैं बशर्ते सधि द्वारा या दोनों देशों ने कोई समझौता नही किया है।" जहाजों के आन्तरिक अनुशासन और बन्दरगाहो की शान्ति को खतरा पैदा करने वाले मामलो के बीच बहुत कम अन्तर किया जा सकता है। कुछ राज्य जहाज के आन्तरिक अनुशासन को व्यापक रूप में परिभाषित करते हैं।

विदेशी सरकारी जहाजो पर क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction over Foreign Public Vessels)

तटवर्ती राज्यों के बन्दरगाहो और जल मे विदेशी सरकारी जहाजों की स्थिति अनेक दृष्टियो से भिन्न होती है। इसका मूल कारण सम्भवतः यह है कि एक राज्य और उसके सरकारी जहाजों के बीच घनिष्ठ और निकट का सम्बन्ध होता है। कुछ सरकारी जहाज जो युद्धपोत होते हैं अथवा समुद्री सहायक सेवा सम्पन्न करते हैं, उनको तुरन्त पहचाना जा सकता है। अतिरिक्त प्रादेशिकता की कल्पना उनकी वास्तविक स्थिति मे साकार होती हुई दिखाई देती है। प्रायः सभी व्यावहारिक दृष्टियों से महासमुद्रो मे और विदेशी बन्दरगाहों मे ये जहाज अपने राज्य के प्रदेश का तैरता हुआ भाग होते हैं। उनको तटस्थ राज्यों के जहाजों की भांति देखा या रोका नहीं जा सकता। योद्धा राज्यो के युद्धपोत नाकाबन्दी या प्रत्यर्पण के कानून भी लागू करने के लिए उन पर रोक नहीं लगा सकते। विदेशी प्रादेशिक जल में वे स्थानीय क्षेत्राधिकार से पूर्णत मुक्त होते हैं। वे न केवल अपने आन्तरिक अनुशासन मे वरन् बन्दरगाह पर जहाज के लोगों द्वारा किए गए अपराधों के लिए भी स्थानीय क्षेत्राधिकार से पूर्णतः मुक्त रहते हैं। अपनी प्रादेशिक प्रकृति के कारण विदेशी बन्दरगाहों मे सरकारी जहाजों ने राजनीतिक शरणार्थियों को समय-समय पर शरण दी है। राज्यो को अधिकार है कि वे विदेशी युद्धपोतों को प्रविष्ट होने से रोक सकें किन्तु एक बार उन्हें प्रवेश देने के बाद उनके दुर्व्यवहार के विरुद्ध भी केवल कूटनीतिक उपाय ही अपनाए जा सकेंगे, कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती।

सार्वजनिक युद्ध-पोतों के विपरीत राज्य के लिए विभिन्न प्रशासनिक सेवाएँ सम्पन्न करने वाले सरकारी जहाज भी होते हैं। इनके द्वारा कुछ तो परम्परागत सरकारी सेवाएँ की जाती है, जैसे डाक सेवा। अन्य साधारण व्यावहारिक प्रक्रियाएँ होती हैं जो सरकार द्वारा केवल आधुनिक युग मे सम्पन्न की जाने लगी हैं। दूसरे राज्यों के प्रादेशिक क्षेत्राधिकार मे आने पर सरकारी जहाज अपने स्तर के सम्बन्ध मे विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न करते हैं। इनका अध्ययन हम निम्न शीर्षकों मे करेंगे —

1 निर्दोष गमन का अधिकार—प्रादेशिक जल मे होकर निर्दोष गमन का अधिकार सरकारी और गैर-सरकारी जहाजों को प्रदान किया जाता है। अनेक राज्यों ने प्रादेशिक समुद्र पर 1958 के जेनेवा अभिसमय में कुछ सुरक्षाएँ रख ली हैं, उदाहरण के लिए, सोवियत संघ, बल्गारिया, हंगरी, रूमानिया आदि राज्यों में विदेशी युद्धपोतों को प्रादेशिक समुद्र में होकर गुजरने से पूर्व अनुमति लेनी होती है। कोलम्बिया गणराज्य मे भी एक संविधानिक प्रावधान के कारण ऐसी व्यवस्था की गई है। दूसरे देशों मे इस प्रकार की पूर्व-स्वीकृति आवश्यक नहीं होती। उनके प्रादेशिक जल मे गुजरने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त है कि युद्ध पोत अपना झण्डा दिखाए और सतह पर आगे बढ़ जाए।

इन उपर्युक्त और बुद्धिपूर्ण सीमाओं के अतिरिक्त विदेशी सरकारी जहाज ध्वजा वाले प्रदेश का तैरता हुआ भाग माना जाता है और तटवर्ती राज्य के समस्त क्षेत्राधिकार से पूर्णतः मुक्त होता है।

2 दीवानी मुकदमों से सरकारी जहाजों को छूट—ब्रिटिश और अमेरिकी न्यायालयों ने अपने विभिन्न विवादों मे इस प्रश्न पर विचार किया है कि क्या सरकारी युद्ध-पोत विदेशी बन्दरगाहों में दीवानी मुकदमों के विषय होते हैं। जहाँ तक युद्ध-पोत और जल-सेना के सहायक जहाजों का सम्बन्ध है, वे विदेशी बन्दरगाह मे दीवानी मुकदमों से मुक्त रहते हैं। अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने सन् 1812 मे Schooner Exchange Vs. M. C. Faddon विवाद में जो निर्णय दिया वह आज भी मान्य है।

सरकारी जहाजों को दी गई यह छूट अनेक उलझनों का आधार बनी। सन् 1914 में युद्ध छिड़ने के परिणामस्वरूप विभिन्न राज्यों ने गैर-सरकारी जहाजों को नौ-सेना के सहायकों के रूप में सरकारी सेवा मे ले लिया। इसके परिणामस्वरूप दूसरे राज्य भी व्यापारी जहाजों के स्वामित्व और संचालन को अपने हाथ में लेने के लिए प्रेरित हुए। एक विवाद में ब्रिटिश न्यायालय ने बताया कि राष्ट्रीयकरण के फैशन की हवा चल रही है और राज्य सरकारी जहाजों द्वारा व्यापार करने लगे हैं। यदि इन राष्ट्रीय जहाजों को बिना किसी दायित्व के घूमने दिया जाए तो अनेक व्यापारिक कार्य कठिन बन जाएँगे। अमेरिकी न्यायालयों ने अनेक अवसरों पर विदेशी सरकारी जहाजों को मुकदमों से मुक्त किया। यद्यपि उनका प्रयोग केवल व्यापारिक उद्देश्य के लिए किया जा रहा था। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने Berizze Brothers Co. Vs. Steamship Pesaro के मामले में अपना यही निर्णय दिया।

पेसारो जहाज इटली की सरकार के स्वामित्व एवं संचालन के अधीन था किन्तु इसके द्वारा केवल साधारण व्यापार कार्य सम्पन्न किए जाते थे। न्यायालय ने इस मामले पर *विचार करने से मना कर दिया। न्यायालय के कथनानुसार—'उन सभी जहाजों पर, जो सरकार द्वारा सामाजिक उद्देश्य के लिए रखे और प्रयुक्त किए जाते हैं,* ये सिद्धान्त लागू होंगे। जब एक सरकार अपनी जनता के व्यापार अथवा अपने कोष के राजस्व को बढ़ाने के लिए किसी जहाज का स्वामित्व और संचालन व्यापार के लिए करती है तो वह युद्ध-पोत की भाँति सरकारी बन जाता है। कोई विदित अन्तर्राष्ट्रीय परम्परा ऐसी नहीं है जो शान्तिकाल में जनता के आर्थिक कल्याण को बनाए रखने और बढ़ाने के कार्य को नौ-सेना के प्रशिक्षण और बनाए रखने के कार्य से कम सार्वजनिक मानती हो।" इस प्रकार अमेरिकी न्यायालय ने राज्य के व्यापारिक जहाज को जंगी जहाजों की भाँति विदेशी राज्यों के न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्त माना।

पार्लमेन्ट बेल्जे (Parlement Belge) के मामले में भी यही बात स्पष्ट हुई। यह एक सरकारी जहाज था जो बेल्जियम की डाक ले जाया करता था। यह डोवर के बन्दरगाह में एक अंग्रेजी जहाज से टकरा गया। सन् 1870 में ब्रिटिश जहाज के मालिकों ने इस टक्कर से होने वाली क्षतिपूर्ति के लिए ब्रिटिश न्यायालय में दावा किया। ब्रिटिश न्यायालय ने इस सरकारी जहाज को राजा की सम्पत्ति माना और इसलिए इसे अपने क्षेत्राधिकार से मुक्त रखा।

स्पष्ट है कि विदेशी सार्वजनिक जहाज, चाहे वह व्यापारिक है अथवा सैनिक, अन्य राज्य के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त रहता है। यहाँ तक कि विदेशी बन्दरगाह में प्रविष्ट होने पर वह अन्य जहाज से टकरा भी जाए तो इससे क्षतिपूर्ति की माँग नहीं की जा सकती। इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना गलत होगा कि सरकारी जहाज मनमाना व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र है। उसे स्थानीय राज्य के स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का पालन करना पड़ता है। वह राज्य के अपराधियों एवं तटकर कानून तोड़ने वालों को कोई सहायता प्रदान नहीं कर सकता। यह सच है कि सरकारी जहाज के कर्मचारी यदि तट पर जाकर वहाँ के राष्ट्रीय कानून को तोड़ते हैं तो स्थानीय सरकार उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सकती, तो भी इसका अर्थ यह नहीं होता कि अपराधी अपने अपराध के कानूनी परिणामों से बच जाएगा। बन्दरगाह के अधिकारी, ऐसे अपराधी को पकड़ कर जहाज के अधिकारियों को सौंप देते हैं और ध्वजा वाले राज्य के कानून के अनुसार उस पर कार्यवाही की जाती है। सरकारी जहाजों पर अपराधी को शरण देने के सम्बन्ध में विचारकों के दो मत हैं। एक ओर फेनविक जैसे लेखक हैं जो तटवर्ती राज्य को ऐसे शरणार्थी के समर्पण की माँग करने में भी अक्षम पाते हैं और दूसरी ओर ब्रायर्ली आदि अन्य लेखकों का विचार है कि ये अपराधी स्थानीय पुलिस को सौंप दिए जाने चाहिए। शरणदान केवल *मानवीय* कारणों के आधार पर ही दिया जा सकता है।

विदेशी सरकार के जहाज को न्यायिक कार्यवाही से केवल तभी मुक्ति प्रदान

की जा सकती है जब उस पर विदेशी सरकार का स्वामित्व है तथा वह उसी की सेवा के अन्तर्गत है। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय Republic of Maxico Vs. Hoffman के मामले में एक मैक्सीकन पोत को यह उन्मुक्ति प्रदान करने से मना कर दिया क्योंकि यह जहाज पाँच वर्षों के ठेके के अधीन एक गैर-सरकारी मैक्सीकन कम्पनी द्वारा भाड़े पर चलाया जा रहा था।

3 अधिगृहित (Requisitioned) सरकारी जहाज—एक सरकार द्वारा गृह-युद्ध के दौरान विद्रोही अथवा कानूनी सरकार के जहाजों को अधिगृहित कर लिया जाता है। उनकी उन्मुक्ति का प्रश्न भी पर्याप्त महत्त्व रखता है। स्पेन के गृह-युद्ध के समय यह प्रश्न सामने आया। संयुक्तराज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने 'Navemar' के प्रसिद्ध मामले में स्पेनिश सरकार द्वारा व्यापारिक उद्देश्यों के लिए अधिगृहित जहाजों की उन्मुक्तियों का समर्थन किया। इस संघर्ष से सम्बन्धित सभी प्रमुख मामलों में सम्बन्धित न्यायालयों ने अधिगृहित जहाज की उन्मुक्ति के पक्ष में अपना निर्णय दिया। आजकल व्यापारिक कार्यों में लगे हुए सरकारी जहाजों के प्रति दृष्टिकोण बदल गया है और इसलिए यह संदिग्ध है कि आज भी न्यायालयों का यही मत रहेगा।

4 अमान्य विदेशी सरकारों का स्तर—जब एक सरकार को दूसरे राज्यों द्वारा मान्यता प्रदान नहीं की जाती तो साधारणतः उसके जहाजों को विदेशी बन्दरगाहों पर ये उन्मुक्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं। सन् 1961 में जब अमेरिकी सरकार ने क्यूबा सरकार से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिए तो यह तथ्य सामने आया। अमेरिकी जिला न्यायालय ने अपने एक ज्ञापन में स्पष्ट किया कि क्यूबा की सरकार को सम्प्रभु सरकार की उन्मुक्तियाँ प्रदान नहीं की जा सकतीं। बाद में राजनीतिक कारणों से क्यूबा को ये उन्मुक्तियाँ दे दी गईं। अमेरिकी विदेश मन्त्री के कथनानुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में होने वाली भावी गड़बड़ियों को रोकने के लिए ऐसा किया गया।

सन् 1940 में सोवियत संघ ने ईस्टोनिया, लेटविया तथा लिथुआनिया के बाल्टिक गणराज्यों को अपने संघ में मिला लिया। विभिन्न राज्यों ने सोवियत सरकार के इस कार्य को वैध नहीं माना। अमेरिका, फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन तथा दूसरी कई सरकारों ने सम्प्रभुता के इस परिवर्तन को स्वीकार नहीं किया। सोवियत संघ के इस विलय के समय गैर-सरकारी स्वामियों के अनेक जहाज महासमुद्रों पर चल रहे थे। इनमें से कुछ जहाजों ने आयरलैण्ड के बन्दरगाह में प्रवेश किया तो वे एकदम न्यायिक कार्यवाही के विषय बन गए। सोवियत संघ ने कहा कि ये जहाज सरकारी सम्पत्ति हैं और इसलिए बिना उनके सम्प्रभु स्वामी की स्वीकृति लिए हुए ये आयर न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त हैं।

जहाजों का प्रयोग चाहे किसी भी उद्देश्य के लिए किया जाए तथा वे सम्प्रभु के कब्जे में हों अथवा न हों, इनको उन्मुक्ति प्राप्त रहेगी। इन जहाजों से सम्बन्धित विभिन्न देशों के निर्णयों ने इस सिद्धान्त की स्थापना में मदद की कि एक उत्तराधिकारी राज्य या सरकार को मान्यता न मिलने पर उस देश के जहाज उन्मुक्ति का

दावा नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त जो जहाज स्पष्टतः सरकारी कार्यों म नहीं लगे हुए हैं उनके सम्बन्ध मे उन्मुक्ति का दावा केवल तभी किया जा सकता है जबकि इन पर या तो सरकार का अधिकार है अथवा ये भौतिक रूप से सरकार के कब्जे में हैं।

जब दो राज्यों के कूटनीतिक सम्बन्ध टूट जाते हैं तो उन्मुक्तियों का प्रश्न समस्या बन जाता है। अमेरिकी न्यायालय के हाल ही के निर्णय के अनुसार ज्योंही कूटनीतिक सम्बन्ध टूटते हैं त्योंही दी जाने वाली उन्मुक्तियाँ भी स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं।

(D) महासमुद्रों पर क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction over High Seas)

सामान्य परिचय—कुछ राज्यों के प्रादेशिक समुद्रों के बाहर महासमुद्र स्थित रहते हैं। इनकी सीमा प्रादेशिक समुद्र की अपेक्षा अधिक व्यापक होती है। ये जल भण्डार कुछ महासागर तथा उनकी भुजाओं से युक्त होते हैं। उदाहरण के लिए, भू-मध्य सागर, उत्तरी सागर, बाल्टिक सागर, कैरीबियन सागर, काला सागर, बिस्के की खाड़ी, बंगाल की खाड़ी तथा सम्बद्ध सागर, जैसे लाल सागर, मार्मोरा सागर आदि ये सभी दुनिया के सभी राज्यों के नौचालन के लिए खुले रहते हैं। इन्हें मछली पकड़ने, पनडुब्बियाँ छोड़ने एवं संचार साधनों को प्रयुक्त करने के काम मे लिया जाता है। महासमुद्रों मे कोई विशेष राज्य अपने क्षेत्राधिकार का दावा नहीं कर सकता। इनमे जहाज पर केवल उस राज्य का क्षेत्राधिकार रहता है जिसकी ध्वजा उस पर फहरा रही है। इस प्रकार जहाजों पर नियन्त्रण का आधार प्रादेशिक की अपेक्षा व्यक्तिगत होता है।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक समय तक महासमुद्रों के प्रयोग में सभी राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त पूर्णतः नहीं अपनाया जाता था। परवर्ती मध्ययुग में व्यापार का विकास होने पर समुद्री राज्य अपने प्रदेश से मिले हुए मुक्त सागर पर अधिकार का दावा करने लगे। एड्रियाटिक सागर पर वेनिस ने, लिगुरियन सागर पर जेनेवा ने और बाल्टिक सागर पर स्वीडन और डेनमार्क ने अपना दावा किया। इसी प्रकार दूसरे राज्य भी महासमुद्रों पर अपना अधिकार जताने लगे। कई बार इन दावों के बीच संघर्ष भी उत्पन्न हो जाता था। प्रत्येक राज्य अपने दावे की परिभाषा स्वयं करता था और अपनी शक्ति के आधार पर उसे स्वीकार करा लेता था।

राज्यों के विरोधी दावों के परिणामस्वरूप तदनुसार विरोधी सिद्धान्तों का विकास हुआ। ग्रोशियस ने सर्वप्रथम महासमुद्रों की स्वतन्त्रता का जोरदार समर्थन किया। सन् 1609 मे प्रकाशित रचना मे उसने हिन्द-महासागर मे डचों के नौचालन के अधिकार का समर्थन किया। प्रादेशिक दावों के समर्थकों ने ग्रोशियस के विचारों की आलोचना की। बिन्करशॉक ने बताया कि तोप के गोले की मार जहाँ तक जाती है वहाँ तक समुद्र पर एक राज्य का अधिकार रहेगा। उसके बाद वह सभी के प्रयोग के लिए खुला रहेगा। वेटेल ने ग्रोशियस के विचारों का समर्थन किया।

सिद्धान्त में परिवर्तन के साथ-साथ व्यवहार में भी परिवर्तन आए। 17वीं

शताब्दी तक स्वतन्त्र नौचालन का अधिकार सामान्यतः स्वीकार किया जाने लगा। लगभग एक शताब्दी तक यह परम्परा रही कि जब जहाज पानी में उतरता था तो वह ब्रिटिश झण्डे को सलाम करता था क्योंकि समुद्र पर ब्रिटिश सरकार का अधिकार माना जाता था। सन् 1805 में इस परम्परा का प्रतिरोध हुआ मछली मारने के अधिकार बाद मे प्रदान किए गए। महासमुद्रों पर जेनेवा अभिसमय 29 अप्रेल, 1958 को स्वीकार किया गया। इसमे महासमुद्रों को परिभाषित करते हुए समुद्र के उन सभी भागों को इसमे शामिल किया गया जो प्रादेशिक समुद्र में अथवा एक राज्य के आन्तरिक जल में शामिल नहीं होते हैं। महासमुद्रों को सभी राष्ट्रों के लिए खुला हुआ माना गया। इन पर कोई भी राज्य सम्प्रभुता का दावा नहीं कर सकता। इस अभिसमय की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसमें गैर-तटवर्ती राज्यों को भी महासमुद्र में स्वतन्त्रता दी गई। इसके लिए जो राज्य किसी द्वीप राज्य और समुद्र के बीच मे पड़ता था उसे द्वीप राज्य के लिए, अपने प्रदेश में से निकलने की स्वतन्त्रता देने को कहा गया ताकि समुद्र तक पहुँचा जा सके। द्वीप राज्य भी अपने झण्डे के नीचे जहाजों को खेने का वही अधिकार रखता है जो तटवर्ती राज्यों को प्राप्त होता है।

समुद्र के कानून नौचालन की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में व्यवस्था करते हैं। महासमुद्रों में जहाजों को उनके ध्वजा वाले राज्य के नियन्त्रण में रखकर व्यवस्था की स्थापना की जाती है। प्रत्येक राज्य स्वयं उन शर्तों को तय करता है जिनके अन्तर्गत किसी व्यापारी जहाज को पंजीकृत किया जाता है। जब एक बार जहाज किसी विशेष राज्य की ध्वजा को उड़ाने का अधिकार प्राप्त कर लेता है तो उसे महासमुद्र मे पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है और कोई दूसरा राज्य उसकी इस स्वतन्त्रता मे बाधा नहीं डाल सकता। महासमुद्रों मे व्यवस्था की स्थापना के लिए सामान्य नियमन किया जाता है ताकि दुरभि सन्धियों को रोका जा सके। व्यापारी जहाज इस नियमन का विषय होता है।

महासमुद्रों के सम्बन्ध में किया जाने वाला नियमन दुरभि सन्धियों पर रोक लगाता है, जल को दूषित करने के विरुद्ध नियन्त्रण रखता है, मछली मारने के सम्बन्ध में व्यवस्था करता है और इसी प्रकार के अन्य निर्णय लेता है। इस प्रकार महासमुद्रों पर विभिन्न राज्यों का क्षेत्राधिकार समवर्ती होता है।

महासमुद्रों के अभिसमयों में स्वतन्त्रता का सम्बन्ध चार बातों से था—(1) नौचालन की स्वतन्त्रता, (2) मछली पकड़ने की स्वतन्त्रता, (3) पनडुब्बियों की केबिल और पाइप लाइन बिछाने की स्वतन्त्रता, (4) महासमुद्रों के ऊपर उड़ने की स्वतन्त्रताओं। इन स्वतन्त्रताओं के अतिरिक्त अन्य वे बातें जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामान्य सिद्धान्तों द्वारा स्वीकार की गई, उनका प्रयोग दूसरे राज्यों के हितों का ध्यान रखकर किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, अभिसमय कथनानुसार दूसरे राज्यों के हितों के स्वार्थ के कारण अवहेलना करना अधिकारों का दुरुपयोग माना गया। भूमि-प्रदेश से घिरे हुए राज्यों को भी समुद्रों मे पहुँच की स्वतन्त्रता दी गयी। मध्य-स्थित राज्यों का यह कर्त्तव्य बताया गया कि वे परस्पर यह समझौता करें कि समुद्र तक पहुँचने के लिए वे अपने प्रदेश में से गुजरने की स्वतन्त्रता एक दूसरे को दे सकेंगे।

जेनेवा ग्रभिसमय ने इस बात पर जोर दिया कि सन्धियों एवं अभिसमयों द्वारा अपवाद समझे गए मामलों को छोड़कर महासमुद्र के सभी जहाजों पर केवल एक राज्य का पूर्ण क्षेत्राधिकार रहेगा। इस प्रकार इसने लोटस विवाद में सम्बन्धित स्थाई न्यायालय के निर्णय को अस्वीकार कर दिया तथा स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया कि महासमुद्रों पर होने वाली किसी घटना के सम्बन्ध में या तो ध्वजा वाले अथवा दूसरे पक्ष के राज्य में ही कार्यवाही की जा सकती है। इसके अतिरिक्त और कहीं भी कार्यवाही नहीं हो सकती।

अभिसमय में ध्वजा वाले राज्य के पूर्ण क्षेत्राधिकार का अपवाद जिन क्षेत्रों में माना गया, वे थे—समुद्री डकैती, दास व्यापार और तीव्र अनुसरण। उपयुक्त पृष्ठभूमि के बाद हम महासमुद्रों में क्षेत्राधिकार का निम्न शीर्षकों में अध्ययन करेंगे—

महासमुद्र का अर्थ—महासमुद्र अथवा खुला हुआ समुद्र उन भागों को कहते हैं जो प्रादेशिक तथा आन्तरिक समुद्र नहीं होते। मोटे तौर पर तीन मील की चौड़ाई वाले प्रादेशिक समुद्र से आगे की विस्तीर्ण जलराशि को महासमुद्र माना जाता है। ये प्रदेश किसी राज्य विशेष की प्रभुसत्ता में नहीं रहते वरन् सभी राज्यों के उपयोग के लिए खुले रहते हैं।

सिद्धान्त का विकास—आजकल महासमुद्र पर किसी देश का स्वामित्व अथवा प्रभुसत्ता नहीं मानी जाती। यह सिद्धान्त धीरे-धीरे विकसित हुआ है। प्रारम्भ में विभिन्न देश महासमुद्रों पर अपनी प्रभुसत्ता का दावा करते थे। ये पुलिस की तरह समुद्री डाकुओं का निराकरण करते थे और इस सेवा के बदले समुद्र की सम्पत्ति पर स्वामित्व का दावा करते थे। कभी-कभी शत्रु-देश के लिए इन समुद्रों को बन्द भी कर दिया जाता था। 16वीं शताब्दी में पुर्तगाल और स्पेन ने इस अधिकार का दुरुपयोग किया, इसलिए दूसरे देशों ने इसकी प्रतिक्रिया की, फलतः महासमुद्रों की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त सामने आया। ग्रोशियस ने महासमुद्रों पर किसी राज्य की प्रभुसत्ता का विरोध दो तर्कों के आधार पर किया—

1. कोई भी राज्य प्रभावशाली रूप से इस पर अपना स्वामित्व नहीं बनाए रख सकता।

2. महासमुद्र प्रकृति की ऐसी देन है जो कभी समाप्त न होने वाली है और सभी लोगों के उपभोग में आने वाली है और इसलिए मुक्त वायु की भाँति प्रकृति इस पर किसी को नियन्त्रण नहीं दे सकती। ग्रोशियस के मतों को प्रारम्भ में विरोध का सामना करना पड़ा किन्तु बाद में स्पष्ट हो गया कि यह सिद्धान्त राज्यों के हित में है। महासमुद्रों पर प्रभुसत्ता की स्थापना के लिए *शक्तिशाली नौसेना* की आवश्यकता होती है, इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों के बीच विरोधी दावों के कारण युद्ध छिड़ने का भय भी बढ़ जाता है। समुद्रों की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त सभी राष्ट्रों के बीच सम्पर्क की स्वाधीनता बनाए रखने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रखता है।

महासमुद्र की स्वतन्त्रता का अर्थ—आजकल महासमुद्रों को सभी राष्ट्रों की सम्पत्ति माना जाता है। खुले समुद्र की स्वतन्त्रता के अर्थ में प्रो. स्टॉर्क ने कई बातों

को शामिल किया है, जैसे—(1) कोई भी महाशक्ति महासमुद्रों पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित नहीं कर सकती। (2) सभी देशों के व्यापारिक जहाज एवं युद्धपोत महासमुद्रों पर पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ नौचालन कर सकते हैं। (3) सामान्यतः एक राज्य केवल उसी जहाज पर अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सकता है जो उसकी ध्वजा फहराता है। (4) प्रत्येक राज्य एवं उसके नागरिक यह अधिकार रखते हैं कि वे महासमुद्र में तार लगाने, तेल के पाइप बिछाने, मछलीगाहों का उपयोग करने और दूसरे वैज्ञानिक उद्देश्यों से समुद्र का उपयोग करने का कार्य कर सकें। (5) आकाश में महासमुद्रों के ऊपर किसी भी देश का हवाई जहाज उड़ने की पूर्ण स्वतन्त्रता रखता है।

महासमुद्रों का अभिसमय—सन् 1958 में जेनेवा में महासमुद्रों का अभिसमय स्वीकार किया गया। इसमें महासमुद्रों के अर्थ, महासमुद्रों की स्वतन्त्रता का अर्थ, जहाजों की राष्ट्रीयता, जहाजों का आन्तरिक प्रबन्ध आदि के सम्बन्ध में व्यवस्थाएँ की गई हैं।

महासमुद्रों में स्वतन्त्रता और प्रत्येक राज्य की प्रभुसत्ता का अर्थ यह नहीं है कि वे मनमानी करें। अभिसमय में कहा गया कि सभी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को ऐसे उपाय अपनाने में सहयोग देंगे जो समुद्र तथा उसके ऊपर के आकाश को विभिन्न गैसों आदि से कलुषित तथा मलीन होने से बचाए।

जब जेनेवा अभिसमय के समझौते पर समिति ने विचार किया तो उसने अणु-आयुधों के प्रयोगों से समुद्र जल के गन्दा होने के प्रश्न को अधिक महत्त्वपूर्ण माना। जापानी प्रतिनिधि द्वारा 11 मार्च, 1958 को अन्तर्राष्ट्रीय विधि-आयोग के प्रारूप की इस बात को मानने के लिए आग्रह किया गया कि राज्यों को ऐसे सभी कार्य करने से रोका जाए जो महासमुद्रों के जल प्रयोग के लिए अहितकर हों। इस सुझाव को निःशस्त्रीकरण समस्या से सम्बन्धित होने के कारण ब्रिटिश और अमेरिकी सरकारों ने अपने विचार का विषय बनाना अस्वीकार कर दिया।

समुद्री-डकैती का दमन (Suppression of Piracy)

इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं रहा कि महासमुद्रों में की जाने वाली डकैती का दमन राष्ट्रीय आत्म-रक्षा का एक वैध कार्य है। समुद्री डाकुओं को समुद्री कानून के प्राचीन नियम के अन्तर्गत राष्ट्रों के कानून का भंजक माना जाता है। महासमुद्रों पर इसे रोकने के लिए युद्धपोतों की सहायता ली जाती है। इन्हें पकड़े जाने पर कानूनी कार्यवाही के लिए जहाज सहित बन्दरगाह तक लाया जाता है। एक राज्य महासमुद्रों से विदेशी जहाज को केवल तभी पकड़ कर ला सकता है जब उन पर डकैती का आरोप हो। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में समुद्री डकैती क्या है ? भ्रम उत्पन्न होने का एक कारण तो यह तथ्य है कि कुछ राज्य समुद्री डकैती के नाम पर ऐसे कार्यों को दण्ड देते हैं जो वास्तव में ऐसे नहीं होते। उदाहरण के लिए फ्रांसीसी कानून किसी भी ऐसे सशस्त्र जहाज को

समुद्री डकैत मानता है जो शान्तिकाल में अनियमित कागजों के साथ नौचालन कर रहा है। इसी प्रकार 1924 के अधिनियम के अनुसार यदि कोई ब्रिटिश नागरिक दासों के व्यापार में संलग्न है तो वह समुद्री डकैती का अपराधी है। असल में ये दोनों कार्य शुद्ध रूप से समुद्री डकैती के कार्य नहीं माने जा सकते।

समुद्री डकैती का अर्थ—जब कानून की रक्षा से विलग होकर कुछ लोग महासमुद्रों में हत्या अथवा डकैती करने लगते हैं तो ये जलदस्यु बन जाते हैं। प्रो. ओपेनहीम के मतानुसार, "समुद्री डकैती व्यक्तियों अथवा सम्पत्ति के सम्बन्ध में हिंसा का प्रत्येक ऐसा कार्य है जो खुले समुद्र में निजी जहाज द्वारा दूसरे जहाज के विरुद्ध किया जाता है अथवा एक ही जहाज के विद्रोही नाविक अथवा सवारियाँ अपने जहाज के विरुद्ध करने लगते हैं।" प्रो. मूर ने माना है कि "समुद्री डाकू वह व्यक्ति है जो किसी राज्य से कानूनी अधिकार प्राप्त किए बिना एक जहाज पर हमला करता है। उसका इरादा यह होता कि जहाज की सम्पत्ति को लूट लिया जाए।" इस प्रकार समुद्री डकैत अपने आपको संगठित समाज से दूर कर लेते हैं। उनका अलग ही संगठन बन जाता है। उनके जीवन का उद्देश्य, व्यवहार और मूल्य अपराधी प्रकृति के बन जाते हैं। इस प्रकार के लोगों के कार्यों के लिए कोई भी राज्य अपने को उत्तरदायी नहीं बनाता। यदि इन लोगों के विरुद्ध कोई कार्यवाही की जाए तो इसमें किसी राज्य को आपत्ति नहीं होती। समुद्री-डकैती के दमन के लिए सरकारी जहाजों को यह अधिकार दिया गया है कि वे किसी भी सन्दिग्ध जहाज को रोककर देख सकें ताकि उसके कागजों और ध्वजा की सत्यता ज्ञात की जा सके। यदि सदेह निराधार है तो प्रभावित जहाज को हर्जा दिया जाएगा।

आजकल समुद्री डकैती की परिभाषा पर्याप्त व्यापक बन गई है। सामान्यतः इसके दो रूप हैं—

(1) वह, जो व्यक्तिगत राज्यों की संविधि में परिभाषित की जाती है, और (2) वह, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार मान्य है। समुद्री डकैती को आधुनिक और व्यापक रूप में मि. जेकोबिन ने परिभाषित किया है। इन्होंने समुद्री डकैती में एक निजी जहाज अथवा वायुयान के व्यक्तियों या सम्पत्ति द्वारा महासमुद्र पर दूसरे जहाज या वायुयान पर हिंसात्मक अनाधिकृत कार्य करने या प्रयास करने को शामिल किया गया है। वे समुद्री डकैती में सफल विद्रोह को भी शामिल करते हैं।

1956 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने समुद्री डकैती के लक्षण बताते हुए कहा कि यह व्यक्तिगत स्वार्थ की दृष्टि से किया गया हिंसा या लूट-पाट का कोई भी अवैध कार्य है। यह कार्य महासमुद्रों पर या स्वामीहीन समुद्रों पर उन व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जो किसी व्यक्तिगत जलपोत अथवा वायुयान पर सवार हैं। यह दूसरे जलपोत के व्यक्तियों अथवा सम्पत्ति के विरुद्ध किया जाता है।

1958 के जेनेवा अभिसमय द्वारा धारा 14 से 22 तक समुद्री डकैती को परिभाषित करने का प्रयास किया गया। इसके अनुसार समुद्री डकैती में अग्रांकित बातें शामिल की जा सकती हैं—

1. अनुसरण उसी समय प्रारम्भ कर दिया जाए जब विदेशी जहाज या उसकी एक नाव तटवर्ती राज्य के प्रादेशिक समुद्र मे है। यदि यह सस्पर्शी क्षेत्र में हुआ है तो इसे उचित माना जाएगा।

2 जहाज का अनुसरण करने के पूर्व उसे किसी दृश्य अथवा श्रव्य संकेत द्वारा रुकने के लिए उपयुक्त दूरी से संकेत दिया जाए जिसे वह देख सके।

3 अनुसरण निरन्तर और निर्बाध रूप से होना चाहिए।

4. विदेशी जहाज अपने अथवा तीसरे राज्य के प्रादेशिक समुद्र में पहुँचा हो।

5 यह अनुसरण किसी युद्धपोत या सैनिक विमान अथवा दूसरे सरकारी जहाज या विमान द्वारा किया जाए जिसे ऐसा करने को शक्ति सौंपी गई है।

ये प्रावधान तीव्र अनुसरण के कानून के अनुरूप हैं। तीव्र अनुसरण प्रायः तभी किया जाता है जबकि किसी विशेष जहाज ने तटकर अथवा मछलीगाहों के नियमो को तोड़ा है। जब तटवर्ती राज्य के हितों को मार्मिक चोट पहुँचती है तो वे तीव्र अनुसरण की नीति अपनाते हैं। छोटे-मोटे मामलों पर इसे अपनाना उचित नहीं समझा जाता।

जेनेवा अभिसमय में व्यवस्था—सन् 1958 मे 87 राज्यों ने समुद्री कानून के सम्बन्ध में सम्मेलन किया। इसके अभिसमय की धारा 23 मे तीव्र अनुसरण का समर्थन करते हुए यह कहा गया कि जब तटवर्ती राज्य को यह विश्वास हो जाए कि किसी जलपोत ने उस राज्य के कानूनो और नियमों का उल्लघन किया है तो उसका तीव्र अनुसरण किया जा सकता है। यह अनुसरण तटवर्ती राज्य के प्रादेशिक समुद्र अथवा आन्तरिक समुद्र मे प्रारम्भ होना चाहिए। जब पीछा किया जाने वाला जहाज अपने देश अथवा दूसरे देश की प्रादेशिक सीमाओं में पहुँच जाता है तो तटवर्ती राज्य का तीव्र अनुसरण का अधिकार समाप्त हो जाता है। दोषी जहाज को केवल देख लेना मात्र ही पर्याप्त नहीं है वरन् निरन्तर रूप से उसका पीछा किया जाना चाहिए और तभी वह बन्दी किया जा सकेगा। यदि अनुचित परिस्थितियों मे तीव्र अनुसरण किया जाता है और ऐसा करके किसी जहाज को रोका तथा हानि पहुँचाई जाती है तो सम्बन्धित राज्य को क्षतिपूर्ति देनी होगी।

महासमुद्रों पर अन्य पुलिस कार्य
(Other Police Activities on the High Seas)

महासमुद्रों पर समुद्री-डकैती के दमन के अतिरिक्त एक अन्य क्षेत्र भी है जिसमे दूसरे राज्यों के जलपोतों की सामुद्रिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप किया जा सकता है। यह क्षेत्र सन्धियों की व्यवस्था के विरुद्ध अपराधों का है। उदाहरण के लिए, उत्तरी समुद्र में मछलीगाहों के बीच नशीले पदार्थों के आवागमन से सम्बन्धित अभिसमय का उल्लेख किया जा सकता है। इस पर ग्रेट-ब्रिटेन, बेल्जियम, डेनमार्क, फ्रांस, जर्मनी और नीदरलैण्ड ने सन् 1887 में हस्ताक्षर किए। इसका उद्देश्य उत्तरी समुद्र मे मछलीगाहों के जलपोतों के लिए नशीले पदार्थों की बिक्री पर रोक लगाना था। इस सन्धि के अनुसार सभी हस्ताक्षरकर्त्ता देशों के सरकारी जहाजों को देखने, छानबीन करने और बन्दी बनाने का अधिकार प्रदान किया गया।

दासता विरोधी सन्धियाँ—दासो के व्यापार को रोकने के लिए अनेक सधियाँ की गई और इस सम्बन्ध म न्यूनतम अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की उपलब्धि के लिए प्रयास किया गया। 19वी शताब्दी के प्रारम्भ मे ही दास व्यापार के विरुद्ध जन भावनाएँ विकसित होने लगीं और इसीलिए महाशक्तियो ने समुद्री-डकैती की कानूनी परिभाषा को व्यापक बना दिया। इसमे दास व्यापार को भी शामिल कर लिया गया। इसके परिणामस्वरूप दो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ उत्पन्न हुई—(1) क्या एक राज्य की न्यायपालिकाएँ अब महासमुद्रो पर दूसरे राज्य के नागरिको द्वारा किए गए कार्यों के लिए समुद्री-डकैती को नई कानूनी परिभाषा लागू करें ? (2) राज्य के सरकारी जहाज क्या दूसरे राज्य का झण्डा उडाने वाले जहाज की खोज और देखभाल करके दास व्यापार के अपने सन्देह को दूर कर सकते हैं ? इस समस्या के समाधान के लिए राज्यो ने आपसी सहयोग का मार्ग अपनाया और ऐसी व्यवस्था की ताकि एक दूसरे के जहाजो को देखा जा सके। ग्रेट-ब्रिटेन ने अपने साम्राज्य मे दासता को 1807 मे ही समाप्त कर दिया। उसने दासो के व्यापार को पूर्णरूप से रोकने के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए पेरिस की सन्धि (1814) मे फ्रांस को सहमत किया। 1815 की वियना कांग्रेस मे ब्रिटिश सरकार उपस्थित राज्यो द्वारा दास व्यापार की पूर्ण निन्दा कराने मे सफल हो गई। दास-व्यापार को वास्तविक व्यवहार मे पूरी तरह से समाप्त करने के लिए ये आश्वासन और विभिन्न प्रस्ताव पर्याप्त नहीं थे। इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कदम उठाया जाना अत्यन्त आवश्यक था।

ब्रिटिश सरकार ने अनेक देशो के साथ पृथक् से द्विपक्षीय सधियाँ की। इन सन्धियों मे सरकारी जहाजो द्वारा दूसरे राज्यो की ध्वजा उडाने वाले जहाज का निरीक्षण करने की पारस्परिक शक्तियों को स्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त अनेक बहुपक्षीय अभिसमय विकसित किए गए। 1958 के महासमुद्रो के अभिसमय मे दासो के व्यापार को समुद्री-डकैती की भाँति मानव जाति के विरुद्ध अपराध माना गया। अभिसमय की धारा 13 मे कहा गया कि प्रत्येक राज्य अपनी ध्वजा उडाने, शक्ति रखने वाले जहाजो मे दासों के व्यापार को रोकने तथा दण्ड देने के लिए प्रभावशाली कदम उठाएगा। कोई भी दास जो दूसरे राज्य के जहाज में जाकर शरण लेगा वह स्वतन्त्र समझा जाएगा।

युद्ध-काल में समुद्रो की स्वतन्त्रता
(Freedom of Seas in Time of War)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की लम्बी परम्परा के परिणामस्वरूप प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ मे यह माना जाने लगा कि दो समुद्री राज्यो के बीच युद्ध होने की स्थिति मे समुद्रों की स्वतन्त्रता पर स्पष्ट प्रतिबन्ध लग जाएगा। वे तटस्थ राज्य जो संघर्ष मे भाग नहीं ले रहे थे उनका युद्धकारी राज्यों के सरकारी जहाजों द्वारा निरीक्षण किया गया ताकि सम्बन्धित जहाजों की राष्ट्रीयता और उद्देश्य का पता लगाया जा सके। युद्धकारी राज्य महासमुद्रों में युद्ध करने की शक्ति रखते हैं। इसके परिणाम-

स्वरूप तटस्थ राज्यों के जहाजों को पर्याप्त असुविधा उत्पन्न हो जाती है। फलतः तटस्थ राज्यों को महासमुद्रों से सम्बन्धित अपने अधिकार युद्धकारी राज्यों के अधीनस्थ रखने पड़ते हैं।

समुद्रों की स्वतन्त्रता शान्ति की एक शर्त भी है। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान यह नया तथ्य सामने आया। आज की परिस्थितियों में युद्धकारी दोनों पक्षों को समुद्री युद्ध के नियमों का पालन करना पड़ता है। संयुक्तराज्य अमेरिका को एक तटस्थ राज्य के रूप में युद्धकारी एक पक्ष की प्रत्यर्पण और नाकेबन्दी की नीतियों का शिकार और दूसरे पक्ष के आक्रमणकारी प्रयासों का मुक्त-भोगी बनना पड़ा। इन दोनों स्थितियों को उसने एक निष्क्रिय दर्शन के रूप में सहन किया क्योंकि उसके द्वारा कुछ भी करने का अर्थ तटस्थता को तिलांजलि देना था। इसके परिणामस्वरूप संयुक्तराज्य अमेरिका का योरोप के तटस्थ राज्यों के साथ होने वाला व्यापार भी बुरी तरह से प्रभावित हुआ। ग्रेट-ब्रिटेन ने शत्रु की सम्पूर्ण व्यापारिक पनडुब्बी को हस्तगत कर लिया। इन परिस्थितियों में राष्ट्रपति विल्सन ने 22 जनवरी, 1917 को सीनेट के सम्मुख एक वक्तव्य दिया। इसमें उन्होंने उन परिस्थितियों का उल्लेख किया जिनके अन्तर्गत संयुक्तराज्य अमेरिका शान्ति की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की रचना हेतु दूसरे राज्यों के साथ सहयोग कर सकता था। राष्ट्रपति ने समुद्रों की स्वतन्त्रता को शान्ति, समानता और सहयोग के लिए आवश्यक माना। अपने 5 मार्च, 1917 के उद्घाटन भाषण में राष्ट्रपति ने कहा कि समुद्र सभी लोगों के प्रयोग के लिए समान रूप से स्वतन्त्र और सुरक्षित रहने चाहिए और जहाँ तक व्यवहार में सम्भव हो सके इन तक पहुँचने का सभी राज्यों को समान शर्तों पर अवसर होना चाहिए। विल्सन के प्रसिद्ध 14 सिद्धान्तों में समुद्रों पर प्रादेशिक समुद्र के बाहर शान्तिकाल और युद्धकाल दोनों समय नौचालन की पूर्ण स्वतन्त्रता को शामिल किया गया। इसके अपवादस्वरूप उस परिस्थिति को स्वीकार किया गया जबकि अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय को लागू करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही द्वारा महासमुद्र को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से बन्द कर दिया जाए।

अटलान्टिक चार्टर का 7वाँ सिद्धान्त जब संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा में शामिल किया गया तो हस्ताक्षरकर्त्ताओं ने अपनी यह इच्छा प्रकट की कि विजय के बाद जो शान्ति स्थापित की जाएगी वह सभी लोगों को महासमुद्रों में बिना किसी बाधा के नौचालन की सुविधा देगी। चार्टर बनाने वालों का उस समय क्या उद्देश्य रहा होगा, इस सम्बन्ध में यद्यपि कोई स्पष्टीकरण प्राप्त नहीं हो सका है। किन्तु यह माना जा सकता है कि सम्भवतः एक दूरदर्शी के रूप में वे अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सामूहिक प्रयास द्वारा शान्ति की रक्षा करना चाहते थे और अतीत की भाँति परम्परागत युद्ध प्रयासों द्वारा समुद्रों के प्रयोग को अवरुद्ध करने वाले आक्रमणकारी के अधिकार को अस्वीकार करते थे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर को स्वीकार करने पर यह प्रतीत हुआ कि युद्ध के समय युद्धकारी राज्य द्वारा पहले जो प्रतिबन्ध लगाए जाते थे उनकी दृष्टि से समुद्रों की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता

जब तक संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् द्वारा दोषी राज्य पर दबाव लागू न किए जाएँ।

महासमुद्रों की स्वतन्त्रता की सीमाएँ
(Limits on the Freedom of High Seas)

महासमुद्रों की स्वतन्त्रता यद्यपि महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी है किन्तु सम्बन्धित राज्य द्वारा गलत कार्यों के लिए भी प्रयुक्त की जाती है और ऐसी स्थिति में यह इस अधिकार का दुरुपयोग माना जाएगा। इसे रोकने के लिए महासमुद्रों की स्वतन्त्रता का समर्थन करने वाले लोग इसकी सीमाओं का भी उल्लंघन कर देते हैं ताकि यह अराजकता और उच्छृंखलता का आधार बन जाए। प्रमुख मर्यादाएँ अथवा सीमाएँ निम्न प्रकार हैं—

1 महासमुद्रों में यात्रा करने वाले सरकारी और गैर-सरकारी जहाजों पर उस देश का क्षेत्राधिकार रहता है जिसकी ध्वजा उन पर फहरा रही है। उदाहरण के लिए, भारतीय ध्वजा फहराने वाला जहाज महासमुद्र में यदि कोई अपराध करता है तो उस पर विचार करने का अधिकार केवल भारतवर्ष का होगा।

2 एक राज्य की स्वीकृति और अधिकार पाने पर ही उसकी ध्वजा को एक जहाज द्वारा प्रयुक्त किया जाता है। जिस राज्य द्वारा ध्वजा लगाने का अधिकार दिया जाता है उसके अतिरिक्त दूसरे राज्य की ध्वजा का प्रयोग जहाज नहीं कर सकता।

3. कोई भी राज्य अपनी ध्वजा का दुरुपयोग नहीं करने देगा। यदि ऐसा नहीं किया गया तो वह उस जहाज को पकडकर जब्त कर सकता है। यहाँ दुरुपयोग से अर्थ यह है कि राज्य की ध्वजा लगाने के बाद भी एक जहाज समुद्री-डकैती कर सकता है, इसके अतिरिक्त अनाधिकृत रूप से भी झण्डे का प्रयोग कर सकता है।

4 राज्य के सरकारी युद्ध-पोत को यह अधिकार है कि सन्देह होने की स्थिति में किसी जहाज को उसका झण्डा दिखाने के लिए कह सके तथा उसके कागजों की आवश्यक जाँच कर सके। यदि कोई जहाज तदनुसार कार्यवाही न करे तो उसे रक्षा पाने का कोई अधिकार नहीं है और उसे जब्त किया जा सकता है।

5 महासमुद्रों में यदि दो जहाजों की टक्कर हो जाए तो ऐसी स्थिति में लोटस विवाद के निर्णय के अनुसार टक्कर से प्रभावित जहाज के देश के न्यायालयों को विदेशी जहाज के विरुद्ध मामला सुनने का अधिकार होगा। सन् 1956 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने यह मत व्यक्त किया कि टक्कर होने की स्थिति में जहाजों पर झण्डे वाले राज्य का क्षेत्राधिकार होता है।

6 युद्धकाल में महासमुद्रों पर युद्धकारी देशों के अधिकार बढ़ जाते हैं। युद्धकारी राज्य तटस्थ देशों के जहाजों की तलाशी यह जानने के लिए ले सकते हैं कि वे किसी विनिषिद्ध युद्ध-सामग्री का वहन तो नहीं कर रहे हैं। जब गृह-युद्ध की स्थिति में दोनों पक्षों को युद्धावस्था की मान्यता मिल जाती है तो वे महासमुद्रों में विदेशी जहाजों की तलाशी लेने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं।

7 महासमुद्रों में अणुबम सम्बन्धी परीक्षण करते समय एक राज्य किसी विशेष प्रदेश को नौचालन के लिए रोकने का अधिकार रखता है अथवा नहीं रखता है, इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विधि शास्त्री एकमत नहीं हैं। इन परीक्षणों के परिणामस्वरूप जो रेडियमधर्मी धूलि विकीरण उत्पन्न होता है, वह समुद्र में चलने वाले जहाजों की सवारियों को स्थायी रूप से हानि पहुँचा सकता है। अमेरिका आदि कुछ देशों की परम्परा यह है कि वे महासमुद्र में ऐसा परीक्षण करने से पहले विभिन्न देशों को चेतावनी दे देते हैं कि वे अमुक सीमा में प्रवेश न करें। कुछ राज्यों का तर्क है कि ऐसा करने से महासमुद्रों की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। दूसरों का कहना है कि इस स्थिति में समुद्र को बन्द करना युक्तिसंगत है। इसका प्रभाव अल्पकालीन और अस्थायी होता है इसलिए महासमुद्रों की स्वतन्त्रता पर कोई आँच नहीं आती। जिस प्रकार महासमुद्रों में तोपखाने के परीक्षण और नकली युद्ध उपयुक्त माने जाते हैं उसी प्रकार ये परीक्षण भी उपयुक्त माने जाएँगे।

8 आत्मरक्षा एवं प्रभुसत्ता पर संकट आने की स्थिति में तटवर्ती राज्य को यह अधिकार होता है कि वह प्रादेशिक समुद्र की सीमा के बाहर भी विदेशी जहाजों के विरुद्ध कार्यवाही कर सकें।

9 तटवर्ती राज्यों को महासमुद्र में तेजी के साथ पीछा करने का अधिकार होता है।

10 प्रत्येक देश को यह अधिकार है कि वह महासमुद्र में समुद्री-डाकुओं को नष्ट करने के लिए आवश्यक कदम उठा सके। यदि ऐसा करने पर महासमुद्रों की स्वतन्त्रता सीमित होती है तो यह स्वीकार की जाएगी।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि महासमुद्रों की स्वतन्त्रता विभिन्न राज्यों की प्रभु-शक्ति और आत्मरक्षा की दृष्टि से सीमित है। ये सीमाएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुकूल हैं और स्वतन्त्रता को अराजकता बनाने से रोकती हैं।

आन्तरिक समुद्र पर क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction Over Internal Waters)

आन्तरिक समुद्र में एक गैर-सरकारी जहाज सिद्धान्त रूप से पूर्णतः स्थानीय क्षेत्राधिकार का विषय होता है। यदि तटवर्ती राज्य दीवानी मामलों में भी इस पर पूर्ण क्षेत्राधिकार रखता है तो इसके बारे में कोई ऐतराज नहीं किया जा सकता। जहाँ तक फौजदारी विषयों का सम्बन्ध है, उसके बारे में दो दृष्टिकोण हैं, प्रथम दृष्टिकोण ग्रेट-ब्रिटेन का है। इसके अनुसार फौजदारी क्षेत्राधिकार भी दीवानी क्षेत्राधिकार की भाँति पूर्ण होता है और यदि इसमें कोई कमी है तो यह केवल सौजन्य के कारण होती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार स्थानीय क्षेत्राधिकार में ध्वजा वाले राज्य के क्षेत्राधिकार को पूरी तरह से बाहर नहीं रखा जाता। विदेशी जल में ब्रिटिश जहाजों पर समवर्ती क्षेत्राधिकार का दावा किया जाता है और इसी प्रकार ब्रिटिश जल में विदेशी जहाजों के अधिकारों का आदर करने की बात कही जा सकती है।

दूसरा सिद्धान्त सन् 1806 में फ्रांस की राज्य परिषद् के मत के आधार पर प्रतिपादित हुआ। फ्रांस के बन्दरगाह में दो अमेरिकी जहाज—सैली तथा न्यूटन आए और दोनों के एक एक सदस्य ने एक दूसरे पर आक्रमण कर दिया। ऐसी स्थिति में अमेरिकी वाणिज्य दूत और फ्रांसीसी स्थानीय अधिकारी दोनों ने क्षेत्राधिकार का दावा किया। फ्रांस की परिषद् ने बताया कि यह क्षेत्राधिकार अमेरिकी वाणिज्य दूतों का है क्योंकि इसके परिणामस्वरूप बन्दरगाह की शान्ति भग नहीं हुई है। परिषद् ने घोषणा की कि जहाजों पर फ्रांस का क्षेत्राधिकार केवल उन्हीं विषयों में है जो राज्य के हितों से सम्बन्ध रखते हैं या पुलिस के विषय हैं अथवा जहाज के सदस्य किसी अजनबी के विरुद्ध अपराध करते हैं। जहाज के आन्तरिक अनुशासन के मामलों में और इसके सदस्यों की आपसी लड़ाई में स्थानीय सत्ताओं को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जब तक उनकी सहायता नहीं मांगी गई है अथवा बन्दरगाह की शान्ति भग नहीं हुई है। यह मत ब्रिटिश मत से भिन्न था जिसका अनुशीलन फ्रांस में पहले किया जाता था। यद्यपि इस मत का अनुसरण अनेक महाद्वीपीय देशों में किया गया किन्तु इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अधिकृत घोषणा नहीं माना जा सकता।

इसमें अनेक अस्पष्टताएँ हैं। उदाहरण के लिए, हम यह पूछ सकते हैं कि राज्य के हितों से सम्बन्ध रखने वाले विषय कौन कौन से हैं? यह दृष्टिकोण यात्रियों की स्थिति के बारे में कुछ नहीं कहता। इसमें उन स्थितियों का वर्णन नहीं किया गया है जिनमें बन्दरगाह की शान्ति भग होती है। हम यह भी नहीं जान पाते कि सहायता की मांग जहाज के किस अधिकारी द्वारा की जाएगी तथा स्थानीय अधिकारियों का हस्तक्षेप किस रूप में होगा।

सन् 1859 में फ्रांस के न्यायालयों ने यह स्वीकार किया कि कुछ अपराध इतने गम्भीर होते हैं कि उनके भावी परिणामों पर ध्यान दिए बिना उन्हें स्थानीय क्षेत्राधिकार के अन्दर लेना उपयुक्त होता है। यह निर्णय यद्यपि महत्त्वपूर्ण है किन्तु फ्रांस की परिषद् के मत से एकरूपता नहीं रखता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ छोटे-मोटे अपराधों और अनुशासनात्मक कार्यों को छोड़कर दूसरा प्रत्येक विषय स्थानीय क्षेत्राधिकार में आएगा।

उपर्युक्त दोनों मतों के बीच अन्तर जितना प्रतीत होता है उतना वास्तव में नहीं है। प्रो गिडेल (Gideal) के कथनानुसार फ्रांसीसी व्यवस्था बन्दरगाह वाले राज्य के पूर्ण क्षेत्राधिकार को विदेशी जहाजों द्वारा किए गए अपराधों को अस्वीकार नहीं करती। वह केवल यह घोषित करती है कि इस क्षेत्राधिकार को कुछ मामलों पर लागू नहीं किया जाएगा। इसी प्रकार अंग्रेजी व्यवस्था भी क्षेत्राधिकार को पूर्णरूपेण समर्पित नहीं करती। इसमें पहले से ही उन विषयों की घोषणा नहीं की जाती जिनमें क्षेत्राधिकार का प्रयोग किया अथवा नहीं किया जाएगा। गिडेल के मतानुसार बन्दरगाह वाला राज्य कानून के अनुसार अपने कानून के विरुद्ध अपराध होने पर विचार करने का अधिकार रखता है। व्यवहार में पूर्ण प्रादेशिक क्षेत्राधिकार का प्रयोग नहीं किया जाता फिर भी पूर्णता और अपूर्णता के क्षेत्र को पहले से ही घ [illegible] नहीं किया जाता।

आन्तरिक जल से सम्बन्धित क्षेत्राधिकार पर विचार करते समय आन्तरिक जल की विभिन्न श्रेणियो को ध्यान मे रखना उपयुक्त रहेगा। यहाँ हम इनके सम्बन्ध मे सक्षेप मे उल्लेख करेंगे।

नदियाँ—जब एक सम्पूर्ण नदी का बहाव और उसके दोनो किनारे एक ही राज्य के प्रदेश के अन्तर्गत होते हैं तो वह राज्य उस पर अपना नियन्त्रण प्रयुक्त करता है। जब तक उसके अधिकारो को किसी सन्धि द्वारा सीमित नही किया जाए तब तक वह ऐसी नदियो पर अपने अन्य प्रदेश की भाँति पूर्ण नियन्त्रण रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित नदियाँ केवल वे होती हैं जो एक से अधिक राज्यो मे होकर बहती हैं। ऐसी नदियो को सुविधा की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय नदियाँ कहा जा सकता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रत्येक राज्य को नदी के अपने भाग पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त होगा अथवा यह अधिकार इस तथ्य के कारण सीमित होगा कि नदी दूसरे राज्यों के लिए भी उपयोगी और आवश्यक है। नदी को नौ-चालन के काम मे लिया जाता है। इसके दूसरे आर्थिक उपयोग भी अधिक महत्त्वपूर्ण बनते जा रहे हैं और यह वांछनीय समझा जाता है कि यथासम्भव सभी हितो की रक्षा की जाए। सन् 1814 की पेरिस की सन्धि मे सभी अन्तर्राष्ट्रीय नदियो पर नौ-चालन की स्वतन्त्रता की घोषणा की गई। यह घोषणा केवल सीमित रूप से लागू की गई। आगे आने वाले 40 वर्षों मे अनेक नदियाँ गैर-नदियो वाले राज्यो के लिए खोल दी गई।

सन् 1919 की शान्ति सन्धियों में शत्रु देशो मे होकर बहने वाली महत्त्वपूर्ण नदियो पर विचार किया गया। उनमें से कुछ के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आयोग बनाए गए। सभी पर राज्यो का समान अधिकार स्थापित किया गया। अधिकाँश नदी आयोगो की शक्तियाँ अत्यन्त सकीर्ण थीं। इन आयोगों का मुख्य कार्य यह था कि नदी के लिए स्थापित शासन के व्यवहार का नियन्त्रण करें, पक्षों के अस्थाई सम्मेलन के रूप मे कार्य करें और अपनी शक्तियो की सीमा मे रह कर कुछ निर्णय लें। इन आयोगों के निर्णय प्रभावित राज्यों पर बाध्यकारी थे। इन्हें क्रियान्वित करना आयोग का काम नहीं था वरन् राज्य का काम था। जब कभी राज्यों के बीच मतभेद उत्पन्न होता तो आयोग उनके बीच समझौता कराने और पच-फैसला कराने का कार्य सम्पन्न करता था।

नौ-चालन का कार्य नदियों के विभिन्न कार्यों मे से एक कार्य है। बहुत समय से चले आ रहे इसके अनेक कार्य ये हैं—सिचाई, गृहकार्य एव औद्योगिक उद्देश्य के लिए जल की पूर्ति, मछली पकड़ना और लकडी के लट्ठों को बहाना, जल विद्युत पैदा करना, आदि-आदि। नदियो के इन समस्त प्रयोगों के सम्बन्ध मे कानून विकसित होता जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय नदियो के कानून के सिद्धान्त आजकल स्वीकृत हो चुके हैं। इन सिद्धान्तों को व्यापक रूप से निम्न प्रकार वर्णित किया जा सकता है—

1. जहाँ नदियाँ दो या दो से अधिक राज्यो के प्रदेशो में होकर बहती हैं

वहाँ प्रत्येक राज्य का अधिकार सम्पूर्ण नदी पर माना जाता है और प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों के हितों का ध्यान रखते हुए अपने हितों की पूर्ति करता है।

2 प्रत्येक राज्य सिद्धान्त रूप से अपने प्रदेश के जल का पूरा-पूरा प्रयोग करने का अधिकार रखता था किन्तु इस अधिकार का प्रयोग करते समय उसे ऐसे ही दूसरे राज्यों के अधिकारों का ध्यान रखना चाहिए।

3. जब एक राज्य के अधिकारों का प्रयोग दूसरे राज्यों के हितों के साथ संघर्षपूर्ण बन जाए तो सिद्धान्त यह है कि नदी व्यवस्था के लाभ उन राज्यों की आवश्यकता तथा दूसरी परिस्थितियों के अनुपात में प्रदान किए जाने चाहिए।

4 कोई राज्य नदी-व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन नहीं कर सकता जो दूसरे राज्य की स्वीकृति के बिना उसके अधिकारों के प्रयोग को खतरा पहुँचाए।

5 यदि एक राज्य दूसरे को नुकसान देकर नदी-व्यवस्था का लाभ उठा रहा है तो प्रभावित राज्य को मुआवजा दिया जाना चाहिए।

6. यदि एक राज्य को दूसरे राज्य द्वारा किए गए विकास से कोई हानि नहीं होती तो उसे ऐतराज करने का कोई अधिकार नहीं होगा।

उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्तों का व्यवहार व्यक्तिगत मामलों में अनेक समस्याएँ उत्पन्न करता है। नदियों की भौतिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों के अतिरिक्त उनके सम्बन्ध में अनेक जटिल वैज्ञानिक अध्ययन और इन्जीनियरी तकनीकें आवश्यक बन गई हैं। फलत. आजकल यह माना जाता है कि यदि कोई राज्य नदी के अपने प्रदेश में स्थित भाग पर कोई नवीन कार्य कर रहा है तो वह इस परियोजना में रुचि लेने वाले दूसरे राज्यों को भी सूचित कर दे। यदि कोई दूसरा देश इसमें आपत्ति करता है तो समझौते द्वारा बातचीत को सुलझाया जाए। यह माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय नदियों के लिए किसी न किसी रूप में संयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन होना चाहिए। ऐसा होने पर ही समस्त सम्बन्धित राज्य नदियों के जल का पूरा-पूरा प्रयोग कर सकेंगे।

नहरें—किसी सन्धि के प्रभाव में एक नहर पर उस राज्य का पूरा नियन्त्रण रहता है जिसमें होकर वह बहती है। दूसरे राज्यों के जहाज उसमें होकर गुजरने का अधिकार नहीं रखते। संसार की तीन अन्तर्समुद्री नहरें—स्वेज, पनामा और कील नहर को विशेष स्तर प्राप्त है। कभी-कभी इनको तटस्थ या अन्तर्राष्ट्रीय भी कह दिया जाता है।

स्वेज नहर संयुक्त अरब गणराज्य में स्थित है। यह सन् 1869 में 99 वर्ष की रियायत के लिए खोली गई थी। यह रियायत एक फ्रांसीसी कम्पनी को सौंपी गई। बाद में ब्रिटिश सरकार इस कम्पनी की सबसे बड़ी हिस्सेदार बन गई। नहर का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर सन् 1888 के कौन्सटैन्टिनोपाल अभिसमय द्वारा स्थापित किया गया। इसके अनुसार नहर युद्ध और शान्ति में व्यापार तथा युद्ध के जहाजों के लिए बिना उनके झण्डे का अन्तर किए हुए खुली रहेगी। इसकी नाकेबन्दी कभी नहीं हो सकती। नहर में अथवा इसके बन्दरगाह से तीन मील दूर तक कोई युद्ध

नहीं लड़ा जा सकता। युद्धरत जहाजों को कम से कम सम्भव समय में गुजर जाना चाहिए। वे पोर्ट सैय्यद अथवा स्वेज पर 24 घण्टे से अधिक नहीं रुक सकते। इन बन्दरगाहों से गुजरने में दो विरोधी जहाजों के बीच का समय कम से कम 24 घण्टे होना चाहिए। नहर की रक्षा का भार टर्की और मिस्र को सौंपा गया। यह प्रावधान उस समय खण्डित हो गया जब टर्की ने सन् 1914 में नहर पर आक्रमण कर दिया। लोसान की सन्धि द्वारा टर्की का स्थान ग्रेट ब्रिटेन को दे दिया गया।

नहर की सुरक्षा पर सन् 1936 में आंग्ल-मिस्री सन्धि पर विचार किया गया। इसके अनुसार नहर क्षेत्र में ब्रिटिश सेनाएँ रख दी गई। बाद में सन् 1954 के एक समझौते के अनुसार मिस्र ने ब्रिटिश सेनाओं को केवल कुछ क्षेत्रों में ही यह सुविधा प्रदान की। नहर के सचालन और सुरक्षा का प्रबन्ध सन् 1956 में क्रान्तिकारी रूप से बदल गया। मिस्र ने स्वेज नहर कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर दिया। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने सुरक्षा परिषद् में इस राष्ट्रीयकरण को गैर-कानूनी बताया। दोनों देशों ने मिस्र के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की। बाद में नहर और उसका प्रशासन स्वेज नहर सत्ता को सौंप दिया गया जो सयुक्त अरब गणराज्य की घरेलू सरकारी सत्ता है। मिस्र ने इस अवसर का प्रयोग करते हुए सन् 1954 के समझौते को तोड़ दिया। दूसरी ओर मिस्र ने स्वेज नहर पर एक घोषणा में कौन्सटेंटिनोप ल अभिसमय और उससे उत्पन्न अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का आदर करने का विचार प्रकट किया। मिस्र ने अभिसमय के प्रावधानों द्वारा निश्चित की गई सीमाओं के अन्तर्गत स्वेज नहर पर सभी को नौ-चालन की स्वतन्त्रता प्रदान की।

पनामा नहर उस पनामा प्रदेश के एक क्षेत्र में होकर बहती है जो सयुक्त राज्य अमेरिका के अधिकार में है तथा उसी के द्वारा प्रशासित किया जाता है। यह किसी अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय द्वारा विनियमित नहीं है। इस सम्बन्ध में सयुक्त राज्य अमरिका पर दो सन्धियों का दायित्व है। इनमें से एक सन् 1901 में ग्रेट ब्रिटेन के साथ हुई और दूसरी सन् 1903 में पनामा के साथ हुई। प्रथम सन्धि के अनुसार नहर को सभी राष्ट्रों के व्यापारिक तथा युद्धपोतों के लिए खुला रखा गया। किसी राष्ट्र या उसके नागरिकों के साथ किसी प्रकार का भेदभाव न करके पूर्ण समानता की स्थापना की गई। स्वेज नहर की भाँति पनामा नहर के सम्बन्ध में भी यही व्यवस्था है कि नहर की नाकाबन्दी नहीं की जाएगी, नहर-क्षेत्र में कोई युद्ध नहीं किया जाएगा और सयुक्तराज्य अमरिका इसकी सुरक्षा के लिए सैनिक पुलिस की व्यवस्था करेगा।

कील नहर को वर्साय की सन्धि में सभी राज्यों के व्यापारिक और युद्धपोतों के लिए समान शर्तों पर खुली रखने की व्यवस्था की गई। जर्मनी का यह दायित्व सौंपा गया कि वह इसे नौचालन योग्य स्थिति में रख सके। इस कार्य के लिए आवश्यक भुगतान लेने का अधिकार उसे सौंपा गया। हिटलर की जर्मनी ने इस व्यवस्था को ठुकरा दिया। फिर भी सामान्यतः यह समझा गया कि इसके प्रावधानों द्वारा प्रशासित अन्तर्राष्ट्रीय मार्ग का स्तर अभी भी नहर को प्राप्त है।

राष्ट्रीय आकाश एवं वाह्य अन्तरिक्ष पर क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction over the National Air and Outer Space)

धरती का वातावरण एक महासागर है जो विज्ञान एवं तकनीकी विकास के परिणामस्वरूप व्यक्ति के लिए नौचालन योग्य बन गया है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही मुक्त आकाश मे राज्यों के प्रदेश के ऊपर गुब्बारों तथा नव-आविष्कृत हवाई जहाजों के उड़ने पर क्षेत्राधिकार सम्बन्धी नए प्रश्न उत्पन्न हुए। यह निर्धारित करना आवश्यक बन गया कि एक राज्य को अपने प्रदेश के ऊपर स्थित आकाश पर कितना अधिकार है। इस प्रश्न के सम्बन्ध मे परम्परागत कानून चुप था क्योंकि उसके सामने कभी ऐसी समस्या नहीं आई। न्यायशास्त्रियों ने भूमि और जल पर राज्य के क्षेत्राधिकार को आधार बनाकर ही वायु पर राज्य के क्षेत्राधिकार को निश्चित करने का प्रयास किया। ऐसा करते समय विचारकों की अनेक विभिन्नताएँ सामने आईं। प्रारम्भ मे जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए उनके अनुसार—(1) आकाश मे महासमुद्रों की भांति राज्यों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है।(2)कोई भी राज्य मुक्त आकाश मे लगभग 1000 फीट तक अपने प्रादेशिक क्षेत्राधिकार का दावा कर सकता है और उसके बाद महासमुद्रों की भांति आकाश स्वतन्त्र बन जाएगा। (3) एक राज्य के ऊपर का सम्पूर्ण आकाश असीमित रूप से राष्ट्रीय आकार कहलाएगा। इसमे होकर सभी मित्रों के पञ्जीकृत वायुयानों को निर्दोष-गमन का अधिकार सौंपा जाएगा। (4) एक राज्य राष्ट्रीय आकाश पर पूर्ण और असीमित सम्प्रभुता रखता है। उसके अधिकार की कोई उच्चतर सीमा नहीं है।

उपर्युक्त मे से अन्तिम सिद्धान्त प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ मे सामान्य रूप से स्वीकार किया गया। सभी युद्धकारी राज्यों ने उनके राष्ट्रीय आकाश पर पूर्ण सम्प्रभुता का दावा किया। तटस्थ राज्यों ने सभी युद्धकारी वायुयानों के गमन के अधिकारों को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार राष्ट्रीय आकाश पर भूमि की सतह के नियमों का लागू किया गया। स्विट्जरलैण्ड और नीदरलैण्ड की सरकारों ने अपने तटस्थ आकाशों की अखण्डता को बनाए रखा। जिन युद्धकारी देशों के जहाजों ने उनके राष्ट्रीय आकाश मे प्रवेश करने का प्रयास किया उनको नीचे गिरा दिया गया। युद्ध समाप्त होने के बाद आकाश पर राष्ट्रीय सम्प्रभुता को स्वीकार किया गया, केवल निर्दोष-गमन का प्रश्न सुलझाना बाकी रह गया। यह निर्णय लेना था कि इस प्रकार का गमन यदि स्वीकार किया जाता है तो क्या यह एक अधिकार के रूप मे होगा अथवा किसी प्रकार की सन्धि के अन्तर्गत एक अनुदान के रूप मे। व्यावहारिक आवश्यकता ने यह जरूरी बना दिया कि राज्य अपने समुद्री प्रदेश की भांति आकाश पर भी सम्प्रभुता रखें। प्रथम विश्वयुद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि उड्डयन यन्त्रों के लिए एक सीमा निर्धारित की जाए। दूसरी ओर लॉर्ड टेनीसन की यह भविष्यवाणी थी कि स्वर्ग वाणिज्य से भर जाएगा। यदि इस भविष्यवाणी मे कोई सार्थकता थी तो विभिन्न राज्यों के यानों को निर्दोष-गमन की सुविधाएँ प्रदान करना आवश्यक

था। इस सम्बन्ध में दो स्पर्द्धापूर्ण हितों में यथासम्भव सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता थी ताकि—(1) सम्बन्धित राज्य की सुरक्षा बनी रहे, और (2) सभी राज्यों को संचार और यातायात की अधिकतम सम्भव स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके।

किसी प्रदेश के आकाश को प्रो० गार्नर ने तीन भागों में विभाजित किया है—(A) आकाश का उच्चतम भाग जो वायु की कमी और तापमान की अधिकता के कारण व्यक्ति के आवास के लिए अनुपयुक्त है। आजकल वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप यह प्रयास किया जा रहा है कि इस भाग की प्राकृतिक परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करके यहाँ अन्तरिक्षयान सुगमतापूर्वक पहुँचाया जाय। ऐसा होने पर इस प्रदेश का महत्त्व अधिक हो जाएगा। (B) वह निम्नतम भाग जो भूमि से ऊपर 330 मीटर तक का प्रदेश है। इस प्रदेश में ऊँचे-ऊँचे मकान, ऊँचे खम्भे, रेडियो विभाग के तार आदि आते हैं। (C) मध्यवर्ती भाग जिसे गार्नर ने हवाई यातायात और रेडियो के संदेश भेजने के लिए उपयुक्त माना है।

हवाई यातायात अभिसमय–1919
(The Aerial Navigation Convention, 1919)

1919 में पेरिस में एक सम्मेलन बुलाया गया ताकि हवाई यातायात के नियन्त्रण की समस्याओं पर विचार किया जा सके। 13 अक्टूबर, 1919 को एक अभिसमय पर हस्ताक्षर किए गए और इस प्रकार समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि कानून का विषय बना दिया गया। यह अभिसमय केवल शान्तिकाल पर विचार करता है और युद्ध के समय राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए युद्धकारी अथवा तटस्थ राज्यों के आकाश पर पूर्ण नियन्त्रण के अधिकार को प्रतिबन्धित नहीं करता। अभिसमय में भाग लेने वाली शक्तियों ने हवाई यातायात के महत्त्व को स्वीकार किया और हवाई संचार के साधनों द्वारा राष्ट्रों के शान्तिपूर्ण सम्बन्धों को प्रोत्साहित करने की इच्छा प्रकट की। इसमें आगे कहा गया कि सार्वभौम नियमन की स्थापना सभी के हित की दृष्टि से उपयुक्त रहेगी। अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यातायात के नियमन के लिए यह प्रथम सामान्य अभिसमय था। इसमें यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक राज्य अपने प्रादेशिक जल के ऊपर पूर्ण तथा एकमात्र सम्प्रभुता रखता है। इसमें मिले हुए प्रादेशिक जल को शामिल किया गया। इसके साथ ही प्रत्येक राज्य ने शान्तिकाल में प्रत्येक दूसरे राज्य के वायुयानों को बिना राष्ट्रीयता का अन्तर किए अपने प्रदेश और प्रादेशिक जल पर से उड़ने की स्वतन्त्रता दी बशर्ते कि अभिसमय द्वारा स्थापित दूसरी शर्तें स्वीकार की जाएँ। गमन की स्वतन्त्रता को प्रदान करने के सम्बन्ध में विशेष प्रावधान रखे गए। वायुयानों की राष्ट्रीयता उनके स्वामित्व और पंजीकरण के आधार पर निर्धारित की जाती थी। पंजीकरण केवल राज्य के राष्ट्रिकों या राष्ट्रीय कम्पनियों तक सीमित रखा गया। केवल सन्धि करने वाले राज्यों को ही हवाई उड़ान की स्वतन्त्रता सौंपी गई। इस अभिसमय ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नए सिद्धान्त की स्थापना की। विश्व-युद्ध के बाद जो रिवाज स्वीकार किया गया उसके परिणामस्वरूप आधुनिक हवाई कानून-शास्त्र को समर्थन प्राप्त हुआ।

राष्ट्रीय व्यवस्थापन—सन्धि कानून के अतिरिक्त राष्ट्रीय व्यवस्थापन भी किए गए। इस प्रकार के विधि-निर्माण के उदाहरणों में ब्रिटिश हवाई यातायात अधिनियम (1920), अमेरिकी हवाई व्यापार अधिनियम (1926) तथा इसमें किया गया संशोधन (23 जून, 1938) आदि उल्लेखनीय हैं। ब्रिटिश अधिनियम की भूमिका में यह कहा गया कि ब्रिटिश राजा का उचित क्षेत्राधिकार और पूर्ण सम्प्रभुता राजा के समस्त प्रदेश और उसके प्रादेशिक जल के ऊपर स्थित आकाश पर है।

पेरिस सम्मेलन में संयुक्तराज्य अमेरिका और कई अमेरिकी राज्य शामिल नहीं हुए थे। पेरिस सम्मेलन की मुख्य व्यवस्थाओं का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—1 प्रत्येक राज्य को अपने प्रदेश और प्रादेशिक समुद्र के ऊपर वाले आकाश पर पूर्ण तथा अनन्य सम्प्रभुता प्रदान की गई।

2 शान्तिकाल में इस समझौते के सभी देश एक दूसरे के आकाश में निर्धारित नियमों का पालन करते हुए उड़ान भर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय हवाई कम्पनियाँ केवल तभी उड़ान भर सकती हैं जब वे सम्बद्ध राज्यों से अनुमति प्राप्त कर लें।

3 एक विमान का पंजीकरण कोई देश केवल तभी कर सकता है जबकि उसका स्वामित्व वहाँ किसी नागरिक के हाथ में हो। कोई विमान एक से अधिक राज्यों में पंजीकृत नहीं हो सकता।

4. यातायात के समय यान पर उसकी राष्ट्रीयता और पंजीकरण के चिह्न अंकित होना अनिवार्य है।

5 गैर सरकारी वायुयान अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यात्रा करते समय अपने पंजीकरण का प्रमाण-पत्र और जहाज के यात्रा योग्य होने का प्रमाण पत्र, सवारियों की सूची और चालकों के यान चलाने का प्रमाण पत्र आदि साथ लेकर चलेंगे।

6 किसी राज्य का सैनिक वायुयान दूसरे राज्य की विशेष आज्ञा लेने के बाद ही उसके आकाश में उड़ सकता है।

7 राष्ट्रसंघ की अध्यक्षता में हवाई यातायात के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग को सम्मेलन द्वारा निश्चित किए गए कर्त्तव्यों के पालन, हवाई यातायात की सूचनाओं के संग्रह और हवाई मानचित्रों के प्रकाशन का कार्य सौंपा गया।

निर्दोष गमन और प्रतिबन्धित यातायात—राष्ट्रों के कानून द्वारा निर्दोष गमन का अधिकार प्रादेशिक समुद्रों में विदेशी व्यापारिक जहाजों को सौंपा गया है किन्तु प्रादेशिक आकाश में विदेशी व्यापारिक और निजी यानों पर यह लागू नहीं होता। ऐसा इसलिए है क्योंकि दूसरे राज्यों के प्रदेश के ऊपर हवाई उड़ान करने में अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। कारण यह है कि प्रादेशिक समुद्रों में सतह पर चलने वाले जलपोत भौगोलिक सीमाओं से युक्त होते हैं। स्वतन्त्रतापूर्वक चलने वाले वायुयानों पर ये सीमाएँ लागू नहीं होतीं। राष्ट्रीय सुरक्षा और एक राज्य की पूर्ण सम्प्रभुता के कारण निर्दोष गमन का सिद्धान्त विदेशी वायुयानों पर उस रूप में लागू

नहीं हो सकता जिस रूप में यह प्रादेशिक जल मे व्यापारी जहाजों पर लागू होता है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयो ने कुछ सीमाओ के साथ विदेशी वायुयानों के निर्दोष-गमन के अधिकार को व्यवहार मे स्वीकार किया है।

1919 के हवाई यातायात अभिसमय की दूसरी धारा मे यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक समझौता करने वाला राज्य शान्ति काल मे अपने प्रदेश पर दूसरा समझौता करने वाले राज्य के यान को निर्दोष-गमन की स्वतन्त्रता सौंपता है। यह अधिकार सार्वजनिक सुरक्षा के हित मे अथवा युद्धकाल मे रोका जा सकता था। यह व्यवस्था की गई थी कि अन्तर्राष्ट्रीय वायु-मार्गों का निर्धारण सम्बन्धित राज्यो की सहमति से किया जाए। 15 जून, 1929 के समझौते द्वारा यह प्रावधान बदल दिया गया। पेरिस अभिसमय के परिच्छेद 16 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय यातायात केवल प्रादेशिक राज्य के लिए सुरक्षित रखा गया।

व्यापारिक उड़ानों पर अभिसमय, 1928
(Convention on Commercial Aviation, 1928)

संयुक्तराज्य अमेरिका ने 1919 के अभिसमय मे भाग नहीं लिया और इसलिए इसका व्यवहार केवल योरोप तक सीमित हो गया। इसी प्रकार का एक अभिसमय छठे पान अमेरिकी सम्मेलन, 1928 मे स्वीकार किया गया किन्तु नागरिक उडान के क्षेत्र मे एकरूपता की स्थापना करने की दृष्टि से यह अधिक उपयोगी नहीं रहा। इसमे 1919 के पेरिस अभिसमय के सिद्धान्तों को दोहराया गया और आकाश पर सम्प्रभुता एवं निर्दोष-गमन की स्वतन्त्रता के लिए पारस्परिक समझौतों के बारे मे एक जैसी व्यवस्था की गई। अन्तर्राष्ट्रीय प्रायोग जैसा कोई प्रायोग तो इस अभिसमय द्वारा स्थापित नहीं किया गया किन्तु इसने मौसम-विज्ञान सम्बन्धी सूचना के वितरण में सहयोग देने का दायित्व सभी राज्यो पर डाला। सकेतों की एक जैसी व्यवस्था की स्थापना और हवाई यातायात को प्रशासित करने वाले एक जैसे कानूनों और नियमो को प्रोत्साहित करने का निर्णय लिया गया।

पेरिस अभिसमय के प्रावधान और उनका प्रशासन परिस्थिति की आवश्यकताओ के अनुरूप नहीं हो सका। वायुयानो की व्यापारिक सेवाएँ बहुत बढ गई और यातायात की परिस्थितियो के सम्बन्ध मे अनेक गम्भीर बुराइयाँ विकसित हो गई जिनको अन्तर्राष्ट्रीय हवाई प्रायोग सही नहीं कर सका। वायुयानो की स्थिति उनके चालको की योग्यता तथा उनके द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओ मे एकरूपता स्थापित नहीं की जा सकी। संयुक्तराज्य अमेरिका इससे अलग रहा। अन्त प्रायोग का प्रभाव केवल योरोप तक सीमित रह गया। विभिन्न राष्ट्रों के बीच स्थित राजनैतिक मन मुटावो के कारण वांछित सुधार दूर का सपना बन कर रह गया। इसके अतिरिक्त महाशक्तियो की यह हृदयगत इच्छा रही कि वे नए यान बनाने और यातायात की नई तकनीकें विकसित करने मे मुक्त हस्त का प्रयोग करें। विभिन्न विरोधी हितो के बीच कोई समझौता होना इससे पहले ही विश्वयुद्ध के बादल उमडने लगे।

शिकागो नागरिक उड्डयन सम्मेलन—द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान योरोपीय तटस्थ राज्यों ने अपने राष्ट्रीय आकाश की रक्षा के लिए घुसपैठिए युद्धकारी यानों पर गोलाबारी की। कुछ तटस्थ राज्यों का व्यवस्थापन यह व्यवस्था करता था कि गोलाबारी करने से पूर्व यान को पहले चेतावनी दे दी जाए। द्वितीय विश्वयुद्ध चल ही रहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन सम्मेलन 1 नवम्बर, 1944 को शिकागो में बुलाया गया। इसमें 54 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में महाशक्तियों के दृष्टिकोण अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विरोधी और संघर्षपूर्ण बने रहे और इसलिए सभी बातों पर समझौता नहीं किया जा सका। फिर भी सम्मेलन का महत्त्व इसलिए है कि इसमें एक अभिसमय तथा तीन समझौते और अनेक प्रस्तावों एवं सिफारिशों पर हस्ताक्षर किए गए।

अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन अभिसमय को युद्धोपरान्त हवाई संसार का संविधान भी कहा जाता है। यह एक व्यापक समझौता है जिसमें नागरिक उड्डयन के सभी पहलुओं को समाहित किया गया है। अनुसूचित हवाई सेवाओं के नियमन को छोड़ दिया गया है। इसके लिए अलग से समझौते किए गए हैं। अभिसमय में 22 अध्याय और 96 धाराएँ हैं। इसकी धारा 1 में यह माना गया है कि *समझौता करने वाले राज्यों के अनुसार प्रत्येक राज्य को अपने प्रादेशिक आकाश पर अनन्य* एवं पूर्ण सम्प्रभुता का अधिकार है। जो यान अन्तर्राष्ट्रीय अनुसूचित हवाई सेवाओं में संलग्न नहीं है उनको समझौते में शामिल सभी राज्यों के ऊपर उड्डयन का अधिकार है। ये गैर-यातायात के उद्देश्य के लिए विराम ले सकते हैं और इसके लिए उन्हें पहले से अनुमति प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक राज्य अपनी आन्तरिक उडान पर एकाधिकार रख सकता है। विमान की राष्ट्रीयता वही होती है जिसमें उसे पंजीकृत किया है गया। प्रत्येक राज्य किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय वायु सेवा के अपने प्रदेश में से जाने वाले मार्ग को स्वयं तय करने का अधिकार रखता है। समझौते में यह व्यवस्था की गई थी कि जिन परिस्थितियों के कारण अन्याय और कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं उनकी जाँच के लिए समझौता करने वाले पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन से माँग कर सकते हैं।

अभिसमय द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन (ICAO) की स्थापना की गई। इसमें एक भाषा, एक परिषद् और दूसरे आवश्यक निकाय रखे गए। संगठन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय वायु यातायात के सिद्धान्तों एवं तकनीकों को विकसित करना तथा प्रोत्साहित करना है। परिषद् में समझौता करने वाले सभी राज्यों के प्रतिनिधि रखे गए। ये प्रतिनिधि समानता के सिद्धान्त के आधार पर मतदान करते हैं। परिषद् को एक स्थाई निकाय बनाया गया। इसमें सभा द्वारा निर्वाचित 21 राज्य रखे गए जो सभा के प्रति उत्तरदायी बनाए गए। परिषद् का एक अध्यक्ष और महासचिव रखा गया। परिषद् का कार्य सभा के निर्देशों का क्रियान्वित करना, अपने अध्यक्ष का निर्वाचन करना तथा संगठन का महासचिव नियुक्त करना रखा गया था।

परिषद् के अधिवेशन प्राय निरन्तर रूप से होते थे। परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यातायात के लिए मापदण्ड बनाए जाते थे और इस विषय से सम्बन्धित सूचनाओं को इसके द्वारा एकत्रित, परीक्षित और प्रकाशित किया जाता था। परिषद् सम्बन्धित देशों की प्रार्थना पर अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन के सम्बन्ध में उत्पन्न विवादों को सुलझाने के लिए न्यायाधिकरण का कार्य कर सकता था। परिषद् की सहायता के लिए हवाई यातायात आयोग और विभिन्न समितियाँ रखी गईं, जिनका सम्बन्ध कानूनी मामलों, वित्तीय मामलों, वायु-यातायात आदि से था। वायु यातायात आयोग में परिषद् द्वारा नियुक्त 12 सदस्य-राज्य रखे गए।

सगठन की सभा में सभी सदस्य-राज्य शामिल किए गए। यह वार्षिक रूप से परिषद् द्वारा आहूत की जाती थी। सभा को सगठन की नीति निर्धारित करने, बजट बनाने और ऐसे प्रश्नों पर विचार करने का काम सौंपा गया जो परिषद् को नहीं सौंपे गये थे।

महासचिव सगठन के कार्यपालिका अधिकारी के रूप में कार्य करता था। यह सचिवालय के स्टॉफ की नियुक्त करता था। इस सगठन का मुख्य कार्यालय मॉन्ट्रीयल (Montreal) में था किन्तु इसके पाँच क्षेत्रीय कार्यालय भी थे जो सगठन और इसके विभिन्न सदस्य राज्यों के बीच एक कड़ी का काम करते थे।

सगठन के उद्देश्य एक लक्ष्य, अन्तर्राष्ट्रीय वायु-यातायात के सिद्धान्तों और तकनीकों का विकास करना था। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय वायु-यातायात के नियोजन और विकास को प्रोत्साहन देने का कार्य भी इसे सौंपा गया। सगठन को दिए गए कार्यों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

1 सारे ससार में अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन के सुरक्षित और व्यवस्थित विकास को सम्भव बनाना।

2 वायुयानों के डिजाइन की कला को प्रोत्साहित करना और शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए उनको सचालित करना।

3 अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन के लिए वायु मार्गों, विश्राम-स्थलों और वायु यातायात की सुविधाओं को प्रोत्साहित करना।

4 सुरक्षित, नियमित, कुशल और मितव्ययितापूर्ण वायु-यातायात की दुनिया के लोगों की आवश्यकता को पूरा करना।

5 अनुपयुक्त स्पर्द्धा के कारण उत्पन्न होने वाले आर्थिक अपव्यय को रोकना।

6. ऐसी व्यवस्था करना जिसमें समझौता करने वाले राज्यों के सभी अधिकारों का पूरी तरह आदर किया जाए और अन्तर्राष्ट्रीय वायु मार्गों का प्रयोग करने का सभी को उपयुक्त अवसर मिले।

7. समझौता करने वाले राष्ट्रों के बीच स्थित असमानता को दूर करना।

8. अन्तर्राष्ट्रीय वायु यातायात में उड़ान की सुरक्षा को प्रोत्साहन देना।

यह कहा गया कि सगठन को समझौता करने वाले प्रत्येक राज्य में ऐसा कानूनी स्तर प्रदान किया जाएगा जो इसके कार्यों को सम्पन्न करने की दृष्टि से

आवश्यक हो। सम्बन्धित राज्यो के सविधान और कानूनो के अनुरूप इस सगठन को पूरा न्यायिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया।

सगठन ने अपनी स्थापना-काल के बाद महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। सन् 1948 का 'विमानो मे अधिकारो की अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता का अभिसमय' और सन् 1952 का "सतह पर तीसरे पक्षों के लिए तीसरे विदेशी यान द्वारा की गई हानि पर अभिसमय" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वायु यातायात मे सुविधा और सुधार लाने के लिए जो आवश्यक एकरूपता वांछनीय है उसके लिए नियमों, मापदण्ड, प्रक्रियाओ और सगठन मे परिवर्तन करके विमानों, सेवीवर्ग, वायुमार्ग और सहायक सेवा आदि की दृष्टि से एकरूपता स्थापित करने का प्रयास किया गया। सगठन ने मापदण्डो और व्यवहारो के 14 नियम स्वीकार किए जिनको अभिसमय के साथ जोड दिया गया।

अनेक सदस्य राज्यो ने सगठन के सुझावो के अनुरूप अपनी प्रक्रियाओ को पर्याप्त सरल बना लिया।

वायु यातायात समझौता—इस समझौते के अन्तर्गत जो व्यवस्था की गई उसे पाँच स्वतन्त्रताओं के नाम से भी जाना जाता है। प्रत्येक राज्य की हवाई कम्पनियो को आकाश की पाँच स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गई, ये थी –(1) बिना भूमि पर उतरे विदेशी राज्य मे उडान करने की स्वतन्त्रता, (2) यातायात से भिन्न उद्देश्यों के लिए दूसरे राज्यो मे भूमि पर उतरने की स्वतन्त्रता, (3) वायुयान की राष्ट्रीयता वाले राज्य मे दूसरे देशो की सवारियाँ, डाक और माल उतारने की स्वतन्त्रता, (4) वायुयान द्वारा स्वदेश लौटते हुए मार्ग मे अपने देश के लिए सवारियाँ, डाक और माल लादने की स्वतन्त्रता, (5) समझौते मे शामिल दूसरे राज्य के प्रदेश मे जाने वाले यात्रियो, डाक और माल को लादना अथवा इन प्रदेशो से आने वालों को उतारना। ये सेवाएँ प्रायः उसी मार्ग पर सम्पन्न की जा सकती थीं जो विमान की राष्ट्रीयता वाले राज्य तक जाता है।

उपर्युक्त पाँचो स्वतन्त्रताओं को सम्मेलन मे सयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा प्रस्तावित किया गया। दूसरे देशो ने इनका समर्थन करने मे विशेष रुचि प्रदर्शित नहीं की, फलत दो प्रकार के समझौते किए गए। पहला समझौता अन्तर्राष्ट्रीय हवाई सेवा पारगमन समझौता था। इसमे प्रथम दो स्वतन्त्रताओं को स्वीकार किया गया। दूसरा समझौता अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यातायात समझौता था। इसमे पाँचों स्वतन्त्रताओं को स्वीकार किया गया। इस दूसरे समझौते मे सम्मेलन के आधे से भी कम सदस्यों ने हस्ताक्षर किए।

निर्दोष-गमन का अधिकार—परम्परागत रूप से राष्ट्रीय आकाश पर पूर्ण स्वतन्त्रता के दावे को लागू करने मे प्रमुख समस्या विदेशी विमानों के निर्दोष गमन से सम्बन्ध रखती है। प्रत्येक राज्य को यह अनुमति दी जाती है कि वह अपने यान को दूसरे राज्य के आकाश में प्रविष्ट कर सके और उसे निकाल सके। केवल राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से इस पर नियन्त्रण रखे जा सकते हैं। यदि कोई राज्य राष्ट्रीय

सुरक्षा की दृष्टि से किसी विशेष क्षेत्र को विदेशी जहाजो के लिए बन्द कर देता है तो यह कानूनी कार्य होगा। असल मे जो विदेशी विमान किसी राज्य के राष्ट्रीय आकाश मे होकर गुजर रहे हैं उनके पजीकरण का वह राज्य कही भी निरीक्षण कर सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि राज्यो को अपने प्रदेशो के ऊपर स्थित आकाश पर पूर्ण एव अनन्य सम्प्रभुता प्राप्त है किन्तु फिर भी प्रत्येक राज्य को दूसरे राज्य के प्रदेश पर निर्दोष-गमन का अधिकार है। यह अधिकार सकट के समय अथवा अनुपयुक्त मौसम मे समाप्त हो जाता है। 9 अगस्त, 1946 को सयुक्तराज्य अमरिका का एक वायुयान वियना से यूडाइन के लिए नियमित उडान कर रहा था कि उसे बुरे मौसम का सामना करना पडा, वह भटक गया। ऐसी स्थिति मे यूगोस्लाविया के लडाकू विमानो द्वारा उस पर आक्रमण किया गया और भूमि पर उतरने के लिए बाध्य किया गया। सयुक्तराज्य अमेरिका ने इसका विरोध किया और यह जानना चाहा कि क्या निर्दोष गमन के अधिकार और आन-सौजन्य की आशा यूगोस्लाव सरकार से नही की जा सकती थी? इस विरोध-पत्र का उत्तर प्राप्त होने से पहले ही एक अन्य नि.शस्त्र अमेरिकी यातायात विमान को 19 अगस्त को यूगोस्लाव के वायुयान द्वारा नीचे गिरा दिया गया जिसके कारण एक यान चालक की मृत्यु हो गई। दूसरे विरोध के उत्तर मे यूगोस्लाविया सरकार ने दु ख प्रकट करते हुए कहा कि जब विमान को राज्य की सूचनाओं की अवज्ञा करने पर गिरा दिया गया तब यान-चालक की मृत्यु हुई। इसके बाद मार्शल टीटो ने यह कहा कि भविष्य मे विमानो को गिराया नहीं जायेगा किन्तु उनको भूमि पर आमन्त्रित किया जाएगा। यदि वे आने से मना कर दें तो उन्हे पहिचानने के लिए कोई भी उचित कदम उठाया जा सकता है। सयुक्तराज्य अमेरिका ने अपनी सम्पत्ति और जीवन के लिए होने वाली हानि के मुआवजे का दावा किया। ऐसे भी अवसर आते हैं जब एक राज्य का विमान अपना रास्ता भूल जाता है, ऐसी स्थिति मे उसे भूमि पर उतरने के लिए बाध्य किया जा सकता है। विमानो को गिराने या अन्य प्रकार का नुकसान करने के सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार नहीं है। इसलिए इन पर कोई न्यायिक कार्यवाही नही होती।

सन् 1955 मे एक इजरायली विमान को बल्गारिया के प्रदेश पर गिरा लिया गया। इसके परिणामस्वरूप 51 यात्रियो की मृत्यु हो गई, किन्तु क्षेत्राधिकारी के अभाव मे न्यायालय कुछ भी न कर सका।

जिस प्रकार सकट के समय जलपोत को दूसरे राज्य के प्रादेशिक समुद्र मे आने का अधिकार होता है उसी प्रकार मौसम खराब होने पर अथवा यान मे किसी प्रकार की गडबडी होने पर यान को अधिकार है कि वह दूसरे राज्य के राष्ट्रीय आकाश मे प्रवेश कर ले अथवा भूमि पर उतर आए। इस प्रकार की घुसपैठ के समय यान के अधिकारों को राष्ट्रीय नियमन द्वारा प्रशासित किया जाता है। कई अवसरो पर इसके परिणाम बड़े भयानक होते हैं। अप्रत्याशित और अनुपयुक्त उड़ान की परिस्थितियों मे जहाज का भटक जाना स्वाभाविक होता है।

वायु मार्गी घुसपैठ—विदेशी यानों द्वारा राष्ट्रीय आकाश में घुसपैठ के कारण विभिन्न देशों के बीच अनेक विवाद और विरोधी दावे उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा ही एक मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने आया और एक गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न हो गया। वायु मार्गी घुसपैठ के कुछ उदाहरणों का उल्लेख अभी किया जा चुका है। इस सम्बन्ध में जो सिद्धान्त क्रियान्वित किया जाता है वह यह है कि राष्ट्रीय आकाश पर प्रत्येक राज्य को अनन्य और पूर्ण सम्प्रभुता प्राप्त है यदि कोई विदेशी वायुयान बिना अनुमति के दूसरे राज्य के आकाश में घुस आता है तो सम्बन्धित राज्य विभिन्न विकल्पों में से किसी एक को अपना सकता है, ये हैं—वह घुसपैठिये की अवहेलना कर सकता है, उसे नीचे उतार कर उसके यान तथा यान वाले व्यक्तियों पर प्रशासनिक एवं न्यायिक सत्ता का प्रयोग कर सकता है, घुसपैठ का मामला स्पष्ट होने पर वह विमान को नष्ट कर सकता है, विमान को अपना आकाश छोड़ने के लिए बाध्य कर सकता है अथवा उसे मार्ग बदलने या निर्धारित क्षेत्र में जाने के लिए बाध्य कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उल्लेखित कुछ मामलों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यों ने सरकारी यानों और गैर-सरकारी यानों के बीच कोई भेद नहीं किया। बहुत कम उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनमें अनाधिकृत नागरिक विमान के घुसपैठियों की सम्पत्ति जमीन पर उतारने के बाद जब्त की गई हो।

इस सम्बन्ध में संयुक्तराज्य अमेरिका और यूगोस्लाविया के विवाद तथा इजरायल और बल्गारिया के विवाद का उल्लेख किया जा चुका है। यू–2 विमान की घटना भी उल्लेख रखती है।

वायु सुरक्षा परिचय क्षेत्र (Air Defence Identification Zones, 1950)—महासमुद्रों के ऊपर उड़ान की सभी राज्यों को पूर्ण सम्प्रभुता सौंपी गई है। संयुक्तराज्य अमेरिका तथा कनाडा ने सन् 1950 में ADIZ की स्थापना की जो उनके प्रादेशिक समुद्र के नजदीक वाले महासमुद्र से सम्बन्ध रखती है। इन क्षेत्रों में घुसपैठ करने वाले किसी भी विदेशी यान को न तो रोका गया है और न ही कभी उन पर आक्रमण किया गया है। सभी प्रवेशकर्त्ता यानों से यह प्रार्थना की जाती है कि वे अपना परिचय जाहिर करें।

बाह्य अन्तरिक्ष पर क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction over Outer Space)

वायुयानों की तकनीकों में होने वाले आश्चर्यजनक आविष्कारों के परिणाम-स्वरूप बाह्य अन्तरिक्ष में प्रादेशिक प्रभुता का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गया है। अन्त महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र, कृत्रिम उपग्रह, स्पुतनिक एवं चन्द्रयान आदि के आविष्कारों के परिणामस्वरूप यह आवश्यक बन गया है कि आकाश में क्षेत्राधिकार के प्रश्न पर नए सिरे से विचार किया जाए। प्रो. स्टार्क का यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि "इस क्षेत्र में होने वाले वैज्ञानिक विकास के कारण आकाश की प्रभुता के सिद्धान्त का पुनर्निर्माण करना होगा।" अक्तूबर, 1957 में सोवियत संघ ने अपना कृत्रिम

उपग्रह स्पुतनिक छोड़कर बाह्य आकाश के प्रयोग के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी की। अपोलो 11 तथा 12 को चन्द्रमा पर भेज कर संयुक्तराज्य अमेरिका ने इस दिशा मे आश्चर्यजनक प्रगति दिखाई है। बाह्य अन्तरिक्ष मे होने वाले इन विकासों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न स्थिति के कारण अमेरिका के राष्ट्रपति आइजन हॉवर ने सभी देशों के लिए खुले आकाश का प्रस्ताव रखा था। सोवियत रूस ने इस प्रस्ताव का तीव्र विरोध किया।

यह सच है कि प्रादेशिक आकाश मे असीम ऊँचाई तक पूर्ण प्रभुसत्ता का *पुराना दावा आज समाप्त हो चुका है। विभिन्न राज्य 50 मील से 230 मील तक* की ऊँचाई तक दूसरे राज्यो के प्रदेश म V-2 प्रक्षेपणास्त्र और रेडियो तहरें भेजने लगे हैं। इससे ऊपर भी आकाश म कृत्रिम उपग्रह भेजे जाने लगे हैं। व्यावहारिक रूप स यह सम्भव नही होता है कि इन उपग्रहो का मार्ग निश्चित करते समय दूसरे राज्यो के प्रादेशिक आकाश का ध्यान रखा जाए। ये उपग्रह अन्य राज्यो की प्रादेशिक सीमा मे प्रवेश करते हैं किन्तु दूसरे राज्य को इससे कोई बाधा नहीं होती।

कानूनी लेखकों ने इस सम्बन्ध मे अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। विदेशी आकाश मे ऊँची उड़ानों और प्रक्षेपणास्त्रों के सम्बन्ध में कानूनी लेखकों के तर्क मुख्यत *दो मान्यताओं पर आधारित हैं—प्रत्येक राज्य आत्म-रक्षा की कार्यवाही कर* सकता है और राष्ट्रीय आकाश पर राज्य का अनन्य अधिकार होता है। एक पक्ष का कहना है कि आत्म-रक्षा का विचार शान्तिकाल मे कोई महत्त्व नहीं रखता और इसलिए कैमरा तथा हथियार से युक्त यानो द्वारा दूसरे राज्यो के प्रदेशो में जासूसी करना सर्वथा गैर-कानूनी है। इसके विपरीत दूसरा दृष्टिकोण यह मानता है कि आज के अणु शस्त्रो के युग में सभी राष्ट्रों को चन्द मिनिटों मे नष्ट किया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक समर्थ राज्य को यह अधिकार है कि आत्म-रक्षा की दृष्टि से दूसरे राज्यों की क्षमताओं का पता लगाता रहे। स्पष्ट है कि अपने राष्ट्रीय आकाश मे प्रवेश करने वाले विदेशी जहाज को गोली मारने का अधिकार भी एक राज्य की आत्म-रक्षा की दृष्टि से आवश्यक है। इसका कारण यह है कि राडार यन्त्र द्वारा नि शस्त्र गश्ती विमान, अनुसन्धानकर्ता विमान, प्रक्षेपणास्त्र या उपग्रह, जो अणु-*शस्त्रो से लैस है के बीच कोई अन्तर नहीं किया जा सकता।*

इस सम्बन्ध मे सोवियत संघ और संयुक्तराज्य अमेरिका के अनेक लेखको ने धरती के उपग्रह के सम्बन्ध मे एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि भूमि उपग्रह घुसपैठ द्वारा दूसरे *राज्य के आकाश का उल्लंघन नही करता* क्योंकि यह दूसरे राज्यो के आकाश मे नही उड़ता है वरन् उनके प्रदेश म उड़ता है। उपग्रह की धुरी धरती और सितारो के सम्बन्ध से सीधी रेखा पर होती है तथा राज्यों के राष्ट्रीय प्रदेश इस उपग्रह के नीचे आते हैं और फिर घूम जाते हैं। उपग्रह जहाँ उड़ता है वहाँ प्राय: हवा नहीं होती और इसलिए हम उसे परम्परागत अथवा कानूनी रूप मे वायुयान नहीं कह सकते।

बाह्य अन्तरिक्ष की समस्या निरन्तर गम्भीर होती जा रही है। मानव की

खोजों का एक प्रमुख क्षेत्र जब से बाह्य अन्तरिक्ष बना है तब से आकाश में यात्रा से सम्बन्धित अनेक कानूनी प्रश्न उभरने लगे हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी यह समस्या विचार का विषय बनी। सन् 1957 से ही बाह्य अन्तरिक्ष की विभिन्न समस्याओं पर संघ की समितियों में विचार-विमर्श किया जाता रहा है। 13 दिसम्बर, 1958 को संघ की महासभा ने बाह्य अन्तरिक्ष की कानूनी समस्या के अध्ययन से सम्बन्धित एक एडहॉक समिति नियुक्त की ताकि बाह्य अन्तरिक्ष के शान्तिपूर्ण प्रयोगों पर विचार किया जा सके। इस समिति में चेकोस्लोवाकिया, फ्रांस, भारत, ईरान, इटली, जापान, अर्जेन्टाइना, ऑस्ट्रेलिया, बेल्जियम, ब्राजील, कनाडा, मैक्सिको, पोलैण्ड, स्वीडन, सोवियत संघ, अरब गणराज्य, ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका के प्रतिनिधि थे। इनमें से सोवियत संघ, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया ने समिति के कार्यों में भाग न लेने की तुरन्त घोषणा कर दी क्योंकि इसमें पश्चिमी शक्तियों का बहुमत था। भारत और अरब गणराज्य ने भी शक्ति-संघर्ष से बचने के लिए समिति के कार्यों से अलग रहना उचित समझा।

समिति ने अपनी बैठकें मई, 1959 में प्रारम्भ की और एक तकनीकी तथा एक कानूनी समिति बनाई। कुछ सप्ताहों बाद इन दोनों समितियों ने अपना प्रतिवेदन मूल समिति को प्रस्तुत किया। तकनीकी समिति ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के विभिन्न अभिकरणों से विचार-विमर्श के बाद यह सिफारिश की कि बाह्य अन्तरिक्ष के अनुसंधान के होने वाले भारी व्यय को देखते हुए यह कार्य राष्ट्रीय-स्तर का न होकर विश्व व्यापी स्तर का होना चाहिए। कानूनी समिति ने यह सुझाव दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के चार्टर के प्रावधानों को सिद्धान्त रूप से धरती तक सीमित नहीं रखना चाहिए। इसे जहाँ तक सम्भव हो सके बाह्य अन्तरिक्ष पर भी लागू किया जाना चाहिए। यह सुझाया गया कि अनुसंधान एवं प्रयोग के लिए बाह्य अन्तरिक्ष की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाना चाहिए। किसी भी समिति ने यह सुझाव नहीं दिया कि राष्ट्रीय आकाश की उच्चतम सीमा निर्धारित की जाए। कोई राज्य विभिन्न ग्रहों, सितारों और खगोल मण्डल के दूसरे भागों पर सम्प्रभुता का अधिकार नहीं रखता। दोनों ही समितियाँ बाह्य आकाश के शान्तिपूर्ण उद्देश्य के लिए प्रयोग पर सहमत हो गईं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में विचार विमर्श के बाद बाह्य अन्तरिक्ष के कानूनी दर्जे के बारे में मुख्य रूप से चार दृष्टिकोण प्रकट किए गए—

1. बाह्य अन्तरिक्ष, चन्द्रमा और दूसरे ग्रहस्वामीहीन प्रदेश हैं। कोई राज्य इन पर आवेशन (Occupation) आदि उन्हीं साधनों द्वारा अधिकार रख सकता है जिनसे वह स्वामीहीन प्रदेशों पर अधिकार रखता है।

2. अन्तरिक्ष और आकाश के ग्रह-नक्षत्रों पर अधिकार करना असम्भव है और अनुचित भी है।

3. बाह्य अन्तरिक्ष और ग्रह-नक्षत्र सभी राज्यों के शाश्वत प्रयोग के लिए खुले रहने चाहिए।

4. बाह्य अन्तरिक्ष और आकाश के पिण्डों पर किसी राज्य का व्यक्तिगत स्वामित्व अथवा नियन्त्रण स्थापित नहीं किया जा सकता। हवा और पानी की भांति यह सभी के सामान्य उपभोग की चीज है। इनके दुरुपयोग को रोकने के लिए दूसरे राज्यों को इनसे खतरा या नुकसान होने से रोकने के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की स्थापना की जा सकती है।

संयुक्तराज्य अमेरिका ने सन् 1957 में यह सुझाव प्रस्तुत किया कि बाह्य अन्तरिक्ष का असैन्यीकरण कर दिया जाए। इसके साथ-साथ निरीक्षण के लिए भी व्यवस्था की जाए। अणुशस्त्रों के सम्बन्ध में ऐसी कोई व्यवस्था न होने के कारण बाह्य आकाश के सम्बन्ध में इसका होना कठिन प्रतीत होता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने 20 दिसम्बर, 1961 को सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव में यह कहा गया कि संघ का चार्टर और इसके सिद्धान्त बाह्य आकाश पर भी लागू होते हैं। आकाश के शान्तिपूर्ण प्रयोग में मानव-जाति का सामान्य हित है। बाह्य अन्तरिक्ष सभी राज्यों के अनुसंधान और उपयोग के लिए स्वतन्त्र है। महासभा ने यह परिभाषित करने का प्रयास किया है कि राष्ट्रीय आकाश कहाँ समाप्त होता है और बाह्य अन्तरिक्ष कहाँ प्रारम्भ होता है। महासभा के प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि अन्तरिक्ष में और उसके परे किसी भी उद्देश्य से किए जाने वाले कार्यों का पंजीकरण बाह्य अन्तरिक्ष समिति में किया जाना चाहिए। यह प्रस्ताव आकाश में किसी भी राज्य को अकेले कार्य करने से रोकता है। ये दृष्टिकोण एक प्रस्ताव द्वारा अभिव्यक्त किए गए जो यद्यपि कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं रखते फिर भी सामान्य सहमति को अभिव्यक्त करते हैं। इस सम्बन्ध में संहिताकरण की आवश्यकता है। इसको लागू करने के लिए भी कोई प्रक्रिया होनी चाहिए।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने 19 दिसम्बर, 1966 को बाह्य अन्तरिक्ष में चन्द्रमा और अन्य खगोलीय पिण्डों के अनुसंधान के सम्बन्ध में विभिन्न कार्य करने के सिद्धान्तों के बारे में एक सन्धि का प्रस्ताव पारित किया। विश्व के प्रमुख देशों ने इस पर हस्ताक्षर किए। 27 जनवरी, 1967 को अमेरिका और सोवियत संघ तथा 3 मार्च, 1967 को भारत ने इस पर हस्ताक्षर किए। दुनिया के प्रमुख राजनीतिज्ञों ने इस सन्धि को महत्त्वपूर्ण बताया। राष्ट्रपति जॉनसन ने इसे सन् 1963 की अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि के बाद शस्त्रों के नियन्त्रण की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सन्धि कहा है। ब्रिटिश विदेश मन्त्री ब्राउन के कथनानुसार यह सन्धि विधि के शासन के क्षेत्र को व्यापक बनाती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में अमेरिकी प्रतिनिधि श्री गोल्डबर्ग ने सन्धि पर हस्ताक्षर करते हुए कहा कि—'सभी सदस्य-राज्य इस पर गर्व कर सकते हैं। यह शान्ति की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। यह एक महान् ऐतिहासिक प्रगति को सूचित करती है। हमें आशा है कि शान्ति का निर्माण करने वाले ऐसे समझौते बढ़ते चले जाएंगे।"

यह सन्धि संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा बाह्य अन्तरिक्ष के शान्तिपूर्ण प्रयोग के

1 सैनिक अड्डे स्थापित करने का निषेध केवल चन्द्रमा व अन्य खगोलीय पिण्डो के सम्बन्ध मे किया गया है तथा बाह्य अन्तरिक्ष को जानबूझकर छोड दिया गया है। इसका अर्थ यह भी निकाला जा सकता है कि बाह्य अन्तरिक्ष, सैनिक अड्डे स्थापित करने के लिए खुला हुआ है।

2. सन्धि मे कोई धारा स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था नहीं करती कि बाह्य अन्तरिक्ष मे सभी कार्य शान्तिपूर्ण उद्देश्यो के लिए सम्पन्न किए जाएँगे। ऐसी स्थिति मे अन्तरिक्ष मे उडने वाले जहाजो का प्रयोग जासूसी और सैनिक उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है। यदि सन्धि मे इसके विरुद्ध कोई प्रावधान रखा जाता तो अन्तरिक्ष मे विचरण करने वाले यानो पर नियन्त्रण और निरीक्षण की समस्या गम्भीर बन जाती।

3 बाह्य अन्तरिक्ष में ऐसे प्रचार-कार्य पर रोक नहीं लगाई गई है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरा पैदा करते हैं।

सन्धि क दोषो को सयुक्त राष्ट्रसघ के महासचिव यूथान्ट ने इन शब्दो में स्वीकार किया—"मुझे यह देखकर दु ख होता है कि अभी तक बाह्य अन्तरिक्ष मे सैनिक कार्यवाहियाँ करने का मार्ग बन्द नहीं हुआ है।" विभिन्न दोषों और आलोचनाओ के होते हुए भी यह सच है कि सन्धि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रभुता के क्षेत्र को व्यापक बना कर एक नए युग का श्रीगणेश करती है।

रेडियो सचार (Radio Communications)

20वी शताब्दी के प्रारम्भ मे बेतार के तार द्वारा खबरें भेजने से सम्बन्धित आविष्कार ने क्षेत्राधिकार के उन्ही सामान्य सिद्धान्तो को जन्म दिया जो वायुयानों के आविष्कार के कारण उत्पन्न हुए थे। इस सम्बन्ध मे सम्प्रभुता की समस्या इतने बहु रूप मे विचार-विमर्श का विषय नहीं बनी। सन् 1906 मे बर्लिन मे एक अन्तर्राष्ट्रीय बेतार के तार अभिसमय पर हस्ताक्षर किए गए। इसके बाद सन् 1912 मे लन्दन मे इसी प्रकार के अभिसमय पर हस्ताक्षर हुए। इन अभिसमयो मे सचारो की तकनीकों पर विचार किया गया।

सन् 1906 मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सस्थान ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि वायु स्वतन्त्र है। राज्यो को शान्तिकाल और युद्धकाल मे वही अधिकार हैं जो उनकी आत्मरक्षा के लिए जरूरी हैं। क्षेत्राधिकार की कानूनी समस्या ऐसे साधन खोजना थी जिनके आधार पर सकटकाल मे नियन्त्रण स्थापित किया जा सके और शान्तिकाल मे प्रसारण की एक व्यवस्था के दूसरी व्यवस्था के साथ होने वाले सघर्ष को रोका जा सके।

सन् 1927 मे एक अन्तर्राष्ट्रीय रेडियो तार सम्मेलन वाशिंगटन मे बुलाया गया। इसमें 25 नवम्बर, 1927 को 78 सरकारों के प्रतिनिधियों ने एक अन्तर्राष्ट्रीय रेडियो अभिसमय पर हस्ताक्षर किए। यह अभिसमय इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था कि इसके प्रावधान सन्धि में शामिल सरकारों द्वारा स्थापित या चलाए जाने वाले सभी रेडियो संचार स्टेशनों पर लागू होते हैं और सार्वजनिक पत्र व्यवहार

की अन्तर्राष्ट्रीय सेवा के लिए खुले हुए हैं। रेडियो पत्राचार की गोपनीयता की यथासम्भव रक्षा करने के लिए भी प्रावधान रखे गए। सन्धि मे शामिल सरकारें इस सम्बन्ध मे सहमत थीं कि वे इन प्रावधानो को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक व्यवस्थापन करेंगी। रेडियो स्टेशनों की सेवा, सगठन और प्रकृति के सम्बन्ध मे पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थन किया गया। रेडियो सचारों से सम्बन्धित तकनीकी प्रश्नो का अध्ययन करने के लिए रेडियो सचार पर एक अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी आयोग स्थापित किया गया। अभिसमय के साथ जोड़े गए सामान्य विनियमो में अन्य बातो के साथ एक मुख्य बात यह थी कि विशेष सरकारी लाइसेंस के बिना कोई गैर-सरकारी रेडियो स्टेशन स्थापित नही किया जा सकता। इस अभिसमय ने रेडियो तरगो और उन्हें भेजने के प्रकारों के उपयोग तथा आवटन के सम्बन्ध मे व्यवस्था की।

सन् 1932 मे दूरभाषी सचार अभिसमय मैड्रिड (Madrid) में स्थापित किया गया। इसके द्वारा एक नए अन्तर्राष्ट्रीय दूरभाषी सचार सघ की रचना की गई। दूरभाषी सचार की परिभाषा करते हुए अभिसमय के परिशिष्ट मे कहा गया कि तार, रेडियो या अन्य व्यवस्था अथवा विद्युत एव दृश्य निशानो की प्रक्रियाओं द्वारा किसी प्रकार के चिह्न, लेखन, प्रतीक और आवाज के रूप मे किया जाने वाला कोई भी तार या दूरभाषी सचार इसके अन्तर्गत आएगा। तार, दूरभाषी यन्त्र और रेडियो के नियमन के लिए अलग-अलग व्यवस्थाएँ की गई। यह प्रावधान था कि अभिसमय की शर्तें सन्धि करने वाले देशों पर केवल तभी लागू होगी जब उन्हें वे स्वीकार करें। स्विस सरकार के परिवेक्षण के अधीन बर्न मे एक अन्तर्राष्ट्रीय दूरभाषी सचार सघ के ब्यूरो नामक केन्द्रीय कार्यालय की स्थापना की गई। इस अभिसमय के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय पत्र-व्यवहार की गोपनीयता बनाए रखने के लिए हर सम्भव प्रयास करने के लिए कहा गया।

सन् 1938 मे कैरो मे सघ के दो अलग-अलग सम्मेलन हुए। एक तार और दूरभाषी सम्मेलन और दूसरा रेडियो सम्मेलन। दोनो का उद्देश्य सन् 1932 मे मैड्रिड मे स्वीकार किए गए नियमो को बदलना था। रेडियो सम्मेलन की विशेष बात यह थी कि इसमे अन्तर्राष्ट्रीय वायु मार्गों के लिए एक योजना स्वीकार की गई। 2 सितम्बर, 1947 को एक नए दूरभाषी सचार अभिसमय और उससे सम्बन्धित नियमों पर अटलांटिक नगर म हस्ताक्षर किए गए। इसमे सभी प्रारम्भिक समझौतों को गौण बना दिया गया। इसके बाद इस विषय पर दूसरे अभिसमय भी स्वीकार किए गए। यहाँ मुख्य प्रश्न यह है कि क्या एक राज्य को दूसरे राज्य के विरुद्ध ऐसा अवांछित और विरोधी प्रचार करने से रोका जा सकता है जिसमें वह किसी स्थापित सरकार के विरुद्ध विद्रोहियो को भड़काता है। यदि ऐसा किया जाए तो इसके लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था करनी होगी और ऐसा करने में राष्ट्रीय सविधान के अन्तर्गत दी गई बोलने की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना होगा।

13 राष्ट्रीयता, आश्रय और प्रत्यर्पण
(Nationality, Asylum and Extradition)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति से है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के व्यक्ति राष्ट्र होते हैं। इन राष्ट्रों के सदस्य किस प्रकार परस्पर भिन्न समझे जाते हैं और कौनसी विशेषताएँ एक राष्ट्र के सभी सदस्यों में परस्पर मिलती हैं, यह प्रश्न विचारणीय है। इसके लिए हमें राष्ट्रीयता, उसकी प्राप्ति के उपाय तथा खोने के कारणों आदि का अध्ययन करना होगा।

राष्ट्रीयता की भिन्नता प्रत्यर्पण की समस्या उठाती है जिसके अन्तर्गत एक देश से भागे हुए अपराधी को उस देश की प्रार्थना पर सौंपा जाता है। यदि संसार में विभिन्न राष्ट्र न रहे होते तो प्रत्यर्पण की समस्या भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय न बनी होती क्योंकि सम्भवतः राज्यों में परस्पर भिन्नता का आधार तब इतना सुदृढ़ नहीं होता। प्रस्तुत अध्याय में हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इन दोनों महत्त्वपूर्ण विषयों का अध्ययन करेंगे।

राष्ट्रीयता का अर्थ एवं स्वरूप
(Meaning and Nature of Nationality)

नागरिक और राष्ट्रिक—एक व्यक्ति की राष्ट्रीयता उसके तथा राज्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। प्रत्येक राज्य में अनेक प्रकार के लोग रहते हैं जिन पर वह अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता है। राज्य का सम्बन्ध मुख्यतः उनसे है जो सच्चे अर्थों में उसके सदस्य हैं तथा नागरिक हैं। इस सम्बन्ध में कानूनी लेखक और विभिन्न देशों के व्यवस्थापक प्रायः दो शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो आवश्यक रूप से हमेशा समानार्थक नहीं होते, ये हैं—नागरिक और राष्ट्रिक। नागरिकता से सम्बन्धित प्रत्येक राज्य के कानून भिन्न होते हैं। इसलिए राष्ट्रिक और राष्ट्रीयता शब्दों का अर्थ हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून की भाषा में लेना चाहेंगे।

राज्यों व नागरिकों के बीच का सम्बन्ध एक ऐसी कड़ी का प्रतिनिधित्व करता है जिसके माध्यम से व्यक्ति को साधारणतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संरक्षण

और लाभ प्राप्त हो जाता है। यदि एक व्यक्ति अपने राज्य में राष्ट्रीयता के बन्धन से बँधा हुआ नहीं है तो उसके लिए दूसरी सरकार द्वारा की गई गलती के विरुद्ध संरक्षण प्राप्त नहीं हो सकेगा। राष्ट्रीयता के बन्धन के बिना कोई सरकार उसके हित को अपना हित मानकर नहीं चलेगी और उसकी रक्षा के लिए कोई कार्यवाही नहीं करना चाहेगी। संयुक्तराज्य अमेरिका में राष्ट्रिक का अर्थ एक ऐसे व्यक्ति से है *जो राज्य के प्रति स्थाई रूप से स्वामी-भक्ति रखता है।* राष्ट्रीयता से युक्त व्यक्ति के साथ यदि कोई विदेशी राज्य अन्याय करता है तो उसका स्वयं का राज्य उसे न्याय प्रदान करने की पूरी चेष्टा करेगा। राष्ट्रीय स्तर पर जो स्थिति एक अनाथ की मानी जा सकती है वही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक राष्ट्रीयताहीन व्यक्ति की होती है। यही कारण है कि राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में एक विशेष स्थान प्राप्त है।

परिभाषाएँ—विभिन्न विद्वानों ने राष्ट्रीयता की परिभाषा अलग-अलग प्रकार से की है। प्रो. फेनविक ने माना है कि "राष्ट्रीयता एक ऐसा बन्धन है जो एक व्यक्ति *को एक राज्य के साथ सम्बद्ध करके उसका सदस्य बनाती है।* इससे वह उस राज्य का संरक्षण पाने का अधिकारी हो जाता है और राज्य द्वारा बनाए गए कानूनों का पालन करना उसका दायित्व बन जाता है।" यद्यपि आजकल राष्ट्रिक शब्द का प्रयोग प्रजा एवं नागरिक के लिए किया जाता है किन्तु इनको समानार्थक मानना सही नहीं है। प्रो. ओपेनहीम के कथनानुसार, "एक व्यक्ति की राष्ट्रीयता का अर्थ उसका किसी राज्य की प्रजा और इसलिए नागरिक होना है।" किस व्यक्ति को प्रजा समझा जाए, यह निर्धारित करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नहीं वरन् राष्ट्रीय कानून का विषय है। प्रो. हाईड ने राष्ट्रीयता को राज्य और व्यक्ति के मध्य स्थित एक ऐसा सम्बन्ध माना है जिसके कारण राज्य उस व्यक्ति को अपने प्रति निष्ठा रखने वाला समझता है। प्रो. स्टार्क ने *राष्ट्रीयता की परिभाषा करते हुए कहा है कि यह व्यक्तियों के समग्र की समस्या का स्तर है जिसके कार्य, निर्णय और नीतियाँ उन व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले राज्य की कानूनी मान्यता द्वारा अभिव्यक्त किए* जाते हैं। प्रो. केलसन ने माना है कि राष्ट्रीयता या नागरिकता एक व्यक्ति का स्तर है जो कानूनन किसी राज्य का सदस्य है। उसे अलंकारी रूप से उस समुदाय का सदस्य कहा जा सकता है। राष्ट्रीयता का मौलिक आधार एक स्वतन्त्र राजनीतिक समुदाय की सदस्यता है। इस कानूनी सम्बन्ध के परिणामस्वरूप राज्य तथा व्यक्ति दोनों के कुछ अधिकार और कर्त्तव्यों का जन्म होता है।

राष्ट्रीयता का निर्धारण
(Determination of Nationality)

राष्ट्रीयता के निर्धारण का प्रश्न राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र का विषय है। यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय नहीं है। अनेक बार ऐसे अवसर आते हैं जब एक विशेष राज्य की सीमाओं में जन्म लेने वाले लोग परिस्थितिवश दूसरे राज्य में रहने लगते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को किस राज्य का सदस्य माना जाए, यह समस्या बन जाती है। जब एक व्यक्ति एक राज्य से दूसरे राज्य में चला जाता है तो दोनों राज्यों

की सरकारें उसकी निष्ठा का दावा करती हैं और इसके परिणामस्वरूप वह दो प्रकार के अधिकारों व दायित्वों का विषय बन जाता है जो कुछ दृष्टियों से अनन्य होते हैं। इस प्रकार दोहरी नागरिकता की समस्या उठ खड़ी होती है। ऐसी स्थिति में नागरिकता का निर्धारण करना एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन जाती है।

वर्तमान काल में यातायात और सचार के द्रुतगामी साधनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बढ़ गया है। इसके फलस्वरूप विभिन्न राज्यों के राष्ट्रीयता सम्बन्धी कानूनों में विरोध उत्पन्न होने लगा है। सन् 1930 में हेग के सहिताकरण सम्मेलन में राष्ट्रीयता सम्बन्धी अनेक बातों को स्वीकार किया गया। इस अभिसमय की धारा 1 में राष्ट्रीयता सम्बन्धी कानूनों के सघर्ष से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों का उल्लेख किया गया। इसमें कहा गया था कि यद्यपि प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह अपने राष्ट्रिकों का स्वय निर्धारण करे और इस सम्बन्ध में इच्छानुसार कानून बनाए किन्तु ये कानून दूसरे राज्यों की मान्यता केवल तभी प्राप्त कर सकेंगे जब ये अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों, अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजों और राष्ट्रीयता से सम्बन्धित सामान्य रूप से स्वीकृत कानूनी सिद्धान्तों के अनुरूप होंगे। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं है कि राष्ट्रीय कानून द्वारा नागरिकों के बीच किस प्रकार भेद किया जाता है। सन् 1935 में हिटलर की जर्मनी ने कानून द्वारा प्रजा और नागरिक के बीच अन्तर स्थापित किया था। जर्मनी की नागरिकता केवल ऐसे व्यक्तियों तक सीमित थी जिनमें जर्मन खून था। केवल उन्हीं के द्वारा सारे राजनीतिक अधिकारों और जर्मन राष्ट्रीयता का उपयोग किया जाता था। कुछ लेटिन अमेरिकी राज्यों में नागरिकता का अर्थ कुछ राजनीतिक अधिकारों से है जिन्हें दण्ड देकर या अन्य प्रकार से व्यक्ति से छीना जा सकता है। इस प्रकार व्यक्ति नागरिकता खो देता है किन्तु फिर भी उसकी राष्ट्रीयता बनी रहती है। सयुक्तराज्य अमेरिका में राष्ट्रीयता और नागरिकता शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया जाता है। नियमानुसार नागरिक शब्द का प्रयोग पूर्ण राजनीतिक एव व्यक्तिगत अधिकारों से युक्त व्यक्तियों के लिए किया जाता है किन्तु राज्य से बाहर के प्रदेशों में रहने वाले अनेक लोग उसके राष्ट्रिक कहे जाते हैं। वे राज्य के प्रति निष्ठा भाव रखते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से वे उस राज्य के हैं।

एक राज्य की नागरिकता के अर्थ में राष्ट्रीयता को किसी राज्य की जातिगत सदस्यता नहीं समझनी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी राज्य की जातिगत भिन्नताओं को महत्त्व नहीं देता किन्तु उनकी राष्ट्रीयता को देखता है। प्रत्येक राज्य के नागरिकता सम्बन्धी नियम और राष्ट्रीयता सम्बन्धी रिवाज एक जैसे नहीं होते। भारतीय राष्ट्रिक होने के लिए किसी जाति-विशेष का सदस्य होना आवश्यक नहीं है। नागरिकता के लिए निर्धारित शर्तें पूरी करने वाला व्यक्ति यहाँ का राष्ट्रिक बन सकता है।

राष्ट्रीयता का अधिकार कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं है। एक राज्य किसी भी व्यक्ति को राष्ट्रीयता देने से मना कर सकता है। सयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च

न्यायालय ने एक विवाद का निर्णय देते समय बताया कि "प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र का यह अन्तर्निहित अधिकार है कि वह अपने संविधान तथा कानूनों के अनुसार स्वयं निर्धारित करे कि किस प्रकार के व्यक्तियों को नागरिकता प्रदान की जा सकती है।" एक अन्य विवाद (Stoeck Vs Public Trustee) के सम्बन्ध में कहा गया कि कोई व्यक्ति किस राज्य का है, इस प्रश्न का निर्णय अवश्य ही उस राज्य की नागरिक विधि द्वारा किया जाएगा जिसका नागरिक होने का दावा व्यक्ति करता है अथवा जिसके सम्बन्ध में यह माना जाता है कि वह व्यक्ति उस राज्य का नागरिक है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि में राष्ट्रीयता का महत्त्व
(Importance of Nationality in International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से राष्ट्रीयता का प्रश्न पर्याप्त महत्त्व रखता है। प्रो. स्टार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से राष्ट्रीयता के निम्नलिखित परिणामों का उल्लेख किया है—

1 राष्ट्रीयता के आधार पर एक व्यक्ति विदेशों में कूटनीतिक संरक्षण पाने का अधिकारी होता है। विदेश में निवास के समय एक व्यक्ति के सम्मुख यदि कोई कानून या राजनीतिक उलझन पैदा होती है तो वहाँ स्थित उसके राज्य का दूतावास पूरी-पूरी सहायता करेगा।

2 यदि किसी विदेशी के कार्यों से एक राज्य को हानि उठानी पड़ती है तो उस हानि का उत्तरदायित्व सम्बन्धित व्यक्ति के राज्य को उठाना पड़ेगा।

3 एक राज्य में स्थित विदेशियों को जब बाहर किया जाता है तो नियमानुसार उनकी राष्ट्रीयता वाले राज्यों द्वारा उन्हें स्वीकार किया जाएगा। लंका, बर्मा, पाकिस्तान अथवा दूसरे किसी भी राज्य से जब भारतीयों को निकाला गया तो उन्हें भारत भूमि पर स्थान दिया गया।

4 राष्ट्रीयता एक व्यक्ति को यह कर्त्तव्य सौंपती है कि वह अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा और राज्य-भक्ति बनाए रखे। इस दृष्टि से आवश्यकता पड़ने पर राज्य की सैनिक सेवा करना व्यक्ति का कर्त्तव्य बन जाता है।

5 एक राज्य अपनी राष्ट्रीयता वाले व्यक्तियों के हितों का प्रमुख रक्षक है। यदि दूसरा राज्य प्रार्थना करता है तो भी एक राज्य का यह सामान्य अधिकार है कि वह अपने राष्ट्रिकों का प्रत्यर्पण न करे।

6 युद्ध के समय किसी व्यक्ति की शत्रुता और मित्रता का ज्ञान उस व्यक्ति की राष्ट्रीयता के आधार पर किया जाता है। यदि व्यक्ति की राष्ट्रीयता शत्रु-राज्य से मिलती है अथवा शत्रु के मित्र राज्य से मिलती है तो वह सम्भवतः मित्र नहीं होगा और यदि व्यक्ति उस राज्य का ही अथवा उसके मित्र-राज्य का राष्ट्रिक है तो वह निश्चय ही मित्र हो सकता है।

7. राष्ट्रीयता के आधार पर राज्य अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता है। किसी मामले में एक राज्य का क्षेत्राधिकार है अथवा नहीं है, इसका निश्चय करने के लिए सम्बन्धित व्यक्तियों अथवा संस्थाओं की राष्ट्रीयता को देखा जाता है। व्यक्तिगत

क्षेत्राधिकार के मामले में एक राज्य को यह अधिकार है कि वह विदेश में अपराध करके आने पर भी अपने नागरिक को उस देश को सौंपने से मना कर दे। इस सम्बन्ध में सर जॉन फिशर विलियम्स का कथन उल्लेखनीय है। उनके मतानुसार वर्तमान संसार ऐसे लोगों का संसार है जो किसी राज्य में अथवा उसके अधीन संगठित हुए हैं। कौनसा नागरिक किस राज्य का है, इस बात का निर्धारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह प्रदेश के निर्धारण की भाँति महत्त्व रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार और कर्त्तव्य पूर्णत लोगों की राष्ट्रीयता पर निर्भर करते हैं। यदि हम यह मान लें कि राष्ट्रीयता के प्रश्नों के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय विधि नहीं है तो अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के अनेक प्रश्न अराजकता के हाथ में चले जाएँगे। यह सच है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार राष्ट्रीयता सामान्य नियम के रूप में राष्ट्रीय विधियों द्वारा निर्धारित की जाती है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता व्यक्तियों और राष्ट्र के कानून के लाभों के बीच की कड़ी है। राष्ट्रीयता का यह कार्य विदेश में रहने वाले लोगों अथवा विदेश में स्थित लोगों की सम्पत्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट होता है। राष्ट्रीयता ही एक मात्र वह नियमित साधन है जिसके माध्यम से व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का लाभ उठा सकते हैं। इसके चार अपवादपूर्ण मामले हैं जिनमें व्यक्ति एक ऐसे राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण में आ सकते हैं जिसके वे सदस्य नहीं हैं। ये निम्न प्रकार हैं—

1 एक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय संधि द्वारा विदेशों में दूसरे राज्य के नागरिकों की कूटनीतिक सुरक्षा का भार अपने सिर पर ले सकता है। ऐसी स्थिति में सुरक्षित विदेशी प्रजा रक्षा करने वाले राज्य की Proteges कही जाएगी। इस प्रकार का समझौता स्थायी अथवा अस्थायी हो सकता है। स्थायी समझौता प्राय. ऐसे छोटे राज्य द्वारा किया जाता है जिसके कूटनीतिक राजनयिक प्रतिनिधि अनेक देशों में नहीं होते किन्तु उसके प्रजाजन बड़ी संख्या में वहाँ रहते हैं। अस्थायी समझौता राजनयिक सम्बन्ध टूटने अथवा युद्ध छिड़ने पर होता है जबकि युद्धकारी राज्य शत्रु देश में अपनी प्रजा की रक्षा का भार तटस्थ राज्य को सौंप देता है।

2 एक राज्य द्वारा संरक्षित राज्य या उसके अधीन किसी भी ऐसे दूसरे क्षेत्र की प्रजा को कूटनीतिक सुरक्षा प्रदान की जाती है जो इसके प्रदेश का भाग नहीं है।

3 कभी-कभी पश्चिमी शक्तियाँ कुछ पूर्वी राज्यों के देशवासियों को कूटनीतिक संरक्षण प्रदान करती हैं। यह सुरक्षा रीति-रिवाजों और सन्धियों पर निर्भर रहती है और उनके सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का कोई विशेष नियम अस्तित्व में नहीं रहता।

4. मेन्डेट प्रदेशों की भाँति न्यास के नए निवासी अपने प्रशासनकर्त्ता राज्य के कूटनीतिक संरक्षण में रहते हैं।

राष्ट्रीयता और स्थाई निवास में भेद
(Difference between Nationality and Domicile)

राष्ट्रीयता और स्थाई निवास में बहुत कम अन्तर है और इसलिए दोनों के

बोध भ्रम उत्पन्न होने का अंदेशा रहता है। राष्ट्रीयता किसी विशेष राष्ट्र अथवा राज्य की सदस्यता से उत्पन्न होने वाला लक्षण है। यह किसी व्यक्ति की राज्य भक्ति का निश्चित करता है। स्थाई निवास या अधिकार वह है जहाँ व्यक्ति निवास करता है। यह व्यक्ति के शारीरिक रूप से एक स्थान पर बसने और वहाँ उसके स्थाई रूप से रहने के इरादे पर निर्भर करती है। स्थाई निवास राष्ट्रीयता का गुण है। राष्ट्रीयता स्थाई निवास से प्राप्त की जा सकती है। स्थाई निवास की अवधि अलग-अलग देशों में अलग अलग होती है। व्यक्ति के निवास की एक निश्चित अवधि होने पर ही उसे राज्य के कानूनी अधिकार एवं कर्त्तव्य सौंपे जाते हैं।

यद्यपि निवास और राष्ट्रीयता में सामान्यतः निकट का सम्बन्ध होता है फिर भी यह अनिवार्य और निरन्तर नहीं होता। एक राष्ट्रिक ऐसा भी हो सकता है जो अपने राज्य में न रहते हुए भी अपनी राष्ट्रीयता से उत्पन्न सभी लाभों का उपयोग करे। दोहरी राष्ट्रीयता के नियम के अनुसार कोई व्यक्ति एक ही साथ दो राज्यों की राष्ट्रीयता प्राप्त कर सकता है किन्तु वह एक साथ दोनों राज्यों में निवास नहीं कर सकता। दुनिया में कोई भी व्यक्ति निवास-रहित नहीं, वह किसी न किसी राज्य में कहीं न कहीं अवश्य रहता है किन्तु वह राष्ट्रीयता-विहीन हो सकता है। नए निवास को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने पुराने निवास स्थान को त्यागे और नए पर रहने के लिए संकल्प करे।

राष्ट्रीयता प्राप्ति के प्रकार
(Modes of Acquisition of Nationality)

आज की परिस्थितियों में यह निर्धारित करना कि कौन व्यक्ति राज्य का विषय है और कौन नहीं है, राष्ट्रीय कानून का कार्य है। विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता की प्राप्ति के विभिन्न तरीकों का पता लगाना कानूनी एवं व्यावहारिक दृष्टियों से पर्याप्त महत्त्व रखता है। राष्ट्रीयता प्राप्त करने के पाँच मुख्य साधन हैं। यद्यपि कोई राज्य इन पाँचों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है फिर भी सभी राज्य व्यवहार में ऐसा करते हैं। ये साधन हैं—जन्म, देशीयकरण, पुन प्राप्ति, वशीकरण और प्रदेश का हस्तान्तरण। प्रो ग्लान (Prof Glan) ने नागरिकता प्राप्ति के केवल दो प्रकारों का उल्लेख किया है—जन्म द्वारा और देशीयकरण द्वारा। प्रत्येक राज्य की अधिकांश जनसंख्या तो जन्म के आधार पर नागरिकता प्राप्त होती है। ऐसे अवसर भी आते हैं जब हजारों लोगों को दूसरे तरीके से राष्ट्रीयता अपनानी पड़ती है।

(1) जन्म द्वारा नागरिकता
(Nationality of Birth)

राष्ट्रीयता प्राप्त करने का प्रथम और मुख्य आधार जन्म है। दूसरे प्रकारों का केवल अपवाद रूप में माना जा सकता है। विभिन्न राज्यों में जन्म द्वारा नागरिकता प्राप्त करने से सम्बन्धित एक जैसे नियम नहीं हैं। जर्मनी आदि कुछ राज्यों में यह नियम स्वीकार किया गया है कि माँ-बाप की नागरिकता एक निर्णायक तत्त्व है। राज्य के नागरिकों का बालक स्वतः ही नागरिक बन जाता है चाहे उसका जन्म देश में हुआ हो अथवा विदेश में। इस नियम के अनुसार अवैध बच्चों को उनकी

माँ की राष्ट्रीयता प्रदान की जाती है। इस नियम को रक्त-नियम (Jus Sanguinis) कहा जाता है। यह पितृ-मूलक या वंश-मूलक राष्ट्रीयता कहलाती है।

जन्म के आधार पर दी जाने वाली राष्ट्रीयता का एक अन्य प्रकार भूमि का नियम है। इसके अनुसार राष्ट्रीयता माता-पिता के रक्त-सम्बन्ध पर नहीं वरन् उस भूमि अथवा प्रदेश पर निर्भर रहता है जहाँ उस बालक ने जन्म लिया है। इसे भूमि का नियम (Jus Soil) कहा जाता है। यह नियम अर्जेन्टाइना में स्वीकार किया जाता है। वहाँ ऐसी व्यवस्था है कि यदि बालक ने इसके प्रदेश में जन्म लिया है तो उसे वहाँ की नागरिकता प्रदान कर दी जाएगी चाहे उसके माँ-बाप विदेशी ही क्यों न हों। दूसरी ओर, यदि अर्जेन्टाइना के नागरिकों का बालक विदेश में जन्म लेता है तो वह विदेशी माना जायगा। इस प्रकार एक राज्य के प्रदेश में जन्म लेना ही राष्ट्रीयता के बन्धन के लिए पर्याप्त मान लिया जाता है। इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा सद्भावना और सौजन्य पर निर्भर हैं। विदेशी राज्याध्यक्षों, विदेशी कूटनीतिज्ञों और सम्भवत: दूतावास के अधिकारियों के बच्चे विदेश में जन्म लेने के बाद भी वहाँ की राष्ट्रीयता प्राप्त नहीं कर पाते।

संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन आदि देशों में नागरिकता प्राप्ति के सम्बन्ध में एक मिश्रित नियम अपनाया जाता है। यहाँ के राष्ट्रीय कानून के अनुसार न केवल देश और विदेश में पैदा हुए इनके नागरिकों के बच्चों को भी नारिकता दी जाती है वरन् प्रदेश में पैदा होने वाले विदेशी माँ-बाप के बच्चों का भी नागरिकता सौंपी जाती है। जो बालक वायुयान अथवा जलपोत में जन्म लेते हैं उनको जहाज पर फहराने वाली ध्वजा के राज्य की राष्ट्रीयता प्रदान की जाती है। संयुक्तराज्य अमेरिका के कानून के अनुसार केवल स्वदेशी नागरिकों के इस प्रकार उत्पन्न हुए बच्चों को ही नागरिकता दी जा सकती है, विदेशियों के बच्चों को नहीं।

जन्म द्वारा नागरिकता प्राप्ति से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ हैं। अनेक जटिल अवसरों पर अधिकांश राज्यों के व्यवहार के अनुसार किसी एक सिद्धान्त को न मानना कर दोनों को ही स्वीकार किया जाता है। इनके साथ-साथ निवास की शर्त भी जोड दी जाती है। संयुक्तराज्य अमेरिका में पञीकृत जहाजों में जन्म लेने वाले बालक वहाँ की राष्ट्रीयता प्राप्त नहीं कर पाते। Lam Mow Vs Nagle के विवाद में सन् 1927 में लाममाओ को विदेशी मानकर अमेरिका में प्रवेश से रोक दिया गया। इसका जन्म अमेरिका द्वारा पञीकृत एक व्यापारी जहाज में महासमुद्र में हुआ था। उसके माता पिता अमेरिका के निवासी थे किन्तु चीन के राष्ट्रिक थे। वे चीन घूम कर वापस लौट रहे थे। अमेरिका के सर्किट न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि अमेरिकी संविधान के शब्दों को केवल भूमि क्षेत्रों और प्रादेशिक जल पर ही लागू किया जा सकता है जिसकी निश्चित स्थिति एवं मान्य सीमाएँ होती हैं। जलयान की कोई निश्चित स्थिति नहीं थी। ऐसी स्थिति में महासमुद्र में अमेरिकी जहाज पर जन्म लेने वाला अपने माँ बाप की राष्ट्रीयता प्राप्त कर सकेगा। ग्रेट ब्रिटेन के राष्ट्रीयता कानून के अनुसार ब्रिटेन द्वारा पञीकृत जहाज में जन्म लेना, राज्य के प्रदेश में ज म

लेने के बराबर माना जाता है। वायु-यात्रा ने भी राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में इसी प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न कीं। जब बालक के जन्म के समय वायुयान दूसरे राज्य के राष्ट्रीय प्राकाश में रहता है तो दोहरी नागरिकता का प्रश्न उभर प्राता है।

(2) देशीयकरण द्वारा राष्ट्रीयता (Nationality by Naturalisation)

जन्म के प्रतिरिक्त राष्ट्रीयता प्राप्त करने का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रकार देशीयकरण है। देशीयकरण द्वारा ऐसे व्यक्ति को राष्ट्रीयता सौंपी जाती है जो जन्म के प्राधार पर विदेशी हैं। यह तरीका स्वेच्छा पर प्राधारित है। इसके प्रनुसार एक राज्य के राष्ट्रिक दूसरे राज्य की राष्ट्रीयता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। देशीयकरण कार्यपालिका प्रथवा व्यवस्थापिका द्वारा एक समूह का भी किया जा सकता है, यह सामूहिक देशीयकरण है जहाँ तक व्यक्ति की राष्ट्रीयता के परिवर्तन का प्रश्न है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य प्रपनी इच्छानुसार नियम बनाने की स्वतन्त्रता रखता है, वह स्वयं ही यह निर्णय लेता है कि किन परिस्थितियों में किनको प्रवेश दिया जाए। वह नियम विशुद्ध रूप से घरेलू होता है प्रौर इसलिए प्रन्तर्राष्ट्रीय कानून के व्यवहार का विषय नहीं है।

विभिन्न देशों के राष्ट्रीय कानून के प्रनुसार देशीयकरण के प्रनेक तरीके हैं। विवाह द्वारा पत्नी को पति की राष्ट्रीयता मिल जाती है। प्रवैध सन्तान को जब वैध बनाया जाता है तो उसे पिता की नागरिकता प्राप्त हो जाती है जब दोहरी नागरिकता का प्रश्न उपस्थित होता है तो दो विकल्पों में से एक को चुन लिया जाता है। किसी देश में निवास करके भी वहाँ की नागरिकता प्राप्त कर ली जाती है। जब एक देश में नागरिकता प्राप्ति के लिए सम्बन्धित व्यक्ति प्रार्थना करे तो उसे वहाँ की नागरिकता दे दी जाती है। किसी देश में सरकारी प्रधिकारी नियुक्त हो जाने के बाद एक व्यक्ति वहाँ का राष्ट्रिक मान लिया जाता है। प्रसिद्ध प्रन्तर्राष्ट्रीय कानूनवेत्ता केलसन के मतानुसार देशीयकरण में एक राज्य प्रशासनात्मक कार्य द्वारा किसी विदेशी व्यक्ति को प्रपनी नागरिकता देता है किन्तु प्रन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक सामान्य नियम यह भी है कि किसी विदेशी को उसकी सहमति के बिना कोई राष्ट्रीयता प्रदान न की जाए। ऐसी स्थिति में देशीयकरण तभी सम्भव है जब कोई विदेशी नागरिकता प्राप्ति के लिए प्रार्थना-पत्र दे। ऐसे प्रार्थना-पत्र को स्वीकार करना प्रथवा प्रस्वीकार करना पूर्ण रूप से एक देश की इच्छा पर निर्भर करता है।

देशीयकरण से मिलने वाली नागरिकता पर विभिन्न प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। इस प्रकार की नागरिकता से प्राप्त होने वाले प्रधिकार स्वाभाविक नागरिकता के प्रधिकारों की प्रपेक्षा कम होते हैं। उदाहरण के लिए, संयुक्तराज्य प्रमेरिका में कोई देशीकृत नागरिक वहाँ का राष्ट्रपति निर्वाचित नहीं हो सकता। देशीयकृत नागरिकता प्रदान करते समय विभिन्न देश प्रलग-प्रलग शर्तों का प्रयोग करते हैं। 1955 के भारतीय राष्ट्रीयता कानून के प्रनुसार देशीयकृत राष्ट्रीयता के प्राधार ये हैं—सम्बन्धित व्यक्ति ऐसे देश का नागरिक न हो जहाँ भारतीयों को राष्ट्रीयता

प्राप्त करने में कानूनी बाधा है; व्यक्ति दूसरे देश की राष्ट्रीयता छोड़ने के लिए तैयार हो; प्रार्थना-पत्र देने से पूर्व एक वर्ष तक भारत सरकार की नौकरी की हो या भारत में निवास किया हो; सम्बन्धित व्यक्ति का उत्तम चरित्र, भारतीय भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान और भविष्य में भारत में रहने अथवा नौकरी करने का इरादा हो। केन्द्र सरकार को अधिकार है कि वह इन विशेषताओं के न होते हुए भी किसी व्यक्ति को विज्ञान, दर्शन, कला-साहित्य, विश्व-शान्ति अथवा मानवीय उन्नति के सम्बन्ध में विशेष कार्य करने पर भारतीय नागरिकता प्रदान कर दे। इस प्रकार नागरिक बनाए गए व्यक्ति को भारतीय संविधान के प्रति निष्ठा बनाए रखने की शपथ ग्रहण करनी पड़ती है।

(3) पुनः प्राप्ति द्वारा राष्ट्रीयता
(Nationality by Resumption)

नागरिकता का तीसरा आधार पुनः प्राप्ति है। एक राज्य के स्वाभाविक नागरिक अपनी मौलिक राष्ट्रीयता को विदेशों में देशीयकरण के बाद अथवा अन्य किसी कारण से त्याग देते हैं। ऐसे व्यक्ति कुछ शर्तों के पूरा करने पर अपनी छोड़ी हुई मौलिक नागरिकता को पुनः प्राप्त कर लेते हैं। यह स्थिति देशीयकरण से भिन्न है जिसमें स्वाभाविक नागरिकता को खो कर एक दूसरे राज्य की राष्ट्रीयता प्राप्त की जाती है।

(4) वशीकरण द्वारा राष्ट्रीयता
(Nationality by Subjugation)

एक राज्य को विजित करके जब विजयी राज्य उसे अपने में मिला लेता है तो विजित राज्य के नागरिकों को उसकी देश की नागरिकता प्रदान की जाती है। सन् 1870 में जब फ्रांस के अल्सेस-लोरेन प्रदेश को जर्मन साम्राज्य का अङ्ग बना दिया गया तो वहाँ के निवासियों को फ्रांस की नागरिकता के स्थान पर जर्मनी की नागरिकता प्रदान कर दी गई।

(5) प्रदेश के हस्तान्तरण द्वारा राष्ट्रीयता
(Nationality by Cession)

जब किसी प्रदेश का हस्तान्तरण दूसरे राज्य को कर दिया जाता है तो उस प्रदेश के नागरिक उस राज्य की राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेते हैं जिसके लिए हस्तान्तरण किया गया है।

राष्ट्रीयता खोने के प्रकार
(Modes of Lossing Nationality)

राष्ट्रीयता यदि प्राप्त की जा सकती है तो खोई भी जा सकती है। जिस प्रकार एक व्यक्ति को राष्ट्रीयता प्रदान करना एक राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है उसी प्रकार राष्ट्रीयता खोने के आधारों का निर्धारण भी स्वयं राज्य द्वारा किया जाता है। यह विषय अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से प्रत्यक्ष महत्व रखता है।

प्रो. ओपेनहीम ने राष्ट्रीयता खोने के पाँच प्रकार बताए हैं। यद्यपि किसी राज्य द्वारा इन सभी को मान्यता प्रदान नहीं की जाती। ये प्रकार निम्नलिखित हैं—

(1) मुक्ति द्वारा खोना

(Loss by Release or Renunciation)

कुछ राज्य अपने नागरिकों को यह अधिकार देते हैं कि वे चाहें तो राष्ट्रीयता से मुक्त हो सकते हैं। यदि इस प्रकार की मुक्ति स्वीकार कर ली जाती है तो सम्बन्धित व्यक्ति राष्ट्रीयता-विहीन बन जाता है। इस प्रकार नागरिक स्वेच्छा से अपनी राष्ट्रीयता का परित्याग करते हैं। जर्मनी आदि कुछ राज्यों में ऐसी व्यवस्था है।

राष्ट्रीयता से मुक्ति की प्रार्थना का कोई भी आधार हो सकता है। कुछ राज्यों मे, उदाहरण के लिए ग्रेट-ब्रिटेन मे, यह व्यवस्था है कि यदि विदेशी युगल का बालक वहाँ जन्म लेता है तो उसे राज्य की स्वाभाविक राष्ट्रीयता प्राप्त हो जाती है। युगल के देश के राष्ट्रीय कानून के अनुसार वह बालक उस राज्य का भी नागरिक बन जाता है। ऐसी स्थिति मे दोहरी नागरिकता का प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। इस सम्बन्ध मे यह व्यवस्था है कि बड़ा होने पर सम्बन्धित बालक यह इच्छा प्रकट करेगा कि वह किस राज्य की नागरिकता छोड़ना चाहता है। उसकी यह घोषणा ही उसके राष्ट्रीयता त्यागने का आधार बन जाती है।

(2) बन्धन द्वारा खोना

(Loss by Deprivation)

कुछ राज्यों मे राष्ट्रीयता-कानून स्पष्ट रूप से उन अवस्थाओं का उल्लेख करते हैं जिनमें किसी व्यक्ति की राष्ट्रीयता को छीना जा सकता है। उदाहरण के लिए, इटली मे यह नियम है यदि वहाँ का कोई नागरिक विदेशी सैनिक अथवा नागरिक सेना मे भर्ती हो जाता है तो उसे राष्ट्रीयता से वंचित कर दिया जाता है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद सोवियत रूस, इटली, टर्की, जर्मनी तथा अन्य कुछ देशों ने ऐसे आदेश जारी किए जिनके द्वारा विदेश मे निरन्तर रूप से रहने वाले, स्वदेश में निष्ठा न रखने वाले अथवा अन्य प्रकार के अनेक नागरिकों को नागरिकता के अधिकार से वंचित कर दिया गया। अनेक राज्यों के व्यवस्थापन मे राष्ट्रीयता से वंचित करने के आधारों का स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया जाता है। सन् 1952 के विस्थापन और राष्ट्रीयता अधिनियम द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका ने राष्ट्रीयता खोने के आधारों की व्यवस्था की है। ये आधार हैं—विदेशी राज्य की सेना मे भर्ती हो जाना, विदेशों के राजनीतिक चुनाव में मतदान करना, विदेशी प्रदेश पर सम्प्रभुता के निर्धारण के लिए होने वाले जनमत संग्रह मे भाग लेना, युद्ध के समय संयुक्तराज्य अमेरिका की सेनाओं को त्याग देना, देशद्रोह का कार्य करना, आदि-आदि। यदि इस प्रकार राष्ट्रीयता से वंचित किया गया व्यक्ति राज्यहीन बन जाता है तो इसे एक प्रकार की सजा माना जाएगा।

भारतवर्ष मे सन् 1955 के नागरिकता कानून ने भी इन आधारों का विस्तार के साथ उल्लेख किया है। ये हैं—देशीयकरण का प्रमाण-पत्र धोखे से

लेना, देश के संविधान की निष्ठा के विरुद्ध किए गए कार्य को छिपाना, युद्ध के समय शत्रु को सहायता पहुँचाने की दृष्टि से उसके साथ व्यापार करना, देशीयकरण प्राप्त करने के पाँच वर्ष की अवधि मे ही किसी न्यायालय द्वारा कम से कम दो वर्ष की सजा प्राप्त करना, सात वर्ष तक निरन्तर देश से बाहर रहना आदि। अन्तिम शर्त उन लोगो पर लागू नही होती जो विद्याध्ययन के लिए अथवा भारत सरकार की या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की नौकरी के कारण विदेश मे रहते हैं। किसी व्यक्ति को राष्ट्रीयता से वंचित करने से पूर्व केन्द्र सरकार उसे सम्बन्धित कारणों की सूचना देती है।

(3) दीर्घकालीन विदेश निवास
(Long Term Residence Abroad)

कुछ राज्यो मे व्यवस्था है कि यदि उनका नागरिक एक निश्चित समय तक दूसरे राज्य मे निवास करता है तो उसकी राष्ट्रीयता समाप्त हो जाती है। इस निश्चित अवधि का निर्णय प्रत्येक राज्य का राष्ट्रीय कानून करता है। संयुक्तराज्य अमेरिका में यह अवधि 3 वर्ष है जबकि भारत और ग्रेट-ब्रिटेन मे यह 7 वर्ष रखी गई है।

(3) स्थानापन्नता द्वारा खोना
(Loss by Substitution)

अनेक राज्यो के कानून के अनुसार जब उनके नागरिक को विदेश मे देशीयकरण प्राप्त हो जाता है तो उसकी पूर्वराष्ट्रीयता स्वतः ही समाप्त हो जातीहै। कुछ राज्यो मे इस बात पर कोई ऐतराज नहीं किया जाता कि उनका नागरिककिसी दूसरे देश की राष्ट्रीयता प्राप्त कर ले। सन् 1948 के ब्रिटिश राष्ट्रीयता अधिनियम के अनुसार विदेशो मे राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेने से स्वदेश की राष्ट्रीयता समाप्त नही होती। यह कानून सम्बन्धित व्यक्ति को ग्रेट-ब्रिटेन की नागरिकता त्यागने की अनुमति भी देता है। दूसरी ओर संयुक्तराज्य अमेरिका का सन् 1952 का अधिनियम यह व्यवस्था करता है कि स्वेच्छा पर आधारित दूसरे देश मे देशीयकरण स्वदेश की राष्ट्रीयता खोने का आधार बन जाएगा। इसी प्रकार जब एक प्रदेश या राज्य दूसरे में मिल जाता है तो उसकी पहले वाले देश की राष्ट्रीयता स्वतः ही समाप्त हो जाती है।

दोहरी राष्ट्रीयता
(Dual Nationality)

कभी-कभी ऐसे अवसर भी आते हैं जब एक व्यक्ति एक साथ दो राष्ट्रीयताएँ प्राप्त कर लेता है। इसका कारण यह है कि विभिन्न देशो मे राष्ट्रीयता प्राप्त करने और खोने के नियम अलग-अलग प्रकार के होते हैं, फलतः एक देश का राष्ट्रिक रहते हुए भी व्यक्ति दूसरे देश की राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेता है। यह दोहरी राष्ट्रीयता की स्थिति जाने या अनजाने, इच्छा से अथवा अनिच्छा से उत्पन्न हो जाती है। सन् 1941 मे युद्ध के समय जापान मे रहने वाले अमेरिकी राष्ट्रिकों को जापानी सेना मे भर्ती होने के लिए बाध्य किया गया। ये लोग अपने जन्म के कारण अमेरिका के राष्ट्रिक थे, किन्तु निवास ने इनको जापानी नागरिक बना दिया।

दोहरी राष्ट्रीयता का एक अन्य सामान्य आधार यह है कि जब तक राज्य अपने राष्ट्रिकों को उनके द्वारा विदेशों में देशीयता प्राप्त कर लेने के बाद भी छोड़ना नहीं चाहता तो उन्हें दोनों राज्यों की राष्ट्रीयता मिल जाती है। ग्रेट-ब्रिटेन में जिस सिद्धान्त को अपनाया जाता है उसके अनुसार कोई व्यक्ति सम्प्रभु की पूर्व स्वीकृति के बिना अपनी राष्ट्रीयता नहीं छोड़ सकता। 19वीं शताब्दी के मध्य तक सामान्यतः इस प्रकार की स्वीकृति प्रदान नहीं की जाती थी। जब अनेक लोग संयुक्तराज्य अमेरिका में आकर व्यक्तिगत देशीयकरण द्वारा वहाँ के नागरिक बन गए तो ग्रेट ब्रिटेन को इस सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ा।

अनेक राज्य वर्तमान समय तक इस बात पर जोर देते रहे हैं कि देशीयकरण की मान्यता के लिए दूसरे राज्यों द्वारा भी स्वीकृति प्राप्त की जानी चाहिए। इस प्रकार का दृष्टिकोण अनेक विवाद उत्पन्न करता है और बहुत से लोगों को दोहरी नागरिकता के स्तर की समस्या पैदा करता है।

स्पष्ट है कि एक व्यक्ति को दोहरी राष्ट्रीयता अनेक प्रकार से मिल जाती है। यहाँ तक कि ग्रेट-ब्रिटेन जैसे देशों में विदेशी माता पिता का बच्चा जन्म से ही दोहरी राष्ट्रीयता लेकर पैदा होता है। अवैध बच्चों के वैध सन्तान की स्थिति में भी ऐसा होता है। इंग्लैण्ड में एक अमरिकी पिता और अंग्रेज माता की अवैध सन्तान ब्रिटिश है; किन्तु यदि सन्तान होने के बाद दोनों के विवाह द्वारा बच्चा वैध हो जाता है तो उसे अमेरिकी कानून के अनुसार अमेरिकी नागरिकता मिल जाएगी। अपने सर्वाधिक अर्थ में देशीयकरण प्रायः दोहरी नागरिकता का कारण बन जाता है। एक व्यक्ति अपने राज्य की राष्ट्रीयता खोये बिना दूसरे राज्य की राष्ट्रीयता पाने के लिए प्रार्थना-पत्र देता है और पा लेता है।

दोहरी नागरिकता वाले लोगों को कूटनीतिज्ञों की भाषा में मिश्रित प्रजाजन (Subject Mixtes) कहा जाता है। ऐसे मिश्रित प्रजाजनों की स्थिति बड़ी अजीब बन जाती है क्योंकि दो भिन्न राज्य उन्हें अपना प्रजाजन मानते हैं और उनकी स्वामी-भक्ति का दावा करते हैं। यदि इन दोनों के बीच युद्ध छिड़ जाता है तो इन व्यक्तियों के कर्त्तव्यों में असुलभनीय संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। प्रत्येक राज्य उस व्यक्ति को अपना प्रजाजन मानते हुए यह दावा करेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से उसे अमुक कार्य करना चाहिए। तीसरे राज्य के सम्मुख ये दोनों राज्य उस व्यक्ति का सम्प्रभु होने का दावा करेंगे तो सम्भव है कि वे दोनों उस व्यक्ति की रक्षा के अधिकार का स्वयं प्रयोग करें। दूसरी ओर तीसरा राज्य दो राष्ट्रीयताओं वाले एक व्यक्ति को किसी राज्य का प्रजाजन मान सकता है।

1930 में हेग के संहिताकरण सम्मेलन में दोहरी राष्ट्रीयता से सम्बन्ध रखने वाले कुछ पहलुओं पर समझौता किया गया। इसमें यह तय किया गया कि दो या दो से अधिक राष्ट्रीयता वाले व्यक्ति को सभी सम्बन्धित राज्य अपना प्रजाजन समझ सकते हैं किन्तु कोई राज्य अपने नागरिक को ऐसे राज्य के विरुद्ध सुरक्षा नहीं दे सकता जिसकी राष्ट्रीयता उसे प्राप्त है। अभिसमय में आगे कहा गया है कि यदि

एक व्यक्ति एक से अधिक राष्ट्रीयता रखता है तो उसे तीसरे राज्य में एक ही राष्ट्रीयता वाला समझा जाएगा। तीसरा राज्य या तो उस व्यक्ति को ऐसे राज्य की राष्ट्रीयता सौंप सकता है जिसका वह आदतवश प्रमुख निवासी है अथवा जिस राज्य के साथ वह घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। इस प्रकार अभिसमय ने प्रभावकीन राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को मान्यता दी है। यह कहा गया कि यदि एक व्यक्ति स्वेच्छा से किए कार्य के बिना ही दोहरी राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेता है तो वह एक राज्य की राष्ट्रीयता उस राज्य की स्वीकृति से छोड़ दे। यदि व्यक्ति विदेशों में रह रहा है तो उसकी राष्ट्रीयता छोड़ने की प्रार्थना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। दोहरी राष्ट्रीयता वाले व्यक्ति को एक राज्य द्वारा सैनिक सेवा स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। यदि किसी राज्य के कानून के अन्तर्गत एक व्यक्ति अपनी राष्ट्रीयता को खो देता है और दूसरी राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेता है तो वह उस राज्य के सैनिक दायित्वों से छुटकारा पा लेगा जिसकी राष्ट्रीयता वह खो चुका है।

केनवारो मामले (Canevaro Case) में दोहरी राष्ट्रीयता से सम्बन्धित विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। मि. केनवारो को इटली और पेरू, दो देशों की राष्ट्रीयता प्राप्त थी। पेरू में जन्म लेने के कारण वह उस राज्य का स्वाभाविक राष्ट्र जन था और इटालियन पिता की संतान होने के कारण इटली के कानून के अनुसार वह वहाँ का नागरिक बन गया। पंच-निर्णय के स्थायी न्यायालय ने इस मामले में निर्णय देते हुए कहा कि उसे पेरू का राष्ट्रजन समझना चाहिए क्योंकि उसने अनेक बार पेरू के नागरिक जैसा व्यवहार किया है। अतः पेरू की सरकार को उसे अपना नागरिक समझने तथा इटालियन नागरिक न मानने का पूरा अधिकार है। भारतवर्ष में दोहरी राष्ट्रीयता सम्भव नहीं है। एक भारतीय नागरिक दूसरे देश का नागरिक नहीं बन सकता। इसी प्रकार दूसरे देश का नागरिक अपनी राष्ट्रीयता छोड़े बिना भारत का नागरिक नहीं बन सकता।

विवाहित स्त्रियों और बच्चों का विशेष स्तर
(Special Status of Women and Children)

राष्ट्रीयता का एक अन्यन्त रोचक पहलू महिलाओं और बच्चों का विशेष स्तर है। संयुक्तराज्य अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन जैसे राज्यों में विशेष कानून बना कर इस विशेष स्तर को कानूनी मान्यता प्रदान की गई है। परम्परागत रूप से अमेरिका तथा ग्रेट-ब्रिटेन दोनों राज्यों में यह व्यवस्था थी कि विदेशों से शादी करने के बाद महिलाओं को वहाँ की राष्ट्रीयता से वंचित नहीं किया जाता था। कालान्तर में इस पुराने कॉमन लॉ के सिद्धान्त में उल्लेखनीय परिवर्तन आ गया। अमेरिका में भी यही नियम अपनाया जाता था। Sanks V. Dupont के विवाद में यह बात स्पष्ट हो गई। एक अमेरिकी महिला ने सन् 1781 में एक ब्रिटिश ऑफिसर से शादी करली। वह सन् 1782 में जब अमेरिका छोड़कर जाने लगी तो उसे शादी के कारण नागरिकता का त्याग नहीं करना पड़ा। ग्रेट ब्रिटेन ने इस परम्परागत कानून को संशोधित करने के लिए सन् 1844 और 1870 में प्रयास किया। 1844 के ब्रिटिश अधिनियम को देखकर

अमेरिकी कांग्रेस ने 1855 म एक अधिनियम पारित किया । इसके अनुसार अमेरिकी नागरिक के साथ शादी करने वाली विदेशी महिला को नागरिकता प्रदान करने की व्यवस्था की गई किन्तु इस सम्बन्ध मे कोई निर्णय नही लिया गया कि किसी विदेशी से शादी करने वाली महिला का राष्ट्रीयता बनी रहगी अथवा नही । 1907 के दौरान के अधिनियम द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि कोई भी अमेरिकी महिला विदेशी से शादी करने के बाद अपने पति की राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेगी और अमेरिकी राष्ट्रीयता से वंचित हो जाएगी । यदि भविष्य मे वह अपना विवाहित सम्बन्ध तोड लेती है तो उसे अमेरिका मे निवास अथवा अमरिकी दूतावास मे रजीकृत होने मात्र से अमेरिकी नागरिकता पुन सौंप दी जाएगी । ग्रेट-ब्रिटेन मे भी इसी प्रकार का व्यवस्थापन किया गया । 1908 तक यूरोप तथा अमेरिका महाद्वीप के सभी प्रमुख देशो ने इस विषय मे एकरूप नियम बना लिए ।

केबिल अधिनियम (Cable Act) 22 सितम्बर, 1922 को पारित प्रसिद्ध केबिल अधिनियम ने राष्ट्रीयता स सम्बन्धित अमेरिकी दृष्टिकोण का कुछ स्पष्ट किया । इसने एक भिन्न अमेरिकी नीति का सूत्रपात भी किया जो दूसरे राज्यो म नही अपनाई जा रही थी । इस अधिनियम न महिलाओ का एक स्वतन्त्र स्तर प्रदान करते हुए यह व्यवस्था की कि कोई विदेशी महिला अमरिकी नागरिक से शादी करने मात्र स ही वहाँ की नागरिकता प्राप्त नही कर लेगी, उसके पति के देशीयकरण मात्र से नागरिकता नहीं मिल जाएगी वरन् उस देशीयकरण स नागरिकता प्राप्ति क लिए प्रयास करना होगा और यह प्रयास स्थित विनियमो के अनुरूप किया जाएगा । यदि वह राष्ट्रीयता प्राप्त करने के योग्य हुई तो प्राप्त कर सकेगी । इस अधिकार का दूसरी बात यह थी कि एक नागरिक महिला विदेशी स शादी करने मात्र से अपनी नागरिकता से वंचित नही होगी जब तक कि वह इसके लिए औपचारिक रूप से घोषणा न करे अथवा नागरिकता के अयोग्य किसी नागरिक से शादी न करे । इस अधिनियम के पारित होने से पूर्व जो महिलायें शादी के कारण अपनी नागरिकता छोड चुकी है वे देशीयकरण द्वारा पुन नागरिकता प्राप्त कर सकती है, यदि उनके पति नागरिकता के अयोग्य नही है । इस प्रकार केबिल अधिनियम ने 1907 के अधिनियमों के प्रावधानो के विरुद्ध व्यवस्था की । महिलाओ के पुन देशीयकरण के लिए शीघ्रगामी प्रक्रिया अपनाई गई ।

इस नए व्यवस्थापन का परिणाम यह हुआ कि विवाहित महिलायें अपने पतियो के देश की राष्ट्रीयता प्राप्त किए बिना ही स्वदेश की राष्ट्रीयता से वंचित होने लगी । इसके अतिरिक्त यह पारिवारिक इकाई की एकरूपता के भी विपरीत था । महिलाओ को स्वतन्त्र व्यक्तिगत स्तर प्रदान करना उनको परिवार की अटूट इकाई न मानना था । राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रगतिशील संहिताकरण के लिए विशेषज्ञ समिति न विवाहित महिलाओ की राष्ट्रीयता से सम्बन्धित विषय पर विचार किया । 1926 म एक प्रारूप अभिसमय प्रस्तुत किया गया । इसके बाद *यह नियम बना दिया गया कि विवाहित महिलाओं की स्वदेशी राष्ट्रीयता उस समय*

तक समाप्त नहीं होगी जब तक वह अपने विदेशी पति के राज्य की राष्ट्रीयता प्राप्त न कर लें। 1930 के हेग संहिताकरण सम्मेलन में भी यह बात स्वीकार कर ली गई। साथ ही यह प्रावधान भी रखा गया कि शादी के दौरान पति का देशीयकरण महिला की स्वीकृति के बिना उसकी राष्ट्रीयता में परिवर्तन का आधार न माना जाए। शादी टूटने पर महिला को पुनः उसकी कोई राष्ट्रीयता प्रदान की जाए।

मोन्टीविडियो अभिसमय (The Montevideo Convention)—अमेरिकी राज्यों का 7वाँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन 1933 में मोन्टीविडियो में हुआ। इसमें महिलाओं की राष्ट्रीयता पर एक अभिसमय स्वीकार किया गया। इसकी धारा 1 में कहा गया था कि—"राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में व्यवस्थापन अथवा व्यवहार में लिंग की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं किया जाना चाहिए।" उस समय को देखते हुए यह एक दूरदर्शी समझौता था। यद्यपि वह अन्तर अमेरिकी क्षेत्र समूह के राज्यों तक सीमित था। इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने 1949 में अपने प्रथम अधिवेशन में इस विषय को संहिताकरण की सूची में स्थान दिया। 1952 में विवाहित लोगों की राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में एक प्रारूप प्रस्तुत किया गया। इसमें निर्णय लिया गया कि यह सम्पूर्ण राष्ट्रीयता विषय का एक अविभाज्य भाग है। संघ की महासभा ने 1946 में महिलाओं के स्तर के सम्बन्ध में एक आयोग की नियुक्ति की। इसने विवाहित महिलाओं की राष्ट्रीयता पर एक प्रारूप प्रस्तुत किया जिसे बाद में महासभा द्वारा स्वीकार किया गया। इसमें यह कहा गया था कि राष्ट्रिक और विदेशी के बीच होने वाली शादी पत्नी की राष्ट्रीयता पर कोई प्रभाव नहीं डालेगी।

बालकों का स्तर (Status of Children)

राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में एक अन्य उलझा हुआ प्रश्न बालकों की राष्ट्रीयता से सम्बन्ध रखता है, विशेष रूप से अवैध सन्तानों से। इस समस्या में सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करने के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय विकसित किए गए हैं किन्तु इनमें से केवल कुछ को ही स्वीकार किया जा सका है और इसलिए समस्या यथावत् बनी हुई है। जिन राज्यों में नागरिकता जन्म के प्रदेश के आधार पर दी जाती है वहाँ कूटनीतिक अधिकारियों तथा दूसरे राज्यों के अन्य सरकारी अधिकारियों के सम्बन्ध में किसी न किसी अपवाद की व्यवस्था की जाती है। अवैध सन्तान और अज्ञात माता-पिता की सन्तान की परिस्थितियों ने राज्य हीनता के अनेक मामलों को जन्म दिया है। 1930 के हेग अभिसमय में यह व्यवस्था की गई थी कि जिस बालक के माता और पिता दोनों अज्ञात हैं उसे उसके जन्म-स्थान की राष्ट्रीयता प्रदान की जाएगी। अवैध बालक वैध स्वीकार किए जाने के बाद अपने जन्मस्थान की राष्ट्रीयता खो देगा। अधिकांश राज्यों के कानून के अनुसार जब माता-पिता का विदेशों में देशीयकरण हो जाता है तो उनके नाबालिग बच्चों को स्वतः ही नई राष्ट्रीयता मिल जाती है।

इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जब बालक को उसके जन्म

स्थान से माता-पिता द्वारा अन्यत्र ले जाया जाएगा और वे दूसरे राज्य के नागरिक बन जाएंगे तो बालक का स्तर क्या रहेगा। संयुक्तराज्य अमेरिका में व्यवस्थापन के अनुसार वह जन्म लेने वाले नागरिक को यदि 21 वर्ष की अवस्था से पूर्व ही उसके माता-पिता विदेश में ले जाते हैं तो वह अपने माता-पिता के देशीयकरण के कारण अमेरिकी राष्ट्रीयता खो देगा। यदि सम्बन्धित व्यक्ति 25 वर्ष का होने से पहले अमेरिका में स्थाई रूप से बसने के लिए लौट आता है तो उसकी राष्ट्रीयता बनी रहेगी। कुछ राज्य नाबालिग शिशु को विदेश ले जाने में ऐतराज करते हैं।

राज्यहीनता और उसके कारण
(The Statelessness and its Causes)

जब एक व्यक्ति किसी भी राज्य का नागरिक नहीं होता तो राज्यहीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह राज्यहीनता विभिन्न देशों के राष्ट्रीयता सम्बन्धी कानूनों के परस्पर संघर्ष का परिणाम है। एक व्यक्ति जाने या अनजाने, स्वेच्छा से या बिना मर्जी के राज्यहीन हो सकता है। सम्भव है कि एक व्यक्ति जन्म से ही राज्यहीन हो, उदाहरण के लिए, अंग्रेज माता से जर्मनी में जन्म लेने वाला एक अवैध शिशु वास्तव में राष्ट्रीयताविहीन होगा क्योंकि जर्मन कानून के अनुसार वह जर्मन राष्ट्रीयता प्राप्त नहीं कर सकता। जर्मनी में राष्ट्रीयता से वंचित लोगों की सन्तानें जर्मन कानून के अनुसार राज्यहीन होती हैं।

राज्यहीनता की स्थिति जन्म के बाद भी आ सकती है; उदाहरण के लिए, दण्ड के रूप में अथवा अन्य प्रकार से व्यक्ति को राष्ट्रीयता से वंचित किया जा सकता है। वे सभी व्यक्ति जो नई राष्ट्रीयता पाए बिना अपनी पहली राष्ट्रीयता खो देते हैं, असल में राज्यहीन हो जाते हैं।

राज्यहीनता की समस्या आजकल अत्यन्त गम्भीर होती जा रही है। अनेक लोग राष्ट्रीयता सम्बन्धी कानूनों के संघर्ष के कारण, अपने देश से अनुपस्थित रहने के कारण और अपने जन्म-स्थान वाले राज्य की सरकार के सजग प्रयासों के कारण राज्यहीन बन जाते हैं। क्रान्ति के बाद अनेक रूसियों ने अपनी राष्ट्रीयता खो दी क्योंकि वे रूस लौटने अथवा विदेश में स्थित रूसी दूतावास में पञ्जीकृत होने के इच्छुक नहीं थे। राज्यहीनता अर्थात् राष्ट्रीयता के अभाव की स्थिति प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व बहुत कम उत्पन्न हो पाती थी। जहाँ जहाँ राज्यहीनता के केवल कुछ उदाहरण ही उपलब्ध होते थे। 20वीं शताब्दी के मध्यकाल में राष्ट्रीयताहीन अनेक लोग दिखाई देने लगे। विभिन्न देशों के कानून ने लाखों लोगों को राज्यहीनता की श्रेणी में ला दिया।

राज्यहीन लोगों की स्थिति
(Position of Stateless Persons)

राज्यहीन व्यक्ति राष्ट्रीयता के उस गुण से वंचित रहते हैं जो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लाभ प्रदान करने वाली एक मुख्य कड़ी है। ये व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा प्रदान किए गए संरक्षण से वंचित हो जाते हैं। प्रो. ओपेनहेम ने उनकी स्थिति

की तुलना खुले समुद्र मे रहने वाले एक ऐसे जहाज से की है जिस पर किसी की ध्वजा नही है और इसलिए वह रक्षकविहीन है। व्यवहार में राज्यहीन लोगो को अधिकांश राज्यो मे विदेशी माना जाता है। इस प्रकार के लोगो के साथ यदि कोई राज्य मानवीय अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं की अवहेलना करके दुर्व्यवहार करता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून उनकी रक्षा के लिए आगे नही आएगा।

राज्यहीन लोगों को अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है। परिचय-पत्रो, यात्रा सम्बन्धी अनुमतियों, विवाह सम्बन्धी अनुज्ञप्तियों आदि के क्षेत्र मे अनेक कठिनाइयों का सामना करते हैं। यह एक आश्चर्य की बात है कि राज्यहीनता की समस्या गम्भीर परिणामो से मुक्त होते हुए भी सन्तोषजनक रूप से सुलझाई नही गई है।

राज्यहीनता का नियमन
(Regulation of Statelessness)

राज्यहीनता की समस्या को सुलझाने के लिए अभी तक कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठाया गया है क्योंकि दुनिया के राज्य इसे अपने घरेलू क्षेत्राधिकार का विषय समझते हैं और इसलिए सम्बन्धित विनियमो को वे हस्तक्षेप मानते हैं। इतने पर भी समस्या की गम्भीरता के कारण इस दिशा मे जो कदम उठाए गए हैं उन्होंने राज्यहीन व्यक्तियों के स्तर को सुधारने का प्रयास किया है। अनेक राज्यहीन लोगों की स्थिति कानूनी दृष्टि से सुधरी है। ऐसे लोग बहुत बड़ी मात्रा में शरणार्थी हैं। इनके सम्बन्ध में सन् 1951 का जिनेवा अभिसमय संरक्षण की व्यवस्था करता है। इस पर 16 देशो ने अपनी स्वीकृति प्रदान की थी। इसके बाद सन् 1954 मे संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मेलन में राज्यहीन लोगो के स्तर पर एक अभिसमय तैयार किया गया किन्तु यह समझौता 22 राज्यो द्वारा हस्ताक्षर किए जाने के बाद भी बहुत समय तक लागू नही किया जा सका।

कूटनीतिक रक्षण से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम इस दृष्टिकोण पर आधारित हैं कि राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए मूलभूत शर्त है। ऐसी स्थिति मे राज्यहीनता की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय कानून की इस शाखा का एक गम्भीर दोष माना जा सकता है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों द्वारा राज्यहीनता एवं राज्यहीन लोगो की स्थिति को कम कठिन बनाने का प्रयास किया जाता है। सन् 1930 के हेग अभिसमय की भूमिका मे कहा गया कि—"जिस आदर्श की दिशा मे मानवीय प्रयास निर्देशित होने चाहिए वह राज्यहीनता एवं दोहरी नागरिकता के सभी मामलों की समाप्ति है।" प्रत्येक राज्य अपने कानून के अनुसार अपने राष्ट्रिकों का निर्णय स्वयं करता है। कोई व्यक्ति एक राज्य विशेष की राष्ट्रीयता रखता है अथवा नहीं, इस प्रश्न का निर्णय उस राज्य के कानून के अनुसार ही किया जाता है। यही कारण है कि जर्मनी को अभिसमय पर हस्ताक्षर करने के बाद भी जर्मनी के आधारों पर अनेक लोगों का विराष्ट्रीयकरण और विदेशीयकरण करने से नही रोका जा सका। सन् 1941 मे जर्मनी ने सभी यहूदियों

को विराष्ट्रीयकृत कर दिया। इसके परिणामस्वरूप राज्यहीन लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या का जन्म हुआ। इन लोगों को जर्मनी छोड़ देने पर भी यह भरोसा नहीं था कि उनको शरणदाता राज्य की राष्ट्रीयता प्राप्त हो सकेगी।

सन् 1930 के हेग संहिताकरण सम्मेलन ने राज्यहीनता की सम्भावना को घटाने के लिए अनेक प्रावधान स्वीकार किए। प्रो. ओपेनहेम ने इनका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

1. राष्ट्रीयता कानूनों के संघर्ष से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों पर यह व्यवस्था की गई कि जब एक व्यक्ति को दूसरे राज्य की राष्ट्रीयता स्वीकार करने की अनुमति दी जाए तो इसके कारण व्यक्ति की राष्ट्रीयता उस समय तक समाप्त न की जाए जब तक उसे दूसरे राज्य की राष्ट्रीयता न मिल जाए।

2. विवाहित महिलाओं के सम्बन्ध में अभिसमय की धारा 8 में कहा गया कि यदि राज्य के कानून के अनुसार विदेशी के साथ शादी होने के कारण पत्नी *अपने राज्य की राष्ट्रीयता खो देगी तो इसके साथ यह शर्त भी होनी चाहिए कि वह* अपने पति की राष्ट्रीयता पाने के बाद ही इसे खो सके। धारा 10 में यह कहा गया कि शादी के दौरान पति का देशीयकरण पत्नी की राष्ट्रीयता के परिवर्तन का कारण उसकी स्वीकृति के बिना न बने। सम्मेलन ने राज्यों को यह परामर्श दिया कि अपने कानून में लिंग के आधार पर समानतापूर्ण आधार की सम्भावनाओं का अध्ययन करें।

3. अभिसमय में कहा गया कि माता-पिता के देशीयकरण के कारण बच्चों को उनके माता-पिता की राष्ट्रीयता न मिल सके तो उनकी स्थित राष्ट्रीयता जारी रहनी चाहिए। यदि एक बालक के माता-पिता अज्ञात हैं अथवा राष्ट्रीयताहीन हैं तो उसे जन्म-स्थान की राष्ट्रीयता मिलनी चाहिए। बच्चों को गोद लेने से यदि उनकी राष्ट्रीयता समाप्त होती है तो इसके साथ यह शर्त होनी चाहिए कि जब तक गोद लेने वाले व्यक्ति की राष्ट्रीयता बच्चे को न मिल जाए तब तक उसकी पहली राष्ट्रीयता बनी रहे।

4. *राज्यहीनता के कुछ विशेष मामलों में यह कहा गया कि यदि कोई राज्य* जन्म के आधार पर राष्ट्रीयता प्रदान नहीं करता है तो वह बच्चे को इसलिए *राष्ट्रीयता प्रदान करे क्योंकि उसकी माँ उसी राज्य की नागरिक है।*

ऐसे ही कुछ दूसरे प्रयासों द्वारा राज्यहीन लोगों की विशेष श्रेणियों के भाव को सुधारने के लिए भी प्रयास किए गए। 28 अक्तूबर, 1933 को शरणार्थियों के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सम्बन्ध में अभिसमय स्वीकार किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शरणार्थियों की समस्या बनी रहने के कारण 25 जुलाई, 1951 को शरणार्थियों के स्तर के सम्बन्ध में अन्य अभिसमय स्वीकार किया गया। अभिसमय में शरणार्थियों की जाति, धर्म, जन्म स्थान आदि के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव के विरुद्ध रक्षा प्रदान की गई। शरणार्थियों को शिक्षा, व्यवसाय, कृषि, उद्योग, जन-राहत, सामाजिक सुरक्षा आदि के क्षेत्र में समान व्यवहार करने की बात कही

गई। जिस देश में शरणार्थी के जीवन और स्वतन्त्रता को धमकी दी गई है वहाँ से सीधे आने पर वे गैर-कानूनी प्रवेश या उपस्थिति के दोषी नहीं माने जाएँगे।

राज्यहीनता के अवसरों को घटाने के उपरोक्त प्रयास यह सिद्ध करते हैं कि यह समस्या सरकारों की असुविधा और व्यक्तियों की कठिनाइयों का मुख्य आधार है। यह एक मान्य तथ्य है कि राष्ट्रीयता व्यक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा उसके अधिकारों की रक्षा के बीच की कड़ी है। ऐसी स्थिति में राज्यहीनता की परिस्थितियों को स्वीकार करना मानवीय सम्मान के विरुद्ध एवं तर्कहीन है। प्रायः सभी राज्य राज्यहीनता की स्थिति को रोकने में रुचि लेते हैं। राज्यों को चाहिए कि वे राज्य-भक्ति के विरुद्ध अथवा अन्य किसी कारण से दूसरी कठोर सजा का प्रावधान रखें किन्तु अपराधी को राष्ट्रीयता से वंचित करने का तरीका न अपनाएँ। प्रो. ओपेनहेम ने राज्यहीनता को समाप्त करने के लिए दो सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार करने की बात कही है—(1) प्रत्येक व्यक्ति को उसकी जन्म-भूमि के देश की राष्ट्रीयता पाने का अधिकार हो, बशर्ते कि बालिग होने पर वह घोषणा द्वारा अपने माता पिता की राष्ट्रीयता ग्रहण न करे। (2) किसी व्यक्ति को दण्ड द्वारा राष्ट्रीयता से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। विवाह द्वारा किसी स्त्री या पुरुष की राष्ट्रीयता को उस समय तक समाप्त नहीं किया जाना चाहिए जब तक वह नई राष्ट्रीयता ग्रहण न कर ले।

भारत में राष्ट्रीयता की स्थिति
(Position of Nationality in India)

भारतवर्ष में विभाजन के बाद राष्ट्रीयता से सम्बन्धित अनेक विवाद आए। फलतः इस विषय में कुछ नियम और कानून बनाए गए। सन् 1926 में भारतीय देशीयकरण अधिनियम द्वारा यह व्यवस्था की गई कि देशीयकरण के लिए अंग्रेजी या उस प्रदेश में प्रचलित लोक-भाषा का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। सन् 1914 के कानून के अनुसार भारतीयों को केवल भारत में ही ब्रिटिश प्रजाजन माना जाता था। विदेशों में उनको अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संरक्षण प्राप्त नहीं था। केवल सौजन्यवश ब्रिटिश राजदूत और वाणिज्य दूत उन्हें समुचित संरक्षण देते थे। स्वतन्त्रता के बाद संविधान के लागू होने तक कानून की दृष्टि से राष्ट्रीयता की स्थिति को स्पष्ट नहीं किया गया। भारतीय संविधान तीन प्रकार के लोगों को यहाँ की नागरिकता का अधिकार सौंपता है—(1) संविधान के लागू होने के समय भारत में रहने वाले उन सभी व्यक्तियों को भारत का नागरिक माना गया जिनका जन्म भारत में हुआ है, जिनके माता या पिता भारत की सीमा में उत्पन्न हुए हैं और जो संविधान लागू होने के कम से कम पाँच वर्ष पूर्व भारत में निवास करते थे। (2) उन सभी लोगों को भारतीय माना गया जो पाकिस्तान से भारत आए और जो व्यक्ति अथवा उनके माता पिता सन् 1935 के विधान द्वारा भारतवर्ष की निर्धारित सीमाओं में रहते थे तथा 19 जुलाई, 1948 से पूर्व भारत में आ गए अथवा इसके

-बाद प्रावेदन-पत्र देकर भारतीय नागरिक बन गए थे। (3) विदेशों में रहने वाले भारतीयों को भारत का नागरिक माना गया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 9 में यह कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे राज्य की नागरिकता प्राप्त करने के बाद भारतीय नहीं रह सकता।

सन् 1955 के भारतीय नागरिक कानून ने इस विषय की विशद विवेचना की है। इसके अनुसार नागरिकता पाँच प्रकार से प्राप्त की जा सकती है—जन्म द्वारा, वंश परम्परा द्वारा, पंजीकरण द्वारा, देशीयकरण द्वारा और पुनः प्राप्ति द्वारा। अधिनियम में न केवल नागरिकता प्राप्ति के उपायों का उल्लेख किया है वरन् नागरिकता खोने के साधनों का उल्लेख भी किया है। ये हैं—परित्याग, समाप्ति और वंचित किया जाना। परित्याग उस स्थिति में होता है जब एक व्यक्ति दोहरी नागरिकता की स्थिति में स्वेच्छा द्वारा एक घोषणा करके भारतीय नागरिकता को छोड़ देता है। नागरिकता की समाप्ति या अवसान उस समय होता है जब एक भारतीय विदेशी नागरिकता स्वीकार कर लेता है। उसकी नागरिकता असल में स्वतः ही समाप्त हो जाती है। इस व्यवस्था का प्राधार यह है कि किसी व्यक्ति को दोहरी नागरिकता का विषय बनाकर उसकी स्वामीभक्ति को विभाजित न किया जाए। विवाहित स्त्री को यह अधिकार दिया गया है कि पति द्वारा भारतीय नागरिकता छोड़ देने पर भी वह उसे बनाए रख सकती है। नागरिकता से वंचित उस स्थिति में किया जा सकता है जब सम्बन्धित व्यक्ति भारतीय नागरिकता के लिए अपना पंजीकरण अथवा देशीयकरण धोखाधड़ी से, झूठे बयान द्वारा अथवा तथ्यों को छिपा कर करता है या वह संविधान के प्रति निष्ठावान न रहा हो या उसने शत्रु को लाभ प्रदान करने के लिए उसके साथ व्यापार किया हो अथवा भारतीय नागरिकता पाने के पाँच वर्ष के भीतर उसे किसी न्यायालय द्वारा दो वर्ष के कारावास का दण्ड मिला हो अथवा वह सामान्य रूप से सात वर्ष तक देश से बाहर रहा हो और उसका यह विदेश निवास विद्यार्थी, सरकारी कर्मचारी और अन्तर्राष्ट्रीय सेवक के रूप में न रहा हो।

सन् 1955 के कानून की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसने राष्ट्र-मण्डल की नागरिकता के सम्बन्ध में भी व्यवस्था की है। इसके द्वारा राष्ट्रमण्डल के किसी भी राज्य के नागरिक को सरकार द्वारा गजपत्र में सूचना प्रकाशित करके भारतीय नागरिक के अधिकार पारस्परिकता के आधार पर दिए जा सकते हैं। इस व्यवस्था के पक्ष में कई तर्क दिए गए, जैसे—(1) ऐसा करने से राष्ट्रमण्डल के किसी देश का नागरिक दूसरे देश में विदेशी नहीं रहेगा, (2) राष्ट्रमण्डल की नागरिकता को विश्व नागरिकता का एक कदम माना जा सकता है, (3) ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीय लाखों की संख्या में रहते हैं। यदि राष्ट्रमण्डल की व्यवस्था नहीं की जाती है तो वे अपने निवास वाले देश में विदेशी बन जाएँगे या भारत से उनका सम्बन्ध टूट जाएगा।

देश के विभाजन के बाद लाखों की संख्या में लोग पाकिस्तान से हिन्दुस्तान

आए और हिन्दुस्तान से पाकिस्तान गए। भारतीय संविधान की धारा 5 के अनुसार जो व्यक्ति संविधान लागू होने के समय भारत मे निवास अथवा अधिवास करते थे उनको भारतीय नागरिकता प्रदान कर दी गई। अधिवास या निवास की स्पष्ट व्याख्या संविधान द्वारा नहीं की गई है। इसलिए इसके स्वरूप और लक्षणों के बारे मे बहुत समय तक विवाद रहा। भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने Central Bank of India Ltd Vs Ram Narain के विवाद मे माना था कि निवास का निरन्तर होना अनिवार्य नहीं है। रामनारायण नामक व्यक्ति मुलतान मे सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया की शाखा में एक कर्मचारी था। बैंक से तीन लाख का गबन करके वह भारत आ गया। भारत मे इसके लिए जब उस पर भारतीय नागरिक के रूप मे मुकदमा चलाया गया तो सर्वोच्च न्यायालय ने यह माना कि रामनारायण पाकिस्तानी है। वह पाकिस्तान बन जाने के बाद भी मुलतान मे स्थाई रूप से वंश परम्परा से रह रहा था और विभाजन के बाद वह कभी भारत नहीं आया। इसलिए उसका निवास स्थान पाकिस्तान माना जाएगा। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने एक विवाद मे माना कि यदि एक स्थान पर स्थाई रूप से रहने का इरादा पाया जाता है और इस इरादे को क्रियान्वित करते हुए निवास किया जाता है तो यह निवास थोड़े समय होने पर भी अधिवास माना जाएगा।

न्यायालय ने अधिवास से सम्बन्धित इरादे को महत्वपूर्ण बताते हुए अनेक मामलों मे निर्णय लिया। राजस्थान के उच्च न्यायालय ने निसार अहमद बनाम भारत संघ के विवाद मे यह निर्णय दिया कि मुस्लिम लीगी व्यक्ति भारत से पाकिस्तान जाने का इरादा रखते हैं। वे भारत को अपना राष्ट्रीय गृह नहीं मानते। पंजाब के उच्च न्यायालय ने मंगलसेन बनाम शन्नोदेवी के मामले मे इरादे को आधार बनाकर ही राष्ट्रीयता का निश्चय किया।

संविधान मे उल्लेखित विस्थापन (Migration) शब्द के सम्बन्ध में भी पर्याप्त विवाद रहा है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने एक मामले में विस्थापन शब्द मे निहित दो अर्थों का उल्लेख किया है—(1) एक स्थान से दूसरे स्थान का जाना (2) बदले हुए स्थान को भविष्य मे अपना निवास स्थान बनाने का इरादा करना। जब कोई भारतीय नागरिक विस्थापित होकर पाकिस्तान जाता है तो स्पष्ट है कि वह अपने मूल देश की राष्ट्रीयता छोड़कर नए देश की राष्ट्रीयता प्राप्त करना चाहता है।

प्रत्यर्पण का स्वरूप
(The Nature of Extradition)

प्रत्यर्पण उसे कहते हैं जब कोई व्यक्ति एक देश मे भीषण अपराध करके उसके दण्ड से बचने हेतु दूसरे देश मे भाग जाता है तब पहले देश की प्रार्थना करने पर दूसरे देश को उस अपराधी को सौंपना होता है। इस सम्बन्ध मे ग्रोशियस ने यह मत व्यक्त किया है कि प्रत्येक राज्य उसे स्वयं दण्डित करने का अधिकार रखता है अथवा न्यायिक कार्यवाही करने वाले राज्य के लिए उसे वापस सौंप सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इस प्रकार की समस्याओं के सम्बन्ध मे कोई सामान्य व्यवस्था

नहीं करता। सर्वमान्य रिवाज प्राय यही रहा है कि भाग कर आने वाले अपराधियों का तभी समर्पित किया जाता है जब माँगने वाले देश के साथ कोई विशेष सन्धि होती है। कानून के विशेषज्ञों ने इसे राज्य का आवश्यक कर्त्तव्य नहीं माना है। वस्तु स्थिति यह है कि सभी राज्य स्वतन्त्र होते हैं और इसलिए दूसरे राज्य की सीमा आते ही एक राज्य की सत्ता रुक जाती है। किसी अपराधी को राज्य द्वारा केवल अपनी सीमा में ही दण्डित किया जा सकता है।

प्रत्येक राज्य अपनी अखण्डता को पवित्र मानता है और इसलिए अपने क्षेत्र में दूसरे राज्य की घुसपैठ को कभी स्वीकार नहीं करेगा। यह स्थिति कभी कभी अद्वितीय परिणामों का कारण बन जाती है। यह वीर सावरकर के प्रसिद्ध मामले से स्पष्ट हो जाती है। विनायक दामोदर सावरकर एक ब्रिटिश जलपोत मोरिया में एक हत्या के मामले में न्यायिक कार्यवाही के लिए भारत लाए जा रहे थे। 8 जुलाई सन् 1910 को जब उनका जल पोत मार्सलीज बन्दरगाह पर पहुँचा तो वे वहाँ से निकलने में सफल हो गए। एक फ्रांसीसी समुद्री जेण्डर मेरी के एक सदस्य द्वारा उन्हें शीघ्र ही बन्दी बना लिया गया और जहाज को लौटा दिया गया। 9 जुलाई को सावरकर को लेकर यह जहाज बन्दरगाह से चल दिया। बाद में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि बन्दी बनाने वाले सिपाही को अपराधी का परिचय नहीं था और उसने यह समझा कि यह जहाज के मल्लाहों में से ही एक है और जहाज पर अपराध करके भागा है।

फ्रांस सरकार ने यह माँग की कि सावरकर को उसे लौटा दिया जाए क्योंकि फ्रांस के प्रदेश से सावरकर को अनधिकृत रूप से ले जाया गया है। यह एक प्रकार से सावरकर के प्रत्यर्पण की माँग बन गई। जब ग्रेट-ब्रिटेन ने फ्रांस की माँगों को रद्द कर दिया तो फ्रांस की सरकार ने विवाद को सन् 1911 में पंच-फैसले के लिए हेग के स्थाई न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया। विवाद यह था कि क्या विनायक सावरकर को ब्रिटिश सरकार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्थित नियमों के अनुसार फ्रांस को लौटाया जाए। पंच फैसले के अनुसार यह स्वीकार किया गया कि यद्यपि सावरकर को लौटाने में कुछ अनियमितता थी किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नहीं है जो स्थित परिस्थितियों में ग्रेट ब्रिटेन पर यह दायित्व डाले कि समुद्री सिपाही द्वारा की गई गलती के लिए सावरकर को वापस लौटा दे।

प्रत्यर्पण का अर्थ जानने के लिए कुछ विचारकों द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषाओं का अवलोकन उपयुक्त रहेगा। प्रो. लारेन्स के कथनानुसार "प्रत्यर्पण एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के लिए ऐसे व्यक्ति को अर्पित करना है जो प्रथम राज्य के प्रदेश में विद्यमान है और उस पर यह आरोप है कि उसने दूसरे राज्य के देश में अपराध किया है अथवा दूसरे राज्य के प्रदेश से बाहर अपराध करने पर भी वह उसका प्रजाजन होने के नाते इस देश के कानून के अनुसार इसके क्षेत्राधिकार में आता है।"[1]

"Extradition is the surrender by one state to another of an individual who is found within the territory of the latter, or who, having committed a crime outside the territory of the latter, is one of its subjects and is, as such, by its law amendable to its jurisdiction."

लॉरेन्स की यह परिभाषा प्रत्यर्पण के अर्थ को पर्याप्त स्पष्ट कर देती है। प्रो स्टार्क ने प्रत्यर्पण को ऐसा समर्पण माना है जिसके अन्तर्गत एक राज्य दूसरे राज्य की प्रार्थना पर उसे ऐसे व्यक्ति को सौंपता है जिस पर प्रार्थना करने वाले राज्य के प्रदेश मे इसके कानून के विरुद्ध किए गए अपराध का अभियोग है अथवा उसे दण्डित या अपराधी ठहराया जा चुका है।[1] स्टार्क की इस परिभाषा मे प्रभावित राज्य द्वारा प्रार्थना किए जाने का उल्लेख है। ये प्रार्थनाएँ प्राय कूटनीतिक रूप मे की जाती हैं। प्रो ओपेनहीम ने प्रत्यर्पण की परिभाषा देते हुए कहा है कि "प्रत्यर्पण एक ऐसे अभियुक्त अथवा दण्डित व्यक्ति को ऐसे राज्य को सौंपना है जिसके प्रदेश मे उस पर अपराध करने का आरोप है अथवा जहाँ उसे दण्डित किया गया है। यह प्रार्थना ऐसे राज्य से की जाती है जहाँ अपराधी इस समय विद्यमान है।"[2]

प्रत्यर्पण मूलरूप से एक व्यावहारिक समस्या का समाधान है। प्रत्येक राज्य सामान्यत: यह सोचता है कि भीषण अपराध करने वाले व्यक्ति को अवश्य सजा मिलनी चाहिए। यदि ऐसा अपराधी दूसरे देश मे भाग जाता है तो उसे पुन देश मे लाकर अभियोग चलाया जाए। जिस देश में अपराध किया गया है उसी मे अभियोग चलाया जाना उपयुक्त रहता है ताकि अपराध के विरुद्ध सभी साक्षियाँ आसानी से प्राप्त हो सकें। यह राज्य अपराध का पता लगाने में रुचि लेगा। यदि विदेश मे अभियोग चलाया गया तो निर्णय होने तक साक्षियों को वहाँ नहीं रोका जा सकता। सभी राज्यो का सामान्य हित इस बात की माँग करता है कि न्याय से भागने वाले व्यक्तियों को दण्ड दिया जाए। इसके लिए विभिन्न राज्य परस्पर सहयोग करते हैं। उन्होंने एक ऐसी व्यवस्था का विकास कर लिया है जिसके अनुसार भागने वालो को उसी राज्य को लौटा दिया जाता है जहाँ अपराध किया गया है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत वांछित व्यक्ति के समर्पण की औपचारिक माँग के अतिरिक्त समर्पण की कुछ सुपरिभाषित शर्तें भी आती हैं इन सबको मिलाकर प्रत्यर्पण कहा जाता है। इस विषय पर सामान्य रूप से स्वीकृत अभिसमय नहीं है, इसलिए द्विपक्षीय समझौते के आधार पर व्यवस्था की जाती है। आजकल इससे सम्बन्धित परम्परागत नियमों को विकसित किया जा रहा है अथवा वे विकास के अन्तिम स्तर पर हैं।

प्रत्यर्पण का विकास
(Development of Extradition)

प्रत्यर्पण का इतिहास 19 वी शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इससे पूर्व प्रत्यर्पण का अस्तित्व अपवाद के रूप मे था। ग्रोशियस ने 1925 मे कहा था कि प्रत्येक राज्य

1 'Extradition is the surrender of a person accused or convicted of a crime by the state in the territory of which he has taken refuge to the state in whose territory the crime has been committed or which has convicted him of the crime"
—*Prof Starke*

2 'Extradition is the delivery of an accused or a convicted individual to the state on whose territory he is alleged to have committed, or to have been convicted of a crime, by the state on whose territory the alleged criminal happens for the time to be"
—*L Oppenheim*

का यह कर्त्तव्य है कि विदेश में अपराध करने के बाद उसकी सीमा में आने वाले व्यक्ति को या तो दण्डित करे अथवा जिस राज्य में अपराध किया गया है उसे सौंप दे। इस प्रकार सिद्धान्त रूप में प्रत्यर्पण को अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया था किन्तु आजकल यह विशेष सन्धि प्रावधानों द्वारा प्रशासित होता है। 19वीं शताब्दी के मध्य में प्रत्यर्पण से सम्बन्धित आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों की व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। उसके बाद विभिन्न राज्यों के बीच इस प्रकार की सन्धियाँ की गई। वैटिल ने माना है कि सन् 1758 में हत्यारों और चोरों का प्रत्यर्पण किया जाता था, किन्तु उस समय तक दुनिया के देशों के बीच इसके लिए सन्धियाँ नहीं हो सकी थीं। 19वीं शताब्दी में यातायात के साधनों का विकास हो जाने से अपराधियों का दूरवर्ती राज्यों में भाग जाना सरल बन गया। ऐसी स्थिति में सामान्य शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से भगोड़े अपराधियों का प्रत्यर्पण किया जाना परम आवश्यक बन गया। प्रो डिकिन्सन के मतानुसार, जब आधुनिक राज्य-पद्धति का विकास हुआ और यातायात के साधनों की वृद्धि हुई तो अपराधों का रोकने के लिए सभी राज्यों का सहयोग,अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ता का विषय बन गया। इसके लिए भगोड़े अपराधियों के समर्पण की व्यवस्था विभिन्न राज्यों की द्विपक्षीय सन्धियों द्वारा की गई। प्रत्यर्पण का आधार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई सिद्धान्त नहीं है। कोई भी राज्य अधिकार के रूप में इसकी माँग नहीं कर सकता। अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य और पारस्परिक सन्धियाँ ही इसके मुख्य आधार हैं। प्रो ओपेनहीम ने लिखा है कि बदली हुई परिस्थितियों में प्रत्यर्पण से सम्बन्धित विशेष सन्धियाँ आवश्यक बन गई और सामान्य प्रत्यर्पण सन्धियाँ करने की दिशा में व्यापक प्रवृत्ति दिखाई देती है।

भगोड़ों (Fugatives) की समस्या—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भगोड़ों की समस्या एक अत्यन्त जटिल पहलू है। इसके सम्बन्धित पाँच प्रमुख बातों का उल्लेख किया जा सकता है—(1) अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोड़ने वाले भगोड़ों में मुआवजा लेना, (2) भगोड़े अपराधियों को शरण देने वाले राज्य के प्रदेश में पकड़ना, (3) शरण देने वाले राज्य के अधिकारियों की जानकारी के बिना भगोड़ों को पकड़ना, (4) प्रत्यर्पण से पूर्व भगोड़े अपराधियों के सम्बन्ध में शरण देने वाले राज्य द्वारा अनियमित अनुमान करना, और (5) प्रार्थना करने वाले राज्य को शरण देने वाले राज्य द्वारा भगोड़े का गलत रूप से समर्पण कर देना, ये सभी प्रत्यर्पण से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्न हैं जिनका विश्लेषण समस्या को व्यापक दृष्टि से समझने के लिए आवश्यक बन जाता है।

प्रत्यर्पण की सन्धियाँ
(Extradition Treaties)

प्रत्यर्पण से सम्बन्धित सन्धियाँ सामान्यतः दो प्रकार की होती हैं-(1) प्राचीन अथवा महत्वपूर्ण प्रकार की सन्धियाँ जो ऐसे अपराधों की सूची प्रस्तुत करती हैं जो प्रत्यर्पण के योग्य हैं। (2) आधुनिक सन्धियाँ जिनमें इस प्रकार के अपराधों की सूची नहीं होती वरन् सामान्य रूप से उन सभी मामलों में प्रत्यर्पण की व्यवस्था की

जाती है जहाँ सभी सम्बन्धित राज्यों में अपराध दण्डनीय हैं। अनेक द्वि-पक्षीय सन्धियाँ होने से पूर्व राष्ट्रों के समाज के सदस्य भगोड़े के समर्पण को अपना कानूनी कर्त्तव्य नहीं मानते थे। वर्तमान समय की स्थिति के अनुसार प्रत्यर्पण को आवश्यक बनाने वाला अपराध वह है जो या तो सन्धि में विशेष रूप से शामिल किया गया है अथवा सम्बन्धित देशों के कानून के अनुसार अपराध माना जाता है।

उल्लेखनीय है कि आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कानून सन्धियों से परे किसी प्रत्यर्पण के अधिकार को नहीं जानता। यह हो सकता है कि एक राज्य स्वेच्छा से भगोड़े का समर्पण कर दे किन्तु ऐसे समर्पण की मांग का कानूनी अधिकार और इसे स्वीकार करने का कानूनी कर्त्तव्य केवल तभी माना जा सकता है जब इस सम्बन्ध में सन्धि की गई हो। संयुक्तराज्य अमेरिका में सरकारी मत के अनुसार सन्धि के अभाव में भगोड़े को समर्पित करने की कोई व्यवस्था नहीं है। कुछ अवसरों पर दूसरे देश ने बिना किसी सन्धि के भगोड़े का समर्पण कर दिया किन्तु संयुक्तराज्य अमेरिका ने इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया कि बदले में वह कुछ भी करने में समर्थ नहीं है।

18वीं शताब्दी के मध्य तक ये प्रत्यर्पण सन्धियाँ मुख्य रूप से राजनीतिक भगोड़ों के समर्पण से सम्बन्धित थीं। धीरे-धीरे साधारण अपराधों के दोषियों का भी समर्पण होने लगा। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वस्तुस्थिति बदल गई। अपराधी बड़ी संख्या में इधर से उधर भागने लगे और इसलिए प्रत्यर्पण सम्बन्धी सन्धियाँ करना जरूरी बन गया। एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इन समझौतों के क्षेत्र में अनेक प्रकार के अपराध आने लगे हैं किन्तु राजनीतिक अपराधों द्वारा कोई योगदान नहीं किया जाता और वे अब भगोड़ों के समर्पण का आधार नहीं रह हैं। प्रो. स्वार्लीन (Prof. Svarlien) के कथनानुसार, "यह पूर्णतः मान्य हो चुका है कि विपरीत प्रावधानों के अभाव में किसी प्रत्यर्पण सन्धि की व्याख्या इस प्रकार नहीं की जा सकती कि राजनीतिक प्रवृत्ति का अपराध करने वाले व्यक्ति का समर्पण करना पड़े।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार ऐसे व्यक्ति का समर्पण भी आवश्यक नहीं है जो विदेश में अपराध करके स्वदेश लौट आया हो। यह हो सकता है कि इस प्रकार के व्यक्तियों को समर्पण भी सन्धियों में शामिल कर दिया जाए किन्तु सामान्य व्यवहार के अनुसार प्रत्यर्पण सन्धियों में राष्ट्रिकों के प्रत्यर्पण को बाहर रखने का प्रावधान स्वीकार किया जाता है।

कभी कभी यह कहा जाता है कि प्रत्यर्पण पारस्परिकता का मामला है। सन् 1928 में मैक्सिको की सरकार ने हेनरी फिलिप एम्स के प्रत्यर्पण की मांग की तो अमेरिका के विदेश मन्त्री ने वाशिंगटन स्थित मैक्सिको के राजदूत को सूचित किया कि एम्स का प्रत्यर्पण पारस्परिकता की शर्त के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। सन् 1934 के प्रत्यर्पण पर अभिसमय में यह व्यवस्था की गई है कि यदि कोई अपराध सम्बन्धित राज्यों में दण्डनीय है और दण्ड के रूप में उसके लिए कम से कम एक वर्ष की सजा दी जा सकती है तो प्रत्यर्पण की मांग की जा सकेगी।

प्रत्यर्पण सम्बन्धी राष्ट्रीय कानून
(Municipal Law of Extradition)

कुछ राज्य प्रत्यर्पण की सन्धियों एवं व्यवहारों पर ही निर्भर नहीं रहते वरन् इसके लिए वे स्वयं व्यवस्थापन करते हैं। इसलिए उन्होंने विशेष राष्ट्रीय कानून बनाए हैं जो ऐसे अपराधों का उल्लेख करते हैं जिनमें प्रत्यर्पण की मांग स्वीकार की जा सकती है और बदले में इस प्रकार की मांग की जाती है। ये कानून प्रत्यर्पण की प्रक्रिया का भी नियमन करते हैं। इन्हीं कानूनों के आधार पर प्रत्यर्पण सन्धियाँ की जाती हैं। इस प्रकार का व्यवस्थापन सबसे पहले सन् 1833 में बेल्जियम ने किया। ग्रेट-ब्रिटेन ने सन् 1870 में इस मार्ग को अपनाया। ब्रिटिश जनमत बहुत समय तक प्रत्यर्पण सन्धियों के विरुद्ध था और इन्हें वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक शरणार्थियों को शरण देने की प्रत्येक राज्य की क्षमता के विरुद्ध मानता था। यही कारण है कि सन् 1870 तक ग्रेट ब्रिटेन ने प्रत्यर्पण के सम्बन्ध में केवल कुछ सन्धियाँ की और वह भी अधूरी थी। सन् 1870 में ब्रिटिश संसद् ने एक प्रत्यर्पण कानून पास किया, इसमें सन् 1873, 1895 और सन् 1906, 1932 में संशोधन किए गए। जिन देशों में प्रत्यर्पण सम्बन्धी कानून नहीं होते और वहाँ का लिखित संविधान इसकी व्यवस्था नहीं करता तो सरकार अपनी स्वेच्छा से इन सन्धियों को सम्पन्न करती है।

प्रत्यर्पण योग्य व्यक्ति
(Extraditable Persons)

प्रत्यर्पण की मांग में मुख्य रूप से दो बातें होती हैं—सम्बन्धित व्यक्ति प्रत्यर्पण योग्य होना चाहिए और प्रत्यर्पण का अपराध अराजनीतिक तथा गम्भीर होना चाहिए। जर्मनी तथा फ्रांस जैसे कुछ राज्यों में यह नियम है कि वे दूसरे देश में अपराध करने वाले अपने राष्ट्रिकों को स्वयं दण्ड देते हैं जबकि ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका ऐसे लोगों का प्रत्यर्पण कर देते हैं। ऐसे कई उदाहरण हैं जिनमें यह बात स्पष्ट हो जाती है। प्रो. ब्रायर्ली ने अपने नागरिकों का प्रत्यर्पण न करने के सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। उनके मतानुसार राज्य को विदेश में अपराध करने वाले अपने नागरिक का भी प्रत्यर्पण कर देना चाहिए। इसका कारण यह है कि जहाँ अपराध किया गया है वहीं पर आवश्यक साक्षियाँ मिल सकती हैं, इनके अभाव में अपराधी के विरुद्ध अभियोग चलाना भी कठिन होगा। इसके अतिरिक्त यदि व्यक्ति दूसरे देश में न्यायालय द्वारा दण्डित होकर भागता है तो ऐसी स्थिति में उस पर स्वदेश में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता क्योंकि न्याय के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार एक ही अपराध के लिए व्यक्ति पर दो बार मुकदमा नहीं चलाया जा सकता ऐसी स्थिति में न्याय की दृष्टि से प्रत्यर्पण की मांग को स्वीकार करके अपराधी नागरिक को सौंपना उपयुक्त रहेगा।

जहाँ कहीं अन्तर्राष्ट्रीय कानून और नागरिक कानून के बीच कोई संघर्ष उत्पन्न होता है तो प्रत्यर्पण सन्धि के अनुसार व्यवहार किया जाना चाहिए न कि प्रत्यर्पण की मांग करने वाले राज्य के राष्ट्रीय कानून के अनुसार।

प्रत्यर्पण सम्बन्धी अपराध
(Extraditable Crimes)

प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि यदि वह प्रत्यर्पण कानून से बँधा हुआ है तो किसी भी अपराध के लिए प्रत्यर्पण कर सकता है और यदि प्रत्यर्पण सन्धि से बँधा हुआ नहीं है तो किसी अपराध के लिए प्रत्यर्पण करने से मना कर सकता है। जिन राज्यों में प्रत्यर्पण के सम्बन्ध में कानून होते हैं वे प्रत्यर्पण सन्धियाँ करते समय इन कानूनों के अनुसार व्यवस्था करते हैं। सन्धियों में उन सभी अपराधों का उल्लेख कर दिया जाता है जिनके लिए प्रत्यर्पण किया जाना चाहिए। प्रत्यर्पण किसी ऐसे व्यक्ति का नहीं किया जाता जिसका कार्य देश के कानूनों के अनुसार अपराधों की श्रेणी में नहीं आता। किसी कार्य को अपराध सिद्ध करने का निर्णय प्रत्यर्पण की माँग करने वाले देश के न्यायालय द्वारा नहीं किया जा सकता।

नियमानुसार राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण नहीं किया जाता। अनेक प्रत्यर्पण सन्धियों में सैनिक अपराधियों और धार्मिक अपराधियों को भी प्रत्यर्पण से बाहर रखा जाता है।

प्रत्यर्पण की माँग प्रायः गम्भीर अपराध के लिए की जाती है। इन अपराधों का उल्लेख विभिन्न देशों के प्रत्यर्पण कानूनों में किया गया है। ग्रेट-ब्रिटेन में गम्भीर अपराधों की सूची में जिनको शामिल किया गया है वे हैं—हत्या, नकली सिक्के बनाना, जालसाजी, गबन, हिंसात्मक डकैती, गृहदाह, झूठे बहाने करके धन प्राप्त करना, अपहरण, बच्चों को चुराना, घूसखोरी, समुद्री डकैती, खतरनाक दवाओं सम्बन्धी कानून का उल्लंघन, समुद्र में किसी जहाज को डुबाना या नष्ट करना, महासमुद्रों में जहाज पर कप्तान के विरुद्ध षड्यन्त्र अथवा विद्रोह आदि-आदि। इसी प्रकार दूसरे अनेक देश भी प्रत्यर्पण सम्बन्धी कानून बनाते हैं।

प्रत्यर्पण की शर्तें
(Conditions of Extradition)

प्रत्यर्पण के लिए कुछ आवश्यक परिस्थितियों का उल्लेख किया जा सकता है। ये मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

1 प्रत्यर्पण केवल तभी किया जाएगा जब इसकी माँग की जाए और प्रत्यर्पण सन्धियों एवं प्रत्यर्पण सम्बन्धी कानून में उल्लेखित औपचारिकताओं को पूरा कर लिया जाए।

2 भगा हुआ अपराधी यदि राजनीतिक अपराधों का दोषी है तो उसका प्रत्यर्पण नहीं किया जाना चाहिए।

3. सेना सम्बन्धी अपराध एवं धार्मिक अपराधों के लिए प्रत्यर्पण नहीं किया जा सकता। ये अपराध अधिक गम्भीर नहीं माने जाते और इसीलिए इनमें प्रत्यर्पण की अनुमति नहीं दी जाती।

4 प्रत्यर्पण करने वाले राज्य की पुलिस प्रत्यर्पण माँगने वाले राज्य की पुलिस को अपराधी सौंपती है अर्थात् यह कार्यवाही पुलिस अधिकारियों के माध्यम से ही सम्पन्न की जाती है।

5 अधिकांश प्रत्यर्पण सन्धियों के अनुसार प्रत्यर्पण की यह शर्त रखी जाती है कि समर्पित किए गए व्यक्ति पर केवल उन्ही अपराधों के लिए अभियोग चलाया जाएगा और उन्हे दण्डित किया जाएगा जिनके लिए प्रत्यर्पण की माँग की गई है और स्वीकार किया गया है अथवा जिनका उल्लेख प्रत्यर्पण सन्धि मे किया गया है। यदि समर्पित व्यक्ति पर किसी अन्य अपराध के लिए अभियोग चलाया जाता है अथवा दण्डित किया जाता है तो प्रत्यर्पण करने वाला देश शिकायत करने का अधिकार रखता है।

6 किसी व्यक्ति का समर्पण केवल तभी किया जा सकता है जब सम्बन्धित अपराध दोनो राज्यों की अपराध की परिभाषा मे आता है। यदि प्रत्यर्पण माँगने वाले देश की दण्डविधि के अनुसार कोई कार्य अपराध नहीं है तो उसके सम्बन्ध मे प्रत्यर्पण माँगा ही नहीं जाएगा और यदि प्रत्यर्पण करने वाले राज्य की दृष्टि से वह अपराध नहीं है तो प्रत्यर्पण नहीं किया जाएगा।

7 किसी भी अपराधी का प्रत्यर्पण पर्याप्त परीक्षण के बाद किया जाता है। प्रत्यर्पण माँगने की प्रार्थना केवल तभी की जा सकती है जब न्यायालय द्वारा सम्बन्धित व्यक्ति को अपराधी पाया जा रहा है अथवा उसके विरुद्ध न्यायिक कार्यवाही का औचित्य है।

प्रत्यर्पण के कुछ प्रमुख मामले
(Some Important Cases of Extradition)

प्रत्यर्पण के सम्बन्ध मे अनेक विवाद जो अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर उभरे उन्होने इस सम्बन्ध में अनेक परम्पराओ को जन्म दिया। ये विशेष मामले भविष्य के लिए उदाहरण बन गए। इनमे कुछ उल्लेखनीय निम्न प्रकार हैं —

1 आइजलर का मामला (The Eisler Case)—आजकल प्रत्यर्पण की यह शर्त कि अपराध दोनो देशो मे दण्डनीय होना चाहिए, मुख्यत आइजलर के मामले से सिद्ध हुई। गेरहार्ट आइजलर सयुक्तराज्य अमेरिका का एक विदेशी साम्यवादी था। इसे काँग्रेस की मानहानि करने तथा दूसरे अपराधों के लिए दण्डित किया गया। अपनी सजा कम कराने के लिए उसने उच्च-न्यायालय मे अपील की। अपील के कारण वह जमानत पर छोड दिया गया। ऐसी स्थिति मे वह 12 मई, 1949 को सयुक्तराज्य अमेरिका से भाग निकला। उसका पोलिश जहाज सबसे पहले इगलैण्ड के बन्दरगाह सौथम्पटन पर रुकना था। इसलिए अमेरिकी सरकार ने ब्रिटिश सरकार से यह प्रार्थना की कि जहाज वहाँ पहुँचते ही आइजलर को बन्दी बना लिया जाय और सयुक्तराज्य अमेरिका को उसे दण्ड देने के लिए सौंप दिया जाए।

उसे बन्दी बना कर लन्दन के बोस्ट्रीट के मजिस्ट्रेट के सामने प्रस्तुत किया गया। सयुक्तराज्य अमेरिका मे आइजलर को दो अपराधों के लिए दण्डित किया गया था। उसने काँग्रेस की - अवज्ञा की क्योकि प्रतिदिन सदन की एक समिति के सम्मुख उसने गवाही देने से मना कर दिया था। इसके अतिरिक्त उसने अमेरिका के बाहर जाने की अनुमति माँगते समय आवेदन-पत्र मे झूठी बातें लिखी थीं। ये दोन

अपराध उस सूची मे उल्लेखित नही थे जो 22 दिसम्बर 1921 को संयुक्तराज्य अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा की गई सन्धि मे स्वीकार की गई थी। ब्रिटिश न्यायालय ने 27 मई, 1949 को यह निर्णय दिया कि प्राइजलर के विरुद्ध किया गया दोषारोपण अंग्रेजी कानून के अनुसार झूठी गवाही सिद्ध नही होता और इसलिए उसके प्रत्यर्पण की माँग को अस्वीकार कर दिया गया। ब्रिटिश कानून के अनुसार झूठी साक्षी केवल वह है जब न्यायालय मे सच बोलने की कसम खाकर झूठी गवाही अथवा बयान दिया जाता है। संयुक्तराज्य अमेरिका मे इसका व्यापक अर्थ स्वीकार किया गया है किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन उसे मानने के लिए बाध्य नहीं है। इंगलैण्ड ने प्राइजलर को मुक्त कर दिया जो वहाँ से शरण-प्राप्ति के लिए लौह आवरण के पीछे चला गया।

जब भगोडा आत्म-समर्पण कर देता है और लौटने के बाद उस पर न्यायिक कार्यवाही की जाती है तो यह कार्यवाही उस अपराध तक ही सीमित रहनी चाहिए जिसका प्रत्यर्पण की माँग मे उल्लेख किया गया है। यहाँ तक कि उसे माँग मे उल्लेखित कम गम्भीर अपराध के लिए भी नहीं परखा जा सकता। इस सम्बन्ध में संयुक्तराज्य अमेरिका बनाम रोशर का विवाद उल्लेखनीय है। रोशर को ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा हत्या के अपराध मे समर्पित किया गया था।

2. ब्लेकमर का मामला (The Case of Blackmer)—प्रत्यर्पण की दृष्टि से ब्लेकमर का विवाद भी पर्याप्त महत्त्व रखता है। हेनरी ब्लैकमर नामक व्यक्ति ने अपनी आय के सम्बन्ध में झूठा विवरण दिया। इसके बाद वह फ्रांस चला गया। संयुक्तराज्य अमेरिका ने फ्रांस की सरकार से यह प्रार्थना की कि ब्लैकमर ने आय सम्बन्धी झूठा बयान देकर अपराध किया है और इसलिए उसे अमेरिका को सौंप दिया जाय। फ्रांस के न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि यहाँ के कानून के अनुसार आयकर के सम्बन्ध मे झूठा बयान देना अपराध नहीं है, फलत उसने प्रत्यर्पण की माँग को स्वीकार नही किया।

3 गौडफ्रे का मामला (The Case of Godfray)—फरार अथवा भगोड़े (Fugitive) शब्द की व्याख्या के लिए प्राय गौडफ्रे का मामला उल्लेखित किया जाता है। इसमे लॉर्ड हीवर्ड ने यह बताया कि यद्यपि किसी व्यक्ति के लिए फरार शब्द प्रयुक्त करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक देश से दूसरे देश को भाग गया है, यह तथ्यगत नहीं है। असल में व्यक्ति शारीरिक रूप से उस देश मे उपस्थित रहा है अथवा नहीं किन्तु यदि उसने अपराध वहाँ किया है तो वह फरार माना जाएगा।

4. मुबारक अली का मामला (The Case of Mubarak Ali)—इस मामले में न्यायालय द्वारा प्रत्यर्पण की माँग को इसलिए स्वीकार कर लिया गया क्योंकि सम्बन्धित व्यक्ति का अपराध अराजनैतिक माना गया। वह ऐसे मामले से सम्बन्धित था जिस पर कूटरचना एवं जालसाजी का आरोप लगाया गया था।

5 हायाडे ला टोरे का मामला (The Case of Hayade la-Torre)—इस मामले मे मि. 'टोरे' पेरूविया का राष्ट्रिक और राजनीतिक नेता था। इसे सैनिक विप्लव भड़काने के लिए दोषी ठहराया गया।

सीमावर्ती कोलम्बिया के राजदूतावास मे उसको आश्रय मिला। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस प्रश्न पर विचार करते समय यह व्यक्त किया कि यद्यपि हवाना अभिसमय की व्यवस्था के अनुसार सामान्य अपराधी स्थानीय अधिकारियों को सौंप दिए जाने चाहिए फिर भी राजनीतिक अपराधियो के सम्बन्ध मे इस प्रकार का कोई कर्त्तव्य निर्धारित नहीं किया गया है अतः कोलम्बिया शरणार्थी को प्रत्यर्पित करने के लिए बाध्य नहीं है।

6. सेमुअल इन्सल का मामला (The Case of Samuel Insull)—1933 में यूनान के अपीलीय न्यायालय ने सेमुअल इन्सल के विवाद में जो निर्णय दिया वह पर्याप्त प्रकाशन का कारण बना। सेमुअल इन्सल शिकागो का बैंकर था। संयुक्तराज्य अमेरिका ने उस पर गबन और चोरी के आरोप लगाए। यूनानी न्यायालय ने दो बार यह रूलिंग दी कि यूनानी कानून के अनुसार संयुक्तराज्य अमेरिका ने भगोड़े को अमेरिकी नियम जानबूझ कर तोड़ने और कुछ सम्पत्ति को छिपाने अथवा हस्तान्तरित करने के सम्बन्ध मे जो प्रमाण दिए हैं वे पर्याप्त नहीं हैं, फलतः न्यायालय ने नजरबन्द इन्सल को रिहा करने पर जोर दिया। संयुक्तराज्य अमेरिका ने शिकायत की कि यूनान अपने उपयुक्त कर्तव्य से मुकर गया है। उसने यूनान के साथ तभी की गई कि एक प्रत्यर्पण सन्धि को भी निलम्बित कर दिया।

इन्सल यूनान में भी न रुका और एक यूनानी जल-पोत मे वह टर्की के लिए रवाना हो गया। संयुक्तराज्य अमेरिका ने टर्की की सरकार से यह प्रार्थना की कि सम्बन्धित व्यक्ति का प्रत्यर्पण कर दे। टर्की की सरकार ने इन्सल को जहाज से उतार दिया और उसे अमेरिका पहुँचाने की अनुमति दे दी। उस समय संयुक्तराज्य अमेरिका और टर्की के बीच प्रत्यर्पण सन्धि विद्यमान नहीं थी।

उपर्युक्त मामलों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि फरार अपराधी को व्यवस्थित रूप से समर्पण करने के मार्ग में गम्भीर बाधायें हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के हारवर्ड अनुसन्धान केन्द्र ने 1935 में सुझाव दिया कि इस सम्बन्ध मे एक-जैसे नियम वाछनीय हैं। ऐसा होने पर ही विभिन्न देशों के आपसी सम्बन्ध सन्तोषजनक और शान्तिपूर्ण रह सकते हैं।

राजनीतिक अपराध और प्रत्यर्पण
(Political Offences and Extradition)

प्रत्यर्पण के अपवाद के रूप मे कुछ अपराधो का उल्लेख किया जाता है। स्टार्क ने ऐसे तीन अपराधों का उल्लेख किया है—धार्मिक अपराध, सैनिक अपराध और राजनीतिक अपराध। राजनीतिक अपराधियों का समर्पण न करने की परम्परा फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद प्रारम्भ हुई। फ्रांस की क्रान्ति से पूर्व राजनीतिक अपराध शब्द व्यवहार और सिद्धान्त दोनों के लिए अज्ञात था और इसलिए राजनीतिक

अपराधियों को प्रत्यर्पित न करने का सिद्धान्त भी प्रज्ञान था। 16वीं और 17वीं शताब्दी के लेखकों ने राजनीतिक अपराधों के प्रत्यर्पण का समर्थन किया है। विभिन्न राज्यों ने राजनीतिक अपराधों के प्रत्यर्पण के सम्बन्ध में सन्धियाँ की हैं। फ्रांस की क्रान्ति के बाद वस्तुस्थिति में क्रमश: परिवर्तन आया। 19वीं शताब्दी की यह घटना पश्चिमी यूरोप में तानाशाही सर्वाधिकारवाद के विरुद्ध प्रारम्भ बिन्दु था। फ्रांस के 1793 के संविधान की धारा 120 के अनुसार ऐसे विदेशियों को शरण देने की व्यवस्था की गई जो स्वतन्त्रता के पक्ष में संघर्ष करने के कारण देश से निकाले गए हों। दूसरी ओर फ्रांस से भागने वाले विस्थापितों ने दूसरे राज्यों में शरण पायी। उस समय तक राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण करने का सिद्धान्त इतना मान्य नहीं हुआ था।

1830 तक राजनैतिक अपराधियों को प्राय: प्रत्यर्पित किया जाता रहा। फिर भी स्वतन्त्रता प्रेमी देशों में जनमत इस प्रकार के प्रत्यर्पण के क्रमशः विरुद्ध होता चला गया। ग्रेट-ब्रिटेन को इसका प्रथम विरोधी माना जाता है। जो लोग निरकुंशतापूर्ण शासन के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं वे यदि स्वतन्त्रताप्रेमी राज्यों में भाग कर शरण लेते हैं तो उन्हें निरकुंश राज्यों की सरकारों को नहीं सौंपा जाना चाहिए। 1815 में जिब्राल्टर के गवर्नर ने कुछ राजनीतिक अपराधियों को स्पेन को सौंप दिया, इसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन की संसद् में एक तूफान उठ खड़ा हुआ। संसद् में सर जेम्स मैकिन्तोष ने यह मत व्यक्त किया कि किसी राज्य को राजनीतिक फरारों को शरण देना अस्वीकार नहीं करना चाहिए। 1816 में लॉर्ड कैसलरे (Lord Castlereagh) ने यह मत व्यक्त किया कि केवल राजनीतिक अपराध करने वालों को दण्ड देना कानून का बहुत बड़ा दुरुपयोग है। इंगलैण्ड के बाद इन प्रवृत्तियों ने स्विट्जरलैण्ड को प्रभावित किया। नेपोलियन की हार के बाद अनेक राजनीतिक फरारों ने स्विट्जरलैण्ड में शरण ली। 1823 में शक्तिशाली देशों द्वारा स्विट्जरलैण्ड को धमकी दी गई कि वह इनको शरण न दे क्योंकि इन्होंने असफल क्रान्ति में भाग लिया है। तदुपरान्त भी राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण न करने की माँग महत्त्वपूर्ण बनी रही।

1833 में आस्ट्रिया, प्रशा और रूस ने राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण की सन्धियाँ कीं जो एक सतति तक चलती रहीं। इनमें गम्भीर अपराधों के दोषी लोगों को शरण देने से मना किया गया। 1833 से बेल्जियम ने एक प्रत्यर्पण कानून पास किया। यह सम्भवतः पहला राष्ट्रीय कानून था जिसने विदेशी राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण को स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया। बेल्जियम 1830 में नीदरलैण्ड से अलग हुआ था और 1831 में उसे महाशक्तियों ने तटस्थ राज्यों के रूप में मान्यता दे दी। इस देश का अस्तित्व क्रान्ति का फल था और इसलिए उसने अपना यह कर्तव्य माना कि स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाले राजनीतिक अपराधियों को शरण दी जाए। 1834 में बेल्जियम ने फ्रांस के साथ ऐसी सन्धि की। फ्रांस ने दूसरे राज्यों के साथ सन्धियाँ करके राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण

पर प्रतिबन्ध लगा दिया। रूस तथा अन्य राज्यों ने भी क्रमश: इसका अनुगमन किया। 1936 के स्टालिन के संविधान में इसे मान्यता दी गई। 1867 के बाद प्राय सभी प्रत्यर्पण सन्धियों में यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया। ग्रेट-ब्रिटेन, स्विट्जरलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम और संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा इस सम्बन्ध में कड़ा रुख अपनाए जाने के कारण यह सिद्धान्त दुनिया पर छा गया।

राजनीतिक अपराध का अर्थ—राजनीतिक अपराध के अर्थ के सम्बन्ध में विचारकों और राजनीतिज्ञों के बीच सहमति नहीं है। प्रो. ओपेनहीम के कथनानुसार "कुछ लेखक राजनीतिक इरादे से किए गए अपराध को राजनीतिक मानते हैं जबकि अन्य राजनीतिक उद्देश्य के लिए किए गए अपराध को राजनीतिक कहते हैं, तीसर प्रकार के लेखक इसकी परिभाषा केवल राज्य-विरोधी कुछ अपराधों तक ही मर्यादित रखते हैं, उदाहरण के लिए महा राजद्रोह आदि।" आज तक इस शब्द की सतोषजनक परिभाषा के लिए किए गए प्रयास असफल रहे हैं।

मि. स्टीफेन के मतानुसार, "राजनीतिक अपराध वे हैं जो केवल घटनावश होते हैं तथा राजनीतिक उपद्रवों के भाग हैं।"[1] प्रो. ग्लॉन ने राजनीतिक अपराधों के अर्थ का विश्लेषण करते हुए यह विचार प्रकट किया है कि सामान्य रूप से राजनीतिक अपराध राज्य के विरुद्ध किया गया कार्य है। वर्तमान काल तक विभिन्न राज्यों की सन्धियाँ और न्यायालयों के निर्णय इसे सकीर्ण रूप में परिभाषित करते हैं।

किसी कार्य को राजनीतिक मानने के लिए कुछ शर्तों को आवश्यक समझा गया है, जैसे—यह कार्य खुल कर किया जाना चाहिए, यह राजनीतिक उपद्रव के समर्थन में किया जाना चाहिए और इस उपद्रव का सम्बन्ध दो पक्षों के बीच संघर्ष से होना चाहिए जिनमें से एक सरकार पर नियन्त्रण का प्रयास करे। इस प्रकार राजनीतिक अपराध ऐसे कार्य को कहा जा सकता है जो यद्यपि अपने आप में एक सामान्य अपराध है किन्तु परिस्थितियों और उद्देश्यों के कारण राजनीतिक बन गया है।

मुख्य समस्या तथाकथित सापेक्षिक राजनीतिक अपराधों के सम्बन्ध में उठती है। अनेक राजनीतिक अपराध दूसरे अपराधों से समानता रखते हैं, उदाहरण के लिए—हत्या, चोरी, छल कपट आदि-आदि। कुछ विचारक इस बात को स्वीकार करते हैं कि ऐसे जटिल अपराधों को राजनीतिक माना जाए। प्रो. ओपेनहीम के मतानुसार यह मत गलत है क्योंकि ऐसा मान लेने पर अनेक राजनीतिक अपराध प्रत्यर्पण योग्य बन जाएँगे। दूसरी ओर अनेक ऐसे कार्य हैं जो राजनीतिक उद्देश्य और इरादे से किए जाते हैं किन्तु जो राजनीतिक नहीं माने जाते।

कुछ उदाहरण—प्रत्यर्पण के कुछ उदाहरणों को देखने पर इनका अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

1 "Political crimes are such as are incidental to, and form a part of political disturbances." —*Stephen*

1. जर्मनी के सम्राट् विलियम कैसर द्वितीय ने हालैण्ड में शरण ली। मित्र-राष्ट्रों की सर्वोच्च परिषद् ने हालैण्ड से जर्मन सम्राट् के प्रत्यर्पण की माँग की। वर्साय की सन्धि की धारा 226 के अनुसार जर्मन सम्राट् पर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और सन्धियों की पवित्रता को तोड़ने का आरोप लगाया गया था और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में अभियोग चलाए जाने की व्यवस्था की गई थी। डच सरकार ने सम्राट् के प्रत्यर्पण की माँग को यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर न करने के कारण वह इसे मानने के लिए बाध्य नहीं है।

2. 1921 में स्पेन के प्रधानमन्त्री की हत्या के बाद दो व्यक्ति जर्मनी भाग गए। जर्मनी तथा स्पेन की सन्धि के अनुसार राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण का निषेध किया गया था। फिर भी जर्मनी ने इन दोनों अपराधियों को स्पेन को सौंप दिया क्योंकि अपराध राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं वरन् बदले की भावना से किया गया था।

3 1891 में रे कैस्टियोनी का विवाद आया। 11 सितम्बर, 1890 को रे कैस्टियोनी ने टिसिनो (Ticino) केन्टन (स्विट्जरलैण्ड) के उपद्रव में भाग लिया। उपद्रव का कारण यह था कि केन्टन की सरकार ने संविधान को बदलने अथवा इस प्रश्न पर जनमत संग्रह कराने से मना कर दिया। उपद्रव में कैस्टियोनी ने गोली चलाई। वह रोसी नामक एक निरपराध व्यक्ति को लगी और वह मर गया. कैस्टियोनी पर हत्या का अपराध लगाया गया। वह इससे बचने के लिए ब्रिटेन भाग गया जहाँ वह 17 वर्ष से रह रहा था और उपद्रव से केवल एक दिन पहले टिसिनो आया था। स्विस सरकार ने ब्रिटिश सरकार से कैस्टियोनी को बन्दी बनाने और प्रत्यर्पण करने की औपचारिक माँग की। ब्रिटिश न्यायालय ने इस प्रार्थना को इसलिए अस्वीकार कर दिया क्योंकि कैस्टियोनी का गोली चलाने का उद्देश्य राजनीतिक था और इसलिए वह एक राजनीतिक अपराधी है। कैस्टियोनी व्यक्तिगत रूप से रोसी का शत्रु नहीं था। उसने महल पर आक्रमण करने की दृष्टि से गोली चलाई थी। अन्य तथ्यों ने भी यह सिद्ध किया कि कैस्टियोनी एक राजनीतिक अपराधी है और उसे स्विस अधिकारियों को नहीं सौंपा जा सकता।

4. मेउनियर के मामले में ब्रिटिश सरकार ने इसके विपरीत निर्णय लिया। यह एक फ्रांसीसी नागरिक तथा अराजकतावादी था। इसने दो स्थानों पर बम विस्फोट किए और बाद में इंगलैण्ड भाग गया। फ्रांस के न्यायालय ने उसकी अनुपस्थिति में विचार किया और हत्याओं का दोषी पाकर मृत्यु की सजा दी। फ्रांस की सरकार ने उसे बन्दी बनाने और प्रत्यर्पण करने के लिए औपचारिक प्रार्थना की। मेउनियर को लन्दन के विक्टोरिया स्टेशन पर 3 अप्रेल, 1894 को बन्दी बनाया गया। इसके वकील ने दोषारोपण के तर्कों को अपर्याप्त बताया और उसे राजनीतिक अपराधी सिद्ध किया, किन्तु ब्रिटिश न्यायालय ने मेउनियर के अपराध को राजनीतिक मानना अस्वीकार कर दिया और फ्रांस की सरकार को प्रत्यर्पण किए जाने तक उसे बन्दी बनाए रखने की व्यवस्था की।

उक्त मामलों से यह सिद्ध होता है कि 19वीं शताब्दी में राजनीतिक और गैर-राजनीतिक अपराधों को पृथक् करने का प्रयास किया गया था। हिंसा के उन व्यक्तिगत कार्यों को राजनीतिक अपराध नहीं माना गया जो क्रान्ति की तैयारी के लिए किए जाते थे। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे देश में शरण लेने का अधिकार रखता है। यह अधिकार गैर-राजनीतिक अपराधों के सम्बन्ध में और संयुक्त राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों के विरुद्ध नहीं दिया जा सकता।

5 सन् 1955 में कौल्कजिस्की तथा अन्य के विवाद में ब्रिटिश न्यायालय ने राजनीतिक अपराध की विशद व्याख्या की। पोलिश जहाज पर सात नाविक सवार थे। यात्रा के दौरान उन्होंने अनुभव किया कि उन पर कड़ी राजनीतिक देख-रेख हो रही है। यदि वे स्वदेश लौटेंगे तो उन्हें अपने राजनीतिक विचारों के लिए कठोर राजदण्ड भोगना पड़ेगा। उन्होंने सुरक्षा की दृष्टि से जहाज के कप्तान के विरुद्ध विद्रोह किया और उसे पकड़ कर जहाज को निकटतम ब्रिटिश बन्दरगाह में ले गए, 22 सितम्बर, 1954 को ब्रिटिश अधिकारियों ने नाविकों को नजरबन्द कर लिया। पोलैण्ड की साम्यवादी सरकार ने इनके प्रत्यर्पण की माँग की क्योंकि सन् 1870 के ब्रिटिश प्रत्यर्पण कानून में महासमुद्रों में जहाज पर विद्रोह करना अपराधों में शामिल था। ब्रिटिश न्यायालय ने बताया कि सन् 1870 का कानून राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण को रोकता है। इस मामले में प्रार्थियों के सामने केवल विद्रोह ही एकमात्र मार्ग था, अतः उनका अपराध राजनीतिक है। यदि वे पोलैण्ड की सरकार को सौंप दिए गए तो उन्हें राजनीतिक अपराध के लिए दण्डित किया जाएगा, फलतः पोलिश सरकार को नहीं सौंपे गए।

एटेण्टेन्ट धारा (Attentant Clause)—19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राज्य के अध्यक्षों की हत्या के लिए अनेक प्रयास किए गए जिनमें कुछ सफल हो गए। ये कार्य सरकार पर नियन्त्रण के लिए संगठित विद्रोह या संघर्ष का भाग नहीं थे वरन् कुछ व्यक्तियों अथवा एक आतंकवादी समूह के कार्य थे। सन् 1854 में ऐसा ही एक विवाद मि. जेक्विन का आया। बेल्जियम में बसे हुए दो फ्रांसीसियों ने फ्रांस के सम्राट् नेपोलियन तृतीय के वध के लिए केने और लील के बीच की रेलवे लाइन पर बम विस्फोट किया। फ्रांस ने इन दोनों व्यक्तियों के प्रत्यर्पण की माँग की किन्तु अपराध राजनीतिक होने के कारण यह माँग बेल्जियम के न्यायालय द्वारा अस्वीकार कर दी गई। भविष्य की व्यवस्था के लिए बेल्जियम ने सन् 1856 में अपने प्रत्यर्पण कानून का संशोधन किया। इसके अनुसार विदेशी सरकार के अध्यक्ष या उसके परिवार के सदस्य की हत्या को राजनीतिक अपराध नहीं माना जाएगा। ग्रेट-ब्रिटेन के अतिरिक्त दूसरे यूरोपीय देशों ने इस धारा को स्वीकार किया है। सन् 1933 के मोन्टीविडियो अभिसमय में यह प्रावधान जोड़ लिया गया है।

राजनीतिक अपराध के अर्थ का विस्तार—20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अन्तिम दिनों में राजनीतिक अधिकार के अर्थ को व्यापक बनाने का प्रयास किया

गया क्योंकि मानव-जाति विचारधाराओं के आधार पर विभाजित हो रही थी और क्रान्तिकारी एवं रूढ़िवादी तानाशाहियों का विकास हो रहा था। सन् 1935 में हारवर्ड प्रारूप अभिसमय ने तत्कालीन विश्व की परिस्थितियों को अभिव्यक्त करते हुए राजनीतिक अपराधों की सीमा में एक व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले राजद्रोह, हत्या और विद्रोह को शामिल किया। इसमें संगठित समूह की उन क्रियाओं को भी शामिल किया गया जो राज्य की सुरक्षा या सरकारी व्यवस्था के विरुद्ध संचालित की जाती हैं। राजनीतिक अपराध में केवल स्पष्ट कार्यों को शामिल किया जाता है। गुप्त रूप से किसी व्यक्ति की हत्या करना राजनीतिक अपराध नहीं वरन् हत्या की कार्यवाही है। शीतयुद्ध के कारण राजनीतिक अपराध की परिभाषा को और व्यापक बनाया गया।

अपहरण द्वारा प्रत्यर्पण
(Extradition by Abduction)

यदि एक अपराधी दूसरे राज्य से सीधे तरीके से प्राप्त न हो सके तो क्या उसका छल अथवा बल से अपहरण किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में आइकमान (Eichmann) का विवाद उल्लेखनीय है। हिटलर ने सन् 1938 में आइकमान को यहूदी प्रवास विभाग का अध्यक्ष बनाया और यहूदियों को जर्मनी से निकालने तथा इस समस्या के समाधान का कार्य सौंपा। सन् 1941 में सुरक्षा और यहूदियों के निष्कासन सम्बन्धी दोनों विभाग आइकमान को सौंप दिए गए। इस विभाग का मुख्य कार्य जर्मनी और जर्मन सेनाओं द्वारा अधिकृत प्रदेश से लाखों यहूदियों को निकालना या समाप्त करना था। यहूदियों को गोली से उड़ाने और उनके शवों को गाड़ने की प्रक्रिया पर्याप्त खर्चीली तथा समय लेने वाली प्रतीत हुई तो आइकमान ने एक जहरीली गैस के प्रयोग की आज्ञा दे दी। यहूदियों को बड़ी संख्या में कमरों में बन्द कर दिया जाता था। उसके बाद एक विषैली गैस द्वारा उनका सामूहिक रूप से संहार किया जाता था। उनके शवों को बिजली की भट्टियाँ जलाकर राख में परिणत कर देती थी। सन् 1944 में आइकमान ने हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट से 1 लाख 80 हजार से लेकर 2 लाख तक हंगरी निवासी यहूदियों को निर्वासित कराया और गैस गृहों में इनकी हत्या कर दी। आइकमान का स्वयं का दावा था कि उसने 5 लाख यहूदियों के वध का आयोजन कराया।

8 मई 1945 को अमेरिकी फौजों ने आइकमान को बन्दी बना लिया। कुछ समय तक बन्दी रहने के बाद वह अमेरिकी कैम्प से भाग निकला। अपना नाम बदल कर वह दक्षिण अमेरिका के अर्जेन्टाइना राज्य के एक कारखाने में काम करने लगा। इधर यहूदी अपनी जाति के हत्यारे का पता लगाने पर तुले हुए थे। अब तक यहूदियों का अलग राज्य इजराइल भी स्थापित हो गया था। 15 वर्ष की निरन्तर और सजग खोज के बाद 11 मई, 1960 को यहूदी स्वय सेवकों ने आइकमान को पकड़ लिया। एक विमान पर बैठा कर वे उसे इजराइल ले आए और उसे सरकार को समर्पित कर दिया।

आइकमान को गुप्त रूप से ले जाने पर अर्जेन्टाइना सरकार ने विरोध किया। उसने इजराइल के कार्य की निन्दा की और 8 जून, 1960 के अपने पत्र में उस मित्र राज्य की सम्प्रभुता का उल्लंघन करने का दोषी बताया। अर्जेन्टाइना के मतानुसार यह सच है कि आइकमान असंख्य यहूदियों के संहार का दोषी है वह अर्जेन्टाइना में गलत नाम से रह रहा था, उसे यहाँ शरण ग्रहण करने का कोई अधिकार नहीं था, किन्तु फिर भी इजराइल को दूसरे राज्य में अपना प्रतिनिधि भेजकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करते हुए ऐसे अपहरण का अधिकार नहीं था। फलतः उसे आइकमान को लौटा देना चाहिए और उसके बाद उसे प्रत्यर्पण की माँग करनी चाहिए। अर्जेन्टाइना का कहना था कि आइकमान यदि जाति वध का दोषी है तो उस पर या तो जर्मनी में मुकदमा चलाया जाना चाहिए जहाँ उसने अपराध किए थे या संयुक्त राष्ट्रसंघ के जाति वध अभिसमय के अनुसार इसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष लाया जाना चाहिए। इजराइल की सरकार ने इसके जवाब में यह कहा कि आइकमान को लाने की कार्यवाही सरकारी अधिकारियों द्वारा नहीं वरन् स्वयंसेवकों द्वारा की गई थी। आइकमान ने अपनी इच्छा से समर्पण किया है ताकि उसे मानसिक शान्ति मिल सके। इस पर अभियोग इजराइल में ही चलाया जाएगा तथा लौटाया नहीं जाएगा। जाने या अनजाने अर्जेन्टाइना की सरकार की सम्प्रभुता का जो उल्लंघन हुआ है उसके लिए इजराइल की सरकार ने क्षमा माँग ली।

अर्जेन्टाइना ने जब इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में उठाया तो परिषद् ने निर्णय दिया कि ऐसे कार्यों से निश्चय ही राज्य की प्रभुसत्ता का उल्लंघन होता है। ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरे में डाल सकती है। इजराइल को समुचित मुआवजा देने के लिए कहा गया। इजराइल ने स्वीकार किया कि इस प्रकार आइकमान का अपहरण कानूनी दृष्टि से उपयुक्त नहीं था किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से न्यायोचित था क्योंकि यदि प्रत्यर्पण की माँग सामान्य रूप से की जाती तो आइकमान भागने में सफल हो जाता और इस प्रकार लाखों निरपराध यहूदियों का खूनी न्याय के सामने आने से बच जाता। आइकमान के अपराध को देखते हुए इजराइल ने इस अनियमितता को क्षम्य और सहनीय सिद्ध किया।

काँगो के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री शोम्बे का मामला अपहरण द्वारा प्रत्यर्पण का एक अन्य उदाहरण है। काँगो की सरकार शोम्बे को देशद्रोही और लुमुम्बा का हत्यारा मानती थी, फलतः वह काँगो से भाग कर विदेश चला गया। उसकी अनुपस्थिति में शोम्बे पर अभियोग चलाया गया और मार्च, 1967 में प्राण दण्ड दिया गया। काँगो सरकार ने शोम्बे को स्वदेश लाने का प्रयास किया ताकि उसे दण्ड दिया जा सके। 1 जुलाई, 1967 को जब शोम्बे एक ब्रिटिश वायुयान में बैठ कर रोम से स्पेन जा रहा था तो जहाज के कुछ व्यक्तियों ने विमान को जबर्दस्ती अल्जीरिया चलने को बाध्य किया जहाँ पहुँचने ही शोम्बे बन्दी बना लिया गया। काँगो की सरकार ने 2 जुलाई, 1967 को अल्जीरिया सरकार से शोम्बे के प्रत्यर्पण की माँग की।

भारत में प्रत्यर्पण
(Extradition in India)

भारत मे सन् 1881 मे फरार अपराधी अधिनियम और सन् 1870, 1903 तथा 1932 मे प्रत्यर्पण कानून पारित किए गए। परतन्त्र भारत के ये कानून ब्रिटिश सरकार की नीति और विश्वासों पर आधारित थे। स्वतन्त्रता के बाद समयानुसार इन कानूनो मे संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई। 16 सितम्बर, 1962 को भारतीय संसद् ने भारतीय प्रत्यर्पण कानून पास किया। इसके अनुसार ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशो और ससार के दूसरे देशो के बीच अन्तर किया गया है। कानून ने प्रत्यर्पण योग्य अपराध उनको माना है जिनका उल्लेख विदेशों के साथ की गई प्रत्यर्पण सन्धियो मे किया गया है। जिन राज्यों के साथ सन्धि नहीं की गई है उनके सम्बन्ध मे मान्य अपराधो का उल्लेख अधिनियम की दूसरी अनुसूची में किया गया है। फरार अपराधी वह है जिस पर विदेशी राज्य की सीमा में अपराध करने का आरोप है या जिसे ऐसे अपराध के लिए दण्ड मिल चुका है और उसके सम्बन्ध में सन्देह है कि वह भारत भाग कर आया होगा।

राजनीतिक अपराधी—भारतीय प्रत्यर्पण अधिनियम के 31वें अनुभाग में यह माना गया है कि राजनीतिक अपराधियों को प्रत्यर्पित नहीं किया जाएगा। यदि कानून बनाने से पहले अपराध किया गया है तो अपराधी को विदेशी राज्य को सौंपा जा सकता। किसी राज्य की प्रभुसत्ता में न आने वाले महासमुद्रो मे या मुक्त आकाश मे अपराध करने वाले लोगो को भी दूसरे राज्य को सौंपा जा सकता है। केन्द्र सरकार को अधिकार है कि यदि प्रत्यर्पण की माँग महत्वहीन कारणों तथा बुरे इरादो से की जाए और अपराधी को लौटाना न्याय के पक्ष मे न हो तो वह अदालत की कार्यवाही को रोक दे तथा व्यक्ति को मुक्त कर दे। फरार अपराधी की माँग कई राज्यों द्वारा होने पर केन्द्र सरकार जिस राज्य को उचित समझे प्रत्यर्पण कर सकती है।

प्रत्यर्पण की कार्यवाही—फरार अपराधियो की प्रत्यर्पण की माँग सम्बन्धी आवश्यक नियमो का उल्लेख भी किया गया है। प्रत्यर्पण की प्रार्थना या तो सम्बन्धित राज्य का दिल्ली स्थित दूतावास अथवा उसकी सरकार कर सकती है। केन्द्रीय सरकार ऐसी प्रार्थना के आने पर न्यायाधीश को मामले की जाँच की आज्ञा देगी। न्यायालय फरार अपराधी को बन्दी बनाने के लिए वारन्ट जारी करेगा और मामले की जाँच करने के बाद यदि आवश्यक समझे तो उसे जेल भेजा देगा। न्यायालय द्वारा अभियुक्त का वक्तव्य एवं स्वयं की जाँच का प्रतिवेदन केन्द्रीय सरकार को भेज दिया जाएगा और सरकार जैसा भी उचित समझेगी निर्णय लेगी।

तारासोव का मामला—भारतीय प्रत्यर्पण कानून बनने के बाद 24 वर्षीय रूसी नाविक वी एस तारासोव का मामला आया। इस पर आरोप था कि इसने जहाज मे से 700 रुपये की चोरी की थी। जब कलकत्ता बन्दरगाह में उसका पोत पहुँचा तो उसने कूद कर एक अमेरिकी जहाज मे शरण ले ली। सोवियत दूतावास ने

भारत सरकार से तारासोव को सौंपने की प्रार्थना की ताकि सोवियत न्यायालय में उस पर चोरी के अपराध में मुकदमा चलाया जा सके। भारतीय न्यायालय ने 29 मार्च, 1963 को इस मामले मे तारासोव को निरपराध पाया और कहा कि चोरी का अपराध मनगढन्त है तारासोव का कहना था कि वह निर्दोष है। स्वतन्त्रतापूर्ण जीवन बिताने के लिए वह रूस से भागना चाहता है क्योंकि वहाँ व्यक्ति का कोई सम्मान और विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता नहीं है। जब कोई रूसी वहाँ के शासन से असन्तुष्ट होकर भागता है, उस पर चोरी का अपराध लगाया जाता है। यदि प्रत्यर्पण की माँग स्वीकार कर ली गई तो सोवियत सरकार उस पर चोरी के विरुद्ध मुकदमा चलाएगी वरन् यूक्रेनियन दण्ड विधान की धारा 56 के अनुसार मुकदमा चलाएगी। इसके अनुसार स्वदेश लौटने से मना करने वाले फरारों को 10 से लेकर 15 वर्ष की कैद अथवा गोली का निशाना बनाया जाता है, चाहे वे पूर्णत. निरपराध क्यों न हों।

न्यायालय ने पाया कि तारासोव के विरुद्ध दी गई साक्षियाँ पर्याप्त नहीं हैं और कोई प्रबल केस नही बनता, इसलिए उसे छोड देना उपयुक्त रहेगा। निर्णय में यह भी कहा गया कि भारत तथा सोवियत सघ के बीच कोई प्रत्यर्पण सन्धि नहीं है। अत. तारासोव विदेशी सरकार को नहीं सौंपा जा सकता।

आश्रय का अधिकार
(Right of Asylum)

प्रत्यर्पण और आश्रय के अधिकार को एक दूसरे का विलोम कहा जा सकता है। स्टार्क ने माना है कि प्रत्यर्पण प्रारम्भ होता है तो आश्रय की समाप्ति हो जाती है। जब एक राज्य राजनीतिक अपराध के दोषी का प्रत्यर्पण करने से मना कर देता है तो उसे आश्रय अथवा शरण प्रदान की जाती है। अनेक उदाहरणों मे आश्रय ने प्रत्यर्पण की सीमा का काम किया है।

19वीं शताब्दी मे, सामूहिक शरणार्थियों के कई उदाहरण उपस्थित हुए। 20वीं शताब्दी को राजनीतिक आश्रय ग्रहण करने वालों की शताब्दी कहा जाता है। कभी कभी आश्रय पाने वालों की सख्या हजारों तथा लाखों तक पहुँच जाती है। जैसे—श्वेत रूसी, जर्मनी के यहूदी, चीन द्वारा अधिकृत तिब्बत के लोग, कास्ट्रो के क्यूबा से आने वाले लोग आदि-आदि। मार्च, 1959 में जब दलाईलामा की सुरक्षा तिब्बत मे खतरे मे पड गई तो वे ल्हासा से भागकर भारत मे आश्रय ग्रहण करने के लिए आ गए।

आश्रय का प्रकार—विदेशियों को दिया जाने वाला आश्रय मुख्यत दो प्रकार का होता है— प्रादेशिक आश्रय और प्रदेश बाह्य आश्रय।

1 प्रादेशिक आश्रय—इसमे एक राज्य किसी व्यक्ति को अपने प्रदेश मे आश्रय देता है। उदाहरण के लिए भारत में दलाईलामा को आश्रय दिया गया। स्टालिन की पुत्री स्वेतलाना द्वारा शरण लेने की घटना भी प्रादेशिक आश्रय का उदाहरण है। दिसम्बर, 1966 मे स्वेतलाना अपने दिवगत भारतीय पति बृजेशसिंह

के मतभेद लेकर भारत आई। यहाँ बृजेशसिंह के घर कालाकाँकर (उत्तर प्रदेश) में वह एक निश्चित अवधि तक रही। बाद में उसने रूस न जाने का निर्णय लिया और नई दिल्ली स्थित अमेरिकी दूतावास में शरण ली। वहाँ के अधिकारी की सहायता से वह अस्थायी शरण प्राप्त करने के लिए स्विट्जरलैण्ड पहुँची तथा 21 अप्रेल, 1967 को न्यूयॉर्क पहुँची। अपने एक वक्तव्य में उसने बताया कि आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए वह अमेरिका पहुँची है। सोवियत संघ में उसे यह प्राप्त नहीं थी।

प्रादेशिक आश्रय प्रदान करने की परम्परा नयी नहीं है अपितु प्राचीन काल से व्यक्ति राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक मतभेदों के आधार पर स्वदेश छोड़ कर विदेशों में आश्रय प्राप्त करते रहे हैं।

सोवियत संघ, जर्मनी, फ्रांस और इटली आदि ने अपने संविधानों में इस बात का उल्लेख किया है कि राजनीतिक दृष्टि से पीड़ित लोगों को उनके यहाँ आश्रय प्राप्त करने का अधिकार है। आश्रयदाता देश पूरी तरह स्वतन्त्र है; वह व्यक्ति अत्याचार से रक्षा पाने के लिए दूसरे देशों में शरण ग्रहण कर सकता है. अन्तर्राष्ट्रीय कानून में व्यक्ति का ऐसा कोई अधिकार स्वीकार नहीं किया गया है। प्रो ओपेनहेम के मतानुसार, आश्रय के अधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य किसी सताए हुए व्यक्ति को अपने प्रदेश में प्रवेश देने, सरक्षण प्रदान करने का अधिकार रखता है। इस प्रकार वे फरार अपराधी पर सम्बन्धित राज्य अपने हित की दृष्टि से निरीक्षण रखता है और आवश्यकता हो तो उसे नजरबन्द भी कर सकता है। कोई राज्य अपने प्रदेश में किसी को ऐसा कार्य नहीं करने देगा जो दूसरे राज्य की सुरक्षा के लिए खतरा पैदा कर सके। दलाईलामा को आश्रय देते समय भारत ने यह शर्त रखी कि वे चीन विरोधी राजनीतिक प्रचार और संगठन न करें। इस दृष्टि से उन पर पूरी देख रेख रखी जाती है।

2. प्रदेश बाह्य आश्रय (Extra territorial Asylum)—जब एक राज्य विदेश में स्थित अपने दूतावास या युद्ध पोतों अथवा व्यापारिक जहाजों में शरण देता है तो यह प्रदेश बाह्य आश्रय कहलाता है। इस प्रकार का आश्रय देना राज्य का पूर्ण अधिकार नहीं होता वरन् यह कुछ विशेष परिस्थितियों में मानवीय दृष्टि से प्रदान किया जाता है ताकि उत्तेजित भीड़ से किसी व्यक्ति को बचाया जा सके।

प्रदेश बाह्य आश्रय अपनी प्रकृति तथा स्थान के अनुसार पाँच प्रकार का होता है। दूतावास में दिया जाने वाला आश्रय, वाणिज्य दूतावासों में दिया जाने वाला आश्रय, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रांगण में दिया जाने वाला आश्रय, युद्धपोतों का आश्रय और व्यापारिक जहाजों में दिया जाने वाला आश्रय। प्रदेश बाह्य आश्रय के इन विभिन्न रूपों में दूतावासों में दिए जाने वाले आश्रय का स्थान उल्लेखनीय है। जो आश्रय दूतावासों में दिया जाता है उसे कूटनीतिक आश्रय की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

आश्रयदान की शर्तें
(Conditions of Granting Asylum)

आश्रय पाने का अधिकारी कौन हो सकता है अथवा किसे आश्रय प्रदान किया जाना चाहिए ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। स्पष्ट है कि कोई भी राज्य प्रत्येक विदेशी को आश्रय नहीं सौंप सकता। इसके लिए कुछ आधारभूत शर्तों का पूरा किया जाना आवश्यक है। ये शर्तें निम्न प्रकार हैं—

1. सम्बन्धित व्यक्ति या व्यक्ति समूह वास्तव में राजनीतिक अथवा जातिगत पीड़ित हो और सम्बन्धित राज्य द्वारा ऐसा माना जाए। अधिकांश प्रजातन्त्र राज्य प्राय तभी आश्रय देते हैं जब उन्हें विश्वास हो जाए कि व्यक्ति अपने देश से अन्याय की पीड़ा से व्याकुल होकर भागा है। जब एक बार आश्रय प्रदान कर दिया जाता है तो उसका प्रत्यर्पण नहीं होता क्योंकि राजनीतिक अपराधों को प्रत्यर्पण की सीमाओं से बाहर रखा गया है। आजकल राजनीतिक अपराध का अर्थ पर्याप्त व्यापक बन चुका है।

28 जुलाई, 1951 के जेनेवा अभिसमय की धारा-1-A (2) में कहा गया है कि शरण उस व्यक्ति को दी जाएगी जो जाति धर्म, राष्ट्रीयता, एक विशेष सामाजिक समूह की सदस्यता या राजनीतिक मत में विश्वास आदि के कारण पीड़ित होने के भय से त्रस्त है और अपने देश में सुरक्षा पाने में असमर्थ है। प्रारम्भ में शरणदान का मुख्य आधार प्राय राजनीतिक और कूटनीतिक होता था अर्थात् कोई भी राज्य अपने राजनीतिक हित की दृष्टि से ही आश्रयदान करता था, किन्तु आजकल निराश्रितों अथवा शरणार्थियों की संख्या बढ़ने के कारण अन्य कई प्रेरणाएँ भी प्रभावशाली बन गई हैं।

वर्तमान शताब्दी को बे घर-बार मनुष्य की शताब्दी कहा जाता है क्योंकि भारत, पाकिस्तान, तिब्बत, जर्मनी, क्यूबा, अफ्रीका आदि अनेक राज्यों से बहुत बड़ी संख्या में लोगों को भागना पड़ा है। यदि इन्हें शरण देने में केवल राजनीतिक हित को ध्यान में रखा जाता तो अनुपयुक्त था। इसलिए नई प्रेरणाओं और कारणों को जन्म मिला। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में राजनीतिक आश्रयदान को केवल राजनीतिक अपराधियों तक सीमित रखने के लिए कोई नियम नहीं है।

2. आजकल आश्रयदान में मानवीय दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व दिया जाता है। जो व्यक्ति अत्याचार और अन्याय से जितना अधिक पीड़ित है उसे विदेश में आश्रय पाने का उतना ही अधिक अधिकार है। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने शरणार्थियों के लिए 1 जनवरी, 1951 को उच्च आयुक्त (High Commissioner) के कार्यालय की स्थापना की। इस कार्यालय को शरणार्थियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण प्रदान करने का कार्य सौंपा गया है। सन् 1960 में मानवीय अधिकार आयोग ने कहा कि अत्याचार से राहत पाने की इच्छा वाले लोगों को अपने प्रदेश में शरण देना राज्य का अधिकार ही नहीं वरन् उसका कर्त्तव्य भी है। सन् 1964 के अन्तर्राष्ट्रीय विधि संघ ने भी यह स्वीकार किया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से व्यक्ति दूसरे राज्यों में शरण पाने का अधिकार रखता है।

3. आश्रय पाने की अन्य महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि सम्बन्धित व्यक्ति का राजनीतिक दर्शन उस राज्य के अधिकारियों द्वारा प्रतिपादित की गई राजनीतिक विचारधारा से भिन्न न हो जिसमें वह आश्रय पाना चाहता है। संयुक्तराज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ आदि राज्य इस शर्त का अनुशीलन पूर्ण रूप से करते हैं। आज का युग विचारधारा का युग है किसी विशेष विचारधारा का समर्थन अथवा विरोध आधुनिक राज्यों का बहुत बड़ा हित है। साम्यवादी विचारधारा का पक्ष लेने वाले राजनीतिक अपराधियों को संयुक्तराज्य अमेरिका में साधारणतः प्रविष्ट नहीं होने दिया जाएगा।

आश्रय के अधिकार के सम्बन्ध में कोई सामान्य नियम नहीं है और इसलिए समय-समय पर इसके संहिताकरण के प्रयास किए जाते रहे हैं। आजकल यह प्रायः सर्वमान्य सिद्धान्त बन चुका है कि किसी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके देश न भेजा जाए। यदि ऐसा किया गया तो व्यक्ति को अत्याचार और अन्याय सहन करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। ग्रेट-ब्रिटेन के उप गृह सचिव द्वारा 8 मार्च, 1957 को की गई घोषणा से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसमें कहा गया था कि "यदि ग्रेट-ब्रिटेन में प्रवेश से किसी व्यक्ति को ऐसे देश में लौट कर जाने से रोका जा सके जहाँ उसके प्राणों के लिए संकट है अथवा ऐसे अत्याचारों का भय है जिनसे जीवन असहनीय बन जाए तो सामान्यतः उसे इस देश में प्रवेश की अनुमति दी जाएगी।" आज की परिस्थिति में जब एक राज्य किसी व्यक्ति को राजनीतिक आश्रय देने से मना करता है तो इसके पीछे राज्य की मजबूरी छिपी रहती है। सम्भवतः व्यक्ति किसी कारणवश आश्रय पाने योग्य नहीं होता।

आजकल मानवीय दृष्टिकोण का प्रभाव अधिक है और इसलिए शरणागत को ठुकराना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निन्दनीय समझा जाता है। विश्व जनमत सामान्यतः पीड़ित लोगों को शरण देने का समर्थन करता है। विश्व रंग-मंच पर ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें राज्यों को उत्तरदायी नेताओं को शरण न देने के अपने निर्णय वापिस लेने पड़े।

राजनयिक आश्रय
(Diplomatic Asylum)

आश्रय का एक महत्त्वपूर्ण और सुविदित रूप राजनयिक अथवा कूटनीतिक आश्रय के रूप में जाना जाता है। सैंकड़ों बार ऐसे अवसर आए हैं जब राजनीतिक अपराधियों ने समय से प्रभावित होकर अपने देश में न रहने का निर्णय लिया और वहाँ स्थित विदेशी दूतावासों में आश्रय ग्रहण किया। समय के साथ-साथ इस प्रवृत्ति का विकास हुआ है कि यदि विदेशी कूटनीतिक मिशन असीमित रूप से आश्रय देते हैं तो वे निश्चित ही अपने स्वागतकर्त्ता राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करते हैं। फलतः कूटनीतिक आश्रय का क्षेत्र धीरे-धीरे संकुचित होता जा रहा है और अनेक राज्यों ने इस व्यवहार को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया है। ये राज्य अपने कूटनीतिक एजेन्टों को इस प्रकार का आश्रय न देने का निर्देश जारी करते हैं।

[कू]टनीतिक प्राश्रय देने का व्यवहार लेटिन प्रमेरिकी राज्यों और स्पेन द्वारा ही [अ]पनाया जाता है।

राजनयिक प्राश्रय के पीछे मूल सिद्धान्त यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा [रा]जदूतों के निवास स्थान को सम्बन्धित राज्यों के क्षेत्राधिकार से मुक्त रखा जाता [है]। राज्य की पुलिस विदेशी दूतावास में राजदूत की अनुमति के बिना प्रवेश नहीं [क]र सकती। यदि एक व्यक्ति वहाँ प्राश्रय लेता है तो वह राज्य की पुलिस की पकड [से] बाहर हो जाएगा। दूतावास में शरण देने के अधिकार की सीमा का प्रश्न प्रारम्भ [से] ही विवाद का विषय रहा है। सामान्यतः विदेशी दूतावास में शरण देना किसी [दृ]ष्टि से उचित नहीं माना जाता, केवल अपवाद के रूप में कुछ परिस्थितियों [में] यह सहनीय है। ये प्राश्रय अस्थाई प्रकृति के होते हैं। यदि किसी व्यक्ति के प्राण उत्तेजित भीड़ अथवा अव्यवस्था के कारण संकट में हैं अथवा वह स्थानीय राजनीतिक भ्रष्टाचार से पीड़ित है तो वह अस्थाई रूप में दूतावास में शरण लेकर अपने शरीर की रक्षा कर सकता है। मानवीय आधार पर इस प्रकार के शरणदान को अनुचित नहीं माना जाता। दूसरे, जहाँ इस प्रकार का प्राश्रय देना बाध्यकारी रिवाज समझा जाए वहाँ भी दूतावास ऐसा करने में दोषी नहीं माने जाएँगे। तीसरे, कई बार दो राज्यों के बीच इस सम्बन्ध में विशेष सन्धियाँ की जाती हैं और दोनों राज्य एक दूसरे के दूतावासों को अपने प्रदेश में प्राश्रय देने का अधिकार सौंपते हैं।

राजनयिक प्राश्रय केवल अल्पकालीन होना चाहिए। यदि स्थानीय पुलिस प्राश्रय प्राप्त करने वाले व्यक्ति की माँग करे तो वह पुलिस को सौंप दिया जाना चाहिए। संयुक्तराज्य अमेरिका की नीति राजनयिक प्राश्रय की दृष्टि से बहुत समय से एक जैसी रही है। 19वीं शताब्दी से ही अमेरिकी कूटनीतिक एजेन्टों को यह निर्देश दिया जाने लगा है कि वे राजनयिक प्राश्रय अस्थाई रूप से केवल ऐसे लोगों को दें जिनका जीवन हिंसात्मक भीड़ ने खतरे में डाल दिया है। 1927 में सरकार ने इस परम्परागत प्रतिबन्ध के सम्बन्ध में कुछ नरम दृष्टिकोण अपनाया। अमेरिकी विश्वास के अनुसार राजनयिक प्राश्रय अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वैध सिद्धान्त नहीं है वरन् यह कुछ राज्यों के विवेक पर आधारित परम्परा है। मि. ग्लान के शब्दों में—"राजनयिक प्राश्रय को स्वीकार्य स्थानीय रिवाज के रूप में लिया जाता है। यह मानवीय दृष्टि से किया गया एक अस्थाई प्रयास है जिसका प्रयोग अमेरिकी राजनयिक अधिकारी, स्थानीय सरकार की सहमति के आधार पर करते हैं।"

वास्तविक व्यवहार में संयुक्तराज्य अमेरिका अपनी पूर्वोक्त नीति से विमुख हुआ है। अनेक अवसरों पर अमेरिकी राजनयिकों ने दूतावास में ऐसे कारणों से प्राश्रय दिया है जो हिंसात्मक भीड़ में नहीं थे। उदाहरण के लिए पेरू (1870), डोमिनिकन गणराज्य (1904), हैटी (1911), चिली (1924) आदि को प्रस्तुत किया जा सकता है। संयुक्तराज्य अमेरिका ने 1 दिसम्बर, 1932 को यह घोषणा की थी कि प्राश्रय प्रदान करना राजनयिक दूत मण्डल के कार्यों में शामिल नहीं है। यह परम्परा केवल ऐसे राज्यों में स्थानीय रिवाज के रूप में प्रचलित है जहाँ [illegible] और सामाजिक अस्थिरता के ज्वार-भाटे आते रहते हैं।

लेटिन अमेरिका और स्पेन के दूतावासों को स्थाई शरण देने वाले राज्यों मे प्रमुख माना जाता है। उन राज्यो मे राजनयिक आश्रय के सिद्धान्त का व्यवहार इतना व्यापक है कि इसे यदि क्षेत्रीय अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सिद्धान्त कह दिया जाए तो अनुचित न होगा। 1889 के मोन्टीविडियो सम्मेलन से प्रारम्भ होकर इस विषय से सम्बन्धित विषयों की शृंखला लेटिन अमेरिकी राज्यो द्वारा अपनाई गई। 1948 मे अमेरिकी राज्यों का 9वाँ सम्मेलन बोगाटा मे किया गया। इसमे व्यक्ति के अधिकारों और कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया। इसके अनुच्छेद 27 मे कहा गया कि—'प्रत्येक व्यक्ति साधारण अपराधों के अतिरिक्त पीडाओं के लिए विदेशी प्रदेश मे आश्रय पाने का अधिकार रखता है। यह अधिकार प्रत्येक देश के कानूनों और अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के अनुरूप प्रयुक्त किया जाएगा।" इस प्रावधान मे विदेशी दूतावासों को विदेशी प्रदेश नहीं माना गया है।

14 फरवरी, 1951 को अमेरिकी राज्यों की परिषद् ने आश्रय के अधिकार को अमेरिकी राज्यों के न्यायिक सिद्धान्त के रूप मे माना। राजनयिक आश्रय पर अभिसमय 1954 मे स्वीकार किया गया। इस पर काराकास मे 26 राज्यों ने हस्ताक्षर किए किन्तु केवल 6 राज्यों ने व्यवहार मे मान्यता दी।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि राजनयिक आश्रय कुछ शर्तों का विषय है। जब राजनैतिक मतभेदों के कारण कोई व्यक्ति पीडित किया जाता है तो वह प्रायः ऐसे राज्यों के दूतावास मे शरण लेता है जिसके विचार उससे मिलते हों। कभी कभी राजनयिक आश्रय के सिद्धान्त का व्यवहार अनेक गम्भीर परिणामों का कारण बनता है। इसका कारण या तो सम्बन्धित व्यक्तियों की संख्या होनी है अथवा उनके सम्बन्ध मे किया गया व्यापक प्रचार। स्पेन मे गृह-युद्ध के प्रारम्भिक दिनों मे स्पेन की गणराज्य सरकार के लगभग 12 हजार विरोधियों ने मैड्रिड के विदेशी दूतावासों मे शरण प्राप्त की इसीलिए यह काफी प्रसिद्ध हुआ। दूसरी ओर, कोलम्बिया और पीरू से सम्बन्धित आश्रय का मामला भी पर्याप्त प्रकाशित हुआ और इसलिए यह भी प्रसिद्ध हो गया।

कुछ अवसरों पर सरकारें राजनयिकों की सुरक्षा के अपने दायित्वों को सम्मान नहीं देती और इसलिए फरार व्यक्ति अपने राजनयिक आश्रय के स्थान से विदेश नहीं जा पाता। इस प्रकार के अपराध का उदाहरण 1956 मे हंगरी मे घटा। प्रधानमन्त्री नेगी और उसकी सरकार के कुछ अन्य सदस्यों ने बुडापेस्ट मे भाग कर यूगोस्लाविया के दूतावास मे शरण ली। कुछ समय बाद हंगरी की साम्यवादी सरकार ने सुरक्षित आचरण का आश्वासन दिया और उन पर न्यायिक कार्यवाही न करने का वायदा किया। आश्वासन मिल जाने के बाद जब ये फरार व्यक्ति दूतावास के बाहर आए तो उन्हें बन्दी बना लिया गया और उनके विरुद्ध कार्यवाही की गई। यूगोस्लाविया सरकार ने इस कार्य के लिए हंगरी और सोवियत संघ दोनों के प्रति कड़ा विरोध प्रकट किया और सम्बन्धित व्यक्तियों के स्थान के बारे में पूछताछ की। हंगरी की सरकार ने 1 दिसम्बर, 1956 के अपने उत्तर में यूगोस्लाविया के विरोध

को अस्वीकार किया और घोषणा की कि जो कुछ भी कार्यवाही की गई है वह विशुद्ध रूप से हंगरी का घरेलू मामला है। यूगोस्लाविया ने इस व्यवहार के विरोध में 6 सितम्बर, 1956 और 23 जून, 1958 को अपना असन्तोष प्रकट किया किन्तु फलहीन रहा।

प्रत्यर्पण और आश्रय सम्बन्धी समस्याएँ
(Problems of Extradition and Asylum)

प्रत्यर्पण और आश्रय से सम्बन्धित कुछ मूलभूत समस्याएँ हैं जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

1. अनौपचारिक प्रत्यर्पण—प्रत्यर्पण तथा आश्रय देने की प्रक्रिया से सम्बन्धित एक समस्या अनौपचारिक प्रत्यर्पण की है। इसके अन्तर्गत विभिन्न दीवानी, फौजदारी तथा राजनीतिक अपराधियों को जो राज्य की सीमाओं से परे भाग गए हैं, बिना किसी औपचारिक प्रक्रिया के वापस बुलाया जा सकता है।

आधुनिक इतिहास अनौपचारिक प्रत्यर्पण के उदाहरणों से भरा हुआ पड़ा है। कानूनी दृष्टि से यदि एक राज्य किसी राजनैतिक अपराधी को उसकी माँग करने वाले राज्य को अनौपचारिक रूप से सौंप देता है तो कोई गलती नहीं करता फिर भी व्यवहार में यह अपने शरणदान के कर्त्तव्य से मुकर जाता है। प्रत्यर्पण सन्धियों द्वारा निर्धारित प्रक्रिया को न अपनाकर केवल अनौपचारिक तरीके को अपनाना इस प्रकार से सम्बन्धित देश के कानून को तोड़ना माना जा सकता है क्योंकि यह सन्धि देश का कानून थी। सिद्धान्त रूप में यह सच होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं रखती।

2 बाध्यकारी अपहरण—जब फरार व्यक्तियों को अपहरण या उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके देश में लाया जाता है तो बाध्यकारी अपहरण कहलाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायिक दृष्टिकोण यह है कि यदि किसी व्यक्ति को इस प्रकार लाया जाता है तो इसके परिणामस्वरूप उसके मामले में विचार करने का न्यायालय का अधिकार प्रभावित नहीं होता। इसकी रक्षा में यह कहा जाता है कि व्यक्ति का अपहरण उसके नहीं वरन् राज्य के हित की दृष्टि से किया गया है, जिसके अधिकारों का व्यक्ति ने उल्लंघन किया था। इस सम्बन्ध में आइकमान का विवाद उल्लेखनीय है जिसका अध्ययन विस्तार से किया जा चुका है।

3 युद्ध पूर्व की प्रत्यर्पण सन्धियों का स्तर—युद्ध के कारण प्रत्यर्पण के सम्बन्ध में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई। इनमें एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह थी कि युद्ध के पहले युद्धरत राज्यों के बीच जो सन्धियाँ की गई थीं क्या वे युद्धकाल में भी जारी रहेंगी? अनेक निर्णयों के आधार पर यह सुझाव दिया गया कि इस प्रकार के समझौते युद्ध के कारण समाप्त नहीं हुए हैं वरन् केवल रोक दिए गए हैं। युद्ध की समाप्ति के बाद जब युद्धकारी राज्य परस्पर सूचनाओं का आदान-प्रदान करेंगे तो ये सन्धियाँ पुनः लागू हो जाएँगी। किसी भी सन्धि के अस्तित्व का आधार सम्बन्धित पक्षों का दृष्टिकोण एवं उद्देश्य है।

14 अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय: राज्य और व्यक्ति

(Subject of International Law : States and Individuals)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य होते है। राज्यो की रचना व्यक्तियों को मिलाकर की जाती है और इसीलिए अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विषय बन जाते हैं। व्यक्ति अनेक प्रकार से शान्ति और युद्धकाल मे विदेशी राज्य के सम्पर्क मे आते हैं। अपने राज्य के राष्ट्रिक होने के नाते व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय होते हैं। यही कारण है कि व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय नियमन और संरक्षण का प्रतीक माना जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य
(Subject of International Law . States)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा, क्षेत्र और विषय-वस्तु के अध्ययन के दौरान बताया जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्वतन्त्र सम्प्रभु राज्य के पारस्परिक सम्बन्धो मे प्रयुक्त होने वाला कानून है। स्वतन्त्र सम्प्रभु राज्यों ने ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यवस्था के निर्माण मे हाथ बँटाया है और ये सम्प्रभु राज्य ही उसकी वास्तविक विषय वस्तु हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषयो मे सम्प्रभुता अथवा प्रभुसत्ता का गुण होना आवश्यक है।

अध्याय 6 मे हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख विषय—राज्य के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से विचार कर चुके हैं। राज्य के अभिप्राय, राज्यों की स्थिति, राज्यों की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता, राज्यो के पारस्परिक व्यवहार, राज्यों का वर्गीकरण अथवा राज्यों के विभिन्न प्रकार आदि पर प्रकाश डाला जा चुका है। अत. यह उपयुक्त होगा कि हम प्रासंगिक रूप मे यहाँ राज्य पर अति संक्षेप मे विचार व्यक्त करते हुए 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून और व्यक्ति' पर विस्तार से विवेचन प्रस्तुत करें।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय, राज्य पर विचार प्रकट करते हुए डॉ आसोपा आगे लिखा है कि—

"विधि शास्त्रियों का मत है कि किसी राज्य को कानूनी इकाई के रूप में मान्यता प्रदान करने के लिए इन चार प्रमुख विशेषताओं का होना आवश्यक है— प्रदेश, जनसंख्या, सरकार एवं सार्वभौम प्रभुसत्ता। सार्वभौम प्रभुसत्ता प्रत्येक राज्य की अन्तर्निहित विशेषता है। उसके अभाव में राज्य पूर्ण राज्य कहे जाने का अधिकारी नहीं है। वह या तो पराधीन होगा या उसका कोई अन्य रूप होगा जैसे न्यायाश्रित प्रदेश, संरक्षित प्रदेश, उपनिवेश संघीय इकाई आदि। यद्यपि कभी-कभी किसी राज्य के विशेष प्रदेश पर अन्य राज्य का अधिकार होते हुए भी ऐसे प्रभावित अधिकृत राज्य की सार्वभौम प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया जाता है तथापि ऐसा असाधारण स्थितियों में ही होता है। उदाहरणार्थ, प्रथम व द्वितीय महायुद्ध के दौरान जर्मनी द्वारा अधिकृत यूरोपीय राज्यों पर जर्मनी का पूर्ण अधिकार होते हुए भी उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार न करके मित्र राष्ट्रों द्वारा उन राज्यों की कानूनी सरकारों को ही सार्वभौम सत्ता प्राप्त सरकार माना गया था। राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्यों सम्बन्धी मोण्टाविडियो कन्वेन्शन, 1933 के घोषणा पत्र में कहा गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय के रूप में राज्य के पास स्थायी प्रदेश होना चाहिए, एक निश्चित सरकार होनी चाहिए जिसके आदेशों को उस प्रदेश पर बसे सभी व्यक्तियों, कानूनी इकाइयों एवं संस्थाओं पर निर्विरोध रूप से लागू किया जाता हो तथा वह सरकार अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सक्षम होनी चाहिए। सक्षमता का अर्थ यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के निर्वाह की इच्छा व क्षमता से है।"

ब्रिटिश विधि-शास्त्री हालैण्ड के अनुसार राज्य मनुष्यों के उस समुदाय को कहते हैं जो सामान्यतः किसी निश्चित प्रदेश पर बसा हो तथा जिसमें किसी एक वर्ग या उल्लेखनीय बहुसंख्यक दल की इच्छा निर्विरोध ढंग से स्वीकार की जाती हो। हॉल ने राज्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "स्वतन्त्र राज्य का लक्षण यह है कि उसका निर्माण करने वाला समाज स्थायी रूप से राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संगठित होता है। उसका एक निश्चित प्रदेश होता है और वह बाह्य नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त होता है। ओपेनहेम, विल्सन, गार्नर, फिलीमोर आदि ने भी राज्य की परिभाषा इसी रूप में की है।"

पुनश्च, "स्वतन्त्र सार्वभौम राज्य सामान्य तौर पर एकल राज्य (Single State) होता है जिसकी अपने अधीनस्थ प्रदेश में सार्वभौम सत्ता होती है। लेकिन संविधानिक व राजनीतिक तरीके से राज्य ऐसी व्यवस्था कर लेते हैं जिसके फलस्वरूप एक राज्य कई राज्यों के साथ सम्बद्ध होकर अपनी स्वतन्त्रता व सार्वभौम सत्ता पर आंशिक सीमाएँ स्वीकार कर लेता है। इस परिवर्तन के बाद भी वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय बना रहता है। इस प्रकार की स्थिति वैयक्तिक संघ (Personal Union), परिसंघ (Confederation) तथा कभी-कभी संघीय व्यवस्था (Federal System) के कारण उत्पन्न होती है।" जहाँ तक राष्ट्रमण्डल का सवाल है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से, जैसा कि स्टार का मत है कि यह न तो कोई राज्य है, न ही कोई संघ है। यह केवल ऐसे स्वतन्त्र और समान राष्ट्रों का

एक संघ है जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं और कुछ सामान्य सिद्धान्तों के प्रति सहमत है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत राष्ट्रमण्डल कोई अलग सम्प्रभु इकाई नहीं है। यह केवल एक प्रकार का स्वतन्त्र राज्यों का समूह है। भारत यह स्पष्ट कर चुका है कि वह सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न गणराज्य है और इसीलिए भारत में राष्ट्रमण्डल की सदस्यता समानता के आधार पर स्वीकार की है और इसका सदस्य बने रहना या न रहना भारत की इच्छा पर निर्भर करता है।

जहाँ तक राज्यों के कार्यों का प्रश्न है आधुनिक समय में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। कपूर के शब्दों में "राज्यों की धारणा पहले पुलिस राज्य (Police State) की थी। अर्थात् राज्य का अनिवार्य कार्य राज्य के अन्दर शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखना तथा बाहरी आक्रमण से राज्य की सुरक्षा करना होता था। इसमें सन्देह नहीं है कि आज भी राज्य के ये आवश्यक कार्य हैं, परन्तु वर्तमान समय में राज्यों के कार्यों की धारणा में कुछ परिवर्तन हुआ है और राज्य की धारणा पुलिस राज्य से बदलकर कल्याणकारी (Welfare State) की हो गयी है। अर्थात् जनता के हितों के लिए राज्य को अनेक सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक कार्य भी करने पड़ते हैं। परन्तु यह कार्य अनिवार्य कार्यों की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। ये कार्य गौण कार्य हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय : परम्परागत, अतिवादी और सन्तुलित दृष्टिकोण
(Subject of International Law : Traditional, Extremist and Balanced Views)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में व्यक्ति के स्थान से सम्बन्धित प्रश्न अत्यन्त जटिल है। इस सम्बन्ध में विचारकों ने समय-समय पर मत प्रकट किया है। परम्परागत रूप से यह माना जाता है कि केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं; व्यक्ति का यहाँ कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत मत अतिवादियों (Extremists) ने प्रकट किया और माना कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में व्यक्ति की स्थिति गौरवपूर्ण है। एक अन्य मत इन तीनों के मध्य भी प्रतिपादित किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय (Subject) और पात्र (Object) के सम्बन्ध में सामान्य सहमति नहीं है। सामान्य विधिशास्त्र में कानूनी अधिकार और कर्त्तव्य जिन्हें दिए जाते हैं वे विषय कहलाते हैं और जिनके सम्बन्ध में ये अधिकार और कर्त्तव्य सौंपे जाते हैं वे कानून के पात्र होते हैं।

परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य होते हैं क्योंकि उन्हीं को अधिकार और कर्त्तव्य सौंपे जाते हैं। व्यक्ति राष्ट्रीय कानून का विषय है। अतिवादियों के मतानुसार व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है। प्रो. फेनविक आदि ने मध्य की स्थिति अपनाई है और व्यक्ति तथा राज्य दोनों को अन्तर्राष्ट्रीय विषय माना है। इन तीनों दृष्टिकोणों का विवेचन अग्रांकित प्रकार से किया जा सकता है—

(1) परम्परागत दृष्टिकोण (Traditional View)

इस मत के समर्थकों में ओपेनहेम और फ्रेडरिक स्मिथ का नाम लिया जा सकता है। ओपेनहेम के मतानुसार—"राष्ट्रों का कानून मुख्य रूप से राज्यों के मध्य का कानून है। अतः इस सीमा तक केवल राज्य ही राष्ट्रों के कानून का विषय होते हैं।" यही मत सर फ्रेडरिक स्मिथ ने प्रकट किया है। उनके कथनानुसार—"राष्ट्रों के कानून में केवल राज्य ही न्यायालयों में उपस्थित होने और अपनी बात कहने का अधिकार रखते हैं। इसलिए केवल वही अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व से युक्त माने जा सकते हैं।"

इस मत के पक्ष में व्यावहारिक दृष्टि से अनेक बातें कही जा सकती हैं—(A) केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेते हैं और वे ही नियमों की रचना करते हैं। (B) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में केवल राज्यों को ही वादी और प्रतिवादी होने का अधिकार है। (C) संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य व्यक्ति नहीं होते वरन् राज्य होते हैं। (D) राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार संचालित किया जाता है। राजदूत भेजना और विदेशों में अपने नागरिकों की रक्षा करने का कार्य राज्य ही करते हैं। (E) राज्यों द्वारा परस्पर सन्धियाँ करके अन्तर्राष्ट्रीय नियमों और राज्यों के अधिकारों की रचना की जाती है। (F) दो राज्यों की मित्रता या शत्रुता का निर्णय राज्य ही करते हैं न कि व्यक्ति। जब एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देता है तो इसके फलस्वरूप दूसरे राज्य के सभी निवासी पहले राज्य के शत्रु बन जाते हैं।

उक्त सभी तर्कों से यह सिद्ध होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य ही होते हैं व्यक्ति नहीं।

(2) अतिवादी दृष्टिकोण (Extremist View)

इस मत के समर्थकों में स्टोवैल, हैफ्टर, ब्राउन और हैन्स केल्सन आदि का नाम लिया जा सकता है। इनका कहना है कि राज्य एक कल्पनात्मक वस्तु है और व्यक्तियों से पृथक् इसका कोई अस्तित्व नहीं। राज्य साधन है और व्यक्ति साध्य है। राज्यों का कोई स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। उनको अपना प्रत्येक कार्य जनता के आदेश के अनुसार करना चाहिए। जनता की सहमति से सरकार की रचना होती है। इसलिए मनमाने रूप से वह कोई निर्णय नहीं लेते। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों को जो भी अधिकार सौंपता है वे असल में व्यक्तियों के होते हैं। वेस्टलेक के शब्दों में, "राज्य के अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं।" हैन्स केल्सन के अनुसार दूसरे सभी कानूनों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय विधि केवल व्यक्तियों पर लागू होती है और उन्हीं के विरुद्ध अनुदेश जारी किए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा जो कर्त्तव्य, अधिकार और दायित्व सौंपे जाते है उन सभी का निर्वाह व्यक्ति द्वारा किया जाता है। स्टोवैल ने व्यक्ति को दो प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय माना है—मानव प्राणी होने के नाते और अपने राज्य का एक भाग होने के नाते। ई. एम. ब्राउन ने लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के समर्थकों का यह सर्वाधिक गम्भीर दोष रहा है कि वे

तोते की भाँति यह रटते रहते हैं कि यह कानून केवल सम्प्रभु राज्यों के बीच लागू होता है। स्पष्ट है कि राज्यो को कानून का विषय मानना भयकर भूल रही है।"

राज्यो का आचरण असल मे व्यक्तियो का आचरण है और इसलिए व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं। प्रो. लाटरपैक्ट ने इस मत का समर्थन करते हुए कहा है कि "केवल राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय विषय मानना उस समय सही था जब व्यक्ति के हितों की वास्तविकता एव निर्भरता राष्ट्रीय सीमाओं तक सकुचित थी। आजकल व्यक्ति के अधिकारो की परिधि का विकास हो गया है और इसलिए वह राज्य की सीमाओं में मर्यादित नहीं रहता।"

(3) सन्तुलित विचार (A Balanced View)

उक्त दोनो मत एकागी हैं। प्रथम ने केवल राज्य को और द्वितीय ने केवल व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय माना है। सामान्यत विचारक इनके मध्य का दृष्टिकोण अपनाने लगे हैं। फैनविक और श्वार्त्सेजन बर्जर ने इस मत का समर्थन किया है। इनका मत है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं किन्तु साथ ही व्यक्ति भी वही स्थान रखते हैं। प्रो. फैनविक के कथनानुसार—"यद्यपि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्य नही होते किन्तु, इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय कहा जाता है।" अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अनेक शाखाएँ केवल व्यक्ति से सम्बन्ध रखती हैं। इनसे सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्तिगत अधिकार होते हैं। अनेक अवसरो पर अन्तर्राष्ट्रीय पच न्यायाधिकरणो मे व्यक्ति ही वादी और प्रतिवादी के रूप मे प्रस्तुत होते हैं। व्यक्ति अपने अधिकारो की रक्षा के लिए न केवल राष्ट्रीय वरन् अन्तर्राष्ट्रीय यन्त्र की सहायता भी लेता है। जहाजो का व्यक्तिगत स्वामी अधिकारों की रक्षा के लिए अधिग्रहण न्यायालयो में उपस्थित होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून भग होने पर व्यक्तियों को इसके लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी बनाया जा सकता है। आजकल व्यक्ति के कल्याण को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। समस्त मानव जाति की उन्नति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उद्देश्य बन गई है। लाटरपैक्ट के मतानुसार समष्टि का कल्याण, व्यष्टि के कल्याण मे निहित है। राज्य को अन्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय नहीं माना जा सकता, व्यक्ति भी इसके विषय होते हैं।

प्रो स्वरजेनवर्गर के अनुसार—'यह कहना विरोधाभास है कि व्यक्ति जो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समाजो का आधार है उसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि का एकमात्र लक्ष्य मान लिया जाए।" सोवियत रूस के विचारको और राजनीतिक विचारको ने भी यह मत व्यक्त किया है कि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय नहीं है।

व्यक्ति से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास

अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे व्यक्ति के स्थान से सम्बन्धित विभिन्न दृष्टिकोण प्रतिपादित किए गए हैं। राज्यो का आपसी व्यवहार भी इस सत्य को स्पष्ट करता है। राज्यो के बीच अनेक सन्धियाँ की जाती हैं जो व्यक्ति के अधिकारो को संरक्षण प्रदान करती है। आ[illegible] व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को महत्वपूर्ण माना जाने [illegible] है। सयुक्त राष्ट्रसंघ [illegible] चार्टर इन मौलिक मानवीय अधिकारो की रक्षा के

लिए व्यवस्था करता है। संघ की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है। व्यक्ति के मौलिक अधिकार उसे व्यक्ति होने के नाते प्रदान किए जाते हैं, चाहे वे देश में हों या विदेश में, एक राज्य के राष्ट्रिक हों अथवा राज्यहीन। इन अधिकारों में जीवन, स्वतन्त्रता, धर्म और अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता आदि शामिल किए जाते हैं। प्रो ओपेनहेम ने माना है कि यह मत व्यवहार में सही नहीं है क्योंकि सन्धि द्वारा स्वीकार किए गए दायित्वों के अतिरिक्त दूसरे विषयों में एक राज्य अपने राष्ट्रिकों और राज्यहीन लोगों के साथ स्वेच्छा से व्यवहार करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए जो प्रयास किए गए हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय विधि में एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। 10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने मानवीय अधिकारों की सार्वभौम घोषणा स्वीकार की। इससे पूर्व 11 दिसम्बर, 1946 को यह सर्व सम्मति से जातिवध (Genocide) को अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से अपराध मान चुकी थी। ये प्रयास इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय हो सकता है। फेनविक ने यह मत प्रकट किया है कि व्यक्ति कुछ अंशों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है। उसे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय शासन यन्त्र का सहारा लेना होता है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद अल्प संख्यकों की रक्षा के लिए अनेक सन्धियाँ की गई थी। मामस का मत है कि कालान्तर में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र व्यापक होता चला जाएगा और राज्यों का अधिकार क्षेत्र संकुचित हो जाएगा। इसके फलस्वरूप व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को अधिक संरक्षण दिया जाने लगेगा और वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय बन जाएगा। व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बनाने से सम्बन्धित अनेक सन्धियों और समझौतों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। ओपेनहेम ने व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय हित का विषय मानने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं—

1 प्रत्येक राज्य अपने प्रदेश में विदेशियों की रक्षा करने के लिए बाध्य है। यद्यपि यह कहा जाता है कि ये अधिकार विदेशियों के अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार नहीं है वरन् उनके राज्य के अधिकार हैं।

2. मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए विभिन्न राज्य मानवतावादी हस्तक्षेप करते हैं। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से वे इसे उपयुक्त मानते हैं।

3 सन् 1878 के बर्लिन सम्मेलन या प्रथम विश्व-युद्ध के बाद अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए की जाने वाली सन्धियों ने व्यक्ति की मान्यता को महत्त्व दिया। अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षण और क्रियान्विति द्वारा भाषागत और धर्मगत अल्पसंख्यकों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि में स्थान मिला।

4. अनेक सन्धियों ने स्पष्ट कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के हितों में घनिष्ठता है। उदाहरण के लिए दासता की समाप्ति, दासों के व्यापार बाध्यकारी श्रम, राज्यहीन लोगों और शरणार्थियों की रक्षा, स्वास्थ्य की रक्षा एवं कार्य की मानवीय शर्तें आदि-आदि।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कुछ प्रयासो का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

1 सन्धि अनुबन्ध (Treaty Stipulations)—अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न सन्धियाँ व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा के लिए की जाती हैं। सन् 1878 की बर्लिन सन्धि ने टर्की, रूमानिया, बल्गारियस, बल्गारिया, सर्बिया और मोन्टिनीग्रो को अपने प्रजाजनो को धार्मिक स्वतन्त्रता देने के लिए बाध्य किया गया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद अनेक देशो द्वारा पारस्परिक सन्धि के माध्यम से जातीय, धर्म, भाषा और प्रार्थिक दृष्टि से अल्पसंख्यक समुदायों के साथ समान व्यवहार एवं उनके हितो के सरक्षण की गारन्टी दी गई। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद भी अनेक सन्धियो के माध्यम से मानवीय अधिकारो के सरक्षण की व्यवस्था की गई। सन् 1928 मे डेन्जिग क न्यायालय के क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the Court of Danzig) क विवाद मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने निर्णय दिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि करने वाले पक्षो के इरादे के आधार पर कुछ नियम बनते हैं जो व्यक्तियो को अधिकार और कर्त्तव्य सौंपते हैं। सम्बन्धित देशो के राष्ट्रीय न्यायालयो द्वारा इनका पालन कराया जाता है।

2. न्यूरेम्बर्ग अभियोग (Nuremberg Trial)—29 नवम्बर, 1945 से 30 सितम्बर, 1946 तक न्यूरेम्बर्ग मे अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय मे उन युद्धपराधियो के विरुद्ध मुकदमे चलाए गए जिन्होने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और मानवता के विरुद्ध तथा युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को तोडा था। इनमे धुरी राष्ट्रों के प्रमुख, नाजी नेता, सेनापति एव अधिकारी थे। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने इन्हे अपराध के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी ठहराया।

इस विवाद के समय अभियुक्तों ने अपने पक्ष मे कुछ बातें कही—(1) अन्तर्राष्ट्रीय कानून पूर्ण प्रभुता सम्पन्न राज्यो से सम्बन्ध रखता है। इसमें व्यक्तियो के लिए दण्ड का कोई प्रावधान नही है। (2) राज्य के कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से किसी को उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता क्योंकि राज्य की सम्प्रभुता का कवच उसका सरक्षण करता है। न्यायाधिकरण ने इन तर्कों का अस्वीकार किया और बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्तियो एव राज्यो को कर्त्तव्य तथा दायित्व सौंपता है। सन् 1 42 मे 'Epertequirin' के मामले मे अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश स्टोन ने यह मत व्यक्त किया था कि—"व्यक्तियो को अन्तर्राष्ट्रीय कानून भग करने पर दण्डित किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध अपराध अमूर्त सत्ताओं द्वारा नही किए जा सकते वरन् व्यक्तियो द्वारा किए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपबन्धो को केवल तभी लागू किया जा सकता है जब अपराधी व्यक्तियो का दण्डित किया जाए।"

अमल मे राज्यो द्वारा व्यक्तियो को कुछ कर्त्तव्य सौंप जाते हैं। व्यक्ति के अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यो का महत्त्व राष्ट्रीय कर्त्तव्यों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। द्ध की विधियो का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति राज्य के अधिकार के नाम पर

दोषमुक्त नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध मे प्रो. ग्रीन का विचार है कि—"नाज़ी युद्ध अपराधियो के सम्बन्ध मे न्यूरेम्बर्ग के न्यायाधिकरण ने जो विचार प्रकट किया वह आधुनिक प्रगतिशील भावना की अपेक्षा रूढ़िगत अन्तर्राष्ट्रीय विधि की धारणाओं के अधिक निकट था।"

4 जून, 1946 से 14 नवम्बर, 1948 तक टोकियो मे जापानी युद्ध के अपराधियो पर अभियोग चलाए गए। इनके लिए विशेष रूप से न्यायालय की रचना की गई। इस न्यायालय ने युद्ध के नियमो और अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो एव सन्धियो का उल्लघन करने के अपराध मे 28 जापानियो को उत्तरदायी बताया और उन्हें दण्डित किया।

3 जातिवध अभिसमय (Genocide Convention)—9 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने जातिवध अभिसमय स्वीकार किया। यह अपराधो को रोकने और उन्हें दण्डित करने से सम्बन्धित था। इस अभिसमय के अन्तर्गत जातिवध का कार्य करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने की व्यवस्था थी। इसमे बताया गया कि सम्बन्धित अपराधी चाहे उत्तरदायी शासक सरकारी अधिकारी या गैर-सरकारी व्यक्ति कोई भी हो उसे दण्ड दिया जाएगा। अभिसमय में यह व्यवस्था की गई कि जातिवध के कार्यों को राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय दोनों प्रकार के न्यायालयो मे दण्डित किया जा सकता है। ऐसे अपराधो के लिए व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी ठहराया जाएगा।

4. अटलांटिक चार्टर (Atlantic Charter)—द्वितीय विश्व युद्ध के समय सन् 1941 के अटलांटिक चार्टर मे चार मानवीय स्वतन्त्रताओं का उल्लेख किया गया, ये थीं—भय से स्वतन्त्रता, आवश्यकताओं से स्वतन्त्रता, भाषण की स्वतन्त्रता और पूजा की स्वतन्त्रता। इन स्वतन्त्रताओं के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वे पुरानी मान्यताएँ नष्ट हो गईं जिनके अनुसार केवल प्रभुता सम्पन्न राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हो सकते थे। अब व्यक्ति भी इसका विषय समझा जाने लगा। यह स्पष्ट हो गया राज्य साधन है और व्यक्ति उसका साध्य है।

5 मानवीय अधिकारों की सार्वभौम घोषणा (Universal Declaration of Human Rights)—मानवीय अधिकारो की सार्वभौम घोषणा 10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा द्वारा स्वीकार की गई। इसकी तीस (30) धाराओ मे स्पष्ट और संक्षिप्त भाषा में व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र मे कुछ अभिन्न अधिकारो का उल्लेख किया गया। इस मानवीय अधिकारो का सर्वप्रथम सुस्पष्ट, प्रामाणिक तथा सारगर्भित विवेचन माना जाता है।

इस घोषणा की भूमिका मे मनुष्य की गरिमा और मूल्य को महत्त्व दिया गया है। घोषणा के प्रमुख अधिकार हैं—जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सुरक्षा का अधिकार, स्वेच्छाचारी रूप से बन्दी बनाए जाने के विरुद्ध अधिकार, घूमने तथा निवास की स्वतन्त्रता, सामाजिक सुरक्षा, काम करने का अधिकार, शिक्षा पाने का अधिकार, राष्ट्रीयता प्राप्त करने का अधिकार, विचार

और अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता का अधिकार, शान्तिपूर्वक सम्मेलन करने की स्वतन्त्रता का अधिकार, अपने देश की सरकार के कार्यों में भाग लेने की स्वतन्त्रता का अधिकार, आदि-आदि। महासभा ने इन अधिकारों को इसलिए महत्त्वपूर्ण बताया ताकि सभी देशों में सभी लोगों के लिए सामान्य स्तर प्रदान किया जा सके। सभी सदस्य राज्यों द्वारा महासचिव और विशेषत: अभिकरणों को इन्हें विश्वव्यापी बनाने के लिए कहा गया। आर्थिक दृष्टि से जिन अधिकारों का उल्लेख किया गया, वे थे—कार्य करने का अधिकार, व्यवसाय करने का अधिकार, कार्य का समान वेतन, विश्राम तथा अवकाश प्राप्त करने का अधिकार, संकट और अभाव के समय सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार आदि। सभी व्यक्तियों के समान जीवन स्तर की स्थापना के लिए भोजन, वस्त्र, चिकित्सा, आदि क्षेत्रों में सामाजिक सेवाएँ प्राप्त करने का अधिकार सौंपा गया।

घोषणा का मूल्य—अधिकारों की सार्वभौम घोषणा के वास्तविक मूल्य के सम्बन्ध में मतभेद हैं। कुछ विचारकों ने इसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है जबकि दूसरों ने कोरी कल्पना और सुखद स्वप्न कह कर इसकी आलोचना की है। एक बात स्पष्ट है कि इसे स्थित कानून का एक भाग नहीं कहा जा सकता जो सभी सरकारों और राज्यों पर बाध्य रूप से लागू होता है। इसका महत्त्व भावी मार्ग दर्शन की दृष्टि से स्वीकार कर लिया गया है। सन् 1948 में महासभा को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए महासचिव ने कहा कि सम्पूर्ण संसार के लिए अधिकार-पत्र लेखन के इतिहास में यह सर्वप्रथम प्रयास है। मानवीय अधिकारों से सम्बन्धित संघ के चार्टर के दायित्वों की क्रियान्विति की दशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

यद्यपि मानवीय अधिकारों की घोषणा कोई कानूनी परिपत्र नहीं है जो राज्यों पर कानूनी दायित्व डाले फिर भी यह राष्ट्रों के कानून के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कदम है इसका भावी मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि इसके सिद्धान्त जनमत की दृष्टि से कितना समर्थन प्राप्त कर पाते हैं? ऐसा होने पर ही इस घोषणा-पत्र के विचार वास्तविक कानून बन पाएँगे।

आलोचना—अधिकार-पत्र की सबसे बड़ी आलोचना यह की जाती है कि इसे क्रियान्वित करने के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई है। राज्य इसका पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। अमेरिकी प्रतिनिधि ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि यह घोषणा कोई कानूनी दस्तावेज नहीं है। इसे कानून की भाँति लागू नहीं किया जा सकता। लॉटरपैक्ट के अनुसार इस घोषणा को परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम नहीं माना जा सकता।

घोषणा की उपर्युक्त आलोचना पूर्णतः सत्य नहीं है। इसे कानूनी रूप देने का कार्य तीन चरणों में पूरा करने का उद्देश्य बनाया गया—(1) मानवीय अधिकारों के स्वरूप की घोषणा, (2) विश्व के राज्यों द्वारा इन अधिकारों के सम्मान तथा क्रियान्विति के लिए समझौता करना, और (3) इन्हें क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक कदम उठाना। यह घोषणा केवल प्रथम चरण को पूरा करती है। इसका उद्देश्य मानव अधिकारों की एक सूची तैयार करना था जिसे इसने पूरा किया।

कानूनी बाध्यता की दृष्टि से घोषणा का प्रभाव नहीं है, किन्तु इसका नैतिक प्रभाव अवश्य है। संघ के सभी सदस्यों ने इसे सामान्य रूप से स्वीकार किया है। संसार के इतिहास में यह एक अपूर्व बात है और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र में एक नया प्रयोग है। इस दृष्टि से संसार के सभी लोग एक बन गए हैं और सामान्य हित का प्रदर्शन करने लगे हैं। महासभा में ब्रिटिश प्रतिनिधि ने यह विचार प्रकट किया कि "यह एक ऐतिहासिक अवसर है क्योंकि इससे पूर्व कभी इतने राज्य व्यक्ति के आधारभूत एवं मूलभूत अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं सम्बन्धी अपने विचारों में संयुक्त रूप से एक मत नहीं हुए थे।" लाटरपेक्ट ने स्वीकार किया है कि ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय घोषणाओं का प्रभाव उतना ही होगा जितना कि राज्यों द्वारा सम्प्रभुता को त्यागा जाए।

घोषणा में यद्यपि व्यक्ति के अधिकारों का उल्लेख किया गया है किन्तु राज्य के कर्त्तव्यों की चर्चा नहीं की गई है। जब तक राज्य के कर्त्तव्यों का उल्लेख नहीं किया जाएगा तब तक व्यक्ति के अधिकारों का व्यावहारिक महत्त्व स्पष्ट नहीं हो सकता।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मानव अधिकारों की यह घोषणा पूर्ण नहीं है। फिर भी प्रथम कदम के रूप में इसका उल्लेखनीय स्थान है। यदि कभी मानव अधिकारों के सम्बन्ध में कोई सन्देह उत्पन्न होता है तो घोषणा पत्र से प्रकाश ग्रहण किया जा सकता। संयुक्त राष्ट्रसंघ इन अधिकारों को व्यापक बनाने के लिए प्रयत्नशील है। राज्य इसके पालन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लें तो ये अधिक प्रभावपूर्ण बन सकते हैं। इस दिशा में राज्यों द्वारा कुछ कदम उठाए गए हैं। सन् 1950 में किया गया योरोपियन समझौता इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसका वर्णन आगे किया जाएगा।

6. संयुक्त राष्ट्रसंघ का अधिकार (A United Nations Bill of Rights)– सन् 1947 में मानव अधिकारों पर अभिसमय के लिए प्रारम्भिक प्रावधान तैयार किए गए। सन् 1948 की सार्वभौम घोषणा से भिन्न यह एक सन्धि के रूप में था। इसके बाद अनेक प्रारूप अभिसमय तैयार किए गए किन्तु कोई सहमति प्राप्त नहीं की जा सकी। सन् 1952 में महासभा ने पेरिस के अधिवेशन में जो निर्णय लिया उसके अनुरूप मानव अधिकारों से सम्बन्धित आयोग दो घोषणा-पत्रों का प्रारूप बनाने में लग गया। इनमें से एक नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों का घोषणा-पत्र है जबकि दूसरा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों से सम्बन्ध रखता है। यह नीति उन अनेक कठिनाइयों को दूर करने के लिए अपनाई गई जो प्रारम्भ में सम्मेलन के सामने आई थी। विचारकों का कहना है कि ऐसा करने पर कुछ देश कम से कम एक घोषणा-पत्र को तो अवश्य स्वीकार कर लेंगे।

नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर घोषणा-पत्र में प्रारम्भिक प्रारूप की सभी बातों को शामिल किया गया है। उदाहरण के लिए, जीवन का अधिकार, दासता के विरुद्ध अधिकार, नजरबन्दी और स्वेच्छाचारी रूप से बन्दी बनाए जाने

का अधिकार, निष्पक्ष न्यायाधिकरण द्वारा न्यायपूर्ण जाँच का अधिकार, धर्म और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, संघ बनाने की स्वतन्त्रता और कानून के सम्मुख समानता आदि। आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर प्रारूपित घोषणा-पत्र में विभिन्न प्रावधान रखे गए हैं जिनका सम्बन्ध रोजगार, कार्य की शर्तें, व्यापार संघ, सामाजिक सुरक्षा, परिवार, भोजन, कपड़े, गृह-निर्माण, स्वास्थ्य, शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति से है।

दोनों घोषणा-पत्रों की भाषा इस प्रकार की है कि ये आत्म-क्रियान्वितिहीन बन जाते हैं। इन्हें क्रियान्वित करने के लिए राज्यों का सहयोग और सद्-इच्छा वांछनीय है। नागरिक और राजनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित घोषणा-पत्रों के प्रारूप की धारा 2 में कहा गया है कि "यदि इन अधिकारों को विभिन्न राज्यों की व्यवस्थापिकाओं ने स्वीकार नहीं किया है तो उन्हें अब ऐसा करना चाहिए।" यही बात दूसरे घोषणा-पत्र की धारा 2 में कही गई है। समझौता करने वाले पक्ष स्वयं इन अधिकारों को क्रियान्वित करने के लिए व्यवस्थापन अथवा अन्य प्रकार के प्रयास करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकारों की व्यापक विवेचना और उल्लेख ही पर्याप्त नहीं हैं वरन् उन्हें क्रियान्वित करने के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठाना भी वांछनीय है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी सुरक्षाएँ अनिवार्य हैं फिर भी आन्तरिक रूप से सम्प्रभु राज्यों के समाज में इस दिशा में प्रगति अत्यन्त धीमी हो रही है।

7 मानवीय अधिकारों पर योरोपीय अभिसमय (The European Convention on Human Rights)—संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के सन् 1948 के निर्देशों के अनुसार निर्धारित प्राथमिकताओं में क्षेत्रीय स्तर पर कुछ उपलब्धियाँ की गई है। इस समय विश्व समाज का विकास अपूर्ण अवस्था में है। इसलिए सार्वभौम रूप से की गई कोई भी घोषणा प्रभावशाली कानून का स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सकती। यह शर्त अत्यन्त कठिन है। विश्व समाज के पूर्ण विकास के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। इसलिए सार्वभौम स्तर के प्रयासों की अपेक्षा क्षेत्रीय उपचार अधिक लाभदायक बन जाते हैं। यद्यपि ये सम्भवतः अस्थायी प्रकृति के होते हैं किन्तु इनका कोई विकल्प नहीं है।

4 नवम्बर, 1950 को योरोपीय परिषद् के सदस्यों ने मानवीय अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा के अभिसमय पर रोम में हस्ताक्षर किए। हस्ताक्षरकर्त्ता राज्यों की संख्या 15 थी। इन्होंने वैध रूप से वचनबद्ध होकर मानवीय अधिकारों की सार्वजनिक घोषणा में स्थापित आदर्शों को प्राप्त करने का संकल्प किया।

इस अभिसमय ने मानवीय अधिकारों में दो नवीन वैकल्पिक व्यवस्थाएँ जोड़ दीं—(1) प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में आवेदन-पत्र देने का अधिकार रखता है। (2) मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए एक योरोपीय न्यायालय की स्थापना की जाए जो राज्य सरकारों के ऊपर और

उससे बढ़कर निर्णय कर सके। ये व्यवस्थाएँ राज्यों के लिए इस अर्थ में वैकल्पिक हैं कि इनको केवल तभी लागू किया जा सकता है जब राज्य इन्हें लागू करने के लिए घोषणाओं द्वारा सहमति प्रदान करें।

योरोपीय परिषद् की परामर्शदाता सभा के मौलिक प्रस्तावों में 10 अधिकारों का उल्लेख किया गया—व्यक्ति की सुरक्षा, भोगाधिकार और दासता से उन्मुक्ति, स्वेच्छाचारी बन्दी बनाने या नजरबन्द करने या देश निकाला देने के विरुद्ध स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत और निजी जीवन में स्वेच्छाचारी हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता, गृह एवं पत्र-व्यवहार की स्वतन्त्रता, विचार अभिव्यक्ति एवं धर्म की स्वतन्त्रता, मत और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, सस्था बनाने की स्वतन्त्रता, एकत्रित होने की स्वतन्त्रता, व्यापार-संघों में शामिल होने की स्वतन्त्रता, विवाह करने और परिवार रखने का अधिकार। पर्याप्त वाद-विवाद के बाद इन प्रस्तावों को थोड़ा बहुत परिवर्तन करके स्वीकार किया गया।

अगला कदम उक्त अधिकारों को लागू करने के लिए उपयुक्त यन्त्र की स्थापना के लिए उठाया गया। इस सम्बन्ध में परामर्शदाता सभा का यह सुझाव स्वीकार कर लिया गया कि मानव अधिकारों पर एक आयोग स्थापित किया जाए। यदि कोई सदस्य राज्य व्यक्ति को अभिसमय द्वारा परिभाषित अधिकार प्रदान न कर सके तो आयोग के सम्मुख शिकायत की जा सकती थी। आयोग की सदस्यता समझौता करने वाले पक्षों को समान रूप से सौंपी गई। आयोग में एक ही राज्य के दो राष्ट्रिकों को नहीं लिया जाएगा।

आयोग का कार्य मैत्रीपूर्ण तरीकों पर आधारित था, किन्तु यदि व्यक्तिगत अधिकारों का मित्रतापूर्ण समझौता न हो सके तो क्या किया जाए? इस समस्या के समाधान के लिए परामर्शदाता सभा के मौलिक प्रस्ताव मानवीय अधिकारों पर योरोपीय न्यायालय की स्थापना का समर्थन करते थे। इस न्यायालय के न्यायाधीशों का चुनाव सदस्य राज्यों द्वारा नामजद सूची में से किया जाना था। प्रत्येक सदस्य राज्य तीन उम्मीदवारों को नामजद कर सकते थे जिनमें कम से कम दो उसके राष्ट्रिक होने चाहिए। समझौता करने वाले पक्षों की स्पष्ट घोषणा द्वारा न्यायालय का क्षेत्राधिकार अनिवार्य माना जा सकता था। इस न्यायालय में व्यक्ति की प्रत्यक्ष रूप से पहुँच नहीं थी। विवादों को केवल समझौता करने वाले पक्षों अथवा आयोग द्वारा ही लाया जा सकता था। यह सच है कि न्यायालय में व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से पहुँच का अधिकार नहीं दिया गया और आयोग की कार्यपालिका शक्तियों पर अनेक सीमाएँ लगाई गई फिर भी मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए क्षेत्रीय स्तर पर एक यन्त्र की स्थापना करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

प्रो. स्टार्क ने मानवीय अधिकारों की रक्षा से सम्बन्धित योरोपियन अभिसमय की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है—(1) इसमें सार्वभौम घोषणा-पत्र के कुछ अधिकारों का पालन आवश्यक ठहराया गया है, (2) इसमें अधिकारों की विशद और स्पष्ट व्याख्या की गई है, तथा (3) मानवीय अधिकारों के अतिक्रमण

के मामलों की खोज करता है और इनके बारे में प्रतिवेदन देता है। इसका कार्य गैर-सरकारी व्यक्तियों तथा संगठनों की प्रार्थना पर भी प्रारम्भ हो सकता है।

योरोपीय न्यायालय की स्थापना आठ राज्यों की स्वीकृति मिलने पर की जा सकती है। यह शर्त पूरी न हो सकने के कारण अभी तक यह न्यायालय स्थापित नहीं किया जा सका है। न्यायालय का क्षेत्राधिकार अनिवार्य रखा गया है। दूसरी ओर आयोग के अधिकार सीमित हैं फिर भी यह अब तक व्यक्तिगत शिकायतों के 200 आवेदन पत्रों पर विचार कर चुका है।

8. मानवता विरोधी अपराध (Crimes against Humanity)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून मानवता विरोधी अपराधों पर रोक लगाता है, उनके सम्बन्ध में दण्ड की व्यवस्था करता है। किसी भी व्यक्ति के जीवन और स्वतन्त्रता के विरुद्ध यदि कोई राज्य प्रतिबन्ध लगाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून उसकी रक्षा करेगा। इस प्रकार व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को मान्यता दी गई है।

मानवता विरोधी अपराधों को निश्चित रूप से परिभाषित नहीं किया गया। विधेयात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम राज्यों को मानवता विरोधी अपराधों के लिए विदेशी राष्ट्रिकों को दण्ड देने का अधिकार उस रूप में नहीं सौंपता जिस रूप में समुद्री डकैती जैसे अपराधों के सम्बन्ध में सौंपता है। इस दिशा में निरन्तर विकास हो रहा है। मानवता के कानून की सर्वोच्चता को मान्यता प्रदान की जाने लगी है। मानव जाति की चेतना को आघात पहुँचाने वाले अपराध अन्तर्राष्ट्रीय ध्यान का केन्द्र बन गए हैं।

9 महिलाओं के अधिकार (Rights of Women)—संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकार-पत्र में कहा गया है कि लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। संघ की सामाजिक और आर्थिक परिषद् ने महिलाओं के स्तर पर एक आयोग गठित किया। इस आयोग को महिलाओं के राजनीतिक अधिकार, विवाहित महिलाओं की राष्ट्रीयता, महिलाओं का कानूनी स्तर, उनके लिए शिक्षा के अवसर, समान वेतन आदि प्रश्नों पर विचार करने का कार्य सौंपा गया। सन् 1952 में संघ की महासभा ने महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों पर एक अभिसमय स्वीकार किया। सन् 1953 के अन्त तक इस पर 30 राज्यों के हस्ताक्षर हो चुके थे।

10 दास व्यापार का विरोध (Opposition of Slavery and the Slave Traffic)—दास प्रथा का रिवाजी अन्तर्राष्ट्रीय कानून में स्पष्ट विरोध नहीं किया गया था। ग्रेट ब्रिटेन ने सन् 1807 में अपने सभी उपनिवेशों में दास व्यापार को समाप्त कर दिया। सन् 1814 की पेरिस सन्धि में उसने फ्रांस को भी यह नीति स्वीकार करने के लिए राजी किया। सन् 1815 की वियना कांग्रेस में बड़ी शक्तियों ने सिद्धान्त रूप में दास व्यापार का विरोध किया। इस कार्य में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग करने के लिए विभिन्न राज्यों के बीच अनेक सन्धियाँ की गईं। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों के बाद भी दास प्रथा को पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सका। सन् 1930 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की आर्थिक और सामाजिक परिषद् द्वारा नियुक्त समिति ने यह स्वीकार किया कि

दासता का अभी भी दुनिया में अस्तित्व है और यह अन्तर्राष्ट्रीय समाज की रुचि का विषय है।

11 बाध्यकारी श्रम की समाप्ति (Abolition of Force-Labour)— 1926 के दासता अभिसमय के अनुसार बाध्यकारी श्रम दासता के समान बनता जा रहा है। अभिसमय की धारा 5 के अनुसार विभिन्न पक्ष इस बात पर सहमत थे कि सार्वजनिक उद्देश्यों के अतिरिक्त उद्देश्यों के लिए यदि बाध्यकारी श्रम को किसी देश में अपनाया जा रहा है तो उसे यथासम्भव दूर किया जाए। 28 जून, 1930 को बाध्यकारी या अनिवार्य श्रम के प्रयोग को उसके सभी रूपों में यथासम्भव कम समय में समाप्त करने का निर्णय लिया गया।

संसार के कुछ भागों की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ बाध्यकारी श्रम की पूर्ण समाप्ति को असम्भव बना देती हैं फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि मानवीय व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता और सम्मान के सिद्धान्तों की खातिर इसे समाप्त किया जाना चाहिए। बाध्यकारी श्रम केवल सरकारी रूप में अथवा दण्ड के रूप में रह सकता है।

स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यक्ति की रक्षा के लिए अनेक प्रयास किए गए हैं। स्वतन्त्रता, समानता और मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा को ध्यान में रखते हुए विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों और सम्मेलनों में व्यवस्थाएँ की गई हैं। आज के प्रजातन्त्रात्मक युग में व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्त्वपूर्ण विषय बन चुका है, केवल राज्य को सब कुछ नहीं माना जा सकता। राज्य व्यक्ति के लिए होता है और व्यक्तियों से मिलकर बनता है। शून्य में राज्य का अस्तित्व नहीं होता। आजकल दासता, बाध्यकारी श्रम, दासों के व्यापार आदि को अभिशाप समझा जाने लगा है। इनके निराकरण के लिए प्रभावशाली प्रयास किए जा रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में न केवल राज्य वरन् व्यक्ति के विरुद्ध भी अभियोग आते हैं। व्यक्ति के कार्य अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर महत्त्वपूर्ण बन गए हैं। व्यक्ति के अधिकारों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए समय-समय पर उनकी व्याख्या और रक्षा के प्रयास किए जाते हैं। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों में शरणार्थियों और राज्यहीन लोगों की रक्षा, स्वास्थ्य और सफाई की वृद्धि, कार्य की अच्छी दशाएँ आदि विषयों पर व्यवस्थाएँ की गई हैं। आजकल व्यक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच सम्पर्क की घनिष्ठता पर्याप्त बढ़ गई है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं पर जोर देना इस बात का सूचक है। इन नए विकासों के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नया मोड़ आया है। कानूनी सिद्धान्त को भी इसके अनुसार अपने-आप को बदलना होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व सम्पन्न-कर्मचारी

इस सम्बन्ध में डॉ. आसोपा ने वास्तविक स्थिति स्पष्ट करते हुए जो विचार व्यक्त किए हैं वे उल्लेखनीय हैं—

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय माना जाए या नहीं, यह प्रश्न विवादास्पद है। परम्परागत विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय नहीं मानती थी।

प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की स्थापना के साथ इस विचार में परिवर्तन आया। इन्हें सीमित अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्रदान किया जाने लगा।

जब संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई तो इस प्रवृति को और भी बल मिला। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने 'रिपेरेशन्स फॉर इन्ज्युरीज सफर्ड इन दी सर्विस ऑफ दी यूनाइटेड नेशन्स, 1949 विवाद' में इस सम्बन्ध में परामर्शात्मक निर्णय दिया। यह विवाद उस समय उत्पन्न हुआ जब संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रतिनिधि की हैसियत से फिलीस्तीन में मध्यस्थ के रूप में कार्य कर रहे काउन्ट बर्नडोट की इजरायली उग्रवादी द्वारा हत्या कर दी गई। प्रश्न यह था कि बर्नडोट की हत्या में होने वाली क्षति का हर्जाना कौन देगा? यदि यह माना जाए कि बर्नडोट संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेवा में नियुक्त थे, इसलिए इजरायल से क्षतिपूर्ति मांगे तो यह प्रश्न उठता है कि क्या सार्वभौम व्यक्तित्वहीन संस्था सार्वभौम राज्य के साथ इस विषय पर वार्ता करने में सक्षम है? अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने परामर्शात्मक मत देते हुए कहा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त है। हालांकि इस संस्था को राज्य नहीं कहा जा सकता और इसका कानूनी व्यक्तित्व नहीं है लेकिन फिर भी यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है, इसके पास अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार व कर्त्तव्य हैं। इसे अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों की पूर्ति के लिए अधिकारों का प्रयोग करने का अधिकार है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ कर सकता है तथा आपात्कालीन सेनाएँ भेज सकता है। इन सेनाओं की उपस्थिति को कोई राज्य अपनी सार्वभौम सत्ता का अतिक्रमण नहीं मानता है। यह राष्ट्रोपरि स्तर के आदेश दे सकता है। उदाहरणार्थ, सुरक्षा-परिषद्, संघर्ष या युद्ध की स्थिति में जो कार्यवाही करती है, वह सम्बन्धित राज्यों के लिए बाध्यकारी होती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा पारित कानूनों को सदस्य राज्य द्वारा—जो कि उन कानूनों के हस्ताक्षरकर्ता भी होते हैं—आन्तरिक कानूनों के समरूप मान्यता दी जाती है और वे उसका पालन करने के लिए बाध्य होते हैं। जैसे 1949 के जेनेवा समझौते, 1958 के महासमुद्रों सम्बन्धी अभिसमय, एवं 1961 तथा 1963 के वियना अभिसमयों को बाध्यकारी कानूनों का स्तर प्राप्त है।

कुछ समय तक यह विवादास्पद रहा कि गैर-सदस्य राज्य भी संयुक्त राष्ट्रसंघ को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व सम्पन्न इकाई मानेंगे? लेकिन स्वयं गैर-सदस्य राज्यों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की संस्थाओं एवं कर्मचारियों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को स्वीकार किया है। जहाँ तक संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध अन्य राष्ट्रीय संस्थाओं का प्रश्न है, इन्हें राष्ट्रोपरि व्यक्तित्व सम्पन्न नहीं माना गया है। राज्यों की

स्वीकृति बगैर इनके निर्णय बाध्यकारी नहीं हो सकते। संयुक्त राष्ट्रसंघ चार्टर की धारा 105 के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेवा में निरत कर्मचारियों को, जिसमें विशिष्ट समितियों के काम कर रहे कर्मचारी भी शामिल हैं राजनयिक स्तर, उन्मुक्तियाँ व अधिकार प्रदान किए जाने की व्यवस्था है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व-सम्पन्न कर्मचारी

राज्याध्यक्ष के प्रतिनिधि, मन्त्री, मन्त्रिमण्डल के सदस्य, सचिव आदि भी व्यक्तिगत रूप से राज्याध्यक्ष के आदेश पर राज्य का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसलिए वे भी प्रत्यक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बनते हैं और उनका संरक्षण प्राप्त करते हैं। ब्रिटेन या अमेरिका में सभी मन्त्री व सचिव पद ग्रहण करते समय पूर्णाधिकार पत्र प्राप्त करते हैं। इसके द्वारा उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त होता है।

राजनयिक कर्मचारी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय हैं एवं उन्हें उसका संरक्षण प्राप्त होता है। 1815 के वियना कांग्रेस से लेकर 1961 के वियना कन्वेंशन में इस बात का स्वीकार किया गया है। जिस तरह सभी राज्यों की सार्वभौम प्रभुसत्ता समान है। उसी तरह सभी राज्यों के राजनयिक कर्मचारी समान हैं और उन्हें सभी उन्मुक्तियाँ एवं अधिकार बिना किसी भेदभाव के दिए जाते हैं। राजनयिकों को ये अधिकार उसी राज्य में प्राप्त हो सकते हैं जिस भेजने वाले राज्य ने मान्यता प्रदान की है। मान्यता के अभाव में कुछ विशेष प्रतिनिधियों को ही अस्थायी तौर पर राजनयिक दूत का दर्जा एवं अस्थायी तौर पर अधिकार दिए जा सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में प्रतिनिधित्व करने वाले कर्मचारियों के बारे में प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि में नियमों का अभाव है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ काफी बाद के समय की उपज हैं, अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास संवैधानिक कानून की तरह हुआ है। प्रत्येक संस्था के संविधान में ही यह व्यवस्था होती है कि सदस्य राज्य अन्य सदस्यों के प्रतिनिधियों के साथ किस स्तर का व्यवहार करेंगे। जैसे *1957 की यूरोपीय आर्थिक समुदाय के निर्माण विषयक सन्धि में समुदाय की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों को राजनयिक प्रतिनिधि का दर्जा दिया गया है* तथा परिषद् के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व सम्पन्न हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव एवं उसके द्वारा नियुक्त प्रतिनिधियों को सन्धि करने का अधिकार भी है और उन्हें पूर्ण राजनयिक प्रतिनिधि का दर्जा प्राप्त है।

संस्थाओं के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त संस्थाओं में प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजे गए प्रतिनिधियों को भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त होता है। जैसे संयुक्त राष्ट्रसंघ का कार्यालय अमेरिका में है और अमेरिका संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रतिनिधित्व करने वाले सभी राज्यों के प्रतिनिधियों को राजनयिक स्तर प्रदान करता है।

वाणिज्य दूतों को राजनयिक स्तर प्राप्त नहीं होता। केवल वाणिज्य दूतावास एवं कार्यालय को कुछ स्थिति में बाह्य प्रादेशिकता का स्तर प्राप्त होता

है। वाणिज्य दूतों की स्थिति सम्बन्धित राज्यों के बीच हुई द्विपक्षीय वाणिज्य व्यापार सन्धियों द्वारा पारस्परिकता के आधार पर निर्धारित की जाती है। इस विषय पर 1963 के वियना कन्वेंशन के अन्तर्गत विस्तार से कहा जाएगा।

अध्याय के समापन के रूप में यह कहा जा सकता है कि राज्य और व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय हैं। "राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व मान्यता से प्राप्त होता है। एक बार मान्यता प्राप्त होने के बाद सम्बन्धित राज्य के प्रदेश पर उसकी जनसंख्या व सरकार में होने वाले सामान्य परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। राज्य का विभाजन होने पर भी वह राज्य बना रहता है। नए बनने वाले राज्य को मान्यता हासिल करनी होती है। अधिकांश जनसंख्या के अलग हो जाने से भी राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व अप्रभावित रहता है। जैसे पाकिस्तान से पूर्वी-पाकिस्तान (जिसकी जनसंख्या, क्षेत्र व साधन निश्चय ही पाकिस्तान से कई गुना ज्यादा थे) के अलग हो जाने पर भी पाकिस्तान के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। केवल बंगलादेश को ही नए राज्य के नाते मान्यता से अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व हासिल करना पड़ा। लेकिन सम्पूर्ण प्रदेश को दूसरे राज्य द्वारा अधिकृत किए जाने पर, या पराजित करके विलय किए जाने पर अधिकृत व विलीन होने वाले राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है।"

15

राजनयिक अभिकर्त्ता और वाणिज्य दूत

(Diplomatic Agents and Consuls)

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के अभिकर्त्ता

(Agents of International Intercourse)

राष्ट्रों के बीच अथवा राजनयिक सम्पर्क अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। प्राचीन काल से ही प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों के साथ अपना सम्बन्ध बनाए रखने और पारस्परिक व्यवहार को सचालित करने के लिए वहाँ अपने दूत और व्यापारिक प्रतिनिधि भेजता रहा है। प्राचीन भारत, मिस्र और चीन के अभिलेख स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करते हैं कि राजदूतों का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था और उनके कार्यालय को पवित्र समझा जाता था। शान्तिवार्ता के लिए अथवा युद्ध से पूर्व विवादों को सुलझाने के लिए दूत भेजे जाते थे। वाल्मीकि रामायण के अनुसार युद्ध छिड़ने से पूर्व अंगद को रावण के दरबार में दूत बनाकर भेजा गया। इसी प्रकार महाभारत में युद्ध को रोकने की दृष्टि से स्वयं श्रीकृष्ण दूत बनकर कौरवों के दरबार में गए। यूनानी और रोमन साम्राज्य के काल में दूतावास नहीं थे किन्तु सम्प्रभु राज्यों को राजदूत भेजने का अधिकार था। उनके राजनयिकों का सम्मान के साथ स्वागत किया जाता था। उन्हें व्यक्तिगत उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती थी और इनके पीछे दृढ भावना का समर्थन रहता था।

सिकन्दर के आक्रमण के समय के वृत्तान्तों में दूत भेजने की परम्परा का उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज सेल्यूकस का राजदूत बनकर आया। बिन्दुसार के समय सीरिया के यूनानी राज्य ने डाईमेकस को राजदूत बना कर भेजा। सम्राट् अशोक ने विभिन्न राज्यों में अपने धर्म दूत भेजे। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद सामन्तवादी व्यवस्था में राजदूत राज्यों के औपचारिक प्रतिनिधियों की अपेक्षा केवल राजाओं के व्यक्तिगत सन्देश वाहक रह गए। मध्य युग में दूत भेजे जाते थे, किन्तु वे अपना विशेष कार्य पूरा करने के बाद स्वदेश लौट आते थे। 14वीं शताब्दी में स्वतन्त्र इटली के राज्यों का विकास होने पर दूतावासों ने औपचारिक

स्थान ग्रहण किया। पोप के प्रतिनिधि विभिन्न धर्म-निरपेक्ष राज्यों के दरबार में भेजे जाने लगे। इटली राज्यो मे वेनिस प्रथम था जिसने दूत भेजने की प्रथा का श्रीगणेश किया। फ्रांस मे लुई 11 वें ने स्थाई रूप से दूसरे देशो मे अपने राजदूत भेजे। इसके बाद कूटनीतिक प्रक्रियाओ के सम्बन्ध मे आचार-संहिता तैयार की गई। विभिन्न लेखकों और राजनीतिज्ञो का ध्यान राजदूतो की उन्मुक्तियो की ओर आकर्षित हुआ। समय-समय पर यह प्रश्न विवाद का विषय बना। 1520 मे इगलैण्ड तथा जर्मनी के राजाओं ने दूत भेजने के सम्बन्ध मे सन्धि की। 1648 की वेस्टफेलिया की सन्धि द्वारा इस प्रथा को प्रोत्साहन मिला। यातायात और सचार के साधनो का विकास होने के साथ-साथ यह प्रोत्साहित होती चली गई। 17वी शताब्दी तक लगभग सभी राज्यों ने इसे अपना लिया। प्रारम्भ मे राजदूतो का कार्य देश के स्वार्थों की रक्षा के लिए झूठ बोलना और जासूसी करना था। 17वीं शताब्दी मे हैनरीवाट्टन नामक ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ ने लिखा कि — 'राजदूत ऐसा ईमानदार व्यक्ति है जो अपने देश के हित के लिए विदेश मे झूठ बोलने भेजा जाता है।"

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का सचालन करने वाले विभिन्न अभिनेता होते हैं। इनमे राज्य के अध्यक्षों और कूटनीतिक प्रतिनिधियो का स्थान उल्लेखनीय है। इन दोनों के रूप तथा श्रेणियाँ अलग-अलग होती हैं।

राज्यों के अध्यक्ष
(Heads of States)

राज्यों में जिस प्रकार सम्प्रभु सरकार का होना आवश्यक है उसी प्रकार एक अध्यक्ष का होना भी अनिवार्य है। राज्य का अध्यक्ष सरकार का सर्वोच्च अधिकारी होता है जो राज्य के अन्दर और बाहर उसका प्रतिनिधित्व करता है। यह अध्यक्ष राजतन्त्रो में राजा और प्रजातन्त्रो मे राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री अथवा कोई एक निकाय होता है अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्य के अध्यक्षों के प्रकार के सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहता। राज्य अध्यक्ष को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्रदान की जाती है।

कानूनी स्थिति (Legal Position) — राज्य का अध्यक्ष उसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का प्रतिनिधि होता है। उसके द्वारा सम्पन्न किए गए सभी कार्य राज्य के कार्य माने जाते हैं। यह विदेशी राजनयिकों तथा दूतों का अपने देश में स्वागत करता है और विदेशो मे अपने भेजता है, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ करता है, युद्ध की घोषणा और शान्ति की वार्ता करता है। राज्य के अध्यक्षो की शक्तियाँ स्वय की नहीं होती वरन् वे राज्य की ओर से इनका उपभोग करते हैं। यदि कोई राज्याध्यक्ष ससद् की स्वीकृति के बिना सन्धि को स्वीकार कर लेता है तो वह अपनी शक्तियों का अतिक्रमण करता है और इसलिए सन्धि उसके राज्य पर बाध्यकारी नहीं होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे राज्य के अध्यक्ष की स्थिति व्यक्ति के रूप में नहीं होती वरन् अपने राज्य के अध्यक्ष के रूप मे ही होती है। उसकी शक्ति का स्रोत राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार और दायित्व हैं। राज्य के अध्यक्षों को सम्मान और

विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजाओं और गण-राज्यों के अध्यक्षों के बीच भेद करता है।

यहाँ हम राजा, गणराज्यों के अध्यक्ष और विदेश कार्यालयों के स्तर एवं दायित्वों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

(A) राजा (Monarch)

राजतन्त्रात्मक व्यवस्था में राजा अपने सम्प्रभु राज्य का प्रतिनिधि होता है और इसलिए वह स्वयं सम्प्रभु बन जाता है। इस तथ्य को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में स्वीकार किया गया है। राष्ट्रीय कानून में सम्प्रभुओं की स्थिति पर्याप्त भिन्न होती है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून में वे बराबर माने जाते हैं। किसी भी राजा को राष्ट्रीय स्तर पर नई उपाधि अथवा नया प्रदेश मिल सकता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता।

जब एक राजा विदेश यात्रा करता है तो उसका राज्य सम्बन्धित देश से कुछ सम्मान पाने की आशा करता है। शान्ति के समय दूसरे राज्य की सरकार की जानकारी और स्वीकृति से यदि राजा उसके प्रदेश में रुकता है तो निम्न व्यवस्थाएँ उल्लेखनीय हैं—

1 राजा के सम्प्रभु होने के कारण उसका राज्य यह माँग करने का अधिकारी है कि राजा, उसके परिवार तथा काफिले के दूसरे सदस्यों को उचित सम्मान दिया जाए।

2 राज-पद की पवित्रता को देखते हुए यह माँग की जा सकती है कि राजा की व्यक्तिगत सुरक्षा का विशेष प्रबन्ध किया जाए, इसके व्यक्तिगत सम्मान की सुरक्षा की जाए और उसे उसकी सरकार के साथ बिना प्रतिबन्ध के वार्ता करने दी जाए। उसके विरुद्ध किया गया प्रत्येक अपराध गम्भीर समझा जाना चाहिए। उसे प्रत्येक फौजदारी क्षेत्राधिकार से मुक्त रखा जाना चाहिए।

3 राजा को राज्य क्षेत्र-बाह्यता (Exterritoriality) प्रदान की जानी चाहिए। इसके अनुसार एक सम्प्रभु का दूसरे सम्प्रभु पर कोई अधिकार नहीं होता। उसे प्रत्येक प्रकार के करारोपण, वित्तीय नियम एवं नागरिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त रखा जाना चाहिए। जिस भवन में वह निवास करता है वह राजदूत के निवास-स्थान की भाँति राज्य क्षेत्र बाह्यता से युक्त होना चाहिए। उसकी अनुमति के बिना कोई सिपाही अथवा अन्य अधिकारी भवन की सीमा में प्रवेश न कर सके। यदि कोई अपराधी वहाँ शरण लेता है तो भी पुलिस अन्दर प्रविष्ट नहीं हो सकती। यदि राजा उस अपराधी को सौंपने से मना कर दे तो राज्य की सरकार उससे देश छोड़ने की प्रार्थना कर सकती है और उसके बाद वह अपराधी को पकड़ लेगी। सम्प्रभु की पत्नी को भी इसी प्रकार राज्य क्षेत्र बाह्यता के अधिकार प्राप्त होते हैं, किन्तु परिवार के अन्य सदस्यों को ऐसे अधिकार प्राप्त नहीं होते।

राजा के साथ जो व्यक्ति यात्रा करते हैं उनकी स्थिति के सम्बन्ध में विवाद

है। कुछ के अनुसार इन्हें राजा की भाँति राज्य क्षेत्रबाह्यता का अधिकार प्राप्त करना चाहिए। दूसरे लोग इसे अस्वीकार करते हैं।

उक्त सभी विशेष अधिकार राजा को केवल तभी प्रदान किए जाने चाहिए जब वह वास्तव में राज्य का अध्यक्ष है। ज्योंही वह राज्य से हटता है, वह सम्प्रभु नहीं रहेगा। उसके समस्त विशेष अधिकार समाप्त हो जाएँगे। पद से हटाए गए राजा को यदि कोई राज्य सम्प्रभु के समान अधिकार सौंपना चाहता है तो उसे ऐसा करने से कोई नहीं रोक सकता।

यदि राजा के नाम से विदेश में कोई अचल सम्पत्ति है तो सामान्यतः वह स्थानीय क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त नहीं रहेगी। इस पर सम्बन्धित राज्य की सत्ता और क्षेत्राधिकार रहेगा।

(B) गणराज्यों की मुख्य कार्यपालिका
(Chief Executive of Republics)

गणराज्य में सम्पूर्ण जनता सम्प्रभुता का प्रतिनिधित्व करती है। मुख्य कार्यपालिका के अन्तर्गत स्विट्जरलैण्ड की भाँति कुछ व्यक्ति हो सकते हैं अथवा संयुक्तराज्य अमेरिका की भाँति एक व्यक्ति हो सकता है। मुख्य कार्यपालिका द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राज्य का प्रतिनिधित्व किया जाता है। गणराज्य में मुख्य कार्यपालिका को सम्प्रभु नहीं माना जाता, वह अपने राज्य का एक नागरिक होता है। परम्परागत रूप से राजागण एक दूसरे को भाई कहकर सम्बोधित करते हैं जब कि गणराज्यों के राष्ट्रपतियों को वे अपना मित्र कहते हैं। यद्यपि गणराज्य अपने अध्यक्ष के लिए सम्मानपूर्ण व्यवहार की माँग कर सकता है, किन्तु वह ऐसी इज्जत और समारोहों की माँग नहीं कर सकता जो राजा को प्रदान किए जाते हैं। यह रिवाज होने पर भी कोई देश गणराज्य के अध्यक्ष का राजा की भाँति स्वागत करना चाहे तो उसे ऐसा करने से कोई नहीं रोक सकता। सन् 1918 में जब राष्ट्रपति विल्सन इंगलैण्ड गए तो उनका सम्प्रभु राजा की भाँति स्वागत किया गया।

विदेशों में निवास के समय गणराज्यों के अध्यक्षों की स्थिति के सम्बन्ध में मतभेद है। यह कहा जाता है कि कोई गणराज्य अपने राष्ट्रपति के लिए विदेशों में उस राज्य क्षेत्र बाह्यता एवं उन्मुक्ति का दावा नहीं कर सकता जो राजा को प्रदान की जाती हैं। राजा और गणराज्य के अध्यक्ष के बीच सम्बोधन, सम्मान और पद के कारण जो अन्तर रहते हैं, वे आजकल महत्त्वहीन बन गये हैं क्योंकि गणराज्यों की संख्या बढ़ रही है और अनेक सिंहासन रिक्त हो रहे हैं। दूसरे विचारकों का कहना है कि गणराज्यों के अध्यक्ष सम्प्रभु राजाओं की भाँति विशेष अधिकार और उन्मुक्तियाँ रखते हैं किन्तु केवल तभी जबकि वे सरकारी कार्य सम्पन्न करने के लिए विदेश यात्रा करें। विचारकों का तीसरा समूह राजाओं और गणराज्यों के अध्यक्षों के बीच कोई अन्तर नहीं देखता। उनका तर्क है कि सरकार की रूप-रचना चाहे [illegible] क्यों न हो किन्तु सभी राज्य समान हैं? राज्यों के अध्यक्षों के बीच कोई भेद-भाव नहीं किया जा सकता क्योंकि वे राष्ट्रों के समाज में समान प्रभुसत्ता, गरिमा,

अधिकार और कर्त्तव्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रो. ओपेनहेम के मतानुसार, 'राजा और राष्ट्रपति के बीच भेद करने का कोई उपयुक्त कारण नहीं है।'[1]

(C) विदेश कार्यालय (Foreign Offices)

आजकल नियमानुसार राज्य का कोई भी अध्यक्ष विदेशी शक्ति से प्रत्यक्ष रूप से समझौता वार्ता नहीं कर सकता, वह केवल अवसरवश ही ऐसा कर सकता है। आवश्यक समझौता वार्ताएँ नियमित रूप से विदेश कार्यालय द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। वैस्ट फेलिया की सन्धि के बाद विदेश कार्यालय किसी न किसी रूप में प्रत्येक सभ्य राज्य में प्राप्त होता है। इस कार्यालय का प्रमुख विदेश मन्त्री या अन्य अधिकारी होता है जो राज्य के विदेश सम्बन्धों को राज्य के अध्यक्ष के नाम पर और उसी के हस्ताक्षरों के आधार पर सचालित करता है। वह एक प्रकार से राज्य के अध्यक्ष और दूसरे राज्यों का मध्यवर्ती होता है। विदेश मन्त्री की स्थिति राष्ट्रीय कानून द्वारा निश्चित की जाती है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून दूसरे राज्यों के साथ उसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क में उसकी स्थिति को परिभाषित करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विदेश सम्बन्धों का यन्त्र राष्ट्रीय कानून का विषय है किन्तु ज्योंही वह कार्यरूप में परिणत होता है, इसके ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अनेक सीमाएँ और आवश्यकताएँ लागू हो जाती हैं।

विदेश मन्त्री, राज्य के सभी राजदूतों, वाणिज्य दूतों और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के दूसरे अभिकरणों का प्रमुख होता है। वह स्वयं अथवा अपने राज्य के राजनयिकों के माध्यम से दूसरे राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर समझौता वार्ता के प्रयास करता है। दूसरे राज्य भी इन उद्देश्यों के लिए उसी से वार्ता करते हैं। वह अपने राज्य का एक उत्तरदायी व्यक्ति है। किसी भी विवाद के समय विदेश मन्त्री द्वारा प्रस्तुत की गई सूचना को न्यायालय विश्वस्त मानता है। फ्रांस में न्यायालय सन्धियों की व्याख्या करते हुए कार्यपालिका विभाग पर विश्वास करते हैं। विदेशी राजदूत जब अपने परिचय-पत्र प्रस्तुत करते हैं तो विदेश मन्त्री उपस्थित रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय विषयों से सम्बन्धित सभी कागजातों पर वह अथवा उसका स्थानापन्न हस्ताक्षर करता है। यही कारण है कि नए विदेश मन्त्री की नियुक्ति पर तत्सम्बन्धी सूचना विश्व के दूसरे राज्यों को दी जाती है। स्वयं विदेश मन्त्री यह सूचना देता है। यातायात और सचार के साधनों का विकास होने के कारण विदेश मन्त्री प्रत्यक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सयुक्त आचरण में भाग लेने लगे हैं।

राजनयिक दूत
(Diplomatic Envoys)

विभिन्न राज्यों के बीच समझौता वार्ता के लिए दूतों का भेजा जाना एक पुरानी परम्परा है। प्राचीन काल में जब कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून विकसित नहीं था,

1 "As regards Exterritoriality, there seems to be no good reason for distinguishing between the position of a Monarch and that of President or other Heads of States" —*Oppenheim*

राजदूतो को हर कही विशेष सुरक्षा और कुछ विशेष अधिकार प्रदान किए जाते थे। राजदूतो का पद पवित्र माना जाता था। इसका आधार कोई कानून न होकर धर्म था। स्थाई दूत कर्म मध्ययुग के परवर्ती काल तक अज्ञात था। फ्रेंकिस राजाओ और कौन्सटेन्टिनोपल के दरबार मे पोप के स्थाई प्रतिनिधि स्थाई दूत कर्म का उदाहरण नही माने जा सकते क्योकि इन प्रतिनिधियो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे कुछ भी नही किया जाता था। वे केवल चर्च से सम्बन्धित थे। 13वी शताब्दी मे सर्वप्रथम स्थाई दूत कर्म प्रारम्भ हुआ। इटली के गणराज्यो ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का उचित सचालन करने के लिए एक दूसरे की राजधानियो मे अपने प्रतिनिधि रखे। 15वी शताब्दी मे इन गणराज्यो ने स्पेन जर्मनी, फ्रांस और इगलैंड को अपने स्थाई प्रतिनिधि भेजे। 17वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक स्थाई दूत कर्म एक सामान्य सस्था बन गया। यद्यपि आजकल यातायात और सचार के साधनों के विकास ने इनके कार्य को कम महत्त्वपूर्ण बना दिया है फिर भी वे राज्यो के बीच सम्पर्क का महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

स्थाई दूत कर्म के विकास ने राज्य अधिकारियो के एक नए वर्ग को जन्म दिया जिसे कूटनीतिज्ञ अथवा राजनयिक कहा गया। यद्यपि कूटनीति कला उतनी पुरानी है जितना पुराना राज्यो के बीच अधिकारी-सम्पर्क। अधिकारियो के इस विशेष वर्ग को अब राजनयिक दूत कहा जाने लगा है। इनकी शिक्षा और सामान्य प्रकृति से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सम्बन्ध मे प्रत्येक राज्य स्वय कानून बनाता है।

नियमो का सहिताकरण (Codification of Rules)

अप्रेल, 1961 मे सयुक्तराष्ट्र सघ की अध्यक्षता मे 81 राज्यो ने दूतो के कार्यो और उनसे सम्बन्धित विभिन्न समस्याओ पर विचार-विमर्श किया और तदुपरान्त एक समझौता स्वीकार किया। इसमे पहली बार राजदूतो से सम्बन्धित सभी आवश्यक नियमो का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। इसमे राजदूतो को दिए जाने वाले विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियो का उद्देश्य यह बताया गया कि इनसे दूत मण्डल की कार्यक्षमता और योग्यता बढेगी। इन अधिकारो का उद्देश्य व्यक्ति की अपेक्षा राज्य को लाभ पहुँचाना बताया गया।

वियना अभिसमय से पूर्व भी राजनयिक सम्पर्क के नियमो के सहिताकरण के प्रयास किए गए। सन् 1815 तक राजनयिक सम्पर्क का प्रशासित करने वाले नियम मुख्य रूप से रिवाजी अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित थे। राज्यो की सद्भावना पर आधारित व्यवहार द्वारा इनकी सहायता की जाती थी। वियना काँग्रेस मे कूटनीतिक पदो मे वर्गीकरण से विशेष अन्तर नही आया। सन् 1927 मे पहली बार इस दिशा मे कुछ गम्भीर प्रयास किये गये। इस वर्ष राष्ट्रसघ की अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सहिताकरण पर विशेष समिति ने सघ की परिषद को यह प्रतिवेदन दिया कि यह समय राजनयिक विशेष अधिकारो और उन्मुक्तियो के विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय नियमन करने के लिए उपयुक्त है। राष्ट्रसघ की परिषद ने इसे

स्वीकार नही किया और सन् 1930 के प्रस्तावित हेग सम्मेलन तक इसे छोड दिया । इस प्रकार राष्ट्रसंघ राजनयिक प्रतिनिधियो के विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियो से सम्बन्धित नियमो का संहिताकरण करने मे असफल रहा। सन् 1928 मे अमेरिकी राज्यो के हवाना सम्मेलन मे राजनयिक अधिकारों पर एक अभिसमय स्वीकार किया गया। बाद मे इसे 12 अमेरिकी राज्यो द्वारा स्वीकार किया गया। संयुक्तराज्य अमेरिका ने इसे स्वीकार नहीं किया, वह राजनयिक शरणदान के विरुद्ध था।

संयुक्तराष्ट्र संघ के अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने संहिताकरण के लिए स्वीकार किए गए 14 विषयो में इसको भी शामिल किया, किन्तु अपने प्रथम अधिवेशन (1949) मे इसे प्राथमिकता नही दी। सन् 1952 मे महासभा ने अपने 7वें अधिवेशन मे एक प्रस्ताव पास करके आयोग से प्रार्थना की कि इस विषय का संहिताकरण करें। अपने 16वे अधिवेशन (1954) मे आयोग ने राजनयिक सम्पर्क और उन्मुक्तियो के अध्ययन मे पहल की।

7 दिसम्बर, 1959 को महासभा ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा राजनयिक सम्पर्क और उन्मुक्तियो के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन बुलाने का निर्णय लिया। 2 मार्च, 1961 से 14 अप्रेल, 1961 तक वियना मे यह सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इसमें उपस्थित 81 सदस्यों के अतिरिक्त तीन विशेष अभिकरणो (Specialized Agencies) के दर्शक भी उपस्थित हुए।

सम्मेलन ने अपनी कार्यवाही द्वारा अनेक प्रस्ताव स्वीकार किए। इनमे तीन प्रमुख हैं—(1) राजनयिक सम्बन्धों पर वियना अभिसमय (2) राष्ट्रीयता की प्राप्ति से सम्बन्धित ऐच्छिक समझौता, और (3) विवादो के अनिवार्य समझौते पर ऐच्छिक समझौता। इनमे प्रथम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

18 अप्रेल, 1961 को 75 राज्यो के प्रतिनिधियो ने अभिसमय पर हस्ताक्षर किए। 1 जनवरी, 1962 तक किसी भी देश ने इसे अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं की और इसलिए इसे क्रियान्वित नही किया जा सका क्योकि 22 राज्यो की स्वीकृति आवश्यक थी।

वियना अभिसमय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इस पहलू की दृष्टि से उल्लेखनीय महत्त्व रखता है। अभिसमय की भूमिका के अन्तिम पैरा मे यह कहा गया है कि हस्ताक्षरकर्त्ता राज्य उन प्रश्नो पर रिवाजी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को महत्त्व देते रहेंगे जिनके सम्बन्ध म इस अभिसमय के प्रावधानों मे कोई नियमन नहीं किया गया है।

दूतो के प्रकार एव वर्ग

(Kinds and Classes of Diplomatic Envoys)

दूतो को अनेक प्रकारो मे विभाजित किया गया है। भारतीय विचारको ने दूत की आवश्यकता एव उपयोगिता को स्वीकार करके उसकी श्रेणियो का उल्लेख किया है। प्रमुख भारतीय राज्यशास्त्री कौटिल्य दूत को राजा का मुख कहते हैं क्योकि इसके द्वारा लोग एक दूसरे स बातचीत करते हैं।

भारतीय मत—कौटिल्य ने योग्यता और अधिकारों की दृष्टि से दूतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है, ये हैं—नि सृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर। प्रथम श्रेणी के दूतों में अमात्य जैसी सभी योग्यताएँ, दूसरी में अमात्यपद की कुछ योग्यताएँ और तीसरी में अमात्यपद की आधी योग्यताएँ पर्याप्त मानी गई। प्रथम श्रेणी के दूतों को व्यापक अधिकार और कर्त्तव्य सौंपे गए। इनकी तुलना आधुनिक राजदूतों से की जा सकती है। दूसरी श्रेणी के दूतों के अधिकार सीमित थे और तीसरी श्रेणी के दूतों को केवल सदेश-वाहक मात्र माना गया।

कामन्दक ने भी कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत दूतों के वर्गीकरण को स्वीकार किया है। इन्होंने दूतों के कर्त्तव्यों का विस्तार से उल्लेख किया है। उनके मतानुसार, दूत को अपने और दूसरे नरेशों के बीच सम्पर्क स्थापित करने चाहिए, दूसरे राज्यों में अपने राजा के प्रभाव तथा गुणों का वर्णन करना चाहिए, उसे अन्य राज्य के विभिन्न अङ्गों की वास्तविक शक्ति का परिचय प्राप्त करके अपने राजा को बताना चाहिए, विदेशी राजा के असन्तुष्ट वर्ग को अपने साथ मिला लेना चाहिए आदि-आदि।

पाश्चात्य मत—प्रो ओपेनहेम ने राजनयिक दूतों के दो प्रकारों का उल्लेख किया है–(1) वे दूत जिन्हें राजनीतिक सधिवार्ता के लिए भेजा जाता है और (2) वे दूत जो केवल समारोहपूर्ण कार्यों के लिए अथवा अध्यक्षों में परिवर्तन की सूचना देने के लिए भेजे जाते हैं। विभिन्न राज्य समय-समय पर दूसरे राज्यों को विशेष दूत भेजते हैं जो राजतिलक, शादी, दाह-क्रिया आदि में भाग लेते हैं। दोनों प्रकार के दूत एक जैसा स्तर रखते हैं। राजनीतिक दूतों को पुन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) स्थाई अथवा अस्थाई रूप से किसी राज्य में समझौता वार्ता करने के लिए भेजे गए दूत, और (2) किसी काँग्रेस या सम्मेलन का प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजे गए दूत,। दूसरे प्रकार के राजनीतिक दूत यद्यपि जिस राज्य को भेजे जाते हैं उसमें बसते नहीं हैं किन्तु वे निश्चय ही राजनयिक दूत होते हैं और इस पद के सभी विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हैं।

मध्य-युग में दूतों के अनेक प्रकार थे किन्तु इनके महत्त्व के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं थे। सैद्धान्तिक रूप से सभी सम्प्रभु राज्य समान थे, किन्तु व्यवहार में राजनीतिक असमानताओं और महत्त्वाकांक्षाओं के कारण विभिन्न राज्यों के कूटनीतिक प्रतिनिधियों के बीच प्रायः सघर्ष बना रहता था। प्रत्येक देश का दूत अपने देश के गौरव और सम्मान को अधिक प्रदर्शित करने के लिए दूसरे राज्यों के दूतों के साथ अनेक विवाद उत्पन्न कर लेता था। इन विवादों के निराकरण के लिए 1815 की वियना काँग्रेस और 1818 की एक्स-ला-शापेल की काँग्रेस ने दूतों के विभिन्न श्रेणियों और क्रमों का निर्धारण किया।

राजदूतों के श्रेणीकरण की समस्या इसलिए उठती है क्योंकि राज्यों के आकार, स्तर और शक्ति में पर्याप्त भिन्नता है। दूसरे दूतों द्वारा अनेक कार्य सम्पन्न किए जाते हैं। कार्यों के महत्त्व को देखते हुए उनका वर्गीकरण भी परम आवश्यक बन जाता है। वियना काँग्रेस ने राजदूतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया।

इनमे छोटे राज्यों के दूतो को शामिल नहीं किया गया था। इसलिए एक्स-ला-शापेल की कांग्रेस ने एक नई श्रेणी की रचना की। वियना अभिसमय ने मिशन के अध्यक्षों को तीन श्रेणियो मे विभाजित किया। प्रारम्भ मे यह परम्परा थी कि छोटे राज्य को प्रथम श्रेणी के प्रतिनिधियों की नियुक्ति नहीं करनी चाहिए, किन्तु आजकल इसका कोई महत्त्व नही है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजनयिक दूतो की श्रेणियाँ निरन्तर विकास का परिणाम है। 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे इनके मूल रूप से तीन वर्ग माने जाते थे— राजदूत, असाधारण दूत और निवासी मन्त्री। इस शताब्दी के अन्त तक एक चौथी श्रेणी और उत्पन्न हुई जिसे कार्यदूत कहा गया। निश्चित श्रेणियाँ बन जाने पर भी राजनयिकों के बीच विवाद समाप्त नहीं हुआ। विभिन्न सम्मेलनो और अभिसमयो द्वारा दूतों की जो मुख्य श्रेणियाँ स्वीकार की गई हैं, वे निम्नलिखित हैं—

1 राजदूत (Ambassador)—प्रारम्भ मे शाही सम्मान से युक्त राज्यों द्वारा ही राजदूत भेजे और स्वीकार किए जाते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्य छोटे राज्य भी राजदूत नियुक्त करने लगे। राजदूतो को उनके राज्य के अध्यक्षों का व्यक्तिगत प्रतिनिधि माना जाता है और इसलिए इनको विशेष सम्मान तथा अधिकार प्रदान किए जाते हैं। राजदूत का सबसे बड़ा अधिकार यह है कि वह राज्य के अध्यक्ष से सीधा मिल सकता है और वार्ता कर सकता है। राजतन्त्रात्मक व्यवस्था मे राजदूत के ये अधिकार बहुत महत्त्वपूर्ण थे, किन्तु आज की लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में मन्त्रियो का महत्त्व बढ जाने से इनका गौरव कम हो गया है। राजदूतों को परम श्रेष्ठ (His Excellency) के रूप मे सम्बोधित किया जाता है। इसके पीछे यह औचित्य है कि राजदूत राजा का व्यक्तिगत प्रतिनिधि होता है। केवल महाशक्तियाँ और बड़े राज्य ही राजदूत भेजते हैं। यही कारण है कि राजदूतो का स्थान, पद प्रतिष्ठा और पौर्वापर्य के क्रम की दृष्टि से सर्वोपरि है।

2 पूर्ण अधिकार-युक्त मन्त्री और असाधारण दूत (Ministers Plenipotentiary and Envoys Extraordinary)—इस श्रेणी के दूतो को राज्य के अध्यक्ष का व्यक्तिगत प्रतिनिधि नहीं माना जाता। अत इनको राजदूतों जैसा विशेष सम्मान प्राप्त नहीं होता वे राज्य के अध्यक्ष से व्यक्तिगत रूप से नही मिल सकते। वे प्रत्येक समय श्रोताओं की माँग नही कर सकते। इसके अतिरिक्त इन दोनो वर्गों के बीच विशेष अन्तर नही है। पूर्ण अधिकार युक्त मन्त्री केवल सौजन्यवश परम श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं यह उनका अधिकार नहीं है। पोप के अन्तरनशियों नामक दूत इसी श्रेणी मे आते हैं।

योरोप मे अस्थाई कार्यों के लिए भेजे जाने वाले दूतो के साथ असाधारण शब्द का प्रयोग किया जाता था ताकि उन्हें वहाँ स्थाई रूप से निवास करने वाले मन्त्रियों से अलग किया जा सके। बाद मे इसके साथ पूर्ण अधिकारी शब्द का प्रयोग भी किया जाने लगा। इन दूतो को प्रेषक राज्य द्वारा समस्त अधिकार सौंपे जाते

हैं। इनको राज्य का व्यक्तिगत प्रतिनिधि न मानने के कारण महत्त्व की दृष्टि से दूसरा स्थान सौंपा गया है।

3 निवासी मन्त्री (Ministers Resident)—दूतों की इस श्रेणी को द्वितीय की अपेक्षा कम गौरव और सम्मान प्राप्त होता है। इनको सौजन्यवश भी परम श्रेष्ठ का सम्बोधन नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त उनमें और द्वितीय श्रेणी के दूतों में विशेष अन्तर नहीं है। दूतों के इस नए वर्ग की रचना 1815 के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में की गई थी। ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया और फ्रांस आदि महाशक्तियाँ अपने तथा लघु शक्तियों के दूतों के बीच अन्तर बनाए रखना चाहती थीं। आजकल निवासी मन्त्री नियुक्त करने की प्रथा कम होती जा रही है।

4 कार्य दूत (Charged Affaires)—दूतों के इस विशेष वर्ग की प्रमुख विशेषता यह है कि इन्हें एक राज्य के विदेश मन्त्रालय द्वारा दूसरे राज्य के विदेश मन्त्रालय के लिए भेजा जाता है। इससे भिन्न उक्त तीनों श्रेणियों के दूतों को एक राज्य के अध्यक्ष द्वारा दूसरे राज्य के अध्यक्ष के लिए भेजा जाता है। कार्य दूतों को अन्य दूतों की भाँति विशेष सम्मान और गौरव प्रदान नहीं किया जाता। ये अपने नियुक्ति के प्रत्यय-पत्र राज्य के अध्यक्ष को नहीं वरन् विदेश मन्त्री को सौंपते हैं। भारत में इथोपिया, मैक्सिको, मंगोलिया आदि के कार्यदूत हैं।

किसी देश में स्थित सभी विदेशी दूतों को सामूहिक रूप से राजनयिक निकाय (Diplomatic corks) कहा जाता है। इनमें सबसे वरिष्ठ दूत को डायन अथवा दूत शिरोमणि (Doyen) कहते हैं। राजनयिक निकाय कानूनी रूप से गठित नहीं होता, इसलिए यह कोई कानूनी कार्य सम्पन्न नहीं करता। फिर भी राजनयिक दूतों के विशेष अधिकारों और सम्मान की देखभाल करने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं।

ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्य परस्पर जिन दूतों का आदान-प्रदान करते हैं उन्हें उच्चायुक्त (High Commiss oner) कहा जाता है। भारत में वाणिज्य दूतों के अतिरिक्त राजदूत, उच्चायुक्त और दूतों की श्रेणियाँ विद्यमान हैं। लगभग 50 देशों के राजदूत यहाँ हैं।

परम्परागत रूप से राज्य प्राय समान श्रेणी के राजनयिक दूतों का आदान-प्रदान करते हैं। यद्यपि इस नियम के अपवाद भी हैं। अतीत काल में राजदूतों का आदान-प्रदान केवल महाशक्तियों के बीच किया जाता था। पिछली कुछ शताब्दियों से यह रिवाज बन्द हो गया है। किसी छोटे देश के लिए महाशक्ति द्वारा राजदूत भेजना एक प्रकार से उसके अहकार को सन्तुष्ट करके चापलूसी करना है। संयुक्तराज्य अमेरिका ने राष्ट्रपति रूजवेल्ट की अच्छे पड़ोसी की नीति (Good Neighbour Policy) के अन्तर्गत सभी लेटिन अमेरिकी राज्यों में राजदूत स्तर के प्रतिनिधि नियुक्त किए।

राजदूत या मन्त्री के नीचे एक कूटनीतिक मिशन में सैकड़ों व्यक्ति होते हैं। आवश्यकता के समय इस मिशन के सरकारी और गैर-सरकारी सेवी वर्ग के बीच अन्तर किया जाता है। सरकारी सेवी-वर्ग में प्रेषक राज्य अथवा मिशन के अध्यक्ष

द्वारा नियुक्त सभी कर्मचारी होते हैं। मिशन के प्रध्यक्ष का परिवार निश्चय ही उसके प्रधिकारी-काफिले का आवश्यक भाग होता है। गैर-सरकारी सेवी-वर्ग मे मिशन के प्रध्यक्ष, राजदूत या मन्त्री के सेवक जैसे—रसोइया, माली आदि आते हैं। इस वर्ग की स्थिति के सम्बन्ध मे पर्याप्त विवाद है। अधिकांश राज्यो मे सौजन्यवश इनको राजनयिक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ सौंपी जाती हैं। सोवियत सघ जैसे देशो में इन कर्मचारियों को विशेष स्तर प्रदान नही किया जाता।

दूतों की नियुक्ति
(Appointment of Envoys)

प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारको ने अन्य राज्यों मे भेजे जाने वाले दूतो के आवश्यक गुणो का उल्लेख किया है। मनुस्मृति, महाभारत (शान्ति पर्व), रामायण, कामन्दक एव चाणक्य की रचना आदि मे इनका विशद विवेचन किया गया है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे दूत के लिए आवश्यक योग्यताएँ अथवा गुण निर्धारित नही किए गए हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक राज्य स्वेच्छा का प्रयोग करता है। वह दूसरे राज्यों में अपने उन प्रतिनिधियों को भेजता है जो उसके हितों की सिद्धि की योग्यता रखते हैं। व्यवहार मे राज्य की इस स्वेच्छा पर प्रतिबन्ध है। दूसरा राज्य यह अधिकार रखता है कि बिना कारण बताए ही किसी राज्य के प्रतिनिधियों का स्वागत न करे। स्पष्ट है कि प्रतिनिधि भेजते समय दूसरे राज्य का दृष्टिकोण भी ध्यान मे रखा जाए तथा ऐसे व्यक्ति को यह पद सौंपा जाय जो स्वागत-कर्त्ता देश को स्वीकार्य हो। स्वागत-कर्त्ता देश किसी प्रतिनिधि को जिन कारणों के आधार पर अस्वीकार करेगा वे स्पष्ट नहीं हैं। वे राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि किसी भी प्रकृति के हो सकते हैं।

पूर्व स्वीकृति—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के इतिहास मे एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के प्रतिनिधियो का स्वागत न करने के कई उदाहरण मिलते हैं। 1885 मे सयुक्तराज्य अमेरिका ने मि कीले (Mr Keiley) को मन्त्री बनाकर इटली भेजा। इटली ने उसका स्वागत नहीं किया क्योंकि चौदह वर्ष पूर्व सयुक्तराज्य अमेरिका में एक आम सभा में बोलते हुए उसने पोप के प्रदेश के इटली मे विलय का विरोध किया था। इस मामले मे हुए पत्र व्यवहार मे आस्ट्रिया-हगरी की सरकार ने अमेरिकी विदेश मन्त्री बेयर्ड (Bayard) का ध्यान सामान्यत स्थित कूटनीतिक व्यवहार की ओर आकर्षित किया और कहा कि दूसरे राज्य को प्रतिनिधि भेजने से पहले उन राज्यो की स्वीकृति ले ली जाए। बेयर्ड ने इसके औचित्य एव व्यावहारिकता को अस्वीकार किया। 1893 मे अमेरिकी विदेश मन्त्रालय ने राजदूत नियुक्त करते समय विदेशी सरकारो से पहले ही पूछ लिया कि क्या प्रस्तावित नामजद व्यक्ति उनको स्वीकार होगा। तब से यह व्यवहार एक स्वीकृत नियम बन गया।

महिला राजदूत—महिलाओं को राजदूत बनाने के प्रश्न पर विद्वानों ने विचार किया है। इतिहास में महिला कूटनीतिज्ञों के उदाहरण कम प्राप्त होते हैं। फ्रांस के लुई चौदहवें ने मदाम द गुएब्रियाँ (Madame de Guebriant) नामक महिला को

राजदूत बनाकर पोलैण्ड भेजा। 18वीं तथा 19वीं शताब्दियों में इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिलते। प्रथम विश्व युद्ध के बाद कुछ महिला कूटनीतिज्ञों के उदाहरण मिलते हैं। रूस ने मदाम कोलोन्ताई (Madame Kollontai) को मैक्सिको, नार्वे तथा स्वीडन में अपना कूटनीतिक प्रतिनिधि बना कर भेजा। 1921 में सोवियत रूस ने एक महिला को सुदरपूर्व के कूटनीतिक प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया। 1935 में संयुक्तराज्य अमेरिका ने डेन्मार्क और उसके बाद इटली तथा लक्जमबर्ग को अपने महिला प्रतिनिधि भेजे। भारत ने श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित को सोवियत रूस (1943–49), संयुक्तराज्य अमेरिका (1949–51) और ग्रेट-ब्रिटेन (1954-1962) का कूटनीतिक प्रतिनिधि बनाकर भेजा।

प्रत्यय-पत्र—एक व्यक्ति को कूटनीतिक प्रतिनिधि नियुक्त करते समय राज्य के अध्यक्ष की ओर से प्रत्यय-पत्र (Letter of Credence) दिया जाता है। इसमें यह सूचना रहती है कि अमुक व्यक्ति को अमुक देश का राजदूत बनाया जा रहा है। प्रत्यय-पत्र दो रूपों में दिया जाता है—(1) मूल प्रत्यय-पत्र जो एक मोहर बन्द लिफाफे में रहता है और (2) इसकी प्रतिलिपि खुली रहती है। दूसरे देश में पहुँचते ही नियुक्त व्यक्ति अपने आगमन की सूचना देने के लिए विदेश मन्त्रालय को अपने प्रत्यय-पत्र की प्रतिलिपि भेज देता है। मोहरबन्द मूल प्रत्यय-पत्र को वह एक विधिवत् समारोह में स्वयं राज्य के अध्यक्ष को देता है। भारत में आने वाले विदेशी राजदूत अपने प्रत्यय-पत्र नई दिल्ली के राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति को पेश करते हैं। कार्य दूत (Charged Affairs) को भी प्रत्यय-पत्र दिया जाता है किन्तु इस पर राज्य के अध्यक्ष के नहीं वरन् विदेश मन्त्री के हस्ताक्षर होते हैं। कार्य दूत अपना प्रत्यय-पत्र स्वागत-कर्त्ता राज्य के विदेश मन्त्री को देते हैं।

स्थायी राजदूत को अपने साधारण कार्य व्यापार सम्पन्न करने लिए प्रत्यय-पत्र के अतिरिक्त अन्य किसी अभिलेख की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु यदि उसे कुछ विशेष कार्य सम्पन्न करने के लिए सौंपे जाते हैं तो उसे पूर्ण अधिकार-पत्र (Full Powers) प्रदान किया जाएगा। इस पर राज्य के अध्यक्ष के हस्ताक्षर होते हैं। पूर्ण शक्तियाँ सम्बन्धित प्रदेश के अनुसार सीमित अथवा असीमित हो सकती हैं।

संयुक्त राजदूत—नियमानुसार एक राज्य विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न राज्यों के लिए स्थायी कूटनीतिक प्रतिनिधि बनाकर भेजता है। कभी-कभी एक ही व्यक्ति को कुछ ही राज्यों में दूत-कर्म करने का दायित्व सौंपा जाता है। उदाहरण के लिए भारत में अमेरिका का राजदूत नेपाल में भी अमेरिका के दूत का कार्य करता है। इसी प्रकार लन्दन स्थित भारतीय उच्च आयुक्त आयरलैंड तथा स्पेन में भी भारत का दूत कार्य करता है। युगोस्लाविया स्थित भारतीय राजदूत यूनान तथा बल्गारिया में दूत कार्य करता है। सोवियत संघ स्थित भारतीय राजदूत हंगरी और पोलैण्ड में, स्वीडन का डेनमार्क और फिनलैण्ड में, मैक्सिको का पनामा में और इटली का अल्बानिया में भारतीय राजदूत का कार्य करता है।

प्रारम्भ मे राज्य विदेशों मे अपने एक से अधिक प्रतिनिधि नियुक्त करते थे। आजकल भी यह व्यवहार पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ग्रेट-ब्रिटेन ने संयुक्तराज्य अमेरिका मे राजदूत के अतिरिक्त मन्त्री-स्तर के एक या अधिक व्यक्ति नियुक्त किए। राज्य विभिन्न सम्मेलनों एवं कांग्रेसों में प्रतिनिधित्व करने के लिए कुछ दूतों की नियुक्ति करते हैं। ऐसा करते समय एक दूत को वरिष्ठ बना दिया जाता है और अन्य उसके अधीनस्थ बन जाते हैं।

कूटनीतिक प्रतिनिधियों का स्वागत—राष्ट्रों के समाज का सदस्य होने के नाते प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों मे दूत भेजने का अधिकार रखता है। साथ ही दूसरे राज्यों के दूतों का स्वागत करने का कर्त्तव्य भी रखता है। यह कर्त्तव्य सभी परिस्थितियों मे समान रूप से लागू नही होता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में कूटनीतिक प्रतिनिधियों के स्वागत से सम्बन्धित अनेक रिवाजी नियम हैं। एक महत्वपूर्ण नियम यह है कि अधिकारी रूप से एक व्यक्ति को उसके राज्य का प्रतिनिधि तभी माना जा सकता है जब उसे अन्य राज्य के अध्यक्ष द्वारा स्वीकार किया जाए। यह स्वीकृति समारोह राजदूत के सम्बन्ध में सार्वजनिक होता है, किन्तु दूसरे और तीसरे स्तर के दूतों के सम्बन्ध मे ऐसा आवश्यक नही है।

दूत के आगमन की सूचना, उसके विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ एवं उसके स्वागत की तैयारियाँ आदि के सम्बन्ध में कुछ व्यापक नियम हैं। इन नियमों को कानूनी स्तर प्राप्त हुआ है अथवा नहीं, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। व्यवहार में इनका उल्लंघन केवल तभी किया जा सकता है जबकि जान बूझ कर किसी का अपमान करना हो।

कुछ परिस्थितियों मे एक राज्य स्थायी अथवा अस्थायी दूतों के स्वागत को अस्वीकार कर सकता है। उदाहरण के लिए—(1) प्रोटेस्टेण्ट राज्य पोप के स्थायी दूतों को कभी स्वीकार नहीं करते। यद्यपि वेटिकन में उनके स्थायी दूत हैं किन्तु अभी भी वे इस नियम का पालन करते हैं। (2) अस्थायी दूतों के सम्बन्ध में व्यवहार यह है कि जब एक राज्य को विदेशी मिशन का उद्देश्य पहले ही ज्ञात हो जाता है और वह उससे बात नहीं करना चाहता तो मिशन का स्वागत करने से मना कर सकता है। (3) एक युद्धकारी राज्य दूसरे युद्धकारी राज्यों के प्रतिनिधियों का स्वागत करने से मना कर सकता है क्योंकि उनके शान्तिपूर्ण सम्बन्ध टूट चुके होते हैं।

किसी दूत को स्वीकार करने और किसी विशेष व्यक्ति को दूत के रूप में स्वीकार न करने के बीच अन्तर है। एक राज्य दूसरे राज्य के स्थायी अथवा अस्थायी दूत का स्वागत करने के लिए तैयार होते हुए भी उस व्यक्ति से ऐतराज कर सकता है जिसे दूत बनाकर भेजा गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी राज्य को यह अधिकार नहीं देता कि उसके द्वारा नियुक्त दूत को अन्य राज्य में आवश्यक रूप से स्वीकार किया जाए। प्रत्येक राज्य को अधिकार है कि विदेशी दूत का स्वागत करने से मना कर दे। इसके लिए उचित कारण बताना आवश्यक नहीं है इसके मुख्य कारण ये हैं—(1) यदि व्यक्ति सम्बन्धित राज्य के सम्राट् के साथ मनमुटाव रखता है।

(2) यदि व्यक्ति सम्बन्धित राज्य अथवा उनके लोगो के प्रति शत्रुतापूर्ण विचार रखता है और इनको वह अपनी विभिन्न घोषणाओ मे प्रकट कर चुका है। (3) यदि वह उसी राज्य का नागरिक है जिसमे दूत बना कर भेजा जा रहा है। सम्बन्धित राज्य उसे उन्मुक्तियाँ प्रदान करने से मना कर सकता है किन्तु एक बार स्वीकार करने के बाद व्यक्ति को समस्त कूटनीतिक विशेष अधिकार सौंपे जाएँगे।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह परम्परागत नियम है कि यदि एक राज्य ने दूत पद पर नियुक्ति से पूर्व ही एक व्यक्ति को स्वीकार कर लिया है तो बाद मे उसे स्वीकार करना पड़ेगा।

स्वीकृत व्यक्ति का स्वागत सम्बन्धित देश मे प्रवेश करते ही होने लगता है। यह स्वागत दूत की श्रेणी के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। यदि दूत प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी का है तो राज्य के अध्यक्ष का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि एक समारोह में श्रोताओ के सम्मुख उसका स्वागत करे। दूत अपने प्रत्यय-पत्र की प्रतिलिपि विदेश मन्त्रालय को भेजता है जो उसे, अध्यक्ष के सम्मुख प्रस्तुत होने की व्यवस्था करता है। यदि दूत केवल कार्य दूत है तो वह अपने प्रत्यय-पत्र विदेश-मन्त्री को सौंपेगा। औपचारिक स्वागत के बाद दूत अधिकारी रूप से मान्य बन जाता है और अपने कार्य सम्पन्न करने लगता है। दूत की सुरक्षा से सम्बन्धित विशेष अधिकार उसकी मान्यता से पूर्व ही सौंप दिए जाते हैं।

दूतो के स्वागत से सम्बन्धित उक्त सभी कार्यवाहियाँ उन दूतो पर लागू नही होती जो किसी कांग्रेस सम्मेलन मे किसी राज्य का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इन दूतो के साथ प्रत्यय-पत्र नही होता है, इन्हे सम्बन्धित राज्य द्वारा स्वीकार नही किया जाता।

सन् 1961 के वियना अभिसमय द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि दूत बनाए जाने वाले व्यक्ति उस राज्य के नागरिक होने चाहिए। यदि वे दूत ग्रहण कर्त्ता राज्य के नागरिक हैं तो इसके लिए राज्य से पूर्व स्वीकृति ली जानी चाहिए। राजदूत किसी तीसरे राज्य के नागरिक भी हो सकते हैं। इन्हें नियुक्त करने से पहले भी स्वागतकर्त्ता राज्य की स्वीकृति आवश्यक है।

जब एक राज्य दूसरे राज्य के दूत का स्वागत करने से अस्वीकार करता है तो इसके फलस्वरूप कटुता और शत्रुता पैदा हो जाती है। इसे रोकने के लिए सम्बन्धित राज्य की पूर्व स्वीकृति आवश्यक मानी जाती है।

कूटनीतिक प्रतिनिधियों के कार्य
(Functions of Diplomatic Agents)

कूटनीतिक प्रतिनिधियो द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों का निर्धारण सम्बन्धित राज्य के राष्ट्रीय कानून द्वारा होता है। इनमें से कुछ कार्य विशुद्ध रूप से घरेलू प्रकृति के होते हैं क्योंकि इसके कारण दूत अन्य राज्यो से कोई सम्पर्क नहीं रखता। उदाहरण के लिए जन्म, मृत्यु और शादियो का पंजीकरण करना। प्राचीन भारतीय विचारको ने दूतो के कार्यों का विस्तार से उल्लेख किया है। कौटिल्य के

मतानुसार दूत के कार्यों मे प्रमुख है—अपने स्वामी का सन्देश अन्य राज्यों को तथा अन्य राज्य का अपने स्वामी को देना, सन्धियो का पालन कराना, अपने राजा की शक्ति एव प्रताप प्रदर्शित करना, मित्र बढाना, शत्रुओं मे फूट पैदा करना, शत्रु के मित्रों मे भेद डालना, शत्रु के गुप्तचरों एव सेना को बाहर रखना, गुप्तचरों से समाचार ग्रहण करना, शत्रु की कमजोरी देखते ही उस पर आक्रमण कर देना आदि-आदि। उस समय जासूसी करना भी दूत का एक मुख्य कार्य माना जाता था, आजकल दूत के लिए यह कार्य वर्जित है।

दूत का कार्य समाचारों एव पत्र-व्यवहारों के माध्यम से अपने देश की राजनैतिक एव सामाजिक वास्तविकता का विदेशों मे अभिव्यक्त करना है। वह अपने राज्य के राष्ट्रिकों के प्रत्यर्पण के लिए विदेश कार्यालय से सम्पर्क स्थापित करता है। अपने राज्य की विदेश नीति को ग्रहणकर्ता राज्य मे स्पष्ट करता है। दूत का कार्य यह नहीं है कि अपने ग्रहण-कर्त्ता राज्य की आन्तरिक राजनीति मे भाग ले।

प्रो ओपेनहेम ने कार्यों की दृष्टि से स्थायी और अस्थायी दूतो के बीच भेद किया है। अस्थायी दूतो के कार्य उनकी नियुक्ति के उद्देश्य द्वारा निर्धारित होते हैं। स्थायी दूतो के कार्यों को ओपेनहेम ने तीन शीर्षकों मे वर्गीकृत किया है—

1 सन्धि-वार्ता (Negotiation)—दूत अपने तथा दूसरे राज्य के बीच विभिन्न विषयों पर समझौता वार्ता करने वाला महत्त्वपूर्ण माध्यम है। वह न केवल उस राज्य से सम्बन्ध रखता है जिसके लिए वह भेजा गया है वरन् अन्य राज्यों के साथ भी सन्धि-वार्ता कर सकता है। अपने राज्य के अध्यक्ष और विदेश मन्त्री का वह प्रवक्ता होता है। दूसरे राज्यों से प्रतिवेदन स्वीकार करके वह अपने राज्य को भेजता है।

2 निरीक्षण (Observation)—दूत का अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य दूसरे राज्य की राजनीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण करते रहना और उसकी पूरी रिपोर्ट अपनी सरकार को भेजना है। यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दूत की सफलता का मापदण्ड भी इसे माना जा सकता है।

3 सरक्षण (Protection)—दूत का तीसरा कार्य विदेश में स्थित अपने देश के नागरिकों की सम्पत्ति, जीवन एव अन्य हितों की रक्षा करना है। यदि किसी देशवासी को न्यायिक सुरक्षा प्रदान किए बिना दण्ड दिया जाता है तो राजदूत उसे सरक्षण देगा। राजदूत द्वारा अपने देशवासियों के लिए सरक्षण प्रदान करने की कोई निश्चित सीमा अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्धारित नहीं की जा सकती, यह राष्ट्रीय कानून का विषय है। यदि विदेशों में देशवासियों के सम्मान अथवा हितों को चोट पहुँचती है तो राजदूत वहाँ के विदेश मन्त्री से सम्पर्क करता है।

उक्त कार्यों के अतिरिक्त ओपेनहेम ने राजदूत के कुछ विविध कार्यों का भी उल्लेख किया है। अपने देशवासियों के जन्म, विवाह और मृत्यु का पञ्जीकरण करता है। देशवासियों के लिए पारपत्र प्रसारित करता है। इन कार्यों को सम्पन्न करते

समय वह यह ध्यान रखता है कि स्वागत-कर्ता राज्य के कानून ने इन्हें अपने अधिकारियों के लिए सुरक्षित न रख लिया हो। राजदूत विदेशों की उन राजनैतिक और सामाजिक स्थितियों पर नियन्त्रण रखता है जो उसके देश को प्रभावित कर सकती हैं। वह दूसरे राज्यों के विदेश मन्त्रालय से अपने देश के भगोड़े अपराधियों के प्रत्यर्पण के सम्बन्ध में वार्ता करता है।

राजदूत से यह आशा की जाती है कि वह दूसरे देश के आन्तरिक राजनीतिक जीवन में हस्तक्षेप न करे। उसका कार्य राजनैतिक घटनाओं और राजनीतिक दलों की गतिविधियों पर निगाह रखना तथा अपनी सरकार को इस सम्बन्ध में प्रतिवेदन देना है। वे एक पक्ष को प्रोत्साहित करने के लिए या दूसरे पक्ष को चुनौती देने के राजनीतिक जीवन में सक्रिय नहीं बन सकते। यदि वे ऐसा करते हैं तो यह उनके पद का दुरुपयोग माना जाएगा। कोई भी आत्म सम्मान युक्त राज्य विदेशी दूत को उस प्रकार हस्तक्षेप करने की अनुमति नहीं दे सकता। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब विदेशी राजदूतों ने अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया। ऐसा होने पर प्रभावित राज्य दूसरे राज्य से दूत के परिवर्तन का निवेदन करेगा अथवा उसके पारपत्र को अस्वीकार करके पद से हटा देगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनविद् जी. वी. ग्लान (G.V. Glahn)ने राजदूत के कार्यों को निम्नलिखित छः शीर्षकों में वर्गीकृत किया है—

1 सन्धि वार्ता (Negotiation)—यह कार्य कूटनीतिज्ञों के जन्म का आधार है। विदेशी राजधानी में एक राज्य अपना प्रतिनिधि इसलिए रखता है ताकि आवश्यकता के समय प्रत्यक्ष रूप से समझौता वार्ता कर सके। पिछली अर्द्ध-शताब्दी से इस मूलभूत कार्य का महत्त्व कम हो गया है।

2 सूचना (Information)—कूटनीतिज्ञ राजनीतिक घटनाओं, नीतियों एवं अन्य सम्बन्धित विषयों पर अपनी सरकार को सूचना भेजता है। वह पुराने अर्थ में जासूस नहीं होते।

3 प्रतिनिधित्व (Representation)—कूटनीतिक प्रतिनिधि अपने राज्य की सरकार का एजेन्ट होता है। वह न केवल समारोहों के समय इस रूप में कार्य करता है वरन् आवश्यकता के समय स्वागतकर्ता राज्य को सरकार के सम्मुख विरोध प्रस्तुत करता है और पूछताछ करता है। अपने राज्य की सरकार की नीतियों को वह स्वागतकर्त्ता राज्य की सरकार के सम्मुख स्पष्ट करता है।

4 संरक्षण (Protection)—राजदूत का यह कार्य है कि विदेशों में अपने राज्य के नागरिकों की सम्पत्ति, जीवन और स्वार्थों की रक्षा करे। जब स्वदेशी नागरिक संकट में हों तो राजदूत को उनकी सहायता के लिए तैयार रहना चाहिए।

5. जनसम्पर्क (Public Relations)—राजदूत निरन्तर अपने राज्य और उसकी नीतियों के प्रति सद्भावना बनाये रखने के कार्य में संलग्न रहता है। इसके लिए वह प्रचारात्मक या जन-सम्पर्क के दूसरे कार्य सम्पन्न करता है। पार्टियों एवं भोजों में

शामिल होता है, सार्वजनिक एवं अन्य अवसरगत भाषण देता है, भवनों एवं कार्यक्रमों का उद्घाटन करता है, विदेशी सहायता से चलने वाली परियोजनाओं की देख-रेख करता है। जनसम्पर्क के इन कार्यों की प्रभावशीलता को मापना कठिन है। एक बात निश्चित है कि यदि कूटनीतिज्ञ इन कार्यों में भाग लेना छोड़ दे तो राज्य में गलत भावनाएँ पैदा हो जाएँगी।

6. प्रशासन (Administration)—कूटनीतिक मिशन का अध्यक्ष उस समूह का प्रशासनिक अध्यक्ष होता है। यदि मिशन का आकार बड़ा है तो अध्यक्ष का सेवीवर्ग का कार्यालय भी होता है जिसमें उसके अधीनस्थ विभाग अध्यक्ष होते हैं। राजदूत स्वयं व्यक्तिगत रूप से दूतावास के प्रशासन के लिए उत्तरदायी होता है।

वियना अभिसमय (Vienna Convention) में दूतों के पाँच कार्यों का उल्लेख किया गया है—विदेशों में अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अपने राज्य के नागरिकों के हितों की रक्षा करना, अन्य राज्य से विविध विषयों पर वार्ता करना, अन्य राज्य की परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करके अपने देश को सूचना एवं प्रतिवेदन भेजना और स्वदेश तथा ग्रहणकर्त्ता राज्य के बीच आर्थिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक क्षेत्र में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करना।

कूटनीतिक विशेष अधिकार एवं उन्मुक्तियाँ
(Diplomatic Privileges and Immunities)

कूटनीतिक प्रतिनिधियों को अनेक विशेष अधिकार एवं उन्मुक्तियाँ सौंपे जाते हैं ताकि वे अपने दायित्वों को पूरा कर सकें। ये विशेष अधिकार रिवाजों एवं अभिसमयों तथा कानूनों पर आधारित हैं। पुराने समय से ही कूटनीतिक प्रतिनिधियों के पद को पवित्र माना जाता है। प्राचीन यूनान के लोग राजदूत पर किए गए आघात को गम्भीर प्रकृति का मानते थे। प्राचीन यूनान के लेखकों ने राजनयिकों पर किए गए आघात को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन माना था।

राजदूतों को जब तक विशेषाधिकार नहीं सौंपे जाते तब तक वे उन दायित्वों का निर्वाह करने में असमर्थ रहते हैं जिनके लिए उन्हें भेजा गया है। उनके स्वतन्त्र कार्य संचालन के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें अपना पत्र-व्यवहार गुप्त रखने की सुविधा हो तथा उन पर किसी प्रकार का भय अथवा दबाव प्रयुक्त न किया जाए। सभी राज्य पारस्परिक आधार पर राजदूतों को विशेष अधिकार प्रदान करते हैं और अपने न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से उन्हें उन्मुक्ति प्रदान करते हैं। इन विशेष अधिकारों का औचित्य वर्णित करते हुए प्रो. ओपेनहेम ने बताया है कि—"कूटनीतिक प्रतिनिधि राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनको गौरव होता है। वे अपने कार्यों को पूरी तरह तभी सम्पन्न कर सकेंगे जब उन्हें ये विशेषाधिकार सौंपे जाएँ।" यदि राजदूतों को साधारण व्यक्तियों की भाँति कानूनी और राजनीतिक हस्तक्षेप का विषय बनाया जाए तो वे सम्बन्धित राज्य की सद्‌इच्छा पर निर्भर हो जाएँगे। सुरक्षा और आराम के व्यक्तिगत स्वार्थ की दृष्टि से वे अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो

जाएँगे। प्रो. ओपेनहेम ने कूटनीतिज्ञ के विशेषाधिकारों को उनकी आवश्यक विशेषता माना है।

जब विचारकों ने राजदूतों के विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों पर विचार किया तो प्रदेश बाह्यता के विचार का सहारा लिया। इस विचार के आधार पर विदेशी प्रतिनिधियों को दी गई उन्मुक्तियाँ स्पष्ट की गई तथा विभिन्न राज्यों की सम्प्रभुता और समानता पर जोर दिया गया।

पिछली पाँच शताब्दियों से कूटनीतिक विशेषाधिकारों का प्रसार भिन्न-भिन्न रहा है। आजकल साधारणतः अग्रलिखित विशेषाधिकारों को उचित माना जाता है—

1. व्यक्तिगत अनतिक्रम्यता
(Personal Inviolability)

कूटनीतिक प्रतिनिधि उतने ही पवित्र माने जाते हैं जितने कि राज्य के अध्यक्ष। अतः उनको अपने शरीर की रक्षा की विशेष सुविधा दी जाती है और ग्रहण-कर्त्ता राज्य के प्रत्येक प्रकार के फौजदारी क्षेत्राधिकार से उन्हें अलग रखा जाता है। यह राजनयिक का प्राचीनतम विशेषाधिकार है। कूटनीतिज्ञ की पवित्र प्रकृति एक व्यावहारिक आवश्यकता है। दुनिया के अनेक भागों में विदेशी को कोई अधिकार नहीं दिया जाता। अनेक बार विदेशी की हत्या किए जाने पर भी अपराधी को दण्ड नहीं दिया जाता। इससे भिन्न 'राजदूत' साधारण विदेशी नहीं होते, वे हमेशा उनके राज्य के प्रतिनिधि माने जाते हैं। राजदूत पर किया गया कोई भी आक्रमण उसके राज्य पर किया गया आक्रमण है जो युद्ध का कारण बन सकता था। ऐसी स्थिति में राजदूत को विशेष सुविधा प्रदान करने के लिए अनेक विशेषाधिकार प्रदान करना आवश्यक था। समय के साथ-साथ विभिन्न सरकारों द्वारा विदेशियों को नागरिक अधिकार एवं सुरक्षाएँ दी जाने लगीं और इस प्रकार राजदूतों के विशेष अधिकार कम महत्त्वपूर्ण बन गए।

आजकल इस विशेषाधिकार को नए सन्दर्भ में देखा जाता है। कूटनीतिक सुरक्षा का अर्थ दूसरे विदेशियों की अपेक्षा फौजदारी व्यवस्थापन में अधिक सुरक्षा का होना है। इस सुरक्षा की गारन्टी उसे ग्रहण-कर्त्ता राज्य द्वारा दी जाती है। इस प्रकार यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रश्न न होकर राष्ट्रीय कानून का प्रश्न है। राजदूत को दी जाने वाली सुरक्षा पूर्ण अथवा अशर्त नहीं होती। यदि कूटनीतिज्ञ इस प्रकार गैर-कानूनी कार्य करे कि उसे रोकने के लिए आत्म-रक्षा के प्रयास अथवा पुलिस कार्य आवश्यक बन जाएँ तो विशेष अधिकारों की आड़ नहीं ली जा सकेगी।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने दूत को शारीरिक क्षति पहुँचाना, उसे पकड़ना, मारना अथवा बन्धन में रखना एक निन्दनीय कार्य बताया है। कौटिल्य के मतानुसार "दूत चाण्डाल होने पर भी अवध्य है।" महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर को बताया कि दूत को मारने वाला नरक-गामी और भ्रूण-हत्या के पाप का भागी होता है। रामायण में रावण ने हनुमानजी को दूत होने के कारण न

मारना ही उपयुक्त समझा और केवल उनकी पूँछ मे आग लगा दी। दूतो की अवध्यता का यह विशेषाधिकार विशेष विदेशियो को भी प्रदान किया जाता था। हर्षवर्धन ने चीनी यात्री युआनच्वांग की सुरक्षा के लिए आवश्यक व्यवस्था की।

आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कानून और न्यायालय के निर्णयो द्वारा यह सु-स्थापित हो चुका है कि किसी राजदूत को बन्दी बनाना तथा उसका माल जब्त करने की सभी आज्ञाएँ अवैध होगी। विदेशी राजदूत को अपनी भूमि मे सब प्रकार से रक्षा और संरक्षण करना स्वदेशी नागरिको और विदेशी नागरिको की सुरक्षा के लिए पर्याप्त महत्वपूर्ण है। राजदूत के विरुद्ध की गई हिंसा उस राजा या सम्प्रभु का अपमान है जिसका वह प्रतिनिधित्व कर रहा है। इसके कारण राष्ट्रो की सामान्य सुरक्षा संकट में पड जाती है। पेलेची के विवाद में दिए गए निर्णय के अनुसार राजदूत को सभी प्रकार की क्षतियों और अपकारों से सुरक्षित रखना चाहिए। शत्रु राज्य के दूत को हानि पहुँचाना भी उचित नहीं है। यदि उत्तेजनावश किसी दूतावास को क्षति पहुँचाई जाती है तो सम्बन्धित राज्य को इसका मुआवजा दिया जाना चाहिए।

आजकल राजदूतो की अवध्यता के नियम के उल्लंघन के कई उदाहरण सामने आए हैं, साम्यवादी चीन इस दृष्टि से पर्याप्त बदनाम है। यहाँ सोवियत संघ, भारत और दूसरे देशो के साथ जो व्यवहार किया गया वह उल्लेखनीय है। जनवरी 1967 मे पढ़ने वाले चीनी विद्यार्थियों को स्वदेश लौटने को कहा गया ताकि वे सांस्कृतिक क्रान्ति में भाग ले सकें। 25 जनवरी, 1967 को चीनी दूतावास के कर्मचारियों के साथ मिलकर चीनी विद्यार्थियो ने लेनिन की समाधि के पास लाल चौक मे उत्पात मचाया। जब उनकी रोक-थाम की गई तो चीन ने यह प्रचार किया कि मास्को में चीनी विद्यार्थियो के विरुद्ध अमानुषिक व्यवहार किया जा रहा है। बदले की भावना से 26 जनवरी, 1967 का पेकिंग स्थित सोवियत दूतावास को चीनी प्रदर्शनकारियो की भारी भीड ने घेर लिया। आने-जाने वाले लोगो को परेशान किया गया और दूतावास में जलती हुई मशालें फेंकी गई। सोवियत दूतावास की स्त्रियों और बच्चो को खतरे से बचाने के लिए जब रूस भेजा गया तो हवाई अड्डे के मार्ग मे लाल रक्षको ने उन पर थूका और पिटाई की। 6 फरवरी को एक चीनी भीड ने स्वदेश लौटती हुई रूसी महिलाओ को घेर लिया और उन्हें माओ तथा स्तालिन के चित्रो के नीचे से रेंग कर जाने के लिए विवश किया। रूस, ब्रिटेन और फ्रांस के राजनयिको ने जब इन्हें बचाना चाहा तो उनके साथ भी बुरा व्यवहार किया गया। 6 फरवरी को सोवियत दूतावास पर घेरा डाल लिया गया और उसमे से किसी को बाहर नहीं निकलने दिया गया। 31 जनवरी, 1967 से 4 फरवरी तक फ्रांस के पेकिंग स्थित दूतावास पर उग्र प्रदर्शन किए गए। सोवियत संघ के अतिरिक्त पूर्वी योरोप के अन्य साम्यवादी देशों के राजदूतों के साथ भी चीन ने दुर्व्यवहार किया। हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, मंगोलिया आदि देशों के राजनयिकों को परेशान किया गया। 9 फरवरी, 1967 को चीनी विदेश मन्त्रालय ने यह घोषणा की कि

राजनयिक उन्मुक्तियाँ पूँजीवादी संस्थाओं की उपज है। क्रान्तिकारी देश बुर्जुआ व्यवस्थाओं को स्वीकार नहीं करते।

साम्यवादी चीन में भारतीय दूतावास के प्रति भी इस प्रकार का व्यवहार किया गया। जून, 1967 में इसके दो कर्मचारी रघुनाथ तथा विजय पर जासूसी का आरोप लगाकर इन्हें देश से बाहर निकलने की आज्ञा दी गई। लाल रक्षकों ने इनके साथ अपमान-जनक व्यवहार किया। इनको पीटा गया, ठोकरें मारी गईं। दूतावास के तृतीय सचिव श्री वी. रघुनाथ को घुटनों के बल चलाया गया। भारत के तत्कालीन विदेश मन्त्री श्री छागला ने चीन के इस कार्य को सभ्य व्यवहार के नियमों तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सभी नियमों का अभूतपूर्व तथा भीषण उल्लघन माना।[1]

मई, 1967 में हाँग-काँग में दंगे हुए। फलतः चीन में ग्रेट-ब्रिटेन का विरोध किया गया। चीन के विभिन्न प्रदेशों में ब्रिटिश दूतावास के कर्मचारियों पर आघात तथा भीषण दुर्व्यवहार किए गए। 24 मई, 1967 को दो ब्रिटिश राजनयिकों को शंघाई हवाई अड्डे पर घेर लिया गया। उनके मुँह पर थूका गया और कपड़े फाड़ दिए गए तथा शरीर पर पोस्टर चिपकाने वाली लेई पोत दी गई।

स्पष्ट है कि राजदूतों के पद की पवित्रता कम होती जा रही है। इसके प्रतिकार स्वरूप विरोध पत्र भेजे जाते हैं, बदले की कार्यवाहियाँ की जाती हैं तथा दौत्य सम्बन्ध भंग कर दिए जाते हैं। दूत की अवध्यता का सिद्धान्त उसे पूर्ण सुरक्षा प्रदान करता है। यह अनतिक्रम्यता कही जाती है। इसके अनुसार दूत का शरीर इतना पवित्र समझा जाता है कि कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार की क्षति अथवा हिंसा द्वारा इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। न्यायालय उस पर मुकदमा चलाकर दण्डित नहीं कर सकते। दूत के लिए आवश्यक व्यक्तियों और वस्तुओं को भी यह सुरक्षा प्राप्त होती है। उसका परिवार, अनुचर वर्ग, गाड़ियाँ, पत्र-व्यवहार आदि अनतिक्रम्य माने जाते हैं। देश का दण्ड विधान उस पर लागू नहीं होता। सिद्धान्त रूप से दूत को मनमानी करने की स्वतन्त्रता होती है किन्तु यह आशा की जाती है कि वह आत्म-नियन्त्रण से काम लेगा तथा देश के कानून का आदर करेगा।

यदि आशा के विपरीत कोई दूत आत्म-नियन्त्रण की अवहेलना करके जघन्य अपराध करता है तो प्रभावित राज्य दूत के राज्य से उसे वापिस बुलाने की प्रार्थना करेगा अथवा स्वयं देश निकाला दे देगा। देश की शान्ति को संकट में डालने वाले कार्यों के लिए राजदूत को बन्दी बनाया जा सकता है। लॉर्ड मेहोन के कथनानुसार "यदि कोई दूत स्वागत-कर्ता राज्य की सरकार के विरुद्ध षडयन्त्र करता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन करता है। उसके विशेष अधिकारों की शर्त यह है कि वह अपने कूटनीतिक कर्त्तव्यों की सीमा का उल्लघन नहीं करेगा। यदि वह ऐसा करता है तो प्रभावित राज्य अपनी सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक कार्यवाही कर

1 एशियन रिकार्डर, 1967, पृष्ठ 7808-11.

सकेगा।" प्रो ग्लान के कथनानुसार, "यदि एक राजनयिक इस प्रकार गैर-कानूनी कार्य करता है कि राज्य को व्यक्तिगत आत्म-रक्षा के प्रयास अथवा पुलिस कार्य आवश्यक बन जाते हैं तो वह अपनी अनतिक्रम्यता के विशेषाधिकार की आड़ नहीं ले सकेगा।" राजदूत का अवध्यता एवं अनतिक्रम्यता का अधिकार युद्ध छिड़ जाने *पर भी बना रहता है। यदि कोई राजदूत स्वयं के अनुचित कार्य से प्रभावित होता* है तो उसे शिकायत करने का अधिकार नहीं है। यदि वह अव्यवस्थित एवं अनियन्त्रित भीड़ में अपने आपको डाल दे तो अनतिक्रम्यता के उसके अधिकार की रक्षा नहीं की जा सकती।

2 राज्यक्षेत्र बाह्यता
(Extra Territoriality)

राष्ट्रों के परिवार के सभी सदस्यों द्वारा राजदूतों को राज्य प्रदेश बाह्यता का विशेष अधिकार सौंपा जाना चाहिए। उसे स्वागत-कर्त्ता राज्य के क्षेत्राधिकार नियन्त्रण एवं निर्देशन से मुक्त रखा जाना चाहिए ताकि वह अपने दायित्वों को पूरा कर सके। राज्यक्षेत्र बाह्यता के अनुसार कूटनीतिज्ञ को स्थानीय क्षेत्राधिकार से अनेक उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। साहित्यिक दृष्टि से इस शब्द का अर्थ यह है कि व्यक्ति या वस्तु पर उस राज्य का क्षेत्राधिकार नहीं है जिस राज्य के प्रदेश में वह है।

प्रो. ओपेनहेम के मतानुसार राज्य प्रदेश बाह्यता एक कल्पना (Fiction) *मात्र है क्योंकि राजनयिक यथार्थ में स्वागत-कर्ता राज्य के अन्तर्गत रहता है।* वह राज्य के कानूनी दायित्व से मुक्त नहीं रहता, किन्तु वहाँ न्यायालय के क्षेत्राधिकार से मुक्त रहता है। यह मान्यता इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह इस तथ्य का प्रदर्शन करती है कि राजनयिक अनेक मामलों में ऐसे समझे जाने चाहिए जैसे कि वे स्वागत-कर्त्ता राज्य के प्रदेश से बाहर हों। इस दृष्टि से राजनयिकों के निवास स्थान या दूतावास को उस राज्य से बाहर का प्रदेश माना जाता है। आधुनिक व्यवहार की दृष्टि से यह अतिशयोक्ति मात्र है। अनेक मामलों में यह सिद्ध हो चुका है कि राज्य क्षेत्र बाह्यता साहित्यिक अर्थ में महत्त्व रखती है। वास्तविक व्यवहार में इसका महत्त्व नहीं है। 1954 में बर्लिन स्थित अफगान राजदूत की हत्या हो गई। इस मामले में जर्मन न्यायालय ने यह तर्क स्वीकार नहीं किया कि अफगान दूतावास में घटित यह घटना जर्मन प्रदेश से बाहर है।

राज्य क्षेत्र बाह्यता के अधिकार के तहत राजदूत को अन्य अनेक उन्मुक्तियाँ सौंपी जाती हैं। यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में एक नया विकास है। प्राचीन विचारकों के लिए यह अज्ञात था। पहली बार यह ग्रोशियस की रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ। आज सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि राजनयिक को राज्य के प्रदेश से बाहर न माना जाए। वह ग्रहणकर्ता राज्य के स्थानीय कानून का विषय है तथा अपने विशेष अधिकारपूर्ण स्तर के कारण कानून की क्रियान्विति से अनेक उन्मुक्तियाँ रखता है।

3 निवास स्थान की उन्मुक्ति
(Immunity of Domicile)

राजदूत को निवास स्थान सम्बन्धी उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। उसके निवास स्थान या दूतावास को राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर माना जाता है। राज्य की पुलिस, न्याय विभाग या न्याय विभाग का कोई कर्मचारी इसमे प्रवेश नहीं कर सकता। यदि इस क्षेत्र मे दूतावास के कर्मचारियों के अतिरिक्त कोई अपराधी आ जाता है तो उसे राज्य के अधिकारियों को सौंपना दूतावास का कार्य है। इस विशेषाधिकार का दुरुपयोग करते हुए दूतों को अपना दूतावास अपराधियों का अड्डा बनाने की अनुमति नहीं दी जा सकती। ग्रहणकर्त्ता राज्य इसके विरुद्ध कदम उठाने का अधिकार रखता है।

राजनयिक की विशेष अनुमति के बाद ही दूतावास के क्षेत्र मे ग्रहणकर्त्ता राज्य का प्रशासन एव क्षेत्राधिकार लागू हो सकेगा। घुड़सालों एव मोटरगाड़ियों के गैरेजों को उनके निवास स्थान का भाग माना जाता है। निवास स्थान की यह उन्मुक्ति वहीं तक प्रदान की जाती है, जहाँ तक कि यह राजनयिकों की स्वतन्त्रता एव अनतिक्रम्यता के लिए आवश्यक है। जब इस अधिकार का दुरुपयोग होने लगता है तो ग्रहणकर्त्ता राज्य निष्क्रिय रूप से सहन नहीं करता। दूतावास मे शरण पाने के इच्छुक अपराधियों को प्रवेश दिया जा सकता है, किन्तु यदि सरकार द्वारा न्यायिक कार्यवाही करने के लिए उनकी माँग की जाए तो उन्हें सौंपना होगा। राजदूत द्वारा मना किए जाने पर ग्रहणकर्त्ता राज्य दूत को शारीरिक क्षति पहुँचाने के अतिरिक्त कोई भी कदम उठा सकता है। ये प्रयास केवल आवश्यक और महत्त्वपूर्ण मामलो मे ही किए जाते हैं।

यदि दूतावास मे ऐसे व्यक्ति द्वारा अपराध किया गया है जिसे राज्य क्षेत्र-बाह्यता का विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है तो अपराधी स्थानीय सरकार को सौंप दिया जाना चाहिए। इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण हैं जबकि स्थानीय सरकार ने अपराधी को दूतावास की सीमा मे बन्दी किया।

4 विदेशी दूतावास मे शरणदान
(Asylum in Foreign Legations)

दूतावास मे राजनीतिक अपराधियों को शरण देने के सम्बन्ध में विभिन्न देशों मे अलग-अलग व्यवस्थाएँ हैं। प्रारम्भ मे अधिकांश राज्यो के दूतावासों मे इनको शरण देने की परम्परा थी। आजकल दक्षिण अमेरिकी राज्यों के अतिरिक्त अन्य राज्य के दूतावासों को अपनी इमारतों मे राजनीतिक अपराधियों को शरण देने का कोई अधिकार नहीं है। यदि राजदूत ऐसा करने का प्रयास करे तो स्थानीय सरकार शक्ति का प्रयोग करके अपराधी को पा सकती है। राज्य के सिपाही दूतावास को घेर कर अपराधी को पकड सकते हैं। मानवीय दृष्टि से ऐसे लोगों को दूतावास में शरण लेने का अधिकार दिया गया है जो उच्छृखल भीड या गैर-कानूनी कार्यकर्त्ता [illegible] आक्रमण से भयभीत है।

सामान्यत. यह स्वीकार किया जाता है कि स्थानीय न्यायिक अथवा प्रशासनिक अधिकारी दूतावास के अध्यक्ष की स्वीकृति के बाद ही इसके क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं। 1836 म संयुक्तराज्य अमेरिका बनाम जेफर्स (U.S A. Vs Jeffers) के मामले मे अमेरिकी न्यायालय ने बताया कि ब्रिटिश दूतावास के सचिव के घर में प्रवेश करके सिपाही द्वारा भगोडे दास को पकडना अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन था। 1928 के राजनयिक अधिकारियों पर हवाना अभिसमय मे यह नियम स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है।

5. फौजदारी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति
(Exemption from Criminal Jurisdiction)

राजनयिकों की सुरक्षा के लिए किए गए विशेष प्रावधानों के अतिरिक्त उनको राज्य के फौजदारी क्षेत्राधिकार से पूर्ण उन्मुक्ति प्रदान की जाती है। कानून और व्यवस्था के विपरीत अपराध के लिए उनको किसी स्थिति मे बन्दी नही बनाया जा सकता। पुलिस द्वारा इनको पकड कर मुकदमा नही चलाया जा सकता। दूतो से यह आशा की जाती है कि ये ऐसे अपराध नहीं करेंगे तथा स्वेच्छा से राज्य के राष्ट्रीय कानून का पालन करेंगे। ऐसा न करने पर प्रेषक राज्य से उनको वापिस बुलाने और अपने देश मे दण्ड देने की माँग की जा सकती है। आवश्यकता होने पर राजदूत को बन्दी बनाया जा सकता है अथवा देश से निकाला जा सकता है। यदि वह राज्य की सुरक्षा के विरुद्ध कोई षडयन्त्र करता है तो उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अस्थायी काल के लिए छीना जा सकता है। इसे देश-निकाले के अतिरिक्त अन्य कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता। प्रो ब्रायर्ली के कथनानुसार—"एक दूत जिस राज्य मे भेजा जाता है, वहाँ की फौजदारी एव पुलिस कार्यवाही से पूर्णत. मुक्त रहता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उस देश के फौजदारी कानून तथा पुलिस के नियमो का पालन नही करेगा, यदि वह ऐसा नहीं करे तो उसके विरुद्ध उसकी सरकार से राजनयिक ढग से शिकायत की जा सकती है अथवा बडे गम्भीर अपराध मे उसे देश से निकाला जा सकता है।" राजा या राज्य के विरुद्ध षडयन्त्रों मे शामिल होने वाले दूतों को प्राय स्वदेश वापिस जाने के लिए बाध्य किया जाता है।

6 दीवानी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति
(Exemption from Civil Jurisdiction)

स्थानीय न्यायालयों मे दूतो के विरुद्ध ऋण अथवा ऐसे ही मामलो के सम्बन्ध मे कोई दीवानी कार्यवाही नहीं की जा सकती। ऋण न चुकाने पर उनको बन्दी नही बनाया जा सकता तथा इसके लिए उनकी गाडियाँ, घोडों, साज-सामान आदि को जब्त नही किया जा सकता। ऋण न चुकाने के आधार पर उन्हें देश छोडने मे नही रोका जा सकता और न उन्हें पारपत्र के लिए मना किया जा सकता है। इस प्रकार स्थानीय लोगो के ऋण को न चुकाने पर राजनयिक के विरुद्ध कोई दीवानी कार्यवाही नही की जा सकती। ग्रोशियस ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि—"राजदूत की व्यक्तिगत सम्पत्ति न्यायालय या सम्प्रभु राजा के आदेश से ऋणों की अदायगी

थ। सुरक्षा के लिए जब्त नही की जा सकती।' यह विशेष अधिकार उसे सुरक्षित एव चिन्तामुक्त रखने के लिए दिया गया है। विकरशोक तथा वेटिल ने भी इस मत का समर्थन किया है। 1772 मे फ्रांसीसी सरकार ने एक जर्मन राज्य के राजदूत बैरन डी रैच को इस आधार पर पासपोर्ट देने से मना किया कि उसने अपना कर्ज अदा नही किया था। इस कार्य का पेरिस स्थित राजदूतो द्वारा तीव्र विरोध किया गया। ग्रेट-ब्रिटेन मे 1708 मे एक कानून पारित किया गया जिसके अनुसार राजदूत यदि कर्ज अदा न करे तो भी उसके विरुद्ध सम्मन जारी नहीं किया जा सकता। सयुक्तराज्य अमेरिका म काग्रेस का कानून राजदूत के विरुद्ध की गई न्यायिक प्रक्रिया को असंविधानिक घोषित करता है और ऐसा करने वाले व्यक्ति को राष्ट्रों के कानून का उल्लघनकर्त्ता मानता है।

दीवानी क्षेत्राधिकार से राजदूत की उन्मुक्ति के कुछ अपवाद भी हैं—(1) जब राजदूत स्वय ही स्थानीय दीवानी न्यायालय मे उपस्थित होकर उसके क्षेत्राधिकार को स्वीकार करता है और इस प्रकार वह स्वय ही अपनी उन्मुक्ति का परित्याग कर देता है। (2) जब राजदूत स्थानीय न्यायालय मे दूसरे व्यक्ति पर अभियोग चलाता है तो इस प्रकार वह स्थानीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार को स्वीकार करता है। (3) स्थानीय न्यायालय राजदूत की उस अचल सम्पत्ति पर क्षेत्राधिकार रखता है जो ग्रहणकर्त्ता राज्य की सीमाओ के अन्तर्गत है और उसके पास निजी रूप से है। (4) कुछ देशो मे यह प्रावधान है कि राजदूत यदि ग्रहणकर्त्ता राज्य मे किसी व्यापार मे सलग्न है तो उस पर स्थानीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार रहेगा।

सन् 1961 के वियना अभिसमय मे राजदूतों की दीवानी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति के तीन अपवादो का उल्लेख किया गया है—(1) व्यक्तिगत अचल सम्पत्ति विषयक मामले, यह सम्पत्ति दूत मण्डल के आयोजन के लिए न होकर केवल व्यक्तिगत उद्देश्य के लिए होनी चाहिए। (2) राजदूत की व्यक्तिगत सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी मामले। (3) ऐसे मामले जो राजदूत के व्यावसायिक कार्य से सम्बन्ध रखते हों।

7 गवाही देने के कार्य से मुक्ति
(Exemption from Subpoena as Witness)

राजदूत को किसी मामले मे गवाही देने के लिए बाध्य नही किया जा सकता। वह किसी भी प्रशासनिक या दीवानी या फौजदारी न्यायालय मे साक्षी देने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता और न ही उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई अधिकारी घर जाकर उसकी गवाही ले सकता है। यदि वह स्वय गवाही देने के लिए राजी हो तो न्यायालय उसके प्रमाण का लाभ उठा सकते हैं। सन् 1881 मे अमेरिकी राष्ट्रपति गारफील्ड की हत्या के समय वेनेजुएला का राजदूत कोमन्चो (Comancho) वहाँ उपस्थित था। वह अपनी सरकार की अनुमति से गवाह बन गया। राजदूत को अधिकार है कि वह गवाही देने की प्रार्थना को ठुकरा दे।

सन् 1856 में हॉलैण्ड के राजदूत मी॰ डुबोइस ने नर हत्या का एक मामला देखा। प्रदालत में इसकी गवाही आवश्यक थी। अमेरिकी सरकार ने डुबाइस से प्रार्थना की। उसने इसे स्वीकार नहीं किया। फलत डच सरकार से निवेदन किया गया। उसने न्यायालय के स्थान पर विदेश मन्त्री के सम्मुख गवाही देने की अनुमति दी। कानूनी दृष्टि से यह महत्वहीन था इसलिए गवाही नहीं ली गई।

8. पुलिस से मुक्ति
(Exemption from Police)

राजदूत का एक अन्य विशेष अधिकार ग्रहणकर्त्ता राज्य की पुलिस से उसकी उन्मुक्ति है। पुलिस के प्रादेश तथा नियमन उस पर बाध्यकारी नहीं होते। दूसरी ओर यह भी व्यवस्था है कि जिन विषयों को पुलिस द्वारा नियमित किया जाता है उन पर राजदूत को मनमानी करने का अधिकार नहीं होता। यह आशा की जाती है कि वह पुलिस की उन सभी आज्ञाओं एवं नियमों का पालन करेगा जो उसके कर्त्तव्य पालन के मार्ग में रोड़ा नहीं बनते तथा समाज की सामान्य सुरक्षा एवं व्यवस्था के लिए उपयोगी हैं। ऐसा न करने पर राजदूत को दण्डित नहीं किया जा सकता किन्तु इसे भेजने वाली सरकार से वापिस बुलाने की प्रार्थना की जा सकती है अथवा ऐसे कदम उठाए जा सकते हैं जो उसकी अनतिक्रम्यता को आघात न पहुँचाए।

9 करों से मुक्ति
(Exemption from Taxes)

स्थानीय सरकार द्वारा राजदूत पर आयकर या दूसरे प्रत्यक्ष कर नहीं लगाए जा सकते। उसे ग्रहणकर्त्ता राज्य की प्रादेशिक मर्यादा का विषय नहीं माना जाता। मकान, बिजली सफाई नल आदि उपयोगी सेवाओं का मूल्य उससे लिया जा सकता है किन्तु सौजन्यवश अनेक देशों में ये कर भी नहीं लिए जाते। दूसरे प्रकार के कर (जैसे बिक्री कर) उससे वसूल नहीं किए जा सकते। चुंगी तथा तटकर के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजनयिकों को उन्मुक्ति प्रदान नहीं करता। व्यवहार में सौजन्यवश अनेक राज्यों के राष्ट्रीय कानून में एक सीमा तक राजनयिकों के व्यक्तिगत उपयोग की वस्तुओं को तटकर से उन्मुक्त रखा गया है। इस सुविधा का राजनयिकों ने कई बार दुरुपयोग भी किया है। ग्रहणकर्त्ता राज्य अप्रत्यक्ष कर लगा सकता है।

वियना अभिसमय में दूतों को करों से मुक्त रखने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। ऐसे करों की सूची भी दी गई है जिन पर यह लागू नहीं होता। वस्तुओं के मूल्य में शामिल होने वाले अप्रत्यक्ष कर या बिक्री कर इसके अपवाद हैं। राजदूत या उसके परिवार के सदस्यों के व्यक्तिगत उपयोग के लिए मगाई जाने वाली वस्तुओं को सीमा शुल्क अथवा चुंगी से मुक्त माना गया है। अभिसमय ने इस उन्मुक्ति को कानून के रूप में माना है न कि अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य के कारण।

10. धार्मिक अधिकार
(Right to Religion)

राजदूत को धर्म के क्षेत्र में यह स्वतन्त्रता दी जाती है कि वह अपने विश्वास

के अनुसार पूजा और उपासना कर सके। उसका धर्म स्थानीय धर्म और विश्वास से भिन्न हो सकता है। अपनी उपासना के लिए वह मन्दिर, गिर्जाघर, मस्जिद आदि का निर्माण करा सकता है।

11. पत्र-व्यवहार की स्वतन्त्रता
(Freedom of Communication)

राजदूत अपना कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न कर सके इसके लिए उसे अपनी सरकार के साथ पत्र-व्यवहार की स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। उसके पत्र-व्यवहार का स्थानीय सरकार द्वारा निरीक्षण नहीं किया जाता।

12. राजनयिक के व्यावसायिक कार्य
(Business Activities of a Diplomat)

कुछ लेखकों का कहना है कि राजदूतों को उनकी व्यापारिक क्रियाओं में उन्मुक्ति प्रदान नही की जानी चाहिए। यदि उसके पास कार्यालय के निवास के अतिरिक्त कोई वास्तविक सम्पत्ति है तो उस पर कर लगाया जा सकता। यदि राजदूत किसी निजी व्यवसाय मे सलग्न है तो उसके सम्बन्ध मे अभियोग चलाया जा सकता है। अनेक विचारकों ने इस मत का समर्थन किया है किन्तु कठिनाई यह है कि राजदूत की व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उसकी सम्पत्ति सम्बन्धी उन्मुक्ति के बीच स्पष्ट अन्तर नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश न्यायालय के अनेक निर्णय भी इसके विपरीत हैं। टेलर बनाम बेस्ट (Taylor Vs Best) के विवाद मे न्यायालय ने बताया कि बेल्जियम के दूतावास के सचिव द्वारा एक व्यावसायिक कम्पनी के निदेशक के रूप मे स्वय धन जमा कराने के लिए उस पर अभियोग नहीं चलाया जा सकता किन्तु जब उसने स्वेच्छा से अपने आपको न्यायालय के क्षेत्राधिकार मे रखा है तो वह अपने पद के विशेषाधिकार का दावा नहीं कर सकता।

13 अनुचर वर्ग के लिए उन्मुक्तियाँ
(Immunities for Retinue)

राजदूत को प्राप्त होने वाले विशेषाधिकार एक सीमा तक उसके अनुचर वर्ग को भी प्राप्त होते हैं। अधिकृत रूप से जो लोग दूतावास से सम्बद्ध होते हैं उनको पुराने रिवाज के अनुसार वे सभी विशेषाधिकार एव उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं जो राजदूत को प्राप्त हैं। राजदूत के अनुचर वर्ग मे दूतावास मे काम करने वाले कर्मचारी, दूत के व्यक्तिगत सेवक, उसके पारिवारिक जन तथा नौकर-चाकर आते हैं। राजदूतों को अपने अनुचर वर्ग की पूरी सूची ग्रहणकर्त्ता राज्य के विदेश मन्त्रालय को देनी होती है। इस सूची के अतिरिक्त किसी व्यक्ति का कूटनीतिक विशेषाधिकार स्वीकार नहीं किया जाता।

राजदूत की पत्नी या पति को ये सभी विशेषाधिकार प्राप्त होते है। बच्चों तथा सम्बन्धियों को भी दीवानी एव फौजदारी न्यायालयों से मुक्ति प्राप्त होती है। घरेलू नौकरों को ब्रिटेन के सन् 1708 के कानून ने व्यापार न करने पर दीवानी

क्षेत्राधिकार से मुक्त किया था। ये फौजदारी क्षेत्राधिकार से मुक्त नहीं होते। राजदूतो के सदेशवाहक दीवानी एव फौजदारी दोनो क्षेत्राधिकारो से मुक्त रहते हैं। दूसरे राज्यो मे वे निर्दोष यात्रा कर सकते हैं। उन्हें विशेष पारपत्र दिए जाते हैं तथा कूटनीतिक पत्रो वाले थैलों की तलाशी नहीं ली जाती।

14 तीसरे राज्यो के सम्बन्ध मे ग्रधिकार
(Rights with Respect to Third States)

राज्यो के बीच राजनयिक सम्पर्क की मान्य ग्रावश्यकता का यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि राजदूतो को तीसरे राज्य के प्रदेश मे होकर निर्दोष गमन का ग्रधिकार होना चाहिए। निर्दोष गमन किसे समझा जाना चाहिए इसका निर्णय तृतीय राज्य द्वारा किया जाएगा। तृतीय राज्य मे राजदूत के जाने की ग्रावश्यकता कई कारणो से हो सकती है—(i) हो सकता है कि ग्रहणकर्त्ता राज्य तक पहुँचने के लिए उसे तृतीय राज्य मे होकर गुजरना पड़े, (ii) यदि राजदूत युद्धकारी राज्य मे है जिस पर ग्रन्य राज्य द्वारा सैनिक ग्रधिकार कर लिया जाए, (iii) एक राज्य को भेजा गया राजदूत तीसरे राज्य के मामलो मे हस्तक्षेप कर सकता है।

यदि एक राजनयिक तीसरे राज्य के प्रदेश मे होकर इच्छा या ग्रावश्यकता से यात्रा कर रहा है तो यह निश्चित है कि वह किसी प्रकार के विशेषाधिकार की माँग नही करेगा। वह किसी भी विदेशी यात्री की भाँति वहाँ रहेगा। सौजन्यवश उसकी ग्रोर विशेष ध्यान दिया जा सकता है। जब राजदूत के प्रेषक एव ग्रहणकर्त्ता राज्य पड़ोसी नहीं होते तो उसे तीसरे राज्यों मे होकर गुजरना पड़ेगा। तीसरे राज्य यदि प्रेषक या ग्रहणकर्त्ता राज्य के साथ युद्ध की स्थिति मे नही हैं तो राजनयिक को निर्दोष गमन का ग्रधिकार दे सकते हैं। वे उसे ग्रनतिक्रम्यता एव राज्य क्षेत्र बाह्यता के विशेषाधिकार नही देंगे। निर्दोष गमन के ग्रधिकार के तहत राजदूत तीसरे राज्य मे केवल उतना ही रुक सकता है जितना रास्ते से गुजरने के लिए ग्रावश्यक है।

राजदूत को भेजने वाले या ग्रहण करने वाले राज्य के साथ युद्ध को स्थिति मे तीसरा राज्य उसे गमन का ग्रधिकार नहीं देता। यदि वह युद्धकारी राज्य में होकर गुजरता है तो उसे रोक लिया जाएगा तथा युद्धबन्दी (Prisoner of War) समझा जाएगा। सन् 1744 मे फ्रांसीसी राजदूत हनोवर होते हुए बर्लिन जा रहा था। हनोवर तथा इगलैण्ड उस समय फ्रांस के साथ युद्धरत थे। ग्रतः राजदूत को युद्धबन्दी बनाकर इगलैण्ड भेज दिया गया।

युद्ध के समय जब एक योद्धा शत्रु राज्य की राजधानी को हस्तगत कर लेता है तथा वहाँ दूसरे राज्यो के दूतो को पाता है तो इन दूतों के राजनयिक विशेषाधिकार समाप्त नहीं होते। जब तक उन्हें ग्रहणकर्त्ता राज्य कायम है तब तक वे बने रहते हैं।

यह ग्राशा की जाती है कि राजदूत ग्रपने ग्रहणकर्त्ता राज्य के ग्रन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में दखल नहीं देगा। यदि वह हस्तक्षेप करता है तो तीसरे राज्य के सम्बन्ध में उसे कोई विशेषाधिकार नहीं रहेगा। सन् 1734 मे पोलैण्ड स्थित फ्रांसीसी

राजदूत ने पोलैण्ड तथा रूस के युद्ध में सक्रिय भाग लिया था। उसे रूसियों ने युद्धबन्दी बना लिया और फ्रांस के विरोध करने पर भी सन् 1736 तक उसे नहीं छोड़ा।

राजनयिक मिशन की समाप्ति
(Termination of Diplomatic Mission)

राजनयिक मिशन सरकार की भाँति नहीं होते जिनका कानूनी अस्तित्व व्यक्तियों के बदलने पर भी बना रहता है। प्रसन्न में प्रत्यय-पत्र व्यक्तिगत प्रलेख होते हैं। इसलिए कूटनीतिक मिशन की समाप्ति सम्बन्धित राजदूत के मर जाने पर या स्वदेशी सरकार द्वारा उसे वापिस बुला लिए जाने पर हो जाती है और उसके उत्तराधिकारी द्वारा नया प्रत्यय पत्र प्रसारित किया जाता है। यह निर्धारित करने के लिए कोई सुस्थापित नियम नहीं है कि विदेशी सरकार में किस प्रकार के परिवर्तन मिशन की औपचारिक समाप्ति का कारण बन जाते हैं। विदेशी सम्प्रभु की मृत्यु के बाद साधारणतः नए प्रत्यय-पत्रों की माँग की जाती है। आजकल संवैधानिक राजतन्त्र या प्रजातन्त्र व्यवस्था की स्थापना के कारण स्थिति में परिवर्तन आ गया है।

प्रो ओपेनहेम के मतानुसार निम्नलिखित कारणों से दौत्यकार्य की समाप्ति होती है—

(A) मिशन का उद्देश्य पूरा होने पर—दूत मण्डल को जिस उद्देश्य के लिए भेजा गया है उसके पूरा होने पर वह समाप्त हो जाता है। कई बार दूत किसी समारोह में भाग लेने के लिए भेजे जाते हैं जैसे—शादी, दाह संस्कार, राजनैतिक सरकार के अध्यक्ष बदलने की सूचना देने, सम्मेलनों या कांग्रेसों में राज्य का प्रतिनिधित्व करने इत्यादि। यह कार्य सम्पन्न होते ही राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है किन्तु घर लौटने तक उसके विशेषाधिकार बने रहते हैं।

(B) प्रत्यय पत्र की अवधि समाप्त होना—यदि राजनयिक को सीमित काल का प्रत्यय-पत्र सौंपा गया है तो उसका मिशन समाप्त होने से ही अस्तित्व खो देगा। उदाहरण के लिए, एक राजदूत के वापिस बुलाने और नया राजदूत नियुक्त करने के मध्यकाल में राजनयिक रूप से राज्य का प्रतिनिधित्व करने के लिए अस्थाई रूप से किसी व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकता है।

(C) वापिस बुलाना—राजदूत को भेजने वाला राज्य उसे वापस बुला सकता है। इसकी विधि यह है कि राजनयिक अपने राज्य के अध्यक्ष से वापस बुलाने (Recall) का पत्र प्राप्त करता है। इसे वह ग्रहणकर्त्ता राज्य के अध्यक्ष को सौंपता है। यदि वह कार्यदूत है तो यह पत्र उसे विदेश मन्त्री द्वारा दिया और लिया जाएगा। इस पत्र के बदले राजनयिक को पारपत्र (Passport) मिल जाता है। उनके विशेषाधिकार घर लौटने तक बने रहते हैं।

इसका कारण राजदूत का त्याग-पत्र, उसकी पदोन्नति या प्रेषक एवं ग्रहणकर्त्ता राज्य के बीच मनमुटाव और तनाव की वृद्धि आदि कुछ भी हो सकता है। तनाव

की स्थिति मे दोनो राज्यो के कूटनीतिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे प्रेषक राज्य राजनयिक को पारपत्र प्राप्त करने तथा तुरन्त चल देने का प्रादेश दे सकता है। वापस बुलाने का एक कारण राजनयिक का दुराचरण भी हो सकता है। ऐसी स्थिति मे ग्रहणकर्त्ता राज्य प्रेषक राज्य से प्रार्थना करता है कि राजनयिक को वापस बुला लिया जाए। यदि ग्रहणकर्त्ता राज्य अपनी प्रार्थना पर जोर दे प्रौर प्रेषक राज्य राजनयिक के कार्य को दुराचरण न माने तो इनसे उत्पन्न तनाव के कारण राजनयिक सम्बन्ध टूट सकते हैं।

(D) दूत की पदोन्नति—जब एक राजनयिक अपने पद पर बना रहते हुए भी उच्चतर श्रेणी पर पदोन्नत कर दिया जाता है तो उसका मौलिक मिशन एक प्रकार से समाप्त हो जाता है उसे नया प्रत्यय-पत्र प्राप्त करना पड़ता है।

(E) पद विमुक्ति—यदि ग्रहणकर्त्ता राज्य राजनयिक को पद से हटा दे तो उसका मिशन समाप्त हो जाता है। इसका कारण राजनयिक का दुराचरण अथवा प्रेषक एवं ग्रहणकर्त्ता राज्य के बीच झगड़ा हो सकता है। राजनयिक सम्बन्ध टूटने पर जब दूतावास के लोग राज्य की सीमा पार कर लेते हैं तो उनके विशेषाधिकार समाप्त हो जाते हैं। दूतावास की सभी चीजें यदि हटाई नहीं जाती तो राजनयिक द्वारा मोहर लगाकर उन्हें दूसरे राज्य के दूतावास के सरक्षण मे रख दिया जाता है।

(F) पारपत्र की माँग—वापस न बुलाए जाने पर भी एक राजनयिक ग्रहणकर्त्ता राज्य के दुर्व्यवहार से दुःखी होकर स्वय पारपत्र की माँग कर सकता है। इसके परिणामस्वरूप राजनयिक सम्बन्ध टूट भी सकते हैं प्रौर नहीं भी।

(G) युद्ध छिड़ना—जब प्रेषक प्रौर ग्रहणकर्त्ता राज्य के बीच युद्ध छिड़ जाता है तो दोनों देश अपने राजदूतों को वापस बुला लेते हैं। वापसी के रास्ते में उनके विशेषाधिकार बने रहते हैं।

(H) सवैधानिक परिवर्तन—यदि प्रेषक अथवा ग्रहणकर्त्ता राज्य का अध्यक्ष सम्प्रभु है तो उनके मरने या पद से हट जाने के कारण उसके द्वारा भेजा गया या स्वीकार किया गया राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है तथा सभी राजनयिकों को नए प्रत्यय-पत्र प्राप्त करने होते हैं। इस काल तक उन्हे विशेषाधिकार प्राप्त रहेंगे तथा उनकी वरिष्ठता यथावत् बनी रहती है।

गणराज्यों के अध्यक्षों में परिवर्तन का प्रभाव विभिन्न राज्यों में अलग-अलग होता है। अमेरिका तथा फ्रास मे राष्ट्रपति को गणराज्य का अध्यक्ष माना जाता है उसके बदलने पर राजनयिकों को नये प्रत्यय-पत्र प्रसारित किए जाने चाहिए। स्विट्जरलैण्ड में बहुल कार्यपालिका है। वहाँ राष्ट्रपति पद के परिवर्तन होने पर नया प्रत्यय पत्र प्रसारित करना आवश्यक नहीं होता।

(I) सरकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन—प्रेषक अथवा ग्रहणकर्त्ता राज्य मे क्रान्तिकारी आन्दोलन के परिणामस्वरूप यदि नई सरकार बन जाए तो राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है। सभी राजनयिकों को नए प्रत्यय-पत्र प्राप्त करने होते हैं।

उनकी वरिष्ठता यथावत बनी रहती है। ऐसा भी हो सकता है कि क्रान्ति के परिणाम जानने के लिए न तो नए प्रत्यय-पत्र भेजे जाएँ और न ही राजनयिकों को वापस बुलाया जाए। ऐसी स्थिति मे राजनयिक अन्तर्राष्ट्रीय परम्परा के अनुसार सभी विशेषाधिकारों का उपभोग करेंगे।

(J) राज्य का विलय—यदि प्रेषक अथवा ग्रहणकर्त्ता राज्य का अन्य किसी राज्य मे विलय हो जाता है तो उसके राजनयिक मिशन समाप्त हो जाते हैं। यदि विलय ग्रहणकर्त्ता राज्य का हुआ है तो विलयकर्त्ता राज्य सभी राजनयिकों को प्रदेश छोड़ने के लिए कहेगा। ये राजनयिक अपने साथ अपनी सम्पत्ति को ले जावेंगे। यदि विलय प्रेषक राज्य का हुआ है तो समस्या यह उठती है कि दूतावास की सम्पत्ति किसे सौंपी जाए। यह राज्यों के उत्तराधिकार की समस्या है।

(K) राजनयिक की मृत्यु—मिशन की समाप्ति का एक अन्य आधार राजनयिक की मृत्यु है। ज्योंही राजदूत की मृत्यु होती है उसके कागजातो पर तुरन्त मोहर लगा देनी चाहिए। यह कार्य स्वर्गीय राजदूत के दूतावास के ही किसी सदस्य द्वारा किया जाएगा। स्थानीय सरकार को उस समय तक हस्तक्षेप नही करना चाहिए जब तक उस राजदूत की सरकार द्वारा विशेष प्रार्थना न की जाए।

यद्यपि राजनयिक की मृत्यु के साथ मिशन समाप्त हो जाता है किन्तु उसके परिवार के सदस्यों और दूतावास के अन्य कर्मचारियों के विशेषाधिकार उनके रवाना होने तक बने रहते हैं। उनके प्रस्थान के लिए एक समय निश्चित कर दिया जाता है। ग्रहणकर्त्ता राज्य के न्यायालय राजदूत की सम्पत्ति और व्यक्तियो पर क्षेत्राधिकार नही रखते। उससे मृत्यु कर की माँग नहीं की जा सकती।

(L) जासूसी के कारण—जब दूतावास के कर्मचारी अपनी स्वतन्त्रता और उन्मुक्तियो का दुरुपयोग करके गुप्तचर का कार्य करते हैं और ग्रहणकर्त्ता राज्य की गुप्त सैनिक सूचनायें अपने राज्य को भेजते हैं तो इन्हें वापिस बुलाने की माँग की जा सकती है। 3 सितम्बर, 1963 को दिल्ली पुलिस ने पाकिस्तान हाई कमिश्नर के तीन व्यक्तियों को एक होटल मे भारतीय पाईलेट अधिकारी से गुप्त सूचनायें प्राप्त करते हुए रंगे हाथ पकड़ा। फलत भारत सरकार ने इन व्यक्तियो की वापसी की माँग की। बदले की भावना से पाकिस्तान सरकार ने भी वहाँ के भारतीय दूतावास के तीन कर्मचारियो पर जासूसी का आरोप लगाया और उनको वापिस बुलाने की माँग की।

राजनयिक मिशनो की समाप्ति के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Termination of Diplomatic Mission)

उपरोक्त कारणो मे से किसी भी एक अथवा कुछ मिले-जुले कारणो से राजनयिक मिशन समाप्त हो जाते हैं। कुछ उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) दक्षिण अफ्रीका के संघ ने वहाँ बसे हुए भारतीयो के साथ जातीय भेद-भाव और पक्षपात की नीति का बर्ताव किया। भारत सरकार ने इसके विरुद्ध शिकायत की और सन् 1946 मे वहाँ से उच्चायुक्त को वापिस बुला लिया तथा

उसका कार्य एक छोटे पदाधिकारी को सौंप दिया। वस्तुस्थिति उग्र होने पर सन् 1954 मे भारत सरकार ने वहाँ अपना दूतावास बन्द कर दिया।

(2) जुलाई, 1953 में भारत ने लिस्बन से अपना दूत वापिस बुला लिया क्योंकि पुर्तगाल सरकार ने गोवा के प्रश्न पर समझौते की बात करना बन्द कर दिया था।

(3) सन् 1809 मे अमेरिकी सरकार ने वाशिंगटन स्थित ब्रिटिश दूत जैक्सन की वापिसी की माँग की क्योंकि उसने एक भोज के समय कुछ प्रापत्तिजनक बातें कही थी। ब्रिटिश सरकार ने उसे वापिस बुला लिया।

(4) सोवियत संघ ने सन् 1952 मे अमेरिकी राजदूत जार्ज केनन को वापिस बुलाने की मांग की क्योंकि उसने बर्लिन मे पत्र संवाददाताओं को कुछ ऐसे वक्तव्य दिए थे जो सोवियत सरकार के प्रतिकूल थे। अमेरिका ने वापसी के कारणों को पर्याप्त नहीं समझा। केनन को यद्यपि वापिस बुला लिया गया किन्तु कोई नया दूत उसके स्थान पर नहीं भेजा गया। दूतावास का परामर्शदाता ही यह कार्य करता रहा।

(5) सोवियत संघ ने 27 जून, 1963 को मास्को स्थित चीनी दूतावास के तीन कर्मचारियों का वापस बुलाने की मांग पीकिंग से की क्योंकि उन्होंने चीनी साम्यवादी दल के उस पत्र को रूस मे वितरित किया जिसके प्रकाशन पर सोवियत सरकार ने प्रतिबन्ध लगा रखा था। 30 जून को ये चीनी अपने देश चले गये।

(6) अक्तूबर, 1954 मे सोवियत संघ की गुप्त पुलिस ने अमेरिकी दूतावास की कुछ स्त्रियों को पकड़ा जो मास्को मे गुण्डागर्दी कर रही थीं। अमेरिका के विरोध पर सोवियत संघ ने माँग की कि अमेरिकी दूतावास के सहचारी की पत्नी श्रीमती सोमरसेट को वापिस बुला लिया जाए। यह माँग मनोरंजक होने के साथ-साथ अभूतपूर्व थी।

(7) क्यूबा की कास्ट्रो सरकार ने अमेरिकी दूतावास को क्रान्ति विरोधियों के कार्यों का अड्डा बताया। कास्ट्रो के कथनानुसार इसके 300 कर्मचारियों म से 80% गुप्तचर का कार्य कर रहे थे। ये वहाँ की स्थानीय सरकार के विरोधियों की सहायता कर रहे थे। यह माँग की गई कि उनकी सख्या घटा कर 11 कर दी जाए और शेष कर्मचारी 48 घण्टे मे वापिस बुला लिए जायें। अमेरिका ने यह अनुभव किया कि इतने कम कर्मचारियों से दूतावास नहीं चल सकता, अतः उसने क्यूबा से राजनयिक सम्पर्क तोड़ दिया।

(8) डोमीनिकन गणराज्य ने वेनेजुएला के राष्ट्रपति की हत्या के प्रयास मे (24 जून, 1960) सहयोग दिया था। इसलिए अमेरिकी राज्यों के संगठन की विदेश मन्त्रियों की बैठक मे यह निश्चय किया गया कि अमेरिका महाद्वीप के राज्य इससे अपने राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दें और इसका आर्थिक बहिष्कार करें। फलतः सभी अमेरिकी राज्यों ने इससे अपने दूत सम्बन्ध तोड़ लिए।

(9) इण्डोनेशिया और फिलीपाइन दोनों राज्य मलेशिया सघ के निर्माण के विरुद्ध थे। इसलिए सघ की स्थापना होते ही उन्होंने इससे अपना दूतै सम्बन्ध तोड लिया।

वाणिज्य दूत
(Consuls)

वाणिज्य दूत अन्य राज्यो मे व्यापार तथा वाणिज्य के हितो की रक्षा के लिए नियुक्त किए जाते हैं। इस सस्था की जडें मध्य युग मे निहित हैं। इटली, स्पेन और फ्रास के व्यावसायिक नगरो मे व्यापारीगण चुनाव द्वारा अपने साथियो मे से एक या दो व्यापारियो को व्यापारिक विवादो मे पच नियुक्त कर देते थे। इनको वाणिज्य दूत कहा जाता था। 15वीं शताब्दी मे हॉलैण्ड तथा लन्दन मे इटली के वाणिज्य दूत थे और ब्रिटेन के वाणिज्य दूत इटली, हॉलैण्ड डेनमार्क, नार्वे आदि राज्यो मे थे। बाद मे यह प्रथा कम हो गई। 17वी शताब्दी मे स्थायी दूतावासो की स्थापना के साथ-साथ वाणिज्य दूतो के कार्य पर्याप्त घट गए। राष्ट्रीय सम्प्रभुता की मान्यता का विकास होने के साथ ही इन वाणिज्य दूतो को अपने देशवासियो पर दीवानी एव फौजदारी क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने की अनुमति नहा दी गई।

19वी शताब्दी मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, नौचालन एव जहाजरानी का विकास हुआ। फलतः सरकारो को वाणिज्य दूतो की सस्था का महत्त्व और मूल्य समझ मे आने लगा। शीघ्र ही इनको विदेशो म गैर-राजनीतिक कार्यों का भार सौंपा जाने लगा। उसके बाद इस सस्था का विस्तार हुआ। आज ससार मे विभिन्न श्रेणियो के हजारो वाणिज्य दूत बिखरे पडे हैं।

वाणिज्य दूतो का कानूनी-स्तर
(Legal Status of Consuls)

वाणिज्य दूत अपने राज्य के प्रतिनिधि नहीं होते। उनको प्रत्यय-पत्र नही दिया जाता। उन्हे राजनयिक विशेषाधिकार स्वत ही केवल तब मिल सकते हैं जबकि ग्रहणकर्त्ता राज्य मे इनको कार्यदूत बनाकर भेजा जाए। वाणिज्य दूत को राज्य द्वारा नियुक्त किया जाता है। ग्रहणकर्त्ता राज्य उसे सरकारी एजेन्ट मानता है। उसे कुछ ऐसे कार्य करने की अनुमति दी जाती है जिन्हें साधारणत प्रेषक राज्य के एजेन्ट ही कर सकते हैं। इस प्रकार वाणिज्य दूत की सस्था को सीमित अन्तर्राष्ट्रीय स्तर प्राप्त होता है तथा यह कुछ निश्चित और मान्य नियमों द्वारा प्रशासित होती है। प्रो फेनविक का कहना है कि—"मूल रूप से उनका स्तर अन्तर्राष्ट्रीय नहीं वरन् राष्ट्रीय होता है।" राज्य द्वारा नियुक्त होने के कारण विदेश मे इनको राज्य का एजेन्ट मान लिया जाता है। उन्हें सीमित अन्तर्राष्ट्रीय स्तर प्राप्त होता है। वाणिज्य दूतों की प्रकृति एव कार्यों को बहुत कुछ उन सन्धियों द्वारा प्रशासित किया जाता है जो उनके प्रेषक एव ग्रहणकर्त्ता राज्य के बीच की जाती हैं। समय के साथ-साथ इन सन्धियों के प्रावधान बहुत कुछ एक रूप तथा अभिसमयात्मक बन गए हैं।

यह कहा जा सकता है कि वाणिज्य दूतों का स्तर कई दृष्टियों से अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजी कानून का भाग बन गया है।

यद्यपि राजनयिक एवं वाणिज्य अधिकारी मूल रूप से भिन्न होते हैं तथा उनकी कानूनी प्रकृति में पर्याप्त भिन्नता रहती है फिर भी अनेक राज्यों ने इन दोनों कार्यों को एक ही व्यक्ति में मिलाने का प्रयास किया है। राजनयिक अधिकारियों को वाणिज्य दूत की कुछ शक्तियाँ सौंप दी जाती हैं और वाणिज्य दूतों को सीमित रूप में राजनयिक अधिकारियों के कार्य दिए जाते हैं। यह प्रबन्ध उस राज्य की सहमति से किया जाता है जिसमें अधिकारी को भेजा जा रहा है। दोनों प्रकार के कार्य सम्पन्न करने वाले अधिकारी का स्तर तय करने के सम्बन्ध में समस्या उठ सकती है।

वाणिज्य दूतों की श्रेणियाँ
(Grades of Consuls)

वाणिज्य दूत राज्य के प्रतिनिधि नहीं होते, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून इनकी श्रेणियों के विषय में चिन्तित नहीं रहता। राजनयिकों के सम्बन्ध में श्रेणी तथा परम्पराओं का जो प्रश्न उठता है वह यहाँ नहीं उठता। घरेलू प्रशासन की दृष्टि से ही उनकी श्रेणियाँ की जाती हैं। ओपेनहेम के मतानुसार वाणिज्य दूत दो प्रकार के होते हैं—(1) कन्सल्स मिस्सी—ये अपने वाणिज्य दूतावास के प्रशासन के लिए विशेष रूप से भेजे जाते हैं तथा इसके लिए इनको वेतन दिया जाता है। (2) कन्सल्स एलेक्टी—ये व्यक्तियों द्वारा नियुक्त होते हैं। अधिकतर उस प्रदेश के व्यापारियों द्वारा चुने जाते हैं जिनके वाणिज्य दूतावास का प्रशासन उनको करना है। प्रथम प्रकार के वाणिज्य दूत व्यावसायिक कहे जा सकते हैं और हमेशा प्रेषक राज्य का प्रजा बने रहते हैं। वे अपना पूरा समय वाणिज्य दूतावास के कार्यों में लगाते हैं। दूसरे प्रकार के दूतों का प्रेषक राज्य का नागरिक होना आवश्यक नहीं है। वे अपने अन्य कार्य के साथ-साथ वाणिज्य दूतावास के कार्यों की देख-रेख भी करते हैं। फ्रांस की भाँति कुछ राज्य केवल व्यावसायिक वाणिज्य दूत नियुक्त करते हैं किन्तु अधिकांश राज्यों द्वारा दोनों प्रकार के दूत नियुक्त किए जाते हैं। महत्त्वपूर्ण विषयों के लिए प्रायः व्यावसायिक वाणिज्य दूतों की नियुक्ति की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इन दोनों के बीच कोई अन्तर नहीं है। व्यवहार में व्यावसायिक दूत अधिक सत्ता का उपभोग करते हैं। उनकी सामाजिक स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण है और सन्धियों द्वारा उनको विशेष अधिकार प्रदान किए जाते हैं।

वाणिज्य दूतों के कार्य स्थानीय प्रकृति के हैं। अधिकांश राज्य बड़े राज्य प्रदेश में अनेक वाणिज्य दूत नियुक्त करते हैं और प्रत्येक को निश्चित जिलों का कार्य सौंप देते हैं। वाणिज्य दूत के जिले राज्यों के प्रान्तों के समरूप होते हैं। प्रत्येक जिले में वाणिज्य दूत स्वतन्त्र होता है और अपने प्रेषक राज्य के साथ प्रत्यक्ष रूप से *पत्र-व्यवहार करता है। एक जिले में निर्धारित वाणिज्य दूत ही कार्य कर सकता* और स्थानीय अधिकारी उसी को विशेष अधिकार सौंपेंगे।

श्रेणियों के अनुसार वाणिज्य दूतों को सामान्यतः चार भागों में वर्गीकृत किए

जाता है—(1) महावाणिज्य दूत (Consuls-General), (2) वाणिज्य दूत (Consuls), (3) उपवाणिज्य दूत (Vice-Consuls) और (4) वाणिज्य एजेन्ट (Consular Agents)। महावाणिज्य दूत की नियुक्ति कुछ वाणिज्य जिलों के अध्यक्ष के रूप में होती है तथा उसके अधीनस्थ कुछ वाणिज्य दूत रहते हैं। वह बड़े वाणिज्य जिले के अध्यक्ष के रूप में भी नियुक्त किया जा सकता है। वाणिज्य दूत प्रायः छोटे जिलों और कस्बों अथवा केवल बन्दरगाहों के लिए नियुक्त किए जाते हैं। उपवाणिज्य दूत मुख्यत. महावाणिज्य एवं वाणिज्य दूतों के सहायक होते हैं और इसलिए वाणिज्य दूत के सभी कर्त्तव्य सम्पन्न करते हैं। कुछ राज्यों के राष्ट्रीय कानून के अनुसार इनकी नियुक्ति वाणिज्य दूत द्वारा की जाती है जिसे उनका राज्य स्वीकार करता है। वाणिज्य एजेन्ट अपनी प्रकृति के अनुसार एजेन्ट होते हैं। इनकी नियुक्ति महावाणिज्य दूत अथवा वाणिज्य दूत द्वारा की जाती है। इस पर सरकार का अनुमोदन प्राप्त किया जाता है। ये एजेन्ट स्वतन्त्र नहीं होते और न अपने राज्य से प्रत्यक्ष रूप में पत्र-व्यवहार कर सकते हैं। ब्रिटिश वाणिज्य दूत सेवाओं में इन चार श्रेणियों के अतिरिक्त प्रोकन्सल्स भी होते हैं जो किसी वाणिज्य दूत की अस्थाई अनुपस्थिति या बीमारी के समय उसके कार्य सम्पन्न करते हैं।

वाणिज्य दूत यद्यपि अपनी सरकार से प्रत्यक्ष पत्र-व्यवहार कर सकते हैं फिर भी वे उन राजनयिक अधिकारियों के अधीनस्थ होते हैं जिनको प्रत्यय-पत्र के साथ भेजा गया है। प्रायः सभी राज्यों के राष्ट्रीय कानून के अनुसार राजनयिक अधिकारी उनके ऊपर पूरा अधिकार और नियन्त्रण रखते हैं। वे उन्हें आदेश और निर्देश दे सकते हैं जिनका पालन किया जाना चाहिए। सन्देहास्पद मामलों में वाणिज्य दूत उनका परामर्श और निर्देश प्राप्त करता है। यदि स्थानीय सरकार द्वारा वाणिज्य दूतों को कोई कष्ट दिया जाता है तो राजनयिक अधिकारी उनकी रक्षा करते हैं।

वाणिज्य दूतों की नियुक्ति (Appointment of Consuls)

वाणिज्य दूत के पद पर नियुक्ति के लिए आवश्यक योग्यताओं के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम नहीं है। अनेक राज्यों में व्यावसायिक वाणिज्य दूतों के सम्बन्ध में कुछ योग्यताएँ रखी गई हैं। महिला वाणिज्य दूत भी नियुक्त की जा सकती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार कोई भी राज्य वाणिज्यदूतों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है फिर भी सभी राज्यों के व्यापारिक हित इतने शक्तिशाली हैं कि व्यवहार में प्रत्येक राज्य विदेशी वाणिज्य दूतों को स्वीकार करता है। यदि कोई राज्य ऐसा नहीं करता तो उसके वाणिज्य दूतों को भी विदेशों में स्वीकार न किया जाएगा। व्यावसायिक सन्धि में नियमानुसार यह बात रहती है कि समझौता करने वाले राज्य एक दूसरे के प्रदेश में वाणिज्य दूत रख सकेंगे। यदि एक राज्य ने अपने किसी जिले में दूसरे राज्य का वाणिज्य दूत स्वीकार किया है तो वह तीसरे राज्य के वाणिज्य दूत को वहाँ आने से नहीं रोक सकता। यदि एक विशेष जिले में किसी राज्य का वाणिज्य दूत नहीं है तो वहाँ के लिए अन्य राज्य को भी मना किया

जा सकता है। इस प्रकार रूस ने राजनैतिक कारणों से वारसा (Warsaw) में जो अब पोलैण्ड की राजधानी है, वाणिज्य दूतों के प्रवेश पर बहुत समय तक रोक लगाए रखी।

जहाँ तक पूर्ण सम्प्रभु राज्यों का सम्बन्ध है, वे वाणिज्य दूत नियुक्त करने की शक्ति रखते हैं। अपूर्ण सम्प्रभु राज्यों के सम्बन्ध में प्रत्येक बात विशेष मामले पर निर्भर करती है। संघ राज्य की इकाइयों के सम्बन्ध में इस प्रश्न को उसके संविधान द्वारा तय किया जाता है।

वाणिज्य दूतों की नियुक्ति एक आयोग द्वारा की जाती है। उप-वाणिज्य दूत कभी-कभी और व्यावसायिक एजेन्ट हमेशा वाणिज्य दूत द्वारा नियुक्ति किए जाते हैं तथा इन पर सरकार की स्वीकृति ली जाती है। वाणिज्य दूत की नियुक्ति वाणिज्य, उद्योग एवं नौ-चालन के हित में की जाती है। इसका राजनैतिक परिणामों के बिना केवल स्थानीय महत्त्व होता है। किसी जिले में वाणिज्य दूत की नियुक्ति अप्रत्यक्ष रूप से नवनिर्मित राज्य को मान्यता नहीं देती। यद्यपि आजकल इसके पक्ष में मत *प्रतिपादित किया जाता है। यह कहा जाता है कि वाणिज्य दूत केवल राज्य को ही* भेजा जा सकता है और इसके माध्यम से अप्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हो जाता है।

वाणिज्य दूतों के कार्य (Functions of Consuls)

यद्यपि वाणिज्य दूतों की नियुक्ति व्यवसाय, उद्योग और नौचालन के हित में की जाती है फिर भी इन्हें दूसरे उद्देश्यों की दृष्टि से अन्य कार्य भी सौंपे जाते हैं। इन कार्यों के विस्तार के सम्बन्ध में तटकर, व्यावसायिक एवं वाणिज्य दूत की सन्धियाँ, राष्ट्रीय कानून आदि में व्यवस्था की जाती है। वाणिज्य दूतों द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों का निम्न प्रकार से उल्लेख किया जा सकता है—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत प्रेषक राज्य एवं उसके राष्ट्रिकों के हितों की ग्रहणकर्त्ता राज्य में रक्षा करना।

(2) *दोनों देशों के बीच व्यापार को प्रोत्साहित करना और आर्थिक,* सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक सम्बन्धों का विकास करना।

(3) प्रेषक राज्यों की सरकार के लिए ग्रहणकर्त्ता राज्य के आर्थिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक जीवन के विकास की परिस्थितियों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देना। रुचिशील व्यक्तियों एवं फर्मों के लिए भी इसकी सूचना देना।

(4) प्रेषक राज्यों के राष्ट्रिकों को पारपत्र एवं यात्रा सम्बन्धी कागज प्रसारित करना और उस राज्य की यात्रा के इच्छुक लोगों को वीसा तथा ऐसे ही दूसरे आलेख सौंपना।

(5) प्रेषक राज्य के राष्ट्रिकों की सभी वैध तरीकों से पूरी-पूरी सहायता *करना।*

(6) लिखित पत्रों को प्रमाणित करने वाले एवं नागरिक पंजीकरणकर्त्ता के रूप में कार्य करना तथा कुछ प्रशासनिक कार्य सम्पन्न करना। ग्रहणकर्त्ता

राज्य के प्रदेश में प्रेषक राज्य के राष्ट्रिकों के उत्तराधिकार सम्बन्धी हितों की रक्षा करना।

(7) ग्रहणकर्त्ता राज्य के न्यायालयों एवं अन्य अधिकारियों के सामने प्रेषक राज्य के उन राष्ट्रिकों का प्रतिनिधित्व करना जो किसी कारणवश अपने अधिकारों की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इस प्रकार ग्रहणकर्त्ता राज्य के कानून के अनुसार इन अधिकारों की प्राविधिक रूप से रक्षा की जा सकती है।

(8) प्रेषक राज्य के न्यायालयों के लिए प्रमाण देने हेतु न्यायिक प्रालेखों अथवा कार्यकारी आयोगों के रूप में स्थित सन्धियों या ग्रहणकर्त्ता राज्य के कानूनों के अनुसार कार्य करना।

(9) प्रेषक राज्य की राष्ट्रीयता वाले जलपोतों, उस राज्य में पञ्जीकृत यानों एवं पनडुब्बियों का ग्रहणकर्त्ता राज्य के कानूनों एवं विनियमों के अन्तर्गत पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण करना, जहाज के कागजों की परीक्षा करना तथा उन पर मोहर लगाना अन्य यात्रा के दौरान घटने वाली किसी भी घटना की जाँच पड़ताल करना, जहाज के मालिक, नौकरों एवं नाविकों के झगड़ों को यथासम्भव प्रेषक राज्य के कानून के अनुसार तय करना।

कभी-कभी प्रेषक राज्य एक वाणिज्य दूत को तीसरे राज्य में अपने कार्य सम्पन्न करने की शक्ति भी सौंप देता है। यह अन्य दोनों राज्यों की सहमति के बाद ही किया जाता है।

वाणिज्य दूतों के विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ
(Privileges and Immunities of Consuls)

वाणिज्य दूत राजनयिकों की सी स्थिति नहीं रखते। व्यवहार में कोई राज्य विदेशी वाणिज्य दूतों को राजनयिकों जैसे विशेषाधिकार नहीं सौंपते। दूसरी ओर यह कहना भी गलत है कि उनकी स्थिति जिले के दूसरे लोगों के समान है। इनको विदेशी राज्य द्वारा नियुक्त किया जाता है तथा ग्रहणकर्त्ता राज्य स्वीकार करता है। ये नियुक्तिकर्त्ता राज्य के एजेन्ट माने जाते हैं। वाणिज्य दूत अपने प्रेषक राज्य का सभी अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में प्रतिनिधित्व नहीं करते। इनको केवल सीमित कार्य सौंपे जाते हैं जिनका उद्देश्य केवल स्थानीय होता है। उनकी सार्वजनिक प्रकृति के कारण वे जनसाधारण से भिन्न माने जा सकते हैं। यद्यपि कानूनी रूप से वे किसी विशेषाधिकार का दावा नहीं कर सकते किन्तु जनसाधारण से वे भिन्न होते हैं।

वाणिज्य दूत अपने राज्य के सरकारी अधिकारी होते हैं। वे उसके भौतिक हितों की रक्षा करते हैं। रिवाज के अनुसार उन्हें विशेष सुरक्षा प्रदान की जाती है ताकि वे अपने कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकें। उनका कार्यालय तथा प्रालेख कुछ सीमा तक अनतिक्रम्यता रखते हैं। उपद्रव तथा अशान्ति के समय वाणिज्य दूत पर किया गया आघात उस राज्य के लिए अपमानजनक माना जाता है जिसके हथियार और राष्ट्रीय ध्वजा उस भवन पर स्थित हैं। यदि वाणिज्य दूत राजनयिक एजेन्ट भी है तो इसके लिए मुआवजे की माँग की जाएगी।

वाणिज्य दूतो के विशेषाधिकारो का आधार कानून न होकर अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य है। वाणिज्य दूतो के सम्बन्ध मे विभिन्न राज्यो मे की जाने वाली सन्धियो मे भी इनके विशेषाधिकारो का उल्लेख कर दिया जाता है। इनके सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातें महत्त्वपूर्ण हैं—

1 व्यावसायिक और गैर-व्यावसायिक वाणिज्य दूतो के बीच प्राय. भेद किया जाता है। प्रथम श्रेणी वालों को अधिक विशेषाधिकार सौंपे जाते हैं।

2 वाणिज्य दूतो को स्थानीय दीवानी और फौजदारी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त नही किया जाता किन्तु व्यावसायिक वाणिज्य दूतों पर फौजदारी क्षेत्राधिकार प्राय गम्भीर प्रकृति के अपराधो तक सीमित रहता है।

3 अनेक सन्धियों मे यह प्रतिपादित किया जाता है कि वाणिज्य दूतों के कागज-पत्र अनतिक्रम्य होगे और उनकी जाँच नहीं की जाएगी। वाणिज्य दूतो को अपने कार्यालय के आलेख और पत्र-व्यवहार अपने निजी कागजो से अलग रखने चाहिएँ।

4. वाणिज्य दूत का भवन भी कभी-कभी अनतिक्रम्य माना जाता है। स्थानीय पुलिस न्यायालय आदि का कोई भी अधिकारी वाणिज्य दूत की विशेष अनुमति के बिना इन भवनो मे प्रवेश नही कर सकता। वाणिज्य दूत का यह कर्त्तव्य है कि इन भवनों मे शरण लेने वाले अपराधियो का समर्पण कर दे।

5 व्यावसायिक वाणिज्य दूतों को प्राय' सभी प्रकार के करों और चुंगियों से मुक्त रखा जाता है। वे गवाह के रूप मे न्यायालय मे उपस्थित होने के लिए बाध्य नही हैं। वे अपने प्रमाणो को या तो लिखित रूप मे भेज सकते हैं अथवा किसी आयोग द्वारा उसके भवन में गवाही ली जा सकती है।

6. सभी प्रकार के वाणिज्य दूत अपने भवन के दरवाजे पर नियुक्तिकर्त्ता राज्य के हथियार रख सकते हैं और भवन पर राष्ट्रीय ध्वज फहरा सकते हैं।

7 राजनयिक एजेन्टों की भाँति वाणिज्य दूतावास के अधिकारियों को ग्रहणकर्त्ता राज्य द्वारा विशेष सुरक्षा प्रदान की जाती है और उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता है। उनके शरीर, स्वतन्त्रता और सम्मान पर होने वाले आक्रमण को रोकने के लिए सभी उचित कदम उठाए जाते हैं। वाणिज्य दूतावास के सदस्य, उनके परिवार और व्यक्तिगत सेवीवर्ग को ग्रहणकर्त्ता राज्य के नियमो तथा कानूनों से मुक्त रखा जाता है। निवास की अनुमति विदेशियो का पञ्जीकरण और कार्य की अनुमति से सम्बन्धित नियम उस पर लागू नहीं होते।

8 सक्रमण काल म राजनयिकों को अनेक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं किन्तु वाणिज्य दूतो की स्थिति अस्पष्ट है। रिवाजी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम ऐसा नही है जो तीसरे राज्य को अपने प्रदेश मे होकर वाणिज्य दूतों को निकलने की अनुमति देता हो। यह विशेषाधिकार अब स्थापित किया गया है।

वाणिज्य दूतो के उपर्युक्त अधिकार के वर्णन के साथ यह जानना उपयुक्त है

कि इनका उपभोग करने वाले वाणिज्य दूतावास के सभी सदस्यों का यह मौलिक कर्त्तव्य है कि ग्रहणकर्त्ता राज्य के नियमों और कानूनों का आदर करें। वाणिज्य दूतावास के प्रदेश का प्रयोग ऐसे रूप में नहीं करना चाहिए जो वाणिज्य दूत के कार्यों से असंगत है। विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों का उपभोग करने वाले वाणिज्य दूत अधिकारियों और दूसरे लोगों को ग्रहणकर्ता राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

युद्ध के समय वाणिज्य दूतों का स्तर
(Status of Consuls in time of War)

युद्ध के समय वाणिज्य दूतावास के अधिकारियों का स्तर अनेक विशेष समस्याएं उत्पन्न करता है। प्रेषक अथवा ग्रहणकर्त्ता राज्य वाणिज्य दूतों को किसी अन्य स्थान पर भेज सकता है। आक्रमण करने वाला युद्धकारी स्वयं यह निर्णय लेता है कि हस्तगत किए गए शत्रु के प्रदेश में निष्पक्ष वाणिज्य दूतों को रहने और काम करने दिया जाए अथवा नहीं। यदि वाणिज्य दूतों को रहने की अनुमति दे दी जाती है तो उन्हें नए स्वीकृति पत्रों की आवश्यकता नहीं होती। 19वीं शताब्दी के मध्य तक युद्धकारी पक्षों के बीच व्यावसायिक सम्बन्धों का प्रचलन पर्याप्त था। आर्थिक युद्ध के विकास और शत्रु के प्रत्येक नागरिक को अपना शत्रु मानने की धारणा ने इस विवाद को ठुकरा दिया। पिछली शताब्दी के दौरान दो राज्यों के बीच मनमुटाव पैदा होने पर न केवल राजनयिक सम्बन्ध टूट जाते हैं वरन् युद्धकारी राज्यों के सभी व्यावसायिक सम्बन्ध भी रुक जाते हैं।

वाणिज्य दूतावास की समाप्ति
(Termination of Consular Office)

वाणिज्य दूत का कार्यालय अनेक कारणों से समाप्त हो जाता है। इनमें से कुछ कारण सन्देहास्पद हैं जबकि दूसरे कारण सन्देहहीन हैं। सन्देहहीन कारणों में सामान्य रूप से मान्य हैं—वाणिज्य दूत की मृत्यु, वापिस बुला लेना या पद से हटा देना, नियुक्तिकर्त्ता एवं स्वागतकर्त्ता राज्य के बीच युद्ध छिड़ जाना आदि। जब वाणिज्य दूत की मृत्यु हो जाए अथवा दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ जाए तो उसके ग्रन्थागारों (Archives) को स्थानीय अधिकारियों द्वारा नहीं छेड़ा जाना चाहिए। वे या तो वाणिज्य दूतावास के किसी कर्मचारी की देख-रेख में रहें अथवा दूसरे राज्य के वाणिज्य दूत को सम्भला दिए जाएँ, जब तक कि उत्तराधिकारी न आ जाए अथवा शान्ति स्थापित न हो जाए।

कुछ ऐसी परिस्थितियाँ एवं कारण भी हैं जिनके उपस्थित होने पर वाणिज्य दूत का कार्यालय बन्द हो भी सकता है और नहीं भी। जब सम्बन्धित जिला क्रान्ति, विद्रोह या आक्रमण के कारण दूसरे राज्य में मिल या उसके अधिकार में चला जाए तो वाणिज्य दूत के कार्यालय का रहना या न रहना निश्चित नहीं होता। सामान्यतः वह समाप्त ही हो जाता है क्योंकि नई सत्ता पुरानी सत्ता द्वारा स्वीकृत वाणिज्य दूत को प्रायः स्वीकार नहीं करती।

राज्य का प्रध्यक्ष प्रथवा राजनीतिक व्यवस्था बदलने पर वाणिज्य दूत का कार्यालय समाप्त नहीं होता। न तो नई नियुक्तियाँ करनी पडती हैं प्रौर न नए प्रत्यय-पत्र देने पडते हैं।

वाणिज्य दूतो के सम्बन्ध मे 1963 का वियना प्रभिसमय प्रनेक नई व्यवस्थाएँ करता है। सयुक्त राष्ट्रसघ की महासभा के 18 दिसम्बर, 1961 के प्रस्ताव पर वियना मे 4 मार्च, 1963 से 23 प्रप्रेल, 1963 तक एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद एक समझौता स्वीकार हुप्रा। यह वियना प्रभिसमय वाणिज्य दूतो की श्रेणियों, विशेषाधिकारों, उन्मुक्तियों, उद्देश्यो एव कार्य सचालन प्रादि विषयों के सम्बन्ध मे नियमन करता है। प्रो. ब्रायर्ली ने इसे प्रन्तर्राष्ट्रीय कानून मे प्रगतिशील विकास के कई नए तत्त्वों को समावेश करने वाला बताया है।

16 सन्धियाँ एवं अन्तर्राष्ट्रीय समझौते

(Treaties and International Agreements)

सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्त्वपूर्ण स्रोत होती हैं। ग्रोशियस के समय से लेकर अब तक के लेखक राज्यों के आपसी सम्बन्धों को प्रशासित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का विकास करने के लिए व्यक्तियों के समझौते को नियमित करने वाले दीवानी कानून के नियमों पर आश्रित रहे हैं। इसका कारण यह है कि समझौते के दोनों रूपों के बीच पर्याप्त एकरूपता पाई जाती है। ग्रोशियस तथा वेटिल के समय सम्प्रभुता एकछत्र राजाओं के हाथ में रहती थी। सांविधानिक सरकार की स्थापना के बाद व्यक्तियों के निजी समझौते और राज्यों के बीच होने वाले समझौतों की निकटता धीरे-धीरे कम होती गई। आज भी इन एकरूपताओं में से लिए गए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को अविकृत रूप से उद्धृत किया जाता है।

व्यक्तियों की भाँति राज्य भी अपनी स्वीकृति से कानूनी अधिकारों और कर्त्तव्यों की स्थापना करते हैं। सन्धियाँ राज्यों के बीच होने वाली संविदाएँ मानी जा सकती हैं। संक्षेप में इन्हें परिभाषित करते हुए ऐसे समझौते कहा जा सकता है जिनके द्वारा राज्य अपने बीच एक कानूनी सम्बन्ध की स्थापना का प्रयास करते हैं। सन्धियों द्वारा राज्य पारस्परिक रूप से अपने बीच अधिकारों और कर्त्तव्यों की स्थापना करते हैं। प्रो. ओपेनहेम के कथनानुसार—"अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ वे परम्पराएँ या संविदाएँ हैं जो दो अथवा दो से अधिक राज्यों के बीच हित के विभिन्न विषयों से सम्बन्ध रखने के लिए की जाती हैं।" अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास से पुराना है। उस समय की सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित नहीं होती थीं। इनको धार्मिक और नैतिक भावना के कारण पवित्र तथा बाध्यकारी माना जाता था। उस समय राज्यों के बीच इतने बहुरूपी सम्बन्ध नहीं थे। अतः सन्धियाँ मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न नहीं करती थीं।

सन्धि और संविदा परस्पर सम्बन्धित होते हुए भी एक नहीं हैं। सन्धियाँ अनेक बार केवल संविदाओं से कुछ अधिक होती हैं। इनके द्वारा कानून के ऐसे

नियम बनाए जाते हैं जो इन पर हस्ताक्षर न करने वाले राज्यों पर भी बाध्यकारी होते हैं। संविदा अनुचित दबाव डालकर किया जाता है तो उसकी वैधता समाप्त हो जाती है किन्तु सन्धि के बारे में ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए वर्साय की सन्धि का नाम लिया जा सकता है। इसमें जर्मनी को मित्र राष्ट्रों के सैनिक दबाव द्वारा कुछ शर्तें मानने के लिए मजबूर किया गया था। युद्ध के बाद विजेता और विजित राज्यों के बीच होने वाली सन्धियों में हमेशा एक पक्ष को दूसरे पक्ष की शर्तें मानने के लिए बाध्य किया जाता है। सामान्य नियम के अनुसार सन्धियाँ उन राज्यों पर बाध्यकारी दायित्व डालती हैं जो इसके पक्ष हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मौलिक नियम है कि राज्यों ने जो दायित्व अपने ऊपर लिए हैं उनका वे सद्भावना के साथ पालन करेंगे।

सन्धि के दोनों पक्ष राज्य होने चाहिए अन्यथा वह सन्धि नहीं मानी जाएगी। यदि एक पक्ष व्यक्ति अथवा कोई कम्पनी है तो इसे सन्धि न कहकर केवल संविदा कहेंगे। किसी राज्य और अन्तर्राष्ट्रीय निकाय के बीच होने वाले संविदा को सन्धि कहा जा सकता है।

सन्धियों की शब्दावली
(Terminology of Treaties)

सन्धियों जैसी प्रकृति के *अन्तर्राष्ट्रीय समझौते विभिन्न नामों से जाने जाते* हैं। इनका अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अपना महत्त्व है। इनमें से कुछ नाम तो केवल औपचारिकता की मात्रा का ही दिग्दर्शन करते हैं। ये सभी किसी न किसी रूप में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों या सन्धियों का ही अर्थ देते हैं जिस प्रकार 'सन्धि' के लिए दूसरे शब्दों का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार सन्धि' शब्द भी कुछ अन्य अर्थ प्रकट करता है जैसे—शान्ति, गठबन्धन (Alliance) प्रदेश का हस्तान्तरण आदि। सन्धियों के विभिन्न रूपों का कानूनी महत्त्व संक्षेप में इस प्रकार वर्णित किया जा सकता—

1 अभिसमय (Convention)—इस शब्द का प्रयोग उस समय किया जाता है जब अनेक राज्य समझौते के पक्ष में होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अङ्गों द्वारा स्वीकृत साधनों को भी यह इंगित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I L O) जैसे संगठनों में विभिन्न राज्य कुछ विषयों पर समझौते करते हैं वे *अभिसमय कहलाते हैं।*

2. प्रोटोकोल (Protocol)—यह फ्रांसीसी भाषा का शब्द है। इसका अर्थ किसी पाण्डुलिपि के प्रारम्भ में चिपकाया गया प्रथम पृष्ठ तथा मूल प्रति है। यह जिस समझौते को इंगित करता है वह सन्धि या अभिसमय से कम औपचारिक होता है। राजनयिक भाषा में यह सन्धि का पूर्वगामी है। इसका अर्थ हस्ताक्षर युक्त ऐसे लेख पत्र से है जिसमें अन्तिम सन्धि से पूर्व दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृत बातों का उल्लेख होता है। स्टार्क के कथनानुसार यह कभी भी दो राज्याध्यक्षों के बीच [illegible]

(Instruments) शामिल किए जाते हैं--(A) एक अभिसमय का सहायक लेख जो उन्हीं समझौता-कर्त्ताओं द्वारा तैयार किया गया हो। यह अनुपूरक प्रकृति का लेख होता है जो अभिसमय को व्यवस्था करने के लिए अथवा अन्य छोटे उद्देश्य के लिए तैयार किया जाता है। (B) किसी अभिसमय का सहायक (Auxillary) किन्तु स्वतन्त्र प्रकृति एवं सचालन वाला लेख। इसके लिए पृथक् स्वीकृति की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए 1930 का हेग प्रोटोकोल। यह राज्यहीनता से सम्बन्धित था और राष्ट्रीयता कानून के सदर्भ के अभिसमय का सहगामी था। (C) एक सर्वथा नवीन सन्धि, उदाहरण के लिए 1924 का जेनेवा प्रोटोकोल। इसको राजनयिक सम्मेलन ने नहीं वरन् राष्ट्रसंघ की महासभा ने स्वीकार किया था। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थाई न्यायालय से सम्बन्धित कुछ प्रोटोकोल भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। (D) समझौता-वार्ता के समय कुछ स्वीकार की गई बातों का अभिलेख।

3. समझौता (Agreement)—यह सन्धि या अभिसमय की अपेक्षा कम औपचारिक होता है तथा राज्यों के अध्यक्षों के बीच नहीं होता। इसका क्षेत्र अत्यन्त सकुचित होता है और साधारण अभिसमय की अपेक्षा इसे स्वीकार करने वाले राज्यों की संख्या कम होती है। इन पर अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती।

4 प्रबन्ध (Arrangement)—सन्धि या अभिसमय की अपेक्षा यह कम औपचारिक होता है और सीमित उद्देश्य की पूर्ति करता है। यह अस्थाई प्रकृति के समझौतों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसके लिए अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती।

5 प्रामाणिक विवरण (Process-Verbal)—यह दो पक्षों के बीच होने वाले समझौते की शर्तों का अभिलेख है। इस शब्द का प्रयोग विनिमय, जमा, अनुसमर्थन और प्रशासनिक समझौते के अभिलेख के लिए भी किया जाता है। उदाहरण के लिए 1892 के इटली और स्विट्जरलैण्ड के बीच ज्यूरिख में हुए व्यापारिक समझौते का नाम लिया जा सकता है। इसके लिए सामान्यतः अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती।

6 परिनियम (Statute)—इस शब्द के अन्तर्गत मुख्यत तीन बातों को सम्मिलित किया जाता है—(A) किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के कार्य से सम्बन्धित आवश्यक नियमों का संग्रह, (B) अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा बनाए गए नियमों का संग्रह, (C) किसी अभिसमय का सहायक लेख जिसमें लागू किये जाने वाले नियमों का उल्लेख हो।

7 घोषणा (Declaration)—यह शब्द भी तीन अर्थ रखता है—(अ) सन्धि (ब) किसी सन्धि अथवा अभिसमय के साथ सलग्न उसकी व्याख्या करने वाला औपचारिक लेख (स) कम महत्त्व वाले विषय के सम्बन्ध में किया गया अनौपचारिक समझौता। इसका अनुसमर्थन आवश्यक है भी और नहीं भी।

8 अस्थाई प्रणाली (Modus Vivendi)—यह एक ऐसा लेख है जो

अस्थायी या प्राविधिक प्रकृति के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते का वर्णन करना है। बाद में इसके स्थान पर अधिक स्थाई और व्यापक प्रकृति की व्यवस्था की जा सकती है। इसका अनुसमर्थन आवश्यक नहीं है।

9 **सपत्रों का विनिमय (Exchange of Notes)**—इनमें राज्य के राजनयिक प्रतिनिधियों द्वारा कुछ विषयों के सम्बन्ध में किया गया समझौता होता है। प्राय: ऐसे दायित्वों का निर्देश करते हैं जिनका पालन करना राज्य आवश्यक समझते हैं।

10 **अन्तिम कानून (Final Act)**—यह एक अभिसमय बनाने के लिए बुलाए गए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की प्रक्रियाओं का अभिलेख होता है। इसमें सम्मेलन का उद्देश्य, उसकी शक्तियाँ और विचार-विमर्श के परिणाम का अभिलेख रहता है। सम्मेलन के प्रस्ताव, सिफारिशें और घोषणाएँ इस अन्तिम अधिनियम में स्थान पाती हैं। कभी-कभी सम्मेलन में अपनाए गए प्रावधानों की व्याख्या के नियम भी इसमें रखे जाते हैं। इस पर हस्ताक्षर होते हैं किन्तु अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती है।

11. **सामान्य कानून (General Act)**—यह यथार्थ में एक सन्धि होता है किन्तु इसकी प्रकृति औपचारिक या अनौपचारिक दोनों प्रकार की हो सकती है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रसंघ की महासभा ने 1928 में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्वक निपटाने के लिए पंच-निर्णय का सामान्य कानून (General Act) पास किया था।

सन्धियों का वर्गीकरण
(Classification of Treaties)

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ विभिन्न उद्देश्यों के लिए की जाती हैं। इनकी दृष्टि से सन्धियों को विभिन्न भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। अनगिनत उद्देश्यों के लिए ये सन्धियाँ निरन्तर की जा रही हैं। सन्धियों के वर्गीकरण के अनेक प्रयास किए गए हैं किन्तु वे असफल रहे। प्रो. ओपेनहैम ने इन्हें मोटे रूप से दो वर्गों में विभाजित किया है। प्रथम वर्ग में अनेक राज्यों के आचरण के सामान्य नियमों को निर्धारित करने वाली सन्धियाँ आती हैं। इनको कानून निर्माता सन्धि (Law Making Treaty) कहा जाता है। दूसरे वर्ग में वे सन्धियाँ आती हैं जो किसी अन्य उद्देश्य के लिए की जाती हैं। ओपेनहेम के मतानुसार सैद्धान्तिक रूप से यह विभाजन गलत है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कानून निर्माता और अन्य सन्धियों का यह अन्तर केवल सुविधा के लिए है। सिद्धान्त रूप से सभी सन्धियाँ कानून निर्माता होती हैं।

सन्धियों को उद्देश्यों की दृष्टि से कई भागों में वर्गीकृत किया जाता है। भारतीय ग्रन्थ कामन्दकीय नीतिसार में 16 प्रकार की सन्धियों का उल्लेख किया गया है—द्रव्य सन्धि, सन्तान सन्धि, कपाल सन्धि, उपग्रह सन्धि, मित्र सन्धि, हिरण्य सन्धि, भूमि सन्धि आदि-आदि। कौटिल्य ने सन्धियों के चल और स्थावर दो वर्गों का उल्लेख किया है। जिस सन्धि के साथ शपथपूर्वक उसके पालन के वचन रहते हैं

उसे चल सन्धि कहा जाता है। स्थावर सन्धि वह होती है जिनमे उसके पालन के लिए किसी की जमानत ली जाती है। आधुनिक विधि-शास्त्रियो ने सन्धियो का वर्गीकरण उनकी प्रकृति, प्रभाव, उद्देश्य-स्वरूप और विषय-वस्तु की दृष्टि से किया है।

उद्देश्य की दृष्टि से सन्धियों को मित्रता की सन्धि, शान्ति सन्धि, तटस्थता की गारण्टी देने वाली सन्धि, व्यापार सन्धि आदि के रूप मे वर्गीकृत किया जाता है।

हालैण्ड ने सन्धियो का विभाजन विषय की दृष्टि से किया है। वह इन्हे पाँच भागो मे वर्गीकृत करता है।

(क) राजनीतिक सन्धियाँ—इस वर्ग मे वे सन्धियाँ आती हैं जिनका सम्बन्ध मित्रता, मान्यता सीमा शान्ति, देशीयकरण आदि से होता है।

(ख) व्यापारिक सन्धियाँ—इन सन्धियो का सम्बन्ध नौ-चालन, वाणिज्य और मछलीगाह आदि से होता है।

(ग) सामाजिक सन्धियाँ—इस प्रकार की सन्धियाँ विभिन्न राज्यो मे पारस्परिक व्यवहार की सुविधाओ को बढाती हैं।

(घ) दीवानी न्याय की सन्धियाँ—इन सन्धियो का सम्बन्ध दीवानी न्याय से होता है। उदाहरण के लिए, 1880 की पेटेन्ट और ट्रेड मार्क की सन्धि तथा 1856 की कापी राइट की सन्धि का नाम लिया जा सकता है।

(ङ) फौजदारी न्याय विषयक सन्धियाँ—इस शीर्षक के अन्तर्गत उन सन्धियो को लिया जाता है जिनका सम्बन्ध फौजदारी न्याय से होता है। उदाहरण के लिए, भगोडे अपराधियों के प्रत्यर्पण से सम्बन्धित सन्धियाँ।

सन्धियो के उक्त रूपो के अतिरिक्त वास्तविक व्यवहार मे कुछ अन्य प्रकार की सन्धियाँ भी आती हैं। सन्धियो के ये प्रकार निम्नलिखित हैं—

1 द्विपक्षीय सन्धियाँ—अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर दो राज्यो के बीच होने वाली सन्धि को द्वि-पक्षीय सन्धियाँ कहा जाता है। अनेक द्विपक्षीय सन्धियाँ व्यक्तिगत नागरिको के निजी समझौतों से समानता रखती हैं। द्वि-पक्षीय सन्धियाँ प्राय: निजी सविदा होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत नही होती। जिन विभिन्न विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई स्पष्ट नियम नही है। उनके बारे मे व्यवस्था करने की दृष्टि से ये द्वि-पक्षीय सन्धियाँ महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं।

2 बहुपक्षीय कानून निर्माता सन्धियाँ—द्वि-पक्षीय सन्धियों से भिन्न बहुपक्षीय अथवा सामान्य सन्धियाँ होती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—कानून निर्माता सन्धियाँ तथा राज्यों के आर्थिक और सामाजिक हितो पर विचार करने वाली सन्धियाँ। कानून निर्माता सन्धियाँ दोनो पक्षों की सामान्य इच्छा को अभिव्यक्त करती हैं। इनमें से अधिकांश राज्यो के राजनीतिक हितों पर विचार करती हैं और अधिकारो तथा कर्त्तव्यों को परिभाषित करके विरोधी दावों के बीच सामजस्य स्थापित करती हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नए सिद्धान्त प्रतिपादित करती हैं। उदाहरण के लिए 1815 की वियना कांग्रेस के अन्तिम अधिनियम का नाम लिया

जा सकता है। हस्ताक्षरकर्त्ता शक्तियो मे अपनी प्रभावशाली स्थिति के कारण यह शीघ्र ही सम्पूर्ण योरोप का कानून बन गया। 1856 की पेरिस की घोषणा यद्यपि कुछ राज्यों के छोटे से समूह के द्वारा की गई थी, किन्तु दूसरे राज्यो के लिए भी सामान्य कानून निर्माता सन्धि बन गई। 1899 और 1907 के हेग अभिसमय उन्हें स्वीकार करने वाले राज्यों के बीच कानून निर्माता सन्धियाँ बन गए। राष्ट्रसघ का घोषणा-पत्र भी इसी प्रकार की कानून-निर्माण सन्धि थी। इसके स्थान पर सयुक्त राष्ट्रसघ का चार्टर अधिक व्यापक, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापन प्रालेख के रूप में आया।

3 शान्ति सन्धियाँ—युद्ध के बाद शान्ति सन्धियाँ की जाती हैं। प्रारम्भ से ही यह परम्परा रही है कि हारे हुए प्रशासक उन सन्धियो पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य होते थे जिनकी शर्तें विजेता द्वारा मनमुटाव को दूर करने के लिए निर्धारित की जाती थीं। ग्रोशियस ने इस प्रकार की सन्धियों के औचित्य को मान्यता दी है। इन्हें उसने समानता के सामान्य सिद्धान्त का अपवाद माना है। वेटिल ने इन सन्धियों के लिए सद्-विश्वास के सिद्धान्त लागू करने की बात कही। ये सन्धियाँ जिस समय की जाती हैं उस समय विजेता राज्य कुछ भी करने की शक्ति रखता है। वह पूर्ण विनाश न करके शान्ति सन्धियो के मार्ग को अपनाता है। यह उसकी नेकनीयती है। शान्ति सन्धि एक प्रकार से हारे हुए पक्ष द्वारा भुगतान की गई कीमत है जो युद्ध छेड़ने के बदले दी जाती है। वर्साय की सन्धि को उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है।

4 गारण्टी देने वाली सन्धियाँ—1920 मे राष्ट्रसघ की स्थापना से पूर्व न्याय-वेत्ताओं ने गारण्टी की सन्धियों के दायित्वों के क्षेत्र पर विस्तार के साथ विचार किया। ये सन्धियाँ विशेष राजनीतिक स्थितियो की स्थापना तथा दायित्वों के निर्वाह के लिए विशेष दबावों की रचना के हेतु की गई थीं। स्विट्जरलैण्ड और बेल्जियम की तटस्थता की गारण्टी दी गई। यह सभी पक्षों द्वारा दी गई सामूहिक गारण्टी थी। इसके अनुसार सन्धि मे शामिल होने वाले राज्य मिल-जुल कर कार्य करेंगे ताकि सन्धि के प्रावधानो को लागू किया जा सके।

अवैध सन्धियाँ
(Invalid Treaties)

सन्धियों के अवैध होने के कई कारण हैं—

1 अन्तर्राष्ट्रीय कानून विरोधी—यदि कोई सन्धि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वीकृत नियमों के विरुद्ध होती है तो वह अवैध है। यह परम्परा विकसित हो रही है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून यदि कानून है तो उसके नियम सदस्य-राज्यों द्वारा मान्य होने चाहिए और उनका उल्लघन या अवहेलना अनुचित ठहराई जानी चाहिए। यहाँ कठिनाई यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के व्यवहार की व्याख्या अलग-अलग की जाती है और इसलिए उल्लघन को भी वैध ठहराया जा सकता है।

यह भी [illegible] सत्य है कि जब दो या दो से अधिक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय अपराध करते हैं तो तीसरे राज्यों का सद्-विश्वास उनको प्राप्त नहीं हो पाता।

अनुचित एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून विरोधी सन्धियाँ अन्य राज्यों द्वारा निन्दनीय दृष्टि से देखी जाती हैं, किन्तु कालान्तर में उन्हें तथ्य मानकर स्वीकार कर लिया जाता है। जिन अनुचित सन्धियों से तीसरे राज्य का प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत स्वार्थ सलग्न है उन्हें वे तुरन्त ठुकरा देते हैं। वे उसे न केवल अनुचित मानते हैं वरन् अपने अधिकारों पर एक आघात समझते हैं।

2. **अनैतिक उत्तरदायित्व**—जो सन्धियाँ सार्वजनिक नैतिकता विरोधी होती हैं वे स्वयं ही अवैध बन जाती हैं। उदाहरण के लिए, यदि तीसरे पक्ष पर आक्रमण करने की दृष्टि से कोई सन्धि की जाय तो वह अवैध है। न्याय और नैतिकता विरोधी होने पर एक सन्धि के प्रावधान वैध नहीं कहे जा सकते। 1907 की सन्धि में ग्रेट-ब्रिटेन और रूस ने अशिया की स्वीकृति के बिना इस देश में अपने स्वार्थों के क्षेत्र का विभाजन कर लिया तथा एक दूसरे के क्षेत्र का आदर करने पर सहमत हुए। यह सन्धि अशिया की सम्प्रभुता पर गम्भीर आघात थी और अशिया की घरेलू स्थिति इस अन्याय का विरोध करने योग्य नहीं थी और अन्तर्राष्ट्रीय जनमत इसमें कम रुचि लेता था।

3. **असम्भवता**—यदि सन्धि की शर्तें व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव हैं तथा उनको क्रियान्वित नहीं किया जा सकता तो वह अवैध मानी जाएँगी।

4. **अनुचित दबाव**—सन्धि में सम्बन्धित पक्षों की सहमति उपयुक्त है। यदि किसी पक्ष को डराकर या धमकाकर या बलपूर्वक सन्धि को स्वीकार कराया जाता है तो वह सन्धि अवैध मानी जाएगी। ऐसी सन्धि का पालन करना अनिवार्य नहीं होता। सम्बन्धित राज्य उसे यह कहकर ठुकरा सकता है कि उसकी सहमति सन्धि के साथ नहीं थी।

5. **धोखा**—यदि एक सन्धि में किसी पक्ष ने धोखा किया है या तथ्यों पर परदा डालकर वस्तु स्थिति को गलत रूप में प्रस्तुत किया है तो प्रभावित पक्ष उसे मानने के लिए बाध्य नहीं होगा। राष्ट्रीय कानून में ऐसे समझौतों को अवैध माना जाता है। उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी इस प्रकार की सन्धियाँ अवैध होती हैं। यह नियम सद्भाव के सिद्धान्त से निकाला गया है। धोखा और भ्रान्तिपूर्ण व्यवहार प्राचीन काल में अधिक होता था। आजकल सन्धि वार्ता के समय पूरी सावधानी बरती जाती है तथा उनका पर्याप्त प्रचार किया जाता है, अतः धोखे की सम्भावनाएँ समाप्त हो गई हैं।

6. **कानूनी असमर्थता**—सन्धि के दोनों पक्ष राज्य होते हैं। यदि सन्धिकर्ता राज्य पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न न होकर पराधीन या तटस्थीकृत राज्य है तो वह सन्धि अवैध हो जाएगी।

7. **संयुक्त राष्ट्रसंघ के दायित्वों के विरुद्ध**—यदि कोई सन्धि संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा निर्धारित दायित्वों के विपरीत है तो वह अवैध मानी जाएगी। संघ के चार्टर की धारा 103 में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया है कि सन्धियों तथा संघ के दायित्वों के बीच यदि कभी विरोध पैदा हो जाए तो चार्टर के दायित्व प्रबल माने जाएँगे।

सन्धियों के उद्देश्य
(Objects of Treaties)

सन्धियों का उद्देश्य हमेशा एक या एक से अधिक दायित्व लिए होते हैं जो एक अथवा सभी पक्षों को प्रभावित करते हैं। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि सन्धियों का उद्देश्य राज्यों के हित से सम्बन्धित कोई भी विषय हो सकता है। राज्यों के आपसी सम्पर्क के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अतिरिक्त कोई नियम नहीं है। इसलिए दायित्व डालने वाला प्रत्येक समझौता सन्धि है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार कुछ दायित्व सन्धियों के उद्देश्य नहीं बन सकते। यदि कोई सन्धि ऐसे दायित्व डालती है तो वह अवैध है। सन्धियों के उद्देश्यों की दृष्टि से कुछ बातें उल्लेखनीय हैं—

1. सन्धियों का उद्देश्य केवल समझौता करने वाले पक्षों के दायित्व ही हो सकते हैं। ये सम्बन्धित राज्य अन्य राज्यों को भी कुछ कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं। सन्धि के दायित्व केवल समझौता-कर्त्ता पक्षों पर ही बाध्यकारी होते हैं।

2 सामान्य तथा विशेष सभी सन्धियाँ राज्यों पर बाध्यकारी आचरण के नियम निर्धारित करती हैं। इस प्रकार वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भाग हैं। सन्धि के पक्ष उसके दायित्वों से बंधे रहते हैं और इनके विपरीत कोई व्यवहार नहीं कर सकते। की गई सन्धियाँ पूर्व-स्थित सन्धियों के अनुरूप होनी चाहिए। यदि नई सन्धि के दायित्व स्थित सन्धि के दायित्वों से भिन्न या विपरीत हैं तो सम्बन्धित राज्य उसका विरोध कर सकता है। सन् 1878 में रूस तथा टर्की ने सान स्टीफेनो की शान्ति सन्धि की, जो सन् 1856 की पेरिस की सन्धि और सन् 1871 के लन्दन अभिसमय के विरुद्ध थी। अतः ग्रेट-ब्रिटेन ने इसका विरोध किया।

3 सन्धि का उद्देश्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के दायित्वों का विरोधी नहीं होना चाहिए। संघ के चार्टर के अनुच्छेद 103 के अनुसार यदि दोनों के बीच विरोध है तो चार्टर की धाराएँ मान्य समझी जाएँगी। यह धारा राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और सुदूरगामी है। यह चार्टर के दायित्वों को पूर्ण सर्वोच्चता सौंपती है।

4 सन्धि का उद्देश्य ऐसा होना चाहिए जो उपलब्ध किया जा सके। असम्भव दायित्व सन्धि के उद्देश्य नहीं बनाए जा सकते। यदि ऐसा किया गया तो किसी पक्ष द्वारा सन्धि की अवहेलना करने पर उससे हानि की शिकायत नहीं की जा सकती। कानूनी दृष्टि से इस प्रकार की सन्धि अवैध घोषित की जाएगी।

5. अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि का उद्देश्य अनैतिक नहीं होना चाहिए। अकारण ही तीसरे राज्य पर आक्रमण करने से सम्बन्धित सन्धि बाध्यकारी नहीं मानी जा सकती। यह सच है कि इस प्रकार की अनेक सन्धियाँ अतीत काल में की गई हैं तथा क्रियान्वित हुई हैं किन्तु इससे यह तथ्य नहीं बदल जाता कि यह सन्धियाँ-कर्त्ता पक्षों पर बाध्यकारी नहीं होतीं।

सन्धियों का पालन
(Performance of Treaties)

सन्धियों का पालन उनकी सार्थकता को सिद्ध करता है। इसके लिए प्राचीन काल से ही अनेक उपाय अपनाए जाते रहे हैं—

1 सम्बन्धित पक्ष सन्धि के पालन की शपथ लेते हैं। शपथ का रूप देश की परम्परा और रिवाज के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है। भारतीय राजनीति शास्त्री कौटिल्य के कथनानुसार, प्राचीन काल के राजा अग्नि, जल, किले की ईंट, घोड़े की पीठ, हाथी का कन्धा, रथ का आसन, शास्त्र, रत्न, और चन्दन आदि वस्तुओं का स्पर्श करके शपथ लेते थे। शपथ लेते समय वे यह कहते थे कि जो पक्ष सन्धि का अनादर करे उसे स्पर्श की हुई वस्तु छोड़कर चली जाए। कौटिल्य का मत था कि सन्धियों में ली जाने वाली शपथ सत्य की भाँति स्थाई होनी है और इसलिए उस पर आधारित सन्धि भी स्थाई होगी। सन्धि भंग करने वाले को इस लोक में बदनामी और परलोक में नरक मिलेगा। शपथ लेने की परम्परा आजकल भी है। 19वीं शताब्दी में यह रिवाज क्रमशः समाप्त हो गया। सन् 1777 में फ्रांस और स्विट्जरलैण्ड के बीच हुई एक सन्धि इस परम्परा का अन्तिम उदाहरण कही जाती है।

2 सन्धि पालन का दूसरा उपाय शरीर-बन्धन (Hostages) रखने की परम्परा थी। शपथ की भाँति सन्धियों का यह भी एक पुराना तरीका है। आजकल साधारण उद्देश्यों के लिए यह तरीका व्यवहार में कोई महत्त्व नहीं रखता। इस प्रकार की सन्धि का अन्तिम उदाहरण सन् 1748 की एक्स ला-शेपल की शान्ति सन्धि है। इसमें इंगलैण्ड ने अपने शरीर बन्धक फ्रांस के लिए भेजे। ये फ्रांस में जुलाई, 1749 तक रहे। कौटिल्य का कहना था कि राजा को अपना सुयोग्य पुत्र या अमात्य इस रूप में नहीं भेजना चाहिए।

3. सन्धि का पालन कराने का तीसरा उपाय सम्बन्धित पक्ष की चल सम्पत्ति को गिरवी (Pledge) के रूप में रखना है। एक बार पोलैण्ड ने अपने शाही ताज के कुछ रत्न प्रशिया को गिरवी रखे। आजकल यह परम्परा समाप्त हो गई है।

4. सन्धि पालन कराने का एक अन्य तरीका यह है कि इसके मुगतानों को प्राप्त करने के लिए राज्य की समस्त सम्पत्ति और विशेष कर उसके राजस्व पर कर लगा दिया जाता है। उदाहरण के लिए, जर्मनी के साथ की गई सन् 1919 की शान्ति सन्धि का नाम लिया जा सकता है।

5. अन्य उपाय यह है कि विजेता राज्य हारे हुए राज्य से सन्धि की शर्तों का पालन कराने के लिए उसके कुछ प्रदेश पर अधिकार कर लेता है। उदाहरण के लिए सन् 1871 में जर्मनी की सेनाएँ फ्रांस के प्रदेश पर उस समय तक बनी रहीं जब तक कि उसने फ्रांस से युद्ध का हर्जाना वसूल नहीं कर लिया। वर्साय की सन्धि में भी यही व्यवस्था की गई थी। इसके अनुसार जब तक जर्मनी सन्धि की कुछ शर्तों का पालन न करे तब तक मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ कुछ जर्मन प्रदेशों पर बनी रहेंगी।

6 सन्धियों के पालन का अन्य तरीका यह है प्रत्यक्ष प्रभावित न होने वाले दूसरे राज्य इनकी गारन्टी दें। सन् 1919 में और उसके बाद की गई विभिन्न अल्पसंख्यकों की सन्धियों को राष्ट्रसंघ की गारन्टी के अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है।

7 सन्धियों को लागू कराने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास भी किए जाते हैं। सन्धि तोड़ने वाले पक्ष के विरुद्ध आर्थिक एवं सैनिक दबावों का प्रयोग करके अन्तर्राष्ट्रीय समाज सन्धियों के पालन को सम्भव बना सकता है। राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की धारा 16 में आर्थिक तथा अन्य दबावों का उल्लेख था। जब कोई राज्य मादक दवाओं के सम्बन्ध में किसी समझौते का उल्लंघन करता है तो दूसरे राज्य उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगा देते हैं।

संधियों के प्रभाव
(Effects of Treaties)

सन्धियों का व्यापक प्रभाव होता है जो केवल सन्धि-कर्ता पक्षों तक ही सीमित नहीं रहता। जिन इकाइयों को सन्धियाँ प्रभावित करती हैं वे इस प्रकार हैं—

1 समझौता करने वाले पक्ष—सन्धियों का प्रत्यक्ष प्रभाव समझौता करने वाले पक्षों पर होता है। सन्धि के प्रावधानों से वे बाध्य हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण रूप में वे इसे क्रियान्वित करते हैं। क्रियान्विति की दृष्टि से सन्धि के महत्त्वपूर्ण और गैर-महत्त्वपूर्ण भागों के बीच अन्तर नहीं किया जाता। सन्धि की बाध्यकारी शक्ति उसके सभी भागों पर समान रूप से लागू होती है। इसीलिए सद्-विश्वास के साथ इसे पूर्ण रूप से क्रियान्वित किया जाना चाहिए। यदि सन्धि का कोई पक्ष उसकी किसी धारा विशेष के सम्बन्ध में हस्ताक्षर करते समय ही सहमत नहीं होता तो वह उस पर बाध्यकारी नहीं होगी।

2 सन्धि के पक्षों की प्रजा—सन्धि की बाध्यकारी शक्ति का सम्बन्ध केवल समझौता करने वाले राज्यों से होता है, उनकी प्रजा से नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून मुख्य रूप से *केवल राज्यों के बीच का कानून है। इसलिए नियमानुसार* सन्धियाँ केवल राज्यों पर ही प्रभाव डालती हैं। इन नियमों को सन्धि की शर्तों द्वारा बदला जा सकता है। किसी-किसी सन्धि में राज्य के न्यायालयों, अधिकारियों आदि के सम्बन्ध में प्रावधान रहते हैं। राष्ट्रीय कानून के अनुसार राज्य को इन्हें क्रियान्वित करना चाहिए। इसका तरीका प्रत्येक राज्य का अपना अलग होता है।

3. सरकारी परिवर्तन का सन्धियों पर प्रभाव—सन्धियाँ समझौता करने वाले पक्षों पर बाध्यकारी होती हैं। इसलिए यदि उनकी सरकार बदलती है या सरकार का रूप बदलता है तो नियमानुसार सन्धि की बाध्यकारी शक्ति पर इसका कोई प्रभाव नहीं होगा। संवैधानिक सरकार का मन्त्रिमण्डल बदल जाने पर भी पूर्व मन्त्रिमण्डल द्वारा की गई सन्धियाँ क्रियान्वित की जाएँगी। राज्य का अध्यक्ष अपने पूर्ववर्ती द्वारा की गई सन्धियों की अवहेलना नहीं कर सकता। जब 'राजतन्त्र' गणराज्य में और 'गणराज्य' राजतन्त्र में बदलता है तो भी सन्धि के प्रावधान यथावत् बने रहते हैं। यदि कोई सन्धि सरकार के किसी विशेष रूप की माँग करती

यह तो स्वाभाविक है कि उस रूप के बदल जाने पर सन्धि को लागू करना असम्भव बन जाएगा।

4 तीसरे राज्यों पर प्रभाव--नियमानुसार सन्धि का सम्बन्ध केवल समझौता करने वाले पक्षों से रहता है। जो पक्ष सन्धि मे शामिल नहीं है उनके अधिकार या कर्त्तव्य सन्धि मे से नहीं निकलते। तीसरे राज्यों से एक सन्धि केवल तभी सम्बन्ध रखती है जब उसने उनके किसी पूर्व सन्धि द्वारा प्राप्त अधिकारों पर प्रभाव डाला हो।

कुछ सन्धियाँ अपवाद रूप मे ऐसी होती हैं जो तीसरे राज्यों पर भी कुछ दायित्व डालती है। इनको अपनी स्पष्ट या अस्पष्ट स्वीकृति प्रदान करके वे इसके दायित्वो और अधिकारो से बँध जाते है। संयुक्तराज्य अमेरिका और पनामा के बीच सन् 1903 में हे-वारिला (Hay-Varilla) की सन्धि की गई। इसमे कहा गया था कि पनामा नहर सभी राज्यो के व्यापारिक जहाजों एवं युद्ध-पोतों के लिए खुली रहेगी। इस प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमेरिका और पनामा सन्धि के पक्ष थे, किन्तु इसने तीसरे राज्यों को भी प्रभावित किया।

यह कहा जाता है कि तीसरे राज्यों को किसी सन्धि ने जो अधिकार दिए हैं उनका वे प्रयोग करें तो सन्धि को उनकी स्वीकृति के बिना नहीं बदला जा सकेगा, वे कानूनन अधिकारी बन जाएँगे। जब एक बार तीसरे पक्ष को अधिकार प्राप्त हो जाता है तो बिना उसकी इच्छा के वे उससे लिए नहीं जा सकते। यह तर्क केवल तभी सही माना जा सकता है जब समझौते के पक्ष वास्तव मे तीसरे राज्यों को अधिकार देना चाहें किन्तु यह हमेशा नहीं होता।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्पष्टत कोई नियम नहीं हैं जो यह निर्धारित कर सकें कि दो या अधिक राज्यो के बीच की गई सन्धि उन तीसरे राज्यों पर क्या अप्रत्यक्ष प्रभाव डालेगी जो समझौते के पक्ष नहीं हैं? अनेक सन्धियों में तो विधेयात्मक रूप में उल्लेखित कर दिया जाता है, किन्तु विभिन्न लेखकों के विरोधी दृष्टिकोण किसी स्वीकृत रिवाजी नियम का अभाव घोषित करते हैं। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही की गई अनेक सन्धियों मे तीसरे पक्षों को लाभान्वित करने का लक्ष्य स्पष्ट कर दिया गया है। इनमे यह भी प्रावधान था कि यदि तीसरे राज्य चाहे तो मूल सन्धि के सदस्य बन जाएं। ऐसा होने पर उन्हें कानूनी अधिकार प्राप्त हो जाएँगे।

5 तीसरे राज्यों के दायित्व--दायित्व अधिकारो के साथ चलते हैं। जब एक सन्धि तीसरे राज्यों को कुछ विशेषाधिकार सौंपती है तो स्वभावत उनके कुछ दायित्व भी हो जाते हैं। नियमानुसार कोई सन्धि तीसरे राज्यों पर दायित्व नहीं डाल सकती क्योंकि सभी राज्य सम्प्रभु होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे ऐसा कुछ नहीं है जो विरोधकर्त्ता अल्पसंख्यक राज्यों पर कोई बात लाद सके। ज्यों ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय समाज विकसित होता जा रहा है त्यों-त्यों अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव व्यवस्था की रक्षा के लिए इस नियम मे परिवर्तन किया जा रहा है। राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र ने गैर-सदस्यों पर स्पष्ट रूप से कोई दायित्व नहीं डाला, किन्तु इसमे

सघ को यह अधिकार दिया गया कि गैर-सदस्यो एव सदस्यो के मध्य होने वाले झगडो के सम्बन्ध मे यह दबाव लागू कर सके। गैर-सदस्य राज्यो के झगडो मे भी राष्ट्रसघ को सक्रिय हस्तक्षेप करने का अधिकार सौंपा गया। सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर के अनुच्छेद-2 के अनुसार सगठन को यह व्यवस्था करनी चाहिए कि गैर-सदस्य राज्य मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के हित मे सघ के सिद्धान्तो के अनुसार कार्य करें। इस प्रकार सघ उनके व्यवहार को नियमित कर सकता है। इस प्रकार राष्ट्रसघ तथा सयुक्त राष्ट्रसघ दोनो ने तीसरे पक्ष के मामले मे हस्तक्षेप करने के सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सामान्य हित की सीमा लगाई है।

सन्धि के चरण
(Stages in a Treaty)

दो अथवा अधिक राज्यो पर लागू होने वाली सन्धि एक लम्बी प्रक्रिया है। सन्धि करने का कोई एक निश्चित और सामान्य तरीका नहीं है। कानूनी रूप से बाध्यकारी सन्धि करने के लिए अनेक चरणो मे होकर गुजरना पडता है। प्रो. स्टार्क ने सन्धि के दायित्वों की रचना के लिए निम्नलिखित चरणो का उल्लेख किया है—

1. प्रतिनिधियो की नियुक्ति
(Accrediting of Negotiators)

जो राज्य सन्धिबद्ध होना चाहते हैं पहले समझौता वार्ता करने के लिए प्रतिनिधि नियुक्त करना चाहिए। इन प्रतिनिधियों की शक्तियाँ स्पष्ट रूप से परिभाषित व उल्लेखित की जाती हैं। व्यवहार मे एक राज्य के प्रतिनिधि को अध्यक्ष अथवा विदेश मन्त्री द्वारा एक औपचारिक लेख प्रदान किया जाता है जिसमे अधिकारी राजनयिक के रूप मे उसके स्तर, समझौता वार्ता मे उपस्थित होने और भाग लेने की उसकी शक्ति और अन्तिम सन्धि करने तथा उस पर हस्ताक्षर करने के अधिकार स्पष्टत उल्लेखित होते हैं। यह लेख पूर्णाधिकार का लेख कहलाता है। राज्य के अध्यक्ष या राजा के हस्ताक्षर होने पर यह विशेष पूर्ण अधिकार बन जाता है।

आधुनिक सवैधानिक सरकारों की स्थापना के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह स्पष्ट नियम था कि किसी सन्धि पर वार्ता करने वाले प्रतिनिधियो को बाध्यकारी समझौता करने के लिए पूरी शक्तियाँ दी जाएँ। उस समय राजा का निर्णय ही *अन्तिम होता था। इसलिए वह प्रतिनिधि को अपने नाम पर काम करने की शक्ति* सौंप देता था। राजा के हस्ताक्षर के बाद वह समझौता बाध्यकारी बन जाता था। उस समय सचार के साधन धीमे होने के कारण प्रतिनिधि अपनी सरकार के साथ निकट सम्पर्क नहीं रख सकता था। इस कारण यह आवश्यक हो गया कि समझौता-कर्ता की कुशलता मे विश्वास किया जाए और उसके द्वारा की गई सौदेबाजी को श्रेष्ठ समझा जाए। समय की परिस्थितियो के बदलने पर स्थिति मे परिवर्तन आया और अब सन्धि का स्वीकार अनुसमर्थन अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है।

2. सन्धि वार्ता (Negotiations)

सन्धि का दूसरा चरण सन्धि कर्ता राज्यो के प्रतिनिधियों के बीच होने वाली वार्ता है। द्विपक्षीय सन्धियों के सम्बन्ध में समझौता वार्ता वहीं बैठकर की

जा सकती है। यदि सन्धि बहुपक्षीय है तो इस उद्देश्य के लिए राजनयिक सम्मेलन बुलाया जा सकता है। समझौता-वार्ता करते समय प्रतिनिधियों का यह कर्त्तव्य है कि वे हमेशा अपनी सरकार के सम्पर्क में रहें और उसके निर्देशों के अनुसार कार्य करें। सन्धियों से प्रारूप प्रावधानों की परीक्षा करने के लिए कभी-कभी समितियाँ भी नियुक्त की जाती हैं। सम्मेलन के काम में सहायता के लिए एक प्रतिवेदक नियुक्त किया जाता है। सम्मेलन के औपचारिक सरकारी अधिवेशनों के अतिरिक्त अनेक बैठकें जहाँ तहाँ विभिन्न अवसरों पर की जाती हैं। जब तक प्रतिनिधियों के बीच प्रस्तावित सन्धि के प्रावधानों के सम्बन्ध में सहमति नहीं हो जाती तब तक समझौता-वार्ता चलती रहती है।

3. हस्ताक्षर (*Signature*)

समझौता-वार्ता सम्पन्न हो जाने के बाद जब सन्धि का अन्तिम प्रारूप तैयार हो जाता है तो उस पर वार्ता करने वाले पक्षों के हस्ताक्षर किए जाते हैं। सभी प्रतिनिधियों को उसी समय और स्थान पर एक दूसरे की उपस्थिति में हस्ताक्षर करने चाहिएँ। नियमानुसार सन्धियों पर प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर भी किए जाते हैं। हस्ताक्षर होते ही एक सन्धि प्रभावशाली बन जाती है। यदि सन्धि में ऐसा प्रावधान है तो वह केवल तभी प्रभावशाली बनेगी जबकि आवश्यक-सत्ता का अनुसमर्थन प्राप्त करले। सन्धियाँ और अभिसमय प्रायः मोहरबन्द की जाती हैं, किन्तु यह महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है।

कुछ सन्धियों में यह प्रावधान होता है कि अनुसमर्थन के पहले हस्ताक्षर करके उन्हें अस्थायी रूप से लागू किया जा सकता है। प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर के बाद भी सम्बन्धित सरकारें सन्धि को अस्वीकार कर सकती हैं। संयुक्तराज्य अमेरिका की सीनेट ने वर्साय की सन्धि को राष्ट्रपति विल्सन के हस्ताक्षर के बाद भी अस्वीकार कर दिया था।

4. अनुसमर्थन (Ratification)

किसी सन्धि या अभिसमय पर हस्ताक्षर करने के बाद प्रतिनिधि अनुसमर्थन के लिए उसे अपनी सरकार के पास भेज देते हैं। यह औपचारिकता उस समय आवश्यक नहीं होती जबकि सन्धि में स्पष्ट व्यवस्था हो कि केवल हस्ताक्षर पर्याप्त हैं। आजकल औपचारिक अनुसमर्थन सन्धि रचना का एक स्वीकृत भाग बन गया है और *अन्तर्राष्ट्रीय कानून की यह स्पष्ट मान्यता है कि यदि एक पक्ष सन्धि को* अनुसमर्थन न दे तो दूसरा शिकायत करने का कानूनी अधिकार नहीं रखता। अनुसमर्थन की शर्तों के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों की संवैधानिक प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं। अनुसमर्थन कार्यपालिका का कार्य है। यह राज्य के अध्यक्ष द्वारा सम्पन्न किया जाता है जो सन्धि की औपचारिक स्वीकृति की घोषणा करता है। राज्य का अध्यक्ष ऐसा करने से पूर्व व्यवस्थापिका की एक या दोनों शाखाओं का समर्थन प्राप्त करता है। संयुक्तराज्य अमेरिका में सीनेट के दो तिहाई बहुमत का परामर्श और स्वीकृति आवश्यक है। ग्रेट-ब्रिटेन में केबिनेट किसी सन्धि का अनुसमर्थन करने से ... स्वीकृति के लिए संसद् के सम्मुख प्रस्तुत करती है।

औचित्य –सन्धि का अनुसमर्थन कई कारणों से उचित माना जाता है। जब तक एक सन्धि देश के संविधान के अनुसार उचित सत्ता द्वारा अनुसमर्थित नहीं होती, तब तक उसमें औपचारिक औचित्य का अभाव रहता है। सन्धि पर हस्ताक्षर करने और उसका अनुसमर्थन करने के बीच कुछ अवकाश की अनुमति दी जाती है *ताकि उस विषय पर सम्बन्धित पक्ष सभी प्रकार से विचार कर सकें।* *इस समय में* संसद् की स्वीकृति और जनमत की राय ली जा सकती है।

अनुसमर्थन के औचित्य के आधार ये हैं—(A) राज्यों को उनके प्रतिनिधियों द्वारा हस्ताक्षर किए गए उन लेखों पर पुनर्विचार करने का अवसर प्राप्त होता है जो उन पर बाध्यताएँ एवं कर्त्तव्य डालने वाले हैं। (B) सम्प्रभु होने के कारण राज्य यदि चाहे तो किसी भी सन्धि में भाग लेने से मना कर सकता है। (C) कुछ सन्धियाँ राष्ट्रीय कानून में संशोधन आवश्यक बनाती हैं। हस्ताक्षर के बाद अनुसमर्थन-काल तक राज्य को इतना समय मिल जाता है कि संसद् से आवश्यक स्वीकृति ले सके। (D) प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्त के अनुसार सरकार को कोई सन्धि स्वीकार करने से पूर्व संसद् में अथवा जनता का समर्थन प्राप्त कर लेना चाहिए। यदि जनमत सन्धि को ठुकरा देता है तो सम्बन्धित राज्य उसे स्वीकार नहीं कर सकता। *सन्धि को ठुकराने का कारण स्वेच्छाचार नहीं होना चाहिए।*

पूर्णत आवश्यक नहीं—अनुसमर्थन सिद्धान्त रूप में उपरोक्त कारणों से आवश्यक है किन्तु हमेशा यह मूलभूत नहीं होता। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह मान्य नियम है कि सन्धियों का नियमित रूप से अनुसमर्थन किया जाना चाहिए किन्तु इस नियम के अपवाद भी हैं—(A) जब सन्धिकर्त्ता व्यक्ति राज्य के उच्च तथा शक्ति प्राप्त अधिकारी होते हैं तो वह सन्धि समझौता होते ही लागू हो जाती है, बशर्ते अधिकारियों ने अपनी शक्तियों का अतिक्रमण न किया हो। (B) राज्य के अध्यक्षों द्वारा जब ऐसे विषय पर सन्धि की जाती है जिस पर कोई संवैधानिक प्रतिबन्ध नहीं है तो उस पर अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती। (C) यदि समझौता करने वाले पक्ष स्पष्टत सन्धि में उल्लेख कर दें कि इसकी तुरन्त क्रियान्विति के लिए इसे अभी से लागू किया जाए तो अनुसमर्थन नहीं लिया जाएगा। *उल्लेखनीय है कि अनुसमर्थन का बहिष्कार तभी उचित माना जाएगा जबकि यह* अधिकार प्राप्त अधिकारियों द्वारा किया गया हो।

अनुसमर्थन के लिए समय—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम यह निर्धारित नहीं करता कि अमुक समय में अनुसमर्थन स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जाना चाहिए। यदि समझौता करने वाले पक्षों ने इस सम्बन्ध में विशेष रूप से कोई समय निर्धारित नहीं किया है तो परस्पर बातचीत द्वारा उपयुक्त समय तय किया जा सकता है। बहुत समय गुजर जाने के बाद भी यदि अनुसमर्थन किया जाए तो सन्धि को अस्वीकृत समझा जाना चाहिए। अधिकांश सन्धियों में अनुसमर्थन की आवश्यकता के साथ-साथ स्पष्ट रूप से यह उल्लेख कर दिया जाता है कि इतने समय में अनुसमर्थन हो जाना चाहिए। यह समय यथासम्भव कम रखा जाता है।

अनुसमर्थन की अस्वीकृति—प्रारम्भ में यह माना जाता था कि अनुसमर्थन उस समय तक अस्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि प्रतिनिधियों ने अपनी शक्ति का अतिक्रमण न किया हो अथवा गुप्त निर्देशों को न तोड़ा हो। आजकल सम्भवतः कोई लेखक यह मत प्रकट नहीं करता कि राज्य अनुसमर्थन करने के लिए कानूनी रूप से बाध्य है। कुछ लेखक नैतिक दृष्टि से अनुसमर्थन को आवश्यक बताते हैं। कानून विरोधी इन नैतिक कर्त्तव्यों का मूल्य आंकना अत्यन्त कठिन है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून अनुसमर्थन का कानूनी दायित्व नहीं डालता।

कोई भी राज्य हमेशा अनुसमर्थन की अस्वीकृति किन्हीं कारणों से ही देता है। ये कारण उसके लिए उचित और न्यायपूर्ण हैं किन्तु दूसरे के लिए अपर्याप्त हो सकते हैं। अनुसमर्थन की अस्वीकृति प्राय चार कारणों से होती है—प्रतिनिधियों द्वारा अपने अधिकारों का अतिक्रमण प्रतिनिधि को किसी तथ्य के सम्बन्ध में जान-बूझकर धोखे में रखा जाना, सन्धि का पालन असम्भव होना और प्रतिनिधि का सन्धि की किन्हीं शर्तों के सम्बन्ध में सहमत न होना। व्यवहार में अनुसमर्थन स्वेच्छा से दिया अथवा अस्वीकृत किया जाता है। इस सम्बन्ध में प्रो ब्रायर्ली ने लिखा है कि "अपने पूर्णाधिकारियों द्वारा हस्ताक्षर की गई सन्धि का अनुसमर्थन करना राज्य के लिए कानूनी अथवा नैतिक कर्त्तव्य नहीं है। यह एक अत्यन्त गम्भीर कदम है और उसे हल्केपन से नहीं उठाना चाहिए।"

अनुसमर्थन का रूप—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम अनुसमर्थन का कोई आवश्यक रूप निर्धारित नहीं करता। यह व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में दिया जा सकता है। जब एक राज्य किसी सन्धि का अनुसमर्थन किए बिना उसे क्रियान्वित करने लगता है तो यह अव्यक्त समर्थन कहा जाता है। अनुसमर्थन के लिए सम्बन्धित राज्य के अध्यक्ष और विदेश मन्त्री द्वारा हस्ताक्षर किया हुआ एक आलेख तैयार किया जाता है। प्रायः उतने आलेखों का प्रारूप तैयार किया जाता है जितने अभिसमय के पक्ष हैं। सभी पक्ष आलेखों का परस्पर आदान-प्रदान करते हैं। कभी-कभी सम्पूर्ण सन्धि को अक्षरशः लिख लिया जाता है और कभी केवल शीर्षक, भूमिका सन्धि की तारीख और हस्ताक्षरकर्त्ता प्रतिनिधियों के नाम होते हैं। अनुसमर्थन पूर्व स्थित सन्धि को स्वीकार करना मात्र है। इसलिए उसको वैसे की वैसे न लिख कर केवल शीर्षक, तारीख आदि का उल्लेख करना ही पर्याप्त रहेगा।

अनुसमर्थन-कर्त्ता—राज्य की सन्धि-कर्त्ता शक्तियों का प्रयोग करने वाला अंग ही अनुसमर्थन करता है। यह प्राय राज्य अथवा सरकार का अध्यक्ष होता है जो समय-समय पर अपनी शक्तियाँ हस्तान्तरित भी कर लेता है।

अनुसमर्थन आंशिक या सशर्त नहीं होता—अनुसमर्थन की प्रकृति के अनुसार वह या तो दिया जाएगा या अस्वीकार किया जाएगा। सन्धि पहले ही की जा चुकी है, अतः उसको आंशिक अथवा सशर्त समर्थन नहीं दिया जा सकता। कभी-कभी राज्य अनुसमर्थन के समय सन्धि का रूप बदलने का प्रयास करता है, किन्तु सशर्त अनुसमर्थन कोई समर्थन ही नहीं होता। यह अनुसमर्थन तो अस्वीकार करने के समान होता है। नए सुझाव दिए जाते हैं, अन्य पक्ष द्वारा वे स्वीकार भी किए जा सकते हैं, किन्तु

ऐसी स्थिति में यह एक नई सन्धि होगी। सशर्त अनुसमर्थन एक प्रकार से अनुसमर्थन न देने के समान है। जब विभिन्न राज्य एक सन्धि के पक्ष में होते हैं और कोई राज्य उसे केवल आंशिक अनुसमर्थन देता है तो स्थिति भिन्न हो जाती है। सन्धि तो अपने पूर्ण रूप में स्वीकृत मानी जाएगी, किन्तु उस विशेष अंश का दायित्व उन पर नहीं पड़ेगा। कुछ धाराओं के सम्बन्ध में राज्य अपने लिए आरक्षण कर लेते हैं।

अनुसमर्थन का आदान प्रदान—अनुसमर्थन के लेख पर एक सन्धि के पक्षों द्वारा हस्ताक्षर करना एवं मोहर लगाना ही उसे बाध्यकारी नहीं बना देता। इस लेख का उनके बीच आदान-प्रदान होना चाहिए अथवा किसी सहमत स्थान पर जमा किया जाना चाहिए। उस समय तक सन्धि प्रभावी नहीं मानी जा सकती। प्रारम्भ में राज्य यह सूचना देता है कि उसने सन्धि को स्वीकार कर लिया है। उसके बाद यह स्वीकृति जमा (Deposit) हो जाती है अथवा इसका परस्पर आदान-प्रदान हो जाता है।

अनुसमर्थन का प्रभाव—सन्धि को बाध्यकारी बनाने के लिए यह आवश्यक है। यदि एक पक्ष अनुसमर्थन कर दे और दूसरा न करे तो सन्धि गिर जाएगी। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या अनुसमर्थन का प्रभाव उसी समय से होगा जबकि प्रतिनिधियों द्वारा इस पर हस्ताक्षर किए गए थे ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में लेखकों का एकमत नहीं है। अमल में सन्धियाँ जब से प्रभावी होती हैं तभी से प्रारम्भ मानी जाएँगी। अनुसमर्थन ही सन्धि को बाध्यकारी शक्ति देता है। अतः उसके बाद से ही ये प्रारम्भ मानी जाएँगी।

5. सहमिलन और अभिलग्नता
(Accession and Adhesions)

इन दोनों तरीकों से एक ऐसा राज्य भी सन्धि में शामिल हो सकता है जो समझौता-वार्ता में शामिल नहीं था। यदि राज्य किसी सन्धि की सभी शर्तों एवं व्यवस्थाओं को माने तो यह सहमिलन कहा जाएगा, किन्तु यदि यह केवल कुछ शर्तों को स्वीकार करे तो यह अभिलग्नता कहा जाता है। प्रो. ओपेनहेम के कथनानुसार यह अन्तर केवल सैद्धान्तिक है और राज्यों के व्यवहार में इसका समर्थन नहीं मिलता।

सहमिलन के लिए सभी सन्धि-कर्ता राज्यों की सहमति आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सहमिलन के लिए स्पष्ट तरीका वर्णित नहीं है। सामान्यतः यह अनुसमर्थन के लेख की भाँति होता है। सन्धि में शामिल होने के अभिप्राय की एक सरल सूचना मात्र ही पर्याप्त है।

6 सन्धि का लागू होना (Coming into Force)

सन्धि की स्वीकृति से सम्बन्धित सभी औपचारिकताएँ पूरी होने पर वह उसी दिन से लागू हो जाती है जिस दिन उस पर हस्ताक्षर किए गए थे। ऐसा तब होता है जब अनुसमर्थन आवश्यक न हो, यदि अनुसमर्थन का आदान-प्रदान किया जाए। बहुपक्षीय सन्धियों को लागू करने के लिए अनुसमर्थन की संख्या निश्चित कर दी जाती है जो प्रायः दस से दस तक होती है। कभी-कभी सन्धि किसी घटना के घटित

होने पर लागू हो जाती है। यह भी व्यवस्था की जा सकती है कि राज्य द्वारा आवश्यक व्यवस्थापन किए जाने के बाद ही उसे वहाँ पर लागू किया जाए। सन्धि के लागू होने की शर्त का कभी-कभी सन्धि में ही उल्लेख किया जाता है। उदाहरण के लिए लोकार्नो-सन्धि (1925) में यह शर्त थी कि राष्ट्रसंघ में जर्मनी के प्रवेश पाने के बाद ही यह लागू होगी।

7. पंजीकरण और प्रकाशन
(Registration and Publication)

सन्धि के पंजीकरण एवं प्रकाशन की आवश्यकता गुप्त सन्धियों के विरोधी दृष्टिकोण के कारण अनुभव की गई। राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की धारा 18 में यह कहा गया था कि– 'राष्ट्रसंघ के सदस्य द्वारा इसके बाद की गई प्रत्येक सन्धि या अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सचिवालय में पंजीकृत किया जाएगा और इसके द्वारा यथासम्भव शीघ्र ही प्रकाशित किया जाएगा। इस प्रकार पंजीकृत हुए बिना कोई भी सन्धि बाध्यकारी नहीं होगी।" इस धारा के तहत सन् 1944 तक 4822 सन्धियाँ एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध पंजीकृत हो चुके थे। ये सन्धियाँ वे थीं जो संघ के सदस्यों द्वारा संघ के सदस्यों या गैर-सदस्यों के साथ की गई थीं। इनका प्रकाशन राष्ट्रसंघ की सन्धि *शृंखला के अन्तर्गत किया गया। यह सन् 1920 में प्रारम्भ हुई। इसमें सन्धियों को* फ्रेंच तथा अंग्रेजी भाषा में यथावत प्रकाशित किया जाता था।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 102 ने कुछ परिवर्तन के साथ इस विषय पर राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र के प्रावधानों को स्वीकार कर लिया। सभी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों एवं समझौतों को सचिवालय में पंजीकृत करना और उसके द्वारा प्रकाशित किया जाना आवश्यक बनाया गया। जिन सन्धियों को पंजीकृत नहीं किया जाएगा उन्हें कोई भी पक्ष ठुकरा सकता है। गुप्त सन्धियों को प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की आवश्यकताओं के विरुद्ध माना गया। बिना पंजीकरण के किसी सन्धि का प्रमाण संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी अंग के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

8. क्रियान्विति (Application)

सन्धि-रचना का अन्तिम सोपान उसके प्रावधानों को आवश्यकता के अनुसार समझौता-कर्त्ता राज्यों के राष्ट्रीय कानून में ढाल लेना है। इन राज्यों द्वारा सन्धि के प्रावधानों को क्रियान्वित किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि द्वारा सम्बन्धित राज्य पर जो दायित्व डाले जाते हैं उनको राष्ट्रीय कानून के सहारे ही पूरा किया जा सकता है।

सन्धियों की रचना और समाप्ति
(Construction and Termination of Treaties)

सन्धियों की व्याख्या इसलिए की जाती है ताकि सन्धिकर्ता पक्षों के वास्तविक अभिप्रायों तक पहुँचा जा सके। सन्धि के पक्षों का प्राभिप्राय स्वयं सन्धि की शर्तों के आधार पर जाना जा सकता है। यदि ये शर्तें स्पष्ट और विशेष हैं तो उनके विपरीत

किसी अभिप्राय को स्वीकार नहीं किया जा सकता। सन्धियों की व्याख्या सम्बन्धी विवाद राज्यों के बीच प्राय मिलते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में यद्यपि सन्धियों की व्याख्या के लिए कोई नियम नहीं है, किन्तु ग्रोशियस से अब तक के लेखकों ने सन्धियों की व्याख्या के विषय में राज्यों को निर्देश देने के लिए नियम विकसित कर लिए हैं। जिन सन्धियों में व्याख्या के स्वयं के नियम होते हैं उनमें कोई कठिनाई नहीं होती। उनकी व्याख्या पक्षों द्वारा निर्धारित तरीके से की जाती है। जिन सन्धियों में व्याख्या का प्रावधान नहीं होता उनकी व्याख्या मान्य नियमों के अनुसार की जाती है। इनमें से कुछ प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

(A) सन्धि के प्रावधानों को साहित्यिक और व्याकरण की दृष्टि से बनाया जाना चाहिए। इसमें शब्दों को उनका साधारण और स्वाभाविक अर्थ प्रदान किया जाए। यदि सन्धि की भाषा सन्देह-जनक है तो उसकी सही व्याख्या करने के लिए आन्तरिक और बाह्य परिणामों से सहायता ली जानी चाहिए। केवल वही व्याख्या स्वीकार की जाए जो सन्धि को तर्कपूर्ण अर्थ देती है और जो इसे बेहूदा नहीं बनाती।

(B) एक सन्धि की व्याख्या करने का मुख्य उद्देश्य उसकी रचना के समय राज्यों के अभिप्राय का पता लगाना है। इस दृष्टि से शब्दों की व्याख्या सन्धि के सामान्य उद्देश्य और प्रसंग के प्रकाश में की जानी चाहिए। सम्पूर्ण सन्धि की व्याख्या की जाए। सन्धि के एक भाग को लेकर उसके अन्य भागों से पृथक् करके व्याख्या करना खतरनाक है। सम्पूर्ण सन्धि पर विचार करते समय समस्त परिस्थितियों पर विचार किया जा सकता है। पक्षों के अभिप्रायों को जानने के लिए सन्धि का उद्देश्य और अभिप्राय जानना उपयुक्त रहेगा। सक्षेप में सन्धि को एक समस्त लेख के रूप में समझा जाना चाहिए और इसका कोई भी भाग स्वयं स्पष्ट नहीं माना जाना चाहिए।

(C) तकनीकी शब्दों को उनका तकनीकी अर्थ प्रदान किया जाए और गैर-तकनीकी शब्दों के साधारण आकांक्षाओं के अनुसार आम अर्थ लिए जाएँ।

(D) यदि एक व्याख्या के सम्बन्ध में कोई सन्देह है तो ऐसी व्याख्या की जानी चाहिए जो पक्षों पर कम से कम दायित्व डाले और सम्बन्धित पक्षों को स्वतन्त्रता की गारण्टी दे।

(E) यदि दो व्याख्याएँ उपयुक्त हैं तो प्राथमिकता उसे दी जानी चाहिए जो सम्बन्धित पक्ष के लाभ के लिए है। सन्धि का कोई भी भाग अर्थहीन नहीं समझा जाना चाहिए और यदि कोई व्याख्या सन्धि के किसी भाग को अर्थहीन बनाती है तो उसे स्वीकार नहीं किया जाए।

(F) एक सन्धि की व्याख्या इस प्रकार से की जाए ताकि उसके उद्देश्य को बढ़ावा मिल सके। व्याख्या द्वारा सन्धि के प्रावधान क्रियान्वित किए जा सकें और उनका उपयुक्त प्रभाव हो। सन्धि की व्याख्या में धोखे और अपूर्ण व्यवहार को अलग रखा जाए और इसके कार्य सम्पादन को सद्-विश्वास के साथ संगत रखा जाए।

(G) सन्धि की व्याख्या करते समय उन राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों पर विचार किया जाना चाहिए जिनके अन्तर्गत सन्धि की गई थी।

आजकल के व्यवहार के अनुसार सन्धियों में विवाद सम्बन्धी धारा प्रायः रख दिया जाता है या उन विवादों का सुलझाने के तरीके प्रस्तुत करता है जो सन्धि के व्यवहार और व्याख्या के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं। इनके वैकल्पिक तरीके हैं-समझौता वार्ता, पंच फैसला और न्यायिक समझौता।

सन्धि की बनावट (Clauses in a Treaty)

सन्धि के प्रमुख भाग ये है—

1 भूमिका, इसमें सन्धि-कर्त्ता राज्यों के अध्यक्षों अथवा सरकारों के नाम, सन्धि का उद्देश्य और दोनों पक्षों के संकल्प का वर्णन होता है।

2 सन्धि की प्रमुख धाराएँ।

3 तकनीकी या औपचारिक विषयों या सन्धि की क्रियान्विति से सम्बन्ध रखने वाली औपचारिक या अन्तिम धाराएँ। उदाहरण के लिए, लेख की तारीख, समय, भाषा, विवादों का निपटारा, संशोधन, पंजीकरण, मूल लेख की रक्षा आदि।

4. हस्ताक्षर तथा उसके स्थान और दिनांक को औपचारिक रूप से प्रमाणित करना आदि।

सन्धियों का संशोधन (Revision of Treaties)

सन्धियों द्वारा राज्यों को कुछ कर्त्तव्य और दायित्व सौंपे जाते हैं। उनमें संशोधन करना कोई आम बात नहीं है। कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं कि संशोधन आवश्यक बन जाए। नई परिस्थितियों के प्रकाश में दायित्वों को बदलना आवश्यक बन सकता है। सन्धियों अथवा अभिसमयों में संशोधन का प्रावधान रखते समय उसकी प्रक्रिया भी स्पष्ट रूप उल्लेखित कर दी जाती है। संशोधन की प्रक्रिया एक अथवा दो पक्षों की प्रार्थना पर प्रारम्भ होती है। संशोधन या परिवर्तन का प्रस्ताव सभी पक्षों द्वारा मान्य होना चाहिए और इन पक्षों के सम्मेलन में उसे स्वीकार किया जाना चाहिए।

संशोधन के प्रावधानों के अनुसार इसके सही समय को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(1) किसी भी समय, (2) सन्धि या अभिसमय के प्रारम्भ होने के एक निश्चित समय बाद, (3) निर्धारित समय समाप्त होने पर सामयिक रूप से, और (4) इन वर्गों में से एक या दो का समन्वय होने पर। सामान्यतः संशोधन के लिए सर्व-सम्मति जरूरी मानी जाती है।

सन्धियों की समाप्ति (Termination of Treaties)

सन्धियाँ अनेक प्रकार से समाप्त हो सकती हैं। ये तरीके सन्धि करने के सिद्धान्तों पर निर्भर करते हैं। विचारकों ने सन्धियों की समाप्ति के तरीकों को दो भागों में वर्गीकृत किया है-सन्धिकर्त्ता राज्य के कार्य द्वारा और कानूनी प्रक्रिया द्वारा। दोनों प्रकारों से भंग होने वाली सन्धियों के कारणों का विवरण निम्न प्रकार है—

1 समय की समाप्ति (Expiration of Time)—एक सन्धि जितने समय के लिए की जाती है उसके पूरे होने पर वह समाप्त हो जाएगी। कुछ सन्धियों में

यह प्रावधान रहता है कि अमुक घटना के घटने पर यह समाप्त हो जाएगी। जब वह घटना घटती है तो संधि टूट जाती है।

2 लक्ष्य पूरा होने पर (Fulfilment of the Object)– कुछ सन्धियाँ एक निर्धारित समय तक ही दायित्व डालती हैं। जब उनके द्वारा डाल गए दायित्व नहीं रहते तो सन्धियाँ समाप्त हो जाती हैं। यह सन्धि का लक्ष्य पूरा होने की स्थिति है। अल्पकालीन उद्देश्यों के लिए की गई सन्धियों पर ही यह व्यवस्था लागू होती है।

3 पारस्परिक स्वीकृति द्वारा (By Mutual Consent)—कार्यपालिका प्रकृति की सन्धि पारस्परिक स्वीकृति द्वारा समाप्त हो जाती है। इसके लिए स्पष्ट रूप से घोषणा भी की जा सकती है। सन्धि की समाप्ति उस समय भी हो जाती है जब सन्धि के पक्ष उसी उद्देश्य के लिए कोई नई सन्धि कर लेते हैं। सन्धि उस समय भी समाप्त हो जाती है जब कोई पक्ष सन्धि के तहत अपने अधिकारों का त्याग कर देता है।

4 अवसायन की घोषणा (Denunciation)—सन्धि के पक्ष राज्यों को यह अधिकार है कि वे अवसायन की घोषणा करके सन्धि के अपने दायित्वों को समाप्त कर दें। इस घोषणा के अन्तर्गत एक राज्य सन्धि के दूसरे पक्षों को यह सूचना देता है कि वह सन्धि से बिलग होना चाहता है। साधारणत सन्धि मे इसके लिए प्रावधान होता है। उल्लेखनीय है कि केवल अस्थायी प्रकृति की सन्धियों को ही इस प्रकार छोड़ा जा सकता है। व्यापार या वाणिज्य से सम्बन्धित सन्धियाँ इस प्रकार की होती हैं। आधुनिक बहुपक्षीय अभिसमयों मे प्राय अवसायन की घोषणा से सम्बन्धित क्लॉज होता है। कुछ समय के बाद कोई भी राज्य उसे छोड़कर जा सकता है। इसके लिए प्राय. एक वर्ष की सीमा रखी जाती है।

जब किसी सन्धि के अवसायन की घोषणा एक के बाद एक पक्ष करता चला जाता है और उसका पालन करने वाले राज्यों की संख्या निरन्तर कम हो जाती है तो सन्धि प्रभावहीन बन कर समाप्त हो जाती है।

5 आवश्यक शर्तों का अभाव (Lack of Certain Essential Conditions)—कुछ सन्धियों म पक्षों को यह अधिकार दिया जाता है कि मूलभूत परिस्थितियाँ न होने पर वे अवसायन की घोषणा कर दें। यदि वे शर्तें सम्पन्न न हो सकीं तो सन्धि समाप्त हो जाएगी।

6 राज्य की समाप्ति (Dissolution of the State)—यदि "द्वि-पक्षीय सन्धि करने वाले पक्षों मे से कोई भी एक पक्ष समाप्त हो जाए या हार जाए अथवा दूसरे राज्य में विलीन हो जाए तो वह सन्धि समाप्त हो जाएगी। उदाहरण के लिए सयुक्तराज्य अमेरिका ने 1805 मे ट्रिपोली के साथ सन्धि की। 1911 में इटली ने ट्रिपोली का अपने राज्य में विलय कर लिया। फलतः यह सन्धि समाप्त हो गई।

7. सन्धि की परिस्थितियों में परिवर्तन (Rebus Sic Stantibus)—इस सिद्धान्त के अनुसार जब सन्धि करते समय की परिस्थितियाँ बदल जाती हैं तो सन्धि

समाप्त हो जाती है। प्रत्येक सन्धि में यह एक निहित शर्त रहती है कि वह यथावत परिस्थितियाँ रहने तक ही लागू रहेगी। यदि किसी कारणवश परिस्थितियाँ गम्भीर रूप से बदल गई तो सन्धि प्रभावहीन बन जाएगी। कोई भी राज्य इस आधार पर सन्धियों के दायित्वों से छुटकारा पा सकता है। परिस्थितियों में इतना गम्भीर परिवर्तन प्राय कम ही होता है।

8 उत्तरकालीन निरर्थकता (Subsequent Voidance) -एक सन्धि उचित होते हुए भी कुछ परिस्थितियों मे बाद में अनुचित बन सकती है। ये परिस्थितियाँ हैं—(A) जब एक राज्य का अन्य राज्य मे विलय हो जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार सन्धि के दायित्व उत्तराधिकारी राज्य पर नहीं आते। सन्धि अपना कानूनी प्रभाव खो देती है, (B) जब सन्धि के दायित्वों को सम्पन्न करना असम्भव बन जाए तो सन्धि अवैध बन जाती है। यदि यह असम्भवता केवल अस्थायी है तो सन्धि बनी रहेगी,(C) जब सन्धि का उद्देश्य उसे पूरा किए बिना ही प्राप्त किया जा सके तो सन्धि अवैध बन जाती है, (D) यदि सन्धि का उद्देश्य (Object) ही समाप्त हो जाए तो सन्धि अवैध बन जाती है। उदाहरण के लिए यह सन्धि किसी द्वीप के बारे मे की गई है और वह द्वीप लुप्त हो जाता है तो सन्धि भी अपना महत्त्व खो देगी।

9 रद्द हो जाना (Cancellation)—कोई भी सन्धि कुछ विशेष परिस्थितियों मे रद्द की जा सकती है। ये परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं—(i) अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रगतिशील है और उसके द्वारा स्थापित नियम पचास वर्ष बाद सम्भवत उचित न रहे। हो सकता है कि एक सन्धि जब की गई थी तब वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुरूप हो किन्तु कुछ समय बाद असगत बन जाए। कालान्तर की यह असगतता सन्धि को रद्द करने का आधार बन सकती है। (ii) जब सन्धि का एक पक्ष उसका उल्लघन करे तो दूसरे पक्ष की इच्छा होती है कि वह इसको रद्द करदे। यह स्वेच्छा उपयुक्त समय मे प्रयुक्त की जानी चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो यह अधिकार छिन सकता है। ग्रोशियस का मत था कि सन्धि का उल्लघन चाहे कितना ही अल्प हो, वह दूसरे हस्ताक्षरकर्त्ताओं को यह अधिकार देता है कि वे सम्पूर्ण सन्धि का बहिष्कार कर दें। व्यवहार में यह सर्वाधिक असुविधाजनक रहेगा। सन्धि का उल्लघन किसे माना जाएगा ? यह सन्धि को देखकर ही तय किया जा सकता। (iii) यदि सन्धि के एक पक्ष के स्तर मे अन्तर आ जाता है तो वह सन्धि रद्द की जायगी। यदि राज्य अपनी सम्प्रभुता खो दे और केवल आश्रित राज्य बन जाए तो उससे सम्बन्धित सन्धि समाप्त हो जाएगी। (iv) दो देशों के बीच युद्ध छिड़ जाने पर उनकी सन्धियाँ बहुत कुछ समाप्त हो जाती हैं। युद्ध के समय किसी सन्धि को सचालित रखना कठिन बन जाता है। युद्ध सन्धि को इसलिए भी प्रभावहीन बना सकता है कि सम्बन्धित परिस्थितियाँ बदल गई हैं।

सन्धि सम्बन्धी दो सिद्धान्त
(Two Principles of Treaties)

सन्धियों की प्रकृति के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त हैं। ये सन्धि सम्बन्धी अन्य

व्यवस्थाओं पर भी पर्याप्त प्रभाव डालते हैं। इनका उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

1. पवित्रता का सिद्धान्त (Pacta Sunt Servanda)—विभिन्न राज्य सन्धियों का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि वे पवित्र होती हैं। यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने रोमन कानून से ग्रहण किया है। इसके अनुसार पारस्परिक रूप से समझौता करने के बाद विभिन्न पक्षों को इसका आदर करना चाहिए। समझौते की पवित्रता महत्त्वपूर्ण है। न्याय इस बात की माँग करता है कि यदि कुछ दायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं तो उन्हें उनका निर्वाह करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आधार सद्-विश्वास होना चाहिए।

इस सिद्धान्त के न होने पर अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ और समझौते निरर्थक बन जाएँगे तथा अराजकता की सी स्थिति पैदा हो जाएगी। प्रो फेनविक का यह कहना सही है कि—"दार्शनिकों, धर्मशास्त्रियों तथा विधिशास्त्रियों ने सर्वसम्मत रूप से यह माना है कि यदि राज्य के वचन पर भरोसा करना सम्भव न हो तो सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सम्बन्ध संकट में पड़ जाएँगे और कानून की सत्ता लुप्त हो जाएगी।" यही कारण है कि जब कोई राज्य एक सन्धि की शर्तों का उल्लंघन करता है तो विश्व जनमत उसे निन्दनीय रूप में देखने लगता है। 19वीं शताब्दी में जर्मन लेखकों ने सन्धि की पवित्रता पर जोर दिया था।

2 स्थिति की अपरिवर्तनशीलता (Rebus Sic Stantibus)—रोमन कानून का एक अन्य सिद्धान्त यह था कि संविदा की शर्तों का पालन दोनों पक्ष केवल तभी कर सकते हैं जब तक कि परिस्थितियाँ यथावत् हैं और उनमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आता है। यदि सन्धि करने के बाद परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन आ जाते हैं तो उनका पालन करना जरूरी नहीं रह जाता। परिवर्तित परिस्थितियों के आधार पर सन्धियों के बहिष्कार के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

परिस्थितियों की अपरिवर्तन-शीलता के सिद्धान्त को सन्धियों की पवित्रता के सिद्धान्त से मिलाना अत्यन्त कठिन है। कठिनाई यह है कि परिस्थितियों के व्यापक परिवर्तन का कुछ भी अर्थ लिया जा सकता है। प्रो. स्टार्क के कथनानुसार "यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून की एक गूढ़ पहेली है। इसका सही क्षेत्र एवं व्यवहार निश्चित नहीं है, व्यवहार असंगत रहा है तथा इससे सम्बन्धित निर्णयों की घोषणा में अन्तर्राष्ट्रीय पंच-फैसले शर्मिन्दा रहे हैं।" यहाँ तक कि न्यायालयों की घोषणाएँ भी इस विषय पर एक-रूप नहीं हैं। विभिन्न न्यायालयों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोण अभिव्यक्त किए जाते हैं।

1932 में अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थाई न्यायालय ने यह मत प्रकट किया था कि परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तन एक सन्धि को केवल तभी बदल सकते हैं जबकि उ परिस्थितियों का अस्तित्व सन्धि को जारी रखने की पूर्व शर्त बताई गई हो। यदि स... में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है तो परिस्थितियाँ बदलने पर भी यह चलती रहेगी। इस सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण यह है कि यदि तथ्यों की

मौलिक स्थिति बदल जाती है तो सन्धि समाप्त हो जाएगी। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कौन यह निर्णय लेगा कि परिस्थितियाँ बदली हैं और मौलिक रूप से बदली हैं ? यह प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण अथवा निष्पक्ष निकाय को सौंपा जा सकता है। एक तीसरा दृष्टिकोण यह है कि यदि परिस्थितियाँ बदलने पर सन्धि का अनुशीलन राज्य के लिए कष्टकारी बन जाए तो वह इसे समाप्त कर सकता है। मि हॉल के कथनानुसार, "सन्धि उस समय निरर्थक हो जाती है जब वह राज्य के लिए सकटपूर्ण और उसकी स्वतन्त्रता के प्रतिकूल हो जाती हैं, बशर्ते कि सन्धि करते समय इसके हानिप्रद परिणामो को दोनो पक्षो के सामने रखा हो।" उदाहरण के लिए, 1947 मे भारत ने कश्मीर के भविष्य का निर्णय जनमत-सग्रह द्वारा करना स्वीकार किया था। अब भारत का कहना है कि पाकिस्तान के सैनिक सन्धियो मे आबद्ध होने के कारण उसके पास प्रचुर रण-सामग्री आ गई है। फलत भारत की आत्म-रक्षा के लिए सकट पैदा हो गया है। इन बदली हुई परिस्थितियो मे भारत अपने वचन को मानने के लिए बाध्य नहीं है। 13 अप्रेल, 1956 को श्री नेहरू ने कहा—'पाकिस्तान को प्राप्त होने वाली सैनिक-सहायता और उसके सैनिक समझौतों की सदस्यता ने जनमत सग्रह के प्रस्ताव के मूल आधार को ही नष्ट कर दिया है।"

इस सम्बन्ध मे एक अन्य निश्चितता यह है कि यदि परिस्थितियाँ मौलिक रूप से परिवर्तित हो गई हैं तो सम्बन्धित पक्ष क्या करें ? एक दृष्टिकोण के अनुसार राज्य सन्धि के तुरन्त अवसायन का अधिकार रखता है। वर्तमान व्यवहार इस दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करता। आजकल यह माना जाता है कि यदि सन्धि की परिस्थिति बदल जाए तो राज्य को सन्धि के दायित्वों से एकदम छुटकारा नहीं पा लेना चाहिए। राज्य को दूसरे पक्षों को सूचना देनी चाहिए तथा उनसे सन्धि को समाप्त करने की प्रार्थना करनी चाहिए। लौसाने की सन्धि (1923) को 1936 मे समाप्त करने के लिए टर्की ने यही प्रतिक्रिया अपनाई थी। योरोप की राजनीतिक तथा सैनिक स्थिति मे मौलिक परिवर्तन के कारण डार्डेनेलस और वास्फोरस के दर्रों से सम्बन्धित इस सन्धि को समाप्त करना आवश्यक माना गया। टर्की की प्रार्थना पर 1936 मे मोन्ट्रेक्स मे सम्बन्धित शक्तियो का एक सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन ने पुरानी सन्धि के स्थान पर नई सन्धि स्वीकार की। ऐसी परिस्थितियो मे एक अन्य सुझाव यह है कि सम्बन्धित पक्षो को यह प्रश्न निर्णय के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण को सौंप देना चाहिए।

परिस्थितियो की अपरिवर्तन-शीलता के सिद्धान्त के दुरुपयोग की सम्भावनाएँ हैं। इसकी आड़ लेकर राज्य अपनी सन्धियाँ भग कर सकते हैं। आजकल सामान्य रूप से यह माना जाता है कि इस सिद्धान्त को केवल अपवाद रूप मे ही लागू किया जाए और परिस्थितियो में प्रत्येक परिवर्तन के कारण राज्य को सन्धि के दायित्व नहीं छोड़ देने चाहिए। वैटिल का कहना था कि, "केवल उन्हीं परिस्थितियों मे आने वाला परिवर्तन सन्धि मे किए गए वचनो के पालन को रोक सकता है जिनके कारण सन्धि की गई थी।" यद्यपि विचारकों ने समय-समय पर इस सिद्धान्त की

उदार व्याख्याएँ करके राज्यों को सन्धि भंग करने की स्वच्छन्दता प्रदान की है किन्तु आजकल प्राय. इस दृष्टिकोण को नही माना जाता।

आधुनिक विधि-शास्त्री मि केल्सन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे इस सिद्धान्त को रास्वीकार करते हैं। इनका मत है कि इस विधेयात्मक (Positive) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भाग सिद्ध नही किया जा सकता। लन्दन की सन्धि (1871) में की गई घोषणा इसका स्पष्ट खण्डन करती है। अब तक किसी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस नियम के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। मैकनेयर मानते हैं कि न्यायालय ने किसी अन्तर्राष्ट्रीय अभियोग मे स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त को लागू नहीं किया। ब्रायर्ली इस सिद्धान्त के दुरुपयोग के प्रति सचेत होकर कहते हैं—"इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए अन्यथा कोई भी राज्य इन असुविधाजनक सन्धियों को तोड़ने का बहाना बना लेगा।" इस सिद्धान्त का क्षेत्र सीमित है।

प्रो ओपेनहेम ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है, किन्तु इसके दुरुपयोग को रोकने के लिए वे इसका प्रयोग केवल अपवाद-रूप परिस्थितियों के समय करने को कहते हैं। उनके मतानुसार—"प्रत्येक सन्धि मे यह शर्त अन्तर्निहित रहती है कि यदि परिस्थितियों मे अकल्पनीय परिवर्तन होने के कारण सन्धि का कोई दायित्व किसी पक्ष के अस्तित्व के विकास के लिए घातक बन जाए तो उसे सम्बन्धित दायित्व से छुटकारा पाने का अधिकार है।" ओपेनहेम का यह मत उपयुक्त तथा सतुलित प्रतीत होता है।

—⸺—

17 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन : इतिहास, राष्ट्र-संघ, न्याय का स्थायी न्यायालय, न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके विशिष्ट अभिकरण, अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक विधि

(International Organization : History, League of Nations, Permanent Court of Justice, United Nations and Its specialised Agencies, International Criminal Law)

बीसवी शताब्दी मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे विकास का एक प्रमुख क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो की वृद्धि रहा है। मानव-इतिहास में पहली बार सार्वभौमिक प्रकार (Universal Type) के स्थाई सगठनो का उदय हो पाया है। सम्भवत 'स्थायी' शब्द उपयुक्त प्रतीत न हो क्योकि राष्ट्रसघ का जीवनकाल लगभग चौथाई शताब्दी तक ही रहा था और उसमे भी प्रभावकारी अवधि मुश्किल से पन्द्रह वर्ष की ही थी तथा सयुक्त राष्ट्रसघ का भविष्य भी, तीन दशाब्दियो से भी अधिक के सक्रिय अस्तित्व के बावजूद, अभी तक बहुत अनिश्चित है। फिर भी यह प्रवृत्ति निश्चित रूप से विकसित हो चुकी है कि शान्ति, सुरक्षा, समृद्धि और विभिन्न समस्याओ के समाधान के लिए राष्ट्र परस्पर टकराने के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के माध्यम से अपनी नीतियो और हितो का सरक्षण करे। युद्ध और असुरक्षा के विरुद्ध मनुष्य की शान्तिप्रिय और सहयोगपूर्ण भावनाओं ने ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो की स्थापना की दिशा मे अग्रसर किया है अन्तर्राष्ट्रीयतावाद पुष्पित-पल्लवित तभी होता है जब बमो की वर्षा होती है। कूटनीति, सन्धि-समझौते, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, सम्मेलन, प्रशासन, न्यायीकरण (Adjudication) आदि भेद विश्व सगठनो के विशेष रूप हैं, तथापि विश्व-सगठन का सामान्य रूप 'अन्तर्राष्ट्रीय सगठन' (International Organization) माना जाता है, जैसे कि सयुक्त राष्ट्रसघ।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की अवधारणा
(Concept of International Organization)

परिभाषा एवं स्वरूप—अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्वतन्त्र और प्रभुतासम्पन्न राज्यों का एक औपचारिक समूह होता है जिसकी स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा, सहयोग आदि कुछ विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन चाहे रूप, आकार, उद्देश्य आदि की दृष्टि से सर्वथा भिन्न हो तथापि उनके जन्म के मूल में यही भावना निहित होती है कि मानव समाज संघर्षों से दूर हटकर एक बने। चूँकि इस प्रकार संगठनों में प्रवेश करते समय राज्य अपनी सम्प्रभुता पर आँच नहीं आने देते अतः ये अधिराष्ट्रीय राज्य (Supra-national States) से भिन्न होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अभिप्राय और स्वरूप को विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से प्रकट किया है।

आर्गेनकी के अनुसार 'अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना तब होती है जब कुछ राष्ट्र संयुक्त हो जाते हैं और जब उनमें से प्रत्येक यह अनुभव करता है कि एक औपचारिक संगठन के क्रियाशील होने से उसको लाभ ही होगा।'

चार्ल्स लर्च के शब्दों में 'कुछ सामान्य उद्देश्यों के लिए संगठित राष्ट्रों के औपचारिक समूह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कहे जा सकते हैं। स्वरूप की भिन्नता के बावजूद उनका उदय समान प्रेरक तत्त्वों से होता है और उनके दर्शन तथा संगठन में महत्त्वपूर्ण समानता पायी जाती है।'

शीवर तथा हैवीलैण्ड ने लिखा है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के मध्य स्थापित वह सहकारी व्यवस्था है जिसकी स्थापना कुछ परस्पर लाभप्रद कार्यों को नियमित बैठकों और स्टाफ के जरिए पूरा करने के लिए सामान्यतः एक आधारभूत समझौते द्वारा होती है।'

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के उद्देश्य सामान्यतः व्यापक किन्तु अस्पष्ट, आदर्श तथा गोलमोल शब्दावली में लिखे होते हैं ताकि उन्हें विश्व-व्यापी समर्थन प्राप्त हो सके और सभी राष्ट्र उसकी सदस्यता प्राप्ति के लिए उत्साहित हों। जिन संगठनों के उद्देश्य स्पष्ट और निश्चित होते हैं उनकी सदस्य-संख्या प्रायः सीमित होती है, पर ऐसे संगठनों के पास शक्ति अधिक होती है और उनके सदस्यों में सहमति भी अधिक पायी जाती है। सदस्यता की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का इस रूप में सार्वभौमिक होना आवश्यक नहीं है कि विश्व के सभी राष्ट्र अनिवार्यतः उसके सदस्य हों, तथापि इस रूप में उसका सर्वव्यापी होना अपेक्षित है कि वे सभी महाशक्तियाँ, जो विश्व-शान्ति बनाए रखने में समर्थ हैं, संगठन में शामिल हो जाएं। यदि महाशक्तियों में एक दूसरे के मौलिक उद्देश्यों, हितों और दायित्वों के सम्बन्ध में कोई परस्पर समझौता न हो और वे शान्ति की रक्षा के लिए सहयोग करने पर सन्नद्ध न हों तो शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से निर्मित किए गए सभी संगठन पूरे कागजी सिद्ध होंगे। इन शक्तियों के सहयोगी रुख के बिना कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आवश्यक शान्ति और एकता स्थापित करने की दिशा में अग्रसर नहीं हो

सकता। राष्ट्रसघ और सयुक्त राष्ट्रसघ का इस दिशा मे लेखा-जोखा हमारे सामने है।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की प्रकृति के सम्बन्ध मे इनिस क्लाडे (Inis L Claude) के विचार उल्लेखनीय हैं। क्लाडे के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सगठन आधारभूत रूप से दोहरी प्रकृति (Dualistic Nature) प्रदर्शित करते हैं क्योंकि ये यथार्थवादी राजनीतिज्ञो और आदर्शवादी स्वप्निल विचारकों दोनों की उपज होते हैं।

एक ओर तो अन्तर्राष्ट्रीय सगठन वह साधन है जिसके माध्यम से वर्तमान राज्य-व्यवस्था (Modern State System) अधिक सन्तोष जनक रूप से कार्य करने मे समर्थ हो सकती है। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सगठन बहुराज्यीय व्यवस्था (Multi State System) के सन्दर्भ मे स्थापित होता है। यह सम्प्रभु राज्य को विश्व-राजनीतिक जीवन की आधारभूत इकाई मानता है। यह कोई भी ऐसी सरकार (Super Government) बनाने मे प्रयत्नशील नहीं होता जिसके द्वारा राज्यों की सम्प्रभुता का विनाश हो और उनकी सरकारो के सभी कार्य इसके (अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के) हाथ मे आ जाए। अन्तर्राष्ट्रीय सगठन अन्तर्राज्यीय सम्बन्धो के सचालन के पुराने तरीकों की जगह नये, अधिक सुन्दर और श्रेयस्कर तरीकों का आविष्कार करता है, राज्यों मे ऐच्छिक सहयोग को अधिक सुविधाजनक और सुदृढ़ बनाने के लिए नए अभिकरणों की स्थापना करता है। राज्यो की नीतियो में समन्वय लाने का प्रयास करता है, राज्यो के मध्य आपसी विचार-विमर्श, समझौतो आदि के लिए उन्नत मार्ग सुझाता है और कूटनीतिज्ञो लिए समुचित रूप मे सगठित और व्यवस्थित ढाँचा प्रदान करता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सगठन कोई क्रान्तिकारी कदम न होकर राष्ट्रो का ऐसा समझौता मात्र है जिसके अन्तर्गत विभिन्न राष्ट्र परस्पर विचार-विनिमय द्वारा निर्णय ले सकें तथा निर्णयो को लागू करवा सकें। यह कहना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन, सुधार, अनुकूलन तथा वर्तमान राष्ट्रों के मध्य मधुर सम्बन्धो को स्थिर रखने की प्रेरणा देने वाला एक आन्दोलन है। दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय सगठन एक ऐसी प्रक्रिया भी माना जा सकता है जो विश्व सरकार की स्थापना की दिशा मे प्रयत्नशील हो। वर्तमान राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था का अतिक्रमण कर और आधारभूत रूप से नई व्यवस्था प्रतिस्थापित कर विश्व-बन्धुत्व और भ्रातृत्व के युगों पुराने स्वप्न को साकार करना चाहती हो। इस व्यवस्था के सम्बन्ध में यह कहना होगा कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों का प्रयास राज्यो को उनकी वर्तमान समस्याओ के समाधान मे सहयोग देना उतना नहीं है जितना विश्वशान्ति के अधिक विकसित स्वरूपो के विकास को आगे बढाना। इस प्रकार की विचारधारा सगठन के लिए निश्चित ही हानिकारक है। इसका कोई आधार नहीं है, किन्तु फिर भी विचार मूल रूप मे विद्यमान हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के दोहरे स्वरूप अथवा प्रकृति मे द्वन्द्व अथवा सघर्ष के बीज निहित हैं। यह कहना होगा कि राजनीतिज्ञ प्रथम स्वरूप के पोषक हैं।

उन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ के जन्म के लिए प्रयास अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर ही किया और यह भी अपेक्षा की कि बहुराष्ट्र-प्रणाली विश्व में सुचारु रूप से स्थापित हो सकेगी। जो व्यक्ति विश्व-सरकार की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को महत्त्व देते हैं, उनका तर्क है कि शनैः-शनैः राष्ट्रवादी प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति का रूप ले लेगी तथा विश्व-सरकार की रचना से पूर्व इसी दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को महत्त्व दिया जाना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के दोहरे स्वरूप (Dualistic Nature) के कारण इसके शत्रु और मित्र दोनों ही विद्यमान हैं। दोनों के मध्य मेल या सन्तुलन सतोषप्रद नहीं है। आज पलड़ा उन राजनीतिज्ञों का भारी है जो प्रभुता-सम्पन्न राज्य कायम रखने के पक्ष में हैं। अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों के अस्तित्व पर इन्हीं राजनीतिज्ञों का नियन्त्रण है—

आवश्यक तत्त्व—एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के मुख्य आवश्यक तत्त्व निम्नलिखित होते हैं—

(1) इसकी उत्पत्ति का आधार बहुपक्षीय अन्तर्राष्ट्रीय करार होता है।

(2) संस्था का एक विशिष्ट व्यक्तित्व होता है जो इसके व्यक्ति सदस्यों से भिन्न होता है।

(3) इसके स्थाई अंग होते हैं जो सामान्य उद्देश्यों के लिए कार्य करते हैं।

(4) इसके पूर्ण सदस्यों की इच्छा (Will) के मुकाबले में इसके अंग इच्छा की स्वतन्त्रता (Autonomy Will) का प्रदर्शन करते हैं।

मुख्य कार्य—आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं बहुमुखी कार्य सम्पादित करती हैं और उनके कार्यों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के जो कार्य सिद्धान्त रूप में मुख्य हैं और जिनके अन्तर्गत अन्य कार्य आ जाते हैं वे डॉ. कपूर के अनुसार इस प्रकार हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का सर्वप्रथम मुख्य कार्य यह है कि वह राज्यों की प्रभुत्व-सम्पन्नता को सुरक्षित रखते हुए तथा उनकी विभिन्न सामाजिक प्रणालियों के बावजूद उनमें परस्पर शान्तिपूर्ण सहयोग का प्रचार करें।

(2) दूसरा प्रमुख कार्य यह है कि व्यक्तिगत राज्यों के बीच चल रही प्रतिस्पर्द्धा (Competition) के स्वरूप को शांतिपूर्ण बनाये रखें।

प्रक्रिया के रूप में—अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एक प्रक्रिया (Process) है जबकि विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इस प्रक्रिया की गति अथवा रूप के प्रतिनिधि पहलू हैं। कूटनीति, सन्धि, समझौते, सम्मेलन, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, आदि साधनों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रक्रिया निरन्तर प्रवाहमान है जो मूर्तरूप में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को जन्म देती है।

सम्प्रभुता और अन्योन्याश्रय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के आधार रूप में—अन्तर्राष्ट्रीय संगठन दो परस्पर विरोधी तत्त्वों अथवा शक्तियों–राष्ट्रीय सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय अन्योन्याश्रयता के बीच समझौते का प्रयास है। यह अन्तर्निहित असंगति इनकी एक अनोखी विशिष्टता है। सम्प्रभुता की माँग कि राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानकर अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में व्यवहार किं

जाय और अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या बाह्य-शक्ति के आदेशों से बाधित न हुआ जाए जबकि अन्तर्राष्ट्रीय अन्योन्याश्रयता का तकाजा है कि राष्ट्र अपने अस्तित्व और विकास के लिए अन्य राष्ट्रों से सहयोग करें, उन्हें सहायता दें और उनसे सहायता लें। जिस गति से औद्योगिक और प्राविधिक युग का विकास हुआ है तथा समय और स्थिति का जो प्रवाह है उससे राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक निर्भरता के मार्ग से हटना आत्मघाती है।

अन्योन्याश्रयता में वृद्धि और सम्प्रभुता-सिद्धान्त से तीव्र लगाव, ये दोनों बातें इतनी परस्पर विरोधी हैं कि जब तक इनमें से किसी एक का अन्त नहीं होगा, राष्ट्रों के बीच संघर्ष और युद्ध चलते रहेंगे। साथ ही यह भी निश्चित है कि इनमें से किसी की भी समाप्ति असम्भव है। अत यही मार्ग श्रेयस्कर समझा जाता है कि इन दोनों शक्तियों के बीच इस प्रकार ताल मेल बैठाया जाय कि संघर्षों और युद्धों की भावनाएँ क्षीण हो जाएँ। अन्तर्राष्ट्रीय सगठन इस दिशा में एक प्रभावी प्रयास है। इसे हम समन्वयस्थली कह सकते हैं जहाँ राष्ट्रीय सम्प्रभुता को पूर्ण सम्मान देते हुए अन्योन्याश्रयता का विकास किया जाता है।

उद्देश्य—किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के सामान्यत स्वीकार किए जाने वाले उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1 युद्ध की रोक-थाम अथवा शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखना तथा

2 उन विभिन्न समस्याओं का निदान करना जो राज्यों के समक्ष उनके वैदेशिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में उपस्थित होती हैं।

युद्ध की रोक-थाम अथवा विश्व में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का सर्वोपरि उद्देश्य होता है। राष्ट्रसंघ (League of Nations) की संविदा (Covenant) की प्रस्तावना के अनुसार संघ का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना अर्थात् न्याय और सम्मान के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना करके भावी युद्धों को टालना तथा संसार के राष्ट्रों के मध्य सहयोग को प्रोत्साहन देना था। इसी प्रकार वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ का लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की रक्षा करना, राष्ट्रों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना है। दुर्भाग्यवश व्यवहार में दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय सगठन घोषित सिद्धान्तों के अनुकूल पूरी तरह आचरण नहीं कर पाए। उदाहरणार्थ, जब इथोपिया पर इटली का आक्रमण हुआ तो राष्ट्रसंघ अपने सामूहिक उत्तरदायित्व से विमुख हो गया और प्रभावकारी प्रतिबन्ध (Effe tive Sanctions) लागू नहीं कर सका। राष्ट्रसंघ असफल ही मुख्यत इसलिए हुआ कि सदस्य राष्ट्रों ने संघ के प्रति खुलकर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से दायित्वहीनता प्रदर्शित की। कुछ मामलों में इसी प्रकार का रवैया संयुक्त राष्ट्रसंघ का रहा है। उदाहरणार्थ, सन् 1950 में संघ के अधिकांश सदस्यों ने उत्तरी कोरिया के आक्रमण को रोकने में संघ के उद्देश्य के प्रति सहानुभूति प्रकट की, लेकिन कार्यवाही के लिए 16 राष्ट्रों ने ही अपनी सैनिक टुकड़ियाँ दीं। वस्तुतः

सामूहिक सुरक्षा के सम्बन्ध मे जो उत्तरदायित्व सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्यों को वहन करना चाहिए, उसका अभी तक भारी अभाव बहुत ही खटकने वाली बात है।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का दूसरा उद्देश्य ससार के राष्ट्रो के समक्ष अपने अपने वैदेशिक सम्बन्धो के निर्वहन के सम्बन्ध मे उठने वाली विभिन्न समस्याओं का शान्तिपूर्ण ढग से हल निकालने मे यथासम्भव सहयोग देना है। यह उद्देश्य बहुत विस्तृत अथवा बहुमुखी है जिसमे किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को बडी सूझ बूझ, निष्पक्षता, कूटनीतिक चातुर्य और प्रभावशाली अनुशासनात्मक कार्यवाही का आश्रय लेना पडता है। इस उद्देश्य का क्षेत्र स्वास्थ्य से लेकर आर्थिक विकास और डाक-दरों से लेकर बाह्य अन्तरिक्ष तक व्यापक है। प्रतिवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के सम्मुख नई पुरानी विविध समस्याओं का अम्बार लगा रहता है जिन्हें नित्य बदलती हुई परिस्थितियो के अनुकूल सुलझाना पडता है। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रसार के लिए ससार के राष्ट्रों को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदान प्रदान के लिए प्रेरित करता है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून भग करने वाली चेष्टाओं के विरुद्ध प्रभावशाली सामूहिक कार्यवाही करने को सचेष्ट रहता है और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार सुलझाना चाहता है। विश्व के राष्ट्रो को शान्ति, समृद्धि और व्यवस्था के प्रति अपने नैतिक उत्तरदायित्व का पालन करना पडता है, अत: सगठन को अधिकांश मामलो मे सफलता की आशा बनी रहती है। सगठन का नैतिक प्रभाव प्राय प्रभावशाली ढग से कार्य करने मे सक्षम होता है। आर्थिक, सामाजिक स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में सयुक्त राष्ट्रसघ द्वारा की जाने वाली कार्यवाहियाँ इसका प्रमाण है।

सक्षेप मे, प्लानो तथा रिग्ज के शब्दो में, "अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के उद्देश्य लगभग असीम हैं। अधिक सामान्य रूप में इन बहुमुखी उद्देश्यो (Manifold Purposes) को इन तीन मोटे लक्ष्यो मे व्यक्त किया जा सकता है—शान्ति (Peace), समृद्धि (Prosperity) एव व्यवस्था (Order)।"

वर्गीकरण—वर्तमान सन्दर्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों से हमारा आशय किन्हीं अस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों आदि से नही है, वरन् राष्ट्रसघ, सयुक्त राष्ट्रसघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सगठन आदि औपचारिक एव स्थाई अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं से है। अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के विभिन्न स्वरूप प्रचलित रहते हैं। इनका वर्गीकरण मुख्यत निम्नांकित आधारो पर किया जा सकता है—

1. उत्तरदायित्व के क्षेत्र के आधार पर,
2. सदस्यता के विस्तार के आधार पर,
3. कार्यों के स्वरूप के आधार पर, एव
4. सत्ता के आधार पर।

उत्तरदायित्व की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सगठन दो वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं—(क) व्यापक संगठन, एव (ख) प्रकार्यात्मक सगठन। व्यापक सगठनों के सामान्य उद्देश्य, कार्य और दायित्व बहुत व्यापक होते हैं। राष्ट्रसघ और स‌ुक्त

राष्ट्रसंघ इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के उत्तम उदाहरण हैं। प्रकार्यात्मक संगठनों का भी उत्तरदायित्व यद्यपि व्यापक होता है, तथापि उनका कार्यक्षेत्र व्यापक संगठनों की तुलना में सीमित होता है। प्रकार्यात्मक संगठनों के उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन, विश्व-स्वास्थ्य संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रानिधि, विश्व डाक-संघ आदि हैं। इन्हें गैर-राजनीतिक संगठन भी कहा जाता है।

सदस्यता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को दो वर्गों में बाँटा जाता है—(क) सार्वभौमिक, एवं (ख) प्रादेशिक। सार्वभौमिक संगठन की सदस्यता विश्व के सभी राष्ट्रों के लिए खुली होती है। उन राष्ट्रों को इसका सदस्य बनने से रोका जा सकता है जो विश्व-शांति और सुरक्षा के लिए खतरा हो तथा युद्धप्रिय और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को पलीता लगाने वाले हों। सार्वभौमिक प्रकृति के संगठन किसी विशेष स्वार्थ, सिद्धान्त अथवा विचारधारा से आबद्ध नहीं होते। आक्रामक विचारों से दूर रहते हुए वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा और सहयोग के आकांक्षी होते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ, विश्व डाक संघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन आदि सार्वभौमिक प्रकृति की ही संस्थाएँ हैं। प्रादेशिक संगठन, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, किसी क्षेत्र विशेष के हितों की रक्षा के लिए स्थापित किए जाते हैं। इनकी सदस्यता उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित होती है। अमेरिकी राज्य-संगठन, वारसा-सन्धि संगठन, यूरोपीय साझा बाजार, नाटो, सीटो, आदि संगठन प्रादेशिक प्रकृति के हैं।

कार्य-सम्पादन के ढंग के आधार पर भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को प्रायः दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—(क) नीति-निर्माण सम्बन्धी, (ख) प्रशासकीय। नीति-निर्माण सम्बन्धी संगठनों का उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन है। यह संगठन श्रमिकों के सम्बन्ध में नीति-निर्माण करता है और सदस्य राष्ट्रों से सिफारिश करता है कि वे उन नीतियों को क्रियान्वित करें। विश्व स्वास्थ्य संगठन का कार्य भी नीति-निर्धारण का ही है। प्रशासकीय संगठनों में विश्व डाक-संघ, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के संगठन प्रशासकीय सेवाओं और विवादों का समाधान करते हैं। कुछ संगठन ऐसे भी होते हैं जो प्रशासकीय और नीति-निर्माण सम्बन्धी दोनों कार्य करते हैं—जैसे संयुक्त राष्ट्रसंघ।

सत्ता-प्रयोग के ढंग की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का वर्गीकरण वैधानिक सत्ता प्राप्त एवं राजनीतिक सत्ता प्राप्त संगठनों के रूप में किया जाता है। वैधानिक सत्ता प्राप्त संगठन के निर्णयों को स्वीकार करने के लिए सदस्य राष्ट्र कानूनी रूप से बाध्य होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और कुछ हद तक सुरक्षा-परिषद् इस प्रकार के संगठन हैं जिनके कार्य और आदेशों का राज्यों और व्यक्तियों पर कानूनी तौर पर लागू होना आवश्यक है। जिन संगठनों को केवल राजनीतिक सत्ता प्राप्त होती है, वे अधिक से अधिक सिफारिशें कर सकते हैं, जिनको मानना या न मानना राज्यों की इच्छा पर निर्भर होता है। ये संगठन राजनीतिक होते हैं जो किसी कार्य को प्रोत्साहन देने वाली सुविधाएँ जुटाने में सहयोग देते हैं। उनके निर्णय कानूनी रूप से बाध्य नहीं होते। विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इसी वर्ग में आते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और कुछ हद तक सुरक्षा-परिषद् को छोड़कर संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बन्धित अन्य सभी संगठन कानूनी न होकर राजनीतिक ही कहे जाएँगे। पश्चिमी यूरोप के राज्यों के 6 संगठन जैसे—यूरोपीय कोयला और इस्पात संगठन, यूरोपीय अर्थ संगठन यूरोपीय अनुसन्धान संगठन आदि के पीछे कानूनी शक्ति एवं मान्यता है। इन संगठनों के निर्णयों का पालन सदस्य-राष्ट्रों के लिए अनिवार्य है। उल्लंघनकर्त्ता राज्यों को दण्डित करने का अधिकार भी संगठन को प्राप्त है। इसी कारण इन्हे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन न कह कर प्रायः अधिराष्ट्रीय संगठन (Supranational Organisation) कहा जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का इतिहास
(History of International Organisations)

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इतिहास की लम्बी प्रक्रिया की उपज है। राष्ट्रों के बीच शान्ति और सुरक्षा कायम रखना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक प्रमुख विचारणीय विषय रहा है। पामर एवं परकिंस के अनुसार वर्तमान संगठन के आदि स्वरूप (Proto Types) के दर्शन हमें प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहास में होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के वर्तमान नमूने का विकास उस राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था के समय से होता रहा है जिसका उदय अनेक शताब्दियों पूर्व हुआ था। विशेषकर यह विकास सन् 1648 की वेस्टफेलिया कांग्रेस के समय से अधिक स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण है।

प्रो. विटमैन डी पोटर ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के छः विशेष रूप अथवा प्रकारों का उल्लेख किया है—कूटनीति, सन्धि वार्ता, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, सम्मेलन, प्रशासन एवं न्यायीकरण। इसके अतिरिक्त एक-सामान्य रूप अन्तर्राष्ट्रीय संघ (International Federation) का है।

पामर और परकिंस के अनुसार प्रो. पोटर का वर्गीकरण वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन न होकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार (International Intercourse) की प्रणालियों से सम्बन्धित है। पामर और परकिन्स का यह दृष्टिकोण वास्तव में सही है कि "अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के मध्य स्थापित वह सहकारी व्यवस्था है जिसकी स्थापना कुछ पारस्परिक लाभप्रद कार्यों को नियमित बैठकों एवं स्टाफ द्वारा पूर्ण करने के लिए सामान्यतः एक आधारभूत समझौते द्वारा होती है।" यदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की इस सुविकसित परिभाषा को आधार बनाया जाए तो वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के कुछ ही उदाहरण प्राप्त हो सकेंगे जबकि प्रो. पोटर की धारणा के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के कम से कम आदिम रूप (Primitive Form) में अस्तित्व कम से कम लिखित इतिहास का अधिकांश युग में रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास को सुविधा एवं स्पष्टता की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) राष्ट्रसंघ से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विकास, एवं

(ख) राष्ट्रसंघ की स्थापना से अब तक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का *विकास*।

राष्ट्रसंघ से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विकास
(The Evolution of International Organization before the League of Nations)

यूनानी नगर राज्य-काल मे—प्राचीन यूनान के स्वर्णिम युग से बहुत पहले ही चीन, भारत, मेसोपोटामिया एव मिस्र सहित विश्व के अनेक ज्ञात भागो मे एक प्रकार के अन्तर-राज्यीय सम्बन्धो (Inter-State Relations) का अस्तित्व था। शासको और राज्यो के बीच सम्बन्ध असामान्य नहीं थे, वरन् कूटनीतिक व्यवहारो, व्यापारिक सम्बन्धो, मैत्री-सन्धियों, यौद्धिक संहिताओ और शान्ति की शर्तों आदि के सम्बन्ध मे समझौते अथवा सहमति का पर्याप्त क्षेत्र विद्यमान था। गेरार्ड मेनगोने (Gerard J. Mangone) के शब्दो मे "अतीत की संधियाँ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की दिशा मे प्रथम चरण थी।"

यद्यपि यूनान के निवासी अपने देश की सीमाओं से बाहर की समस्याओं के प्रति उदासीन रहते थे और उनकी स्थानीय भक्ति उन्हें वास्तविक राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने से रोकती थी, तथापि ऐम्फिक ट्यूनिक परिषद् जैसी संघीय संस्था और यूनानी नगर-राज्यो के विभिन्न मण्डलो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो के कुछ ऐसे अल्पविकसित रूपो का विकास हो गया था जो किन्हीं दृष्टियों से आधुनिक कहे जा सकते हैं। पामर एव परकिंस के शब्दो मे, "सन्धियाँ, संगठन, कूटनीतिक व्यवहार और सेवाएँ, पच-निर्णय तथा विवादो के शातिपूर्ण निर्णय के उपाय, युद्ध और शाति के नियम, सघ (Leagues) और परिसघ (Confederation) तथा अन्तर-राज्यीय सम्बन्धो के नियमन के अन्य साधन उस समय अज्ञात नहीं थे, उनका पर्याप्त प्रयोग होता था। राज्यो के बीच सहयोग और सामजस्य स्थापित करने की भावना जन्म ले चुकी थी।"

अभिप्राय यह है कि यद्यपि विधि अथवा संगठन का कुछ समान या एक मापदण्ड नहीं था तथापि कुछ सामान्य प्रथाएँ और व्यवहार इस बात के प्रमाण हैं कि कुछ सीमित क्षेत्रो मे सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रारम्भिक विचार विद्यमान थे। यूनानी राज्यो मे शान्ति को सामान्य सम्बन्ध के रूप मे देखा जाने लगा था। यद्यपि राजदूत नियमित रूप से नहीं रखे जाते थे, तथापि उनका आदान-प्रदान होता रहता था। राज्यो को 'मान्यता' देने के तरीके स्थापित हो चुके थे। वाणिज्यिक सेवाओ (Consular services) का विकास शुरू हो गया था और वाणिज्यिक तथा कूटनीतिक अधिकारियो (Consular and Diplomatic Officers) को विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती थीं। कुछ ऐसी प्रथाओं या रिवाजो का समूह था जो आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून से मिलती-जुलती थीं, जिनसे युद्ध एव शान्ति की व्यवस्थाएँ अनुशासित होती थीं। तृतीय पक्ष के न्याय की प्रथा का विकास सम्भवतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था और अन्तर्राज्यीय विवादों के 'शान्तिपूर्ण समाधान' (Peaceful settlement) के स्थायी अभिकरण भी थे। पचनिर्णय या विवाचन (Arbitration) सामान्य बात थी।

रोम के सार्वभौमिक साम्राज्य से वेस्टफेलिया तक—अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की दिशा मे रोमनो का योगदान कुछ भिन्न प्रकार का था। जब रोम ने एक प्रकार का सार्वभौमिक साम्राज्य (Universal Empire) स्थापित कर लिया, तब भी इस साम्राज्य के केन्द्रीय स्वरूप और चीन तथा भारत जैसे शक्ति केन्द्रो से इसकी दूरी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का मार्ग अवरुद्ध ही रहा। उस समय रोमनो के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का विचार अपरिचित या विदेशी था। तथापि उन्होने वैधानिक, सैनिक और प्रशासनिक तकनीकों की दिशा मे योगदान किया और 'जस-जेंशियम' (Jus-gentium) का वह आधार स्थापित किया जो आगामी शताब्दियो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक उर्वर स्रोत बन गया।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की दिशा मे सन् 1414 मे 'कौनसेंस परिषद्' (The Council of Constance) एक महत्त्वपूर्ण कदम थी। वह उस समय तक के इतिहास मे एक बहुत ही दर्शनीय अन्तर्राष्ट्रीय काग्रेस थी जो पोपशाही के विरोधी दावों का समाधान करने के लिए और इस प्रकार यूरोप के राजनैतिक एव आध्यात्मिक भाग्य की रूपरेखा निर्धारित करने के लिए आयोजित हुई थी। उस समय रोमन चर्च भौतिक और आध्यात्मिक सभी क्षेत्रो मे अपनी पूर्ण प्रभुता का आकांक्षी था। यद्यपि भौतिक शक्ति की आकांक्षाओ की पूर्ति मे वह असफल रहा और साथ ही सभ्य विश्व के अधिकांश भाग की पूर्ण आध्यात्मिक भक्ति भी अर्जित नही कर सका तथापि यह निर्विवाद है कि आज तक के गैर-राजनैतिक सगठनो मे रोमन चर्च सर्वाधिक शक्तिशाली रहा है।

पामर एव पार्किन्स के अनुसार सम्पूर्ण मध्ययुग मे राजनैतिक, व्यापारिक और धार्मिक क्षेत्रो मे सन्धियो और सघो तथा समूहो का निर्माण होता रहा। उनमे 'हसेटिक सघ' (The Hanseatic League) बहुत ही महत्त्वपूर्ण था जिसका निर्माण मुख्यत व्यापार-विस्तार के लिए हुआ था, लेकिन जिसने एक प्रकार के राजनीतिक सगठन का रूप धारण कर लिया। मध्ययुग मे सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और विख्यात परिसघ (Confederation) वह था जो तीन स्विस कैण्टनो (उरी, श्वेज तथा अण्टर-वाल्डेन) के मध्य सन् 1315 की एक सन्धि से विकसित हुआ था और जिसमे 14वी शताब्दी की समाप्ति से पूर्व पाँच अन्य कैण्टन और शामिल हो गये।

अन्तर्राज्यीय पद्धति और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के विकास की दिशा मे राजनीतिक दार्शनिको ने भी इस काल में महत्त्वपूर्ण योग दिया। उन्होने यह कल्पना की कि एक विश्व-समाज अथवा विश्व प्राधिकारी ही आक्रमणकारी राष्ट्रो को उचित नियन्त्रण मे रखकर शान्ति और सुरक्षा की अभिवृद्धि कर सकता है। स्टीफन पर्सोमी के अनुसार, "सन् 1000 मे पोटियर्स की परिषद् ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसके अनुसार कैथोलिक धर्म के शासको का यह कर्त्तव्य माना गया कि वे अपने साधनो से बलपूर्वक युद्ध का विरोध करें।" बोर्डम के आर्कबिशप एमन के दण्डात्मक अभियानो को आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सेना का पूर्वगामी समझा जा सकता

है। विश्व-समाज का स्पष्ट चित्रण हमें 14वीं शताब्दी के दो दार्शनिकों, पियरे दुबिश और दांते की रचनाओं में मिलता है।

पियरे दुबिश (Pierre Dubois) ने अपनी पुस्तक The Recovery of the Holy Land' में अन्तर्राष्ट्रीय पंच-निर्णय की व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना का विचार प्रकट किया। उसने इस बात पर बल दिया कि फ्रांसीसी सम्राट् के नेतृत्व में सम्पूर्ण इसाई जगत् का एकीकरण किया जाय। दुबिश ने अपनी योजना में सैनिक शक्ति की भी व्यवस्था की। उसने यह विचार प्रकट किया कि यदि कोई शासक पंच-निर्णय अथवा शासकों की परिषद् की अवहेलना करे तो आक्रमणकारी को रोकने के लिए सैनिक-शक्ति का प्रयोग किया जाए। यह भी कहा गया कि आक्रमणकारी राज्य के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध भी लागू किये जा सकते हैं। यद्यपि क्लाइड इगिल्टन के अनुसार उस समय दुबिश की योजना अव्यावहारिक थी, तथापि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह अपने प्रकार की प्रथम सुव्यवस्थित योजना थी।

इटली के दार्शनिक दांते (Dante) ने अपने ग्रन्थ 'मोनार्कियां' में यह विचार व्यक्त किया कि इटली और विश्व को अशांति से मुक्ति तभी मिल सकती है जब पापशाही को लौकिक क्षेत्र से निष्कासित कर एक सर्व-शक्तिसम्पन्न सम्राट् की अधीनता में एक सर्वव्यापी साम्राज्य की स्थापना की जाय। उसने कहा कि शान्ति और समृद्धि तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण मानव-जाति एक राजनीतिक इकाई में संयुक्त होकर एक सम्राट् की छत्रछाया में सुखमय जीवन व्यतीत करे। एक विश्व-साम्राज्य के विभिन्न छोटे राज्य अर्द्ध स्वतन्त्र सदस्यों के रूप में संगठित होकर, सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण में लग सकते हैं। दांते का स्पष्ट विचार था कि एक बाह्य तीसरी शक्ति ही समान शक्ति वाले शासकों पर नियन्त्रण रख सकती है।

बोहेमिया के सम्राट् पोडिब्रेड ने भी एक वास्तविक विश्व-राज्य का विचार प्रस्तुत किया जिसके अन्तर्गत सभी सदस्य राज्यों का यह कर्त्तव्य था कि वे एक-दूसरे की पारस्परिक सहायता करें और आपसी विवादों को विवाचन या पंच-निर्णय के लिए प्रस्तुत करें। संगठन के आदेशों को लागू करने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग भी वर्जित नहीं। सन् 1461 में पोडिब्रेड ने सुझाव दिया कि टर्की साम्राज्य के विरुद्ध फ्रांस, बोहेमिया और वेनिस को मिलाकर गठबन्धन करना चाहिए। योजना के अन्तर्गत बेसिल में एक सभा आयोजित की गयी। योजना का ध्येय यह भी था कि तीनों राज्य विश्व को अपने प्रभाव में रखकर उस पर शासन करें।

कुछ समय बाद ऐसे लेखक भी हुए जिन्होंने गैर-इसाई धर्मावलम्बी राज्यों को भी विश्व-समाज में स्थान देना उपयुक्त समझा। विक्टोरिया, सुरेज, जेंटिली आदि लेखकों ने मानव-जाति और विश्व समाज की मजबूती का विचार प्रस्तुत किया। ग्रोशियस (Grotius) आदि ने कहा कि धर्म के आधार पर किसी भी देश का विरोध अनुचित है।

सन् 1623 म प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ले नुवो माइनी' मे एमरिक क्रूस (Emric Cruce) ने एक ऐसे विश्व-सघ के निर्माण का विचार रखा जिसमे चीन, फारस, इण्डीज आदि भी सम्मिलित थे। यह प्रस्तावित किया गया कि सघ मे एक विश्व-सभा और एक विश्व-न्यायालय भी हो जिनके द्वारा समझौतों तथा पचायत द्वारा अन्तर्राज्यीय व्यापार, कला, विज्ञान और शान्ति को प्रोत्साहन मिले। क्रूस ने राजदूतो के स्थायी सम्मेलन की स्थापना का भी समर्थन किया जिसका उद्देश्य विभिन्न राज्यो के बीच मतभेदो को दूर करना हो। यह कहा गया कि कोई शासक सम्मेलन के निर्णयों के विरुद्ध कार्य न करे अन्यथा उसके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग किया जाएगा। क्रूसे ने घोषणा की कि "यदि वे (शासक) इस सम्मेलन के सदस्य होने के नाते एकतापूर्वक काम करेंगे तो स्थायी शान्ति को कोई भी शक्ति भग नहीं कर सकती।" क्रूसे की योजना अपने सभी पूर्वगामी योजनाओ की अपेक्षा अधिक उत्तम थी। वह 20वी शताब्दी मे भी उतनी ही मान्य है जितनी 1620 मे थी। क्लाइड इगिल्टन ने क्रूसे की योजना को 'राष्ट्र-सघ' का उल्लेखनीय पूर्वगामी माना है।

उसी समय के लगभग फ्रासीसी सम्राट् हेनरी चतुर्थ की ग्रैण्ड डिजाइन नामक योजना प्रकाश मे आयी जिसे वास्तव मे डक-डि-सली (Duc-de-Sully) ने प्रस्तुत किया था किन्तु सस्मरण मे इसका श्रेय फ्रासीसी सम्राट् को दिया गया। योजना के अन्तर्गत एक पन्द्रह सदस्यीय यूरोपीय सघ शासन की व्यवस्था को गयी जिसकी सघीय-सीनेट का कर्त्तव्य था कि वह इस बात का निश्चय करे कि प्रत्येक सदस्य-राज्य सघ शासन के अधीन कितनी सशस्त्र सेना रखे। यह प्रस्तावित किया गया कि सीनेट सघ शासन के लिए एक प्रबन्ध निकाय का कार्य करेगी और सदस्यो के बीच उत्पन्न होने वाले विवादो का निपटारा करेगी। सीनेट का यह भी कर्त्तव्य निर्धारित किया गया कि वह अपनी छः क्षेत्रीय परिषदो की सहायता से विभिन्न समस्याओ पर विचार करे और राष्ट्रो के आपसी विवादो को सुलझाये। योजना के अन्तर्गत एक यूरोपीय सेना की भी व्यवस्था की गयी जो सीनेट के निर्णयो के विरुद्ध कार्य करने वाले सदस्य राज्य का शक्ति द्वारा सामना कर सकती थी।[1] सीनेट के निर्णयो को लागू करना इस सेना का ही दायित्व था। सीनेट को अधिकार था कि वह अपने निर्णय को *कार्यान्वित कराने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सेना और नौसेना की व्यवस्था करे।* उल्लेखनीय है कि सन् 1932 मे फ्रास के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री टार्डू तथा हेरियट ने भी राष्ट्रसघ के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन मे कुछ इसी प्रकार का सुझाव रखा था।

वेस्टफेलिया से वियना तक—पामर एव पर्किन्स के अनुसार मध्ययुगीन व्यवस्था की समाप्ति तथा 15वी, 16वीं और 17वीं शताब्दी मे शनैः-शनैः प्रोटेस्टेंट सुधार-आन्दोलन, कैथोलिक पुनर्जागरण, खोजों और अन्वेषणों के फलस्वरूप व्यापार और वाणिज्य के विस्तार तथा वर्तमान राज्य-व्यवस्था के उदय के साथ अन्तर्राष्ट्रीय

1 *Fredrick L. Schuman* The Commonwealth of Man, p 347

सम्बन्धो ने एक नयी दिशा और स्वरूप ग्रहण किया। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सिद्धान्त और व्यवहार मूल रूप धारण करने लगे तथा संस्थाएँ विकसित होने लगीं। यद्यपि इन सिद्धान्तो, व्यवहारो और संस्थाओं का 19वीं एव 20वीं शताब्दी से पूर्व पूर्ण विकास नहीं हो सका तथापि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के भावी स्वरूप के ये प्रभावी आधार-स्तम्भ बने। मेकियावली ने उन व्यवहारो का, जो उत्तरी इटली के नगर-राज्यों के आपसी सम्बन्धों मे प्रचलित थे 15वीं शताब्दी के अन्तिम और 16 शताब्दी के प्रारम्भिक भाग मे प्रतिपादन किया और अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों (Inter-State Relations) के अध्ययन को एक नई वास्तविकता प्रदान की। फ्रांसीसी विद्वान् बोदाँ (Bodin) ने 16वीं शताब्दी मे सम्प्रभुता की वैज्ञानिक धारणा का निरूपण किया जिसे आम तौर पर राष्ट्रीय राज्य की विशेषताओं मे सर्वाधिक आधारभूत समझा जाता है। ग्रोशियस ने अपनी रचनाओं द्वारा 'राज्यो के कानून' (Law of Nations) के विकास की आधारशिला रखी। उसने इस मान्यता को अस्वीकार कर दिया कि सम्प्रभुता अथवा सम्प्रभु निरकुश और निरपेक्ष है। उसने कहा कि "समुदाय अथवा समाज (Community) के लिए जो नियम होते हैं वे युद्ध के सम्बन्ध और युद्ध की अवधि दोनों ही सन्दर्भों मे वैध (Valid) होते हैं।"

सन् 1648 मे आयोजित होने वाली वेस्टफेलिया काँग्रेस (The Congress of Westphalia) अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के विकास की दिशा मे एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कदम थी। यद्यपि इसने किसी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को जन्म नहीं दिया, तथापि यह इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी कि इसमे विभिन्न देशो के सैकड़ो कूटनीतिज्ञ सम्मिलित हुए थे जो यूरोप के प्रत्येक राजनीतिक हित का प्रतिनिधित्व करते थे। इस काँग्रेस के निर्णय परस्पर विचार-विमर्श के बाद लिए गए थे। किसी शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा कमजोर राष्ट्रो पर इनको लादा नहीं गया। वेस्टफेलिया काँग्रेस ने "स्वतन्त्र वार्ता द्वारा दो महान् बहुपक्षीय सन्धियाँ सम्पादित की जिन्होने यूरोपीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की नई व्यवस्था को वैधानिक मान्यता दी।" 18वीं शताब्दी मे उपनिवेशवाद एव साम्राज्यवाद के विस्तार के साथ ही विश्व के राज्यो की दूरी कम होने लगी तथा उनके बीच इन सम्बन्धो पर नियमन करने के लिए सन्धि-समझौते, सम्मेलन आदि का व्यवहार सामान्य बन गया। सम्मेलन-व्यवस्था, जो वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का सम्भवत: बहुत ही विशिष्ट और लोकप्रिय लक्षण है, इस अवधि मे पर्याप्त विकसित हुई।

17वीं, 18वी शताब्दी मे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों के निर्माण और शान्तिपूर्ण सम्बन्धो के विकास के लिए अनेक योजनाएँ प्रकाश मे आयीं। विलियम पेन, बेन्थम, काण्ट आदि विचारको ने इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। विलियम पेन ने सन् 1693 मे अपने निबन्ध 'Essay towards the Present and Future Peace of Europe' मे लिखा कि शासको की एक सामान्य ससद् हो जो कानून की स्थापना तथा आपसी विवादो के समाधान के लिए समय-समय पर अधिवेशन करे। योजना मे स्पष्ट किया गया कि "यदि शाही राज्यो मे सम्मिलित कोई भी सत्ता उसके (ससद् के)

सामने अपने दावे अथवा मिथ्या बहाने प्रस्तुत कर उसके निर्णय को नहीं मानेगी तथा शस्त्रों के माध्यम से अपनी पूर्ति की चेष्टा करेंगी तो अन्य सभी सत्ताएँ एक शक्ति के रूप में संयुक्त होकर उसे (विरोधी सत्ता को) अधीनता स्वीकार करने तथा संसद् के फैसले के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करेंगी और उससे क्षतिग्रस्त दलों को हर्जाना दिलायेंगी तथा उन सत्ताओं के लिए आवश्यक व्यय की व्यवस्था की जाएगी जिन्होंने उसे अधीनता के लिए बाध्य किया था।" स्पष्ट है कि विलियम पेन ने संसद् के निर्णयों को कार्यान्वित कराने के लिए सैनिक शक्ति के प्रयोग पर बल दिया। पेन ने किसी भी देश पर विजय करने के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए सुझाव दिया कि संसद् में विभिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व समानता के आधार पर न होकर जनसंख्या एवं सम्पत्ति के आधार पर हो।

सन् 1713 के यूट्रेक्ट सम्मेलन के बाद सन्त पीयरे (St Pierre) ने 'Project of Perpetual Peace' नामक योजना प्रस्तुत की जिसका अनेक तत्कालीन दार्शनिकों ने समर्थन किया। योजना का आधार यह था कि "सम्पूर्ण यूरोप एक समाज है और किसी भी राज्य को इतना शक्ति-सम्पन्न नहीं होना चाहिए कि वह शेष यूरोप पर हावी हो जाए। यूरोप के सभी राज्य एक ऐसी संविदा में सम्मिलित हों जिसके अनुसार वे प्रतिज्ञा करें कि वे एक दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता को कायम रखेंगे, राज्य-विरोधी क्रान्ति का दमन करेंगे और राजाओं को उनके सिंहासनों पर कायम रखेंगे।" योजना में यह भी कहा गया कि यदि कोई इस संविदा अथवा करार को तोड़ेंगे तो उसके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग किया जाएगा। सन्त पीयरे ने प्रस्ताव किया कि राज्यों के मतभेदों को पंचायत द्वारा सुलझाया जाय। व्यवस्था के अन्तर्गत राजदूतों की कांग्रेस का भी सुझाव रखा गया जिसे विधायी और न्यायिक शक्तियाँ प्रदान की गई। मौलिक परिवर्तन सर्वसम्मति से ही सम्भव था। योजना में नि.शस्त्रीकरण की भी व्यवस्था की गई।

सन्त पीयरे की योजना के आधार पर बाद में विख्यात दार्शनिक रूसो (Rousseau) ने सन् 1761 में सम्पूर्ण यूरोप के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की योजना प्रस्तुत की जिसका प्रशासन कुछ निश्चित नियमों के आधार पर चलाया जाना था। प्रस्तावित संगठन अथवा राज्य मण्डल के लिए उसने दण्ड-शक्ति की व्यवस्था की ताकि वह अपने निर्णयों को लागू कर सके और सदस्य-राज्यों को संगठन के परित्याग से रोक सके। ऐसी स्थायी सन्धि की भी व्यवस्था की गई जो एक स्थायी कांग्रेस पर आधारित हो और वह कांग्रेस पंच-निर्णय या विवाचन अथवा न्यायिक प्रक्रिया द्वारा राज्यों के आपसी विवादों को सुलझाए। कांग्रेस का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया गया कि वह सदस्य-राज्यों की क्षेत्रीय अखण्डता और विभिन्न राज्यों की सरकारों के प्रकार अथवा स्वरूप को सुरक्षित रखे। रूसो का विश्वास था कि तत्कालीन वातावरण में उसकी योजना व्यावहारिक रूप में अमल में नहीं आ सकती थी।

रूसो के उपरान्त अंग्रेज विचारक जर्मी बेंथम ने अपनी पुस्तक 'Principles

of International Law' में लिखा है कि युद्धों को रक्षात्मक समझौतों, उपनिवेशवाद की समाप्ति तथा निःशस्त्रीकरण द्वारा रोका जा सकता है। उसने सुझाव दिया कि शान्ति कायम रखने के लिए आपसी समझौतों द्वारा यूरोपीय राज्यों की सैनिक-शक्ति कम कर दी जाय और एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण की स्थापना की जाए जो अपने निर्णय लागू कराने की दृष्टि से पर्याप्त रूप से सैनिक शक्ति सम्पन्न हो।

विख्यात दार्शनिक काण्ट (Kant) ने सन् 1795 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'Towards External Peace' में विश्व शान्ति की स्थापना के लिए एक संघात्मक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की कल्पना की। उसने चाहा कि समस्त मानव-जाति इस संयुक्त विश्व राज्य के अन्तर्गत सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत करे। अनियन्त्रित स्वतन्त्रता से जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में बुराइयाँ आ जाती हैं उसी प्रकार राज्यों के लिए भी अनियन्त्रित स्वतन्त्रता बुरी है। किसी राज्य के नागरिकों का भाग्य उसके आन्तरिक संगठन पर ही निर्भर नहीं रहता वरन् दूसरे राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी निर्भर करता है। काण्ट ने कहा कि राज्य कोई अलग सावयव नहीं है अपितु उसका सम्बन्ध उन अन्य राज्यों के साथ है जो उनकी आन्तरिक और बाह्य नीति को प्रभावित करते हैं। काण्ट का कथन है कि विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि किसी स्वतन्त्र राज्य को अन्य राज्य द्वारा दाय भाग, विनिमय अथवा दान के रूप में प्राप्त न किया जा सके क्योंकि ऐसा होने से अन्य राज्यों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाएगी। विश्व-शान्ति को स्थायी बनाने की दिशा में यह आवश्यक होगा कि स्थायी सेना को हटा दिया जाए। राज्यों के बाह्य सम्बन्धों के सन्दर्भ में राष्ट्रीय ऋण लेना भी चिरस्थायी शान्ति के लिए खतरा है। संसार की सुख और शान्ति के लिए आवश्यक है कि कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के मामलों में हस्तक्षेप न करे और प्रत्येक राष्ट्र के संविधान एवं शासन में हिंसात्मक हस्तक्षेप सर्वथा वर्जित हो। युद्धकाल में वधिकों और विश्वासघात का प्रयोग न हो। प्रत्येक देश का संविधान गणतन्त्रात्मक हो और स्वतन्त्र राज्यों का एक विशाल संघ स्थापित हो जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रयोग हो। काण्ट ने विश्वास प्रकट किया कि उसकी योजना पर अमल से विश्व शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में सुनिश्चित योग मिल सकेगा।

जैसा कि कहा जा चुका है, 18वीं शताब्दी में उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के प्रसार के फलस्वरूप विश्व के राज्यों के मध्य सम्बन्धों के नियमन के लिए सन्धि, समझौते सम्मेलनों आदि का व्यवहार सामान्य बन गया। नेपोलियन के युद्धों के भीषण कष्टों से यूरोप के शासकों की आँखें खुल गई और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अनेक संस्थाओं का विकास हुआ। नेपोलियन की पराजय के बाद यूरोप की राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए वियना-काँग्रेस (1814-15) द्वारा प्रयास किए गए।

वियना से वर्साय तक—वियना-काँग्रेस (The Congress of Vienna), नेपोलियन के पराभव के बाद, युद्धों को रोकने और यूरोप की राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए आयोजित की गई। यूरोप के शासक पुरातन व्यवस्था को

पुनर्स्थापित करने के प्रयत्नों में आंशिक और अस्थायी रूप से ही सफल हुए। अपने कार्यों से जाने-अनजाने उन्होंने एक ऐसी राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की आधारशिला रख दी जो लगभग एक शताब्दी तक विश्व-मामलों का मार्ग-निर्देशन करती रही। कांग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में भी अनेक सुझाव दिए। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में सभ्य राज्यों में परस्पर लागू होने वाले नियमों और रीति-रिवाजों का सकलन किया गया। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में विभिन्न राज्यों के जहाजों के आवागमन, समुद्रों के उपयोग, राष्ट्रों के बीच पारस्परिक व्यवहार आदि का नियमन करने का प्रयत्न किया गया। अन्त में कांग्रेस ने भावी यूरोपीय शान्ति को कायम रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की जिसे यूरोपीय व्यवस्था कहते हैं। वियना-कांग्रेस के महत्व को इंगित करते हुए एलिसन फिलिप्स ने लिखा है कि "इसके निर्णयों से सन् 1815 से 19वीं शताब्दी का राजनीतिक प्रभाव प्रारम्भ हुआ और सम्पूर्ण यूरोप के प्रमुख शासकों का नवीन समाज के निर्माण के लिए एकत्रित होना नवीन परम्परा का द्योतक था।"

वियना कांग्रेस द्वारा स्थापित यूरोपीय व्यवस्था (The Concert of Europe) को यथार्थ में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कहा जा सकता है, जिसकी आधारशिला पर ही कालान्तर में राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ। इस संगठन के कारण यूरोपीय राज्यों में सहयोग की उस भावना का विकास हुआ जो बहुत समय तक जारी रही। यूरोपीय व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की एक ऐसी योजना थी जिसे हम तत्कालीन यूरोप में एकीकरण की धुँधली झलक कह सकते हैं। यह योजना निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में प्रथम महत्वपूर्ण कदम थी जिसकी स्थापना ऑस्ट्रिया, प्रशा, रूस और इंगलैण्ड ने परस्पर मिलकर की थी।

संयुक्त व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में प्रथम योजना पवित्र मैत्री (Holy Alliance) थी जिसे बनाने का श्रेय रूस के जार अलेक्जेण्डर को प्राप्त हुआ। यद्यपि पवित्र मैत्री भावी क्रान्तियों को कुचलने का गुट था पर वह साथ ही भावी युद्धों को रोकने का संघ भी। पवित्र मैत्री उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकी, लेकिन भविष्य में उसकी विचारधाराओं से अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को प्रेरणा मिली। हेग के सम्मेलन के साथ-साथ जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ उसमें पवित्र मैत्री के शुभ परिणाम दृष्टिगोचर हुए। पवित्र मैत्री में राष्ट्रसंघ की योजना के संकेत भी देखने को मिले।

पवित्र मैत्री प्रारम्भ से ही प्रभावहीन रही और इसके लगभग दो माह बाद नवम्बर 1815 में रूस प्रशा, ऑस्ट्रिया और ब्रिटेन ने एक चतुर्मुखी मैत्री (The Quadruple Alliance) का निर्माण किया जो यूरोप की संयुक्त व्यवस्था का आधार बना। वस्तुतः यदि पवित्र मैत्री (The Holy Alliance) यूरोपीय व्यवस्था का नैतिक और धार्मिक स्वरूप थी तो चतुर्मुखी मैत्री उसका राजनीतिक और व्यावहारिक रूप थी जो काफी समय तक यूरोप के राजनीतिक मामलों का संचालन करती रही। इसमें आगे चलकर सन् 1818 में फ्रांस भी सम्मिलित हो गया। इस

तरह यह पचमुखी मैत्री (A Quintuple Alliance) बन गया। चीवर तथा हैवीलैण्ड के अनुसार यह विकास अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के इतिहास मे अनेक कारणो से महत्त्वपूर्ण था। प्रथम, शत्रुता और विरोध के वातावरण के बावजूद यह मित्र-मण्डल शान्ति बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहा। द्वितीय, जब महाशक्तियाँ नियमित अवधि मे अपनी बैठकें करने को सहमत हो गई तो नियतकालीन सम्मेलन (Periodic Conferences) होने लगे। तृतीय, छोटे और कम शक्तिशाली राष्ट्रो के सन्देहो के बावजूद आमतौर पर यह माना जाने लगा कि शान्ति कायम रखना महाशक्तियो के इस प्रकार के सहयोग पर ही निर्भर था। यूरोप की समस्याओ के विचार के लिए महाशक्तियो ने समय-समय पर सम्मेलन करने का जो निर्णय किया उससे वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो की व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसीलिए इस मैत्री को 'सम्मेलनो द्वारा कूटनीति' (Diplomacy by Conferences) भी कहा जाता है। इस मैत्री ने सम्मेलनो की जिस प्रणाली और सहयोग की जिन धारणाओं को जन्म दिया वह आगे चलकर हमारे युग मे राष्ट्रसघ और सयुक्त राष्ट्रसघ का आधार बनी। मित्र-मण्डल विभिन्न समस्याओ और कठिनाइयो का सामना करते हुए प्रभावशाली ढग से काम करता रहा। अन्ततः सन् 1848 की राज्य-क्रान्ति द्वारा इसका अन्त हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के इतिहास मे एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विकास यह हुआ कि 19वीं शताब्दी के अन्त तथा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासकीय अभिकरणो अथवा सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय सघो का उदय हुआ। आर्थिक और सामाजिक समस्याओ के सन्दर्भ मे राष्ट्रो के मध्य अनिवार्य सहयोग की माँग इन सगठनो के उदय का कारण थी। इस प्रकार के जो संगठन अस्तित्व मे आए उनमे कुछ उल्लेखनीय थे—डेन्यूब सम्बन्धी यूरोपीय आयोग (The European Commission for the Danube, 1856), अन्तर्राष्ट्रीय गोडेटिक सघ (The International Geodetic Association, 1864), अन्तर्राष्ट्रीय टेलिग्राफ ब्यूरो (The International Bureau of Telegraphic Administration, 1868), अन्तर्राष्ट्रीय डाक सघ (The Universal Postal Union, 1875), अन्तर्राष्ट्रीय नापतोल ब्यूरो (The International Bureau of Weights and Measures, 1875), अन्तर्राष्ट्रीय कापीराइट सघ (The International Copyright Union, 1886), सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय (The International Office of Public Health, 1903), तथा अन्तर्राष्ट्रीय कृषि सस्थान (The International Institute of Agriculture, 1905)। इनमें से कुछ सगठन आज भी अस्तित्व मे हैं और अनेक अपने दायित्वों और कार्यों को सयुक्त राष्ट्रसघीय अभिकरणों को सौंप चुके हैं। सयुक्त राष्ट्रसघ से सम्बद्ध ऐसी ही एक सस्था अन्तर्राष्ट्रीय डाकसघ (The Universal Postal Union) है जिसे मेनगोने ने 'राष्ट्रो के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों में से एक' कहकर पुकारा है।

प्रथम महायुद्ध से पहले जो प्रमुख सम्मेलन हुए उनमे सन् 1899 तथा 1907 के हेग-सम्मेलन विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि इन सम्मेलनों का इतिहास मुख्यत: अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास से सम्बन्धित है, तथापि इसका अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के विकास की दृष्टि से भी कम महत्त्व नहीं है। प्रथम हेग सम्मेलन (1899) के सदस्य राज्यो ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए पच निर्णय पद्धति पर अधिक बल दिया और उसे सामान्य सहमति का आधार बनाया चाहा। फलस्वरूप हेग मे विवाचन के स्थाई न्यायालय की स्थापना हुई। इस न्यायालय के सम्मुख अनेक महत्त्वपूर्ण विवाद प्रस्तुत किए गए। प्रशासकीय परिषद् और एक अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो इसके अंग थे। द्वितीय हेग-सम्मेलन (1907) मे युद्ध के नियमो के निर्धारण पर गम्भीर विचार-विमर्श किया गया और राज्यों से यह अपेक्षा की गई कि वे युद्ध से बचने के लिए तीसरे पक्ष की मध्यस्थता स्वीकार करें।

दोनों ही सम्मेलनो में यद्यपि अनेक घोषणाएँ की गई और युद्ध एव शान्ति के सन्दर्भ मे नियम भी निर्धारित किए गए, तथापि राज्यो के बीच सम्बन्धों को विनियमित करने के लिए कोई व्यवस्थित, नियमित तथा स्थायी सस्था स्थापित नही हो सकी। 19वीं शताब्दी के सम्मेलनो अथवा सगठनों ने विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए कोई नियमित कार्यपालक अथवा विधायी प्राधिकारी निश्चित नहीं किया, अत उनका प्रभाव अपेक्षाकृत क्षीण रहा। लियोनार्ड के मतानुसार, "19वीं शताब्दी का सम्मेलन 20वीं शताब्दी के सम्मेलनों के उपायो की दृष्टि से हीन था और इसीलिए वह कम प्रभावशाली रहा। उस समय के सम्मेलन मे कुछ सारभूत बातो की कमी थी, जैसे—सावधानीपूर्वक निर्मित कार्य सूची, कार्य-विधि के नियमन, अनुवाद एव नई विधियों की उपलब्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय आदि।" सन् 1907 के द्वितीय हेग सम्मेलन की पद्धति भी पर्याप्त मात्रा में भ्रामक और विलम्बकारी सिद्ध हुई।

बलाडे के अनुसार विभिन्न कमियो के बावजूद हेग-व्यवस्था (The Heague-System) भावी अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के विकास की दृष्टि से निम्नलिखित प्रकार से महत्त्वपूर्ण थी—

1. हेग व्यवस्था मे सर्वव्यापकता की प्रवृत्ति निहित थी। जहाँ प्रथम सम्मेलन मे 26 राष्ट्र ही शामिल हुए थे और वह मुख्यतः यूरोपीय राष्ट्रों का ही सगठन था, वहाँ द्वितीय सम्मेलन में 44 राष्ट्रों के प्रतिनिधि शामिल हुए जिनमे लेटिन अमेरिकी गणराज्यो के प्रतिनिधि भी थे। इस प्रकार सन् 1907 मे विश्व को एक प्रकार से प्रथम महासभा (First General Assembly) की प्राप्ति हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के प्रसार की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था।

2. हेग-सम्मेलन मे छोटे और बड़े सभी राष्ट्र सम्मिलित हुए। यह व्यवस्था इस दृष्टि से शक्तिशाली बनी कि प्रमुख कूटनीतिक सभाओं में छोटे राज्यों और बड़ी शक्तियों का समान स्तर पर सम्मिलित होना न केवल आवश्यक वरन् विशेष उपयोगी भी है। यदि यूरोप में सयुक्त व्यवस्था केवल यूरोपीय कॉरपोरेशन की कोई खोंक

डायरेक्टर्स थी, तो हेग-व्यवस्था, विशेषकर 1907 की व्यवस्था, एक अधिक विस्तृत कॉरपोरेशन के स्टाक-होल्डरो की मीटिंग थी। इस सम्मेलन में छोटे राज्यो ने स्वतन्त्र और समान स्तर का विशेष आनन्द लिया। यद्यपि इसके तात्कालिक परिणाम सन्तोषजनक नहीं निकले, तथापि यह एक भावी व्यवस्था की पूर्वसूचना थी। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को पहली बार खासतौर से यह अनुभव हुआ कि छोटे और बड़े राज्यो के सापेक्ष स्तर (Relative Status) के विवाद के समाधान मे क्या कठिनाइयाँ आती हैं।

3 हेग-सम्मेलनो ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की व्यवस्था मे स्थायी सामान्य सुधार के उद्देश्य से सामूहिक कार्य एव दायित्व (Collective Activity) के विकास की दिशा मे उल्लेखनीय योग दिया। हेग-व्यवस्था यूरोप की सयुक्त व्यवस्था से कहीं अधिक मात्रा मे परोक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ से सम्बन्धित थी। अनेक मतभेदो के बावजूद हेग-सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्त्वपूर्ण विकास तथा सहिताकरण, विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए स्थायी प्रणाली के निर्माण तथा सिद्धान्त के विकास की दिशा मे महत्त्वपूर्ण योग दिया।

4 हेग-व्यवस्था ने युद्ध के परित्याग की आवश्यकता की ओर तथा बहुराज्यीय व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की सहनीय दशाओ के विकास की ओर सकेत किया।

5. हेग-सम्मेलनो की प्रवृत्ति सुव्यवस्था की ओर रही। चेयरमैन, कमेटियो, रोलकाल (Roll Calls) आदि का प्रयोगात्मक उपयोग हुआ। सन् 1907 मे हेग-सम्मेलनो का यह प्रस्ताव भी महत्त्वपूर्ण था कि एक प्रारम्भिक समिति (Preparatory Committee) की स्थापना की जाए जो भावी सम्मेलन के लिए सूचनाएँ एकत्र करे, कार्यक्रम तैयार करने के लिए विभिन्न बातो का अध्ययन करे तथा तृतीय हेग-सम्मेलन की स्वीकृति के लिए सगठन और प्रणाली की एक व्यवस्था सुझाए।

उपर्युक्त बातें यह स्पष्ट करने के लिए काफी हैं कि हेग-व्यवस्था भावी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के विकास की दिशा मे आधारभूमि के रूप मे कितनी महत्त्वपूर्ण थीं। यद्यपि हेग-सम्मेलनो के प्रभावकारी परिणाम नही निकले और प्रथम महायुद्ध का विस्फोट हो जाने से तृतीय हेग-सम्मेलन नहीं हो सका, तथापि जिन व्यवस्थाओ और कार्य-प्रणालियों की ओर हेग व्यवस्था ने सकेत किया, वे भावी मार्ग की सूचक थीं। वास्तव मे 19वीं और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे सभी सम्मेलन अधिकांशत इसीलिए कम प्रभावकारी रहे कि महाशक्तियो ने जो परामर्शात्मक पद्धति अपनायी वह बहुत विलम्बकारी थी। उदाहरणार्थ, बर्लिन-काँग्रेस के निर्णय के अनुसार यूरोप की महाशक्तियों को यूनान एव टर्की के बीच क्रीट सम्बन्धित विवाद की मध्यस्थता करनी थी, लेकिन स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो जाने पर ही महाशक्तियो ने हस्तक्षेप करना उचित समझा। यूनान द्वारा टर्की के विरुद्ध युद्ध घोषित कर देने और पराजित होने पर महान् राष्ट्रों ने सघर्षरत राज्यों के बीच शान्ति स्थापित करने का विचार किया। इस सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए मेनगोने (Mangone) का कथन है कि

"परामर्शात्मक पद्धति की मौलिक दुर्बलता उसके संकटों का बुद्धिहीनता के साथ सामना करना था। किसी नियमित सगठन के अभाव मे महान् शक्तियो की बैठकें यदा-कदा होती थीं और उन्हें सर्वसम्मति से ही कार्य करना पड़ता था। 19वीं शताब्दी मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक विवादो के समाधान के लिए छोटे राज्यो की राय पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। यूरोपीय सयुक्त व्यवस्था की छ शक्तियों ने यूरोप, एशिया और अफ्रीका पर अपना नियंत्रण स्थापित कर रखा था, अत. 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे विभिन्न शक्तियाँ दो महान् गुटों में विभाजित हो गई— एक गुट मे ब्रिटेन, फ्रांस और रूस थे तथा दूसरे गुट मे जर्मनी, ऑस्ट्रिया और इटली यूरोपीय सयुक्त व्यवस्था के अन्तर्गत स्थापित परामर्शात्मक पद्धति कुछ ही राज्यों तक सीमित थी। सदस्य-राज्यों के आपसी सम्बन्ध विशेष अवस्थाओं में केवल द्वि-पक्षीय समझौतों अथवा सयुक्त घोषणाओं पर आधारित होते थे। यूरोपीय सयुक्त व्यवस्था (The Concert of Europe) ने विवादों के समाधान के लिए नियमित परामर्श तथा नियमित सगठन की कोई व्यवस्था नहीं की जिसके फलस्वरूप यह पद्धति अन्तर्राष्ट्रीय समाज की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे असफल रही।"

प्रथम महायुद्ध से पूर्व अर्थात् राष्ट्रसघ की स्थापना से पहले सरकारी तथा गैर-सरकारी रूप से या राजनीतिक तथा गैर-राजनीतिक स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सगठन की दिशा मे जो विभिन्न प्रयत्न और विकास हुए, उन्हें निष्कर्ष रूप मे लियोनार्ड (Leonard) ने निम्नांकित रूप मे प्रस्तुत किया है।

1 सम्प्रभु राज्यों ने विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए पारस्परिक *सहयोग के लिए अधिक स्थायी और उपयुक्त तरीकों की आवश्यकता महसूस की।*

2 राज्यों ने इन विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की स्थापना की। फिर भी किसी विश्व-सघ की कल्पनात्मक योजना के अनुसार कार्यवाही के लिए कोई सुस्थिर तरीका अथवा नियम नहीं था। सरकारों ने एकता और विश्व-शान्ति के युग के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के प्रति विशेष रुचि नहीं दिखाई, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे उनकी रुचि किसी विशिष्ट समस्या की कार्यवाही को कुछ सुविधाजनक बनाने के एक साधन के रूप मे ही रही।

3 गैर-राजनीतिक क्षेत्रो मे सगठनों की स्थापना हुई जो अधिक सारपूर्ण और सरचनात्मक दृष्टि से अधिक निखरे हुए थे जबकि राजनीतिक क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के किसी उपयुक्त ढाँचे का विकास तो नहीं हुआ, लेकिन ऐसी प्रक्रिया अवश्य विकसित हुई जिन्हें भावी अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों द्वारा अपनाया गया।

4 अनेक क्षेत्रीय अन्तर्राष्ट्रीय सगठन पनपने लगे।

5 अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के ढाँचे मे एक-से तत्त्व (Uniform Elements) उभरने लगे। उदाहरणार्थ, आधारभूत *चार्टर या सविधान (Basic Charter or Constitution)*, नीति-निर्माता अग (Policy-making organs), स्थायी स्टॉफ अथवा सचिवालय (Permanent Staff or Secretariat), सदस्यों के दायित्व

(Obligation for Members), सगठन के लिए विशिष्ट रूप से परिभाषित कार्य (Specifically defined functions for the Organization) तथा कार्य-सचालन के लिए वित्तीय प्रबन्ध (Arrangement for financing the work) आदि तत्त्व प्रकाश मे आ गए ।

राष्ट्रसघ से अब तक अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों का विकास (Development of International Organizations from the League to the Present Day)

प्रथम महायुद्ध की भयकरता ने विश्व के राजनीतिज्ञों और विश्व-जनमन को अहसास करा दिया कि स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन द्वारा ही ससार मे शान्ति स्थापित हो सकती है । इस गहन अनुभूति ने शीघ्र ही उस राष्ट्रसघ (The League of Nations) को जन्म दिया जिसका चार्टर वर्साय की सन्धि की प्रथम 26 धाराओ में समाविष्ट था और जिसका जीवन-काल द्वितीय महायुद्ध के साथ ही व्यवहारत समाप्त हो गया तथा अप्रेल, 1946 में जिसका अन्तिम अधिवेशन हुआ । 19 अप्रेल 1946 का दिन राष्ट्रसघ की अन्तिम क्रिया का दिन था क्योंकि इस दिन उसके समस्त अधिकारो, कार्यों और सम्पत्ति को संयुक्त राष्ट्रसंघ मे हस्तान्तरित करने का निश्चय किया गया । सन् 1945 में स्थापित सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता लगभग विश्व-व्यापी है और आज 1981 के अगस्त माह के प्रारम्भ तक इसकी सदस्य सख्या 153 हो गई है । इने-गिने देश ही अब सघ से बाहर हैं ।

राष्ट्रसघ और संयुक्त राष्ट्र के जन्म, विकास, कार्यकलाप आदि पर प्रथम अध्याय मे विस्तार से प्रकाश डाला गया है, अतः यहाँ पुनरावृत्ति अनावश्यक है । सयुक्त राष्ट्रसघ के अलावा आज लगभग 40 से भी अधिक अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सगठन हैं जो विभिन्न प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय सेवाओं के मध्य सम्पर्क एव सहयोग बनाए रखने को प्रयत्नशील हैं, जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रॉस, विश्व डाक-सघ, अन्तर्राष्ट्रीय मीट्रिक सघ, अन्तर्राष्ट्रीय तार सचार संघ, अन्तर्राष्ट्रीय चेम्बर ऑफ कामर्स, आदि । इसके अलावा राष्ट्रसघ और सयुक्त राष्ट्रसघ के तत्वावधान मे सगठित कुछ ऐसी समितियाँ भी हैं जो विविध सामाजिक सेवाओ को उपलब्ध कराती हैं । विश्व-स्वास्थ्य सगठन, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सगठन, यूनेस्को आदि अपने-अपने क्षेत्रों मे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की बहुमूल्य सेवा कर रहे हैं ।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की विशेषताएँ एवं विकासशील प्रवृत्तियाँ—19वीं शताब्दी मे और द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक 20वीं शताब्दी में विकसित व्यवस्था और प्रवृत्तियो ने अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को जो स्वरूप प्रदान किया है उसकी आधारभूत विशेषताएँ लियोनार्ड ने निम्नांकित रूप मे स्पष्ट की है—

1 मूलभूत चार्टरो अथवा सविधानों ने, जो सामान्यत. बहुपक्षीय समझौते के रूप मे थे सदस्य-राज्यों और दायित्वों का निर्धारण किया । सगठन के प्रमुत्व या अधिकारों और दायित्वों को सीमित बनाया, सगठन के ढाँचे का निर्माण किया और —— कार्य-प्रणालियों को प्रस्तुत किया जिनके अनुसार सगठन को कार्य करना था ।

2. संगठन की सदस्यता केवल हस्ताक्षरकर्त्ता राज्यों (Signatory States) तक सीमित थी जो अपनी सरकारों द्वारा नियन्त्रित प्रतिनिधियों के माध्यम से संगठन की कार्यवाही में भाग लेते थे।

3 संगठन के ढाँचे मे एक नीति-निर्माणकारी अंग (Policy making organ) की व्यवस्था थी जिसमे सभी सदस्य सरकारों के प्रतिनिधि रहते थे और जो एक से लेकर पाँच वर्ष तक की नियमित अवधि मे (At regular intervals of one to five years) मिलते थे।

4 कभी-कभी एक और नीति-निर्माणकारी तथा प्रशासकीय अंग की व्यवस्था भी की जाती थी, जिसकी सदस्यता सीमित होती थी, जिसके अधिकार स्पष्टतया परिभाषित होते थे और जिसकी बैठक प्रथम नीति-निर्माणकारी अंग की अपेक्षा अधिक हुआ करती थी।

5 मतदान के लिए आमतौर पर प्रत्येक सदस्य-राज्य को एक मत देने का अधिकार था और महत्त्वपूर्ण निर्णय सर्वसम्मति से लिए जाते थे।

6 संगठन की संरचना में एक सचिवालय की व्यवस्था होती थी जो एक महासचिव अथवा निदेशक (Secretary General or Director) के अधीन होता था। सचिवालय में दैनिक कार्य सम्पादन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक कर्मचारियों की व्यवस्था होती थी।

7. संगठन का व्यय-भार उठाने के लिए सदस्य-राज्यों को अपना योगदान देना पड़ता था।

सदस्यता की दृष्टि से तो कुछ ही संगठनों की सदस्यता इस दृष्टि में सार्वभौमिक अथवा विश्वव्यापी (Universal) थी। संगठन के मूल सिद्धान्तों तथा स्वरूप मे विश्वास रखने वाले सभी राष्ट्र, चाहे वे किसी भी राजनीतिक विचारधारा के प्रतिपादक हो, इसके सदस्य बन सकते थे। कुछ संगठनो की सदस्यता भौगोलिक आधार पर सीमित थी। यद्यपि सम्प्रभु राज्य (Sovereign States) ही उन संगठनों के सदस्य बन सकते थे तथापि अन्य राजनीतिक सत्ताओं (Other Political Entities) के भाग लेने के लिए भी सामयिक-प्रावधान (Occasional Provisions) होते थे। उदाहरणार्थ, राष्ट्रसंघ की संविदा मे पूर्णत स्वशासित (Fully Self-Governing) अधिराज्यो अथवा उपनिवेशों के प्रवेश का प्रावधान था और इसीलिए भारत स्वाधीन होने से बहुत पहले ही राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया।

उत्तरदायित्व के क्षेत्र की दृष्टि से, लियोनार्ड के अनुसार, द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक स्थिति यह थी कि वह संगठन, जो सभी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने अथवा उन पर प्रभावी विचार-विमर्श मे सक्षम था, सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (General International Organization) समझा जाता था। यदि संगठन की क्षमता किसी भौगोलिक क्षेत्र से निर्धारित होती थी, तो अपने स्वरूप अथवा चरित्र में सामान्य होते हुए भी उसे एक क्षेत्रीय संगठन (Regional Organization) माना जाता था। यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

के कार्य करने का कोई विशेष क्षेत्र रहा हो, उदाहरणार्थ, कृषि या सामाजिक क्षेत्र या श्रम आदि से सम्बन्धित विशेष दायित्व तो उसे प्रकार्यात्मक अथवा विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय सगठन (Functional or Specialized International Organization) कहा जाता था।

अधिकार अथवा सत्ता (Authority) की दृष्टि से सगठन की गतिविधियाँ बहुपक्षीय सन्धियो से अथवा सदस्य-सरकारो को सुझाव रूप में प्रस्तुत किए गए प्रस्तावो के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों को विकसित करने तक सीमित की जा सकती थीं। ये नीति-निर्माणकारी सगठन अपनी नीतियो के क्रियान्वयन के लिए पूर्णरूप से अपनी सरकारो पर निर्भर थे। कुछ सगठनो मे अपनी जन्मदाता सरकारो के अधिकार से परे स्वतन्त्र रूप से प्रशासकीय व्यवस्था और व्यवहार की शक्ति भी निहित थी। यद्यपि सरकारी प्रतिनिधि नीतियो का निर्धारण कर देते थे, तथापि सगठन के पास अपने कोष और शक्ति साधन उपलब्ध थे, जिनके बल पर वह बिना अपनी सरकारो पर निर्भर किए इन नीतियों को क्रियान्वित करने मे सक्षम थे।

लियोनार्ड के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के उपर्युक्त सभी आधारभूत तत्त्व और उनके विशिष्ट लक्षण द्वितीय महायुद्ध के बाद भी समान रूप से लागू रहे। वर्तमान सयुक्त राष्ट्रसघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो मे ये सभी तत्त्व पाए जाते हैं। पिछले कुछ वर्षों मे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के क्षेत्र मे कुछ नवीन प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं। इनमे प्रथम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सदस्य-सख्या मे वृद्धि की है। नये-नये राज्यो के निर्माण अथवा उदय के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की सदस्य सख्या भी निरन्तर बढ़ रही है। आज जितने भी महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सगठन हैं, उनकी सदस्य सख्या औसतन सौ से अधिक ही है। दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति यह है कि राज्यो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की सदस्यता त्याग देने की घटनाओ म उल्लेखनीय कमी हुई है। तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की शक्तियों और अधिकार-क्षेत्र मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। पहले उन विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय सगठन कुछ भी नही कर पाते थे जिनको सदस्य-राष्ट्र अपने 'घरेलू मामले' की सज्ञा दे देते थे। यद्यपि अभी तक 'घरेलू मामलो' की स्पष्ट व्याख्या नही हो पायी है तथापि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन विश्व-शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा घोषित कर किसी भी विवादग्रस्त मामले को अपने हाथ मे ले लेता है और प्रायः इस बात की उपेक्षा कर देता है कि सम्बन्धित राष्ट्र उस मामले को 'घरेलू' समझ रहा है। चौथे, सर्वसम्मति से निर्णय लेने का कठोर सिद्धान्त पूर्वापेक्षा शिथिल हो गया है। राष्ट्रसघ मे परिषद् के निर्णय उपस्थित सदस्यो की सर्वसम्मति से होते थे, जबकि सयुक्त राष्ट्रसघ मे केवल पाँच स्थायी सदस्यो की सहमति अनिवार्य रखी गई है। सुरक्षा-परिषद् का इतिहास साक्षी है कि मतदान के अवसर प्राय' कम आते हैं और बहुमत की स्वीकृति एक परम्परा-सी बन गई है। अन्तिम पाँचवी प्रवृत्ति यह है कि सगठनों की प्राविधिक क्षमता बढ़ रही है। सगठन के अधिकारो का रूप पूर्वापेक्षा अधिक निष्पक्ष और उत्तरदायित्वपूर्ण हो गया है।

राष्ट्रसघ
(League of Nations)

राष्ट्रसघ 'एक विश्वव्यापी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के सगठन की दिशा मे प्रथम प्रभावशाली कदम था जिसमे मानव-समाज के सामान्य हितो के दर्शन होते थे और जिसने परम्परा, जाति-भेद अथवा भौगोलिक पार्थक्य की बाधाओ से ऊपर उठकर कार्य किया।' यद्यपि राष्ट्रसघ उन उद्देश्यो मे सफल नहीं हो सका जिनके लिए उसकी स्थापना की गई थी, तथापि अपनी असफलताओ के बावजूद भी यह एक महान् प्रयोग था जिसने सयुक्त राष्ट्रसघ के सस्थापकों का अमूल्य शिक्षा प्रदान की। इसकी असफलताओ ने भावी पीढ़ी के लिए शिक्षक का कार्य किया तथा इसने जो आशिक सफलताएँ प्राप्त कीं वे सयुक्त राष्ट्रसघीय व्यवस्था के लिए बहुमूल्य सिद्ध हुई।

राष्ट्रसघ का जन्म

प्रथम महायुद्ध के दौरान ही एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के निर्माण की बात चल पड़ी थी जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का महत्त्वपूर्ण साधन बन सके। युद्ध के बाद पेरिस के शान्ति सम्मेलन मे राष्ट्रसघ के लिए अनेक योजना प्रस्तावित की गई। 14 फरवरी, 1919 को 'राष्ट्रसघ आयोग' ने राष्ट्र सघ का अन्तिम प्रारूप तैयार किया जिसे 28 अप्रैल को स्वीकार कर लिया गया और 10 जनवरी, 1920 से लागू कर दिया अर्थात् इस दिन से राष्ट्रसघ का जीवन विधिवत् आरम्भ हुआ। वर्साय की सघ की प्रथम 26 धाराओ मे राष्ट्रसघ की व्यवस्था की गई, और इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा मे रखा गया।

राष्ट्रसघ के उद्देश्य

राष्ट्रसघ के उद्देश्य इसकी प्रस्तावना मे ही निहित थे। प्रस्तावना इस प्रकार थी

"उच्च सविदाकार पक्षकार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की उन्नति के निमित्त, तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा प्राप्त करने के लिए, युद्ध से विमुख रहने के कर्त्तव्यो को मान कर, राज्य के बीच मे सर्वमान्य न्याय तथा सम्मानपूर्ण सम्बन्धो की व्यवस्था करके सरकारो के मध्य पारस्परिक व्यवहार के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि के समुचित ज्ञान के अनुसार आचरण ही को वास्तविक नियम मानकर तथा सगठन के लोगों के पारस्परिक व्यवहार में न्याय तथा सजग सम्मान की स्थापना करके लीग आफ नेशन्स के इस प्रतिज्ञापत्र से सहमत होते है।"

इस प्रकार, प्रस्तावना के अनुसार, सघ के प्रमुख उद्देश्य तीन थे—

1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना अर्थात् न्याय तथा सम्मान के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के विकास द्वारा भावी युद्धों को टालना,

2 विश्व के राष्ट्रों के मध्य भौतिक तथा मानसिक सहयोग को प्रोत्साहन देना ताकि मानव जीवन सुखी और समृद्ध बन सके, एव।

3 पेरिस शान्ति-सम्मेलन द्वारा स्थापित व्यवस्था को कायम रखना।

राष्ट्रसघ की सदस्यता

राष्ट्रसघ के सदस्य दो भागो मे विभाजित थे—मौलिक और प्रविष्ट। मौलिक सदस्य वे थे जिन्होने शान्ति-सन्धि या वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर किए थे जो सघ का सदस्य बनने के लिए आमन्त्रित किए गए। ये प्रविष्ट सदस्य वे नए राज्य होते थे जिन्हें राष्ट्रसघ का सदस्य बनाया जाता था। राष्ट्रसघ के 43 प्रारम्भिक अथवा मौलिक सदस्य थे। सघ के सदस्यो की कुल सख्या सन् 1935 में बढकर 62 हो गई थी, पर अप्रेल, 1946 में सघ की अन्तिम बैठक के समय यह घटकर पुन. 43 ही रह गई और इनमे से भी केवल 34 राज्यो के प्रतिनिधि ही बैठक मे सम्मिलित हुए। राष्ट्रसघ का यह दुर्भाग्य था कि इसमे सब महा-शक्तियाँ कभी सम्मिलित नहीं हुई। प्रारम्भ मे ही अमेरिका, जर्मनी और रूस इसके सदस्य नहीं बने। अमेरिका तो इसका कभी सदस्य बना ही नही। जर्मनी सन् 1926 मे बना और अक्टूबर, 1933 मे हट गया। रूस 1933 मे सदस्य बना और सन् 1940 मे फिनलैण्ड पर आक्रमण के कारण सघ से निष्कासित कर दिया गया। जापान ने सन् 1933 मे और इटली ने सन् 1937 मे इसकी सदस्यता त्याग दी। सविदा में सघ की सदस्यता से पृथक् होने की व्यवस्था भी की गई थी। कोई भी सदस्य दो वर्ष का नोटिस देकर इसकी सदस्यता से पृथक हो सकता था, अथवा परिषद् (Council) के सर्वसम्मत निर्णय द्वारा निकाला जा सकता था। पृथक होने वाले राज्य के लिए आवश्यक था ऐसा करते समय वह अपने सभी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा कर दें, किन्तु जब जर्मनी, इटली, जापान, स्पेन तथा कुछ केन्द्रीय एव दक्षिणी अमेरिकी राज्य राष्ट्रसघ से पृथक् हुए तो उनके अपने दायित्वो को पूरा करवाने की कोई व्यवस्था नहीं की गई।

राष्ट्रसघ की प्रवृत्ति

राष्ट्रसघ एक ढीला अथवा शिथिल परिसघ (Loose Confederation) था जिसके प्रतिनिध्यात्मक और प्रशासकीय अगो को (Representative and Administrative Organs) सीमित शक्तियाँ प्राप्त थीं। ये अग उन सदस्य-राज्यों से निर्देशित अथवा अनुदेशित होते थे जिसके द्वारा उन्हें सत्ता प्राप्त होती थी। राष्ट्रसघ किसी प्रकार भी सर्वोपरि राज्य नही था। इसके सदस्य राज्यो की स्वतन्त्रता पर बहुत ही कम प्रतिबन्ध थे। क्लाइड इगिल्टन के अनुसार यह स्वतन्त्र राज्यो का एक ऐच्छिक सघ था जिसके सदस्यो ने कुछ सामान्य उत्तरदायित्व स्वीकार किए थे। सघ के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कुछ सामान्य नियम निर्धारित किए गए थे तथा किसी सदस्य-राज्य की अनुमति के बिना नया नियम नही बनाया जा सकता था और न ही कोई नया उत्तरदायित्व लादा अथवा ग्रहण किया जा सकता था। राष्ट्रसघ एक अविकासशील सघ था क्योकि प्रथम तो प्रसविदा मे सशोधन करना राष्ट्रों के हाथ मे नही था और द्वितीय, वह इतना कठोर था कि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप ढाला जा सकता था।

राष्ट्रसघ मे सयुक्त उत्तरदायित्व की व्यवस्था की गई थी, लेकिन साथ ही सदस्य-राज्यों की प्रभुसत्ता को मान्यता भी दी गई थी। राष्ट्रसघ का सगठन राज्य सम्प्रभु सत्ता की ठोस शिला पर आधारित था और इसीलिए कानून की दृष्टि से राष्ट्रसघ सदस्य-राष्ट्रों के सहयोग पर आश्रित था। दूसरे शब्दो मे, राष्ट्रसघ का जीवन स्वाश्रित न होकर पराश्रित था, अत सदस्यो के ऐच्छिक सहयोग के अन्त के साथ ही राष्ट्रसघ का भी अन्त हो गया। वस्तुत सदस्य राज्य अपनी प्रभुसत्ता की रक्षा के लिए किसी ऐसी सस्था को अपनाने के इच्छुक नही थे, जहाँ उन पर निर्णय लादे जाने का भय हो। प्रसविदा मे किसी आक्रान्त राज्य के विरुद्ध सयुक्त कार्यवाही की व्यवस्था थी, किन्तु इस कार्यवाही का निश्चय हर स्थिति मे सदस्य राज्य स्वय ही करते थे। राष्ट्रसघ द्वारा शक्ति अथवा सेना का प्रयोग सदस्य-राज्यो की अनुमति पर ही निर्भर था। सदस्य-राज्यो के ऊपर राष्ट्र मे कोई भी ऐसी शक्ति नहीं थी जो सदस्य-राज्यों की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने मे सक्षम हो। सघ के पास कोई अपनी स्वतन्त्र शक्ति नही थी तथा नियम भग करने वाले सदस्य-राष्ट्र के विरुद्ध सघ द्वारा स्वतः कोई कार्यवाही की जानी सम्भव नहीं थी। इनिस क्लाडे ने ठीक ही कहा है कि, "राष्ट्रसघ के सस्थापको ने परम्परागत बहु-राज्यीय व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों को पसन्द किया। उन्हें स्वतन्त्र सम्प्रभु राज्यों को आधारभूत सत्ता के रूप मे स्वीकार किया, महाशक्तियो को प्रमुख भागीदार माना तथा यूरोप को विश्व-राजनीतिक व्यवस्था के केन्द्र-बिन्दु के रूप मे ग्रहण किया।"

राष्ट्रसघ एक दृष्टि से प्राचीनता और नवीनता का सम्मिश्रण (A Combination of the Old and the New) था। यह नवीन इस दृष्टि से था कि इसके निर्माताओ ने यह बात ध्यान मे रखी थी कि शान्ति के लिए नकारात्मक दृष्टिकोण को तिलांजलि देकर ठोस और सकारात्मक (Positive) रुख अपनाते हुए अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को शनै-शनै अनुकूल दिशा मे ले जाना चाहिए। यह प्राचीनता का द्योतक इसलिए था कि इसमे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध-निर्धारण की वही प्रणाली अपनायी जाती रही जो 16वीं से 19वी शताब्दी तक प्रचलित थी।

वास्तव में न तो राष्ट्रसघ में गतिशीलता ही थी और न इसका सगठन ही क्रान्तिकारी था। यह तो विजेता राष्ट्रों का विजित राष्ट्रो और सोवियत सघ के विरुद्ध एक सघ था जिसमे अमेरिका जैसा महान् शक्ति सम्पन्न विजेता राष्ट्र अन्त तक अनुपस्थित रहा। पश्चिमी-राष्ट्रो की रूस-विरोधी नीति के फलस्वरूप राष्ट्रसघ ने भी पर्याप्त अर्थों मे एक ऐसी नीति का अनुसरण किया, जिससे फासिस्ट शक्तियो को बल मिला और विश्व शान्ति की शक्तियो को आघात पहुँचा। राष्ट्रसघ इस दृष्टि से भी क्रान्तिकारी सगठन नहीं था कि इसने विश्व के अन्य राष्ट्र को उनके तात्कालिक रूप में स्वीकार कर लिया और केवल उनके पारस्परिक व्यावहारिक सम्बन्धो के सरलता और स्वतन्त्रतापूर्वक सचालन के लिए एक अधिक सन्तोषजनक उपाय प्रदान करने की चेष्टा की। इसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के निर्धारण की

कार्यप्रणाली को क्रान्तिकारी बनाने का प्रयास नहीं किया। इसने केवल पुराने कूटनीतिक उपायों को नवीनता का जामा पहनाया, अर्थात् नई बोतल में पुरानी शराब भरने की कहावत चरितार्थ की।

राष्ट्रसंघ के अंग और उसके कार्य

राष्ट्र के तीन प्रधान तथा स्थायी अंग थे—सभा (Assembly), परिषद् (Council) और सचिवालय (Secretariat)। इसके अतिरिक्त दो अर्द्ध-स्वायत्त (Semi-autonomous) अंग थे—अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ (I L. O.)। इन प्रमुख और स्वायत्त अंगों के अलावा कुछ गौण और सहकारी अंग भी थे, जैसे अर्थ और वित्तीय संगठन, संचार और यातायात संगठन, स्थायी शासनादेश या संरक्षण आयोग (Mandates Commission) तथा बौद्धिक सहयोग का अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठान (International Institute of Intellectual Co-operation)।

सभा (Assembly)—सभा राष्ट्रसंघ का प्रतिनिधित्व करने वाली और विचारशील अंग थी। इसमें संघ के सभी सदस्य सम्मिलित थे। प्रत्येक देश को समानता के सिद्धान्त के अनुसार अधिक से अधिक तीन प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था, किन्तु एक देश का केवल एक ही मत होता था। संघ का कोई भी निर्णय बैठक में उपस्थित सदस्यों की सर्वसम्मति से होता था। अपवाद केवल उन्हीं निर्णयों के सम्बन्ध में था जो प्रक्रिया से सम्बद्ध विषयों से सम्बन्ध रखते थे। दूसरे शब्दों में राष्ट्रसंघ में 'मतैक्य-नियम' (Principle of Unanimity) अपनाया गया था। यह नियम संघ की सफलता में अनेक दृष्टियों से बड़ा ही बाधक सिद्ध हुआ तथापि इस नियम के बिना काम भी नहीं चल सकता था क्योंकि सदस्य-राज्य अपनी राष्ट्रीय सम्प्रभुता की रक्षा के लिए इतने सतर्क थे कि ऐसी संस्था में जाने के इच्छुक नहीं थे, जहाँ उन पर किसी निर्णय के लादे जाने का भय हो। सभा की बैठक प्रायः प्रति वर्ष जेनेवा में सितम्बर में तीन सप्ताह तक चलती थी और कभी-कभी जनवरी एवं मई में भी इसके अधिवेशन बुलाए जाते थे। सभा की प्रथम बैठक नवम्बर, 192० में प्रारम्भ हुई थी और अन्तिम बैठक 1946 में 6 अप्रैल से 18 अप्रैल तक चली थी।

संसदीय कार्य-विधि के सामान्य सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए सभा मुख्यतः समितियों के माध्यम से अपना कार्य करती थी। एक सामान्य समिति (A General Committee) थी, जिसमें 1 अध्यक्ष, 15 उपाध्यक्ष तथा कार्यक्रम व प्रत्यय-पत्र समितियों (Agenda and Credentials Committees) के चेयरमैन सम्मिलित थे। यह समिति एक प्रकार से संघ की केन्द्रीय संचालन संस्था (Central Steering Body) थी, जिसमें प्रमुख शक्तियों के विचारों का बड़ा वजन रहता था। असेम्बली की अन्य मुख्य समितियाँ थीं—सांविधानिक और कानूनी (Constitutional and Legal), मामलों की समिति, तकनीकी-संगठन (Technical Organizations)

सम्बन्धी समिति, शस्त्रों को कम करने का कार्य (Reduction of armaments) देखने वाली समिति, प्रशासकीय और वित्तीय (Administrative and Financial) समिति, सामाजिक और मानव-हित सम्बन्धी (Social and Humanitarian) तथा राजनीतिक (Political) समिति। इनके अलावा तीन कार्य विधि सम्बन्धी समितियाँ (Procedural Committees) यथा प्रत्यय-पत्र (Credentials), नामांकन (Nomination) तथा कार्यक्रम (Agenda) समितियाँ भी थी। चूँकि सघ के सभी सदस्य प्रत्येक मुख्य समिति के प्रतिनिधित्व के अधिकारी थे, अत. ये समितियाँ किन्हीं राष्ट्रीय व्यवस्थापिका की समितियों की अपेक्षा आकार मे बड़ी; किन्तु प्रबन्ध-कुशलता की दृष्टि से कुछ घटिया थीं।[1]

सभा के प्रमुख अधिकारियों मे एक अध्यक्ष मुख्य समितियो के चेयरमैन जो पदेन उपाध्यक्ष थे तथा 8 निर्वाचित उपाध्यक्ष होते थे। अध्यक्ष अपनी व्यक्तिगत राजनीतिक योग्यताओ के आधार पर चुना जाता था और प्राय: किसी छोटे राज्य (A Small Power) का प्रतिनिधि होता था। सन् 1936 से पूर्व अध्यक्ष-पद के लिए मतदान से पूर्व कोई औपचारिक नाम नहीं होते थे और किसी एकमात्र प्रत्याशी के नामांकन के लिए सचिवालय पर्दे के पीछे पृष्ठभूमि-वार्तालाप द्वारा आम-सहमति प्राप्त करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता था, पर कुछ आपत्तियों के कारण सभा ने सम्पूर्ण प्रक्रिया पर नियन्त्रण के लिए सन् 1936 मे एक नामांकन समिति (A Nomination Committee) स्थापित करने का निर्णय लिया।

प्रत्येक राजनीतिक सगठन की भाँति सभा मे भी प्रतिनिधि-गण अपने सामान्य हितो की दृष्टि से समो अथवा गुटो मे बँट जाते थे। सर्वाधिक शक्तिशाली और सगठित समूह ग्रेट-ब्रिटेन तथा अधिराज्यों (Great Britain and the Dominions) का था, फ्रांस और लघु-सघ (The Little Entente) अर्थात् चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया तथा युगोस्लाविया का प्रारम्भिक वर्षो में पर्याप्त महत्त्व रहा तथापि समय के साथ यह प्रभाव घटता गया। सन् 1926 मे जर्मनी का प्रवेश हुआ जिसे ऑस्ट्रिया, हगरी और बाद मे इटली का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। स्केण्डीनेवियाई राज्य परस्पर निकट सहयोग रखते थे और उन्हे कभी-कभी नीदरलैण्ड, बेल्जियम तथा स्विट्जरलैण्ड का समर्थन भी प्राप्त हो जाता था। अनेक सगठनों मे लेटिन अमेरिकी राज्य अपनी एकता प्रदर्शित करते थे। ये सभी गुट 'समूह-प्रतिष्ठा' (Group-prestige) के मामला पर अर्थात् सघ के अधिकारियों के निर्वाचन आदि के मामलो मे बहुत अधिक एकता और सगठन का परिचय देते थे, किन्तु महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपना मतैक्य और सगठन बनाए रखने मे उन्हें अधिक कठिनाई होती थी।[2]

सभा के कार्य बहुत विस्तृत थे, तथापि उनमे अस्पष्टता रहती थी। अनुच्छेद 3 के अनुसार, "सभा राष्ट्रसघ के क्षेत्र मे आने वाले किसी भी विषय पर अथवा

1 *Cheever and Haviland* · Organising for Peace—International Organizations in World Affairs, p 78
2 Ibid, op cit, p 77.

विश्व-शान्ति पर प्रभाव डालने वाले किसी भी प्रश्न पर अपनी बैठक में विचार कर सकती थी। व्यवहार में सभा अपनी तीनों प्रकार की सामान्य शक्तियों, यथा निर्वाचन सम्बन्धी (Electoral), संविद (Constituent) तथा विचार सम्बन्धी (Deliberative) का प्रयोग करती थी। निर्वाचन-शक्तियों के अन्तर्गत सभा के मुख्य कार्य इस प्रकार थे—दो तिहाई मतों से नये सदस्यों का चुनाव, साधारण बहुमत से परिषद् के नौ स्थायी सदस्यों में से तीन को सभा के लिए प्रत्येक वर्ष चुनना, नौ वर्ष के लिए स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के 15 न्यायाधीशों का निर्वाचन करना एवं परिषद् द्वारा नियुक्त महासचिव की नियुक्ति की स्वीकृति देना। संविद कार्यों में सभा प्रसंविदा के 26वें अनुच्छेद के अनुसार प्रसंविदा के नियमों में ऐसा संशोधन कर सकती थी जो परिषद् की सर्वसम्मति से स्वीकृत हो और प्रभावित सदस्यों की रुचि के अनुकूल हो। विचार सम्बन्धी कार्यों के अन्तर्गत सभा अन्तर्राष्ट्रीय हितों के सामान्य राजनीतिक, आर्थिक और तकनीकी प्रश्नों पर विचार करती थी। सभा के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को प्रभावित करने वाली उन परिस्थितियों पर गम्भीरता से विचार करते थे जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को चुनौती देती हों अथवा राष्ट्रों के उस सहयोग में बाधक हों जो विश्व शान्ति को प्रोत्साहन देने वाला हो। 19वीं धारा के अनुसार, सभा अनुचित सन्धियों पर पुनर्विचार का परामर्श देती थी, तकनीकी आयोगों और परिषद् के कार्यों का निरीक्षण करती थी तथा संघ का वार्षिक बजट तैयार करती थी।

संगठनात्मक दृष्टि से परिषद् गौण बन गई थी। संघ के विधान निर्माताओं का विचार था कि परिषद् में वास्तविक कार्य होने के कारण सभा का विशेष महत्त्व नहीं होगा, तथापि धीरे-धीरे इसका महत्त्व और सम्मान परिषद् से अधिक बढ़ता गया। परिषद् में महाशक्तियों का पारस्परिक सहयोग नहीं रहा, अतः सभा को शान्ति बनाए रखने सम्बन्धी तथा अन्य समस्याओं में प्रभावी अंग के रूप में कार्य करने का अवसर मिला।[1] यह विश्व की समस्याओं पर विभिन्न राष्ट्रों के विचारों की अभिव्यक्ति के रंगमंच का काम करने लगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समझौता करने का महत्त्वपूर्ण साधन बन गई। अनेक अवसरों पर तो इसने परिषद् को कार्य करने के लिए प्रेरित किया। कभी वह परिषद् की किसी मामले पर कार्यवाही की रिपोर्ट माँग कर उस पर बहस करती थी और परिषद् की रिपोर्ट का समर्थन कर प्रस्ताव पारित करती थी, तो कभी परिषद् द्वारा विचाराधीन मसले सभा में विवाद के विषय बन जाते थे। परिषद् अनेक मामलों में छानबीन (Investigation), मध्यस्थता (Mediation) और सामंजस्य (Concilation) का कार्य करती थी। यह एक अर्द्ध-न्यायिक के अंग रूप में भी कार्य करती थी। उदाहरणार्थ सन् 1933 में जापान के सम्बन्ध में सभा ने एक ठोस निर्णय लिया और सभा की प्रक्रियाओं के माध्यम से ही सोवियत संघ तथा इटली को प्रसंविदा के

1 *Plano and Riggs* : op cit , p 20

उल्लघन का दोषी ठहराया गया। सभा के विशिष्ट प्रभाव का एक कारण यह भी था कि इसका अधिवेशन खुला होता था, जिसमें आम जनता दर्शक के रूप मे शामिल हो सकती थी। यहाँ वाद-विवाद स्वतन्त्र रूप से होते थे तथा उन सभी विषयो पर बहस हो सकती थी जो पहले परराष्ट्र मन्त्रालयो मे प्राय गोपनीय रखे जाते थे। इस प्रकार सभा वस्तुत केवल वाद-विवाद की सोसाइटी न होकर राष्ट्रसंघ का एक प्रभावशाली अंग थी।

इतना होने पर भी विवादो के निपटारे मे सभा की भूमिका अनेक कारणों से कम प्रभावशाली रही। प्रथम तो विधान द्वारा सभा को परिषद् से कम अधिकार दिए गए थे, क्योकि विधान-निर्माताओ ने इसे कार्यकारिणी का रूप नहीं देना चाहा था और दूसरे, सभा एक बहुत बडा निकाय थी जिसका अधिवेशन भी वर्ष मे एक बार होता था और वह भी लगभग दो सप्ताह मात्र के लिए। तीसरे, अनेक राजनीतिक सकटो पर विचार के लिए सभा मे प्राय समय ही नहीं मिलता था जैसे इटली-यूनान के मध्य कोर्फू-विवाद मे सभा ने रुचि ली थी, लेकिन परिषद् ने सभा के स्थगित होने से ठीक पहले दिन अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की और इस प्रकार सभा को आवश्यक जाँच-पड़ताल का समय नही मिला। चौथे, अपने विशाल आकार के कारण सभा मध्यस्थता और सामजस्य के नाजुक कार्य-कलापों का अधिक कुशलता से निर्वाह नही कर पाती थी। पाँचवें, सभा का सगठन इस प्रकार का था कि छोटे राष्ट्रों की उसमे प्रभावशाली आवाज रही। यद्यपि इन राज्यों की विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के प्रयत्नों मे पर्याप्त रुचि रहती थी तथापि वे उत्साह और आवेश मे बह कर आवश्यक सावधानी नहीं रख पाते थे और साथ ही, महाशक्तियों की आलोचना करने मे आगे रहते थे। महाशक्तियों के सहयोग और समर्थन के अभाव मे राजनीतिक मामलो का उपयुक्त हल निकाल पाना सम्भव नहीं था। छठे विवादो के समाधान का मुख्य दायित्व सभा का न होकर परिषद् का था और प्रमुख शक्तियाँ परिषद् के इस अधिकार की रक्षा करने को प्रयत्नशील रही। इन्हीं सब बातों की वजह से सभा ने, विवादों मे रुचि रखने के बावजूद, अपने सम्पूर्ण जीवन-काल मे केवल चीन जापान, बोलिविया-पेरागुआ, फिनलैण्ड-रूस, इटली-इथोपिया विवादों को ही प्रत्यक्ष रूप से हाथ में लिया। अधिकांशतः प्रत्यक्ष कार्यवाही का भार परिषद् ने ही ग्रहण किया।

परिषद् (The Council)—परिषद् को राष्ट्रसंघ की कार्यकारिणी माना जाता था। यह लघु सस्था सभा से अधिक शक्ति-सम्पन्न और रचना मे उससे भिन्न थी। सभा सदस्य-राज्यों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित थी जबकि परिषद् के सगठन का आधार महाशक्तियों की उच्चता का सिद्धान्त था।

परिषद् की सदस्यता दो प्रकार की थी—स्थायी और अस्थाई। प्रारम्भ मे बड़े देश केवल स्थायी ही इसका सदस्य बनाना चाहते थे, किन्तु छोटे राष्ट्रों के विरोध के कारण [illegible] इसमें अस्थाई सदस्यता प्रदान की गई। प्रसंविदा के अनुसार, सभी मुख्य मित्रराष्ट्र (Allied Powers) परिषद् में स्थायी सदस्य थे। ये

राष्ट्र थे—संयुक्तराज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान। चीवर तथा हैवीलैण्ड के अनुसार उस समय यह धारणा प्रचलित थी कि केवल कुछ ही राज्य शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने की दृष्टि से पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न थे अतः केवल उन्हीं राज्यों को परिषद् के स्थायी सदस्यों के रूप में प्रमुखत्व और दायित्व सौंपा गया।[1] परिषद् के स्थाई और अस्थाई सदस्यों की संख्या लगातार घटती-बढ़ती रही। एक स्थाई सीट संयुक्तराज्य अमेरिका के लिए खाली रही जो उसके संघ में सम्मिलित न होने के कारण कभी नहीं भरी जा सकी। जब अमेरिका ने स्वयं को इस अन्तर्राष्ट्रीय संघ से पृथक् घोषित कर दिया तो सन् 1920 में स्थाई और अस्थाई सदस्यों का अनुपात 4 : 4 रह गया। सन् 1926 में जर्मनी को राष्ट्रसंघ में सम्मिलित कर लिया गया और उसे भी मित्रराष्ट्रों के समान परिषद् की स्थाई सदस्यता प्राप्त हुई, लेकिन कुछ ही समय बाद स्थाई सदस्य इटली राष्ट्रसंघ से पृथक् हो गया। स्थाई सदस्यों की भाँति अस्थाई सदस्यों की संख्या भी समय-समय पर बदलती रही।

कार्यविधि (Procedure) की दृष्टि से परिषद् के प्रत्येक सदस्य का मत केवल एक होता था। प्रत्येक सदस्य-राज्य परिषद् की बैठकों में केवल एक ही प्रतिनिधि भेज सकता था। परिषद् के निर्णय सर्वसम्मति से ही होते थे, किन्तु प्रक्रिया सम्बन्धी निर्णय बहुमत के आधार पर हो सकते थे। इसी प्रकार जाँच-समिति आदि की नियुक्ति भी बहुमत के आधार पर हो सकती थी। परिषद् के अधिवेशन सन् 1929 के बाद से ही प्रतिवर्ष सामान्यतः 3 होते थे। विशेष अधिवेशनों की संख्या निश्चित नहीं थी। अध्यक्ष-पद पर वर्णमाला-क्रम से एक देश के बाद दूसरे देश की बारी आती थी। वर्तमान सुरक्षा-परिषद् की भाँति राष्ट्रसंघ की परिषद् में किसी सदस्य को निषेधानुसार (Veto Power) प्राप्त नहीं था। यदि कोई राष्ट्र परिषद् का सदस्य नहीं होता था तो भी उसे परिषद् की कार्यवाही में भाग लेने का अवसर दिया जाता था बशर्ते कि उससे सम्बन्धित कोई विषय परिषद् के सम्मुख विचाराधीन हो। परिषद् की बैठकें सामान्यतः खुली होती थीं किन्तु आवश्यकतानुसार गोपनीय भी हो सकती थीं।

प्रसंविदा के अनुसार परिषद् का कार्य-क्षेत्र लगभग उतना ही व्यापक था जितना सभा का। किसी को भी एक दूसरे पर शक्ति प्राप्त नहीं थी। चीवर तथा हैवीलैण्ड के अनुसार, परिषद् केन्द्रीय अंग के रूप में एक छोटी और अधिक प्रबन्धकीय निकाय थी जिसका नेतृत्व मुख्यतः बड़े राष्ट्रों के हाथ में था और जिसे शस्त्रास्त्र में कमी जैसे सुरक्षात्मक मामलों में कुछ विशिष्ट उत्तरदायित्व सौंपे गए थे। फिर भी व्यवहारतः सभा ने उत्तरोत्तर अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और अनेक मामलों में तो वह राष्ट्रसंघ की 'सम्प्रभु शक्ति' समझी जाने लगी। परिषद् की सापेक्ष शक्ति के पराभव में अनेक कारणों ने योग दिया। प्रथम, छोटे-राष्ट्र सामान्यतः

1 *Cheever & Haviland*: op cit, p 110.

बड़े राष्ट्रों के प्रभाव को सीमित करने की चेष्टा में संलग्न रहे। द्वितीय बड़े राष्ट्रों ने परस्पर विरोधी नीतियाँ अपनायीं जिनके फलस्वरूप परिषद् की गुरुत्वात्मक भूमिका को ठेस पहुँची। तृतीय, कुछ सर्वाधिक शक्तिशाली राज्यों को परिषद् की स्थाई सदस्यता प्रदान की गई। चतुर्थ, सभा, जो कि परिषद् की तुलना में एक अधिक प्रतिनिध्यात्मक संस्था थी, विभिन्न कार्यक्रमों के विस्तृत समर्थन की दृष्टि से एक अधिक लाभप्रद साधन सिद्ध हुई।

प्रसंविदा के अनुच्छेद 4 (4) के अनुसार परिषद् राष्ट्रसंघ के कार्यक्षेत्र में सम्मिलित प्रत्येक विषय और विश्व-शान्ति सम्बन्धी मामलों पर सभा के समान ही विचार कर सकती थी। परिषद् के मुख्य कार्य थे—सचिवालय को निर्देश देना अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का प्रबन्ध करना राष्ट्रसंघ के अन्य छोटे अंगों से प्रतिवेदन प्राप्त करना, शस्त्रास्त्र घटाने की योजना तैयार करना संघ के सदस्यों के मध्य विवादों का समाधान करना, शासनादेशों (Mandates) तथा अल्पसंख्यकों की सन्धियों और अन्य समझौतों का निरीक्षण एवं उनको प्रतिबिम्बित करना, बाह्य आक्रमणों से सदस्य राष्ट्रों की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करना आदि। परिषद् को यह भी अधिकार था कि वह संघ के नियमों का उल्लंघन करने पर संघ के राज्यों को सदस्यता से वञ्चित कर दे। उसके अन्य कार्य थे—सभा के प्रस्तावों को क्रियान्वित करना, महासचिव को मनोनीत करना, सचिवालय के अन्य उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति की स्वीकृति देना आदि। अनेक सन्धियों द्वारा परिषद् को सार घाटी के प्रशासन और डैंजिग के स्वतन्त्र नगर के प्रबन्ध का कार्य भी सौंपा गया था।

वास्तव में परिषद् का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य विवादों का निपटारा करना था। यह एक प्रकार से यूरोप की संयुक्त व्यवस्था (Concert of Europe) का इस धारणा को जीवित रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान महाशक्तियों के निर्देशन में होना चाहिए। राष्ट्रसंघ के सदस्य इस बात के लिए वचनबद्ध थे कि वे प्रत्येक सदस्य राज्य की क्षेत्रीय अखण्डता और राजनीतिक स्वतन्त्रता को मान्यता देंगे तथा उसके विरुद्ध आक्रमण नहीं करेंगे। प्रसंविदा के अनुच्छेद 10 के अन्तर्गत व्यवस्था थी कि किसी सदस्य-राज्य के विरुद्ध आक्रमण का भय या धमकी की सम्भावना होने पर परिषद् समुचित कार्यवाही करेगी। यह प्रावधान था कि आपातकालीन स्थिति में महासचिव किसी भी सदस्य की प्रार्थना पर अविलम्ब परिषद् की बैठक बुला सकेगा। अनुच्छेद 11 के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ का कोई भी सदस्य परिषद् का ध्यान उन परिस्थितियों की ओर आकर्षित कर सकता था जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को किसी प्रकार का भय हो। अनुच्छेद 12 के अनुसार संघ के सदस्यों का यह कर्त्तव्य था कि यदि उनके मध्य कोई इस प्रकार का विवाद हो जिससे पारस्परिक सम्बन्ध विच्छेद होने की सम्भावना हो तो वे उस विवाद को विवाचन, न्यायिक-निर्णय अथवा परिषद् द्वारा जाँच पड़ताल के लिए प्रस्तुत करेंगे। सदस्यों ने इस बात पर सहमति प्रकट की कि वे विवाचक के निर्णय, न्यायिक

निर्णय अथवा परिषद् की जाँच-रिपोर्ट के समय से 1 माह की अवधि के भीतर युद्ध नहीं कर सकेंगे। इस व्यवस्था का स्पष्ट अभिप्राय था कि सदस्य राज्य 3 माह के उपरान्त युद्ध कर सकता था। राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा की यह एक बहुत ही गम्भीर और आधारभूत त्रुटि थी कि उसने युद्ध का सम्पूर्ण रूप से परित्याग नहीं किया वरन् कुछ परिस्थितियों में युद्ध की सम्भावनाओं को कायम रखा। इस अनुच्छेद में यह भी उल्लेख था कि विवाचक अथवा न्यायालय अपने निर्णय उचित समय के भीतर देंगे तथा परिषद् अपनी जांच सम्बन्धी रिपोर्ट 6 माह के अन्दर प्रस्तुत कर देगी। अनुच्छेद 13 के अन्तर्गत कहा गया था कि यदि कोई विवाद इस प्रकार का हो जिसे सदस्य राज्य विवाचन अथवा न्यायिक निर्णय के उपयुक्त समझते हों तो वे उस विवाद को विवाचन अथवा न्यायिक निर्णय के लिए प्रस्तुत करेंगे। सदस्यों ने इस प्रकार के किसी भी निर्णय पर पूर्ण सद्भावना से कार्य करना भी स्वीकार किया था। *सदस्यों का कर्त्तव्य था कि वे ऐसे निर्णयों को स्वीकार करने वाले किसी भी* सदस्य-राज्य के विरुद्ध युद्धरत नहीं होंगे। इस व्यवस्था की अवहेलना होने पर परिषद् को यह निश्चय करने का अधिकार था कि विवाचक के निर्णय अथवा न्यायिक निर्णय को लागू करने के लिए क्या उपयुक्त कदम उठाये जाएँ।

प्रसंविदा के अनुच्छेद 15 के अन्तर्गत परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने की ब्यौरेवार व्यवस्था थी। यदि संघ में सदस्य-राज्यों के बीच ऐसा विवाद उठ खड़ा हो जिससे सम्बन्ध-विच्छेद की सम्भावना हो और जो अनुच्छेद 13 के अन्तर्गत विवाचन अथवा न्यायिक निर्णय के लिए प्रस्तुत नहीं किया जा सकता हो तो इसको 15वें अनुच्छेद के अन्तर्गत सदस्य-राज्यों द्वारा परिषद् के सम्मुख रखा जाना था। विवाद से सम्बन्धित कोई भी पक्ष महासचिव को विवाद सम्बन्धी सूचना दे सकता था और तब महासचिव का यह दायित्व था कि वह विवाद की आवश्यक जाँच-पड़ताल के लिए कार्यवाही करे। विवाद से सम्बन्धित पक्षों का कर्त्तव्य था कि वे शीघ्र विवाद से सम्बन्धित वक्तव्य अथवा आलेख महासचिव के समक्ष पेश करें। परिषद् इनके प्रकाशन की व्यवस्था कर सकती थी। परिषद् का यह कर्त्तव्य था कि वह विवाद को सुलझाने का यथासाध्य प्रयत्न करे और सफल रहने पर भी परिषद् सर्वसम्मति अथवा बहुमत से रिपोर्ट प्रकाशित करती थी जिसमें विवादों के आधारों का उल्लेख होने के साथ ही यह भी बतलाया जाता था कि समस्या का समुचित समाधान करने के लिए परिषद् की क्या सिफारिशें थीं। विवाद से सम्बन्धित पक्षों को छोड़कर दूसरे सदस्यों द्वारा परिषद् की रिपोर्ट सर्वसम्मति से स्वीकृत हो जाने पर राष्ट्रसंघ के सदस्यों द्वारा यह निश्चय किया जाता था कि वे उस पक्ष के विरुद्ध युद्ध नहीं करेंगे जिसने परिषद् की रिपोर्ट की लिखित सिफारिशों को मंजूर कर लिया है। विवाद में उलझे पक्षों को छोड़ कर अन्य सदस्यों द्वारा परिषद् की रिपोर्ट सर्वसम्मति से स्वीकार न किए जाने पर संघ के सदस्यों को अपनी इच्छानुसार आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार था। यह भी व्यवस्था थी कि अनुच्छेद 15 के अन्तर्गत आने वाले किसी भी विषय को परिषद् सभा के सम्मुख

प्रस्तुत कर दे। ऐसी सूरत मे 15वें और 12वें अनुच्छेद की सभी शर्तें इस विषय पर लागू होती थीं। सभा के निर्णय पर यह प्रतिबन्ध था कि यदि उसके द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट विवाद से सम्बन्धित पक्षो को छोड कर, परिषद् मे उपस्थित सदस्यों तथा सघ के दूसरे सभी सदस्यो के बहुमत को स्वीकार हो तो उसे वही शक्ति प्राप्त होगी जो परिषद् के सभी सदस्यो (विवाद से सम्बन्धित पक्षो को छोड कर) द्वारा स्वीकृत रिपोर्ट को हो।

विवादो के समाधान से सम्बन्धित जो व्यवस्थाएँ राष्ट्रसघ की प्रसविदा मे थीं, उनका निष्कर्ष प्रकट करते हुए चीवर तथा हैवीलैण्ड ने लिखा है कि "प्रसविदा ने सभी परिस्थितियो मे युद्ध को अवैध नहीं ठहराया था तथापि इसने शान्तिपूर्ण समाधान के सभी शात तरीको के नियमन और विकास द्वारा शक्ति-प्रयोग को यथासम्भव रोकने का प्रयत्न किया। परिषद् द्वारा जाँच और सिफारिश के माध्यम से जनमत को प्रतिबन्धित और गर्ममिजाजी को शान्त करने के लिए शान्तिप्रद अवधियो (Cooling of Periods) को पर्याप्त महत्त्व दिया गया। व्यावहारिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की दुनिया मे, जिसमे सामुदायिक उत्तरदायित्व की दृढ़ भावना अथवा शक्ति के केन्द्रित सगठन का अभाव था, प्रसविदा की प्रक्रियाएँ ही कुछ सहारा थीं। जब तक सदस्य-राज्यो ने प्रसविदा के सिद्धान्तों मे आस्था रखी, राष्ट्रसघ आश्चर्यजनक रूप से प्रभावी रहा, लेकिन सन् 1930 मे आक्रमण का विस्फोट होने के साथ ही यह स्पष्ट हो गया कि विश्व-व्यवस्था के लिए एक अधिक सयुक्त तथा एकतापूर्ण समुदाय और सरकार की आवश्यकता है।"[1]

प्रसविदा के अनुच्छेद 16 मे सघ द्वारा लगाए जाने वाले प्रतिबन्धों (Sanctions) का उल्लेख था। यह व्यवस्था थी कि यदि सघ का कोई भी सदस्य राज्य अनुच्छेद 12, 13 एव 15 की शर्तों की अवहेलना कर युद्ध घोषित करेगा तो उसका यह कार्य सब राष्ट्रो के विरुद्ध आक्रमण समझा जाएगा और इस स्थिति मे सब सदस्यो द्वारा उसके साथ वित्तीय तथा व्यापारिक सम्बन्ध समाप्त कर दिए जाएँगे। इस स्थिति में परिषद् का यह कर्त्तव्य होगा कि वह विभिन्न सरकारो से राष्ट्रसघ की प्रसविदा का कार्यान्वयन सम्भव बनाने के लिए प्रभावशाली सैनिक शक्ति, नौसेना और वायु सेना देने का अनुरोध करे। सघ के सदस्यों ने यह भी निश्चय किया कि इस अनुच्छेद के अन्तर्गत कार्य करने मे वे परस्पर सहयोग करेंगे तथा अपने क्षेत्र से सेना को आवागमन की सुविधा देंगे।

परिषद् सम्बन्धी अनुच्छेदों से स्पष्ट है कि उसे वास्तव में राष्ट्रसघ का एक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण अग बनाया गया था जिसके पास वैधानिक अधिकारों के अतिरिक्त विश्व-राजनीति को प्रभावित करने के अनेक अवसर थे। फिर भी इसकी स्थिति कभी भी स्पष्ट नहीं रही और इसी कारण यह पूर्ण सम्मान की पात्र नहीं बन सकी। यह शक्ति राजनीति (Power-politics) से सदैव प्रभावित होती रही

1 *Cheever and Haviland* : op cit , p 116

और थोड़े समय बाद ही सभा के सम्मुख झुक गई तथा उससे कम प्रभावशाली रह गई। यह परिषद् आक्रमणकारी के विरुद्ध संसार का जनमत एकत्रित करने और शीघ्रता से कार्यवाही करने में सक्षम थी। पर इसके कार्यों में दुर्भाग्यवश ऐसी त्रुटियाँ थीं जिनके कारण यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का वास्तविक कार्यकारी अंग नहीं बन सकी। इसकी दुर्बलताओं के कारणों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सबसे बड़ी कमी यह थी कि प्रभावशाली सदस्य अपने हितों के समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए अधिक चिन्तित नहीं थे महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय सर्वसम्मति से ही लिया जा सकता था और महाशक्तियों द्वारा किसी विषय पर एकमत न होने पर कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती थी। सी के वेबस्टर ने ठीक ही लिखा है कि महाशक्तियों को सब महत्त्वपूर्ण विषयों पर स्थायी निषेध अधिकार प्राप्त हैं। यदि वे असहमत हो तो या तो मध्यम मार्ग अपनाना पड़ेगा अथवा कोई कार्य हो ही नहीं सकेगा। किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय पर निर्णय लेने के लिए अन्य छोटे राष्ट्रों की सहमति भी अनिवार्य थी। यदि वे सब एकमत हो जाते तो उनकी शक्ति बहुत प्रबल बन सकती थी। पहले विश्व के इतिहास में कभी साल्वाडोर तथा नार्वे जैसे छोटे राष्ट्रों को ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं थी, लेकिन वास्तविकता यह थी कि लघु शक्तियाँ महान् राष्ट्रों से बहुत अधिक प्रभावित रहती थीं। कुछ छोटे राष्ट्र यद्यपि स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते थे तथापि अन्य छोटे राष्ट्र किसी न किसी महाशक्ति पर निर्भर रहते थे और ऐसे छोटे राष्ट्रों के लिए किसी भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर किसी महान् राष्ट्र का विरोध करना बड़ा कठिन था। इन सब बातों से स्पष्ट है कि विभिन्न देशों में एक प्रभावशाली जनमत का विकास करने पर ही विवादों का समाधान एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास सम्भव था।"

सचिवालय (Secretariat)—राष्ट्रसंघ का तीसरा महत्त्वपूर्ण अंग सचिवालय था। यह एक स्थाई सिविल सेवा अभिकरण था जिसे जेनेवा में स्थापित किया गया। सचिवालय में प्रधान महासचिव (Secretary General) तथा लगभग 750 अन्य कर्मचारी कार्य करते थे। प्रथम महासचिव का उल्लेख प्रसंविदा में ही कर दिया गया था। महासचिव की नियुक्ति परिषद् द्वारा सभा की अनुमति से होती थी। संघ के प्रथम महासचिव ब्रिटिश सर्विस के श्री जेम्स एरिक ड्रमण्ड थे जिन्होंने इस पद पर 13 वर्ष तक बड़ी योग्यतापूर्वक कार्य किया। तत्पश्चात् सन् 1933 से 1940 तक आयरलैण्ड के सियेन लैस्टर महासचिव रहे।

सचिवालय, सभा और परिषद् दोनों के लिए कार्य करता था। सचिवालय के कर्मचारियों को अपनी राष्ट्रीय निष्ठा से उठकर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से कार्य करना होता था। सचिवालय संघ के सभी अंगों की सहायता करता था। इसके प्रमुख कार्य थे सभा और परिषद् के लिए विचारणीय विषयों की सूची तैयार करना, उनकी बैठकों की कार्यवाही का विवरण रखना, विविध प्रकार के प्रशासकीय कार्य करना, प्रारूप तैयार करना, शोध करना, सन्धियों को पंजीबद्ध करना, अभिलेख रखना आदि। प्रो हेरिस के अनुसार सचिवालय राष्ट्रसंघ का एक अनूठा अंग था।

सघ के कार्य की सफलता का श्रेय अधिकांशत स्थाई सचिवालय को था। सचिवालय का सगठन वास्तव मे कोई नई चीज नही थी। यह राज्य सरकारो के सचिवालयो के समान ही था, तथापि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे इस प्रकार की सस्था की स्थापना एक नई चीज थी और इसीलिए इसका महत्त्व और अधिक बढ गया था। प्रसविदा द्वारा सचिवालय को कोई विशेष अधिकार प्रदान नहीं किए गए थे लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से जो काम इसे करने पडते थे, वे निश्चय ही महत्त्वपूर्ण थे। सचिवालय का कार्य विभिन्न खण्डों म विभाजित था। प्रारम्भ मे 11 खण्ड थे और आगे चलकर 15 खण्ड हो गए।

अन्य अंग—प्रसविदा के अन्तर्गत एक स्थाई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की भी व्यवस्था की गई। न्यायालय की स्थापना के मूल मे यह सिद्धान्त निहित था कि यदि सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त विवादो का शान्तिपूर्ण समाधान था तो शान्तिपूर्ण समभौते का सिद्धान्त 'मध्यस्थता' और न्यायिक समझौता था। प्रसविदा के अनुच्छेद 14 के अनुपालन स्वरूप स्थाई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई। इस न्यायालय का वर्णन और मूल्यांकन आगे एक पृथक् शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

प्रसविदा मे एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सग (I L O) की भी व्यवस्था थी जिसके विधान को वर्साय सन्धि के 13वें भाग के रूप मे स्वीकार किया गया था। यह स्वायत्त सगठन श्रमिक वर्ग के सुधार के लिए अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करता था। इसके तीन अग थे—सामान्य सभा (General Conference), प्रबन्धक निकाय (Governing Body) तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office)। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन द्वारा स्वीकृत सिफारिशो-समझौता या परम्पराओं का मूल्य बहुत कम था, लेकिन सदस्य राष्ट्र द्वारा स्वीकृत सिफारिशों समभौतो को स्वीकार कर लेने पर उनका मूल्य बढ जाता था और उसको सम्पुष्ट (Ratify) भी कर दिया जाता था। इन सभी अगों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्यों के लिए राष्ट्रसघ के अन्य अवयव। अभिकरण भी थे जिन्हें सहायक अग एव स्वायत्त सस्थाएँ कहा जा सकता है। विधान निर्माताओं की इच्छा थी कि सघ को विभिन्न राजनीतिक प्रश्नों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासो मे समन्वय स्थापित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनाया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन अभिकरणो की स्थापना हुई थी, वे थे—वित्तीय सगठन, यातायात सगठन, आर्थिक सगठन, बुद्धिजीवी सहयोग समिति, आदि।

राष्ट्रसघ का योगदान या उसके कार्य
(The League at Work)

राष्ट्रसघ वह प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सगठन था जिसने व्यवस्था के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया और अपने लगभग 20वर्ष के सक्षिप्त जीवनकाल मे नियमित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन को प्रोत्साहन दिया। दो महायुद्धो के बीच की दो दशाब्दियों मे राष्ट्रसघ के सामने लगभग 60 राजनीतिक विवाद प्रस्तुत हुए और इसी अवधि में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में स्थाई

न्यायालय ने भी लगभग इतने ही कानूनी विवादों पर विचार किया जिनमे से 32 पर अपने निर्णय दिए और 27 पर परामर्शात्मक विचार प्रकट किए। राष्ट्रसंघ ने विभिन्न गम्भीर कठिनाइयों के होते हुए भी धैर्यपूर्वक अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाह का प्रयत्न किया और प्रारम्भिक सफलताओं के कारण कुछ ही समय मे वह एक ऐसी संस्था बन गई जिसकी ओर सभी राष्ट्रों का ध्यान केन्द्रित हो गया। अपने जीवन की प्रथम दशाब्दी (1920-30) में राष्ट्रसंघ को विवादो के समाधान मे इन बातो के बावजूद पर्याप्त असफलता मिली। एक तो इसकी कार्यविधि का पूर्ण विकास नहीं हुआ था और दूसरे संयुक्त राज्य अमेरिका जो इसके जन्म के लिए बडी हद तक उत्तरदायी था इसका सदस्य नहीं बना। संयुक्तराज्य अमेरिका की पृथकता ने राष्ट्रसंघ को तुरन्त ही दुर्बल बना दिया और विवादों के समाधान तथा शान्ति की सुरक्षा में इसकी क्षमता को कम किया। फिर भी सन् 1924 से 1930 तक के वर्ष राष्ट्रसंघ की सर्वाधिक प्रतिष्ठा और उसके अधिकार-वृद्धि के रहे। प्रारम्भ मे सदस्य-राज्यों के सारे प्रतिनिधि ही राष्ट्रसंघ की बैठकों मे भाग लेते थे, पर कुछ ही वर्षों मे संघ ने इतनी प्रतिष्ठा अर्जित कर ली कि सदस्य-राज्यों के प्रमुख राजनीतिज्ञ और विदेश-मन्त्री तक इसकी बैठकों मे उपस्थित होने लगे। लोकार्नो सन्धि तथा केलाग-समझौते ने राष्ट्रसंघ के सम्मान मे अतिशय वृद्धि की। चीवर तथा हैवीलैण्ड के अनुसार, सन् 1930 तक संघ की सफलता और ख्याति संवर्द्धन में निम्नलिखित कारणों ने विशेष योग दिया—

1 जनमत के दबाव से सरकारों ने राष्ट्रसंघ को अपना समर्थन प्रदान किया। राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने संघ के पक्ष मे जनमत निर्माण की महती भूमिका अदा की।

2. संघ के सम्मेलन में प्रमुख शक्तियों ने सन् 1929 से बाद के वर्षों की तुलना मे अपनी वैदेशिक नीति के उद्देश्यों और संघ के प्रति अपने दृष्टिकोण मे सामान्यतः एकता की प्रवृत्ति प्रदर्शित की। उदाहरणार्थ इंगलैण्ड, फ्रांस और इटली ने जर्मनी के बारे में अपने मतभेदों पर दुराग्रह न कर उन कार्यवाहियों पर सहमति प्रकट की जो जर्मनी को राष्ट्रों के परिवार मे वापस लाने के लिए उठाए गए।

3 यूरोप मे सन् 1925 से 1929 के बीच 'सद्भावना' (Good feeling) का युग रहा। युद्धोत्तरकाल बेरोजगारी, परम्परागत व्यापार सम्बन्धों की विच्छिन्नता यौद्धिक विनाश आदि के बावजूद कम से कम बाहरी रूप से वर्धमान आर्थिक समृद्धि का काल था।

उपर्युक्त सभी कारणों और परिस्थितियों के फलस्वरूप राष्ट्रसंघ को पर्याप्त राजनीतिक बल मिला और वह अन्तर्राष्ट्रीय विवादों और व्यवहारों के समाधान का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। यद्यपि सन् 1929 के बाद अथवा अपनी जीवन की अन्तिम दशाब्दी में राष्ट्रसंघ को भारी असफलता का मुँह देखना पडा और अपनी सभी निर्बलताओं के कारण, कटु आलोचना तथा उपहास का पात्र बनना पड़ा, तथापि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रसंघ की स्थापना से पूर्व कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ऐसा नहीं था जिसने शान्ति की प्रतिज्ञा की अवहेलना करने पर

किसी महान् राष्ट्र को गम्भीर आलोचना की हो और किसी महान् राष्ट्र को दण्ड दिया हो। यही नहीं, पूर्ववर्ती अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की अपेक्षा राष्ट्रसंघ के कार्य सुरक्षा-क्षेत्र में भी अधिक सफल रहे।[1]

राष्ट्रसंघ शान्ति-निर्माता के रूप में (The League as Peace Maker)

राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखना तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रसंविदा में, जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, चार प्रकार की व्यवस्थाएँ थीं। पहली व्यवस्था के अन्तर्गत सदस्यों को कुछ ऐसी कानूनी बाध्यताओं तथा ऐसे उत्तरदायित्वों को स्वीकार करने के लिए कहा गया था जिनसे उनकी युद्ध प्रारम्भ करने की शक्ति काफी मर्यादित हो जाती थी। दूसरी व्यवस्था के अनुसार प्रसंविदा में इस प्रकार की प्रक्रियाओं को स्थान दिया गया था जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान हो सके। तीसरी व्यवस्था द्वारा युद्ध छिड़ जाने की स्थिति में अथवा किसी राज्य द्वारा अपने दायित्वों का उल्लंघन कर युद्ध जारी रखने की दशा में संघ को यह भी अधिकार दिया गया था कि वह अपराधी अथवा आक्रमणकारी राष्ट्र के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों और सैनिक कार्यवाही का प्रयोग करे। चौथी व्यवस्था युद्ध के निवारणार्थ शस्त्रास्त्रों को कम करने और निःशस्त्रीकरण से सम्बन्धित थी।

वास्तव में मानव-इतिहास में यह पहला अवसर था जब सुरक्षा सहायता सम्पन्न राज्यों ने अपनी प्रभुसत्ता पर बाह्य प्रतिबन्ध लगाना स्वीकार किया और अनुच्छेद 10 के अन्तर्गत यह मानवीय बाध्यता स्वीकार की कि वे परस्पर मौलिक सद्-उद्देश्यों अर्थात् वर्तमान राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करेंगे। राष्ट्रसंघ का यही प्रसिद्ध 'सामूहिक सुरक्षा' (Collective Security) का सिद्धान्त था जो दुर्भाग्यवश अनेक दुर्बलताओं के कारण कभी सफलतापूर्वक क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

प्रसंविदा के अनुच्छेद 11 से 16 तक में युद्ध को शान्तिपूर्ण ढंग से रोकने की प्रक्रियाओं का उल्लेख था। अनुच्छेद 11 के अनुसार किसी युद्ध अथवा युद्ध की धमकी राष्ट्रसंघ के लिए चिन्ता का विषय थी और किसी भी सदस्य की प्रार्थना पर महासचिव को परिषद् की तात्कालिक बैठक बुलाने का अधिकार था। संघ के अन्तर्गत अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय विषय अनुच्छेद 11 के आधार पर ही लागू हुए। अनुच्छेद 15 के अन्तर्गत, विवाद पहले परिषद् के सम्मुख जाते थे और यदि परिषद् चाहती तो उन्हें सभा के सम्मुख भेज सकती थी। परन्तु परिषद् ऐसे किसी विषय पर ऐसी कोई सिफारिश नहीं कर सकती थी जो किसी राज्य के घरेलू अधिकार-क्षेत्र में आता हो। अनुच्छेद 12 और 15 के अन्तर्गत परिषद् की शक्तियाँ समान

1 *P. B. Potter*: International Organization, p 252

थीं। इनके अन्तर्गत वे विवाद आते थे जिनके कारण सम्बन्ध-विच्छेद की आशंका रहती हो। इसीलिए ऐसे मामलों में सदस्य-राज्य विवाचन, न्यायिक निर्णय तथा परिषद् की जाँच-पड़ताल के लिए तैयार हो जाते थे। अनुच्छेद 11 का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक था और किसी प्रकार के विवाद अथवा मतभेद इसके अन्तर्गत प्रस्तुत किए जा सकते थे। परिषद् के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह कोई निश्चित मार्ग ही अपनाये। वह स्वतन्त्र रूप से अपने निर्णय दे सकती थी और यही कारण है कि इस अनुच्छेद के अधीन राष्ट्रसंघ अनेक राजनीतिक विवादों का समाधान कर सका। मिडिलबुश तथा चेस्नेहिल के अनुसार, 'राष्ट्रसंघ के प्रथम 10 वर्षों में परिषद् द्वारा यौद्धिक कार्यवाही को समाप्त करना, और झगड़े में सम्मिलित पक्षों को एक निर्णय पर पहुँचने के लिए सहमत करने में सफलता प्राप्त करना वास्तव में एक प्रभावशाली कार्य था।'[1]

अनेक मामलों में अनुच्छेद 11 के अन्तर्गत सफलता प्राप्त न होने पर उन्हें अनुच्छेद 15 के अन्तर्गत सुलझाने का प्रयास किया जाता था। कुछ स्थितियों में पहले तो परिषद् से अपील की जाती थी और बाद में विवाद सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था। चीन तथा जापान का विवाद, बोलिविया तथा पैराग्वे के बीच युद्ध, इटली एवं इथोपिया के मध्य संघर्ष, फिनलैंड और रूस के बीच संघर्ष आदि मामले इस प्रकार के उदाहरण हैं जिन्हें परिषद् ने सभा में भेजे बिना ही उन पर कार्यवाही की। ऐसा विवाद कोलम्बिया और पीरू के मध्य था। राष्ट्रसंघ ने 20 वर्ष की सक्रिय अवधि की प्रथम दशाब्दी में पर्याप्त सफलता अर्जित की। ऐसे प्रश्नों पर, जिनमें सशस्त्र संघर्ष की सम्भावना नहीं थी, विभिन्न पक्षों ने स्वयम् अपने ही स्तर पर विचार करने का प्रयत्न किया। परिषद् ने विवादों के समाधान के लिए विशेषज्ञ एजेंसियों का बार-बार प्रयोग किया। कानूनी प्रश्नों में सम्बन्धित मामलों को किसी विधिवेत्ता आयोग अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय में परामर्श के लिए भेजा जाता था। कानूनी पहलू से भली प्रकार परिचित होने पर विभिन्न पक्ष परिषद् की सहायता से विवादों का समाधान करने के प्रयत्न करते थे। परिषद् कभी कभी जाँच-पड़ताल आयोग भी बैठा देती थी। यह कदम प्रायः तभी उठाया जाता था जब सीमा-संघर्ष, आक्रमण अथवा सैनिक शक्ति के प्रयोग की सम्भावना हो। परिषद् द्वारा अधिक बल इसी बात पर दिया गया कि विवादों को साधारणतया एजेंसियों के माध्यम से निपटाया जाय। उदाहरण के लिए ग्रान चाको-युद्ध (Gran-Chaco War) के बारे में अमेरिकी राज्यों की उप समिति नियुक्त की गयी तो इटली-इथोपिया संघर्ष को विवाचन-आयोग द्वारा सुलझाने का प्रयास किया गया।

अनेक विवादों के सम्बन्ध में अनुच्छेद 15 के अधीन कार्यवाही की गई। ट्यूनिस तथा मोरक्को में राष्ट्रीयता आदेश सबंधी फ्रांस और ब्रिटेन के मध्य उत्पन्न विवाद में इस अनुच्छेद के अन्तर्गत रिपोर्ट करना अनावश्यक समझा गया और

1 *Middlebush & Chesney Hill* Elements of International Relations p 477

न्यायिक परामर्श के बाद दोनों पक्षों में सीधी वार्ता शुरू हो गई। मचूरिया के मामले मे एक रिपोर्ट तैयार की गई जिसे जापान ने ठुकरा दिया। लेटिसिया विवाद मे पीरू और कोलम्बिया ने रिपोर्ट स्वीकार कर ली तथा राष्ट्रसघ ने घटना स्थल पर प्रशासकीय आयोग भेजकर विवाद के समाधान मे सहायता दी। बोलिविया तथा पीरू के बीच चाको-युद्ध पर पेराग्वे ने 15वें अनुच्छेद के अन्तर्गत प्रस्तुत रिपोर्ट को स्वीकार नहीं किया। पेराग्वे को शस्त्रास्त्र सम्बन्ध सामग्री भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अन्त मे राष्ट्रसघ से पृथक् एक अन्य एजेन्सी द्वारा शान्ति की स्थापना की गई।

प्रसंविदा के अनुच्छेद 16 मे युद्ध रोकने के लिए दण्ड-व्यवस्था का प्रावधान था। व्यवस्था यह थी कि यदि सघ का कोई सदस्य 12वीं, 13वीं अथवा 15वी धारा का उल्लघन कर युद्ध प्रारम्भ कर देगा तो उसका यह कार्य सम्पूर्ण सघ के विरुद्ध समझा जाएगा और सघ के सभी सदस्य ऐसे राज्य के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्धों का विच्छेद कर लेंगे। इस व्यवस्था को आर्थिक प्रतिबन्धों का नाम दिया गया। इथोपिया-इटली-सघर्ष मे अनुच्छेद 15 के अन्तर्गत प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के बाद कठोर कदम उठाते हुए अनुच्छेद 16 के अधीन इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाए गए। राष्ट्रसघ के अल्पकालिक जीवन मे इस अस्त्र का प्रयोग केवल एक ही बार हुआ, लेकिन बड़ी शक्तियो के सहयोग के अभाव मे यह अस्त्र निष्फल रहा। इटली के विरुद्ध जोर शोर से लगाए गए आर्थिक प्रतिबन्ध निष्क्रिय हो गए। वास्तव मे अनुच्छेद 16 के मूल मे यह भावना निहित थी कि आर्थिक प्रतिबन्धो के भय से कोई देश युद्ध छेड़ने का साहस नही करेगा और यदि उसने साहस किया भी तो कठोर आर्थिक प्रतिबन्धो के कारण, वह युद्ध को अधिक समय तक जारी नही रख सकेगा और अन्त मे बाध्य होकर युद्ध बन्द कर देगा। यदि महाशक्तियाँ इस अनुच्छेद को प्रभावपूर्ण ढग से कार्यान्वित करतीं तो यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना मे एक कारगर उपाय सिद्ध होता, लेकिन महाशक्तियो ने अपने स्वार्थों के कारण इस अनुच्छेद को निष्प्रभावी बना दिया और इसके प्रथम प्रयोग में ही इसका जनाजा निकला।

युद्ध रोकने के लिए आर्थिक प्रतिबन्धो के अतिरिक्त अनुच्छेद 16 म सैनिक कार्यवाही की व्यवस्था थी। प्रसंविदा में उल्लेख था कि सघ आक्रामक राज्यो के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही कर सकता है और इसके लिए सदस्य-राज्यो को सेना प्रदान करनी चाहिए, पर व्यावहारिक दृष्टि से इस व्यवस्था का कोई मूल्य नही था क्योंकि विधान में ऐसी कोई धारा नहीं थी जिससे सदस्यों को सेना प्रदान करने के लिए बाध्य किया जा सके। इस व्यवस्था का अनुपालन एकदम ऐच्छिक था और सघ के इतिहास में इसका प्रयोग कभी नहीं हुआ। सघ ने किसी भी अवसर पर नियम भग करने वाले सदस्यों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही नही की। आर्थिक प्रतिबन्धो के निष्प्रभावी रहने और सैनिक कार्यवाही का प्रयोग न होने के कारण छोटे राज्यों का राष्ट्रसघ पर विश्वास नहीं रहा और वे सोचने लगे कि सघ उनके अधिकारों की सुरक्षा करने मे असमर्थ है। संघ की दुर्बलता के कारण ही अनेक महत्त्वपूर्ण विवाद

उसके सामने नहीं लाए गए। उदाहरणार्थ, जब जर्मनी ने ऑस्ट्रिया पर आक्रमण करना चाहा तो ऑस्ट्रिया ने मामला राष्ट्रसंघ के सम्मुख नहीं रखा। इसी प्रकार सूडेटन-संकट के समय चेकोस्लोवाकिया ने भी अपना विवाद राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया। राष्ट्रसंघ की दुर्बलता को भाँपते हुए अनेक महान् राष्ट्रों ने इसका परित्याग कर दिया। इन राष्ट्रों की यह प्रवृत्ति बन गई थी कि यदि कोई छोटा राज्य राष्ट्रसंघ से सहायता की अपील करता था तो इन्हें अप्रसन्नता होती थी।

प्रसंविदा के 17वें अनुच्छेद में संघ के सदस्यों और गैर-सदस्य राज्यों के विवादों या गैर सदस्य राज्यों के पारस्परिक विवादों के समाधान की व्यवस्था थी। ऐसी अवस्था में गैर-सदस्य राज्यों को आमन्त्रित किया जाता था कि वे उस विवाद के प्रयोजन के लिए संघ की सदस्यता के उत्तरदायित्वों को स्वीकार कर लें। यदि गैर-सदस्य राज्य आमन्त्रण स्वीकार कर लेता था तो 12वें से 16वें अनुच्छेद तक की व्यवस्थाएँ सिद्धान्त रूप में लागू हो जाती थीं, अन्यथा नहीं। फिर भी आमन्त्रित राज्य द्वारा संघ के किसी भी सदस्य के विरुद्ध युद्ध छेड़ देने की अवस्था में उसके खिलाफ 16वें अनुच्छेद के उपबन्धों को लागू कर देने की व्यवस्था थी। विवाद से सम्बन्धित यदि दोनों ही पक्ष गैर सदस्य राज्य होते तो परिषद् ऐसे उपाय काम में ले सकती थी जिनसे युद्ध रुक जाए अथवा विवाद तय हो जाए।

अनुच्छेद 19 के अनुसार, सभा (Assembly) समय-समय पर संघ के सदस्यों को उन सन्धियों पर पुनर्विचार के लिए कह सकती थी जो समय के साथ अनुपयुक्त हो गई हों। अनुच्छेद का उद्देश्य मुख्यतः कानून को विद्यमान परिस्थितियों के अनुकूल बनाना था। युद्ध के निवारण के लिए प्रसंविदा के 8वें अनुच्छेद में शान्ति-स्थापना करने के लिए शस्त्रास्त्रों की कमी को आवश्यक बताया गया था और इस सम्बन्ध में विस्तृत योजना बनाने का कार्य परिषद् को सौंपा गया था। परिषद ने इस दिशा में अनेक कदम उठाए किन्तु सफलता प्राप्त नहीं हुई

राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन
(Evaluation of the League)

राष्ट्रसंघ लगभग 20 वर्ष तक कार्यशील रहा, लेकिन उसका शान्ति स्थापित करने का महान् ध्येय सफल नहीं हो सका। गम्भीर प्रयत्नों के बावजूद संघ नि:शस्त्रीकरण का अपना स्वप्न साकार नहीं कर सका। यह केवल कुछ छोटे विवादों का समाधान करने में ही सफल हुआ। उन बड़े और महत्त्वपूर्ण विवादों के हल में असमर्थ रहा जिनमें महाशक्तियाँ उलझी हुई थीं। जिन कारणों से राष्ट्रसंघ अपने उत्तरदायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह न कर सका, उनमें मुख्य ये हैं—

1. राष्ट्रसंघ संवैधानिक दृष्टि से बड़ा निर्बल था। अपने निर्णयों का पालन कराने के लिए उसके पास कोई अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस अथवा सेना नहीं थी। वह सदस्य-राज्यों को बाध्य करने की सामर्थ्य नहीं रखता था। किसी भी राज्य को अपराधी घोषित करने में परिषद् में सर्वसम्मति की उपलब्धि अत्यन्त कठिन होती थी और यदि किसी प्रकार ऐसा हो भी जाए तो भी कोई राष्ट्र इसकी उपेक्षा कर

सकता था। संघ की कार्य-पद्धति इतनी जटिल और विलम्बकारी थी कि विवाद प्रायः इतना लम्बा खिंच जाता था कि आक्रामक राष्ट्र के विरुद्ध प्रभावशाली कार्यवाही का समय ही समाप्त हो जाता था। उदाहरणार्थ, मंचूरिया-घटना के समय राष्ट्रसंघ का लिटन-आयोग जब चीन पहुँचा तब तक जापान सम्पूर्ण मंचूरिया पर अपना आधिपत्य जमा चुका था। प्रसंविदा का यह महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक दोष था कि उसने युद्ध को वर्जित नहीं किया था वरन् आक्रामक और रक्षात्मक युद्ध का अन्तर प्रकट करते हुए रक्षात्मक युद्ध को वैध माना था। इस प्रकार युद्ध को प्रत्येक परिस्थिति मे बुरा नहीं बताया गया था। अनुच्छेद 12, 13 और 15 के अन्तर्गत स्थिति मे कुछ अन्तर हो सकता था। मार्गेन्थो ने जीन रे (Jean Ray)[1] के शब्दों को दुहराते हुए कहा है कि प्रसंविदा के निर्माताओं की दृष्टि मे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने के लिए युद्ध ही एक सामान्य हल था। यदि राष्ट्रसंघ के सदस्य प्रसंविदा के उपबन्धों को पूर्णतः कार्यान्वित करते तो उन्हें युद्धों को रोकने के लिए भी कुछ व्यवस्था करनी पड़ती और युद्धों को अवैध बतलाना पड़ता।[1]

2. संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा सदस्यता ग्रहण न करने से राष्ट्रसंघ अपने प्रबल समर्थक के सहयोग से वंचित हो गया। अमेरिका की पृथकता ने संघ की जीवन शक्ति पर प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार से बुरा प्रभाव डाला। संघ की सदस्यता अमेरिका पर लागू न होने से प्रसंविदा के अनुच्छेद 16 के अन्तर्गत आर्थिक प्रतिबन्धों की व्यवस्था महत्वपूर्ण नहीं रही क्योंकि अपराधी राज्य सुगमतापूर्वक अमेरिका से आवश्यक वस्तुओं का आयात कर सकता था। अमेरिका की पृथकता के कारण राष्ट्रसंघ के आदर्शवाद का प्रभाव क्षीण पड़ गया और संकीर्ण राष्ट्रवाद पनपता गया। विश्व के एक महान् राष्ट्र द्वारा संघ का सदस्य न बनने से 'असन्तुष्ट राज्यों' के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत हो गया और वे अमेरिका का अनुसरण कर राष्ट्रसंघ को छोड़ने लगे। राष्ट्रसंघ के समान एक विश्वव्यापी संगठन के क्षेत्र से नई दुनिया का एक विशाल प्रदेश निकल गया, अतः संघ की सार्वभौमिकता को गम्भीर आघात पहुँचा। यदि अमेरिका संघ का सदस्य होता तो मंचूरिया तथा एबीसीनिया पर आक्रमण निरस्त किया जा सकता था। अमेरिका द्वारा संघ का सदस्य न बनने से फ्रांस की सुरक्षा के लिए दी गई एंग्लो अमेरिकन गारण्टी व्यर्थ हो गई तथा सुरक्षा की खोज में पड़कर फ्रांस यूरोप में गुटबन्दियों का जाल बुनने लगा जिससे राष्ट्रसंघ के सदस्यों और विश्वशान्ति को गम्भीर आघात पहुँचा।

3. इसकी स्वरूप सम्बन्धी दुर्बलता भी राष्ट्रसंघ की विफलता का एक कारण बन गई। संघ में यूरोपीय देशों का प्रभाव अधिक था जबकि विश्व के अन्य भागों के शक्तिशाली देशों को प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ। विश्व राजनीति में गैर-यूरोपीय देशों के बढ़ते हुए प्रभाव की अवहेलना करके कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था सफल होने की आशा नहीं कर सकती थी। अमेरिका प्रारम्भ में ही संघ का सदस्य नहीं बना और रूस तथा जर्मनी को संघ का सदस्य बनाने योग्य नहीं समझा गया। जर्मनी को काफी वर्षों बाद सन् 1926 में और रूस को सन् 1934 में सदस्यता दी गई लेकिन

1 *Jean Ray* : Quoted by Morgenthau in 'Politics Among Nations', p 442

वे क्रमश सन् 1933 एव 1939 मे सघ से पृथक् हो गए। ब्राजील, कोस्टरिका, इटली आदि अनेक राष्ट्र एक-एक करके सघ से पृथक् हो गए। इस प्रकार सघ के आन्तरिक जीवन मे ऐसा कोई भी अवसर नही आया जब सघ को सम्पूर्ण विश्व का प्रतिनिधि समझते हुए अथवा विश्व की सभी महाशक्तियाँ समस्त राज्यो के रूप मे इसमे एक साथ बैठी हो। सघ हमेशा कुछ विशिष्ट राष्ट्रों का गुट बना रहा और उस पर ये आरोप लगाए जाते रहे कि वह 'विजेताओ का सघ', 'सन्देहग्रस्त राष्ट्रो का सगठन' अथवा 'रूस के विरुद्ध पश्चिम का षड्यन्त्र' है। राष्ट्रसघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के लिए सर्वव्यापकता की कमी उसकी असफलता का बीज था।

4 राष्ट्रसघ के लिए वर्साय की सन्धि से जन्म लेना अभिशाप सिद्ध हुआ। 'बदनाम माँ की इस सम्मानित बेटी' को पराजित राष्ट्र विजेता राष्ट्रो की स्वार्थ-सिद्धि का यन्त्र समझते रहे। पराजित-राष्ट्रो को वर्साय सधि को जो सजा दी गई वह सीमा से अधिक थी, अत उसके सन्तुलन के प्रति पराजित-राष्ट्रो का भी लगाव नही हो सकता था। पुनश्च, राष्ट्रसघ के प्रमुख सस्थापक विल्सन ने व्यवस्था दी थी कि आवश्यकता पड़ने पर सघ सधियों मे सशोधन करे, लेकिन फ्रांस के नेतृत्व मे एक गुट-विशेष के सभी राष्ट्रो ने शान्ति-सधि मे किसी भी सशोधन का तीव्र विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि सव-सधियों मे कोई सशोधन नही कर पाया और उसने विश्व के अनेक राष्ट्रो की दृष्टि म स्वय को वर्साय-व्यवस्था कायम रखने वाला सगठन सिद्ध कर दिया।

5 पोयकारे और मिलरेण्ड के नेतृत्व मे फ्रांस के राष्ट्रीय गुट ने सन् 1918 से 1924 के बीच जर्मनी के साथ कठोर व्यवहार का रुख अपनाया, उसके आत्म-सम्मान को गहरी ठेस पहुँचाई। फ्रांस के नेताओ ने बिस्मार्क के पदचिह्नो का अनुसरण किया। सन् 1924 से 1930 तक स्ट्रेसमान ब्राइण्ड तथा चैम्बरलैन ने दोनो देशो मे सद्भावना का वातावरण बनाने का प्रयत्न किया, लेकिन वास्तविक मैत्री स्थापित नही हो सकी। जी पी गूच के अनुसार 'मित्रता की नीव दृढ नही थी'। लोकार्नो समझौता करने मे विलम्ब किया गया और अन्त मे अन्य आवश्यक कदम नही उठाए गए। युद्ध के घाव अभी भरे नही थे।'[1]

6 राष्ट्रसघ की सदस्य-महाशक्तियो ने अनुच्छेद 10, 11, 15 और 16 के अन्तर्गत उल्लिखित उत्तरदायित्वो को कार्यान्वित नही किया। उन्होने अपनी घोषणाओ मे भल ही शान्ति की दुहाई दी हो, पर व्यावहारिक रूप से शान्ति की स्थापना के लिए कोई सक्रिय कार्यवाही नही की। प्रतिविदा का उल्लघन करने वाले राज्यो के विरुद्ध आर्थिक बहिष्कार की नीति नितान्त निष्प्रभावी सिद्ध हुई। फ्रांस व ब्रिटेन ने इस गुप्त समझौते पर आचरण किया कि इटली का जर्मनी के साथ मिलाने स रोकन के लिए उचित यही है कि मुसोलिनी के साम्राज्य निर्माण के प्रयत्नो में प्रभावशाली बाधा न डाली जाए। जापान ने अनेक अनुचित कार्यवाहियों से यह

1 *G P Gooch* Problems of Peace, Vol 1?, p 64

प्रकट कर दिया कि वह राष्ट्रसघ के सिद्धान्तों का पालन करने को तैयार नही था। प्रमुख सदस्य-राज्यो की सिद्धान्तहीनता और राष्ट्रसघ के प्रति व्यावहारिक अनास्था का परिणाम यह हुआ कि जेनेवा की झील के तट पर एरियाना पार्क मे निर्मित भव्य प्रासाद (राष्ट्रसघ) शीघ्र ही सुन्दर समाधि-स्थल बन गया।

7 सघ के सदस्य-राज्यों ने अपनी-अपनी डफली, अपना अपना राग' वाली कहावत चरितार्थ की। सकीर्ण राष्ट्रीय हितो के नाम पर विश्व-शान्ति की व्यवस्था और सुरक्षा का गला घोट दिया गया। ब्रिटेन और फ्रांस की नीतियों मे तीव्र मतभेद रहा जिससे जर्मनी की चालें सफल होती चली गई और सघ के हाथ कमजोर होते गए। फ्रास जर्मनी से अपनी सुरक्षा के लिए राष्ट्रसघ को ढाल के रूप मे उपयोग करता रहा और ब्रिटेन ने अपने व्यापारिक स्वार्थों के कारण जर्मनी के प्रति मृदु एव उदार नीति अपनाई। जर्मनी को सघ के कार्यों और सन्धियो मे कभी कोई आस्था नहीं रही। हिटलर की दृष्टि मे राष्ट्रसघ आँखो का काँटा था जो सम्पूर्ण विश्व मे जर्मन प्रभुत्व स्थापित करने मे सहयोगी नही हो सकता था। इटली ने जर्मनी को उकसाया ताकि वह फ्रांस और उसके पूर्वीय मित्रो को कमजोर कर सके। बाद में उसने जर्मनी से वही काम लिया जो जर्मनी रूस से लेना था। सोवियत नेताओं की दृष्टि मे 'राष्ट्रसघ पिछली शताब्दी मे सबसे निर्लज्ज और चोरो द्वारा निर्मित वर्साय सन्धि की उपज' था और पश्चिमी देशो द्वारा भी उसका बुरी तरह से विरोध किया गया। हिटलर के उदय से आशकित होकर सन् 1934 मे रूस राष्ट्रसघ का सदस्य बन गया, किन्तु तब भी पश्चिमी राष्ट्रों ने उस पर विश्वास नहीं किया। युद्धोत्तर शान्ति-सन्धियो ने जापान को नीचा दिखाया था अत प्रतिक्रियास्वरूप वह चाहता था कि सुदूरपूर्व में वह एक महान् शक्ति बन जाए। सयुक्तराज्य अमेरिका को अमेरिकी गोलार्द्ध मे सघ के प्रभाव का तनिक भी विस्तार सह्य नहीं था।

स्पष्ट है कि सघ के सम्बन्ध मे सभी बडी शक्तियों के विभिन्न दृष्टिकोण रहे और जहाँ कही उनके हितो का सघ के सिद्धान्तो से विरोध हुआ, वे सघ के सिद्धान्तों को तिलांजलि देते रहे। छोटे राष्ट्रो के पास बड़े राष्ट्रों का अनुसरण करने के अलावा अन्य विकल्प नही था। इन परिस्थितियो मे राष्ट्रसघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति स्थापित करने मे असमर्थ रहना सर्वथा स्वाभाविक था। मार्गेन्थो के अनुसार सम्प्रभु राष्ट्र अपनी नैतिकता और नीतियों को राष्ट्रसघ के नैतिक और राजनीतिक लक्ष्यो के ऊपर कायम रखते थे।

8 सन् 1930 की महान् आर्थिक मन्दी ने राष्ट्रसघ को अप्रत्यक्ष क्षति पहुँचाई। इसके फलस्वरूप लगभग सभी देशों में आर्थिक राष्ट्रवाद की शक्तियाँ प्रबल हो गई। इसने जर्मनी में नाजीवाद और जापान में सैनिकवाद को विकसित किया। शस्त्रों की होड लग गई। सामूहिक सुरक्षा आहत हो गई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की नींव हिल गई और आक्रमणो की सख्या बढ़ने लगी। आर्थिक सकट के फलस्वरूप रूस के एकदलीय शक्तियों की सख्या मे वृद्धि होने लगी। साम्यवादी विचार के विकास के कारण पश्चिमी मित्र राष्ट्र रूस के प्रत्येक विरोधी का अपना

मित्र मानने लगे। फलस्वरूप तुष्टिकरण की नीति को बल मिला और हस्तक्षेप की नीति ने आक्रमण को उकसाया।

9 राष्ट्रसंघ की स्थापना इस विश्वास पर की गई थी कि इसके सभी सदस्य शान्ति, स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्रवाद के प्रेमी थे लेकिन सन् 1922 में इटली और सन् 1930 के बाद जर्मनी स्पेन, पुर्तगाल तथा अनेक यूरोपीय देशों में अधिनायकवादी सरकारें सत्तारूढ़ हो गई। हिटलर और मुसोलिनी जैसे शासक 'लट्ठ और लोहे' की नीति में विश्वास करते थे, अतः उन्होंने राष्ट्रसंघ को पंगु बना दिया।

10 उग्र-राष्ट्रीयता के विचारों ने प्रारम्भ से ही राष्ट्रसंघ की विफलता के बीज बो दिए थे। प्रत्येक राज्य स्वयं को सम्प्रभु समझकर अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए अपने आप को स्वतन्त्र मानता था। इस प्रकार राष्ट्रसंघ 'सम्प्रभु राज्यों का संगठन था जिसमें कोई भी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था के लिए अपनी प्रभुता पर किसी प्रकार का अंकुश लगाने को तैयार नहीं था।" राज्यों का यह दृष्टिकोण संघ के अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए घातक था।

उपर्युक्त कारणों से राष्ट्रसंघ युद्धों के निवारण और शान्ति की स्थापना में सफल नहीं हो सका। शस्त्रों के भण्डार जमा हो गए और 1939 में दूसरे महायुद्ध का विस्फोट हो गया तथा यह असफलता वास्तव में राष्ट्रसंघ की असफलता न होकर सदस्य-राज्यों की असफलता थी। सदस्य राज्यों ने उन आदर्शों और सिद्धान्तों पर कार्य नहीं किया जो प्रसंविदा में निहित थे। कोई भी संस्था सदस्य राज्यों के सहयोग पर निर्भर करती है और जब सदस्यों द्वारा ही संस्था को ठुकराया जाने लगे तो संस्था के जीवन की क्या आशा की जा सकती है? परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि असफलता के बावजूद संघ ने अपने आप को ऐतिहासिक महत्त्व की एक महान् संस्था प्रमाणित किया। उसने विश्व को सहयोग और सहअस्तित्व का प्रभावशाली पाठ पढ़ाया और ऐसी प्रगतिशीलता प्रदान की जहाँ दोनों प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय विचारों और कार्यों की परीक्षा की जा सके। जेनेवा के एरियाना पार्क में समय समय पर अन्तर्राष्ट्रीय बैठकों द्वारा राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और विवादों पर प्रकाश डाला, शान्तिपूर्ण तरीकों से उन्हें सुलझाने का प्रयत्न किया, विशेषज्ञों की सलाह से अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों और आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं को हल किया, अनेक भयानक कारणों की जाँच कराकर आरोग्य का साधन खोजा और बौद्धिक विकास के लिए मूल्यवान सिफारिशें कीं। हमारी सभ्यता को राष्ट्रसंघ की सबसे बड़ी देन यह थी कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को समुचित ढंग से नियमबद्ध किया गया। राष्ट्रसंघ के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कानूनी विवादों को बड़ी कुशलता से सुलझाया। संघ ने अनेक रूपों के पुरातन कूटनीतिक तरीकों को बदला। राष्ट्रसंघ की विफलता भी मानव-जाति के लिए बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई। उसने जो बहुमूल्य अनुभव प्राप्त किया विश्व में संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में उसका पूरा लाभ उठाया।

गैर-राजनीतिक कार्यों में संघ ने आशातीत सफलता प्राप्त की और विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा प्रचार में उसे अपूर्व सफलता मिली। पोटर (P B.

Potter) ने सत्य लिखा है कि—'यदि भूतकाल के अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की देन को स्वीकार किया जाए तो संघ का कार्य, सुरक्षा के क्षेत्र में भी उच्च स्तर का था। वास्तव में बहुत थोड़े उन्नत, विशिष्ट और सीमित प्रतिनिधित्व वाले संगठनों को छोड़कर अन्य सभी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऊँचा था।"

अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय
(Permanent Court of International Justice)

राष्ट्रसंघ की संविदा की 14वीं धारा में कहा गया था कि 'परिषद्' (Council) अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय की स्थापना के लिए योजनाएँ बनाकर राष्ट्रसंघ के सदस्यों के समक्ष उनकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करेगी।" स्पष्ट है कि इसमें यह सिद्धान्त निहित था कि यदि सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त विवादों का शान्तिपूर्ण हल था तो शान्तिपूर्ण हल का मुख्य सिद्धान्त 'मध्यस्थता' और 'न्यायिक समझौता' था।

संविदा की 14वीं धारा के अनुपालन में सन् 1920 में परिषद् ने विधिवेत्ताओं एक आयोग की नियुक्ति की जिसके द्वारा प्रस्तावित न्यायालय के विधान को कुछ संशोधनों के बाद साधारण सभा ने 13 दिसम्बर, 1920 को निर्विरोध स्वीकार कर लिया और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हो गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के न्यायाधीशों का सर्वप्रथम निर्वाचन सितम्बर 1921 में हुआ और 15 फरवरी 1922 को यह हेग के शान्ति महल (The Great Hall of Justice of the Peace Palace) में स्थायी रूप से स्थापित हुआ। न्यायालय के सदस्यों की संख्या प्रारम्भ में 11 नियत की गयी। इसके अतिरिक्त चार उप-न्यायाधीश भी रखे गये। न्यायाधीशों का निर्वाचन परिषद् के बहुमत द्वारा होता था और साधारण सभा के बहुमत द्वारा उन्हें स्वीकृति प्रदान की जाती थी। न्यायाधीश अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के पूर्ण ज्ञाता, प्रसिद्ध वकील, अपने देश के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश बनने की योग्यता से सम्पन्न और विश्व की प्रमुख विधि-व्यवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले होते थे। इनका निर्वाचन 9 वर्ष के लिए होता था और ये स्वयमेव 3 वर्ष के लिए अपने सभापति और उप-सभापति का चुनाव करते थे। न्यायालय की बैठक प्रतिवर्ष हेग में होती थी और उसका प्रारम्भ प्रायः जून में होता था। राष्ट्रसंघ को न्यायालय पर प्रतिवर्ष लगभग 5 लाख डालर व्यय करने पड़ते थे। न्यायाधीशों का 9 वर्ष के पश्चात् पुनः निर्वाचन हो सकता था। अपने कार्यकाल में न्यायाधीश किसी राजनीतिक अथवा प्रशासकीय पद के अधिकारी नहीं होते थे। प्रत्येक न्यायाधीश को प्रतिवर्ष 30 हजार डॉलर के अतिरिक्त विभिन्न भत्ते भी दिए जाते थे। त्यागपत्र अथवा मृत्यु द्वारा हुए रिक्त स्थानों की पूर्ति शेष समय के लिए होती थी। सन् 1931 में न्यायाधीशों की संख्या 11 से बढ़ाकर 15 कर दी गयी, किन्तु बाद में सन् 1936 में उप-न्यायाधीश के पद समाप्त कर दिए गए।

स्थायी न्यायालय के कार्य की भाषा फ्रेंच और अंग्रेजी थी। ऐसी व्यवस्था थी कि यदि न्यायालय को दोनों पक्षों के विशिष्ट कानूनों और रीति-रिवाजों का पूर्ण ज्ञान न हो तथा उनके राज्य का कोई भी न्यायाधीश न हो तो एक अस्थायी न्यायाधीश की नियुक्ति की जा सकती थी। किन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि सभी न्यायाधीश अन्तर्राष्ट्रीय पदाधिकारी थे, न कि अपनी सरकारों के प्रतिनिधि। न्यायाधीशों के सभी निर्णय, परामर्श और आदेश खुले रूप में होते थे। निर्णय अधिकांश बहुमत से होते थे लेकिन कुछ मामलों में अल्पसंख्यकों के मत को भी ध्यान में रखा जाता था। निर्णय का आधार कानून था, न कि राजनीति।

न्यायालय का कार्यक्षेत्र दो प्रकार का था—एक तो 'ऐच्छिक' और दूसरा 'अनिवार्य'। विधान की धारा 36 को 'ऐच्छिक धारा' में परिवर्तित कर दिया गया था जिसे सदस्य राज्य स्वेच्छा से स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकते थे। जिन सदस्य राज्यों ने इस धारा को स्वीकार किया उन्होंने निम्नलिखित कानूनी विवादों में न्यायालय के अनिवार्य न्याय को मान्यता दी—

(1) किसी सन्धि का स्पष्टीकरण,

(2) अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी कोई भी प्रश्न,

(3) किसी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते का उल्लंघन तथा

(4) इस प्रकार के उल्लंघन के सम्बन्ध में क्षतिपूर्ति सम्बन्धी निर्देश।

इस अनिवार्य न्याय को मान्यता के सम्बन्ध में शर्त यह थी कि उपर्युक्त मामलों से सम्बन्धित दोनों ही पक्ष 'ऐच्छिक धारा का पालन करते रहे हों। इस कोटि के सभी झगड़ों में यद्यपि न्यायालय के निर्णय को मानना अनिवार्य था, किन्तु राज्यों की इच्छा पर निर्भर था कि वे विवादों को न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करें या न करें। जिन राज्यों ने न्यायालय का यह अधिकार क्षेत्र स्वीकार किया, उनकी संख्या 1927 में 20 थी जो 1939 में बढ़कर 39 हो गयी और उसके बाद 47। अनिवार्य धारा के अन्तर्गत एक दूसरे राष्ट्र को पेशी के लिए बुला सकता था और यदि दूसरा राष्ट्र न्यायालय में न आए तो न्यायालय एकपक्षीय सुनवायी करके न्याय कर सकता था। विधान की रचना करने वाले कानून विशेषज्ञों के आयोग ने प्रारम्भ में यह सिफारिश की थी कि किसी सन्धि, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और क्षतिपूर्ति सम्बन्धी निर्णय को भंग करने वाले मामले न्यायालय के अनिवार्य न्याय-क्षेत्र में शामिल किए जाएँ। लेकिन परिषद् तथा साधारण सभा ने इस सिफारिश को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया था कि संविदा (Convenant) की धारा 14 के अनुसार न्यायालय किसी को अनिवार्य न्याय के लिए बाध्य नहीं कर सकता।

स्थायी न्यायालय के न्याय का एक स्रोत विभिन्न सन्धियाँ थीं। इनकी संख्या लगभग 400 थी। इनके प्रभाव से न्यायालय के कार्य वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय हो गए। न्यायालय का काम प्रस्तुत पक्ष को सुनने के अतिरिक्त साधारण सभा अथवा परिषद् द्वारा रखे गए किसी भी प्रश्न पर सलाह देना भी था।

यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय 1899 में स्थापित 'हेग पंच न्यायालय' (Permanent Court of Arbitration at the Hague) से अनेक अर्थों से भिन्न था। हेग न्यायालय कोई स्थायी अदालत नहीं थी। इसमें केवल 132 प्रमुख कानून-विशेषज्ञों की सूची थी जिसमें से विवादास्पद राज्य कुछ व्यक्तियों को चुनकर पंच बना सकते थे अर्थात् कुछ व्यक्तियों को चुनकर सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करने के लिए एक अस्थायी न्यायालय की रचना कर दी जाती थी। लेकिन इसके सर्वथा विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय 15 न्यायाधीशों का स्थायी न्यायालय था जो पंच-न्यायालय के कार्यक्षेत्र के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्पष्टीकरण करता था जो पंच-न्यायालय के कार्यक्षेत्र के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्पष्टीकरण करता था और सन्धि-भंग के मामलों का निर्णय करता था। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय हेग के न्यायालय से अधिक विकसित था।

सन् 1922 से 1939 तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने 65 मामलों को अपने हाथ में लिया, इनमें से 32 पर निर्णय दिया और 200 आदेश तथा 27 परामर्श दिए। सभी निर्णयों का विवरण प्रकाशित किया गया। इस विषय में शूमैन ने लिखा है—"अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के 17 वर्ष के रिकार्ड में यह संस्था बड़ी मूल्यवान सिद्ध हुई।" अपने निर्णयों और परामर्शों के द्वारा इस न्यायालय ने जिन कानूनी सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया वे आने वाले समय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में निश्चित रूप से बड़े उपयोगी प्रमाणित हुए। 5 सितम्बर 1931 के 'Austro-German Customs Union' पर दिए गए अपने निर्णय के अलावा इस न्यायालय ने विश्व के समक्ष अपनी निष्पक्षता का उपयुक्त प्रभाव डाला। इसके कारण इसके सम्मान में वृद्धि हुई और जब राष्ट्रसंघ का अन्त हुआ तो 1946 में यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice of the United Nations) में परिणत कर दिया गया। राष्ट्रसंघ के स्थायी न्यायालय एम. एम. विम्बल्डन, पोलैण्ड में बसे जर्मनों, एस एस लोटस आदि विवादों पर महत्त्वपूर्ण निर्णय दिए जिनसे प्रो गिलमोर के अनुसार न्यायालय की प्रतिष्ठा और महत्त्व में अत्यधिक वृद्धि हुई थी।"

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास तथा मूल्यांकन—स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के कार्यकलापों का मूल्यांकन और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में उसके योगदान पर डॉ कपूर ने लिखा है—

"स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सक्षमता तथा उपयोगिता का सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि पर ही आधारित है। इसके अतिरिक्त नये न्यायालय ने पुराने न्यायालय का स्थान ले लिया तथा अपना कार्य उसी शहर, उसी जगह तथा उसी (Hall) में प्रारम्भ किया जहाँ पुराना न्यायालय अपना उच्च निर्णय दिया करता था। रोज़ने (Shabtai Rosenne) ने भी लिखा है कि, जब राष्ट्रसंघ का लोप

हुआ तथा उसका स्थान संयुक्त राष्ट्र ने लिया तो यह सुझाव कभी नहीं दिया गया कि न्यायालय की उपयोगिता समाप्त हो गयी तथा इसे समाप्त कर दिया जाए।"

वास्तव में स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनुभव ने द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक निर्णय की पुनः सस्थापित प्रणाली की नींव का कार्य किया। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उदाहरण के लिए, न्यायालय ने एस एस विम्बल्डन के बाद में अन्तर्राष्ट्रीय सलेखों के सकुचित अर्थ-निर्णय तथा उनकी वैधता, ट्यूनिस तथा मोरक्को के राष्ट्रीय आदेशों के बाद में घरेलू क्षेत्राधिकार के अर्थ तथा क्षेत्र में परिवर्तन, डैन्जिग रेलवे कर्मचारी केस में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा व्यक्तियों को अधिकार प्रदान किया जाना तथा ईस्टर्न ग्रीनलैण्ड में आवेशन (Occupation) आदि सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों का विकास किया।

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का वास्तविक महत्त्व इस बात में है कि इसने सिद्ध कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली को एक स्थायी न्यायिक अग की आवश्यकता है। रोजने (Shabtai Roseone) ने उचित लिखा है, "अपने प्रयोगात्मक प्रारम्भ से इसने (अर्थात् स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने) सिद्ध कर दिया कि एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक अग सम्भव तथा आवश्यक (दोनों ही) है, चाहे उसके पास अनिवार्य क्षेत्राधिकार भी न हो।" परन्तु स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की भी कुछ दुर्बलताएँ तथा परिसीमाएँ थी। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि रूस तथा अमेरिका इसकी सविधि के पक्षकार नहीं बने। इसके अतिरिक्त जो राज्य पक्षकार थे भी, उन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण और गम्भीर समस्याओं को न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया। परन्तु जैसा कि विख्यात विधिशास्त्री कार्बेट (Corbett) ने कहा है कि अन्तिम रूप से स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का महत्त्व झगड़ों की गम्भीरता से नहीं निश्चित किया जाना चाहिए। स्थायी महत्त्व की विधिपूर्वक पूर्वोक्तियाँ (Legal Precedents) छोटे झगड़ों तथा सलाहकारी मतों से भी स्थापित की जा सकती हैं। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्राधिकृत (Authoritative) कथन हैं।"

संयुक्त राष्ट्रसंघ : जन्म
(The United Nations : Origin)

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना द्वितीय महासमर का परिणाम है। इस युद्ध में मित्र राष्ट्रों—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और रूस को सामान्य शत्रु—जर्मनी, इटली और जापान से लड़ने के लिए एक दूसरे के अत्यधिक निकट आना पड़ा। कई बार अमेरिका, ब्रिटेन और सोवियत रूस के राष्ट्रनायकों का सम्मेलन हुआ। 14 अगस्त, 1941 को अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट और ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल ने एक सम्मिलित घोषणा की, जिसे अटलाण्टिक चार्टर (Atlantic Charter) कहते है। यह वस्तुतः युद्धकालीन समझौता था और इसमें यह स्पष्ट किया गया था कि द्वितीय महायुद्ध में विजय होने के फलस्वरूप भावी शक्ति सन्तुलन की रूपरेखा किस

किस तरह होगी। इस घटना के लगभग छः महीने बाद वाशिगटन मे एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हुआ जिस पर 26 देशो के प्रतिनिधियो के हस्ताक्षर 1 जनवरी, 1942 को हुए। इसमे अटलाण्टिक चार्टर के द्वारा निश्चित सिद्धान्तो एव लक्ष्यो को स्वीकृत किया गया। यह सयुक्त राष्ट्रीय सम्मिलित घोषणा के नाम से प्रसिद्ध है। इसी अवसर पर सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय वातो मे 'सयुक्त राष्ट्रसघ' शब्द का प्रयोग हुआ।

सन् 1943 के अक्टूबर मे बडे राष्ट्रो के परराष्ट्र मन्त्रियो का एक सम्मेलन मास्को मे हुआ। उसमे अन्य बातों के साथ-साथ यह भी निश्चय हुआ कि सभी शान्तिप्रिय स्वतन्त्र राष्ट्रों को समानता के आधार पर जितनी जल्दी हो सके अन्तर्राष्ट्रीय सगठन स्थापित किया जाए। इस उद्देश्य से सहमत होने वाले समस्त छोटे बड़े राष्ट्रों के लिए इस सगठन के द्वार खुले रहेंगे। इसी वर्ष दिसम्बर मे तेहरान मे रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन का सम्मेलन हुआ। यहां पर सहयोग करने की भावना पर पुन. जोर दिया गया। साथ-ही-साथ इन तीनों राष्ट्रों के शासकों ने यह भी घोषणा की कि छोटे-बडे उन सभी राष्ट्रों से हम पूरा-पूरा सहयोग करेंगे जिनकी जनता ने हमारे देशों की जनता की भांति अत्याचार, दासत्व, दमन और असहिष्णुता का अन्त करने की प्रतिज्ञा की है। किन्तु इस घोषणा के सुअवसर पर घोषणा करने वाले राष्ट्रों को ज्ञात था कि उनकी तथा अन्य राष्ट्रों की सामाजिक एव वैधानिक व्यवस्था एक ही तरह की नहीं है। अत उन राष्ट्रों ने स्पष्ट कर दिया कि हमे उस दिन के आगमन का पूरा-पूरा विश्वास है, जब ससार के सभी निवासी दमन से मुक्ति पाकर अपनी इच्छा और विश्वास के साथ जीवन यापन कर सकेंगे। जब सयुक्त राष्ट्रसघ का सविधान बना तब यह स्पष्ट कर दिया गया कि किसी देश के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न किया जाए। इस अनुच्छेद का मूल तेहरान की इसी घोषणा में सम्मिलित है और उसके पीछे भावना यही है कि रूस का साम्यवाद और ब्रिटेन तथा अमेरिका की प्रजातान्त्रिक पद्धति दोनों समान रूप से बनी रहें और साथ-साथ बिना एक दूसरे के हस्तक्षेप के फले-फूलें।

जब सिद्धान्त रूप मे विश्व सगठन की स्थापना की बात स्वीकृत हो गई, तब उसकी रूपरेखा तैयार करने के लिए अमेरिका के नगर डम्बर्टनओक्स मे अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और चीन के प्रतिनिधियो का एक सम्मेलन 21 अगस्त से 7 अक्तूबर, 1944 तक हुआ। यहाँ पर सयुक्त राष्ट्रसघ की रूपरेखा बनी। रूपरेखा उपर्युक्त चारों राष्ट्रों के पास विचारार्थ भेजी गई। सम्बन्धित देशों मे तो इस पर विचार हुआ ही, साथ ही 9 अक्तूबर, 1944 को सर्वसाधारण के विचार-विनिमय के लिए भी यह योजना प्रकाशित कर दी गई। फरवरी, 1945 मे रूस के याल्टा नगर मे स्टालिन, रूजवेल्ट और चर्चिल का सम्मेलन हुआ। उसमें निश्चित हुआ कि विश्व सगठन का सविधान अन्तिम रूप मे तैयार करने के लिए 25 अप्रैल, 1945 को सान-फ्रांसिस्को (अमेरिका) में मित्रपक्ष के सभी राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया जाए। 25 अप्रैल, 1945 से बड़े धूमधाम के साथ सान-फ्रांसिस्को में सम्मेलन प्रारम्भ हुआ।

51 देशों के प्रतिनिधियों ने उसमे भाग लिया। 25 जून तक सम्मेलन होता रहा। डम्बर्टनग्रोक्स मे सयुक्त राष्ट्रसघ की योजना की जो रूपरेखा बनी थी, उसके सम्बन्ध मे इतने सशोधन ग्राए कि उनकी केवल सूची 72 पृष्ठों की पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित हुई। खुले अधिवेशन मे इन पर विचार करना सम्भव नहीं था। अतः अलग-अलग समितियाँ बनाई गई जिनमे सशोधनो पर विचार किया गया।[1]

इसी बीच 27 मई, 1945 को जर्मनी ने मित्र राष्ट्रों के सम्मुख घुटने टेक दिए। अन्त मे बहुत वाद-विवाद के बाद विश्व सगठन का चार्टर बना तथा वह विभिन्न देशो की सरकारो के पास स्वीकृति के लिए भेज दिया गया। 24 अक्तूबर, 1945 से, जब सभी बडे राष्ट्रो और बहुसख्यक अन्य सदस्य राष्ट्रो की ओर से स्वीकृति मिल गई, सयुक्त राष्ट्रसघ का चार्टर लागू हो गया। यह दिन विश्व मे 'सयुक्त राष्ट्र दिवस' (U N Day) के नाम से प्रसिद्ध है। 10 फरवरी, 1946 को लन्दन के वेस्ट मिनस्टर हाल मे सघ की प्रथम बैठक हुई जिसमें अनेक पदाधिकारी चुने गए। 15 फरवरी, 1946 को सघ का प्रथम अधिवेशन समाप्त हुआ। सघ का प्रधान कार्यालय पहले लेक-सक्सेस (अमेरिका) मे रखा गया और तत्पश्चात् न्यूयार्क के एक विशाल भवन मे स्थानान्तरित कर दिया गया।

सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रारम्भिक अथवा मौलिक सदस्य 51 थे जबकि आज इसके सदस्यो की सख्या 153 है जो तब से लगभग तिगुनी है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि सयुक्त राष्ट्रसघ ने लगभग सार्वभौमिकता प्राप्त कर ली है। राष्ट्रसघ के मुकाबले में (जिसमें केवल 62 सदस्य थे) सयुक्त राष्ट्र को सच्चे अर्थों मे सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था कहा जा सकता है।

राष्ट्रसंघ द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ को हस्तान्तरण

जब सयुक्त राष्ट्रसघ की स्थापना हुई तो राष्ट्रसघ (League of Nations) औपचारिक रूप से अस्तित्व मे था। स्थाई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के भवन और पुस्तकालय जेनेवा तथा हेग में विद्यमान थे, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सगठन के कार्यालय जेनेवा और मौन्ट्रियल में थे तथा संघ के सामाजिक एव आर्थिक कार्यक्रम वाशिंगटन, लन्दन, जेनेवा एवं प्रिंसटन मे चल रहे थे। अत- यह समस्या पैदा हुई कि राष्ट्रसघ को किस प्रकार भग किया जाए तथा उसके भवनो और पुस्तकालयों की सम्पत्ति का क्या किया जाए। समस्या के समाधान हेतु सयुक्त राष्ट्रसघ और राष्ट्रसघ में पत्र-व्यवहार हुआ। संयुक्त राष्ट्रसघ ने अधिकांश सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रमों को स्वय सम्भाल लिया और राष्ट्रसघ के भवनों और अन्य सम्पत्ति को अपने अधिकार में ले लिया। 8 अप्रेल, 1946 को राष्ट्रसंघ की सभा ने अपने अन्तिम अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित कर स्वय अपनी समाप्ति की घोषणा कर दी।

1. *S B. Verma:* International Law (Hindi ed) A Government of India Publication, p 269.

संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर : प्रस्तावना एवं उद्देश्य
(Charter of the U. N Preamble and Objectives)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की प्रस्तावना में कहा गया है—

संयुक्त राष्ट्रों के हम लोगों ने यह पक्का निश्चय किया है—

कि हम आने वाली पीढ़ियों को उस युद्ध की विभीषिकाओं से बचाएँगे जिसने हमारे जीवन-काल में ही दो बार मनुष्य मात्र पर अकथनीय दुःख ढाए हैं;

कि हम मानवता के मूल-अधिकारों में, मानव की गरिमा और महत्ता में और छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों के नर-नारियों के समान अधिकार में फिर आस्था पैदा करेंगे;

कि हम ऐसी स्थितियाँ पैदा करेंगे जिनमें न्याय और उन दायित्वों का सम्मान बना रहे जो कि सन्धियों और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दूसरे स्रोतों से हम पर आ पड़ते हैं; और

हम अधिक व्यापक स्वतन्त्रता द्वारा अपना जीवन-स्तर ऊँचा करेंगे और समाज को प्रगतिशील बनाएँगे।[1]

चार्टर में आगे कहा गया है कि—

उपर्युक्त उद्देश्यों के लिए—

हम सहनशील बनेंगे और अच्छे पड़ोसियों की तरह मिलकर शान्ति से रहेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए अपनी शक्तियों का संगठन करेंगे; और उन नियमों को मानेंगे और ऐसे साधनों से काम लेंगे जिनसे इस बात का विश्वास होता हो कि अपने सामान्य हितों की रक्षा के अलावा हथियारबन्द सेनाओं का प्रयोग नहीं किया जाएगा; और

सभी लोगों के सामाजिक और आर्थिक उत्थान को बढ़ावा देने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय साधनों का प्रयोग करेंगे।

इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए हमने मिलकर प्रयत्न करने का निश्चय किया है।

इसलिए हमारी सरकारें अपने प्रतिनिधियों के रूप में सान-फ्रांसिस्को नगर में एकत्र हुई हैं। इन प्रतिनिधियों ने अपने अधिकार-पत्र दिखाए हैं जिनको ठीक और उचित रूप में पाया गया है, और इन्होंने संयुक्त राष्ट्रों के इस चार्टर को मान लिया है तथा इसकी सहायता से वे अब एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना करते हैं जिसका नाम संयुक्त राष्ट्रसंघ होगा।

उद्देश्य—संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य हैं—

"अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा बनाए रखना तथा राष्ट्रों के बीच मैत्री को बढ़ावा देना। राष्ट्रों की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय समस्याओं को हल करने और मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के लिए सम्मान की भावना बढ़ाने में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग देना एवं ऐसे केन्द्र की स्थापना

1 भारत सरकार प्रकाशन-अन्तर्राष्ट्रीय विधि (ले. सावलिया बिहारीलाल वर्मा), पृ 277

करना जहाँ इन समान लक्ष्यों को पूरा करने के लिए राष्ट्रों के प्रयत्नों को सगठित किया जा सके।"

सयुक्त राष्ट्र इन सिद्धान्तो के आधार पर काम करता है—

(क) वह समस्त सदस्यो की समान प्रभुता पर आधारित है।
(ख) हर सदस्य को चार्टर के अधीन अपनी जिम्मेदारियों को नेकनीयती के साथ पूरा करना है।
(ग) उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को शान्ति के साथ और इस तरह हल करना है कि शान्ति, सुरक्षा और न्याय को खतरा पैदा न हो।
(घ) सदस्य राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में न तो धमकी देंगे और न दूसरे राष्ट्रों पर हमला करेंगे।
(ङ) अगर सयुक्त राष्ट्रसघ चार्टर के अनुसार कोई कदम उठाएगा तो सभी सदस्यो को उसे पूरी तरह सहायता देनी होगी और उन देशों को सहायता नहीं करनी होगी जिनके विरुद्ध रोकथाम या किसी फैसले को लागू करने के लिए कदम उठाया जा रहा हो।
(च) चार्टर के अधीन सयुक्त राष्ट्रसघ को किसी राष्ट्र के आन्तरिक मामले मे हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त नहीं है।

सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता
(Membership of the U N)

संयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर का द्वितीय अध्याय सदस्यता से सम्बन्धित है। चार्टर मे दो प्रकार की सदस्यता का उल्लेख है। कुछ देश तो प्रारम्भिक सदस्य हैं और कुछ देशों को बाद मे सदस्यता प्रदान की गई है। प्रारम्भिक सदस्य वे राज्य हैं जिन्होने सान-फ्रांसिस्को सम्मेलन मे भाग लिया था अथवा 1 जनवरी, 1942 को सयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए थे और चार्टर को स्वीकार किया था। प्रारम्भिक सदस्यों की संख्या 51 थी। सघ की सदस्यता उन सब राज्यो के लिए खुली है जो शान्ति-प्रिय (Peace Loving) और चार्टर मे विश्वास रखने वाले हों। अनुच्छेद 4 के अनुसार नए सदस्य बनाने के लिए अनिवार्य शर्तें ये हैं—

(1) वह शान्ति-प्रिय राज्य हो;
(2) चार्टर द्वारा प्रस्तावित कर्त्तव्यों को स्वीकार करता हो;
(3) सघ के निर्णय के अनुसार उन कर्त्तव्यो को पूरा करने में समर्थ हो, एव
(4) सघ के निर्णयानुसार उन कर्त्तव्यों को पूरा करने की इच्छा रखता हो।

उपर्युक्त सभी शर्तों को पूरा करने वाला राष्ट्रसघ का सदस्य तभी बन सकता है जब उसे इसके महासभा के दो तिहाई-बहुमत और सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति प्राप्त हो जाए। सुरक्षा परिषद् के वर्तमान 15 मे से 9 (पहले 11 में से 7) सदस्यों का बहुमत तथा स्थाई सदस्यों का निर्णायक मत उसके पक्ष मे होना चाहिए। महासभा के निर्णय से पूर्व सुरक्षा-परिषद् की स्वीकृति आवश्यक है।

चार्टर के अनुच्छेद 5 एवं 6 सदस्यता-समाप्ति के बारे में हैं। अभी तक किसी भी सदस्य को संघ की सदस्यता से वंचित करने का कदम नहीं उठाया गया है।

जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं हैं, उन्हें भी संघ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के मार्ग का बाधक नहीं बनने दे सकता। चार्टर के अनुसार भंग करने वाले किसी भी राष्ट्र के विरुद्ध संघ कार्यवाही कर सकता है। गैर-सदस्य राज्यों को भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवाद सुरक्षा-परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत करने का अधिकार है। विशेष परिस्थिति में वे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के भी सदस्य बन सकते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ सदस्यता की दृष्टि से राष्ट्रसंघ की तुलना में बहुत अधिक व्यापक और सार्वभौमिक संगठन है। सन् 1981 के अगस्त माह तक विश्व के 153 राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य बन चुके थे। 26 अक्तूबर, 1971 को संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा द्वारा राष्ट्रवादी चीन (ताइवान) को राष्ट्रसंघ से निष्कासित कर उसके स्थान पर जनवादी चीन (कम्युनिस्ट) को सदस्य बनाने का प्रस्ताव पास करने के बाद से ही साम्यवादी चीन संघ का सदस्य और सुरक्षा-परिषद् का स्थायी सदस्य है। संघ सदस्यता की दृष्टि से सार्वभौमिक है, किन्तु 5 बड़े राष्ट्रों (The Five Big) ने सुरक्षा-परिषद् में निषेधाधिकार का विशेष अधिकार ग्रहण कर रखा है ताकि वे परिस्थितियों अथवा वातावरण के प्रवाह का अपने पक्ष में नियमन कर सकें या स्थिति को अपने विपक्ष में जाने से रोक सकें। वास्तव में संघ में नए सदस्यों के प्रवेश के प्रश्न पर अमेरिकी और सोवियत गुट की टकराहट होती रही है। संघ मंच पर राजनीतिक पलड़ा अपने पक्ष में बनाए रखने की दृष्टि से अथवा राजनीतिक विजय प्राप्त करने या राजनीतिक पराजय टालने की दृष्टि से रूस और अमेरिका जैसी महाशक्तियाँ संघ की सदस्यता के प्रश्न पर उलझती रही हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका ने सन् 1946 में अपना प्रथम 'Package Proposal' प्रस्तुत किया था जिसे सोवियत संघ ने ठुकरा दिया और सन् 1947 के बाद सोवियत संघ ने अनेक ऐसे प्रस्ताव प्रस्तुत किए जिन्हें संयुक्त राज्य अमेरिका ने अस्वीकृत कर दिया। इनिस क्लाडे ने ठीक ही लिखा है कि संघ की सदस्यता के इच्छुक राष्ट्र दो समूहों में विभाजित रहे हैं—एक समूह सोवियत गुट के समर्थक राष्ट्रों का जिन्हें सुरक्षा-परिषद् में 7 सदस्यों (अब 15 में से 9) का आवश्यक समर्थन नहीं मिला और दूसरा पश्चिमी गुट के राज्यों का जिनके प्रवेश के विरुद्ध सोवियत संघ ने निषेधाधिकार का प्रयोग किया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में सदस्यता की समस्या अब तक निम्न तत्त्वों से प्रभावित रही है—

(क) राजनीतिकरण (Politicization), एवं

(ख) नैतिकीकरण (Moralization)।

सदस्यता की एक समस्या के सन्दर्भ में राजनीतिकरण (Politicization) का तत्त्व संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक विशेषता बन चुका है। रूस और अमेरिका दोनों ही महाशक्तियाँ एक-दूसरे के समर्थक राज्यों को तब तक संघ में स्थान देने में प्राय·

सम्मत नहीं हुई जब तक उनके समर्थक राज्यों का दल में संघ का सदस्य बनना निश्चित नहीं हो गया। इस प्रकार संघ की सदस्यता का प्रश्न महाशक्तियों की राजनीतिक प्रतिष्ठा का प्रश्न रहा है और आज यद्यपि विश्व के राज्यों की बहुसंख्या राष्ट्रसंघ का सदस्य बन चुकी है तथापि कुछ इने-गिने राष्ट्रों का संघ में प्रवेश इसलिए अटका हुआ है कि महाशक्तियों में परस्पर समझौता नहीं हो पाया है। यह कहना चाहिए कि सदस्यता सम्बन्धी प्रश्न का राजनीतिकरण संयुक्त राष्ट्रसंघ में अमेरिकी और सोवियत टीमों तथा महाशक्तियों और लघु-राज्यों के बीच फुटबाल का मैच बन गया है।

सदस्यता सम्बन्धी प्रश्न को प्रभावित करने वाला दूसरा तत्त्व नैतिकीकरण (Moralization) का है और यह भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक विशेषता बन चुका है। नैतिकीकरण के प्रभावशाली विकास की सम्भावनाएँ सान-फ्रांसिस्को सम्मेलन में ही स्पष्ट हो गई थीं। इस तत्त्व का प्रभाव नए सदस्यों की 'शान्ति-प्रियता' और संघ के दायित्वों को पूरा करने की उसकी 'योग्यता एवं इच्छा' जैसे शब्दों से स्पष्ट है। जहाँ राष्ट्रसंघ ने अपने नैतिक तत्त्वों का प्रभाव कुछ ही अर्से में खो दिया था, वहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ में अब तक नए सदस्यों के सन्दर्भ में नैतिक स्तरों (Moral Standards) को गम्भीरतापूर्वक लिया गया है और सौभाग्यवश सोवियत तथा पाश्चात्य दोनों ही राजनीतिक शिविरों ने नैतिकीकरण की इस प्रक्रिया के विकास में योग दिया है। प्राय. कहा जाता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के नैतिकीकरण के विकास में संयुक्तराज्य अमेरिका का प्राथमिक और निर्णायक योग रहा है, लेकिन संघ के राजनीतिक इतिहास का गम्भीर विश्लेषण इस दावे को अतिशयोक्ति ही सिद्ध करता है। नैतिकता के जामे की आड़ में सदस्यता के प्रश्न को महाशक्तियों ने सदैव अपने राजनीतिक हित तथा प्रभाव की दृष्टि से ही लिया है और तदनुकूल समयानुसार अपने रवैये में परिवर्तन किया है। सदस्यता सम्बन्धी प्रश्न के नैतिकीकरण का सर्वाधिक दुखद पहलू यह है कि अभी तक यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रति संयुक्त राष्ट्रसंघ की नीति को किसी निश्चित धारणा के साथ सुसम्बद्ध नहीं हो पाया है। यह नैतिकीकरण अभी तक केवल संकीर्ण और सीमित क्षेत्रीय राजनीतिक स्थितियों (Narrow and short range political positions) के समर्थन में ही प्रयुक्त होता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघीय व्यवस्था : एक नजर में
(United Nations System . At a Glance)

संयुक्त राष्ट्रसंघ का स्वरूप राष्ट्रसंघ के स्वरूप से अधिक उच्च आदर्शभूमि पर स्थित है। इसके निर्माण में राष्ट्रसंघ सम्बन्धी अनुभवों का लाभ उठाया गया है और चार्टर की व्यवस्थाएँ उन कारणों तथा परिस्थितियों को ध्यान में रखकर की गई हैं जिनसे द्वितीय महायुद्ध हुआ। ऐसे प्रावधानों की व्यवस्था की गई है जिन पर ईमानदारी से अमल करने पर फिर कभी महायुद्धों की पुनरावृत्ति न हो सके। संघ की व्यवस्थाओं के मूल में यह विचार निहित है कि रंग-भेद और उपनिवेशवाद

भावी संकटों को जन्म दे सकते हैं, अतः चार्टर में मौलिक मानव-अधिकारों पर बल दिया गया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी प्रकार का केन्द्रीय संगठन न होकर क्षेत्रीय संगठन (Federal Organisation) जैसा है। विभिन्न क्षेत्रीय कार्यक्रमों के लिए स्वायत-सत्ता प्राप्त विशिष्ट एजेन्सियों की व्यवस्था कर संघ ने सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया है। ये एजेन्सियाँ प्राय संघ के सहयोग और निर्देशन में कार्य करती हैं तथापि अपने अपने कार्य क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं। इन एजेन्सियों के कार्य-क्षेत्र का विषयवार विभाजन हो जाने से संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक संस्था की अपेक्षा एक व्यवस्था का रूप धारण कर लिया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघीय व्यवस्था में स्थायी अंग, विशिष्ट अभिकरण और कतिपय परिषदें और कोष सम्मिलित हैं। एक नजर में इस विश्व संस्था की व्यवस्था निम्नानुसार है—

United Nations System[1]

Permanent Organs	*Specialised Agencies*	*Conferences and Funds*
1 General Assembly	1 World Health Organization	1. United Nations Conference on *Trade and Development*
2 Security Council	2 *Food and Agricultural Organization*	2 Children's Fund
3 *Trusteeship* Council	3 Intergovernmental Maritime Consultative Organization	3. United Nations Special Fund
4 Economic and Social Council	4 International Civil Aviation Organization	4 International Monetary Fund
5 Secretariat	5 Universal Postal Union	5 International Bank for Reconstruction and Development
6 International Court of Justice	6 International Tele-Communications Union	
	7 World Meteorological Organization	
	8 International Labour Organization	
	9. United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization (UNESCO)	
	10 International Atomic Energy Commission	

1 *Rosen and Jones* : The Logic of International Relations 1974, p 292

संघ के प्रमुख अंग एवं उनके अधिकार व कर्त्तव्य

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से सघ के प्रमुख 6 अंगों के अधिकार और कर्त्तव्य निम्न प्रकार हैं :—

1 महासभा (General Assembly)

प्रबोधक कार्यों के सिलसिले मे महासभा ने अपने प्रस्तावो द्वारा अनेक बार सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यो को अपने विशेषाधिकार का प्रयोग सयम से करने, महाशक्तियो द्वारा युद्ध-प्रचार रोकने, सदस्य-राज्यों को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की अवधारणा स्वीकार करने और सघर्षरत पक्षों को अपने विवादो का शान्तिपूर्ण ढग से समाधान करने को प्रेरित किया है।

सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर महासभा नए देशों को सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बनाती है तथा सुरक्षा-परिषद् के साथ मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशो का चुनाव करती है। चार्टर के अनुसार महासभा को अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो पर विचार करने की शक्ति प्राप्त है। यह उन प्रयासो की खोज करती है जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा तथा विश्व के राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक सहयोग की स्थापना की जा सकती हो। महासभा शस्त्रों को सीमित करने और नि शस्त्रीकरण पर विचार करती है। विश्व मे शान्ति स्थापित करना इसका प्रमुख लक्ष्य है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यह कोई भी सम्भव कदम उठा सकती है। सघ के अन्य अगों को शक्ति की सीमा के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न होने पर उसका निर्णय महासभा द्वारा ही किया जाता है। सुरक्षा-परिषद् का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी वार्षिक तथा विशेष रिपोर्ट महासभा को प्रस्तुत करे। महासभा उस पर विचार करती है। सघ का बजट भी इसी के द्वारा स्वीकार किया जाता है तथा यही इस बात का निर्णय करती है कि किस देश को सघ के व्यय का कितना भाग वहन करना चाहिए। इस तरह महासभा अनेक कार्य करती है। इन कार्यों को करते समय सभा द्वारा वाद-विवाद किया जाता है, सिफारिशें की जाती हैं, ध्यान आकर्षित किया जाता है, सूचना दी जाती है और आगे अध्ययन करने की पहल की जाती है। जिन विषयों पर सुरक्षा-परिषद् विचार कर रही हो उन पर महासभा विचार तब कर सकती है जबकि सुरक्षा-परिषद् द्वारा ऐसा करने के लिए अनुरोध किया जाए।

न्याय, समझौते की शर्तों और उनमे परिवर्तन व सशोधन के अनुमोदन सहित, युद्ध के लिए सैनिक इलाको के न्यास-समझौतो के जिन कामो का सयुक्त राष्ट्रसघ पर उत्तरदायित्व हो, उनको महासभा पूरा करती है। इसे कुछ निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी करने होते हैं। महासभा सुरक्षा परिषद् के परामर्श पर सघ के महासचिव की नियुक्ति करती है।

महत्त्व में वृद्धि के कारण—महासभा वस्तुतः निरन्तर प्रभावशाली होती जा रही है और इसकी शक्तियों तथा महत्त्व मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। इसके कुछ विशेष कारण हैं

1 संघ के सभी सदस्य महासभा के भी सदस्य हैं, अतः यह एक प्रभावशाली सार्वजनिक रंगमंच है।

2 निषेधाधिकार के दुरुपयोग के फलस्वरूप सुरक्षा-परिषद् की स्थिति पहले के समान लाभकारी नहीं रही है और सदस्य-राज्य विश्व-जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए महासभा को अधिक उपयुक्त स्थान समझते हैं।

3. महासभा की शक्ति में 3 नवम्बर, 1950 के 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' (Uniting for Peace Resolution) पारित होने के बाद उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। प्रस्ताव के अनुसार सुरक्षा-परिषद् के किन्हीं सात साधारण मत से अथवा संघ के सदस्यों के बहुमत से 24 घण्टे का नोटिस देकर महासभा का संकटकालीन अधिवेशन बुलाया जा सकता है। शान्ति के लिए एकता के प्रस्ताव के फलस्वरूप महासभा झगड़ों के निपटारे, सामूहिक सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण के विषय में अधिक भाग ले रही है।

4 आपात्कालीन सेना की नियुक्ति से भी महासभा की शक्ति और महत्ता में वृद्धि हुई है।

5. सुरक्षा परिषद् के साथ साथ महासभा को भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के प्रश्नों पर विचार करने का अधिकार है। इस अधिकार के समुचित प्रयोग ने महासभा के प्रभाव को बढ़ाया है।

6 महासभा का अन्वेषणात्मक और निरीक्षणात्मक अधिकार इसे संघ के अन्य अंगों से अधिक उच्च स्थिति प्रदान करता है।

अपने अधिकारों के समुचित प्रयोग के फलस्वरूप महासभा ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में अनेक संकटपूर्ण अवसरों पर महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

2. सुरक्षा-परिषद् (Security Council)

सुरक्षा-परिषद् 'संयुक्त राष्ट्रसंघ की कुंजी' (Key-organ of the U.N.) है। इसकी रचना संघ के कार्यकारी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग के रूप में की गई है तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करने का मुख्य दायित्व इसी पर डाला गया है। अगस्त, 1965 में चार्टर के एक संशोधन के अनुसार सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 15 कर दी गई है—5 स्थायी और 10 अस्थायी। परिषद् के निर्णयों के न्यूनतम आवश्यक मतों की संख्या भी बढ़ाकर 7 से 9 कर दी गई है। अस्थायी सदस्य 2 वर्ष के लिए चुने जाते हैं। अवधि की समाप्ति पर कोई भी सदस्य तुरन्त पुनः चुनाव में खड़ा नहीं हो सकता। परिषद् का संगठन इस प्रकार का है कि वे लगातार काम कर सकें, इसलिए संघ-स्थल में परिषद् के प्रत्येक सदस्य का प्रतिनिधित्व हर समय रहना आवश्यक है। परिषद् के निर्णय दो प्रकार के होते हैं—(i) कार्य-विधि सम्बन्धी (Procedural), तथा (ii) असाधारण या सारभूत (Substantive)। चार्टर में व्यवस्था है कि कार्यविधि सम्बन्धी सभी निर्णय किन्हीं 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मतों से लिए जाएँगे। स्पष्ट है कि ऐसे मामलों में स्थायी

और निर्वाचित सदस्यों को समान मतदान-शक्ति प्रदान की गई है। लेकिन अन्य अथवा असाधारण (Substantive) मामलों पर निर्णय के लिए पक्ष में स्थायी सदस्यों के मतों सहित 9 सदस्यों की सहमति होनी चाहिए। स्पष्ट है कि 5 स्थायी सदस्यों में से कोई भी सदस्य यदि असहमति प्रकट करता है अथवा प्रस्ताव के विरोध में मतदान करता है तो वह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं समझा जाता। ऐसे विपक्षी मतदान का निषेधाधिकार (Veto Power) कहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के लिए सुरक्षा-परिषद् को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं और उसको व्यापक उत्तरदायित्व सौंपे गए हैं। चार्टर के अनुच्छेद 24 में स्पष्ट उल्लिखित है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की मुख्य जिम्मेदारी सुरक्षा-परिषद् की है और उसे ही यह देखना है कि संघ की ओर से प्रत्येक कार्यवाही जल्दी और प्रभावपूर्ण ढंग से होती है। अनुच्छेद 25 के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों का कर्त्तव्य है कि वे चार्टर के अनुसार सुरक्षा-परिषद् के फैसलों को मानेंगे और उन पर अमल करेंगे। सुरक्षा-परिषद् को जिन अधिकारों व शक्तियों से सम्पन्न बनाया गया है। उनका उल्लेख चार्टर के 6, 7, 8 व 12वें अध्याय में किया गया है। इसके अनुसार शान्ति व सुरक्षा की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से परिषद् की शक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

1 यदि किसी विवाद से विश्व की शान्ति और सुरक्षा का खतरा हो, तो दोनों विवादी पक्ष उसको सबसे पहले बातचीत, पूछताछ, बीच-बचाव, मेल, न्यायपूर्ण समझौतों प्रादेशिक संस्थाओं या व्यवस्थाओं द्वारा या अपनी पसन्द के अन्य शान्तिपूर्ण साधनों से सुलझाने का प्रयास करेंगे, और सुरक्षा-परिषद् यदि आवश्यक समझेगी तो विवादी पक्षों को अपने झगड़े ऐसे साधनों से निपटाने की माँग करेगी। (अनुच्छेद 33)

2 सुरक्षा परिषद् किसी ऐसे विवाद अथवा स्थिति की जाँच-पड़ताल कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले सकता हो अथवा जिससे कोई दूसरा विवाद उठ सकता हो। सुरक्षा-परिषद् इस बात का भी निश्चय करेगी कि ये झगड़े अथवा स्थिति जारी रहने पर विश्व-शान्ति और सुरक्षा के लिए कोई खतरा पैदा हो सकता है अथवा नहीं। ऐसे झगड़े या इस प्रकार की कोई स्थिति पैदा हो जाने पर सुरक्षा परिषद् किसी भी समय उसके लिए उचित कार्यवाही करने या समाधान के अन्य उपायों की सिफारिश कर सकती है। (अनुच्छेद 34, 36)

3 ये सिफारिशें करते समय सुरक्षा परिषद् को इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि सामान्य रूप से कानूनी झगड़ों को अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के विधान के उपबन्धों के अनुसार प्रस्तुत किया जाए। (अनुच्छेद 36)

4 सुरक्षा परिषद् ही इस बात का निर्णय करेगी कि कौनसी चेष्टाएँ शान्ति को खतरे में डालने वाली, शान्ति भंग करने वाली और आक्रमण की चेष्टाएँ समझी जा सकती हैं। वही सिफारिश करेगी और तय करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और

सुरक्षा कायम रखने प्रथवा फिर से स्थापित करने के लिए कौनसी कार्यवाही की जानी चाहिए। किसी स्थिति को बिगड़ने से बचाने के लिए सुरक्षा परिषद् अपनी सिफारिशें करने प्रथवा किसी कार्यवाही का निश्चय करने से पहले विवादी पक्षों से ऐसी अस्थायी कार्यवाहियाँ करने की माँग करेगी, जिन्हें वह उचित या आवश्यक समझती हो। इन अस्थायी कार्यवाहियों से विवादी पक्षों के अधिकारों दावों या उनकी स्थिति का कोई अहित न होगा। यदि कोई पक्ष इस प्रकार की अस्थायी कार्यवाहियाँ नहीं करता है तो सुरक्षा परिषद् इस पर भी विधिवत् ध्यान देगी।

(अनुच्छेद 39, 40)

5 सुरक्षा-परिषद् अपने फैसलों पर अमल कराने के लिए ऐसी कार्यवाहियाँ भी निश्चित कर सकती है जिनमें सशस्त्र सेना का प्रयोग न हो। वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों से इस प्रकार की कार्यवाही करने की माँग कर सकती है। इन कार्यवाहियों के अनुसार आर्थिक सम्बन्ध पूर्णत. अथवा आंशिक रूप से समाप्त किए जा सकते हैं, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और यातायात के अन्यान्य साधनों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है अथवा राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है।

(अनुच्छेद 41)

6 अनुच्छेद 31 मे उल्लिखित उपर्युक्त कार्यवाहियाँ यदि सुरक्षा परिषद् की दृष्टि में अपर्याप्त हों अथवा अपर्याप्त सिद्ध हो गई हों, तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने या फिर से स्थापित करने के लिए वह जल, स्थल और वायु-सेनाओं की सहायता से आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। इस कार्यवाही मे संयुक्त राष्ट्रों के सदस्य देशों की जल, थल, वायु-सेना विरोध प्रदर्शन कर सकती है, घेरा डाल सकती है अथवा अन्य दूसरे प्रकार की कार्यवाहियाँ कर सकती है।

(अनुच्छेद 42)

7 अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने मे सहयोग देने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों का यह कर्त्तव्य माना गया है कि वे सुरक्षा परिषद् की माँग पर विशेष समझौते के अनुसार अपनी सशस्त्र सेनाएँ, सहायता और अन्य सुविधाएँ, जिनमे मार्ग अधिकार भी शामिल होंगे, मुहैया करेंगे। सेनाओं की संख्या, उनके प्रकार, उनकी तैयारी और स्थिति आदि के बारे मे निश्चय समझौते या समझौतों से किए जाएँगे और इस प्रकार के समझौतों की बातचीत सुरक्षा-परिषद् और सदस्यों अथवा सुरक्षा-परिषद् तथा सदस्य-समूहों के बीच की जाएगी और इन पर अमल तभी किया जा सकेगा जब हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्र अपनी अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं द्वारा इनकी पुष्टि कर देंगे। चार्टर मे यह भी उल्लेख है कि सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही के लिए अपनी-अपनी राष्ट्रीय वायुसेना की टुकड़ियाँ जल्दी से जल्दी उपलब्ध कराएँगे ताकि संयुक्त राष्ट्रसंघ तुरन्त सैनिक कार्यवाही कर सके। इन सैनिक टुकड़ियों की सख्या और तैयारी आदि के बारे मे निश्चय सुरक्षा-परिषद् अपनी 'सैनिक स्टॉफ समिति' की सहायता से करेगी। सैनिक स्टॉफ समिति की सहायता से ही सामूहिक कार्यवाही के लिए योजनाएँ बनाई जाएँगी।

(अनुच्छेद 43, 45)

8 अनुच्छेद 47 के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि सुरक्षा-परिषद् को निम्नलिखित प्रश्नों पर स्वतन्त्र सलाह और सहायता देने के लिए एक सैनिक समिति का निर्माण किया जाएगा—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा-परिषद् की सैनिक आवश्यकताएँ, (ख) उसके अधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान, (ग) शस्त्रों का नियन्त्रण, और (घ) सम्भावित निःशस्त्रीकरण। सैनिक स्टॉफ समिति में सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों के स्टॉफ अध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि रहेंगे। यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ का कोई सदस्य समिति का स्थायी प्रतिनिधि न हो और समिति के दायित्वों को ठीक तरह पूरा करने में उस सदस्य का भाग लेना आवश्यक समझा जाता हो तो समिति उसको सहयोग के लिए आमन्त्रित करेगी। इस अनुच्छेद में यह भी प्रावधान है कि सुरक्षा-परिषद् के उपयोग के लिए जो सशस्त्र सेनाएँ दी जाएँगी, उनका युद्ध सम्बन्धी निर्देशन सैनिक स्टॉफ समिति के हाथ में रहेगा और यह समिति सुरक्षा परिषद् के अधीन रहेगी। सैनिक स्टॉफ समिति उपर्युक्त प्रादेशिक संस्थाओं से सलाह लेने के लिए प्रादेशिक उप-समितियों का निर्माण भी कर सकती है। सैनिक स्टॉफ समिति को यह अधिकार सुरक्षा-परिषद् द्वारा प्रदान किया जाएगा।

9 जब सुरक्षा-परिषद् किसी राष्ट्र के विरुद्ध रोकथाम की या अपने निर्णयों को अमल कराने की कोई कार्यवाही कर रही हो उस समय यह हो सकता है कि किसी दूसरे राष्ट्र के सामने कुछ विशेष आर्थिक समस्याएँ उठ खड़ी हों। अतः अनुच्छेद 50 में यह व्यवस्था दी गई है कि ऐसी स्थिति में उस राष्ट्र को, चाहे वह संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य हो या नहीं, अपनी समस्याओं को हल करने के लिए सुरक्षा-परिषद् से सलाह लेने का अधिकार होगा।

10 यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य पर कोई सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा का अधिकारी है। अनुच्छेद 51 यह व्यवस्था देता है कि उस राष्ट्र पर उस समय तक कोई रोक नहीं होगी जब तक सुरक्षा-परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए स्वयं कोई कार्यवाही न करे। आत्मरक्षा के लिए सदस्य जो भी कार्यवाही करेंगे उसकी सूचना तुरन्त सुरक्षा-परिषद् को देंगे। लेकिन इससे सुरक्षा-परिषद् के अधिकारों और दायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने या फिर से स्थापित करने के लिए कभी भी जो कार्यवाही चाहे, कर सकती है।

11. स्थानीय विवादों के समाधान के लिए सुरक्षा-परिषद् प्रादेशिक संगठनों और एजेन्सियों का माध्यम के रूप में प्रयोग कर सकती है। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक संगठन या एजेन्सियाँ अपने क्षेत्रों में शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने की दिशा में जो भी कदम उठाती हैं, उनकी सूचना उन्हें नियमित रूप से सुरक्षा-परिषद् को देनी पड़ती है।

12. सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने जो दायित्व ग्रहण किया है, उन्हें निभाने का भार भी सुरक्षा-परिषद् पर ही है। संरक्षित प्रदेशों को किसी भी राष्ट्र के संरक्षण में देते समय संरक्षण सम्बन्धी शर्तें भी

सुरक्षा-परिषद् द्वारा ही तय की जाती है वही इन शर्तों में परिवर्तन या संशोधन कर सकती है। यदि कुछ सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ऐसे क्षेत्र हों जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के संरक्षण में हों, तो इन क्षेत्रों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक प्रगति के लिए सुरक्षा-परिषद् आवश्यक कदम उठा सकती है।

सुरक्षा-परिषद् द्वारा की गई कुछ बाध्यकारी (सैनिक) कार्यवाहियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से परिषद् ने कतिपय अवसरों पर जो बाध्यकारी (सैनिक) कार्यवाहियाँ कीं, उनमें से कुछ का उल्लेख करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

1 परिषद् को शान्ति स्थापना के सम्बन्ध में सैनिक कार्यवाही करने का सर्वप्रथम अवसर कोरिया-संघर्ष में मिला। जून, 1950 में उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया गया। संयुक्तराज्य अमेरिका ने सुरक्षा-परिषद् में कोरिया का प्रश्न रखा। परिषद् द्वारा आदेश दिया गया कि युद्ध अविलम्ब बन्द कर दिया जाए और उत्तरी कोरिया की फौजें 38° के उत्तर में वापस चली जाएँ। *उत्तरी कोरिया द्वारा आदेश की अवहेलना करने पर संयुक्तराज्य अमेरिका ने* सुरक्षा-परिषद् में उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। रूस की अनुपस्थिति में परिषद् में यह प्रस्ताव पास हो गया। कुछ राज्यों ने संघ को अपनी सेनाएँ प्रदान की और संयुक्तराज्य अमेरिका इन सेनाओं के साथ दक्षिणी कोरिया की सहायता के लिए पहुँच गया। कोरिया का युद्ध उत्तरी कोरिया के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ का युद्ध कहा गया। आलोचकों का यह मत रहा है कि व्यवहारतः कोरिया में की गई कार्यवाही संयुक्त राष्ट्रसंघ के नाम पर विशेषतः अमेरिकी कार्यवाही थी। विजय-पराजय के झूले में झूलते हुए अन्ततोगत्वा संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेनाओं को सफलता मिली और पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद युद्ध विराम हो गया।

वास्तव में सुरक्षा-परिषद् की सैनिक कार्यवाही से कोरिया का युद्ध विश्व-युद्ध बनने से रुक गया। क्लार्क आइक बर्गर के अनुसार, 'कोरिया के विवाद ने विश्व को यह आशा बँधा दी कि यदि बड़ी शक्ति के विरुद्ध नहीं तो कम से कम एक बड़ी शक्ति के अधीन राज्य (Satellite) के विरुद्ध तो निश्चय ही सामूहिक कार्यवाही की जा सकती है।" कोरिया की घटना ने विश्व संस्था के संचालन की कुछ नवीन परम्पराओं का प्रतिपादन किया तथा अनेक महत्त्वपूर्ण परिणामों को जन्म दिया—

(i) चार्टर के अनुसार सैनिक कार्यवाही के सम्बन्ध में सुरक्षा-परिषद् के निर्णय को सदस्य-राष्ट्रों के लिए मानना आवश्यक था, पर कोरियाई घटना ने इसे ऐच्छिक बना दिया अर्थात् विश्व संस्था को सैनिक सहायता देना सदस्य-राष्ट्रों की इच्छा पर निर्भर [illegible]। सुरक्षा-परिषद् ने संघीय सैनिक कार्यवाही में सहायता करने की सदस्यों से [illegible] की। इसका स्पष्ट अर्थ था कि यह सदस्यों की इच्छा पर था कि वे संघ को सैनिक सहायता दें अथवा न दें। उदाहरणार्थ, भारत ने

सेनाएँ न भेजकर केवल चिकित्सा सहायता भेजी तथा और भी देशो ने सघीय सैनिक कार्यवाही मे भाग नही लिया।

(ii) यह स्पष्ट हो गया कि परिषद् मे यदि एक या अधिक स्थाई सदस्य अनुपस्थित हैं अथवा मत नही दे रहे हैं तो उनकी अनुपस्थिति परिषद् की कार्यवाही मे बाधा नहीं डाल सकती और उनका निषेधाधिकार (Veto-Power) लागू नही होता। सोवियत रूस की अनुपस्थिति मे सुरक्षा-परिषद् द्वारा लिए गए निर्णय ने वीटो के सम्बन्ध मे निश्चय ही एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण कर दिया।

(iii) यदि रूस ने सुरक्षा-परिषद् का बहिष्कार न किया होता तो वह इतनी शीघ्रतापूर्वक प्रभावशाली कार्यवाही करने मे सफल न होती। इस कमी को ध्यान में रखते हुए अमेरिका ने 1 नवम्बर, 1950 को महासभा से 'शान्ति के लिए एकता' का प्रस्ताव रखा जिसने महासभा को शान्ति-रक्षा के नवीन अधिकार देते हुए उसके गौरव को बढ़ाया।

(iv) यह सिद्ध हो गया कि संघ की सैनिक कार्यवाही की सफलता उसके सदस्यों के सक्रिय सहयोग तथा महाशक्तियो के उत्साह पर आधारित है।

2. कांगो (1960–64) मे सयुक्त राष्ट्रसघीय सेनाएँ बाध्यकारी कार्यवाही के रूप से नहीं बल्कि बेल्जियम की सेनाओं के लौट जाने के बाद भी इसलिए बनी रहीं कि *कांगो का गृह-युद्ध विश्व-शान्ति के लिए कहीं खतरा नही बन जाए।* सुरक्षा-परिषद् की इस कार्यवाही के सचालन, देख-भाल आदि का उत्तरदायित्व महासचिव पर पड़ा। वास्तव में सम्पूर्ण कार्यवाही चार्टर के अनुच्छेद 7 के अनुसार बाध्यकारी नहीं थी और न ही तत्सम्बन्धी प्रक्रियात्मक औपचारिक एव आवश्यक व्यवस्थाओं का पालन ही किया गया था, फिर भी सन् 1962 63 मे कांगो क्षेत्र के *नियन्त्रण के लिए सघीय सैनिक टुकड़ी द्वारा की गई कार्यवाही विशेषत बाध्यकारी* कदम था। कांगो मे सुरक्षा परिषद् द्वारा जो कार्यवाही की गई वह चार्टर के अध्याय 7 के अनुसार थी अथवा नहीं, यह प्रश्न आज भी विवादास्पद है। जो भी हो, सघीय कार्यवाही ने कांगो को कोरिया बनने से बचा दिया। यदि सघीय सेनाएँ वहाँ न होती तो कांगो साम्यवादियो एव पश्चिमी शक्तियों के सशस्त्र सघर्ष का अखाड़ा बन गया होता।

2. रोडेशिया (1965–66) द्वारा ब्रिटेन से एकतरफा स्वतन्त्र होने के निश्चय से उत्पन्न स्थिति से निपटने के लिए कार्यवाही करते हुए सुरक्षा-परिषद् को दिसम्बर, 1966 के अपने तीसरे प्रस्ताव में सयुक्त राष्ट्रसघ के इतिहास में पहली बार प्रदेशात्मक अनुशक्तियाँ लागू कीं। रोडेशिया द्वारा एकतरफा स्वतन्त्रता की घोषणा को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा माना गया। आलोचकों के अनुसार रोडेशिया के मामले मे भी कोरिया के समान ही चार्टर के अनुच्छेद 39–43 के अनुसार कार्य हुआ और साथ ही यह प्रवृत्ति भी स्पष्ट हो गई कि सुरक्षा-परिषद् के अधिकार-क्षेत्र को गैर-कानूनी ढग से बढ़ाया जाने लगा है। रोडेशियाई मामले में सघीय कार्यवाही से यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि क्या विद्रोहियों के विरुद्ध अथवा

किसी संघ (Federation) की किसी इकाई द्वारा केन्द्र से संघर्ष होने पर संघ को यह अधिकार है कि वह सुरक्षा-परिषद् से सहायता प्राप्त करे।

निषेधाधिकार की समस्या (Problem of Veto-Power)

जैसा कि कहा जा चुका है, चार्टर के अनुच्छेद 27 में सुरक्षा-परिषद् की मतदान प्रणाली का वर्णन है जिसमें असाधारण अथवा सारभूत (Substantive) मामलों में परिषद् के 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मतों में 5 स्थाई सदस्यों का मत शामिल होना आवश्यक है। इन 5 स्थाई सदस्यों में से कोई भी सदस्य अपनी असहमति प्रकट करे अथवा प्रस्ताव के विरोध में मतदान करे तो प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं समझा जाता। चार्टर में परिषद् पर साधारण और असाधारण कार्य प्रणालियों में अन्तर करने वाली कोई व्यवस्था नहीं दी गई है। अत: जब यह प्रश्न उठता है कि कोई साधारण या प्रक्रियात्मक (Procedural) मामला माना जाए अथवा असाधारण (Substantive), तब दोहरे निषेधाधिकार (Double Veto) का प्रयोग होता है, अर्थात् पहले तो निषेधात्मक मतदान द्वारा किसी प्रश्न को असाधारण विषय बनने से रोका जाता है और तत्पश्चात् प्रस्ताव के दायित्वों (Obligations) के विरोध में पुन: मत दिया जाता है।

आलोचकों का आरोप है कि निषेधाधिकार की व्यवस्था के कारण सुरक्षा-परिषद् अपनी सामूहिक सुरक्षा के कार्य में असफल हो गई है। आर्नोल्ड फोस्टर के अनुसार "निषेधाधिकार का भय सम्पूर्ण व्यवस्था पर छाया हुआ है। ऐसी व्यवस्था के रक्त में ही पक्षाघात है। यह उस कार के समान है जिसका स्टार्टर (Starter) किसी भी समय उसकी यन्त्र व्यवस्था में गड़बड़ कर उसके एंजिन को रोक सकता है।"

निषेधाधिकार के विपक्ष में तर्क

1 पाँचों महान् राष्ट्रों को निषेधाधिकार प्रदान करके सभी सदस्यों को समानता का स्तर देने सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रसंघीय सिद्धान्त का उल्लंघन किया गया है। निषेधाधिकार छोटे राष्ट्रों पर जबर्दस्ती लादा गया है। महाशक्तियों के दबाव के कारण उन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर को निषेधाधिकार के अनुच्छेद सहित स्वीकार करना पड़ा था।

2 निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा-परिषद् शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था सम्बन्धी दायित्वों का समुचित रूप से पालन करने में असमर्थ हो गई है। यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान में सबसे अधिक बाधक है।

3 निषेधाधिकार पृष्ठपोषक राज्यों (Client States) की एक नई राजनीतिक व्यवस्था को जन्म दे सकता है। यह सम्भव है कि प्रत्येक स्थायी सदस्य अपने मित्र राष्ट्रों को निषेधाधिकार का संरक्षण प्रदान करे। इस प्रकार यह भय उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य स्थाई सदस्यों के नेतृत्व में अनेक गुटों में विभक्त हो जाएँगे। यह भय निराधार नहीं है क्योंकि अमेरिका और रूस के नेतृत्व में दो शक्तिशाली गुट पहले ही जन्म ले चुके हैं और साम्य चीन को

संघ में प्रवेश और सुरक्षा-परिषद् में स्थाई सदस्यता प्राप्त होने से वह सम्भवतः अपने नेतृत्व में एक तीसरे गुट को खड़ा करने से बाज नहीं आएगा।

4. निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद् में जो गतिरोध उत्पन्न होते रहे हैं, उनसे राज्यों की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की आस्था बुरी तरह डगमगा गई है।

5 निषेधाधिकार के दुरुपयोग के कारण कई स्वतन्त्र राष्ट्र अनेक वर्षों तक संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं बन पाए।

आलोचकों का आरोप है कि निषेधाधिकार द्वारा महाशक्तियों को संयुक्त राष्ट्रीय व्यवस्था पर आधिपत्य प्राप्त हो गया है। हेंस केल्सन के अनुसार महाशक्तियों का यह अधिकार अन्य सभी सदस्यों पर कानूनी प्रभुसत्ता स्थापित करता है और उनके निरंकुश तथा स्वच्छन्द शासन का सूचक है। इसके कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ के वास्तविक और वांछनीय निर्णय नहीं हो पाते।

निषेधाधिकार के पक्ष में तर्क

निषेधाधिकार की आलोचनाओं में वजन है तथापि कुछ व्यावहारिक तथ्यों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। निषेधाधिकार की व्यवस्था में जो खतरे निहित हैं उनसे कहीं अधिक भयावह खतरे इस व्यवस्था के न रहने में हैं। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को सफलता तभी मिल सकती है, जब उसे विश्व की महाशक्तियों का सहयोग प्राप्त हो और ये महाशक्तियाँ किसी भी ऐसी संस्था में भाग नहीं लेना चाहेंगी जिसमें अन्य देश केवल बहुमत से उन्हें किसी कार्य करने अथवा न करने के लिए बाध्य करदें। इसे रोकने का एकमात्र उपाय निषेधाधिकार ही है। ए. ई. स्टीवेंस ने ठीक ही लिखा है कि "मतैक्य के नियम का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकताओं से होता है। यदि 5 महान् राज्य किसी मामले पर राजी नहीं होते हैं तो उनमें से किसी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग बड़े युद्ध को जन्म देगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी सम्भावना से बचने के लिए हुई थी।"

निषेधाधिकार असहमति-सूचक लक्षण है न कि इसका कारण। अतः निषेध व्यवस्था के समाप्त कर देने से महाशक्तियों के मतभेद दूर नहीं होंगे और न ही इससे कोई बड़ा लाभ होगा। यदि निषेधाधिकार की व्यवस्था न भी होती, तो भी सुरक्षा-परिषद् में गत्यावरोध उत्पन्न करने की दूसरी युक्तियाँ निकाल ली जातीं और उनका भी उतना ही दुरुपयोग किया जाता, जितना वर्तमान निषेधाधिकार व्यवस्था का किया जा रहा है। महाशक्तियों की असहमति की उपेक्षा कर देने की व्यवस्था का स्पष्ट परिणाम वही होगा जो राष्ट्रसंघ के साथ हो चुका है।

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि निषेधाधिकार के प्रयोग के फलस्वरूप सुरक्षा-परिषद् का काम ठप्प हो गया है। अब तक का अनुभव अधिकांशतः यही सिद्ध करता है कि निषेध-शक्ति का इतना अधिक प्रयोग होने के कारण किसी अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय लेने में अधिक बाधा नहीं आई है। जिन निर्णयों के लेने में यह बाधक बना है, उनके न लेने पर भी विश्व-शान्ति को किसी प्रकार का खतरा नहीं पहुँचा है, बल्कि कई बार निषेधाधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण उपायों

से सुलझाने मे सहायक हुआ है। जब कश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा-परिषद् में ब्रिटेन व अमेरिका ने खुलकर पाकिस्तान का समर्थन किया और निर्लज्जतापूर्वक न्याय का गला घोंटा, तब सोवियत रूस के निषेधाधिकार के प्रयोग ने स्थिति को सम्भालने में और न्याय की रक्षा करने मे सहायता प्रदान की।

वास्तव मे निषेधानुसार सघ के विभिन्न पक्षों मे सन्तुलन कायम रखने मे सहायक सिद्ध हुआ। यदि निषेध-व्यवस्था न होती, तो सयुक्त राष्ट्रसघ पूरी तरह एक गुट विशेष का शस्त्र बन जाता जिसे अपनी मनमानी करने की पूरी छूट मिल जाती।

पुनश्च, निषेधाधिकार को अनेक स्वस्थ परम्पराओं के विकास और व्यावहारिक कदमों ने पूर्वापेक्षा कुछ कम प्रभावशाली बना दिया है। शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव पास होने के बाद न तो यह अधिकार कोई नया अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष उत्पन्न करता है और न ही उसे आगे बढ़ाता है। इसके होते हुए भी महासभा द्वारा अनेक कार्य सम्पादित किए जाते हैं। शान्ति निरीक्षण आयोग, सामूहिक उपाय समिति, आदि की स्थापना द्वारा महासभा ने सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को निषेध के दुष्प्रभाव से मुक्त कराने का प्रयास किया है।

निष्कर्ष रूप मे उपयोगी यह होगा कि नई सदस्यता और शान्तिपूर्ण समझौतों के सम्बन्ध में तो निषेधाधिकार आंशिक है, अत समाप्त हो जाना चाहिए। परन्तु शान्ति भग और आक्रमण की स्थिति मे सैनिक कार्यवाही के लिए इस अधिकार का प्रयोग कायम रखना चाहिए, अन्यथा अनेक गम्भीर और नवीन समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी। निषेधाधिकार के प्रयोग की समस्या को गुडरिच एव हैम्बरो ने ठीक प्रकार आँका है। उन्होंने लिखा है --"राष्ट्रों मे जो समझौता नहीं हो रहा है, उसका कारण निषेधाधिकार का प्रयोग ही अधिक है। उसके लिए किसको उत्तरदायी ठहराया जाए, यह निर्णय करना कठिन है। वास्तव मे यह एक राजनीतिक प्रश्न है। रूस ने इस अधिकार का अधिकतर प्रयोग किया है, परन्तु उसका तर्क है कि विरोधी बहुमतों से बचने के लिए वह इस अधिकार का प्रयोग करता है। यह स्वीकार करना चाहिए कि महाशक्तियों की सर्वसम्मति और उनकी समान प्रभुता का ही यह अर्थ है कि उनमे मतभेद और सह-सम्मति सम्भव है। स्थाई सदस्यों में जो आशा से अधिक मतभेद रहे हैं, उनका मूल कारण उनकी नीतियों का मतभेद है जिसने शान्ति-सन्धियों के मार्ग में रुकावट डाली है तथा क्षतिग्रस्त देशों मे युद्धोत्तर पुनर्विकास को रोक दिया है।"

3. आर्थिक और सामाजिक परिषद्
(Economic and Social Council)

आर्थिक, एव सामाजिक परिषद् विश्व के लोगों में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक एव स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों मे विभिन्न कार्य करती है। यह अपने सहायक अगों द्वारा मानव-जीवन के व्यापक क्षेत्रों का अध्ययन करती है और उस आधार पर व्यापक कार्यवाही करने की सिफारिशें करती है।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्, महासभा के अधीन, संसार से गरीबी और हीनता को मिटाकर एक स्वस्थ समुन्नत विश्व के निर्माण में प्रयत्नशील है। यदि विभिन्न राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में विवाद हों तो परिषद् उन्हें मिटाने का प्रयत्न करती है और विश्व के चहुँमुखी विकास में सभी देशों के सहयोगपूर्ण दृष्टिकोणों को प्रोत्साहन देती है।

पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास के लिए इस संस्था द्वारा आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता-योजनाओं की स्थापना की गई है। परिषद् की प्राविधिक सहायता-समिति का मुख्य उद्देश्य ही दुःख और दरिद्रता से मानव-जाति को मुक्ति दिलाना है। यह अर्द्ध विकसित देशों को विशेषज्ञ भेजती है और उन्हें मशीनों, यन्त्रों, उपकरणों आदि की पूर्ति के लिए आर्थिक सहयोग देती है। परिषद् का मुख्य लक्ष्य मानव-अधिकारों का प्रोत्साहन देना है। इस दायित्व की पूर्ति के लिए परिषद् द्वारा विभिन्न आयोग स्थापित किए गए हैं। परिषद् ने शरणार्थियों तथा राज्यहीन व्यक्तियों के लिए नियम बनाए हैं तथा ट्रेड यूनियनों के अधिकारों, दासता और बेगार का अध्ययन किया है। स्त्रियों की स्थिति पर सूचना एवं व्यावारिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी आयोग स्थापित किए हैं तथा इन विषयों में विभिन्न समझौतों के प्रारूप तैयार किए हैं। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, व्यापक और दूरगामी हैं जिन्हें सम्पन्न करने के लिए अनेक आयोगों, विशेषीकृत अभिकरणों तथा समितियों की स्थापना की गई है। परिषद् में आयोगों के दो रूप हैं—कार्यात्मक और प्रादेशात्मक। प्रथम वर्ग में वित्तीय आयोग, जनसंख्या आयोग, सामाजिक आयोग, मानव-अधिकार सम्बन्धी आयोग, स्त्रियों की स्थिति सम्बन्धी आयोग आदि हैं। प्रादेशिक या क्षेत्रीय आयोगों में यूरोप के लिए आर्थिक आयोग एशिया तथा सुदूरपूर्व के लिए आर्थिक आयोग आदि उल्लेखनीय हैं। इन आयोगों के अलावा परिषद् के अन्तर्गत अनेक विशेष अभिकरणों (Specialised Agencies) की स्थापना की गई। उदाहरण के लिए, खाद्य एवं कृषि संगठन (F A O), अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I L O), अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M F), विश्व-स्वास्थ्य संगठन (W H O.), आदि।

4. न्यास-परिषद् (Trusteeship Council)

पहले राष्ट्रसंघ में संरक्षण-व्यवस्था (Mandate System) थी और अब बहुत-कुछ इसी प्रकार की न्यास व्यवस्था कायम की गई है जिसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि विश्व में अनेक पिछड़े तथा अविकसित प्रदेश हैं जिनका विकास तभी सम्भव है जब सभ्य और उन्नत देश उन्हें सहयोग प्रदान करें। अतः उन्नत देशों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने-आपको न्यासी (Trustee) समझकर अविकसित प्रदेशों के हितों की देखभाल करते हुए उनके विकास में हरसम्भव सहयोग दें। राष्ट्रसंघ की संरक्षण-व्यवस्था केवल जर्मनी, टर्की आदि से पीड़ित प्रदेशों के लिए थी, न्यास पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाए गए सभी क्षेत्रों तक विस्तृत है। न्यास पद्धति के मूल उद्देश्य हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की वृद्धि करना, (ख) न्यास-प्रदेशों का स्वशासन की दिशा में विकास

करना, (ग) मानव-अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहन देना तथा यह भाव जाग्रत करना कि संसार के सभी लोग अन्योन्याश्रित हैं, एवं (घ) सामाजिक, आर्थिक, वाणिज्यिक मामलों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों और उनके नागरिकों के प्रति समान व्यवहार का विश्वास दिलाना।

न्यास-पद्धति के अन्तर्गत समाविष्ट प्रदेश दो भागों में विभाजित हैं— अस्वशासित प्रदेश (Non Self Governing Territories), एवं न्यास या सुरक्षित प्रदेश (Trust Territories)। प्रथम प्रकार के प्रदेश (वे पराधीन प्रदेश तथा उपनिवेश जो सुरक्षित प्रदेश न बनाए गए हों) ब्रिटेन, फ्रांस आदि पश्चिमी देशों के साम्राज्य के अन्तर्गत आते हैं। दूसरे प्रकार के अर्थात् न्यास-प्रदेश वे हैं जो न्यास-समझौतों के द्वारा, जो कि सम्बन्धित राज्यों के मध्य होते हैं और जिन पर महासभा की स्वीकृति अनिवार्य है, न्यास प्रदेश बना दिए जाते हैं।

कुछ वर्षों पूर्व न्यास-पद्धति के अन्तर्गत न्यूगिनी, रुआण्डाउरुण्डी, फ्रेंच कैमरुन्स, फ्रेंच टोगोलैण्ड, पश्चिमी समोआ, टांगानिका, ब्रिटिश कैमरून्स, नौरू, प्रशान्त महासागर द्वीप, सुमालीलैण्ड, टोगोलैण्ड नामक 11 देश थे। अब ये सभी स्वाधीनता प्राप्त कर चुके हैं।

5. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(International Court of Justice)

यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का न्यायिक अंग है। इससे पहले राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत स्थाई न्यायालय की स्थापना 1921 में की गई थी। नवीन न्यायालय अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा कई प्रकार से दोष मुक्त है। इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर तथा न्यायालय सम्बन्धी परिशिष्ट के आधार पर की गई है। इसका प्रथम अधिवेशन 3 अप्रेल, 1946 से 6 मई, 1946 तक चला। इसमें प्रशासनात्मक एवं संगठनात्मक मामलों पर विचार किया गया। इस न्यायालय पर आगे एक पृथक् शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाश डाला गया है।

6 सचिवालय एवं महासचिव
(The Secretariat and the Secretary General)

राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के अनुभव से लाभ उठाते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में एक सचिवालय की व्यवस्था की गई है जो अपनी संरचना में एकात्मक (Unitary) है। चार्टर के अनुच्छेद 96 में उल्लिखित है कि 'सचिवालय में महासचिव और संघ की आवश्यकतानुसार कर्मचारी वर्ग रहेगा। महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर महासभा करेगी। वह संघ का प्रमुख प्रशासक (प्रशासकीय अधिकारी) होगा।" अनुच्छेद 101 के अनुसार, महासचिव संघ के पदाधिकारियों अथवा कर्मचारियों को नियुक्ति करता है।

सचिवालय का प्रधान कार्यालय न्यूयॉर्क तथा जेनेवा में है, किन्तु क्षेत्रीय सेवाओं, प्रादेशिक आयोगों तथा सूचना केन्द्रों के लिए इसके कर्मचारी विश्व के कई भागों में बिखरे रहते हैं। सचिवालय द्वारा महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक कार्य सम्पन्न

किये जाते हैं। यह सघ के अगो एव अभिकरणो को मीटिंग के लिए अनेक प्रकार की सेवाएँ प्रदान करता है। यह इन मीटिंगो के लिए अध्ययन करता है तथा पृष्ठभूमि तैयार करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिए अतिरिक्त सघ के अन्य अगो के लिए सचिवालय सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान करता है तथा एक कार्यकारिणी की भांति व्यवहार करता है। सयुक्त राष्ट्रसघ की कार्यवाही के लक्ष्य की दृष्टि से यह विभिन्न साधनो द्वारा हर प्रकार की सूचना एकत्रित करता है।

महासचिव, चार्टर के अनुच्छेद 97 के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसघ का प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी होता है। वह सघ का प्रमुख अग है और इसलिए 'सदस्य राज्यों के सांविधानिक व्यवहार का उत्तरदायित्व निभाने मे उसका हाथ रहता है। सघ के प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी के रूप मे महासचिव ही लेखों, प्रारूप रिपोर्टों तथा अन्य आवश्यक तत्त्वों को तैयार करता है। इस शक्ति के बल पर महासचिव ऐसे कार्य करने मे सक्षम है जो अप्रत्यक्ष रूप से अन्तिम निर्णयो को प्रभावित करे।"

महासचिव को न केवल प्रशासकीय अपितु राजनीतिक कार्य भी करने पडते हैं और इसीलिए उसे 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ' कहा जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ का भाग्य बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि महासचिव बुद्धि, चातुर्य और चरित्र-बल मे कितना सक्षम है। महासचिव की शक्तियाँ अनुच्छेद 99 मे उल्लिखित हैं जिनके अनुसार उसे अधिकार है कि वह स्वयं सुरक्षा-परिषद् का ध्यान किसी ऐसे विवाद की ओर आकर्षित कर सकता है जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा भग होने का खतरा हो। श्री स्टीफन एम शॅवबल के अनुसार अनुच्छेद 99 के अन्तर्गत महासचिव को निम्नलिखित आठ महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं—

1. महासचिव किसी भी विवाद अथवा स्थिति को सुरक्षा-परिषद् की अस्थायी कार्य सूची मे रख सकता है।

2 इस अनुच्छेद के आधार पर महासचिव राजनीतिक निर्णय लेने मे सक्षम है।

3. महासचिव सुरक्षा परिषद् के समक्ष उन आर्थिक और सामाजिक घटनाओं को प्रस्तुत कर सकता है जिनके राजनीतिक परिणाम निकलने की सम्भावना हो। इस प्रकार वह सुरक्षा-परिषद् और सघ के विभिन्न अगों के बीच एक 'महत्त्वपूर्ण कडी' का काम करता है।

4. महासचिव को अधिकार है कि वह अपनी शक्तियों का प्रयोग करने से पूर्व आवश्यक पूछताछ या जाँच पडताल करले।

5. महासचिव यह निर्णय कर सकता है कि वह किस अन्तर्राष्ट्रीय समस्या को सुरक्षा-परिषद् के सामने रखे। परिषद् के सामने मामला पेश करने से पूर्व वह औपचारिक रूप से गुप्त वार्तालाप भी कर सकता है जिसे कभी प्रकाशित नहीं किया जाता।

6. महासचिव को अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन के लिए आवश्यक घोषणा करने और सुझाव रखने का अधिकार है। वह चाहे तो सुरक्षा-परिषद् के विचारार्थ प्रारूप-प्रस्ताव भी रख सकता है।

7. महासचिव सुरक्षा-परिषद् के मंच से विश्व लोकमत को सम्बोधित करते हुए शान्ति के लिए अपील कर सकता है। उचित समय पर की गई अपील बड़ी प्रभावकारी सिद्ध होती है।

8 अनुच्छेद 98 के अन्तर्गत महासचिव, महासभा, सुरक्षा-परिषद्, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् की बैठकों में सचिव का कार्य सम्पन्न करता है। महासचिव की रिपोर्ट, जो महासभा के वार्षिक सत्र में प्रस्तुत की जाती है, बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। इन रिपोर्टों में महासचिव का व्यक्तित्व बोलता है, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उसके दृष्टिकोण व्यक्त होते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति और घटनाओं पर प्रकाश डाला जाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने के लिए सुझाव दिए जाते हैं। लियोनार्ड के अनुसार महासचिव की वार्षिक रिपोर्ट *अमेरिकी राष्ट्रपति के सन्देशों के समान प्रभावशाली है। महासभा में पेश किए जाने* वाले प्रस्तावों को तैयार करने में भी महासचिव का उल्लेखनीय सहयोग रहता है।

महासचिव को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के महान् अवसर प्राप्त होते हैं। वह विभिन्न देशों के प्रतिनिधि-मण्डलों के साथ निरन्तर सम्पर्क में रहता है, अतः उसकी स्थिति ऐसी होती है कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकारों को प्रभावित कर सकता है। फिर भी अन्तिम रूप से सदस्यों का सहयोग महासचिव को असफल और सफल बना सकता है। महासचिव हिटलर, नेपोलियन, लिंकन या लॉयड जार्ज नहीं बन सकता। विश्व-संस्था के सदस्यों के विश्वास और सहयोग के अनुपात में ही उसकी शक्ति घटती-बढ़ती है। महासचिव एक निष्पक्ष अधिकारी समझा जाता है। वह एक अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक सेवक और विश्व का प्रवक्ता होता है।

संघ के कार्य
(Functions of the U N O)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा–1 उसके उद्देश्यों का उल्लेख करती है। इसके अनुसार संगठन के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–वे कार्य जो शान्ति और सुरक्षा की स्थापना से सम्बन्ध रखते हैं और वे कार्य जो *राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक हित के विभिन्न क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग* की स्थापना करें। विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान और कानून की क्रियान्विति तत्कालीन परिस्थितियों में संघ का उद्देश्य नहीं बनाई जा सकी। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक हितों की वृद्धि कुछ समय बाद संगठन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता बन गई। संयुक्त राष्ट्रसंघ की मुख्य सफलता इसी पर निर्भर करती है।

1 शान्ति और सुरक्षा की स्थापना—सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यही है कि हिंसात्मक कार्यों को रोका जाए और शान्ति की स्थापना की जाए। इसके बिना सामान्य हितों के प्रोत्साहन के लिए की गई सारी प्रगति यथावत् बनी रहती है। शान्ति और सुरक्षा की स्थापना का दायित्व मुख्य रूप से सुरक्षा परिषद् पर आकर पड़ता है। जो देश सुरक्षा-परिषद् के सदस्य नहीं हैं वे

यह मानते हैं कि परिषद् उन्हीं की ओर से कार्य करती है। चार्टर ने शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के दायित्वों का निर्वाह करने के लिए विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के सम्बन्ध में विस्तृत प्रावधान रखे हैं। इसके अतिरिक्त शान्ति भंग होने और शान्ति के लिए चुनौती मिलने की स्थिति में सुरक्षा परिषद् द्वारा उठाए जाने वाले कदमों के सम्बन्ध में भी विस्तृत प्रावधान रखे गए हैं। किसी विवाद से सबंधित पक्ष सबसे पहले एक ऐसे समाधान के लिए सहमत होते हैं जो शान्ति के खतरे को दूर कर सके। इस दृष्टि से सुरक्षा परिषद् को किसी विवाद के अध्ययन का अधिकार दिया गया है ताकि वह यह जान सके कि क्या इसके रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरा है? परिषद् विवाद के किसी भी स्तर पर उसके समाधान के लिए सुझाव दे सकती है। यदि विवाद के पक्ष किसी प्रकार अपने विवाद को शान्तिपूर्वक तय न कर सकें तो वे इसे सुरक्षा परिषद् को सौंपते हैं। सुरक्षा परिषद् स्वयं भी किसी विवाद में हस्तक्षेप कर सकती है और सम्बन्धित परिस्थितियों में वह जैसा आवश्यक समझे, सुझाव दे सकती है। सुरक्षा परिषद् द्वारा किए जाने वाले कार्यों का उल्लेख हम यथास्थान विस्तार के साथ कर चुके हैं।

2 राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग—सदस्यों के सामान्य राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक हितों के प्रोत्साहन का कार्य चार्टर द्वारा महासभा को सौंपा गया है। इन तीनों प्रकार के हितों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। महासभा का यह कार्य है कि राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करने के लिए अध्ययन कराती है तथा सिफारिशें करती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रगतिशील विकास एव संहिताकरण को प्रोत्साहन देती है। मानवीय अधिकारों एव स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति में मदद करती है। आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एव शैक्षणिक क्षेत्र में सभी राज्यों के बीच सहयोग की स्थापना करती है। राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से अर्थ—स्वार्थों के उन विभिन्न संघर्षों के नियमन से है जो अभी तक कानून के सामान्य नियमों के अधीन नहीं आए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रगतिशील विकास से हमारा अर्थ इन नए क्षेत्रों में कानून के विस्तार से है, संहिताकरण में स्थित कानून की अधिक स्पष्ट परिभाषा की जाती है।

3 आर्थिक एव सामाजिक क्षेत्र में सहयोग—महासभा एव आर्थिक तथा सामाजिक सहयोग पर विचार करते हुए संघ के चार्टर में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। इस सहयोग की प्रथम शर्त का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण एव मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करे और लोगों के समान अधिकारों तथा आत्म-निर्णय के सिद्धान्तों के लिए सम्मान पर आधारित हो। यह शर्त पर्याप्त व्यापक है। यह राज्यों की समान सम्प्रभुता और उनके घरेलू क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप के सिद्धान्तों को मान्यता देती है। सामाजिक और आर्थिक सहयोग से सम्बन्धित कार्यों को सम्पन्न करने का दायित्व महासभा का है और इसके अधीन रहकर आर्थिक व सामाजिक परिषद् यह कार्य सम्पन्न करती है।

4 न्यास प्रदेशों के प्रशासन का पर्यवेक्षण—न्यास समझौतों के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य महासभा द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। इसकी सहायता के लिए न्यास परिषद् रखी गई है। चार्टर ने विभिन्न न्यास समझौतों के सम्बन्ध में विस्तृत प्रावधान रखे हैं। न्यास व्यवस्था के अधीन रखे गए प्रदेशों और उनके प्रशासन के तरीके तथा प्रशासनिक सत्ता के कर्त्तव्य वर्णित किए गए हैं। महासभा और न्यास परिषद् दोनों को न्यास प्रशासन के प्रदेशों का पर्यवेक्षण करने का अधिकार सौंपा गया है। न्यास परिषद् द्वारा प्रत्येक न्यास प्रदेश के निवासियों के स्तर के सम्बन्ध में प्रश्नावली तैयार की जाती है और उसके आधार पर प्रशासनिक सत्ताओं द्वारा वार्षिक प्रतिवेदन तैयार किया जाता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ और उसके सदस्यों के आपसी सम्बन्ध को तय करने के लिए चार्टर के अलग अध्यायों में व्यवस्था की गई है। सचिवालय में सन्धियों के पंजीकरण से सम्बन्धित प्रावधान रखा गया है। चार्टर के अनुसार यदि किसी सन्धि को पंजीकृत नहीं किया गया है तो उसका कोई पक्ष संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी अंग के सम्मुख उस सन्धि का हवाला देने का अधिकार नहीं रखता। इसके अतिरिक्त यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के दायित्वों और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि के दायित्वों के बीच कोई संघर्ष पैदा होता है तो चार्टर प्रभावशाली रहेगा। संघ को प्रत्येक सदस्य के प्रदेश में ऐसे कानूनी अधिकार प्राप्त होंगे जो उसके कार्यों की सम्पन्नता और उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक हों। उसे अनेक आवश्यक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ भी सौंपी जाएँगी

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरण
(Specialised Agencies of the U N O)

विश्व में शान्ति कायम रखना तथा राष्ट्रों के बीच उत्पन्न राजनीतिक विवादों को सुलझाना संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है, लेकिन चार्टर ने संघ पर कुछ गैर-राजनीतिक कार्यों का दायित्व भी डाला है, जिनका उद्देश्य मानव-समाज के भौतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में सहयोग देना है। चार्टर में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक सहयोग पर विशेष बल दिया गया है। अनुच्छेद 55 में व्यवस्था है कि—

'कौमों' के समानाधिकार और स्वाधीनता के आधार पर राष्ट्रों के बीच शान्ति और मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तथा जनहित और स्थिरता की जो स्थितियाँ आवश्यक हैं उनको पैदा करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ नीचे लिखी बातों को प्रोत्साहन देगा—

(क) रहन सहन का स्तर ऊँचा करना, सबके लिए काम की व्यवस्था करना, आर्थिक और सामाजिक उन्नति के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करना।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य और तत्सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना तथा संस्कृति तथा शिक्षा के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्रदान करना।

(ग) जाति, लिंग, भाषा और धर्म का भेद किए बिना सबके लिए मानव-अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति सर्वत्र सम्मान और उनका पालन करना।

इन विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ अपनी स्थापना के समय से ही प्रयत्नशील है। इन कार्यों का सम्पादन संघ कई विशिष्ट अभिकरणों और संस्थाओं की सहायता से करता है। जिन अभिकरणों और संस्थाओं का संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ सम्बन्ध है, उन्हें कार्यों की दृष्टि से चार समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है—आर्थिक, संचार, सांस्कृतिक एवं स्वास्थ्य तथा कल्याण सम्बन्धी।

आर्थिक संगठन

आर्थिक कार्यों के लिए जिन चार मुख्य संस्थाओं का निर्माण किया गया, वे हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O), (ख) खाद्य एवं कृषि संगठन (F. A. O); (ग) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.) एवं (घ) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I. F. C.)।

(क) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन—यह एक पुराना अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है जिसकी स्थापना प्रथम महायुद्ध के बाद हुई थी और जो राष्ट्रसंघ (लीग) के साथ सम्बद्ध था। बाद में इसे संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। इस संगठन के सिद्धान्त हैं—(i) श्रम वस्तु नहीं है, (ii) गरीबी समृद्धि के लिए खतरनाक है, (iii) मानव-प्रगति के लिए संगठन तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता परमावश्यक है एवं (iv) अभाव और दरिद्रता के विरुद्ध प्रत्येक देश को पूरे उत्साह के साथ युद्ध करना चाहिए। इन सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने जो कार्यक्रम अपनाया है वह इस प्रकार है—श्रमिकों को जीवन निर्वाह और पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक तथा पूरी मजदूरी प्राप्त हो, श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा के लिए आवश्यक कार्यों का विस्तार हो, श्रमिकों के लिए पर्याप्त भोजन और आवास की व्यवस्था हो, श्रमिकों को सामूहिक सौदेबाजी का अधिकार प्राप्त हो, उन्हें अवसरों की पूरी समानता प्राप्त हो, एवं उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा की सुचारू व्यवस्था हो। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा श्रमिकों का जीवन-स्तर सुधारने और उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिरता को बढ़ाने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। संगठन के तीन प्रमुख अंग हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference), (ख) प्रशासनिक निकाय (Governing Body) एवं (ग) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय (International Labour Office)।

(ख) खाद्य एवं कृषि संगठन—संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सन् 1945 में महायुद्ध के बाद स्थापित यह प्रथम संगठन था। इसका मुख्य उद्देश्य विश्व में खाद्य एवं कृषि की दशाओं को उन्नत करना है। पौष्टिक खुराक प्राप्त हो, रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठे, ग्रामों, जंगलों तथा मछली उद्योग वाले क्षेत्र में सभी तरह के खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि हो तथा इनका समुचित वितरण हो—इन बातों के लिए

यह संगठन प्रयत्नशील रहता है। इसने विश्व के विभिन्न भागों में भूमि और जल के मूल साधनों के विकास में योग दिया और नवीन प्रकार के पौधों को अदला-बदली को प्रोत्साहन दिया है। विश्व के देशों से इसने कृषि के उन्नत तरीकों का प्रचार किया है, मवेशियों के रोग निवारण के लिए कार्य किया है और इस दिशा में विभिन्न राष्ट्रों को तकनीकी सहायता दी है। खाद्य और कृषि की प्रत्येक समस्या पर इस संगठन की तकनीकी सहायता और परामर्श महत्त्वपूर्ण रहे हैं। यह प्रतिवर्ष विश्व खाद्यान्नों का निरीक्षण करता है। भारत में बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने में इस संगठन ने बहुत सहायता की है।

खाद्य एवं कृषि संगठन के मुख्य अंगों में एक सम्मेलन, एक परिषद् और डायरेक्टर जनरल तथा उसका स्टाफ सम्मिलित है। सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य-राज्य का एक-एक प्रतिनिधि होता है। सम्मेलन ही खाद्य और कृषि संगठन की नीति का निर्धारण करता है और बजट स्वीकार करता है। सम्मेलन की समाप्ति और प्रारम्भ की अवधि में परिषद् काम करती है।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष—इसकी स्थापना 27 दिसम्बर, 1945 को हुई जबकि इसके कोष का 80 प्रतिशत भाग विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जमा करा दिया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के मुख्य लक्ष्य हैं—विनिमय स्थायित्व को प्रोत्साहन देना, सदस्यों के बीच व्यवस्थित विनिमय-व्यवस्था की स्थापना करना, प्रतिस्पर्द्धापूर्ण विनिमय तथा मन्दी की स्थिति को दूर करना, सदस्यों के बीच चालू लेन-देन में भुगतान की बहुपक्षीय प्रणाली की स्थापना में सहायता करना, विश्व-व्यापार की प्रगति में अवरोधक विदेशी विनिमय के प्रतिबन्धों को समाप्त करना, सदस्यों के लिए कोष के साधन उपलब्ध कराना और इस तरह उनमें विश्वास की भावना जगाना आदि। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबन्ध कार्यालय उस देश में होता है जो सबसे अधिक नियतांश प्रदान करता है। वर्तमान समय में यह कार्यालय संयुक्त राज्य अमेरिका में है। इसने विभिन्न देशों को समय-समय पर ऋण देकर उनके भुगतान की बकाया के स्थायी असन्तुलन का दूर किया है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में इसका भावी योग रहा है। इसने सदस्य देशों को भुगतान की बकाया के दीर्घकालीन असन्तुलन को दूर करने में भी सहायता दी है। कोष आर्थिक और मौद्रिक विषय पर सदस्य देशों को उपयोगी परामर्श देता है। यह अपने सदस्यों को विश्व की आर्थिक स्थिति के परिवर्तन की सूचनाएँ नियमित रूप से देता रहता है। कोष अपने विशेषज्ञों की सेवाएँ प्रदान करता ही है, कभी-कभी बाहरी विशेषज्ञों को भी सदस्य-देशों की सहायतार्थ भेजता है। ये विशेषज्ञ सदस्य देशों में आर्थिक परामर्शदाताओं का कार्य करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबन्ध एक गवर्नर-मण्डल (Board of Governors), कार्यकारी संचालक मण्डल (Board of Executive Director) और प्रबन्ध संचालकों (Managing Directors) तथा अन्य स्टाफ की सहायता से किया जाता है।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम—इसकी स्थापना जुलाई सन् 1956 मे की गई और 20 फरवरी, 1947 मे संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक विशिष्ट अभिकरण के रूप मे कार्य कर रहा है। इसका कोष अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के कोष से बिलकुल पृथक् है। निगम का मूल उद्देश्य विश्व बैंक के एक पूरक के रूप मे उत्पादनशील निजी उद्यम के विकास को (विशेषकर अर्द्ध-विकसित देशो मे) प्रोत्साहन देता है। निगम के चार्टर मे धारा 1 मे इसके इन उद्देश्यो का उल्लेख है—

1 किसी उद्योग के विकास, सुधार और विस्तार को बढ़ावा देना तथा इसके लिए बिना सरकार की गारण्टी के सदस्य-देशो मे स्थित निजी उद्योगो मे विनियोग करना।

2 विनियोग के अवसरों, देशी और विदेशी निजी पूंजी तथा अनुभवी व्यवस्थापन को परस्पर सम्बद्ध करना और उनमे समन्वय स्थापित करना।

3 सदस्य राष्ट्रो मे घरेलू और निजी विदेशी पूंजी को उत्पादनशील विनियोगो मे प्रभावित कर विकास मे सहायक परिस्थितियों को उत्पन्न करना।

सारांश मे निगम का उद्देश्य निजी उद्योगों के साथ मिलकर बिना सम्बन्धित सरकार की गारण्टी के उनमे पूंजी का विनियोग करना है। यह केवल निजी क्षेत्र के उद्योगो मे ही विनियोग कर सकता है, सरकारी योजनाओ और सरकार द्वारा स्थापित उपक्रमो मे नहीं। भारत इस निगम का प्रारम्भ से ही सदस्य रहा है और निगम की पूंजी मे भारत ने जो भुगतान किया है, उसके आधार पर भारत का निगम मे चौथा स्थान है। निगम की सदस्यता केवल उन्ही देशो को प्राप्त हो सकती है जो विश्व बैंक के सदस्य हैं। सदस्यता ऐच्छिक है, अनिवार्य नहीं। निगम के प्रबन्ध के लिए एक गवर्नर-मण्डल होता है। दिन-प्रतिदिन के कार्य सचालन के लिए एक सचालन बोर्ड होता है। विश्व बैंक का अध्यक्ष निगम के सचालक-बोर्ड का पदेन चेयरमैन होता है।

(ङ) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण विकास बैंक—ब्रेटनवुड्स सम्मेलन मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक की स्थापना का भी निर्णय किया गया। यह सस्था जिसे विश्व बैंक (World Bank) भी कहते है, मुद्रा कोष की एक पूरक सस्था के रूप मे 27 दिसम्बर, 1945 को स्थापित हुई, किन्तु 25 जून, 1946 से इसने अपना कार्य प्रारम्भ किया। मुद्रा कोष और विश्व बैंक 'स्थायित्व एव विकास' के उद्देश्यो पर आधारित है। मुद्रा कोष स्थायित्व पर अधिक बल देता है और विश्व बैंक 'विकास' पर। इसके मुख्य उद्देश्य हैं– सदस्य राष्ट्रो का पुनर्निर्माण एव विकास, व्यक्तिगत विदेशी विनियोगो को प्रोत्साहन, दीर्घकालीन सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन, अधिक आवश्यक उत्पादन के कार्यों को प्राथमिकता, शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था की स्थापना। प्रत्येक राष्ट्र जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य है, विश्व बैंक का भी स्वत ही सदस्य बन जाता है। इस प्रकार इन दोनो सस्थाओ की सदस्यता साथ-साथ चलती है और एक की सदस्यता त्याग देने पर दूसरे की सदस्यता भी सामान्यतः समाप्त हो जाती

है। मुद्रा कोष की सदस्यता समाप्त हो जाने पर कोई देश विश्व बैंक का सदस्य तभी बना रह सकता है जब उसे बैंक के 75 प्रतिशत मतो का समर्थन प्राप्त हो। प्रारम्भ मे बैंक की प्रधिकृत पूंजी 10,000 मिलियन डॉलर थी जिसमे समय-समय पर वृद्धि होती रही है।

सचार सम्बन्धी सगठन

संयुक्त राष्ट्रसघ के विशिष्ट सचार अभिकरणों मे ये महत्त्वपूर्ण हैं—अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन सगठन (I C.A O), विश्व डाक सघ (W P U.), अन्तर्राष्ट्रीय दूर-सचार संघ (I.T.U), विश्व ऋतु-विज्ञान सगठन (W M O.) और अन्तर सरकारी जहाजरानी परामर्श सगठन। अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन सगठन के प्रमुख उद्देश्य हैं—अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन सम्बन्धी प्रतिमान और विनियम निश्चित करना, उड्डयन विधियो और समझौतो के प्रारूप तैयार करना, आदि। विश्व डाक सघ के प्रमुख उद्देश्य हैं—सदस्य देशो मे डाक सम्बन्धी सुविधाओं का विकास करना, डाक सम्बन्धी कठिनाइयो का निवारण करना, एक देश से दूसरे देश को डाक भेजने की दर आदि निश्चय करना। अन्तर्राष्ट्रीय दूर-सचार सघ के प्रमुख उद्देश्य हैं—तार, टेलीफोन और रेडियो सम्बन्धी सेवाओं का प्रसार और विकास, सर्वसाधारण को कम से कम दर पर इनकी सेवाएँ सुलभ करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियमो आदि का निर्माण, दूर-सचार (टेली कम्युनिकेशन) के व्यवहार के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और प्राविधिक सुविधाओं मे वृद्धि करना। विश्व ऋतु-विज्ञान सगठन के उद्देश्य हैं—ऋतु विज्ञान सम्बन्धी जाँच पड़ताल करना अथवा ऋतु विज्ञान के बारे मे भूगर्भ सम्बन्धी जाँच-पड़ताल के लिए केन्द्र स्थापित करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना, ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी सेवाओं की व्यवस्था के लिए केन्द्रों की स्थापना और उनका समुचित सचालन करना, ऋतु-सम्बन्धी ज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय आदान प्रदान के लिए व्यवस्था करना, ऋतु-विज्ञान के बारे मे खोज और प्रशिक्षण को बढ़ावा देना, आदि। अन्तर-सरकारी जहाजरानी परामर्श सगठन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय जहाजरानी सेवाओं का सरल और गतिमान बनाना है। यह सागरों पर सुरक्षा और अन्य प्राविधिक मामलो के लिए सरकारो के बीच सहयोग की व्यवस्था करना है, सरकारों के अनावश्यक प्रतिबन्धो और भेदभाव को दूर करने में सहायता करता है। यह सगठन जहाजरानी के सम्बन्ध मे सयुक्त राष्ट्रसघ के किसी अग या विशेष अभिकरण द्वारा प्रस्तुत मामलो पर विचार करता है।

सांस्कृतिक सगठन यूनेस्को

सयुक्त राष्ट्र सघ के विशिष्ट अभिकरणों में 'यूनेस्को' अर्थात् सयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक सगठन (United Nation, Educational, Scientific and Cultural Organisation UNESCO) का अपना विशेष महत्त्व है। 3 नवम्बर, 1946 को इस सस्था का जन्म हुआ। इसके तीन प्रमुख अंग हैं—साधारण सभा (General Conference), कार्यकारी मण्डल (Executive Board) एव सचिवालय (Secretariat)। सयुक्त राष्ट्रसघ के लगभग सभी सदस्

यूनेस्को के भी सदस्य हैं। यूनेस्को का लक्ष्य शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से राष्ट्रों के बीच सहयोग को प्रोत्साहन देकर शान्ति और सुरक्षा मे योगदान करना है। यह सस्था बिना किसी भेदभाव के चार्टर मे निहित मानव-अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं को क्रियाशील बनाने मे सहायक है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन के पश्चात् सयुक्त राष्ट्रसघ के विशिष्ट अभिकरणों मे सबसे अधिक सफलता यूनेस्को को ही प्राप्त हुई है।

स्वास्थ्य एव कल्याणकारी सगठन

सयुक्त राष्ट्रसघ से सम्बद्ध स्वास्थ्य एवं कल्याणकारी सगठनों मे विशेष महत्वपूर्ण ये हैं—

अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति एजेंसी—इसकी स्थापना 2 जुलाई, 1956 को हुई। सयुक्त राष्ट्र सघ के साथ इसके कार्य सम्बन्धी प्रस्ताव महासभा द्वारा नवम्बर, 1956 मे और एजेंसी की जनरल कॉन्फ्रेंस द्वारा अक्तूबर, 1957 मे स्वीकार किया गया। इस अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति एजेंसी (International Atomic Agency) के मुख्य उद्देश्य हैं—विश्व की शान्ति-व्यवस्था और सम्पन्नता मे अणु शक्ति के योगदान को बढावा देना, अणुशक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग को हर प्रकार से प्रोत्साहन देना तथा यह देखना कि उसके द्वारा दी जाने वाली सहायता का अनैतिक उद्देश्यों के लिए तो उपयोग नही किया जाता।

विश्व स्वास्थ्य संगठन—7 अप्रेल, 1948 को विश्व स्वास्थ्य सगठन (W.H O) की स्थापना हुई, इसीलिए प्रतिवर्ष 7 अप्रेल विश्व भर में 'स्वास्थ्य दिवस' के रूप मे मनाया जाता है। इस सगठन की सदस्यता सभी राष्ट्रो के लिए खुली है। इसमे प्रमुख अग हैं—सभा (Assembly), कार्यकारी बोर्ड (Executive Board), एक सचिवालय (Secretariat)। सयुक्त राष्ट्रसघ के अन्तर्गत स्थापित इस सगठन का उद्देश्य ससार को रोगो से मुक्त कराना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सगठन अनेक कार्य करता है जैसे—(1) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों का सचालन, (2) महामारियो और रोगो के उन्मूलन सम्बन्धी कार्यक्रमो को प्रोत्साहन, (3) स्वास्थ्य के क्षेत्र मे अनुसन्धान, (4) बीमारियों के अन्तर्राष्ट्रीय नामो के निदान सम्बन्धी कार्यो मे एकरूपता की स्थापना, (5) आकस्मिक चोटो को रोकने का प्रबन्ध, (6) मानसिक स्वास्थ्य सुधार को प्रोत्साहन, (7) आहार, पोषण, स्वच्छता, (8) निवास और काम करने की दशाओं मे सुधार, (9) स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्र मे प्रशासनिक और सामाजिक विधियो का अध्ययन आदि।

अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपातकालीन कोष—बच्चों के स्वास्थ्य पर विशेष रूप से ध्यान देने के लिए महासभा द्वारा 11 सितम्बर, 1946 को अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपात कोष (U N International Children Emergency Fund) की स्थापना की गई। यह सस्था आर्थिक और सामाजिक परिषद् की देखरेख मे काम करती है। इसके मुख्य उद्देश्य हैं—ससार भर के (विशेषकर अविकसित देशो के) बच्चो की हर तरह की आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करना, भूकम्प, बाढ़, आदि के

समय प्रसूतिकाओं और शिशुओं की सहायता करना, प्रसूति गृहों और शिशु कल्याण केन्द्रों की स्थापना करना, शिशु आहार की व्यवस्था करना आदि।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की दुर्बलताएँ या सीमाएँ
(Weak Points or Limitations of U N.O)

संयुक्त राष्ट्रसंघ की अनेक सांविधानिक, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दुर्बलताओं ने इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की शक्ति पर बुरा प्रभाव डाला है और यह महान् संस्था आशाओं के अनुरूप सफल सिद्ध नहीं हुई है। अत. यह देखना उचित होगा कि संघ किन विशिष्ट समस्याओं और दुर्बलताओं का शिकार है—

1. संघ अभी तक सार्वदेशिक संगठन नहीं बन सका है। दोनों जर्मनी, दोनों कोरिया आदि राष्ट्र अभी तक संघ से बाहर हैं। प्राय. देखा गया है कि विश्व संस्था से बाहर रहने वाले देश अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के उत्तरदायित्व से स्वयं को मुक्त समझने लगते हैं जिसका संघ की कार्य-क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

2. संघ सैद्धान्तिक विरोधाभास का शिकार है। एक ओर राज्यों के समानाधिकार और समान प्रभुसत्ता की बात कही गई है तो अनेक स्थलों पर चार्टर मे राज्यो की सम्प्रभु-असमानता के सह-अस्तित्व का प्रतिपादन है। उदाहरणार्थ सुरक्षा परिषद् मे स्थाई सदस्यो की स्थिति असामान्य रूप से विशेषाधिकार सम्पन्न है। चार्टर मे लक्ष्यो और सिद्धान्तो के गीत गाए गए हैं, पर कहीं भी न्याय, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्मान, राष्ट्रीय आत्म-निर्णय जैसे सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं की गई है।

3 घरेलू क्षेत्राधिकार की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई है और यह भी उल्लेख नहीं है कि घरेलू क्षेत्र का निश्चय कौन करेगा। इस बारे मे महासभा के निर्णय वस्तु स्थिति के आधार पर न होकर प्राय गुटबन्दी के आधार पर होते रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे 'घरेलू क्षेत्राधिकार' और हस्तक्षेप की विशिष्ट धारणा है, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ मे यह विशुद्ध राजनीतिक विषय बना हुआ है।

4. संयुक्त राष्ट्र संघ 'यथास्थिति सम्बन्धी अस्पष्टता' के कारण भी कुछ कम प्रभावशाली रहा है। वास्तव मे जर्मनी, कोरिया, पूर्वी यूरोप, वियतनाम आदि सभी अस्थायी व्यवस्थाओं के परिणाम हैं और यथास्थिति कायम रखने के बारे मे संघ के सदस्यों में बहुत अस्पष्टता है जिसके फलस्वरूप प्रभावशाली और निश्चित कार्यवाही करने की दृष्टि से संघ प्राय. अस्थिर रहा है।

5. संघ के वाद-विवाद और निर्णय अधिकांशत. पक्षपातपूर्ण अथवा महाशक्तियों के अपने हितों से प्रभावित रहे हैं। अधिकांश समस्याएँ शक्ति राजनीति द्वारा तय की जाती हैं। पश्चिमी गुट के बहुमत को विफल करने के लिए रूस अपने निषे [illegible] का व्यापक प्रयोग करता है। स्वयं महासचिव यह स्वीकार करते हैं कि गुटब [illegible] और बड़े राष्ट्रों के संघर्ष ने विश्व संस्था को पगु बना दिया है।

6. संघ निषेधाधिकार के दुरुपयोग का मंच बना हुआ है। स्थाई सदस्य किसी भी उचित किन्तु अपने विरोधी दावे को निषेधाधिकार के प्रयोग से अमान्य ठहरा

देते हैं। यह विचित्र स्थिति है कि कोई एक महाशक्ति शेष सदस्यों की इच्छाओं को निरस्त कर दे, यहाँ तक कि महासभा की इच्छा को भी विफल कर दे। पर यह भी स्वीकार करना होगा कि कुछ मामलों में इस विशेषाधिकार की व्यवस्था से ही न्याय की रक्षा हो सकी है, जैसे कश्मीर तथा भारत-पाक संघर्षों के मामले में।

7 महासभा विश्व-जनमत का प्रतिनिधित्व करते हुए भी उसके निर्णय का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वस्तुतः 'शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव' पारित किए जाने के बाद भी व्यवहार में महासभा आज भी अपनी उपयोगिता में बहुत कुछ सुरक्षा-परिषद् पर आश्रित है। यदि महासभा किसी कार्य की सिफारिश दो-तिहाई बहुमत से भी करे तो परिषद् उसे अपने विवेक के आधार पर 'अस्वीकार कर सकती है। यह एक गम्भीर सांविधानिक विडम्बना है कि एक ही समय संघ के दो अंग भिन्न भिन्न राय प्रकट कर सकते हैं। शक्ति-वितरण में महाशक्तियों की मनमानी को कायम रखने की व्यवस्था के फलस्वरूप संघ में 'सुरक्षा-परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की स्थिति बनी हुई है।

8 संघ के पास अपने निर्णयों को लागू कराने की स्वयं की शक्ति नहीं है उसके पास 'काटने के दाँत' नहीं हैं। अपनी निजी सेना न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के लिए खतरा पैदा होने पर वह सदस्य-राष्ट्रों पर निर्भर है कि वह सैनिक सहायता दें या न दें।

9 संघ के निर्णयों का महत्त्व सिफारिशों से अधिक नहीं है। सदस्य राज्यों को छूट है कि वह उन्हें स्वीकार करें या न करें। एक बड़ी दुर्बलता यह है कि महासचिव की शक्तियों का अभी तक समुचित रूप में निश्चय नहीं किया जा सका, अतः परिषद् द्वारा प्रस्तावित कार्यवाही करना कई बार महासचिव के लिए कठिन हो जाता है।

10 चार्टर ने अभी कुछ ही समय पूर्व तक आत्म-रक्षा और आक्रमण के बीच भेद स्पष्ट नहीं किया गया था। यह स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया गया था कि किसी देश द्वारा किए जाने वाले किस प्रकार के कार्य आक्रमण माने जाएँगे। चार्टर के अनुसार आक्रमण का अर्थ 'शक्ति का अवैधानिक प्रयोग' है, किन्तु 'शक्ति का अवैधानिक' प्रयोग क्या है, यह प्रश्न विवादास्पद बना रहा। सौभाग्यवश अब लगभग 31 वर्ष के परिश्रम के बाद 15 दिसम्बर, 1974 को लगभग 350 शब्दों में 'आक्रमण' की परिभाषा कर दी गई है।[1]

1 'आक्रमण' की परिभाषा के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि आक्रमण एक देश द्वारा दूसरे देश की प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखण्डता या राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध सशस्त्र सेना या किसी अन्य तरीके का प्रयोग है जो संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र के अनुरूप नहीं है।

दूसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा-पत्र का उल्लंघन कर एक देश द्वारा दूसरे देश पर पहले सशस्त्र सेना का प्रयोग आक्रमण की कार्यवाही का प्रारम्भिक

11. महासभा की कार्यविधि भी दोषपूर्ण है। सभा के सम्मुख विचारणीय विषयों की संख्या पहले ही बहुत अधिक रहती है और इस पर भी लम्बे लम्बे भाषणों द्वारा सभा का अधिकांश समय नष्ट कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त समितियों में एक बार प्रस्तुत प्रस्तावों को भी कभी कभी पुनः सभा में प्रस्तुत कर दिया जाता है। इस पुनरावृत्ति से लाभ कम होता है, समय की हानि अधिक होती है।

12 महासभा के अधिवेशनों में राष्ट्रों के प्रमुख राजनीतिज्ञ उपस्थित रहने की परवाह नहीं करते और साधारण प्रतिनिधियों के उपस्थित रहने से सभा की कार्यवाही अधिक प्रभावशाली नहीं हो पाती।

13 संघ के बाहर की गई सैनिक सन्धियों के कारण भी इसका महत्त्व कुछ *कम हो गया है। विन्सीराइट के अनुसार "क्षेत्रीय सुरक्षा गुटों के अनियन्त्रित विकास* से संयुक्त राष्ट्र चार्टर के मूल उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती।"

प्रभाव होगा, यद्यपि सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा पत्र के अनुरूप यह निश्चित कर सकती है कि आक्रमण हुआ है।

तीसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि युद्ध की घोषणा किए और भी एक देश द्वारा दूसरे देश पर सशस्त्र आक्रमण, दूसरे देश की भूमि पर कब्जा करना चाहे वह अस्थायी ही क्यों न हो, बमबारी बन्दरगाहों, तटों की नाकेबन्दी भी आक्रमण है। एक देश की सशस्त्र सेना द्वारा दूसरे देश की भूमि, समुद्र, वायुसेना, नौसेना और विमानों के बल पर धावा बोलना भी आक्रमण है समझौते की अवधि के बाद दूसरे देश की भूमि पर जमे रहना भी आक्रमण कहलाता है। अपनी भूमि का किसी तीसरे देश के विरुद्ध प्रयोग करने की अनुमति देना या किसी दूसरे देश की ओर से किसी अन्य देश पर सशस्त्र कार्यवाही के लिए सशस्त्र व्यक्ति या भाड़े के सैनिक भेजना भी आक्रमण है।

चौथे अनुच्छेद के अनुसार सुरक्षा परिषद् भी यह तय कर सकती है कि घोषणा पत्र के अन्तर्गत किन-किन कार्यवाहियों को आक्रमण की संज्ञा दी जानी चाहिए।

पाँचवें अनुच्छेद के अन्तर्गत आक्रमण आक्रमण ही होगा। इसमें इस बात पर कोई विचार नहीं होगा कि राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक कारणों से दूसरे देश पर आक्रमण करने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

आक्रमण युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के प्रति एक अपराध है। आक्रमण से अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व बढ़ जाता है।

आक्रमण के परिणामस्वरूप प्राप्त क्षेत्र या कोई अन्य सुविधा कानूनी नहीं मानी जाएगी।

छटे अनुच्छेद में कहा गया है कि इस परिभाषा का अर्थ यह नहीं होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र में वृद्धि या कमी की जा सकती है।

सातवें अनुच्छेद में आत्म निर्णय, स्वाधीनता और स्वतन्त्रता के अधिकार के लिए युद्ध आक्रमण की परिभाषा में नहीं आएगा।

आठवें अनुच्छेद में उल्लेख है कि आक्रमण की परिभाषा सम्बन्धी आठों अनुच्छेद एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। —हिन्दुस्तान, 16 दिसम्बर, 1974

14. यह भी विडम्बना है कि सदस्यगण महासभा और सुरक्षा परिषद् को प्रचार-संस्था के रूप में प्रयोग करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक हथकण्डों द्वारा विश्व-जनमत को अनुचित रूप से अपने पक्ष में तैयार करना होता है। नार्मन बैंटविच और एण्ड्रयू मार्टिन के इन शब्दों में वजन है कि 'महासभा और सुरक्षा परिषद् का प्रयोग विवादों को सुलझाने के लिए नहीं, अपितु उनको बढ़ाने के लिए किया जाता है।'

संघ को शक्तिशाली बनाने के सुझाव

नवीन और परिवर्तित परिस्थितियों में यह आवश्यक हो गया है कि प्रथम तो संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में आवश्यक संशोधन किया जाए और द्वितीय, इस प्रकार के विभिन्न उपाय किए जाएँ जिससे यह विश्व-संस्था अधिक शक्तिशाली बन सके। पहले उन सुझावों का उल्लेख किया जाएगा जो चार्टर में संशोधन के लिए प्रस्तावित किए जाते हैं और तत्पश्चात् अन्य सुझावों का।

(क) चार्टर में संशोधन अथवा पुनर्निरीक्षण—महाशक्तियों के बीच पारस्परिक सहमति न होने से चार्टर में कोई महत्त्वपूर्ण संशोधन नहीं हो सका है। यह आशंका की जाती है कि संशोधन से वर्तमान-शक्ति सन्तुलन बिगड़ जाएगा और संशोधन के प्रस्तावों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मतभेद प्रखर रूप से उभर आएँगे तथापि समय-समय पर संशोधन सम्बन्धी अनेक सुझाव दिए जाते रहे हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं—

1 महासभा में प्रतिनिधित्व के तरीके में परिवर्तन किया जाना चाहिए। एक देश के 5 सदस्य तथा वोट के स्थान पर सदस्य तथा वोट जनसंख्या के अनुपात से होने चाहिए ताकि महासभा के निर्णय अधिकतम जनसमूह के हितों के आधार पर हों।

2 सदस्यता के लिए सुरक्षा परिषद् की सिफारिश की शर्त हटा देनी चाहिए अथवा उसमें बहुमत के आधार पर निर्णय की व्यवस्था की जानी चाहिए।

3 महासभा अपने उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से नए सदस्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान करे। केवल महासभा को इस प्रकार सदस्यता प्रदान करने के अधिकार दिए जाने से सदस्यता के प्रश्न पर राजनीतिक सौदेबाजी की वर्तमान कटु स्थिति समाप्त हो जाएगी।

4. सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों का प्रावधान हटा देना चाहिए ताकि शक्ति-सन्तुलन पश्चिमी शक्तियों के पक्ष में न रहे। परिषद् को सन्तुलित और निष्पक्ष बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के भारत जैसे महत्त्वपूर्ण सदस्यों को भी इसमें समान आधार पर स्थान प्राप्त हो। यदि स्थायी सदस्यता कायम रखने का ही निश्चय हो तो उनकी सदस्य-संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए।

5. 'घरेलू क्षेत्र' की व्यवस्था में समुचित सन्तुलन किया जाना चाहिए। यह सुझाव भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में जो बातें घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आती हैं उनका संहिताकरण कर लिया जाए तथा उनके अतिरिक्त जो विषय शेष रहें उन

पर शान्ति एव सुरक्षा की दृष्टि से सयुक्त राष्ट्रसघ जो कार्यवाही उचित समझे स्वतन्त्रतापूर्वक करे।

6 यह सुझाव दिया जाता है कि महासभा को द्विसदनात्मक रूप दिया जाए—एक 'मानवता सदन हो' और दूसरा 'राष्ट्रीय सदन'। मानवता-सदन का सगठन प्रत्येक राज्य की जनसख्या के अनुपात मे हो तथा राष्ट्रीय सदन का गठन राज्यों की समानता के आधार पर हो और उसमे प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को प्रतिनिधित्व दिया जाए। सभी साधारण विषयो का निर्णय दोनों सदस्यो द्वारा किया जाए, लेकिन मतभेद की स्थिति मे वह निर्णय उस रूप मे मान्य समझा जाए जिस रूप में मानवता सदन पुन तीन-चौथाई मतों से पारित कर दे। साथ ही शान्ति और सुरक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण विषयो पर निर्णय मानवता सदन द्वारा ही लिया जाए। इस बात के निर्णय का दायित्व कि कौन से विषय महत्त्वपूर्ण हैं, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को सौंपे जाए।

7. *सुरक्षा परिषद् की बैठकें हमेशा न होकर कुछ निश्चित अवधियो मे ही* हो ताकि सम्बन्धित देशो के प्रधान मन्त्री या विदेश मन्त्री उसमे भाग ले सकें। यह सुझाव विशेष स्वागत योग्य नही है क्योंकि सुरक्षा परिषद् यदि एक सतत् कार्यशील अग न रहा तो शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा होने पर अथवा अन्य *किसी महत्वपूर्ण मामले मे तुरन्त कार्यवाही करने की वर्तमान मे जो कुछ भी क्षमता* है उसे आघात पहुँचेगा।

8 अनुच्छेद 27 मे सुरक्षा परिषद् मे मतदान की व्यवस्था मे 'प्रक्रिया सम्बन्धी विषय' तथा अन्य सभी विषय' शब्द इतने अनिश्चित और अस्पष्ट हैं कि *इनसे विशेषाधिकार का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। अत यह उपयुक्त है कि इन* शब्दो को स्पष्ट किया जाए।

9 प्रादेशिक सगठन सम्बन्धी धाराओ मे ऐसा सशोधन होना चाहिए जिससे सैनिक सगठनो की स्थापना को प्रोत्साहन न मिल सके।

10. शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी मामलो मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सभी निर्णय राष्ट्रो पर बाध्यकारी माने जाएँ, किन्तु यह भी सुनिश्चित व्यवस्था होनी चाहिए कि निर्णय राजनीतिक पक्षपात से मुक्त हों।

(ख) अन्य सुझाव—जो अन्य सुझाव समय समय पर दिए गए हैं उनमें से ये उल्लेखनीय हैं—

1. सदस्य-राज्य अधिक स्वामीभक्ति और कल्पनात्मक रूप से अपने उत्तरदायित्वो को पूरा करें। विशेषकर महाशक्तियाँ सघ के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान रहें और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सैद्धान्तिक शिथिलता न दिखाएँ।

2 महासभा, सुरक्षा परिषद् तथा अन्य अगों का प्रचार-सस्था के रूप मे उपयोग न किया जाए। इस सम्बन्ध मे एक तो सदस्य-राज्य स्वय पर नियन्त्रण रखे और दूसरे आवश्यक सांविधानिक व्यवस्थाएँ करने का भी प्रयास किया जाए।

3 महासभा के अधिवेशन अल्पकालीन हों जिनमें सदस्य-राष्ट्रों के प्रधान मन्त्री अथवा विदेश मन्त्री सम्मिलित हों। मन्त्रिमण्डलीय स्तर के प्रतिनिधि अपने-अपने देशों की नीति निर्धारित करने के लिए उत्तरदायी होते हैं, अतः वे महासभा की कार्यवाही को अधिक प्रभावशाली व निर्णयकारी बनाने में सक्षम हो सकते हैं।

4 चार्टर की व्याख्या करते समय उदार दृष्टिकोण अपनाया जाए। सुरक्षा परिषद् की शक्तियों के मूल्य पर यदि महासभा, जो विश्व जनमत की प्रतिनिधि है, कोई कार्य करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले ले, तो इसका विरोध नहीं किया जाना चाहिए। मुख्य लक्ष्य तो समस्या का समाधान करना है, न कि वैधानिक अवरोध उत्पन्न कर समस्या को उलझाना।

5 संघ के वर्तमान यन्त्र को विस्तृत बना देना चाहिए ताकि आवश्यकतानुसार नवीन संस्थाओं का निर्माण किया जा सके।

6 जो क्षेत्र राष्ट्रीय सम्प्रभुता के अधीन नहीं है वहाँ पर प्रशासकीय सत्ता स्थापित हो जानी चाहिए, जैसे बाह्य अन्तरिक्ष।

7 संघ की आय का कोई स्वतन्त्र स्रोत होना चाहिए। उचित होगा कि वह विज्ञापन कर, मेवा कर, यात्री-कर आदि लगाए और विश्व-बैंक की आय तथा बाह्य अन्तरिक्ष शुल्क द्वारा अपनी आय में वृद्धि करे।

संयुक्त राष्ट्र संघ का मूल्यांकन

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुए लगभग 35 वर्ष हो गए हैं। इन 35 वर्षों में उसका इतिहास चित्र विचित्र रहा है। कुछ समस्याएँ उसने हल की और कुछ उसके मंच पर पहुँच कर सुलझने के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चक्रव्यूह में फँस कर और भी उलझ गई। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना भावी सन्ततियों को युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए की गई थी। निःसन्देह इन 35 वर्षों में संसार को तृतीय विश्व-युद्ध का सामना नहीं करना पड़ा। भले ही केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ ही इसके लिए श्रेय का एकमात्र अधिकारी न हो। बड़े राष्ट्रों ने शक्तिशाली परमाणु-आयुधों से जो विराट् संहार शक्ति संचित कर ली है, उसने भी विश्व युद्ध को रोका है। कोई राष्ट्र आज इसलिए महायुद्ध प्रारम्भ नहीं कर सकता क्योंकि उसके लिए जो संहारक शक्ति वह प्रयोग में लाएगा वह उसके प्रतिपक्षी को ही नहीं स्वयं उसे भी विनष्ट कर देगी। परन्तु केवल आत्म-विनाश के इस भय ने ही नहीं संयुक्त राष्ट्रसंघ के मंच पर शान्ति के समर्थक देशों ने शान्ति के पक्ष में जो वातावरण उत्पन्न किया है, उसने भी महायुद्ध को रोका है। फिर भी यह दुःख की बात है कि छोटे मोटे युद्ध संसार में चलते ही रहे हैं और संयुक्त राष्ट्रसंघ उन्हें रोकने में सफल नहीं हुआ है। जहाँ तक विश्व के देशों के आपसी विवादों का सम्बन्ध है, यह ठीक है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ मुख्यतः वाद-विवाद के मंच का काम ही करता रहा है। इस मंच पर खड़े होकर पक्ष-विपक्ष में लोगों ने अपनी भड़ास निकाली है और भड़ास निकल जाने से वे विवाद अनेक बार ठण्डे पड़ गए हैं। विवादों के कभी-कभी उलझ जाने का एक कारण यह भी है कि बड़ी शक्तियाँ न्याय और सत्य की उपेक्षा कर अपने हानि-लाभ की कसौटी पर

हुए सवाल को परखती हैं और तदनुसार अपने निषेधाधिकार के अधिकार(हथियार) का प्रयोग करती रही हैं। जिस निषेधाधिकार को अन्याय का निवारक होना चाहिए था, अनेक बार वह अन्याय म सहायक बना है।

इन तीन दशकों म सयुक्त राष्ट्रसघ के स्वरूप मे एक बुनियादी परिवर्तन आ गया है। पहले जहाँ सयुक्त राष्ट्रीय मच पर दो ही राष्ट्र समूह थे, वहाँ आज गुट निरपेक्ष और विकासशील देशों का समूह भी एक तीसरी शक्ति के रूप मे उभर कर सामने आ गया है। बडी शक्तियाँ आज इस समूह की उपेक्षा नही कर सकतीं। अपनी एकाधिक असफलताओं के बावजूद सयुक्त राष्ट्रसघ विश्व के लिए एक आशा की किरण है। इसलिए आज उसके सदस्यों की सख्या 153 हो गई है।

सयुक्त राष्ट्रसघ को यदि महाशक्तियों का सहयोग प्राप्त हो तो यह सस्था विश्व की बडी से बडी समस्या का समाधान कर सकती है। पश्चिमी एशिया तथा साइप्रस में शान्ति की स्थापना जैसी बडी समस्याओं का निदान सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रत्यक्ष तत्वावधान मे ही सम्भव है। सयुक्त राष्ट्रसघ को उपनिवेशवाद के उन्मूलन म भी उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई है। इन्डोनेशिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, अल्जीरिया आदि को स्वतन्त्र कराने म सघ के प्रयत्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। सघ की सरक्षण व्यवस्था ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा मे वृद्धि की है और विश्व के अनेक प्रदेशों के निवासियों मे स्वशासन की योग्यता विकसित करने मे सहायता पहुँचाई है। कुछ वर्ष पूर्व सघ की न्यास पद्धति के अन्तर्गत 11 देश थे जो अब स्वतन्त्र राज्यों के रूप म विश्व के मानचित्र पर प्रतिष्ठित हैं। सघ अफ्रीका म बचे हुए साम्राज्यवादी उपनिवेशों की स्वतन्त्रता के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा है।

गैर राजनैतिक कार्यों म सघ की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण और सफल रही है। इसकी विभिन्न सस्थाओं से विश्व के विभिन्न राष्ट्रों और समाजों को भारी लाभ पहुँचा है।

अन्तिम विश्लेषण के रूप म यह कहना होगा कि सयुक्त राष्ट्रसघ की राजनीतिक और गैर राजनैतिक उपलब्धियों का पलडा इसकी असफलताओं की तुलना म बहुत अधिक भारी है। यदि महाशक्तियों द्वारा इस विश्व-सस्था को मुक्त हृदय से सहयोग दिया जाए, निषेधाधिकार का सयत और विवेक सम्मत प्रयोग किया जाए, सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों की सख्या बढाकर उसमे भारत जैसे महान् देश को स्थान दिया जाए, साम्राज्यवादी और पूँजीवादी देशों के एकाधिकार पर प्रभावी रोक लगाने की दिशा मे प्रयत्न किए जाएँ तो सयुक्त राष्ट्रसघ की उपयोगिता म चार चाँद लग जाएँगे।

सयुक्त राष्ट्रसघ का बदलता हुआ रूप आशा की नई किरणों को उजागर कर रहा है। इस विश्व-सस्था पर लगभग दो दशकों तक सयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा रहा पर अब इसकी मनमानी का अन्त हो रहा है। सोवियत और चीन एशिया तथा अफ्रीका के विकासशील देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मच पे

प्रभावशाली अभिनेता बनते जा रहे हैं। वह दिन समाप्त हो चला है जब अमेरिका और उसके पिछलग्गू राष्ट्र विश्व संस्था को अपनी 'बपौती' मानकर चलते थे।

न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(International Court of Justice)

यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का न्यायिक अंग है। इससे पहले राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत स्थाई न्यायालय की स्थापना सन् 1921 में की गई थी। नवीन न्यायालय अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा कई प्रकार से दोष मुक्त है। इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर तथा न्यायालय सम्बन्धी परिशिष्ट के आधार पर की गई है। इसका प्रथम अधिवेशन 3 अप्रेल, 1946 से 6 मई, 1946 तक चला। इसमें प्रशासनात्मक एवं संगठनात्मक मामलों पर विचार किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य-क्षेत्र सदस्य राज्यों के सभी विवादों तक व्याप्त है। संघ के गैर-सदस्य राज्यों को भी सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का पक्ष बनाया जा सकता है। केवल राज्य ही इस न्यायालय के विचारणीय पक्ष हो सकते हैं।

इस न्यायालय में कुल 15 न्यायाधीश होते हैं। इनका चुनाव सुरक्षा परिषद और महासभा द्वारा 9 वर्ष के लिए किया जाता है। अपना कार्यकाल समाप्त होने पर ये पुनः निर्वाचित किए जा सकते हैं। न्यायाधीशों का चुनाव करते समय उनकी राष्ट्रीयता पर विचार नहीं किया जाता। एक राज्य से दो न्यायाधीश नहीं लिए जा सकते। उम्मीदवार का उच्च नैतिक-चरित्र होना चाहिए। वह अपने देश के सर्वोच्च न्यायिक पद पर आसीन हो अथवा होने की योग्यता रखता हो। वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून में मान्यता प्राप्त योग्यता रखता हो। इसका नाम सदस्य राष्ट्रों द्वारा प्रस्तावित किया जाना चाहिए।

न्यायाधीश का चुनाव करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि न्याय व्यवस्था में संसार की सभी न्याय व्यवस्थाओं को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाए। न्यायालय में कार्य करते हुए न्यायाधीश किसी अन्य व्यवसाय में भाग नहीं ले सकते। वे प्रतिनिधि, परामर्शदाता या वकील के रूप में कार्य नहीं कर सकते। न्यायाधीश को केवल तभी पदच्युत किया जा सकता है जब वह सभी सदस्यों की सर्वसम्मति से आवश्यक शर्तों के भंग करने का दोषी पाया जाए।

न्यायाधीशों को अनेक विशेष अधिकार सौंपे जाते हैं। उनको राजनयिक स्वतन्त्रताएँ प्रदान की जाती हैं। न्यायालय के सम्मुख वादियों के प्रतिनिधि, परामर्शदाता और वकीलों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने की छूट दी जाती है। इसके लिए उन्हें आवश्यक कूटनीतिक रियायतें और राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ सौंपी जाती हैं।

न्यायालय के विधान के अनुसार इसमें 15 न्यायाधीशों के अतिरिक्त अस्थाई न्यायाधीश नियुक्त करने की भी व्यवस्था है। यदि न्यायालय में किसी राज्य का मामला विचारणीय है जिसका 15 न्यायाधीशों में प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह

अपना एक कानूनी विशेषज्ञ मामले की सुनवाई के दौरान अस्थाई न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करा सकता है। यह न्यायाधीश मामले की सुनवाई समाप्त होते ही पद से हट जाता है। इससे मामले के सम्बन्ध में कानूनी राय ली जाती है किन्तु निर्णय में उसका कोई हाथ नहीं रहता।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की गणपूर्ति 9 रखी गई है। जब तक इतने न्यायाधीश नहीं होते, न्यायालय की कार्यवाही प्रारम्भ नहीं की जा सकती।

न्यायालय में सभी निर्णय बहुमत से लिए जाते हैं। बहुमत न होने पर सभापति का निर्णायक मत मान्य होता है। न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती। विशेष परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर न्यायालय अपने निर्णयों पर पुनः विचार कर सकता।

न्यायालय की भाषा फ्रेंच तथा अंग्रेजी है। अन्य भाषाओं को भी प्रविकृत रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अपनी कार्यविधि और नियमावली स्वयं तैयार करता। न्यायालय का व्यय महासभा द्वारा तय किए गए अनुपात में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा उठाया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में न्याय के लिए उपस्थित होने वाले देशों को 3 श्रेणियों में विभाजित किया गया है—

(1) वे सभी राष्ट्र जो अन्तर्राष्ट्रीय सुविधाओं का प्रयोग करने की शक्ति स्वयं ही प्राप्त कर लेते हैं तथा जिन्होंने संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर कर दिए हैं। हस्ताक्षर होते ही यह मान लिया जाता है कि सम्बन्धित देश ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सम्बन्धी कानूनी व्यवस्था को स्वीकार कर लिया है।

(2) वे राष्ट्र जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सम्बन्धी कानून पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं किन्तु सुरक्षा परिषद् द्वारा निर्धारित शर्तों पर विवादों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में विचारार्थ उपस्थित किए जाने की बात स्वीकार कर ली है।

(3) वे राष्ट्र जिन्होंने संघ के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं परन्तु जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सम्बन्धी कानून पर हस्ताक्षर कर, न्यायालय की सुविधाओं का उपयोग करने के लिए उत्सुक हैं।

न्यायिक निर्णय की क्रियान्विति (Execution of Judicial Decision)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए संघ के चार्टर की धारा-94 में व्यवस्था की गई है। इसके अनुसार संघ का प्रत्येक सदस्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी मामले में विवादी होने पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के फैसले को मानेगा। यदि एक पक्ष न्यायालय के निर्णय को नहीं मानता तो दूसरा पक्ष सुरक्षा परिषद् का आश्रय ले सकता है। सुरक्षा परिषद् जैसा आवश्यक समझे वैसी सिफारिश अथवा कार्यवाही करेगी। न्यायालय के निर्णय यद्यपि सर्वसम्मति से लिए जाते हैं फिर भी प्रत्येक न्यायाधीश अपने पृथक् विचार निर्णय-पत्र के साथ नत्थी करा सकता है।

न्यायालय के निर्णय को क्रियान्वित कराने के लिए आवश्यक कार्यवाही तय करते समय सुरक्षा परिषद् के 9 सदस्यों की स्वीकृति आवश्यक है। इनमें से

5 स्थाई सदस्य भी होने चाहिए। क्रियान्विति के उपाय धारा-41 तथा 42 में लिखे गए हैं। प्रथम के अनुसार सुरक्षा परिषद् सैनिक बल प्रयोग को छोड़कर ऐसे उपायों का प्रयोग कर सकती है जिनमें आर्थिक सम्बन्ध, रेल, समुद्र, डाक, रेडियो, यातायात के साधन तथा राजनीतिक सम्बन्धों का विच्छेद शामिल है। यदि ये उपाय असफल हो जाएँ तो धारा-42 के अनुसार सुरक्षा परिषद् जल, थल और वायु सेना द्वारा ऐसी कार्यवाही कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

न्यायालय का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the Court)

जैसा कि रोजने ने लिखा है—क्षेत्राधिकार से हमारा तात्पर्य न्यायालय की उस शक्ति से है जिससे वह किसी वाद में, बन्धनकारी निर्णय देता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को यह शक्ति राज्यों की सहमति द्वारा प्राप्त होती है। राज्यों को अपने विवादों को न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करने को न तो संयुक्त राष्ट्र चार्टर और न ही तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय विधि का कोई नियम बाध्य करता है। डॉ. एस. के. कपूर ने ठीक ही लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सही अर्थ में विश्व न्यायालय है और विश्व के सभी राज्यों के लिए खुला हुआ है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि के अनुच्छेद 34 के अनुसार केवल राज्य ही अपनी समस्याएं इसके सम्मुख ला सकते हैं, अर्थात् व्यक्ति इस न्यायालय में अपनी समस्याओं के निवारण के लिए वाद नहीं ला सकते और राज्य भी कुछ सीमित परिस्थितियों में अपनी समस्याओं को इसके सम्मुख प्रस्तुत कर सकते हैं। राज्यों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अंग तथा विशिष्ट एजेन्सियाँ भी अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत प्रश्नों पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से सलाहकारी मत प्राप्त कर सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 96 के अनुसार महासभा तथा सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से किसी विधिक प्रश्न पर सलाहकारी मत के लिए कह सकती है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र के दूसरे अंग तथा विशिष्ट एजेन्सियाँ भी सलाहकारी मत प्राप्त कर सकते हैं यदि महासभा उन्हें ऐसे अधिकार प्रदान करती है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) ऐच्छिक क्षेत्राधिकार,

(ख) अनिवार्य क्षेत्राधिकार, एवं

(ग) परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार।

(क) ऐच्छिक क्षेत्राधिकार—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि (Statute) की धारा-36 के अनुसार न्यायालय उन सभी मामलों पर विचार कर सकता है जिनको सम्बन्धित राज्य न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करें।

(ख) अनिवार्य क्षेत्राधिकार—राज्य स्वयं घोषणा करके इन क्षेत्रों में न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार कर लेता है। ये हैं—सन्धि की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र से सम्बन्धित सभी मामले, किसी ऐसे तथ्य का

अस्तित्व जिसके सिद्ध होने पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य का उल्लंघन समझा जाए तथा किसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लंघन पर क्षतिपूर्ति का रूप और परिमाण। प्रो. ओपेनहेम ने तो न्यायालय के इस क्षेत्राधिकार को वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार (Optional Compulsory Jurisdiction) कहा है। यह वैकल्पिक इसलिए है क्योंकि यह उन्हीं राज्यों पर लागू होता है जो उपरोक्त घोषणा कर और लागू तभी होता है जब विवाद से सम्बन्धित अन्य राज्य भी इस प्रकार की घोषणा कर चुका हो। यह आवश्यक इसलिए है क्योंकि जो राज्य इस प्रकार की घोषणा कर देता है उससे सम्बन्धित विवाद किसी विशेष समझौते बिना भी न्यायालय के समक्ष लाए जा सकते हैं।

राज्य इस प्रकार की घोषणा करते समय कोई भी शर्त लगा सकता है। कभी कभी इस शर्त के कारण ये घोषणाएँ वास्तविक व्यवहार में निरर्थक बन जाती हैं। प्रो. ओपेनहेम का मत है कि सशर्त होते हुए भी वैकल्पिक धारा अनिवार्य न्यायिक निर्णय की सर्वाधिक व्यापक और महत्वपूर्ण व्यवस्था है। वैकल्पिक धारा के कारण अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने जो उत्तरदायित्व ग्रहण किए हैं उनसे उसकी कार्य कुशलता में एक महत्वपूर्ण स्रोत की वृद्धि हुई है।

(ग) परामर्शदाता क्षेत्राधिकार– अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा परामर्श देने का कार्य भी सम्पन्न किया जाता है। महासभा अथवा सुरक्षा परिषद् किसी भी कानूनी प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्श माँग सकती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के दूसरे अंग तथा विशेष अभिकरण भी उनके अधिकार क्षेत्र में उठने वाले कानूनी प्रश्नों पर न्यायालय का परामर्श प्राप्त कर सकते हैं। परामर्श के लिए न्यायालय के सम्मुख लिखित रूप में प्रार्थना की जाती है। इस प्रार्थना पत्र में सम्बन्धित प्रश्न का विवरण तथा वे सभी दस्तावेज होते हैं जो उस प्रश्न पर प्रकाश डाल सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परामर्श केवल परामर्श होता है और सिद्धान्त रूप में सुरक्षा परिषद्, महासभा या अन्य संस्था इसकी अवहेलना कर सकती है। पर व्यवहार में ऐसा करना सर्वथा कठिन रहा है। श्री स्टोन लिखते हैं— 'दोनों राज्य अपनी पोल खुलने से बचने के लिए विवाद के सम्मानपूर्ण निपटारे के लिए तैयार हो जाते हैं। न्यायालय के मत का नैतिक बल भी बहुत अधिक होता है और यदि कोई राज्य अवहेलना करे तो उसे भी विश्व जनमत के सामने झुकना पड़ता है।' इस प्रकार न्यायालय का परामर्श चाहे कानूनी रूप से अनिवार्य नहीं है, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अनेक महत्वपूर्ण विवादों के समाधान में सहयोग दिया है। उदाहरण के लिए, मोरक्को के मामले, एंग्लो-ईरानियन मामला, भारतीय प्रदेश में से गुजरने के मार्ग सम्बन्धी विवाद, कोरफू चैनल विवाद, एंग्लो-नॉर्वेजियन मत्स्याखेट विवाद आदि का उल्लेख किया जा सकता है। न्यायालय के कार्य संचालन में विभिन्न दलों अथवा गुटों ने बाधा डाली है। राज्यों की उपेक्षा तथा पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण के कारण [illegible] उसकी [illegible]

शक्तिशाली संस्था नहीं बन सकी है। भारत के भूतपूर्व विदेश मन्त्री एम सी छागला के कथनानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्रसंघ का महत्त्वपूर्ण अंग है। यद्यपि यह पूर्ण नहीं है तथा इसके पास वह सत्ता और अधिकार भी नहीं हैं जो इसे प्राप्त होने चाहिए। फिर भी यह एक महान् विचार का मूर्तरूप है—एकमात्र यही विचार राष्ट्रों में शान्ति और सद्भाव लाने वाला है।" इस विचार के अनुसार जैसे व्यक्ति आपस मे विवाद होने पर एक दूसरे का गला काटने को नहीं दौड़ते वैसे ही राष्ट्रों को भी आपस मे मतभेद होने पर शस्त्रों का सहारा नहीं लेना चाहिए, बल्कि एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय के निर्णयों को स्वीकार करना चाहिए।

न्यायालय के सम्मुख आए कुछ महत्त्वपूर्ण विवाद
(Some Important Cases before International Court of Justice)

1 कोरफू चैनल विवाद
(Corfu Channel Case, 1946)

22 अक्तूबर, 1946 को कुछ ब्रिटिश जंगी जहाज अल्बानिया के प्रादेशिक जल मे सुरंगों से टकराने के कारण क्षतिग्रस्त हो गए। ग्रेट-ब्रिटेन ने नवम्बर, 12 और 13 को अल्बानिया के अधिकारियों की सहमति के बिना खाड़ी की सफाई कराई तो वहाँ लगर डाली हुई सुरंगों की पंक्ति को पाया। ब्रिटेन ने सुरंगों की उपस्थिति के लिए अल्बानिया को दोषी ठहराया। अल्बानिया के अनुसार ब्रिटिश बेड़े द्वारा उसके प्रदेश की सुरंगें साफ करना उसकी प्रभुसत्ता का पूर्वायोजित अतिक्रमण था। उसने इसका तीव्र विरोध किया। ब्रिटेन ने इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद् के सम्मुख रखा और अल्बानिया को अक्तूबर, 1946 की दुर्घटना के लिए उत्तरदायी बताया। सोवियत संघ ने अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करते हुए इस प्रस्ताव को पास नहीं होने दिया। ब्रिटेन के प्रस्ताव पर यह मामला 25 मार्च, 1948 को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख रखा गया।

न्यायालय को दो प्रश्नों पर विचार करना था—

(A) क्या अल्बानिया को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार 22 अक्तूबर, 1946 के विस्फोटों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है? यदि, हाँ तो क्या क्षतिपूर्ति करना उसका कर्त्तव्य है?

(B) क्या ब्रिटिश बेड़े के कार्यों द्वारा अल्बानिया गणराज्य की प्रभुसत्ता का उल्लंघन हुआ है? क्या अल्बानिया को सन्तुष्ट करना ग्रेट-ब्रिटेन का कर्त्तव्य है?

प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध में न्यायालय का विचार था कि अल्बानिया अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार 22 अक्तूबर की दुर्घटनाओं के लिए उत्तरदायी है और उसका यह कर्त्तव्य है कि ग्रेट-ब्रिटेन की क्षतिपूर्ति करे। न्यायालय का तर्क था कि—(i) अल्बानिया को सुरंगों का ज्ञान पहले से ही अवश्य होगा किन्तु उसने ब्रिटिश जहाज़ों को पूर्व-चेतावनी देने में लापरवाही की, (ii) अल्बानिया ने इस दुर्घटना के कारणों की जाँच करने और दोषी व्यक्तियों को दण्ड देने का कोई प्रयास

नहीं किया। (iii) दुर्घटना बहकर आने वाली सुरंगो से नहीं हुई है। न्यायालय ने इन तर्कों के आधार पर अल्बानिया को पांच के विरुद्ध ग्यारह के बहुमत से दोषी ठहराया और उसे क्षतिपूर्ति के रूप मे ब्रिटिश सरकार को 843947 पौण्ड देने के लिए कहा गया।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध मे न्यायालय का मत था कि 22 अक्तूबर को अल्बानिया के प्रादेशिक जल मे प्रविष्ट होकर ब्रिटिश जल पोतो ने अल्बानिया की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण नहीं किया है क्योंकि (i) शान्तिकाल मे प्रत्येक राज्य तटवर्ती राज्य की पूर्व स्वीकृति के बिना जलडमरूमध्य या जल-प्रणाली मे से अपने युद्धपोत निकालने का अधिकार रखता है। (ii) उत्तरी कोरफू जल-प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय जल मार्गों की श्रेणी मे आती है। शान्तिकाल मे कोई तटवर्ती राज्य किसी अन्य राज्य के जहाजो के निर्दोष गमन पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता। यह प्रश्न न्यायालय ने दो के विरुद्ध चौदह मतों के बहुमत से तय किया।

ब्रिटेन बेड़े द्वारा सुरंगें साफ करने के कार्य को न्यायालय ने सर्वसम्मति से अल्बानिया की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण माना। तर्क यह था कि—(i) अल्बानिया से पूर्व-स्वीकृति नहीं ली गई थी, (ii) यह व्यवहार बल प्रयोग की नीति का ही एक अंग है, (iii) प्रादेशिक प्रभुसत्ता का सम्मान किया जाना चाहिए। न्यायालय ने बताया कि यद्यपि तत्कालीन परिस्थितियों में और अल्बानिया की उदासीनता को देखते हुए ग्रेट-ब्रिटेन का व्यवहार उपयुक्त माना जा सकता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रतिष्ठा इसी मे है कि न्यायालय ब्रिटिश नौ-सेना के कार्य को अल्बानिया की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण माने।

2. ह्या डी-ला टोरे का विवाद

(Case of Haya De-La Torre, 1951)

मि टोरे पेरूविया का नागरिक तथा राजनीतिक नेता था। उस पर आरोप था कि उसने सैनिक बगावत को भड़काया है। पेरूविया की सरकार ने जब उसे पकड़ना चाहा तो उसने लीमा स्थित कोलम्बिया राज्य के दूतावास में शरण ले ली। पेरु सरकार ने अपने अपराधी की माँग की और कोलम्बिया सरकार द्वारा इसे स्वीकार न करने पर मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले गया।

न्यायालय का मत था कि टोरे को गलत तरीके से आश्रय प्रदान किया गया है। इसलिए पेरू इसे समाप्त करने की माँग कर सकता है दूसरी ओर कोलम्बिया शरणार्थी का प्रत्यर्पण करने के लिए बाध्य नहीं है क्योंकि अमेरिकी राज्यों के हवाना अभिसमय मे राजनीतिक अपराधियों के सम्बन्ध मे यह व्यवस्था की गई कि उनका प्रत्यर्पण किया जाना जरूरी है।

3 मोरक्को मे अमेरिकी राष्ट्रिकों के अधिकार

(Rights of Nationals of U S A in Morcco)

फ्रांसीसी सरकार ने 30 दिसम्बर, 1948 के अपने आदेश द्वारा अमेरिकी नागरिकों को पुराने कानून के तहत प्राप्त अधिकारों तथा सुविधाओं से वंचित कर

दिया । 28 अक्तूबर, 1950 को फ्रांस सरकार ने न्यायालय से यह घोषणा करनी चाही कि वहाँ स्थित अमेरिकी नागरिकों पर मोरक्को का कानून लागू होगा और उन्हें किसी प्रकार का विशेष व्यवहार पाने का अधिकार नहीं है । अमेरिका ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन माना और इस प्रश्न को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया । न्यायालय का मत था कि इस प्रकार का व्यवहार भेदभावपूर्ण है । मुद्रा नियंत्रण फ्रांसीसी माल पर नहीं वरन् अमेरिकी माल पर लगाया गया है ।

4 संघ के सेवाकाल में क्षतिपूर्ति

(Reparation for Injuries Suffered in the Service of U N O)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के मध्यस्थ मि काउंट बर्नडाट को सन् 1948 में पेलेस्टाइन में मार डाला गया । संघ ने इस विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से यह सम्मति माँगी कि क्या संघ की सेवा करते हुए मारे गए व्यक्ति की हत्या के लिए उत्तरदायी राज्य पर हर्जाने का अन्तर्राष्ट्रीय दावा किया जा सकता है ? न्यायालय ने सर्व-सम्मति से यह निर्णय लिया कि संघ अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखता है । अतः उसे क्षति पहुँचाने वाले प्रत्येक राज्य के विरुद्ध वह मुकदमा चलाने और क्षति-पूर्ति वसूल करने का अधिकार है चाहे वह राज्य संघ का सदस्य हो अथवा न हो ।

5 महासभा का अधिकार

(The Right of General Assembly)

सन् 1946–47 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सहायता पाने के लिए अनेक राज्यों द्वारा आवेदन-पत्र दिए गए । सोवियत संघ ने अपना निषेधाधिकार प्रयुक्त करते हुए इनको रद्द कर दिया । ऐसी स्थिति में महासभा ने न्यायालय से यह परामर्श माँगा कि यदि सुरक्षा परिषद् किसी राज्य की सदस्यता के आवेदन-पत्र को अस्वीकार कर दे तो क्या वह स्वयं के निर्णय से उसे संघ का सदस्य बना सकती है ? न्यायालय की राय यह थी कि सुरक्षा परिषद् की सिफारिश न होने पर महासभा को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने निर्णय से नए सदस्य बना सके ।

6 आँग्ल ईरानी तेल कम्पनी का मामला

(Anglo-Iranian Oil Company Case)

आँग्ल तथा ईरानी के प्रशियन तेल उद्योग के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में जो विवाद उत्पन्न हुआ उसे ग्रेट-ब्रिटेन ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया । उसका कहना था कि फारस में उसके अधिकारों की रक्षा के लिए तथ्यों के आधार पर निर्णय होने तक अन्तःकालीन उपायों का अवलम्बन किया जाए । अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने ब्रिटिश सरकार की प्रार्थना का समर्थन किया । न्यायालय के मतानुसार दोनों सरकार तेल उद्योग को रोकने वाले कार्य न करें । तेल उद्योग को निर्बाध गति से संचालित करने के लिए एक निरीक्षक-मण्डल बनाने का सुझाव दिया गया जिसमें प्रत्येक सरकार के दो सदस्य रखे जाएँ । फारस ने निर्णय को अस्वीकार कर दिया । उसने कहा कि यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अधिकार क्षेत्र के बाहर था । बाद में यह विवाद सुरक्षा परिषद् के सामने लाया गया ।

7 भारतीय प्रदेश में से गुजरने का पुर्तगाल का अधिकार
(Portugals Right of Access to Certain Territories of India)

भारत और पुर्तगाल के बीच उत्पन्न एक विवाद में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने 12 अप्रेल, 1960 को अपना निर्णय दिया। यह विवाद सन् 1945 का है। 21 तथा 22 जुलाई, 1954 को गुजरात में दादरा और नागरहवेली नामक दो पुर्तगाल बस्तियों में पुर्तगाल के विरुद्ध विद्रोह हो गया। इन बस्तियों के चारो ओर भारतीय प्रदेश है। यदि पुर्तगाली बस्ती–दमन–से यहाँ कोई आए तो उसे भारतीय प्रदेश में होकर गुजरना पड़ता है। पुर्तगाल ने अपनी बस्तियों में विद्रोह को दबाने के लिए जब सेनाएँ भेजनी चाहीं तो भारत ने उनको अपने प्रदेश में होकर गुजरने की अनुमति नहीं दी। पुर्तगाल का तर्क था कि सन् 1779 की सन्धि के अनुसार इन बस्तियों पर उसकी सम्प्रभुता है। स्थानीय परम्परा के अनुसार वह इस प्रदेश में होकर अपने व्यक्तियों और समस्त सेनाओं को ले जाने का अधिकार रखता है। पुर्तगाल इस विवाद को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख ले गया और प्रार्थना की कि उसके मार्गाधिकार को स्वीकार किया जाए और भारत को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघनकर्त्ता घोषित किया जाए।

इस विवाद में न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि दूसरे राज्य में होकर गुजरने का अधिकार केवल निजी व्यक्तियों को ही है, सेनाओं को नहीं है। समस्त सेनाएँ केवल तभी गुजर सकती हैं जबकि सम्प्रभु से स्वीकृति ले ली जाए। इन बस्तियों में पुर्तगाली शासन का अन्त हो जाने के कारण इनके निकटवर्ती भारतीय प्रदेश में उत्तेजना थी। ऐसी स्थिति में भारत का यह अधिकार है कि पुर्तगाली सेनाओं को वह अपने प्रदेश में होकर न गुजरने दे। पुर्तगाल भारत की अनुमति के बिना उसके प्रदेश में होकर अपनी सशस्त्र सेनाएँ, पुलिस, हथियार, गोला-बारूद आदि ले जाने का कोई अधिकार नहीं रखता।

8 ऐंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह का मामला
(Anglo Norwegian Fisheries Case)

सन् 1935 में नार्वे सरकार ने एक सरकारी आदेश प्रसारित किया जिसके द्वारा एक मत्स्यग्रहण क्षेत्र बनाया गया। इसमें केवल नार्वे निवासियों को ही मछली पकड़ने का अधिकार दिया गया था तथा दूसरे देशों का इस अधिकार से वंचित कर दिया गया। ग्रेट-ब्रिटेन ने इस आदेश को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध बताया और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया। न्यायालय ने बहुमत से यह निर्णय दिया कि नार्वे सरकार के इस आदेश से अन्तर्राष्ट्रीय विधि के किसी नियम का विरोध नहीं होता।

9. प्रीह् विहीर का विवाद
(The Preah Vihear Case)

प्रीह् विहीर नामक एक मन्दिर पर स्वामित्व एवं प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में कम्बोडिया और थाइलैण्ड के बीच विवाद था। 6 अक्टूबर, 1959 को कम्बोडिया

इसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले गया। न्यायालय ने 15 जून, 1962 को अपना निर्णय दिया।

प्रीह विहीर का मन्दिर अत्यन्त प्राचीन है और कम्बोडिया तथा थाइलैण्ड की सीमा पर स्थित है। इतिहास और पुरातत्व की दृष्टि से इसका अत्यन्त महत्व है। सन् 1904 और 1907 की सन्धियों में दोनों सीमावर्ती देशों ने सन्धियाँ की। तदनुसार कम्बोडिया को इस मन्दिर पर आधिपत्य सौंपा गया। बाद में थाइलैण्ड की सरकार मन्दिर के प्रदेश में अपनी सेना, रक्षक आदि भेजती रही। इसके विरोध में कम्बोडिया ने अनेक बार अपनी आवाज उठाई। थाइलैण्ड की ओर से इसका कोई जवाब नहीं मिल सका। 1958 में दोनों देशों का बैंकाक में सम्मेलन बुलाया गया किन्तु थाईलैण्ड के प्रतिनिधि ने प्रीह विहीर के मामले में विचार करने के लिए मना कर दिया और इसलिए सम्मेलन भंग हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना यह निर्णय दिया कि प्रीह विहीर का मन्दिर कम्बोडिया राज्य की सीमा के अन्तर्गत है। थाईलैण्ड को वहाँ से अपनी सेनाएँ हटा लेनी चाहिएँ। यह भी कहा गया कि यदि थाइलैण्ड ने मन्दिर से पुरानी मूर्तियाँ हटाली हों तो उन्हें वहां वापिस लौटा दे। न्यायालय का मत था कि यद्यपि पहले की गई सन्धियों के कारण यह प्रदेश कम्बोडिया का सिद्ध होता है, किन्तु यदि बाद की घटनाओं के प्रकाश में देखा जाए तो भी थाइलैण्ड को अपने आक्रमण के कारण इस प्रदेश पर दावा करने का अधिकार नहीं है। कम्बोडिया द्वारा समय-समय पर थाइलैण्ड के सामने विभिन्न पत्र और नक्शे रखे गए, किन्तु उसने इनका कोई जवाब नहीं दिया। इससे सिद्ध होता है कि उसने इस सीमा को स्वीकार कर लिया है। थाइलैण्ड ने 1904 की सन्धि के लाभों का एक लम्बे समय तक उपयोग किया है। ऐसी स्थिति में वह सन्धि को अस्वीकार करने का कोई अधिकार नहीं रखता।

थाइलैण्ड ने 3 जुलाई, 1962 की अपनी एक सरकारी घोषणा में न्यायालय के निर्णय को स्वीकार कर लिया, किन्तु मन्दिर के चारों ओर की भूमि में अपनी सेनाएँ रखने का अधिकार सुरक्षित रखने की बात कही। इस निर्णय में न्यायालय ने पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं की वैधता पर विस्तार के साथ विचार किया। साथ ही इसके मौलिक सिद्धान्तों पर भी विचार किया गया।

10. फ्रान्स द्वारा आणविक परीक्षण से सम्बन्धित विवाद

(Case relating to Nuclear Tests by France, June 22, 1973)

यह वाद आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में दायर किया था तथा न्यायालय से प्रार्थना की थी कि वह फ्रान्स को आदेश दे कि वह आणविक परीक्षण न करे क्योंकि इससे आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड में रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इस वाद में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था कि आणविक परीक्षण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों के प्रतिकूल है अथवा नहीं। न्यायालय ने अपने निर्णय में फ्रान्स को आणविक परीक्षण रोकने को कहा। न्यायालय ने फ्रान्स के इस तर्क को अस्वीकार कर दिया कि आणविक परीक्षण उसकी सुरक्षा

हेतु है तथा न्यायालय को उस पर क्षेत्राधिकार नहीं है। न्यायालय के अनुसार, किसी राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह अपनी सुरक्षा के लिए ऐसे कार्य करे जो दूसरे राज्यों पर बुरा प्रभाव डाले। फ्रान्स ने न्यायालय के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया। परन्तु जहाँ तक विधिक स्थिति का प्रश्न है, इस निर्णय से यह स्पष्ट हो गया कि यदि आणविक परीक्षण का प्रभाव दूसरे राज्यों पर पड़ता है तो यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों के प्रतिकूल है। न्यायालय द्वारा यह अन्तरिक अनुतोष था। तत्पश्चात् फ्रान्स द्वारा न्यायालय को आश्वासन देने पर यह वाद न्यायालय की वादों की लिस्ट से हटा दिया गया।[1]

मन्त्रणा परामर्श के मामले

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सलाहकारी मतों ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। निम्नलिखित सलाहकारी मत इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं—

1 संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता के लिए किसी राज्य का प्रवेश (I C J Reports 1948 p. 57)—1946 तथा 1947 के बीच में बहुत से राज्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता के प्रवेश करने से अस्वीकार किया गया। विशेषतः इस कारण से कि सोवियत रूस सुरक्षा-परिषद् में विशेष निषेधाधिकार का उपयोग किया पूर्वीय यूरोप के पूर्व शत्रु राज्यों के सम्बन्ध में सोवियत रूस ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि वह अपने विशेष निषेधाधिकार का उपयोग नहीं करेगा, यदि परिषद् के अन्य सदस्य उन राज्यों के प्रार्थना पत्रों को स्वीकृत कर लें जिन्हें सोवियत सरकार का समर्थन प्राप्त हो। नवम्बर सन् 1947 को सामान्य सभा ने सुरक्षा-परिषद् को यह प्रश्न निर्दिष्ट किया कि क्या संयुक्त राष्ट्रसंघ का कोई सदस्य जिसे किसी राज्य को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता में प्रवेश करने के लिए मत देने को कहा जाए, प्रवेश के लिए अपनी सहमति इस शर्त पर आश्रित कर सकता है या नहीं कि अन्य राज्य भी संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता में प्रविष्ट किए जाएँ। न्यायालय ने छः मतों के विरुद्ध नौ मतों से इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया।[2]

2 किसी राज्य को संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश करने के लिए साधारण सभा की क्षमता (I C J Reports 1950 pp 4–34)—नवम्बर 22, सन् 1949 को साधारण सभा ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से यह कहा गया कि वह अपनी परामर्शदात्री सम्मति इस प्रश्न पर दे कि क्या साधारण सभा अपने ही निर्णय से किसी राज्य को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता में उस दशा में प्रवेश कर सकती है जबकि सुरक्षा-परिषद् ऐसी संस्तुति न करे। न्यायालय ने दो मतों के विरुद्ध बारह मतों से इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया।[3]

1 एम. के कपूर : वही, पृष्ठ 367.
2 एस पी स्वरन : वही, पृष्ठ 345.
3 वही, पृष्ठ 345

3 दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति (International Status of South-West Africa, 1950)—इस सलाहकारी मत में न्यायालय ने अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की उत्तराधिकार सम्बन्धी विधि को विकसित किया तथा निर्णय दिया कि संयुक्त राष्ट्र न्यास प्रणाली ने मैण्डेट प्रणाली के अधिकारों को उत्तराधिकार में प्राप्त किया।[1]

4 सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव के बावजूद दक्षिण अफ्रीका का दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका में उपस्थिति के विधिक परिणाम (Advisory Opin on Concerning the legal consequence of the Continued Presence of South Africa in Nembia i e South West Africa not withstanding Security Council Resolution 276; 1970)—इस सलाहकारी मत में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने निर्णय दिया कि दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका में दक्षिणी अफ्रीका की निरन्तर उपस्थिति अवैध है तथा उसे वहाँ से तुरन्त हटाना चाहिए। न्यायालय ने यह भी मत दिया कि संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य राज्यों का यह उत्तरदायित्व है कि वह दक्षिणी अफ्रीका की उक्त अवैधता को स्वीकार करें तथा दक्षिणी अफ्रीका के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर दे। इसी प्रकार गैर-सदस्यों का कर्त्तव्य है कि वह संयुक्त राष्ट्र द्वारा की गई कार्यवाही में सहायता प्रदान करे।[2]

5 पश्चिमी सहारा वाद में सलाहकारी मत (Advisory Opinion of the International Court of Justice in the Western Sahara Case)—इस वाद में न्यायालय को यह निर्णय देना था कि क्या स्पेन द्वारा उपनिवेश बनाए जाने के पूर्व पश्चिमी सहारा किसी राज्य का क्षेत्र था अथवा नहीं। न्यायालय ने अपना मत देने के दौरान यह स्पष्ट किया कि सामान्य सभा के प्रस्ताव 1514 (XV) दिनांक 14 दिसम्बर, 1960 तथा अन्य प्रस्तावों के परिणाम स्वरूप उपनिवेशवाद के सन्दर्भ में आत्म निर्णय का सिद्धान्त बन्धनकारी हो गया है। उपनिवेश बनने के पूर्व कुछ कबीलों के विधिक सम्बन्ध मोरक्को तथा मारीटानिया राज्यों से थे, परन्तु इन राज्यों की प्रभुत्व सम्पन्नता नहीं थी। पश्चिमी सहारा के लोगों को आत्म निर्णय का अधिकार है। वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा द्वारा अपना राजनीतिक भविष्य निश्चित कर सकते हैं।[3]

इन मामलों के अतिरिक्त जो प्रमुख मामले इस न्यायालय के समक्ष निर्णय हेतु आए, उनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं। ऐंग्लो-नार्वे मत्स्यालय का मामला। संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिकों के मोरक्को सम्बन्धित अधिकार, एम्बेटेनिया का मामला (Ambatielo's Case), नाटेबोहम का मामला (Nottebohm Case) लीचटेन टेलन बनाम ग्वाटेमाला (Leichtens teln V. Guatemala), मिनक्युरस ऐक्रेओस का मामला (Minquiers and Ecrehos Case), धन सम्बन्धित स्वर्ण-अभियोग

1 एस के कपूर : वही पृष्ठ, 368
2 वही, पृष्ठ 368-69
3 एस. के कपूर . वही, पृ 369.

(Monetary Gold Case), फ्रांस में दिए गए नार्वे के ऋण का मामला (Case of the Norwegian Loane-issued in France), 1902 के अभिसमय को लागू करने से सम्बन्धित मामला जो कि शिशुओं की संरक्षता के नियन्त्रण के सम्बन्ध में था (Case Concerning the application of the Convention of 1902 Governing the Guardianship of Infants), हवाई घटना का मामला (*Aerial Incident Case, Israel V. Bulgaria*) आदि।

मूल्यांकन

स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में अपने निर्णयों तथा सलाहकारी मतों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। न्यायाधीश लाटरपैट ने लिखा है कि दीर्घकाल में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास करना उनके सफलतापूर्वक कार्य सम्पादन और क्षेत्राधिकार के लिए महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, तथा इसमें सन्देह नहीं कि इस महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने की है। यह कम बात नहीं है कि प्रतिकूल परिस्थितियों और विभिन्न सीमाओं के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना काम बड़ी कुशलता से किया है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को एक ऐसे विश्व समाज में काम करना पड़ रहा है जो आज भी इसे महत्त्वपूर्ण मामले सौंपने को तैयार नहीं है अथवा वह कार्य भी इसे देने को तैयार नहीं है जो चार्टर में इसके लिए निर्देशित है। न्यायालय को अधिक कार्यक्षम और प्रभावी बनाने के लिए इस स्थिति में परिवर्तन लाना होगा। कुछ विधि-शास्त्रियों का मत है कि न्यायालय की संविधि में संशोधन करके इसे सुधारा जा सकता है। न्यायि न्यायाधीश जैसफ का यह मत उपयुक्त प्रतीत होता है कि दोष संविधि का नहीं है वरन् यह है कि राज्य न्यायालय का अधिक उपयोग करने के प्रति उदासीन है। जो भी हो, रोजने के इस अभिमत से असहमत होना कठिन है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ही है जिसने संयुक्त राष्ट्र के किसी भी अन्य अंग से अधिक आज के अन्तर्राष्ट्रीय कानून में नयी गतिशीलता भर दी है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भारत के न्यायाधीश डॉ नगेन्द्रसिंह ने भी कहा था कि मनुष्यता तब तक सदैव सही रास्ते पर रहेगी जब तक वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और संयुक्त राष्ट्रसंघ को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में लोक-व्यवस्था के हेतु सुदृढ़ करती रहेगी।

18 अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान : मैत्रीपूर्ण और बाध्यकारी

(Settlement of International Disputes : Amicable and Compulsive)

संघ का मूल उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखना है। चार्टर के अन्तर्गत यह दायित्व सुरक्षा-परिषद् को सौंपा गया है और विशेष परिस्थितियों में महासभा भी इस कार्य में प्रभावपूर्ण योगदान कर सकती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य, चार्टर की धारा 2 के अनुसार, इस बात के लिए वचनबद्ध हैं कि वे 'वर्तमान चार्टर के अनुसार सुरक्षा-परिषद् के सभी निर्णयों को स्वीकार करेंगे और उनका पालन करेंगे। चार्टर के अध्याय 6 और 7 में उन प्रक्रियाओं का उल्लेख है जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के प्रयास किए जाएँगे।

चार्टर की वर्तमान व्यवस्था के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित रखने के लिए मुख्यतः दो प्रक्रियाएं उपयोग में लाई जाती हैं—

1. शान्तिपूर्ण अथवा मैत्रीपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएँ,
2. दमनकारी अथवा बाध्यकारी निर्णयों की प्रक्रियाएं।

दमनकारी अथवा प्रतिरोधात्मक कार्यवाही में सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार के प्रतिबन्ध व अनुशास्तियाँ सम्मिलित हैं। इस कार्यवाही के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्रसंघीय शान्ति सेनाओं का प्रभावशाली उपयोग सम्भव है।

शान्तिपूर्ण अथवा मैत्रीपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएं
(Procedures of Pacific or Amicable Settlement)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में अनुच्छेद 33 से 38 तक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाओं का उल्लेख है। अनुच्छेद 33 में कहा गया है कि यदि किसी विवाद से विश्व-शान्ति और सुरक्षा को खतरा हो और सम्बन्धित पक्ष अपना विवाद स्वयं निपटाने में असमर्थ रहें तो सुरक्षा परिषद् विवादी पक्ष से वार्ता, जाँच, मध्यस्थता, सौमनस्य या सराघना पंच निर्णय, न्यायिक समझौतों,

प्रादेशिक संस्थाओं या व्यवस्थाओं अथवा अन्य स्वैच्छिक शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा विवादों को निपटाने के लिए कह सकती है।

विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए अनुच्छेद 33 में जो विभिन्न उपाय सुझाए गए हैं वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में सभी *विवादों की प्रकृति समान नहीं हो सकती और न ही किसी एक उपाय द्वारा सभी* विवादों का समाधान सम्भव है। प्राय सभी विवाद एक दूसरे से न्यूनाधिक भिन्न होते हैं। अपवाद स्वरूप ही किन्हीं दो विवादों में समानता पायी जा सकती है। अत यह सर्वथा उपयुक्त है कि प्रत्येक विवाद का आवश्यकतानुसार एक, दो या अधिक उपायों द्वारा समाधान किया जाए।

विगत वर्षों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत विवादों के तीन मुख्य रूप रहे हैं—

(क) तथ्यमूलक विवाद (Issues of Fact)—इनमें विवादी पक्ष प्राय *एक दूसरे पर अनुचित कार्यवाही करने का दोषारोपण करते हैं। सन् 1960 में* रूस और अमेरिका के यू बी. 47 विमान को मार गिराना तथ्यमूलक विवाद था।

(ख) न्याय अथवा कानून सम्बन्धी विवाद (Issues of Law)—इन विवादों में वैधानिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रश्न निहित होते हैं। आइसलैण्ड और ब्रिटेन का विवाद न्याय सम्बन्धी विवाद का उदाहरण है।

(ग) नीति सम्बन्धी विवाद (Issues of Policy)—इस प्रकार के विवाद वे होते हैं जिनमें विवादी पक्षों की नीतियों में टकराहट होती है। बर्लिन की स्थिति सम्बन्धी समस्या एक नीति सम्बन्धी विवाद था जिसमें सोवियत संघ या मित्र-राष्ट्रों की नीतियों में टकराहट थी।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के विवादों में नीति सम्बन्धी विवाद प्राय सबसे जटिल होते हैं और लम्बे चलते हैं तथा शीतयुद्ध को सबसे अधिक जीवित रखते हैं। इन विवादों में सैद्धान्तिक संघर्ष भी अन्तर्निहित हो सकते हैं। कभी-कभी ऐसे जटिल *विवाद भी उपस्थित हो जाते हैं जिनमें तथ्यमूलक, न्याय-विषयक और नीति सम्बन्धी* तीनों प्रकार के प्रश्न उलझे होते हैं। प्लानो एवं रिग्ज (Planno & Riggs) ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत होने वाले विवादों को इन पाँच भागों में विभक्त किया है[1]—(1) क्षेत्रीय एवं सीमा विवाद (Territorial and Boundary Questions), (2) शीत युद्ध विवाद (Cold War Questions), (3) स्वाधीनता विवाद (Independence Questions) (4) घरेलू विवाद (Domestic Questions), और (5) हस्तक्षेप सम्बन्धी विवाद (Intervention Questions)।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और संयुक्त राष्ट्र संघ के विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान की दिशा में जो विभिन्न उपाय काम में लाए जाते हैं, उन पर कुछ विस्तार से विचार आवश्यक है।

1 *Plano and Riggs : op cit , p 209*

(1) वार्ता (Negotiation)

यह कूटनीतिक साधन है। मैव्रोमैटिस पैलेस्टाइन कनसेशन सम्बन्धी विवाद के प्रसंग में न्यायाधीश मूर ने कहा था, 'अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ में वार्ता एक वैधानिक, व्यवस्थित तथा प्रशासनिक प्रक्रिया है जिसकी सहायता से राज्य-सरकारें अपनी मर्यादित शक्तियों के प्रयोग द्वारा आपस में अपने सम्बन्धों का संचालन करती हैं और मतभेदों पर विचार-विमर्श कर उनका व्यवस्थापन एवं समाधान करती हैं।" विवादी पक्षों के बीच, विवाद के समाधानार्थ वार्ता या तो शीर्षस्थ स्तर पर सीधे राज्याध्यक्षों के बीच होती है अथवा उनके द्वारा नियुक्त या प्रमाणित अभिकर्त्ताओं द्वारा। विवाद के समाधान की दृष्टि से दो पक्षों के बीच होने वाले पत्र-व्यवहार को भी वार्ता का ही अंग माना जाता है। इस प्रक्रिया का आधार कोई विशेष कानूनी उत्तरदायित्व न होकर व्यावहारिक सुविधा होती है। राज्य सद्भावना से कार्य करते हैं। 19वीं शताब्दी के युद्ध इतने जोखिम-पूर्ण बन चुके थे कि प्रत्येक राज्य विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए भरसक प्रयास करता था। अपवादस्वरूप कुछ मामलों में, जहाँ राज्यों की सैनिक शक्ति में भारी असमानता होती थी, समझौता-वार्ता टूट जाती थी।

भारत और पाकिस्तान के बीच 'अल्पसंख्यकों की समस्या' और 'नहरी-पानी विवाद' को 'वार्ता' द्वारा ही सुलझाया गया था। नहरी-पानी विवाद में भारत पाकिस्तान से वार्ता के लिए तैयार हो गया था और दोनों राष्ट्रों की सहमति से यह विवाद मध्यस्थता के लिए विश्व बैंक को सौंप दिया गया था जिसके प्रयत्नों से 19 सितम्बर, 1960 को भारत-पाक में सिन्ध बेसिन के पानी को दोनों राष्ट्रों में समान बँटवारे के लिए 'नहरी पानी समझौता' सम्पन्न हुआ था। इस समझौते द्वारा यह निश्चय किया गया कि 10 वर्ष की आन्तरिक अवधि के बाद (जो पाकिस्तान की प्रार्थना पर 3 वर्ष के लिए स्वीकृत की जा सकेगी) तीनों पूर्वी नदियों का पानी भारत के अधिकार में और तीनों पश्चिमी नदियों का पानी पाकिस्तान के अधिकार में रहेगा। केवल इनकी सीमाओं का पानी उत्तर की ओर के जम्मू और कश्मीर प्रान्त में प्रयोग किया जाएगा। यह तय हुआ कि 10 वर्ष तक भारत पूर्वी नदियों (सतलज, रावी और व्यास) से पाकिस्तान को प्रत्येक वर्ष घटती हुई मात्रा में पानी देगा और इनसे संयुक्त नहरों के निर्माण के लिए पाकिस्तान को आवश्यक मात्रा में धन भी दिया जाएगा। यदि पाकिस्तान भारत से पानी देने वाली अवधि में 3 वर्ष के लिए प्रार्थना करेगा तो प्रार्थना स्वीकृत होने पर उसी अनुपात में भारत द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली धनराशि में कटौती कर दी जाएगी। भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों की दिशा में नहरी पानी समझौता भारत की ओर से एक अत्यन्त आशापूर्ण कदम था, लेकिन पाकिस्तान ने भारत की इस उदारता का कोई आदर नहीं किया और उसके बाद के आक्रामक इतिहास ने श्री नेहरू की इस आशा को झुठला दिया कि इस समझौते के बाद से भारत-पाक सम्बन्धों का एक नया और सुखपूर्ण अध्याय प्रारम्भ होगा।

वास्तव में 'वार्ता' के उपाय की सफलता दोनों पक्षों द्वारा समस्याओं के समाधान की लगन और ईमानदारी पर निर्भर होती है। अनेक बार ऐसा होता है कि विवादी पक्ष वार्ता का ढोंग रचकर विश्व जनमत का अनुचित रूप से अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करते हैं। बड़े कूटनीतिक और प्रचारात्मक ढंग से विश्व के सामने यह प्रस्तुत किया जाता है कि वे तो समझौते के लिए उद्यत थे पर दूसरे पक्ष के दुराग्रह के कारण समस्या हल नहीं हो सकी और जब उनके हितों का भारी खतरा पैदा हो गया तो विवश होकर उन्हें आक्रामक कार्यवाही का आश्रय लेना पड़ा।

(2) वाद-विवाद (Discussion)

सुरक्षा-परिषद् अथवा महासभा कोई भी सिफारिश करने से पूर्व विवादी पक्षों के प्रतिनिधियों को लिखित अथवा मौखिक रूप से अपने दावे प्रस्तुत करने को आमन्त्रित करती है और इस प्रकार उन्हें एक ऐसा मंच प्रदान करती है जहाँ वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी शिकायतें प्रस्तुत करते हैं तथा द्विपक्षीय कूटनीति के माध्यम से ऐसी स्थिति में पहुँच सकते हैं जहाँ विवाद के समानार्थ कोई समझौता हो सके। यह भी सम्भव है कि विवादी पक्ष, विवाद को सुलझाने की भावना की उपेक्षा करते हुए, अन्तर्राष्ट्रीय मंच का उपयोग केवल विश्व जनमत को अपने अनुकूल करने की दृष्टि से करें अथवा दोनों पक्षों के बीच मतभेदों की खाई पूर्वापेक्षा अधिक चौड़ी हो जाय। इस बात की भी पूर्ण आशंका रहती है कि विवाद कूटनीतिक दाँवपेचों और राजनीतिक वाद विवाद के भँवर में फँसकर शीत-युद्ध का रूप धारण करले और दीर्घकाल तक चलता रहे, जैसे कश्मीर का विवाद। परिषद् अथवा महासभा में वाद-विवाद का यह सुपरिणाम अवश्य निकलता है कि संयुक्तराष्ट्र के सदस्य विवादी पक्षों के दावों और स्थिति से परिचित हो जाते हैं और अनेक ऐसे तथ्य एवं क्षेत्र प्रकाश में आ जाते हैं जिनके सन्दर्भ में दोनों पक्षों में समझौते की प्रभावी एवं फलप्रद चेष्टा की जा सकती है।

(3) सत्सेवा एवं मध्यस्थता (Good Offices and Mediation)

जब विवादयुक्त पक्ष समझौता वार्ता द्वारा अपने मतभेदों को सुलझाना नहीं चाहते या इस कार्य में असफल हो जाते हैं तो तीसरा मित्र-राज्य अपनी सत्सेवा या मध्यस्थता द्वारा इन मतभेदों को मित्रतापूर्ण तरीके से दूर करने में सहायता कर सकता है। यह स्थिति प्राय तब आती है जब विवाद में उलझे पक्ष अपने स्वार्थों के कारण उचित और अनुचित का अन्तर नहीं देखते। तीसरा राज्य अपने प्रभाव द्वारा सत्सेवा के इस कार्य को सम्भालता है और दोनों पक्षों के बीच शान्तिपूर्ण समझौता करा देता है। सत्सेवा का प्रयोग करने वाले राज्य के विवाद के दोनों पक्ष के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध होते हैं। वह उनको एकसाथ बैठकर मन्त्रणा अथवा सुझाव देता है। इस मन्त्रणा या सुझाव को कोई पक्ष ठुकरा भी सकता है। ऐसा करना कानून विरोधी अथवा अमैत्रीपूर्ण नहीं माना जाएगा। सन् 1951 में भारत-पाक तनातनी के समय तत्कालीन विवादों को दूर करने के लिए आस्ट्रेलिया ने अपने सद्भाव कार्यालय का उपयोग करना चाहा। भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री

प. जवाहर लाल नेहरू ने इस सम्बन्ध में कहा था कि उन परिस्थितियों में आस्ट्रेलिया के इस प्रयत्न का कोई लाभ नहीं होगा।

सत्सेवा और मध्यस्थता के बीच केवल मात्रा का अन्तर है। सत्सेवा में तीसरा राज्य दोनों पक्षों को एक-साथ बैठाता है और विवाद को सुलझाने के लिए सुझाव देता है। वह विवाद से सम्बन्धित विषयों में पूछताछ कर सकता है, किन्तु इसमें तीसरा राज्य वास्तविक समझौता वार्ता में भाग नहीं लेता। मध्यस्थता के समय हस्तक्षेपकर्ता राष्ट्र स्वयं वार्ता में भाग लेता है। वह अपनी ओर से सुझाव देता है और सभी विचार-विमर्शों में सक्रिय रूप से भाग लेता है। कभी कभी विवादपूर्ण पक्ष यह मान लेते हैं कि मध्यस्थ द्वारा जो सुझाव दिया जाएगा वे उसे स्वीकार कर लेंगे किन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता और मध्यस्थ के प्रस्ताव को मानना या न मानना दोनों पक्षों की इच्छा पर निर्भर होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जब तीसरे राज्यों की ओर से दो राज्यों के विवाद को सुलझाने के लिए हस्तक्षेप किया गया। कभी-कभी यह हस्तक्षेप सशस्त्र सेनाओं द्वारा होता है। ऐसी स्थिति में हस्तक्षेप करने वाला राज्य विवाद में एक नया तत्त्व और जोड़ देता है। दूसरी ओर हस्तक्षेप मित्रतापूर्ण एवं गैर-दबावकारी प्रकृति का होता है। इसमें दोनों पक्षों को विवाद मिटाने के लिए कुछ सुझाव दिए जाते हैं और उनको स्वीकार करने या न करने की स्वतन्त्रता दी जाती है।

सन् 1899 के हेग सम्मेलन में सम्बन्धित पक्ष सामान्य शान्ति की स्थापना के लिए मैत्रीपूर्ण हस्तक्षेप के महत्त्व से प्रभावित हुए थे। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के अभिसमय में यह कहा गया था कि शस्त्रों से काम लेने से पूर्व एक या दो मित्रतापूर्ण शक्तियों की मध्यस्थता अथवा सत्सेवा का प्रयोग किया जाए। अभिसमय की आगे की धारा में यह कहा गया था कि तीसरी शक्तियाँ स्वयं पहल करके अपनी सत्सेवा एवं मध्यस्थता का प्रयोग कर सकती हैं। ऐसा मनमुटाव के समय भी किया जा सकता है। इसे अमैत्रीपूर्ण कार्य नहीं माना जाएगा। सम्बन्धित पक्ष तीसरे राज्य के सुझाव को मानने, न मानने के लिए स्वतन्त्र होता है। हेग अभिसमय की धारा 6 के अनुसार ये उपाय केवल परामर्शात्मक होते हैं, बाध्यकारी नहीं होते। यदि एक राज्य ने मध्यस्थता स्वीकार की है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि वह आवश्यक समझने पर युद्ध न छेड़ सके।

मध्यस्थता करने वाला राज्य विवादी राज्यों में उत्पन्न नाराजगी के भावों को दूर करता है। वह विरोधी दावों में समन्वय स्थापित करता है। कई बार इससे युद्ध की सम्भावनाएँ टल जाती हैं तथा तीसरे राज्यों की मध्यस्थता से विवादों का समाधान हो जाता है।

सत्सेवा या मध्यस्थता करने वाला पक्ष एक व्यक्ति या अन्तर्राष्ट्रीय निकाय हो सकता है। ऊपर सत्सेवा तथा मध्यस्थता के बीच जो अन्तर दिखाया गया है वह प्राय. संयुक्त राष्ट्रसंघ के व्यवहार में दिखाई नहीं देता। सन् 1947 में सुरक्षा

परिषद् ने इण्डोनेशिया के लिए जो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सत्सेवा समिति नियुक्ति की थी उसके कार्य सत्सेवा से अधिक थे। इसी प्रकार सन् 1951 में संघ की महासभा द्वारा कोरिया-संघर्ष के समय नियुक्त समिति भी व्यापक दायित्वों से युक्त थी। राजनयिक व्यवहार एवं सन्धियाँ हमेशा इन दोनों के बीच अन्तर नहीं करतीं इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे का प्राय एक ही तरीका माना जाता है।

प्लानो एवं रिग्ज के अनुसार, विवाद की समाधान-प्रक्रियाओं हेतु सुरक्षा-परिषद् या महासभा द्वारा जो सिफारिशें की जाती हैं उनमें अधिकारियों के उच्चत्तर स्तर पर द्विपक्षीय पुनर्वार्ताएँ, सलाह-मशविरा, किसी संयुक्त राष्ट्रीय आयोग द्वारा जाँच एवं मध्यस्थता, किसी संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रतिनिधि या मध्यस्थ की नियुक्ति, *किसी क्षेत्रीय अभिकरण को निर्दिष्ट या सन्दर्भित करना*, पंच निर्णय, न्यायिक-निर्णय आदि सम्मिलित हैं। समाधान की शर्तें, जनमत-संग्रह कराकर आत्म-निर्णय *द्वारा समाधान, सीमा-रेखाओं के पुनर्निर्धारण, विवाद-ग्रस्त क्षेत्र के विभाजन*, किसी विवादग्रस्त क्षेत्र का संयुक्त राष्ट्रीय प्रशासन के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीयकरण आदि का रूप भी ले सकती है। पर यह आवश्यक है कि समाधान किए जाने वाले प्रयास यथा-साध्य ऐसे हों जिनको दोनों पक्षों द्वारा मान्य होने की सम्भावनाएँ प्रबल हों।

यद्यपि सत्सेवा और मध्यस्थता के संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रयत्नों *की सफलता की* सम्भावना रहती है, तथापि सम्पादन की शर्तें या सुझाव प्रस्तावित करने में यह खतरा भी बना रहता है कि जहाँ परिषद् या महासभा ने एक बार 'न्यायपूर्ण' समाधान का निर्णय किया वहीं संयुक्त राष्ट्रसंघ के दृष्टिकोण और व्यवहार की लोचशीलता समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए, कश्मीर-विवाद में सुरक्षा-परिषद् ने दृढ़तापूर्वक अपने इस पूर्व-निर्णय को बदलने से बार-बार इन्कार कर दिया है कि भारत एवं पाकिस्तान के बीच इस विवाद का समाधान राज्य में जनमत-संग्रह द्वारा किया जाए। पाश्चात्य राजनीतिज्ञ प्राय यह पक्षपात एवं दुराग्रहपूर्ण आरोप लगाते हैं कि सन् 1949 में भारत और पाकिस्तान दोनों ही कश्मीर जनमत-संग्रह के लिए सहमत हो गए थे, लेकिन आगे चलकर भारत ने इस समझौते के क्रियान्वयन से इन्कार कर दिया। यह आश्चर्य की बात है कि आलोचक इस तथ्य को भुला देते हैं कि "जनमत-संग्रह कराने का प्रश्न स्पष्टतः इस शर्त के साथ जुड़ा हुआ था कि पाकिस्तान कश्मीर से अपनी फौजें हटा लेगा।" पर पाकिस्तान ने कई वर्ष तक इस शर्त को पूरा नहीं किया और उस बीच कश्मीर का स्वरूप बिलकुल बदल गया तथा सन् 1954 में कश्मीर संविधान सभा ने वैधानिक तौर पर कश्मीर के भारत में विलय का अनुमोदन कर दिया। पश्चिमी महाशक्तियों की कुटिल राजनीति का शिकार बनते हुए सुरक्षा-परिषद् ने न केवल आक्रमणकारी पाकिस्तान को भारत के समान दर्जा दिया वरन् सेनाओं को कश्मीर से हटाने सम्बन्धी व्यवस्था के पाकिस्तान द्वारा पालन न किए जाने के तथ्य की भी उपेक्षा कर दी। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि कश्मीर पर *आक्रमण का प्रश्न ही* सुरक्षा-परिषद् के अधिकार-क्षेत्र में आता है, भारत में कश्मीर के विलय का प्रश्न नहीं।

(4) सौमनस्य या सराधन (Conciliation)

विवादों के निपटारे का यह एक मन्य साधन है। इसमे वे विभिन्न तरीके शामिल हैं जो तीसरे पक्ष द्वारा दो या अधिक राज्यों के विवादों को शान्तिपूर्वक हल करने के लिए अपनाए जाते हैं। प्रो ओपेनहेम के अनुसार—"यह विवाद के समाधान की ऐसी प्रक्रिया है जिसमे कार्य कुछ व्यक्तियो के आयोग को सौंप दिया जाता है। यह आयोग दोनों पक्षों का विवरण सुनता है तथा विवाद को तय करने की दृष्टि से तथ्यों के आधार पर अपना प्रतिवेदन देता है। इसमे विवाद के समाधान के लिए कुछ प्रस्ताव होते हैं। ये प्रस्ताव किसी पचाट या अदालती निर्णय की भाँति अनिवार्य रूप से मान्य नहीं होते।"

सन् 1899 और 1907 के हेग अभिसमय मे सराधन के आयोगों द्वारा विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे की व्यवस्था है। प्रो हडसन ने लिखा है कि—"सराधन की प्रक्रिया मे तथ्यो का अन्वेषण और विरोधी दावो का समन्वय किया जाता है। उसके पश्चात् विवाद के समाधान के लिए प्रस्ताव तैयार किए जाते हैं। इन प्रस्तावो को स्वीकार करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता दोनों पक्षो को होती है।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सराधन की प्रक्रिया मे तीन बातें शामिल हैं—तथ्यो की जाँच, मध्यस्थता एव विवाद के लिए प्रस्तावों का प्रेषण। इस प्रक्रिया का विकास हेग अभिसमय के बाद हुआ।

सराधन पच निर्णय से भिन्न है। सराधन के अन्तर्गत विभिन्न पक्ष इसके प्रस्तावो को स्वीकार करने या न करने के लिए पूर्णरूप से स्वतन्त्र होते हैं। दूसरी ओर पच-निर्णय के अन्तर्गत सम्बन्धित पक्षों को पचाट द्वारा निर्धारित निर्णय मानना पडता है। सराधन आयोग के महत्त्व के सम्बन्ध मे सन्देह नहीं किया जा सकता। राष्ट्रसघ की परिषद् ने अनेक अवसरो पर इस प्रणाली का उपयोग किया था। यह जाँच के अन्तर्राष्ट्रीय आयोग तथा पच निर्णय के बीच की प्रक्रिया है।

सराधन और मध्यस्थता के बीच भी अन्तर है। प्रथम के अन्तर्गत दोनों पक्ष अपना विवाद दूसरे व्यक्तियों को इसलिए सौंपते हैं कि वे तथ्यों की निष्पक्ष जाँच के बाद उसके समाधान के प्रस्ताव प्रस्तुत करें। यहाँ पहल विवाद के पक्षो द्वारा की जाती है। मध्यस्थता मे पहलकर्त्ता तीसरा राज्य होता है। यह स्वय विवाद के पक्षों के बीच वार्ता प्रारम्भ कर विवाद को हल करना चाहता है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग
(International Enquiry Commission)

ये आयोग विवादों की जाँच के लिए बनाए जाते हैं। इनके द्वारा विवादों के आधार का अध्ययन किया जाता है और उनके समाधान के लिए सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं। औपचारिक रूप से इनका जन्म सन् 1899 के हेग शान्ति सम्मेलन मे हुआ। यह तरीका ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय-विवादों को सुलझाने के लिए सुझाया गया जो तथ्यों

के निर्धारण तक सीमित है और जहाँ पक्ष सम्पूर्ण विवाद को प्रस्तुत नहीं करना चाहते हों तथा पंच-निर्णय की प्रक्रिया अपनाने में कानूनी प्रश्न और राजनीतिक स्वार्थ उलझे हुए हों। अभिसमय का तृतीय भाग जाँच के अन्तर्राष्ट्रीय आयोग से सम्बन्धित था। इसमें यह प्रावधान रखा गया कि जिन अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों में इज्जत या गहरे स्वार्थ का प्रश्न नहीं है तथा जो तथ्यों से सम्बन्धित मतभेद के कारण उत्पन्न हुए हैं उनके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग नियुक्त कर दिया जाए, जो तथ्यों की निष्पक्ष जाँच करके विवाद को सुलझा सके। इस आयोग का प्रतिवेदन केवल तथ्य ज्ञान करने तक ही सीमित रहता है। यह पंच-निर्णय का पंचाट नहीं होता और पक्षों को पूरी स्वतन्त्रता देता है। ये जाँच आयोग विवादपूर्ण ऐतिहासिक तथा भौगोलिक तथ्यों के सम्बन्ध में सत्यता की परीक्षा करते हैं। प्रारम्भ में ये सीमा-रेखाओं अथवा निजी दावों के न्यायाधिकरण से ही सम्बन्ध रखते थे।

1907 के हेग अभिसमय द्वारा इन आयोगों की स्थिति में पर्याप्त सुधार कर दिया गया। 1924 के वाशिंगटन समझौते में यह निर्णय लिया गया कि जाँच का स्थायी आयोग नियुक्त किया जाए। इस जाँच की मुख्य धाराएँ ये थीं—(i) यदि समझौता करने के प्रमुख राजनयिक उपाय विफल हो जाएँ तो दोनों पक्ष अपने विवाद स्थायी आयोग को सौंप देंगे और उसका प्रतिवेदन आने तक युद्ध प्रारम्भ नहीं करेंगे। (ii) स्थायी आयोग में पाँच सदस्य होंगे। प्रत्येक पक्ष द्वारा इसमें एक अपना और एक तीसरे राज्य का नागरिक नियुक्त किया जाएगा। पाँचवाँ सदस्य दोनों पक्ष द्वारा तीसरे राज्य में से चुना जाएगा। (iii) आयोग का प्रतिवेदन एक वर्ष में अवश्य आ जाना चाहिए। इस अवधि को दोनों पक्षों की सहमति से घटाया और बढ़ाया जा सकता है। संयुक्तराज्य अमेरिका ने इस समझौते की व्यवस्था का अनुशीलन अनेक बार किया है।

वाशिंगटन समझौते की व्यवस्था हेग अभिसमय से कई प्रकार से भिन्न थी। इसमें राज्य की प्रतिष्ठा एवं स्वार्थों को आयोग के अधिकार क्षेत्र से बाहर नहीं रखा गया। हेग अभिसमय में स्थायी आयोग की व्यवस्था नहीं थी वरन् विवाद होने पर आयोग की स्थापना का प्रावधान था। इस समझौते में आयोग का प्रतिवेदन प्राप्त न होने तक युद्ध न करने की बात कही गई।

सराधन की भाँति जाँच-आयोग की प्रक्रिया भी व्यवहार में पर्याप्त अपनाई गई। मंचूरिया की घटनाओं की जाँच के लिए राष्ट्रसंघ ने लिटन कमीशन की नियुक्ति की। दो महायुद्धों के बीच अनेक देशों में सराधन की प्रक्रिया अपनाने के लिए अनेक सन्धियाँ की गईं तथा इसके लिए अनेक स्थायी आयोग बनाए गए।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के उपरोक्त उपायों को निर्णयेत्तर (Non-decisional) कहा जाता है क्योंकि इनको न्यायिक निर्णय द्वारा हल नहीं किया जाता तथा मध्यस्थों के सुझावों को मानने के लिए दोनों पक्ष बाध्य नहीं होते। वे इनको स्वीकार करने या न करने के लिए स्वतन्त्र रहते हैं। ऐसी स्थिति में ये उपाय अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। फलतः कुछ अन्य प्रभावशाली उपायों की

खोज की गई है। ये निर्णयात्मक (Decisional) साधन कहे जाते हैं। ये पंच निर्णय (Arbitration) *तथा अधिनिर्णय या न्यायिक निर्णय* (Adjudication of Judicial Settlement) कहे जाते हैं।

(6) पंच-निर्णय (Arbitration)

पंच-निर्णय की प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रारम्भिक दिनों में ही शुरू हो चुकी थी। *प्राचीन यूनान में यह सुस्थापित हो गई।* अनेक *विवादों के तय* करने में यह तरीका अपनाया गया। अनेक सन्धियों में पहले ही यह निर्धारित कर दिया गया कि विवाद होने पर इसी तरीके को अपनाया जाएगा। प्राचीन रोम में इसको नागरिक प्रक्रिया के रूप में जाना जाता था। ईसाईयत के समय भी राजाओं और प्रशासकों के कुछ *विवाद पंच-निर्णय के लिए पोप के सम्मुख सौंपे गए। विटोरिया* (Vitoria) तथा सुआरेज (Suarez) दोनों ने विवादों के निपटारे के लिए पंच-निर्णय का समर्थन किया। उन्होंने पोप को यह कार्य करने के लिए उपयुक्त माना तथा पंच निर्णय के फैसले का दोनों पक्षों द्वारा पालन करने की बात कही। ग्रोशियस का विचार था कि पंच-निर्णय द्वारा युद्ध को रोका जा सकता है। उसने ईसाई शक्तियों के सम्मेलन का समर्थन किया जहाँ स्वार्थ-रहित पक्ष दूसरों के विवादों को तय करें तथा पक्षों को न्यायपूर्ण शर्तों पर आधारित शान्ति स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा सके। वैटिल ने इस प्रक्रिया का पूरी तरह पक्ष लिया। 1794 में संयुक्तराज्य अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन के मध्य हुई सन्धि के बाद यह प्रक्रिया विवादों के सामंजस्य का एक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक साधन मानी जाने लगी।

19वीं शताब्दी में पंच-निर्णय की प्रक्रिया विवादों के न्यायपूर्ण तथा समानता-*पूर्ण समाधान का सम्मानजनक साधन बन गई। 1872 में* ग्रेट-ब्रिटेन तथा संयुक्तराज्य अमेरिका के बीच अलबामा के दावों सम्बन्धी विवाद में जेनेवा पंच-निर्णय किया गया। इसकी सफलता ने इस तरीके को पूरी लोकप्रियता दी। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नवोदित संस्थान ने 1875 में पंच-निर्णय की प्रक्रिया के लिए कुछ नियम बनाए।

पंच-निर्णय का अर्थ अनेक विचारकों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा समय-समय पर वर्णित किया गया है। प्रो. ओपेनहेम लिखते हैं-"पंच-निर्णय का अर्थ है कि राज्यों के मतभेद का समाधान कानूनी निर्णय द्वारा किया जाए। यह निर्णय दोनों पक्षों द्वारा निर्वाचित एक या अनेक पंचों के न्यायाधिकरण द्वारा होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न होता है।" पंच-निर्णय का कार्य या तो किसी ऐसे राज्याध्यक्ष को सौंपा जा सकता है जो गैर-न्यायिक अथवा कानून की जानकारी न रखने वाला व्यक्ति है या किसी न्यायाधिकरण को। व्यापार सन्धि या ऐसी ही दूसरी सन्धियों से सम्बन्धित पक्ष यह निर्णय ले सकते हैं कि सन्धि द्वारा विनियमित से सम्बन्धित किसी विवाद का समाधान वे पंच-निर्णय द्वारा करेंगे। दो या दो से अधिक राज्य भी पंच-निर्णय की एक सामान्य सन्धि कर सकते हैं जिसके अनुसार उनके सभी या कुछ प्रकार *के विवाद पंच-फैसले के लिए सौंपे जाएँ। ऐसी सन्धियों में प्रायः उन सिद्धान्तों का* उल्लेख कर दिया जाता है जिनके अनुरूप पंच निर्णय का अवार्ड दिया जाएगा। ये

सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामान्य नियम हैं। यदि पक्ष चाहें तो वे समन्याय के नियमों को भी लागू कर सकते हैं। ब्रायर्ली के कथनानुसार, "पच तथा न्यायाधीश कानून के नियमों के अनुसार निर्णय लेने के लिए बाध्य हैं। वे कानून की अवहेलना करने की स्वेच्छाचारी शक्ति नहीं रखते तथा न्यायपूर्ण और उचित से सम्बन्धित अपने विचारों के अनुसार निर्णय नहीं ले सकते।"

पच निर्णय न केवल तथ्यों की खोज करते हैं वरन् कानूनी मसलों को भी सुलझाते है। इनको अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों को अपनाने का विशेष निर्देश दिया जाता है। 19वीं शताब्दी मे पंच-निर्णय के सम्बन्ध मे एक सामान्य क्लॉज यह जोड़ा गया कि न्यायाधिकरण अपना निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुरूप देगा तथा पूर्ववर्ती न्यायाधिकरणों के व्यवहार और न्याय-शास्त्र का सम्मान करेगा।

सामान्य रूप से पच-निर्णय मे दिया गया पचाट दोनों पक्षों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता है। कोई राज्य अपना विवाद पचों को सौंपने के लिए बाध्य नहीं, है किन्तु यदि एक बार ऐसा कर लिया तो उसके निर्णय को मानने के लिए वह बाध्य होगा। यदि निर्णय देते समय पचों ने धोखे, दबाव, भ्रम या गलत-फहमी से कार्य किया है तो सम्बन्धित पक्षों को इसे स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होगा। यदि निर्णय अधिकारों को प्रतिक्रमण करके दिया गया है तो भी यह बाध्यकारी नहीं माना जाएगा।

यदि पच निर्णय के फैसले को एक पक्ष स्वीकार कर ले और दूसरा पक्ष न करे तो उसे स्वीकार कराने के लिए सभी उपाय अपनाए जा सकते हैं। विश्व जनमत और अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे पक्ष के विपरीत हो जाता है। 1951 मे कश्मीर का प्रश्न पच निर्णय को सौंपने का प्रस्ताव भारत के सामने आया, किन्तु उसने इसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह इसे महा-शक्तियों का खेल नहीं बनाना चाहता था।

प्रथम हेग सम्मेलन—1899 के प्रथम हेग सम्मेलन मे पच निर्णय को औपचारिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्रिया के रूप मे मान्यता दी गई। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के अभिसमय ने यह घोषणा की कि—"पच-निर्णय का उद्देश्य राज्यों के अन्तरों का उनकी इच्छा के न्यायाधीशों द्वारा कानून के लिए सम्मान के आधार पर समाधान करना है।"[1]

इस परिभाषा मे पच-निर्णय की दो विशेषताओं को अभिव्यक्त किया गया है—(1) विवाद के निर्णय के लिए नियुक्त किया जाने वाला न्यायाधिकरण स्वय सम्बद्ध पक्षों द्वारा ही नियुक्त किया जाता है। पच-निर्णय को स्थायी न्यायालय से पृथक किया जा सकता है जो विवाद से पहले से ही कायम होता है, किन्तु पच निर्णय मे सबधित पक्षों की स्वतन्त्र इच्छा का महत्व रहता है। विवाद-युक्त पक्षों का पचों की

1 "Arbitration had for its object the settlement of differences between states by judges of their own choice and on the basis of respect for Law."
—Quoted by Prof Fenwick, Op. cit, p 511.

न्यायशीलता एवं न्यायपूर्ण निर्णय करने की क्षमता में विश्वास रहता है। (2) पचों का निर्णय कानून के प्रति सम्मान पर आधारित रहता है। इसका अर्थ यह है कि मान लीजिए किसी मामले में कानून स्पष्ट रूप से लागू नहीं होता तो पचों का दायित्व है कि वे यथा सम्भव कानूनी निर्णय के नजदीक आएँ। पंच निर्णय उन सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना चाहिए जो सम्बन्धित पक्षों को पहले से ही ज्ञात हैं तथा पचाट के लिए न्यायपूर्ण आधार माने जाते हैं। जब विवाद में सम्बद्ध प्रश्न का सम्बन्ध किसी तथ्य के वर्णन अथवा सन्धि की व्याख्या से होता है तो कानून के सिद्धान्त अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होते।

सिद्धान्तों का पालन—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक नियम अनिश्चित प्रकृति के होते हैं, इसलिए विवादशील पक्ष पहले ही समझौते में स्पष्ट कर देते हैं कि पचों का निर्णय कुछ परिभाषित सिद्धान्तों के अनुरूप होना चाहिए। ये सिद्धान्त विवाद के समय अस्तित्व में हो सकते हैं या सम-न्याय के सामान्य सिद्धान्तों के अनुरूप हो सकते हैं या विशेष मामले के लिए निर्धारित किए जा सकते हैं। संयुक्तराज्य अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन के बीच 1871 में वाशिंगटन सन्धि हुई। उसमें यह व्यवस्था थी कि अलबामा के दावों के समाधान के लिए नियुक्त पंच-फैसला न्यायाधिकरण पक्षों द्वारा सहमत तीन नियमों से प्रशासित होना चाहिए। इस पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वे नियम भी लागू किए जा सकते हैं जो इन नियमों के विरुद्ध न हों। ग्रेट ब्रिटेन का विचार था कि ये नियम तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुरूप नहीं थे तो भी उसने इन्हें इस मामले का सन्तोषजनक आधार माना।

पचाट की बाध्यता—हेग अभिसमय में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया था कि पंच-निर्णय के लिए सहमत पक्षों को पचाट को स्वामीभक्ति के साथ स्वीकार करना चाहिए। यह पंच निर्णय का तीसरा तत्त्व था जिसके कारण यह अभिसमय द्वारा स्थापित मध्यस्थता जाँच आयोग से भिन्नता रखता था। दो राज्यों को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वे अपना विवाद पंच-निर्णय को सौंपें या न सौंपें अथवा पंच-निर्णय के सेवीवर्ग में किसे नियुक्त करें? किन्तु एक बार यन्त्र के कार्यरत होने पर सद्-विश्वास का नियम यह माँग करता है कि पचाट को स्वामीभक्ति के साथ क्रियान्वित किया जाए। यदि न्यायाधिकरण का निर्णय अपने क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण करता है तो प्रभावित पक्ष पचाट को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं होगा। 1831 में हॉलैण्ड के राजा ने ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका के उत्तरी-पूर्वी सीमा विवाद के सम्बन्ध में अपना निर्णय दिया, किन्तु उक्त आधार पर दोनों पक्षों ने उसे ठुकरा दिया।

स्थायी पंच-निर्णय—हेग सम्मेलन का एक महत्त्वपूर्ण फल पंच निर्णय के स्थायी न्यायालय की रचना थी। इस न्यायालय का नाम ऐसा होते हुए भी यह कोई स्थाई न्यायाधिकरण नहीं था। यह केवल विधि-शास्त्रियों के नामों की सूची मात्र थी। समझौते की शर्तें स्वीकार करने वाले राज्य को चार ऐसे व्यक्तियों के नाम देने थे जो कानून की योग्यता में ख्याति प्राप्त हैं, जिनका उच्चतम नैतिक आचरण है

तथा जो पंच के कर्त्तव्य को स्वीकार करने के इच्छुक हैं। इन व्यक्तियों का कार्यकाल छः वर्ष रखा गया। विवादशील राज्य इसी सूची में से पंच-निर्णय के लिए पाँच न्यायाधीशों का चुनाव करते थे। यदि वे ऐसा करने में असमर्थ रहते तो प्रत्येक पक्ष केवल दो नाम चुनता–एक अपने देश का और दूसरा अन्य देश का। इस प्रकार छाँटे गए व्यक्ति पाँचवें पंच का चुनाव करते थे। हेग सम्मेलन के प्रस्तावों के अनुसार संसार के राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने के लिए पंच पद्धति को आवश्यक रूप से स्वीकार नहीं किया। सम्मेलन में विभिन्न देशों ने यह विचार प्रकट किया कि वे किन प्रश्नों को पंच-फैसले के लिए प्रस्तुत करेंगे, इसका निर्णय वे स्वयं करें। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से गम्भीर प्रश्नों पर वे स्वयं निर्णय लेना चाहते थे। फलतः अभिसमय में केवल व्यापक बातें स्वीकार की जा सकीं। हस्ताक्षर-कर्ता शक्तियों ने पंच-निर्णय को सर्वाधिक प्रभावशाली माना और जिन विवादों को सुलझाने में कूटनीति असफल हो जाती है उनके सम्बन्ध में इसे सर्वाधिक उपयुक्त साधन स्वीकार किया।

द्वि-पक्षीय सन्धियाँ - दो हेग सम्मेलनों (1899 तथा (1907) के बीच द्वि पक्षीय सन्धियों के लिए अनेक समझौते हुए। इनके द्वारा पंच-फैसले के क्षेत्र एवं दायित्व को व्यापक बनाया गया। 1903 में ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस के बीच सन्धि हुई। उसके बाद संयुक्तराज्य अमेरिका ने अनेक द्वि-पक्षीय सन्धियाँ कीं। 1904 में वाशिंगटन के अन्तर्राष्ट्रीय पंच-फैसले पर द्वितीय अमेरिकी सम्मेलन में इस सम्बन्ध में अभिसमय स्वीकार किया गया।

द्वितीय हेग सम्मेलन–1907 में द्वितीय हेग सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें 1899 में स्वीकार किए गए अभिसमय में महत्त्वपूर्ण संशोधन किया गया। यह प्रावधान रखा गया कि विवादशील पक्षों द्वारा नियुक्त किए जाने वाले दो पंचों में से केवल एक उसका राष्ट्रिक हो सकता है अथवा उन व्यक्तियों में से छाँटा जा सकता है जिन्हें इसने स्थाई न्यायालय के सदस्य के रूप में नियुक्त किया है। इस प्रकार पंच न्यायाधिकरण की रचना में अधिक निष्पक्षता की व्यवस्था की गई और पाँचवें सदस्य के छाँटने में अधिक सुविधा हो गई। पंच फैसले को बाध्यकारी बनाने की दृष्टि से द्वितीय सम्मेलन भी अधिक कुछ नहीं कर सका। यद्यपि अभिसमय ने पंच फैसले को विवादों के समाधान का महत्त्वपूर्ण साधन माना, किन्तु समिति में विचार-विमर्श के समय यह स्पष्ट हो गया कि तत्कालीन परिस्थितियों में पंच-निर्णय को राष्ट्रीय-हित का विषय नहीं माना जा सकता।

पंच निर्णय का स्थायी न्यायालय स्वयं कोई क्षेत्राधिकार नहीं रखता था। इस व्यवस्था के प्रारम्भ से लगभग 20 पंच-न्यायाधिकरण नियुक्त किए गए तथा कुछ महत्त्वपूर्ण पंचाट प्रदान किए गए। इनमें अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन के बीच उत्तरी अटलांटिक महासागर मत्स्यालय वाला मामला (1910), सावरकर वाला मामला (1911) और नार्वे तथा संयुक्तराज्य अमेरिका के बीच विवाद (1922) उल्लेखनीय हैं। 1919 की वर्साय की सन्धि के कारण अनेक क्षेत्रीय विवाद उत्पन्न

हुए। इनके निर्णय के लिए योरोप में अनेक मिश्रित न्यायाधिकरण नियुक्त किए गए। ऐसे विवाद या तो अकेले पंच द्वारा या विवादी पक्षों द्वारा नियुक्त पंचो के आयोग द्वारा तय किए गए।

पंच-निर्णय की सफलतापूर्ण कार्यवाही के कारण अनेक सन्धियो में यह व्यवस्था की गई है कि यदि कोई विवाद उत्पन्न हुआ तो वह पंच-निर्णय को सौंपा जायेगा। इनमे अधिकांश सन्धियो मे यह प्रावधान रखा गया है कि सम्बन्धित राज्य के महत्त्वपूर्ण हित से सलग्न प्रश्नों को पंच-निर्णय के लिए प्रस्तुत करने से मुक्त रखा जाए। उल्लेखनीय है कि यह क्लॉज मत-भुटावो को रोकने मे पंच-निर्णयो, सन्धियो की कुशलता का सबसे बड़ा बाधक है। यदि एक राज्य पंचाट को मानने से मना कर देता है तो दूसरा राज्य उन सभी बाध्यकारी साधनो का प्रयोग कर सकेगा जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत उपलब्ध हैं।

(7) न्यायिक समाधान (Judicial Settlement)

विवादो का न्यायिक समाधान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के माध्यम से होता है जो उचित रूप से गठित की जाती है और कानून के नियमों को लागू करता है। यह व्यवस्था पंच-निर्णय की कमजोरियो को दूर करती है। पंच-निर्णय मे कोई न्यायालय नहीं था, केवल पंचो के नामो की सूची थी। विवाद करने वाले पक्ष इनमे से किन्हीं को अपने मामले मे पंच मान लेते थे, तभी यह न्यायालय बन जाता था। इसका अन्य दोष यह था कि प्रत्येक मामले के पंच भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते थे। इसलिए न्याय कार्य मे एकरूपता नहीं आ पाती थी। इन दोषो को दूर करने के लिए प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रसंघ ने एक स्थायी न्यायालय की स्थापना की। संयुक्तराष्ट्र संघ ने इसका रूप बदल कर इसे न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नाम दे दिया। न्यायालय द्वारा दिए जाने वाले फैसले अधिनिर्णय कहे जाते हैं।

पंच-निर्णय और अधिनिर्णय के बीच कुछ भेद और समानतायें भी हैं। समानतायें ये हैं—(A) दोनो मे विवाद का निर्णय कानून के नियमों और सिद्धान्तो के आधार पर बाध्य और निष्पक्ष एजेन्सी द्वारा (B) दोनो के निर्णयो का पालन करना अनिवार्य, है (C) दोनो स्थितियो मे विवादी पक्ष अपना विवाद निर्णय के लिए सौंपने की स्वतन्त्रता रखते हैं। दोनो के बीच अन्तर निम्न प्रकार हैं—(A) पंच-निर्णय के पंचों को व्यक्तिगत मामले मे सम्बन्धित पक्षो द्वारा चुना जाता है, किन्तु अधीन निर्णय करने वाला न्यायालय एक स्थाई निकाय है। वह विवाद उत्पन्न होने से पहले ही विद्यमान रहता है। उसके न्यायाधीशों के चुनाव मे सम्बन्धित पक्षों को कोई स्थान नहीं होता। इनकी नियुक्ति विभिन्न राज्यों द्वारा की जाती है। (B) पंच-निर्णय विवाद के पक्षो को स्वीकृत नियमो के अनुसार कार्य करता है किन्तु न्यायालय के कानून के सम्बन्ध मे विवादो के पक्षो द्वारा किसी प्रकार की मर्यादा नहीं डाली जाती। स्थायी न्यायालय का लाभ यह है कि इसकी सेवायें हर समय उपलब्ध रहती हैं। इसके परिणामस्वरूप न्यायिक निर्णयो की एक परम्परा बनती है और प्रत्येक बार नए न्यायाधीश निर्वाचित नहीं करने पड़ते। अन्तर्राष्ट्रीय

न्यायालय ने जो कानूनी दृष्टिकोण की निरन्तरता पैदा की है उसे पंच-निर्णय पैदा न कर सके।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य स्वत. ही अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के सदस्य बन जाते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे राज्य भी इसके सदस्य बने बिना भी कोई एक पक्ष बन सकते हैं। इसके लिए प्रत्येक मामले मे महासभा सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर आवश्यक शर्तें निर्धारित करती है। यद्यपि न्यायालय आवश्यक और सार्वभौमिक क्षेत्राधिकार नहीं रखता, किन्तु इसके निर्णय उन पक्षों पर बाध्यकारी होते हैं जो इसके न्यायाधिकरण को स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं।

(8) राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा विवादों का समाधान

(Settlement of Disputes through the Machinery of League of Nations and U N O)

इन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए की गई थी ताकि विश्व-युद्ध पर रोक लगाई जा सके। राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र मे शान्तिपूर्ण समाधान की विभिन्न प्रक्रियाओं का उल्लेख किया गया था ताकि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का कानूनी आधार बनाया जा सके। सत्सेवा एवं मध्यस्थता की प्रक्रियाओं को व्यापक बनाया गया ताकि संघ के प्रत्येक सदस्य को यह मित्रतापूर्ण अधिकार दिया जा सके कि वह संघ की सभा या परिषद् का ध्यान प्रत्येक उस घटना की ओर आकर्षित कर सके जो शान्ति के लिए चुनौती है। संघ के घोषणा-पत्र की धारा–12 मे विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के तीन उपाय बताए गए-पंचों को सौंपना, हेग की स्थायी पंचायती अदालत को सौंपना तथा संघ की परिषद् द्वारा इसकी जाँच करना। प्रथम दो तरीकों मे निर्णय उपयुक्त समय मे देने और परिषद् का निर्णय छः माह में करने की बात कही गई। यह कहा गया कि इन निर्णयों तथा जाँच के 3 महिने बाद तक दोनों पक्ष युद्ध न छेड़े ताकि उनकी उत्तेजित भावनायें शांत हो जाएँ और शान्तिपूर्वक तथा निष्पक्ष रीति से इस प्रश्न पर विचार किया जा सके।

राष्ट्रसंघ मे सामूहिक सुरक्षा की भावना के अनुरूप यह प्रावधान रखा गया कि कोई युद्ध अथवा युद्ध के लिए चुनौती, चाहे तुरन्त ही संघ के किसी सदस्य को प्रभावित करे या न करे, सम्पूर्ण संघ की रुचि का विषय है और संघ द्वारा राष्ट्रों की शान्ति की रक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाया जाएगा। संघ के सदस्यों पर यह दायित्व डाला गया कि उनके बीच विवाद उत्पन्न होने पर वे उसे पंच निर्णय या परिषद् की जाँच के लिए सौंपे। परिषद् को समझौता कराने की सामान्य शक्ति दी गई। परिषद् द्वारा की गई जाँच को स्वीकार करने के लिए कोई पक्ष बाध्य नहीं किया जा सकता। धारा–16 में शान्तिपूर्ण समाधान का प्रस्ताव स्वीकार न करने वाले के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की गई।

राष्ट्रसंघ के अधीन विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के स्थिर तरीकों के अतिरिक्त परिषद् को यह निर्देश भी दिया गया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थाई

न्यायालय की स्थापना के लिए योजनाएँ बनाए और सघ के सदस्यों की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करे। अनेक सशोधनो और परिवर्तनों के बाद सम्बन्धित प्रारूप को सघ की महासभा ने 13 दिसम्बर, 1920 को स्वीकार कर लिया। 1929 मे इस सविधि मे अनेक सशोधन किए गए तथा इसे सदस्यो की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया।

राष्ट्रसघ के स्थाई न्यायालय मे 19 सदस्य थे—15 न्यायाधीश और 4 उपन्यायाधीश। 1929 के सशोधन मे उपन्यायाधीशो को हटाकर न्यायाधीशों की सख्या ही 15 कर दी गई। न्यायालय का क्षेत्राधिकार दो प्रकार का था—सामान्य और विशेष। सामान्य क्षेत्राधिकार सविधि पर आधारित था और विशेष क्षेत्राधिकार का स्रोत विशेष राज्यो द्वारा की गई सन्धियाँ एव अभिसमय थे। सामान्य क्षेत्राधिकार का अनुपूरक वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार भी था। न्यायालय के कुछ परामर्शदाता कार्य भी थे। यह महासभा एव परिषद् को आवश्यकता के समय कानूनी परामर्श देती थी।

सयुक्त राष्ट्रसघ का एक मौलिक उद्देश्य राष्ट्रसघ की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान तथा युद्ध को रोकना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के *लिए कुछ दायित्व महासभा तथा सुरक्षा परिषद् पर डाले गए हैं।* सयुक्तराष्ट्र सघ के चार्टर की धारा–14 महासभा को यह सत्ता देती है कि उस स्थिति के शान्तिपूर्ण समायोजन के लिए सुझाव दे जो राष्ट्रो के सामान्य कल्याण अथवा मित्रतापूर्ण सम्बन्धो को आघात पहुँचा सके। सुरक्षा परिषद् को दी गई शक्तियाँ और भी व्यापक हैं। यह महासभा की अपेक्षा अधिक जल्दी कार्यवाही कर सकती है। जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति या सुरक्षा के लिए खतरा हो तो सुरक्षा परिषद् पच-निर्णय, न्यायिक समझौता, वार्ता, जाँच, मध्यस्थता, सराधन आदि उपायो द्वारा विवाद को सुलझाने का सुझाव दे सकती है। आक्रमण या शान्ति-भग की स्थिति मे सुरक्षा परिषद् यह तय करती है कि शान्ति एव सुरक्षा की रक्षा के लिए वह क्या कदम उठाए? वह अपने निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए सघ के सदस्यो का सहयोग भी माँग सकती है। सुरक्षा-परिषद् कोई भी निर्णय ले सकती है, उस पर प्रतिबन्ध नहीं है। वह सयुक्त राष्ट्रसघ के सिद्धान्तो के अनुसार कार्य करती है। यदि कोई विवाद शान्तिपूर्ण उपायो से हल न किया जा सके तो यह सैनिक कार्यवाही करने का भी अधिकार रखती है। कोरिया और स्वेज नहर के मामले मे यह सफलतापूर्वक इस अधिकार का प्रयोग कर चुकी है। इसके निर्णयों को न मानने वाले राज्यो के विरुद्ध यह आर्थिक प्रतिबन्ध लगा सकती है।

सयुक्त राष्ट्रसघ के अधीन न्याय के एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई है। इसके सगठन तथा कार्यों का उल्लेख हम यथास्थान कर चुके है। इस न्यायालय का प्रथम निर्वाचन 6 फरवरी, 1946 को तथा इसका प्रथम नियमित अधिवेशन 18 अप्रैल 1946 को सम्पन्न हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान मे इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

(9) मध्यस्थ या प्रतिनिधि (Mediator or Representative)

कुछ ऐसे विवाद होते हैं जिनके समाधान में सुरक्षा-परिषद्, महासभा अथवा प्रायोग की अपेक्षा एक अकेला व्यक्ति मध्यस्थ या प्रतिनिधि के रूप में अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। परिषद् और महासभा के सभापतियों तथा महासचिव ने इस दृष्टि से अनेक अवसरों पर प्रभावशाली भूमिका निभायी है। किसी तटस्थ स्थान पर अथवा विपक्षी दलों की राजधानियों में या विवाद स्थल पर संयुक्त राष्ट्रीय मध्यस्थ अथवा प्रतिनिधि ने विवाद के समाधान अथवा मतभेदों को कम करने या मिटाने की दिशा में अपनी महती उपयोगिता सिद्ध की है। उदाहरणार्थ, फिलिस्तीन के मामले में विभाजन-योजना पर अरबों और यहूदियों में गतिरोध दूर करने तथा खूनी साम्प्रदायिक युद्ध को रोकने के लिए महासभा ने काउण्ट फॉक बर्नेडाट (Count Folke Bernadotte) की नियुक्ति की थी। उग्रवादी-तत्त्वों द्वारा बर्नेडोट की हत्या कर देने के उपरान्त उनके मुख्य सहायक डॉ राल्फ बूंच ने एक मध्यस्थ के रूप में कार्य किया और अन्त में एक सन्धि करवाने में सफलता अर्जित की। इसी प्रकार कश्मीर-विवाद में सुरक्षा-परिषद् ने सर ग्रावन डिक्सन (Sir Owen Dixon) तथा डॉ फ्रैंक ग्राहम (Dr Frank Graham) को संयुक्त राष्ट्रीय प्रतिनिधि नियुक्त किया था जो विविध कारणों से दोनों पक्षों में कोई समझौता नहीं करा सके।

सन् 1953 में महासचिव पद पर डाग हैमरशोल्ड की नियुक्ति के बाद विशेष रूप से नियुक्त संयुक्त-राष्ट्रीय मध्यस्थों और प्रतिनिधियों का महत्त्व कुछ कम हो गया क्योंकि नए महासचिव ने अपने पद की शक्तियों की व्यापक व्याख्याएँ कीं और सुरक्षा-परिषद् तथा महासभा ने भी महासचिव के अधिक गुरुतर दायित्वों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की। अब संयुक्तराष्ट्रीय प्रतिनिधि या मध्यस्थ के रूप में महासचिव की भूमिका क्रमशः महत्त्वपूर्ण बन गई और आज भी यही स्थिति जारी है। महासचिव ऊ-थाण्ट ने यह प्रदर्शित किया कि महासचिव द्वारा नियुक्त विशेष प्रतिनिधि और सुरक्षा-परिषद् द्वारा नियुक्त संयुक्तराष्ट्रीय मध्यस्थ मिलकर सहयोग से कार्य करते हुए विवादों के समाधान की दिशा में काफी प्रभावकारी सिद्ध हो सकते हैं। साइप्रस के मामले में ऐसा ही हुआ था। सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध को रोकने में महासचिव ऊ थाण्ट के स्वयं के प्रयासों का विशेष योग था।

(10) अवरोधक कूटनीति (Preventive Diplomacy)

विशेष रूप से डाग हैमरशोल्ड द्वारा विकसित 'अवरोधक कूटनीति' की धारणा का महत्त्व शीत युद्ध की स्थितियों को मर्यादित और शान्त रखने में है। अवरोधक कूटनीति का उपाय शान्तिपूर्ण समाधान का पूरक है जिसका उद्देश्य विवाद में तनाव को कम करना तथा स्थिति को बिगड़ने से बचाना होता है। आज महासभा में निर्गुट राष्ट्र शान्ति स्थापित रखने की दिशा में जो नवीन भूमिका निभा रहे हैं और शीत युद्ध के क्षेत्र को सीमित करने का जो प्रयत्न कर रहे हैं—वे अवरोधक कूटनीति की ही विशेषताएँ हैं।

प्लानो एवं रिग्ज ने सयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अपनायी जाने वाली अवरोधक कूटनीति के उपायों को मोटे रूप में चार श्रेणियों में विभक्त किया है–(1) निरीक्षक दल (Observer Groups) जो युद्ध-विराम विसैन्यीकृत क्षेत्र तथा अस्थायी युद्ध-विराम रेखाओं या सन्धि-सीमाओं का निरीक्षण करते हैं, (2) युद्धरत पक्षों के मध्य रखी गई सयुक्त राष्ट्रीय सेनाएं, (3) आन्तरिक संघर्ष का दमन करने और घरेलू व्यवस्था कायम रखने में प्रयुक्त की जाने वाली सयुक्त राष्ट्रीय सेनाएँ, तथा (4) साम्प्रदायिक समूहों में सशस्त्र संघर्ष को रोकने या सीमित करने में प्रयुक्त सयुक्त राष्ट्रीय फौजें।

सयुक्त राष्ट्रसंघ निरीक्षक समूहों (UN Observer Groups) की बल्कान प्रदेश में (1946–54), इंडोनेशिया में (1947–49), कश्मीर और लेबनान में (1958), पश्चिमी इरियन में (1962–63) तथा यमन में (1963–64) बड़ी उपयोगी भूमिका रही थी। अवरोधक कूटनीति का सार उपर्युक्त अन्तिम तीन श्रेणियों में निहित है जिनमें सयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना का शांति रक्षा या शांति कायम रखने के लिए प्रयोग होता है। सन् 1956 में मध्यपूर्व में, 1960 में कांगो में तथा 1964 में साइप्रस में इन उपायों का प्रयोग किया गया था। वास्तव में सयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अवरोधक कूटनीति का प्रयोग विगत कुछ वर्षों से प्रभावशाली रूप में किया जाने लगा है।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के बाध्यकारी समाधान
(Forcible or Compulsive Methods of Solving International Disputes)

जब राज्य मैत्रीपूर्ण साधनों से अपने विवादों का समाधान करने में असफल हो जाते हैं तो वे बाध्यकारी साधनों का प्रयोग करने लगते हैं। शान्तिपूर्ण साधनों तथा युद्ध के बीच कुछ ऐसे तरीके भी हैं जिनमें एक राज्य बल प्रयोग द्वारा अथवा दबाव डाल कर अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। बाध्यकारी साधनों में शस्त्रों का वास्तव में प्रयोग नहीं किया जाता अन्यथा वह युद्ध की स्थिति बन जाएगी। प्रो ओपेनहेम लिखते हैं—"मतभेदों के समाधान के बाध्यकारी साधन वे कहलाते हैं जिसमें बाध्यता का थोड़ा अंश होता है। इनका प्रयोग एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध इस उद्देश्य से करता है कि वह पहले राज्य द्वारा वांछित रूप में मतभेदों के समाधान को स्वीकार कर ले।" प्रो फेनविक के मतानुसार, 'बीसवीं सदी के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में अनेक ऐसे तरीके विकसित हो गए हैं जिनके द्वारा एक राज्य अन्य राज्य पर उसके विरुद्ध युद्ध छेड़े बिना ही भौतिक दबाव डाल सकता है।" जब एक राज्य युद्ध से कम भयानक साधनों से ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है तो वह उसी को प्राथमिकता देगा।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के बाध्यकारी साधनों में शक्ति का प्रयोग किया जाता है या जा सकता है इसलिए इनको केवल बड़ी शक्तियाँ ही कमजोर राज्य के विरुद्ध अपना सकती हैं। कमजोर राज्य इस चुनौती का मुकाबला करने के लिए युद्ध नहीं

छड़ सकते हैं और इसलिए भुक जाते हैं। सामान्यत. बड़ी शक्ति द्वारा अपनाए गए ये तरीके तीसरे राज्यों के हितों को कम प्रभावित करते हैं इसलिए वे यहाँ केवल निष्क्रिय दर्शक-मात्र बन जाते हैं। वे केवल परिणामों से परिचित होने मे ही रुचि लेते हैं। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून इन बाध्यकारी प्रणालियों के प्रयोग को प्रशासित करने वाले स्पष्ट नियमों का विकास न कर सका। ऐसी स्थिति मे कभी-कभी यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि कोई तरीका किस वर्गीकरण मे आता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर मे उन बाध्यकारी साधनों की सामान्य निन्दा की गई है जो युद्ध का कारण बन जाते हैं। सम्भव है कि कुछ समय बाद इन तरीकों का प्रयोग युद्ध की भाँति निन्दनीय बन जाए। बाध्यकारी साधनों का संक्षिप्त विवरण राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों पर प्रकाश डालने के लिए अधिक उपयुक्त रहेगा।

इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय है कि बाध्यकारी साधनों को अपनाने से पहले प्राय सम्बन्धित सरकारें परस्पर राजनयिक सम्बन्ध तोड लेती हैं। वह अपने दूतों को स्वदेश बुला लेती हैं। यह तरीका अपने आप मे बाध्यकारी प्रक्रिया का रूप नहीं है क्योंकि वह दूसरे राज्य को कोई नुकसान न पहुँचा कर उसे यह चेतावनी देता है कि उनका सम्बन्ध ऐसे बिन्दु पर आ पहुँचा है जहाँ साधारण राजनयिक सम्बन्ध भी नहीं चल सकते। सम्बन्ध तोड़ने के उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अनेक उपलब्ध होते हैं। इन्हें बाध्यकारी साधनों के प्रयोग की पूर्व सूचना कह सकते है। प्रमुख बाध्यकारी साधनों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

1 प्रतिक्रम (Retorsion)

यह एक अमैत्रीपूर्ण प्रक्रिया है, किन्तु यह न तो युद्ध कही जा सकती है और न ही युद्ध का कारण। यह एक बाध्यकारी तरीका होते हुए भी दूसरे राज्य को नुकसान पहुँचाने का तरीका नहीं है। इसके अन्तर्गत एक राज्य दूसरे राज्य के प्रति ऐसा अभद्र व्यवहार करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के अनुसार किया नहीं जाना चाहिए। इस प्रकार एक राज्य को अप्रत्यक्ष रूप से नुकसान पहुँचाया जा सकता है। प्रभावित राज्य इस अभद्र व्यवहार के प्रतिशोध के रूप मे कुछ कार्यवाही करता है। उदाहरण के लिए, राजनयिक सम्बन्ध तोडना, राजनयिक विशेषाधिकारियों और दूसरी रियायतों को समाप्त कर देना आदि। दूसरे राज्य के अन्यायपूर्ण और अभद्रतापूर्ण व्यवहार के बदले एक राज्य सम्बन्धित राज्य या उसके राष्ट्रकों की सामान्य स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा देता है। प्रतिक्रम के रूप मे किए गए ये प्रयास युद्ध नहीं कहे जा सकते और इन्हें अपनाने वाले राज्य के कानूनी अधिकार के अन्तर्गत होते हैं। 1904 मे जब रूसी जल मे से मछली पकड़ने वाले जापानी जहाजों को निकाल दिया गया तो जापान ने इसके बदले मे रूसी माल पर आयात कर लगाने की धमकी दी। भारतवर्ष ने दक्षिण अफ्रीका और पुर्तगाल के विरुद्ध इस तरीके को अपनाया। जब दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने भारतीयों के साथ रंग भेद की नीति को जारी रखा तो भारत सरकार ने अपने देश में बसे हुए

दक्षिण अफ्रीकी नागरिकों के विरुद्ध अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए और भारतीय उच्चायुक्त को वापिस बुला लिया।

आजकल इस प्रणाली का प्रयोग कम किया जाता है क्योंकि यह राज्य के अन्तरों को बढ़ाती है और सम्बन्धों को बदतर बनाती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा दो में यह कहा गया है कि सदस्य राज्य अपने विवादों को शान्तिपूर्ण साधनों से इस प्रकार तय करेंगे ताकि शान्ति, सुरक्षा और न्याय के लिए कोई खतरा पैदा न हो। प्रतिकर्म का यह तरीका जब शान्ति, सुरक्षा और न्याय के लिए खतरा पैदा करता है तो संघ के चार्टर की दृष्टि में गैर-कानूनी है। अतः इसका प्रभाव कम हो गया है।

2. प्रत्यपहार (Reprisals)

शक्ति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने का यह एक अन्य तरीका है। प्रत्यपहार एक व्यापक शब्द है और इसके अन्तर्गत वे सभी बाध्यकारी प्रयास आते हैं जो एक राज्य द्वारा राहत पाने के लिए स्वीकार किए जाते हैं। इसके अन्तर्गत बदले की भावना से की गई प्रत्यक्ष राज्य की उन चेष्टाओं को लिया जाता है जिन्हें वह अपने दुःखमोचन के लिए आवश्यक मानता है। प्रारम्भ में इसका अर्थ अन्य राज्य की सम्पत्ति या व्यक्तियों को जब्त कर लेना था, किन्तु आजकल इसका अर्थ एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के विरुद्ध ऐसे विवादों को सुलझाने के लिए अपनाए गए बाध्यकारी प्रयासों से है जो अन्य राज्य के अन्यायपूर्ण आचरण पर आधारित हैं।

यह तरीका आदिम-काल से चला आ रहा है। प्राचीन एथेन्स में यह व्यवहार प्रचलित था कि यदि कोई विदेशी किसी स्वदेशी को नुकसान पहुँचा दे तो उसकी या उसके साथी की सम्पत्ति को जब्त किया जा सकता था। मध्य युग के दौरान व्यापारियों ने इस व्यवहार का प्रयोग किया। कालान्तर में इसे सरकार ने अपना लिया। प्रारम्भ में यह विशेष प्रत्यपहार का तरीका कहा जाता था, किन्तु बाद में (19वीं शताब्दी में) इसे हटा दिया गया। प्रो. ब्रायर्ली के मतानुसार, शाब्दिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्यपहार का अर्थ "बदले की भावना से सम्पत्ति जब्त करना या व्यक्तियों को पकड़ना है।" एक राज्य अपने उस नागरिक को प्रत्यपहार-पत्र (Letter of Marque) दे देता था जिसे दूसरे राज्य में न्याय से वंचित किया गया है। इस पत्र द्वारा उसे यह अधिकार दिया जाता था कि वह दूसरे राज्य के प्रजाजन द्वारा पहुँचायी गई हानि का बल प्रयोग करके स्वयं बदला ले अथवा अपराधी राज्य के प्रजाजनों की सम्पत्ति लूट ले।

ओपेनहेम ने कहा है कि "प्रत्यपहार एक राज्य के दूसरे राज्य के विरुद्ध उसे हानि पहुँचाने वाले तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से ऐसे अवैध कार्य हैं जिन्हें अपवाद रूप में इसलिए करने की अनुमति दी जाती है ताकि दूसरे राज्य को उसके द्वारा किए गए अन्तर्राष्ट्रीय अपराध से उत्पन्न मतभेद का सन्तोष-जनक समाधान करने के लिए विवश किया जा सके।" प्रो. हॉल ने प्रत्यपहार के औचित्य और मर्यादा का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार, "यह युद्ध के भीषण विकल्प के निराकरण का साधन

है।" सिद्धान्त रूप से यह मानना चाहिए कि युद्ध की सम्भावना को कम करने वाला कोई भी कार्य पर्याप्त कारण होने पर अनुमति देने योग्य होता है। स्टार्क का यह कहना सही है कि—"प्रत्यपहार वे उपाय हैं जिनको एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध प्रतिकारात्मक कार्यवाही के रूप में अपनाता है।" इस कार्यवाही के कई रूप हो सकते हैं जैसे—किसी राज्य के माल का बहिष्कार, नौ-सैनिक प्रदर्शन, गोलाबारी तथा पोतावरोध आदि। मि सारेन्स ने प्रत्यपहार की परिभाषा करते हुए बताया है कि ये अपराधी पर दबाव डालने की रीतियाँ हैं। यद्यपि ये वास्तविक युद्ध की सीमा तक नहीं पहुँच पाती फिर भी पर्याप्त भयंकर होती हैं।

प्रत्यपहार केवल तभी न्यायोचित माना जा सकता है जबकि वह राज्य अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का दोषी हो जिसके विरुद्ध यह किया जा रहा है। इस तरीके को अपनाने से पहले अपराधी राज्य से उसके गलत कार्य का सन्तोषजनक कारण पूछा जाए। प्रत्यपहार की प्रकृति और मात्रा प्रभावित राज्य की हानि के अनुसार निश्चित होगी। प्रत्यपहार का मुख्य उद्देश्य विवाद का सन्तोषजनक समाधान है यह हमेशा ध्यान में रहना चाहिए। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकार पत्र में यह कहा गया है कि सदस्य राज्यों को किसी राज्य की राजनीतिक स्वतन्त्रता और एकता के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करने या इसकी धमकी देने से दूर रहना चाहिए। स्पष्ट है कि प्रत्यपहार में सैनिक शक्ति का प्रयोग गैर-कानूनी माना जाएगा।

प्रत्यपहार की नीति केवल राज्य के विरुद्ध ही नहीं अपनाई जाती वरन् उस राज्य के नागरिकों के विरुद्ध भी अपनाई जा सकती है। 1935 में यूगोस्लाविया के राजा सिकन्दर की हत्या के सन्देह में हंगरीवासियों को यूगोस्लाविया से निकाल दिया गया। संयुक्तराज्य अमेरिका और लाल चीन का एक दूसरे के प्रति व्यवहार इसका एक मुख्य उदाहरण है। कोरिया में चीन की घुसपैठ के कारण संयुक्तराज्य अमेरिका ने लाल चीन के निवासियों की सारी सम्पत्ति का अपहरण कर लिया और पीकिंग के साथ अपने व्यापार सम्बन्ध तोड़ लिए, फलतः पीकिंग सरकार ने प्रत्यपहार के रूप में 28 दिसम्बर, 1950 को एक आदेश जारी किया जिसके अनुसार चीन स्थित समस्त अमेरिकी सम्पत्ति को जब्त करके चीन सरकार ने अपने नियन्त्रण में ले लिया।

नियमानुसार प्रत्यपहार एक राज्य द्वारा व्यक्तिगत रूप से सम्पन्न किया जाता है किन्तु सामूहिक प्रत्यपहार भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए नशीले पदार्थों के निर्यात अथवा आयात पर पोतावरोध लगाना।

प्रत्यपहार के कई रूप होते हैं जैसे—निषेधात्मक, दृढ़, विशेष और सामान्य। दृढ़ प्रत्यपहार वह होता है जिसमें 'सर के बदले सर' की नीति अपनाई जाती है। यह एक प्रकार से जंगल के नियम का अनुगमन है और सभ्य संसार का सामान्य नियम नहीं बन सकता। निषेधात्मक प्रत्यपहार वह है जबकि प्रभावित राज्य ने किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का निर्वाह करने में उदासीनता दिखाई है, इसके विपरीत

सकारात्मक प्रत्यपहार के अन्तर्गत प्रभावित राज्य अन्तर्राष्ट्रीय अपराध करने का दोषी होता है।

विशेष प्रत्यपहार के अन्तर्गत दूसरे राज्य के कार्य से क्षति-ग्रस्त होने वाले कुछ लोगों को बदला लेने का अधिकार दे दिया जाता है। प्रारम्भ में प्रत्यपहार का यही रूप प्रचलित था। मध्य-कालीन यूरोप के राजा प्रायः दूसरे राज्य के नागरिकों द्वारा अपने नागरिकों को क्षति पहुँचाने के लिए प्रतिरोध नहीं ले सकते थे अत वे प्रजाजनों को ही इसका अधिकार सौंप देते थे। इस प्रकार प्रत्यपहार युद्ध की सम्भावना को टाल देता था। कालान्तर मे अनेक नियम विकसित किए गए ताकि प्रत्यपहार के दुरुपयोग को रोका जा सके। विशेष प्रत्यपहार का अन्तिम उदाहरण 1793 मे प्राप्त होता है जिसके अनुसार फ्रांसीसी सरकार ने जेनेवा के विरुद्ध मामलीज के एक व्यापारी को प्रत्यपहार-पत्र सौंपा।

सामान्य प्रत्यपहार के अन्तर्गत दोषी राज्य के जहाज और सम्पत्ति को जब्त करने का अधिकार समस्त सैनिकों और प्रजाजनों को सामान्य रूप से दिया जाता है। इतिहास मे सामान्य प्रत्यपहार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। 1861 मे ब्राजील के तट पर नष्ट हुए ब्रिटिश जंगी जहाज को वहाँ के निवासियों ने लूट लिया। ब्राजील-सरकार ने जब इस विषय मे क्षति-पूर्ति करने से मना कर दिया तो उसके पाँच जहाजों को ब्रिटिश बेडे द्वारा पकड लिया गया; विवश होकर ब्राजील सरकार को 3200 पौण्ड हर्जाने के रूप मे देने पडे।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने प्रत्यपहार की नीति को अवैध घोषित किया है फिर भी कुछ स्थितियों मे प्रो. स्टार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय अथवा सामूहिक प्रत्यपहार को वैध माना है। संघ के आदेश के अनुसार भी कभी-कभी इस नीति को अपनाया जाता है। कोरिया युद्ध के समय 18 मई, 1951 को महासभा द्वारा पारित प्रस्ताव इसका एक उदाहरण है।

3. अधिरोध (Embargo)

इसका शाब्दिक अर्थ बन्दरगाहों मे जहाजों को रोकना है। यह प्रत्यपहार का ही एक रूप है। एक देश बदले की भावना से दूसरे देश के व्यापारी जहाजों को अपने बन्दरगाह मे प्रवेश या निष्क्रमण से रोक सकता है। यह अधिरोध या पोतावरोध अथवा घटबन्दी कही जाएगी। इस नीति को अपनाकर एक राज्य क्षतिकर्त्ता राज्य को क्षतिपूर्ति करने के लिए बाध्य करता है।

जहाजों को रोकने के कई उद्देश्य हो सकते हैं। युद्ध से पूर्व विदेशी जहाजों के आवागमन पर इसलिए रोक लगाई जा सकती है ताकि वे राजनीतिक महत्त्व के समाचार अन्य देशों मे न फैलाएँ। युद्ध की सम्भावना के कारण शत्रु देश के जहाजों को रोक लिया जाता है, तटस्थ देशों के जहाज भी इसी प्रकार रोक लिए जाते हैं। सिसिलियन सरकार ने इङ्गलैण्ड के साथ की गई एक व्यापारिक सन्धि को तोड दिया, इसके बदले 1840 मे ग्रेट-ब्रिटेन ने भू-मध्य सागर मे सिसिलियन जहाजों को रोक लिया। इस प्रकार का पोतावरोध क्षति-पूर्ति करने के बाद समाप्त हो जाता है।

4 शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी (Pacific Blockade)

युद्ध काल में युद्ध कर्त्ता राज्य एक दूसरे के बन्दरगाहों की पूरी तरह से नाकाबन्दी करते हैं। यही कार्य जब शान्ति काल में किया जाता है तो इसे शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी कहते हैं। दोनों स्थितियों में इसका उद्देश्य प्रभावित राज्य पर प्रभाव डालना है। इसके द्वारा प्रभावित राज्य को मजबूर किया जाता है कि वह कर्त्ता राज्य की इच्छाओं का आदर करे। यह साधन शक्तिशाली राज्यों द्वारा अपनी नौ सेना के माध्यम से कमजोर राज्यों के विरुद्ध अपनाया जाता है। इसके अन्तर्गत दबाव डालने वाले देश के जहाज प्रभावित राज्य के बन्दरगाहों और तटों को इस प्रकार घेर लेते हैं कि दूसरे देशों के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध टूट जाते हैं।

यह नीति कभी-कभी शक्तिशाली राज्यों द्वारा सामूहिक रूप से भी अपनाई जाती है। ऐसी स्थिति में इसका उद्देश्य सभी सम्बन्धित पक्षों के हितों की पूर्ति होना है जैसे, किसी उपद्रव को शान्त करना, सन्धियों की उचित क्रियान्विति, युद्ध प्रारम्भ होने से रोकना आदि-आदि। उदाहरण के लिए 1886 में यूनान की नाकेबन्दी की गई ताकि टर्की के साथ उसके संघर्ष को रोका जा सके। 1902 में वेनेजुएला ने इटली, जर्मनी और ग्रेट-ब्रिटेन के ऋणों को अदा नहीं किया तो इन देशों की नौ सेनाओं ने उसका घेरा डाल दिया ताकि ऋण अदा करने के लिए उसे विवश किया जा सके। इस दृष्टि से शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी राज्यों के विवादों के सुलझाने की एक सामूहिक प्रक्रिया मानी जा सकती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकार पत्र की धारा-42 में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी का सुझाव दे सकती है।

नाकाबन्दी कमजोर राज्यों के विरुद्ध शक्तिशाली राज्यों का एक हथियार है और इसलिए इसके दुरुपयोग की सम्भावनाएँ रहती हैं। वास्तविक व्यवहार में इस साधन का प्रयोग अनेक बार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए किया गया है। इस पद्धति के कोई लाभ बताए जाते हैं। यह कहा जाता है कि नाकाबन्दी युद्ध की भाँति विध्वंसकारी नहीं है। इसमें इतनी लोचशीलता पायी जाती है कि इसे परिस्थितियों के अनुसार समायोजित किया जा सकता है। जिन उद्देश्यों का केवल युद्ध द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था उन्हें केवल शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी से ही प्राप्त कर लिया जाता है। बड़े राज्य इस साधन को प्रायः युद्ध के उत्तरदायित्व, असुविधा और बोझ से बचने के लिए अपनाते हैं।

कुछ विचारकों ने शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी की वैधता पर सन्देह किया है। 1887 में हीडेलबर्ग स्थित अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संस्था ने एक प्रस्ताव पास किया। इसके अनुसार शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी उस स्थिति में वैध है जब वह प्रभावपूर्ण हो, उचित रूप से अधिसूचित हो, पर्याप्त शक्ति से स्थापित की जाए और विदेशी ध्वजा वाले जहाजों से हस्तक्षेप न करती हो। नाकाबन्दी में जहाजों को केवल रोका जाए और इसके अतिरिक्त अन्य कोई कठोर कार्यवाही न की जाए। नाकाबन्दी समाप्त होने पर जहाजों को बिना क्षतिपूर्ति के छोड़ दिया जाए।

शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी का तीसरे राज्यों के व्यापार पर पड़ने वाला प्रभाव समय समय बदलता रहा है। प्रारम्भिक नाकाबन्दियों में तीसरे राज्यों के जहाजों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिए जाते थे, किन्तु बाद में यह नियम बन गया कि नाकाबन्दी से केवल प्रभावित राज्यों के जहाज ही प्रतिबन्धित किए जाएँगे। 1886 में यूनान की नाकाबन्दी करते समय इसी नियम को अपनाया गया। ब्रिटिश कानून वेत्ता मि होल के मतानुसार, "नाकाबन्दी मूल रूप से युद्ध की घटना है, जब तक इसमें तीसरे राज्यों के व्यापार पर हस्तक्षेप नहीं किया जाता तब तक इसका बहुत कम मूल्य है।" प्रथम विश्व युद्ध के बाद शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी से तृतीय राज्यों के व्यापार पर पड़ने वाले प्रभाव पर विचार किया गया। राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की धारा-16 में सामूहिक दबावों के प्रसंग में यह कहा गया कि तीसरे राज्यों को नाकाबन्दी से प्रभावित राज्य के साथ व्यापार की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती।

5 हस्तक्षेप (Intervention)

राज्यों के आपसी विवादों को सुलझाने का अन्य बाध्यकारी तरीका हस्तक्षेप है। दो राज्यों के विवादों को तय करने के लिए कभी-कभी एक शक्तिशाली राज्य मध्यस्थ के रूप में हस्तक्षेप करने लगता है। यह तीसरा राज्य अपनी शक्ति के आधार पर विवाद के पक्षों को अपना सुझाव मानने के लिए बाध्य करता है ताकि उनके मतभेद दूर हो सकें। प्रो ओपेनहेम के कथनानुसार, "इसका अर्थ दो राज्यों के विवाद में तीसरे राज्य द्वारा ऐसा तानाशाही हस्तक्षेप करना है जिसका उद्देश्य विवाद को हस्तक्षेपकर्ता राज्य की इच्छा के अनुसार सुलझाना होता है।" हस्तक्षेप पत्र-व्यवहार द्वारा प्रारम्भ होता है और बाद में यह चुनौती का रूप धारण कर लेता है। हस्तक्षेपकर्ता राज्य एक से अधिक भी हो सकते हैं और वे मिलकर अपनी बात स्वीकार कराने का प्रयास कर सकते हैं। यह हो सकता है कि हस्तक्षेप-कर्ता राज्य दोनों पक्षों को अपना विवाद पंच निर्णय को सौंपने को कहें।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के उपरोक्त बाध्यकारी साधनों के अतिरिक्त राज्य कुछ दूसरे साधन भी अपनाते हैं जिन्हें युद्ध से केवल इस आधार पर पृथक् किया जा सकता है कि उनमें औपचारिक मत मुटाव नहीं होते। यद्यपि इन साधनों में शस्त्रों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु घोषित न होने के कारण इनका प्रभाव सकुचित रहता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में प्रतिरोधात्मक या बाध्यकारी प्रक्रियाओं की व्यवस्था
(Procedures for Coercive Settlement under the Charter of the U. N. O)

चार्टर के अध्याय 7 की व्यवस्था के अनुसार विश्व-शान्ति व सुरक्षा के लिए सकट उत्पन्न होने, शांति भंग होने, अथवा विश्व के किसी भी क्षेत्र में सशस्त्र आक्रमण होने की दशा में संयुक्त राष्ट्रसंघ शांति एवं व्यवस्था की पुनर्स्थापना के उद्देश्य से यदि आवश्यक समझे तो बल प्रयोग कर सकता

है अथवा प्रतिरोधात्मक उपायों का आश्रय ले सकता है। सब बल-प्रयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान दो प्रकार से करने की चेष्टा करता है—प्रथम, जिसमें सशस्त्र सेना के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती एवं द्वितीय, जिसमें सशस्त्र सैन्य बल का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।

अनुच्छेद 39 के अनुसार सुरक्षा परिषद् ही इस बात का निर्णय करती है कि कौन सी चेष्टाएँ शान्ति के लिए खतरनाक, शान्ति भंग करने वाली अथवा आक्रमण की चेष्टाएँ समझी जा सकती हैं। इस अनुच्छेद के अनुसार परिषद् ही सिफारिश तथा निर्णय करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखने अथवा फिर से स्थापित करने के लिए क्या कार्यवाही की जानी चाहिए। अनुच्छेद 40 में यह व्यवस्था है कि किसी स्थिति को बिगड़ने से बचाने के लिए सुरक्षा-परिषद् अपनी सिफारिशें करने अथवा किसी कार्यवाही का निश्चय करने से पूर्व विवादी पक्षों से ऐसे अस्थायी कदम उठाने की मांग करेगी जिन्हें वह उचित या आवश्यक समझती हो। इन अस्थायी कदमों से विवादी पक्ष के अधिकारों, दावों या उनकी हैसियत का कोई अहित नहीं होगा। यदि कोई पक्ष इस प्रकार के अस्थायी कदम नहीं उठाता है, तो सुरक्षा-परिषद् इसका भी विधिवत् ध्यान रखेगी।

बल-प्रयोग के उपर्युक्त दोनों उपाय (जिसमें सशस्त्र सेना के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती तथा दूसरे, जिसमें इस प्रकार की आवश्यकता होती है) सुरक्षा-परिषद् के आदेशानुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों को मान्य होते हैं। इसका संचालन भी सुरक्षा परिषद् ही करती है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि चार्टर में कहीं भी 'आक्रमण', 'शान्तिभंग' 'शान्ति के लिए संकट', 'घरेलू मामला' आदि वाक्यों की व्याख्या नहीं की गई है। एक राष्ट्र की दृष्टि में जो 'आक्रमण' होता है वही दूसरे राष्ट्र की दृष्टि में 'घरेलू मामला' हो सकता है। इस प्रकार के सभी मामलों के निर्णय के लिए परिषद् के 5 स्थायी सदस्यों के मतों सहित कुल 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मत आवश्यक होते हैं और राजनीतिक गुटबन्दी के कारण यह कोई सरल कार्य नहीं है। अतः सुरक्षा-परिषद् ऐसे मामलों में प्रायः अविलम्ब कोई निर्णय नहीं ले पाती। यह सुरक्षा परिषद् की एक बड़ी कमजोरी है किन्तु एक बार इस निश्चय पर पहुँच जाने पर कि शान्ति के लिए संकट है अथवा शान्ति भंग हुई है, अथवा आक्रमण हुआ है—सुरक्षा-परिषद् तुरन्त कार्यवाही कर सकती है (अनुच्छेद 48)। इस प्रकार की कार्यवाही में सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार की अनुशास्तियाँ (Sanction) निहित हैं और संघ के सभी सदस्य परिषद् के निर्णयों पर अमल करने के लिए संघ के विधान के अनुसार बाध्य हैं। जब विवाद में सशस्त्र संघर्ष भड़क उठता है तो संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के समक्ष सर्वाधिक गम्भीर चुनौती उपस्थित हो जाती है। सिद्धान्ततः चार्टर के अनुच्छेद 7 के अनुसार विवादी पक्षों पर अनुशास्तियाँ लगाने की व्यवस्था है, तथापि संयुक्त राष्ट्रसंघ सामान्यतः दमनकारी या प्रतिरोध के उपायों से बचने की चेष्टा करता है और

कूटनीतिक, राजनीतिक तथा वैधानिक उपायों से समस्या को सुलझाने का प्रयास करता है। सशस्त्र संघर्ष को रोकने के लिए यद्यपि चार्टर में स्पष्ट शब्दों में युद्ध-विराम आदेश का कोई उल्लेख नहीं है, तथापि अनुच्छेद 40 की व्यापक व्याख्या करते हुए सुरक्षा-परिषद् संघर्षरत पक्षों को युद्ध-विराम के आदेश दे सकती है जो वास्तव में 'सिफारिशों' के रूप में होते हैं। अनेक मामलों में विवादी पक्ष युद्ध-विराम के लिए सहमत हो जाते हैं लेकिन इस बात की भी पूर्ण सम्भावना रहती है कि परिषद् के आदेश अथवा सिफारिश को ठुकरा दिया जाए। इण्डोनेशियाइयों और डचों, यहूदियों और अरबों, साइप्रस के यूनानियों और तुर्कों तथा दो अवसरों पर भारतीयों और पाकिस्तानियों के बीच युद्ध रोकने में सुरक्षा-परिषद् के युद्ध-विराम आदेश प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं।

अनुच्छेद 41 के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि सुरक्षा-परिषद् अपने निर्णयों पर अमल कराने के लिए ऐसी कोई भी कार्यवाही निश्चय कर सकती है जिसमें सशस्त्र सेना का प्रयोग न हो। वह संघ के सदस्यों से इस प्रकार की कार्यवाही करने की माँग कर सकती है। इन कार्यवाहियों के अनुसार आर्थिक सम्बन्ध पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से समाप्त किए जा सकते हैं; समुद्र, वायु, डाक-तार, रेडियो और यातायात के अन्य साधनों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है और कूटनीतिक सम्बन्धों का विच्छेद किया जा सकता है।

अनुच्छेद 42 में उल्लेख है कि यदि अनुच्छेद 41 के अधीन की गई उपर्युक्त कार्यवाहियाँ सुरक्षा-परिषद् की दृष्टि में अपर्याप्त हों अथवा अपर्याप्त सिद्ध हो गई हो तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की रक्षा के लिए या फिर से शान्ति स्थापित करने के लिए वह जल, थल और वायु सेनाओं द्वारा आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। इस कार्यवाही में विरोध-प्रदर्शन (Demonstration), नाकेबन्दी (Blockade) तथा संघ के सदस्य-राष्ट्रों की जल, थल और वायु सेनाओं द्वारा की जाने वाली कोई भी कार्यवाही सम्मिलित है।

अनुच्छेद 43 के अनुसार परिषद् ही इस बात का निश्चय करती है कि उपर्युक्त कार्यवाही संघ के कुछ सदस्यों द्वारा की जाय अथवा सभी सदस्यों द्वारा की जाय, तथा जो कार्यवाही की जाय वह स्वतन्त्र रूप से हो अथवा प्रत्यक्ष हो, अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से हो। सदस्य-राष्ट्रों का यह कर्त्तव्य है कि वे सुरक्षा-परिषद् के मांगने पर और विशेष समझौते अथवा समझौतों के अनुसार अपनी सशस्त्र सेनाएँ, सहायता तथा अन्य सुविधा (जिसमें मार्ग अधिकार, अर्थात् देश में होकर जाने का अधिकार भी सम्मिलित होगा) प्रदान करेंगे। व्यवस्था के अनुसार यदि इस प्रकार के समझौतों द्वारा यह निश्चय किया जाना था कि संघ का प्रत्येक सदस्य कितनी सहायता देगा, सेनाएँ कैसे उपलब्ध होंगी, वह अविलम्ब कार्यवाही करने के लिए कैसे तैयार होगी तथा प्रत्येक सदस्य किस प्रकार अन्य सुविधाएँ प्रदान करेगा, पर ऐसे समझौते अभी तक किए नहीं जा सके हैं। उस स्थिति में अनुच्छेद में यह व्यवस्था दी गई है कि 'जब सुरक्षा-परिषद् बल प्रयोग करने का

निश्चय कर ले तो किसी ऐसे सदस्य से, जिसे इसमें प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है, सशस्त्र सेनाएँ जुटाने के लिए कहने से पूर्व वह उस देश को, यदि वह सदस्य चाहे, तो उसकी सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग से सम्बन्धित निर्णय में भाग लेने को आमन्त्रित करेगी।"

अनुच्छेद 45 में प्रावधान है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही (Combined International Enforcement Action) के लिए अपनी-अपनी अन्तर्राष्ट्रीय वायु सेना के दल शीघ्रातिशीघ्र उपलब्ध कराएँगे ताकि संघ तुरन्त सैनिक कार्यवाही कर सके। यह भी स्पष्ट किया गया है कि इन सैनिक दलों की तैयारी के बारे में सुरक्षा-परिषद् अपनी सैनिक स्टाफ समिति की सहायता लेगी। अनुच्छेद 46 के अनुसार सैनिक स्टाफ समिति की मदद से सशस्त्र सेना को काम में लेने की योजनाएँ बनाई जाएँगी। अनुच्छेद के अनुसार परिषद् को अधिकार है कि वह निम्न विषयों पर सैनिक स्टाफ समिति का परामर्श और सहयोग प्राप्त करे—(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा-परिषद् की आवश्यकताएँ, (2) परिषद् के अधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान, (3) शस्त्रों का नियन्त्रण, तथा (4) सम्भावित निःशस्त्रीकरण। सैनिक स्टाफ समिति सुरक्षा-परिषद् के अधीन रखी गई है और वह सशस्त्र फौजों के सामरिक दृष्टिकोण से संचालन के लिए उत्तरदायी है।

चार्टर की इन व्यवस्थाओं से स्पष्ट है कि विश्व शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने अथवा पुनः स्थापित करने के लिए परिषद् को संविधानिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाया गया है, तथापि कुछ ऐसी संविधानिक दुर्बलताएँ और जटिलताएँ विद्यमान हैं जिनके कारण परिषद् व्यवहार में आशानुकूल सफल सिद्ध नहीं हुई है। प्रक्रियात्मक मामलों को छोड़कर शेष विषयों में निर्णय के लिए 5 स्थायी सदस्यों की सहमति अनिवार्य है जिसका अर्थ है कि कोई भी स्थायी सदस्य किसी भी उचित किन्तु अपने विरोधी दावे को निषेधाधिकार के प्रयोग से अमान्य ठहरा सकता है अथवा विश्व में शान्ति एवं सुरक्षा को स्थापित करने की दिशा में परिषद् की प्रभावकारी कार्यवाहियों में अवरोध उत्पन्न कर सकता है। और तो और, स्थिति को यथावत् रखने के उपायों में भी स्थायी सदस्यों की सहमति अनिवार्य है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि चाहे कोई स्थायी सदस्य स्वयं शान्ति भंग अथवा आक्रामक कार्यवाही का दोषी हो तो भी शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना की दृष्टि से बल प्रयोग या प्रतिरोधात्मक उपाय व्यवहार में नहीं लाए जा सकते। अब तक का इतिहास बतलाता है कि बड़े राष्ट्र, जो परिषद् के स्थायी सदस्य हैं, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बड़े झगड़ों के पीछे होते हैं, अतः परिषद् कोई कारगर उपाय प्रायः तब तक नहीं कर पाती जब तक उसे सभी बड़े राष्ट्रों से सहयोग न मिले। पुनश्च, चार्टर में 'आत्मरक्षा' एवं 'आक्रमण' का भेद स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित नहीं है। इसी अस्पष्टता का लाभ उठा कर उत्तरी कोरिया पर आक्रमण करने के मामले में केवल 16 राष्ट्रों ने ही संयुक्त राष्ट्रसंघ को सैनिक सहायता दी थी।

अनुशास्तियाँ
(Sanctions)

चार्टर में सैनिक और असैनिक दोनो प्रकार की अनुशास्तियो की व्यवस्था है। सैनिक अनुशास्तियो तथा उसके मार्ग मे आने वाली वैधानिक और व्यावहारिक कठिनाइयो का उल्लेख विस्तार से पूर्व-पृष्ठों मे किया जा चुका है। असैनिक अनुशास्तियो का, जिनका सांकेतिक रूप मे वर्णन किया जा चुका है, यहाँ कुछ विस्तार से उल्लेख आवश्यक है।

चार्टर मे, विशेषकर अत्यधिक स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 41 मे, असैनिक अनुशास्तियो की व्यवस्था है। इस अनुच्छेद के अधीन सुरक्षा-परिषद् अपने फैसलों पर अमल कराने के लिए ऐसी कार्यवाहियाँ निश्चित कर सकती है जिनमे सशस्त्र सेना का प्रयोग न हो। वह सघ के सदस्य-राष्ट्रो से इस प्रकार की कार्यवाहियाँ करने की माँग कर सकती है जिनके अनुसार—"(1) आर्थिक सम्बन्ध पूर्णत. या अशत: समाप्त किए जा सकते हैं, (2) समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और यातायात के अन्य साधनों पर पूर्णत. या अशत. प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं तथा (3) कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद किया जा सकता है।" नैतिक निन्दा (Moral Condemnation) को यद्यपि पृथक् से अनुशास्ति का कोई प्रकार या रूप नही बतलाया गया है, तथापि यह भी एक दण्ड है जो सयुक्त राष्ट्रसघ द्वारा उन राज्यो को दिया जा सकता है जो उसके निर्णयो या सिफारिशो पर कोई ध्यान न दें।

सयुक्त राष्ट्रसघ ने अपने जीवनकाल मे उपर्युक्त लगभग सभी अनुशास्तियो का प्रयोग किया है, पर दुर्भाग्यवश कोई भी अनुशास्ति वांछित सयुक्तराष्ट्रीय लक्ष्यो को प्राप्त करने मे सफल नहीं हो सकी है। नैतिक निन्दा (Moral Condemnation) का उपाय तो लगभग प्रभावहीन रहा है। ऐसा कोई भी राज्य, जो सयुक्त राष्ट्रसघ के दबाव को न मानने की जिद पर अड़ा हो, सघ के निन्दा-प्रस्तावो की प्राय कोई परवाह नही करता। जहाँ राष्ट्रीय हितो को गहरी ठेस पहुँचने की सम्भावना हो, वहाँ सघ की नैतिक निन्दा अप्रभावी रहती है, इसके विपरीत इससे तनाव का क्षेत्र बढ जाता है। इस प्रकार की निन्दा सोवियत सघ को सन् 1956 मे हगरी की क्रान्ति को कुचलने से नही रोक सकी थी और न ही सन् 1949 तथा 1950 मे हगरी, बल्गेरिया और रूमानिया को अपने राजनीतिक एव धार्मिक नेताओ की हत्या से विमुख कर सकी थी। कोरिया युद्ध मे चीनी हस्तक्षेप की निन्दा का पेकिंग पर कोई प्रभाव नही पड़ा था। अगणित निन्दा प्रस्तावो मे भी दक्षिण अफ्रीका के कानो मे जूँ नहीं रेंगी है और वह रग-भेद तथा जाति-भेद की अमानवीय नीति पर दृढतापूर्वक चलते हुए विश्व-जनमत को ठुकरा रहा है।

कूटनीतिक और आर्थिक अनुशास्तियाँ भी अधिक प्रभावकारी नहीं रही हैं। सन् 1966 तक सुरक्षा-परिषद् ने आदेशात्मक अनुशास्तियो (Mandatory Sanctions) की शक्ति का प्रयोग नही किया था, केवल रोडेशियाई मामले के एक अपवाद को छोड़कर सयुक्त राष्ट्रसघ की सभी असैनिक अनुशास्तियाँ मात्र सिफारिशों

के रूप में रही हैं जिन्हें सदस्य राष्ट्र स्वीकार करने या ठुकराने में वैधानिक रूप से स्वतन्त्र होते हैं। सन् 1946 में महासभा ने स्पेन में राजदूतों और मन्त्रियों को हटा लेने की सिफारिश की थी। साथ ही, संयुक्त राष्ट्रसंघीय अभिकरणों में स्पेन की सदस्यता पर प्रतिबन्ध लगाया था। महासभा को आशा थी कि इन उपायों से फासिस्ट फ्रांको-शासन घुटने टेक देगा, पर फ्रांको पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सन् 1950 में कूटनीतिक प्रतिबन्ध हटा लिए गए और सन् 1955 में स्पेन को संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी प्रवेश दे दिया गया। सुरक्षा-परिषद् द्वारा इजराइल और अरब-राष्ट्रों को शस्त्रास्त्र लाने वाले जहाजों पर रोक की सिफारिश का सन् 1955 तक तो बहुत कुछ अनुपालन किया गया, लेकिन उसी वर्ष रूस-मिस्र शस्त्र समझौते तथा इजराइल और बगदाद पैक्ट के सदस्यों को अमेरिकी सहायता दिए जाने के कारण मध्यपूर्व में शस्त्रों की एक नई दौड़ शुरू हो गई। सन् 1949 में महासभा ने अल्बानिया और बल्गेरिया को शस्त्रास्त्र न भेजे जाने के लिए पोतावरोध (Embargo) लगाया था। इस पोतावरोध का उद्देश्य यूनानी विद्रोहियों को पहुँचने वाली सहायता को रोकना था, पर यह अवरोध पूर्णत अप्रभावकारी रहा। साम्यवादी देशों ने, जो मुख्यत शस्त्र सहायता देते थे, पोतावरोध या अधिरोध को मानने से इन्कार कर दिया। इसी प्रकार सन् 1951 में महासभा ने यह प्रतिबन्ध लगाया कि जहाजों द्वारा चीन को युद्ध सामग्री न पहुँचाई जाए, पर अनेक देशों द्वारा इस प्रतिबन्ध की अवहेलना की गई।

सन् 1962 में महासभा ने दक्षिण अफ्रीका से आर्थिक और कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद की सिफारिश की ताकि उसे रंग-भेद की अमानवीय नीति के परित्याग के लिए विवश किया जा सके। लेकिन संयुक्तराज्य अमेरिका, ब्रिटेन, तथा अन्य देशों ने, जिनके दक्षिण अफ्रीका में व्यापक हित हैं, महासभा की सिफारिश पर कोई अमल नहीं किया। फिर भी सन् 1963 में महासभा और सुरक्षा परिषद् दोनों के द्वारा समर्थित शस्त्रास्त्रों के पोतावरोध पर काफी अमल किया गया।

नवम्बर, 1965 में दक्षिण रोडेशिया द्वारा एक-पक्षीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर देने पर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने आदेशात्मक असैनिक अनुशास्तियाँ लगाने का ऐतिहासिक निर्णय किया। *महासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा दक्षिण रोडेशिया सरकार के कार्य* की घोर निन्दा करते हुए सदस्य-राष्ट्रों से अनुरोध किया कि वे इयान स्मिथ की सरकार को मान्यता प्रदान न करें तथा उसके साथ व्यापार बन्द कर दें। महासभा ने यह प्रस्ताव 106 मतों के बहुमत से स्वीकार किया। विरोध में केवल पुर्तगाल और दक्षिण अफ्रीका दो ही राष्ट्र थे। अफ्रीकी एकता-संगठन (Organisation of African Unity) ने भी दक्षिण रोडेशिया से आर्थिक सम्बन्ध न रखने का निश्चय किया। पर इन सभी आर्थिक प्रतिबन्धों का कोई परिणाम नहीं निकला क्योंकि संयुक्तराज्य अमेरिका और ब्रिटेन के साम्राज्यवादी पूँजीपतियों की सहानुभूति स्मिथ-सरकार को प्राप्त होती रही। दक्षिण अफ्रीकी संघ और पुर्तगाल के दक्षिण अफ्रीकी उपनिवेशों की सीमाएँ दक्षिण रोडेशिया से मिली हुई हैं, अत वहाँ से भी उसे हर

तरह से सामान प्राप्त होता रहा। दिसम्बर, 1966 में ब्रिटेन और दक्षिण रोडेशिया की समझौता वार्ता भंग हो जाने के बाद, सुरक्षा-परिषद् ने शस्त्रों, तेल और मोटरगाड़ियों के आदेशात्मक प्रतिरोध तथा रोडेशिया के मुख्य निर्यातों के आदेशात्मक बहिष्कार का आदेश दिया पर सभी प्रतिबन्ध असफल सिद्ध हुए। नवम्बर, 1967 में महासभा ने इस मामले में शक्ति-प्रयोग करने पर बल दिया, किन्तु ब्रिटेन ने इस सिफारिश पर कोई अमल नहीं किया। वास्तव में रोडेशिया के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के ब्रिटिश प्रस्ताव भी प्रदर्शनात्मक ही अधिक थे। अप्रैल, 1968 में सुरक्षा-परिषद् ने रोडेशिया के विरुद्ध पूर्ण नाकेबन्दी के प्रश्न पर विचार किया और मई, 1968 में इस प्रस्ताव को पारित भी कर दिया, लेकिन गुप्त रूप से सभी आवश्यक सामग्री मिलते रहने के कारण रोडेशिया की अर्थ-व्यवस्था पर इस नाकेबन्दी का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

इन सभी उदाहरणों के आधार पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि सैन्य, और कूटनीतिक तथा आर्थिक अनुशास्तियों का इतिहास संयुक्त राष्ट्रसंघ के जीवन काल में अब तक असफलता की कहानी ही रहा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपातकालीन-सेना
(UN Emergency Force UNEF)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में संयुक्तराष्ट्रीय आपातकालीन सेना एक नवीन प्रवर्तन थी। सन् 1959 में स्वेज नहर-विवाद के समय इस आपातकालीन सेना के विचार को साकार रूप प्राप्त हुआ। 29 अक्तूबर, 1956 को मिस्र पर इजराइल के भीषण आकस्मिक आक्रमण और तत्पश्चात् तुरन्त ही ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा इजराइल के पक्ष में सैनिक हस्तक्षेप ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए भयानक संकट उपस्थित कर दिया। विवाद में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से महाशक्तियों के उलझे हुए होने से महायुद्ध का खतरा उत्पन्न हो गया।

30 अक्टूबर को सुरक्षा-परिषद् में सब राष्ट्रों से मिस्र में सेना का प्रयोग न करने की प्रार्थना करने वाला प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन के वीटो के कारण पारित नहीं हो सका। अमेरिका द्वारा प्रस्तुत इस प्रस्ताव के रद्द हो जाने पर 'शान्ति के लिए एकता' (Uniting for Peace) प्रस्ताव के अन्तर्गत महासभा का सत्रकालीन *अधिवेशन आयोजित किया गया। ब्रिटिश विरोध के बावजूद 2 नवम्बर, 1956 को* महासभा ने अमेरिका का एक प्रस्ताव प्रबल बहुमत से पारित कर दिया जिसमें स्वेजनहर प्रदेश में ब्रिटिश, फ्रेंच और इजरायल सैनिक कार्यवाही पर गम्भीर चिंता व्यक्त की गई तथा अविलम्ब युद्ध बन्द करने और फौजें हटा लेने पर बल दिया गया। तत्पश्चात् 4 नवम्बर को महासभा ने कनाडा का यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि महासचिव श्री 'डाग हैमरशोल्ड मिस्र में युद्ध बन्द कराने तथा युद्ध-विराम की देख-भाल के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक आपातकालीन सेना (UN Emergency Force : UNEF) की योजना प्रस्तुत करें।

श्री हैमरशोल्ड ने जो योजना प्रस्तुत की उस पर 7 नवम्बर, 1956 को

महासभा ने अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी। जनरल बर्न्स और उनका कर्मचारी वर्ग आपातकालीन सेना की प्रथम टुकड़ियों (The first units) को सम्भालने के लिए केपोडिचीनो (Capodichino) पहुँच चुके थे। 10 नवम्बर को आपात्कालीन सेना की प्रथम टुकड़ियाँ आ पहुँची और ठीक पाँच दिन बाद संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना का पहला दस्ता इस्माइलिया के 10 मील पश्चिम में अबूसुवैर (Abu Suweir) हवाई क्षेत्र में उतर गया। इतनी देर भी इसीलिए हुई कि संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपात्कालीन सैनिक दस्तों के प्रवेश के बारे में मिस्र की अनुमति पर्याप्त कठिनाई के बाद मिल सकी। कुल मिलाकर 10 देशों की सैनिक टुकड़ियों से बनी 6 हजार सैनिकों की अन्तर्राष्ट्रीय सेना शान्ति-स्थापना के लिए मिस्र भेजी गई।

अन्तर्राष्ट्रीय आपात्कालीन सेना के प्रस्ताव को ब्रिटेन और फ्रांस ने मानने से आनाकानी की थी। स्वेज काण्ड में इन दोनों राष्ट्रों का रुख संघ का शान्ति-कार्यों में सहयोग न देने का था। इस पर 5 नवम्बर को सोवियत संघ ने आक्रमणकारियों को स्पष्ट शब्दों में यह चेतावनी दे दी थी कि एक निश्चित समय तक मिस्र पर युद्ध बन्द नहीं किया गया तो सोवियत संघ नवीनतम शस्त्रों के साथ इस संकट में हस्तक्षेप करेगा। अमेरिका ने भी मिस्र में फ्रांस और ब्रिटेन की सैनिक कार्यवाही का समर्थन नहीं किया और खुले तौर पर उनके काम को गलत बताया। इन परिस्थितियों में ब्रिटेन और फ्रांस अपनी सैनिक कार्यवाही को रोकने के लिए बाध्य हो गए तथा 5 नवम्बर को महासचिव ने संघ को यह सूचित किया कि 6–7 नवम्बर की मध्य रात्रि में ऐंग्लो फ्रेंच फौजें युद्ध बन्द कर देंगी। इसके तुरन्त बाद 7 नवम्बर को महासभा में एशिया-अफ्रीका के देशों का एक प्रस्ताव पारित हो गया कि आक्रमणकारी फौजें मिस्र की भूमि से हट जाएँ तथा स्वेजनहर के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की व्यवस्था की जाए। मिस्र ने इस आश्वासन पर कि संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना के रहने पर उसकी प्रभुसत्ता को कोई आँच नहीं आएगी, अफ्रो-एशियाई देशों का प्रस्ताव मान लिया। इस प्रस्ताव के अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय आपात्कालीन सेना के निर्णय के लिए ब्राजील, कनाडा, श्रीलंका, कोलम्बिया, भारत, नार्वे और पाकिस्तान—इन देशों की एक समिति बनाई गई। इस सम्पूर्ण कार्यवाही के बाद 15 नवम्बर को आपात्कालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुँचा।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-सेना गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात हो गई ताकि इजरायल और अरब में पुनः कोई संघर्ष न छिड़ जाए। पर दुर्भाग्यवश इजरायल और अरब-राष्ट्रों के बीच तनातनी तब विशेष रूप से विस्फोटक हो गई जब 18 मई, 1967 को संयुक्त अरब गणराज्य के तत्कालीन राष्ट्रपति नासिर ने महासचिव ऊ-थाण्ट से गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के सभी संघीय सैनिक हटा लेने की माँग की। चूँकि यह मिस्र की प्रभुसत्ता का मामला था, अतः सम्भावित खतरे को समझते हुए भी, 19 मई को महासचिव मिस्र की सीमा से अन्तर्राष्ट्रीय सेना हटाने को सहमत हो गए और इस निश्चय के अनुरूप

सेना को हटाने की कार्यवाही भी शुरू करदा गई। महासचिव ऊ थाण्ट ने सम्पूर्ण स्थिति का सही मूल्यांकन करते हुए कहा—"सेनाओं को वहाँ से हटाने का अर्थ स्पष्ट रूप से यह होगा कि संयुक्त अरब गणराज्य और इजराइल की सेनाएँ एक-दूसरे के आमने सामने हो जाएँगी और आज तक जो शक्ति दोनों के बीच शान्ति स्थापित किए हुए थी, वह हट जाएगी। मुझे इस बात का दुःख है, मगर इसके सिवाय मेरे पास कोई चारा नहीं है।"

सन् 1956 में सिनाई मरुस्थल में इजराइल और संयुक्त अरब गणराज्य के बीच एक असैनिक क्षेत्र की स्थापना की गई थी और इस क्षेत्र में शान्ति बनाए रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपातकालीन सेना नियुक्त की गई थी जिसने भारत के जनरल इन्द्रजीत रिखी के नेतृत्व में शान्ति स्थापना में महत्त्वपूर्ण योग दिया था, लेकिन राष्ट्रपति नासिर की माँग पर उसके विघटन से इस क्षेत्र में पुनः अनिश्चय और अस्थिरता व्याप्त हो गई और तब 5 जून, 1967 को अरब-राष्ट्रों तथा इजराइल के बीच घमासान युद्ध छिड़ गया जिसमें इजराइल ने अरबों को बुरी तरह पराजित किया। अन्त में 8 9 जून को युद्ध-विराम हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने दोनों पक्षों से युद्ध-विराम का यथोचित रूप में पालन न करने की अपील की। 10 जुलाई को स्वेज के किनारे संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रेक्षक रखने पर संयुक्त अरब गणराज्य सहमत हो गया और 16 जुलाई से स्वेज नहर क्षेत्र में संघ के पर्यवेक्षकों की देख रेख में युद्ध-विराम लागू हो गया।

नवम्बर, 1956 में संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपातकालीन सेना की स्थापना के लिए तत्कालीन महासचिव हैमरशोल्ड ने जो योजना प्रस्तुत की, उसमें इस सेना के संगठन और कार्यों का अनुशासित करने की दृष्टि से आधारभूत सिद्धान्त निरूपित किए गए थे। इन सिद्धान्तों में प्रमुख इस प्रकार थे[1]—

1 आपातकालीन सेना में हिस्सा बँटाने से महाशक्तियों को दूर रखा जाए।

2 सेना का राजनीतिक नियन्त्रण महासचिव के हाथों में रहे जिसे एक सैनिक परामर्शदात्री समिति द्वारा आवश्यक सहायता मिलती रहे। इस समिति में मुख्यतः उन्हीं राज्यों के प्रतिनिधि हों जो आपातकालीन सेना में हिस्सा लें।

3 आपातकालीन सेना स्वयं को असैनिक अथवा अर्धसैनिक कार्यों तक ही सीमित रखे।

4 सेना की राजनीतिक तटस्थता कायम रखी जाए और उसके कार्यों को भली प्रकार परिभाषित किया जाए ताकि युद्ध छिड़ने से पहले के राजनीतिक सन्तुलन की पुनर्स्थापना करना सुगम हो।

5 सेना के संगठन और कार्य का निर्धारण करने का अधिकार संघ को हो, तथापि अपने क्षेत्र में आपातकालीन सेना रखने के बारे में गृहणकर्त्ता देश (Host Country) की सहमति अनिवार्य हो।

1 *Plano and Riggs* : Forging World Order—the Politics of International Organisation.

6 वेतन और साज-सज्जा के व्यय का भार सेना में भाग लेने वाले देश वहन करें तथा सेना के अन्य सब खर्चे संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामान्य बजट से बाहर, सभी सदस्य-राज्यों पर विशेष चन्दे द्वारा जुटाए जाएँ।

सन् 1956 के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपात् सेना के व्यावहारिक प्रयोग के अनुभव के आधार पर उपर्युक्त सिद्धान्तों में न्यूनाधिक परिवर्तन और सुधार किए जाते रहे हैं। व्यवहार में महासचिव ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी भी ऐसे सदस्य-राज्य की सैनिक टुकड़ी को संयुक्तराष्ट्रीय आपातकालीन सेना में स्थान नहीं दिया जिसका विवाद में कोई विशेष हित अथवा स्वार्थ निहित था। सन् 1958 में श्री हैमरशोल्ड ने आपातकालीन सेना पर जो रिपोर्ट प्रस्तुत की उसमें संयुक्त राष्ट्रसंघीय शान्ति-रक्षक सेनाओं (U N Peace-keeping Forces) के सम्भावित कार्यों के बारे में कुछ और भी निष्कर्ष निकाले गए,[1] यथा—

1. शान्ति-सेना को अपनी पैतृक निकाय (Parent body) के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी रहना चाहिए, किन्तु प्रशासकीय दृष्टि से उसे महासचिव के निर्देशों के अधीन संयुक्त राष्ट्रसंघीय सचिवालय के साथ एकीकृत होना चाहिए।

2 परामर्शदात्री समिति को चाहिए कि वह महासचिव को उनके उत्तरदायित्वों के प्रयोग में केवल परामर्श दे। वह महासचिव को नियन्त्रित करने का प्रयत्न न करे।

3. शान्ति सेना के लिए आवश्यक है कि वह आन्तरिक संघर्षों में कोई पक्ष न बने। जो संघर्ष अथवा विवाद अपनी प्रकृति में आवश्यक रूप से आन्तरिक हो, उनमें शान्ति-सेना को नहीं फँसाना चाहिए। किसी विशिष्ट राजनीतिक समाधान को लागू करने के लिए अथवा ऐसे समाधान में निर्णायक राजनीतिक सन्तुलन को प्रभावित करने के लिए शान्ति-सेनाओं का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

4 यद्यपि शान्ति-सेना को सशस्त्र-संघर्ष में नहीं उलझना चाहिए तथापि उसे आत्म-रक्षा का अधिकार होना चाहिए। गोली-वर्षा में शान्ति-सेना को पहल नहीं करनी चाहिए वरन् आत्म-रक्षा के लिए ही जवाबी गोली-वर्षा करनी चाहिए।

5 यदि सैनिक टुकड़ियाँ राष्ट्रीय सेवा में रहे तो सेना प्रदान करने वाले राज्यों का व्यय वहन करना चाहिए। अन्य समस्त व्यय संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य-राज्यों द्वारा संयुक्तराष्ट्रसंघीय चन्दे से सामान्य अनुपात में वहन करना चाहिए।

महासभा यह नहीं चाहती थी कि वह कोई भी ऐसा कार्य कर बैठे जिससे भविष्य में शान्तिरक्षक सेनाओं की भरती के बारे में संयुक्त राष्ट्रसंघ वचनबद्ध हो जाए। इसीलिए असंदिग्ध रूप से नवम्बर, 1956 और 1958 के सिद्धान्तों द्वारा कांगो, पश्चिमी न्यूगिनी तथा साइप्रस में नियुक्त की गई शान्तिरक्षक सेनाओं को राजनीतिक मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। व्यय सम्बन्धी समस्या को छोड़कर अधिकांश मामलों में यह सिद्धान्त निश्चित रूप से वह आधार प्रदान करते हैं जिन पर भावी संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेनाओं की नियुक्ति की जा सकेगी।

---

19 युद्ध के नियम; युद्ध की परिभाषा और प्रकृति; युद्ध की घोषणा; युद्ध के प्रभाव; व्यक्ति, सम्पत्ति और निगम आदि की शत्रु-चरित्रता

(The Laws of War, Definition and Nature of War; Declaration of War; Effects of War, Enemy Character of Person, Property, Corporation etc)

युद्ध का इतिहास मानव-जाति का इतिहास रहा है। राजनीतिक सस्थाओं, विशेषकर राज्य के विकास मे शक्ति अथवा युद्ध की महत्वपूर्ण भूमिका रही है और सभ्यता के विकास के साथ-साथ युद्ध की भयानकता बढ़ती गयी है। आज के परमाणु युग में कोई महायुद्ध कितना भयानक हो सकता है—इसकी कल्पना भी कठिन है। प्राय यही स्वीकार किया जाता है कि कोई भी तृतीय विश्व-युद्ध, जिसमे अणु-आयुधों का खुलकर प्रयोग किया जाएगा, मानव सभ्यता को ध्वस्त कर देगा। विजित और विजेता की स्थिति समान होगी। युद्ध के इसी भय की दृष्टि से नि'शस्त्रीकरण के प्रयास किए जा रहे हैं, तथापि अभी तक जो सफलता मिली है वह ऊँट के मुँह मे जीरे के समान है।

वर्षभर के मौसमो की भाँति सभ्यता सामयिक युद्धों से प्रभावित रही है। यद्यपि उनके उद्देश्य और स्वरूप मे समय समय पर परिवर्तन होता रहा है, किन्तु युद्ध प्राय हर युग मे रहे हैं। प्रारम्भ म प्रदेश प्राप्ति एव व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए युद्ध किए जाते थे, बाद मे विचारधारागत कारणों ने मानव-जाति को चुनौती देना प्रारम्भ किया। युद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अन्तिम दबाव माना जाता है।

युद्ध की परिभाषा एव प्रकृति
(Definition and Nature of War)

युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने का एक ऐसा साधन है जो दूसरे साधनों के असफल होने पर प्रयुक्त किया जाता है। युद्ध के अन्तर्गत विवाद के दोनो पक्ष शस्त्रों का प्रयोग करके अपनी बात स्वीकार करवाना चाहते है। वे नियमित सेनाओं का प्रयोग उस समय तक करते हैं जब तक कि एक पक्ष दूसरे पक्ष पर विजय प्राप्त न कर लें। विभिन्न विचारकों ने युद्ध की परिभाषा प्रस्तुत की है।

कुछ विद्वानों ने युद्ध को परिभाषित करते हुए इसे दो या अधिक राज्यों के बीच सशस्त्र सेनाओं द्वारा संघर्ष माना है। यह परिभाषा पूर्ण नहीं है क्योंकि इसमें उस स्थिति को भी युद्ध माना गया है जिसमें केवल एक पक्ष युद्ध की घोषणा करके सेना का प्रयोग करे और दूसरा पक्ष उदासीन रहे। सामान्य रूप से युद्ध सशस्त्र शक्ति के प्रयोग द्वारा दो राज्यों के बीच किया गया हिंसात्मक संघर्ष है। किसी भी एक राज्य द्वारा युद्ध की घोषणा किए बिना सेना का एक पक्षीय प्रयोग युद्ध प्रारम्भ होने का कारण बन सकता है किन्तु उस समय तक युद्ध नहीं कहा जाएगा जब तक कि दूसरा पक्ष भी इसकी प्रतिक्रिया में ऐसा ही न करे।

क्विंसी राइट के अनुसार युद्ध व्यापक अर्थ में—"स्पष्टतः भिन्न किन्तु एक ही इकाइयों के बीच हिंसापूर्ण सम्पर्क है।" युद्ध के सीमित और संकीर्ण अर्थ को स्पष्ट करते हुए क्विंसी राइट ने लिखा है कि इसका अभिप्राय, "उस कानूनी स्थिति से है जो दो या उससे भी अधिक विरोधी समुदायों को सशस्त्र सेनाओं के माध्यम से संघर्ष के संचालन की समान रूप से अनुमति प्रदान करती है।"

प्रो मेलिनोस्की (Prof Malinoski) के मतानुसार युद्ध राजनीतिक इकाइयों के बीच का सशस्त्र संघर्ष है। यह राष्ट्रीय अथवा जातीय नीतियों की साधना के लिए संगठित सैनिक शक्तियों द्वारा किया जाता है। मेलिनोस्की की इस परिभाषा का तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. युद्ध करने वाली इकाइयाँ राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र होती हैं।

2. युद्ध एक सशस्त्र संघर्ष है जो संगठित सैनिक शक्तियों द्वारा किया जाता है।

3. युद्ध जातीय (Tribal) अथवा राष्ट्रीय नीतियों की साधना के लिए किया जाता है।

युद्ध की इस परिभाषा में युद्ध की जो विशेषताएँ बताई गई हैं, वे प्रायः एक साथ संयुक्त रूप में प्रत्येक युद्ध में प्राप्त नहीं होतीं। उदाहरण के लिए गृहयुद्ध होते हैं तो उनके कर्त्ता दो स्वतन्त्र राजनीतिक इकाइयाँ नहीं होतीं। इसी प्रकार वर्तमान काल में आर्थिक-युद्ध शीत-युद्ध, राजनीतिक-युद्ध आदि में संगठित सशस्त्र सेनाओं का सहारा नहीं लिया जाता। सन् 1965 का भारत-पाक संघर्ष संगठित सशस्त्र सेनाओं द्वारा राष्ट्रीय नीति की साधना के लिए किया गया दो स्वतन्त्र राजनीतिक इकाइयों के बीच का संघर्ष था किन्तु ऐसा होते हुए भी उसको तकनीकी अर्थों में युद्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनों देशों के बीच राजनीतिक सम्बन्ध बने हुए थे तथा किसी भी पक्ष द्वारा सरकारी तौर पर युद्ध की घोषणा नहीं की गयी थी।

नवीन अंग्रेजी शब्दकोष द्वारा की गयी परिभाषा गृहयुद्ध को भी अपने में समाहित कर लेती है। उसके अनुसार युद्ध सशस्त्र शक्ति द्वारा शत्रुतापूर्ण व्यवहार है जो कि राष्ट्रों, राज्यों या शासकों के बीच होता है या एक ही देश के दलों के बीच होता है। यह विदेशी शक्ति के विरुद्ध या उसी राज्य के विरोधी दल के विरुद्ध

सैनिक-शक्ति का प्रयोग है। युद्ध के सामान्य स्वरूप को चित्रित करने वाली एक दूसरी परिभाषा सरल शब्दों में हाफमैन निकर्सन (Hoffman Nickerson) द्वारा की गयी है। वे कहते हैं कि युद्ध दो ऐसे मानव-समूहों के बीच किया जाने वाला व्यवस्थित बल प्रयोग है जो विरोधी नीतियों का अनुसरण करते हैं तथा जिनमें से प्रत्येक अपनी नीति को दूसरे पर लादने का प्रयत्न करता है। युद्ध के एक जर्मन विचारक कार्ल क्लॉजविच (Karl Clausewitz) का कहना है कि 'युद्ध' राजनीतिक व्यवहार का आवश्यक अंग है और इसलिए अपने आप में कोई अलग चीज नहीं है। युद्ध और कुछ नहीं, केवल कुछ अन्य साधनों के साथ राजनीतिक व्यवहार (Political Intercourse) है। पामर तथा पर्किन्स के कथनानुसार, क्लॉजविच की परिभाषा उपयुक्त नहीं है, फिर भी यह सच है कि इसके द्वारा युद्ध के स्वरूप की एक झलक का आभास मिलता है। 'न शक्ति न युद्ध' की जो स्थिति वर्तमान में है उसका इसके द्वारा दिग्दर्शन कराया गया है।

युद्ध की कुछ अन्य प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

प्रो. लारेन्स के मतानुसार, "युद्ध राज्यों अथवा राज्य तथा जातियों के बीच सरकारी शक्ति द्वारा किया गया संघर्ष है, जिसका उद्देश्य शान्तिपूर्ण सम्बन्धों को समाप्त करके उसके स्थान पर शत्रुता की स्थापना करना है।" वैस्टलेक के शब्दों में, "युद्ध सरकारों की वह स्थिति है जिसमें वे सेना द्वारा स्पर्द्धा करती है।"

प्रो. हाल के मतानुसार, "जब राज्यों के बीच मतभेद इस सीमा तक पहुँच जाते हैं कि दोनों पक्षकार शक्ति का प्रयोग करते हैं या उनमें एक हिंसा का प्रयोग करता है जिसको दूसरा पक्षकार शान्ति का उल्लंघन मानता है, युद्ध का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिसमें युद्धरत देश के सैनिक एक-दूसरे के विरुद्ध तब तक नियमित हिंसा का प्रयोग करते हैं, जब तक कि दोनों में से एक शत्रु की इच्छित शर्तों को नहीं मानता।"

युद्ध की जो विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं, उनके आधार पर युद्ध के सभी रूपों का स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। तथापि इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर युद्ध के निम्नलिखित मुख्य तत्त्व उजागर होते हैं—

1 युद्ध के लिए एक से अधिक समूहों की आवश्यकता होती है। इन समूहों के मूल उद्देश्य परस्पर विरोधी होते हैं।

2 इन समूहों के हित परस्पर इतने विरोधी और उग्र हो जाते हैं कि समझौते की सम्भावना प्रायः नहीं रहती। यदि सम्भावना होती भी है तो भी दोनों पक्ष या कोई एक पक्ष सशस्त्र संघर्ष की ही ठान लेता है। भारत-पाक युद्ध के सन्दर्भ में यह स्थिति हमारे समक्ष स्पष्ट है।

3 अपने हितों की प्राप्ति के लिए शक्ति का कई प्रकार से व्यवस्थित प्रयोग किया जाता है।

4. युद्ध का उद्देश्य अपने हितों को प्राप्त करना और दूसरे पक्ष पर अपनी इच्छा को थोपना होता है।

सबसे प्रमुख बात तो यह है कि युद्ध के माध्यम से कोई राष्ट्र अपने हित की अभिवृद्धि का ही आकांक्षी होता है। यदि किसी देश को युद्ध से किंचित मात्र भी लाभ की आशा दिखाई न देती हो तो वह इतनी भारी राष्ट्रीय जोखिम उठाने को तैयार नहीं होगा। लेकिन कभी-कभी यह भी होता है कि एक राष्ट्र युद्ध न चाहते हुए भी युद्ध में फँस जाता है। यह भी होता है कि युद्धोन्माद में राष्ट्र अपने हानि-लाभ को सोचने का सन्तुलन खो बैठता है और युद्ध छेड़ देता है। भारत पर पाकिस्तान का आक्रमण इस मनोदशा का ज्वलन्त उदाहरण है। सामान्यतः युद्ध केवल आवश्यक हितों की प्राप्ति के लिए ही अपनाया जाता है, साधारण हित तो समझौतों द्वारा ही प्राप्त किए जा सकते हैं।

युद्ध की धारणा में परिवर्तन और संशोधन की आवश्यकता

इस सम्बन्ध में विभिन्न उदाहरणों और स्टार्के के मत का उल्लेख करते हुए डॉ. एस. के. कपूर ने लिखा है—

"युद्ध की परिभाषा के अनुसार युद्ध मुख्यतः युद्धरत देशों की फौजों के बीच का संघर्ष है, परन्तु वर्तमान युद्ध में ऐसा देखा जाता है कि युद्ध न केवल फौजों में होता है बल्कि इससे उन देशों के नागरिक भी प्रभावित रहते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण द्वितीय विश्वयुद्ध में नागासाकी तथा हिरोशिमा पर अणुबम का गिराया जाना है, जिसमें लाखों व्यक्ति हताहत हुए। अतः युद्धों की पुरानी परिभाषा वर्तमान युद्धों के अनुरूप नहीं है। स्टार्के के अनुसार, वर्तमान समय के युद्धों का अध्ययन करने से यह ज्ञान होता है कि युद्ध की पुरानी मान्यताओं में अनेक परिवर्तन आ गए हैं। वर्तमान समय में अनेक युद्ध हुए हैं जिसमें न तो युद्ध की घोषणा हुई और न ही युद्ध के सभी नियमों का पालन हुआ और न ही युद्ध के वह प्रभाव हुए जो युद्ध के नियमों के अनुसार होने चाहिए। इसके उदाहरण हैं—सन् 1950 से सन् 1953 तक कोरिया का संघर्ष, इण्डोचाइना की लड़ाई, सन् 1960 से सन् 1964 तक काँगो का संघर्ष तथा सन् 1965 का भारत-पाक संघर्ष। चूँकि युद्ध की घोषणा नहीं होती है, इसलिए न तो युद्ध की विधि के अनुसार पूरे प्रभाव हो पाते हैं और न ही तटस्थ देशों के उत्तरदायित्व तथा अधिकार निर्धारित हो पाते हैं। स्टार्के ने इस प्रकार के युद्धों को गैर-युद्ध संघर्ष कहा है। स्टार्के के अनुसार इस नई कोटि के युद्ध के विकास के निम्नलिखित कारण हैं—

1. सम्बन्धित राज्य नहीं चाहते कि उनके संघर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय विधि में उत्पन्न उत्तरदायित्वों का उल्लंघन माना जाए। उदाहरण के लिए, वह नहीं चाहते कि यह माना जाए कि उन्होंने पेरिस सन्धि, 1928 का उल्लंघन किया है। इस सन्धि में सम्बन्धित राष्ट्रों ने युद्ध को राष्ट्रीय नीति के रूप में समस्याओं को दूर करने के लिए परित्याग किया था।

2. युद्धरत देश यह चाहते हैं कि युद्ध न करने वाले देश अपनी तटस्थता की घोषणा न कर पाएं। इस प्रकार युद्ध पर तटस्थता के नियम लागू न हो सकें।

3 उनकी यह भी इच्छा होती है कि वह संघर्ष के क्षेत्र को सीमित रखे तथा उसको सामान्य युद्ध का रूप न लेने दें।

डॉ. नगेन्द्रसिंह के अनुसार युद्ध के ढंगों में परिवर्तन तथा विनाशकारी शस्त्रों के विकास तथा आणविक शक्ति विकास के परिणामस्वरूप यह आवश्यक हो गया है कि युद्ध के नियमों में संशोधन किया जाए।

युद्ध के कारण
(Causes of War)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विषय है—युद्ध के कारण। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक विवाद आखिर क्यों हिंसात्मक बन जाते हैं? अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के पृष्ठ खून से रंगे हुए हैं और एक नैतिकतावादी यह प्रश्न कर सकता है कि लोग युद्ध में उस व्यवहार को क्यों क्षमा कर देते हैं जिस व्यवहार को वे शान्तिकाल में सहन करने को तैयार नहीं होते। क्या युद्ध मानवीय सामाजिक व्यवस्था में एक अन्तर्राष्ट्रीय रोग है एक सामूहिक पागलपन अथवा उन्माद है, न डियों से गिर पड़ने जैसा एक दुष्कृत्य है? क्या यह कतिपय हितों और गुटों के षड्यन्त्र की उपज है अथवा युद्ध, भयानक होते हुए भी, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का एक विवेकपूर्ण और प्रकार्यात्मक अंग है?

विभिन्न विचारकों ने युद्ध के मूल और गौण, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कारणों का विवेचन किया है। युद्ध के कारणों को प्रायः दो भागों में बाँटा गया है—प्रथम भाग में उन तात्कालिक कारणों को सम्मिलित किया गया है जो युद्ध की आग भड़का देते हैं, दूसरे भाग में उन शेष कारणों को लिया जाता है जो युद्ध के लिए एक लम्बे समय से ही अनुकूल वातावरण तैयार कर रहे थे। प्रथम महायुद्ध के कारणों का अध्ययन करते हुए प्रो सिडनी बी फे (Sidney B Fay) ने बताया है कि युद्ध का सबसे मूल कारण गुप्त सन्धियों की व्यवस्था (System of Secret Alliances) थी जो फ्रांको-प्रशियन युद्ध के बाद से प्रारम्भ हुई थी। दूसरे अन्य सहायक कारण चार थे—सैनिकवाद, राष्ट्रवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद और समाचार-पत्र प्रकाशन। क्विंसी राइट (Quincy Wright) ने युद्ध के विभिन्न कारणों का वर्णन किया है जिनमें कुछ तो मूल हैं और कुछ तात्कालिक। कभी-कभी कुछ घटनाएँ युद्ध का कारण बन जाती हैं। कभी लोगों की मनोभावनाएँ एवं महत्त्वाकांक्षाएँ युद्ध को उकसाती हैं। इनके अतिरिक्त शस्त्रों की दौड़, कूटनीतिक व्यवहारों की अकुशलता, वाणिज्य-नीतियाँ, सम्प्रभुता की मान्यता, उपनिवेशों के मतभेद, देश के विस्तार की प्रवृत्ति, आदि अन्य बातें भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध को भड़काने में सहायक होती हैं। क्विंसी राइट के मतानुसार युद्ध के कारणों को कई दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। इनके राजनीतिक, तकनीकी, सैद्धान्तिक, सामाजिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक तथा आर्थिक कारण हैं। टर्नर (Tall A. Turner) ने अपनी पुस्तक 'युद्ध के कारण और नवीन क्रान्ति' (The Causes of War and the New Revolution) के युद्ध के 41 कारणों का उल्लेख किया है। वे इन

कारणों को चार भागो मे विभाजित करते हैं—आर्थिक, राजवश सम्बन्धी, धार्मिक और भावात्मक। अन्य अनेक विचारकों द्वारा भी युद्ध के कारणो की व्याख्या की गयी है।

स्टीवेन जे रोजन तथा वल्टर एस जोन्स ने अपनी 1974 मे प्रकाशित 'The Logic of International Relations' मे बहुत ही व्यवस्थित और तार्किक रूप से युद्ध के बारह कारणो को प्रस्तुत किया है और इन्हे युद्ध के कारण के बारह सिद्धान्तो (Twelve theories of Causes of War) का नाम दिया है। ये बारह सिद्धान्त हैं—

1 शक्ति विषमता (Power Asymmetries)
2 राष्ट्रवाद, पृथकतावाद और भूमि अपहरणवाद (Nationalism, Separatism and Irredentism)
3 अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक डार्विनवाद (International Social Darwinism)
4 सचार-असफलता और पारस्परिक सन्देहबोध (Communication's Failure and Mutual Misperception)
5 अनियन्त्रित शस्त्रास्त्र दौड (Run away and Uncontrolled Arms Races)
6 बाह्य सघर्ष के माध्यम से आन्तरिक एकीकरण की अभिवृद्धि (The promotion of Internal Integration through External Conflict)
7 स्वत प्रेरित आक्रमण, हिंसा के प्रति सांस्कृतिक रुझान और युद्धशान्ति के चक्र (Instinctual Aggression, Cultural Propensities to Violence and War Peace Cycles)
8 आर्थिक और वैज्ञानिक उत्तेजनाएँ (Economic and Scientific Stimulation)
9 सैनिक औद्योगिक समूह (The Military-Industrial Complexes)
10 सापेक्ष वचन एव हरण (Relative Deprivation)
11 जनसख्या की सीमा (Population Limitation)
12 सघर्ष सकल्प (Conflict Resolution)

युद्ध के उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त षड्यन्त्रो, छिपे उद्देश्यो तथा गुप्त लोगो के प्रभाव के कारण भी युद्ध लडे जाते हैं। स्टीड (Wickham Steed) ने युद्ध के कारणों में 'भय' को प्रधान माना है। असुरक्षा की भावना निश्चय ही आज के विश्व मे युद्ध का सबसे प्रमुख कारण है। दूसरे विचारक 'सम्प्रभु' राज्यो के अस्तित्व को युद्ध का प्रमुख कारण मानते हैं। आर्नोल्ड ब्रैक्ट (Arnold Brecht) ने लिखा है कि राज्यों के बीच युद्ध होते हैं, इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि विश्व मे सम्प्रभु राज्य है। इसी बात पर टिप्पणी करते हुए क्विसी राइट ने कहा है कि युद्ध का कारण सम्प्रभु राज्यो का अस्तित्व है, यह कहने की अपेक्षा यदि यह कहा जाए

कि युद्ध इस कारण होता है कि विभिन्न देश सम्प्रभु बनना चाहते हैं, तो अधिक उपयुक्त रहेगा। युद्ध प्राय इस कारण होते हैं क्योंकि देशों की शक्ति के प्रयोग को नियन्त्रित करने के लिए कानून अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जैसी कोई सशक्त व्यवस्था नहीं है। कुछ विचारक युद्ध को मनुष्य की प्रकृति में निहित मानते हैं। उनका तर्क यह है कि मानव-सभ्यता के प्रारम्भ से ही युद्धों का अस्तित्व है। दूसरी ओर पामर तथा पर्किन्स जैसे विचारकों का कथन है कि इतिहास में युद्धों के उदाहरणों का संचय करके यह कहना उचित नहीं है कि मनुष्य युद्ध प्रिय होता है वरन् यह कहा जा सकता है कि मनुष्य अब तक कोई ऐसी आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने में असमर्थ रहा है जो युद्ध से मुक्त रहे।

वस्तुत युद्ध का कोई एक विशेष कारण नहीं बताया जा सकता। क्विंसी राइट (Quincy Wright) के अनुसार, युद्ध वास्तव में एक ऐसी परिस्थिति का परिणाम है जो उन सारी चीजों से पैदा होती है जो युद्ध प्रारम्भ होने तक मनुष्य जाति में हुई है। युद्ध के कारण ही प्राय एक देश की राष्ट्रीय नीति के आधार बन जाते हैं। राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, सम्प्रभुता एवं युद्ध के अन्य उपयुक्त कारण जब एक देश की राष्ट्रीय नीति का आधार बन जाते हैं, तो युद्ध प्रारम्भ होता है। पामर तथा पर्किन्स के मत में जब 'कुछ चीज' युद्ध का कारण बनती है तो इसका कारण यही है कि वह चीज उस देश की राष्ट्रीय नीति का आधार बन चुकी होती है।

युद्ध का अधिकार
(Right to Make War)

1920 तक युद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय कानून में आत्म सहायता के अन्तिम साधन के रूप में अपनाया जाता था। उस समय राष्ट्रों के समाज में ऐसे प्रभावशाली संगठन का अभाव था जिसके द्वारा विरोधी दावों का सामञ्जस्य किया जा सके, खतरनाक धमकियों को रोका जा सके, गलतियों को दण्डित किया जा सके। अत प्रत्येक राज्य को शक्ति का सहारा लेने की सुविधा दी गई। किस स्थिति के लिए सेना का प्रयोग किया जाए इसका निर्णय सम्बन्धित राज्य के हाथ में छोड़ा गया। अन्तर्राष्ट्रीय जनमत इस सम्बन्ध में राज्यों के स्वेच्छाचारी निर्णय पर रोक लगाता था फिर भी सामान्यत घटनाएँ इतनी शीघ्रता से परिवर्तित होती थी कि इस दबाव के कार्यशील होने से पूर्व ही युद्ध समाप्त हो चुका होता और विश्व समाज के सामने इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहता कि विजेता पक्ष द्वारा विजित पक्ष पर लादी गई शर्तों को स्वीकार करलें। विजेता तीसरे राज्यों के अधिकारों पर आघात करने में सावधानी बरतता था और शर्तों को इतनी कठोर नहीं बनाता था कि तीसरे राज्यों को खतरा अनुभव होने लगे। कुछ मिलाकर विजेता सुरक्षित रूप से सब कुछ करने के लिए स्वतन्त्र था।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रारम्भिक विचारकों ने युद्ध को न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण दो भागों में विभाजित किया है। इनमें ग्रोशियस का नाम उल्लेखनीय है। प्रथम विश्व-युद्ध के प्रारम्भ में युद्ध के न्यायपूर्ण कारण का सिद्धान्त कानून-

वेत्ताओं के ग्रन्थों से मिट गया। राष्ट्रसंघ ने अपने सदस्यों के युद्ध छेड़ने के अधिकार को प्रतिबन्धित किया। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सभी युद्धों पर रोक लगादी है। बीसवीं शताब्दी की प्रथम शताब्दी पर अस्तिवादी सम्प्रदाय (Positivist School) का प्रभाव था। यह उन अन्तरों को कोई महत्त्व नहीं देता जो स्पष्ट और निश्चित निष्कर्षों तक नहीं पहुँचा सके। न्यायपूर्ण युद्ध की मान्यता के आधारभूत कारणों में स्पष्टता का अभाव था क्योंकि कोई कारण न्यायपूर्ण है, अथवा नहीं इसकी व्याख्या व्यक्तिगत निर्णय पर आधारित थी। प्रदेशों की अखण्डता, राष्ट्रीय सुरक्षा आदि से सम्बन्धित निर्णय निश्चित रूप से लेना असम्भव था। 1907 के द्वितीय हेग शान्ति-सम्मेलन में इस विषय पर विचार नहीं किया गया। कानूनी निर्णय की दृष्टि से यह विषय महत्त्वहीन बन गया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद राज्य के युद्ध छेड़ने के अधिकार पर भारी प्रतिबन्ध लगा दिए गए। राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र में संघ के सदस्यों को राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता की गारन्टी दी गई। इसमें यह कहा गया कि कोई भी युद्ध अथवा युद्ध की धमकी चाहे वह संघ के किसी सदस्य को प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करे अथवा न करे, सम्पूर्ण संघ की रुचि का विषय है और ऐसी स्थिति में वह कोई भी उपयुक्त कदम उठा सकता है ताकि राज्यों की शान्ति की रक्षा की जा सके। इस प्रकार तटस्थता सिद्धान्त के स्थान पर सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त अपनाया गया। पेरिस की सन्धि में युद्ध को राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में ठुकरा दिया गया। फलतः युद्ध ने आत्म सहायता के साधन के रूप में अपनी कानूनी प्रकृति बहुत कुछ त्याग दी। किसी भी राष्ट्र के लिए युद्ध के उपाय का सहारा लेना अवैध बन गया।

आक्रमणकारी युद्धों को हमेशा गैर-कानूनी माना गया है। टोकियो तथा न्यूरेम्बर्ग न्यायाधिकरणों ने इस बात की पुष्टि की कि आक्रमणकारी युद्ध या अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि विरोधी युद्ध गैर-कानूनी हैं। इन न्यायाधिकरणों ने आगे कहा है कि आक्रमणकारी युद्धों या अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को तोड़ने वाले युद्धों का नियोजन, तैयारी, पहल या क्रियान्वित अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है। यहाँ कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि युद्ध को आक्रमणकारी कब माना जाए ? प्रत्येक युद्ध-कर्त्ता राज्य यह दावा करता है कि उसका उद्देश्य आत्म-रक्षा है और यदि सम्भव हो तो शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा वह समझौते के लिए तैयार है। ऐसी स्थिति में उचित यह है कि किसी राज्य के आक्रमणकारी होने या न होने के निर्णय को सुरक्षा परिषद् जैसे किसी अन्तर्राष्ट्रीय निकाय को सौंप दिया जाए।

यदि एक राज्य वास्तव में दूसरे राज्य के आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा करने के लिए लड़ रहा है तो निश्चय ही उसे आक्रमणकारी युद्ध का दोषी नहीं माना जा सकता। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा–51 में स्पष्ट रूप से व्यक्तिगत एवं सामूहिक आत्म-रक्षा का अधिकार स्वीकार किया गया है। यह धारा किसी राष्ट्र को आत्म-रक्षा के लिए युद्ध करने का अधिकार उसी स्थिति में प्रदान करती है जब सुरक्षा परिषद् शान्ति बनाए रखने के लिए कोई कदम उठाए। स्पष्ट है कि

युद्ध अब वैध नहीं माने जाते, व्यक्ति का अधिकार नहीं है। इतने पर भी मानव समाज से इनका अस्तित्व मिटा नहीं है। सशस्त्र संघर्ष, युद्ध एवं युद्ध विराम की सूचनाएं आजकल समाचार-पत्रों का मुख्य विषय होती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं दूसरी संस्थाओं द्वारा किए गए प्रयास इन्हें कम करने में सहायक माने जा सकते हैं किन्तु समाप्त करने की दृष्टि से पूर्णत असफल रहे हैं। ऐसी स्थिति में अवैध होते हुए भी युद्ध सम्बन्धी नियमों की स्थापना अनिवार्य हो जाती है।

युद्धों का वर्गीकरण
(The Classification of Wars)

युद्धों को उनकी प्रकृति प्रसार एवं उद्देश्यों की दृष्टि से कई भागों में विभाजित किया जाता है। युद्ध के कुछ रूप निम्न प्रकार हैं—

(1) न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण युद्ध—मध्यकाल में धार्मिक आधार पर युद्धों को न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण युद्ध के रूप में विभाजित किया जाता था। आजकल धर्म का प्रभाव हटने से न्यायपूर्ण युद्ध उन्हें कहा जाता है जो किसी देश की राजनैतिक स्वतन्त्रता या प्रादेशिक अखण्डता को सुरक्षित रखने के लिए लड़े जाएँ। विस्तारवादी नीति से प्रेरित युद्ध अन्यायपूर्ण होते हैं।

(2) व्यक्तिगत और सार्वजनिक युद्ध—यह वर्गीकरण भी मध्यकाल में प्रचलित था। सार्वजनिक युद्ध वह होता था जिसमें दो सम्प्रभुता सम्पन्न बड़े राज्य सशस्त्र संघर्ष करते थे। व्यक्तिगत युद्ध बड़े जमींदारों अथवा सेनापतियों के बीच होता था, आजकल युद्ध राज्यों के बीच होते हैं। गैर-सम्प्रभु समुदायों का संघर्ष विद्रोह कहा जाता है।

(3) पूर्ण तथा अपूर्ण युद्ध—जब एक राज्य समग्र रूप से दूसरे राज्य के साथ युद्ध करता है तो उसे पूर्ण युद्ध कहते हैं। अपूर्ण युद्ध के अन्तर्गत लड़ाई का क्षेत्र कुछ स्थानों और व्यक्तियों तक सीमित रहता है।

(4) गृहयुद्ध—जब एक ही राज्य के विभिन्न पक्ष युद्ध करते हैं तो वह गृह युद्ध कहलाता है। ओपेनहेम के मतानुसार, "गृह-युद्ध के अन्तर्गत एक राज्य में दो परस्पर विरोधी पक्ष सत्ता प्राप्त करने लिए शस्त्रों का सहारा लेते हैं अथवा जनता का एक बड़ा भाग वैध सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करता है।"

(5) औपचारिक तथा अनौपचारिक युद्ध—औपचारिक युद्ध वह होता है जिसमें युद्ध की घोषणा विधिवत् रूप से की जाती है। इसके विपरीत बिना घोषणा के किया गया युद्ध अनौपचारिक कहलाता है।

(6) छापामार युद्ध—जब दूसरा पक्ष प्रबल होता है तो एक राज्य युद्ध के इस तरीके को अपनाता है। ओपेनहेम के कथनानुसार, "इस युद्ध के अन्तर्गत लड़ाई शत्रु द्वारा अधिकृत प्रदेश में ऐसे सशस्त्र व्यक्ति समूहों द्वारा लड़ी जाती है जो किसी संगठित सेना का भाग नहीं होते। इनके पास इतनी शक्ति नहीं होती कि वे शत्रु के साथ खुल कर लड़ सकें।" इसलिए इनके आक्रमण गुप्त रूप से चोरी छिपे शत्रु पर छापे मारने के रूप में होते हैं। यही कारण है कि इसे छापामार युद्ध कहा जाता

है। 19वीं शताब्दी में इन युद्धों को अवैध माना था। छापामार सेनाएँ कानूनी मान्यता नहीं रखती। पिछले दो महायुद्धों ने इस धारणा को बदल दिया। 1949 के जेनेवा अभिसमय के अनुसार चार शर्तें पूरी करने पर इन सैनिकों को युद्ध बन्दी का सा व्यवहार पाने का अधिकार मिल जाता है। ये हैं—इनका नेतृत्वकर्त्ता व्यक्ति इनके कार्यों का दायित्व ले, ये सैनिक ऐसा विशेष चिह्न धारण करें ताकि इनको दूर से ही पहचाना जा सके, वे खुले रूप में शस्त्र धारण करते हों और युद्ध के नियमों के अनुसार सैनिक कार्यवाहियाँ करें।

(7) समग्र अथवा पूर्ण युद्ध—आजकल वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के कारण युद्ध का क्षेत्र और बढ़ गया है। प्रारम्भ में लड़ाइयाँ दो राज्यों की सेनाओं के बीच में हुआ करती थी और सामान्य जनता इससे बहुत कम प्रभावित होती थीं। उस समय के हथियारों की मार अधिक दूर तक नहीं होती थी। मौर्य-कालीन भारत के सम्बन्ध में मेगस्थनीज ने लिखा है कि "युद्ध के समय किसान अपनी खेती-बाड़ी निर्बाध रूप से करते थे। उन पर सैनिक गतिविधियों का प्रत्यक्ष रूप से कोई प्रभाव नहीं रहता था।" आजकल स्थिति पूर्णतः परिवर्तित हो चुकी है। आधुनिक युद्धों में न केवल सेनाएँ भाग लेती है वरन् सम्पूर्ण जनता अपनी पूरी शक्ति से भाग लेती है। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए जनता के प्रत्येक भाग से सहयोग लिया जाता है और इसमें किसी नियम या नीति या विवेक को आधार नहीं बनाया जाता प्रत्येक व्यवहार युद्ध को शासित करने वाली आज्ञाओं के अन्तर्गत रखा जाता है। मुख्य उद्देश्य शत्रु को परास्त करना है और इसे प्राप्त करने में किसी रीति रिवाज, आश्वासन, नियम अथवा सन्धियों का ध्यान नहीं रखा जाता। इन युद्धों में अणुबम, विषैली गैस और प्रक्षेपणास्त्रों का प्रयोग बिना किसी सकोच के किया जाता है। सैनिक और असैनिक का भेद पूरी तरह से मिट जाता है।

समग्र युद्ध की यह स्थिति अनेक कारणों का परिणाम है। प्रो. ओपेनहेम के मतानुसार इसके पाँच मुख्य कारण हैं—

(1) सैनिकों की संख्या भारी मात्रा में बढ़ गई है। अनेक राज्यों में अनिवार्य सैनिक शिक्षा का नियम है। सभी नागरिकों को अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में प्रशिक्षित किया जाता है और इसलिए आवश्यकता के समय उनकी सेवाओं का लाभ उठाया जाता है। देश के प्रत्येक वयस्क पुरुष को शस्त्र धारण करने होते हैं और इसलिए युद्ध में वह इनका प्रयोग करता है।

(2) आज के युद्धों की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल हो गई है। धनुष-बाण एवं तलवारों का युद्ध इतिहास की गाथा बन चुका है। युद्ध में आवश्यक सामग्री का प्रकार और मात्रा इतनी होती है कि असैनिक जनता को उसकी व्यवस्था का प्रबन्ध करने के लिए सक्रिय होना पड़ता है।

(3) हवाई युद्ध का विकास होने के कारण युद्ध का क्षेत्र व्यापक हो गया है। पहले युद्ध का प्रभाव केवल रण-क्षेत्र तक सीमित रहता था, किन्तु अब ऐसा नहीं है। नागरिक ठिकानों और असैनिक निवासों पर शत्रु पक्ष द्वारा आक्रमण किया

जाता है। भारत-पाक संघर्ष (1965) के समय जोधपुर के अस्पताल के मरीजों और देश के दूसरे भागों में धर्म-स्थानों को भी पाकिस्तानी विमानों ने अछूता नहीं छोड़ा। नागरिक संस्थाएँ युद्ध कार्यों में सक्रिय होती हैं और इसलिए शत्रु राज्य इनको अस्त-व्यस्त करके युद्ध की तैयारियों को कमजोर बनाना चाहता है। युद्ध भूमि के अतिरिक्त रेल के स्टेशनों, बन्दरगाहों, शस्त्रास्त्र बनाने वाले कारखानों तथा औद्योगिक केन्द्रों पर बम-वर्षा की जाती है।

(4) आजकल युद्ध का रूप बदल गया है। यह केवल सेना के सहारे न किया जाकर आर्थिक दबावों द्वारा भी किया जाने लगा है। आर्थिक दबाव विरोधी राज्य के केवल सैनिक जीवन को अस्त-व्यस्त नहीं करता वरन् नागरिक जीवन को भी प्रभावित करता है। सारे देश के आर्थिक जीवन में एक उथल-पुथल-सी मच जाती है।

(5) तानाशाही और सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) व्यवस्थाओं का विकास होने के कारण व्यक्ति पर राज्य का पूरा अधिकार माना गया है और युद्ध की स्थिति में सभी नागरिकों के सक्रिय योगदान को आवश्यक समझा जाने लगा है। युद्ध होने पर न केवल उस राज्य के सैनिक वरन् उसके साधारण नागरिक भी युद्धरत माने जाते हैं।

उपरोक्त सभी कारणों ने युद्ध को समग्र रूप प्रदान किया है।

युद्ध की घोषणा
(Declaration of War)

एक समय युद्ध छेड़ने से पूर्व उसकी घोषणा करना अनिवार्य माना जाता था और बिना घोषणा किए युद्ध प्रारम्भ करना अन्यायपूर्ण युद्ध की परिभाषा में आता था। वैध और न्यायपूर्ण युद्ध वह समझा जाता था जिसमें एक राज्य विधिवत् शत्रु राज्य को सूचना देते हुए यह घोषित करे कि वह युद्धरत है। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक इस नियम का पालन किया जाता रहा। एक राज्य युद्ध छेड़ने से पहले अपने अग्रदूतों या वार्तावहों एवं अवहेलना-पत्रों द्वारा दूसरे राज्यों को इसकी सूचना देता था और यह सन्देश पहुँचने तथा युद्ध प्रारम्भ होने के बीच तीन दिन का समय दिया जाता था। इस प्रकार के युद्धों का अन्तिम उदाहरण 1635 में मिलता है जब फ्रांस ने ब्रूसेल्स में स्पेन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। युद्ध की सूचना देने वाले दूतों को बड़ी धूमधाम से भेजा गया। यह प्रक्रिया 18वीं शताब्दी में बन्द हो गई और बिना घोषणा के युद्ध किए जाने लगे। युद्ध के समय ही रण घोषणा करने की परम्परा अपनाई गई। 1700 से 1870 तक के एक सौ-सत्तर युद्धों में 107 बिना किसी घोषणा के किए गए और केवल दस के प्रसंग में युद्ध की घोषणा की गई।

युद्ध की घोषणा की परम्परा 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पुन. सामान्य रूप में अपनाई जाने लगी। ग्रोशियस के मतानुसार, "युद्ध से पूर्व औपचारिक घोषणा करना परमावश्यक है।" बीसवीं शताब्दी में इस नियम की अवहेलना की जाने लगी। 1904 में जापान ने पोर्ट-आर्थर के बन्दरगाह में स्थित रूसी बेड़े पर अचानक

अप्रत्याशित आक्रमण कर दिया। जापान पर आरोप लगाया गया कि उसने विश्वास घाती आक्रमण करके युद्ध प्रारम्भ किया है। यह आरोप सिद्ध नहीं हो सका क्योंकि युद्ध के कुछ दिन पूर्व जापान के मन्त्री ने रूस के विदेश सचिव को एक लिखित नोट में कहा था कि अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए जापान को स्वतन्त्र कार्यवाही करने का अधिकार है। यह एक प्रकार से किसी भी क्षण युद्ध प्रारम्भ करने की चेतावनी थी। अतः नियमपूर्वक घोषणा करना आवश्यक नहीं माना गया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञों के अनुसार जापानियों का कार्य विधि के अनुकूल था, किन्तु यह समर्थन किए जाने योग्य नहीं था।

युद्ध से पूर्व घोषणा करने की परम्परा मूल रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं था किन्तु 1907 के तीसरे हेग सम्मेलन में यह नियम बनाया गया कि कोई भी शत्रुतापूर्ण कार्य प्रारम्भ करने से पहले युद्ध की औपचारिक घोषणा की जानी चाहिए तथा इसकी सूचना तटस्थ राज्यों को भेजनी चाहिए। पूर्व सूचना दो रूपों में हो सकती है—युद्ध छेड़ने के कारणों पर प्रकाश डालने वाली रण-घोषणा और अन्तिम चेतावनी या अल्टीमेटम, जिसे युद्ध की सशस्त्र घोषणा कहा जा सकता है। यह कहा गया कि तटस्थ राज्यों को युद्ध की सूचना अविलम्ब दी जानी चाहिए, किन्तु यदि इन राज्यों को किन्हीं अन्य स्रोत से सूचना मिल जाती है तो वे अनभिज्ञता का दावा नहीं कर सकते।

वास्तविक व्यवहार में इस अभिसमय का कई बार उल्लंघन किया गया। 1931 में जापान ने मन्चूरिया को हस्तगत कर दिया और शंघाई पर आक्रमण कर दिया। इसी प्रकार इटली ने 1935 में एबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया और इस लिए किसी प्रकार की चेतावनी नहीं दी। जापान ने 1937 में जब चीन के विरुद्ध बिना घोषणा के युद्ध प्रारम्भ किया तो इस परम्परा को पुनः तोड़ा। सितम्बर, 1939 में द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ। इस वर्ष जर्मनी ने बिना घोषणा किए पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। 17 दिसम्बर, 1939 को रूस ने पोलैण्ड पर और 30 नवम्बर, 1939 को फिनलैण्ड पर इसी प्रकार आक्रमण किया। 7 दिसम्बर, 1941 को जापान ने पर्लहार्बर के बन्दरगाह में अमेरिकी बेड़े पर अचानक भीषण आक्रमण किया। जापान द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इस आक्रमण को न्यायोचित सिद्ध नहीं किया गया। उत्तरी कोरिया ने जून, 1950 में दक्षिणी कोरिया पर निर्घोषित आक्रमण कर दिया। 20 अक्टूबर, 1962 को लाल चीन ने और 1 सितम्बर, 1965 को पाकिस्तान ने बिना पूर्व-सूचना के भारतीय क्षेत्रों पर आक्रमण किया। 4 जून, 1966 को इज़रायल और अरब राष्ट्रों के बीच बिना पूर्व घोषणा के युद्ध प्रारम्भ हुआ। आजकल इस प्रकार के अनेक युद्धों के उदाहरण मिल जाते हैं। इसका कारण यह है कि अप्रत्याशित और असावधान शत्रु के सैनिक अड्डों और संस्थानों को नष्ट करके उनकी स्थिति को कमजोर बनाया जा सकता है और इस प्रकार हमलावर को विजय की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। यदि पहले से सूचना दे दी जाए तो शत्रु सजग हो जायेगा और विदेशी सहायता या आन्तरिक तैयारी

द्वारा शक्ति प्राप्त कर लेगा। फेनविक का यह कथन उपयुक्त है कि, 'बिना घोषणा किए युद्ध छेड़ने वाला देश तत्काल ही लड़ाई का 60 प्रतिशत लाभ प्राप्त कर लेता है।" अणु आयुधों के युग में अचानक बिना घोषणा किए युद्ध छेड़ना परम आवश्यक है।

स्पष्ट है कि युद्ध से पूर्व औपचारिक घोषणा करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से आवश्यक है, किन्तु व्यवहार में इसका उल्लघन किया जाता है।

युद्ध के कार्य
(Functions of War)

युद्धों द्वारा अनेक उद्देश्यों की पूर्ति होती है और यही कारण है कि विभिन्न देश इसका सहारा लेते हैं। *यदि युद्ध से केवल हानियाँ ही होती अथवा यह नितान्त* निरर्थक होता तो यह व्यक्ति की दुम की भाँति कभी का मिट गया होता। विश्व में युद्ध का अस्तित्व तब तक रहेगा जब तक मानव जाति के शासक इसका कोई विकल्प *नहीं खोज निकालते।* युद्ध से जिन लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है उनको दूसरे किसी साधन द्वारा प्राप्त किया जाना असम्भव है और यही कारण है कि युद्ध खर्चीला, विध्वंसक तथा हिंसात्मक होने पर भी अपनाया जाता है। क्लाइड ईगल्टन (Clyde Eagleton) का कथन है कि युद्ध से कुछ साध्यों की प्राप्ति होती है। युद्ध से जिन उद्देश्यों की प्राप्ति होती है वे एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित रहते हैं कि उनमें से कौन सा प्रधान है तथा कौन सा गौण है, यह निश्चित करना बड़ा कठिन हो जाता है। युद्ध के विभिन्न कारण ये हैं—

1 न्याय की स्थापना—युद्ध चाहे कितना भी बुरा हो, इसके द्वारा समाज में फैले हुए अनेक अन्यायों को दूर किया जाता है। किसी दूसरे साधन द्वारा इस बुराई को दूर करना सम्भव नहीं होता क्योंकि मनुष्य का अन्याय की भावनाएँ उसके स्वार्थ में गहरी जमी रहती हैं तथा सुधारवादी नीतियाँ उनकी जड़ों को कुरेदने में असमर्थ रहती हैं। युद्ध द्वारा जो नीतियाँ अपनाई जाती हैं वे यथार्थवादी होती हैं और उनकी सफलता में निश्चितता का पुट रहता है। यही कारण है कि शताब्दियों से युद्ध को अन्याय दूर करने वाले साधन के रूप में अपनाया जा रहा है। प्रो शाटवेल (Prof Shotwell) के मतानुसार युद्ध का प्रयोग जैसे आक्रमणों के लिए किया जाता है, उसी प्रकार अन्य युद्धों आक्रमणों के एक विरोधी साधन के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है।

2. शोषण का विरोध—जब किसी देश, धर्म, वर्ग, जाति या उपजाति के लोगों द्वारा दूसरे देश, जाति या धर्म के लोगों का शोषण इस आधार पर किया जाए कि वे दूसरे की अपेक्षा शक्तिशाली हैं तो प्रायः शोषित वर्ग की मुक्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह युद्ध जैसे हिंसात्मक साधन को अपनाए। इतिहास साक्षी है कि व्यक्ति एवं समुदायों द्वारा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए तथा शोषण से मुक्ति के लिए अनेक बार युद्ध लड़े गए हैं। अमेरिका की क्रान्ति, फ्रांस की क्रान्ति, *लैटिन अमेरिकियों का स्वतन्त्रता संग्राम* अमरिका का गृह युद्ध तथा स्पेन-अमेरिकी युद्ध आदि उदाहरणों तथा उनके परिणामों को देखकर यह कहा जा सकता है कि

युद्ध के अनेकों दुष्परिणामों के बावजूद इसको स्वतन्त्रता, अधिकार, न्याय आदि की प्राप्ति के साधन के रूप में अपनाया जा सकता है।

3. युद्ध एक आवश्यक बुराई है—शुभ लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कभी-कभी हिंसात्मक साधनों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। देवताओं ने राक्षसों के विरुद्ध अनेक बार युद्ध किया क्योंकि उनके पास दूसरा कोई विकल्प नहीं था। आज के साम्यवादी भी यह मानकर चलते हैं कि वे अपने अन्तिम लक्ष्य को बिना युद्ध के प्राप्त नहीं कर सकते। उनका विचार है कि साम्यवादी और पूँजीवादी राष्ट्रों के बीच युद्ध स्वाभाविक है। ये विचारक ऐसे युद्धों को न्यायपूर्ण मानते हैं।

4. युद्ध का सन्तोषजनक विकल्प नहीं है—मनोविज्ञान बताता है कि कमजोर व्यक्ति प्रायः अधिक गुस्से वाला व झगड़ालू होता है। इसी प्रकार जो देश अथवा देश के जो भी वर्ग गरीबी से पीड़ित, अशिक्षित और बहिष्कृत व्यक्तियों से पूर्ण होते हैं, वे अपनी असह्य दशा से छुटकारा पाने के लिए युद्ध को अनिवार्य मान लेते हैं।

5. युद्ध सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति का साधन है—अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रत्येक राष्ट्र सम्प्रभु है। यदि वास्तव में आप युद्ध को समाप्त करना चाहते हैं तो इसका अर्थ राज्यों की सम्प्रभुता को मिटाना होगा। जिसे कोई भी राज्य स्वीकार नहीं कर सकता। *विश्व शान्ति की स्थापना के लिए एक राज्य सब कुछ स्वीकार कर लेगा,* किन्तु वह आत्मरक्षा (Self-defence) के अधिकार को नहीं छोड़ेगा क्योंकि यह उसकी सम्प्रभुता का परिचायक है। एक राज्य पर अनेक उत्तरदायित्वों का भार रहता है. इन उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए उसे सम्प्रभुता की आवश्यकता पड़ती रहती है और जब तक सम्प्रभुता रहेगी तब तक युद्ध भी रहेगा। पामर तथा परकिंस का मत है कि राज्यों को तब तक युद्ध छेड़ने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता जब तक उन पर अनेक उत्तरदायित्व पूर्ण करने का भार है।

6. युद्ध आधुनिक विश्व का निर्माता है—कहा जाता है कि युद्ध द्वारा एक राष्ट्र के व्यक्तित्व का सही अर्थों में निर्माण होता है। युद्धों के द्वारा ही एक राष्ट्र की सीमाएँ निर्धारित की जाती हैं। प्रोफेसर मार्क्वेल का कथन है कि आज के विश्व का नक्शा अधिकांशतः युद्ध के मैदानों में ही निश्चित किया गया है। क्विंसी राइट (Quincy Wright) के मतानुसार, युद्ध का विश्व के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तनों के लिए राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण के लिए, आधुनिक सभ्यता का विश्व व्यापी प्रसार करने के लिए तथा उस सभ्यता के प्रसारकारी हितों को परिवर्तित करने के लिए उपयोग में लाया गया है। कानून, विदेश-नीति, सैनिक तकनीकों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की कुछ परिस्थितियों में युद्ध 'नीति का एक मूल्यवान साधन बन जाता है। पामर तथा परकिंस के शब्दों में "गतयुग में युद्ध आधुनिक विश्व का उसके राज्यों, कारखानों, इसकी संस्कृति और इसके सांस्कृतिक रूप का प्रमुख निर्माता रहा है।"

7. युद्ध व्यक्ति को ऊँचा उठाता है—युद्ध में जान-माल का जो विनाश होता है वह व्यक्ति के मन में इन वस्तुओं की नश्वरता के भाव जाग्रत करता है। अतः

वह स्वार्थ, परिग्रह, लोभ, मोह आदि दुर्गुणों के स्थान पर उदार, निर्भीक तथा अपरिग्रही बनता है, उसमें बलिदान करने की शक्ति उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में, *युद्ध के कारण व्यक्ति की नैतिक एवं आध्यात्मिक विशेषताएँ प्रखर होकर प्रकाश में आती हैं।* भारत-पाक संघर्षों ने भारतीयों के साहस, मनोबल और आत्म त्याग को कितना ऊँचा उठाया है, यह प्रकट तथ्य है। प्रायः दवाइयाँ कड़वी होती हैं, किन्तु रोग को दूर करने व स्वास्थ्य में निखार लाने के लिए उनकी आवश्यकता होती है। उसी प्रकार युद्ध के भी कुछ बुरे परिणाम होते हैं, किन्तु देश के व्यक्तित्व के निर्माण में यह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करता है। तिरस्कारपूर्ण एवं भ्रष्ट शान्ति की अपेक्षा सम्मानपूर्ण युद्ध श्रेष्ठ है जो आत्म बलिदान, समानता, ईश्वर-प्रेम, परार्थ, राष्ट्रीय एकता आदि प्रभावों का विकास करता है।

8 **युद्ध विकास को सही दिशा देता है**—डार्विन ने जीव-विकास के सम्बन्धों में दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। उन्हीं के आधार पर यह कहा जाता है कि युद्ध राष्ट्रों के सही विकास के लिए आवश्यक है। युद्ध एक ऐसी प्रक्रिया है जो कमजोर राष्ट्रों का उन्मूलन कर देती है तथा शक्तिशाली लोगों की उन्नति के *विकास के लिए मार्ग प्रशस्त कर देती है। बर्नार्डी के मतानुसार, युद्ध प्रथम महत्व की* प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता है। बिना युद्ध के कमजोर जातियाँ स्वस्थ तत्वों के विकास को रोक देंगी तथा सामान्य रूप से पतन प्रारम्भ हो जाएगा।

युद्ध के उपयुक्त कार्यों अथवा लाभों को प्रतिशयोक्ति बनाकर इनकी आलोचना की जा सकती है, किन्तु इनको पूरी तरह से असत्य नहीं माना जा सकता। विलार्ड वाल्टर (Willard Walter) के मतानुसार युद्ध से कोई लाभ नहीं होता है तथा किसी भी समस्या को इसके द्वारा नहीं सुलझाया जा सकता, किन्तु पामर तथा पर्किंस का कहना है कि प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि युद्ध के द्वारा कभी-कभी अनेक लाभ प्राप्त हो जाया करते हैं। इसलिए युद्ध का विरोध करते समय यह तर्क देना अनुचित है कि इससे कुछ प्राप्त नहीं होता या इसका कोई उपयोग नहीं है वरन् कहना यह चाहिए कि युद्ध एक अमानवीय तथा जंगली साधन है जिसका उपयोग यथासम्भव अच्छे उद्देश्य प्राप्त करने के लिए भी नहीं करना चाहिए।

युद्ध को रोकने के उपाय
(Preventive and Detective Measures)

अमेरिका के राज्य-सचिव (Secretary of State) जॉन फास्टर डलेस (John Foster Dulles) द्वारा युद्ध को रोकने के लिए समय समय पर दिए गए सुझावों की निम्नलिखित सूची पेश की गई थी—

(1) युद्ध के भयावह परिणामों की शिक्षा देना (Education as to the fact Horrors of war),

(2) 'युद्ध से कोई लाभ नहीं होता' इस बात की शिक्षा देना (Education to the fact that 'war does not pay'),

1. शत्रु की सम्पत्ति पर प्रभाव
(Effects on Enemies Property)

शत्रु की सम्पत्ति पर पड़ने वाला युद्ध का प्रभाव सम्पत्ति की प्रकृति के अनुसार अलग-अलग प्रकार से पड़ता है।

शत्रु की सार्वजनिक सम्पत्ति—युद्ध के समय एक राज्य शत्रु की सार्वजनिक सम्पत्ति को अपने प्रदेश अथवा महासमुद्रों में जब्त कर सकता है। शत्रु के रणपोत एवं दूसरे सार्वजनिक जहाज राज्यसात कर लिए जाते हैं। जो जहाज वैज्ञानिक अनुसंधान, धार्मिक या परोपकार के कार्य तथा घायलों की सेवा जैसे कार्यों में लगे रहते हैं उन्हें अपवाद रूप से छोड़ा जा सकता है। शत्रु राज्य की चल और अचल सार्वजनिक सम्पत्ति को सैनिक प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यदि शत्रु का सम्पत्ति सैनिक प्रकृति की है तो उसे नष्ट किया जा सकता है। कानूनी अभिलखों को हस्तगत किया जाता है किन्तु नष्ट नहीं किया जाता। कलात्मक कृतियाँ भी जब्त नहीं की जातीं।

शत्रु की व्यक्तिगत सम्पत्ति—शत्रु राज्य की निजी सम्पत्ति के सम्बन्ध में सामान्य व्यवहार यह है कि उसे राज्यसात नहीं किया जाता और जब्त करके अपनी सम्पत्ति नहीं बनाया जाता, किन्तु इसका समय-हरण कर लिया जाता है अर्थात् राज्य इसे कुछ समय के लिए स्थाई रूप से अपने अधिकार में ले लेता है और युद्ध के बाद की जाने वाली शान्ति सन्धियों में इसके सम्बन्ध में व्यवस्था की जाती है। राज्य इसे केवल तभी जब्त करता है जबकि यह युद्ध के लिए तत्काल प्रयुक्त की जा सके। युद्धकारी देश शत्रु को लाभ पहुँचाने वाले गोला-बारूद एवं हथियार आदि रण-सामग्री को अपने प्रदेश में होकर जाने से रोक सकता है। सैनिक उपयोग की दूसरी वस्तुओं को छीनकर अपने प्रयोग में ला सकता है। युद्ध समाप्त होने पर इस प्रकार छीनी गई व्यक्तिगत सम्पत्ति वापस दे दी जाती है और युद्धकाल में किए गए उपयोग का मुआवजा दे दिया जाता है।

प्रो स्टार्क का कहना है कि—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऐसे नियम का औचित्य निश्चित नहीं है जो शत्रु की व्यक्तिगत सम्पत्ति के जब्त करने को पूर्णतः निषिद्ध करता हो। राज्यों के व्यवहार के अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति को उस समय तक लूटा या राज्यसात नहीं किया जाता जब तक वह सैनिक दृष्टि से उपयोगी न हो।"

2. संविदाओं पर प्रभाव
(Effects on Contracts)

युद्ध छिड़ने के बाद विरोधी पक्षों के सम्बन्ध टूट जाते हैं और इस प्रकार उन दोनों देशों के बीच होने वाले व्यापारिक समझौते, ठेके तथा संविदाएँ टूट जाती हैं। साझेदारी से सम्बन्धित समझौते भग हो जाते हैं। अनेक बार सम्बन्धित राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित समझौतों और अनेक विषयों के बारे में कानून पास कर लेते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून युद्धकर्ता राज्यों की इस स्वेच्छा पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता। राज्य अपनी इच्छानुसार इन समझौतों का पालन, निलम्बन

और भग कर सकते हैं। साधारण रूप से राज्य उन समझौतों को तोड देता है जो शत्रु को युद्ध छेड़ने में सहायता करते हैं या उसके साधन स्रोतों को बढाते हैं। युद्ध की प्रकृति ऐसी होती है कि उसके प्रारम्भ होते ही शत्रु राज्यो के व्यापारिक सम्बन्ध रुक जाते हैं। मि० मेकनेयर, चैम्बर्लेन और ट्राटर ने ब्रिटिश कानून मे विभिन्न प्रकार की सविदाओ पर युद्ध के प्रभावो का विवेचन किया है। युद्ध के परिणामस्वरूप सविदाओ के भग होने के बारे म अनेक नियम बनाए गए हैं।

3 राजनयिक सम्बन्धो पर प्रभाव
(Effects on Diplomatic Relations)

ज्योंही युद्ध प्रारम्भ होता है, दोनो देशों के राजनयिक सम्बन्ध टूट जाते हैं। राजदूतों को प्रेषक राज्य द्वारा वापस बुला लिया जाता है और स्वागतकर्ता राज्य द्वारा उन्हें तुरन्त पारपत्र देकर स्वदेश लौटने के लिए कहा जाता है। जब तक वे देश छोड कर नही जाते तब तक विशेष अधिकारो का उपभोग कर सकते हैं। राजदूत की भाँति वाणिज्य दूत के कार्य भी रोक दिए जाते हैं और उन्हे स्वदेश वापस जाने के लिए कहा जाता है। कभी-कभी शत्रु राज्य के दूतो को स्वदेश नहीं लौटने दिया जाता और उनके साथ बुरा व्यवहार किया जाता है। राजदूत स्वदेश लौटते समय अपना दूतावास प्राय तटस्थ राज्य के प्रतिनिधि को सौंप देता है। यदि राजदूत ने कुछ कागज पत्र छोडे हैं तो उन्हे मुहरबन्द करके रखा जाता है। इसी प्रकार वाणिज्य दूतों के कागज पत्र भी अन्य राज्य के वाणिज्य दूतो को सौंप दिए जाते हैं।

4. शत्रु देश के व्यक्तियों पर प्रभाव
(Effects on Persons of Enemy Country)

प्रारम्भ म राज्यों के व्यवहार के अनुसार युद्ध छिड़ते ही एक राज्य द्वारा शत्रु देशों के प्रजाजनो को बन्दी बना लिया जाता था। आजकल ऐसा नहीं किया जाता और केवल वे ही नागरिक बन्दी बनाए जाते हैं जो शत्रु सेना के वास्तविक या सम्भावित सदस्य हैं अथवा जिनसे शत्रु को महत्त्वपूर्ण सैनिक सूचनाएँ मिल सकती हैं। दूसरे प्रजाजनों को एक निश्चित अवधि मे देश छोडने के लिए कहा जाता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय 3 सितम्बर, 1939 को जर्मन लोगों को यह आदेश दिया गया कि वे 9 सितम्बर तक इङ्गलैंड से चले जाएँ।

प्रो हालैण्ड के कथनानुसार, "युद्ध छिड़ने पर एक राज्य शत्रु के प्रजाजनों को अपने प्रदेश मे से निकालते समय दो नियमो से प्रभावित होता है। पहला नियम यह है कि शत्रु देश के प्रजाजन और उसकी सम्पत्ति शत्रु राज्य से भिन्न नहीं है। अतः उनको जब्त कर लिया जाय। दूसरे नियम के अनुसार युद्ध राज्यो मे होता है और इसलिए किसी राज्य के प्रजाजनो अथवा उनकी सम्पत्ति पर उस समय तक प्रतिबन्ध न लगाया जाय जब तक कि उसके लिए उचित कारण नहीं है। आजकल प्राय. दूसरे नियम को सत्य माना जाता है। शत्रु राज्यों के प्रजाजनो को बन्दी बनाने का व्यवहार नहीं है।" वैटल के अनुसार, "इन्हें स्वदेश लौटने की विधि

निश्चित कर देनी चाहिए। यदि उस तिथि के बाद भी ये न जाएँ तो उन्हें पकडा जा सकता है।"

प्रथम विश्व-युद्ध के समय युद्धकारी राज्यो ने शत्रु देश के प्रजाजनो को नजरबन्द करने की नीतियाँ अपनाई। इन्हे राज्य के लिए खतरनाक माना जाता था। इस प्रकार नजरबन्द लोगो के प्राण हमेशा सकट मे रहते थे। 1949 से जेनेवा न एक अभिसमय द्वारा युद्धकाल म असैनिक व्यक्तियो की रक्षा की व्यवस्था की गई। इसम कहा गया कि यदि शत्रु प्रजाजनो का स्वदेश लौटना किसी देश के लिए हानिकारक नही है तो यह उनका अधिकार होना चाहिए। यात्रा के लिए उन्हे आवश्यक धन और व्यक्तिगत सामान ले जाने की अनुमति होनी चाहिए। जो प्रजाजन लौटना न चाहे उसके साथ वही व्यवहार किया जाय जो शान्तिकाल मे विदेशियो के साथ किया जाता है। युद्ध क कारण यदि किसी विदेशी की नौकरी छूट जाए तो युद्धकारी देश को उसके भरण-पोषण का प्रबन्ध करना चाहिए। किसी विदेशी को उसकी इच्छा के विरुद्ध युद्ध कार्य करने के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए। शत्रु देश के प्रजाजन राज्यहीन लोगो से भिन्न होते हैं। उन्हे सम्बन्धित राज्य द्वारा विभिन्न अधिकारो का सरक्षण प्रदान किया जाता है। इन जाजनो स कोई सूचना प्राप्त करने के लिए क्रूरतापूर्ण व्यवहार नही किया जा सकता। नजरबन्द लोगो का न्यायालय के पास तक पहुँचने का अधिकार होना चाहिए। इन जेनेवा अभिसमय द्वारा नजरबन्दो के सम्बन्ध मे अनेक प्रावधान किए गए।

5 तटस्थ राज्यो मे युद्धकारी राज्यों की सम्पत्ति
(Belligerent Property in Neutral Countries)

तटस्थ राज्यो मे स्थित युद्धकारी राज्यो की सम्पत्ति को परिग्रहण से मुक्त रखा गया है। इस उन्मुक्ति का दुरुपयोग नही होना चाहिए। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय धुरी राष्ट्रो ने शत्रु देशो की सम्पत्ति को लूटकर सुरक्षा की दृष्टि से उसे तटस्थ देशो मे जमा करा दिया। मित्र राष्ट्रो द्वारा इस सम्बन्ध म तटस्थ देशो को चेतावनियाँ दी गई। जर्मनी की पराजय के बाद उन्होने स्विट्जरलैण्ड और स्वीडन म जर्मनी द्वारा जमा की गई सम्पत्ति को अपने अधिकार म ले लिया। सयुक्तराज्य अमेरिका ने द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होन से पूर्व जर्मन तथा तटस्थ राज्यो की सम्पत्ति का निश्चलन कर दिया अर्थात् इस किसी व्यापारिक प्रयोजन के लिए प्रयोग मे लाने पर रोक लगा दी।

6 सन्धियो पर प्रभाव
(Effects on Treaties)

इस सम्बन्ध म सामान्य सहमति है कि युद्ध के कारण युद्धकारी राज्यों की समस्त सन्धियाँ समाप्त नही होती, किन्तु कौनसी सन्धि बनी रहती है और कौनसी समाप्त हो जाती है। इस विषय मे कोई एक निश्चित नियम नही है? न्यायाधीश कार्डोजो के कथनानुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून म सन्धियो पर युद्ध क प्रभाव सम्बन्धी

प्रश्न सर्वाधिक उलझन का प्रश्न है। प्रसंग में इस प्रश्न को सैद्धान्तिक दृष्टि से तय न करके अनुभववादी और उपयोगितावादी आधार पर तय किया जाता है। प्रो स्टार्क के कथनानुसार, "इस सम्बन्ध में किसी एक रूप सिद्धान्त का प्रतिपादन कठिन है। इस सम्बन्ध में केवल दो मापदण्ड लागू होते हैं। इनमें प्रथम तो अभिप्राय का विषयगत मापदण्ड है। इसके अनुसार यह देखा जाएगा कि सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राज्य क्या यह चाहते थे कि युद्ध छिड़ने पर भी वह लागू रहे। दूसरा मापदण्ड वस्तुगत है। इसमें यह देखना होगा कि क्या सन्धि को क्रियान्विति युद्ध के आचरण से विरोध रखती।"

पुराने कानून-वेत्ताओं के अनुसार युद्ध प्रारम्भ होते ही सम्बन्धित देशों की सन्धियाँ समाप्त हो जाती हैं और शान्ति होने पर वे पुन लागू होती हैं। आजकल *विधि-शास्त्रियों का मत और राज्यों का व्यवहार इसका समर्थन नहीं करता।* इस सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति को इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

1 राजनीतिक सन्धियाँ *जो सम्बन्धित पक्षों द्वारा केवल अस्थाई रूप से* विरोधी हितों के सामजस्य के लिए की जाती हैं, वे युद्ध प्रारम्भ होते ही समाप्त *हो जाती हैं। मत्री-सन्धियाँ तथा पच-निर्णयों से सम्बन्धित सन्धियाँ इसी वर्ग में* आती हैं।

2 व्यापारिक सन्धियाँ और नौ-चालन तथा प्रत्यावर्तन से सम्बन्धित सन्धियाँ केवल मित्रतापूर्ण वातावरण में कार्य करती हैं और बाद में निलम्बित हो जाती हैं। इस प्रकार की सन्धियाँ सामान्यतः युद्ध समाप्त हो जाने के बाद पुनः स्वीकार करली जाती हैं।

3. स्थाई व्यवस्था वाली सन्धियाँ जो हस्तान्तरण या सीमा निर्धारित करने वाली होती है तथा जिनका सचालन शान्ति की आवश्यकता नहीं समझता, वे युद्धकाल में भी पूर्ववत् बनी रहती हैं।

4 अन्तिम रूप से की जाने वाली सन्धियाँ तथा स्थाई सम्बन्धों की स्थापना करने वाली सन्धियाँ भी युद्ध के बाद बनी रहती हैं। जो सन्धियाँ शत्रुतापूर्ण कार्यों अथवा युद्ध के सचालन से सम्बन्ध रखती हैं। वे युद्ध प्रारम्भ होने के बाद पूर्ववत् बनी रहती है क्योंकि इन सधियों का उद्देश्य युद्ध सचालन के नियम निश्चित करना *होता है। उदाहरण के लिए, 1819 और 1907 के हेग अभिसमय, 1864, 1906* और 1949 के जेनेवा अभिसमय अथवा युद्ध सम्बन्धी नियमों की व्याख्या करने वाली अन्य सन्धियाँ।

5. जो सन्धियाँ किसी पक्ष को कुछ रियायतें देती है वे इन दोनों पक्षों के बीच युद्ध छिड़ने पर समाप्त हो जाती हैं।

6 स्वास्थ्य, मादक द्रव्य, औद्योगिक सम्पत्ति की रक्षा आदि से सम्बन्धित बहुपक्षीय अभिसमय युद्ध छिड़ने के बाद भी जारी रहते है। सघर्ष के दौरान उन्हें निलम्बित अथवा अश रूप से लागू किया जा सकता है, किन्तु रोका नहीं जा सकता।

7 अनेक सन्धियों के प्रावधानों में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख कर दिया जाता

है कि युद्ध छिड़ने पर उनकी स्थिति क्या होगी ? युद्ध-काल मे जिन सन्धियो को स्थगित कर दिया जाता है उनके पुनर्जीवित होने के सम्बन्ध मे विधि-शास्त्रियो मे मतभेद है। कुछ विचारकों का कहना है कि युद्ध के समय स्थगित होने वाली सन्धियाँ युद्ध के बाद स्वतः ही लागू हो जाती है। अन्य विचारको की मान्यता है कि ये केवल तभी पुनर्जीवित होगी जबकि शान्ति सन्धियों मे स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख किया जाए। राज्यों का व्यवहार इस सम्बन्ध मे अधिक स्पष्ट नहीं है किन्तु शान्ति संधियो मे प्राय सन्देह को मिटाने के लिए स्पष्ट कर दिया जाता है कि कौनसी सन्धियाँ लागू होगी ?

शत्रु की प्रकृति
(The Enemy Character)

युद्ध के समय सम्बन्धित राज्यों के पारस्परिक व्यवहार मे गहरा अन्तर आ जाता है। दोनों पक्ष अपने शत्रुओं को प्रत्येक सम्भव हानि पहुँचा कर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। हानि पहुँचाते समय यह ध्यान रखा जाता है कि सम्बन्धित वस्तु या व्यक्ति शत्रु प्रकृति का होना चाहिए। उदासीन अथवा मित्र राज्य को पहुँचाई गई हानि राज्य के लिए हितकर नहीं होती। अतः पहला प्रश्न यह है कि व्यक्तियो तथा वस्तुओं की शत्रुरूपता को निर्धारित किया जाए और उसके बाद उनके किए जाने वाले व्यवहार का निर्णय दिया जाए।

शत्रु की प्रकृति निर्धारित करने से सम्बन्धित प्रश्न अत्यन्त विवादपूर्ण और अनिश्चित है। इस विषय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई सर्वसम्मत नियम नहीं है। द्वितीय हेग सम्मेलन और लन्दन के नौ-सैनिक सम्मेलन मे इस दृष्टि से कुछ प्रयास किए गए, किन्तु इनमे विवादो का समाधान नही किया जा सका। मुख्य विवाद इस *विषय मे था कि किसी व्यक्ति या वस्तु के शत्रु होने का आधार उसकी राष्ट्रीयता* मानी जाए अथवा उसका निवास। दो महायुद्धो मे इस प्रश्न के निर्णय के लिए अलग-अलग मापदण्डो का प्रयोग किया गया। विभिन्न व्यक्तियों, नियमो, जहाजो तथा वस्तुओं की शत्रु प्रकृति का निश्चय करने से सम्बन्धित कुछ नियमो का विवेचन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

1. व्यक्तियो की शत्रु प्रकृति
(Enemy Character of Individuals)

सामान्यतः युद्धकारी देशो की जनता परस्पर शत्रु रूप धारण कर लेती है किन्तु तटस्थ राज्यो की जनता ऐसा नहीं करती। जब तटस्थ राज्य के व्यक्ति किसी सेना मे भर्ती हो जाते हैं और एक राज्य के पक्ष मे तथा दूसरे के विरोध मे शत्रुतापूर्ण कार्य करने लगते हैं तो उनको शत्रु प्रकृति प्राप्त हो जाती है। शत्रुता का मुख्य आधार एक व्यक्ति की राज्य-भक्ति होती है। यदि अरब-इजरायल संघर्ष मे अरब राज्यों का निवासी होने पर भी किसी व्यक्ति की राज्य-भक्ति इजरायल के प्रति है तो वह अरब वालों का शत्रु माना जाएगा। राष्ट्रीयता और निवास उसे शत्रु बनने से नहीं रोक सकते।

प्रो. लारेन्स ने शत्रु समझे जाने वाले व्यक्तियों के लक्षणों का उल्लेख किया है और शत्रुता की मात्रा के अनुसार उन्हें निम्न श्रेणियों में विभाजित किया है—

(A) *शत्रु की सेनाओं में लड़ने वाले व्यक्ति पूर्णतः और स्पष्टतः शत्रु* होते हैं।

(B) उसके बाद उन नागरिकों का उल्लेख किया जा सकता है जो शत्रु राज्य के व्यापारिक जलयानों को चलाते हैं। इन नाविकों की स्थिति शत्रु देश की *सैनिक और असैनिक जनता के मध्यवर्ती होती है।* ऐसे लोगों को *युद्धकाल में बन्दी* बनाने से मुक्त किया जा सकता है, यदि वे लिखित रूप में यह घोषणा करें कि युद्धकाल में अपना कार्य नहीं करेंगे।

(C) तीसरा नाम उन व्यक्तियों का आता है जो सेना में हथियार नहीं *उठाते किन्तु उसके साथ चलते हैं और सैनिकों की अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करते* हैं। इस श्रेणी में समाचार-पत्रों के संवाददाता, सैनिकों को रसद पहुँचाने वाले, ठेकेदार, सेना को सामान देने वाले और ऐसे ही अन्य व्यक्ति आते हैं। इन व्यक्तियों को पकड़े जाने पर युद्धबन्दी माना जाता है। *महाभारत में इन्हें महाजन कहा गया* है और इसको मारना अधर्म बताया गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इनका उल्लेख किया है। रामायण के अयोध्या काण्ड में भी ऐसे सेवकों का नाम आता है। ये सभी महाजन और अवध्य थे।

(D) *शत्रु देश में निवास करने वाले तटस्थ राज्यों के प्रजाजनों को* अधिवास के कारण शत्रु माना जाता है। किसी विशेष उद्देश्य के लिए बहुत समय तक विशिष्ट स्थान पर रहना अधिवास कहलाता है। जो विदेशी शत्रु राज्य में रहकर वहाँ व्यापार करते हैं वे एक प्रकार से शत्रु को सहायता देकर उसके युद्ध करने की क्षमता को बढ़ाते हैं और इसलिए उन्हें शत्रु समझा जाना चाहिए।

(E) शत्रु द्वारा अधिकृत प्रदेश में रहने वाले व्यक्तियों को शत्रु माना जाता है, जब तक कि उस प्रदेश पर शत्रु का अधिकार है। तटस्थ राज्य के उन व्यक्तियों को भी शत्रु माना जाता है जो शत्रु देश के साथ व्यापार करते हैं।

नियमानुसार युद्ध प्रारम्भ होने पर युद्धकारी राज्यों के प्रजाजन शत्रु का रूप धारण कर लेते हैं और युद्ध में भाग न लेने वाले राज्यों के प्रजाजन तटस्थ माने जाते हैं। यदि तटस्थ राज्य के प्रजाजन स्थाई रूप से शत्रु देश में निवास करें और कर देकर अथवा अन्य प्रकार से शत्रु की शक्ति को बढ़ाएँ तो वे शत्रु माने जाएँगे।

ग्रेट-ब्रिटेन ने 1939 में शत्रु के साथ व्यापार करने से सम्बन्धित कानून पास करते समय शत्रु का यह लक्षण बताया था कि केवल शत्रु देश का प्रजाजन होने के कारण ही कोई व्यक्ति शत्रु नहीं समझा जाएगा वरन् शत्रु के प्रदेश में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति शत्रु है। *1917 में* संयुक्तराज्य अमेरिका ने भी ऐसा कानून पास करते हुए शत्रु की परिभाषा की थी। इसके अनुसार शत्रु के प्रदेश में निवास करने वाला किसी भी राष्ट्र का प्रजाजन शत्रु है। स्पष्ट है कि संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट-

ब्रिटेन दोनों देशों ने निवास को महत्त्वपूर्ण माना है। यूरोप के अन्य देशों ने अधिवास की अपेक्षा राष्ट्रीयता को अधिक महत्त्व दिया है। जर्मनी ने 1940 में शत्रु के साथ व्यापार करने से सम्बन्धित जो कानून पास किया उसमें अधिवास के साथ-साथ राष्ट्रीयता को भी जोड़ा गया है।

2. जहाजों की शत्रु प्रकृति
(Enemy Character of Vessels)

किसी भी जहाज की शत्रु प्रकृति का निश्चय उसके द्वारा फहराई जाने वाली पताका से किया जाता है। जिन जहाजों पर शत्रु देश की ध्वजा फहराती है उन्हें शत्रु माना जाता है और तटस्थ राज्य की ध्वजा वाले जहाज को शत्रु नहीं माना जाता। 1909 में लन्दन की घोषणा द्वारा इस नियम का समर्थन किया गया। घोषणा की धारा 57 के अनुसार किसी जहाज पर वैध रूप से फहराई जाने वाली ध्वजा उसकी शत्रुता की मुख्य कसौटी है। प्रथम महायुद्ध में ग्रेट-ब्रिटेन तथा फ्रांस ने इस नियम को स्वीकार किया, किन्तु जर्मनी ने इसका दुरुपयोग किया। संयुक्तराज्य अमेरिका उस समय तटस्थ राज्य था। अतः अमेरिकी जहाज मालिकों ने जर्मन पूँजी से नए जहाज खरीदे और उन पर अमेरिकी झण्डा लगा कर जर्मनी को माल भेजा। इन जहाजों पर तटस्थ राज्य की ध्वजा होने के कारण इन्हें पकड़ा या रोका नहीं जा सका और ब्रिटेन तथा फ्रांस को यह अनुभव हुआ कि लन्दन सम्मेलन की इस व्यवस्था का परित्याग किया जाना चाहिए। 20 अक्टूबर, 1915 को ग्रेट ब्रिटेन ने एक सरकारी आदेश द्वारा इस व्यवस्था के परित्याग की घोषणा की। फ्रांस ने भी अपनी नीति में इसी प्रकार का परिवर्तन किया।

अनेक परिस्थितियों में तटस्थ राज्यों का झण्डा लगाने वाला जहाज भी शत्रु माना जाएगा। यदि ऐसा जहाज शत्रु देश को सहायता पहुँचा रहा है तो उसे शत्रु-रूपता प्राप्त हो जाएगी। केवल झण्डा और आवश्यक कागज ही किसी राज्य के रूप का निश्चय नहीं करते वरन् उसका व्यवहार और उद्देश्य भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

ओपेनहेम ने तटस्थ राज्य की ध्वजा वाले पोत के शत्रु रूप प्राप्त करने की दशाओं का उल्लेख किया है। वे निम्न प्रकार हैं—

(A) ये जहाज यदि लड़ाई के कार्यों में सीधे भाग ले रहे हैं, शत्रु सरकार द्वारा नियत एजेन्ट के नियन्त्रण में हैं, शत्रु सरकार की अनन्य रूप से सेवा करते हैं, शत्रु की सेनाओं के परिवहन का काम करते हैं या उन्हें सूचना देते हैं तो इनको शत्रु प्रकृति प्राप्त हो जाएगी।

(B) यदि यह जहाज निरीक्षण और तलाशी लेने के अधिकार का प्रयोग करने में बाधा उत्पन्न करते हैं तो इन्हें शत्रु प्रकृति का माना जाएगा।

(C) जापान, अमरिका और ग्रेट-ब्रिटेन के व्यवहार के अनुसार वे तटस्थ पोत भी शत्रु माने जाते हैं जो 1756 के नियम का उल्लंघन करते हैं। इस नियम के अनुसार युद्ध के समय किसी देश को उस प्रदेश में व्यापार करने का अधिकार नहीं

होता जिसके व्यापार का अधिकार युद्ध के पूर्व केवल एक देश के जहाजों के लिए सुरक्षित था।

(D) यदि किसी जहाज के कुछ स्वामी शत्रु देश के हैं तो तटस्थ राज्य की ध्वजा होने पर भी उसे शत्रु प्रकृति का माना जाएगा।

जब किसी जहाज को शत्रु प्रकृति का मान लिया जाता है तो इस सम्बन्ध में ये नियम लागू होते हैं—

(i) इस जहाज पर लदे हुए माल को राज्यसात कर लिया जाता है।

(ii) यह सारा माल शत्रु का समझा जाता है। तटस्थ देशों के माल के स्वामियों का यह कर्त्तव्य है कि वे इसकी तटस्थता को सिद्ध करें। ऐसा न करने पर यह शत्रु का माल माना जाएगा।

3 नौ-पण्य की शत्रु प्रकृति
(Enemy Character of Cargo)

जो नौ पण्य शत्रु देश का होता है वह स्पष्टतः शत्रु प्रकृति का माना जाता है। प्रो. स्टार्क के कथनानुसार, "यह नियम ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के विभिन्न देशों के युद्ध कानूनों में अभिव्यक्त होता है। यह शत्रु के साथ व्यापार पर रोक लगाता है और शत्रु की सम्पत्ति की रक्षा के लिए व्यवस्था करता है।' प्रो. स्टार्क का यह कथन एक सामान्य नियम को स्पष्ट करता है, किन्तु विभिन्न देशों ने अपनी सुविधा के अनुसार इस नियम में परिवर्तन कर लिए हैं। जहाजों पर लदे हुए माल की शत्रु प्रकृति के सम्बन्ध में देशों ने अलग-अलग नियम बनाए हैं। इंगलैण्ड ने स्वतन्त्र जहाज और स्वतन्त्र माल का सिद्धान्त प्रतिपादित । इसने 1650 में दूसरे देशों के साथ सन्धियाँ की, जिनके अनुसार तटस्थ अथवा स्वतन्त्र देशों के जहाजों पर लदे हुए माल को युद्धकारी देशों द्वारा न पकड़ने की व्यवस्था की गई। इसके विपरीत सिद्धान्त यह मानता है कि शत्रु के जहाजों पर लदा हुआ माल शत्रु का होता है और इसलिए उसे युद्धकारी देश आत्मसात कर सकता है चाहे उस पर स्वामित्व किसी तटस्थ राज्य का क्यों न हो?

ओपेनहेम के मतानुसार, "सामान्यतः मान्य नियम यह है कि जहाज के माल की शत्रुता उसके स्वामित्व से निश्चित की जाए।" ग्रेट ब्रिटेन ने इस सिद्धान्त का अनुसरण किया। यह जहाज पर लदे हुए माल के पकड़े जाने की कसौटी उसके झण्डे को नहीं मानता वरन् माल के स्वामित्व को मानता है। यदि माल का स्वामी किसी तटस्थ राज्य का व्यक्ति है तो वह माल शत्रु देश के जहाजों पर लदा होने पर भी नहीं पकड़ा जाएगा। दूसरी ओर यदि तटस्थ देश के जहाज पर शत्रु राज्य का माल लदा हुआ है तो इसे पकड़ लिया जाएगा। यह नियम न्याय और तर्क के अनुरूप होने के कारण धीरे-धीरे मान्य बन गया। 1715 में एक न्यायाधीश मार्शल द्वारा की गई घोषणा के अनुसार संयुक्तराज्य अमेरिका ने मान लिया कि किसी मित्र के जहाज में लदा हुआ शत्रु का माल छीना जा सकता है और शत्रु के

जहाज मे लदा हुआ मित्र का माल यदि छीन भी लिया जाए तो उसे लौटा देना चाहिए। 1856 को पेरिस घोषणा मे फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन ने यह स्वीकार किया कि तटस्थ राज्य के झण्डे वाले जहाज मे युद्ध की विनिषिद्ध (Contraband) वस्तुओ के अतिरिक्त शत्रु का माल जा सकता है, किन्तु यदि इस सामग्री के अलावा तटस्थ देशो का कोई माल शत्रु का झण्डा फहराने वाले जहाज पर लदा हुआ है तो भी उसे नही पकडा जाएगा।

यद्यपि सामान्य नियम के अनुसार माल के स्वामी की प्रकृति के आधार पर माल की प्रकृति निश्चित की जाती है, किन्तु स्वामी की प्रकृति के निश्चय की कसौटी विवादपूर्ण होने के कारण माल की शत्रु-रूपता के सम्बन्ध मे भी मतभेद उत्पन्न हो जाता है। माल की प्रकृति के निश्चय के दो आधार हैं—

(A) अधिवास (Domicile)—ब्रिटिश और अमेरिकी व्यवहार के अनुसार जो व्यक्ति शत्रु देश मे अधिवास करता है वह उसी देश का हो जाता है और ऐसे व्यक्ति का माल शत्रु का माल बन जाता है। जो लोग शत्रु देश मे नही रहते उनका माल शत्रु प्रकृति प्राप्त नही करता। तटस्थ राज्यो मे रहने वाले शत्रु देशो के प्रजाजनो का माल भी इस दृष्टि से शत्रु प्रकृति प्राप्त नही कर पाता, किन्तु शत्रु देश मे रहने वाले तटस्थ देश के प्रजाजनो का माल शत्रु प्रकृति का बन जाता है। यदि तटस्थ देश का कोई प्रजाजन शत्रु राज्य मे कम्पनी खोल, किन्तु वह वहाँ निवास न करे तो भी उसका माल शत्रु देश का माल समझा जाएगा।

(B) राष्ट्रीयता (Nationality)—फ्रांस और दूसरे यूरोपियन राज्य राष्ट्रीयता को अधिवास की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। जहाज के माल के स्वामी की राष्ट्रीयता यह निश्चित करती है कि उसे शत्रु प्रकृति का माना जाए अथवा नहीं माना जाए। जिस माल के स्वामी शत्रु देश के प्रजाजन होते हैं, वह शत्रु प्रकृति का माना जाता है चाहे इन लोगो का अधिवास किसी भी देश मे हो। तटस्थ राज्य के प्रजाजन चाहे शत्रु देश मे निवास करें, किन्तु उनका माल शत्रु रूप प्राप्त नहीं करेगा।

4 निगमो की शत्रु प्रकृति
(Enemy Character of Corporations)

निगमो की शत्रु प्रकृति निर्धारित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे किसी सामान्य नियम की रचना नही हुई है। सामान्यत इसके लिए दो मापदण्डो को आधार बनाया जाता है—निगम का अधिवास और उसका नियन्त्रण। जो निगम शत्रु देश मे स्थापित होते हैं तथा अपना पंजीकरण करते हैं उन्हे शत्रु माना जाता है। यदि निगम का पंजीकरण और अधिवास किसी तटस्थ राज्य मे है, किन्तु उसका नियन्त्रण शत्रु राज्य द्वारा किया जाता है तो उसे शत्रु माना जाएगा। नियन्त्रण वाले नियमका प्रतिपादन स्पष्ट रूप से Daimler Co. Ltd Vs Continental Tire and Rubber Co Ltd (1916) के विवाद मे हुआ।

यह कम्पनी 1905 म ग्रेट-ब्रिटेन मे स्थापित की गई थी। इसका रजिस्टर्ड कार्यालय लन्दन मे रखा गया, किन्तु इसके सभी सचालक जर्मनी के थे और इसके

लगभग सभी हिस्से जर्मनी द्वारा खरीदे गए थे। इस कम्पनी को डैमलर कम्पनी से कुछ रुपया वसूल करना था। इस वसूली के लिए उसने कम्पनी पर मुकदमा चलाया। डैमलर कम्पनी ने अपनी सफाई देते हुए कहा कि ग्रेट-ब्रिटेन में रजिस्ट्री होने के बाद भी इस कम्पनी के सचालक जर्मन हैं और इसलिए हमारे शत्रु हैं। 1914 के शत्रु के साथ व्यापार कानून के तहत वे शत्रु का कोई प्रदायगी नहीं कर सकते। यह मामला हाउस ऑफ लॉर्ड्स के विचारार्थ प्रस्तुत हुआ। उसके निर्णय के अनुसार दावा अमान्य ठहरा दिया गया। लॉर्ड पार्कर ने इस सम्बन्ध में अपना निर्णय देते हुए कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किए। ये निम्नलिखित हैं—

(A) किसी निगम अथवा कम्पनी की शत्रु प्रकृति का निश्चय तब किया जा सकता है जबकि इसके नियन्त्रणकर्त्ता शत्रु देश में रहते हैं या वहाँ न रहते हुए भी शत्रु का अनुसरण, आदेश और नियन्त्रण स्वीकार करते हैं।

(B) केवल ग्रेट-ब्रिटेन में स्थित होने के कारण किसी कम्पनी को उसका मित्र नहीं माना जा सकता यदि उसके सचालकगण या अधिकर्त्ता शत्रु देश में रहते हैं अथवा शत्रु हिस्सेदारों के आदेश के अनुसार कार्य करते हैं तो उसकी शत्रु प्रकृति बन जाएगी।

(C) कम्पनी का स्वरूप व्यक्तिगत हिस्सेदारों के स्वरूप से निर्धारित नहीं होता। इसके लिए यह देखना होगा कि क्या कम्पनी का वास्तव में नियन्त्रण करने वाले व्यक्ति शत्रुओं से आदेश ले रहे हैं या उनके नियन्त्रण में कार्य कर रहे हैं ?

(D) ग्रेट-ब्रिटेन में रजिस्टर्ड होने के बाद यदि कोई कम्पनी तटस्थ राज्यों के अभिकर्त्ताओं द्वारा कार्य करती है किन्तु उसका नियन्त्रण शत्रु राज्य के हाथ में है तो वह शत्रु प्रकृति की मानी जाएगी।

(E) ग्रेट ब्रिटेन में पंजीकृत होने के बाद भी यदि कम्पनी शत्रु देश के साथ व्यापार करती है तो उसे शत्रु माना जाएगा।

प्रो. ओपेनहम लिखते हैं कि हाउस ऑफ लॉर्ड्स ने डैमलर के मामले को 1943 में पुनः स्वीकृति प्रदान की। यह सोफैक्ट (Soufact) विवाद के सम्बन्ध में किया गया। यह कम्पनी हॉलैण्ड में पंजीकृत (Incorporated) थी तथा वहाँ निवास करने वाले सचालकों से निर्देशित की जाती थी। जब हॉलैण्ड पर जर्मनी का आवेशन हो गया तो यह कम्पनी शत्रु प्रकृति को प्राप्त हुई। 1936 के शत्रु के साथ व्यापार से सम्बन्धित अधिनियम में पंजीकरण और नियन्त्रण दोनों ही मापदण्डों को अपनाया गया।

एक राज्य के व्यक्ति अथवा वस्तुओं की शत्रु प्रकृति के निर्धारण पर दूसरे राज्य द्वारा आवेशन किए जाने का कम प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति में पूर्व स्थित सरकार की सार्वभौमिकता स्थगित कर दी जाती है किन्तु उसके निवासी अथवा वस्तुओं की प्रकृति के सम्बन्ध में विशेष अन्तर नहीं आता। यदि वे शत्रु प्रकृति के हैं और अस्थायी रूप से मित्र राज्य का वहाँ आवेशन हो जाता है तो वे मित्र नहीं बन जाएँगे। यहाँ राज भक्ति का परिवर्तन केवल अस्थाई रूप में होता है। यदि यह

स्थायी विजय का मामला है तो सम्प्रभुता पूर्ण रूप से हस्तान्तरित होती है। फलतः यह प्रदेश विजेता राज्य की प्रकृति के अनुरूप शत्रु अथवा मित्र बन जाता है। उसकी पूर्व प्रकृति इस दृष्टि से कोई उल्लेख नहीं रखती।

युद्ध के नियम
(The Laws of War)

युद्ध में दोनों पक्षों का उद्देश्य शक्ति का प्रयोग करके शत्रु पर विजय प्राप्त करना होता। इसका संचालन मनमाने ढंग से नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार प्रत्येक खेल के कुछ नियम होते हैं उसी प्रकार युद्ध के भी नियम होते हैं। युद्ध-कर्ता सम्प्रभु राज्य होने पर भी शक्ति के प्रयोग के लिए कुछ मर्यादाएँ स्वीकार कर लेता है। इन मर्यादाओं का पालन न करने वाले को महाभारत में डाकू कहा गया है। युद्ध की ये मर्यादाएँ युद्ध के कानून कही जाती हैं। इन्होंने युद्धों में प्रयुक्त की जाने वाली पशुता एवं बर्बरता पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए हैं। ये कानून तथा रिवाज युद्ध-कर्त्ताओं के दीर्घकालीन व्यवहार के परिणाम हैं। इनका इतिहास मध्ययुग से प्रारम्भ होता है। धर्म के प्रभाव एवं दया की भावनाओं ने युद्ध की भयानकता को कम करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से यह माना जाता है कि नागरिकों की हत्या, युद्ध-बन्दियों के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार, गैसों का सैनिक प्रयोग, व्यापारी जहाजों को डुबाना आदि अनुचित तथा अवैध हैं।

राज्यों को युद्ध करने का अधिकार है अथवा नहीं है इससे भिन्न प्रश्न यह है कि युद्ध के समय युद्धकर्ता राज्यों का उचित व्यवहार क्या करना चाहिए? ग्रोशियस वह प्रथम विचारक था जिसने न्यायपूर्ण तथा अन्यायपूर्ण युद्ध के बीच अन्तर किया है। उसका ग्रन्थ आने वाले न्याय-शास्त्रियों के लिए एक मापदण्ड बन गया। तीस वर्षीय युद्ध से प्रतिफलित दारुण दुःख और सामान्य पीड़ा ने राष्ट्रों को 1648 में यह मौलिक सिद्धान्त मानने को बाध्य किया कि राष्ट्रों के परिवार के स्थित सदस्य प्रादेशिक स्वतन्त्रता और कानूनी समानता रखते हैं। ये सिद्धान्त नई और अधिक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के आधार बन गए। इनके आधार पर ऐसे नियमों का विकास हुआ जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विभिन्न क्षेत्रों में राज्यों के अधिकारों और कर्तव्यों को परिभाषित किया। कोई भी राजनीतिज्ञ और लेखक किसी राज्य को शक्ति का प्रयोग करने से नहीं रोक सकता, वह उसे केवल नियमित कर सकता है। इस प्रकार युद्ध के कानूनों का एक औपचारिक निकाय बन कर तैयार हुआ। ग्रोशियस ने नैतिक आचरण के व्यापक सिद्धान्तों का उल्लेख किया था, किन्तु अब कानूनवेत्ता स्थापित रिवाज या सन्धि के प्रावधानों पर आधारित कानूनी दायित्वों पर जोर देने लगे हैं।

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून को दो पृथक्-पृथक् शाखाओं में विभाजन हो गया है। एक शाखा राज्यों के सामान्य अधिकारों और कर्त्तव्यों में सम्बन्ध रखती है, दूसरी शाखा युद्धकारी राज्यों के मध्य स्थित सम्बन्धों को परिभाषित करती है। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक लेखक कानून की दो शाखाओं का वर्गीकरण करते

थे–शान्ति का कानून (Law of Peace) और युद्ध का कानूनी (Law of War)। दूसरी शाखा में न केवल युद्धकारी राज्यों के सम्बन्धों का शामिल किया जाता है वरन् युद्धकारी और तटस्थ राज्यों के सम्बन्धों को भी नियमित किया जाता है।

युद्ध के कानून किसी एक समय नहीं बनाए गए, इनका धीरे-धीरे विकास हुआ है। ओपेन्हेम के कथनानुसार इन नियमों के विकास में तीन सिद्धान्तों ने मुख्य रूप से भाग लिया है—

1 शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए किसी भी साधन को कितना भी अपनाया जा सकता है।

2 मानवता की दृष्टि से बल प्रयोग उतना और उस मात्रा में ही किया जाना चाहिए जो शत्रु को हराने के लिए अत्यन्त आवश्यक हो।

3 शौर्य के सिद्धान्त के आधार पर युद्ध शत्रु को चेतावनी देकर उसके साथ उचित व्यवहार करते हुए लडा जाना चाहिए। शत्रु के साथ धोखेबाजी या धूर्ततापूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिए। भारतीय ग्रन्थकारों ने धर्म युद्धों का समर्थन किया है। महाभारत का शान्ति पर्व यह मानता है कि धर्म से लडते हुए मर जाना भी उचित है, किन्तु पाप कर्म से विजय प्राप्त करना उचित नहीं है। आजकल युद्ध के कानून इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर यह नियम बनाते हैं कि युद्ध में असैनिक कर्मचारियों को हत्या न की जाए, युद्धबन्दियों के साथ दुर्व्यवहार न किया जाए आदि।

19वीं शताब्दी से विभिन्न राज्यों ने युद्ध के नियमों को अनेक सन्धियों और घोषणाओं द्वारा स्वीकार किया है। इनमें कुछ उल्लेखनीय निम्न प्रकार हैं—

1 1856 की पेरिस की घोषणा जिसने समुद्री कानून के सम्बन्ध में नियम बनाए।

2 1864 का जेनेवा अभिसमय। इसके द्वारा लडाई के मैदान में घायल होने वाले सैनिकों की दशा में सुधार करने की दृष्टि से व्यवस्था की गई। प्रारम्भ में इसे नौ राज्यों ने स्वीकार किया, किन्तु बाद में दूसरे राज्यों ने भी इसे स्वीकार किया। इसी विषय पर एक अन्य समझौता 6 जुलाई, 1906 को किया गया इसमें 35 राज्य शामिल थे।

3 1868 में सेंट पीटर्सबर्ग की घोषणा की गई। इसके द्वारा 400 ग्राम से कम भार वाले विस्फोटक अथवा ज्वलनशील पदार्थों से युक्त अग्नि बाण के प्रयोग पर रोक लगाई गई। 17 राज्यों ने इस पर हस्ताक्षर किए। 1899 में प्रथम शान्ति परिषद् ने स्थल युद्ध के नियमों के सम्बन्ध में अभिसमय बनाया। इस की दूसरी शान्ति परिषद् 1907 में हुई। इस अभिसमय में तत्कालीन विभिन्न विषयों पर विचार किया गया।

4 हेग घोषणा, इसका सम्बन्ध दमदम गोलियों के निषेध से है। ये गोलियाँ बार होने पर फैलती हैं। ये शरीर में नुकीले और लम्बे घाव करती हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ व समझौते किए गए। इनका सम्बन्ध गुब्बारों से फेंके जाने वाले विस्फोटक पदार्थों, दम घोटने वाली हानिकारक गैसों आदि के प्रयोग से था। समुद्री लड़ाई के सम्बन्ध में, लडाई प्रारम्भ

करने के विषय मे, शत्रु के व्यापारिक जहाजो की स्थिति के बारे मे भी अनेक व्यवस्थाएँ की गई। बीमारो, घायलो और युद्धबन्दियो के साथ किए जाने वाले व्यवहार के विषय मे 1939 का जेनेवा अभिसमय तैयार किया गया। 1936 मे लदन प्रोटोकोल द्वारा व्यापारिक जहाजो के विरुद्ध पनडुब्बियों के प्रयोग के बारे मे व्यवस्था की गई। जेनेवा मे 1949 मे रेडक्रास के चार अभिसमय स्वीकार किए गए। ये थे—युद्धबन्दियो के साथ व्यवहार, युद्ध क्षेत्र मे घायलों और बीमारो की स्थिति को सुधारना, युद्धकाल मे गैर सैनिक व्यक्तियो की रक्षा और समुद्री युद्ध मे घायलो, बीमारो तथा जहाज नष्ट हो जाने पर नाविको की दशा सुधारना।

युद्ध के कानूनो का मुख्य उद्देश्य यह नहीं है कि युद्ध के खेल के लिए *आचार सहिता बनाई जाए वरन् यह है कि व्यक्तियों के दुखो का कम या सीमित* किया जाए और सैनिक सघर्ष की पाशविकता को कम किया जाए। इस सम्बन्ध मे प्रो स्टार्क ने लिखा है—"यह सच है कि इन नियमो को समय समय पर तोडा गया है, किन्तु इनके बिना युद्ध की सामान्य पाशविकता पूर्णत. असीमित बन जाएगी। इस सम्बन्ध मे युद्ध के नए रूप की अवहेलना नही की जा सकती। आजकल युद्ध इतने अव्यक्तिगत बन गए हैं कि उन्होंने मानव अस्तित्व को भी चुनौती प्रदान की है।"

1907 के हग सम्मेलन मे एकत्रित राजनीतिज्ञो ने युद्धो के कारणो का विश्लेषण किया और राज्यो के विरोधी हितो के सम्बन्ध म रचनात्मक सुधार प्रस्तुत किए। नि शस्त्रीकरण का उद्देश्य व्यावहारिक नही माना जा सका। सम्मेलन म 13 अभिसमय स्पष्ट किए गए। इनमे मे 11 का सम्बन्ध आगामी युद्ध के आचरण मे था। इस सम्मेलन मे किसी ने यह सुझाव नहीं रखा कि कठिन परिस्थितियाँ होने पर युद्धकारी राज्य युद्ध के कानूनो का पालन न करें। शक्ति के प्रयोग के तरीको पर प्रतिबन्ध लगाए गए। इस सम्मेलन के नियमो को नई परिस्थितियो के कारण व्यावहारिक बनाया जा सकता था।

युद्ध को अन्तिम सहायता का अन्तिम साधन माना गया। यह कहा गया कि युद्ध म अनावश्यक रूप से सम्पत्ति और जीवन की हानि होती है इसलिए जहाँ तक सम्भव हो सके मतभेदो को बातचीत द्वारा नियमित किया जाना चाहिए। स्वय युद्धकारी राज्य ही यह निर्णय करने की शक्ति रखते हैं कि उनके मतभेद बातचीत या पच-फैसले द्वारा सुलझाये जा सकते हैं।

युद्ध के कानून के स्रोत
(Sources of Laws of War)

युद्ध के कानून बनाते समय हेग सम्मेलन ने अनेक परम्परागत रिवाजी *कानूनो को आधार बनाया। ये रिवाजी कानून अन्तर्राष्ट्रीय विधि के गणमान्य* लेखको की रचनाओ मे उपलब्ध थे। 1880 मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सस्थान द्वारा एक कानून सहिता तैयार की गई। रिवाजी कानून बिना किसी अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय की आवश्यकता के बाध्यकारी बन गया। इसकी कमी यह थी कि यह अनिश्चित था। यह निर्धारित करना कठिन था कि किन व्यवहारो को पर्याप्त

राज्यों की स्वीकृति प्राप्त हो चुकी है और उन्हें राष्ट्रों का कानून बनाया जा सकता है अथवा नहीं। इसके साथ ही युद्ध की परिस्थितियाँ शीघ्रतापूर्वक बदलती जा रही थीं। अतः अनेक राज्य पुराने नियमों को अपनाना नहीं चाहते थे। आजकल के युद्ध राजाओं के खेल नहीं हैं जैसाकि वे अतीत काल में थे। प्रत्येक राज्य यह दावा करता है कि उसने युद्ध को यथासम्भव दूर रखने का प्रयास किया था। युद्ध यदि छिड़ भी जाए तो प्रत्येक राज्य उसके नियमों को यथासम्भव अपने लाभ में रखना चाहता था।

हेग अभिसमय (The Hague Conventions)

हेग सम्मेलन (1907) में अपनाए गए अभिसमयों में रिवाजी कानून के अनिश्चित नियमों को परिभाषा देने का प्रयास किया गया। ये नियम इस कारण प्रभावहीन बन गए क्योंकि अभिसमय के साथ यह शर्त संलग्न थी कि यह हस्ताक्षरकर्ता देशों पर केवल तभी लागू होगी जबकि सभी युद्धकारी पक्ष अभिसमय में शामिल हों। यदि युद्ध करने वाले अनेक राज्यों में से एक राज्य भी ऐसा है जो अभिसमय में शामिल नहीं था तो ये प्रावधान प्रभावहीन बन जाएँगे। हेग अभिसमयों का प्रारूप तैयार करते समय रिवाजी कानून के कुछ प्रावधानों पर प्रकाश डाला गया। कहीं कहीं पर ये प्रावधान रिवाजी कानून के पंजीकरण मात्र बनकर रह गए हैं। यही कारण है कि न्याय-शास्त्रियों एवं सरकारों द्वारा इन अभिसमयों को उद्धृत किया जाता है। इन्हें बनाते समय विश्व की प्रमुख शक्तियों ने पर्याप्त वाद विवाद किया था और उसके बाद अनेक समझौतों द्वारा वे प्रावधान स्वीकार किए गए जिनको वे कानून के रूप में मान्यता देने के लिए तैयार थे। ऐसी स्थिति में छोटी शक्तियों द्वारा उन्हें स्वीकार न करना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया।

युद्ध के कानूनों में दबाव
(The Sanctions of the Laws of War)

1907 के हेग अभिसमय में यह स्वीकार किया था कि युद्ध के कानूनों के पीछे वही दबाव कार्य करते हैं जो सामान्यतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे हैं। युद्ध के कानूनों का सम्मान उनके पालन के समय कम होता है किन्तु उन्हें तोड़ते समय अधिक होता है। इनके पीछे स्थित दबावों का निम्न प्रकार उल्लेख किया जा सकता है—

1 एक महत्त्वपूर्ण दबाव प्रतिकार अथवा बदला है। यह सच है कि यह दबाव स्वेच्छाचारी और कठोर है किन्तु इसकी प्रभावशीलता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी ने युद्ध बन्दियों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का उल्लंघन किया था। उसने उनके साथ अच्छी प्रकार व्यवहार करने की अपेक्षा उनका शोषण किया। इसके बदले ग्रेट-ब्रिटेन ने जर्मनी के युद्ध-बन्दियों को उस समय तक गैर-कानूनी व्यवहार दिया जब तक जर्मनी वालों ने अपना अमानवीय तथा अनावश्यक व्यवहार नहीं छोड़ा। जर्मनी ने ग्रेट-ब्रिटेन के विरुद्ध गैस का प्रयोग नहीं किया क्योंकि उसे भय था कि कहीं वह इसका बदला न ले ले।

2 *युद्ध के कानूनों के पीछे एक अन्य दबाव युद्ध के समय और युद्ध के बाद* युद्धबन्दियों को सजा देना है। युद्ध के अपराध को परिभाषित करना कठिन है। युद्ध के प्रत्येक नियम को तोड़ना युद्ध अपराध नहीं है। इसकी परिभाषा भी प्रत्येक राज्य में बदलती रहती है। लॉटरपैक्ट के कथनानुसार, "युद्ध अपराध वे हैं जो मानवता की सामान्य चेतना द्वारा धिक्कारे जाते हैं क्योंकि उनमें पाशविकता रहती है, अमानवीयता रहती है, सम्पत्ति के अधिकारों की अवहेलना की जाती है और सैनिक आवश्यकता के बिना कार्य किया जाता है।" युद्ध का अपराधी व्यक्ति अपनी रक्षा में यह तर्क नहीं दे सकता कि उसने अपने उच्च अधिकारी अथवा सरकार के कहने पर यह अपराध किया है। यदि वास्तव में वह व्यक्ति अपराधी है तो न्याय उसे दण्ड देगा। अधीनस्थ अपराधियों के अपराध के लिए वे उच्च अधिकारी भी दोषी समझे जाते हैं जिनके आदेश पर ऐसा किया गया था अथवा उन्होंने अपने अधीनस्थों को अपराध करने से रोकने के लिए आवश्यक कदम नहीं उठाए थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद न्यूरेम्बर्ग तथा टोकियो में जर्मनी तथा जापान के *युद्ध अपराधियों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण द्वारा* विचार किया गया था।

3 युद्ध के *कानूनों का अन्य दबाव* मुआवजा है जो युद्धकारी राज्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून तोड़ने पर दिया जाता है। 1907 के हेग अभिसमय-IV की धारा तीन में यह कहा गया था कि यदि युद्धकारी राज्य युद्ध के किसी कानून को तोड़ता है तो उसे मुआवजा देना चाहिए। वह उन सभी व्यक्तियों के सभी कार्यों के लिए उत्तरदायी है जो इसकी सेना के भाग हैं। यह मुआवजा युद्ध के बाद की आने वाली शान्ति सन्धियों के समय क्षतिपूर्ति के रूप में हो सकता है।

4 तटस्थ राज्यों द्वारा भी युद्ध के व्यवहार पर सीमा लगाई जाती है। ये राज्य किसी युद्धकारी राज्य को युद्ध का प्रसार इतना करने की अनुमति नहीं देते कि उनके स्वयं के व्यापार व वाणिज्य पर कोई प्रभाव पड़े। युद्धकारी राज्य अपने प्रतिबन्धों का केवल इसलिए उल्लंघन नहीं करते क्योंकि उन्हें बदले का भय और तटस्थ राज्यों के सम्भावित हस्तक्षेप का भय रहता है।

विद्रोही सेनाओं का स्तर
(The Status of Rebel Forces)

युद्ध के कानून केवल राज्यों के बीच मतभुटाव के समय लागू होता है अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने उन्हें विद्रोही उपनिवेशों या प्रान्तों पर भी लागू किया है। *आन्तरिक उपद्रव या विद्रोहों के समय विद्रोही समाज को युद्धकारी के रूप में मान्यता* प्रदान कर दी जाती है। ऐसी स्थिति में उसे औपचारिक युद्ध में लगे हुए राज्य के कर्त्तव्यों के दायित्व और अधिकार मिल जाते हैं। गृह युद्ध के समय युद्धकारी के अधिकारों की मान्यता का प्रश्न और भी कठिन होता है। जब गृह युद्ध के समय विरोधी समूह कानूनन सरकार से राज्य के संगठन पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए लड़ता है तो युद्ध के कानूनों के प्रति आदर सैनिक कमाण्डरों के व्यक्तिगत चरित्र पर निर्भर करता है। पकड़े हुए विरोधियों को प्रायः युद्ध-बन्दियों का स्तर प्रदान नहीं किया जाता।

युद्ध के मौलिक सिद्धान्त (Fundamental Principles of Warfare)

युद्ध के कानून युद्धरत राज्यों के व्यवहार पर मर्यादा की स्थापना करते हैं। सामान्य सिद्धान्तों तथा विशेष नियमों में यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि युद्ध के समय राज्यों को किस प्रकार व्यवहार करना होगा। सामान्य सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता था कि युद्ध की प्रक्रिया एक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। इसका जो भी तरीका अपनाया जाए वह ऐसा होना चाहिए कि शत्रु पर दबावकारी शक्ति का प्रयोग कर सके। शक्ति का प्रयोग इतना अधिक नहीं करना चाहिए कि आवश्यकता की सीमाओं का अतिक्रमण करे। यह शत्रु को झुकाने के अतिरिक्त किसी दूसरे उद्देश्य के लिए प्रयुक्त नहीं की जानी चाहिए। जब शत्रु राज्य आत्म-समर्पण की घोषणा करदे या ऐसी इच्छा व्यक्त कर तो उसके विरुद्ध युद्ध जारी रखना कानून का स्पष्ट अतिक्रमण माना जाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामान्य सिद्धान्त का यह नियम स्पष्ट होते हुए भी व्यापक है क्योंकि इसकी व्याख्या मनमाने रूप में की जा सकती है। उदाहरण के लिए, सैनिक आवश्यकता का तकनीकी अर्थ वांछनीय उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए दबावकारी प्रयासों का प्रयोग करना है, किन्तु यह आवश्यकता इन सीमाओं से बाहर भी जा सकती है और की जाती है। 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कुछ जर्मन लेखकों ने सैनिक आवश्यकता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसके अनुसार यदि आवश्यकता हो तो कानून द्वारा निर्धारित सीमा से अधिक शक्ति का प्रयोग भी किया जा सकता है। यदि शाब्दिक रूप से लिया जाए तो यह सैनिक आवश्यकता युद्ध के कानूनों को सैनिक सुविधा की संहिता मात्र बना देती है। इनका दबाव केवल व्यक्तिगत सैनिक कमाण्डर का सम्मान मात्र रह जाएगा। इनका व्यावहारिक महत्त्व कुछ भी नहीं रहेगा क्योंकि कोई भी सेना अप्रत्याशित कार्य कर सकेगी।

मानवतावादी दृष्टिकोण की सीमा
(The Limitation of Humanistic Approach)

आवश्यकता पर आधारित सीमाओं के अतिरिक्त कुछ मानवता के कानून (Laws of Humanity) भी हैं जो सार्वजनिक नैतिकता की सार्वभौमिक धारणा पर आधारित हैं और युद्ध पर मर्यादा लगाते हैं। मानवता के इन नियमों के अनुसार युद्धकारी राज्यों को शत्रु पर दबाव डालने के कुछ तरीके तो प्रयुक्त हो नहीं करने चाहिए क्योंकि वे अत्यन्त बर्बर और सद्विश्वास की भावना का तोड़ने वाले होते हैं। यदि इनका प्रयोग किया गया तो ये मानव सम्बन्धों के मूल आधार को नष्ट कर देंगे तथा शान्ति की पुनर्स्थापना को असम्भव बना देंगे। अनुभव साक्षी है कि अनावश्यक क्रूरता तथा नागरिकों के साथ हिंसात्मक व्यवहार का घाव युद्ध में हार के घाव की अपेक्षा अधिक गहरा और कटु होता है। किसी भी युद्ध का लक्ष्य शान्ति होता है। कोई भी युद्धकारी राज्य यह नहीं चाहता कि हमेशा युद्ध की स्थिति बनी रहे। वह अपनी इच्छानुसार शर्तों पर शान्ति की स्थापना करना चाहता है और इसीलिए वह युद्ध करता है। स्पष्ट है कि युद्ध शत्रु को नष्ट नहीं करना चाहता

वरन् उस विजेता के कदमों में झुकाना चाहता है। अतः आजकल शत्रुओं के बीच अनेक बार युद्ध में मित्रता स्थापित होते देखी जाती है।

युद्ध में मानवता की भावनाओं के प्रभाव के बारे में विचारक एकमत नहीं हैं। मानवतावादी युद्ध की धारणा को वे अतार्किक मानते हैं। उनका कहना है कि धीरे धीरे बहुत समय तक युद्ध चलाते रहने की अपेक्षा तीव्र और निर्णायक युद्ध अधिक श्रेष्ठ है। दूसरी ओर विचारकों का यह कहना है कि शत्रु को रण-क्षेत्र में हराने की अपेक्षा उसे नैतिक दृष्टि से नीचे गिराना अधिक उपयुक्त है। युद्ध का रूप दिन-प्रतिदिन विध्वंसकारी होता जा रहा है और इसलिए विचारकों की राय के अनुसार यथासम्भव शीघ्र एक राज्य को युद्ध से अपने आपको स्वतन्त्र कर लेना चाहिए।

युद्ध के मौलिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त आचरण के कुछ विशेष और मूर्त नियम भी हैं। इनमें से जो रीति रिवाजों पर आधारित हैं उनको युद्ध की परम्पराएँ (Usages of War) कहा जाता है। ये युद्ध की वास्तविक स्थिति में सिद्धान्त के व्यावहारिक प्रयोग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन नियमों ने कुछ व्यवहारों पर पूर्ण रूप से रोक लगाई। समय की आवश्यकता चाहे कुछ भी हो, किन्तु इन उपायों को नहीं अपनाया जा सकता। उदाहरण के लिए, कुओं में जहर डालने, युद्धबन्दियों की हत्या करने और युद्ध नियम के झण्डे का दुरुपयोग करने का नाम लिया जा सकता है। दूसरे प्रतिबन्ध सशर्त हैं। ये कुछ परिस्थितियों में ही स्वीकृत व्यवहारों पर रोक लगाते हैं। इन परिस्थितियों की व्याख्या करते समय भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाए जा सकते हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध का प्रभाव (The Effect of First World War)

प्रथम विश्व युद्ध के समय युद्ध के जो कानून स्थित थे वे या तो स्पष्टतः रीति-रिवाजों अथवा हेग अभिसमयों पर आधारित थे। युद्ध की नई और अप्रत्याशित परिस्थितियों में इनमें से अनेक टूट गए। घातक परिस्थितियों में अनेक नए नियम इस आधार पर छोड़ दिए गए कि 'आवश्यकता किसी कानून को नहीं जानती।' शत्रु के गैर-कानूनी कार्यों की क्षतिपूर्ति के नाम पर दूसरे कानूनों को भी बाध्यकारी नहीं माना गया। आधुनिक युद्ध की परिस्थितियाँ बदल जाने के कारण अनेक रिवाजी नियम निरर्थक बन गए। पहले तो नियम तर्कपूर्ण थे तथा विरोधी हितों के बीच समझौता स्थापित करते थे वे अब असंगत बन गए। इस समय शत्रु को निष्क्रिय बनाना परम आवश्यक समझा जाने लगा और इसके लिए प्रत्येक साधन अपनाना उपयुक्त बन गया। अब सैनिक और गैर सैनिक जनता का भेद मिट गया क्योंकि हथियारों के बनाने तथा युद्ध-भूमि की आवश्यकताओं को पूरा करने में गैर सैनिक जनता का सक्रिय योगदान हो गया। फलतः हेग अभिसमयों के केवल कुछ नियम ही जिन्दा रह सके।

युद्ध के कानूनों का परिवर्तन (Revision of the Laws of War)

यह सच है कि युद्धरत राज्य युद्ध के कानूनों का बहुत कम ध्यान रखता है पर भी इनको परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित करने का समर्थन किया जाता है।

कानून का अस्तित्व अपने आप मे महत्त्व रखता है। उनका पालन हो अथवा न हो किन्तु इनके न होने पर तो स्थिति और भी खराब हो जाती है। अनेक सरकारें तथा कानून वेत्ता युद्ध के कानूनो को परिवर्तित करने और उन्हें नए तथा प्रभावशाली दबाव प्रदान करने का पक्ष लेते हैं। सन् 1921–22 के वाशिंगटन सम्मेलन ने जहरीली गैसो के प्रयोग पर प्रभावशाली प्रतिबन्ध लगाए गए। युद्ध काल मे भी विचारको ने इस प्रश्न को आगे वाद-विवाद का विषय बनाया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के समय युद्ध के कानून प्रथम विश्व युद्ध की भांति युद्धरत्ताओ को सीमित रखने मे अपर्याप्त रहे। इसका कारण यह था कि द्वितीय विश्व युद्ध मे युद्धकला के नए साधन अपनाए गए। इसमे नए हथियारो और युद्ध की नई प्रणालियो का प्रयोग किया गया। सैनिक आवेशन ने सर्वाधिकारवादी रूप धारण कर लिया। इस काल मे सैनिक-असैनिक जनता का भेद पूरी तरह मिट गया। न्याय-वेत्ताओ का तर्क जो 50 वर्ष पूर्व दिया गया था वह अब पर्याप्त व्यापक बन गया और सैनिक आवश्यकता के आधार पर राज्यो का कार्य-क्षेत्र बढ गया।

प्रश्न यह है कि युद्ध के कानूनो का भविष्य क्या होगा ? जबकि सयुक्त राष्ट्रसघ के व्यक्तिगत सदस्यो के बीच होने वाले युद्ध को गैर-कानूनी घोषित किया गया है। यह माना जाता है कि सघ के चार्टर मे प्रावधान होते हुए भी प्रमुख राष्ट्रों के बीच युद्ध अवश्य छिड़ेगा और युद्ध-कर्त्ताओ के आचरण पर एक मात्र नियन्त्रण मानवतावादी प्रवृत्तियां और रणक्षेत्र मे स्थित राज्यो की सेनाओ के कमाण्डरो द्वारा रखा जाएगा। दूसरी ओर सयुक्त राष्ट्रसघ भी समय-समय पर सामूहिक कदम उठा सकता है। ऐसी स्थिति मे वह युद्ध के कानूनो और मौलिक सिद्धान्तो के प्रति आदर रखेगा। युद्ध के परम्परागत कानून सेना के कमाण्डरो पर कोई नियन्त्रण नही रखते। सयुक्त राष्ट्रसघ के सामूहिक कार्य का भय राज्य के व्यक्तिगत प्रयास की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखता है।

युद्ध के नियमो की स्थिति के सम्बन्ध मे सामान्य जानकारी प्राप्त करने के बाद यह जानना उपयुक्त है कि युद्ध मे सम्बन्धित विभिन्न नियमो का अध्ययन किया जाए। युद्ध के मुख्यत तीन वर्गीकरण किए जाते हैं स्थल युद्ध, हवाई युद्ध और समुद्री युद्ध। यह वर्गीकरण युद्ध के स्थान पर आधारित है। स्थान की प्रकृति बदलने के साथ साथ उसकी प्रकृति मे भी परिवर्तन आता है। युद्ध मे अपनाए जाने वाले साधन, शस्त्र, सैनिक आवश्यकताएँ आदि इस वर्गीकरण से प्रभावित होती हैं। स्थल-युद्ध के हथियार हवाई और समुद्री युद्ध में प्रयुक्त नहीं किए जा सकते। तीनों प्रकार के युद्धों के लिए सैनिक सगठन भी भिन्न-भिन्न रूप से किया जाता है। यही कारण है कि इनसे सम्बन्धित नियम पर्याप्त भिन्न होते हैं। अगले अध्याय मे युद्ध के इन नियमों का विस्तार से अध्ययन किया जाएगा।

20 स्थल पर युद्ध; युद्धरत आधिपत्य; समुद्र पर युद्ध; नौजितमाल न्यायालय; हवाई युद्ध और अणु-युद्ध

(Warfare on Land, Belligerent Occupation; Warfare on Sea; Prizes Courts; Aerial Warfare and Nuclear Warfare)

युद्ध करते समय कुछ नियमों का पालन करना एक परम्परागत व्यवहार है। आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ इन नियमों में भी परिवर्तन होते रहे हैं। स्थल, जल, और हवाई सेनाओं के सम्बन्ध में आज के वैज्ञानिक युग ने अनेक नई तकनीकों का विकास किया है। इसके सन्दर्भ में युद्ध के कानून भी बदल गए हैं। इनका अध्ययन विस्तार के साथ निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

भूमि युद्ध के नियम
(Rules of Land Warfare)

भूमि-युद्ध से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण नियम 1907 के हेग अभिसमय IV में प्राप्त होते हैं। जेनेवा अभिसमय, 1949 में इन नियमों का विस्तार किया गया। इनके ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से 1864 का जेनेवा अभिसमय तथा सेन्ट पीटर्सबर्ग की घोषणा, 1899 और 1907 के हेग अभिसमय, 1925 के प्रोटोकाल, 1929 और 1949 के जेनेवा अभिसमय आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

नियमों का विकास (Development of the Rules)

स्थल-युद्ध के नियमों के निर्माण की दृष्टि से फ्रांसिस लीबर (Francis Leiber) का नाम उल्लेखनीय है। अमेरिकी गृह-युद्ध के समय इसने सर्वप्रथम इनका विकास किया। हेग सम्मेलनों में अन्य राज्यों ने भी इनको स्वीकृति प्रदान की।

फ्रांसिस लीबर (Francis Leiber)—कोलम्बिया कॉलेज, न्यूयॉर्क के इस प्राध्यापक द्वारा उल्लेखित नियमों को अमेरिकी सरकार ने 24 अप्रैल, 1863 को प्रकाशित किया। इसमें युद्धमानों (Belligerents) का लक्षण एवं विशेषताएँ वर्णित की गई। यह कहा गया कि प्राय: देश की नियमित सेनाएँ वैध-योद्धा मानी जाती हैं। कुछ शर्तों के साथ छापामार दस्तों, स्वयंसेवक दलों तथा नागरिक सेवाओं

को भी वैध मान लिया जाता है। इसके लिए आवश्यक है कि—(A) इनका नेतृत्व उचित रीति से किया जाए, (B) ये कुछ निश्चित विशेष चिह्न धारण करें ताकि इनको दूर से पहचाना जा सके, (C) ये खुले रूप में शस्त्र धारण करें, और इनकी लड़ाई युद्ध के कानूनों तथा प्रथाओं के अनुकूल हो। इन शर्तों के पूरा करने पर किसी भी संगठन अथवा समूह को योद्धा कहा जा सकता है।

जेनेवा अभिसमय (Geneva Convention 1864)—युद्ध में घायलों की स्थिति सुधारने के लिए स्विट्जरलैण्ड, बेल्जियम, डेनमार्क, फ्रांस, इटली, नीदरलैण्ड, पुर्तगाल, प्रशा आदि राज्यों ने एक समझौता किया, जिसे जेनेवा अभिसमय के नाम से जाना जाता है। इस अभिसमय के अनुसार युद्ध के समय रोगियों की गाड़ियों, सैनिक अस्पतालों तथा अस्पताल में कार्य करने वाले कर्मचारियों को तटस्थ माना गया है। ये यद्यपि युद्ध के समय पूरी तरह सक्रिय रहते हैं किन्तु इनका उद्देश्य मानवतावादी होता है और ये युद्ध संचालन में किसी प्रकार योगदान नहीं करते।

सेंट पीटर्सबर्ग की घोषणा (St Petersburg Declaration, 1899)—यह घोषणा इसलिए की गई ताकि विभिन्न राज्यों के बीच युद्ध सम्बन्धी आपत्तियों को कम किया जा सके। घोषणा में कहा गया कि शत्रु के सैनिक-बल को अशक्त बनाया जाना चाहिए। इसके लिए शत्रु-पक्ष के लोगों को अधिकाधिक निकम्मा बनाया जाए, किन्तु ऐसे शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया जाए जो कमजोर लोगों के कष्टों को अकारण ही बढ़ा दें तथा उनकी मृत्यु का कारण बन जाएँ। इसमें हथियारों के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ सीमा लगाई गई।

हेग अभिसमय (Hague Convention, 1907)—यह अभिसमय युद्ध के नियमों की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। इसमें स्थल-युद्ध की विधियों एवं परम्पराओं का उल्लेख किया गया है। युद्ध के उन उपकरणों का निषेध किया गया है जो विनाशकारी एवं दुःखदायी हों। अकारण दुःख तथा विनाश पैदा करने वाले शस्त्रों, प्रक्षेपणों एवं जहरीले पदार्थों के प्रयोग पर रोक लगाई गई है। फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस तथा जापान आदि प्रमुख राष्ट्रों ने इस वाक्य खण्ड को स्वीकार नहीं किया। अमेरिकी प्रतिनिधि ने उस प्रावधान को स्वीकार नहीं किया जिसके अनुसार उन प्रक्षेपणों के प्रयोग पर रोक लगाई गई थी, जिनका उद्देश्य दम घुटने वाली जहरीली गैसों को फैलाना था। प्रथम विश्व युद्ध में इस नियम का व्यापक रूप से उल्लंघन हुआ।

जेनेवा अभिसमय (Geneva Convention, 1949)—जेनेवा में 1949 में चार अभिसमय बनाए गए जिनका सम्बन्ध युद्धबन्दियों के साथ व्यवहार, युद्धरत सेना के घायलों तथा बीमारों की व्यवस्था, जहाज डूबने पर बच सैनिकों की स्थिति और युद्ध के समय नागरिक-जनों के संरक्षण से था।

उपर्युक्त सभी अभिसमयों और सम्मेलनों में स्थल युद्ध के अनेक नियमों का विकास किया गया। जिन विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में व्यवस्थाएँ की गईं उनका विस्तार से उल्लेख अग्रांकित प्रकार से किया जा सकता है।

1 युद्ध की चेतावनी (Warning of the War)

सद्भावना के नियम के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अत्यन्त प्राचीनकाल से यह नियम स्थापित किया गया कि राज्य को अपने विरोधी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करने से पूर्व उपयुक्त सूचना देनी चाहिए। समझौता-वार्ताओं द्वारा विवाद के समाधान से पूर्व ही एक राज्य द्वारा अन्य राज्य पर अचानक आक्रमण कर देना एक धोखे का कार्य समझा जाता है। प्राचीन यूनान, रोम तथा अन्य सभ्यताओं के लोगों में यह व्यवहार प्रचलित था कि युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व वे इसकी औपचारिक घोषणा करते थे। रोमन कानून के अनुसार युद्ध की घोषणा पुरोहितों के एक विशेष समुदाय (College of Fetials) द्वारा की जाती थी, जिसे यह कार्य सौंपा गया था। मध्य युग में रोमन परम्पराओं के प्रभाव से सन्देशवाहकों द्वारा युद्ध की घोषणा के व्यवहार को अपनाया गया। बाद की शताब्दियों में औपचारिक राजनयिक घोषणाएँ की जाने लगीं। 18वीं शताब्दी में यद्यपि लेखकों ने युद्ध की घोषणाओं को आवश्यक बताया, किन्तु व्यवहार में इसका दुरुपयोग किया जाने लगा। अनेक बार युद्ध बिना किसी पूर्व सूचना के प्रारम्भ कर दिए जाते थे। कभी-कभी औपचारिक घोषणा युद्ध प्रारम्भ होने के बाद की जाती थी। उदाहरण के लिए, 1756 में फ्रांस तथा ग्रेट-ब्रिटेन के बीच युद्ध छिड़ने पर ऐसा ही हुआ। एक राज्य द्वारा अन्य राज्य को दिया गया अल्टीमेटम भी युद्ध की पूर्व-सूचना मान लिया जाता था। संयुक्तराज्य अमेरिका और स्पेन के युद्ध की औपचारिक घोषणा 25 अप्रेल, 1898 में की गई जबकि युद्ध पहले ही प्रारम्भ हो चुका था। 1904 में जापान ने पोर्ट आर्थर के रूसी बेड़े पर अचानक आक्रमण कर दिया। रूस की सरकार ने इसके विरुद्ध रोष प्रकट किया।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संस्थान ने 1906 में घेन्ट (Ghent) में हुई अपनी बैठक में ऐसे प्रस्ताव पास किए जिनके अनुसार उपयुक्त चेतावनी के साथ साथ यह भी व्यवस्था की गई कि युद्ध की घोषणा और वास्तविक युद्ध के बीच कुछ दूरी रखी जानी चाहिए। एक वर्ष बाद यह विषय द्वितीय हेग सम्मेलन के सामने लाया गया। इसमें संघर्ष प्रारम्भ होने के सम्बन्ध में एक अभिसमय स्वीकार किया गया। इसके अनुसार सन्धिकर्ता पक्षों के बीच कोई भी युद्ध बिना पूर्व सूचना के तथा स्पष्ट चेतावनी के नहीं होना चाहिए। कर्ता राज्य को या तो युद्ध की घोषणा करनी चाहिए अथवा सशर्त युद्ध की घोषणा के साथ अल्टीमेटम दिया जाना चाहिए। युद्ध की सूचना तटस्थ राज्यों को भी तुरन्त दी जानी चाहिए। जब तक उन्हें युद्ध के अस्तित्व का भान नहीं है तब तक उन पर कोई दायित्व लागू नहीं होगा। हेग अभिसमय के प्रावधानों के प्रभाव से राज्य अब युद्ध की निश्चित तिथि की घोषणा करने लगे। इसमें उन आधारों के सम्बन्ध में भी निश्चित वक्तव्य दिया गया जिन्हें युद्ध का प्रेरक बनाया जा सकता था। यदि संघर्ष के तुरन्त बाद अल्टीमेटम दे दिया जाए तो अचानक आक्रमण भी किया जा सकता था। 1914 में आस्ट्रिया-हंगरी ने सर्बिया को अड़तालीस घण्टे का अल्टीमेटम दिया था।

1931 में जापान ने चीन विरोधी युद्ध के समय घोषणा की आवश्यकता नहीं मानी क्योंकि उसके मतानुसार मंचूरिया पर उसका आक्रमण युद्ध नहीं था। यही बात 1937 के सम्बन्ध में कही गई। 1935 में इटली ने युद्ध की औपचारिक घोषणा के बिना इथोपिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की। इसके सम्बन्ध में हेग अभिसमय के प्रावधानों की अवहेलना की गई। 22 जून, 1941 को जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण युद्ध की घोषणा अथवा अल्टीमेटम के बिना किया गया था। यहाँ तक कि प्रारम्भिक सन्धि-वार्ता भी नहीं की गई, जिससे कि रूस को खतरे के प्रति सजग बनाया जा सके। 7 दिसम्बर, 1941 को जापान ने पर्लहार्बर में संयुक्तराज्य अमेरिका पर बिना युद्ध की घोषणा अथवा औपचारिक अल्टीमेटम के आक्रमण कर दिया। इस मामले में सन्धि-वार्ताएँ बहुत समय से चल रही थीं और इनको हम अनौपचारिक अल्टीमेटम कह सकते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद युद्ध को गैर कानूनी साबित किया जाने लगा है और इसलिए अब हेग अभिसमय पूर्ववत् लागू नहीं होते। संघ के चार्टर की अवहेलना करके भी एक राज्य युद्ध की घोषणा कर सकता है और इसलिए औपचारिक सूचना का प्रावधान महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

वैध योद्धा (Lawful Combatants)

युद्ध में शत्रु की सेना को परास्त करना मुख्य उद्देश्य होता है और इसलिए असैनिक नागरिकों के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यक्रम और नीतियाँ नहीं अपनाई जातीं। इस सम्बन्ध में हिंसा का प्रयोग करते समय पर्याप्त विवेक और भेद से काम लिया जाता है। शत्रु के साथ केवल उतनी ही हिंसा उपयुक्त मानी गई है जो शत्रु को हराने के लिए आवश्यक है। इसके लिए शत्रु के सैनिकों को जान से मारा जा सकता है, घायल किया जा सकता है और उन्हें बन्दी बनाया जा सकता है। युद्ध में किसी भी सैनिक अधिकारी अथवा राजा का वध केवल तभी किया जा सकता है जब वह लड़ने के लिए तैयार हो अथवा बन्दी होने से मना करे। जो सैनिक बीमार या घायल हथियार गिराने वाले समर्पण करने वाले और बन्दी होने वाले होते हैं, उनके साथ दयापूर्ण व्यवहार प्रदान करना आवश्यक है। हेग अभिसमय की धारा-23 में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। विभिन्न राज्यों के न्यायालय में इन नियमों के उल्लंघन करने वाले को दण्ड दिया जाता है। दूसरे राज्य के सैनिकों पर दया प्रदान न करने की आज्ञा देने पर एक जर्मन रेजीमेण्ट के सेनापति को प्राणदण्ड मिला और बाद में उसके दण्ड को आजीवन कारावास के रूप में बदल दिया गया।

जब हिंसा की प्रवृत्ति अमानुषिक, जघन्य और असामाजिक बन जाती है तो कानूनों का प्रचलन असम्भव बन जाता है। 17वीं शताब्दी में पहले नियमित सेनाओं और नागरिक निकायों के बीच विशेष अन्तर नहीं था। शत्रु के ललकारने पर नागरिक अपने देश की रक्षा के लिए हथियार उठा सकते थे। श्री वैटल (Vattel) के कथनानुसार प्रारम्भ में और विशेष रूप से छोटे राज्यों में ज्योंही युद्ध की घोषणा होती थी त्योंही प्रत्येक व्यक्ति एक सिपाही बन जाता था,

सम्पूर्ण जनता हथियार हाथ में ले लेती और युद्ध संचालन करने लगती। जो लोग सेनाओं से दूर रहते थे वे भी आवश्यकता के समय सैनिक अनुशासन से प्रभावित होते थे।" आने वाली शताब्दियों में परिस्थितियाँ कुछ सुधरीं। यह नियम स्वीकार किया जाने लगा कि निःशस्त्र नागरिकों पर कोई आक्रमण नहीं किया जाना चाहिए बशर्ते कि उन्होंने संघर्ष में कोई भाग न लिया हो। इस सम्बन्ध में मुख्य कठिनाई यह उठती है कि शत्रु राज्य के नागरिकों को धर्म युद्ध में संलग्न योद्धा के अधिकार सौंपे जाएँ अथवा न सौंपे जाएँ। यह नागरिक अपने देश की नियमित सेनाओं से पृथक् स्रोतों से भी हथियार ले सकते हैं।

वैध योद्धाओं के निश्चय से सम्बन्धित प्रश्न पर राज्यों का व्यवहार भिन्न-भिन्न रहा है। अमेरिकी गृह युद्ध के समय रण-क्षेत्र में स्थिति भयंकरा[?] अमेरिका की सेनाओं के लिए निर्देश प्रसारित किए गए। इनके द्वारा युद्ध के वैध और अवैध भागीदारों में भेद किया गया। वैध भागीदार वे थे जो सेनापति की सत्ता के आधीन कार्य करते थे और जिन्हें युद्धबन्दी माना जाता था। अवैध भागीदारों में लोगों के उन गिरोहों को लिया गया जो संगठित सेना का भाग न होते हुए तथा निरन्तर युद्ध में योगदान किए बिना संघर्ष करते थे, इनको डाकुओं के समान समझा जा सकता है। इन निर्देशों में प्रान्त प्रदेश की जनता के आक्राता के विरोध करने के अधिकार को मान्यता दी गई। इसके विपरीत जर्मनों ने 1870 में फ्रान्स पर आक्रमण के समय जो नियम लागू किए वे अत्यन्त कठोर थे। इनके अन्तर्गत स्वयंसेवक टुकड़ियों और स्थानीय सैनिकों के लिए कोई रियायत नहीं थी। 1899 में हेग शान्ति सम्मेलन में बड़े और छोटे राज्यों के विरोधी दृष्टिकोणों के बीच समझौता करने का प्रयास किया गया। अभिसमय के साथ संलग्न विनियमों की धारा 1 में स्थल युद्ध के कानूनों और रिवाजों के प्रति सम्मान प्रकट किया गया और उन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया जिनमें युद्ध के कानून तथा अधिकार और कर्त्तव्य नागरिक सेनाओं (Militia) और स्वयंसेवक दलों (Volunteer Corps) पर भी लागू हो सकें। विनियमों में यह भी व्यवस्था की गई कि आक्रमण होने की स्थिति में लोग हथियार धारण करने और आक्रमणकारी सेनाओं का विरोध करने का अधिकार रखते हैं। इन्हें वही स्तर प्रदान किया जाना चाहिए जो स्वयंसेवक दलों का प्रदान किया जाता है।

प्रथम विश्वयुद्ध में हेग विनिमय के प्रावधान गम्भीरतापूर्वक तोड़े गए और द्वितीय विश्वयुद्ध में और अधिक गम्भीरता से इनका उल्लंघन किया गया। सैनिक आवेजन के नियमों ने स्थिति को और भी अधिक जटिल बना दिया। इसके अन्तर्गत वैध तथा अवैध योद्धा के बीच अन्तर करना कठिन बन गया।

युद्ध के साधन
(Instruments of Warfare)

युद्ध में शत्रु के सैनिकों के विरुद्ध प्रत्येक कदम उठाना वैध नहीं माना जाता। शत्रु को मारने के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले उचित तथा अनुचित साधनों

के बीच भेद किया गया। शत्रु को ऐसे साधनों से नहीं मारा जाना चाहिए जिनसे अनावश्यक पीड़ा और कष्ट हो और जो अमानवीय प्रतीत हो। इस नियमों की धारा 23 में विष, अनावश्यक हानि पहुँचाने वाले पदार्थ और जलता हुआ द्रव्य डालने वाले हथियारों का प्रयोग वर्जित माना गया। भारतीय धर्म शास्त्रों में भी ऐसे अनेक प्रतिबन्धों का उल्लेख है। मनुस्मृति, महाभारत आदि शास्त्रों में इन उपायों को दुर्जनों का हथियार बताया गया है। शत्रु के जल स्रोतों को विषैला नहीं बनाया जाना चाहिए, विषैले हथियारों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, रायफलों में कांच के टुकड़े और तोपों में अत्यन्त गर्म गोले नहीं भरने चाहिए। योद्धाओं को घसे से मारने अथवा घायल करने पर भी रोक लगाई गई है। शत्रु की हत्या के लिए हत्यारों को किराए पर रखने का निषेध किया गया। सेन्ट पीटर्सबर्ग की घोषणा के अनुसार लड़ाई में उन अग्निबाणों या प्रक्षेपणास्त्रों के प्रयोग को निषिद्ध बताया गया जो 14 औंस से कम भार वाली विस्फोटक अथवा ज्वलनशील सामग्री रखते हैं। 1890 के हेग सम्मेलन में श्वासरोधी अथवा हानिकारक गैसों के प्रयोग को निषिद्ध ठहराया गया। वर्साय की सन्धि (1919) तथा वाशिंगटन की सन्धि (1922) ने भी इसका निषेध किया।

17 जून, 1925 को जहरीली गैसों तथा युद्ध की संहारक प्रणालियों के विरुद्ध जेनेवा में एक प्रोटोकोल की रचना की गई जिस पर अनेक राज्यों ने हस्ताक्षर किए। सभ्य संसार का सामान्य जनमत यह था कि इन घातक तत्त्व पदार्थों का प्रयोग न किया जाए। संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान जैसे महत्त्वपूर्ण राज्य इस पर हस्ताक्षर न कर सके, अतः दूसरे राज्यों को इस पर विश्वास नहीं रहा, फलस्वरूप नवीन और प्रभावशील गैसों की खोज का कार्य चलता रहा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान युद्ध में नए हथियारों का प्रयोग किया गया जिनके औचित्य तथा वैधानिकता के सम्बन्ध में पर्याप्त वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। जर्मनी ने लन्दन तथा अन्य ब्रिटिश नगरों के विरुद्ध राकेट बमों का प्रयोग किया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर अणुबम का प्रयोग किया। राकेट बम की सन्देहशील वैधानिकता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि इसके द्वारा निश्चय के साथ लक्ष्य भेद नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह जिस गति से आता है वह इतनी तीव्र होती है कि नगर निवासियों को शरण पाने के लिए चेतावनी देना असम्भव बन जाता है। दूसरी ओर अणुबम की वैधानिकता इसलिए सन्देहजनक बन जाती है क्योंकि इसके प्रभाव का क्षेत्र और इसकी विध्वंसकारिता पर्याप्त व्यापक होती है और इच्छित नगरों तक उसके प्रभाव को सीमित नहीं किया जा सकता।

अणुबम की समस्या वैज्ञानिक प्रगति के साथ साथ जटिल होती चली गई है। हाईड्रोजन बम तथा अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों के कारण असैनिक नागरिकों के विनाश की सम्भावनाएँ पहले की अपेक्षा पर्याप्त बढ़ गई हैं। ऐसी स्थिति में इनके प्रयोग पर नियन्त्रण लगाना अनिवार्य बन गया है। पं. जवाहरलाल नेहरू ने

अणुबमों के प्रथम प्रयोग को शैतान का अवतार बताया। इसके पक्ष में अमेरिकी सत्ताओं ने यह तर्क दिया कि युद्धकाल को कम करने के लिए यह एक प्रभावशाली साधन था। इसके कारण हजारों अमेरिकी युवकों की जान बचाई जा सकी। यह तर्क अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता पर गहरा आघात है और जर्मनी के आवश्यकता के सिद्धान्त की भांति निकम्मा है।

जब तक अणुबमों तथा अणुशक्ति का नियन्त्रण नहीं किया जाता तब तक आधुनिक युद्धों में गैरसैनिक नागरिकों के जीवन के अवसर बहुत कम हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ 1946 से इसके नियन्त्रण के अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम पर प्रयास कर रहा है। 24 जनवरी, 1946 को संघ की महासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा अणुशक्ति के बारे में एक आयोग की रचना की। इसका उद्देश्य सभी राज्यों के बीच शान्तिपूर्ण उद्देश्य के लिए मूल वैज्ञानिक सूचना का आदान-प्रदान करना अणुशक्ति का नियन्त्रण करके उसे शान्तिपूर्ण कार्यों में प्रयुक्त करना, व्यापक संहार वाले शस्त्रों का राष्ट्रीय हथियारों में से हटाना और निरीक्षण तथा अन्य साधनों द्वारा उन राज्यों की रक्षा करना जिनके विरुद्ध कोई कार्यवाही की जा सकती। अणुशस्त्रों को सीमित अथवा नष्ट करने के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच हमेशा मतभेद रहा है। एक के प्रस्तावों को दूसरा पक्ष अस्वीकार कर देता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राज्यों का बहुमत इस सम्बन्ध में सामान्य सहमति रखता है कि अणु हथियारों को पूर्ण रूप से महत्त्वहीन बना दिया जाय, किन्तु स्थित अणु बमों के विनाश और सभी राज्यों में प्रस्तावित निरीक्षण व्यवस्था के प्रश्न पर सहमति नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका अपने अणुबम के स्टॉक को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है और सोवियत रूस अणु शक्ति पर अपने कार्यों के निरीक्षण के विरुद्ध है क्योंकि इससे उसकी सम्प्रभुता पर आघात पहुँचता है। इस प्रकार गतिरोध बना रहता है। दोनों गुटों के बीच अणु शक्ति के विध्वंसक प्रयोग को सीमित करने की दृष्टि से अनेक बार प्रयास किए गए किन्तु अभी भी उनके बीच स्पर्द्धा की दौड़ स्थित है।

कानूनी दृष्टि से अणुबमों का प्रयोग अनुचित है। इसके विस्फोट से विषैली धूलि का प्रसार होता है और 1907 के चतुर्थ हेग अभिसमय की धारा 23 में विषैले पदार्थों के प्रयोग को निषिद्ध ठहराया गया है। इस सम्बन्ध में प्रो. स्टार्क ने लिखा है कि "जब तक अणुबम और अणु शक्ति पर कोई अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित नहीं होगा तब तक युद्ध में असैनिक जनता की रक्षा की सम्भावनाएँ बहुत कम हैं।"

युद्ध की प्रणालियाँ (Methods of Warfare)

युद्ध के साधनों की भाँति युद्ध की प्रणालियों के सम्बन्ध में भी यह निर्धारित करने में कठिनाई उत्पन्न होती है कि किन आचरणों को किसी विशेष परिस्थिति में स्वीकृत या कानूनी माना जाए। इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य सिद्धान्त स्वीकार किए गए किन्तु जब उनको मूर्त परिस्थितियों में लागू किया गया तो विवाद की अनेक

बातें उठ खड़ी हुईं। केवल योद्धा सेनाओं को प्रभावित करने वाली युद्ध की प्रणालियों के सम्बन्ध में रिवाज तथा अभिसमय द्वारा यह घोषित किया गया कि आत्मसमर्पण करने वाले तथा हथियार डालने वाले शत्रु को मारना अथवा घायल करना गैर-कानूनी है। पहले से ही यह घोषणा करने पर भी रोक लगाई गई कि सैनिकों को रहने का कोई स्थान नहीं दिया जाएगा।

आत्म-समर्पण करने वाले को मारने की मनाही करने वाला नियम व्यवहार में अत्यन्त कठिन है। आक्रमण की व्यावहारिक परिस्थितियाँ आक्रान्ता सेनाओं के लिए युद्ध बन्दी रखना असम्भव बना देती हैं। युद्ध के समय शत्रु के क्षेत्र में अधिक से अधिक प्रवेश पाने की उतावली रहती है। उस गर्मी के समय अनेक सामान्य सिद्धान्त तोड़े जाते हैं और अधिकारियों या उनके व्यक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाना व्यावहारिक रूप से असम्भव बन जाता है। यदि युद्धबन्दियों की उपस्थिति सेना की सुरक्षा के लिए खतरनाक बन जाए तो कमाण्डर उन्हें निवास स्थान देने से मना कर सकता है।

धोखेबाजी (Use of Deceit)—युद्ध में चालबाजियों तथा शत्रु को धोखा देने के व्यवहारों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा वैध माना गया है। उनका रिवाजी प्रयोग हेग विनियमों द्वारा स्वीकार किया गया। इनके प्रयोग की एक मुख्य शर्त यह है कि इनके कारण सद्विश्वास न टूट जाए। आजकल युद्धों में शक्ति के साथ-साथ बुद्धि एवं चातुर्य की परीक्षा भी मुख्य बन गई है। शत्रु पक्ष को शतरंज की चालों में मात देना प्रत्येक युद्धकारी राज्य का लक्ष्य होता है। सभी मोर्चों के खड़े रहने पर भी शत्रु पूरी तरह फँस जाए तथा चाहने पर भी निकल न पाए ऐसी स्थिति लाने के लिए चालबाजी की नीति अपनाना परम आवश्यक बन जाता है।

इस दृष्टि से कुछ सीमाएँ लगाई गई हैं। ये निम्नलिखित हैं—

(A) युद्ध विराम के झण्डे या रेडक्रास के चिह्न आदि से निशस्त्रता द्वारा एक राज्य अपने विरोधी से बातचीत करने या आत्मसमर्पण करने का उन्मुक्त गमन की इच्छा प्रकट कर सकता है। इन चिह्नों का दुरुपयोग धोखेबाजी के रूप में नहीं करना चाहिए।

(B) विरोधी के साथ सन्धि वार्ता के लिए जाने वाले दूत को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जो संघर्षपूर्ण प्रकृति का हो।

(C) शत्रु की वर्दी या उसके राष्ट्रीय ध्वज का प्रयोग करना चाहिए अथवा नहीं, यह एक विवादपूर्ण प्रश्न है। हेग विनियमों (Hague Regulations) में इनके दुरुपयोग को अनुचित माना गया है। प्रतिबन्ध की व्यापकता को देखने पर लगता है कि यह प्रश्न रिवाजी कानून द्वारा ही तय किया जाना चाहिए। रिवाजी नियम केवल यह व्यवस्था करता है कि इन मामलों में वास्तविकता को सामने करने से पहले ही छोड़ देना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि शत्रु का धोखे में रखकर एक राज्य ठगता रहे और जब निकल जाने का समय आ जाए तो सम्भवतः इसका कोई लाभ नहीं रहेगा।

(D) शत्रु की सेना या प्रदेश के लोगों को निर्दयतापूर्वक मारा या घायल न किया जाए। ऐसा करने के लिए किया गया धोखा अनुचित है।

उक्त सभी प्रतिबन्ध इस दृष्टि से लगाए गए हैं ताकि गलत विश्वास पैदा न हो। प्रो फेनविक का कहना है कि "इन प्रतिबन्धों के होते हुए भी युद्ध में धोखेबाजी का व्यापक रूप से प्रयोग होता है। रणनीति के नाम पर यह अनेक युद्धों का निर्णायक तत्त्व रहा है।"[1]

जासूसी (Spying)—युद्धकाल में जासूसी करना प्रत्येक पक्ष का एक मान्य अधिकार है। यदि एक जासूस पकड़ लिया जाए तो शत्रु राज्य उसे दण्ड देने का अधिकार भी रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की मुख्य कठिनाई यह है कि यहाँ जासूसों, बालचरों, पत्र-वाहकों तथा युद्ध-विश्वासघातियों के बीच बहुत कम अन्तर है। 1899 के हेग अभिसमय ने इस सम्बन्ध में अपने विचार रिवाजी कानून के आधार पर प्रतिपादित किए। जासूस वे होते हैं जो युद्ध भूमि में गुप्त रूप में प्रवेश करते हैं और समाचारों का संग्रह करके अपने देश को भेजते हैं। जो सिपाही गुप्त रूप में नहीं रहते हैं वे बालचर (Scouts) कहे जाते हैं। वे शत्रु की सीमा में प्रवेश करके सूचना प्राप्त कर सकते हैं तथा उनको गुप्तचर नहीं माना जाता। इसी प्रकार यदि पत्र वाहक अपना कार्य खुलकर करें तो वे भी गुप्तचर नहीं माने जाएँगे। जो लोग गुब्बारों में बैठकर सेना या प्रदेश के विभिन्न भागों के बीच संचार की व्यवस्था करते हैं वे भी इसी वर्ग में आते हैं। रूस-जापान युद्ध के समय रूस ने घोषणा की कि बेतार के तार द्वारा शत्रु को खबरें भेजने वाले को गुप्तचर माना जाएगा। इस धमकी को क्रियान्वित नहीं किया गया।

हेग विनियमों में गुप्तचरों को दण्ड देने से पूर्व उन पर न्यायिक कार्यवाही करने की व्यवस्था की गई। यदि कोई गुप्तचर भाग जाता है और बाद में पकड़ा जाता है तो उसे युद्धबन्दी माना जाएगा। स्थल युद्ध के अमेरिकी नियमों ने रिवाजी कानून पर जोर देते हुए यह माना कि गुप्तचरों को दण्ड देते समय लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा।

शत्रु की सम्पत्ति का राज्यसात् एवं विनाश
(Seizure and Destruction of Enemy's Property)

युद्ध के कानून सैनिक आवश्यकता के समय शत्रु की सम्पत्ति के विनाश और राज्यसात् करने का अधिकार देते हैं। हेग सम्मेलन में इस विषय पर विचार विमर्श के समय सिद्धान्त रूप से ऐसे व्यवहार की निन्दा की गई तथा रिवाजी कानून की भाँति शत्रु की सम्पत्ति के विनाश पर रोक लगाई गई जब तक युद्ध की आवश्यकताएँ इसकी माँग न करें। इस प्रकार यह नियम सतत था और इसन आवश्यक परिस्थितियों

[1] Apart from the above cases involving bad faith, deceit was widely used in warfare and under the name of strategy', it was the deciding factor of many battles " —Charles G Fenwick

का निर्णय युद्धरत सेना पर ही छोड़ दिया। रिवाजों एवं परम्पराओं ने मिल कर इसके व्यवहार का रूप निर्धारित किया। आक्रमणकारी तथा सुरक्षात्मक सैनिक कार्यों के लिए शत्रु की सम्पत्ति को नष्ट करने के अधिकार के सम्बन्ध म भेद किया गया। आवेशनकर्ता सेना शत्रु की सम्पत्ति का देश के प्रभावशील शासन के लिए प्रयोग करने का सीमित अधिकार रखती है। शत्रु के लिए जो सम्पत्ति प्रत्यक्ष रूप से सैनिक मूल्य की होती है उसे वह अपने प्रयोग मे लाने का अधिकार रखता है। गैर-सैनिक सम्पत्ति के सम्बन्ध मे शत्रु राज्य के अधिकार विवाद के विषय रहे हैं। गोलाबारी से आसपास के मकानों को नष्ट करना सामान्य व्यवहार रहा है। कभी-कभी शत्रु को भोजन और निवास के स्रोतों से विहीन करने के लिए पूरे नगर को नष्ट कर दिया जाता है। सरकारी भवनों को जलाना सामान्यत निन्दा का विषय बनता है। हेग विनियमो ने यह रिवाजी कानून स्वीकार किया है कि किसी भी कस्बे या स्थान को नष्ट करना गलत है। बदले की भावना से कोई भी सेना शत्रु की सम्पत्ति को अपने अधिकार मे लें सकती है।

एक कठिन प्रश्न यह है कि शत्रु की सम्पत्ति के विनाश के औचित्य को किस प्रकार सिद्ध किया जाए ? शत्रु के सचार की लाइनों को काटना, उसकी पूर्ति के स्रोतों को कम करना, नागरिक जनता को तग करना आदि बातें कहाँ तक उचित हैं। प्रथम विश्वयुद्ध मे पश्चिमी मोर्चे के साथ युद्ध की निश्चित पंक्तियों मे लड़ाई की गई। इसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण नगर और ग्राम नष्ट कर दिए गए। सैनिक उद्देश्यो के लिए 1917 के वसन्त मे पश्चिमी मोर्चों पर जर्मन सेनाओं के प्रतिकार के रूप म कदम उठाया गया। दूसरी ओर अनेक दुर्घटनाएँ घटी, उदाहरण के लिए लूवियन पुस्तकालय को जला दिया गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध म सेना द्वारा शत्रु की सम्पत्ति का नाश इतना व्यापक रूप से हुआ कि हेग अभिसमय द्वारा लगाए गए प्रतिबन्ध केवल मजाक बन कर रह गए। शत्रु की सरकारी और गैर-सरकारी दोनों प्रकार की सम्पत्ति प्रत्येक प्रकार के सम्पत्ति सम्बन्धी भेदों का अन्तर किए बिना नष्ट की जा सकती है। जब एक राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण करता है तो ऐतिहासिक इमारतें खण्डहर बन जाती हैं। यदि अधिकांश विनाश अनावश्यक हैं तो सर्प की भाँति बड़ी सेनाओं को बनाए रखना भी अधिक बुद्धिपूर्ण नहीं लगता।

असैनिक जनता के सम्बन्ध म शत्रु की सेनाओं के सामने समर्पण कर देना युद्धो मे प्राय. हुआ करता है, यहाँ तक कि अमेरिकी गृह-युद्ध म जबकि आवरण का उच्चस्तर वांछनीय समझा गया था नागरिको तक युद्ध को लाना उपयुक्त नहीं माना गया।

शत्रु के प्रदेश का आवेशन
(Occupation of Enemy's Territory)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून शत्रु के प्रदेश के आवेशन को प्रशासित करने के सम्बन्ध मे अलग नियम रखता है। जब कोई राज्य हार जाता है अथवा उसके प्रदेश से वह

निकाल दिया जाता है तो उसके प्रदेश पर अन्य राज्यों का कुछ समय के लिए नियन्त्रण हो जाता है। ग्रोशियस के समय एक सेना के आवेशन के अस्थाई अधिकारों और विजयी योद्धा के स्थायी अधिकारों के बीच भेद नहीं किया जाता था। शत्रु के प्रदेश पर अधिकार करने वाली सेनाएँ उस पर सम्प्रभुता के अधिकार का प्रयोग करती थीं और कभी-कभी उस देश के निवासियों में से अपनी सैनिक नियुक्तियाँ भी करती थीं। 17वीं शताब्दी के मध्यकाल में युद्धकारी सेना द्वारा प्रयुक्त प्राविधिक सत्ता और शान्ति सन्धि द्वारा निर्धारित प्रदेश के अन्तिम स्तर के बीच भेद किया जाने लगा। आवेशनकर्त्ता सेना को अस्थायी रूप से इस आधार पर कानूनी सत्ता दी गई क्योंकि तथ्यगत रूप से प्रदेश पर उसका नियन्त्रण है। इस सत्ता का क्षेत्र और प्रगति योद्धा सेना की आवश्यकताओं और आवेशित प्रदेश की नागरिक जनसंख्या के *कल्याण तथा मानवीय हितों द्वारा निर्धारित होती है। सैनिक आवेशनों की* क्रिया-प्रतिक्रिया अनेक समझौतों में प्रतिवर्तित होती है जो आधुनिक कानून के भाग हैं।

इस सम्बन्ध में मुख्य कठिनाई यह आती है कि आक्रमणकारी के अधिकार समाप्त होने और सैनिक आवेशन प्रारम्भ होने के क्षण का निश्चय किस प्रकार किया जाए। प्रथम और द्वितीय हेग सम्मेलनों में इस सम्बन्ध में दो विरोधी दृष्टिकोण प्रतिपादित किए गए। ग्रेट-ब्रिटेन और छोटे यूरोपीय राज्यों का दृष्टिकोण यह था कि एक देश को आवेशित तभी माना जा सकता है जब आक्रमणकारी ने उसके सभी भागों में सैनिक टुकड़ियाँ भेज दी हैं और वह किसी भी स्थान पर विरोध को दबाने की सत्ता रखता है। दूसरी ओर जर्मनी और बड़े यूरोपीय राज्यों का मत यह था कि आवेशन की कानूनी स्थिति उसी समय प्रारम्भ हो जाती है जब शत्रु की प्रमुख सेनाएँ हराकर बाहर निकाल दी जाती हैं। हेग नियमों के प्रावधानों से स्पष्ट होता है कि इनमें प्रथम दृष्टिकोण को मान्यता दी गई। कानूनी सैनिक आवेशन की *परीक्षा यह है कि किसी भी विशेष क्षेत्र में वास्तविक प्रभावशीलता रहनी चाहिए* जहाँ इसके कानूनी स्वरूप पर प्रश्न किया जा सके।

सैनिक आवेशनकर्त्ता की सत्ता का क्षेत्र सामान्यतः वही होता है जो विस्थापित सरकार का था। हेग नियमों ने रिवाजी कानून को प्रभावशाली बनाया और यह व्यवस्था की कि आवेशनकर्त्ता अपनी शक्ति के अनुसार प्रदेश में सार्वजनिक शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयास करेगा और पूर्व सरकार के कानूनों को यथासम्भव मान्यता देगा। इस प्रकार आवेशनकर्त्ता का यह दायित्व बताया गया कि वह अपने आवेशन को सुरक्षित रखते हुए जितना पूर्व व्यवस्था को स्वीकार कर सके उतना करे। जहाँ वह आवश्यक समझे नए कानून बना सकता है और उन्हें लागू करने के लिए आवश्यक दण्ड व्यवस्था लागू कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सैनिक आवेशनकर्त्ता पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए हैं ताकि उस प्रदेश के निवासियों की रक्षा की जा सके जिन पर वे नियन्त्रण नहीं

रखते। प्रदेश के प्रशासन द्वारा ऐसे नए प्रयास किए जाएँ ताकि समाज के सामान्य जीवन में विदेशी सेनाओं की स्थिति को आत्मसात् किया जा सके। इसके साथ ही आवेशनकर्ता की सेना की आवश्यकताएँ पूर्णतः सन्तुष्ट की जानी चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हेग नियमों में यह व्यवस्था की गई कि सैनिक आवेशनकर्ता निवासियों के व्यक्तिगत और सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों का आदर करे। व्यक्तियों का जीवन, पारिवारिक सम्मान, अधिकार, धर्म, विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता आदि का आदर किया जाना चाहिए। हेग विनियमों ने युद्धकारी राज्य पर यह प्रतिबन्ध लगाया कि विरोधी पक्ष के राष्ट्रजनों को उन्हीं के देश के विरुद्ध संचालित युद्ध में भाग लेने के लिए बाध्य न करें। युद्ध से पूर्व शत्रु राज्य की सेना में कार्य करने पर भी उस यह उन्मुक्ति प्रदान की जाएगी।

शरीर बन्धकों का प्रबन्ध
(The Management of Hostages)

शरीर बन्धकों को अपने साथ ले जाने की परम्परा प्राचीन काल से रही है। इतिहास के अभिलेख साक्षी हैं कि शरीर बन्धकों या उस कीमत या भुगतान करना पड़ा जो उन्हें रखने वालों द्वारा माँगी गई। 19वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में इनको ले जाने की प्रक्रिया बदले की भावना से सम्पन्न की जाने लगी। अमरीकी गृहयुद्ध के समय बन्दियों से भरी हुई एक कार को सन्देहशील स्थान पर एक लम्बी रस्सी द्वारा खींचा गया ताकि उसकी सुरक्षा की जाँच की जा सके। इसी प्रकार से इनके साथ किए जाने वाले दुर्व्यवहारों के दूसरे उदाहरण मिलते हैं। इन सभी बुराइयों के होते हुए भी इस सम्बन्ध में हेग नियमों में कोई व्यवस्था नहीं की गई। केवल अप्रत्यक्ष रूप से यह कहा गया कि व्यक्तिगत कार्यों के लिए समस्त जनता को दण्ड न दिया जाए।

हेग नियमों में यह व्यवस्था की गई थी कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का आदर किया जाना चाहिए। इन पर कर लगाए जा सकते हैं और करों के साथ-साथ कुछ योगदान भी माँगा जा सकता है। रिवाजी क़ानून के अनुसार सैनिक आवेशनकर्ता की सरकार के खजाने को भरने के लिए कर लगाने पर रोक लगाई गई थी। हेग नियमों ने इस बात को स्वीकार किया और व्यवस्था की कि कर और योगदान केवल सेना और प्रशासन की आवश्यकताओं के कारण लिए जाने चाहिए।

व्यक्तिगत कार्यों का सामूहिक उत्तरदायित्व
(Collective Responsibility for Act of Individuals)

अपराधों को रोकने के लिए समाज पर जुर्माना करने का रिवाज भी एक विशेष कठिनाई उत्पन्न करता है। व्यक्तियों के कार्यों के लिए पूरे समाज को उत्तरदायी ठहराया जाता है। रेलों को तोड़ना, तार की लाइनों को काटना तथा पुलों को तोड़ना आवेशनकर्ता के सैनिक क़ानून द्वारा निषिद्ध कर दिए जाते हैं। हेग नियमों में यह व्यवस्था की गई कि व्यक्तियों के इन कार्यों पर सामान्य दण्ड नहीं दिया जा सकता जिनके लिए वे सामूहिक रूप से उत्तरदायी न ठहराए जाएँ।

सैनिक प्रावेशन के समय प्रावेशित प्रदेश की पूर्ति के स्रोतों पर राज्य का अधिकार हो जाता है। वह प्रत्यक्ष रूप से सैनिक प्रयोग की वस्तुओं जैसे घोड़े, रेल के डिब्बे, मोटर गाड़ियों और सामान्य प्रयोग की वस्तुएँ जैसे भोजन, वस्त्र, घर और मशीनों आदि के स्रोतों पर अधिकार करने लगता है। इन वस्तुओं की प्राप्ति को हम लूटमार नहीं कह सकते क्योंकि वह इन्हें व्यवस्थित रूप से प्राप्त करता है और स्थानीय जनता पर इसके भार को क्रमिक रूप से डालता है। हेग नियमों के अनुसार *प्रावेशनकर्त्ता सेना की माँगें देश के स्रोतों के अनुपात में होनी चाहिए।*

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान सैनिक प्रावेशन से सम्बन्धित हेग अभिसमय के प्रावधानों का उल्लंघन किया गया। युद्ध समाप्त होने तक इन प्रावधानों में से केवल कुछ ही अछूते बच सके। आक्रमणकारी जर्मन सेनाओं ने व्यक्तियों के गलत कार्यों के लिए सामाजिक उत्तरदायित्व की मनमानी परिभाषा की। शरीर बन्धकों को ले जाया गया और उन पर न्यायिक कार्यवाही की गई। अनेक बार व्यक्तियों के अपराधों के कारण शहरों और गाँवों पर भारी जुर्माने लगाए गए। पुरुषों और महिलाओं को प्रावेशित प्रदेश से बाहर निकाला गया। उन्हें शत्रु राज्य की फैक्ट्रियों और खानों में कार्य करने के लिए बाध्य किया गया। प्रावेशित प्रदेश से भोजन तथा अन्य वस्तुओं को सेनाओं की आवश्यकताओं का ध्यान रखे बिना ले लिया गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जर्मनी और मित्र राष्ट्रों द्वारा किए गए सैनिक प्रावेशन का क्षेत्र अधिक विस्तृत था। जर्मन सेना द्वारा शरीर बन्धकों को स्वतन्त्रतापूर्वक ग्रहण किया गया। कई गाँव केवल इसलिए पूर्णतः समाप्त कर दिए गए क्योंकि उन पर गलती करने के आरोप थे। प्रावेशित प्रदेश का इतना सामान सेनाओं द्वारा लिया गया जो प्रदेश के स्रोतों की क्षमता के बाहर था। फलतः स्थानीय जनसंख्या के भूखा मरने की नौबत आ गई।

युद्ध के राजद्रोह (War Treasons)

दोनों विश्वयुद्धों के बीच सैनिक प्रावेशन की प्रमुख समस्या युद्ध के राजद्रोह की रही। हेग नियमों द्वारा सैनिक प्रावेशनकर्त्ता को कहा गया था कि वह आक्रान्ता राज्य के प्रति शपथ ग्रहण करने के लिए जनता को बाध्य न करे। रिवाजी कानून द्वारा यह व्यवस्था की जा चुकी थी कि व्यक्तिगत नागरिकों को अपने देश की सेनाओं से किसी प्रकार का पत्र व्यवहार नहीं करना चाहिए और न ही किसी प्रकार की सहायता और आराम की व्यवस्था करनी चाहिए। रिवाजी कानूनों के अनुसार युद्ध विद्रोहियों को कड़ा दण्ड दिया जा सकता है। यदि प्रावेशित सेना के संचालन या स्थिति से सम्बन्धित किसी सूचना को कोई प्रसारित करता है तो उसे मृत्यु की सजा भी दी जा सकती थी। इस सम्बन्ध में एक ब्रिटिश नर्स एडिथ कावेल (Edith Cavall) का मामला उल्लेखनीय है। वह एक रेडक्रास सोसायटी की नर्स थी। यह एक विशेष विश्वास का पद होता है। दूसरी ओर उसने शत्रु को सहायता पहुँचाई और इस प्रकार वह युद्ध विद्रोह की अपराधी बनी।

यह कहा जाता है कि उसने जो कुछ किया वह शत्रु के लिए अधिक लाभकारी नहीं था और इसलिए उसे मृत्यु दण्ड देना आवश्यकता से अधिक गम्भीर था। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान युद्ध विद्रोह के अपराध अधिक जटिल बन गए क्योंकि उस समय नार्वे, फ्रांस और अन्य आवेशित देशों में सैनिक आवेशनकर्त्ताओं ने अपनी राष्ट्रीय सरकारें स्थापित करलीं और देश को अपने नियन्त्रण में प्रशासित किया। इन सरकारों का व्यापक रूप से विरोध किया गया, अनेक भूमिगत सगठन जनता का मनोबल ऊँचा उठाने का कार्य करने लगे ताकि वे खुलकर शस्त्र धारण कर सकें। इन विरोधी समूहों के अनेक सदस्यों पर न्यायिक कार्यवाही की गई।

असैनिक जनता सम्बन्धी प्रावधान
(Provisions in Relation to Civilians)

मध्यकाल में असैनिक जनता के सम्बन्ध में अमानुषिक नियम प्रचलित थे। उस समय असैनिक जनता को एक साथ किले में बन्द करके निर्दयता पूर्ण भून दिया जाता था अथवा उन्हें असहनीय कष्ट दिया जाता था। 18वीं शताब्दी में आकर यह व्यवहार बदला और सामान्यत यह माना जाने लगा कि युद्ध में भाग न लेने वाले शत्रुओं पर आक्रमण करना अथवा उनका प्राण हरण करना उचित नहीं। अमेरिकी सरकार द्वारा 1863 में सेनाओं को दिए गए सामान्य आदेश में यह कहा गया कि जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक शस्त्रहीन नागरिकों के शरीर, सम्पत्ति और सम्मान को क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए। जनता के विरुद्ध कार्यवाही केवल तभी की जानी चाहिए जबकि सत्ताधारी को सामूहिक विद्रोह की सम्भावना है। आक्रमणकारी राज्य हारे हुए प्रदेश के लोगों को बाध्यकारी रूप से सेना में भर्ती करने का अधिकार नहीं रखता।

आक्रमणकारी राज्य आवश्यकता होने पर नागरिकों के सेना के लिए आवश्यक पुल, सडक, मकान आदि का प्रयोग कर सकता है। यदि इसके लिए दण्ड देने की आवश्यकता पड़े तो ऐसा भी किया जा सकता है। नागरिकों के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही के समय उनके पारिवारिक सम्मान, व्यक्तिगत जीवन, व्यक्तिगत सम्पत्ति एव धार्मिक विचारों का सम्मान किया जाना चाहिए। 1949 के हेग सम्मेलन में यह बात स्वीकार की गई थी।

आजकल हवाई युद्ध का प्रचलन होने के कारण असैनिक नागरिकों को बचाने की समस्या गम्भीर बन गई है।

युद्धबन्दियों के साथ व्यवहार
(Treatment with War Prisoners)

आजकल युद्धबन्दियों से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्था अतीतकाल से पर्याप्त भिन्न है। प्रारम्भ में इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं था। आदिकालीन समाज में युद्धबन्दियों को या तो मार दिया जाता था अथवा देवताओं के आगे उनकी बलि चढ़ा दी जाती थी। कभी-कभी दो राज्य परस्पर युद्धबन्दियों का विनिमय कर लेते थे। मध्ययुग में आकर युद्धबन्दियों को मारने और दास बनाने

की प्रथा को कम कर दिया गया, इसके पर भी इन्हें अपराधी माना जाता था और बिना आवश्यक धन प्राप्त किए छोड़ा नहीं जाता था। ग्रोशियस के कथनानुसार, उस समय का अन्तर्राष्ट्रीय कानून युद्धबन्दियों को दास बनाने की अनुमति देता था, किन्तु ईसाई धर्म के प्रभाव ने उनके साथ किए जाने वाले दुर्व्यवहार को कम कर दिया। बन्दियों को छोड़ने के लिए स्वीकृत धन प्रायः उनके मासिक वेतन के बराबर होता था। सत्रहवीं शताब्दी में युद्धबन्दियों को इन्हें पकड़ने वालों की सम्पत्ति न मानकर राज्य के अधिकार में माना जाने लगा। धीरे-धीरे स्थिति में परिवर्तन हुआ और *अठारहवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त का विकास हुआ कि सैनिकों को युद्ध* में बन्दी इसलिए बनाया जाय ताकि वे शत्रु सेना में पहुँच कर शस्त्र धारण न कर सकें।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में युद्ध का मानवीयकरण करने की प्रवृत्ति विकसित हुई। फलतः 1874 के ब्रूसेल्स सम्मेलन में युद्धबन्दियों की स्थिति को सुधारने के लिए स्पष्ट प्रावधान रखे गए। 1907 के हेग सम्मेलन में इस विषय पर विशद नियम बनाए गए। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद सैंतालीस राज्यों के प्रतिनिधियों ने युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में नया अभिसमय तैयार किया। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद इस सम्बन्ध में पुनः परिवर्तन किए गए। 1929 और 1949 के अभिसमयों में अनेक प्रावधान इस सम्बन्ध में स्वीकार किए गए। इनमें प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार थीं—

युद्धबन्दी का निर्धारण—जेनेवा अभिसमय (1949) की धारा 4 में स्पष्ट किया गया कि युद्धबन्दी किसे माना जाए। छः प्रकार के व्यक्तियों का युद्धबन्दी के *विशेषण में युक्त बनाया गया — (A) युद्धरत किसी पक्ष की सशस्त्र सेना* नागरिक सेना और स्वयं सेवक दल के सदस्य, (B) उत्तरदायी व्यक्ति के नेतृत्व, निश्चित चिह्न युक्त हुए शस्त्र और युद्ध के कानूनों तथा प्रथाओं को मानने वाले विरोधी आन्दोलन के सदस्य, (C) विरोधी सरकार अथवा अमान्य सरकार के प्रति निष्ठावान सेनाओं के सदस्य (D) सशस्त्र सेनाओं के पीछे चलने वाले, युद्ध के संवाददाता, रसद सामग्री देने वाले ठेकेदार और सेनाओं की देखभाल करने वाले मजदूर तथा सेवकगण, (E) व्यापारी जहाजों के नाविक और असैनिक यानों के चालक तथा कर्मचारी, एवं (F) *आक्रान्त प्रदेश के वे निवासी जो वहाँ की नियमित* सेना का भाग न होते हुए भी शत्रु के विरुद्ध हथियार उठाते हैं और नियमित सेना का अंग नहीं हैं।

किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह को युद्धबन्दी केवल तभी माना जा सकता है जब वह खुले रूप से शस्त्र धारण करे और युद्ध के नियमों का पूर्ण रूप से पालन करे। युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में मानवीय और नैतिक दृष्टि से अनेक व्यवस्थाएँ की गई।

शत्रु राज्य का व्यवहार—अभिसमय में यह व्यवस्था की गई थी कि युद्धबन्दियों के साथ शत्रु राज्य को मानवीय व्यवहार करना चाहिए। उनके साथ

स्थानीय जनता को प्रत्येक प्रकार का दुर्व्यवहार करने से रोका जाना चाहिए। स्त्री युद्धबन्दियों के साथ पूर्णत: शिष्टता का व्यवहार किया जाना चाहिए और किसी प्रकार का अश्लील व्यवहार नहीं होना चाहिए। युद्धबन्दियों को नि शुल्क चिकित्सा सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। उनके निवास का स्थान स्वास्थ्य के नियमों के अनुकूल हो और वे खतरे से दूर रह सकें। किसी युद्धबन्दी को ऐसी सूचना देने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए जिसका निषेध अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा किया गया हो। युद्धबन्दियों को यह अवसर दिया जाए कि वे बन्दी-कर्त्ता राज्य से अपनी कठिनाइयाँ कह सकें। यदि युद्धबन्दियों पर मुकदमा चलाया जाए तो उनके पक्ष का समर्थन करने के लिए योग्य वकील की व्यवस्था की जानी चाहिए और निर्णय *निष्पक्ष रूप से दिया जाना चाहिए। युद्धबन्दियों को केवल तभी दण्डित किया जाए* जबकि वे अनुशासन भंग करें।

युद्धबन्दियों को हथियार, सैनिक सामग्री और इससे सम्बन्धित कागजात के अतिरिक्त दूसरी सभी व्यक्तिगत वस्तुएँ रखने का अधिकार होगा। युद्धबन्दियों का धन सैनिक अधिकारियों के आदेश से छीना जा सकता है, किन्तु इसका पूरा अभिलेख रखा जाना चाहिए और उन्हीं के हिसाब में जमा किया जाना चाहिए। युद्धबन्दियों को उनका धार्मिक विश्वास बनाए रखने तथा पूजा करने की स्वतन्त्रता होगी। वे बौद्धिक विकास और मनोरंजन के विभिन्न साधनों से युक्त होंगे।

बन्दियों से शारीरिक श्रम—1949 के जेनेवा अभिसमय में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया था कि जो बन्दी शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ हैं उन्हें काम पर लगाया जा सकता है। उच्च पद के बन्दियों को किसी कार्य के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। दूसरे साधारण बन्दियों को खेतीबाड़ी, उत्पादन, मशीनों के उद्योग तथा निर्माण कार्य आदि में भी लगाया जा सकता है। वे अस्वास्थ्यकर तथा जान के जोखिम वाले कार्यों में नहीं लगाए जा सकते। काम के लिए उन्हें अच्छी मजदूरी और आवश्यक अवकाश प्राप्त होने चाहिए। राज्य के कानून की भाँति इसमें भी यह व्यवस्था होनी चाहिए कि यदि कार्य करते समय किसी युद्धबन्दी के चोट आ जाय तो उसका हरजाना सरकार द्वारा प्रदान किया जाएगा।

अधिकार एवं सुविधाएँ—युद्धबन्दी को विभिन्न अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। बन्दी अथवा नजरबन्दी कैम्प में पहुँचने के एक सप्ताह के अन्दर अन्दर प्रत्येक बन्दी को यह अधिकार मिल जाता है कि वह अपने परिवार के लिए पत्र लिख सके। बन्दीगण तार भेज सकते हैं और भोजन, कपड़े, दवाइयाँ तथा धार्मिक वस्तुओं के पार्सल भी भेज सकते हैं। उनके द्वारा भेजे गए पत्रों और पार्सलों पर डाकखाने के टिकिट आदि नहीं होते। उनके पत्र व्यवहार को रोका नहीं जा सकता, केवल निरीक्षण किया जा सकता है। बन्दी अपनी स्थिति के सम्बन्ध में शिकायतें कर सकते हैं, किन्तु अनुशासन भंग नहीं कर सकते। ऐसा करने पर न्यायालय द्वारा उन्हें दण्ड दिया जा सकता है। यह दण्ड शारीरिक कष्ट के रूप में नहीं होता। उनके मासिक वेतन में से आधी राशि तक के जुर्माने किए जा सकते हैं।

उन्हें दी गई विशेष सुविधाएँ रोकी जा सकती हैं और तीस दिन तक कारावास में रखा जा सकता है।

युद्धबन्दी का छुटकारा—युद्धबन्दियों की उन्मुक्ति अग्रलिखित रूपों में की जा सकती है—

1 युद्ध के समय स्वदेश लौटाना—जो युद्धबन्दी अधिक घायल अथवा बीमार होते हैं उनको युद्ध के समय ही स्वदेश भेज दिया जाता है। ऐसा प्राय तब होता है जब शत्रु पक्ष का यह विश्वास हो जाय कि वे शीघ्र ही युद्ध में भाग नहीं ले सकेंगे और इन्हें नहीं लौटाया गया तो इनकी चिकित्सा का अनावश्यक दायित्व बढ़ जाएगा। अभिसमय की धारा 109 में कहा गया था कि जो बन्दी एक वर्ष तक ठीक न हो सकें, उन्हें अवश्य ही स्वदेश लौटा दिया जाना चाहिए।

2 युद्धकाल के लिए तटस्थ राज्यों में भेजना—जिन युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में यह सम्भावना रहती है कि उनकी स्थिति एक वर्ष में सुधर जाएगी तथा निरन्तर बन्धन में रहने के कारण जिनकी मानसिक स्थिति खराब हो जाएगी उन्हें तटस्थ राज्यों में भेज दिया जाता है। ठीक हो जाने पर उन्हें या तो वहीं रहने दिया जाता है अथवा आपसी समझौते द्वारा इस प्रश्न पर निर्णय लिया जाता है।

3 पलायन—यदि युद्धबन्दी पलायन करले तो वह मुक्त हो जाता है।

4 मर जाने पर—यदि युद्धबन्दी अपना शरीर त्याग दे तो वह न केवल शत्रु राज्य से वरन् संसार से ही मुक्त हो जाता है। ऐसे अवसरों पर युद्धबन्दी सूचना विभाग को तुरन्त यह सूचना दी जानी चाहिए। इस सूचना में बन्दी की मृत्यु के कारणों का उल्लेख किया जाए और जहाँ उसका दाह संस्कार किया जाए, उसका भी पूरा विवरण दिया जाए। बन्दी का अन्तिम संस्कार उनके धार्मिक विश्वासों और भावनाओं के अनुकूल किया जाना चाहिए, यदि बन्दी की मृत्यु का कारण कोई द्वारपाल अथवा ऐसा ही व्यक्ति रहा है तो मामले की जाँच की जानी चाहिए।

5 युद्ध की समाप्ति पर—अभिसमय के अनुसार जब युद्ध और शत्रुतापूर्ण कार्य रुक जाएँ तो युद्धबन्दियों को स्वदेश लौटा देना चाहिए। वापस लौटते समय युद्धबन्दी अपना व्यक्तिगत सामान ले जा सकते हैं। बन्दी उसी राज्य को लौटाए जाएँगे जिसकी ओर से वे युद्ध में शामिल हुए थे। यह प्रावधान कोरिया युद्ध के समय एक जटिल समस्या बन गयी। साम्यवादियों की माँग थी कि जेनेवा अभिसमय की इस धारा के अनुसार उत्तरी कोरिया के सभी युद्धबन्दियों को वहीं वापस भेजा जाए। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रतिनिधि का विचार था कि उत्तरी कोरिया की ओर से अनेक सैनिकों को उनकी इच्छा के विरुद्ध मित्र की सेनाओं के साथ लड़ने के लिए भेजा गया। इसलिए स्वदेश लौटने पर उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाएगा, इस आशंका से वे लौटना नहीं चाहते। उनकी इच्छा के विरुद्ध स्वदेश लौटाना स्पष्ट रूप से अन्याय है। सम्भवत. जेनेवा अभिसमय के रचनाकार इस स्थिति की

कल्पना नहीं कर सके थे और यह प्रावधान इस विशेष स्थिति में लागू नहीं किया जा सकता।

युद्धबन्दी कौन नहीं है ?—युद्धबन्दियों को दिए जाने वाले विशेष प्रधिकार और उन्मुक्तियाँ केवल *उन्हीं* पर लागू होती हैं जो स्वीकृत परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं। *विचारकों ने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि किसे युद्धबन्दी नहीं माना जा* सकता है। रॉबर्ट फिलिमोर के मतानुसार निम्नलिखित श्रेणी के लोग इसमें आते हैं—

(1) लोगों के ऐसे दल जो किसी राजा या सेनापति के आदेशों के बिना ही लूटमार करते रहते हैं। यदि इस दल के लोग पकड़े जाते हैं तो उन्हें युद्धबन्दी नहीं माना जा सकता।

(2) शत्रु की सेना का परित्याग करने वाले व्यक्ति।

(3) जो गुप्तचर शत्रु के लिए *सैनिक दृष्टि से उपयोगी सूचनाएँ* प्राप्त करने के लिए जासूसी करते हैं उनको सैनिक होने पर भी युद्धबन्दी नहीं माना जाता।

स्पष्ट है कि अभिसमय में युद्धबन्दियों के साथ मानवतापूर्ण व्यवहार करने पर बल दिया गया था। भारतीय मनीषियों ने प्राचीन काल से ही युद्धबन्दियों के साथ अच्छा व्यवहार करने पर जोर दिया है। महाभारत के शान्तिपर्व (96/4) में इस सम्बन्ध में उदार व्यवस्था की गई थी। इसके अनुसार युद्धबन्दी को एक वर्ष तक दास रखने के बाद मुक्त कर देना चाहिए तथा उसे अपना पुत्र समझना चाहिए। उस समय क्षमा को महत्त्वपूर्ण माना गया था। हारे हुए के साथ क्षमा का व्यवहार करने पर विजेता की कीर्ति और यश बढ़ता है। युद्धबन्दियों पर क्रोध नहीं करना चाहिए तथा उनका विनाश नहीं करना चाहिए। यह मानवतावादी विचारों का प्रभाव था।

घायल एवं मृत व्यक्तियों के साथ व्यवहार
(Treatment of Wounded and Dead Persons)

1864 के जेनेवा अभिसमय से पूर्व युद्ध में घायल एवं मृत व्यक्तियों के साथ किया जाने वाला व्यवहार मानवतावादी भावनाओं पर अधिक निर्भर था। जेनेवा अभिसमय में शत्रुपक्ष के घायलों एवं मृत व्यक्तियों की देखभाल का विशद अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व स्थापित किया गया।

इस *अभिसमय द्वारा यह व्यापक सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि बीमार* और घायल सिपाहियों की देखभाल राष्ट्रीयता का भेद किए बिना करनी चाहिए। रोगी-वाहनों और सैनिक अस्पतालों के सदस्यों तथा पादरियों के अतिरिक्त स्वास्थ्य सेनाओं के लिए भी रेडक्रास का चिह्न प्रयुक्त किया जाने लगा। घायलों से सम्बन्धित इस काँग्रेस का आयोजन स्विट्ज़रलैण्ड के प्रयासों से किया गया था। कुल मिलाकर बारह राज्यों ने इसमें *प्रतिनिधित्व किया।* इसके *बाद* 1899 के हेग सम्मेलन में यह इच्छा प्रकट की गई थी कि स्विट्ज़रलैण्ड जेनेवा अभिसमय में परिवर्तन के लिए दूसरा सम्मेलन बुलाए। यह सम्मेलन जून, 1906 में हुआ और 6 जुलाई, 1906 को एक नए जेनेवा अभिसमय पर 35 राज्यों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए।

इस अभिसमय ने पूर्व स्थित प्रावधानों को विज्ञान और युद्ध की आधुनिक प्रणालियों के अनुरूप बनाया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान यह अभिसमय था, किन्तु इसके अनेक प्रावधान लागू नहीं किए जा सके। रेडक्रास अभिसमय के सम्बन्ध में अनेक बार अनियमितताएँ हुई। रेडक्रास के कर्मचारियों को जो तटस्थास्तर प्रदान किया जाता था उसका अनेक बार उल्लंघन हुआ।

प्रथम विश्वयुद्ध के अनुभवों ने यह आवश्यक बना दिया कि सन् 1906 के अभिसमय का अभिपूरक होना आवश्यक है। 1 जुलाई, 1929 को 47 राज्यों के प्रतिनिधि एक सम्मेलन में जेनेवा में एकत्रित हुए। इनमें से 33 प्रतिनिधियों ने 29 जुलाई को रणक्षेत्र में घायल अथवा बीमार लोगों की स्थिति से सम्बन्धित अभिसमय पर हस्ताक्षर किए, अन्य राज्यों ने भी बाद में इस पर हस्ताक्षर किए। इस अभिसमय द्वारा उन कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास किया गया जो प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान सामने आई थीं। गतिशील मेडिकल इकाइयों और निश्चित मेडिकल सस्थानों की रक्षा के लिए विशेष प्रावधान किए गए। बीमारों और घायलों की देखभाल करने वालों का सभी परिस्थितियों में सम्मान किया जाना था और उन्हें युद्धबन्दी नहीं बनाया जा सकता था। चिकित्सक वायुयानों के सम्बन्ध में नए प्रावधान स्वीकार किए गए। उन्हें रेडक्रास के चिह्न से युक्त बनाया गया। बीमारों और घायलों के साथ साथ दूसरे मरे हुए लोगों की शीघ्र सूचना देने के लिए स्पष्ट प्रावधान बनाए गए। यह प्रथम विश्व युद्ध में खोए हुए मनस्क लोगों की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए किया गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध में वही शिकायतें और उल्लंघन हुए जो प्रथम विश्वयुद्ध में हुए थे। रेडक्रास के कर्मचारियों और इसका चिह्न रखने वाले अस्पतालों को भी बमों के आघात ने अछूता नहीं छोड़ा। बीमारों और घायलों के साथ बुरा बर्ताव किया गया। महिला नर्सों और मेडिकल सेवीवर्ग की बेइज्जती की गई। इसके परिणामस्वरूप अभिसमय का प्रसार और स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता अनुभव की गई। 12 अगस्त, 1949 को चार अभिसमयों पर हस्ताक्षर किए गए, उनमें एक अभिसमय का सम्बन्ध घायलों और बीमारों की देखरेख से था। सन् 1951 तक इस अभिसमय को स्वीकृति और क्रियान्विति देने वाले राज्यों की संख्या 15 हो गई। इस अभिसमय के मुख्य प्रावधान घायलों और बीमारों के सम्बन्ध में नवीन व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं। आज की स्थिति की सही जानकारी के लिए इनका अध्ययन आवश्यक है। अभिसमय की धारा 12–16 में यह माना गया था कि बीमार या घायल व्यक्तियों का, जो अधिकृत रूप से सेना से सम्बन्ध रखते हैं, आदर और रक्षा की जानी चाहिए। ऐसा करते समय राष्ट्रीयता, लिंग, जाति, धर्म, राजनीतिक मत अथवा ऐसी ही रुचियों के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। इनको जान लेने का प्रत्येक इरादा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के विरुद्ध माना जाना चाहिए। अभिसमय द्वारा रक्षित व्यक्तियों की श्रेणियाँ मूलरूप से वही रखी गई जो युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में रखी गई थीं। यदि योद्धा राज्य उन्हें शत्रुओं को

सौंपने के लिए बाध्य हो तो अपनी सैनिक सुविधा के अनुसार चिकित्सा सेवीवर्ग का कुछ भाग पीछे छोड़ देना चाहिए जो आवश्यक सामग्री से उनकी सहायता और देखभाल कर सके। जो बीमार और घायल शत्रु के हाथ में पड़ जाते हैं उनको युद्धबन्दी माना जाएगा। युद्ध रुकने पर विजयी सेनापति का यह कर्त्तव्य है कि वह रण-क्षेत्र का दौरा करके घायलों और मृतकों का पता लगाए और लूट तथा दुर्व्यवहार के विरुद्ध उन्हें संरक्षण प्रदान करे। बीमारों और घायलों की चिकित्सा तथा सेवा करने वाले गतिशील चिकित्सक दलों और उनके निवास स्थानों को पूरी सुविधाएँ और संरक्षण दिया जाना चाहिए। उनको सुविधाएँ और संरक्षण उस स्थिति में समाप्त हो जाएँगे जबकि वे सैनिकों का आश्रय दें, युद्ध सामग्री को छिपाएँ और जासूसी करें। यदि इनका सामान शत्रु के हाथ पड़ जाए तो वह घायलों और बीमारों की रक्षा के लिए सुरक्षित समझा जाता है। सीमा रेखाओं पर स्थित घायलों या मृत व्यक्तियों के सम्बन्ध में स्थानीय स्तर पर प्रबन्ध कर लिया जाता है। धारा 18 के अनुसार सैनिक सत्ताएँ वहाँ के निवासियों की भावनाओं को उभार कर *उन्हें घायलों की देखभाल के लिए तैयार कर सकती हैं।* इस अपील को मानने वालों के लिए विशेष सुरक्षा एवं सुविधाएँ प्रदान की जा सकती हैं। सैनिक सत्ताओं को चाहिए कि वे विभिन्न समाजों को घायलों या बीमारों को एकत्रित करने की अनुमति दें। आक्रान्त एवं आवेशित प्रदेशों में भी उन्हें यह अनुमति प्रदान की जाए। अभिसमय में स्पष्ट कहा गया कि घायलों अथवा बीमारों की सुश्रूषा करने के लिए किसी व्यक्ति पर मुकदमा न चलाया जाए।

सन् 1949 के अभिसमय के अनुसार सम्बन्धित पक्ष युद्ध से पूर्व अथवा बाद में समझौता करके चिकित्सालय क्षेत्र अथवा बस्तियों की स्थापना कर सकते हैं। इनके सेवीवर्ग को युद्ध के प्रभाव से बचाने की व्यवस्था भी की जा सकती है। इस प्रकार के क्षेत्र युद्ध के प्रभाव से बचाने की व्यवस्था भी की जा सकती है। इस प्रकार के क्षेत्र युद्ध भूमि के आसपास अथवा आवेशित प्रदेश में बनाए जा सकते हैं। ये प्रावधान आधुनिक युद्ध की परिस्थितियों में उन राज्यों के सम्बन्ध में कम महत्त्व रखते हैं जिनका भौगोलिक क्षेत्र अत्यन्त सीमित है।

अभिसमय की धारा 38 के अनुसार सफेद भूमि पर लाल क्रास के स्विस निशान को सैनिक चिकित्सा-सेवाओं का विशेष निशान मान लिया गया। यह स्विट्ज़रलैण्ड द्वारा किए गए महत्त्वपूर्ण कार्य की मान्यता थी। अभिसमय ने दूसरे देशों में प्रचलित चिह्नों को भी मान्यता दी। उदाहरण के लिए लाल शेर तथा लाल सूर्य के निशान स्वीकार किए गए। ये निशान चिकित्सा से सम्बन्धित सभी सामान पर लगाए जाते हैं। रण क्षेत्र में चिकित्सा कार्य करने वाले व्यक्तियों की भुजाओं पर ये निशान रहने चाहिए। इस चिह्न के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ नियम प्रतिपादित किए गए हैं। ये उपयुक्त सैनिक अधिकारियों की स्वीकृति के बाद ही लगाए जाने चाहिए। चिकित्सालय की इमारतों पर लगे हुए झण्डों पर लाल क्रास का निशान होना चाहिए। चिकित्सा सेवीवर्ग के प्रत्येक सदस्य को अपनी बाईं भुजा पर यह

निशान लगाना चाहिए। शान्तिकाल एवं युद्धकाल के इस लाल क्रास के निशान का दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिए।

रणक्षेत्र में मरे हुए सैनिकों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्था यह है कि इनके शरीर को विकृत नहीं किया जाए और उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं किया जाए। जहाँ तक सम्भव हो सके सभी मृत सैनिकों को एकत्रित करके विजेता राज्य द्वारा उचित रीति से जलाया अथवा दफनाया जाना चाहिए। जेनेवा अभिसमय सन् 1949 की धारा 15 के अनुसार प्रत्येक मुठभेड़ के बाद मृतकों की खोज की जानी चाहिए और उन्हें खराब होने से बचाना चाहिए। विश्व युद्धों के अनुभवों के आधार पर अभिसमय द्वारा यह व्यवस्था की गई कि दोनों पक्ष पारस्परिक रूप से मृत व्यक्तियों के नाम, प्रतीक और चिह्नों की घोषणा करें जिनके आधार पर मृत्यु के प्रमाण-पत्र दिए जा सकें। अभिसमय के अनुसार शवों को स्वास्थ्य अथवा धर्म की बाधा के बिना जलाना नहीं चाहिए। युद्धमान राज्यों द्वारा मृत सैनिकों के लिए कब्रें बनाई जाती हैं ताकि उन्हें वहाँ कभी भी प्राप्त किया जा सके। कब्रों की पंजीकरण की सेवाएँ अधिकृत रूप से स्थापित की जाती हैं। कब्रों और शवों की सूची का दोनों पक्षों के बीच आदान प्रदान किया जाता है। दाह संस्कार करने से पहले व्यक्ति के शरीर की पूरी तरह से परीक्षा की जानी चाहिए ताकि यह ज्ञात किया जा सके कि उसमें जीवन का कोई चिह्न शेष नहीं है। युद्धकर्ता राज्यों को चाहिए कि सैनिकों के शवों अथवा उनकी राख को स्वदेश के लिए वापिस कर दें। शत्रु के मृत सैनिकों के शरीर पर प्राप्त वस्तुएँ शत्रु की सरकारी सम्पत्ति मानी जाती है और इसलिए विजेता उन्हें लूट के माल के रूप में राजसात् कर सकता है। यह बात रणक्षेत्र में मारे गए अथवा चिकित्सालय में मरने वाले युद्धबन्दियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसे पत्र, धन जवाहरात आदि पर लागू नहीं होती।

इस सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन भी उपयुक्त रहेगा जिसका सम्बन्ध रणक्षेत्र में हुए घायलों अथवा बीमारों से नहीं वरन् उन नागरिक व्यक्तियों की रक्षा से होता है जो युद्ध में घायल अथवा मृत हुए हैं। इस कार्य के लिए दोनों पक्ष अपने प्रदेश में सुरक्षा क्षेत्र बनाते हैं जहाँ युद्ध के बुरे परिणामों के विरुद्ध नागरिकों को सुरक्षा प्रदान की जा सके। इन क्षेत्रों में घायलों और बीमारों के अलावा 15 वर्ष से कम उम्र वाले बच्चों, वृद्ध व्यक्तियों, गर्भवती स्त्रियों और सात वर्ष से कम आयु वाले बच्चों की माताओं को भी रखा जा सकता है। ऐसे लोगों की सुरक्षा के लिए ही रणक्षेत्र में तटस्थीकृत प्रदेश बनाए जाते हैं। परिवारों से पृथक् होने वाले अनाथ बच्चों की देखभाल के लिए उन्हें तटस्थ देशों में भेजने का प्रावधान स्वीकार किया गया। नागरिकजनों को अपने परिवारों से शीघ्र सम्पर्क स्थापित करने के लिए तीव्रगामी सूचनाएँ प्रसारित की जाती हैं।

युद्धरत आधिपत्य
(Belligerent Occupation)

युद्धरत आधिपत्य को स्पष्ट करते हुए डॉ. कपूर ने लिखा है कि—

"जब दो या दो से अधिक देशों के मध्य युद्ध होता है तो बहुधा ऐसा होता है कि युद्धरत देश शत्रु देश की कुछ भूमि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है। बहुधा इस प्रकार का आधिपत्य इस उद्देश्य से स्थापित किया जाता है कि बाद में ऐसे प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया जाएगा। परन्तु इस प्रकार का आधिपत्य तभी पूरा माना जाएगा, जब ऐसे क्षेत्र पर आधिपत्य जमाने वाला राज्य अपना प्रशासन आदि स्थापित कर लेता है। युद्धरत आधिपत्य वास्तव में आक्रमण तथा पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता के हस्तान्तरण के बीच की स्थिति है। आक्रमण के बाद आधिपत्य स्थापित किया जाता है परन्तु आधिपत्य स्थापित करने के अर्थ यह नहीं होते हैं कि उस प्रदेश में आधिपत्य जमाने वाले को पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्नता प्राप्त हो गई। आधिपत्य दृढ़ कब्जे द्वारा स्थापित किया जाता है। सन् 1907 के हेग अभिसमय के नियमों के अनुसार युद्धरत आधिपत्य तभी स्थापित होता है जबकि वास्तव में सम्बन्धित प्रदेश पर अधिकार हो जाता है।

आधिपत्य स्थापित होने से सम्बन्धित प्रदेश में स्थानीय नागरिकों की राष्ट्रीयता में परिवर्तन नहीं होता है और न ही इसी प्रकार के आधिपत्य से उनकी पुरानी सरकार के प्रति स्वामिभक्ति का ही अन्त होता है। वास्तव में आधिपत्य स्थापित *करने वाले की स्थिति अन्तरिम सैनिक प्रशासन की होती है। इस आधिपत्य के* फलस्वरूप आधिपत्य जमाने वाले देश को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह वहाँ के नागरिकों पर अपना शासन कर सके, वहाँ शान्ति तथा व्यवस्था रख सके तथा अपनी फौजों की सुरक्षा के लिए कानून तथा नियम आदि बना सके। *युद्धरत आधिपत्य समाप्त हो जाने के बाद भी आधिपत्य जमाने वाली सरकार द्वारा किए* गए वैध कार्य न्यायोचित बने रहते हैं। परन्तु अवैध कार्य न्यायोचित नहीं माने जाते हैं। स्टाक के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय विधि में युद्धरत आधिपत्य का उचित आधार यह है कि जब तक विजित प्रदेश को पूर्ण रूप से अपने देश में मिला नहीं लिया जाता है *तब तक आधिपत्य स्थापित करने वाले देश की स्थिति अन्तरिम प्रकृति की होती है।"*

युद्धरत आधिपत्य अथवा युद्ध स्थिति के दखल पर एम पी टण्डन का सोदाहरण स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

"क्षेत्र को अधिकार में लेने तथा उस पर दखल करने वाले अथवा प्राप्त करने वाले राज्य के नाम से प्रशासन स्थापित करने से दखलपूर्ण हो जाता है। सन् 1907 के चतुर्थ हेग सम्मेलन से सलग्न हेग विनियम का अनुच्छेद 42 यह घोषित करता है कि एक क्षेत्र दखल में उस समय कहा जाता है जबकि वह वास्तव में विरोधी सेना के अधिकार में आ गया हो तथा ऐसा दखल केवल तभी प्रभावपूर्ण होता है जब इसे ऐसे बल का आश्रय प्राप्त हो जो दखल करने वाले के अधिकार *को स्थाई रखने के लिए पर्याप्त हो। दखल शत्रु के देश पर आक्रमण तथा उसको* अधिकार में लेने के उद्देश्य से कब्जा या शक्ति बल में लेना है चाहे वह अस्थायी रूप से हो क्यों न हो। द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी द्वारा मित्र शक्तियों के हाथ पराजित होने और बिना किसी शर्त के समर्पित किए जाने के बाद उसकी वैध स्थिति एक

विचित्र स्थिति सी हो गई थी क्योंकि इस आत्म-समर्पण में उसने विजेता राष्ट्रों के हाथों अपनी अधीनता स्वीकार नहीं की थी। स्टार्क का कथन है कि, मित्र शक्तियों की नियन्त्रण प्रणाली एक *नितान्त सामयिक प्रकृति* की थी और अधिमिलन की अपेक्षा सैन्य प्रकृति की थी और जर्मन राज्य जब तक उन स्थिति में बने रहे तब तक के लिए थी। चूँकि जर्मनी को मिला लिए जाने की कोई स्पष्ट घोषणा नहीं की गई थी इसलिए इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि जर्मनी युद्ध मनस्यता के दखल और आधिपत्य दोनों के बीच की स्थिति में था।"

युद्धरत आधिपत्य के परिणाम

कोई भी क्षेत्र शत्रु के हाथों में आने पर, अथवा युद्धरत आधिपत्य की स्थिति में, उस क्षेत्र के निवासियों की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन आ जाता है। *उन निवासियों की पूर्व-स्थिति बदल जाती है और उनकी पूर्व-सरकार की सार्वभौमिकता* स्थगित हो जाती है तथा उस पूर्व-सरकार के प्रति उनकी राजभक्ति शत्रु-आधिपत्य के समय तक के लिए लुप्त हो जाती है। आधिपत्य अथवा दखल के दौरान उस क्षेत्र के निवासी ऐसी विधियों के अधीन हो जाते हैं जैसी विधियाँ विजेता या शत्रु उन पर लगाना चाहें। सुदृढ़ सैनिक आधिपत्य पूर्व-सरकार से प्राप्त सार्वभौमिकता के सम्पूर्ण अधिकारों को हस्तान्तरित कर देता है अतः वह पहले की सर्वजनिक सम्पत्ति का मत मनचाहा उपयोग कर सकता है और उसके देय करों तथा उपकरों का स्वयं विनियोग कर सकता है। लेकिन इस प्रकार की स्थिति तभी तक बनी रहती है जब तक कि आधिपत्य या दखल है। सैनिक दखल या आधिपत्य के प्रभाव चल और अचल सम्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न होते हैं। जहाँ विजेता को चल सम्पत्ति पर पूर्ण स्वत्वाधिकार प्राप्त हो जाता है और उसे वह मनचाहे पक्ष को हस्तान्तरित कर सकता है वहाँ अचल सम्पत्ति पर उसे केवल सीमित अधिकार प्राप्त होते हैं। वह आधिपत्य के दौरान वास्तविक सम्पत्ति का इच्छानुसार उपयोग कर सकता है पर यदि वह उसका विक्रय करे तो क्रेता अर्थात् खरीदने वाला मूल स्वामी द्वारा निष्कासन किए जाने के खतरे पर ही उसे ले सकता है।

हेग एवं जेनेवा अभिसमयों के अनुसार व्यवस्था

1907 के हेग अभिसमय में युद्धरत आधिपत्य जमाने वाली शक्ति के जो अधिकार और कर्त्तव्य गिनाए गए हैं, वे इस प्रकार हैं :

1 सम्पत्ति के विषय में आधिपत्य के लगभग वही प्रभाव होते हैं जो कि *युद्ध के प्रभाव होते हैं। इसको पिछले अध्याय में विस्तार से स्पष्ट* किया जा चुका है। यहाँ संक्षेप में इतना लिखना पर्याप्त होगा कि व्यक्तिगत चल सम्पत्ति पर अधिकार किया जा सकता है तथा सार्वजनिक चल सम्पत्ति प्रयोग में लाई जा सकती है। *अचल सम्पत्ति केवल अस्थायी रूप से कब्जे में की जा सकती है।*

2. केवल सैनिक आवश्यकताओं के अपवाद को छोड़कर सम्बन्धित प्रदेश के निवासियों को उनके वैध पेशा आदि करने की छूट होनी चाहिए। उन्हें अपनी धार्मिक प्रथाओं आदि को मानने की भी छूट रहती है तथा आधिपत्य करने वाले देश

को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता है कि वहाँ के नागरिकों को दूसरी जगहों पर भेज दे।

3 आधिपत्य स्थापित करने वाले क्षेत्र मे भोजन सामग्री आदि तथा वहाँ के लोगो की सेवाएँ केवल इतनी ली जानी चाहिए जितनी आवश्यक हो तथा वहाँ के निवासियों की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए ऐसा करना आधिपत्य स्थापित करने वाली शक्ति का कर्तव्य होता है। सम्बन्धित प्रदेश के लोगों को अपने देश के ही विरुद्ध सैनिकों के कार्यों मे मदद करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। सम्बन्धित प्रदेश की जनता से अनुदान आदि तभी वसूल किया जा सकता है जबकि साधारण कर से काम न चलता हो।[1]

उपरोक्त नियमों के अतिरिक्त, 1949 के जेनेवा के असैनिक व्यक्तियों की युद्ध के समय सुरक्षा से सम्बन्धित अभिसमय (Geneva Convention of 1949 on Protection of Civilian Persons in Times of War) मे युद्धरत आधिपत्य के विषय मे अनेक नियम बनाए गए जिनमे से मुख्य इस प्रकार हैं—

(1) जेनेवा अभिसमय द्वारा यह नियम बनाया गया कि आधिपत्य स्थापित करने वाले प्रदेश की असैनिक जनता को बन्धक (Costages) के रूप मे नहीं पकड़ा जा सकता तथा उनका सामूहिक दण्ड नहीं दिया जा सकता।

(2) उन्हें व्यक्तिगत रूप से या सामूहिक रूप मे किसी दूसरे प्रदेश को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता।

(3) वहाँ के व्यक्तियों को आधिपत्य स्थापित करने वाले देश की सेना से सम्बन्धित कार्यों को करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता।

(4) उस प्रदेश से भोजन तथा दवाओं आदि की सामग्री केवल उतनी लेनी चाहिए जिससे कि वहाँ की असैनिक जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

(5) पुराने न्यायालय स्थापित रहते हैं तथा न्यायाधीशों की स्थिति वैसी ही बनी रहती है। पुरानी दण्ड-विधि भी वैसी ही बनी रहनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी नियम प्रतिपादित किया गया कि न्यायाधीशों का सार्वजनिक अधिकारियों पर दबाव नहीं डालना चाहिए।

उपरोक्त प्रावधानों के अतिरिक्त कुछ प्रावधान 8 जून, 1977 को अपनाए गए जेनेवा अभिसमयों के प्रथम प्रोटोकल मे भी हैं। मुख्य प्रावधान ये हैं

(1) आधिपत्य स्थापित करने वाली शक्ति का कर्तव्य है कि उस क्षेत्र की असैनिक जनसंख्या की चिकित्सा सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी हैं तथा यह ध्यान मे रखते हुए ही वह असैनिक चिकित्सा इकाइयों की सेवायें प्राप्त करे।

(2) जिस क्षेत्र मे आधिपत्य स्थापित किया गया है उस क्षेत्र के प्राकृतिक पर्यावरण के संरक्षण के सम्बन्ध मे भी आधिपत्य जमाने वाली शक्ति का उत्तरदायित्व है।

1 एस. के कपूर : वही, पृष्ठ 439.

(3) जेनेवा के चौथे अभिसमय (1949) के खाद्य तथा सामग्री से सम्बन्धित अनुच्छेद 55 के अतिरिक्त, आधिपत्य स्थापित करने वाली शक्ति का कर्त्तव्य है कि वह जाति, लिंग, धर्म आदि के भेदभाव के बिना, असैनिक जनसंख्या के लिए, जहाँ तक हो सके, कपड़े, बिस्तर, आश्रय तथा धार्मिक उपासना आदि का आवश्यक प्रबन्ध करे।[1]

हेग अभिसमयो और जेनेवा अभिसमयो के नियमो की आलोचना की गई है कि इनमे कुछ विशेष परिस्थितियों के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। उदाहरण के लिए, हेग अभिसमय तथा जेनेवा अभिसमय मे आर्थिक तथा वित्तीय मामलो के विषय मे स्पष्ट नियम प्रतिपादित नहीं किए गए है। यह स्पष्ट नहीं है कि आधिपत्य स्थापित करने वाली शक्ति को बैंक, सार्वजनिक वित्त तथा वहाँ के सिक्को आदि के विषय मे क्या अधिकार होगे। इस विषय मे केवल इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आधिपत्य स्थापित करने वाली शक्ति को आर्थिक तथा वित्तीय मामलो म भी यह प्रयत्न करते रहना चाहिए कि वहाँ के व्यक्तियों से अनुचित रूप से लाभ न उठाए। यदि वहाँ की जनता आधिपत्य स्थापित करने वाले देश की सुरक्षा के विरुद्ध तथा सार्वजनिक व्यवस्था के विरुद्ध कोई कार्य करती है तो आधिपत्य स्थापित करने वाली शक्ति को उन्हे दण्ड देने का अधिकार प्राप्त है। उदाहरण के लिए, वहाँ के निवासी आधिपत्य स्थापित करने वाली शक्ति के विरुद्ध जासूसी करते है या वह किसी अन्य सैनिक कार्य म हस्तक्षेप करते हैं तो उन्हें आधिपत्य करने वाली शक्ति द्वारा दण्ड दिया जा सकता है। परन्तु जेनेवा अभिसमय के अनुच्छेद 67 तथा 68 मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि केवल आधिपत्य स्थापित करने से सम्बन्धित प्रदेश की जनता की स्वामिभक्ति का दावा आधिपत्य स्थापित करने वाला देश नहो कर सकता। कुछ विषयों मे आधिपत्य स्थापित करने वाला राज्य सम्बन्धित प्रदेश की जनता पर निरीक्षण रख सकता है तथा कुछ कार्यों का निषेध घोषित कर सकता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि जो कार्य घोषित किए जाएँ, उनके लिए पूर्वसूचना प्रकाशित की जाए।

सैनिक कब्जा, युद्धसलग्नता का कब्जा और अधिग्रहण

सैनिक के कब्जे, युद्ध सलग्नता के कब्जे (युद्धरत आधिपत्य) और अधिग्रहण, इनके अन्तर को उदाहरण सहित श्री एम पी टण्डन ने बडी अच्छी तरह स्पष्ट किया है

सैनिक कब्जा तथ्यत एक अस्थायी स्थिति है जो कि कब्जा-कृत क्षेत्र को अपनी सम्प्रभुता से वचित नहीं करता और न तो उनके राज्यत्व पद को ही छीनता है। जो कुछ घटित होता है, वह केवल इतना ही कि जब तक सैनिक कब्जा बना रहता है, तब तक वह राज्य अपने अधिकारो का वहाँ प्रयोग नहीं कर पाता। दूसरे

1 एस के कपूर वही, पृष्ठ 440–41.

शब्दों में, युद्ध संलग्नता के कब्जे का तात्पर्य यह है कि वहाँ की सरकार अपना प्रशासन नहीं चला सकती और यह कि अधिकार का प्रयोग उस सेना द्वारा किया जाता है जिसने कि कब्जा ग्रहण कर रखा है।

दूसरी ओर, अभिग्रहण या सम्मिलित कर लिए जाने में अर्जित क्षेत्र को पूर्णतया अप्राप्त कर अपने भाग में सम्मिलित या विलीन कर लेना है। अभिग्रहण का तात्पर्य होता है कि राज्य क्षेत्र पर केवल कब्जा ही नहीं है अपितु पूर्ण सम्प्रभुता की स्थापना भी की जा चुकी है। जैसा कि ओपेनहाइम ने कहा है, सैनिक कब्जा और आधिपत्य-स्थापना के बीच अन्तर है, क्योंकि उत्तरवर्ती प्रसंग में क्षेत्र केवल जीता ही नहीं जाता है, अपितु विजेता राज्य अपने राज्य में सम्मिलित भी कर लिया जाता है।

वास्तविक अधिग्रहण और अपरिपक्व अभिग्रहण के बीच भी अन्तर है, जिसे कि कभी कभी पूर्वानुमानिक अभिग्रहण (Premature or Anticipated Annexation) भी कहा जाता है। विधिवेत्ताओं ने अभिग्रहण को उस समय तक अपरिपक्व माना है, जब तक कि आक्रामक कार्यवाहियाँ संचालित होती रहती है, और भले ही विजित शक्ति को उस क्षेत्र से पूर्णतया बाहर निकाल दिया गया हो, फिर भी उसके लिए संघर्षरत कोई शक्ति विद्यमान है।

पूर्वानुमानिक अभिग्रहण जो कि एकपक्षीय कार्यवाही हुई है, वास्तविक अभिग्रहण नहीं है। वास्तविक अभिग्रहण तभी होता है जब कि राज्यक्षेत्र को जीत लिया गया हो और सम्मिलित या विलीन कर लिया गया हो। मि मोन्स सेरेस्टिआवो फ्रांसिस्को क्षेवियर डास रिमोडियोज मोंटीयरी व गोवा राज्य (26 मार्च, 1969) के बाद में भारत के उच्चतम न्यायालय ने अवलोकन किया था कि जेनेवा-अभिसमय में समुचित रीति से प्रस्थापित है कि अधिग्रहण का संरक्षण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु वे अपरिपक्व (Premature) या पूर्वानुमानिक (Anticipated) अधिग्रहण की बात करते हैं। इस प्रकार के तर्क को इन्हीं कारणों वश नूरेम्बर्ग ट्रिब्यूनल ने इन्कार किया था। वास्तव में, जब कि स्वयं अभिसमय प्रालेखित किया जा रहा था, तो प्रालेखक वर्ग अधिग्रहण के पूर्व अनु 47 म 'कथित' शब्द का प्रयोग करने के पक्ष में नहीं था, जिससे कि विजय के पश्चात् अभिग्रहण और आधिपत्य तथा ऐसे अभिग्रहण के बीच अन्तर किया जा सके, जो कि शत्रुता के चलते रहने के बीच स्थापित किया गया है। आधिपत्य (Subjugation) युद्ध की स्थिति को समाप्त कर देता है और अस्तित्व से मुक्त सरकार के साधनों को विनष्ट कर देता है। यह एक प्रकार से हक ग्रहण करने का तरीका है, केवल तथ्यत नहीं, विधित भी हक विजेता म अन्तरित हो जाता है। आधिपत्य स्थापन के पश्चात् उस क्षेत्र के प्रजाजन के लिए विजेता के आदेशों का पालन करने की अनिवार्यता को अपनाना पड़ता है।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र परिषद् के चार्टर म यह आधार सम्मिलित है कि दूसरे राज्यों की क्षेत्रीय स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में बल-प्रयोग नहीं किया जाएगा।

अनु 2, पैरा 4); द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की घटनाओं ने यह प्रकट कर दिया है कि विजय द्वारा राज्य-क्षेत्र के हक का अन्तरण अब भी मान्य किया जाता है। प्रो. आर वाई जेनिंग्स ने इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उठाया है, "उस समय वैध स्थिति क्या होगी जब कि एक विजेता ने, जिसे विजय द्वारा हक नहीं प्राप्त है, क्षेत्रीय शक्तियों पर पूर्ण शक्ति प्राप्त कर ली है, और प्रत्यक्षत. उसके निकाल बाहर किये जाने की सम्भावना नहीं है।" उनकी संस्तुति यह है कि इस तथ्य को मान्यता दो राज्यों के बीच परस्पर होनी चाहिये। यदि पराजय के उपरान्त का कब्जा हक उत्पन्न कर सकता है, तो बिना किसी विरोध के किसी शक्ति का कब्जे में बना रहना भी हक उत्पन्न करने का आधार हो सकता है।

'वर्तमान वाद में गोवा जो कि लगभग 450 वर्षों तक पुर्तगाल का उपनिवेश रहा है, 19 दिसम्बर, 1961 को भारत की सैन्य शक्तियों द्वारा आधिपत्य में लिया गया, जो कि एक संक्षिप्त सैनिक कार्यवाही के परिणामस्वरूप था। कुछ घंटों के संघर्ष के बाद कोई विरोध नहीं रह गया। दिसम्बर 20, 1961 के उपरान्त इस प्रसंग में जेनेवा अभिसमय का लागू होना समाप्त हो गया। भारतीय सरकार ने रि फादर मोण्टीयरो को भारतीय राष्ट्रीयता और नागरिकता प्राप्त करने का प्रस्ताव किया किन्तु इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर उन्होंने पुर्तगाली नागरिक बना रहना पसन्द किया। एक पुर्तगाली राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप में वह भारत में केवल अनुमति लेकर ही रह सकते थे इसलिए उन पर अभियोजन उचित था।"[1]

युद्धरत आधिपत्य अथवा युद्ध-सलग्नता के दखल का समापन

युद्धरत आधिपत्य अथवा युद्ध-सलग्नता के दखल का अन्त कई प्रकार से हो सकता है, यथा—(1) उस क्षेत्र के निवासियों में सफल जागरण उत्पन्न हो जाय, (2) वैध सम्प्रभु अथवा पूर्व सरकार उस क्षेत्र को मुक्त करा ले, (3) मित्र-राष्ट्र सैन्य शक्ति द्वारा उस भू-क्षेत्र को मुक्त करके वैध सम्प्रभु को सौंप दे, (4) शान्ति-सन्धि करके उस भू-क्षेत्र को वैध सम्प्रभु को सौंप दिया जाय, एवं (5) सम्प्रभु को अपने अधीन कर लेने के बाद उस भू क्षेत्र को भी अपने राज्य में विलीन कर लिया जाय।

समुद्री युद्ध के नियम
(Rules of Maritime Warfare)

समुद्री युद्ध के नियम बहुत कुछ भूमि युद्ध के नियमों से मिलते हैं। इतने पर भी कानूनशास्त्रियों ने उन्हें अलग से वर्गीकृत किया है क्योंकि उनके द्वारा अनेक विशेष समस्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं और इनके कुछ सिद्धान्त भूमि युद्ध पर लागू नहीं होते। भूमि युद्ध और समुद्री युद्ध के उद्देश्यों में भिन्नता है। भूमि युद्ध शत्रु को पराजित करने और उसके प्रदेश पर अधिकार करने के लिए लड़े जाते हैं। *समुद्री युद्ध का उद्देश्य शत्रु के सामरिक और व्यापारी जहाजों को नष्ट करना तथा*

1 एस. सी. टण्डन : वही, पृष्ठ 389–90.

समुद्र से शत्रु को कोई लाभ प्राप्त न होने देना है। इस प्रकार शत्रु के ऊपर प्रभुता प्राप्त करने के उद्देश्यों की उपलब्धि दोनों प्रकार के युद्धों में अलग-अलग प्रकार से की जाती है। प्रो ओपेनहेम के कथनानुसार, समुद्री युद्ध के उद्देश्य ये हैं—शत्रु की नौ सेना को हराना, शत्रु के व्यापारिक बेड़े को नष्ट करना, तटवर्ती किलेबन्दियों और सामरिक बस्तियों को नष्ट करना, शत्रु देश के तट के साथ दूसरे देश के सम्पर्कों को समाप्त करना, शत्रु के लिए विनिषिद्ध सामग्री की ढुलाई तथा अतटस्थ सेवा को रोकना। भूमि पर की जाने वाली सैनिक कार्यवाहियों को समुद्र द्वारा सहायता पहुँचाना और अपने समुद्री तथा व्यापारिक बेड़ों की रक्षा करना। इस प्रकार समुद्री युद्ध के उद्देश्य मूल प्रकृति में भूमि युद्ध के उद्देश्यों में समानता रखते हुए भी विशेष प्रकृति की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता रखते हैं। भूमि युद्ध में व्यक्तिगत सम्पत्ति को छीना नहीं जाता, किन्तु समुद्री युद्ध में शत्रु के जहाजों पर लदी हुई व्यक्तिगत सम्पत्ति को जब्त किया जा सकता है। भूमि युद्ध अनेक लक्ष्यों की ओर सचालित किया जा सकता है किन्तु समुद्री युद्ध के कुछ निश्चित और निर्धारित लक्ष्य होते हैं। प्रो ओपेनहेम ने उनकी संख्या छः बताई है—शत्रु के सार्वजनिक और व्यक्तिगत जहाज, शत्रु देश के व्यक्ति, समुद्री जहाजों द्वारा ले जाया जाने वाला शत्रु का माल, शत्रु का समुद्र तट, परिवेष्टन को तोड़ने का प्रयास करने वाले तटस्थ राज्यों के जलपोत और विनिषिद्ध पदार्थ ले जाने वाले तथा अतटस्थ सेवा करने वाले तटस्थ जहाज।

नियमों का विकास (Development of the Rules)

समुद्री युद्ध के नियमों का इतिहास नया नहीं है। प्राचीन भारत में प्रचलित समुद्री युद्ध के नियमों का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में मिलता है। कौटिल्य के कथनानुसार, हिंसात्मक कार्य करने वाले समुद्री डाकुओं की नौकाओं को नष्ट कर देना चाहिए। इसी प्रकार जो नौकाएँ बन्दरगाह के नियमों को भंग करें और शत्रु देश की ओर जाएं तो उन्हें नष्ट कर देना चाहिए। यदि कोई नौका दिशा-भ्रम या तूफान के कारण भटककर आ जाए तो उसकी रक्षा विधिवत् की जानी चाहिए। राज्य की नौकाओं के घाटों तथा बन्दरगाहों पर ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि उन पर किसी शत्रु राज्य की नौका नहीं टिक सके। उन समुद्री यात्रियों को पकड़ लेना चाहिए जो पराई स्त्री, कन्या अथवा मित्र का अपहरण करते हैं अथवा जैसे विस्फोटक पदार्थों, शस्त्रों एवं विष को ले जाते हैं और बिना मुद्रा दिए नाव पर यात्रा करते हैं।

प्रारम्भ में युद्ध के समय की समुद्रों में स्थित शत्रु व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक सम्पत्ति राज्यसात् कर ली जाती थी। शत्रु के जहाजों पर यदि तटस्थ राज्यों का माल लदा हुआ है या तटस्थ जहाजों पर शत्रु का माल लदा हुआ है तो वह शत्रु का ही माना जाता था। 14वीं शताब्दी में कान्सोलेटो डेल मेयर ने इस सम्बन्ध में कुछ नियम बनाए। इनके अनुसार शत्रु के जहाज को आत्मसात् किया जा सकता था, किन्तु उस पर लदा हुआ तटस्थ राज्यों का माल उन्हें वापिस कर दिया जाता था।

19वीं शताब्दी के मध्य मे क्रीमिया युद्ध के बाद इन नियमो को पेरिस की घोषणा मे स्वीकार कर लिया गया।

पेरिस की घोषणा (Declaration of Paris, 1856)– समुद्री युद्ध के नियमों की रचना का प्रथम महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास 1856 मे किया गया। इस वर्ष मित्रराष्ट्रों तथा रूस ने प्रसिद्ध पेरिस की घोषणा स्वीकार की। इसके अन्तर्गत समुद्री युद्ध को प्रशासित करने वाले चार विशेष नियमो का उल्लेख किया गया—

(A) वैयक्तिकता को समाप्त कर दिया गया

(B) तटस्थ देशों के जलपोतो पर लदा हुआ शत्रु देश का माल (युद्ध के विनिषिद्धों को छोड़कर),

(C) शत्रु देश के जहाज मे लदा हुआ तटस्थ राज्य का माल (युद्ध के विनिषद्धो को छोड़कर) राज्यसात् नही किया जाएगा एवं

(D) एक नाकाबन्दी तभी बाध्यकारी हो सकती है जबकि वह प्रभावशील हो अर्थात् इसके पीछे इतनी सेना चाहिए कि शत्रु को तट पर आने से रोका जा सके।

वेनेजुएला संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कुछ अन्य राज्यो को छोड़कर समस्त समुद्री राज्यो ने पेरिस की घोषणा को स्वीकार कर लिया। संयुक्त राज्य अमेरिका का सुझाव था कि समुद्र मे किसी निजी सम्पत्ति को राज्यसात् करने का अधिकार नही होना चाहिए। इसे स्वीकार नही किया गया। पेरिस घोषणा मे उल्लेखित नियम सामान्य थे और इसलिए इस पर हस्ताक्षर न करने वाले राज्यो ने भी अपने व्यवहार मे इसे स्वीकार किया।

जेनेवा अभिसमय (Geneva Convention, 1868)—समुद्री युद्ध को प्रशासित करने वाले एक रूप नियमो की स्थापना का अलग प्रयास 1868 मे जेनेवा मे किया गया। इस वर्ष 1868 के जेनेवा अभिसमय के प्रावधानों को व्यापक बनाने के लिए एक सम्मेलन बुलाया गया था। इस बैठक मे की गई घोषणा को स्वीकार नहीं किया जा सका, किन्तु अनेक व्यक्तिगत सुझावो को भिन्न राज्यो द्वारा उनकी नौसेना को दिए गए निर्देशो मे शामिल कर लिया गया।

हेग सम्मेलन (Hague Conference, 1907)—प्रथम हेग सम्मेलन (1899) मे स्वीकृत अभिसमय ने अन्त मे जेनेवा अभिसमय (1764) के प्रावधानो को समुद्री युद्ध के सम्बन्ध मे स्वीकार कर लिया। 1907 का हेग सम्मेलन बहुत कुछ समुद्री युद्ध से सम्बन्धित प्रश्नों पर केन्द्रित रहा और इस सम्बन्ध में अनेक अभिसमय स्वीकार किए गए। इनमे अभिसमय संख्या VIII, IX और XI विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह सम्मेलन भूमि युद्ध की भाँति समुद्री युद्ध के सम्बन्ध मे किसी आचार-संहिता का विकास नही कर सका। हेग अभिसमय संख्या VII का सम्बन्ध व्यापारी जहाजो को युद्धपोतों के रूप मे परिवर्तित करने से था। इस पर संयुक्तराज्य अमेरिका ने हस्ताक्षर नही किए।

लन्दन घोषणा (1909)—हेग सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय से सम्बन्धित अभिसमय (No XII) स्वीकार नहीं किया जा सका क्योंकि मुख्य विषयों पर इसमें अस्पष्टता थी। फलत ब्रिटिश सरकार ने 1908 में ब्रिटिश नौसैनिक सम्मेलन बुलाया। यह सम्मेलन 4 दिसम्बर, 1908 से 26 फरवरी, 1909 तक चला। इसमें समुद्री युद्ध से सम्बन्धित कानूनों की स्थापना के लिए 70 धाराएँ रखी गईं। इनका सम्बन्ध अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों से था। उदाहरण के लिए—युद्ध के समय नाकाबन्दी (1-21), युद्ध के विनिषिद्ध (22-44), अतटस्थ सेवा (45-57), तटस्थ प्राइजों का विनाश (48-54), तटस्थ ध्वजा का परिवर्तन (55-56), शत्रु स्वभाव (57-60), महचार (61-62), खोज का विरोध (63) मुआवजा (64) तथा अन्तिम प्रावधान (65-70)। इस घोषणा में शामिल की जाने वाली दो बातों के सम्बन्ध में इतना अधिक मतभेद था कि कोई समझौता नहीं किया जा सका। घोषणा पर ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा हस्ताक्षर नहीं किए गए।

लन्दन घोषणा के शीर्षकों की सूची पर्याप्त बड़ी होते हुए भी उन नियमों के सम्बन्ध में शान्त थी जो जल सेनाओं के विरोधी व्यवहार को प्रशासित कर सकें। इसकी सभी धाराएँ प्राथमिक प्रश्नों और युद्धमान राज्यों तथा तटस्थ राज्यों के मध्य स्थित सम्बन्धों का विवेचन करती थीं। जिस प्रकार भूमि युद्ध के सम्बन्ध में हेग विनियम बनाए गए थे वैसे समुद्री युद्ध के बारे में नहीं बनाए जा सके।

समुद्री युद्ध के नियमों का विवरण
(Description of Rules Governing Naval Warfare)

प्रथम विश्वयुद्ध के समय समुद्री युद्ध का संचालन अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा स्वीकृत किसी आचार संहिता द्वारा नहीं वरन् प्रमुख युद्धमान राज्यों के यथार्थ व्यवहार द्वारा किया गया था। कालान्तर में राष्ट्रीय व्यवहारों तथा विभिन्न अभिसमयों के आधार पर युद्ध नियम विकसित हुए। इनका उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

1 मानवता की विधियाँ (Laws of Humanity)—जिस प्रकार भूमि युद्ध में मानवता की भावनाओं का प्रभाव रहता है उसी प्रकार समुद्री युद्ध में भी इन भावनाओं द्वारा व्यवहार को प्रभावित किया जाता है।

2 शत्रु के जलपोतों पर आक्रमण और उनका अभिग्रहण (Attack and Seizure of Enemy Vessels)—युद्धमान नौसेना द्वारा अपनाया जाने वाला यह सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। किसी भी जहाज को पकड़ने के बाद एक राज्य उसमें स्थित माल और उस पर सवार शत्रुजनों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। इस माल को आत्मसात् करके वह शत्रुजनों को युद्धबन्दी बना सकता है। यही कारण है कि समुद्री युद्ध के दूसरे साधनों की अपेक्षा यह महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। एक कमजोर नौसैनिक राज्य अपनी जल सेना के कार्यों को केवल तटों की रक्षा तक सीमित रख सकता है। ऐसी स्थिति में वह शत्रु जहाजों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने और आक्रमण करने से बच जाता है। प्रत्येक युद्धमान पक्ष को अधिकार है

कि वह शत्रु के सभी रणपोतो एव सार्वजनिक जलपोनो पर अपने रणपोतों द्वारा महासमुद्रो म या प्रादेशिक समुद्रो मे आक्रमण कर सकना है। किसी आक्रमण होने की स्थिति मे उसका जवाब देने का प्रत्येक जहाज को अधिकार रहता है।

किसी भी जहाज पर आक्रमण केवल तभी किया जाएगा जब उसकी शत्रु प्रकृति स्पष्ट हो जाए। ब्रिटिश सैनिक न्यायालय ने बहुत पहले से इस मत का अनुसरण किया है कि शत्रु प्रकृति का निर्धारण निवास स्थान के आधार पर किया जाना चाहिए। एक व्यक्ति चाहे वह तटस्थ है अथवा शत्रु की राष्ट्रीयता वाला, यदि वह शत्रु के प्रदेश म रहता है तो उसे शत्रु माना जाएगा। यहाँ निवास स्थान का अर्थ केवल व्यक्ति के रहने मात्र से नही है वरन् उसका व्यापार भी वहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि 'क' और 'ख' के बीच युद्ध छिड़ता है तथा अन्य राज्य तटस्थ रहते हैं तो 'ग' देश का निवासी जो 'ख' देश मे अपना व्यापार करता है, 'क' देश द्वारा शत्रु माना जाएगा। शत्रु के अधीन रहने वाला प्रदेश शत्रु का प्रदेश कहलाता है। अत यहाँ रहने वाले लोग अथवा नियम निश्चय ही शत्रु प्रकृति के बन जाते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ब्रिटिश सैनिक न्यायालयो ने जर्मन द्वारा अधिकृत बल्जियम को शत्रु प्रकृति का माना। इसी युद्ध मे मिस्र के बन्दरगाहों को आस्ट्रिया और जर्मनी के जहाजों ने शत्रु का बन्दरगाह माना क्योंकि ग्रेट-ब्रिटेन का मिस्र पर सैनिक आधिपत्य था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान धुरी राष्ट्रो का विरोध करने वाले देशों ने यही तरीका अपनाया। 30 जुलाई, 1940 को ग्रेट-ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि समस्त फ्रांस तथा अल्जीरिया, ट्यूनीशिया और फ्रांसीसी मोरक्को का सभी व्यावहारिक उद्देश्यो के लिए शत्रु का प्रदेश माना जाना चाहिए। 10 अप्रेल, 1940 का जब तटस्थ डेनमार्क पर जर्मनी का अधिकार हो गया तो इससे डेनमार्क का स्तर बदल गया। 18 अप्रेल के बाद जब उसके जलपोत ब्रिटिश अधिकृत बन्दरगाहो मे होकर गुजरने लगे तो ब्रिटिश सरकार ने ऐसे जहाजों को महासमुद्र मे घेर लिया। तार्किक दृष्टि से शत्रु का आवेशन प्रभावशाली होना चाहिए। यदि अस्थायी रूप से किसी प्रदेश मे विदेशी सेनाएँ आवेशन कर लेती है तो वह प्रदेश शत्रु प्रकृति का नहीं बनेगा।

माल और सामान की शत्रु प्रकृति सामान्यत. उस समय तक रहती है जब तक उनका स्वामी शत्रु प्रदेश का निवासी है। यदि किसी शत्रु के माल का स्वामित्व शत्रु से किसी तटस्थ स्वामी को मिल जाता है तो उस माल की शत्रु प्रकृति समाप्त हो जाती है।

शत्रु की प्रकृति का निश्चय करने मे कभी-कभी कुछ अन्य तत्त्व भी योगदान करने लगते हैं। यदि कोई युद्धमान राज्य किसी तटस्थ प्रदेश को मिलाकर या अन्य किसी साधन से स्वामित्व प्राप्त कर लेता है तो दूसरा पक्ष उस प्रदेश के निवासियों को शत्रु मानने लगेगा।

जहाँ तक जलपोत की राष्ट्रीयता का प्रश्न है यह उस पर उड़ने वाले झण्डे द्वारा तय होगी। किसी भी जहाज पर शत्रु का स्वामित्व होने से वह शत्रु नहीं बन जाता है। यदि उस पर तटस्थ राज्य के उचित कागजात हैं और वहीं उसका पंजीकरण हुआ है तो उसकी प्रकृति शत्रुतापूर्ण नहीं होगी। दूसरी ओर तटस्थ राज्य का स्वामित्व होते हुए भी ऐसे जहाज को शत्रु माना जाएगा जो शत्रु की ध्वजा फहराता है।

गैर सरकारी व्यक्ति कानूनी रूप से किसी भी जहाज को पुरस्कार के रूप में नहीं हथिया सकते जब तक किसी सरकार द्वारा उन्हें ऐसा करने की शक्ति प्रदान नहीं की जाए। इस शर्त के पूरा होने पर भी ऐसा करने का औचित्य संदेहजनक रहेगा क्योंकि पेरिस घोषणा में इसे अनुचित ठहराया गया है।

जब यह निश्चित हो जाए कि कोई जलपोत शत्रु राज्य का है, तो युद्धमान राज्य उस पर हमला कर सकता है।

3 शत्रु के युद्धपोत (Enemy War Ships)—शत्रु के सभी युद्ध पोतों तथा सरकारी जहाजों पर महासमुद्रों में अथवा किसी भी युद्धमान पक्ष के प्रादेशिक समुद्रों में आक्रमण किया जाता है।

4 शत्रु के वणिक पोत (Enemy Merchant Ships)—शत्रु के वणिक पोतों पर तभी आक्रमण किया जाता है जब वे उचित रीति से संकेत दिए जाने पर भी अपना निरीक्षण और तलाशी देने से मना कर दें। शत्रु के वणिक पोत चाहे तो अपनी तलाशी न दे कर स्वरक्षा का प्रबन्ध कर सकते हैं। पेरिस की घोषणा के अनुसार इन पोतों पर केवल शत्रु के रणपोत ही आक्रमण कर सकते हैं। यदि कोई व्यापारी जहाज अपने विरोधी युद्धमान राज्य के सरकारी या निजी जलपोत पर आक्रमण करता है तो उसे जल दस्यु माना जाएगा और इसके कर्मचारी युद्ध अपराधी कहे जाएँगे। एक बार आक्रमण होने पर युद्धमान व्यापारी जहाज अपने आक्रान्ता का पीछा कर सकता है और यदि हो सके तो उसे आत्मसात् भी कर सकता है। यदि वणिक पोतों पर शत्रु द्वारा बिना पूर्व चेतावनी के आक्रमण किया जाता है तो इन्हें अधिकार है कि अपनी रक्षा के लिए बिना प्रतीक्षा के आवश्यक कदम उठाएं।

5 पनडुब्बियाँ (Submarines)—युद्धमान राज्य की पनडुब्बियाँ शत्रु के व्यापारिक जहाजों को निरीक्षण और तलाशी करने के बाद पकड़ने का और उन्हें जहाजों को बिना किसी पूर्व सूचना के डुबा देने का अधिकार रखती हैं। आक्रमणकारी जहाज के स्वरूप को पहिचानना अत्यन्त कठिन है, इसलिए केवल सम्भावना के आधार पर ही पनडुब्बियाँ इनको डुबा देती हैं। प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी की पनडुब्बियों ने मित्र राष्ट्रों के जहाजों को पर्याप्त क्षति पहुँचाई।

पनडुब्बी की रचना अत्यन्त जटिल होती है। यदि इसका नायक युद्ध के सामान्य नियमों की अवहेलना करना चाहे तो शत्रु के व्यापारी जहाज पर बिना पूर्व संकेत के आक्रमण कर सकता है। ऐसी स्थिति में जहाज अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक कदम भी नहीं उठा पाता। एक जहाज की रक्षा उसके कमाण्डर का मुख्य

दायित्व है। इसलिए वह परम्परागत नियमों की अवहेलना करके व्यापारिक जलपोत को बिना किसी पूर्व सूचना के डुबा देगा। ऐसा करके वह युद्ध अपराध करता है। पूर्व सूचना न देने की परम्परा पनडुब्बियों की व्यावहारिक कठिनाई का परिणाम है। यह सम्भव नहीं कि आक्रमण से पूर्व चेतावनी देकर जहाज के यात्रियों और नाविकों को जीवन-रक्षक नौकाओं में सवार होने का अवसर दिया जाए। यदि ऐसा किया गया तो शत्रु के रणपोत आक्रमण कर सकते हैं। अतः सैनिक आवश्यकता के आधार पर इस व्यवहार के औचित्य को सिद्ध किया गया है।

प्रथम विश्वयुद्ध के अनुभवों ने इस सम्बन्ध में नियम बनाना आवश्यक बना दिया। ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका ने 1919 के वाशिंगटन सम्मेलन में यह प्रस्ताव रखा कि समस्त पनडुब्बियाँ नष्ट करदी जाएँ। प्रतिनिधियों द्वारा यह सुझाव स्वीकार नहीं किया गया। इसके बाद यह विषय 1922 के वाशिंगटन नौ-सैनिक सम्मेलन में प्रस्तुत किया। इसमें पाँच बड़ी शक्तियों ने 6 फरवरी, 1922 को पनडुब्बी युद्ध को प्रशासित करने वाले नियमों की रचना की। ये निम्न प्रकार थे—

(A) किसी व्यापारी जहाज को देखते ही न डुबाया जाए। यदि अनिवार्य परिस्थितियों के कारण ऐसे जहाज को डुबाना ही है तो उसके चालकों एवं यात्रियों को सुरक्षित स्थान पर भेज देना चाहिए।

(B) पनडुब्बियों पर वे ही नियम लागू होंगे जो सतह के युद्धपोतों पर होते हैं।

(C) इन वाशिंगटन नियमों को स्वीकार करने वाले राज्य की सेवा में कार्य करते हुए कोई व्यक्ति यदि इनको तोड़ना है तो वह युद्ध के कानून को तोड़ने का अपराधी माना जाएगा तथा एक समुद्री डाकू की भाँति न्यायिक कार्यवाही और दण्ड का भागी होगा। उसे उस राज्य की नागरिक या सैनिक सत्ताओं के सामने प्रस्तुत किया जाएगा जिनके क्षेत्राधिकार में वह पकड़ा गया है।

1922 की वाशिंगटन सन्धि स्वीकार नहीं की जा सकी। 1930 में लन्दन नौ-सैनिक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन, इटली, जापान और संयुक्तराज्य अमेरिका ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए। इसकी धारा 22 में पनडुब्बियों से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्थापित नियमों का उल्लेख किया गया। इसमें वाशिंगटन सन्धि की इन बातों को दोहराया गया कि पनडुब्बियों पर सतह के यानों वाले सिद्धान्त लागू होंगे तथा व्यापारी जहाजों को पनडुब्बियों द्वारा डुबाया नहीं जाएगा।

वाशिंगटन सन्धि की धारा 22 की प्रभावशीलता पर कोई समय की सीमा नहीं लगाई गई। 31 दिसम्बर, 1936 को जब यह सन्धि समाप्त हो गई तो भी धारा 22 इसके हस्ताक्षरकर्त्ताओं पर प्रभावशील रही। इन नियमों को व्यापक रूप से क्रियान्वित करने के लिए 6 नवम्बर, 1936 को मौलिक हस्ताक्षरकर्ता राज्यों ने लन्दन प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किए। इस प्रोटोकोल में अन्य राज्यों के अनुगमन से

सम्बन्धित प्रावधान भी थे तथा इसकी प्रभावशीलता पर समय की कोई सीमा नहीं थी। द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने तक जर्मनी तथा सोवियत संघ आदि सहित 48 राज्यों ने इस प्रोटोकोल को स्वीकार किया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान इस सम्बन्ध में सामान्य सहमति थी कि यात्रियों और नाविकों की सुरक्षा का पर्याप्त प्रबन्ध किए बिना यदि व्यापारिक जहाजों को पनडुब्बियों द्वारा डुबोया जाता है तो यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध और समुद्री डकैती का होने के कारण निन्दनीय माना जाएगा। इतने पर भी वास्तविक व्यवहार में प्रथम विश्व-युद्ध की घटनाओं को दोहराया गया। पनडुब्बियों ने केवल कल्पनात्मक आशंका के कारण जहाजों को डुबा दिया। पहले की भाँति युद्धमान राज्यों द्वारा बदले की कार्यवाहियाँ शीघ्र की गईं। प्रशान्त क्षेत्र में संयुक्तराज्य अमेरिका और ब्रिटेन की पनडुब्बियों ने जापानी वणिकपोतों के विरुद्ध अप्रतिबन्धित अभियान चलाया। इस प्रकार 1936 का प्रोटोकोल पूर्ण रूप से मर गया। अपराधियों ने अपने कार्य का औचित्य आत्मरक्षा का बहाना लेकर सिद्ध किया। यह नया दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण के निर्णयों में अभिव्यक्त हुआ।

द्वितीय विश्व-युद्ध में पनडुब्बियों ने बिना पूर्व चेतावनी के ब्रिटिश और अमेरिकी जहाजों को क्रूरता के साथ डुबा दिया। अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इस कार्य की निन्दा की और कहा कि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा मानवता के प्रारम्भिक सिद्धान्तों की पूर्ण अवहेलना प्रदर्शित की गई है। यह अन्तर्राष्ट्रीय आततायीपन का कार्य है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सन् 1949 के जेनेवा अभिसमय में अनेक नियम स्वीकार किए गए ताकि समुद्री युद्ध में आहत होने वाले सैनिकों तथा बीमारों और जहाज नष्ट हो जाने पर उसकी सवारियों एवं नाविकों की दशा को सुधारा जा सके।

6 **पनडुब्बियों के सम्बन्ध से सशस्त्र वणिक पोतों का स्तर (Status of Armed Merchant Vessels Relating to Submarines)**—पनडुब्बियों के युद्ध से सम्बन्धित एक अन्य पहलू यह है कि सशस्त्र वणिक पोतों के सम्बन्ध में उनके स्तर की परीक्षा की जाए। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान विरोधी पक्षों के बीच इस प्रश्न पर निरन्तर विवाद रहा कि उन जहाजों को बिना चेतावनी दिए डुबोने की वैधता क्या है जो केवल रक्षात्मक उद्देश्यों के लिए शस्त्र धारण करते हैं। यहाँ कठिनाई यह है कि पनडुब्बी के निकट आने पर यह निर्णय कैसे किया जाए कि शत्रु के जहाज ने शस्त्र आक्रमण के लिए धारण किए हैं अथवा रक्षा के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार यदि शत्रु पोत में आक्रमणकारी हथियार हैं तो उसे बिना पूर्व-चेतावनी के डुबाया जा सकता है। इस समस्या के निराकरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने *18 जून, 1916* को मित्र राष्ट्रों की सरकार के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि सभी वणिक पोतों पर शस्त्र ले जाने के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध होना चाहिए। वणिक पोत पर कोई भी हथियार आक्रमणकारी प्रकृति का माना जाएगा। मार्च, 1916 में अमेरिका ने अपनी इस स्थिति को पूर्णतः त्याग दिया और ब्रिटेन के इस सुझाव को

स्वीकार कर लिया कि सुरक्षा की दृष्टि से शस्त्र धारण करने वाले वणिक पोत युद्ध पोत नहीं होते और इसलिए इन पर बिना पूर्व-सूचना के आक्रमण नहीं किया जाना चाहिए।

आधुनिक युद्ध कौशल ने उन परम्परागत मान्यताओं को बदल दिया है जिन पर पुराने नियम आधारित थे। पहले युद्धमान राज्य की नौ सेना और शत्रु के व्यापारिक जहाजों के बीच अन्तर किया जाता था। आधुनिक युद्ध की परिस्थितियों के अन्तर्गत व्यापारी जहाजों एवं उनकी क्रियाओं का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि उन्हें युद्ध के प्रयासों से अलग नहीं किया जा सकता। पुराने नियम पनडुब्बियों और वणिक पोतों पर केवल तभी लागू हो सकते हैं जब वणिक पोत समुद्र में किसी सैनिक कार्यवाही में योगदान न करे। यह परिस्थिति आज उपलब्ध नहीं होती, इसलिए व्यापारी जहाज पर बिना पूर्व सूचना के आक्रमण किया जा सकता है।

स्पष्ट है कि आज की परिस्थितियों में कोई भी लेखक विश्वास के साथ यह नहीं कह सकता कि समुद्री युद्ध के कुछ पहलुओं को प्रशासित करने वाले युद्ध नियम वास्तव में क्या हैं।

7. सुरंगें (Mines)—1904-5 के रूस-जापान युद्ध ने सुरंगों के व्यापक प्रयोग का प्रथम आधुनिक उदाहरण प्रस्तुत किया। इसके परिणामस्वरूप तटस्थ जहाजों को बहुत हानि उठानी पड़ी। अतः यह सोचा गया कि इस हथियार को नियमित करने के लिए कानून प्रबन्ध होना चाहिए। परिणामस्वरूप 1907 के हेग सम्मेलन में अभिसमय संख्या 8 ने स्पष्ट रूप से युद्ध नियम निर्धारित किए। इस अभिसमय में ऐसी स्वचालित सम्पर्क से फटने वाली सुरंगों के बिछाने का निषेध किया गया है जो बिछाने वालों का इन पर नियन्त्रण समाप्त होने के एक घण्टे के भीतर हानि-रहित न हो जानी हों। यह कहा गया कि लंगर वाली (Anchored) सुरंगें नहीं बिछानी चाहिए। अभिसमय की धारा 2 में ऐसी सुरंगें बिछाने का निषेध किया गया है जो व्यापारिक नौचालन को रोकने की दृष्टि से शत्रु के बन्दरगाहों और तटों को अवरुद्ध करती हैं। जब कभी स्वचालित सुरंगें बिछाई जाएँ तो इस बात की पूरी सावधानी रखी जाए कि इनके कारण शान्तिपूर्ण समुद्री व्यापार को किसी प्रकार की हानि न हो। युद्धमान पक्षों को चाहिए कि वे एक निश्चित अवधि में इन सुरंगों को हानि-रहित बनाएँ और यदि ये उनके नियन्त्रण से बाहर हो तो खतरे की सूचना सम्बन्धित सरकारों तथा जहाजों के मालिकों को यथाशीघ्र प्रदान करें।

दोनों विश्व-युद्धों के समय जर्मनी ने इस अभिसमय की व्यवस्था को ठुकराया। द्वितीय विश्व युद्ध में शत्रु राज्यों के किनारे से दूर सुरंगें बिछाने के लिए वायुयानों का व्यापक प्रयोग किया गया। बदले में मित्र राष्ट्रों ने युद्ध-क्षेत्रों की स्थापना की और स्थायी सुरंग क्षेत्र बना दिए। सुरंगें बिछाने की स्पर्द्धा के कारण महासमुद्रों के व्यापारिक मार्ग असुरक्षित बन जाते हैं और इसलिए तटस्थ देशों के अधिकारों और महासमुद्रों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रबल हनन होता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अवैध और निंदनीय कार्य है। दोनों विश्व-युद्धों के बाद अमरत बहती हुई

और लगर वाली (Floating and Anchored) सुरंगो को शीघ्र हटाया गया। उन प्रयासो मे पर्याप्त सफलता प्राप्त होने पर भी युद्ध के बाद बहुत समय तक बहती हुई सुरगों ने हानि पहुँचाई।

8 आक्रमण से मुक्त शत्रु पोत (Enemy Ships immune from Attack)–अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार युद्धमान राज्य अपने रण-पोतो द्वारा कुछ शत्रु-पोतो पर आक्रमण नही कर सकता। इस शीर्षक के अन्तर्गत आने वाले मुख्य जहाज निम्नलिखित हैं—

(A) चिकित्सालय पोत—इन्हे अभिसमयात्मक कानून के अन्तर्गत आक्रमण से उन्मुक्त नहीं रखा गया है किन्तु रिवाजी कानून जो शत्रु के साथ मानवतापूर्ण व्यवहार करने पर जोर देते हैं, ऐसे पोतों को उन्मुक्ति प्रदान करते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी ने अनेक मित्र राष्ट्रो के चिकित्सालय पोतो को देखते ही डुबा दिया। द्वितीय विश्व-युद्ध मे भी इस व्यवहार को दोहराया गया।

1949 के जेनेवा अभिसमय के अनुसार चिकित्सा के मानवीय कार्य में लगे हुए चिकित्सालय पोतो पर आक्रमण नहीं किया जा सकता और न इन्हें पकड़ा जा सकता है। पहिचान के लिए इन पोतो पर लाल क्रास का निशान बना रहता है। यदि कोई राज्य इन पोतो को डुबोता है। तो वह न केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से वरन् मानवता की दृष्टि से अपराधी है। वह घायल और बीमार लोगो के साथ-साथ पवित्र उद्देश्य वाले चिकित्सको तथा दूसरे व्यक्तियो के अभिशापो का भी शिकार बनता है।

(B) धार्मिक, वैज्ञानिक एव परोपकारी कार्यों मे लगे हुए पोत—इस श्रेणी मे आने वाले पोतो को भी आक्रमण मे उन्मुक्त किया गया, किन्तु यदि ये पोत शत्रुतापूर्ण कार्य करते हैं तो इनकी यह उन्मुक्ति समाप्त हो जाएगी। वैज्ञानिक अनुसधान और धर्म-प्रचार की दृष्टि म कार्य करने वाले पोत शत्रु के लिए कोई खतरा पैदा नही करते।

(C) मछली पकड़ने वाले पोत—19वी शताब्दी से छोटी नावो और मछली पकडने वाले पोतो को युद्धमान शत्रु राज्य के आक्रमण स उन्मुक्त रखा गया है। द्वितीय हेग सम्मेलन क 19वें अभिसमय म यह व्यवस्था की गई थी कि स्थानीय व्यापार म लगे हुई छोटी नौकाओ और पोतो को उनके सामान सहित शत्रु द्वारा पकडा नहीं जाए। प्रथम विश्व युद्ध म इस परम्परा को तोडने वाला सवप्रथम राज्य जर्मनी था जिसने अनेक ब्रिटिश तटवर्ती मछली पकडने वाले पोतों को डुबा दिया। द्वितीय विश्व-युद्ध मे यह व्यवहार दोहराया गया तथा तटवर्ती पोतो पर बमबारी करके इसे अधिक घातक बना दिया गया। जो जहाज बड़े आकार वाले होते हैं तथा तटवर्ती व्यापार मे सलग्न रहते हैं और जो गहरे सागर म मछली पकडते है उन्हे रिवाजी अथवा अभिसमयात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा शत्रु के आक्रमण से उन्मुक्त नहीं रखा जाता।

(D) युद्धबन्दियों का विनिमय करने वाले पोत—जो पोत युद्धमान राज्यों

के युद्धबन्दियों का विनिमय करते हैं उन्हें शत्रु के आक्रमण से उन्मुक्ति प्रदान की जाती है।

(E) भटके हुए पोत—कभी-कभी समुद्र में तूफान उठने के कारण जहाजों को मजबूर होकर शत्रु के बन्दरगाह में शरण लेनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में आपदा के मारे इस जहाज को पकड़ने की अपेक्षा इनके साथ उदारतापूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं है। केवल सम्बन्धित अधिकारियों की उदारता ही वास्तविक व्यवहार का निश्चय करती है। 1740 में स्पेन और ग्रेट-ब्रिटेन के युद्ध के समय ऐलिजाबेथ नामक ब्रिटिश युद्धपोत को समुद्री तूफान ने घेर लिया। इससे बचने के लिए उसे हवाना के स्पेनिश बन्दरगाह में शरण लेनी पड़ी। स्पेन ने इस जहाज को पकड़ने की अपेक्षा मरम्मत की सुविधाएँ प्रदान की और अपनी सीमा में से सुरक्षित निकल जाने दिया। इसी प्रकार की एक घटना सन् 1799 के फ्रांस और प्रशा के युद्ध के समय हुई। इसमें प्रशा का एक वणिक पोत तूफान से बचने के लिए फ्रांसीसी बन्दरगाह में आया। फ्रांस की नौ-सेना ने इसे पकड़ लिया, किन्तु अधिग्रहण न्यायालय के निर्णय के अनुसार इसे छोड़ दिया गया। प्रो. ओपेनहेम ने लिखा है कि "यद्यपि ऐसे उदाहरण इतिहास में मिलते हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई भी नियम इन जहाजों को आक्रमण से मुक्ति प्रदान नहीं करता।"

(F) वणिक पोत—1907 हेग अभिसमय के अनुसार वणिक पोतों को शत्रु के आक्रमण से आंशिक उन्मुक्ति प्रदान की गई। उसमें कहा गया कि युद्ध छिड़ने पर जो वणिक पोत शत्रु के बन्दरगाहों में विद्यमान हैं और जो वणिक पोत, युद्ध छिड़ने से पहले ही पिछले बन्दरगाह से चल दिए हैं तथा जिन्हें युद्ध की सूचना नहीं मिली है उन पर शत्रु का आक्रमण नहीं होना चाहिए। इस नियम के तहत क्रीमियन युद्ध के समय ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा रूसी पोतों को इस प्रकार की उन्मुक्ति प्रदान की गई। इसके अतिरिक्त 1870 में जर्मनी ने फ्रांसीसी पोतों को 1877 में रूस ने टर्की के पोतों को, 1898 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्पेन के पोतों को, और 1904 में रूस तथा जापान ने एक-दूसरे के पोतों को इस प्रकार उन्मुक्ति प्रदान की।

अतीत के उदाहरणों के आधार पर भविष्य का निश्चय नहीं किया जा सकता। प्रो. ओपेनहेम की आशंका है कि सम्भवतः यह सुविधा भविष्य में पूरी तरह से रुक जाएगी। प्रथम विश्व-युद्ध में इस नियम का पालन बहुत कम हुआ था। 1925 में ग्रेट-ब्रिटेन ने भविष्य में इसका पालन न करने की घोषणा की। इसका कारण सम्भवतः यह है कि आधुनिक युद्धों में वणिक पोतों का महत्त्व बढ़ गया है। उन्हें आवश्यकता के समय क्रूजरों में बदला जा सकता है। ये पोतों की मरम्मत, यातायात आदि के रूप में मदद करते हैं। अतः प्रत्येक युद्धमान राज्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने बेड़े के समानार्थ अधिकाधिक वणिक पोत रखे।

(G) डाक नौकाएँ एवं डाक थैलियाँ—इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून

का कोई सामान्य नियम नहीं है जो शत्रु की डाक नौकाओं एवं डाक थैलियों को आक्रमण तथा अभिग्रहण से उन्मुक्ति प्रदान करता हो। प्रथम विश्व-युद्ध में ऐसी कोई उन्मुक्ति प्रदान नहीं की गई। विभिन्न राज्य अपनी विशेष सन्धियों द्वारा इस उन्मुक्ति की व्यवस्था करते हैं। उदाहरण के लिए फ्रांस और ग्रेट-ब्रिटेन ने 30 अगस्त, 1890 के डाक अभिसमय की धारा 9 में, ग्रेट-ब्रिटेन और हॉलैण्ड ने 14 अक्तूबर, 1843 के डाक अभिसमय की धारा 7 में यह निर्धारित किया कि इन देशों के बीच नौचालन करने वाली समस्त डाक नौकाएँ बिना किसी बाधा के युद्ध के समय भी चलती रहेंगी जब तक कि किसी एक पक्ष द्वारा इसके प्रतिबन्ध के लिए विशेष सूचना न दी जाए।

यद्यपि डाक पोत शत्रु के आक्रमण के विरुद्ध सामान्य उन्मुक्ति का अधिकार नहीं रखते, किन्तु डाक थैलों के सम्बन्ध में हेग अभिसमय संख्या 11 (1907) की धारा 1 के अनुसार आक्रमण से उन्मुक्त रखा गया है। यदि युद्ध के समय तटस्थ अथवा युद्धमान राज्यों का डाक पत्र-व्यवहार किसी तटस्थ या शत्रु राज्य के जहाज में मिलता है तो उसे छीना अथवा नष्ट नहीं किया जा सकता। यह उन्मुक्ति केवल पत्र व्यवहार तक ही सीमित है। इसमें डाक पार्सल नहीं आते। यदि पार्सल द्वारा कोई विनिषिद्ध वस्तु भेजी जाती है तो उसे जब्त किया जा सकता है। आजकल पत्र-व्यवहार का भी सेन्सर किया जाता है। अगस्त, 1940 में यूरोप के लिए जाने और आने वाली अमेरिकी हवाई डाक ब्रिटेन सैन्सर के लिए मार्ग बदलती थी। पत्र-व्यवहार को सैन्सर करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि उसमें कम से कम देरी की जाए। इस सम्बन्ध में एक अपवाद रखा गया है कि नाकाबन्दी किए गए बन्दरगाह से आने जाने वाली डाक को यह उन्मुक्ति प्रदान नहीं की जाएगी। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान केन्द्रीय शक्तियों ने डाक को प्रचार साहित्य भेजने का माध्यम बनाया। फलतः मित्र राष्ट्र डाक के थैलों को खोलकर उनकी परीक्षा करने लगे। तटस्थ राज्यों ने इसका विरोध किया। सन् 1889 में जर्मनी के साथ युद्ध के समय भी इस प्रकार का विरोध हुआ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि समुद्र में डाक थैलियों को पकड़ने से उन्मुक्ति केवल तभी प्रदान की जाएगी जब जलपोत को सामान्य स्थिति में पाया जाए किन्तु यदि जलपोत युद्धमान राज्य के जल अथवा बन्दरगाह में प्रवेश करता हुआ प्रतीत हो तो उसके डाक थैलों की जाँच की जा सकती।

9 शत्रु योद्धा की स्थिति (Position of Enemy Combatants)—समुद्री युद्ध में शत्रु के व्यक्तियों की वही स्थिति होती है जो उनकी स्थल युद्ध के समय होती है। रिवाजी कानून के अनुसार केवल उन्हीं को मारा या घायल किया जा सकता है जो लड़ने के इच्छुक और योग्य हों तथा हस्तगत का विरोध करें। बीमार और घायल तथा आत्मसमर्पण करने वाले लोगों को शरण दी जानी चाहिए जब तक कि बदले का कोई मामला नहीं है। भूमि युद्ध की भाँति समुद्री युद्ध का यह नियम है कि अनावश्यक रूप से दुःख देने वाले हथियारों का प्रयोग नहीं किया जाएगा। द्वितीय

विश्व-युद्ध के अनुभवों का सबक लेकर सन् 1949 के हेग अभिसमय ने पुराने नियमों मे परिवर्तन किए ।

प्रारम्भ मे अधिकारी एवं शत्रु वणिक पोत के सभी नाविको तथा योद्धाओं को युद्धबन्दी बना लिया जाता था । हेग अभिसमय सख्या 11 (1907) के प्रावधानों के अन्तर्गत व्यापारिक जहाजो के नाविक सदस्यो (जो तटस्थ देशों के नागरिक है) और तटस्थ अधिकारियों को बन्दी नहीं बनाया जा सकता । इन अधिकारियों को लिखित औपचारिक वायदा करना पड़ता है कि वे शेष युद्ध मे शत्रु पोत पर कार्य नहीं करेंगे । धारा 6 के अनुसार शत्रु वणिक पोत पर कार्य करने वाले शत्रु नायकों को भी बन्दी नहीं बनाया जाएगा । यदि वे इस सम्बन्ध में घोषणा करें कि युद्ध से सम्बन्धित किसी कार्य में वे भाग नहीं लेंगे । यह अभिसमय प्रथम विश्व-युद्ध में लागू नहीं किया जा सका क्योंकि इसके साथ सर्वमान्यता का प्रावधान था । यदि शत्रु के नाविक सदस्यों और अधिकारियों को बन्दी भी बना लिया जाए तो जेनेवा अभिसमय (1949) के अनुसार भूमि पर आते ही उनकी रक्षा की जानी चाहिए । यदि वे जहाज पर ही हैं तो भी रिवाजी कानूनों के अनुसार उनके साथ मानवतापूर्ण व्यवहार होना चाहिए । इस अभिसमय मे जहाज टूटने से पीड़ित, घायल और बीमार शत्रु पक्ष के योद्धाओं के साथ किए जाने वाले व्यवहार से सम्बन्धित प्रावधान रखे गए ।

10 गैर-योद्धा सदस्यों की स्थिति (Position of Non combatant Members)—भूमि सेनाओं की भाँति युद्धमान राज्यों की जल सेनाओं में भी योद्धा और गैर-योद्धा सदस्य होते है । गैर-योद्धा सदस्यों में सर्जन, चिकित्सालय स्टॉफ के सदस्य और पादरी आदि आते हैं । ये लोग लड़ाई में भाग नहीं लेते । इनके ऊपर प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण नहीं किया जा सकता और न इनका मारा अथवा घायल किया जा सकता है । फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से शत्रु के आक्रमणों का प्रभाव उन पर पड़ता है । इनको युद्धबन्दी बनाया जा सकता है बशर्ते कि ये धार्मिक चिकित्सालय और औषधालय स्टॉफ के सदस्य नहीं हैं ।

11 गैर-सरकारी शत्रु नागरिक (Enemy Private Citizens)—यदि शत्रु पक्ष के गैर-सरकारी नागरिक आक्रान्त अथवा डुबाए हुए शत्रुपोत पर पाए जाते हैं तो उन पर प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण नहीं किया जा सकता । उनकी यह उन्मुक्ति केवल तभी है जबकि वे शत्रु की सशस्त्र सेनाओं या पोत के नाविकों के सदस्य नहीं हैं और लड़ाई में भाग नहीं ले रहे हैं । कुछ परिस्थितियों में ऐसे लोगों को भी इस आधार पर युद्धबन्दी बनाया जा सकता है जिस आधार पर भूमि युद्ध मे बनाया जा सकता है । शत्रु पक्ष के महत्त्वपूर्ण अधिकारियों के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है । यह नागरिक-गण पूर्ण रूप से शत्रु पोत के कमाण्डर के आदेश के अधीन रहेंगे । यदि वे कमाण्डर की कानूनी आज्ञाओं का उल्लंघन करेंगे तो उन्हें दण्डित किया जा सकेगा ।

12. हस्तगत किए गए जहाज को व्यक्तिगत सम्पत्ति (Personal Property of Captured Crew)—पकड़े गए शत्रु जहाज के अधिकारियों और नाविकों की व्यक्तिगत सम्पत्ति सैद्धान्तिक रूप से हस्तगतकर्त्ता राज्य की होती है। फिर भी न्याय और सद्भाव की दृष्टि से उसे उसके स्वामियों को लौटा दिया जाता है। असल में यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा राष्ट्रीय कानून का विषय है।

13. घायल, बीमार तथा जहाज से पीड़ित व्यक्ति (The Wounded, Sick and Ship-wrecked)—सन् 1949 के जेनेवा अभिसमय में यह कहा गया कि समुद्री युद्ध में घायलों, बीमारों और जहाज से पीड़ितों का सभी परिस्थितियों में सम्मान तथा रक्षा की जानी चाहिए। लिंग, जाति, राष्ट्रीयता, धर्म, राजनीतिक मत और अन्य कारणों के आधार पर उनके साथ कोई भेदभाव न करके मानवता पूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए। यद्यपि ऐसे व्यक्तियों को अभिसमय द्वारा सुरक्षा प्रदान की गई है, किन्तु वे अधिग्रहण से मुक्त नहीं रखे गए हैं। युद्धमान पक्ष के जंगी जहाज यह माँग कर सकते हैं कि घायल, बीमार अथवा जहाज से पीड़ित लोग, चाहे वे किसी भी राष्ट्रीयता वाले क्यों न हों, आत्म-समर्पण करदें। जब ये लोग शत्रु के हाथ में पड़ जाते हैं तो इन्हें युद्धबन्दी बना लिया जाता है और इनके साथ तदनुसार व्यवहार किया जाता है। उनको ग्रहण करने वाला नायक चाहे तो उन्हें स्वदेश भेज दे या तटस्थ राज्य अथवा शत्रु राज्य में पहुँचा दे। यदि इन लोगों को उनके स्वदेश वापस भेजा जाता है तो वे युद्ध के शेष काल के लिए लड़ाई में भाग नहीं ले सकते। जब इन लोगों को किसी तटस्थ राज्य में भेजा जाता है तो वह राज्य यह आश्वासन देता है कि ये युद्ध के कार्यों में भाग नहीं लेंगे। प्रत्येक मुठभेड़ के बाद दोनों पक्ष बिना देरी किए घायलों, बीमारों और जहाज से पीड़ितों की तलाश करके, एकत्रित करने तथा दुर्व्यवहार के विरुद्ध उनकी रक्षा करने का प्रयास करेंगे। इन लोगों का परिचय देने की दृष्टि से इन्हें यथाशीघ्र प्रकाश में लाया जाएगा।

मृतकों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक पक्ष लड़ाई के बाद उनकी तलाश करे और उन्हें विकृत होने से बचाए। मृतकों को पहिचानने के लिए उन्हें प्रत्येक सम्भव प्रयास करना चाहिए। मृतकों की विश्वसनीय सूची प्रकाशित की जानी चाहिए तथा उनकी अंतिम इच्छा एवं आवश्यक अभिलेखों का उल्लेख होना चाहिए। सम्बन्धित पक्षों को यह देखना चाहिए कि मृतक का दाह संस्कार व्यक्तिगत रूप से किया जाए और इससे पहिले उनके मरने की पूरी जाँच करली जाए।

14. छल, कपट एवं धूर्तता (Ruses)—जिस प्रकार भूमि युद्ध में धूर्तता को स्वीकार किया गया है उसी सीमा तक जल युद्ध में भी धूर्तता स्वीकार की गई है। जहाँ तक गलत ध्वजा के प्रयोग का सम्बन्ध है अधिकांश लेखकगण इसे उपयुक्त मानते हैं कि लड़ाकू विमान द्वारा उस समय तटस्थ अथवा शत्रु राज्य की ध्वजा का प्रयोग करना कानूनी है जब वह किसी शत्रुपोत का पीछा कर रहा है अथवा बचने का प्रयत्न कर रहा है अथवा शत्रुपोत को क्रियाशील करना चाहता है।

सामान्य सहमति के अनुसार आक्रमण से तुरन्त पूर्व एक पोत को अपने राष्ट्र की ध्वजा फहरानी चाहिए। वैटिल ने धूर्तता के कुछ उदाहरणों का उल्लेख किया है। सन् 1755 में जब ब्रिटेन और फ्रांस के बीच युद्ध चल रहा था तो ब्रिटिश जंगी जहाज ने संकट में पड़ने के चिह्न दिखाए। जब फ्रांसीसी नाविक उसकी सहायता के लिए आए तो उन्हें पकड़ लिया गया। प्रथम विश्व युद्ध के समय जर्मन क्रूजर एम्डेन (Emden) अपने रूप को छिपाकर जापानी ध्वजा उड़ाता हुआ मलाया राज्यों के पेनांग बन्दरगाह में होकर गुजरा, उसने बन्दरगाह के संकेतों का कोई उत्तर नहीं दिया। वह रूसी क्रूजर ज्हेमशग के निकट पूरी गति में आ गया। उसने जापानी झण्डे को उतारकर जर्मनी का झण्डा लगा लिया और गोलीबारी करके उसे तारपीडो किया। यह जर्मन क्रूजर अनेक बार अपने रूप में ऐसे परिवर्तन कर लेता था ताकि मित्र राज्यों को यह भ्रम हो जाए कि यह फ्रांस अथवा इंगलैण्ड का क्रूजर है।

15 नौसैनिक बम वर्षा (Naval Bombardment)—नौसैनिक बमबारी का प्रश्न समुद्री युद्ध का सर्वाधिक विवादपूर्ण पहलू है। हेग अभिसमय संख्या 9 (1907) की धारा 3 के अनुसार एक नौ सेना के लिए आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति अथवा व्यवस्था की प्रार्थना को स्थानीय अधिकारी ठुकरा दें तो वह नौ सेना बमबारी कर सकती है। यह प्रार्थना उस समाज के साधनों के अनुपात में की जानी चाहिए। इसका कर्त्ता नौ सेना का कमाण्डर होना चाहिए और इसके बदले नकद भुगतान किया जाना चाहिए। यदि नगद दण्ड न हो तो ऐसी स्थिति में पूर्तिकर्त्ता अधिकारियों के लिए रसीदें दी जानी चाहिए। इसी अभिसमय की धारा 4 के अनुसार यदि शत्रु समाज धन का योगदान न कर सके तो इसके लिए उस पर बमबारी नहीं की जानी चाहिए। यह व्यवस्था असुरक्षित शत्रु तटों के सम्बन्ध में है।

सुरक्षित शत्रु तटों पर नौ सेना द्वारा बमबारी करना पूर्णतः कानूनी है। सन् 1907 तक इस प्रश्न का कोई सामान्यतः स्वीकृत उत्तर नहीं मिल सका कि शत्रु के असुरक्षित तटवर्ती स्थानों पर बमबारी करना कानूनी है अथवा नहीं है। हेग अभिसमय संख्या 9 (1907) ने इस समस्या से सम्बन्धित नियम प्रतिपादित किए। इसकी धारा 1 के अनुसार नौ सेना द्वारा सुरक्षित बन्दरगाहों, नगरों, अन्य समाजों और भवनों पर की जाने वाली बमबारी को पूरी तरह रोक दिया गया। इनके अतिरिक्त सैनिक कार्य, युद्ध के साज-सामान, शस्त्रागार और शत्रु सेनाओं द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली अन्य सुविधाओं तथा बन्दरगाह में स्थित युद्धपोतों पर उनके असुरक्षित होने पर भी बमबारी की जा सकती थी।

नौ सैनिक कमाण्डर को बमबारी करने से पूर्व स्थानीय अधिकारियों के लिए चेतावनी दे देनी चाहिए ताकि वे बमबारी के कारण असमवश होने वाले नुकसान पर रोक लगा सकें। बमबारी होने पर यथासम्भव यह प्रयास करना चाहिए कि सार्वजनिक पूजा, कला, विज्ञान और दान के स्थानों, ऐतिहासिक इमारतों, चिकित्सालयों और बीमारों तथा घायलों के लिए दी जाने वाली दूसरी सुविधाओं के स्थानों की रक्षा कर सकें।

यह अभिसमय प्रथम विश्व युद्ध के समय लागू नहीं किया जा सका क्योंकि प्रत्येक युद्धमान राज्य ने इसे स्वीकार नहीं किया । जर्मनी ने जब इंगलैण्ड के असुरक्षित तटवर्ती नगरों पर बमबारी की तो उसे इस सन्धि की आत्मा का हनन करने का दोषी बताया गया । द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान प्रायः सभी युद्धमान नौ सैनिक शक्तियों ने इसका उल्लंघन किया और पर्याप्त असमानता पूर्ण बमबारी हुई ।

16. युद्ध विराम (Armistice)—युद्ध विराम द्वारा लड़ाई को अस्थायी रूप से रोक दिया जाना है । कभी कभी इसका प्रयोग महासमुद्रों का अधिग्रहण करने के लिए भी किया जाता है । युद्ध विराम न होने तक दोनों पक्षों के बीच युद्ध जारी रहता है और हर समय युद्ध अथवा युद्ध का खतरा बना रहता है । अनेक राज्य यह मत प्रकट करते हैं कि जब तक युद्ध विराम नहीं होता तब तक वे महासमुद्रों पर शत्रु जहाजों को पकड़ते रहेंगे । युद्ध विराम के बाद किया गया कोई अधिग्रहण अथवा संघर्ष गैर-कानूनी माना जाता है । 1918 म युद्ध विराम होने के बाद यदि जर्मनी की सम्पत्ति को छीना या अधिग्रहीत किया जाता है तो उद्देश्य की दृष्टि से इसकी निन्दा की जाएगी क्योंकि इसके कारण संघर्ष बढ़ता है । ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालयों का यह कहना सही था कि ऐसी प्रक्रियाओं की धारा 26 की शर्तों के अधीन यह कानूनी और युद्ध विराम तकनीकी रूप से संघर्ष को हमेशा के लिए समाप्त नहीं कर देता । युद्ध समाप्त होने के बाद अधिग्रहण न्यायालय समाप्त नहीं हो जाते । उनका कार्य केवल तभी समाप्त होता है जब उनके क्षेत्राधिकार म आने वाले तथा संघर्ष के समय उठने वाले प्रश्न सुलझा दिए जाएँ । इसी कारण प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त होने के बाद मित्र राष्ट्रों के अधिग्रहण न्यायालय बहुत समय तक कार्यरत रहे ।

17 पनडुब्बियों की केबिल्स (Submarine Cables)—युद्ध के समय पनडुब्बियों की केबिलों के विषय में कुछ उल्लेख करना आवश्यक बन जाता है । महासमुद्रों की स्वतन्त्रता का परम्परावादी सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि बेतार के तार की दृष्टि से पनडुब्बी केबिल डालना राज्यों का निःसन्देह अधिकार है । जब पानी की गहराई अधिक नहीं होती तो समुद्रों की सतह पर लहरें आपस में टकरा जाती हैं और जाने अनजाने राज्यों को भारी नुकसान उठाना पड़ता है । अनेक कारणों से पर्याप्त देरी हो जाने के बाद 1882 में पेरिस ने एक सम्मेलन बुलाया गया जिसने पनडुब्बी बेतार केबिलों की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय बनाया इस पर 14 मार्च, 1884 को 26 राज्यों द्वारा हस्ताक्षर किए गए । यह पेरिस अभिसमय प्रादेशिक जल के बाहर तथा सन्धि में शामिल देश के किसी उपनिवेश या प्रदेश में स्थापित सभी पनडुब्बी केबिलों पर लागू होता है ।

सन्धि कर्ता राज्यों के युद्ध पोतों को यह अधिकार दिया गया कि अभिसमय के नियमों के उल्लंघन के सन्देह में किसी भी राष्ट्रीयता वाले वणिकपोत को रोक लें तथा उसकी जाँच करलें : वास्तविक उल्लंघन का निर्णय उस राज्य के न्यायालयों के

हाथ मे छोड दिया गया जहाँ प्रभावित पोत का पञ्जीकरण हुआ था। इसकी धारा 15 मे कहा गया कि वर्तमान अभिसमय युद्धमान राज्यो की स्वतन्त्रता को प्रतिबंधित नहीं करता। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई अन्य नियम न बनाया जाए तो पनडुब्बी केबिलो के सम्बन्ध मे युद्धमान राज्य जैसा चाहे वैसा करने के लिए स्वतन्त्र होगा। इस प्रकार प्रत्येक युद्धमान राज्य केबिल सचार को मनचाहे रूप मे तोड़ने की स्वतन्त्रता रखता है। 1883 मे चिली ने पेरू के विरुद्ध अपने युद्ध के समय ब्रिटिश केबिल को तोड दिया, किन्तु इसके लिए उसने पूरा मुआवजा दिया। 1898 मे स्पेन तथा अमेरिका के युद्ध के समय सयुक्तराज्य अमेरिका ने उन सभी केबिलो को काट दिया जो क्यूबा, पेरटारिको, तथा मनीला को शेष ससार से जोडती थीं। केबिलो को काटने से युद्धमान राज्य को कानून के किसी नियम द्वारा अथवा किसी भी सन्धि द्वारा नहीं रोका गया है।

अधिग्रहण अथवा नौजितमाल न्यायालय
(Prize Courts)

अर्थ, परिभाषा एव स्थापना

महासमुद्रो म पकडे तथा छीने गए शत्रु के जहाजों तथा अन्य बहुमूल्य सामग्री को अधिग्रहीत सामग्री या अभिग्रहण या नौजितमाल (Prize) कहा जाता है। इसका स्वरूप स्थल युद्ध मे पकडी या छीनी गई शत्रु की सम्पत्ति से भिन्न होता है। अधिग्रहण या नौजितमाल पर तब तक न्यायोचित स्वत्व नही समझा जाता, जब तक कि इसका निर्णय करने के लिए बनाए गए न्यायालय, जिन्हे कि अधिग्रहण या नौजितमाल न्यायालय (Prize Courts) कहा जाता है, छीन या पकडे हुए माल के बारे मे अपने फैसले की घोषणा नही कर देते।

लारेंस ने अधिग्रहण या नौजितमाल न्यायालय (Prize Courts) की परिभाषा इस प्रकार की है—"ये युद्ध स्थित राज्यों द्वारा अपने सैनिक दखल के अधीनस्थ क्षेत्र में अथवा उसमे जो युद्ध मे मित्र-राष्ट्र की सम्पत्ति हो, अपने युद्धपोतो द्वारा अभिग्रहीत सम्पत्ति की वैधता निर्णय करने के लिए स्थापित नागरिक न्यायाधिकरण हैं। अन्तिम दशा मे मित्रराष्ट्र की अनुमति पहले प्राप्त कर लेनी चाहिए।"

अधिग्रहण या नौजितमाल न्यायालयों के अर्थ और उनकी स्थापना को स्पष्ट करते हुए डॉ. आसोपा ने लिखा है, "समुद्री युद्ध के दौरान उन तटस्थ जहाजों को बन्दी बनाया जा सकता है जिन पर निषिद्ध माल सप्लाई करने का आरोप हो। ऐसे जहाजो को प्राइज कहा जाता है और इन जहाजो को प्राइज कोर्ट या अधिग्रहण न्यायालयो के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। प्राइज का अर्थ शत्रु की उस सम्पत्ति से है जो शत्रु के जहाज पर हो या तटस्थ देश के जहाज पर, जिसे युद्धरत पक्ष ने महासमुद्र में पकड़ा है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक लेखकों ने इस बात का समर्थन किया है कि मात्र गिरफ्तारी से युद्धरत पक्ष को ऐसी सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता है। जब तक अभिग्रहण न्यायालय यह निर्णय नहीं कर दे कि

जब्त किया गया माल निषिद्ध माल या तब तक तटस्थ राज्य के माल को जब्त नहीं किया जा सकता। इसी तरह जब तक यह सिद्ध न हो जाए कि जब्त किया माल शत्रु का ही माल है तब तक उसे भी जब्त नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में माल का स्वामित्व निश्चित होना अनिवार्य है। यदि माल का स्वामी शत्रु देश है तो माल को निश्चित तौर पर जब्त किया जा सकता है लेकिन यदि माल का स्वामी तटस्थ देश है तो जब तक न्यायालय निर्णय न दे दे युद्धरत पक्ष उसके बारे में कोई एक तरफा कार्यवाही नहीं कर सकता। युद्ध शुरू होने से पूर्व ही या युद्ध शुरू होते ही युद्धरत पक्ष अपने अपने क्षेत्रों में अविग्रहण न्यायालयों की स्थापना करते हैं। ये न्यायालय केवल युद्धरत पक्षों के प्रदेश में या सह-युद्धकारी राज्यों के प्रदेश में ही स्थापित किए जा सकते हैं। तटस्थ राज्यों के प्रदेश में अभिग्रहण न्यायालयों की स्थापना नहीं की जा सकती। अभिग्रहण न्यायालयों की स्थापना राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत की जाती है लेकिन वे अपने निर्णयों में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के नियमों के अनुसार व्यवहार करते हैं।"[1]

अभिग्रहण न्यायालयों के कार्य एवं क्षेत्राधिकार

अभिग्रहण या नौजितमाल न्यायालय के मुख्य कार्य संक्षेप में निम्नलिखित हैं–

(1) महासमुद्रों में पकड़ी गई सम्पत्ति के बारे में जाँच।

(2) यह निर्णय करना कि वह सम्पत्ति जब्त करने योग्य है अथवा नहीं।

(3) यदि अभिगृहीत सम्पत्ति वैध नौजितमाल सिद्ध हो अर्थात् निर्णय पकड़ी गई सम्पत्ति को जब्त करने के पक्ष में हो तो दण्ड की डिगरी पारित करना।

(4) यदि यह सिद्ध हो जाए कि वह सम्पत्ति तटस्थ राज्य की है और समस्त कार्यवाही के दौरान सम्पत्ति को क्षति पहुँची है तो सम्पत्ति के मालिक को उचित मुआवजा दिलवाने की व्यवस्था करना। 'अपुष्ट लन्दन घोषणा में अभिग्रहण न्यायालयों की स्थापना, उनके कार्य व प्राइज को अधिकृत करने, प्रयोग में लाने तथा नष्ट करने सम्बन्धी नियम मौजूद है। इन्हीं नियमों को आज भी प्रयुक्त किया जाता है।'

(5) लूट और अव्यवस्था से सब देशों के माल को संरक्षण प्रदान करना।

श्री वेदालंकार ने लिखा है : "किसी देश के अभिग्रहण न्यायालय का क्षेत्राधिकार युद्ध के समय इस देश के रणपोतों अथवा नौ-सेनाओं द्वारा महासमुद्रों में पकड़ा गया सभी प्रकार का माल होता है। ज्योंहि नौ-सेना द्वारा कोई जलपोत या माल पकड़ा जाए तो इसे फौरन निर्णय के लिए अपने देश के निकटतम बन्दरगाह में लाया जाना चाहिए। किन्तु यदि कोई जहाज इस तरह क्षिग्रस्त हो गया हो कि उसे अपने देश तक ले जाना सम्भव न हो, तो समीपस्थ तटस्थ देश की अनुमति से उसे उसके किसी बन्दरगाह में ले जाया जा सकता है। पकड़े गए जहाज के समूचे माल

1 कोब के. बाझोमा ; वही, पृष्ठ 386.

और नाविक वर्ग को उस समय तक उस पर रहना चाहिए, जब तक कि वे निर्णयार्थ तय किए गए बन्दरगाह मे नहीं पहुँच जाते। किन्तु यदि माल ऐसी दशा मे है कि उसकी ढुलाई उस बन्दरगाह तक सम्भव नही है तो इसे निकटतम बन्दरगाह मे बेचकर उसकी धनराशि न्यायालय को भेजी जानी चाहिए। यह नियम तटस्थ देश के माल के सम्बन्ध मे भी लागू होता है। पेरिस की घोषणा के अनुसार विनिषिद्ध द्रव्य न होने पर तटस्थ देशो का माल उन्हे लौटा देना चाहिए। न्यायालय जहाज के सब कागजो की जाँच और निरीक्षण तथा दोनो पक्षो का विवरण सुनने के बाद अपना निर्णय देते हैं। माल के स्वामित्व, स्वत्व और व्यवस्था के सम्बन्ध मे इनका निर्णय अन्तिम होता है, किसी दूसरे देश को इस पर पुनर्विचार कराने का अधिकार नही है।

निर्णय का प्रभाव और न्यायिक प्रक्रिया

अधिग्रहण अथवा नौजितमाल न्यायालयो का निर्णय निश्चयात्मक माना जाता है। उनके निर्णयो पर कोई अपील नही हो सकती। इनके द्वारा समुद्री लूट या नौजितमाल सम्बन्धी सम्पूर्ण स्वत्वाधिकारो का निर्णय हो जाता है।

जर्मनी तथा पुर्तगाल के बीच वाले पंचायती मामले (1930) मे न्यायालय ने यह विचार प्रकट किया कि अन्तिम नौजितमाल न्यायालय के निर्णय, चाहे उनका आधार कितना ही अनुचित क्यो न हो, अन्तर्राष्ट्रीय स्वत्वाधिकार प्रदान करते हैं जो सामान्यत स्वीकृत किए जाते हैं तथा जिनके विरुद्ध कोई न्यायिक सहारा सम्भव नही है।[1] 'Katrantsid V Bulgaria' (1928) मे बुल्गेरिया तथा ग्रीस के सम्मिलित पचायती न्यायाधिकरण ने इस दृढ स्थापित नियम को पुन. स्थिर किया कि प्रत्येक राज्य अपना नौजितमाल न्यायालय सगठित करने तथा इसकी प्रक्रिया नियमित करने के लिए स्वतन्त्र है। नौजितमाल न्यायालयो के कुछ अन्तर्राष्ट्रीय रूप हैं जो उनके कृत्यो के प्रकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि को युक्तिसगत रीति मे लगाने के कर्त्तव्य के परिणामस्वरूप है। अतः यह आवश्यक है कि एक ऐसी न्यायिक प्रक्रिया का अनुसरण करना चाहिए जिसके बीच मे दोनो पक्षकारो को सुनवाई का मौका मिले तथा निर्णय न केवल राष्ट्रीय व्यवस्थाओ तथा हितो पर ही आधारित होने चाहिए वरन् अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर भी।[2]

अधिग्रहण न्यायालयो के कर्त्तव्य

अधिग्रहण अथवा नौजितमाल न्यायालयों के कर्त्तव्यों को लॉर्ड स्टोवेल ने बहुत ही आकर्षक ढग से स्वीडन के रक्षित जहाजो के बेडे मेरिया वाले मामले (1799) मे इस प्रकार बताया है—अपना निर्णय देने मे मैं विश्वास करता हूँ कि एक क्षण के लिए भी मैंने अपनी स्मृति से यह बात दूर नहीं की है कि जिस पद पर मैं आसीन हूँ उसका कर्त्तव्य क्या है अर्थात् प्रामाणिक तथा परिवर्तित सम्मतियों को

1 एम. पी टण्डन : वही, पृष्ठ 397.
2 वही, पृ 397.

न देना, जिससे केवल विशिष्ट राज्य-हित के वर्तमान प्रयोजन ही सफल हो, वरन् निष्पक्ष होकर वह न्याय देना जो राष्ट्रों की विधि बिना भेदभाव के स्वतन्त्र राज्यों में फैलती, जिनमें कुछ तटस्थ होते हैं तथा कुछ युद्धस्थित। इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रों की ज्ञात विधि तथा रीति के अनुसार न्यायिक प्राधिकारी का आसन उस स्थान पर है जो युद्धस्थित वा देश है लेकिन विधि का स्वयं कोई स्थान नहीं है। यहाँ पर बैठने वाले व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि इस प्रश्न का निर्णय यहाँ बैठकर ठीक ठीक करना—ग्रेट ब्रिटेन की ओर से किसी प्रकार के कृत्रिम व्यवहार पर उसकी ओर से किसी दावे को मान न लेना, जो वह उन्हीं परिस्थितियों में स्वीडन की ओर से न दिलाता तथा स्वीडन को कोई ऐसे कर्त्तव्य न सौंपता जो वह उसी स्वरूप में ग्रेट ब्रिटेन के भी होना अंगीकृत करे।"[1]

लॉर्ड स्टावेल ने इस विषय को 'रिकवरी' (Recovery) वाले मामले (1807) में और भी स्पष्ट करते हुए कहा—"यह स्मरण रखा जाय कि वह राष्ट्रों की विधि का न्यायालय है, जो यहाँ ग्रेट ब्रिटेन के सम्राट् द्वारा प्रदत्त प्राधिकार से बैठा है। यह हमारे सहित अन्य राष्ट्रों का भी है तथा विदेशियों को इससे जो माँगने का अधिकार है वह यह कि राष्ट्रों की विधि को हमारे राष्ट्रीय विधि-शास्त्र से लिए गए सिद्धान्तों के प्रवेश किए बिना लागू करे।"[2]

अधिग्रहण न्यायालयों का दर्जा और इनके द्वारा लागू किया जाने वाला क़ानून

इस विषय में लगभग सभी विधिशास्त्री एक मत हैं कि अधिग्रहण अथवा नौजितमाल न्यायालयों का एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप है, तथापि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्नों पर विचार करते हुए भी वे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नहीं हैं अपितु राष्ट्रीय (Municipal) न्यायालय हैं। ओपेनहेम का तर्क है कि राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्मित और सगठित होने के कारण अधिग्रहण न्यायालय राष्ट्रीय न्यायाधिकरण (Municipal Tribunals) हैं। वर्तमान समय में अधिकांश विचारकों की दृष्टि में न तो ये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय हैं और न ही इनके निर्णयों को राष्ट्रीय कानून का दर्जा दिया जा सकता है, यद्यपि सामान्यतया इनके निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित होते हैं। अधिग्रहण न्यायालयों का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप इस अर्थ में है कि वे ऐसे सभी व्यक्तियों के लिए खुले हैं, जिनके हित उससे प्रभावित हो रहे हैं, चाहे उनकी राष्ट्रीयता कुछ भी हो।

लॉरेन्स का कथन है कि—सब देश इस बात को स्वीकार करने के लिए सहमत हो जाएँगे कि उनके नौजितमाल न्यायालय उन मामलों में से जो उनके समक्ष निर्णय के लिए आवें, राष्ट्रों के विधि के नियमों को लागू करने के लिए बाध्य हैं, और अधिकांश मामलों में इस विषय में व्यवहार-सिद्धान्त के अनुकूल हैं। यह मान

1 वही, पृष्ठ 397.
2 वही, पृष्ठ 398.

लिया गया है कि नौजितमाल न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय विधि स्थापित करते हैं, तथा वे ऐसा ही करते हैं जब तक कि उनके अपने राज्यों के सम्यक् रूप में नियुक्त प्राधिकारीगण उनको इसके स्थानों में उससे प्रसगत नियमों का प्रवर्तन करने के लिए न कहे। सौभाग्यवश ऐसे हस्तक्षेप बहुत ही कम होते हैं और इस प्रकार यह देखा गया है कि नौजितमाल न्यायालयों के निर्णय का सम्मान उनके न्यायाधीशों की विद्वता, योग्यता तथा निष्पक्षता की विख्याति के अनुरूप होता है।[1]

"पकड़े गए तटस्थ जहाजों का नौजितमाल न्यायालयों द्वारा परीक्षण करना राष्ट्रीय विषय है तथा जहाजों के तटस्थ स्वदेशी राज्यों का प्रतिनिधित्व परीक्षण में नहीं होता है। इस प्रकार यद्यपि नौजितमाल न्यायालयों की विधिशास्त्र सम्बन्धी स्थिति उनके कार्यों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय है फिर भी वे स्थापन और संगठन में राष्ट्रीय प्रकृति के हैं।"[2]

अधिग्रहण न्यायालय राष्ट्रीय होते हुए भी समुद्री युद्ध में पकड़े अथवा छीने हुए माल के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार करते हैं और जैसा लॉर्ड स्टूलवेन के निर्णय से स्पष्ट है, इन्हें अपने निर्णय देते हुए राष्ट्रीय के साथ अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का भी ध्यान रखना पड़ता है। इसीलिए प्रायः यह जटिल समस्या उत्पन्न होती है कि अधिग्रहण न्यायालय किस कानून को लागू करते हैं—राष्ट्रीय को अथवा अन्तर्राष्ट्रीय को ? इस सम्बन्ध में पिट कार्बेट का स्पष्ट अभिमत है कि—अधिग्रहण अथवा नौजितमाल न्यायालय ऐसा विषय नहीं हैं कि यह वह जाँच करे कि क्या उस विधि को जिसको यह लागू करता है, राष्ट्रीय विधि द्वारा अनुसरण किया गया है, अथवा नहीं। नौजितमाल न्यायालयों के निर्णय शत्रु तथा तटस्थ राज्यों पर समान तौर से बाध्यकारी नौजितमाल न्यायालय विदेशी प्रजाजनों पर अपना क्षेत्राधिकार नागरिक प्राधिकारियों से नहीं, जो इसे प्रदान करने में असमर्थ है वरन् राज्यों की सम्पत्ति से प्राप्त करते हैं। उनके अनुसार नौजितमाल न्यायालय निश्चित रूप से राष्ट्रीय न्यायाधिकरण है, लेकिन वे राष्ट्रीय विधि का प्रवर्तन करने के प्रयोजन से नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय विधि-स्थापना के प्रयोजन के बनाए जाते हैं।" प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री ओपेनहेम का मत है कि—अधिग्रहण न्यायालय राष्ट्रीय कानून को लागू करते हैं जो कि वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून होता है किन्तु जिसे राष्ट्रीय कानून का अंग बना लिया जाता है। लॉरेन्स ने लिखा है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर आधारित राष्ट्रीय कानून होता है।

जेमोरा केस (1916)

डॉ० शील के० आसोपा ने अपने अध्ययन में स्पष्ट किया है कि अधिग्रहण न्यायालयों के निर्णयों पर कोई अपील नहीं हो सकती, यह निर्णय अन्तिम माने जाते हैं। जेमोरा विवाद से राष्ट्रीय कानून के सन्दर्भ में अधिग्रहण न्यायालय की स्थिति अधिक स्पष्ट तौर पर समझी जा सकती है—

1-2 वही, पृष्ठ 398.

"अधिग्रहण न्यायालयों की स्थापना राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत की जाती है और उसी कानून के अन्तर्गत वे अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करते हैं लेकिन अधिग्रहण न्यायालयों का कार्य-क्षेत्र मुकदमे नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय मुकदमे होते हैं और उन पर विचार करते समय अधिग्रहण न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को प्रयुक्त करते हैं न कि राष्ट्रीय कानून के नियमों को। कुछ स्थितियों में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्थाओं में विरोधाभास उत्पन्न हो सकता है जैसा कि जेमोरा विवाद में उत्पन्न हुआ। जेमोरा स्वीडन का व्यापारिक जहाज था। प्रथम महायुद्ध के समय वह न्यूयॉर्क से तांबा व अनाज लेकर स्वीडन लौट रहा था। तांबा इस युद्ध में निषिद्ध माल घोषित किया जा चुका था। लेकिन स्वीडन व अमेरिका 1915 तक दोनों ही तटस्थ थे। इसलिए जहाज के लक्ष्य की दृष्टि से जहाज सदिग्ध नहीं माना जा सकता था। केवल माल निषिद्ध श्रेणी का था, इसलिए 8 अप्रैल, 1915 को एक ब्रिटिश क्रूजर ने इसे गिरफ्तार कर लिया और अधिग्रहण न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया। जेमोरा पर जब लदे माल को जब्त करने का आदेश दे दिया तब अधिग्रहण न्यायालय के क्षेत्राधिकार में प्रस्तुत किए मुकदमे में किसी अन्य राष्ट्रीय सस्था को निर्णय देने का या हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होता और इसलिए अधिग्रहण न्यायालय ने प्रोक्योरेटर जनरल के आदेश को गलत ठहराया। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमें महासमुद्रों में पकड़े गए जहाजों की सम्पत्ति को जब्त व प्रयुक्त किया जा सकता है। ऐसा उस समय हो सकता है जबकि युद्ध की अतीव आवश्यकताओं के अन्तर्गत उसे न्यायोचित ठहराया जा सके, लेकिन ऐसा करने से पूर्व भी राष्ट्रीय अधिकारियों को अधिग्रहण न्यायालय से इजाजत लेनी होगी क्योंकि मामला अधिग्रहण न्यायालय के क्षेत्राधिकार का है न कि राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार का। जेमोरा विवाद से यह स्पष्ट होता है कि अधिग्रहण न्यायालय अपने कार्य-क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र है और कोई राष्ट्रीय सस्था या अधिकारी उसमें राष्ट्रीय कानून के आधार पर हस्तक्षेप नहीं कर सकता।"[1]

"कुछ ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें पकड़े गए जहाजों को अधिग्रहण न्यायालय तक लेकर जाना सम्भव नहीं होता है। जैसे पकड़ने वाले जहाज को यह खबर हो जाए कि शत्रु के जहाज उसका पीछा कर रहे हैं और आक्रामक कार्यवाही करके पकड़े गए जहाज को मुक्त करवा लेंगे, तो ऐसी स्थिति में वह पकड़े गए जहाज को नष्ट कर सकता है और जहाज के साथ-साथ जहाज पर लदा माल स्वत ही नष्ट हो जायेगा। कुछ स्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें पकड़ने वाले जहाज के पास ऐसी सुविधा नहीं होती कि वह पकड़े गए जहाज को अधिग्रहण न्यायालय तक ले जाने के लिए सैनिक दस्ता साथ भेज सके। ऐसा भी हो सकता है कि अधिग्रहण न्यायालय वाला बन्दरगाह काफी दूर हो और रास्ते में शत्रु द्वारा पुन. पकड़े जाने

1 शील के आलोचा : वही, पृष्ठ 386.

का भय हो तो ऐसी स्थिति मे भी पकड़े गए जहाज को उस पर लदे माल सहित नष्ट कर देने को कानून सगत माना जाता है।"[1]

भारत द्वारा अधिग्रहण न्यायालयों की स्थापना

दिसम्बर, 1971 को भारत-पाक युद्ध के दौरान भारतीय संसद् ने इस युद्ध मे पकड़े जाने वाले शत्रु-जहाजो के बीच एक नौ-सैनिक एव हवाई अधिग्रहण कानून (Naval and Aircraft Prize Court Act, 1971) पारित किया, जिसके अधीन भारत-सरकार द्वारा बम्बई, मद्रास तथा विशाखापत्तनम् के तीन बन्दरगाहो मे एक सदस्यीय अधिग्रहण न्यायालय युद्ध के दौरान पकड़े गए व्यापारिक पोतो के Adjudication के लिए स्थापित किए गए। इस युद्ध मे भारतीय नौ-सेना द्वारा बीस जलपोत पकड़े गए, जिनमें से चार पाकिस्तान के थे। पाकिस्तान के एक पोत पर पाकिस्तानी सैनिक सवार थे और बचाव के लिए इस पर जापान का झूठा झण्डा लगाया हुआ था जबकि अन्य जहाजों पर व्यापारिक माल लदा हुआ था। शेष 16 जहाज तटस्थ देशो के थे, जिन पर विनिषद्ध (Contraband) शस्त्रास्त्रादि की सामग्री लदी हुई थी। इस सामग्री को भारतीय बन्दरगाहों पर उतार कर इन जहाजो को छोड दिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय की स्थापना

प्रख्यात विधि शास्त्री लॉरेन्स ने इस बात पर बल दिया है कि अधिग्रहण न्यायालयों का राष्ट्रीय होना एक बड़ा दोष उत्पन्न करता है। इनमें युद्ध स्थित राज्य व्यवहारत अपने ही मामले मे न्यायाधीश बन जाते हैं। यद्यपि स्टोवेल जैसे न्यायाधीश इनमे सदैव निष्पक्षता से निर्णय करते हैं, लेकिन यह पर्याप्त सम्भव है कि युद्ध-परिस्थितियों के दबाव के कारण इस प्रकार की निष्पक्षता खण्डित हो जाय। युद्ध के दबाव मे अधिग्रहण न्यायालय प्राय उतने निष्पक्ष नहीं रह सकते, जितने निष्पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय रह सकते हैं। इस दोष का उपचार करने के लिए सन् 1907 के हेग सम्मेलन में ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी ने एक अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय की स्थापना का प्रस्ताव रखा था। बारहवें हेग अभिसमय म इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया और उस पर अनेक राज्यो ने हस्ताक्षर किए, किन्तु बाद मे इसका अनुसमर्थन मुख्यत इस आधार पर नहीं किया गया कि ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सुचारु सचालन के लिए समुद्री कानूनी नियमों का पर्याप्त सग्रह इस समय उपलब्ध नहीं है।

उपरोक्त युक्ति के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय की स्थापना को टालना उचित नहीं कहा जा सकता। प्रारम्भिक स्थिति मे सभी कानून पर्याप्त और समुन्नत नहीं होता। जब तक एक पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय की स्थापना नहीं होती, तब तक यह उचित होगा कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को ही सब देशों की सहमति से उनके राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालयों की अपीलें सुनने का अधिकार दे दिया जाए।

1 वही, पृष्ठ 386

हवाई युद्ध के नियम
(Laws of Air Warfare)

वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास ने युद्ध के स्वरूप को क्रान्तिकारी रूप से बदल दिया है। आजकल घातक अणुबम, तीव्रगामी वायुयान, रॉकेट तथा स्पूतनिक और अन्तःमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों का प्रचलन होने के कारण हवाई युद्ध का महत्त्व असाधारण रूप से बढ़ गया है। आजकल सैनिक और असैनिक जनता की प्रकृति में भिन्नता नहीं रही है। युद्ध छिड़ने पर असैनिक जनता को अपने विध्वंस और विनाश की सम्भावनाएँ प्रत्यक्ष दिखाई देने लगती हैं। इसीलिए हवाई हमले से रक्षा के हेतु नागरिकों को पहले से ही प्रशिक्षित किया जाता है। स्थल और जल युद्धों की अपेक्षा हवाई युद्ध के घातक प्रभाव अधिक नर संहार का कारण बनते हैं। मानव जाति ने सर्वप्रथम नागासाकी और हिरोशिमा में पहली बार अणुबमों के ताण्डव नृत्यों के दर्शन किए और उसी समय से इस शक्ति के *शान्तिमय प्रयोग पर जोर दिया जाने* लगा। हवाई युद्ध की विध्वंसता उसके नियमन को अधिक अनिवार्य बना देती है। राजनीतिज्ञों और कानून वेत्ताओं ने इस अनिवार्यता का अनुभव करके समय-समय पर विचार और प्रयास किए हैं।

हवाई युद्ध के नियमों के मौलिक सिद्धान्त प्रायः वही हैं जो जल और स्थल युद्ध के हैं। उदाहरण के लिए—(A) मानवता की दृष्टि से अनावश्यक क्रूरता और हिंसा का प्रयोग नहीं किया जाए, (B) असैनिक नागरिकों पर सीधा आक्रमण नहीं किया जाए, और (C) तटस्थ राज्य को किसी युद्धमान राज्य के विरुद्ध तैयारी *अथवा लड़ाई का क्षेत्र नहीं बनाया जाए। इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर हवाई* युद्ध के नियमन का प्रयास किया गया। इस प्रयास का उल्लेख निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है—

(1) ब्रूसेल्स सम्मेलन (The Brussels Conference)—रूसी जार की प्रेरणा से 1874 में ब्रूसेल्स में एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें यह नियम बनाया गया कि खुले और अरक्षित नगरों, बस्तियों तथा गाँवों पर हवाई बम वर्षा नहीं की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त चिकित्सालय धर्म, विज्ञान और कला सम्बन्धी इमारतों को हवाई बम वर्षा का निशाना केवल तभी बनाया जा सकता है जब इन्हें सैनिक प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया जा रहा हो।

(2) हेग सम्मेलन (Hague Conference)—1899 और 1907 के हेग सम्मेलनों में हवाई युद्ध सम्बन्धी अनेक नियमों पर प्रकाश डाला गया। प्रथम हेग सम्मेलन के समय यह आशंका बढ़ गई थी कि व्यक्ति गुब्बारों के स्थान पर वायुयानों *का युद्ध में प्रयोग करने लगेगा। इसलिए इस सम्मेलन में यह प्रस्ताव पास किया* गया कि आगामी 5 वर्ष तक गुब्बारों या हवाई जहाजों से विस्फोटक द्रव्य नहीं फेंके जाएँ। प्रथम और द्वितीय हेग सम्मेलन के मध्यवर्ती काल में महत्त्वपूर्ण हवाई आविष्कार हुए। फलतः अनेक शक्तिशाली राज्यों का दृष्टिकोण बदल गया।

1907 के द्वितीय हेग सम्मेलन में उन प्रतिबन्धों को नवीनीकृत कर दिया गया जो प्रथम हेग सम्मेलन में स्वीकार किए गए थे। अनेक प्रभावशाली सैनिक शक्तियों ने इन प्रतिबन्धों को जारी रखने वाली घोषणा पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। इस सम्मेलन में हवाई युद्ध से सम्बन्धित ये नियम बनाए गए—(A) असैनिक जनता को डराने, आतंकित करने, हानि पहुँचाने तथा असैनिक व्यक्तिगत सम्पत्ति का विध्वंस करने की दृष्टि से बमबारी नहीं की जा सकती, (B) बमवर्षा का उद्देश्य शत्रु से धनराशि अथवा दूसरी वस्तुएँ जबर्दस्ती वसूल करना नहीं हो सकता, (C) केवल सैनिक उद्देश्यों के लिए बमवर्षा की जा सकती है। इस दृष्टि से दूरवर्ती नगरों, गाँवों और इमारतों का बमवर्षा से उन्मुक्त रखा गया। जिन सैनिक स्थानों को असैनिक जनता से घिरे हुए होने के कारण अलग नहीं किया जा सकता वे भी बम वर्षा से मुक्त रखे गए।

हेग नियमन की धारा 25 में *नगरों, निवासियों और भवनों को आक्रमण* या बमवर्षा से मुक्त रखते समय 'प्रत्येक साधन द्वारा' शब्दों का प्रयोग किया गया और इन शब्दों में वायुयान द्वारा की जाने वाली बमबारी भी शामिल मान ली गई।

1911 में मैड्रीड में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संस्थान ने युद्ध में वायुयान की कानूनी स्थिति पर विचार किया और यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि हवाई युद्ध द्वारा शान्ति प्रिय जनता के जान और माल को जल और स्थल युद्ध की अपेक्षा अधिक हानि नहीं होनी चाहिए। संस्थान की कार्यवाहियों द्वारा किसी नए अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रचना नहीं की जा सकी। प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ तक हेग घोषणा तथा हेग नियमन की धारा 25 ही हवाई युद्ध के नियमों के रूप में बनी रही। इनमें 'घोषणा' बाध्यकारी नहीं थी क्योंकि अन्य युद्धमानों के साथ-साथ फ्रांस और जर्मनी ने भी इस पर हस्ताक्षर नहीं किए थे। इसी प्रकार धारा 25 की बाध्यकारी शक्ति भी विवादपूर्ण थी। इसमें प्रयुक्त रक्षित स्थान का अर्थ निर्धारित करने के लिए कोई नियम नहीं था। प्रथम विश्व युद्ध ने हवाई युद्ध की सम्भावनाओं को वास्तविकता प्रदान की और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की समस्याओं पर प्रकाश डाला। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व के नियम नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में अपर्याप्त एवं दोषपूर्ण सिद्ध हुए क्योंकि युद्ध का स्वरूप बदल कर समग्र युद्ध (Total War) का बन चुका था। इसके अन्दर शत्रु की सैनिक और असैनिक समस्त जनता के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने में कोई दोष नहीं माना जाता। इसके अतिरिक्त गोला बारूद और हथियार बनाने वाले कारखाने तथा सैनिक बस्तियाँ *असैनिक जनता के साथ* शहरों और कस्बों में स्थित थीं। इन पर बम वर्षा की वैधता का प्रश्न अत्यन्त जटिल, विवादपूर्ण और संदिग्ध बन गया।

(3) प्रथम विश्वयुद्ध में हवाई युद्ध और वाशिंगटन सम्मेलन, 1912—प्रथम विश्व युद्ध में युद्धमान पक्षों ने एक दूसरे पर पर्याप्त हवाई हमले किए। इन हमलों का निशाना अनेक बार सुरक्षित नगरों को बनना पड़ा। दोनों पक्षों का यह दावा था कि उन्होंने अपने लड़ाकू विमानों को केवल सैनिक महत्त्व के बिन्दुओं पर

आक्रमण करने की आज्ञा दी है। नगरों में भी केवल सैनिक पक्षों पर ही बमबारी की जाए इन निर्देशों की उपयोगिता वास्तविक व्यवहार में बहुत कम रहती है क्योंकि बमबारी का स्थान बहुत कुछ अवसर तथा बमवर्षक की योग्यता पर निर्भर करता है। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध ने सुरक्षित और असुरक्षित समाजों के भेद को अर्थहीन बना दिया। अविवेकपूर्ण तरीके से असैनिक जनता को हवाबाजों द्वारा भूना गया।

वायुयानों के व्यापक प्रयोग के कारण तटस्थ वायु स्थल की समस्याएँ खड़ी हो गईं। प्रत्येक देश का राष्ट्रीय आकाश उसके प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में रहता है दूसरे राष्ट्र के तटस्थ वायुमण्डल में कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की जा सकती। प्रत्येक राज्य युद्धमान वायुयानों को अपनी राष्ट्रीय वायु-मण्डल में से निकालने का प्रत्येक अधिकार रखता है। यदि किसी राज्य के वायुमण्डल का बार-बार अतिक्रमण होता है तो वह युद्धमान राज्य के यानों को नीचे गिराने का अधिकार रखता है।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद हवाई युद्ध के नियमन का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया। भूमि युद्ध के पुराने नियम नए हथियारों के प्रयोग पर लागू नहीं किए जा सके। ऐसी स्थिति में हवाई युद्ध के लिए पृथक् आचार-संहिता के विकास का विचार विकसित हुआ। 1919 के वायु यातायात अभिसमय ने सन्धि के सभी पक्षों को युद्धकाल में कार्य की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की थी।। 1922 में वाशिंगटन में एक *सम्मेलन बुलाया गया जिसका उद्देश्य अस्त्र-शस्त्रों को सीमित करना था।* इस सम्मेलन में संयुक्तराज्य अमेरिका के अतिरिक्त फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन, जापान और इटली ने भी भाग लिया। हवाई युद्ध की समस्याओं पर विचार करने के लिए एक विशेष समिति बना दी गई। इसने 1923 में हवाई युद्ध के लिए एक आचार-संहिता बनाई इसके महत्त्वपूर्ण नियम निम्न प्रकार थे—

(A) व्यक्तिगत हवाई जहाजों को आत्म-रक्षा के लिए भी सशस्त्र नहीं बनाया जा सकता।

(B) असैनिक जनता को भयभीत करने, हानि पहुँचाने और असैनिक सम्पत्ति को नष्ट करने के लिए बम वर्षा नहीं की जा सकती।

(C) शत्रु पक्ष से धन अथवा अन्य सामान लेने के लिए बम वर्षा नहीं की जा सकती।

(D) बमवर्षा केवल शत्रु के सैनिक अड्डों, संचार के साधनों तथा अस्त्र-शस्त्र बनाने वाले कारखानों पर की जा सकती है ताकि शत्रु की सैनिक शक्ति को निर्बल बनाया जा सके।

(E) सैनिक लक्ष्यों पर बमवर्षा करते समय असैनिक जनता का ध्यान रखा जाना चाहिए।

(F) सेना से दूर शहरों, कस्बों और इमारतों पर बमवर्षा नहीं की जानी चाहिए।

(G) सार्वजनिक पूजा, धर्म, विज्ञान और परोपकार का कार्य करने वाली इमारतों, ऐतिहासिक स्मारकों और घरणार्थियों के लिए बनाए गए चिकित्सालयों पर बम वर्षा नहीं करनी चाहिए।

(H) हवाई युद्ध पर तटस्थता और युद्ध के वे नियम लागू होते हैं जो भूमि युद्ध पर होते हैं।

(I) यदि किसी युद्धमान पक्ष द्वारा इन नियमों को भंग किया जाए तो उसे इससे होने वाली क्षति का मुग्रावजा देना पड़ेगा।

उक्त नियमो को सभी राज्यों का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। प्रो ओपेनहेम के कथनानुसार, "इसका महत्त्व यह है कि युद्ध मे वायुयानो के प्रयोग की मर्यादाओं को स्पष्ट और सुन्दर शब्दो मे प्रतिपादित करते हैं। इन्होंने इस विषय में अनेक सुबोध नियम बनाए और भविष्य के लिए मार्ग-दर्शन किया।"

(4) **हवाई युद्ध के हेग नियम, 1923**—उपरोक्त वाशिंगटन सम्मेलन मे भाग लेने वाले राज्यो ने यह भी तय किया कि हवाई युद्ध की संहिता तैयार करने के लिए विधिशास्त्रियों का एक कमीशन नियुक्त किया जाए। जो कमीशन नियुक्त किया गया उसने हवाई युद्ध के नियमो की एक संहिता तैयार करके 1923 मे प्रस्तुत की। इन नियमो को 'हवाई युद्ध के हेग नियम, 1923' (The Hague Rules of Air Warfare, 1923) कहा जाता है। यद्यपि इन नियमों का अनुसमर्थन (Ratification) नहीं हो सकता तथापि इन नियमों का महत्त्व इस बात मे है कि ये हवाई युद्ध के नियम निर्धारित का अधिकृत प्रयास है और अनेक अवसरों पर विभिन्न राज्य सरकारों ने इस संहिता के प्रावधानों का पालन करने की घोषणा की है। कमीशन ने संहिता मे जो नियम प्रस्तावित किए उनमे से महत्त्वपूर्ण नियमों को डॉ कपूर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(क) हवाई युद्ध के हेग नियम 1923 के अनुच्छेद 18 मे यह प्रावधान था कि ट्रेसर (Tracer) तथा नुकीले विस्फोटक् पदार्थ का हवाई जहाजों के विरुद्ध प्रयोग वर्जित नहीं है।

(ख) हवाई जहाजों के द्वारा बम गिराने के सम्बन्ध मे निम्नलिखित नियम प्रस्तावित थे—

(i) नागरिक जनता व्यक्तिगत नागरिक सम्पत्ति तथा गैर-सैनिको पर बम गिराना वर्जित है।

(ii) धन या अन्य प्रकार के अनुदान (Contribution) प्राप्त करने के उद्देश्य से बम गिराना वर्जित है।

(iii) सैनिक लक्ष्यों या जगहों पर ही बम गिराना वैध है।

(ग) अनुच्छेद 32 के अनुसार, युद्धरत राज्यो के गैर-सैनिक जहाज यदि सबसे पास वाले स्थान पर नहीं उतर जाते हैं तो उन पर हमला किया जा सकता है। अनुच्छेद 34 के अनुसार, यदि ऐसे जहाज शत्रु देश के क्षेत्राधिकार के पास उड़ते हैं तो उन पर हमला किया जा सकता है।

उपर्युक्त नियमो के अतिरिक्त शत्रु के सैनिक जहाज के चलाने वाले कर्मचारियों के व्यवहार के सम्बन्ध मे भी कुछ नियमो का प्रस्ताव किया गया था।

(5) जेनेवा प्रोटोकोल, 1925 एवं निःशस्त्रीकरण सम्मेलन, 1932—1925 के जेनेवा प्रोटोकोल मे विषैली गैसो और जीवाणुओं के उसको युद्ध मे प्रयोग को वर्जित कर दिया गया। राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत जुलाई 1932 के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के सामान्य आयोग मे एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि नागरिक जनसंख्या के विरुद्ध हवाई आक्रमण को पूर्ण रूप से रोक दिया जाए। यह प्रस्ताव भी, 1923 के हेग नियमो की भाँति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भाग नहीं बन सका, तथापि विभिन्न राष्ट्र सैद्धान्तिक रूप मे यह मानते हैं कि शहरो और गाँव की जनता पर हवाई बम वर्षा नहीं की जानी चाहिए। प्रत्यक्ष आक्रमण से गैर-योद्धाओं की उन्मुक्ति युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक मौलिक नियम है जो द्वितीय महायुद्ध से पूर्व, जल-थल और वायु तीनो प्रकार के युद्धो पर लागू था। युद्ध के कानून के इस मौलिक सिद्धान्त का व्यवहार मुख्यतः तीन कारणो से वायु युद्ध के क्षेत्र मे गम्भीर रूप से असफल रहा है—आधुनिक युद्ध का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक हो गया है और इसकी प्रकृति बदल चुकी है। अनेक दृष्टियो से योद्धाओं और गैर-योद्धाओ के मध्य का अन्तर मिट चुका है। दूसरे सैनिक लक्ष्य निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है जिसके विरुद्ध प्रत्यक्ष कार्यवाही की जा सके। तीसरे हवाई बमबारी मे विरोधी कार्यवाही के प्रभाव को केवल आक्रमण के लक्ष्य तक सीमित रखने में तकनीकी कठिनाई है। इन नयी समस्याओ के होने पर भी आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून असैनिक जनता मे आतंक फैलाने की दृष्टि से जानबूझकर और प्रत्यक्ष रूप से की जाने वाली बम वर्षा को अवैध मानता है।

1938 मे ग्रेट-ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ने लोकसभा मे दिए अपने एक वक्तव्य मे बताया कि मे भावी युद्धों मे सभी भाग लेने वालो को तीन सिद्धान्तो का अवश्य पालन करना चाहिए—(1) असैनिक जनता पर जान बूझ कर किया गया आक्रमण स्पष्टतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन है। (2) हवाई बम वर्षा के निशाने वैध सैनिक लक्ष्य होने चाहिए ताकि असावधानी के कारण पड़ोस की असैनिक जनता पर बम वर्षा न हो। इसी वर्ष बाद मे राष्ट्रसंघ की महासभा ने सब सम्मति से उक्त तीनो सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए एक प्रस्ताव पास किया।

(6) द्वितीय विश्व युद्ध में बमबारी—द्वितीय विश्व युद्ध में हवाई युद्ध के नियमों का खुलकर उल्लंघन हुआ। 2 सितम्बर 1939 को फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन ने अपनी संयुक्त घोषणा मे स्पष्ट किया कि वे केवल सैनिक ठिकानो पर ही बमबारी करेंगे और नागरिक जनसंख्या को इससे मुक्त रखेंगे। 17 सितम्बर को जर्मनी ने भी इस घोषणा के आधार पर अपनी यह इच्छा प्रगट की कि यदि अन्य राज्यो ने ऐसा किया तो वह भी इस नीति को अपनाएगा। अपने इस निर्णय से वह 23 सितम्बर को ही फिसल गया जब उसने वारसा पर बिना भेदभाव के बमबारी की। सम्पूर्ण युद्ध के दौरान, जर्मन वायुसेना ने, नगरों, कारखानों आदि पर बमबारी करके उन्हें और असैनिक जनसंख्या को भारी क्षति पहुँचाई। इसके उत्तर में अमरीका, ब्रिटेन, रूस आदि महाशक्तियो ने भी वैसी ही कार्यवाही की। द्वितीय महायुद्ध का अन्त एक

दुखान्त घटना के साथ हुआ जिसमे लाखो लोग मारे गए और बेघर हो गए। संयुक्त राज्य अमेरिका ने 6 अगस्त 1945 को हिरोशिमा पर और 11 अगस्त को नागासाकी पर बिना किसी पूर्व सूचना के अणुबम गिराए। अणुबम गिराने के दो मुख्य कारण ये बताए गए—प्रथम युद्ध को शीघ्र समाप्त करने एव द्वितीय बलपूर्वक प्रतिकार के अधिकार का प्रयोग। किन्तु स्टार्क जैसे विधिशास्त्रियों की स्पष्ट मान्यता है कि ये दोनो ही कारण उचित नही थे। अमेरिका द्वारा अणु बम के प्रयोग का कार्य विश्व-भर्त्सना का कारण बना और मानवता एव अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे इसे घोर अपराध माना। अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अणुबम के प्रयोग के औचित्य के पक्ष मे कहा कि इसका प्रयोग युद्धकाल को कम करने के लिए किया गया ताकि हजारो युवा अमेरिकियो के प्राण बचाए जा सकें। जापान एक शक्तिशाली राज्य था जो अपने बडे साम्राज्य के सहारे युद्ध को लम्बे समय तक जारी रख सकता था। स्पष्ट है कि राष्ट्रपति का तर्क बचकाना था क्योकि हजारो युवा अमरीकियो को बचाने के खातिर लाखो निरपराधो की जान लेना किसी भी दृष्टि से मानवोचित नही था।

(7) जेनेवा अभिसमय (Jenera Convention)—1949 में जेनेवा *सम्मेलन स्विस सरकार द्वारा बुलाया गया। इसने द्वितीय विश्वयुद्ध के अनुभवो को* आधार बनाकर अनेक नए प्रावधान स्वीकार किए। शीघ्र ही अनेक बडी सैनिक शक्तियो ने इसे स्वीकार कर लिया और 21 अक्टूबर 1950 से यह लागू कर दिया गया। इसने युद्धबन्दियों से सम्बन्धित पहली सभी व्यवस्थाओं को बदल दिया।

(8) पाकिस्तानी आक्रमण में हवाई युद्ध के नियमो की अवहेलना—पाकिस्तान ने 1965 के युद्ध मे हवाई युद्ध के अनेक नियमो का उल्लघन किया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम के अनुसार हवाई हमले सैनिक अड्डो पर किए जाते हैं, किन्तु पाकिस्तान ने असैनिक क्षेत्रो, पवित्र धार्मिक स्थानों, अस्पतालो पर बम गिराए। सैनिक कार्यों से असम्बन्धित नगरो और गाँवो पर नापाम बम तथा एक हजार पौण्ड के घातक बम गिराए गए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार नापाम बमो का प्रयोग अमानवीय समझा जाता है क्योकि ये बम अत्यधिक विध्वसक और आग लगाने वाले होते हैं। पाकिस्तानी विमानो ने ऐसे बमो का प्रयोग असैनिक जनता के विरुद्ध किया तथा सडको पर चलने वाली नागरिक गाडियो पर गिराया। पाकिस्तान ने जिस ढग से हवाई युद्ध चलाया उसमे हवाई युद्धो के नियमो के अनुपालन और निर्माण की आवश्यकता को पुन स्पष्ट कर दिया। दिसम्बर 1971 के भारत पाक सघर्ष मे भी पाकिस्तान ने हवाई युद्ध के लगभग सभी नियमो का उसी प्रकार उल्लघन किया जिस प्रकार कि सितम्बर 1965 के युद्ध मे किया था।

(9) 8 जून 1977 को अपनाए गए जेनेवा अभिसमय, 1949 का अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों के पीडितों के सरक्षण से सम्बन्धित प्रथम प्रोटोकोल—इस प्रोटोकोल मे निम्नलिखित प्रावधान हैं—

(क) सकट मे हवाई जहाज से पैराशूट द्वारा नीचे उतरते समय किसी व्यक्ति को आक्रमण का लक्ष्य नहीं बनाया जाएगा। [अनुच्छेद 42 (1)]

(ख) विपक्षी के नियन्त्रण में होने वाली भूमि पर ऐसे व्यक्ति के पहुँचने पर यदि वह शत्रुतापूर्ण कार्य में सलग्न नहीं है तो आक्रमण का लक्ष्य बनाए जाने के पूर्व उसे अवसर प्रदान किया जाएगा। [अनुच्छेद 42 (2)]

(ग) अनुच्छेद 42 (3) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस अनुच्छेद से हवाई सेनाओं को सरक्षण प्राप्त नहीं होगा।'[1]

केवल युद्ध के नियमों का बना देना ही पर्याप्त नहीं है, आवश्यकता इस बात की है कि उनका अनुपालन भी किया जाए। स्थल, जल और हवाई युद्धों से सम्बन्धित विभिन्न नियमों का उद्देश्य युद्ध को कम घातक बनाना तथा उसके विध्वसक प्रभाव को कम करना है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में युद्धमान राज्यों के व्यवहार पर मर्यादाएँ स्थापित करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन कानूनों और नियमों का उल्लघन करने वाले राज्य के विरुद्ध जो विश्व जनमत तैयार होता है वह एक महत्त्वपूर्ण दबाव है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिकाधिक विकास होने पर भूमि युद्ध, समुद्री युद्ध और हवाई युद्ध की मर्यादाएँ अधिक स्पष्ट तथा मान्य बन जाएँगी। हवाई युद्ध के प्रसग में अणु युद्ध पर पृथक से चर्चा आवश्यक है क्योंकि परमाणु बमों के प्रयास में हवाई युद्ध आज इतने विनाशकारी सिद्ध हो सकते हैं कि सम्पूर्ण मानव सभ्यता का ही लोप हो जाए। स्थल युद्ध में भी परमाणु मिसाइलों आदि ने घोर विनाश की आशका पैदा कर दी है।

आणविक युद्ध
(Nuclear Warfare)

द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम चरण में अगस्त 1945 में सयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर अणुबम गिराकर सम्पूर्ण विश्व को आणविक शस्त्रों की विनाशकारी शक्ति से दहला दिया। उस समय एक मात्र सयुक्त राज्य अमेरिका ही अणुशक्ति का स्वामी था। लेकिन यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। विश्व की दूसरी महाशक्ति सोवियत रूस ने यह समझ लिया कि यदि आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में अमेरिका ही एकछत्र स्वामी रहा तो उसके अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव को भविष्य में चुनौती देना असम्भव हो जाएगा। आणविक शक्ति से सम्पन्न अमेरिका का भय विश्व के राष्ट्रों को इतना आतकित करता रहेगा कि वे एक-एक करके पूरी तरह अमेरिका के प्रभाव क्षेत्र में आते जाएँगे। इतना ही नहीं, साम्यवाद के प्रसार का मार्ग भी अवरुद्ध हो जाएगा। स्वभावत इस परिस्थिति ने सोवियत रूस को चिन्तित कर दिया। वह भी प्राणपण से अणु-शक्ति का स्वामी बनने की चेष्टा करने लगा और शीघ्र ही उसने इस क्षेत्र में अमेरिका के एकाधिकार को समाप्त कर दिया। युद्ध समाप्ति के बाद केवल चार वर्षों में ही उसने अणु बम के रहस्य का पता लगा लिया, इसके बाद तो आणविक शस्त्रास्त्रों के निर्माण की भारी होड लग गयी। ब्रिटेन और फ्रांस भी अणु शक्ति के स्वामी बन गए। साम्यवादी चीन ने भी प्राक्रमण किया। प्रारम्भ में बहुत-कुछ सोवियत सहायता के

1 एस के कपूर : वही पृ 449

बल पर और बाद मे अपने प्रयत्नो से उसने अद्भुत आणविक शस्त्र निर्माणकारी क्षमता प्राप्त कर ली और आज विश्व की दोनो महाशक्तियाँ इस क्षेत्र मे उसकी बढ़ती हुई शक्ति से चिन्तित हैं। आज विश्व के कुछ और भी देश अणुशक्ति के स्वामी बन गए हैं। आणविक शस्त्रास्त्रो का भण्डार बढ़ने के साथ-साथ मानव सभ्यता के विनाश का खतरा भी बहुत अधिक बढ़ गया है।

परमाणु अथवा आणविक शस्त्रो के प्रयोग की वैधता

परमाणु विस्फोटो से रेडियो सक्रिय धूल के रूप में इतने विषैले पदार्थ निकलते हैं जिनसे विस्तृत क्षेत्र मे जान-माल का विनाश हो जाता है। अतः द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही इस बारे मे विचार होता रहा है कि परमाणु बमो का प्रयोग वैध है अथवा नहीं ? इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित प्रावधान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

1. हेग नियमो के अन्तर्गत जहर और जहरीले शस्त्रों का प्रयोग वर्जित है।

2 जेनेवा प्रोटोकोल 1925 द्वारा जहरीली गैसो और जहरीले पदार्थों का प्रयोग ही वर्जित नही है बल्कि उनके समान द्रव्य सामग्री और युक्ति भी वर्जित है।

3 हेग नियमों मे यह भी कहा गया है कि आवश्यकता से अधिक क्षति पहुँचाने वाले शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया जाएगा।

4 1868 को सैण्ट पीटर्सबर्ग की घोषणा मे कहा गया है कि ऐसे शस्त्रों का प्रयोग मानवता के विरुद्ध है जिनसे अनावश्यक रूप से अपगु लोगो के कष्टों मे वृद्धि होती है।

डॉ एस के कपूर ने अपनी प्रतिष्ठित पुस्तक मे परमाणु शस्त्रो के प्रयोग की वैधता के सम्बन्ध मे ओपेनहेम, स्वार्जनबर्जर, जूलियस स्टोन आदि प्रख्यात विधि-शास्त्रियो के मतो का उल्लेख किया है जो पठनीय है।

प्रो ओपेनहेम के अनुसार, परमाणु शस्त्रो के प्रयोग की वैधता का निश्चय निम्नलिखित आधार पर हो सकता है—

(क) विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय लिखित करार जो युद्ध मे हिंसा के प्रयोग को सीमित करते हैं।

(ख) लड़ाकू तथा गैर-लड़ाकू सैनिको मे अन्तर।

(ग) मनुष्यता के सिद्धान्त जो कुछ हद तक युद्ध की विधि के भाग हैं।

प्रो. ओपेनहेम के अनुसार, स्पष्ट रूप से वह कहना बड़ा कठिन है कि परमाणु शस्त्र के प्रयोग का निषेध अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विद्यमान नियम घोषित करते हैं अथवा नहीं। परन्तु चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय करार अथवा पर्यवजण द्वारा परमाणु बम के उत्पादन पर रोक नहीं है, इसके प्रयोग की सम्भावना ऐसी परिस्थितियों मे हो सकती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लघन न हो। उनके अनुसार परमाणु बम का प्रयोग निम्नलिखित परिस्थितियो मे हो सकता है—

(क) बलपूर्वक प्रतिहार (Reprisal) के रूप मे, तथा

(ख) यदि शत्रु खुले धाम तथा बड़े पैमाने पर युद्ध की विधि के नियमों का इस प्रकार उल्लघन करता है कि मनुष्य तथा अनुकम्पा (Compassion) का कोई ध्यान नहीं रखता है।

प्रो. ओपेनहेम के अनुसार, द्वितीय विश्वयुद्ध में निस्सन्देह जर्मनी ने लाखों व्यक्तियों, नागरिकों के वध की योजना बनाई थी, अतः उसके प्रतिहार में परमाणु बम का प्रयोग न्यायसंगत कहा जा सकता है। प्रो जूलियस स्टोन ने भी लिखा है कि यदि यह मान भी लिया जाए कि परमाणु बम का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन था, तो भी इस प्रश्न पर विचार करना होगा कि क्या राज्यों ने सामान्य रूप से स्वीकार नहीं किया था कि इस विषय में विधि बहुत अप्रचलित (Obsolete) हो गयी थी या कम से कम नये विशिष्ट निषेध को नियन्त्रित करने में अनुपयुक्त है। अतः परमाणु शस्त्रों को ध्यान में रखते हुए युद्ध की विधि के संशोधन पर पुनरीक्षण आवश्यक हो गया है।

प्रोफेसर स्वार्जनबर्जर (G Schwarzenberger) ने आणविक युद्ध की वैधता के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष दिए हैं—

1 मनुष्यता के सिद्धान्त, सभ्यता की आवश्यकताएँ आदि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निषेधात्मक नियमों के स्थान पर प्रति स्थापित नहीं हो सकते, अत स्वयं में वह आणविक शस्त्रों के प्रयोग के निषेध के साक्ष्य नहीं हो सकते।

2 युद्ध में नागरिक जनता की उन्मुक्ति के सिद्धान्त का द्वितीय युद्ध में इस प्रकार से उल्लंघन हुआ है कि उनसे कोई विश्वसनीय मार्ग दर्शन नहीं होता है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि आणविक शस्त्रों का नागरिक जनता के विरुद्ध प्रयोग नहीं होना चाहिए यदि निम्नलिखित दो बातें उपस्थिति हो—

(क) नागरिक युद्ध कार्यों से सम्बन्धित न हो, तथा

(ख) वह महत्त्वपूर्ण युद्ध क्षेत्रों से परे हो।

3 यह तर्क उचित नहीं है कि रेडियो सक्रिय धूल के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के जहरीले शस्त्रों से सम्बन्धित प्रथा सम्बन्धी नियम तथा हेग नियम 1899 के अनुच्छेद 23 (ए) तथा 1925 के जेनेवा प्रोटोकोल विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय विधि को घोषित करते हैं।

4 यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाए कि आणविक शस्त्रों का प्रयोग अवैध है, फिर भी बलपूर्वक प्रतिकार (Reprisal) के रूप में उनका प्रयोग न्यायसंगत होगा।

5. यदि आणविक शस्त्रों से मनुष्यता के विरुद्ध कार्य होते हैं, तो शत्रु शक्ति को उन व्यक्तियों का परीक्षण करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है जिन्होंने युद्ध अपराध किए हैं।

6 यदि आणविक शस्त्रों का परीक्षण उन उद्देश्यों के प्रयोग के लिए होता है जो जनवध अभिसमय 1948 (Genocide Convention, 1948) द्वारा वर्जित है जो इस सम्बन्ध में प्रथा सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय विधि घोषित करता है, तो भी कोई देश अपनी आपराधिक विधि के अनुसार, ऐसे व्यक्तियों का परीक्षण कर सकता है जिन्होंने उक्त अपराध इस क्षेत्र में किया गया है जो जनवध अभिसमय का पक्षकार है तो अपराधी का परीक्षण उसी देश के समक्ष न्यायालय द्वारा होना चाहिए। जहाँ

तक आणविक अस्त्र-शस्त्रो के उत्पादन तथा रखने का प्रश्न है, स्वार्जेनबर्जर के अनुसार प्रत्येक प्रभुत्वसम्पन्न राज्य इस विषय मे स्वतन्त्र है।

एक अन्य विधिशास्त्री स्टोवेल (Ellery G Stowell) के अनुसार आधुनिक युद्ध की दशायें परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप पुराने नियम तथा मान्यताएँ बडी दुर्बल हो गयी हैं, अतः उन्हें परमाणु बम के सम्बन्ध मे लागू करना उचित नहीं है।

परमाणु अस्त्रो क प्रयोग को निषिद्ध करने का
सयुक्त राष्ट्रसघ का प्रस्ताव (1961)

परमाणु शस्त्रो के प्रयोग को निषिद्ध करने सम्बन्धी सयुक्त राष्ट्रसघ का प्रस्ताव, 1961 अति महत्वपूर्ण है तथापि किसी भी नियम, कानून या प्रस्ताव का व्यवहार म महत्त्व तभी है जबकि विश्व के देश उसका अनुपालन करें। सयुक्त राष्ट्र महासभा का प्रस्ताव प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमो के ही समकक्ष था, लेकिन प्रस्ताव के विरुद्ध मतदान करने वाले और मतदान से अलग रहने वाले राज्यो की एक बडी सख्या को देखते हुए यही लगता है कि परमाणु अस्त्रो के प्रयोग को *वर्जित करने के प्रति अभी उपेक्षा ही बनी हुई है। डॉ शील के आसोपा ने महासभा* के सन् 1961 के प्रस्ताव का सक्षेप मे व्यक्त करते हुए इस बात पर विचार किया है कि प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के युद्ध सम्बन्धी नियमो को ही हम परमाणु युद्ध पर भी लागू कर सकते हैं। डॉ आसोपा के ही शब्दो मे—

"सयुक्त राष्ट्रसघ महासभा ने सन् 1961 मे प्रस्ताव पारित करके युद्धो मे परमाणु शस्त्रो के प्रयोग को गैर-कानूनी घोषित कर दिया और सदस्य राज्यो से अनुरोध किया गया कि वे परमाणु अस्त्रो के प्रसार पर रोक लगाएँ, उनका उत्पादन *कम करें और उनके प्रयोग को सर्वथा निषिद्ध करें। इस प्रस्ताव के पक्ष मे 55 राज्यो* ने मतदान किया। मतदाताओ मे अधिकांश अफ्रीकी एशियाई देश थे और बाकी सोवियत रूस सहित साम्यवादी खेमे के राज्य थे। विपक्ष म मतदान करने वालो मे अमेरिका सहित पश्चिमी जगत के 20 राज्य थे। 26 राज्यो ने मतदान म भाग नही लिया। इनमे लेटिन अमरिकी राज्य प्रमुख थे।

प्रस्ताव के विपक्ष मे मत देने वालो का कहना था कि सोवियत रूस व उसके सहयोगियो ने परम्परागत हथियारो मे इतनी अधिक प्रगति कर ली है और सामरिक सामर्थ्य का इतना अधिक बढा लिया है कि अमेरिका व पश्चिमी राज्य परमाणु अस्त्रो के बगैर उसका मुकाबला कर ही नही सकते।

सोवियत रूस ने भी प्रस्ताव का समर्थन इसलिए नहीं किया था कि वह परमाणु अस्त्रो के प्रयोग को वास्तव म गलत व गैर-कानूनी मानता है। बल्कि इसलिए किया था कि ऐसा करके वह अफ्रीकी एशियाई दशो की सहानुभूति व सहयोग *हासिल कर सकेगा। यदि पश्चिमी राज्य रूस के खिलाफ परमाणु अस्त्रो का प्रयोग* करते हैं तो जाहिर है रूस भी परमाणु अस्त्रो का प्रयोग जवाबी कार्यवाही के रूप मे करेगा और उसका औचित्य भी होगा।

महासभा के इस प्रस्ताव को हम प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमो के

समकक्ष रख कर देख सकते हैं। लेकिन प्रस्ताव के विरुद्ध मतदान करने वाले तथा मतदान से अलग रहने वाले राज्यों की संख्या (कुल 46) को देखते हुए लगता है कि परमाणु अस्त्रों के प्रयोग निषिद्ध करने की तथा परमाणु अस्त्रों के प्रयोग से उत्पन्न खतरों के प्रति अभी तक सामान्य जन की उपेक्षा ही बनी हुई है। यह उपेक्षा तथा प्रभावकारी कानूनों के निर्माण के प्रति उदासीनता भी अपने आप में एक निराशाजनक स्थिति की द्योतक है।

प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के युद्ध सम्बन्धी नियमों को ही हम परमाणु युद्धों पर भी लागू कर सकते है। प्रश्न कानूनों की कमी का नहीं है, कानूनों का पालन करने की इच्छा का है। उदाहरण के लिए द्वितीय हेग सम्मेलन (1907) के अनुच्छेद 23 (अ) में विषैली गैसों व द्रव्यों के प्रयोग को निषिद्ध किया गया है। यह व्यवस्था यदि राज्य चाहें तो परमाणु अस्त्रों के प्रयोग पर भी यथावत् लागू हो सकती है। इसी तरह सन् 1925 के जेनेवा प्रोटोकोल की वे व्यवस्थाएँ जो दम घोटने वाली गैसों व विषैले द्रव्यों के प्रयोग को वर्जित करती हैं उन्हें ही परमाणु अस्त्रों व जीवाणु अस्त्रों के सम्बन्ध में लागू किया जा सकता है। परमाणु अस्त्रों के प्रयोग से जिस रेडियोधर्मी धूल का प्रसार होता है वह भी उतनी ही क्षति पहुँचाती है जितने विषैली गैसों से युक्त अस्त्र पहुँचाते है। लेकिन कानून में भी जो लकीर के फकीर लोग हैं वे तर्क देते है कि हेग सम्मेलनों तथा जेनेवा प्रोटोकोल की व्यवस्थाओं का सम्बन्ध विषैली गैसों से युक्त हथियारों तथा दम घोटने वाली गैसों से युक्त बमों के प्रयोग को निषिद्ध करने से है जबकि परमाणु युद्ध में परमाणु अस्त्रों में ये गैसें नहीं हैं बल्कि अस्त्रों के प्रयोग के परिणामस्वरूप ऐसे प्रभाव (Side effects) उत्पन्न करती है जो विषैली गैसों के प्रयोग के परिणामों से मिलते-जुलते हैं। इस तर्क से ही स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध विषयक कानून के क्षेत्र में अभी तक काफी कुछ करना बाकी है।

रूस और अमेरिका के बीच सन् 1963 में हुई परमाणु परीक्षण निरोध सन्धि (Test Ban Treaty), बाह्य अन्तरिक्ष सन्धि सन् 1967 (Outer Space Treaty), 1968 की परमाणु प्रसार निरोधक सन्धि (Non-Proliferation Treaty) तथा 1971 की अमेरिका, ब्रिटेन व रूस के बीच महासमुद्रों के तल में परमाणु अस्त्रों के प्रयोग को निषिद्ध करने की सन्धि से इस दिशा में कुछ आशा बंधती है कि सम्भवतः आगे चलकर राज्य परमाणु अस्त्रों के प्रयोग को पूर्णतः गैर-कानूनी घोषित करने में समर्थ हो सकें।"[1]

26 मई, 1972 को रूस और अमेरिका ने 'स्ट्रेटेजिक आर्म्स लिमिटेशन टाक्स' (SALT) के परिणामस्वरूप एक समझौता किया जिसमें ए. बी. एम. ट्रीटी द्वारा बैलिस्टिक मिसिल सिस्टम को सीमित करने तथा युद्ध सम्बन्धी आक्रामक शस्त्रों

1 घोष के. बाबोरा, वही, पृ 390-91

को सीमित करने के पाँच-वर्षीय समझौते पर हस्ताक्षर किए और उन्होंने 22 जून, 1973 को प्रिवेन्शन ऑफ न्यूक्लीयर वार' नामक समझौते पर हस्ताक्षर किए।[1]

समुद्र-तट में आणविक शस्त्रों को रखने, चन्द्रतल पर आणविक शस्त्रों को रखने अथवा पृथ्वी के चतुर्दिक घूमने वाले उपग्रहों में ऐसे शस्त्रों को रखने पर प्रतिषेध लगाने से सम्बन्धित संयुक्त राष्ट्र कन्वेंशन तथा बायलॉजिकल और टाक्सिक शस्त्रों के प्रतिशोध विषयक कन्वेंशन, 1972 तथा अमेरिका-रूसी सन्धि जो कि एन्टीबैलिस्टिक मिसिल सिस्टम को सीमित करने के लिए 1972 में की गई है, शस्त्रों को परिसीमित करने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सफलताएँ हैं। 3 जनवरी,1974 को अमेरिका और रूस ने भूमितल में आणविक परीक्षण पर आंशिक प्रतिषेध लगाने पर सहमति दे दी जो 31 मार्च, 1976 से प्रभावी हुआ।

शत्रु के नागरिक हवाई जहाजों पर आक्रमण

यह आशंका बनी रहती है कि शत्रु के नागरिक हवाई जहाजों से आक्रमण न हो जाए, अतः हेग अधिनियम में यह व्यवस्था की गई है कि युद्ध-स्थित असैनिक जहाज यदि शत्रु के क्षेत्राधिकार की सीमा में उड़ रहे हों तो उन्हें मार गिराया जा सकता है।

आणविक परीक्षण केस, 1973

आणविक परीक्षण केस, 1973 (Nuclear Test Case, 1973) अपना विशेष वैधिक महत्त्व रखता है। मई, 1973 में आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष आवेदन किया कि वह फ्रांस को आदेश दे कि वह आणविक परीक्षण न करे। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने 6 के विरुद्ध 8 मतों से यह निर्णय दिया कि फ्रांस अपने नियोजित आणविक परीक्षण न करे क्योंकि इन परीक्षणों से आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के क्षेत्र पर रेडियो-सक्रिय धूल पहुँचती है जिससे इन देशों के नागरिकों के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ता है। दुर्भाग्यवश फ्रांस ने न्यायालय के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया, तथापि *अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के इस निर्णय से यह विधिक स्थिति स्पष्ट हो गई कि कोई* भी राज्य अपने क्षेत्र में ऐसा कार्य नहीं कर सकता जिससे दूसरे राज्यों के नागरिकों के स्वास्थ्य बुरा असर पड़े।

भारत द्वारा आणविक परीक्षण का औचित्य

भारत ने 1975 में जो सफल भूमिगत परमाणु परीक्षण किया उससे आणविक परीक्षण निषिद्ध सन्धि 1963 का कोई उल्लंघन नहीं हुआ है। जहाँ *तक आणविक शस्त्रों के प्रसार न होने की सन्धि का सम्बन्ध है,* भारत ने उस पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं, अतः सन्धि के उत्तरदायित्वों के उल्लंघन की कोई बात भारत पर लागू नहीं होती। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि भारतीय वैज्ञानिकों के अनुसार 1975 के भूमिगत परीक्षण से रेडियो-सक्रिय धूल का प्रसारण नहीं हुआ है और

1 एच. वी. टण्डन : वही, पृ. 406.

विदेशी वैज्ञानिकों ने भी भारतीय वैज्ञानिकों के इस दावे को चुनौती नहीं दी है। यदि भारत के प्राणविक परीक्षण का प्रभाव अन्य राज्यों पर पड़ता तो यह एक अन्तर्राष्ट्रीय अपकृत्य (Tort) होता और इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम लागू होता। इस परीक्षण द्वारा किसी राज्य पर कोई प्रभाव न पड़ने से यह पूर्णतया वैध था।

निष्कर्ष रूप में यह कहना होगा कि इस प्रकार के तर्क उचित प्रतीत नहीं होते कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के युद्ध के नियम प्राणविक युद्ध (Nuclear Warfare) पर लागू नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में विधि शास्त्री एस. के. कपूर ने जो युक्ति-सगत विचार प्रस्तुत किए हैं वे पठनीय हैं—

'जहरीली गैस तथा जहरीले पदार्थों का प्रयोग तथा आवश्यकता से अधिक कष्ट पहुँचाना अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि जापान के दो शहरों—हिरोशिमा तथा नागासाकी- पर परमाणु बम गिराना इन नियमों का उल्लंघन है। अमेरिका ने यह तर्क दिया था कि परमाणु बम बलपूर्वक प्रतिक्रिया के रूप में गिराए गए तथा इनको गिराना इसलिए आवश्यक हो गया था कि इनके द्वारा युद्ध का शीघ्र अन्त किया जा सके। उपर्युक्त दोनों ही कारण उचित प्रतीत नहीं होते। स्टार्क के मतानुसार भी ये दोनों ही कारण उचित नहीं है। वास्तव में द्वितीय विश्व युद्ध में परमाणु बम का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय विधि का खुला उल्लंघन था तथा इसे किसी भी आधार पर उचित नहीं बनाया जा सकता। परमाणु बम के युद्ध में प्रयोग की वैधता के प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निर्णीत कोई वाद नहीं है। इस विषय में शिमोडा वगैरह बनाम-राज्य (Simoda and Others V The State) में सर्वप्रथम इस प्रश्न पर विचार किया गया। इस वाद में हिरोशिमा तथा नागासाकी के 5 निवासियों ने परमाणु बम के आक्रमण से पहुँची क्षति के लिए क्षतिपूर्ति पाने के लिए राज्य के विरुद्ध दावा दायर किया था। न्यायालय ने प्रक्रिया आधारों पर क्षतिपूर्ति नहीं प्रदान की परन्तु परमाणु बम गिराए जाने की वैधता पर निर्णय दिया। न्यायालय के अनुसार परमाणु बम गिराया जाना शत्रुतापूर्ण कार्य था जो कि उस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध था। यद्यपि यह वाद किसी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निर्णीत वाद नहीं है, परन्तु फिर भी इस वाद ने यह स्पष्ट कर दिया है कि परमाणु बम अथवा प्राणविक बम का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन होगा। इस वाद में न्यायालय ने मुख्यतया इस बात पर जोर दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार युद्ध में व्यक्तियों को आवश्यकता से अधिक कष्ट नहीं पहुँचना चाहिए। इसी कारण युद्ध में गैस अथवा जहर आदि का प्रयोग वर्जित किया है क्योंकि गैस तथा जहर के मुकाबले में परमाणु बम से और भी अधिक नष्ट होता है, इसलिए इनका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन होगा।'

21 अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत अपराध

(Crimes Under International Law)

किसी राज्य का नागरिक अथवा सैनिक यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अपराध समझा जाने वाला कोई कार्य करता है तो वह अपने इस कार्य के लिए उत्तरदायी होगा और दण्डित किया जाएगा। यह बात प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून वेत्ताओं एवं राजनीतिज्ञों के विचार का विषय रही है और प्रायः इसे श्रद्धा, विश्वास, आकांक्षा एवं कामना की दृष्टि से देखा गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा अपराध माना जाने वाला विषय अत्यन्त विशद और जटिल है। आजकल इन अपराधों को मुख्यतः तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है—(A) युद्ध अपराध, (B) मानवता विरोधी अपराध, (C) शान्ति विरोधी अपराध।

इस सम्बन्ध में समस्या यह है कि आक्रमणकारी युद्ध को क्या केवल ग़ैर-कानूनी कहकर छोड़ दिया जाए अथवा इसके नियोजन, तैयारी एवं क्रियान्विति को एक अपराध माना जाए। इस विषय से सम्बन्धित विविध प्रश्नों और समस्याओं का विवेचन प्रमुख अपराधों का विस्तार के साथ उल्लेख करके किया जा सकता है।

युद्ध अपराध
(War Crimes)

सामान्यतः युद्ध अपराध ऐसे किसी भी कार्य को माना जाता है जिसके लिए शत्रु द्वारा सैनिकों या दूसरे व्यक्तियों को पकड़ने के बाद दण्डित किया जा सके। इस श्रेणी में वे सभी कार्य शामिल किए जाते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपराधी के स्वयं के देश के कानून और युद्ध के कानूनों का उल्लंघन करते हैं। पिछले अध्याय में जल, थल और वायु युद्धों से सम्बन्धित जिन अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के नियमों का अध्ययन किया गया है उनका उल्लंघन युद्ध अपराध है। व्यक्तिगत स्वार्थ या प्राप्ति के लिए अथवा शत्रु राज्य की आज्ञा से ऐसे उल्लंघन किए जा सकते हैं। ब्रिटिश सेना की निर्देश पुस्तिका ने दया दान न करने, युद्धबन्दियों के साथ दुर्व्यवहार करने तथा लूटमार और अनावश्यक विध्वंस करने आदि को युद्ध अपराध माना है। प्रथम हेग

सम्मेलन मे युद्ध के नियमो और प्रथाओं के विरुद्ध कार्यों को युद्ध अपराध कहा गया है। एक अन्य विचारक ने युद्ध अपराधों में इन कार्यों को शामिल किया है—सैनिको द्वारा युद्ध के मान्य नियमो का अतिक्रमण, असैनिक व्यक्तियों द्वारा अवैध शत्रुता के कार्य, जासूसी युद्ध, राज्यद्रोह आदि। प्रो. ओपेनहेम ने चार प्रकार के युद्ध अपराधो का उल्लेख किया है—सैनिकों द्वारा युद्ध सम्बन्धी स्वीकृत नियमो को तोड़ना, असैनिक नागरिकों द्वारा सशस्त्र लड़ाई मे भाग लेना, जासूसी तथा युद्ध सम्बन्धी राज्यद्रोह और प्रलुंठन (Marauding) के समस्त कार्य।

युद्ध अपराधो की प्रकृति से सम्बन्धित वर्तमान धारणा परम्परागत कानूनी दृष्टिकोण से पर्याप्त भिन्न है। अनेक दशाब्दियो तक यह माना जाता था कि युद्ध के कानूनो के विरुद्ध किए गए अपराध युद्धमान राज्यो के राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध अपराध हैं। इस परम्परागत दृष्टिकोण का एक आधार यह विश्वास था कि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय नहीं होते।

1914 से पूर्व किसी भी अभिसमय ने युद्ध अपराधो पर विचार करते समय उन दबावो का उल्लेख नहीं किया जो युद्ध के नियमो को तोड़ने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध प्रयुक्त किए जा सकते थे। चतुर्थ हेग अभिसमय (1907) की धारा 3 को इसका अपवाद माना जा सकता है जिसमे यह कहा गया था कि सन्धि तोड़ने वाले युद्धमान राज्य को मुआवजे का भुगतान करना होगा। किसी अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता के अभाव मे राज्यो का यह कर्तव्य माना जाता था कि अभिसमयों के प्रावधानो को वे अपने राष्ट्रीय कानून मे शामिल करें और अपने राष्ट्रजनो तथा प्रजाजनो के विरुद्ध इसे क्रियान्वित करें।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ मे ही इन विचारो को ठुकराया जाने लगा। इस बदले हुए दृष्टिकोण का प्रमाण राष्ट्रीय सैनिक निर्देश पुस्तिका 1949 के चौथे जेनेवा अभिसमय और युद्ध अपराधों के राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय अभियोगो मे इनके व्यापक बहिष्कार का उल्लेख किया जा सकता है। आजकल युद्ध अपराधो का उत्तरदायित्व व्यक्तियो पर डाला जा सकता है। इनमे राज्यो के अध्यक्ष भी शामिल हैं। उच्च अधिकारियो की आज्ञापालन का तर्क ठुकराया जा चुका है। अपराधी व्यक्तियो पर अभियोग चलाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण बैठाए जा सकते है। विदेशी युद्ध अपराधियो की जाँच राष्ट्रीय न्यायिक अभिकरणों द्वारा की जा सकती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इस विशेष पहलू मे एक क्रान्ति हो गई है और कम से कम इस क्षेत्र मे व्यक्ति कानून का विषय बन गया है।

युद्ध अपराधो के प्रमुख प्रकार
(Major Kinds of War Crimes)

इस विषय मे विचार व्यक्त करते हुए अनेक विद्वानों ने युद्ध अपराधो को चार प्रमुख वर्गों में विभाजित किया है—युद्ध के नियमो को भंग करना, ऐसे व्यक्तियों द्वारा सशस्त्र लड़ाई के कार्य करना जो शत्रु सेनाओं के सदस्य नहीं हैं, जासूसी और

युद्ध सम्बन्धी राजद्रोह तथा प्रत्युत्तर के समस्त कार्य इनका विस्तार के साथ उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(A) युद्ध अपराध के दोषी कार्य—जब युद्धमान राज्य की सशस्त्र सेनाएँ ऐसा व्यवहार करती हैं जो युद्ध के कानूनों का स्पष्ट उल्लंघन है तो इसे युद्ध अपराध माना जाता है। वह उल्लंघन जिन कार्यों से हो सकता है उनकी पूरी सूची प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है तो भी यहाँ कतिपय का उल्लेख किया जा सकता है—

(1) जहरीले तथा दूसरे निषिद्ध शस्त्रों, दम घोटने वाली और जहरीली गैसों का प्रयोग करना।
(2) बीमारों अथवा घाव के कारण असमर्थ सैनिकों तथा हथियार डाल देने वाले सिपाहियों को मारना या घायल करना।
(3) सैनिक टुकड़ियों के साथ दुर्व्यवहार करना।
(4) सैनिक दृष्टि के महत्वहीन व असुरक्षित बस्तियों पर गोलाबारी करना।
(5) युद्ध विराम का झंडा दिखाकर उसका दुरुपयोग करना अथवा गोलाबारी करना।
(6) लाल क्रॉस अथवा ऐसे ही दूसरे निशानों का दुरुपयोग करना।
(7) युद्ध के कार्यों को छिपाने के लिए सैनिकों द्वारा नागरिकों के कपड़े पहिनना।
(8) उन्मुक्त या विशेषाधिकार प्राप्त भवनों का सैनिक उद्देश्य के लिए अनुचित प्रयोग करना।
(9) झरनों और कुओं को जहरीला बनाना।
(10) हत्यारों को पैसा देकर हत्याएँ करवाना।
(11) रणक्षेत्र में मृत व्यक्तियों के शवों का विकृत करना। इनकी ऐसी धनराशि तथा बहुमूल्य वस्तुओं को हथिया लेना जो सार्वजनिक सम्पत्ति नहीं है।
(12) युद्ध बन्दियों को ऐसे श्रम में लगाना जो निषिद्ध है।
(13) आत्मसमर्पण की शर्तों को भंग करना।
(14) हथियार छोड़ने वाले, आत्मसमर्पण करने वाले या घावों अथवा बीमारों से ग्रस्त सैनिकों को मारना या घायल करना।
(15) हत्याएँ कर देना।
(16) युद्धबन्दियों, बीमारों एवं घायलों के साथ दुर्व्यवहार करना, उन्हें असार्वजनिक सम्पत्ति से वंचित कर देना।
(17) हानि-हीन नागरिकों को मार देना या उन पर आक्रमण करना।
(18) आवेशित शत्रु प्रदेश के निवासियों को शत्रु की सशस्त्र सेनाओं या सुरक्षा के सम्बन्ध में सूचना देने के लिए मजबूर करना।
(19) नागरिक जनसंख्या पर आतंक जमाना या आक्रमण करना और वायु मार्ग से बमबारी करना।

(20) उन शत्रु पोतों पर आक्रमण करना जिन्होंने अपना झण्डा झुका कर आत्मसमर्पण कर दिया है।
(21) शत्रु के अधिग्रहणों का अनुचित विनाश।
(22) युद्ध के समय शत्रु की वर्दी का उपयोग और युद्धमान पोत द्वारा आक्रमण के समय शत्रु के झण्डे का प्रयोग।
(23) सदाचरण करने वाले व्यक्तियों पर आक्रमण करना।
(24) जेनेवा अभिसमय 1949 की धारा 50 का गम्भीर उल्लंघन।
(25) युद्धबन्दियों सम्बन्धी प्रावधानों का उल्लंघन।
(26) चौथे जेनेवा अभिसमय 1949 की धारा 147 का गम्भीर उल्लंघन।
(27) चिकित्सा कार्य में लगे हुए जहाजों पर आक्रमण करना और उन्हें डुबोना।
(28) शत्रु देश के उन व्यक्तियों पर आक्रमण करना जिन्हें पारपत्र दिया गया हो तथा जिनको सुरक्षित गमन का आश्वासन प्रदान किया हो।

उच्चतर आदेशों की रक्षा (Defence of Superior Orders)—यदि कोई व्यक्ति किसी युद्धमान राज्य के कहने से अथवा सेनापति के आदेश से कोई कार्य करता है तो इसके कारण वह उस कार्य के अपराध से मुक्त नहीं हो जाता। एक व्यक्ति अपनी रक्षा में उच्च पदाधिकारी के आदेश का नाम केवल तभी ले सकता है जबकि किए गए कार्य के गैर-कानूनी होने से वह अनजान हो। आजकल अधिकांश सैनिक निर्देश पुस्तिकाएँ यह मत व्यक्त करती हैं कि जहाँ आदेश को अपनी रक्षा के लिए प्रस्तुत नहीं किया जाता वहाँ भी अपराधी को दण्ड देते समय इस तथ्य पर ध्यान में रखा जाना चाहिए कि उसने उच्च अधिकारी के आदेश के अनुसार काम किया है, अतः उसे कम दण्ड दिया जाना चाहिए। 1945 में निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण के चार्टर ने पूर्ण सुरक्षा के लिए दिए गए उच्चतर आदेश के तर्क को अस्वीकार कर दिया किन्तु इसकी धारा 8 में कहा गया कि यदि न्यायाधिकरण यह उचित समझे कि न्याय की दृष्टि से इस आधार पर दण्ड को कम किया जाना चाहिए तो वह ऐसा कर सकता है।

उच्च अधिकारी के आदेशानुसार किए जाने वाले कार्य सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों के सम्मुख एक गम्भीर समस्या खड़ी कर देते हैं। प्रत्येक वैध आदेश का पालन करना उनका कर्त्तव्य होता है। युद्ध अनुशासन की परिस्थितियों के अन्तर्गत वे प्रत्येक आदेश के कानूनी महत्त्व की जाँच नहीं कर सकते। वे यह जान सकते हैं कि युद्ध के कुछ कानूनों की भाषा अस्पष्ट एवं विवादपूर्ण है, किन्तु वे आदेश मिलने के समय यह निर्धारित नहीं कर पाते कि यह उसी अस्पष्ट और विवादपूर्ण नियम से सम्बन्धित है। नियमों के उल्लंघन की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अनेक कार्य जिन्हें युद्ध अपराध माना जाता है वे शत्रु राज्य द्वारा किए गए कार्यों का प्रतिकार होते हैं।

सेनापतियों का उत्तरदायित्व (Responsibility of Military Commandars)—सशस्त्र सेनाओं के अधीनस्थ पदाधिकारियों तथा नियन्त्रण में स्थित दूसरे व्यक्तियों द्वारा किए गए युद्ध अपराधों के लिए सेनापतियों को उत्तरदायी बनाया जा सकता है। जब यह कार्य उनके आदेश पर किए जाते हैं तो उनका प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व हो जाता है। एक सेनापति उस स्थिति में भी युद्ध अपराध के लिए वास्तव में उत्तरदायी होता है जब उसे इसका वास्तविक ज्ञान है अथवा प्रतिवेदनों द्वारा उसने यह ज्ञान प्राप्त किया है कि उसकी सेनाएँ तथा उसके नियन्त्रण के दूसरे व्यक्ति युद्ध अपराध करने जा रहे हैं अथवा कर चुके हैं। इतने पर भी वह युद्ध के कानूनों की रक्षा के लिए आवश्यक एवं उपयुक्त कदम नहीं उठाता तथा अपराधियों को दण्ड नहीं देता।

जब एक सेनापति अपराधात्मक कदम नहीं उठाता अथवा किए गए कार्य को दण्डित नहीं करता तो इसका अर्थ यह होता है कि उसने इसे अपनी स्वीकृति प्रदान की है। इसी तर्क के आधार पर 1946 में मनीला में अमरिकी सैनिक आयोग ने जनरल यामाशिता (Yama Shita) को मौत की सजा दी।

शत्रुतापूर्ण कार्य करने वाले गैर-सरकारी व्यक्तियों का स्तर (Status of Private Individuals Who Commit Hostile Acts)—जो गैर-सरकारी व्यक्ति हथियार उठाते हैं और शत्रु के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्य करते हैं उनको सशस्त्र सेना के सदस्यों के अधिकार एवं विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होते। उन्हें शत्रु द्वारा युद्ध अपराधी माना जा सकता है। यदि ये व्यक्ति 1907 के हेग अभिसमय के अनुसार अपने-आपको संगठित करलें और युद्ध के कानून का पालन करें तो उन्हें कानूनी स्तर प्रदान किया जाएगा। जून, 1944 में फ्रांस की अन्तरंग सेनाएँ एक उच्च फ्रांसीसी सैनिक अधिकारी के अधीन संगठित हो गईं। उन्हें मित्र राष्ट्रों की सेनाओं के सर्वोच्च सेनापति द्वारा मान्यता प्रदान की गई। जर्मन सेनाओं ने उन्हें यह स्तर और सम्मान देने से मना कर दिया। इसे मित्र राज्यों की सेनाओं द्वारा युद्ध अपराध माना गया।

जासूसी (Espionage)—जासूसी करना युद्धमान राज्य के लिए उपयुक्त माना गया है। जब जासूसों को शत्रु की सीमा में पकड़ा जाता है तो उन्हें अवैध युद्ध के कार्य का दोषी माना जाता है तथा इसके लिए दण्डित किया जाता है। 1907 के हेग नियमन की धारा 106 के प्रावधानों के अन्तर्गत एक व्यक्ति को केवल तभी जासूस माना जा सकता है जबकि वह गुप्त रूप से कार्य करे, युद्धमान राज्य के कार्य सचालन क्षेत्र से सूचना प्राप्त करे और इसे विरोधी शत्रु देश को पहुँचाए। इस प्रकार जो सिपाही बिना रूप बदले हुए शत्रु के कार्य क्षेत्र में घुस आते हैं और सूचना प्राप्त करने का प्रयास करते हैं उनको जासूस नहीं माना जाता। इसी प्रकार जब सैनिक या गैर सैनिक लोग खुले रूप में चिट्ठी पत्रियों को लाते, ले जाते हैं तो जासूस नहीं माने जाते।

जासूसों की श्रेणी में सैनिक, असैनिक, स्त्री, पुरुष आदि सभी शामिल होते

हैं। जब कभी जासूसों को दण्ड दिया जाता है तो इसलिए नहीं दिया जाता कि उन्होंने युद्ध के कानूनों का उल्लंघन किया है, क्योंकि जासूसी एक वैध कार्य है। वे इसलिए दण्डित किए जाते हैं क्योंकि उन्होंने जासूसी को खतरनाक, कठिन और प्रभावहीन बना दिया था। इस प्रकार यह सन्देहजनक है कि क्या जासूसी को युद्ध अपराध माना जाए ? जासूस को यदि पकड़ लिया जाए तो न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया जाना चाहिए। अपराधी घोषित होने पर इसे साधारणतः मौत की सजा दी जाती है। यदि एक जासूस सशस्त्र सेना में शामिल हो जाता है और उसके बाद शत्रु द्वारा पकड़ लिया जाता है तो उसे युद्धबन्दी माना जाएगा और जासूस के रूप में उसके पहले किए गए कार्यों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जाएगी।

प्रथम विश्व युद्ध में युद्धमान राज्य के प्रदेश के बाहर जासूसी करना आम व्यवहार रहा, किन्तु इस अपराध के लिए अभिसमयात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा दण्ड नहीं दिया जाएगा वरन् उस राज्य के घरेलू कानून के अनुसार दिया जाएगा जिसमें यह अपराध किया गया है।

युद्ध राजद्रोह (War treason)—तथाकथित युद्ध राजद्रोह में ऐसे सभी कार्य आते हैं जो युद्धमान राज्य की सीमा में किए जाते हैं तथा उसके लिए हानिकारक तथा शत्रु के लिए लाभदायक हैं। ये न केवल आधिपत्य शत्रु राज्य में अथवा उसकी सैनिक कार्यवाही के क्षेत्र में होते हैं वरन् उसकी सीमा रेखाओं में कहीं भी हो सकते हैं। युद्ध-राजद्रोह के विभिन्न रूप होते हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख प्रो ओपेनहेम ने किया है। उनके मतानुसार इन कार्यों को युद्ध-राजद्रोह में शामिल किया जा सकता है –(1) शत्रु को दी जाने वाली प्रत्येक प्रकार की सूचना, (2) स्वेच्छा से शत्रु को किसी प्रकार की पूर्ति प्रदान करना, (3) शत्रु के सैनिक कार्यों के लिए स्वेच्छापूर्वक सहयोग देना (4) सैनिकों को आत्मसमर्पण या जासूसी के लिए प्रेरित करने का प्रयास करना, (5) शत्रु के हित में सैनिकों या अधिकारियों को घूस देने का प्रयास करना, (6) शत्रु के युद्धबन्दियों को स्वतन्त्रता देना, (7) सशस्त्र सेनाओं या इनके व्यक्तिगत सदस्यों के विरुद्ध विद्रोह में शामिल होना, (8) सैनिक रेल गाड़ियों या अन्य साधनों संचार की लाइनों अथवा संचार के माध्यम को शत्रु के लाभ के लिए तोड़ देना, इसी उद्देश्य से किसी भी युद्ध सामग्री को विनष्ट कर देना, (9) मार्ग पर रखे गए स्वयंसेवक अथवा पथ-प्रदर्शकों द्वारा जानबूझ कर सेनाओं को गलत निर्देशन देना, (10) शत्रु के लिए संवाददाता के रूप में कार्य करना, (11) शत्रु के सेवी वर्ग की रक्षा करना।

युद्ध राजद्रोह करने वाले लोगों को प्रायः मृत्युदण्ड दिया जाता है। कभी-कभी इसके स्थान पर कारावास की सजा भी प्रदान की जाती है। शत्रु के सैनिकों को युद्ध राजद्रोह का अपराधी केवल तभी माना जा सकता है जब उन्होंने युद्धमान राज्य की सीमा रेखाओं में छिप रूप में रहकर उसमें से कोई भी एक काम किया हो। 1904 के रूस-जापान युद्ध के समय दो जापानी अधिकारियों को रूस की सीमाओं में पकड़ा गया। वे चाइना के असैनिक वस्त्र धारण किए हुए थे और एक

रेलवे पुल को उडाने का उपक्रम कर रहे थे। इन्हें मृत्युदण्ड दिया गया। जासूसी की भांति युद्ध राजद्रोह के कार्य भी युद्ध के कानूनो मे मान्य हैं, किन्तु एक युद्धमान राज्य शत्रु सैनिको या शत्रु नागरिको को अपनी सीमा मे ऐसा अपराध करते हुए पकड लेता है तो उसे दण्ड देने का अधिकार है। इस प्रकार युद्ध राजद्रोह के कार्य युद्ध अपराध नहीं हैं।

युद्ध अपराधों का दण्ड
(The Punishment of War Crimes

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व युद्धापराधो के लिए प्राय कोई अभियोग नहीं चलाया जाता था। युद्ध समाप्त होने पर की जाने वाली शान्ति सन्धियो मे क्षमा सम्बन्धी धारा रखी जाती थी। इसके अन्तर्गत युद्ध मे गलत या अनुचित कार्य करने वाले सभी अपराधियो को दण्ड से मुक्ति प्रदान कर दी जाती थी। शान्ति सन्धि अपने आप मे इस प्रकार की आम माफी की द्योतक होती थी प्रथम विश्व युद्ध के बारे स्थिति मे परिवर्तन आया। हेग अभिसमय 1907 की धारा 3 के अनुसार जो युद्धमान पक्ष इन विनियमो के प्रावधानों को तोडेगा उसे मुआवजा देना पडेगा। वह पक्ष अपनी सशस्त्र सेनाओ के किसी भी सदस्य द्वारा किए कार्यों के लिए उत्तरदायी होगा। इन शब्दो मे स्पष्टत निहित है कि विनियमो के उल्लघन का सन्तोषजनक उपचार धन का भुगतान है किन्तु युद्ध के कानूनो को तोडने के वास्तविक अपराधियो को दण्ड देने और न्यायिक कार्यवाही करने के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा गया।

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद 1919 की वर्साय की सन्धि की धारा 227 मे इस प्रथा के स्थान पर मित्र एव साथी शक्तियो का यह अधिकार बताया गया कि वे युद्ध के कानूनो तथा प्रथाओ का उल्लघन करने वाले जर्मनी पर 'सैनिक न्यायालय' मे मुकदमा चला सकें। 25 जनवरी, 1919 को प्रारम्भिक शान्ति सम्मेलन मे 15 सदस्यो का एक आयोग बनाया गया जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लघन की जाँच करके यह प्रतिवेदन दे कि जर्मनी और उसके साथियो के विरुद्ध क्या कार्यवाही की जा सकती है। आयोग ने अपने प्रतिवेदन मे केन्द्रीय शक्तियो के उच्च अधिकारियो के दायित्वो से उन्मुक्ति को स्वीकार किया। इसने सिफारिश की कि एक अन्तर्राष्ट्रीय उच्च न्यायाधिकरण की स्थापना की जाए जो रिवाजो द्वारा सभ्य लोगों के बीच स्थापित, मानवता के कानूनो से निकले हुए और सार्वजनिक चेतना द्वारा स्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तो को लागू कर सके। आयोग का अमेरिकी प्रतिनिधि अपने मित्र राज्यो से इस सम्बन्ध मे भिन्न था और चाहता था कि केवल युद्ध के कानूनों और रिवाजों को ही लागू किया जाए।

सयुक्तराज्य अमेरिका और जापान के सदस्यो का विरोधी मत होने हुए भी बहुमत ने वर्साय की सन्धि की धारा 227 को स्वीकार किया जिसके अनुसार जर्मनी के भूतपूर्व सम्राट के विरुद्ध न केवल युद्ध अपराधों की जाँच के लिए वरन् अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और सन्धियो की पवित्रता के विरुद्ध सर्वोच्च अपराध की जाँच करने के हेतु पाँच न्यायाधीशों का एक न्यायाधिकरण बैठाया जाए। विलियम कैसर

को नीदरलैंड ने आश्रय दिया था और उसने उसे मित्र तथा साथी शक्तियों के लिए लौटाने से मना कर दिया । अत इस योजना को अधिक आगे नहीं बढ़ाया जा सका। दूसरे व्यक्तियों के विरुद्ध इस आधार पर अभियोग नहीं चलाया जा सका कि दोषी बताने वाले व्यक्तियों ने अपने कार्य सैनिक आदेश और उच्च अधिकारियों की आज्ञा का अनुगमन करते हुए किए थे। इसके अतिरिक्त विधि-शास्त्र के एक सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को पहले से स्थित कानून के अभाव मे किसी अपराध के लिए दण्ड नहीं दिया जा सकता। अपराध होने के बाद बनाए गए कानून के आधार पर अपराधी की परीक्षा नहीं की जा सकती।

वर्साय की सन्धि की धारा 228–230 मे युद्ध अपराधियों के सम्बन्ध मे प्रावधान थे। धारा 228 के अनुसार जर्मनी ने मित्र और साथी शक्तियों का यह अधिकार माना कि युद्ध के कानूनों और रिवाजों के विरुद्ध कार्य करने वालों को सैनिक न्यायाधिकरण के सम्मुख ला सकें। यदि ये लोग दोषी पाए जाएँ तो इन्हें कानून के अनुसार दण्ड दिया जा सकता था। जर्मन सरकार को सभी दोषी व्यक्तियों को सौंपने के लिए कहा गया। धारा 229 म अभियोग की प्रक्रिया के विस्तार का वर्णन किया गया। को धारा 230 के अनुसार जर्मनी को समस्त आवश्यक अभिलेख और सूचनाएँ प्रदान करनी चाहिए।

लाईपजिग (Leipzig) के जर्मन सर्वोच्च न्यायालय मे युद्ध अपराधों के लिए 16 व्यक्तियों पर मामले चलाए गए और इसमे से केवल 6 व्यक्तियों को मामूली सा दण्ड दिया गया। मित्र राष्ट्रों ने युद्ध अपराध के दोषी 896 व्यक्तियों के नामों की एक सूची बनाई। जर्मनी ने इन लोगों को समर्पित करने का भारी विरोध किया तो उसके सुझावों पर 7 मई, 1920 को एक समझौता किया गया। दोषी व्यक्तियों के नामों को घटा कर जर्मन सरकार को केवल 45 व्यक्तियों की सूची भेजी गई और इन पर लाईपजिग के सर्वोच्च जर्मन न्यायालय मे अभियोग चलाने की व्यवस्था की गई। 23 मई, 1921 को अभियोग प्रारम्भ हुआ, केवल 12 व्यक्तियों के अभियोग की सुनवाई की गई निर्णय मे केवल 6 को दोषी पाया गया। अपराधियों को दिए गए दण्ड साधारण थे, 6 महीने से लेकर अधिक से अधिक 4 वर्ष तक को जेल की सजा दी गई। जर्मनी के न्यायालय मे अपराधियों पर अभियोग चलाया जाना मित्र राष्ट्रों ने सुविधा की दृष्टि से स्वीकार किया और स्वय के पास यह अधिकार रखा कि यदि इस न्यायालयों के निर्णय से उन्हें सन्तोष न हो तो दुबारा से जाँच कर सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण—न्यूरेम्बर्ग
(International Military Tribual-Nunremberg)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी के प्रसिद्ध नेताओं और सैनिक अधिकारियों पर विभिन्न अपराधों के लिए उस न्यूरेम्बर्ग नगर मे अभियुक्ति लाए गए जहाँ हिटलर की नात्सी पार्टी के वार्षिकोत्सव के अधिवेशन हुआ करते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान धुरी राष्ट्रों और उनके साथियों द्वारा युद्ध के कानूनों का अत्यधिक उल्लघन

हुआ। अब इन अपराधी व्यक्तियों को प्रभावशाली दण्ड देने की माँग की जाने लगी। सम्बन्धित वक्तव्यों और घोषणाओं की सूची पर्याप्त लम्बी है। इनमें 25 अगस्त, 1941 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट और प्रधानमन्त्री चर्चिल द्वारा शरीर बन्धकों के विरुद्ध न्यायिक कार्यवाही करने से सम्बन्धित वक्तव्य महत्त्वपूर्ण था। इसके अतिरिक्त युद्ध अपराधियों को दण्ड देने की माँग कुछ अन्य अधिकारियों और संस्थाओं द्वारा भी की गई। 13 जनवरी 1942 को 9 यूरोपीय सरकारों के प्रतिनिधियों ने लन्दन के सैन्टजेम्स महल में एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसका सम्बन्ध युद्धोपरान्त युद्ध अपराधियों को दण्ड देने से था। 21 अगस्त, तथा 7 अक्तूबर 1942 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने युद्ध अपराधियों को चेतावनी दी। 7 अक्तूबर, 1942 को कॉमन्स सभा के लॉर्ड चांसलर द्वारा यह घोषणा की गई कि युद्ध अपराधों की जाँच के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ का आयोग बनेगा। सभी अपराधियों को युद्ध विराम के समय आत्म-समर्पण कर देना चाहिए और जिस तटस्थ राज्य में वे *आश्रय ग्रहण करेंगे उससे उन्हें प्रदान करने की प्रार्थना की जा सकती है।* 25 अक्तूबर, 1942 को ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रसंघ ने घोषणा की। मित्र राष्ट्रों का वक्तव्य ब्रिटिश विदेश सचिव द्वारा 17 सितम्बर, 1942 को दिया गया। 30 अक्तूबर, 1943 को मास्को की घोषणा की गई। 24 मार्च 1944 को चर्चिल और रूजवेल्ट ने वक्तव्य दिए। 15 जुलाई 1944 को प्रोविजनल फ्रांसीसी सरकार ने यह चेतावनी दी कि जर्मनी को फ्रांस के राष्ट्रजनों पर न्यायिक कार्यवाही नहीं करनी चाहिए। 26 जुलाई, 1945 को अमरिका, ब्रिटन और रूस की सम्मिलित पोटसडाम घोषणा प्रकाशित हुई। इसमें युद्ध अपराधियों के साथ न्याय करने की बात कही गई।

1943 में मास्को में एक सम्मेलन हुआ। इसमें ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा यह घोषणा की गई कि उन जर्मन अधिकारियों और नात्सी पार्टी के सदस्यों को युद्ध के बाद अभियोग के लिए भेजा जाएगा जो अत्याचार, क्रूरता और हत्याकाण्ड के लिए उत्तरदायी हैं। यह कार्यवाही वहीं की जाएगी जहाँ ये अपराध किए गए हैं। 1945 के याल्टा सम्मेलन में इस संकल्प का दोहराया गया। इसके बाद संयुक्त राष्ट्र युद्ध अपराध आयोग लॉर्ड राइक की अध्यक्षता में बनाया गया। इसे युद्ध अपराधियों की सूची तैयार करने का काम सौंपा गया तथा व्यक्तियों को गिरफ्तार करने का अधिकार भी दिया गया।

8 अगस्त 1945 को मास्को घोषणा की क्रियान्विति के लिए संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ ने यूरोपीय धुरी के प्रमुख युद्ध अपराधियों पर अभियोग चलाने और दण्ड देने के सम्बन्ध में एक समझौता किया। इस समझौते में अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण की *स्थापना* से सम्बन्धित प्रावधानों का विस्तार से उल्लेख किया गया। इसके संविधान, कार्य एवं क्षेत्राधिकार का विवेचन किया गया। इसके आधार पर न्यूरेम्बर्ग में नात्सी नेताओं पर युद्धपराधों के लिए अभियोग चलाए गए।

न्यूरेम्बर्ग के अभियोगों का औचित्य सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क दिए जाते हैं। प्रमुख तर्क ये हैं—(1) 24 सितम्बर, 1927 को जर्मनी सहित राष्ट्रसंघ ने आक्रमणात्मक युद्ध को अपराध घोषित किया था। (2) 1928 की युद्ध विरोधी केलाग-ब्रियां सन्धि में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए युद्ध के उपाय की निन्दा की गई और इन्हें शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाने पर जोर दिया गया। इस सन्धि के अन्तर्गत जर्मनी, जापान और इटली आदि देशों ने युद्ध न छेड़ने का संकल्प किया था। (3) युद्ध में धुरी राष्ट्रों ने असाधारण और अमानवीय क्रूरता का व्यवहार किया और इसलिए मित्र राष्ट्र प्रतिकार की मांग करते थे। पहले से ही युद्ध अपराधों तथा न्यायाधिकरण के कानून बना दिए गए ताकि कानूनों के अभाव में अभियोग न चलाए जाने की प्रथम विश्वयुद्ध की स्थिति उत्पन्न न हो जाए।

लन्दन समझौते के चार्टर के अनुसार न्यायाधिकरण ने 20 नवम्बर, 1945 से जर्मन युद्ध अपराधियों के मामले सुनना प्रारम्भ किया और 31 अगस्त, 1946 तक सुनवाई चलती रही। न्यायाधिकरण ने 1 अक्तूबर, 1946 को अपना निर्णय दिया। इसमें 22 नात्सी नेताओं में से तीन को मुक्त कर दिया गया, 12 को प्राणदण्ड दिया गया, तीन को आजीवन कारावास और चार को विभिन्न काल का कारावास दण्ड दिया गया।

न्यायाधिकरण का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the Tribunal)—अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण में चार न्यायाधीश रखे गए। समझौते में शामिल प्रत्येक राज्य द्वारा इनमें से एक की नियुक्ति की जानी थी। चार मुख्य न्यायाधीशों के साथ साथ चार वैकल्पिकों की नियुक्ति भी की गई। चार्टर में अन्य प्रावधान भी थे जिसका सम्बन्ध उच्चाधिकारी के आदेशों की रक्षा, आधिकारिक स्थिति के अतिरिक्त व्यक्ति का दायित्व और निष्पक्ष अभियोग की सुरक्षा सम्बन्धी प्रावधान मुख्य थे। न्यायाधिकरण के चार्टर की धारा 6 मुख्य थी जिसमें न्यायालय के क्षेत्राधिकार को वर्णित किया गया था।

निम्नलिखित कार्यों अथवा इनमें से किसी भी एक को न्यायाधिकरण के क्षेत्राधिकार में आने वाला अपराध माना गया जिसके लिए व्यक्तिगत उत्तरदायित्व सौंपा जा सकता था—

1 शान्ति विरोधी अपराध—इस शीर्षक के अन्तर्गत ऐसे अपराधों को लिया जा सकता है जिनका सम्बन्ध आक्रमणात्मक युद्ध की योजना बनाने, तैयारी करने, इसका प्रारम्भ और संचालन करने, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, समझौतों और आश्वासनों का उल्लंघन करते हुए युद्ध करने और इन सभी प्रकार के युद्धों की पूर्ति के किसी सामान्य योजना अथवा षड्यन्त्र में भाग लेने से था।

2 युद्ध अपराध—जैसे युद्ध की प्रथाओं और नियमों को तोड़ना और ऐसा करते हुए आश्रित प्रदेश की नागरिक जनता की हत्या, दुर्व्यवहार तथा उनको दास बनाना, युद्धबन्दियों की हत्या अथवा दुर्व्यवहार, शरीर बन्धकों की हत्या, सार्वजनिक या व्यक्तिगत सम्पत्ति की लूट, सैनिक आवश्यकता न होने पर भी नगरों का विनाश आदि आदि।

3 मानवता के विरुद्ध अपराध—जैसे युद्ध से पूर्व अथवा युद्ध के बाद असैनिक जनता के साथ अमानवीय कार्य करना, उन्हें दास बनाना, हत्या करना और राजनीतिक, जातिगत या धार्मिक आधारों पर अत्याचार करना ।

उपरोक्त म मे किसी भी अपराध को करने के लिए सामान्य योजना या षडयन्त्र को बनाने अथवा क्रियान्वित करने मे भाग लेने वाले सभी नेतागण, सगठनकर्ता और प्रेरक उन सभी कार्यों के उत्तरदायी माने जाएँगे जो इन्हे क्रियान्वित करने के लिए किसी भी व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं ।

मास्को घोषणा के प्रावधानो के अनुरूप न्यूरेम्बर्ग न्यायाधिकरण को उन जर्मन अपराधियो पर विचार करना था जिनके अपराधो का कोई निश्चित भौगोलिक क्षेत्र नही था और जिनको मित्र राष्ट्रो के सयुक्त निर्णय द्वारा दण्ड दिया जा सकता था ।

1945 के लन्दन समझौते का पालन चार मौलिक हस्ताक्षरकर्ताओ के अतिरिक्त उन्नीस राज्यो ने किया ।

न्यूरेम्बर्ग अभियोगों का विवरण (Description of Noremberg Trials)—न्यूरेम्बर्ग न्यायाधिकरण मे अभियुक्तो पर यह आरोप लगाया गया था कि उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो, सन्धियो और आश्वासनो का उल्लघन करके आक्रमणात्मक युद्ध की योजना बनाई है तथा उसे सचालित किया है । इस योजना का माध्यम जर्मनी की नात्सी पार्टी थी । इसका उद्देश्य जर्मनी का शस्त्रीकरण, खोए हुए प्रदेशों की प्राप्ति जर्मनी का विस्तार और जर्मन जाति द्वारा आबाद किए गए प्रदेशो को हस्तगत करना था । इन उद्देश्यो की प्राप्ति क लिए पार्टी ने अनेक अमानुषिक कार्य किए जिन्हे देखकर मानवता का हृदय भी कम्पित हो उठा ।

लक्जम्बर्ग म पार्टी के गुप्त पुलिस विभाग गेस्टापो (Gestapo) द्वारा एक हजार नागरिको को गैर-कानूनी तरीके से प्राणदण्ड दिया गया । लोगो को एक कतार मे खडा करके गोलियो का निशाना बनाया गया ताकि कम स कम गोलियाँ खच करक अधिक से अधिक लोगो की जान ली जा सके । विभिन्न प्रदेशों म असैनिक जनता को गोलियो से निर्दयता के साथ भूना गया । युद्धबन्दियो के साथ किया गया दुर्व्यवहार पशुता की सीमा थी । उनक भोजन वस्त्र, चिकित्सा और निवास का समुचित प्रबन्ध न करके जबर्दस्ती बेगारें ली गई । शरीररक्षकों को युद्ध के नियमो की अवहेलना करते हुए मौत के घाट उतारा गया । न्यायाधिकरण को इन समस्त आरोपों क सम्बन्ध मे विचार करना था ।

अभियुक्तो ने उक्त सभी आरोपो का खण्डन किया और अपनी सफाई म विभिन्न तर्क प्रस्तुत किए । उनका कहना था कि वे आक्रमणात्मक युद्ध की योजना बनाने तथा उसका सचालन करने के लिए उत्तरदायी नहीं हैं और न उन पर यह आरोप सिद्ध हो सका है । विधि शास्त्र का मौलिक सिद्धान्त यह है कि पहले कानून विद्यमान रहता है और यदि कोई उसका उल्लघन करे तो उसे दण्ड दिया जाता है । कार्य हो जाने के बाद उसके सम्बन्ध मे कानून बनाना और उन कानूनो के आधार पर पहले किए गए कार्यों को अपराध घोषित करना अनुचित तथा अन्यायपूर्ण है ।

घटना के बाद बनने वाला तथा भूतकाल में अपना प्रभाव रखने वाला कानून सर्वथा अनुपयुक्त है क्योंकि नियम के अभाव में दण्ड नहीं दिया जा सकता। अभियुक्तों का कहना था कि न्यूरेम्बर्ग न्यायाधिकरण जिस कानून के आधार पर कार्य कर रहा है वह 1945 के चार्टर में बनाया गया है। इसे छ: वर्ष पूर्व किए गए तथाकथित अपराधों पर लागू नहीं किया जा सकता। जब ये कार्य किए गए तो इन्हें अपराध घोषित करने वाला कोई कानून स्थित नहीं था। किसी सम्प्रभु राज्य न चार्टर से पूर्व आक्रमणात्मक युद्ध को अपराध घोषित नहीं किया, ऐसे अपराधों को कोई दण्ड देने वाला नहीं था। परवर्ती न्यायालय उनके बारे में विचार करने का कोई अधिकार नहीं रखता था।

अभियुक्तों ने युद्धबन्दियों के साथ दुर्व्यवहार सम्बन्धी आरोप के सम्बन्ध में बताया कि सोवियत संघ द्वारा इस विषय में जेनेवा अभिसमय पर हस्ताक्षर नहीं किए गए थे, इसलिए उसके युद्धबन्दियों के बारे में यह अभिसमय लागू नहीं होता।

अभियुक्तों ने उच्च अधिकारी के आदेश पालन के तर्क को काम में लेते हुए कहा कि युद्ध की योजना हिटलर द्वारा बनाई गई थी और उन्होंने हिटलर की आज्ञाओं का अनुशीलन मात्र किया है, जो उनका कर्त्तव्य था। युद्ध का सारा दायित्व हिटलर पर है और उन्हें अपराधी नहीं माना जा सकता।

अभियुक्तों ने अपनी सफाई में यह भी बताया कि युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राज्य द्वारा किया जाता है इसका उत्तरदायित्व व्यक्ति पर न होकर राज्य पर ही होता है। इसलिए उन्हें व्यक्तिगत रूप से दण्डित नहीं किया जा सकता।

न्यायाधिकरण ने अभियुक्तों के इन तर्कों पर विचार किया, किन्तु निम्न कारणों से इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सका—

1 1945 का चार्टर मनमाना कानून न होकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अभिव्यक्ति है। जर्मनी ने बिना किसी शर्त के आत्म-समर्पण किया है। अत मित्र राष्ट्र यह चार्टर बनाने की शक्ति रखते थे। न्यायाधिकरण इससे बँधा हुआ है।

2 आक्रमणात्मक युद्ध का सचालन न केवल अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है वरन् यह सर्वोच्च अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है। इसमें युद्ध अपराधों की समस्त बुराइयाँ निहित रहती हैं। जर्मनी ने पोलैण्ड के विरुद्ध आक्रमणात्मक युद्ध छेड़ा था। दूसरे राज्यों पर हमला करते समय भी उसके पास उचित कारण नहीं थ।

3 नियम के अभाव में दण्ड के अभाव का तर्क बचकाना और न मानने योग्य है जो राज्य सन्धियों और आश्वासनों की अवहेलना करके पड़ोसी राज्यों पर हमला करता है उसके उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्डित करना यदि अन्याय है तो न्याय की परिभाषा बदलनी पड़ेगी।

4 अभियुक्त जर्मनी के उच्च पदाधिकारी थे। उन्हें राज्य द्वारा की गई सन्धियों और अपने द्वारा किए जाने वाले अपराधों का ज्ञान था। यह जानते हुए भी उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन किया। अत अपने बचाव में उनके द्वारा दिए गए तर्क निराधार हैं।

5. न्यायाधिकरण ने अन्तर्राष्ट्रीय अपराध के लिए व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का उल्लेख करते हुए बताया कि राज्य की रचना उसमें रहने वाले व्यक्तियों से होती है। अतः उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्ड देकर ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अनुशीलन कराया जा सकता है। अपराधी व्यक्ति सरकारी पद पर होने की युक्ति से अपना बचाव नहीं कर सकते। यदि राज्य के कार्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अतिक्रमण होता है तो इसे करने वाला व्यक्ति अवश्य दण्डित होना चाहिए। उच्च अधिकारी के कहने पर किसी की हत्या करने से हत्यारा निरपराध घोषित नहीं किया जा सकता। यदि अपराधियों ने हिटलर के कहने पर कार्य किए हैं तो इस तथ्य के आधार पर उनका उत्तरदायित्व नहीं मिट जाता। उनके दण्ड को कम किया जा सकता है। दण्ड को कम करने का प्रश्न भी उस समय तक पैदा नहीं होता जबकि अपराध जानबूझ कर, निर्दयतापूर्वक और बिना उचित कारण के व्यापक स्तर पर किए गए हों।

न्यायालय के मतानुसार उपस्थित साक्षियों से यह सिद्ध था कि कुछ अभियुक्तों ने आक्रमणात्मक युद्धों के नियोजन और सचालन में भाग लिया। इस सम्बन्ध में केवल हिटलर के नाम का बचाव प्रस्तुत करना गलत है क्योंकि अकेला हिटलर बिना अपने साथियों के सहयोग के आक्रमणात्मक युद्ध का आयोजन एवं सचालन नहीं कर सकता था। हिटलर के उद्देश्यों और इरादों को जानते हुए भी उसका सहयोग देने वाले लोग इस कार्य के अपराधी माने जाएँगे।

न्यूरेम्बर्ग अभियोगों का महत्त्व एवं आलोचना (Importance and Criticism of Nuremberg Trials)—न्यूरेम्बर्ग अभियोगों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इनका महत्त्व निम्न प्रकार वर्णित किया जा सकता है—

1 इसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन के लिए उत्तरदायी बनाकर उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बनाया।

2 इसने उन अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को लागू करने का प्रयास किया जो हेग अभिसमयों तथा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों द्वारा निश्चित किए गए थे।

3 युद्ध के नियमों को भंग करने वालों को दण्ड देकर भविष्य में इसकी पुनरावृत्ति को रोकने का प्रयास किया गया और इस प्रकार स्थायी शान्ति की स्थापना की दिशा में योगदान किया।

4 दुनिया के राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को आदर देने लगे तथा इसके विकास और संहिताकरण की सम्भावनाएँ बढ़ गईं।

उक्त तथ्यों के अतिरिक्त न्यूरेम्बर्ग अभिसमयों के सम्बन्ध में अनेक विरोधी विचार भी प्रस्तुत किए गए। विचारकों ने अनेक दृष्टियों से इनकी आलोचना की। यह कहा गया कि विजेताओं द्वारा पराजित राष्ट्र के नेताओं को दण्डित करके इसने

इतिहास में ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किया कि भविष्य में विजेता राज्य इसी प्रकार अन्य देश के नेताओं का उन्मूलन करते रहें। अभियोगों की आलोचना विभिन्न आधारों पर की गई। कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं—

1 प्रथम आलोचना यह की गई कि न्यायाधिकरण में तटस्थ न्यायाधीशों का अभाव था। अनेक आलोचकों के मतानुसार यह न्यायालय की रचना का एक बहुत बड़ा दोष था। यहाँ न्याय को प्रतिकार का रूप दे दिया गया। प्राध्यापक स्मिथ ने इस मत का समर्थन किया है।

प्रो ग्लान का कहना है कि ऐसे तटस्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं थी क्योंकि अपराधियों द्वारा किए गए कार्य इतने भयानक थे कि उनमें मानवता के न्यूनतम चिह्नों को भी मिटा दिया गया था कोई भी तटस्थ न्यायाधीश साक्षियों को सुनने के बाद तटस्थ नहीं रह सकता था। इसके अतिरिक्त न्यायाधीश यह भी विचार कर सकता था कि यदि द्वितीय विश्वयुद्ध के अपराधियों को दण्ड नहीं दिया गया तो उनका राज्य भी ऐसी ही घटनाओं का शिकार बन सकता है।

2 न्यायाधिकरण की कुछ आलोचनाएँ इस आधार पर की गई कि इसमें जर्मन न्यायाधीशों का अभाव था।

इस सम्बन्ध में समालोचकों ने बताया कि आईकमिन अभियोगों के अनुभव से ऐसा लगता था कि स्वयं के देशवासियों का युद्ध अपराधों का दण्ड देने के लिए उसी राष्ट्र के न्यायाधीशों को नियुक्त करना अधिक उपयोगी नहीं रहेगा।

न्यूरम्बर्ग अभियोगों में अपनाई गई प्रक्रियाओं से सम्बन्धित आलोचनाएँ इस तथ्य को भुला देती हैं कि जो प्रक्रियाएँ एक देश में निष्पक्ष और सामान्य प्रतीत होती हैं व दूसरे देश में वहाँ के नागरिकों के लिए कुछ पहलुओं की अवहेलना करेंगी। न्यूरेम्बर्ग अभियोगों में अपनाई गई तकनीकें जर्मनी के लोगों के लिए पूर्णतः अपरिचित नहीं थीं।

3 जर्मनी के वकीलों द्वारा एक प्रमुख आलोचना यह की गई कि द्वितीय विश्व युद्ध के विजेताओं ने अपनी सशस्त्र सेनाओं द्वारा किए गए सदस्यों के युद्ध अपराधों की जाँच नहीं की। युद्ध में दोनों पक्षों द्वारा कम या अधिक मात्रा में युद्ध अपराध किए गए थे। इस सम्बन्ध में फ्रांसीसी नेता मेन्थम (Menthim) का कहना है कि "कोई देश अपने प्रदेश में निर्दोष नहीं था। प्रत्येक युद्ध स्वयं ऐसी बुराइयाँ उत्पन्न करता है जो व्यक्तिगत और सामूहिक अपराधों में युक्त होते हैं। युद्ध व्यक्ति में सोई हुई दुर्भावनाओं को जाग्रत कर देता है।" यदि यह सत्य है तो यह भी सच है कि दुर्भावनाएँ केवल धुरी राष्ट्रों की ही जाग्रत नहीं हुई होंगी वरन् मित्र राष्ट्र भी इससे अछूते नहीं रहे होंगे। सोवियत संघ ने 1931 में नीदरलैण्ड पर आक्रमण करके युद्ध के नियमों का अतिक्रमण किया, किन्तु विजेता राज्य होने के कारण उस पर कोई मुकदमा नहीं चलाया गया। न्यूरम्बर्ग अभियोगों से सम्बन्धित चार्टर की रूप रचना इसी दृष्टिकोण से की गई थी। न्यायाधिकरण का क्षेत्राधिकार

ऐसा रखा गया ताकि केवल जर्मनी ही अपराधी घोषित हो सके। जाँच के समय न्यायाधिकरण के सम्मुख मित्र राष्ट्रों के युद्ध अपराध भी लगातार आते रहे, किन्तु उसने उन्हें अपने विचार का विषय नहीं बनाया। यह सच है कि हारे हुए पक्ष के विरुद्ध अभियोग चलाकर केवल एक पक्षीय कार्यवाही की गई।

4 न्यूरेम्बर्ग अभियोगों में पेरिस की सन्धि को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया था। इसका उल्लंघन करने वाले जर्मन नेताओं को दण्डित किया गया। वास्तव में तथ्य यह है कि पेरिस की सन्धि की भाषा कानूनी नहीं थी वरन् धर्म शास्त्रों की भाषा थी। इसके आधार पर किसी को दण्ड देना उचित नहीं था। जापान ने मंचूरिया में चीन पर आक्रमण किया और इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण किया तो स्पष्टतः पेरिस की सन्धि के प्रावधानों का उल्लंघन था, किन्तु ऐसी स्थिति में अपराधी पर कोई अभियोग नहीं चलाया गया।

सुदूरपूर्व के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण
(International Military Tribunal for the Far East)

न्यूरेम्बर्ग अभियोगों से मिलता हुआ सुदूरपूर्व के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण स्थापित किया गया। इससे सम्बन्धित चार्टर ने युद्ध अपराधों की श्रेणियों का उल्लेख किया। उसमें शान्ति के विरुद्ध अपराध मानवता के विरुद्ध अपराध और इन अपराधों के लिए किया जाने वाला नियोजन उल्लेखित किया गया इस न्यायाधिकरण में ग्यारह न्यायाधीश थे जो उन राज्यों का प्रतिनिधित्व करते थे जिन्होंने जापान के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था। अभियोग 4 जून, 1946 को प्रारम्भ हुए और निर्णय 4 नवम्बर, 1948 को दिया गया। न्यायाधिकरण की रचना की प्रारम्भिक घोषणा प्रशान्त क्षेत्र में मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च कमाण्डर जनरल मैकआर्थर द्वारा की गई। 1948 में संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णय में यह रूलिंग दी कि यह न्यायाधिकरण संयुक्त राज्य अमेरिका का न्यायालय नहीं था। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय इसके निर्णयों की पुनर्वीक्षा करने का अधिकार नहीं रखता।

सुदूरपूर्व से सम्बन्धित टोकियो अभियोगों में कुल 55 तरह के आरोप थे जिन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया था —

1 36 आरोप शान्ति के विरुद्ध किए गए अपराधों से सम्बन्धित थे। उदाहरण के लिए—पूर्व एशिया, प्रशान्त महासागर और हिन्द महासागर पर प्रभुता लाने के लिए षड्यन्त्र करना, मंचूरिया और चीन पर प्रभुत्व स्थापित करना जर्मनी और इटली के साथ मिलकर विश्व पर प्रभुता पाने की दृष्टि से षड्यन्त्र करना और अवैध युद्धों का संचालन करना आदि-आदि।

2. 16 अपराधों का सम्बन्ध हत्या सम्बन्धी आरोपों से था।

3 इसके अतिरिक्त तीन आरोप दूसरे युद्ध अपराधों और मानवता विरोधी अपराधों से सम्बन्धित थे।

अभियुक्तों ने न्यायाधिकरण के सम्बन्ध में यह आपत्ति उठाई कि इसके सभी

न्यायाधीश विजेता राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए न्याय की आशा करना व्यर्थ है। न्यायाधीशों ने इस आपत्ति को स्वीकार नहीं किया। उनके मतानुसार वे न्याय के आसन पर किसी राज्य के प्रतिनिधि के रूप में नहीं बैठे हैं, किन्तु व्यक्तिगत रूप से न्यायालय द्वारा उन अपराधियों को मृत्यु दण्ड दिया गया जिन पर दूसरे अपराधों के साथ-साथ युद्धबन्दियों के साथ दुर्व्यवहार करने, असैनिक जनता के सम्बन्ध में युद्ध के नियमों का उल्लंघन करने और समझौते का उल्लंघन करने के आरोप थे। जिन व्यक्तियों ने केवल शान्ति के विरुद्ध अपराध किया था उनको विभिन्न अवधियों के कारावास दण्ड दिए गए।

न्यायाधिकरण में भारतीय प्रतिनिधि डॉ० राधा विनोद पाल थे। इन्होंने न्यायालय के बहुमत के निर्णय में अपनी असहमति प्रकट की। उनके मतानुसार युद्ध अभी तक कानून का विषय नहीं बन सका है। पेरिस की सन्धि सभी देशों पर अनिवार्य रूप से लागू नहीं की जा सकती और अन्तर्राष्ट्रीय कानून अथवा रिवाज में कहीं भी युद्ध को अपराध घोषित नहीं किया गया है। जापान के कार्यों की तुलना जर्मनी के व्यवहार से नहीं की जा सकती क्योंकि जापान ने देशभक्ति की भावना से प्रेरित हो कर सभी कार्य किए। अन्य देश की जनता के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का षडयन्त्र करना कोई अपराध नहीं होता। इसलिए मान्य न्यायाधीश के मतानुसार जिन अभियुक्तों पर आरोप लगाए गए वे सभी निरपराध थे। अतः उनको मुक्त किया जाना चाहिए। अपने मत के सम्बन्ध में डॉ० राधा विनोद पाल का वक्तव्य उल्लेखनीय रहा। उनके शब्दों में एक न्याय करने वाले अभिकरण को राजनैतिक भावना को उचित सिद्ध करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, न्याय का सहारा प्रतिशोधपूर्ण प्रतिकार के लिए नहीं लेना चाहिए। इस समय संसार को उदार विशाल चित्त एवं एक दूसरे को समझने वाले प्रेम भाव की आवश्यकता है। घटना घटने के बाद उत्तेजना में लिया गया निर्णय संघर्ष को समाप्त नहीं करता। जब समय बीतने पर उत्तेजित भावनाएँ और पक्षपात पूर्ण दृष्टिकोण शान्त हो जाते हैं तो बुद्धि पर छाया हुआ भ्रान्ति का आवरण हट जाता है, उस समय न्याय की देवी दोनों पलड़ों को सन्तुलित रूप से अपने हाथ में थाम लेती है और अतीत काल की निन्दा एवं स्तुति अपना स्थान परिवर्तित कर लेती है। यह विचार उस गौरवपूर्ण परम्परा के अनुरूप है जो रावण के वध के बाद भगवान् राम द्वारा स्थापित की गई थी। इसके अनुसार व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके साथ वैर भाव रखना अर्थहीन है।

राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों में अभियोग
(Trials by National Tribunals)

कुछ देशों में दोषी अपराधियों पर साधारण फौजदारी न्यायालयों में मुकदमा चलाया गया। इनमें से अधिकांश मामले विजेता राज्यों के सैनिक न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किए गए। जिन राज्यों के घरेलू व्यवस्थापन में इस प्रकार की व्यवस्था थी केवल उन्होंने ऐसा आयोजन किया।

नवम्बर, 1948 के अन्त तक कुल 7109 अपराधियों को युद्ध अपराधों के

लिए बन्दी बताया गया। इसमे न्यूरेम्बर्ग और टोकियो के अभियोगो से प्रभावित लोग भी शामिल हैं। इन अपराधियो मे 3686 को दोषी पाया गया तथा 924 अभियोग रद्द कर दिए गए। दण्डित अपराधियो मे 1019 को मृत्युदण्ड मिला इनमे से 33 ने आत्महत्या कर ली। इस समय तक 2667 अपराधियों को जेल की सजा मिल चुकी थी और 2499 मामले विचाराधीन थे, अनेक अपराधी फरार हो गए। बाद मे इनम से कुछ को उनकी सरकारी द्वारा पकड़ा गया तथा युद्ध के कानूनो का उल्लंघन करने के लिए इन्हें दण्डित किया गया। 1964 के प्रारम्भ तक पश्चिम जर्मनी मे लगभग 5500 व्यक्तियो के विरुद्ध न्यायिक कार्यवाही की गई।

राष्ट्रीय अभियोगो मे से अनेक मास्को घोषणा से भिन्न थे और युद्ध के कानूनो के उल्लघन पर आधारित थे। इन अभियोगो का आधार मुख्यतः वह अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजों और अभिसमयात्मक कानून था जो उस समय स्थित था।

एडोल्फ आइकमान का मुकदमा

द्वितीय महायुद्ध मे एडोल्फ आइकमान हिटलर का अत्यधिक विश्वसनीय सहयोगी था जिसने यहूदियो का व्यवस्थित रूप मे दमन किया। आइकमान न्यूरेम्बर्ग से बच निकला, किन्तु इजरायल का गुप्तचर विभाग उसे विश्व मे सब जगह खोजता रहा। अन्त मे 11 मई, 1960 को अर्जेन्टाइना से पकड कर उसे गुप्त रूप मे इजरायल ले आया गया। आइकमान को पकड कर लाने की सम्पूर्ण कार्यवाही गैर-कानूनी ढग से की गई थी, अत अर्जेन्टाइना ने इजरायल पर आरोप लगाया किन्तु इसका कोई असर नही हुआ क्योंकि यहूदियो के हत्यारे को इजरायल (जो कि यहूदी राज्य है) दण्ड देने के लिये बेचैन था। मुकदमे से पूर्व सारी जाँच पडताल करने मे लगभग पूरा एक वर्ष लग गया। मुकदमा 11 अप्रैल, 1961 से शुरू हुआ, आइकमान को नाजियो के साथ सहयोग करने और यहूदियों के प्रति 'जाति वध' (Genocide) की नीति अपनाने और यहूदियो का सहार करने का दोषी ठहराया गया और प्राण दे दिया गया।

वियतनाम युद्ध से सम्बन्धित अपराध

वियतनाम युद्ध के अपराधियो पर मुकदमा चलाने के लिए 13 नवम्बर, 1967 को एक 'अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध अपराध ट्रिब्यूनल' (International War Crime Tribunal) की स्थापना की गई। इस ट्रिब्यूनल की स्थापना और वियतनाम युद्ध के अपराधियो को दण्डित करने के विचार को प्रेरित और प्रोत्साहित करने वालो मे ब्रिटेन के प्रख्यात दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसैल अग्रणी थे। डॉ शील के आसोपा ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अपनी पुस्तक मे इस ट्रिब्यूनल के कार्यों और ट्रिब्यूनल द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट का सारांश प्रस्तुत किया है। यह उपयुक्त होगा कि हम डॉ आसोपा के सारांश और अभिमत को उन्हीं के शब्दो में प्रस्तुत करें—

अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध अपराध ट्रिब्यूनल द्वारा अपराधो को पाँच श्रेणियो मे बाँटा गया। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यह ट्रिब्यूनल कोई सरकारी सस्था नही थी और न ही राज्यो का सरकारी स्तर पर इसे सहयोग मिला था। अन्तर्राष्ट्रीय

नातकता व अन्य की स्थापना करने व विश्व शान्ति व मानवता को खतरा पहुँचाने वाले तत्वों को सजा देने के उद्देश्य से इसे गैर सरकारी स्तर पर ही गठित किया गया था। युद्ध अपराधों को निम्न श्रेणियों में रखा गया—

(1) युद्ध छेड़ना, युद्ध की तैयारी करना, व अन्तर्राष्ट्रीय सधियों का उल्लंघन करना।

(2) विषैली व हानिकारक गैसों, रासायनिकों तथा अन्य वैज्ञानिक परीक्षणों का मानव-जाति पर प्रयोग करना।

(3) असैनिक व सार्वजनिक महत्त्व के स्थानों—स्कूलों, कॉलेजों, लायब्रेरी म्यूजियम, सग्रहालयों, धार्मिक स्थानों का नष्ट करना व उसकी सम्पत्ति लूटना।

(4) अस्पतालों तथा घायलों व बीमारों की देखभाल करने वाली संस्थाओं को क्षति पहुँचाना।

(5) युद्ध बन्दियों के साथ दुर्व्यवहार करना, असैनिक नागरिकों को आक्रमण का शिकार बनाना, आतंकवादी कार्यवाही करना, जिनोसाइड द्वारा मानवता को क्षति पहुँचाना, सामूहिक मृत्यु दण्ड देना, इत्यादि।

इस ट्रिब्यूनल में यूरोप के अनेक राज्यों से न्याय विशेषज्ञों और सार्वजनिक क्षेत्रों में जाने-माने व्यक्तियों को चुना गया इसके अतिरिक्त विकासशील एशियाई-अफ्रीकी देशों से भी जन-प्रतिनिधियों व न्यायवेत्ताओं को आमन्त्रित किया गया।

इसमें पश्चिम जर्मनी से राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर वुल्फगांग एवेन्ड्राथ तथा ग्युन्थर एन्डेरेस का लिया गया। प्रोफेसर एन्डरेस ने 'हिरोशिमा' पर महत्वपूर्ण शोध कार्य किया तथा 'क्लाउडे ईथरले' से सम्बन्धित तथ्यों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। तुर्की से प्रोफेसर मेहमत अली ग्यबार को लिया गया जो वामपंथ, राजनैतिक दल के प्रमुख थे। इटली से प्रमुख सासद लेलियो बासो को चुना गया। फ्रान्स से मदाम जिसौल द बाउवियर को तथा अमेरिका से नीग्रो नेता स्टाउले कारमिखायल को लिया गया। ब्रिटेन से श्रम संगठनों के नेता लॉरेन्स डेली का मैक्सिको के भूतपूर्व राष्ट्रपति लेसारो कारडेनाज, युगोस्लाविया से सुप्रसिद्ध लेखक व्लादिमियर डेजियर को ट्रिब्यूनल का सदस्य बनाया गया। पाकिस्तान से महमूद अली कसूरी को भी इस ट्रिब्यूनल में आमन्त्रित किया गया था। नामों को यहाँ बताने का उद्देश्य यह है कि ट्रिब्यूनल लेखकों दार्शनिकों, न्यायविदों, राजनेताओं, समाज सुधारकों मानवतावादियों तथा विश्व व्यवस्था में विश्वास रखने वालों का एक मिला-जुला संगठन था जो किसी प्रकार के पूर्वाग्रहों से प्रभित नहीं था।

ट्रिब्यूनल द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट से पता चलता है कि इस युद्ध में करीब 80 लाख वियतनामी नागरिकों को बन्दी शिविरों में रखा गया। जबरदस्त श्रम करवाया गया और शिविरों में अमानवीय वातावरण रखा गया। बन्दियों पर प्रयोगात्मक शल्य क्रियाएँ की गई और अनेक प्रकार के रासायनिकों की संहारक क्षमता का परीक्षण किया गया। अनेक घातक औषधियों को भी इन बन्दियों पर आजमाया गया। अमेरिकन सैनिकों ने वियतनामी नागरिकों, असैनिक स्थानों, स्कूलों व धार्मिक

स्थानों तक पर आक्रमण किया और अनावश्यक क्षति पहुँचाई। कहा जाता है कि प्रति सप्ताह 650 उड़ानें नागरिक क्षेत्रों से की जाती थी और करीब 1000 पौण्ड विस्फोटक जिसमें नेपाम, फासफोरस, व अन्य भयानक परिणाम पैदा करने वाले पदार्थों का प्रयोग किया जाता था। ट्रिब्यूनल ने पाया कि 1964 के बाद से वियतनाम में दो प्रमुख विषैली गैसों का प्रयोग किया गया जिनका फार्मूला इस प्रकार है —

1 $C_6H_5-CO-CH_5-CL$ (Choloroacetophenomon)

2 C_6H_5 $CU-BR-CH$ (Bromborzylcyanure)

1965 के बाद से इनके प्रयोग में और भी वृद्धि हुई। ट्रिब्यूनल के चीफ प्रोसीक्यूटर न्यायमूर्ति जैक्सन (अमेरिका) ने कहा कि 'यदि सन्धियों का उल्लंघन तथा युद्ध नियमों की उपेक्षा अपराध है तो इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि यह अपराध एक अमेरिकन करता है या एक जर्मन करता है। अपराधी तो अपराधी है और कानून व न्याय की गरिमा रखने के लिए अपराधी को दण्ड दिया जाना चाहिए। कानून के क्षेत्र में *हम दुहरा व्यवहार नहीं रख सकते। ऐसा नहीं हो सकता है कि एक विशेष* अपराध के लिए जर्मन को अपराधी माना जाए और अमेरिका को नहीं।'

वियतनाम युद्ध अपराधों की व्याख्या व अपराधियों पर लगाये आरोपों व अपराधियों द्वारा की गई स्वीकारोक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि कानून की पकड़ ढीली नहीं है और यह कानून विरोधी तत्वों तक पहुँच तक उन्हें दण्ड देने में सक्षम है बशर्ते कि मानवता की आत्मा बची रहे और मानवता—यानी सम्पूर्ण मानव जाति कानूनों के उल्लंघन को अपराध मानकर अपराधियों को दण्ड देने के लिए हमेशा तत्पर रह सके। बगैर इस तत्परता के अन्तर्राष्ट्रीय विधि में सामान्य जन की आस्था को बनाए रखना मुश्किल होगा।'

मानवता विरोधी अपराध
(Crimes againt Humanity)

न्यूरेम्बर्ग के अन्तर्राष्ट्रीय चार्टर के धारा 6 में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अपराधों की एक नई श्रेणी का उल्लेख किया गया जिसे मानवता विरोधी अपराध कहा गया। इस धारणा की आलोचना कोई इस आधार पर की गई कि परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इस प्रकार का अपराध नहीं माना गया था। ऐसे अपराधों पर अभियोग चलाना भी एक प्रकार से भूतकाल में प्रभाव रखने वाला दण्ड बन जाता है।

इस श्रेणी में आने वाले अपराधों को दो पृथक् वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत हत्याएँ करना, दास बनाना, जबरदस्ती श्रम लेना तथा अन्य ऐसे अमानवीय कार्य आते हैं जो युद्ध के समय शत्रु नागरिकों की नागरिक जनसंख्या के विरुद्ध किए जा सकते हैं। इन अपराधों का दोषी निश्चय ही युद्ध अपराधी होता है। इस श्रेणी में युद्ध से पूर्व किए गए राजनैतिक, जातीय अथवा धार्मिक अपराधों को भी शामिल किया गया। इसे न्यायाधिकरण के क्षेत्राधिकार का विषय बनाया गया।

युद्ध से पूर्व वाले भाग को मौलिक मानवीय अधिकारों के अस्तित्व की पुनरावृत्ति कहा जा सकता है। यह किसी भी राज्य कानून से उच्चतर होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय दबावों द्वारा रक्षित होते हैं। स्वयं न्यायाधिकरण ने यह निर्णय लिया कि वह धारा 6 (C) में उल्लिखित कार्यों पर विचार करेगा। ये कार्य युद्ध प्रारम्भ होने के बाद किए जाते हैं और इस प्रकार मानव अधिकारों से प्रभावित विषयों का जानबूझ कर अतिक्रमण किया गया।

न्यायाधिकरण के अनुसार केवल दो अपराधियों का मानवता के विरुद्ध अपराधों का दोषी पाया गया। इनमें से एक को मृत्यु दण्ड दिया गया और दूसरे को 50 वर्ष की जेल की सजा दी गई।

मानवता विरोधी अपराध परम्परागत युद्ध अपराधों के क्षेत्र से परे होते हैं। ये नागरिकों के विरुद्ध किए गए अपराध हैं और व्यक्तियों के विरुद्ध इतने नहीं हैं। जितने नागरिक जनसंख्या के विरुद्ध हैं। यह विकास निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी कानून के क्षेत्र में विस्तार है। इस सम्बन्ध में एक रोचक और विवादपूर्ण प्रश्न यह है कि इन अपराधों को जो विदेशी जनसंख्या के विरुद्ध किए जाते हैं तथा जिस स्थान पर किए गए हैं वहाँ के कानून को इस सम्बन्ध में सत्ता सौंपते हैं तो निर्णय किस प्रकार किया जाएगा। जर्मन लोगों द्वारा अपने साथी निवासियों के विरुद्ध किए गए अपराध भी निर्णय के लिए मित्र राज्यों की सत्ता के अधीन रखे गए जबकि तथ्य यह था कि जर्मन कानून में भी इनके सम्बन्ध में व्यवस्था थी।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में यह नवीन वृद्धि कई दृष्टियों से सन्देह और आलोचना का कारण बनी। आलोचकों के मतानुसार मानवता विरोधी अपराधों की दो गई व्याख्या कानून के इस मूलभूत सिद्धान्त की अवहेलना करती है कि दूसरे राष्ट्र की कानूनी व्यवस्था में किसी राज्य का प्रादेशिक अथवा व्यक्तिगत दृष्टि से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 2 भाग (7) में उन विषयों में हस्तक्षेप से रोक लगाई गई जो मूल रूप से किसी भी राज्य के घरेलू क्षेत्राधिकार में आते। मानवता विरोधी अपराधों का उद्देश्य मानवतावादी है इतने पर भी यह संदिग्ध है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून से उच्चतर मौलिक मानवीय अधिकारों को मान्यता दे सकेगा और सामूहिक रूप से उनकी रक्षा की जा सकेगी। कुछ मानवता विरोधी अपराधों को कानूनी मान्यता प्राप्त हो चुकी है। उदाहरण के लिए जाति वध सम्बन्धी अभिसमय का उल्लेख किया जा सकता है।

शान्ति विरोधी अपराध
(Crimes against Peace)

न्यूरेम्बर्ग और टोकियो अभियोगों का एक अन्य विवादपूर्ण पहलू शान्ति विरोधी अपराध की श्रेणी थी। आजकल पर्याप्त औचित्य के साथ यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 39 के प्रावधानों के अन्तर्गत आत्म रक्षा के अतिरिक्त युद्ध का आयोजन, तैयारी और संचालन गैर कानूनी तथा शान्ति का उल्लंघन है। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि जब जापानी और जर्मन

अपराधियों ने अपराध किए तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम नहीं था जो एक सम्प्रभु राज्य के नागरिकों को युद्ध के आयोजन अथवा संचालन से रोक सके।

शान्ति के विरुद्ध अपराध के अस्तित्व के विपक्ष में अनेक तर्क दिए जा सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के विभिन्न देश आक्रमण की परिभाषा के सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं। अतः यह निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है कि किसी कार्य विशेष को कब युद्ध का आयोजन अथवा संचालन समझा जाए अथवा नहीं। शान्ति काल में जब एक राष्ट्र अपनी सैनिक क्षमता को सुधारने का प्रयास करता है तो कहा नहीं जा सकता कि वह अपनी सुरक्षा शक्ति बढ़ा रहा है अथवा पड़ोसी पर आक्रमण करने की तैयारियाँ कर रहा है। नए और प्रभावशाली हथियारों के लिए वैज्ञानिक अनुसंधान आक्रमणकारी और सुरक्षात्मक दोनों प्रकार के माने जा सकते हैं।

न्यूरेम्बर्ग और टोकियो में किए गए शान्ति विरोधी अपराधों के दोषारोपण मुख्यतः 1919 के बाद की उन घोषणाओं, सन्धियों, प्रस्तावों आदि पर आधारित थे जिन्होंने आक्रमणों को अवैध माना। इन आधारों का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई रिवाजी अथवा अभिसमयात्मक कानून नहीं था। अतः शान्ति विरोधी अपराध कच्ची नींव पर आधारित थे। इनके सम्बन्ध में कानून के अभाव में कोई अपराध नहीं होता; प्राचीन सिद्धान्त लागू होना चाहिए।

जाति वध
(Genocide)

अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय की स्थापना और अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों की संहिता से सम्बन्धित प्रयासों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय समाज मानवता के विरुद्ध अपराधों की श्रेणी में आने वाले भयानक व्यवहार जाति वध को रोकने में सम्बन्धित साधन तैयार करने में सफल हो गया है।

जाति वध का अर्थ मूल रूप से ऐसा कोई भी कार्य है जो एक राष्ट्रीय जाति या धार्मिक समूह को पूर्णतः अथवा अंशतः नष्ट करने के लिए सम्पन्न किया जाए। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग डॉ राफेल लेमकिन (Dr Raphael Lemkin) ने किया।

द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व और उसके दौरान जर्मन सरकार ने अपने नागरिकों के एक समूह को और बाद में आवेशित राज्यों को पूर्ण रूप से समाप्त करने का प्रयास किया तो यह प्रश्न पैदा हुआ कि क्या ऐसे विनाशकारी कार्यों को जर्मनी का घरेलू कार्य कहकर छोड़ा जा सकता है अथवा क्या ये मानवता के विरुद्ध अपराध नहीं हैं। न केवल द्वितीय विश्व युद्ध के विजेताओं वरन् समस्त सभ्य संसार की सामान्य सहमति थी कि इस प्रकार के जंगली कार्यों पर प्रतिबन्ध और दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि ऐसा करते समय स्वतन्त्र राज्यों की परम्परागत प्रादेशिक सम्प्रभुता में कटौती हो जाए तो कोई बात नहीं है।

व्यवहार में जाति वध का अर्थ व्यक्ति को केवल जान से मारना नहीं है इसके अन्तर्गत ये कार्य भी आते हैं—गर्भपात, कृत्रिम बीमारियाँ, मृत्युपर्यन्त बाध्यकारी

कार्य करना तथा वृद्ध क्षेत्रों की जनसंख्या घटाने के लिए परिवारों अथवा लिंगों का पृथक्करण। इन सभी कार्यों को सम्बन्धित व्यक्ति की स्वीकृति से सम्पन्न नहीं किया जाता। इनकी प्रकृति, उद्देश्य एवं क्रियान्विति फौजदारी है। जर्मन रीह के कानून के अनुसार भी ऐसा ही था।

जब युद्ध अपराधियों से अभियोगों की सुनवाई हो रही थी तथा अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों द्वारा जर्मन एवं अन्य धुरी राष्ट्रों के राष्ट्रिकों को जाति वध के लिए दण्डित किया जा रहा था तो अभिसमयात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इन कार्यों पर प्रतिबन्ध नहीं थे, यद्यपि सभी सभ्य राज्यों के घरेलू कानून के अनुसार इनको अपराध माना जाता था। इन प्रयासों की पुनरावृत्ति को भविष्य में रोकने के लिए कुछ अधिक करना आवश्यक था।

जाति वध अभिसमय (Genocide Convention)

31 दिसम्बर, 1946 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव (96-1) स्वीकार किया, जिसके अनुसार जातिवध को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधीन अपराध माना गया। महासभा ने सामाजिक और आर्थिक परिषद से प्रार्थना की कि जाति-वध सम्बन्धी अभिसमय का प्रारूप तैयार करने के लिए अध्ययन प्रारम्भ करे। परिषद ने महासचिव को प्रथम प्रारूप तैयार करने का काम सौंपा ताकि उसे सदस्यों की राय जानने के लिए वितरित किया जा सके। 1948 में आर्थिक तथा सामाजिक परिषद ने सात सदस्यों की एक समिति नियुक्ति की जो मौलिक प्रारूप को परिवर्तित कर सके। जब यह प्रोजेक्ट पूरा हुआ तो परिषद ने एक सामान्य वाद-विवाद के बाद 26 अगस्त 1948 को निर्णय लिया कि अध्ययन और कार्य के लिए महासभा के सम्मुख एक प्रारूप प्रस्तुत किया जाए। बाद में और अध्ययन करके महासभा में कार्यवाही प्रारम्भ की गई। 9 दिसम्बर, 1948 को महासभा ने जाति वध के अपराध को रोकने तथा दण्डित करने पर एक अभिसमय तैयार किया। अभिसमय की धारा 1 ने जाति वध को शान्ति एवं युद्धकाल में फौजदारी अपराध माना। धारा 2 में अपराध को परिभाषित किया गया।

वर्तमान अभिसमय के अनुसार जाति वध का अर्थ एक राष्ट्रीय, जातीय और धार्मिक समूह को पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप से समाप्त करने के लिए निम्नलिखित में से कोई एक कार्य करना है—

1. उस समूह के लोगों की हत्या करना।
2. समूह के सदस्यों को शारीरिक अथवा मानसिक रूप से गम्भीर चोट पहुँचाना।
3. समूह के जीवन की परिस्थितियों को जानबूझ कर खराब करना ताकि उसे पूर्ण या अपूर्ण रूप से समाप्त किया जा सके।
4. उस समूह में जन्मों पर रोक लगाने के लिए प्रयास करना।
5. उस समूह के बच्चों को जबरदस्ती दूसरे समूह में स्थानान्तरित करना।
6. अभिसमय की धारा-3 के अनुसार जाति वध, जाति वध के लिए किया

गया षड्यन्त्र, जाति वध के लिए निर्देशन अथवा जनता को उकसाना, जाति वध के लिए प्रयास करना और इस प्रयास मे सफलता प्राप्त करना आदि सभी कार्य *दण्डनीय हैं, चाहे वे संवैधानिक रूप से उत्तरदायी शासक हों अथवा उत्तरदायी* अधिकारी अथवा गैर-सरकारी व्यक्ति।

धारा–5 के अनुसार अभिसमय के पक्षो ने इसे प्रभावशील बनाने के लिए आवश्यक घरेलू व्यवस्थापन करने का सकल्प किया। इन प्रतिबन्धो को तोड़ने के अपराधी लोगो को कठोर दण्ड देने की व्यवस्था की गई। जो लोग इनमे से किसी कार्य को सम्पन्न करेंगे उसके विरुद्ध उसी राज्य में न्यायिक कार्यवाही की जाएगी *जहाँ भी यह कार्य किया गया है।*

धारा–7 के अनुसार जाति वध तथा अभिसमय द्वारा निषिद्ध दूसरे सभी कार्य प्रत्यर्पण के लिए राजनैतिक अपराध नही समझे जाएँगे और अभिसमय के पक्ष अपने कानूनो तथा सन्धियो के अनुसार प्रत्यर्पण प्रदान करेंगे। धारा–8 के अनुसार अभिसमय मे शामिल कोई भी देश सयुक्त राष्ट्रसघ के किसी उत्तरदायी निकाय की सहायता जाति-वध को दबाने या रोकने के लिए ले सकता है। धारा–8 के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि अभिसमय से सम्बन्धित पक्षो के बीच विवाद होने पर उसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया जाएगा। विवाद का कोई भी एक पक्ष इसकी प्रार्थना कर सकता है। अभिसमय के प्रभावशील रहने का समय इसकी स्थापना के 10 वर्ष बाद तक रखा गया। इस अभिसमय पर 25 राज्यो ने हस्ताक्षर किए और 12 जनवरी, 1951 से यह लागू की गई। 1957 तक इस पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यो की सख्या 43 हो गई। सयुक्तराज्य अमेरिका ने इसे स्वीकार नही किया। उसका ऐतराज घरेलू सांविधानिक प्रश्नो पर आधारित था। कुछ अमेरिकियो का विश्वास था कि जाति वध के कार्यों को रोकने और दण्डित करने का कार्य सम्भालने पर सघ सरकार ऐसे कार्यों मे उलझ जाएगी जो सविधान द्वारा व्यक्तिगत राज्यो को आरक्षित किए गए हैं।

अभिसमय पर हस्ताक्षर करते समय अनेक राज्यो ने कुछ शर्तें लगाईं। उदाहरण के लिए बल्गारिया और फिलिपाइन्स का नाम लिया जा सकता है। इन शर्तों का सयुक्त राष्ट्रसघ के दूसरे सदस्यो ने भारी विरोध किया। किसी भी बहुपक्षीय अभिसमय के साथ लगाई गई शर्तों के कानूनी अर्थ को स्पष्ट करने के लिए महासचिव ने इसे महासभा के पाँचवें अधिवेशन के सम्मुख प्रस्तुत किया। महासभा ने 16 नवम्बर, 1950 को एक प्रस्ताव स्वीकार करके इस प्रश्न पर अपना परामर्श तथा सम्मति देने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से प्रार्थना की। न्यायालय ने 28 मई, 1951 को अपना मत प्रस्तुत किया और शर्तों के प्रश्न पर अन्तर्अमेरिकी दृष्टिकोण का समर्थन किया।

जाति वध सम्बन्धी अभिसमय बनने के बाद इतिहास में इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत हुए और इसकी सामान्य स्वीकृति तथा प्रावधानों की क्रियान्विति आवश्यक मानी जाने लगी। कोरिया युद्ध के समय न केवल युद्ध अपराधो के अनेक

मामले प्रस्तुत हुए, किन्तु जाति वध सम्बन्धी घटनाएँ भी सामने आईं। 1956 में सोवियत संघ के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ से यह शिकायत की गई कि इसने हंगरी में साम्यवाद विरोधी क्रान्ति होने पर जातिवध सम्बन्धी कार्य किए हैं।

जेनेवा अभिसमय
(Geneva Convention of 1949)

1949 का जेनेवा राजनयिक सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अपराधों के विषय से भी सम्बन्धित था। इसके चार अभिसमय अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में प्रभावशील हैं। इसलिए यह माना जा सकता है कि इसने इस क्षेत्र को प्रशासित करने वाले कानून के नियमों के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। सम्मेलन में भाग लेने वालों ने बड़ी सावधानी से युद्ध अपराध और न्यूरेम्बर्ग सिद्धान्तों जैसे शब्दों को दूर रखा है और सम्बन्धित बातों का विवरण प्रस्तुत किया है।

इस सम्मेलन के चार अभिसमयों में एक सामान्य धारा रखी गई जिसके अनुसार सम्मेलन में शामिल सभी पक्षों ने अभिसमय के विरुद्ध कार्य करने वाले लोगों को रोकने के लिए आवश्यक व्यवस्थापन करने का निर्णय लिया। ऐसे लोगों को प्रत्येक राज्य न्यायालयों के सम्मुख लाएगा और यदि आवश्यक हुआ तो दूसरे राज्य के सम्मुख भी इसे प्रस्तुत किया जा सकता है। 1949 के युद्धबन्दियों सम्बन्धी अभिसमय की धारा 85 में यह कहा गया कि जो युद्ध के बन्दी अभिसमय से पूर्व पकड़े गए हैं और न्यायालय द्वारा दोषी पाए गए हैं वे भी इस अभिसमय से लाभान्वित होंगे। सोवियत गुट के सभी राज्यों ने इस धारा के साथ शर्तें लगाईं। इन शर्तों के अनुसार युद्ध अपराधों तथा मानवता विरोधी अपराधों के दोषी उस देश की परिस्थितियों के विषय होंगे जहाँ यह अपराध किया गया है। संयुक्तराज्य अमेरिका की सीनेट ने अभिसमय को स्वीकार करते समय इन शर्तों को अस्वीकार कर दिया। सोवियत संघ ने भी स्पष्ट रूप में यह मत व्यक्त किया कि उसके द्वारा लगाई गई शर्तें केवल दण्ड की परिस्थितियों पर लागू होती हैं। जहाँ तक युद्धबन्दी पर अभियोग चलाने का प्रश्न है सोवियत संघ ने इस अभिसमय के प्रावधानों को स्वीकार किया।

युद्धबन्दियों सम्बन्धी अभिसमय की धारा 85, 99 और 102 के प्रावधानों के अनुसार जो युद्धबन्दी अपराधी माने जाएँ उन पर उसी न्यायालय में, उसी कानून के अनुसार अभियोग चलाना चाहिए जो सम्बन्धित राज्य की सशस्त्र सेनाओं पर लागू होता है। अधिकांश राज्यों में सैनिक कानून द्वारा सैनिक सेवी वर्ग के न्यायाधीशों में विदेशी अधिकारियों के बैठने पर रोक लगाई जाती है। ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्रीयता का न्यायाधिकरण नहीं बनाया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के सदस्यों की राष्ट्रीयता चाहे कुछ भी क्यों न हो, किन्तु किसी अर्थ में राष्ट्रीय नहीं रह जा सकते।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध अपराधों के सम्बन्ध में नए विचारों का विकास हो रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम से कम इस सीमित क्षेत्र में

व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से कानून का विषय बन गया है। इस सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार को बढ़ाने से सम्बन्ध रखने वाले विचारों के तीन भिन्न सम्प्रदाय हैं। सबसे अधिक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण यह है कि केवल व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक मात्र विषय है। जाति वध अभिसमय और मानवता की शान्ति और सुरक्षा विरोधी अपराधों की संहिता इसका उदाहरण है। दूसरा दृष्टिकोण अधिक रूढ़िवादी है, इसके अनुसार कुछ उदाहरणों में राज्य को अपराधों के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है और दूसरे उदाहरणों में व्यक्ति को उत्तरदायी कहा जा सकता है। तीसरा और असामान्य दृष्टिकोण यह कहता है कि फौजदारी उत्तरदायित्व का विषय व्यक्ति होना चाहिए, राज्य को दीवानी दायित्वों का विषय बनाना चाहिए। इन तीनों दृष्टिकोणों में से कौनसा प्रभावशाली रहेगा यह निर्धारित करना भविष्य पर निर्भर करता है।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय अपराध-कानून का क्षेत्र निरन्तर व्यापक होता गया है। 26 अक्टूबर, 1968 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने युद्धअपराधियों पर साविधिक नियन्त्रण के लागू न किये जाने विषयक तथा मानवता-विरोधी अपराधों विषयक अभिसमय को अंगीकृत किया। इसके अनुच्छेद 1 में उपबन्धित है कि युद्धापराधियों पर उन सांविधिक सीमाओं को लागू नहीं किया जायेगा जिनकी परिभाषा 8 अगस्त, 1945 को न्यूरेम्बर्ग मिलिट्री ट्रिब्यूनल के चार्टर द्वारा परिभाषित किया गया था। साथ ही यही शर्त मानवता विरोधी अपराधों पर भी मान ली गई थी जिनमें जातिगत भेद को भी शामिल किया गया था तथा प्रीवेन्शन एण्ड पनिशमेन्ट ऑफ द क्राइम ऑफ जेनासाइड अर्थात् जनवध रोकने और दण्डित करने विषयक अभिसमय 1948 में यथा-परिभाषित जनवध को भी युद्धापराध के रूप में माना गया है।

22 युद्ध-समापन के तरीके और पूर्वावस्था का सिद्धान्त
(Modes of Termination of War and Doctrine of Postliminum)

युद्ध-समाप्ति के ढंग
(Modes of Termination of War)

'युद्ध' मानवीय प्रकृति की स्वाभाविक विशेषता नहीं है । यह कुछ परिस्थितियों का परिणाम और अस्वाभाविकता का प्रतीक है । इसलिए यह विश्व समाज की सर्वकालीन विशेषता नहीं बन सकता । प्रत्येक युद्ध एक न एक दिन अवश्य समाप्त होता है । युद्ध की समाप्ति ओपेनहेम के मतानुसार तीन प्रकार से हो सकती है । युद्धमान राज्य युद्ध की कार्यवाहियाँ आगे बढ़ाने से रोक देता है और दूसरे पक्ष के साथ बिना कोई शान्ति सन्धि किए हुए शान्तिपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करने लगता है । कभी-कभी दोनों पक्ष स्पष्ट रूप से एक विशेष सन्धि द्वारा शान्ति की परिस्थितियाँ निर्मित करते हैं । अपने विरोधी का वशीकरण करके भी एक राज्य शान्ति स्थापित कर लेता है । प्रो हाइड ने एक अन्य रीति का उल्लेख भी किया है । इसके अनुसार एक पक्ष औपचारिक रूप से युद्ध रोकने की घोषणा करता है । इन तरीकों द्वारा युद्ध का अन्त करने के उदाहरण मानव इतिहास में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं । इनका परिचयात्मक विवरण निम्न प्रकार दिया जा सकता है—

1 शत्रुतापूर्ण कार्य रोकना (Cessation of Hostilities)—जब दोनों पक्ष युद्ध सम्बन्धी सारी कार्यवाही को स्थगित कर देते हैं तो युद्ध अपने आप समाप्त हो जाता है, चाहे इसके लिए औपचारिक सन्धि न की गई हो । इस प्रकार युद्ध का अन्त करने के उदाहरण के रूप में स्वीडन तथा पोलैण्ड के युद्ध (1796), स्पेन और फ्रांस के युद्ध (1720) रूस और पर्सिया के युद्ध (1801), फ्रांस और मैक्सिको के युद्ध (1867) तथा स्पेन और चिली के युद्ध (1867) का उल्लेख किया जा सकता है ।

युद्ध के अन्त करने का यह तरीका असुविधाजनक है और इसीलिए प्रायः अन्य

बनता जा रहा है। इनमे अनेक व्यावहारिक युद्धोपरान्त समस्याएँ उठती हैं। यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि किस समय से युद्ध को समाप्त हुआ माना जाए ? हर समय प्रत्येक पक्ष को यह भय बना रहता है दूसरा पक्ष कहीं आक्रमण न कर दे, इसलिए राज्य सामान्यत युद्ध समाप्ति के इस तरीके को अपनाना पसन्द नहीं करते। शत्रुतापूर्ण कार्य बन्द करने और वास्तविक सघर्ष समाप्त होने के सम्बन्ध मे न्यायपालिका ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। अधिकांश उदाहरणों मे इस बात पर जोर दिया गया है कि केवल लडाई बन्द करने के अतिरिक्त युद्ध समाप्ति के लिए औपचारिक रूप मे भी अवश्य कुछ किया जाना चाहिए। इसके बिना युद्धावस्था के कानून लडाई बन्द होने पर भी चलते रहते हैं और इनसे व्यक्तियों को न्याय प्राप्त करने मे पर्याप्त असुविधा रहती है।

न्यायालयों के सम्मुख इस प्रकार के अनेक विवाद आ चुके हैं। द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद सन् 1948 मे एक जर्मन नागरिक ने अमेरिका म शत्रु विदेशी कानून के अनुसार अपने देश निकाले के आदेश को रद्द करने के लिए न्यायालय को बन्दी प्रत्यक्षीकरण की याचिका दी। उसका कहना था कि लडाई सन् 1945 मे बन्द हो चुकी है जबकि जर्मनी ने आत्मसमर्पण किया था। न्यायपालिका के मतानुसार अमेरिका और जर्मनी के बीच कोई शान्ति सन्धि नहीं हुई है इसलिए युद्ध की स्थिति और युद्ध सम्बन्धी कानून अभी तक बने हुए हैं। जापान ने 2 सितम्बर, 1945 को ही आत्मसमर्पण कर दिया था, किन्तु न्यायालय ने अपने अनेक निर्णयों मे यह माना कि जब तक जापान म शान्ति सन्धि नहीं होती तब तक दोनों देशों के बीच युद्ध की स्थिति है। इस प्रकार युद्ध के अन्त की इस विधि मे अनिश्चितता का वातावरण बना रहता है।

इस सम्बन्ध मे एक अन्य समस्या यह खडी होती है कि यदि युद्ध समाप्त करने वाली कोई शान्ति सन्धि नहीं है और सरल रूप से शत्रुतापूर्ण कार्य रोक दिए गए हैं तो दोनों पक्षों की स्थिति युद्ध से पूर्व जैसी मानी जाए अथवा युद्ध के बाद की स्थिति को स्वीकार किया जाए। विचारकों के मतानुसार दूसरी स्थिति मान्य है। सरल युद्धान्त के बाद जिस पक्ष के पास जितना प्रदेश, सम्पत्ति या वस्तुएँ हैं उन पर उसी का अधिकार स्वीकार कर लिया जाता है। हानि म रहने वाला पक्ष भी लडाई बन्द करके वह सिद्ध कर देता है कि उसने परिस्थितियों से समझौता कर लिया है। इस तरीके से युद्धान्त होने पर दोनों पक्षों के दावे यथावत् बने रहते हैं। वे पक्ष चाहे तो उन्हें विशेष समझौतों द्वारा तय कर सकते हैं अथवा यथावत् छोड सकते हैं।

2 वशीकरण द्वारा युद्धान्त (Termination of War by Subjugation)— वशीकरण का अर्थ यह है कि शत्रु राज्य को पूरी तरह नष्ट करके अपने राज्य का अंग बना लिया जाए। शत्रु सेनाओं के विध्वंस और प्रदेश की विजय के बाद शत्रु की सत्ता पूर्ण रूप से समाप्त की जाती है। वशीकरण और विजय मे भिन्नता है। वैसे विजय के बिना वशीकरण नहीं हो सकता। विजय मे सैनिक शक्ति द्वारा शत्रु के प्रदेश को प्राप्त कर लिया जाता है। यह उस समय पूर्ण हो जाती है जब प्रदेश पर

प्रभावशाली आवेशन स्थापित हो जाता है। स्पष्ट है कि शत्रु के एक प्रदेश पर विजय प्राप्त करना वशीकरण नहीं है क्योंकि शत्रु चाहे तो उसे पुनः जीत सकता है। यहाँ तक कि शत्रु के पूरे प्रदेश को जीतना भी वशीकरण नहीं है। वशीकरण तो केवल तभी माना जाएगा जब शत्रु का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया जाए। ओपेनहेम ने वशीकरण को इसी अर्थ में परिभाषित किया है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। तृतीय बर्मा युद्ध (1880) के बाद अंग्रेजों ने वहाँ के राजा को हराकर उसे अपने भारत के साम्राज्य में मिला लिया। 1900 में ग्रेट-ब्रिटेन ने ओरेन्ज फ्री स्टेट और दक्षिण अफ्रीका के गणराज्य को तथा 1936 में इटली ने एबीसीनिया को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

विचारकों ने अस्थाई वशीकरण का उल्लेख भी किया है। युद्ध में विजेता राज्य की स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। वह विशेष परिस्थितियों के अनुसार वशीकरण की मात्रा और क्षेत्र स्वयं निर्धारित करता है। विजित प्रदेश पर सम्प्रभु शक्तियों का प्रयोग करते हुए भी एक राज्य यह घोषणा कर सकता है कि उसका उद्देश्य स्थायी वशीकरण नहीं है। ऐसी स्थिति में वशीकरण जब तक रहता है तब तक पूर्ण है, किन्तु यह अस्थाई प्रकृति का है। उदाहरण के लिए जर्मनी का नाम लिया जा सकता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद 1945 में जर्मनी की सशस्त्र सेनाओं ने बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। जर्मनी पर ग्रेट-ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत रूस और फ्रांस को सर्वोच्च सत्ता प्राप्त हुई। 1949 तक इस सत्ता का प्रयोग सैनिक कमाण्डरों द्वारा किया गया। इस काल में जर्मन राज्य की आन्तरिक और बाह्य सम्प्रभुता समाप्त कर दी गई। जर्मन सेनाओं की करारी हार के कारण, शत्रुता की वास्तविक समाप्ति के कारण, जर्मन सरकार के अभाव के कारण तथा जर्मनी के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के विलम्बन के कारण एक ऐसी स्थिति बन गई जिसमें जर्मनी को न तो विजित राष्ट्र माना जा सकता है और न पूर्ण रूप से वशीकृत प्रदेश कहा जा सकता है। यह स्थिति अस्थाई वशीकरण की है।

3. बिना शर्त आत्मसमर्पण (Unconditional Surrender) —शत्रुता की स्थिति को समाप्त करने से सम्बन्धित एक नया शब्द द्वितीय विश्व-युद्ध के समय आविष्कृत किया गया। यह था शर्तहीन आत्मसमर्पण (Unconditional Surrender)। इस समर्पण के कानूनी परिणाम आवश्यक रूप से युद्ध की समाप्ति नहीं होते। ये उस समय की परिस्थितियों और विजेता के उद्देश्यों तथा आचरण पर निर्भर करते हैं।

युद्ध का अभिसमयात्मक कानून बिना शर्त आत्मसमर्पण के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं करता है। इसे हम युद्ध-विराम का पर्यायवाची भी नहीं मान सकते। ग्रोशियस ने इसके लिए विशुद्ध आत्मसमर्पण (Pure Surrender) शब्द का प्रयोग किया है। ग्रोशियस का मत था कि ऐसे आत्मसमर्पण में विजेता को कानूनी और वास्तविक पूरी शक्ति मिल जाती है कि वह हारे हुए के साथ मनमाना व्यवहार करे।

1945 से पूर्व अशर्त आत्मसमर्पण के लिए सच्ची परम्परा का अभाव था

और इसलिए ऐसे कार्य के हेतु कोई परम्परागत सूत्र प्राप्त नहीं किया जा सकता था। इसे हम न्यायिक अर्थ मे एक समझौता नही मान सकते क्योंकि विजेता द्वारा कोई वायदा नही किया जाता और यहाँ तक कि हारा हुआ पक्ष भी इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र रहता है। बिना शर्त आत्मसमर्पण केवल तभी युद्ध समाप्ति का कारण बनता है जबकि विजेता पक्ष इसे स्वीकार कर लें।

4 सामान्य युद्ध विराम (General Armistice)—युद्ध विराम एक युद्ध अभिसमय है। यह युद्धमान राज्यो के बीच किया गया समझौता या सम्मति है। इसका प्रमुख एव परम्परागत उद्देश्य सक्रिय शत्रुतापूर्ण कार्यों को अस्थायी रूप से निलम्बित करना होता है। युद्ध सन्धि भी युद्ध विराम के समरूप होती है। युद्ध विराम का अर्थ युद्ध के किसी भी क्षेत्र में शत्रुतापूर्ण कार्यों पर रोक लगाना है। सामान्य युद्ध विराम का अर्थ सम्बन्धित युद्धमान राज्यो के बीच अस्थायी रूप से शत्रुतापूर्ण कार्यो को सामान्य रूप स रोकना है। यूनानी और रोमनकाल से लेकर आज तक के लेखको, राजनीतिज्ञों और सैनिको द्वारा यह माना गया कि युद्ध विराम द्वारा युद्ध की स्थिति का अन्त नहीं होता। अनेक राज्यो के न्यायालयो ने भी यह मत व्यक्त किया है कि युद्ध विराम के कारण युद्ध समाप्त नहीं होता।

कोई रिवाजी कानून यह उल्लेख नही करता कि युद्ध विराम समझौते मे क्या लिखा जाना चाहिए। इस दृष्टि से केवल कुछ उदाहरण मात्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं। युद्ध विराम के बाद शत्रुतापूर्ण कार्य भविष्य मे पुनः प्रारम्भ हो सकते हैं क्योकि उनको केवल अस्थाई रूप से निलम्बित किया गया है। युद्ध विराम समझौते के काल मे कानूनी स्थिति क्या रहती है यह जानना भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वास्तविकता यह है कि इसके कारण केवल वास्तविक शत्रुतापूर्ण कार्य रुक जाते है और अन्य कोई अन्तर नही आता। युद्धमान राज्यो के बीच युद्ध की स्थिति बनी रहती है। इसके अतिरिक्त युद्धमान राज्यो और तटस्थ राज्यो के बीच भी वही सम्बन्ध कायम रहता है।

युद्ध विराम के सम्बन्ध मे सामान्यत उसकी व्याख्या की समस्या पैदा होती है कि किस बात के लिए कहा गया है और किस बात के लिए मना किया गया है। परम्परागत विचार के अनुसार सामान्य युद्ध विराम के दौरान कानूनी दृष्टि से एक युद्धमान राज्य को वह सब नही करना चाहिए जिसे करने से उसके शत्रु द्वारा रोका गया है। आधुनिक व्यवहार के अनुसार युद्धमान राज्यो को केवल उन कार्यों से वर्जना चाहिए जिन्हे युद्ध विराम समझौते द्वारा रोका गया है।

यदि युद्ध-विराम के पक्षो मे से कोई भी एक पक्ष समझौते के प्रावधानो का गम्भीर उल्लघन करता है तो दूसरा पक्ष समझौते को ठुकराकर युद्ध की कार्यवाही करने का अधिकार रखता है। यदि कोई अधिक आवश्यक मामला नहीं है तो युद्ध छेड़ने से पूर्व सूचना दे दी जाती है। अब समस्या यह है कि गम्भीर उल्लघन किसे माना जाए ?

जहाँ तक समुद्री युद्ध का सम्बन्ध है, उसके युद्ध-विराम के बारे मे बहुत कम

मिलता है। नौसैनिक युद्ध-विराम का अर्थ यह है कि सैनिक युद्ध को रोक दिया गया है और नौसैनिक बमबारी को भी बन्द कर दिया गया है। अधिकांश लेखक इस विषय पर चुप है कि एक युद्ध विराम नाकाबन्दी को किस प्रकार प्रभावित करेगा तथा युद्धमान राज्य और तटस्थ राज्यों के बीच किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करेगा।

5 शान्ति सन्धि (Treaty of Peace) — युद्ध का अन्त करने का सबसे अधिक लोकप्रिय तरीका शान्ति सन्धि है। शान्ति सन्धि शब्द का प्रयोग इसलिए किया जाता है क्योंकि यह युद्ध को समाप्त करके युद्धमान राज्यों में शान्तिपूर्ण मैत्री सम्बन्धों का श्रीगणेश करती है। सामान्यतः राज्यों द्वारा युद्ध की समाप्ति के लिए इस तरीके को पसन्द किया जाता है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि युद्ध विराम या शान्ति वार्ता युद्ध का कानूनी रूप से समाप्त नहीं करती। इस विषय पर व्यापक गलत-फहमी बनी रहती है। कोरिया युद्ध को युद्ध विराम द्वारा रोक दिया गया किन्तु कानूनी रूप से यह अभी तक जारी है। यह शान्ति की स्थापना नहीं कर सका। यही बात अरब-इजरायल संघर्ष के बारे में कही जा सकती है। विभिन्न प्रकार के समझौतों द्वारा शत्रुतापूर्ण कार्यों को रोक देने से युद्ध का कानूनी स्तर समाप्त नहीं हो जाता, इसके लिए शान्तिपूर्ण सन्धि करना परम आवश्यक है।

भूतपूर्व युद्धमान राज्यों के बीच शान्ति की परिस्थिति पैदा करने में शान्ति सन्धि महत्त्वपूर्ण योगदान करती है। ज्योंही यह प्रभावशाली होती है त्योंही शान्तिकालीन अधिकार और कर्त्तव्य अस्तित्व में आ जाते हैं। जो कार्य युद्ध के समय वैधानिक दिखाई देते थे वे अब अवैध प्रतीत होने लगते हैं। राजनयिक और वाणिज्य दूत के सम्बन्ध पुनः स्थापित हो जाते हैं। यदि सन्धि द्वारा कोई विरोधी बात न कही जाय तो प्रत्येक भूतपूर्व युद्धमान राज्य दूसरे युद्धमान से सार्वजनिक चल सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है। युद्ध में जीती गई भूमि को एक राज्य अपने प्रदेश में मिला लेता है, जब तक कि उसके विरुद्ध कोई व्यवस्था न की गई हो।

शान्ति सन्धि की प्रक्रिया—शान्ति सन्धि सम्पन्न करने से पहले प्रायः सन्धि-वार्ता चलाई जाती है और इससे पूर्व युद्ध विराम किया जाता है। युद्ध विराम में दोनों पक्ष गोलाबारी और आक्रमण तथा प्रत्याक्रमण की नीति को रोक देते हैं। युद्ध विराम प्रधान सेनापतियों अथवा कूटनीतिक प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है तथा इसकी पुष्टि राज्य की उच्च सत्ता द्वारा होती है। युद्ध विराम में हथियारों की लड़ाई बन्द हो जाती है, किन्तु युद्धावस्था का अन्त नहीं होता।

युद्धमान राज्य यद्यपि शान्ति सन्धि द्वारा युद्ध का अन्त करने के लिए तैयार रहते हैं, किन्तु वे सभी बातों को एक साथ नहीं सुलझा पाते। ऐसी स्थिति में शत्रुतापूर्ण कार्यों की समाप्ति शान्ति के तथाकथित प्रारम्भिकों (Preliminaries) द्वारा स्थापित की जाती है। प्रारम्भक अपने आप में सम्बन्धित पक्षों द्वारा की गई शान्ति सन्धियाँ होती हैं। प्रो. ओपेनहेम के मतानुसार सन्धि रूप से शत्रुतापूर्ण कार्यों को रोक देना निश्चय ही अनियमित है। वशीकरण कभी तो विजेता का उद्देश्य ही नहीं होता और कभी यह प्राप्त नहीं हो पाता। अतः शान्ति सन्धि युद्ध की एक

सामान्य समाप्ति है। दोनों पक्षों के बीच शान्ति की आवश्यक शर्तों के विषय में समझौता होता है और यह प्रारम्भिक या उप-समझौता ही दूसरी सन्धियों की भाँति बाध्यकारी होता है। कभी कभी अन्तिम शान्ति सन्धि ऐसे स्थान पर की जाती है जो प्रारम्भिक संधि के स्थान से भिन्न होता है।

प्रारम्भिक संधियों में उन समस्त आवश्यक शर्तों का उल्लेख किया जाता है जो निश्चित शान्ति का आधार बनेंगी। सम्बन्धित तटस्थ राज्य ऐसा होने से रोकने के लिए विरोध कर सकते हैं और हस्तक्षेप करने की चुनौती दे सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में शान्ति संधियों के रूप के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। ये मौखिक अथवा लिखित रूप में होती हैं, किन्तु इनका महत्त्व हमेशा इनके कर्त्ता-पक्षों को लिखित रूप में करने के लिए प्रेरित करता है।

सन्धि निर्माण की शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राज्य के अध्यक्षों के हाथ में दी जाती है। ये अध्यक्ष यदि संविधानिक पक्षों को तोड़ते हुए कोई संधि करें तो *यह सम्बन्धित राज्य पर लागू नहीं होगी क्योंकि अध्यक्षों ने अपनी शक्तियों* का अतिक्रमण किया है। इस विषय में सम्बन्धित व्यवस्था विभिन्न राज्यों में अलग अलग रहती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि युद्ध की घोषणा और शान्ति स्थापना की शक्तियाँ एक ही हाथ में सौंपी जाएँ। ग्रेट ब्रिटेन में युद्ध छेड़ने और शान्ति करने की क्राउन की शक्तियाँ असीमित हैं किन्तु अन्य राज्यों की सवैधानिक व्यवस्था इससे भिन्न है।

शान्ति की स्थापना उसी समय से मानी जाती है जब शान्ति संधि पर हस्ताक्षर हुए हैं। अस्वीकृत शान्ति सन्धि एक प्रकार से शान्तिवार्ता है और यदि ये स्वीकार नहीं की गई तो शत्रुतापूर्ण कार्य पुनः प्रारम्भ हो जाएँगे। कभी कभी शान्ति सन्धि में शांति लागू होने की आगे की तारीख का उल्लेख कर दिया जाता है। यह प्राय तब होता है जबकि विश्व के विभिन्न भागों में युद्ध छिड़ा हुआ है और विरोधी शक्तियों को एकदम शान्ति की सूचना देना असम्भव होता है। जर्मनी द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध में बिना शर्त आत्मसमर्पण किया गया। किन्तु उसके साथ सन्धि के सम्बन्ध में प्रमुख शक्तियों के बीच पर्याप्त मतभेद रहे, फलतः पूर्ण सन्धि नहीं हो सकी। जापान के आत्मसमर्पण के बाद 6 वर्ष तक शान्ति सन्धि नहीं की जा सकी।

शान्ति सन्धियों का प्रभाव शान्ति सन्धियों के प्रभावों को निम्न प्रकार से वर्णित किया जा सकता है—

1. शान्ति की स्थापना—शान्ति सन्धि का प्रमुख और सामान्य प्रभाव युद्धमान राज्यों के बीच शान्ति की परिस्थिति पैदा करना है। ज्योंही शान्ति सन्धि अस्तित्व में आती है त्योंही शान्तिकालीन समस्त अधिकार और कर्त्तव्य लागू हो जाते हैं। युद्धकाल में वैध समझे जाने वाले सभी कार्यों की वैधता समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए, शत्रु सेना एवं उसके दुर्गों पर आक्रमण, शत्रु के प्रदेश में बलपूर्वक अधिकार और उसके जहाजों को पकड़ना निषिद्ध तथा अवैध कार्य बन जाते हैं। अनजाने में यदि शान्ति सन्धि के बाद भी किसी पक्ष की सेनाएँ शत्रुतापूर्ण

कार्य करे तो उन्हें हर्जाना देना होगा। शान्ति सन्धि के बाद युद्धकाल में पकड़े हुए जहाजों को छोड़ दिया जाता है, आवेशित प्रदेश खाली कर दिया जाता है, सशस्त्र सेनाओं के सदस्य जो बन्दी बनाए गए थे उन्हें स्वतन्त्र कर दिया जाता है। दोनों पक्षों के बीच युद्ध से पूर्व की भांति शान्ति सम्बन्ध स्थापित कर दिए जाते हैं।

2. **विजित भोगाधिकार**—शान्ति सन्धि का यह दूसरा प्रभाव है। इसके अनुसार शान्ति सन्धि के समय जो परिस्थिति है उसे कायम रखा जाता है। जिस राज्य के पास जो जीता हुआ प्रदेश अथवा सम्पत्ति रहती है वही उसके उपभोग करने का अधिकारी हो जाता है। इस प्रकार राज्य की समस्त चल सम्पत्ति जैसे—शस्त्रागार, हथियार, मुद्रा, घोड़े, यातायात के साधन आदि चीजें जो आक्रमणकारी युद्धमान राज्य द्वारा अधिग्रहित करली गई हैं वे उसी के पास रह जाती है। इसी प्रकार वह अधिग्रहण की गई अचल सम्पत्ति के फलों का भी उपभोग करता है। यदि सन्धि में कुछ कहा नहीं गया है तो विजित प्रदेश भी विजेता के हाथ में रहता है और वह चाहे तो इसे अपने राज्य में मिला सकता है। आजकल आमतौर से विजेता राज्य शान्ति सन्धि के विजित प्रदेश के वशीकरण सम्बन्धी प्रावधान रख लेता है। शान्ति सन्धि न होने पर भी विजेता राज्य इसे स्वय के राज्य में मिला सकता है। कभी-कभी शान्ति सन्धियाँ इसलिए असफल हो जाती हैं कि विजेता राज्य जीते हुए प्रदेश को अपने पास रखना चाहता है, किन्तु हारा हुआ राज्य उसे वापस लेना चाहता है।

3 **सामान्य क्षमादान**—शान्ति सन्धि युद्ध का अन्तिम समाधान मानी जाती है। इसलिए प्रत्येक शान्ति का एक प्रभाव तथाकथित क्षमादान है। इसके अनुसार युद्ध के समय युद्धमान राज्यों की सेनाओं तथा उनके प्रजाजनों द्वारा शत्रुजनों के विरुद्ध किए गए गलत और दण्डनीय समस्त कार्यों के दण्डों से छुटकारा मि[illegible] जाता है। प्राय शान्ति सन्धि के साथ एक क्षमादान की धारा भी रख दी जाती है। यदि ऐसी धारा न भी रखी जाय तो यह शान्ति सन्धि में अन्तर्निहित रहती है। शान्ति सन्धि हो जाने के बाद यह मान लिया जाता है कि तथाकथित युद्ध अपराधों के कर्त्ताओं को छोड़ दिया जाए। जिन व्यक्तियों को युद्ध अपराधों के लिए बन्दी बनाया जाता है उन्हें शान्ति सन्धि के बाद मुक्त कर दिया जाता है। युद्धमान राज्य युद्ध में अनेक उचित नियमों का उल्लघन करते हैं। शान्ति सन्धि के बाद इन सबको भुला दिया जाता है।

सामान्य क्षमादान साधारण अपराधों या युद्धकाल में लिए गए ऋणों पर प्रभाव नहीं डालता। एक हत्या करने वाला युद्धबन्दी शान्ति सन्धि होने के बाद भी दण्डित किया जा सकता है। 1878 में रूस ने टर्की से सान-स्टीफानो की सन्धि की। इसकी धारा 17 में यह शर्त रखी गई थी कि टर्की युद्ध में उसका साथ छोड़ने वालों को माफ कर देगा।

4 **युद्ध बन्दियों की मुक्ति**—शान्ति सन्धि के होते हुए ही युद्ध बन्दियों को मुक्त कर दिया जाता है। 1949 के जेनेवा अभिसमय तक यह शान्ति सन्धियों का

एक महत्वपूर्ण परिणाम माना जाता था। इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी युद्ध बन्दियों को एकदम छोड़ दिया जाए। 1929 के जेनेवा अभिसमय की धारा 75 में कहा गया था कि शान्ति सन्धि सम्पन्न होने पर युद्ध बन्दियों को यथासम्भव शीघ्र स्वदेश भेज दिया जाए। द्वितीय विश्वयुद्ध के अनुभवों ने इस स्थिति में संशोधन की आवश्यकता प्रकट की। युद्ध के बाद इटली, जर्मनी और जापान ने बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया, किन्तु अनेक वर्षों तक युद्धमान देशों के बीच कोई शान्ति सन्धि नहीं हो सकी। इस काल में युद्ध बन्दियों को शत्रु देश में रखना अनावश्यक और अन्यायपूर्ण माना गया। विश्व के दूसरे लोगों ने इस नीति का विरोध किया। फलत 1949 के अभिसमय की धारा 118 ने उपरोक्त नियम में संशोधन करते हुए यह व्यवस्था की कि युद्ध-विराम होने पर ज्योंही सक्रिय शत्रुतापूर्ण कार्य समाप्त हो जाएँ त्योंही युद्ध बन्दियों को मुक्त करके उन्हें स्वदेश भेज देना चाहिए। शत्रुतापूर्ण कार्यों के सक्रिय अवसान का अर्थ यह है कि आत्मसमर्पण या विराम सन्धि के बाद पुन युद्ध प्रारम्भ होने की सम्भावना न हो। जर्मनी के साथ शान्ति सन्धि न होने पर भी मित्र राष्ट्रों ने उसके युद्ध बन्दियों को 1949 तक मुक्त कर दिया।

5 **युद्धावस्था की समाप्ति**—शान्ति सन्धि के बाद युद्ध की स्थिति (The State of War) समाप्त हो जाती है। अस्थाई रूप से हथियारों का प्रयोग विराम सन्धि (Armistice) द्वारा ही बन्द हो जाता है; फिर युद्ध की स्थिति निरन्तर बनी रहती है। हर समय यह आशंका रहती है कि युद्ध पुन प्रारम्भ न हो जाए। शान्ति सन्धि के बाद दुबारा युद्ध छिड़ने की सम्भावना नहीं होती।

6 **युद्ध पूर्व की सन्धियों का प्रभाव**—युद्ध के बाद शान्ति सन्धि होने पर युद्ध से पूर्व स्थित सन्धियाँ प्रभावशील हो सकेंगी अथवा नहीं, यह एक मुख्य प्रश्न बन जाता है। कुछ सन्धियाँ युद्ध समाप्त होने पर भी प्रभावशील बनी रहती हैं। शान्ति सन्धियों म भी इस बात का उल्लेख किया जा सकता है; किन्तु यह बात लड़ाई के परिणाम पर निर्भर करती है। यदि युद्ध में एक पक्ष को दूसरे पक्ष पर निर्णायक विजय प्राप्त हुई है तो स्वयं विजयी पक्ष ही तय करेगा कि किस सन्धि को प्रभावशील माना जाए और किसे नहीं। 1947 में मित्र राष्ट्रों द्वारा इटली के साथ की गई सन्धि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

यदि शान्ति सन्धि युद्ध पूर्व की सन्धियों के औचित्य के प्रश्न पर शान्त है तो युद्ध छिड़ने के कारण समस्त समझौते शान्ति स्थापित होने पर समाप्त हो जाएँगे। यदि शान्ति सन्धि में इनका उल्लेख किया गया तो यह माना जाएगा कि युद्ध काल में यह सन्धि निलम्बित हो गई थी और शान्ति सन्धि के प्रभावशील होने पर पुन लागू हुई है।

7 **अन्य परिणाम**—शान्ति सन्धियों के कुछ अन्य परिणाम भी होते हैं। इसके बाद शत्रु के प्रदेश में उसकी सामग्री का बलपूर्वक उपयोग और धन की जबरदस्ती वसूली नहीं की जा सकती। युद्धकाल में शत्रु द्वारा जो भी व्यक्तिगत सम्पत्ति छीनी गई थी वह लौटा दी जाती है।

शान्ति सन्धियों का पालन (Performance of Peace Treaty)—सामान्य नियम के अनुसार शान्ति सन्धियों का पालन सद्विश्वास और पूरी निष्ठा के साथ किया जाना चाहिए। शान्ति सन्धि का अत्यन्त महत्त्व होता है। उसकी विशेष परिस्थितियों और शर्तों के कारण यह आवश्यक बन जाता है कि इसकी सम्पन्नता में कुछ बातों का ध्यान रखा जाए। सन्धि में निर्धारित शर्तों के अनुसार अधिकृत प्रदेश को खाली किया जाना चाहिए, युद्ध का हर्जाना दिया जाना चाहिए और नई सीमान्त रेखाओं की रचना की जानी चाहिए। ये सभी कार्य शान्ति सन्धि की सम्पन्नता से सम्बन्ध रखते हैं और अत्यन्त जटिल होते हैं। इन्हें करने के लिए प्रायः अनेक सन्धियाँ करनी पड़ती हैं। कुछ धाराओं की व्याख्याओं के सम्बन्ध में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इन्हें दूर करने के लिए आवश्यक हुआ तो पंच फैसले की नियुक्ति की जा सकती है। शान्ति सन्धि को सम्पन्न कराने की दृष्टि से युद्ध काल में आवेशित प्रदेश पर सैनिक शासन लागू कर दिया जाता है।

शान्ति सन्धि को पूर्ण रूप से अथवा उसके किसी एक भाग को भंग किया जा सकता है। यदि एक पक्ष सन्धि की व्यवस्थाओं का उल्लंघन करने लगता है तो सन्धि अपने आप रद्द नहीं हो जाती है। दूसरा पक्ष इस उल्लंघन को सन्धि भंग करने का आधार बना सकता है, किन्तु उसे तभी ऐसा करना चाहिए जब उल्लंघन अत्यन्त गम्भीर प्रकृति का हो।

पूर्वावस्था या पुन संस्थापन का सिद्धान्त
(Doctrine of Postliminium)

पूर्वावस्था या पुन संस्थापन के सिद्धान्त (Doctrine of Postliminium) को परावर्तन का सिद्धान्त भी कहा जाता है। पूर्वावस्था या पुन संस्थापन या परावर्तन का अर्थ यह है कि कोई प्रदेश, व्यक्ति अथवा सम्पत्ति युद्धकाल में शत्रु के अधिकार में चले जाने के बाद युद्ध के समय या उसके समाप्त होने पर अपने पूर्व-स्वामी के अधिकार में आ जाए। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने पूर्वावस्था के सिद्धान्त को रोमन कानून से ग्रहण किया। इसके अन्तर्गत शत्रु द्वारा जीता गया प्रदेश उसके मूल स्वामी को लौटाया जाता है। यह कई प्रकार से हो सकता है। यदि अधिकृत प्रदेश से शत्रु स्वयं ही हट जाए तो मूल स्वामी उस पर तुरन्त अधिकार कर लेता है। किसी अन्य राजा द्वारा जीत कर यह मूल स्वामी को लौटाया जा सकता है। जनता के सामूहिक विद्रोह द्वारा यह प्रदेश मूल स्वामी को प्राप्त हो सकता है। कभी-कभी शान्ति सन्धियों से भी इसे मूल स्वामी को लौटाने की बात कही जाती है।

पूर्वावस्था अथवा पुन.संस्थापन के सिद्धान्त पर ओपेनहेम के विचार स्पष्ट करते हुए एस. के. कपूर ने लिखा है कि—

"आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राज्य विधि में पुन संस्थापन के अर्थ ये होते हैं कि जो क्षेत्र, व्यक्ति तथा सम्पत्ति युद्ध के समय शत्रु के आधिपत्य में आ जाते हैं, युद्ध के दौरान अथवा युद्ध के अन्त पर मौलिक प्रभुत्व सम्पन्न शासक के आधिपत्य के अन्तर्गत पुन आ जाते हैं। व्यक्तिगत चल सम्पत्ति आधिपत्य स्थापित करने वाले

राज्यों के अधिकार मे चली जाती है अत. इन पर पुनः सस्थापन का सिद्धान्त लागू नही होता। परन्तु सार्वजनिक चल सम्पत्ति तभी अधिकार मे ली जा सकती है जब यह युद्ध के उद्देश्यो के लिए अत्यन्त आवश्यक हो। यदि शत्रु के चले जाने पर सम्पत्ति बच जाती है तो वह अपनी पूर्वस्थिति पर वापस आ जाती है। अचल सम्पत्ति पर पुन सस्थापन का सिद्धान्त लागू किया जा सकता है। इसी प्रकार आधिपत्य समाप्त हो जाने के बाद प्रदेश वैध सरकार के प्रशासन मे फिर से वापस आ जाता है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि शत्रु द्वारा वैध रूप से कार्य न्यायोचित बने रहते हैं। वास्तव मे यह सिद्धान्त तभी लागू किया जा सकता है जब कि आधिपत्य स्थापित करने वाले देश ने अधिकारो की सीमा के बाहर प्रयोग किया हो। अत. न्यायोचित कार्यों के सम्बन्ध मे य लागू नही होते।" वस्तुत. यह सिद्धान्त तभी लागू किया जाता है जबकि आधिपत्य स्थापित करने वाले देश ने अधिकारो का सीमा के बाहर प्रयोग किया हो। इस प्रकार, न्यायोचित कार्यों के सम्बन्ध मे यह लागू नहीं होता।[1]

प्रो० हाल ने पूर्वावस्था या परावर्तन का इन शब्दों मे वर्णन किया है—'जब कोई क्षेत्र जो शत्रु के अधिकार मे रहा हो, तथा जनता जिस पर उसका नियन्त्रण हो रहा हो, युद्ध की प्रगति के बीच अपने राज्य के अधिकार म पुनः वापस आ जाए, अथवा जब कोई राज्य जो पूर्णत अधीनस्थ कर लिया गया हो. विजय के स्पष्ट रूप व्यवस्थित होने के पूर्व ही, अपने को भारोन्मुक्त कर लें, अथवा अन्य मे जब कोई राज्य अथवा राज्य का भाग विदेशीय प्रभुत्व से किसी मित्र द्वारा विजय के समेकन के पूर्व ही मुक्त कर दिया जाए तो शत्रुतापूर्ण दखल के पूर्व विद्यमान वस्तुओं की वैध स्थिति पुन. स्थापित हो जाती है।"

पूर्वावस्था के प्रभाव
(Effects of Postliminium)

पूर्वावस्था का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार कुछ होता है तथा राष्ट्रीय कानून के अनुसार कुछ और अनेक लेखक इन दोनों प्रभावो मे भ्रम पैदा कर देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध पूर्वावस्था के केवल ऐसे प्रभावो से है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय हैं। इन्हें निम्न शीर्षकों मे वर्णित किया जा सकता है—

1. वस्तुओं का पूर्व स्थिति में लौटना (Return to Original Conditions)—युद्ध द्वारा जब किसी प्रदेश पर शत्रु की प्रभुता स्थापित हो जाती है तो भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से वह उसकी सत्ता के अधीन नहीं माना जाता। यदि शत्रु इसे वशीकरण द्वारा अपने राज्य मे नहीं मिला लेता तो इस प्रदेश पर भूतपूर्व शासक की सत्ता ही रहती है। पूर्वावस्था के अन्तर्गत यह प्रदेश उसके पूर्व स्वामी के पास चला जाता है। इस प्रदेश मे घटित होने वाली सभी महत्वपूर्ण घटनाओ के लिए सभी राज्य उसी शासक को उत्तरदायी मानते हैं यद्यपि आवेदन के समय इन कार्यों के लिए आवेदनकर्ता राज्य उत्तरदायी था।

1 एच के कपूर : वही, पृष्ठ 465

2 वैध कार्यों का औचित्य (Legality of Legal Acts)—सैनिक प्रावेशनकर्त्ता के वैध कार्यों पर पूर्वावस्था का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार उसके जो कार्य वैध होते हैं उनको अवैध नहीं बनाया जा सकता सत्ता का परिवर्तन होने पर ये सभी कार्य वैध मान लिए जाते हैं तथा इन्हें बदला नहीं जाता। इनके सम्बन्ध में शर्त यह है कि ये कार्य प्रावेशनकर्त्ता ने अपने प्रावेशन के समय किए हों। यदि प्रावेशनकर्त्ता ने कर एकत्रित किए हैं, अचल सम्पत्ति की पैदावार बेची हो, अपने अधिकार में कोई चल सम्पत्ति का विनियोग किया है अथवा युद्ध के कानूनों के अनुरूप अन्य कोई कार्य किया है तो वैध शासक इस प्रदेश पर पुनः अधिकार करने के बाद इन सबको अस्वीकार नहीं कर सकता।

वैध कार्यों की वैधता फ्रैंको-जर्मन युद्ध के एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी अक्टूबर 1870 में फ्रान्स के दो जिलों—म्यूज तथा म्यूरते पर जर्मन फौजों का कब्जा था। कब्जे के दौरान ही बर्लिन की एक फर्म ने जर्मन सरकार से इन जिलों में ओक के 15,000 पेड़ गिराने का ठेका लिया और इसके लिए अग्रिम रूप में 2250 पौण्ड की राशि अदा की। बर्लिन की कम्पनी ने अपने ये संविदिक अधिकार (Contractual Rights) एक दूसरी कम्पनी को बेच दिए जिसने मार्च 1871 तक 9,000 पेड़ काटने और बेचने के बाद शेष 6,000 पेड़ों को काटने का ठेका एक तीसरी कम्पनी को दे दिया। इस तीसरी कम्पनी ने जर्मन सेनाओं के रहते हुए कुछ पेड़ काटे। इसी दौरान दोनों पक्षों में फ्रैंक फोर्ट की सन्धि हो गयी। फलस्वरूप जर्मन फौजें स्वदेश लौट गयीं, फ्रेंच सरकार का इस प्रदेश पर पुनः अधिकार स्थापित हो गया। फ्रेंच सरकार ने ठेकेदारों को पेड़ काटने से रोक दिया और उन्हें कोई हर्जाना नहीं दिया, क्योंकि जर्मन सरकार को इस प्रकार का ठेका देने का अधिकार केवल अपने आधिपत्यकाल में था, उसके बाद यह कार्य सर्वथा अवैध था।

3 अवैध कार्यों की अवैधता (Illegality of Illegal Acts)—यदि प्रावेशनकर्त्ता ने ऐसे कार्य किए हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से उसे नहीं करने चाहिए तो पूर्वावस्था इन कार्यों को अनुचित ठहरा देगी। यदि उसके द्वारा राज्य की अचल सम्पत्ति बेच दी गयी है तो युद्ध के बाद उसे खरीदने वालों से बिना मुआवजा दिए वसूल किया जा सकता है। यदि अनधिकृत रूप से कुछ व्यक्तियों को उच्च पदों पर नियुक्त कर दिया गया है तो वे बाद में पद विमुक्त कर दिए जाएँगे।

पूर्वावस्था के सिद्धान्त की सीमाएँ
(Limitations of the Doctrine)

पूर्वावस्था या पुनःसंस्थापन अथवा परावर्तन का सिद्धान्त तभी लागू होता है, जब युद्ध में जीता हुआ प्रदेश युद्ध के बाद पुराने वैध शासक के पास लौट जाए। यह नियम कुछ परिस्थितियों में लागू नहीं होता अर्थात् इस सिद्धान्त की अपनी परिसीमाएँ हैं। युद्धवेत्ता एम. पी. टण्डन ने इन सीमाओं को अग्रांकित प्रकार से प्रस्तुत किया है—[1]

1 एम. पी. टण्डन : वही, पृष्ठ 420-21.

1. यह सिद्धान्त उस दशा में लागू नहीं है जबकि किसी क्षेत्र या विजयी द्वारा कब्जा करने तथा प्रशासन स्थापित करने द्वारा स्वायत्तीकरण हो गया हो, अथवा जब कोई क्षेत्र सन्धि द्वारा शत्रु को समर्पित कर दिया गया हो। विजय अर्थात् कब्जा तथा प्रशासन की दशा में विजित राज्य की सार्वभौमिक सत्ता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार हेसे-केसेल (Hesse-Kassel) वाले मामले में इस सिद्धान्त का प्रयोग इस आधार पर नहीं किया गया कि विजयी ने सन्धियों द्वारा पूर्ण स्वत्व प्राप्त कर लिया था तथा निर्वाहिक सम्पत्ति पर अपना स्वत्व स्थापित नहीं कर सकता था। इस सिद्धान्त का प्रयोग केवल अस्थायी दखल अथवा अधीनता की दशा में किया जाता है जबकि विजय का समेकन न हुआ हो।

2. तटस्थ देशों में इस सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया जा सकता है।

3. अधिकार करने वाले के द्वारा किए गए न्यायोचित कार्य इस सिद्धान्त के विषय नहीं हो सकते। ओपेनहेम का कथन है कि परावर्तन का सिद्धान्त पूर्ववर्ती सैनिक अधिकारी के अधिकृत क्षेत्र, व्यक्तियों और उस पर स्थित सम्पत्ति से सम्बन्धित ऐसे कार्यों पर कोई प्रभाव नहीं रखता जिनको वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार करने के लिए समर्थ था, उदाहरणार्थ अपराधियों को दण्ड देना, ऐसी चल सम्पत्ति का विक्रय जिसको अधिकार करने वाला स्वायत्तीकरण के लिए समर्थ था। वास्तव में उस राज्य को जिसके अधिकार में ऐसा क्षेत्र वापस आ गया हो, इन न्यायोचित कार्यों को स्वीकृत करना चाहिए।

4. अधिकार करने वाले द्वारा चन्दा लगाना, अधियाचन तथा करों का संग्रह पूर्व स्थिति पर पुनः संस्थापन के सिद्धान्त के प्रयोग से उन्मुक्त करना है।

5. क्षेत्र पर अधिकार करने वाले शत्रु द्वारा अभिगृहीत राज्य अथवा व्यक्तिगत अचल सम्पत्ति मूल स्वामी के पास वापस नहीं जाती यदि शत्रु का स्वत्व विजय अथवा सन्धि द्वारा पूर्ण कर दिया गया हो।

6. सन् 1864 के नाविक नौजितमाल अधिनियम में यह व्यवस्था की गई है कि यदि कोई जहाज अथवा उसमें लदा हुआ सामान उस युद्ध के बीच किसी समय में पुनर्ग्रहण किया जाए जिसमें कि अभिग्रहण हुआ था तो उसको पुनर्ग्रहण सम्पत्ति के मूल्य के कुछ अंश दिए जाने पर वास्तविक मालिक को देना चाहिए। यह 'दिया जाना' परिमाणानुसार उबार या पुरस्कार (Salvage) (जहाज अथवा उस पर की सामग्री को बचाने का पुरस्कार) कहा जाता है, तथा एक प्रकार की क्षतिपूर्ति के रूप में उन बचाने वालों को दिया जाता है, जिनकी सहायता से कोई जहाज अथवा उस पर की सामग्री समुद्र में भय अथवा नाश से बचाई गयी हो। पुरस्कार अथवा उबार का यह दिया जाना भिन्न-भिन्न है तथा इस विषय में कोई एकरूपता नहीं है।

हेसे-केसल का मामला
(Case of the Elector of Hesse Cassel I)

पूर्वावस्था या पुनःसंस्थापन के सिद्धान्त पर प्रमुख विवाद हेसे-कैसल के शासक

23 तटस्थता—परिभाषा और प्रकार; तटस्थता का विकास; तटस्थता और द्वितीय महायुद्ध; तटस्थ और युद्धमान राज्यों के कर्त्तव्य; संकटाधिकार, अतटस्थ सेवा

(Neutrality—Its Definition and Kinds; Evolution of Neutrality; Neutrality and the Second World-War; Duties of Neutrals and Belligerents; the Right of Angary; Un-neutral Service)

प्राचीन काल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे तटस्थता जैसी कोई कानूनी स्था नही थी। व्यवहार म तटस्थता का अस्तित्व नहीं था क्योंकि युद्धमान राज्य दूसरे राज्यों के दृष्टिकोण को कभी निष्पक्ष नही मानते थे। युद्ध छिड़ने पर प्रत्येक राज्य किसी भी युद्धमान पक्ष के साथ मिल जाता था और इस प्रकार वह एक युद्धमान पक्ष का शत्रु अथवा मित्र स्पष्ट रूप मे बन जाता था। इसका अर्थ यह नहीं कि तीसरा पक्ष लड़ाई मे आवश्यक रूप से भाग लेता था, किन्तु आवश्यकता के समय वह अपनी क्षमता के अनुसार सहयोग अवश्य देता था। एक राज्य की जिस पक्ष स सहानुभूति होती थी वह उस पक्ष की सेनाओ को अपने देश में होकर निकलने की सुविधा प्रदान करता था, किन्तु शत्रु पक्ष के लिए यह सुविधा नहीं दी जा सकती थी। यद्यपि ऐसे भी कुछ उदाहरण मिलते है जबकि तीसरे पक्ष ने निष्पक्षता का दृष्टिकोण अपनाया, किन्तु युद्धमान पक्षो ने उसे मान्यता नहीं दी।

तटस्थता की परिभाषा
(Definition of Neutrality)

तटस्थता की परिभाषा करते हुए प्रो. लॉरेन्स (Lawrence) ने लिखा है कि "तटस्थता राज्यो की वह व्यवस्था है जिनमे युद्ध के समय वे संघर्ष मे कोई भाग नहीं लेते और दोनो युद्धमान पक्षों से अपना शान्तिपूर्ण सम्पर्क बनाए रखते

है।" इस परिभाषा मे तटस्थ राज्य उसे माना गया है जो युद्ध मे सक्रिय भाग नहीं लेता और दोनो ही पक्षो से अपना मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखता है। इस राज्य के लिए युद्ध का कोई महत्त्व नहीं होता और सारा कार्यक्रम पूर्ववत् चलता रहता है। प्रो. बिन्करशॉक (Prof Byncershock) के अनुसार, "तटस्थ राज्य उन्हीं को कहा जा सकता है जो युद्धमान शक्तियो मे से किसी पक्ष की ओर से नहीं लडते और जो मैत्री सन्धि द्वारा किसी पक्ष के साथ बँधे नही होते।" इस परिभाषा मे तटस्थ राज्य को युद्धमान राज्यो की शत्रुता और मित्रता दोनों से अलग रखा गया है। मैत्री सन्धि के अभाव का उल्लेख करके यह परिभाषा तटस्थता के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करती है। फेनविक ने लिखा है कि "20वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे तटस्थता को जैसा समझा गया उस दृष्टि से उसे ऐसे राज्य की कानूनी स्थिति के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है जो दो राज्यो अथवा राज्य समूह मे युद्ध छिड़ने पर युद्ध से पृथक् रहता है, दोनो युद्धमान पक्षो के साथ अपने कुछ अधिकार बनाए रखता है और परम्परागत कानून से, अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयो से और सन्धियो से निश्चित किए गए कुछ नियमो का पालन करता है।"

फेनविक की इस परिभाषा मे कानूनो और नियमो को महत्त्व देते हुए तटस्थता को ऐसी स्थिति माना गया है जो कानून द्वारा स्वीकृत और निर्धारित की जाती है। प्रो स्टार्क का मत है कि "सामान्य लोकप्रिय अर्थ मे तटस्थता किसी राज्य की उस प्रवृत्ति को व्यक्त करती है जिसमे वह युद्धमान पक्षो के साथ न तो लडाई करता है और न पतुरतापूर्ण कार्यों मे भाग लेता है। अपने परिभाषित अर्थ मे तटस्थता ऐसी कानूनी स्थिति को सूचित करती है जिसमे युद्धमान पक्ष और तटस्थ राज्य समान रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकारो, कर्त्तव्यो एव विशेषाधिकारो का पालन करते हैं।" स्टार्क ने माना है कि तटस्थ राज्य की स्थिति एक विशेष स्थिति है और इसके कारण उसे अधिकार और कर्त्तव्य प्राप्त होते हैं। यदि किसी राज्य को तटस्थ मान लिया जाता है तो दोनों युद्धमान पक्ष उसे कुछ सुविधाएँ एव विशेषाधिकार प्रदान करते हैं। साथ ही उससे कुछ कर्त्तव्यो का पालन करने की आशा भी की जाने लगती है।

प्रो. ग्लान ने तटस्थता की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "तटस्थ राज्य युद्ध का पक्ष नहीं होता। वह युद्ध मे भाग लेने से वचित रहता है। तटस्थता उस राज्य को, उसके राष्ट्रिको को तथा युद्धमान राज्यो को कुछ कार्य करने से, सहन करने से, नियमित करने से और अवरुद्ध करने से रोकती है। सभी युद्धमान राज्यो का कर्त्तव्य है—तटस्थ राज्यो के प्रदेश तथा अधिकारो की रक्षा करना।" इस परिभाषा म तटस्थ राज्यों के अधिकारो एव कर्त्तव्यो को मुख्य बनाया गया है। प्रो ओपनेहेम के अनुसार, तटस्थता का लक्षण यह दिया जा सकता है कि यह दो युद्धमान पक्षो के प्रति तीसरे राज्य द्वारा अपनाई गई नीति है। तटस्थता को युद्धमान राज्य स्वीकार करते हैं और यह निष्पक्ष राज्यो तथा युद्धमान पक्षो के बीच कुछ अधिकार और कर्त्तव्य उत्पन्न करती है।"

तटस्थता का अर्थ एवं परिभाषा का अध्ययन करते हुए इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय विचारकों के मत का उल्लेख उपयुक्त रहेगा। भारतीय ग्रन्थों में तटस्थता के स्थान पर 'आसन' शब्द का प्रयोग किया गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार, "दो देशों की लड़ाई छिड़ने पर अपने देश में बैठे रहना आसन है।" मनु के अनुसार, "सैनिक व आर्थिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण अथवा मित्र के अनुरोध पर लड़ाई न करना आसन है।" कौटिल्य के मतानुसार, 'लड़ाई की उपेक्षा करना अर्थात् उसमें भाग न लेना आसन है।" कौटिल्य का सुझाव था कि जब किसी राजा को यह विश्वास हो जाए कि उसे कोई शत्रु परास्त नहीं कर सकता और वह किसी शत्रु को परास्त नहीं कर सकता तो उसे आसन की नीति का सहारा लेना चाहिए। भारतीय ग्रन्थों में तटस्थता के लिए आसन के साथ-साथ उदासीनता शब्द का प्रयोग भी हुआ है। शंकराचार्य के मतानुसार, किसी का पक्ष न लेने वाला उदासीन होता है और दोनों विरोधी पक्षों का हित चाहने वाला मध्यस्थ होता है। यही मत एक अन्य विद्वान नीलकंठ ने प्रस्तुत किया है। उदासीनता की व्याख्या में निष्पक्षता को अधिक महत्त्व दिया गया है।

तटस्थता की विशेषताएँ
(Characteristics of Neutrality)

तटस्थता की परिभाषाओं का विवेचन करने पर उसकी कुछ विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। इन विशेषताओं के आधार पर तटस्थता का अर्थ अधिक स्पष्ट किया जा सकता है जो राज्य दूसरे राज्यों के मध्य चल रहे युद्ध में भाग नहीं लेते वे तटस्थ कहे जाते हैं। तटस्थता की अंग्रेजी पर्यायवाची 'Neutrality' शब्द लेटिन भाषा के न्यूटर (Neuter) शब्द से लिया गया है। यह एक निष्पक्षता का दृष्टिकोण है जो युद्धमान राज्यों के प्रति तीसरे राज्य द्वारा रखा जाता है जिसे युद्धमान राज्यों द्वारा मान्यता दी जाती है। यह दृष्टिकोण निष्पक्ष राज्यों और युद्धमान राज्यों के बीच कुछ अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की रचना करता है। तीसरे राज्य युद्ध छिड़ने पर निष्पक्ष रहेंगे अथवा नहीं यह प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय कानून से नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्ध रखता है। कोई राज्य युद्ध छिड़ने पर तटस्थ रहने के लिए बाध्य नहीं है। प्रत्येक सम्प्रभु राज्य राष्ट्रों के परिवार का एक स्वतन्त्र सदस्य है। इस रूप में अपने व्यवहार का अन्तिम निर्णायक वह स्वयं होता है'।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के अनुसार यदि कोई राज्य स्पष्ट रूप से तटस्थ न रहने की इच्छा अभिव्यक्त नहीं करे अथवा ऐसा व्यवहार नहीं करे तो उसे तटस्थ मान लिया जाता है। उसे तटस्थ राज्य के अधिकार और कर्त्तव्य मिल जाते हैं। दूसरे शब्दों में, यह आवश्यक नहीं है कि कोई राज्य तटस्थ रहने का अपना इरादा शब्दों में प्रकट करे। यदि कोई राज्य ऐसा करता है तो भी अनुचित नहीं है। तटस्थता की विशेषताएँ मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं—

1 युद्धकालीन मनोवृत्ति—तटस्थता की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि यह

केवल युद्ध के समय होती है। युद्ध की घोषणा होने पर ही कोई राज्य तटस्थ दृष्टिकोण अपनाता है और युद्ध होने तक यह दृष्टिकोण चलता है, यदि राज्य इसके विपरीत निर्णय न ले। युद्ध समाप्त होते ही तटस्थता का भी अन्त हो जाता है।

2 यह एक मनोवृत्ति है—तटस्थता एक मानसिक स्थिति है। इसके लिए कानूनी रूप से कोई औपचारिक घोषणा करना अनिवार्य नहीं होता। यदि कोई राज्य युद्ध में शामिल न होने का रुख अपनाए तो वह तटस्थ बन जाएगा।

3 यह निष्पक्षता का दृष्टिकोण है—एक राज्य अपने निष्पक्ष दृष्टिकोण के कारण तटस्थ कहलाता है। वह किसी भी युद्धमान पक्ष की ऐसी सहायता नहीं करता जो दूसरे पक्ष के लिए हानिकारक हो और न ही किसी पक्ष की हानि करता है जो दूसरे के लिए लाभदायक हो। यह तटस्थ राज्यों से सक्रिय प्रयासों की माँग करता है ताकि दोनों पक्ष सम्मानित हो किन्तु युद्ध की दृष्टि से दोनों को कोई लाभ न हो। दोनों ही पक्ष अपने सामरिक प्रयोजनों के लिए तटस्थ राज्य के साधनों का लाभ नहीं उठा पाते। यही कारण है कि तटस्थ राज्य के प्रदेश में किसी भी युद्धमान पक्ष को युद्ध छेड़ने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। तटस्थ राज्य के प्रदेश में से युद्धमान राज्य की सेनाएँ, रण-सामग्री और खाद्य-सामग्री आदि की ढुलाई नहीं हो सकती। उसके बन्दरगाहों में कोई पक्ष युद्धपोत की रचना, मरम्मत और सज्जा नहीं कर सकता।

तटस्थ राज्य का यही प्रयास रहता है कि कोई भी युद्धमान राज्य उसके रहन-सहन में हस्तक्षेप न करे। ऐसा होने पर ही राज्य की तटस्थता बनी रह सकती है। तटस्थ रहते हुए भी एक राज्य किसी विशेष पक्ष के साथ सहानुभूति रख सकता है; किन्तु यह सहानुभूति की भावना केवल इतनी ही होनी चाहिए ताकि तटस्थता का उल्लंघन न हो सके। तटस्थ राज्य का जनमत, प्रेस और यहाँ तक कि उसकी सरकार भी बिना तटस्थता को तोड़े किसी पक्ष के साथ सहानुभूति रख सकती है। तटस्थ राज्य एवं उसकी जनता मानवता की दृष्टि से किसी पक्ष की सहायता करते हुए उसे सैनिक, डॉक्टर, दवाइयाँ, चिकित्सा का अन्य सामान, युद्धबन्दियों के कपड़े और धन आदि भेज सकती है। ये सारी चीजें युद्ध के एक ही पक्ष के घायलों और बन्दियों के लिए होने पर भी तटस्थता विरोधी नहीं होतीं। इस सम्बन्ध में एक अन्य बात उल्लेखनीय यह है कि यदि कोई पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का उल्लंघन करे तो तटस्थ राज्य अपनी तटस्थता के आवरण में शान्त नहीं बैठ सकता। वह हस्तक्षेप करने का अधिकार रखता है। यद्यपि ऐसा करने का उनका कर्त्तव्य नहीं है तथापि वे बाध्य नहीं है। यदि उनके साधन स्रोत और परिस्थितियाँ अनुमति दें तो वे युद्धकारी राज्य को गलत कार्य करने से रोक सकते हैं।

4. तटस्थ राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्य—तटस्थता केवल युद्ध के समय रहने वाला एक राज्य का दृष्टिकोण है। यह उस काल के लिए राज्य को कर्त्तव्य और अधिकार सौंपता है जो सामान्यतः राज्य को प्राप्त नहीं होते। ये अधिकार

और कर्त्तव्य युद्ध प्रारम्भ होने पर तथा अन्य राज्यों को इसकी सूचना मिलने पर प्रारम्भ होते हैं। युद्ध की समाप्ति या तटस्थ राज्यों द्वारा युद्ध मे शामिल होने पर ये अधिकार और कर्त्तव्य समाप्त हो जाते हैं।

तटस्थता से सम्बन्धित कोई भी अधिकार या कर्त्तव्य चाहे वह कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व नहीं रहता। स्विट्जरलैण्ड जैसा तथाकथित तटस्थ राज्य भी शान्ति के समय तटस्थता सम्बन्धी कोई कर्त्तव्य नहीं रखता। तटस्थीकृत (Neutralised) राज्य होने के कारण इसके कुछ कर्त्तव्य अवश्य हैं। ये कर्त्तव्य इसलिए सौंपे जाते हैं ताकि तटस्थीकृत राज्यों को युद्ध मे शामिल होने से रोका जा सके।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून मुख्यतः राज्यों के मध्य का कानून है इसलिए तटस्थता के अधिकार और कर्त्तव्य मुख्यतः तटस्थ राज्य के होते हैं। ऐसे राज्यों के कर्त्तव्यों मे प्रमुख ये हैं—(1) युद्धमान राज्यों को ऋण अथवा हथियार न दिए जाएँ। (2) तटस्थ राज्य अपने प्रदेश को रण-क्षेत्र न बनने दें और इसके लिए वे विदेशी सेनाओं अथवा वायुयानों को मार्ग न दें तथा युद्ध-पोतों को अपने प्रादेशिक जल मे लम्बे समय तक न रुकने दे। (3) राज्य अपने राष्ट्रिकों की क्रियाओं को नियन्त्रित करें ताकि उनके कारण तटस्थ राज्य का प्रदेश युद्ध या युद्ध की तैयारी का क्षेत्र न बन जाए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इन राज्यों के राष्ट्रजनों की कुछ क्रियाओं को गैर-कानूनी ठहराते हैं। ये क्रियाएँ उन युद्धमान राज्यों द्वारा दण्डित की जाएँगी जिनके विरुद्ध ये सचालित की जाती हैं।

5. युद्धमान राज्यों से सम्पर्क—तटस्थता एक निष्पक्षतापूर्ण दृष्टिकोण है और इसलिए यह युद्धमान राज्यों को निष्क्रिय अथवा सक्रिय रूप से सहयोग देने पर रोक लगाती है, किन्तु तटस्थ राज्यों का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वे युद्धमान राज्यों के साथ अपना समस्त सम्पर्क तोड लें। निष्पक्षता के लिए आवश्यक कुछ प्रतिबन्धों के अतिरिक्त तटस्थ राज्य युद्धमान राज्यों के साथ पूर्ववत् सम्बन्ध रखता है। युद्धमान राज्यों के बीच युद्ध रहते हुए भी तटस्थ राज्यों के साथ दोनों पक्षों के शान्तिपूर्ण सम्बन्ध रहते हैं। समस्त सन्धियाँ, राजनयिक सम्पर्क और व्यापार पहले की तरह चलता रहता है। अप्रत्यक्ष रूप से तटस्थ राज्य भी युद्ध के कारण प्रभावित हो सकते हैं। यदि एक युद्धमान राज्य अपने शत्रु का कुछ प्रदेश हथिया लेता है तो प्रभावित पक्ष के साथ की गई तटस्थ राज्यों की सन्धियाँ अवश्य प्रभावित होंगी। यदि तटस्थ राज्य के नागरिक आवेशित प्रदेश मे निवास करते हैं तो विजेता राज्य द्वारा उन्हें शत्रु माना जायगा, जबकि यथार्थ मे वे शत्रु नहीं हैं।

6 गृह-युद्ध में तटस्थता—यदि तटस्थता एक युद्ध की स्थिति है तो गृह-युद्ध के समय उसका क्या स्थान रहेगा, यह विचारणीय है। गृह युद्ध उस समय युद्ध बन जाता है जब संघर्ष-कर्त्ताओं का युद्धमान शक्ति की मान्यता दे दी जाती है। मान्यता प्राप्त और गैर मान्यता प्राप्त विवादों के बीच अन्तर किया जाना चाहिए। यदि वैध सरकार के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध रखते हुए भी एक राज्य विद्रोही की सहायता करता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का दोषी है। मान्यता

के बाद स्थिति भिन्न हो जाती है, विद्रोही युद्धमान शक्ति बन जाती है और तब गृह-युद्ध वास्तविक युद्ध में परिणत हो जाता है। विदेशी राज्य या तो किसी पक्ष के साथ मिल जाते हैं अथवा तटस्थ बने रहते हैं। दूसरे विकल्प में उन्हें तटस्थ राज्य के सभी अधिकार और कर्त्तव्य प्राप्त हो जाते हैं। यदि वैध सरकार विद्रोही को युद्धमान शक्ति के रूप में मान्यता दे दे, किन्तु अन्य राज्य उसे न दें तो उस राज्य को वैध राज्य के सन्दर्भ में तटस्थता के अधिकार और कर्त्तव्य प्राप्त हो जाएँगे किन्तु विद्रोही के सम्बन्ध में नहीं मिलेंगे।

7. तटस्थता की मान्यता युद्ध छिड़ने पर—तीसरे राज्य तटस्थ रहने का कर्त्तव्य नहीं रखते। वे किसी भी युद्धमान पक्ष का साथ दे सकते हैं। इतने पर भी उनको युद्धमान पक्षों से यह माँग करने का अधिकार है कि कोई पक्ष उन्हें युद्ध में घसीटने का प्रयास न करे। *एक युद्धमान राज्य जब युद्ध प्रारम्भ होने पर किसी* राज्य की तटस्थता मानने से मना कर देता है तो वह तटस्थता का उल्लंघन नहीं करता क्योंकि तटस्थता का अस्तित्व ही नहीं हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार तटस्थता केवल तभी अस्तित्व में आती है जबकि दोनों युद्धमान पक्ष इसे मान्यता दें। *जो राज्य एक राज्य को तटस्थ मानने से अस्वीकार करता है वह तटस्थता का* नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करता है।

तटस्थता का विकास : प्रथम और द्वितीय महायुद्ध में तटस्थता
(Evolution and Development in Neutrality : Neutrality of the First and Second World War)

ग्रोशियस से पूर्व—तटस्थता का विचार पश्चिमी जगत के लिए अधिक पुराना नहीं है। प्राचीन काल के इतिहास में इस विचार का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख है। भारतीय मनीषियों ने इस विषय की विशद् विवेचना की थी। पश्चिमी जगत में, मध्ययुग में तटस्थता के विचार का विकास हुआ। तटस्थता की धारणा राष्ट्रों के समाज या परिवार के *विचार के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। जब ऐसा समाज अस्तित्व में आया* तो तटस्थता का विचार जन्मा। सबसे पहले 'तटस्थता' शब्द आधुनिक अर्थ में 14वीं शताब्दी में प्रयुक्त किया गया। 15वीं शताब्दी के अन्त तक 'Consolato del Mare' ने समुद्र में तटस्थ अधिकारों से सम्बन्धित निश्चित नियमों का विकास किया। 16वीं शताब्दी में कूटनीतिक पत्र-व्यवहार में तटस्थता सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को उद्धृत किया जाने लगा।

ग्रोशियस के समय—ग्रोशियस के समय तक यह अपनी शैशव अवस्था तक पहुँच सका। ग्रोशियस ने तटस्थता के सम्बन्ध में विचार अभिव्यक्त किए हैं, किन्तु केवल संक्षिप्त रूप में उसने न्यायपूर्ण युद्ध (Just War) के सिद्धान्त का समर्थन किया है, जिसके अन्तर्गत एक राज्य तटस्थ होने का दावा कर सकता है ऐसा राज्य किसी संघर्ष का औचित्य सम्बन्धी निर्णय ले सकता है और निष्पक्षता के साथ बिना किसी युद्धमान राज्य का पक्षपात किए इसके आचरणों को बदल सकता है। इस प्रकार

ग्रोशियस गैर-युद्धमान के सिद्धान्त के अत्यन्त निकट आ गया। इससे पहले चर्च के डॉक्टरों ने सिखाया था कि न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण युद्ध होते हैं किन्तु इन दोनों के बीच की रेखा कानूनी नियमों का नहीं वरन् चेतना का विषय है। विटोरियो और सुआरेज ने नए सम्प्रभु राज्यों को नैतिक आचरण के मौलिक सिद्धान्तों द्वारा मर्यादित करने का प्रयास किया, किन्तु तटस्थता का वर्णन नहीं किया। ग्रोशियस के समय तक तटस्थता को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की एक संस्था माना जाने लगा था। ग्रोशियस ने संक्षेप में अपनी पुस्तक के सत्रहवें अध्याय में दो सामान्य नियमों का उल्लेख किया है—(1) तटस्थ राज्य कोई ऐसा कार्य नहीं करेंगे जिससे अन्यायी युद्धमान का पक्ष मजबूत हो अथवा न्यायपूर्ण पक्ष की हानि हो। (2) जिस युद्ध में न्यायपूर्ण कारण सन्दिग्ध हो उसमें तटस्थ राज्यों को चाहिए कि दोनों पक्षों के साथ सम्मान से व्यवहार करें।

ग्रोशियस के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि उसने तीसरे पक्ष की तटस्थता को मान्यता दी थी, किन्तु तटस्थों के कर्त्तव्यों से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख नहीं किया गया। दूसरी ओर युद्धमान राज्यों की सेनाओं को रास्ता देना और अन्य सुविधाएँ प्रदान करना गैर-कानूनी नहीं माना गया। 17वीं शताब्दी के व्यवहार में तटस्थता वास्तव में निष्पक्षता का दृष्टिकोण नहीं रखती थी और युद्धमान राज्यों ने तटस्थ राज्यों के प्रदेशों को आदर प्रदान नहीं किया।

18वीं शताब्दी में तटस्थता—ग्रोशियस के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास का महत्त्व तीव्र गति से बढ़ा। फलतः प्रमुख तटस्थ समुद्री राज्यों ने इस बात का विरोध किया कि युद्धमान राज्य उनके व्यापार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करें। इस प्रवृत्ति ने तटस्थता के विकास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। हॉलैण्ड और स्वीडन जैसे तटस्थ समुद्री राज्य युद्धमानों द्वारा शत्रु के बन्दरगाह तक जाते हुए अपने पोतों को पकड़ने का विरोध करने लगे। 18वीं शताब्दी में वैटिल (Vattel) का ग्रन्थ (1758) प्रकाशित हुआ। इस समय तक दो सिद्धान्त स्वीकार किए जाने लगे थे—(1) जो राज्य तटस्थ रहना चाहें उनकी तटस्थता स्वीकार करने के लिए युद्धमान राज्य बाध्य है। (2) तटस्थ राज्य का स्तर निष्पक्षता के विशेष दायित्व रखता है। वैटिल स्विट्जरलैण्ड की उपज होने के नाते तटस्थ राज्य के अधिकारों और दायित्वों के प्रति सजग था। यद्यपि उसके विचार हर विषय में सगत नहीं थे, किन्तु उसका प्रभाव पर्याप्त पड़ा। वैटिल का स्पष्ट कहना था कि किसी युद्ध में तटस्थ राज्य वे होते हैं जो इसमें भाग नहीं लेते, दोनों पक्षों के मित्र होते हैं और किसी एक पक्ष को लाभ पहुँचा कर दूसरे को हानि नहीं पहुँचाते।

18वीं शताब्दी के अन्य विधि शास्त्री बिंकरशॉक (Bynkershock) ने ग्रोशियस के इस मत को अस्वीकार किया कि तटस्थ देश न्यायपूर्ण युद्धों के आधार पर युद्धमान राज्यों के साथ अपने व्यवहार में भेदभाव करें। उसके मतानुसार तटस्थ देश दोनों युद्धमान पक्षों का मित्र होता है। कोई तटस्थ राज्य युद्धमान पक्षों के बीच न्याय और अन्यायपूर्ण उद्देश्य तय करने के लिए न्यायाधीश बनकर नहीं बैठता।

18वीं शताब्दी का तटस्थता सम्बन्धी सिद्धान्त व्यवहार में यह मानता था कि तटस्थ राज्यों का कर्त्तव्य निष्पक्ष रहना है, किन्तु यह आवश्यक निष्पक्षता कठोर नहीं थी। इस शताब्दी के अधिकांश काल में यह माना गया कि यदि एक राज्य किसी युद्धमान राज्य को पहले की गई सन्धि के अनुसार सीमित सहयोग देता है तो वह तटस्थता का उल्लंघन नहीं करता। इस प्रकार एक युद्धमान पक्ष को तटस्थ राज्य सेना भेज सकता है तथा उसकी सेनाओं को अपने प्रदेश में होकर गुजरने की अनुमति दे सकता है। इसके अतिरिक्त कोई भी युद्धमान पक्ष तटस्थ देशों के स्रोतों का उपयोग कर सकता था। ऐसा करना उसकी तटस्थता का उल्लंघन नहीं माना जाता था।

19वीं शताब्दी में तटस्थता का व्यवहार और सिद्धान्त पर्याप्त बदल गया। इस समय पूर्ण और अपूर्ण तटस्थता के बीच भेद किया जाने लगा। इस शताब्दी में युद्धमान पक्षों द्वारा तटस्थ प्रदेश को सम्मान देने का कर्त्तव्य समझा जाने लगा। जब कभी तटस्थ राज्य के प्रदेश का उल्लंघन किया जाता तो इसके लिए मुआवजा माँगा और दिया जा सकता था। तटस्थ प्रदेश में एक विजेता राज्य विजित सेना का पीछा करते हुए जा सकता था। इसी प्रकार हारे हुए शत्रु बेड़े का पीछा करता हुआ विजेता राज्य का बेड़ा तटस्थ राज्य के प्रादेशिक जल में प्रवेश कर सकता था।

सशस्त्र तटस्थता—यद्यपि तटस्थ राज्यों का मुख्य कर्त्तव्य निष्पक्ष रहना माना गया है, किन्तु अनेक बार अपनी तटस्थता की रक्षा के लिए उन्हें शस्त्र धारण करना पड़ता था। प्रो ग्लान के कथनानुसार तटस्थ व्यक्तियों और सम्पत्ति के साथ युद्धमान राज्यों के निरन्तर हस्तक्षेप के कारण तटस्थ राज्य अनेक अवसरों पर ताकत का प्रयोग करने के लिए प्रेरित हुए। इसे सशस्त्र तटस्थता (Armed Neutrality) कहा गया। इसका सर्वप्रथम उदाहरण 1780 के अमेरिकी स्वतन्त्रता संग्राम के समय रूस द्वारा की गई सशस्त्र तटस्थता की घोषणा थी। रूस ने एक परिपत्र द्वारा ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन को पाँच सिद्धान्तों का पालन करने के लिए कहा—(1) तटस्थ राज्यों के जलपोतों को युद्धमान राज्यों के बन्दरगाहों और तटों पर नौचालन की अनुमति दी जाए। (2) युद्धकारी राज्यों को तटस्थ जलपोतों पर लदे हुए विनिषिद्ध सामग्री के अतिरिक्त माल को नहीं पकड़ना चाहिए। (3) विनिषिद्ध सामग्री के सम्बन्ध में रूस और ग्रेट-ब्रिटेन के बीच की गई 1966 की सन्धि के 10 और 11 अनुच्छेद प्रत्येक मामले में लागू किए जाने चाहिए। (4) किसी बन्दरगाह को उसी अवस्था में परिवेष्टित (Blockaded) समझना चाहिए जबकि इसके कर्त्ता देश वहाँ अपने जहाज रखें, जो तटस्थ जलपोतों के वहाँ प्रवेश के लिए खतरा बन जाए। (5) अभिग्रहण न्यायालयों में अभिग्रहित वस्तुओं की वैधता पर विचार और निर्णय करते समय इन सिद्धान्तों को लागू किया जाए। रूस ने डेनमार्क, स्वीडन, हॉलैण्ड, प्रशिया और आस्ट्रिया के साथ सन्धियाँ की जिनका उद्देश्य उक्त सिद्धान्तों को लागू करने के लिए रणपोत सुसज्जित करना था। यही कारण है कि इसे सशस्त्र तटस्थता का नाम दिया जाता

है। व्यवहार में रूस द्वारा वर्णित नियमों का उल्लंघन अनेक बार हुआ, यहाँ तक कि स्वयं रूस ने फ्रांसीसी क्रान्ति के समय उल्लंघन किया।

सशस्त्र तटस्थता की अन्य घोषणा 1800 में पुनः रूस द्वारा की गई क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन ने रणपोतों के संरक्षण में जाने वाले तटस्थ देशों के व्यापारिक जहाजों का निरीक्षण करना और तलाशी लेना प्रारम्भ कर दिया था। 1793 में स्वीडन ने यह माँग की कि यदि रणपोतों का कप्तान यह घोषणा करे कि उनके संरक्षण में यात्रा करने वाले वणिक्पोतों पर कोई निषिद्ध सामग्री नहीं है तो उनकी तलाशी नहीं लेनी चाहिए। दूसरे राज्यों ने भी ऐसी ही माँग की। ग्रेट-ब्रिटेन इस माँग को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ और 1800 में उसने डेनमार्क के एक रणपोत तथा उसके संरक्षण में जा रहे वणिक्-पोत को पकड़ लिया। इस पर रूस ने स्वीडन, डेनमार्क और पर्सिया को दूसरी सशस्त्र तटस्थता में शामिल होने का निमन्त्रण दिया और पूर्वोक्त पाँच सिद्धान्तों में एक छठा सिद्धान्त यह भी जोड़ दिया गया जो स्वीडन द्वारा सुझाया गया था। यह दूसरी सशस्त्र तटस्थता केवल एक वर्ष चली क्योंकि 23 मार्च, 1801 को रूसी सम्राट् पॉल की हत्या हो गई और 2 अप्रेल, 1801 को डेनिश बेड़ा समाप्त हो गया।

19वीं शताब्दी में तटस्थता—19वीं शताब्दी में तटस्थता के नियमों का विकास मुख्यतः तीन कारणों का परिणाम था—

(1) सबसे महत्त्वपूर्ण कारण 1793 से 1818 तक तटस्थता के सम्बन्ध में संयुक्तराज्य अमेरिका का दृष्टिकोण था। इन दिनों फ्रांस की क्रान्ति और नेपोलियन के युद्धों में अमेरिका तटस्थ बना रहा। अमेरिकी काँग्रेस ने 1794 में गिडिओन हेनफील्ड (Gideon Henfield) नामक व्यक्ति के अभियोग के आधार पर एक कानून पास किया। इसके अनुसार अस्थाई रूप से अमरिकी नागरिकों द्वारा विदेशी युद्धमान राज्य के अधिकार-पत्र लेना और विदेशी स्थल एवं जल सेना में भर्ती होना वर्जित ठहराया गया। व्यक्तिगत जहाजों को विदेशी युद्धमान राज्यों की सहायता के लिए शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होने का निषेध किया गया। (2) दूसरा सहायक कारण स्विट्जरलैण्ड और बेल्जियम का स्थाई तटस्थीकरण था। इन दोनों राज्यों ने यूरोप के सभी युद्धों में दोनों पक्षों के प्रति अपनी पूरी निष्ठा दिखाई और अपने देश के साधनों द्वारा किसी भी पक्ष को लाभ नहीं उठाने दिया। इसके परिणाम-स्वरूप तटस्थता का नियम शक्तिशाली बना। (3) 1856 में पेरिस की घोषणा की गई। इस घोषणा में दो नियमों पर विशेष रूप से जोर दिया गया। पहला नियम 'स्वतन्त्र जहाज, स्वतन्त्र माल' का था अर्थात् तटस्थ राज्यों के जहाजों तथा माल को शत्रु जहाज में होने पर भी नहीं पकड़ा जा सकता। दूसरे, परिवेष्टन प्रभावशाली होना चाहिए।

हेग अभिसमय और तटस्थता—19वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ विकास प्रथम विश्वयुद्ध तक चलता रहा। दक्षिण अफ्रीका और रूस-जापान युद्ध (1904) की अनेक घटनाओं ने 1907 के हेग अभिसमय में तटस्थता को विचार-विमर्श का

विषय बनाया। 19वीं शताब्दी के अन्त तक तटस्थता के कानूनी स्तर को सामान्यत स्वीकार किया जाने लगा। युद्धमान राज्यों के दावों की भाँति तटस्थ राज्यों के दावों का जन्म हुआ, किन्तु अभी तक इनके अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट तथा स्वीकृत परिभाषा नहीं थी। 1907 के हेग सम्मेलन में इस सम्बन्ध में दो पृथक् अभिसमय बनाए गए। अभिसमय सख्या 5 ने भूमि-युद्ध के समय तटस्थ शक्तियों एव व्यक्तियों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का सम्मान करने पर विचार किया और अभिसमय सख्या 13 मे समुद्री युद्ध मे तटस्थ देशों के अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में विचार किया गया। प्रथम अभिसमय मे अधिक कठिनाई उत्पन्न नहीं हुई क्योंकि तटस्थ प्रदेशों की अनतिक्रम्यता के मौलिक सिद्धान्त और तटस्थ राज्य सम्बन्धी दायित्व पहले से सुस्थापित हो चुके थे। दूसरे अभिसमय के सम्बन्ध मे उन शक्तियों के बीच पर्याप्त वाद-विवाद हुआ जो आगामी युद्ध में अपने आप को सम्भावित तटस्थ राज्य मान रही थी। नौ-सैनिक शक्ति, पनडुब्बी के आकार, औपनिवेशिक प्राप्तियों और समुद्री युद्ध की सफलता आदि से सम्बन्धित प्रश्नों पर गहरा वाद-विवाद हुआ। परिणामस्वरूप अनेक विवादपूर्ण मसलों को अनसुलझा छोड दिया गया। उदाहरण के लिए, परिवेष्टन का क्षेत्र और विनिषिद्ध वस्तुओं की प्रकृति।

1908 मे प्रमुख समुद्री शक्तियों का एक समूह लन्दन के नौ सैनिक सम्मेलन मे मिला। इसमें स्वीकृत समझौतों को लन्दन घोषणा मे सयुक्त कर लिया गया। प्रथम महायुद्ध तक राज्यों ने इसे स्वीकार नहीं किया था। प्रथम महायुद्ध में तटस्थता को एक ऐसी परीक्षा मे होकर गुजरना पडा जो उसके लिए अपूर्व थी। सयुक्तराज्य अमेरिका ने लडाई के दोनों पक्षों को लन्दन घोषणा स्वीकार करने के लिए शीघ्र आमन्त्रित किया, यद्यपि वह कानूनी रूप से बाध्य नहीं था। जर्मनी और ऑस्ट्रिया हगरी-घोषणा को इस शर्त पर मानने के लिए तैयार थे कि उनका शत्रु भी ऐसा ही करे। किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस और रूस केवल कुछ परिवर्तनों के साथ घोषणा को स्वीकार करने के लिए तैयार थे। युद्ध के प्रारम्भ मे इन देशों ने घोषणा को आंशिक रूप से स्वीकार किया, किन्तु ज्यों ज्यों युद्ध आगे बढ़ा त्यों त्यों ग्रेट ब्रिटन ने इस पर प्रतिबन्ध लगाए। 7 जुलाई, 1916 को यह घोषणा आंशिक रूप से भी लागू नहीं रह गई।

प्रथम विश्वयुद्ध और तटस्थता—लन्दन घोषणा के भाग्य के अतिरिक्त प्रथम विश्वयुद्ध ने तटस्थता की धारणा मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। सभी महाशक्तियों और अनेक दूसरे राज्यों ने इस सघर्ष मे भाग लिया था। इस समय तटस्थता सम्बन्धी नए नियमों की परीक्षा हुई। सघर्ष से दूर रहने वाले अधिकांश राज्यों ने पहले से ही तटस्थता की घोषणा कर दी, किन्तु तटस्थ अधिकारों पर युद्धमान राज्य गम्भीर रूप से हस्तक्षेप करने लगे। युद्ध के प्रारम्भ मे बेल्जियम की तटस्थता का भग कर दिया गया। बेल्जियम ने अपने प्रदेश मे होकर जर्मन सेनाओं के गुजरने से मना कर दिया, फलत जर्मनी ने उस पर आक्रमण कर दिया। फ्रांस और ग्रेट-ब्रिटेन ने तटस्थ

राज्य के अधिकारों का अतिक्रमण करते हुए 1915–16 में यूनान (सालोनिका और कोर्फू) में अपनी सेनाएँ रखीं और यूनान के तटस्थ प्रदेश को अपनी सैनिक कार्यवाहियों का आधार बनाया। बदले में जर्मनी ने शत्रु के पोतों को संयुक्तराज्य अमेरिका में पकड़ लिया और हेग सम्मेलन के नियमों का उल्लंघन करते हुए उन्हें पकड़े रखा गया।

विभिन्न राज्यों के साथ-साथ संयुक्तराज्य अमेरिका ने भी प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर तटस्थता की घोषणा की थी, किन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि वह अपनी तटस्थता बनाए नहीं रख सकता। ग्रेट-ब्रिटेन ने परिवेष्टन और विनिषिद्ध के क्षेत्र में युद्धमान अधिकारों के नवीन प्रसार के कारण संयुक्तराज्य अमेरिका के तटस्थ अधिकारों के प्रयोग पर भारी दबाव डाला। जर्मनी ने इससे भी अधिक दबाव डाला। यहाँ तक कि उसके अन्तिम बिन्दु को भी समाप्त कर दिया। पनडुब्बी युद्ध के कारण तटस्थ जहाजों और शत्रु जहाज ने तटस्थ यात्रियों को प्रभावित किया गया। जर्मन पनडुब्बियों ने संयुक्तराज्य अमेरिका के समुद्री व्यापार को गम्भीर क्षति पहुँचाई। जर्मनी की नीति थी कि वह एक निश्चित क्षेत्र में आने वाले सभी देशों के सभी जहाजों को डुबा देगा। दोनों युद्धमान पक्षों द्वारा परेशान होने के बाद 16 अक्तूबर, 1916 को राष्ट्रपति विल्सन इस निष्कर्ष पर आए कि "तटस्थता का स्थान समाप्त हो चुका है। किसी भी राज्य को युद्ध की घोषणा और शान्तिपूर्ण राष्ट्रों के सामान्य व्यापार को विध्वंस करने के लिए सेनाएँ प्रयुक्त करने का अधिकार नहीं है।" जर्मनी ने अपने अप्रतिबन्धित पनडुब्बी युद्ध को जारी रखा तो संयुक्तराज्य अमेरिका को 6 अप्रेल, 1917 में उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पड़ी। तकनीकी तटस्थ अधिकारों के अतिरिक्त राष्ट्रपति विल्सन का यह विश्वास था कि युद्ध को समाप्त करने के लिए कुछ न कुछ अवश्य किया जाना चाहिए क्योंकि इसने तटस्थ राज्यों को ऐसी स्थिति में ला दिया है जहाँ वे या तो अपने तटस्थ अधिकारों का परित्याग करें अथवा उनकी रक्षा के लिए लड़ाई में भाग लें।

राष्ट्रसंघ और तटस्थता—राष्ट्रसंघ की स्थापना से तटस्थ राज्यों के अधिकारों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। इसने सिद्धान्त रूप से तटस्थता के परम्परागत कानून को समाप्त कर दिया। फेनविक के मतानुसार राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र की धारा 10, 11 और 16 ने तटस्थ राज्यों की स्थिति को स्पष्ट किया। धारा 10 ने सदस्यों को यह दायित्व सौंपा कि बाहरी आक्रमण के विरुद्ध प्रादेशिक एकता और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा करें। इसके कारण राष्ट्रसंघ के सदस्यों के लिए सामान्य रक्षा में भाग न लेकर आक्रमण की स्थिति में एक ओर खड़े रहना असम्भव बन गया। घोषणा पत्र की धारा 11 ने प्रत्येक युद्ध अथवा युद्ध की धमकी को समस्त संघ से सम्बन्धित विषय बताया, चाहे वह किसी सदस्य को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करे अथवा न करे। ऐसी स्थिति में राष्ट्रसंघ राष्ट्रों की शान्ति की रक्षा के लिए प्रभावशील और बुद्धिपूर्ण कोई भी कार्यवाही कर सकता था। इस प्रकार राष्ट्रसंघ में यह व्यवस्था की गई कि किसी प्रकार की स्थिति द्वारा शान्ति को चुनौती मिलने

पर सघ के सदस्य उसकी रक्षा के साधन और तरीके खोजने के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते। धारा 16 के अनुसार यदि सघ का कोई सदस्य शान्तिपूर्ण समझौतों के दायित्वों को तोड़कर युद्ध मे भाग लेता है तो वह सघ के सभी सदस्यो के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का दोषी माना जाएगा और सघ के सभी सदस्य उसके साथ अपने व्यापारिक और वित्तीय सम्बन्ध तोड़ लेंगे।

संघ के मतानुसार युद्धों को दो भागों मे विभाजित किया गया—शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा विवादपूर्ण प्रश्नों का समाधान न होने पर किए जाने वाले युद्ध और प्रतिज्ञा-पत्र का उल्लघन करके किए जाने वाले युद्ध। पहले प्रकार के युद्धो मे सदस्यों पर कोई दायित्व नहीं डाला गया उन्हें तटस्थ रहने की सुविधा दी गई, किन्तु दूसरे प्रकार के युद्ध मे सघ की व्यवस्था ऐसे दायित्व डालती थी जिनके कारण उनका तटस्थ रहना सम्भव नहीं था। सामूहिक सुरक्षा और आर्थिक प्रतिबन्धो की व्यवस्था के कारण परम्परागत अर्थ मे तटस्थ रहना असम्भव बन गया। प्रो ओपेनहेम के मतानुसार राष्ट्रसघ के घोषणा-पत्र ने तटस्थता को समाप्त नहीं किया इसने तटस्थता की संस्था के सामान्य अथवा व्यक्तिगत रूप को नष्ट किए बिना पूर्ण निष्पक्षता के रूप में इसकी प्रकृति को प्रभावित किया। युद्ध के बहिष्कार मे सम्बन्धित सामान्य सन्धि ने तटस्थता के कानून मे स्पष्टतः कोई परिवर्तन नहीं किया, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार युद्ध के स्तर मे एक मौलिक परिवर्तन आ गया जो दीर्घकाल मे तटस्थता की संस्था को प्रभावित कर सकता था।

तकनीकी रूप से सघ का घोषणा-पत्र एक बहुपक्षीय सन्धि से अधिक कुछ नहीं था। यह अपने सदस्यों पर विशेष दायित्व डालता था और हस्ताक्षर न करने वालों के स्तर को वैसे ही छोड़ता था जैसा कि वह सन्धियों से पहले था। सयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य राज्यों द्वारा घोषणा-पत्र को स्वीकार न किए जाने के कारण यह निर्धारित करना कठिन था कि पुरानी तटस्थता की कौन-सी बात बदल गई और क्या बात अभी तक कायम थी। उदाहरण के लिए, यदि सघ के प्रावधानों का उल्लघन करने वाले युद्धमान राज्य के विरुद्ध सघ के सदस्य सामूहिक कार्यवाही करते हैं तो क्या सयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य गैर सदस्य राज्य तटस्थ बन रहेंगे ? अस्पष्टता रहते हुए भी यह तो निर्विवाद है कि राष्ट्रसघ ने सामूहिक कार्यवाही के नाम पर अपने सदस्यों पर जो दायित्व डाला उसने तटस्थता के स्वरूप को गम्भीर रूप मे बदल दिया।

कैलाग ब्रियाँ सन्धि और तटस्थता—1928 म सयुक्तराज्य अमेरिका और फ्रांस के विदेश मन्त्री ब्रियाँ (Briand) के सुझाव पर युद्ध के बहिष्कार की सामान्य सन्धि स्वीकार की जिसे पेरिस की सन्धि या कैलाग-ब्रियाँ पैक्ट (Kellogg Briand Pact) कहा जाता है। इस सन्धि के प्रावधान अत्यन्त व्यापक थे। समझौता करने वाले पक्षों ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिए युद्ध छेड़ने का बहिष्कार किया। युद्ध को राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप मे ठुकरा दिया गया। वे इस बात पर सहमत हुए कि सभी विवादों का समाधान केवल शान्तिपूर्ण साधनों से किया जाना चाहिए।

इस सन्धि का दोष यह था कि इनमे इसे पालन कराने वाली व्यवस्थाओं का अभाव था। इसके अतिरिक्त ऐसा कोई यन्त्र स्थापित नहीं किया गया जो यह निर्धारित कर सके कि कोई विशेष कार्य सन्धि का उल्लघन कहा जाएगा अथवा नही। विदेश मन्त्री कैलाग के पत्र मे आत्म रक्षा के अधिकार का उल्लेख किया गया था। इसके नाम पर पूरी सन्धि को ठुकराना सम्भव था। इतने पर भी प्रो फेनविक के मतानुसार इस सन्धि के प्रावधान तटस्थता के स्तर को प्रतिबन्धित करते थे। जो राज्य राष्ट्रसंघ के सदस्य नही थे उनके सम्बन्ध मे यह सन्धि विशेष रूप से उल्लेखनीय थी।

1936 और उससे पहले के वर्षों मे यह स्पष्ट हो गया कि युद्ध छिड़ने पर लगाई गई कानूनी सीमाओ या प्रतिबन्धो का सामान्यत पालन नही किया जाता और इस प्रकार राष्ट्रसघ के घोषणा-पत्र द्वारा स्थापित सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को एक धक्का लगा। अन्य बड़े युद्ध की सम्भावनाएँ बढती गई। ऐसी स्थिति मे अनेक राज्यो ने यह निष्कर्ष निकाला कि उनका हित अन्तिम सघर्ष से बचने के लिए अपने प्रयासो को केन्द्रित करने मे नही है वरन् प्रत्येक परिस्थिति मे अपनी तटस्थता की रक्षा के लिए निर्धारित प्रयत्न करने मे है। सयुक्तराज्य अमेरिका ने व्यवस्थापन द्वारा अपने नागरिको पर युद्धमान राज्यों के साथ सम्पर्क रखने के बारे मे दूरगामी प्रतिबन्ध स्थापित किए। इन प्रतिबन्धों का उद्देश्य युद्ध के खतरे को देश के लिए कम करना था। बेल्जियम और हॉलैण्ड ने औपचारिक रूप से अपने तटस्थ दृष्टिकोण की घोषणा की। स्विट्जरलैण्ड ने भी तटस्थता की नीति अपनाई। स्केण्डेनेवियन राज्यो ने भी यही रास्ता अपनाया। इनमे से चार राज्यो ने 1938 मे तटस्थ नियमो से सम्बन्धित सहिता पर सहमति प्रकट की और इसे अपने राष्ट्रीय कानून का भाग बना लिया। इनमे कोई परिवर्तन पहले विचारो के आदान-प्रदान करके ही किया जा सकता था। अक्तूबर, 1939 मे सयुक्तराज्य अमेरिका सहित 21 गणराज्यो ने तटस्थता की घोषणा की। यूरोपीय सघर्ष के समय अपनाए जाने वाले तटस्थता के सिद्धान्त वर्णित किए गए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून म विशेषज्ञो की एक अन्तर्अमेरिकी तटस्थता समिति की स्थापना की गई।

जापान, इटली और जर्मनी की कार्यवाहियो से राष्ट्रसघ की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को गहरा धक्का लगा। 1936–37 मे स्पेन के गृह-युद्ध के प्रति ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस ने तटस्थ नीति अपनाई। सयुक्त राज्य अमेरिका अपने अतीत के अनुभवों से प्रभावित होकर व्यवस्थापन कर रहा था ताकि सघर्ष के समय उसके उलझने की सम्भावनाएँ न रहे। प्रमुख व्यवस्थापनो के परिणामस्वरूप अमेरिका ने युद्धमान राज्यो को ऋण सामग्री बेचना अमेरिकी जहाजो द्वारा इसे युद्धकारी राज्यो को भेजना, शत्रुमान देशो के जहाजो मे अमेरिकी नागरिको की यात्रा करना, इनसे सरकारी सिक्योरिटी खरीदना आदि निषिद्ध कर दिया। 1939 मे तटस्थता कानून को 'नकद दाम दो और माल ले जाओ' (Cash and Carry) के सिद्धान्त के आधार पर सशोधित किया गया।

1931 मे मचूरिया पर जापानी आक्रमण और 1939 मे यूरोप मे युद्ध

छिड़ने के मध्यकाल में विधि शास्त्रियों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यवस्था में तटस्थता के स्थान के सम्बन्ध में गम्भीर वाद-विवाद किया। यूरोपीय तथा लेटिन अमेरिकी विधि शास्त्रियों ने यह मत प्रकट किया कि कानून अन्तर्राष्ट्रीय समाज के व्यक्तिगत सदस्यों की रक्षा के सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त से प्रारम्भ होना चाहिए। संयुक्त राज्य विधि-शास्त्री इस सम्बन्ध में विभाजित थे। अनेक विचारकों का मत था कि युद्ध के समय किसी भी पक्ष का साथ न देने का निर्णय और युद्ध को बुरा बनाकर उसके बहिष्कार करने की नीति परस्पर असंगत है। यह कहा गया कि तटस्थता मौलिक रूप से अनैतिक है क्योंकि व्यवहार में यह उचित और अनुचित के बीच अन्तर करने से अस्वीकार करती है। एक तटस्थ राज्य के लिए दोनों युद्धमान पक्ष एक समान हैं, चाहे उनमें किसी का दोष कुछ भी रहा हो। यह दृष्टिकोण सामूहिक सुरक्षा की सन्धियों और राजनैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से अनुचित था। राष्ट्रसंघ यह तय नहीं कर सका कि युद्धमान पक्षों में आक्रमणकारी कौन है और न वह दोनों पक्षों के बीच कोई समझौता करने में सफल हो सका।

द्वितीय विश्व युद्ध में तटस्थता—1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर तटस्थता सम्बन्धी विचार में गम्भीर परिवर्तन हुए। राष्ट्रसंघ अपने घोषणा पत्र की धारा 17 के प्रावधानों को क्रियान्वित नहीं कर सका। 1940 में नार्वे, बेल्जियम, लक्जम्बर्ग तथा डेनमार्क की तटस्थता का अतिक्रमण किया गया। धीरे-धीरे संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे शक्तिशाली तटस्थ राज्य को भी अपनी तटस्थ नीति में परिवर्तन करना पड़ा। आत्मरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्था में तटस्थता को सही स्थान देने के लिए उसे अपनी तटस्थता छोड़नी पड़ी। तटस्थ नीति का यह परिवर्तन क्रमशः हुआ। सितम्बर, 1940 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने ग्रेट-ब्रिटेन के साथ किए गए एक समझौते के अन्तर्गत प्रत्येक प्रकार की रण सामग्री भेजी और न्यूफाउण्डलैंड से ब्रिटिश गिनी तक के आठ अड्डे 99 वर्ष के पट्टे पर लेकर उसे पचास विध्वंसक प्रदान किये। अमेरिकी राष्ट्रपति के अनुसार यह कार्य महान् खतरे के विरुद्ध महाद्वीप की सुरक्षा के लिए एक दूरदर्शी कार्य था। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने हिटलर की विजय को स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के विरुद्ध माना और उससे लड़ने वाले राज्यों को सहायता देने का निर्णय लिया।

जनवरी 1941 में अमेरिकी सरकार ने उधार पट्टा (Lend lease) कानून कांग्रेस में प्रस्तुत किया। इसके अनुसार अमेरिकी राष्ट्रपति किसी भी ऐसे देश की सरकार के लिए सुरक्षा सामग्री तैयार करा सकता था जिसकी रक्षा अमेरिकी राष्ट्रपति के अनुसार देश की आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक थी। वह हर प्रकार की ऋण सामग्री बेच सकता था अथवा उधार या पट्टे पर दे सकता था। इस कानून ने अमेरिका की तटस्थता को केवल कागज पर छोड़ दिया और सभी महत्त्वपूर्ण नियम इस सम्बन्ध में भंग कर दिए गए। इस परिवर्तित नीति का समर्थन तीन आधारों पर किया गया—(1) जर्मनी और इटली ने 1928 की कैलाग-ब्रियाँ सन्धि को भंग किया और तटस्थ राज्यों की तटस्थता का अतिक्रमण किया। (2) जर्मनी

और इटली जैसी महाशक्तियों से आत्म-रक्षा आवश्यक थी। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका ग्रेट-ब्रिटेन को हार जाने देता तो यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अन्त था और स्वयं अमेरिका के लिए खतरनाक था। (3) धुरी राष्ट्रों ने संयुक्त राज्य अमेरिका पर आक्रमण करने और जीतने का षड्यन्त्र किया था। प्रो. ओपेनहेम के मतानुसार, अमेरिका द्वारा विध्वंसक देना और उधार पट्टा अधिनियम तटस्थता के उन नियमों से संगत नहीं थे जो 19वीं शताब्दी और हेग अभिसमयों में अभिव्यक्त हुए थे। किन्तु यदि इन अभिसमयों को समग्र रूप में और सच्ची ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखा जाए तो वे तटस्थता कानून के अनुकूल थे। इनके द्वारा ऐसे युद्धमान राज्य का विरोध किया गया जिसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करके युद्ध छेड़ा था। असल में यह व्यवहार ग्रोशियस और उसके समकालीन लेखकों द्वारा वर्णित अपूर्ण या विशिष्ट तटस्थता की नीति से प्रभावित था। पूर्ण तटस्थता की नीति अव्यावहारिक और अनुपयोगी समझी गई। कैलाग-ब्रियाँ सन्धि के अनुसार आक्रान्त देश की सहायता करना और आक्रमणकारी को रोकना प्रत्येक देश का कर्त्तव्य माना गया। अमेरिकी व्यवहार इसी नीति के अनुकूल था।

अमेरिकी नीति के परिवर्तन का दूसरा कारण आत्म-रक्षा बताया गया। धुरी राष्ट्र संसार पर प्रभुता पाना चाहते थे। संयुक्त राज्य अमेरिका उनके आघात से अपने आपको नहीं बचा सकता था। ऐसी स्थिति में आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक प्रावधान करना उपयुक्त समझा गया। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का पालन कोई अकेला राष्ट्र नहीं कर सकता। इसके लिए सभी का पारस्परिक सहयोग आवश्यक है। जब जर्मनी और अन्य धुरी राष्ट्र तटस्थ देशों के अधिकारों को कुचलते हुए विश्व विजय का स्वप्न देख रहे थे तो कोई भी सजग राज्य तटस्थ नहीं रह सकता था। 7 जनवरी, 1942 को काँग्रेस को भेजे गए अपने सन्देश में अमेरिका के राष्ट्रपति ने बताया कि एकपक्षीय अन्तर्राष्ट्रीय कानून जिसके पालन में पारस्परिकता का अभाव है उत्पीड़न का साधन बन जाता है। इस प्रकार अमेरिकी नीति का औचित्य प्रतिशोध या प्रतिकार के रूप में प्रकट किया गया।

संयुक्तराज्य अमेरिका के दृष्टिकोण का कानूनी आधार चाहे कुछ भी रहा हो किन्तु उसने इसे दृढ़ निश्चय के साथ प्रभावशील बनाने का प्रयास किया। 27 मई, 1941 को राष्ट्रपति ने घोषणा की कि अमेरिका के गश्ती जहाजों ने ग्रेट-ब्रिटेन को आवश्यक सामान सुरक्षित रूप से पहुँचाने के लिए सहायता प्रारम्भ कर दी है। अमेरिकी पोतों पर जर्मन सेनाओं ने आक्रमण किया। इसमें जर्मन पनडुब्बियों ने युद्ध के सारे नियम तोड़ दिए। इसके प्रतिकार स्वरूप सितम्बर, 1941 में अमेरिका के समुद्री बेड़े को निर्देश प्रदान किए गए। फलतः ऐसी शत्रुतापूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई जिसे युद्ध से भिन्न करना कठिन था। एक जर्मन पनडुब्बी ने अमेरिकी नौ-सेना के 'ग्रीयर' नामक विध्वंसक पोत पर हमला किया। 11 सितम्बर, 1939 को अमेरिकी राष्ट्रपति ने यह घोषणा की कि अमेरिकी प्रतिरक्षा के लिए जिस समुद्र की रक्षा आवश्यक है, उसमें जर्मन और इटालियन

जलपोत अपनी जान का खतरा उठाकर ही प्रविष्ट हो सकते हैं। अमेरिकी नौ-सेनाओं को यह आदेश दिया गया कि इसमें प्रविष्ट होने वाले जर्मन और इटालियन पनडुब्बियो तथा सतही जलपोतों को देखते ही उन पर गोली चला दी जाए।

अमेरिका का तर्क था कि समुद्रों की स्वतन्त्रता का परम्परागत सिद्धान्त समुद्री डाकुओं के विरुद्ध कार्यवाही का समर्थन करता है। अमेरिका के इस समस्त व्यवहार ने उसे द्वितीय विश्व युद्ध का सक्रिय अभिनेता बना दिया जबकि औपचारिक घोषणा 11 दिसम्बर, 1941 को की गई।

संयुक्त राज्य अमेरिका का परिवर्तित दृष्टिकोण तटस्थता के इतिहास में उल्लेखनीय स्थान रखता है। तटस्थता त्यागने के विभिन्न सोपान युद्ध के प्रभाव और प्रसार पर निर्भर करते हैं। कोई भी आक्रमणकारी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज के *मौलिक कानून का उल्लंघन करके* इसके सभी सदस्यों के लिए खतरा बन जाता है। अतः इस खतरे को दूर करना तटस्थ राज्य का दायित्व है। ऐसी अपूर्ण तटस्थता अल्पकालीन होती है। यह आक्रमणकारी के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप जन्म लेती है।

दोनों विश्वयुद्धों के अनुभवों ने *तटस्थता के स्वरूप को मर्यादित कर दिया।* अब यह सिद्ध हो गया कि तटस्थता सम्बन्धी परम्परागत कानून जो तटस्थ देशों के व्यापार के अधिकारों से सम्बन्ध रखता था, अब बहुत कुछ अप्रचलित हो गया है। आजकल के युद्धों में केवल सैनिक शक्ति महत्त्वपूर्ण नहीं रही, आर्थिक शक्ति का स्थान भी उल्लेखनीय बन गया है। यदि कोई युद्धकारी देश किसी तटस्थ देश को अपने शत्रु के साथ व्यापार करने की स्वतन्त्रता देता है तो वह स्वयं के पैरों में कुल्हाड़ी मारता है क्योंकि ऐसा होने पर शत्रु की शक्ति बढ़ेगी, वह शत्रु को शक्तिहीन बनाने के लिए उसके व्यापार पर रोक लगाता है और इसलिए तटस्थ राज्य उसके प्रहारों से अछूते नहीं रह पाते।

संयुक्त राष्ट्रसंघ और तटस्थता—संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर ने सदस्य राज्यों पर जो दायित्व डाले हैं उनके कारण यह पर्याप्त मर्यादित हो गई है। चार्टर की धारा 2 के अनुसार संघ के सभी सदस्यों का यह आवश्यक कर्त्तव्य माना गया है कि वे चार्टर की व्यवस्थाओं के अनुसार संघ द्वारा की जाने वाली प्रत्येक कार्यवाही में प्रत्येक प्रकार की सहायता दें और जिसके विरुद्ध निरोधात्मक या पालनात्मक कार्यवाही की जा रही हो उसे किसी प्रकार का सहयोग न दें। यह व्यवस्था राज्यों को सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में शामिल करती है और तटस्थता की सम्भावनाओं को कम करती है। इसी धारा का दूसरा पैरा एक आश्चर्यजनक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि "संगठन यह देखेगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के गैर-सदस्य राज्य *भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए इन सिद्धान्तों के अनुकूल व्यवहार करें।*"

चार्टर के उक्त प्रावधान तटस्थता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। शीतयुद्ध का विकास होने के कारण किसी भी संघर्ष में तटस्थ रहना असम्भव बन

गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 41 के अनुसार यदि सुरक्षा परिषद आवश्यक समझे तो संघ के सभी सदस्य एक देश विशेष के साथ अपना सम्पूर्ण या आंशिक सम्बन्ध एवं दौत्य सम्पर्क तोड़ लगे। यदि ये उपाय पर्याप्त न रहे तो धारा 42 के अनुसार सुरक्षा परिषद उस राज्य के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही भी कर सकती है। धारा 48 के अनुसार संघ के सभी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाए रखने के लिए सुरक्षा परिषद के आह्वान पर सैनिक सहायता देंगे और अपने प्रदेश में से गुजरने की सारी सुविधाएँ देंगे। धारा 51 के अनुसार आत्मरक्षा की दृष्टि से प्रत्येक राज्य को व्यक्तिगत या सामूहिक कार्यवाही करने का अधिकार है। इन सभी प्रावधानों के कारण तटस्थता अपने पुराने रूप में असम्भव और अव्यावहारिक बन गई है। प्रो. फेनविक के शब्दों में "26 जून, 1945 को संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की स्वीकृति के बाद कानूनी व्यवस्था के रूप में तटस्थता का अन्त हो चुका है। इसमें पृथक् से तटस्थ स्तर बनाए रखने, चार्टर की रचना में तटस्थ राज्यों को भाग लेने और इसका सदस्य बनने के लिए आमन्त्रित करने का कोई प्रावधान नहीं रखा गया।" प्रो. हैन्स केल्सन के कथनानुसार, 'तटस्थ राज्यों पर निष्पक्षता का दायित्व लागू करने वाले सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्थान अब चार्टर ने ले लिया है और इस प्रकार उस नियम को निरर्थक और बेकार बना दिया गया है।" प्रो. स्टॉर्क ने इससे भिन्न मत प्रकट किया है। उनके मतानुसार चार्टर ने तटस्थता का पूर्ण रूप से उन्मूलन नहीं किया। धारा 48 और 50 द्वारा कुछ सदस्य राज्यों को सुरक्षा परिषद की कार्यवाही का समर्थन करने या न करने की छूट दी गई है। इस अवस्था में इन राज्यों की स्थिति अपूर्ण तटस्थ राज्य की हो जाती है। यदि सुरक्षा परिषद में कोई स्थाई सदस्य अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करके किसी राज्य पर की जाने वाली कार्यवाही को रोक दे तो सदस्य राज्य दोनों युद्धमानों के प्रति पूर्ण तटस्थ नीति अपना सकता है। प्रो. स्वान ने भी यही मत प्रकट किया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का अस्तित्व तटस्थता का पूर्ण रूप से समाप्त नहीं कर देता। संघ की दृष्टि में जो संघर्ष विश्व शान्ति के लिए खतरा नहीं होते उनमें कोई सामूहिक कार्यवाही नहीं की जाती। ऐसी स्थिति में संघ का प्रत्येक सदस्य तटस्थ रहने के लिए स्वतन्त्र होगा और तटस्थ स्तर से सम्बन्धित नियम उस पर लागू होंगे। विभिन्न सीमित युद्धों में यह बात लागू हुई है। उदाहरण के लिए, हंगरी पर सोवियत आक्रमण (1956), गोआ पर भारतीय विजय, तिब्बत पर चीनी आक्रमण (1951) और भारत पर चीनी आक्रमण आदि-आदि।

इस सम्बन्ध में एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि यदि चार्टर की धारा 41, 43, 48 और 49 के अन्तर्गत अपने सदस्यों को सैनिक कार्यवाही के लिए आमन्त्रित करती है तो प्रत्येक सदस्य तटस्थ रहने का अपना अधिकार छोड़ देगी किन्तु वह केवल उसी सीमा तक ऐसा करेगा जहाँ तक उसने सुरक्षा परिषद द्वारा प्रसारित निर्देशों, आदेशों और सुझावों को स्वीकार किया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाद तटस्थता—संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद

की गई अनेक महत्त्वपूर्ण विधि-निर्माता सन्धियों में तटस्थता को एक कानूनी स्तर स्वीकार किया है। 1949 के चार जेनेवा अभिसमयों में जहाँ युद्धबन्दियों सम्बन्धी व्यवहार और नागरिकों की रक्षा पर विचार किया गया है वहाँ तटस्थ राज्य, तटस्थ शक्ति, तटस्थ देश और गैर युद्धमान आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

कुछ आलोचकों के मतानुसार आधुनिक युद्धों की प्रकृति को देखते हुए तटस्थता पूर्णत समाप्त हो चुकी है। इस विचार में दो भिन्न प्रकार के संघर्षों के बीच अन्तर नहीं किया गया है। दो राज्यों के बीच लड़ा गया एक दोहरा युद्ध आधुनिक हथियारों के साथ भी इस प्रकार लड़ा जा सकता है कि दूसरे राज्य तटस्थ रह सकें। दूसरी ओर प्रमुख अथवा विश्व-व्यापी युद्ध बहुत समय तक तटस्थ स्थिति को असम्भव बना देंगे। यदि बड़ी शक्तियाँ युद्ध में उतर आईं तो प्रलयकाल में ही तटस्थता की धारणा समाप्त हो जाएगी किन्तु दूसरे प्रकार का कोई भी संघर्ष यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के व्यापक सामूहिक हस्तक्षेप का कारण न बने तो तटस्थता की रक्षा और व्यवहार सम्भव हो सकेगा।

तटस्थता के प्रकार
(Kinds of Neutrality)

तटस्थता कई प्रकार की होती है। इसके प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—

1. सनातन तटस्थता (Perpetaul Neutrality)—सर्वप्रथम विभाजन *निरन्तर या सनातन और अन्य तटस्थताओं के बीच किया जाता है।* यह ऐसे राज्यों की तटस्थता है जिन्हें किसी सन्धि द्वारा हमेशा के लिए तटस्थीकृत कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, स्विट्जरलैण्ड जैसे राज्य के अधिकार और कर्त्तव्य तटस्थ राज्यों की भाँति होते हैं। ये दोनों युद्धमान पक्षों को सैनिक प्रयोजन के लिए अपना प्रदेश काम में लेने से रोकते हैं। 1870–71 के *फ्रांस-जर्मनी युद्ध के समय* स्विट्जरलैण्ड ने दोनों पक्षों की सेनाओं तथा साज सामान को अपने प्रदेश में होकर नहीं गुजरने दिया। जो सैनिक रण-क्षेत्र से भागकर यहाँ आए उन्हें निःशस्त्र करके युद्ध की समाप्ति और शान्ति सन्धि तक रोककर रखा गया। इस प्रकार की *तटस्थता का पालन हमेशा किया जाता है यह कभी भंग नहीं होती।*

2 सामान्य और आंशिक तटस्थता (General and Partial Neutrality)—सामान्य तटस्थता ऐसे राज्यों की तटस्थता है जिनके किसी प्रदेश को सन्धि द्वारा तटस्थीकृत नहीं किया गया हो। आंशिक तटस्थता वह कही जाती है जब एक देश अपने कुछ हिस्से को विशेष सन्धि द्वारा तटस्थीकृत कर लेता है। उदाहरण के लिए 24 मार्च, 1864 की लन्दन सन्धि की धारा 2 के अनुसार आयोनियन टापुओं में केवल कार्फू तथा पैक्सो नामक टापुओं को ही तटस्थ घोषित किया गया। 1888 में स्वेज नहर और 1901 की सन्धि द्वारा पनामा नहर को तटस्थीकृत किया गया।

3. ऐच्छिक तथा अभिसमयात्मक तटस्थता (*Voluntary & Conventional* Neutrality)—ऐच्छिक तटस्थता वह होती है जिसमें एक राज्य किसी युद्ध में तटस्थ रहने के लिए सामान्य या विशेष सन्धि द्वारा बाध्य नहीं होता। इस शर्त में तटस्थता

प्राय ऐच्छिक होती है। जब एक राज्य को सन्धि के कारण किसी युद्ध में तटस्थ रहना पड़ता है तो अभिसमयात्मक तटस्थता कही जाती है।

4 सशस्त्र तटस्थता (Armed Neutrality)—जब एक तटस्थ राज्य अपनी तटस्थता की रक्षा के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग करता है तो यह सशस्त्र तटस्थता कही जाती है। फ्रान्स जर्मनी के युद्ध मे स्विट्जरलैण्ड की तटस्थता इसी प्रकार की थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय बेल्जियम ने यह रास्ता अपनाया। *हॉलैण्ड और स्विट्जरलैण्ड की तटस्थता भी इसी प्रकार की थी। सशस्त्र तटस्थता* शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ मे भी किया जाता है। तटस्थ राज्यो की नीति यह होती है कि यदि युद्धमान पक्षो मे से कोई उनके अधिकारो का अतिक्रमण या उल्लघन करेगा तो वे अपनी तटस्थता की रक्षा के लिए आवश्यक सैनिक कार्यवाही करेंगे। 1800 मे रूस और उसके साथियो द्वारा इसी प्रकार की व्यवस्था की गई।

5. परोपकारी तटस्थता (Benevolent Neutrality)—जब एक राज्य तटस्थ रहते हुए भी किसी पक्ष विशेष के साथ विशेष पक्षपात् करता है और अनेक प्रकार मे उसे लाभान्वित करता है तो यह स्थिति परोपकारी तटस्थता कही जाती है। *आजकल परोपकारी तटस्थता और विशुद्ध एव सरल तटस्थता के बीच बहुत* कम अन्तर रह गया है।

6 पूर्ण अथवा निरपेक्ष तटस्थता (Perfect or Absolute Neutrality)—प्राचीनकाल मे तटस्थता का यह भेद पर्याप्त उल्लेखनीय था। पूर्ण तटस्थता उसे कहा जाता है जब कोई राज्य किसी युद्धमान पक्ष को प्रत्यक्ष रीति द्वारा निष्क्रिय या सक्रिय रूप मे किसी प्रकार की सहायता नहीं पहुँचाता। 18वी शताब्दी मे इस प्रकार की तटस्थता पर्याप्त प्रचलित थी। 19वीं शताब्दी मे विचारको ने इस भेद के औचित्य पर विचार किया।

7 *अपूर्ण अथवा सापेक्ष तटस्थता* (*Imperfect or Qualified Neutrality*)—तटस्थता का यह रूप भी प्राचीनकाल मे अधिक महत्वपूर्ण था। अपूर्ण या विशेष तटस्थता की स्थिति वह मानी जाती है जब एक राज्य सामान्य रूप से तटस्थ रहते हुए भी किसी एक पक्ष को सक्रिय अथवा निष्क्रिय और *प्रत्यक्ष* अथवा परोक्ष रीति से सहायता पहुँचाता है।

आजकल अधिकांश विचारक यह मत प्रस्तुत करते हैं कि यदि कोई राज्य तटस्थ है तो किसी युद्धमान पक्ष को वह सहायता किसी प्रकार नहीं पहुँचा सकता। यदि एक तटस्थ राज्य किसी युद्धमान पक्ष को सहयोग देने लगता है तो उसकी तटस्थता नहीं रहती। किसी सन्धि द्वारा सहायता के लिए बाध्य किया गया ऐसा राज्य बड़े असमजस मे पड जाता है। उसे तटस्थता और सन्धि दोनों मे से किसी एक को ठुकराना पड़ता है। कुछ लेखको का मत है कि सन्धि के दायित्वो की पूर्ति तटस्थता का उल्लघन नहीं मानी जाती। अनेक सामान्य सन्धियाँ राज्य के ऊपर कुछ दायित्व डालती है। राज्य इन दायित्वो का पूर्ण रूप से उल्लघन नहीं कर सकता।

आजकल पूर्ण तथा अपूर्ण तटस्थता के भेद को स्वीकार नहीं किया जाता किन्तु प्रारम्भ मे यह भेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। प्रो० ओपेनहेम ने इसके निम्न उदाहरणों का उल्लेख किया है—

(i) 1778 मे फ्रान्स और सयुक्त राज्य अमेरिका ने सौहार्द्र तथा व्यापार की सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार अमेरिका ने युद्ध के समय फ्रान्स के निजी युद्धपोतों और इनके द्वारा पकडे हुए जहाजो को अमेरिकी बन्दरगाहों मे प्रवेश का अधिकार दिया तथा यह वचन भी दिया कि फ्रान्स के शत्रुओं को यह सुविधा नही दी जायेगी। 1793 मे फ्रास और ग्रेट ब्रिटेन के बीच युद्ध छिड़ने पर ग्रेट ब्रिटेन ने इसके प्रति *आपत्ति की तो अमेरिका का उत्तर था कि वह 1778 की सन्धि के* दायित्वो का निर्वाह कर रहा है।

(ii) 1781 की सन्धि मे डेनमार्क ने रूस को युद्धपोत एव सेनाएँ देने का वचन दिया। जब 1788 मे रूस तथा स्वीडन के बीच युद्ध छिड़ा तो डेनमार्क ने सन्धि के अपने दायित्वो को पूरा किया और इसके साथ ही अपने आप को तटस्थ भी घोषित किया। स्वीडन ने ऐसी तटस्थता की सम्भावना का विरोध किया फिर *भी डेनमार्क के साथ उसने युद्ध नही लडा।*

(iii) जर्मनी और डेनमार्क के बीच युद्ध के समय ग्रेट ब्रिटेन ने एक पुरानी सन्धि के आधार पर ही जर्मनी को शस्त्र निर्यात करना बन्द कर दिया, किन्तु डेनमार्क को भेजना जारी रखा।

(iv) 1900 के दक्षिण अफ्रीका के युद्ध मे एक पुरानी सन्धि के आधार पर पुर्तगाल ने दक्षिण अफ्रीका को अपने प्रदेश मे से ब्रिटिश फौजें गुजारने के लिए रास्ता प्रदान कर दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के समय पुरानी मैत्री सन्धियो के अनुसार उस ग्रेट-ब्रिटेन को नौ सैनिक और वैमानिक अड्डे बनाने की अनुमति दी।

(v) अप्रैल, 1917 मे कोस्टारिका ने सयुक्त राज्य अमेरिका को अपने बन्दरगाहो और समुद्रो को जल सेना के प्रयोग के लिए दे दिया।

तटस्थता का प्रारम्भ और अन्त
(Commencement and End of Neutrality)

तटस्थता एक निष्पक्षता का दृष्टिकोण है। यह किसी भी राज्य द्वारा स्वेच्छा रूप से अपनाया जाता है और युद्धमान राज्यो द्वारा इसे मान्यता दी जाती है। यह युद्ध प्रारम्भ होने से पहले जरूरी नहीं होती। युद्ध की सूचना और ज्ञान होने के बाद ही तीसरे राज्य यह निर्णय लेते हैं कि वे तटस्थ रहें अथवा न रहें। ज्योंही वे निष्पक्षता का दृष्टिकोण अपनाने का निर्णय लेते हैं और युद्धमान राज्य उनकी इच्छा को स्वीकार कर लेते हैं त्योंही उन पर तटस्थता के कर्त्तव्य लागू हो जाते हैं। बहुत समय से यह परम्परा बन गई है कि युद्धमान राज्य तीसरे राज्यों को युद्ध छिड़ने की सूचना देते हैं ताकि उन्हें निर्णय लेने मे सुविधा हो सके। तटस्थ राज्य की तटस्थता उसी दिन से लागू होती है जब युद्ध प्रारम्भ हुआ था। स्पष्ट है कि युद्ध प्रारम्भ होने से सम्बन्धित सूचना युद्धमान राज्यो द्वारा तत्काल दी जानी चाहिए

ताकि इस सम्बन्ध मे कोई विवाद न रहे। युद्ध की जानकारी से पूर्व तटस्थ राज्य अथवा उसके नागरिक जनो द्वारा किए गए कार्यों का उत्तरदायित्व तटस्थ राज्य पर नही होगा। यही कारण है कि तीसरे हेग अभिसमय की धारा 2 मे कहा गया कि युद्धमान राज्यो को बिना देरी के युद्ध छिड़ने की सूचना तटस्थ शक्तियो को पहुँचानी चाहिए।

गृह-युद्ध के सम्बन्ध मे यह व्यवस्था है कि विद्रोहियो को युद्धमान शक्तियो की मान्यता प्राप्त होने पर तटस्थता प्रारम्भ होती है।

तटस्थता राज्यो का एक निष्पक्ष दृष्टिकोण है। यह उन्हें अधिकार और कर्त्तव्य सौंपती है। जिस घोषणा द्वारा एक तटस्थ राज्य अपने अगो एव जनता को निष्पक्षता का दृष्टिकोण स्वीकार करने का आदेश देता है वह तटस्थता की घोषणा कहलाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रत्येक राज्य को इस दृष्टि से स्वतन्त्रता देता है कि वह तटस्थता की स्थापना के लिए सभी आवश्यक प्रयास करे। सवैधानिक राज्यो मे सरकारो की शक्तियाँ राष्ट्रीय कानून द्वारा सीमित होती हैं। वे अपनी ससद् की स्वीकृति के बिना कुछ नही कर सकती। अन्तर्राष्ट्रीय कानून यह नहीं सुनना चाहता कि कोई सरकार अपने राष्ट्रीय कानून का आधार लेकर सिद्ध करे *कि आवश्यक प्रयास करने मे वह असमर्थ थी। कुछ राज्य हमेशा के लिए तथाकथित* 'तटस्थ अधिनियम' पारित कर लेते हैं। इनमे यह स्पष्ट किया जाता है कि युद्ध मे तटस्थ रहने पर उनके अधिकारी और जनता द्वारा क्या दृष्टिकोण अपनाया जायगा।

सयुक्तराज्य अमेरिका ने 20 अप्रैल, 1818 को तटस्थता कानून पास किया। ग्रेट-ब्रिटेन ने 1819 मे उसका अनुगमन किया। ब्रिटिश अधिनियम ने सरकार को पर्याप्त शक्तियाँ नहीं दी थी। इसलिए 9 अगस्त, 1870 को एक नया अधिनियम पारित किया गया। इसने ब्रिटेन की तटस्थता की स्थिति मे उस पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए। इन प्रतिबन्धो की दृष्टि से उसका योगदान अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाओ से भी आगे बढ गया।

जिस प्रकार युद्ध के प्रारम्भ होने पर तटस्थता प्रारम्भ होती है उसी प्रकार युद्ध समाप्त होने के साथ साथ यह समाप्त भी हो जाती है। यदि तटस्थ राज्य किसी युद्धमान पक्ष के विरुद्ध युद्ध छेड़ दे तो भी तटस्थता का अन्त हो जाता है। ये दोनो स्थितियाँ परस्पर भिन्नता रखती हैं।

युद्धमान पक्ष एव तटस्थ राज्य के बीच युद्ध कई कारणों से छिड़ सकता है—(1) ऐसे झगड़े के आधार पर जो चल रहे युद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, (2) युद्धमान राज्य ने युद्ध के मौलिक नियमों का उल्लघन किया है, (3) युद्धमान राज्य अथवा तटस्थ राज्य ने तटस्थता का इतना गम्भीर रूप से उल्लघन किया है कि प्रभावित पक्ष युद्ध की घोषणा करके इसका जवाब देना आवश्यक समझता है। ऐसे मामलो मे युद्ध की घोषणा अपने आप मे तटस्थता का उल्लघन नहीं मानी जाती।

दूसरी ओर ऐसे मामले भी होते हैं जहाँ एक युद्धमान राज्य और अभी तक तटस्थ राज्य के बीच युद्ध केवल इसलिए भी छिड़ जाता है क्योंकि युद्धमान वह को उसकी तटस्थता की मान्यता उपयुक्त नहीं लगी अथवा तटस्थ राज्य को तटस्थ बने रहना उचित नहीं लगा। ऐसे मामले में यदि युद्ध की घोषणा होती है तो राज्य स्पष्ट रूप से तटस्थता का उल्लघन मानी जाएगी। कारण यह है कि तटस्थता युद्धमान राज्यों की मान्यता और सम्बन्धित राज्य के इरादे पर निर्भर करती है। तटस्थ राज्य उन कारणों से इसे नहीं त्याग सकता जो युद्ध से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं, अन्यथा वह तटस्थ राज्य नहीं रहेगा।

तटस्थता सम्बन्धी कर्त्तव्य केवल उसी समय तक रहते हैं जब तक राज्य तटस्थ है। ज्योंही राज्य अपनी तटस्थता को उतार फैंकता है त्योंही उसके ये अधिकार भी स्वत ही समाप्त हो जाते हैं।

तटस्थ राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्य
(Rights and Duties of Neutral States)

तटस्थ नीति अपनाने वाले राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से कुछ अधिकार व कर्त्तव्य सौंपे जाते हैं। तटस्थता केवल तभी सचालित की जा सकती है जबकि तटस्थ और युद्धमान राज्य अपने आपस के सम्बन्ध में आचरण के विशेष तरीके अपनाएँ। इसी कारण तटस्थता युद्धमान और तटस्थ दोनों राज्यों को अधिकार और कर्त्तव्य सौंपती है। तटस्थता का उल्लघन दोनों में से किसी राज्य द्वारा किया जा सकता है। ये अधिकार एव कर्त्तव्य परस्पर सम्बन्धित होते हैं। तटस्थ राज्यों के कर्त्तव्य युद्धमान राज्यों के अधिकारों से और युद्धमान राज्यों के कर्त्तव्य तटस्थ राज्यों के अधिकारों से सम्बन्ध रखते हैं। तटस्थ राज्यों के प्रमुख अधिकारों और कर्त्तव्यों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है।

अधिकार
(The Rights)

1. अनतिक्रम्यता (Inniovality)

तटस्थ राज्य का सबसे प्रमुख अधिकार उसके प्रदेश की अनतिक्रम्यता है। तटस्थ राज्य के क्षेत्राधिकार में युद्धमान राज्य द्वारा कोई शत्रुतापूर्ण कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता। 1907 के दोनों हेग अभिसमयों ने इस सम्बन्ध में रिवाजी कानून का समर्थन किया। अभिसमय V भूमि-युद्ध के समय तटस्थ शक्तियों एव व्यक्तियों के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों से सम्बन्धित था। इसमें यह घोषित किया गया कि तटस्थ शक्ति का प्रदेश अनतिक्रम्य है। अभिसमय XIII ने समुद्री युद्ध में तटस्थ राज्यों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को आदर किया। प्रत्येक युद्धमान पक्ष को तटस्थता का उल्लघन कार्य न करने के लिए कहा गया। दोनों अभिसमयों में तटस्थ राज्यों के इस अधिकार का समर्थन किया गया है कि यदि कोई युद्धमान पक्ष उसकी तटस्थता का उल्लघन शक्ति द्वारा करने का प्रयास करे तो तटस्थ राज्य सेना द्वारा उसका जवाब दे सकता है और ऐसा कार्य शत्रुतापूर्ण नहीं समझा जाएगा।

युद्धमान राज्य अपने प्रदेशों और महासमुद्रों में लड़ाई करने का पूरा अधिकार रखता है किन्तु वह तटस्थ राज्य के अपने प्रदेश में या महासमुद्र में शत्रुता का कोई कार्य नहीं कर सकता है। इस नियम के अपवादस्वरूप अत्यन्त असाधारण परिस्थितियों में आत्म-रक्षण की दृष्टि से ऐसा करने की अनुमति दी गई है। युद्ध में अनेक बार ऐसे अवसर आते हैं जब रणकौशल की दृष्टि से युद्धमान राज्य को तटस्थ प्रदेश का उल्लंघन करना जरूरी बन जाता है। 19वीं शताब्दी में तटस्थता के मौलिक सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया। उसके बाद इसके उल्लंघन के कारण उत्पन्न जटिल परिस्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए आत्मरक्षा की आवश्यकता का तर्क दिया गया। 20वीं शताब्दी में समग्र युद्ध (Total-war) प्रारम्भ होने के कारण तटस्थ राज्यों को दिया जाने वाला प्रत्येक सरक्षण रुक गया।

प्रथम विश्व-युद्ध और द्वितीय विश्व-युद्ध में तटस्थता के उल्लंघन के अनेक उदाहरण प्रस्तुत हुए। विश्व-युद्ध से पूर्व 1807 में ब्रिटिश सरकार ने इस तर्क का प्रयोग किया। उसने डेनमार्क से माँग की कि वह तटस्थ डेनिश बेड़े को ग्रेट ब्रिटेन को समर्पित करदे ताकि नेपोलियन द्वारा उसके विरुद्ध यह प्रयुक्त नहीं किया जाए। डेनमार्क ने तदनुसार व्यवहार नहीं किया तो बेड़े को अधिग्रहीत कर लिया गया। अनेक बार युद्धमान राज्यों के कमाण्डर स्वयं निर्णय लेकर तटस्थ राज्यों के प्रदेश का उल्लंघन करते हैं और बाद में अपनी सरकार द्वारा उसे स्वीकार करा लेते हैं।

फ्लोरिडा (Florida) नामक जहाज का मामला इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। 1864 में संयुक्त राज्य अमेरिका के युद्धपोत वाचुसेट ने इसे ब्राजील के प्रादेशिक समुद्र में बहिया नामक बन्दरगाह में पकड़ा। ब्राजील एक तटस्थ राज्य था, उसने अपने प्रदेश के अतिक्रमण के विरुद्ध प्रतिवाद किया। अमेरिकी सरकार ने अपने इस अनधिकृत, अवैध और अरक्षणीय व्यवहार को स्वीकार किया। उसने क्षमा याचना की। इस रणपोत के कमाण्डर का कोर्ट मार्शल किया गया। फ्लोरिडा को पकड़ने की सलाह देने वाले बहिया के वाणिज्य दूत को पद से हटा दिया गया और फ्लोरिडा के नाविकों को स्वतन्त्र कर दिया गया। अमेरिका ने अपने कार्य के प्रायश्चित के रूप में एक युद्धपोत को ब्राजील के झण्डे को सलामी देने के लिए भेजा।

1904-5 के रूस-जापान युद्ध के समय मंचूरिया और कोरिया युद्ध के वास्तविक रणमंच बन गए। यद्यपि दोनों तकनीकी रूप से तटस्थ प्रदेश थे। जापान ने इसके औचित्य में शिकायत की कि चीन और कोरिया दोनों रूस के नियन्त्रण से अपनी रक्षा नहीं कर सके। तटस्थ राज्यों की कमजोरियों को क्या दोनों युद्धमान पक्षों के हस्तक्षेप का आधार माना जा सकता है, यह एक राजनीतिक प्रश्न है और *उस समय के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पास इसका उत्तर नहीं था।*

प्रथम विश्व-युद्ध का श्रीगणेश बेल्जियम तथा लक्जम्बर्ग की तटस्थता का उल्लंघन करके हुआ। जर्मनी ने आत्म-रक्षा के आधार पर इसका औचित्य सिद्ध किया। इसके मतानुसार उसे इस दिशा में फ्रांस के आक्रमण की शंका थी। ग्रेट-ब्रिटेन ने इसे स्वीकार नहीं किया और इस युद्ध की घोषणा को अपने राष्ट्रीय हित

के विरुद्ध माना । संयुक्तराज्य अमेरिका इन तटस्थीकरण सन्धियों का भाग नहीं था इसलिए उसने विरोध नहीं किया । युद्ध के दौरान तटस्थ राज्यों की प्रादेशिक अखण्डता के छोटे मोटे उल्लंघन भी किए गए ।

2 प्रादेशिक आकाश पर पूर्ण सम्प्रभुता
(Sovereignty over Territorial Air Space)

प्रत्येक तटस्थ राज्य अपने प्रदेश के ऊपर स्थित आकाश पर पूर्ण प्रभुसत्ता रखता है । किसी युद्धमान राज्य को इनके आकाश में अपने विमान उड़ाने का अधिकार नहीं है । यदि उसका कोई विमान ऐसी उड़ान करता है तो उसे गोली मार कर नीचे गिराया जा सकता है । 1914 से पूर्व तटस्थ राज्यों के आकाश में होकर निर्दोष गमन का अधिकार पर्याप्त वाद-विवाद का विषय बना, किन्तु युद्ध छिड़ने पर तटस्थ राज्य के रूप में हॉलैण्ड ने शीघ्र यह घोषित किया कि डच प्रदेश के ऊपर स्थित आकाश के प्रयोग को इसकी तटस्थता का उल्लंघन समझा जाएगा और वह इसका पूरा विरोध करेगा । इस घोषणा के अनुसार डच सरकार ने अनेक युद्धमान वायुयानों को गोली मार कर गिराया ।

दिसम्बर, 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ने पर तटस्थता के अतिक्रमण बड़े स्तर पर हुए । 9 अप्रैल, 1940 को जर्मनी ने नार्वे पर आक्रमण कर दिया । इसी प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन ने तटस्थ राज्य आइसलैण्ड पर आक्रमण कर दिया । 9 मई को जर्मन सरकार द्वारा तीन तटस्थ राज्यों, बेल्जियम, लक्जमबर्ग और हॉलैण्ड पर बिना चेतावनी के एक साथ आक्रमण किया गया । उसके मतानुसार इन राज्यों पर मित्र राष्ट्र हमला करने वाले थे । 28 अक्टूबर, 1940 को इटली ने यूनान की भूमि पर ललचाई नजर डाली और उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया । यूगोस्लाविया पर तटस्थता की नीति न छोड़ने के कारण आक्रमण कर दिया गया ।

3 प्रादेशिक समुद्र पर अधिकार
(Right on Territorial Water)

प्रादेशिक समुद्र के सम्बन्ध में समुद्री युद्ध में भी इसी प्रकार के प्रतिबन्ध लागू होते हैं । युद्धमान राज्य तटस्थ राज्य के प्रादेशिक जल में वणिक पोतों का निरीक्षण नहीं कर सकता । ऐसा करना शत्रुतापूर्ण कार्यों में गिना जाता है । अधिग्रहण न्यायालय (Prize Courts) तटस्थ प्रदेश में स्थापित नहीं किए जा सकते । युद्धमान राज्य तटस्थ राज्यों के बन्दरगाहों और जलों का नौसैनिक कार्यों के लिए प्रयुक्त नहीं कर सकता । इसमें संचार के लिए बेतार के तार स्टेशन नहीं बनाए जा सकते । इनमें से किसी भी प्रतिबन्ध के तोड़ने पर सम्बन्धित राज्य की तटस्थता का उल्लंघन माना जाता है ।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान युद्धमान राज्यों ने अनेक अवसरों पर तटस्थ बन्दरगाहों में सम्बन्धित शर्तों का उल्लंघन किया है । संयुक्तराज्य अमेरिका ने जर्मनी के उन व्यापारी जहाजों को निकालने से मना कर दिया जो जर्मनी के लिए ईंधन और अन्य पूर्ति ले जा रहे थे । इसी प्रकार जब ब्रिटिश सरकार ने प्रार्थना

को कि वह अपने जहाजो द्वारा संयुक्तराज्य अमेरिका के प्रादेशिक जल का उल्लंघन न करे।

4 अपने नागरिको और सम्पत्ति की रक्षा का अधिकार
(Right to Protect its Citizens and Property)

तटस्थ राज्यो को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वे युद्धमान राज्यो मे निवास करने वाले अपने नागरिकों की रक्षा कर सकें। वे यह मांग कर सकते हैं कि उनके नागरिको को सेना मे भर्ती नही किया जाए। इस प्रकार अपने प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से बाहर स्थित सम्पत्ति और अपने नागरिको की रक्षा के सम्बन्ध मे तटस्थ राज्य अधिकार रखते हैं। अनेक विचारको ने इसका विरोध किया है। तत्सम्बन्धी विवाद के अनेक प्रश्नो को अभी तक सुलझाया नहीं जा सका। तटस्थ राज्य के नागरिको को युद्धमान राज्य द्वारा जबरदस्ती सेना मे भर्ती न करने की बात मान ली गई, किन्तु युद्धमान राज्य द्वारा उसके स्वय के नागरिकों पर जोर विशेष कर भार, ऋण, पुलिस या प्रशासनिक प्रकृति की सेवाएँ लागू की जा सकती हैं उनसे तटस्थ राज्य के नागरिक भी नही बच सकते। युद्धमान राज्य मे निवास के फलस्वरूप विदेशी को भी उस राज्य के सौभाग्य और दुर्भाग्य के साथ ही चलना होगा।

5. समुद्री तारो को क्षति न पहुँचाना
(Not to damage the Wires in Sea)

समुद्र मे जो तारो का जाल बिछा रहता है उसे किसी प्रकार प्रभावित नही किया जाना चाहिए। तटस्थ राज्य का यह विशेष अधिकार है कि कोई युद्धमान राज्य जहाँ तक सम्भव हो सके, इन तारो को प्रभावित न करे।

6 सशस्त्र सेनाओ को आश्रय देने का अधिकार
(Right to Asylum to Armed Forces)

तटस्थ राज्य युद्धमान पक्षों की सशस्त्र सेनाओं को आश्रय देने का अधिकार रखता है। यदि शत्रु द्वारा पीछा करने पर किसी युद्धमान राज्य की सेना भागी हुई तटस्थ प्रदेश मे आती है तो वह इसे शरण देता है। ऐसा करते समय सेना को नि शस्त्र कर दिया जाता है और युद्ध की समाप्ति तक युद्धमान राज्य के व्यय पर यह सेना रोकी रखी जाती है। स्विट्जरलैण्ड ने 1871 मे एक फ्रांसीसी सेना को इस प्रकार आश्रय दिया था।

7. दौत्य सम्बन्ध बनाए रखने का अधिकार
(Right to keep Diplomatic Relation)

तटस्थ राज्य को यह अधिकार दिया जाता है कि दोनो युद्धमान पक्षों के साथ अपने दौत्य सम्बन्ध बनाए रख सके। लॉर्ड स्टोवैल के कथनानुसार, राज्यो का व्यवहार तटस्थ राज्यो को यह अधिकार देना है कि वे युद्धकारी राज्यो से राजदूत ग्रहण कर सकें। युद्धकारी राज्य का तटस्थ राज्य मे रहने वाला राजदूत अपनी सरकार के साथ निर्बाध रूप से पत्र व्यवहार करने का अधिकार रखता है। इसमे दूसरा युद्धमान पक्ष कोई विघ्न नही डाल सकता। एक युद्धमान राज्य द्वारा भेजे जाने वाले राजदूत को दूसरा युद्धमान राज्य अपने प्रदेश मे रोक सकता है।

कर्त्तव्य (The Duties)

तटस्थ राज्यों को विभिन्न कर्त्तव्य सौंपे जाते हैं। ये कर्त्तव्य युद्धमान राज्यों के अधिकार बन जाते हैं। तटस्थ राज्यों के कर्त्तव्यों को फेनविक ने दो सामान्य वर्गों में विभाजित किया है—परिवर्जन (Abstention) और निवारण (Prevention)। प्रो. स्टार्क ने इन दोनों कर्त्तव्यों के साथ-साथ एक तीसरे कर्त्तव्य मौन सहमति (Acquiescence) का भी उल्लेख किया है। इन तीनों का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

1 परिवर्जन के कर्त्तव्य
(Duties of Abstention)

तटस्थ राज्य कुछ कार्य करने से अपने आप को बचाने का पूरा प्रयास करे यह एक निषेधात्मक या निष्क्रिय प्रकृति का कर्त्तव्य है जो तटस्थ राज्य को युद्ध में भाग लेने से बचाता है। तटस्थ राज्य को चाहिए कि वह युद्धमान राज्य को कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहायता न दे। उदाहरण के लिए—(क) वह किसी पक्ष को अपनी सेनाएँ न भेजे (ख) ऋण अथवा इसकी गारंटी दे, (ग) किसी पक्ष की सेनाओं को आश्रय न दे, (घ) किसी पक्ष को ऋण सामग्री का निर्यात करने से देशवासियों को रोके।

निष्कर्षतः तटस्थ राज्य को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिए। सरकार के माध्यम से कार्य करने वाला राज्य अपने आप को सर्वथा से पूर्ण रूप से दूर रखेगा। इस नियम की व्यवस्था इतने कठोर रूप से की गई है कि फ्रांस और पर्शिया के युद्ध के समय अमेरिका द्वारा खुले बाजार में बेचे गए, किन्तु जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस की सेनाओं द्वारा प्रयुक्त किए गए हथियारों के कारण जर्मनी ने तटस्थता के उल्लंघन की शिकायत की। 1907 के हेग अभिसमय द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में तटस्थ राज्यों से युद्धमान शक्तियों के लि युद्धपोतों, *हथियारों और प्रत्येक प्रकार की ऋण सामग्री* भेजने पर पूर्णतः रोक लगाई गई।

द्वितीय विश्वयुद्ध में संयुक्तराज्य अमेरिका ने तटस्थ कर्त्तव्यों के इस पहलू को पूरी तरह से ठुकरा दिया। युद्ध के बाद उसने यह घोषणा की कि *वह तटस्थ राज्यों के अपने कुछ अधिकारों पर युद्ध के समय जोर नहीं देगा।* युद्ध छिड़ने पर जब यह स्पष्ट हो गया कि धुरी राष्ट्रों का आचरण और उनकी आक्रमणात्मक क्रियाएँ केवल यूरोप तक सीमित नहीं रही हैं तो अमेरिका ने आत्म रक्षा के लिए ग्रेट-ब्रिटेन को हथियार देना प्रारम्भ किया। यह कार्य तटस्थता के नियमों का उल्लंघन था। ग्रेट ब्रिटेन को हथियार और अन्य ऋण सामग्री देना *परम्परागत तटस्थता के विपरीत होते हुए भी आत्म-रक्षा की दृष्टि से उपयुक्त सिद्ध* किया गया। इसका तकनीकी औचित्य इस तथ्य में था कि स्वयं तटस्थता ने अपना पारम्परागत रूप, अर्थ और उद्देश्य छोड़ दिया था। संयुक्तराज्य अमेरिका युद्ध को

घोषणा करने का अधिकार रखता था, किन्तु जनमत यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था।

तटस्थता कानून के अनुसार तटस्थ राज्य युद्धमान राज्यों को अपने प्रादेशिक समुद्रों और बन्दरगाहों का प्रयोग करने से नहीं रोकता। यह विशेषाधिकार युद्धमान राज्यों का अप्रत्यक्ष समर्थन नहीं समझा जाना चाहिए और युद्धमान राज्यों को इनका दुरुपयोग नहीं करने देना चाहिए। इसी प्रकार तटस्थ राज्यों के प्रदेशों में होकर निर्दोष गमन को भी बुरा नहीं माना गया। यदि युद्धमान राज्य का साथ देने के लिए कुछ लोग तटस्थ राज्य के प्रदेश में होकर गुजरते हैं तो इसे तटस्थता के नियम का उल्लंघन नहीं माना जाता, फिर भी युद्धमान राज्य को इस प्रदेश में कोई शत्रुतापूर्ण कार्य नहीं करना चाहिए।

2 निवारण के कर्त्तव्य (Duties of Prevention)

तटस्थ राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रदेश तथा क्षेत्राधिकार में कुछ कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाए, क्योंकि वह इनके सम्बन्ध में सम्प्रभु अधिकार रखता है। युद्धमान राज्य का दायित्व है कि वह तटस्थ राज्य में शत्रुतापूर्ण कार्य न करे। इसी प्रकार तटस्थ राज्य का यह दायित्व है कि वह अपने प्रदेश में ऐसे कार्य न होने दे। यदि तटस्थ राज्य ऐसे अपराधों को होने से न रोक सके तो उसे प्रभावित पक्ष के लिए मुआवजा देना चाहिए। 1907 के हेग अभिसमय द्वारा यह दायित्व डाला गया कि इसकी धारा 2, 3, 4 में कहे गए किसी कार्य की अनुमति तटस्थ शक्ति द्वारा नहीं दी जानी चाहिए। यह तटस्थ राज्य की शक्तियों से परे का दायित्व नहीं हो सकता। एक छोटा राज्य संघर्षयुक्त युद्धमानों के बीच ताकत के साथ हस्तक्षेप नहीं कर सकता। 1914 में लक्जमबर्ग द्वारा जर्मन सेनाओं का विरोध न करना और 1940 में डेनमार्क द्वारा ऐसा न करना उनका अपराध नहीं माना जा सकता क्योंकि ये राज्य विरोध करने में असमर्थ थे। यदि तटस्थ राज्य के प्रादेशिक जल में कोई अभिग्रहण होता है तो उसे रोकना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो उसे प्रभावित युद्धमान के लिए मुआवजा देना चाहिए।

युद्धमान राज्य द्वारा तटस्थ राज्य के प्रदेश का प्रयोग शत्रुतापूर्ण कार्यों के लिए न किया जाय। इसके लिए विभिन्न प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं जैसे—(क) तटस्थ राज्य के नागरिक किसी युद्धमान राज्य की सेना में भर्ती नहीं होंगे, (ख) तटस्थ राज्य के प्रदेश और समुद्रों में लड़ाई नहीं की जा सकेगी, (ग) युद्धमान पक्ष तटस्थ राज्यों के प्रदेश में अभिग्रहण न्यायालयों की स्थापना नहीं कर सकेंगे, एवं (घ) युद्धमान पक्ष की सेनाएँ तटस्थ प्रदेश में होकर नहीं गुजर सकतीं। घायलों और बीमार सैनिकों को तटस्थ राज्यों में होकर गुजरने की अनुमति दी जा सकती है।

तटस्थ राज्य युद्धमान पक्ष के ऐसे जहाजों को अपने प्रदेश से गुजरने की अनुमति दे सकता है जो नौ सेना से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखते। तटस्थ राज्यों को भूमि पर बने हुए बेतार के तार स्टेशनों को नष्ट होने से बचाना चाहिए। युद्धमान राज्य तटस्थ राज्यों के बन्दरगाहों को कुछ सीमित उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त

कर सकते हैं। 1907 में हेग सम्मेलन के समय यह परम्परा स्थापित हो चुकी थी कि युद्धमान जहाज तटस्थ बन्दरगाहों में केवल 24 घण्टे तक रह सकते हैं और उन्हें नौ चालन योग्य बनाने के लिए आवश्यक मरम्मत भी की जा सकती है। ये जहाज *शान्तिकाल की भाँति इस समय भी भोजन और ईंधन की पूर्ति कर सकते हैं।* इस सम्मेलन में राज्यों के बीच कटु विवाद विकसित हुए। ग्रेट ब्रिटेन जिसकी नौ-सेना विश्व के प्राय. सभी भागों के बन्दरगाहों में थी और जर्मनी, जिसके पास थोड़े बन्दरगाह थे, दोनों के बीच यह संघर्ष चला। पर्याप्त वाद-विवाद के बाद समझौता हुआ। नौ सैनिक युद्ध में तटस्थ राज्य के अधिकारों और कर्त्तव्यों से सम्बन्धित अभिसमय ने अनिश्चित परम्परागत कानून का स्थान लिया।

अभिसमय के नए नियम की सभी परिस्थितियों में लागू होने की व्यवस्था नहीं की गई। इसके कारण तटस्थ राज्यों को युद्धमान राज्यों की शिकायतों से राहत मिली। तटस्थ बन्दरगाहों से युद्धमान जहाजों को पूर्णत बाहर निकालना एक तार्किक नियम था, किन्तु इस दृष्टि से तर्क अधिक सहायता नहीं करता।

युद्ध होने पर भी तटस्थ और युद्धमान राज्य के बीच व्यापार चलता रहता है। ऐसी स्थिति में व्यापारी जहाज को गैर-सरकारी रखते हुए भी यदि सशस्त्र बना दिया जाए तो क्या होगा, इस विषय पर हेग अभिसमय ने विचार नहीं किया।

तटस्थ राज्यों का केवल यही उत्तरदायित्व नहीं है कि वे युद्धमान राज्यों को उसके प्रदेश का सदुपयोग करने से रोकें। उसे तटस्थता के लिए घातक गैर-सरकारी व्यक्तियों, नागरिकों और दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों को भी रोकना होगा। जो तटस्थ राज्य निवारण के कर्त्तव्यों की पवित्रता को मानता है वह प्रभावशाली स्थिति में रहता है। तटस्थ राज्य पूरी सजगता का प्रयोग करके अवांछित कार्यों को होने से रोक सकता है और यदि वह ऐसा न कर सका तो इस प्रयास को असफल करने के लिए वह अपनी सेना का प्रयोग कर सकता है।

प्रत्येक राज्य सम्प्रभु होने के नाते अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करने के लिए स्वयं व्यवस्थापन करता है। ऐसा करते समय वह रिवाजी और अभिसमयात्मक कानूनों से प्रकाश ग्रहण करता है। कुछ राज्यों में साधारण फौजदारी कानून अपराधी व्यक्तियों को सजा देने के लिए पर्याप्त होता है। दूसरे राज्यों में इस दायित्व के निर्वाह के लिए अलग से व्यवस्थापन किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इन्हें तटस्थता कानून कहा जाता है। ये राज्य के कर्त्तव्यों की स्पष्टता व्याख्या करते हैं।

तटस्थ राज्यों द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले निवारण के कर्त्तव्यों में उसके नागरिकों पर लगाई गई सीमाएँ भी उल्लेखनीय महत्त्व रखती हैं। तटस्थ होने के नाते जिन कार्यों को सम्पन्न करने से राज्यों को रोका जाता है उन्हें करने की अनुमति गैर-सरकारी व्यक्तियों को दे दी जाती है। यह नियम उसी समय से चला आ रहा है जब राज्य अपने नागरिकों के कार्यों को बड़ी कठिनाई से नियन्त्रित कर पाता था। यह नियम 20वीं शताब्दी में भी केवल इसलिए चला आ रहा है क्योंकि

तटस्थ राज्य ऐसी स्थिति के सम्बन्ध में तर्क का प्रयोग करने के लिए इच्छुक नहीं रहते जो मूल रूप से अतार्किक है। तटस्थ राज्य अपने नागरिकों पर निम्न प्रतिबन्ध नहीं लगाते—

(A) मत अभिव्यक्ति—तटस्थ राज्य अपने क्षेत्राधिकार में निवास करने वाले नागरिकों के विचारों को नियन्त्रित करने का कोई अधिकार नहीं रखते। ये नागरिक अपनी इच्छानुसार किसी भी युद्धमान राज्य के विपक्ष या आलोचना में विचार प्रकट कर सकते हैं। विदेशी राज्यों के मध्य चल रहे युद्ध के न्याय और अन्याय के सम्बन्ध में भाषण की स्वतन्त्रता को कोई प्रजातन्त्रात्मक राज्य सीमित नहीं करता। *1914* में तटस्थता की घोषणा करते समय राष्ट्रपति विल्सन ने अमेरिकी जनता के नाम अपील में उसे विचारों और कार्यों में निष्पक्ष रहने को कहा। उनका यह कथन अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकताओं से परे था। द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इस त्रुटि को नहीं दोहराया। उनके शब्दों में, "यह राष्ट्र तटस्थ राष्ट्र रहेगा, किन्तु मैं यह माँग नहीं करता कि प्रत्येक अमेरिकी अपने विचारों में तटस्थ बना रहे। एक तटस्थ को भी तथ्यों का ध्यान रखना चाहिए। तटस्थ को उसका मस्तिष्क और चेतना बन्द करने के लिए नहीं कहा जा सकता।"

(B) युद्धमानों के लिए ऋण—तटस्थ राज्य को अपने क्षेत्राधिकार में रहने वाले व्यक्तियों को युद्धमान राज्यों के लिए ऋण देने से रोकना चाहिए अथवा नहीं, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। वैटिल ने इस प्रश्न का जवाब इस तथ्य पर आधारित माना है कि क्या यह विनियोग सुरक्षित है? एक तटस्थ नागरिक यहाँ तक कि स्वयं राज्य, एक युद्धमान के लिए अपने विश्वास के आधार पर ऋण दे सकता है और विश्वास के अभाव में ऋण देने से मना कर सकता है। आलोचकों के मतानुसार *यह मापदण्ड विषयगत था और इसे कानून का आधार नहीं बनाया जा सकता।* इसके लिए सरल तथा अधिक वस्तुगत नियम यह विकसित हुआ कि राज्य के ऋणों पर रोक लगाई जाए और गैर-सरकारी ऋणों को अनुमति दी जाए। गैर-सरकारी व्यक्तियों के ऋण फिर भी सन्देहजनक बने रहे। संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने एक विवाद के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए उस समझौते को अस्वीकार कर दिया जो न केवल अमेरिकी तटस्थता कानून का उल्लंघन है वरन् यह एक ऐसे राष्ट्र के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्य है जिसके साथ संयुक्त राज्य अमेरिका के शान्तिपूर्ण सम्बन्ध हैं। इसलिए यह एक कानूनी और उचित समझौता नहीं है।

कुछ विधि शास्त्रियों द्वारा निन्दा किए जाने पर भी प्रथम विश्वयुद्ध के समय यह सामान्यतः स्वीकृत था कि तटस्थ राज्य युद्धमान राज्यों को ऋण देने से अपने नागरिकों को रोकने के लिए बाध्य नहीं है।

पाँचवें हेग अभिसमय ने इस प्रश्न के सम्बन्ध में यह घोषणा की, कि तटस्थ राज्य के नागरिकों को किसी युद्धमान पक्ष के लिए ऋण देकर अपनी तटस्थ प्रकृति नहीं छोड़नी चाहिए। *प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ में अमेरिकी विदेश विभाग ने* घोषणा की कि अमेरिकी बैंकरों द्वारा तटस्थ राज्यों के लिए दिया जाने वाला ऋण

तटस्थता की भावना से असगत है। इन घोषणाओं के बाद भी ऐसे ऋणों को रोकने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया और बहुत बड़ी मात्रा में ये दिए जाते रहे।

(C) रण-सामग्री की बिक्री—उक्त से भी अधिक विवादपूर्ण प्रश्न यह था कि क्या तटस्थ राज्यों को उनके नागरिकों द्वारा युद्धमान राज्यों के लिए दी जाने वाली रण-सामग्री की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यदि आधुनिक परिस्थितियों के प्रकाश में दिया जाए तो प्रतिबन्ध का समर्थन नहीं होता। 18वीं शताब्दी में तटस्थ राज्य युद्धमान राज्यों के साथ अपने नागरिकों के व्यापारिक सम्बन्धों को रोकने में कोई लाभ नहीं देखते थे। उस समय के उद्योग युद्ध में निर्णायक महत्त्व का योगदान भी नहीं करते थे। सन् 1783 में ग्रेट-ब्रिटेन तथा फ्रांस के विरोध करने पर अमेरिकी विदेश मन्त्री जैफरसन ने उत्तर दिया कि हमारे नागरिक हथियार बनाने और निर्यात करने में हमेशा स्वतन्त्र रहे हैं। उनमें से अनेक का यह मुख्य व्यवसाय और जीविका का साधन है। इस पर केवल इसलिए रोक लगाना कि हमसे दूर और पूर्णतः असम्बन्धित दो देशों के बीच युद्ध हो रहा है, अनुचित रहेगा। यह सिद्धान्त रूप से कठिन और व्यावहारिक रूप से असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून शान्तिपूर्ण देशों के अधिकारों का आदर करता है और उनके व्यवसायों में इस प्रकार के परिवर्तन को आवश्यक नहीं बनाता। सन् 1907 के हेग सम्मेलन में परिवर्तित परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना ही परम्परागत नियमों को स्वीकार कर लिया गया।

3 मूक सहमति के कर्त्तव्य (Duties of Acquiescence)

तटस्थ देश का एक अन्य मुख्य कर्त्तव्य यह बताया जाता है कि उसे वैध युद्ध के कारण जो क्षति हो उसको चुपचाप सहन करना चाहिए। युद्धमान राज्य इसके जहाजों का निरीक्षण करते हैं, तलाशी लेते हैं और विनिषिद्ध ऋण सामग्री ले जाने वाले जहाजों को जब्त कर लेते हैं। यह सब उसे स्वीकार करना चाहिए। तटस्थ राज्य का नौ-चालन तथा व्यापार का अधिकार पर्याप्त मर्यादित हो जाता है। उसका कर्त्तव्य है कि वह इन सबके विपक्ष में कोई आवाज न उठाए तथा इनको शान्त भाव से सहन कर ले।

4 क्षतिपूर्ति (Reperations)

प्रत्येक तटस्थ राज्य का एक कर्त्तव्य यह भी होता है कि अगर उसकी गलत या बुरी भावना के कारण किसी पक्ष को हानि हुई है तो वह उसे मुआवजा दे। यदि तटस्थ राज्य अपने इस कर्त्तव्य को पूरा न करे तो प्रभावित पक्ष उसकी त्रुटि को जानबूझ कर की गई मानेगा और इसे शत्रुतापूर्ण कार्य समझेगा। फलतः तटस्थता समाप्त हो जाएगी।

5. प्रत्यास्थापन (Restoration)

तटस्थ राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अनुचित रूप से छीनी गई वस्तु को वापस लौटाए। जब एक युद्धमान राज्य तटस्थ देश के प्रादेशिक समुद्र में शत्रु द्वारा पकड़े जहाज को पकड़ लेता है तो वह दो प्रकार से गलती करता है। एक

ओर तो वह तटस्थ राज्य की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण करता है और दूसरी ओर वह शत्रु से उसकी वस्तु को अनुचित रूप से छीन लेता है। ऐसी स्थिति मे तटस्थ देश का यह कर्त्तव्य है कि वह उक्त गलती करने वाले राज्य से इसका समुचित प्रतिकार करने की मांग करे और छीनी गई वस्तु को वापस लौटाए।

युद्धमान राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्य
(Rights and Duties of Belligerents)

युद्धमान राज्य का अधिकार वही है जो तटस्थ राज्य का कर्त्तव्य है तथा युद्धमान राज्यों के कर्त्तव्य वे हैं जो तटस्थ राज्यों के अधिकार हैं। युद्धमान राज्य के अधिकारों का उल्लेख उक्त विवरण मे किया जा चुका है। उदाहरण के लिए इनके रणपोत तटस्थ बन्दरगाहों मे 23 घण्टे तक रुक सकते हैं, समुद्री तूफानों में शरण ले सकते हैं और टूट-फूट के समय अपने यानो की मरम्मत करा सकते हैं। इन सामान्य अधिकारों के अतिरिक्त युद्धमान राज्यों के कुछ विशेष अधिकार भी होते हैं। इनमे दो मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं–अगरी और अतटस्थ सेवा रोकने के अधिकार। इनके सम्बन्ध मे संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार किया जा सकता है—

युद्धमान का अगरी का अधिकार (Belligerent Right of Angary)

अगरी का अधिकार उसे कहते हैं जिसके अनुसार एक युद्धमान राज्य युद्धकाल मे असाधारण संकट उत्पन्न हो जाने पर तटस्थ राज्यों के जहाजों एवं दूसरी सम्पत्ति को उपयोग के लिए ले लेते हैं अथवा नष्ट कर देता है और बदले मे उसे मुआवजा दे देता है। लेटिन भाषा के इस शब्द का अर्थ जबर्दस्ती काम लेना है।

इस अधिकार का विकास मध्ययुग मे हुआ जब युद्धमान राज्यों के पास आवश्यक जलपोतों का अभाव था। ऐसी स्थिति मे वे अपने बन्दरगाहों मे स्थित तटस्थ राज्यों के वणिक-पोतों को अपने अधिकार मे ले लेते थे और इनके नाविक वर्ग को इस बात के लिए बाध्य करते थे कि वे पहले से ही भाड़ा लेकर उनकी सेनाओं, अस्त्र सामग्री एवं खाद्य सामग्री का परिवहन करें। इस प्रकार तटस्थ राज्यों के जहाजों द्वारा लड़ाई के लिए आवश्यक सामग्री का परिवहन कराने का अधिकार अगरी का अधिकार कहा जाता था। 17वीं शताब्दी तक यह व्यवहार पर्याप्त व्यापक बन चुका था। फ्रांस के लुई चौदहवें ने इसका पर्याप्त प्रयोग किया। 17वीं शताब्दी मे विभिन्न राज्यो ने अपने जहाजो को युद्धकाल में इस प्रकार पकड़े जाने से रोकने के लिए द्विपक्षीय सन्धियाँ की। इन द्विपक्षीय सन्धियों में सन्धिकर्त्ताओं के जलपोत अगरी के कानून के व्यवहार से उन्मुक्त रहे गए। 20वीं शताब्दी तक इस अधिकार को मूल मान्यता राज्यों के व्यवहार से लुप्त हो गई और वर्तमान शताब्दी मे यह अपने नए और परिवर्तित रूप मे प्रस्तुत हुई। विभिन्न सन्धियों के कारण 18वीं शताब्दी मे अगरी का प्रयोग पूरी तरह समाप्त हो गया। प्रो. ओपेनहेम के अनुसार 19वीं शताब्दी में इसके उपयोग का एक भी उदाहरण नहीं मिलता। 20वीं शताब्दी मे आकर इस धारणा का पुनरुद्धार हुआ, किन्तु यह अपने पूर्व रूप से पर्याप्त भिन्न थी। मध्ययुग मे इसके अन्तर्गत जहाजों का प्रयोग

सेनाओं तथा सैनिक सामग्री के परिवहन के लिए किया जाता था और जहाजों के साथ-साथ उनके नाविक वर्ग को भी काम में लिया जाता था। आजकल न केवल जहाज वरन् तटस्थ राज्य की समस्त सम्पत्ति का उपयोग या विध्वंस किया जा सकता है।

अंगरी का आधुनिक स्वरूप—आजकल अंगरी के अधिकार को जिस रूप में समझा जाता है इसके अनुसार युद्धमान राज्य आवश्यकता के समय तटस्थ राज्य की सम्पत्ति को उसके या शत्रु के प्रदेश में और सम्भवतः महासमुद्र में प्रयुक्त अथवा नष्ट करने का अधिकार रखता है। आधुनिक कानून केवल सम्पत्ति पर लागू होता है या तटस्थ जहाजों के नाविकों और पकड़ी गई रेलों पर लागू नहीं होता। संयुक्तराज्य अमेरिका की नौ-सैनिक युद्ध संहिता में यह कहा गया है कि सैनिक आवश्यकता होने पर युद्धमान देश के क्षेत्राधिकार में स्थित तटस्थ देशों के जहाजों को पकड़ा जा सकता है, नष्ट किया जा सकता है अथवा अन्य सैनिक प्रयोजनों के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। ऐसा करने पर तटस्थ राज्यों के जहाजों को पूरा मुआवजा दिया जाना चाहिए। यह नियम रिवाजी अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर निर्भर है। इन्हें सन् 1907 के हेग नियमन की धारा 53 के भुगतान सम्बन्धी प्रावधानों से भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए। प्रथम विश्व युद्ध तक अंगरी के अधिकार का प्रयोग करने वाले उदाहरण सामान्य नहीं थे। इसका एक मुख्य उदाहरण सन् 1871 में जर्मनी द्वारा ब्रिटिश कोयला वाहक को डुबा देना था। जब ग्रेट ब्रिटेन ने इसका विरोध किया तो जर्मन सरकार ने इस जहाज के स्वामी को मुआवजा देने के उत्तरदायित्व से मुँह फेर लिया। जर्मनी का यह व्यवहार अंगरी के अधिकार का प्रयोग समझा जाता है।

अंगरी के आवश्यक तत्त्वों पर बुलोक (Bullock) महोदय ने बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकाश डाला है उनका कहना है कि अंगरी का आधुनिक कानून निम्नलिखित विशेषताओं से युक्त है—

(A) इसमें युद्धकारी राज्य को विदेश जहाजों, वायुयानों और दूसरे साधनों का अधिकार रहता है।

(B) इस अधिकार का प्रयोग तभी किया जाना चाहिए जबकि परिवहन के लिए इनकी आवश्यकता पड़े।

(C) अधिग्रहण तभी किया जा सकता है जब ये वस्तुएँ कर्ता राज्य के अधिकार-क्षेत्र में आती हैं।

(D) इन वस्तुओं का अधिग्रहण केवल संकटकाल में किया जाना चाहिए।

(E) जिन वस्तुओं को लिया जाए उनका पर्याप्त मुआवजा दिया जाना चाहिए।

(F) इस प्रकार अधिग्रहीत जलयानों अथवा वायुयानों के विदेशी नाविकों अथवा वैमानिकों को जहाज चलाने को बाध्य नहीं किया जाना चाहिए। बुलोक के मतानुसार केवल परिवहन के साधनों को प्रयोग में लिया जाना चाहिए।

प्रथम विश्व युद्ध मे अचानक अगरी के अधिकार मे अनेक सिद्धान्तो का प्रभाव दिखाई देने लगा। ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालयो ने तटस्थ जलपोतो एव उनके साज सामान के अधिग्रहण को न्यायोचित बताया, इटली उस समय आस्ट्रिया हगरी के विरुद्ध युद्ध मे था, किन्तु जर्मनी के साथ नहीं। इटली ने 1915 मे 37 जर्मन जहाजों को इटली के बन्दरगाहो पर पकड लिया। जर्मनी वालों ने इसका विरोध नही किया। फरवरी, 1916 मे पुर्तगाल ने अपने समुद्र मे 72 से भी अधिक जर्मन जलपोतो को अधिग्रहीत कर लिया। मई, 1917 मे ब्राजील ने 42 जर्मन जलपोतों को ले लिया जो उसके बन्दरगाहों में शरण लेने आए थे। इन उदाहरणों मे *अधिग्रहण करने वाले उस समय तटस्थ राज्य थे। परिणामस्वरूप जर्मनी ने* इनके विरुद्ध एक-एक करके युद्ध की घोषणा की। पुर्तगाल और ब्राजील के विरुद्ध उसने युद्ध घोषित कर दिया। 20 मार्च, 1918 को सयुक्तराज्य अमेरिका ने अपने बन्दरगाहों पर 77 डच जहाजो को पकड लिया और उन्हें पूरा मुआवजा देने का वायदा किया। कुछ दिनो बाद ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने भी ऐसे ही कदम उठाए। सभी ने अगरी के अधिकार के अनुसार ऐसा करना उपयुक्त बताया।

अगरी के अधिकार के अन्तर्गत युद्धमान राज्य बन रहे जहाजो का अधिग्रहण भी कर सकता है। ग्रेट-ब्रिटेन ने टर्की की सरकार के आदेश पर अग्रेजी यार्ड मे बन रहे युद्धपोतों को जब्त कर लिया। इस समय तक टर्की एक तटस्थ राज्य था। सयुक्तराज्य अमेरिका मे भी 1917 मे नार्वे के कुछ अधूरे और बन रहे जहाजो को अधिग्रहीत कर लिया। नार्वे की सरकार ने इसका मुआवजा लेने से मना कर दिया। *यह मामला पच फैसले द्वारा सुलझाया गया और सयुक्तराज्य अमेरिका को* नार्वे सरकार के लिए 1,22,39000 डॉलर का भुगतान करना पडा।

6 जून, 1941 को अमेरिकी काग्रेस ने एक अधिनियम पारित किया जिसके द्वारा राष्ट्रपति को उचित मुआवजे के साथ उन विदेशी पोतों को खरीदने या अधिग्रहीत करने का अधिकार दिया गया जो बेकार पड़े हुए थे। इस अधिकार को अगरी के अधिकार मे शामिल नहीं किया गया क्योंकि यह युद्धमान राज्यो का होता है और अमेरिका उस समय तटस्थ राज्य था। सयुक्तराज्य अमेरिका का यह व्यवहार बाद मे दूसरे अमेरिकी गणराज्यो द्वारा दोहराया गया।

उक्त मामलो मे सबसे अधिक प्रकाशन उनका किया गया जिनमे तटस्थ जलपोतो का युद्धमान राज्यों द्वारा महासमुद्रो मे अधिग्रहण किया गया था। इस विषय के अधिकांश लेखक ओपेनहेम से इस मत से भिन्नता रखते हैं कि युद्धमान राज्यों का यह अधिकार अगरी कानून के अन्तर्गत है। महासमुद्रों मे अगरी के अधिकार का प्रयोग करने की व्यवस्था अनेक उदाहरणो द्वारा स्पष्ट हो जाती है। इनमे जामूरा का मामला विशेषत उल्लेखनीय है। प्रथम विश्व युद्ध के समय जामूरा नामक एक स्वीडन का जलपोत न्यूयॉर्क से रवाना होकर स्टॉकहोम जा रहा था। उसमे *तॉबा और इमारती लकडी तथा अन्न आदि सामान था।* 8 अप्रेल, 1915 को ब्रिटिश सरकार ने इस जहाज को रोका और इस पर रखे हुए समस्त माल को ले

लिया। कार्यों द्वारा इस व्यवहार की निन्दा किए जाने पर इसे प्रिवी-परिषद् के सम्मुख लाया गया। प्रिवी परिषद् ने पाया कि यह कार्य सुरक्षा सम्बन्धी उद्देश्य के लिए अत्यन्त आवश्यक था, इस बात के पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते हैं। इसलिए उसने इस अधिग्रहण की अनुमति नहीं दी। प्रिवी परिषद् की न्यायिक सम्मति के अनुसार ये शर्तें पूरी की जानी चाहिएँ—

(A) तटस्थ जलपोत या माल राज्य की रक्षा के लिए, युद्ध संचालन के लिए और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक हो।

(B) अधिग्रहण न्यायालय के सम्मुख एक वास्तविक प्रश्न पर न्यायिक कार्यवाही की जानी चाहिए ताकि उसे जहाज या माल छोड़ने की तत्काल आज्ञा न देनी पड़े।

(C) अगरी के अधिकार को विशेष परिस्थितियों में अधिग्रहण न्यायालय द्वारा न्यायिक रूप में तय किया जाना चाहिए।

मूलतः तटस्थ जहाजों को महासमुद्र में अधिग्रहीत करना सैनिक आवश्यकता की मौलिक मान्यता पर निर्भर करता है। असल में जब कभी इस अधिग्रहण को, अधिग्रहण न्यायालय द्वारा उचित बताया जाता है तो सैनिक आवश्यकता को तटस्थ राज्यों के अधिकारों से ऊपर रखकर ही ऐसा किया जाता है।

अतटस्थ सेवा (Un neutral Service)

अतटस्थ सेवा उसे कहते हैं जब तटस्थ राज्यों द्वारा युद्धमान पक्षों में से किसी एक को लाभ पहुँचाने की कार्यवाही की जाती है। नियमानुसार यह कार्य तटस्थ देशों को नहीं करने चाहिए। युद्धमान राज्य अपने शत्रु को लाभ पहुँचाने वाले ऐसे कार्यों के लिए तटस्थ राज्यों को दण्डित कर सकता है। उदाहरण के लिए यदि किसी तटस्थ राज्य का कोई व्यक्तिगत जहाज किसी युद्धमान पक्ष की सेनाओं के लिए परिवहन का कार्य करता है तो इसे दूसरे पक्ष देखते ही नष्ट कर सकता है और यह तटस्थता के नियमों का उल्लंघन माना जाएगा। इसी प्रकार जब एक तटस्थ राज्य जलपोत किसी युद्धकारी राज्य के लाभ के लिए सागर में सुरंगें बिछाता है तो दूसरा पक्ष उसे डुबो सकता है।

अतटस्थ सेवा के सम्बन्ध में 1909 की लन्दन की घोषणा में स्पष्ट विवेचन किया गया। इससे पूर्व यह तटस्थ जलपोतों द्वारा शत्रु सेनाओं के परिवहन से सम्बन्ध रखता था। विनिर्दिष्ट से सम्बन्धित नियम इस स्थिति की समुचित व्याख्या नहीं कर पाता। लन्दन घोषणा के अनुसार तटस्थ जलपोतों द्वारा किए गए दो प्रकार के कार्य अतटस्थ सेवा में शामिल किए गए—किसी युद्धकारी राज्य की सेनाओं का परिवहन और सैनिक सूचनाएँ प्रदान करना। इन दोनों कार्यों में सम्बन्ध में नियम बनाए गए।

सेना परिवहन सम्बन्धी नियम—युद्धमान पक्ष की सेनाओं के परिवहन के सम्बन्ध में लन्दन घोषणा ने चार प्रकार के नियम बनाए—(A) जब किसी तटस्थ जलपोत पर उसकी स्वाभाविक यात्राओं में किसी युद्धमान पक्ष के कुछ सशस्त्र सैनिक यात्रा करते हैं तथा जहाज के कप्तान एवं स्वामी को इसका ज्ञान रहता है तो यह

अतटस्थ सेवा मानी जाती है। (B) यदि कोई तटस्थ जहाज स्पष्ट रूप से शत्रु सेनाओं की ढुलाई के कार्यों में संलग्न है तो उसे शत्रु रूप माना जाएगा। वह अतटस्थ सेवा न होकर शत्रुतापूर्ण कार्य है। (C) यदि ऐसे जलपोत पर युद्धमान पक्ष की प्रजा-जन सवार है और अपनी यात्रा के दौरान वे रेडियो सन्देश भेजकर अथवा अन्य प्रकार से शत्रु को लाभ पहुँचा रहे हैं तो इस अतटस्थ सेवा कहा जाएगा। (D) जब तटस्थ जलपोत में युद्धमान राज्य के सैनिकों के परिवहन के लिए विशेष यात्रा का प्रबन्ध किया जाता है तो यह अतटस्थ कार्य कहलाता है। विशेष यात्रा के अन्तर्गत कोई पोत अपने स्वाभाविक मार्ग का परिवर्तन करता है। अथवा किसी विशेष बन्दरगाह तक जाता है।

सैनिक सूचना सम्बन्धी नियम—लन्दन सम्मेलन में किसी युद्धमान राज्य को सैनिक सूचना प्रदान करने के बारे में दो नियम प्रतिपादित किए गए—(1) पूर्ण और स्पष्ट रूप से शत्रु को सूचना देने वाला तटस्थ राज्य का जहाज शत्रु माना जाएगा। (2) यदि वह किसी उद्देश्य के लिए स्वाभाविक मार्ग को छोड़कर विशेष मार्ग अपनाता है तो यह अतटस्थ सेवा मानी जाएगी। यदि कोई जहाज स्वाभाविक मार्ग का अनुगमन करते हुए ऐसा करता है तो उसे अतटस्थ सेवा नहीं कहा जा सकता। तटस्थ जलपोत को तभी शत्रु माना जा सकता है जब वह—(A) लड़ाई के शत्रुतापूर्ण कार्य में भाग ले, (B) यह पोत शत्रु के किसी अभिकर्त्ता के नियन्त्रण में हो, (C) यह पूर्ण रूप से शत्रु की सरकार का कार्य साधता हो' एवं (D) पूर्ण रूप से शत्रु के सैनिकों के परिवहन और उन्हें सैनिक सूचना प्रदान करने का कार्य कर रहा हो।

लन्दन घोषणा की उपरोक्त व्यवस्थाएँ किसी राज्य द्वारा समर्थित नहीं की गई। प्रथम विश्व युद्ध छिड़ा तो अतटस्थ सेवा से सम्बन्धित इन नियमों को स्वीकार कर लिया गया। जुलाई, 1916 तक यह नियम सभी राज्यों द्वारा स्वीकार कर लिया गया। बाद में जर्मनी ने जब सभी देशों के जहाजों को डुबोने की नीति अपनाई तो मित्र राष्ट्रों ने इस घोषणा को अपनाए रखना उचित नहीं समझा।

अतटस्थ सेवा के प्रभाव और परिणाम
(Effects and Results of Un-neutral Service)

यदि कोई तटस्थ जलपोत महासमुद्र में या प्रादेशिक समुद्र में अतटस्थ सेवा सम्पन्न करता है तो उसे पकड़ लिया जाएगा। यहाँ तक कि डाक ले जाने वाले व्यापारिक जहाजों को भी राजसात् किया जा सकता है। शत्रु को सैनिक सूचना पहुँचाने वाले तटस्थ जहाज पकड़े जा सकते हैं। जहाजों के साथ-साथ उनके प्रतिनिधियों एवं नाविकों को भी पकड़ लिया जाता है, किन्तु जहाज के पकड़े बिना उसके प्रतिनिधियों को पकड़ना अवैध है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब अतटस्थ सेवा सम्पन्न करने वाले जहाजों को दूसरे पक्ष द्वारा पकड़ लिया गया। शत्रु को सूचना पहुँचाने और उसके सैनिकों का परिवहन करने के सम्बन्ध में जो विभिन्न विवाद उत्पन्न हुए उनके निर्णयों से स्थिति पर्याप्त स्पष्ट हो जाती है।

सूचना की दृष्टि से रैपिड (Rapid) नामक अमेरिकी जहाज का मामला उल्लेखनीय है। 1810 मे ग्रेट-ब्रिटेन और हॉलैण्ड की लड़ाई के समय न्यूयॉर्क से टॉनीजन जाते हुए इस जहाज को पकड़ लिया गया क्योंकि यह हॉलैण्ड के मन्त्री मण्डल के सदस्य को दी जाने वाली चिट्ठी को टॉनीजन के एक व्यापारी के नाम से युक्त लिफाफे मे छिपाकर ले जा रहा था। अमेरिका के अभिग्रहण न्यायालय ने इस जहाज को मुक्त कर दिया और इसे अतटस्थ सेवा नहीं माना गया क्योंकि यह तभी मानी जाती हैं जब जहाज वालो को उस सूचना का ज्ञान हो जो शत्रु के लिए भेजी जा रही है अथवा वह जहाज विशेष रूप से इसी कार्य के लिए किराए पर लिया गया हो। एटलांटा (Atlanta) नामक तटस्थ जहाज 1808 मे बटेविया से ब्रेमेन जा रहा था। रास्ते में एक फ्रांसीसी बन्दरगाह पर इसे फौज के मन्त्री के नाम कुछ पत्र सौंपे गए। इन पत्रों को जहाज के कप्तान को पूरा ध्यान था और उसने इनको छिपाने के लिए जानबूझ कर चाय के सन्दूक में छिपा दिया। रास्ते में ब्रिटिश सरकार ने इस जहाज को पकड़ लिया। अधिग्रहण न्यायालय ने अपने निर्णय में जहाज और माल दोनों को दण्डित किया क्योंकि यह स्पष्टतः शत्रुतापूर्ण कार्य था और इसके लिए जहाज को जब्त किया जाना भी उपयुक्त था।

सैनिक परिवहन से सम्बन्धित कुछ मामले भी न्यायालयों के सम्मुख आए। ओरोज़ेम्बो (Orozembo) नामक अमेरिकी जहाज 1807 मे डच सरकार की आज्ञानुसार हॉलैण्ड के तीन डच सैनिक अधिकारियों तथा नागरिक सेवा के दो अधिकारियों को बटेविया ले जा रहा था। यह समय हॉलैण्ड और ग्रेट-ब्रिटेन के बीच युद्ध का समय था। ग्रेट-ब्रिटेन ने जहाज पर अतटस्थता का आरोप लगाया और पकड़ लिया। इस मामले के निर्णय मे यह स्पष्ट हुआ कि सैनिकों की संख्या ऐसे अपराधों की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखती। कम व्यक्ति भी प्रभावशील होने के कारण साधारण बहुसंख्यकों से अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। इस मामले मे जहाज का कप्तान विषय से अनभिज्ञ था, फिर भी शत्रु को लाभ पहुँचाने वाले इस कार्य को रोकना युद्धमान राज्य का अधिकार माना गया। यदि कोई कार्य हानि पहुँचाने वाला है तो केवल विवशता के आधार पर किए जाने के कारण उसे माफ नहीं किया जा सकता।

24 परिवेष्टन तथा विनिषिद्ध; निरीक्षण और तलाशी का अधिकार; निरन्तर यात्रा का सिद्धान्त

(Blockade and Contraband; the Right of Visit and Search; Doctrine of Continuous Voyage)

परिवेष्टन प्रथवा नाकाबन्दी
(Blockade)

नाकाबन्दी द्वारा युद्ध के समय युद्धमान पक्ष अपनी ऋण नीति को सफल बनाने का प्रयास करता है। इसके अन्तर्गत शत्रु के समुद्र तट और बन्दरगाहों को इस प्रकार घेर लिया जाता है ताकि बाहरी दुनिया से उसके सभी सम्पर्क टूट जाएँ। ऐसा करने से शत्रु की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है, उसके आयात रुक जाते हैं, उसके निर्यातों में बाधा आती है, वह विश्व जनमत के सामने अपने आप को प्रस्तुत नहीं कर पाता। शत्रु राज्य को विदेशी सहायता प्राप्त नहीं हो पाती। उसके उद्योग धन्धे कच्चे माल की आवश्यकता में बन्दप्राय हो जाते हैं। खाद्य पदार्थों पर रोक लगाकर शत्रु राज्य के लोगों को इतना पीड़ित किया जाता है कि वे आत्मसमर्पण कर दें। तटस्थ राज्य को दोनों पक्षों के साथ व्यापार करने का अधिकार होता है किन्तु नाकाबन्दी या परिवेष्टन की नीति द्वारा यह अधिकार अत्यन्त सीमित बन जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशारदों ने विभिन्न प्रकार से परिवेष्टन की परिभाषा दी है। प्रो ओपेनहेम के मतानुसार, "नाकाबन्दी या परिवेष्टन रणपोतों (Men of War) द्वारा शत्रु के समूचे समुद्र तट अथवा उसके कुछ हिस्से के मार्ग को इस उद्देश्य से बन्द करना है ताकि किसी जलपोत या विमान का आगमन और गमन न हो सके।" इस परिभाषा में 'रणपोत' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया गया है। यदि किसी अन्य साधन अथवा तरीके से जलपोत या विमान का आना जाना बन्द कर दिया जाए तो यह नाकाबन्दी नहीं कहलाएगी। उदाहरण के लिए 1864 में

अमेरिकी गृह-युद्ध के समय चार्लस्टन के बन्दरगाह में पत्थरों से लदे हुए जहाज को डुबो कर रास्ता बन्द किया गया। अतः यह परिवेष्टन नहीं माना जा सकता।

प्रो स्टार्क ने परिवेष्टन का लक्षण बताते हुए बताया है कि परिवेष्टन के अन्तर्गत एक युद्धमान पक्ष द्वारा शत्रु के समुद्र तट के समूचे अथवा कुछ हिस्से का रास्ता सभी देशों के जलयानों और विमानों के प्रवेश या आगमन तथा निर्गमन के लिए रोक दिया जाता है। प्रो हॉल के मतानुसार, "नाकाबन्दी युद्धमान राज्य द्वारा युद्ध के समय शत्रु के क्षेत्राधिकार में स्थित किसी क्षेत्र अथवा स्थान में प्रवेश को रोकना है। यह युद्ध का एक कार्य है और युद्धमान के युद्धपोतों द्वारा किया जाता है। इसका उद्देश्य शत्रु के बन्दरगाह में दूसरे राज्यों के प्रवेश अथवा प्रस्थान को रोकना है।"

परिवेष्टन केवल घिराव नहीं होता। घिराव का उद्देश्य किसी भी किले अथवा घेरे हुए स्थान पर विजय प्राप्त करना होता है, किन्तु परिवेष्टन का मुख्य उद्देश्य शत्रु मार्ग से बाह्य जगत के साथ शत्रु के सम्पूर्ण व्यापार को काट देना है। प्राचीनकाल से ही इस नीति का प्रयोग शत्रु को हराने के लिए किया जाता रहा है। ग्रोशियस के ग्रन्थ में उल्लेख है कि डिमोट्रियस (Dematrius) ने एथेन्स को आत्मसमर्पण के लिए विवश बनाने के हेतु उसे भूखा मारने की योजना बनाई। इसे अनाज पहुँचाने वाले जहाज के चालक और स्वामी को फाँसी दे दी गई। इसी प्रकार दूसरे व्यक्तियों को एथेन्स में खाद्य सामग्री पहुँचाने से रोका गया। धीरे-धीरे परिवेष्टन से सम्बन्धित नियमों का विकास हुआ।

परिवेष्टन के लक्षण
(Characteristics of Blockade)

नाकाबन्दी अथवा परिवेष्टन की विभिन्न परिभाषाएँ उसके विभिन्न लक्षणों एवं विशेषताओं का उल्लेख करती हैं। प्रमुख लक्षण ये हैं—(1) नाकाबन्दी युद्धपोतों द्वारा की जानी चाहिए। बाद में यह अन्य साधनों द्वारा अधिक प्रबल की जा सकती है। युद्ध पोतों के अतिरिक्त साधनों द्वारा किए गए घेराव को परिवेष्टन नहीं कहा जा सकता। (2) परिवेष्टन का लक्ष्य केवल शत्रु का समुद्र तट अथवा बन्दरगाह होते हैं। वायु मार्ग या स्थल मार्ग से परिवेष्टन नहीं किया जाता। (3) नाकाबन्दी द्वारा प्रवेश और निर्गमन दोनों को रोक दिया जाता है। बाहर से कोई भी सहायता या सहयोग परिवेष्टित राज्य को प्राप्त नहीं हो पाता और न ही वह औद्योगिक उत्पादन वहाँ से विदेशों को ले जा पाते हैं। (4) परिवेष्टन की नीति में भेदभाव नहीं किया जा सकता। यह प्रत्येक देश के जहाजों और वायुयानों के साथ समान रूप से लगाई जाती है। (5) नाकाबन्दी एक युद्ध जैसी क्रियाशीलता है।

प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ में यह स्वीकार किया गया कि परिवेष्टन अतीतकाल की भाँति केवल बन्दरगाहों की किलेबन्दी तक ही सीमित नहीं रहेगा। यह शत्रु राज्य के सभी बन्दरगाहों और समुद्र तटों तक फैल जाएगा। कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय नदियों को भी परिवेष्टन में शामिल कर लिया जाता है। 1854 में

रूस के शत्रुओं ने डैन्यूब (Danube) के मुहानों का भी परिवेष्टन कर दिया यद्यपि तटस्थ राज्यों ने इसका भारी विरोध किया था।

परिवेष्टन की प्रभावशीलता
(Effectiveness of Blockade)

परिवेष्टन का प्रथम एवं मौलिक नियम यह है कि इसको वास्तविक परिवेष्टन होना चाहिए। युद्धमान राज्य के लिए केवल यही पर्याप्त नहीं है कि वह परिवेष्टित राज्य के चारों ओर एक रेखा खींच दे और तटस्थ राज्यों के जलपोतों को इससे बाहर रहने के लिए कहे। युद्धमान राज्य को पर्याप्त प्रभावशील परिवेष्टन की स्थापना करनी चाहिए और इसके लिए उन राज्यों के हेतु वास्तविक खतरे की व्यवस्था करनी चाहिए जो इसका उल्लंघन करने का प्रयास करें। परिवेष्टन एक कानूनी कार्य नहीं है और सामयिक रूप से अधिग्रहण करना उचित नहीं रहेगी। 1780 की सशस्त्र तटस्थता के साथ रूस द्वारा की गई घोषणा में यह कहा गया था कि एक परिवेष्टित बन्दरगाह की स्थिति क्या होती है। इस बन्दरगाह में गम्भीर खतरा उठाए बिना कोई जहाज प्रवेश करने का प्रयास नहीं कर सकता। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में संयुक्तराज्य अमेरिका ने उन कागजी परिवेष्टनों की वैधानिकता का विरोध किया जो ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा क्रमशः एक दूसरे के विरुद्ध घोषित किए गए थे। 1806 में फ्रांस के विरुद्ध ब्रिटेन ने और अगले वर्ष फ्रांस ने ग्रेट-ब्रिटेन के विरुद्ध यह घोषणा की। 1807 में दोनों राज्यों ने एक दूसरे का प्रतिकार करने के लिए अधिक कठोर परिवेष्टन की घोषणा की। संयुक्तराज्य अमेरिका ने दोनों युद्धमान पक्षों के साथ अपने संघर्ष को कम करने के लिए विदेशी बन्दरगाहों से होने वाले अमेरिकी वाणिज्य पर एम्बार्गो (Embargo) लगा दिया। बाद में उसने दोनों युद्धमान पक्षों और उनके आश्रितों के साथ व्यापारिक आदान-प्रदान पर रोक लगा दी। अन्त में 1812 में वह ग्रेट-ब्रिटेन के साथ युद्ध में उलझ गया।

पेरिस की घोषणा
(Declaration of Paris, 1856)

परिवेष्टन का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन पेरिस और लन्दन की घोषणाओं में किया गया। इसे प्रथम और द्वितीय विश्व युद्धों में वर्तमान रूप मिला। प्रारम्भ में परिवेष्टन को शत्रु के बन्दरगाहों और समुद्र तट तक ही सीमित रखा जाता था। इसमें तटस्थ देशों के बन्दरगाहों या समुद्र तट में प्रवेश पर रोक नहीं लगाई जाती थी। आजकल यह व्यापक, सार्वदेशिक, सामरिक एवं व्यापारिक बन गया है। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व हॉल जैसे विधिशास्त्रियों ने व्यापारिक परिवेष्टन को अवैध माना था; किन्तु आजकल ऐसा नहीं माना जाता। पेरिस की घोषणा के चौथे अनुच्छेद में कहा गया कि परिवेष्टन बाध्यकारी होने के लिए प्रभावशाली होना चाहिए अर्थात् इसे लागू करने के लिए इतनी शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए जो शत्रु के समुद्र तट में पहुँच को रोकने के लिए पर्याप्त हो। यह पर्याप्त शक्ति क्या और कितनी होनी चाहिए इसकी व्याख्या को भविष्य के विचार के लिए छोड़ दिया गया। लॉर्ड

वोकबर्न ने एक विवाद मे निर्णय देते हुए यह मत प्रकट किया कि "कानून की दृष्टि से नाकाबन्दी तभी प्रभावपूर्ण मानी जाएगी जब शत्रु के जहाजो की सख्या और स्थिति ऐसी हो कि नाकाबन्दी को तोड़कर भाग निकलना सकटपूर्ण बन जाए।" यदि कुछ जहाज निकलने मे समर्थ हो जाएँ तो भी कोई विशेष बात नहीं है। परिवेष्टनकर्त्ता और परिवेष्टित किए जाने वाले स्थानो के बीच की दूरी विशेष महत्त्व नही रखती। पर्याप्त लम्बी दूरी का परिवेष्टन भी वैध माना जाता है। पेरिस की घोषणा मे केवल इस बात को महत्त्वपूर्ण माना गया था कि पूर्ण नाकाबन्दी तभी मानी जाएगी जब उसके बीच मे होकर निकलने मे वास्तव मे भारी सकट का सामना करना पड़े।

पेरिस की घोषणा मे निश्चय ही सामान्य सिद्धान्त स्थापित किए जा चुके थे, किन्तु पाँच वर्षों मे अमेरिकी गृह युद्ध ने यह प्रदर्शित कर दिया कि यह सिद्धान्त समस्या के व्यावहारिक समाधान से बहुत दूर है। ब्रिटिश वणिक-पोत जो नाकाबन्दी का नियोजन कर रहे थे उन्होंने ब्रिटेन के तटस्थ बन्दरगाहो को परिवेष्टित बन्दरगाहो तक पहुँचने के मार्ग का एक विश्राम स्थान बनाया। प्रश्न यह उठा कि लन्दन या लिवरपूल से तटस्थ बन्दरगाह को जाते हुए उन्हें पकड़ना क्या कानूनी था। मि ह्वीटन के कथनानुसार, "नाकाबन्दी तटस्थ राज्य के अधिकारों का उल्लघन करती है। इसलिए उसका प्रभाव परिस्थितियों की आवश्यकताओ से अधिक नहीं बढ़ाना चाहिए।"

लन्दन की घोषणा (Declaration of London, 1909)

लन्दन की घोषणा मे पेरिस की घोषणा मे अभिव्यक्त इस विचार को स्वीकार किया गया कि नाकाबन्दी बाध्यकारी होने के लिए प्रभावपूर्ण होनी चाहिए। लन्दन की घोषणा मे इस सम्बन्ध मे अनेक स्पष्ट और विशद् नियम बनाए गए। इन्हें सक्षेप मे निम्न प्रकार से वर्णित किया जा सकता है—

1 परिवेष्टन प्रभावशाली होना चाहिए।

2 परिवेष्टन की घोषणा युद्धमान राज्य अथवा उसकी ओर से कार्य करने वाले नौ सेनापति द्वारा की जानी चाहिए। अन्य व्यक्ति द्वारा की गई घोषणा अवैध मानी जाएगी। घोषणा के अन्तर्गत परिवेष्टन प्रारम्भ होने का समय और भौगोलिक सीमाओं की सूचना दी जाती है। इसका उद्देश्य तटस्थ राज्यों को चेतावनी देना है ताकि वे परिवेष्टित प्रदेश मे प्रवेश न करें और यदि करें तो पर्याप्त सोच विचार कर एव अपने दायित्व तथा खतरे को समझते हुए करें।

3 शत्रु के बन्दरगाहो एवं समुद्र तट से आगे के प्रदेश मे परिवेष्टन नहीं होना चाहिए। यह केवल शत्रु द्वारा अधिकृत बन्दरगाहो तथा समुद्र तटों से ही सम्बद्ध होना चाहिए। तटस्थ बन्दरगाहो और तटस्थ समुद्र तटों मे प्रवेश पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए।

4. धारा 17 के अनुसार तटस्थ जहाजों को केवल रणपोतों की कार्यवाही के क्षेत्र मे ही पकड़ा जा सकता है।

5 धारा 15 के अनुसार अधिकृत रूप से नाकाबन्दी की सूचना देने और स्थानीय अधिकारियों द्वारा उसका पर्याप्त प्रकाशन हो जाने के बाद यदि किसी जहाज ने तटस्थ बन्दरगाह को छोड़ा है तो यह मान लिया जाता है कि जहाज इस घोषणा से अनभिज्ञ नहीं था फलत: उसे पकड़ लिया जाता है।

6. धारा 19 के अनुसार यदि कोई जहाज अथवा उसमें लदा हुआ माल इस समय किसी ऐसे क्षेत्र में जा रहा है जहाँ परिवेष्टन नहीं है तो उसे नहीं पकड़ा जा सकता। भावी उद्देश्य की आशंका मात्र को जहाज के पकड़ने का आधार नहीं बनाया जा सकता।

7 धारा 31 के अनुसार परिवेष्टन बन्द करने वाले के लिए दण्ड की व्यवस्था की गई है। यदि किसी जहाज को नाकाबन्दी का नियम भग करने का दोषी पाया जाता है तो उसे दण्डित किया जाएगा। ऐसे जहाज पर लदा हुआ माल भी दण्ड का भागी होगा। यदि जहाज के स्वामी को परिवेष्टन का ज्ञान न हो और उसे भग करने का उसका स्पष्ट इरादा न हो तो उसे मुक्त किया जा सकता है।

स्पष्ट है कि लन्दन घोषणा ने परिवेष्टन के स्वरूप को स्पष्ट करने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया।

परिवेष्टन के रूप
(Forms of Blockade)

परिवेष्टन के अनेक रूप होते हैं, उदाहरण के लिए प्रभावशील परिवेष्टन, तथ्यशील परिवेष्टन, विज्ञप्ति द्वारा परिवेष्टन, कागजी परिवेष्टन, व्यापारिक परिवेष्टन, साधारण तथा सार्वजनिक परिवेष्टन आदि। इन विभिन्न रूपों का संक्षिप्त मे निम्न प्रकार अध्ययन किया जा सकता है—

1 कागजी परिवेष्टन (Paper Blockade)—यह परिवेष्टन का वह रूप है जिसमे घोषणा करने वाली शक्ति इसे छाप देती है, किन्तु प्रभावशाली तरीके से क्रियान्वित करने की योग्यता नहीं रखती। जिसके पास इतने रणपोत नहीं होते कि शत्रु के बन्दरगाहों मे जहाजों के आने जाने पर रोक लगाई जा सके। इसलिए यह केवल कागज पर लिखी गई एक घोषणा मात्र रह जाता है। प्रो लॉरेन्स के अनुसार यह परिवेष्टन नहीं है वरन् अनाधिकृत रूप से तटस्थ जलपोतों को हानि पहुँचाने का अवैध प्रयास है।

2 प्रभावशाली परिवेष्टन (Effective Blockade)—जब परिवेष्टनकर्त्ता अपने रणपोतो की सहायता से शत्रु के बन्दरगाहों मे दूसरे राज्यों के जहाजों का आना-जाना पूर्ण रूप मे रोक देता है तो यह प्रभावशील परिवेष्टन कहलाता है।

3. सामरिक परिवेष्टन (Strategic Blockade)—सामरिक परिवेष्टन शत्रु के समुद्र तट के विरुद्ध किए जाने वाले सैनिक कार्यों का अग होता है। इसका उद्देश्य तटवर्ती शत्रु सेनाओ से प्राप्त होने वाली सहायता पर रोक लगाना है। इस प्रकार बाहर से आने वाले सभी हथियार और रण सामग्री रुक जाती है तथा परिवेष्टन कर्त्ता राज्य अपनी रण-नीति को सफल बनाने का सार्थक प्रयास कर

सकता है। सामरिक परिवेष्टन द्वारा शत्रु सेनाओं को प्राप्त होने वाली समस्त सहायता रोक दी जाती है।

4 व्यापारिक परिवेष्टन (Commercial Blockade)—इसमें शत्रु के समुद्र तट और दूसरे राज्यों के मध्य स्थित व्यापारिक सम्पर्क को तोड दिया जाता है किन्तु तट पर कोई सैनिक कार्यवाही नही की जाती। पहले इस प्रकार के परिवेष्टन को अवैध माना जाता था, किन्तु आजकल ऐसा नही किया जाता।

5 आगम तथा निर्गम परिवेष्टन (Inwards and Outwards Blockade)–प्रो. ओपेनहेम ने परिवेष्टन को इन दो भागो मे वर्गीकृत किया है। जब किसी बन्दरगाह अथवा समुद्र तट पर प्रवेश मे रोक लगाई जाती है तो यह आगम परिवेष्टन होता है और जब वहाँ से निकलने पर प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं तो यह निर्गम परिवेष्टन कहलाता है।

वास्तविक तथा बाध्यकारी परिवेष्टन के मूल तत्त्व (Essentials of a Real and Binding Blockade)

परिवेष्टन को वास्तविक और प्रभावशाली बनाने के लिए निम्नलिखित शर्तों का पूरा किया जाना परम आवश्यक है—

1. उचित स्थापन (Proper Establishment)—परिवेष्टन को तभी वैध माना जा सकता है जब यह युद्ध स्थित सरकार के किसी अधिकारी या नौ सेना के सेनापति द्वारा घोषित किया जाय। यदि उपयुक्त अधिकारी द्वारा इसकी घोषणा नहीं की जाती तो इसे उचित नहीं कहा जा सकता।

2. प्रभावशीलता (Effectiveness)— परिवेष्टन प्रभावशाली होना चाहिए अन्यथा यह केवल काल्पनिक तथा कागजी बन कर रह जाएगा। पेरिस और लन्दन की घोषणा मे परिवेष्टन की प्रभावशीलता को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण माना गया था इसे लागू करने के लिए इतनी सैनिक शक्ति का प्रयोग करना चाहिए कि इन्हें तोड़ने वाले के लिए पूरा खतरा पैदा हो जाए। फिलिमोर के कथनानुसार, "वास्तविक या तथ्यानुसार परिवेष्टन में अनेक जहाजों की पंक्ति बनाई जाती है। ये जहाज परिवेष्टित बन्दरगाह के मुहाने पर एक तोरण या मेहराब-सी बनाए रहते हैं। यदि यह किसी स्थान पर भग होती है तो समस्त परिवेष्टन भग हो जाता है।" इस सम्बन्ध मे डॉ लशिंग्टन ने एक विवाद 1855 मे यह मत प्रकट किया था कि परिवेष्टन के प्रभावशाली होने के लिए पर्याप्त शक्ति होनी चाहिए ताकि इस क्षेत्र मे आगम और निर्गम सकटपूर्ण बन जाएँ और इसे भग करने वाले जहाज को पकड़ना सम्भव हो।

परिवेष्टन मे कम से कम एक रणपोत प्रवश्य होता है आजकल वायुयानो से भी सहायता ली जाने लगी है। इसके सीमावर्ती तट पर गोले बरसाने वाले तोपखाने भी लगाए जाते हैं ताकि भंग करने वाले जहाज का प्रतिकार किया जा सके। परिवेष्टन तभी तक रहता है जब तक इसके उल्लघन में खतरा रहे। खतरे

समाप्त होते ही परिवेष्टन भी समाप्त हो जाता है। कोई परिवेष्टन प्रभावशाली है अथवा नहीं है यह प्रश्न तथ्यों से-सम्बन्ध रखता है।

3 निरन्तरता (Continuity)—परिवेष्टन ऐसा होना चाहिए जिसे निरन्तर बनाए रखा जा सके और इसमे किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आए। यदि परिवेष्टन को प्रभावशाली बनाने वाला बेडा वापस लौट जाता है तो यह परिवेष्टन की समाप्ति मानी जाती है। यदि यह परिवर्तन केवल अस्थाई समय के लिए होता है तो यह परिवेष्टन की समाप्ति का कारण नहीं बनता।

4 अधिसूचना (Notification)—लन्दन घोषणा मे बताया गया था कि परिवेष्टन स्थापित करते समय इसकी पर्याप्त सूचना दी जानी चाहिए। यह परिवेष्टन कर्त्ता अधिकारी द्वारा दी जाती है जो परिवेष्टित तट या बन्दरगाह के अधिकारियों वहाँ रहने वाले वाणिज्य दूतो और तटस्थ समुद्री राज्यों को इसे भेजता है। फ्रास और इटली के व्यवहार के अनुसार परिवेष्टित स्थान के निकट आने वाले पोतो को इसकी पुन सूचना दी जाती है। संयुक्तराज्य अमेरिका जापान, और ग्रेट-ब्रिटेन इसे आवश्यक नहीं मानते। सूचना न दिए जाने पर भी परिवेष्टन का वास्तविक ज्ञान रखने वाला पोत यदि परिवेष्टन को भग करता है तो उसे पकडा जा सकता है। सूचना के अन्तर्गत परिवेष्टन प्रारम्भ होने की तिथि, समुद्र तट की भौगोलिक सीमाएँ, तटस्थ जहाजो के निकलने का समय आदि बातें रहती हैं।

5. निष्पक्षता (Impartiality)—परिवेष्टन करते समय सभी राज्यो के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए। यदि ऐसा न करके कुछ युद्धमान राज्यों को छूट दी गई और दूसरे तटस्थ राज्यो को इससे वंचित किया गया तो पक्षपात पूर्ण होने के कारण परिवेष्टन अवैध बन जाएगा।

6 अन्य शर्तें (Other Condition)—परिवेष्टन के लिए कुछ अन्य शर्तें भी मानी गई हैं। उदाहरण के लिए, इसमें तटस्थ देशों के तटों और बन्दरगाहों का रास्ता बन्द नहीं किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त परिवेष्टन का क्षेत्र इतना हो जो इसे बनाए रखने वाले रणपोतों के कार्यक्षेत्र से अधिक विस्तृत न हो।

परिवेष्टन की समाप्ति (Cessation of Blockade)

युद्ध-समाप्त होने पर परिवेष्टन करने वाली शक्ति इसे वापस ले लेती है, अथवा जब यह प्रभावशाली नहीं रहता तो अपने आप समाप्त हो जाता है। परिवेष्टन की समाप्ति के विभिन्न कारण निम्नलिखित हैं—

(1) युद्ध की समाप्ति।
(2) परिवेष्टन कर्त्ता सरकार द्वारा उसे हटा देना।
(3) परिवेष्टन का प्रभाव समाप्त हो जाना।
(4) परिवेष्टन कर्त्ता शक्ति को शत्रु द्वारा पराजित करके हटा देना।
(5) परिवेष्टित स्थान अथवा बन्दरगाह को विजयी युद्धमान द्वारा अपने अधिकार में ले लेना।

परिवेष्टन का उल्लंघन (Breach of Blockade)

परिवेष्टन का उल्लंघन करने के लिए जब तक कोई कार्यवाही न की जाए तब तक वह दण्डनीय नहीं माना जाता। जब कोई जहाज परिवेष्टित बन्दरगाह में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है तो उसे परिवेष्टन भंग करने का अपराधी मान लिया जाता है और जहाज के साथ साथ उस पर लदे हुए माल की भी दुर्गति की जाती है। ऐसे जहाज में लदे हुए माल को अपराधी मानने का आधार यह है कि माल लादने वाले को परिवेष्टन के अस्तित्व का ज्ञान था और इसीलिए वह परिवेष्टन के उल्लंघन का गुप्त रूप से अपराधी है। लन्दन घोषणा में स्पष्टतः उल्लेखित था कि परिवेष्टन भंग करने वाले जहाज को दण्डित किया जाएगा। इस जहाज पर लदा हुआ माल परिवेष्टन भंग करने के अपराध से केवल तभी मुक्त माना जा सकता है जब यह सिद्ध हो जाए कि माल लादने समय व्यापारी को परिवेष्टन का ज्ञान नहीं था।

बेटसी (Betsey) विवाद के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए विलियम स्कॉट ने बताया कि परिवेष्टन भंग करने के लिए यह सिद्ध किया जाना चाहिए कि—(1) परिवेष्टन वास्तविक और प्रभावशाली था। (2) इसे भंग करने वाले पक्ष को परिवेष्टन की जानकारी थी। (3) परिवेष्टन को लागू होने के बाद जहाज निषिद्ध क्षेत्र में आया है।

प्रो ओपनहेम ने माना है कि परिवेष्टन होते हुए भी बिना आज्ञा किसी जहाज का आगमन अथवा निर्गमन परिवेष्टन का अतिक्रमण है। यदि इसके दण्ड से बचने का प्रयास किया गया तो यह भी एक अपराध माना जाएगा।

परिवेष्टन भंग के सम्बन्ध में विभिन्न देशों का व्यवहार एक जैसा नहीं रहा है। ग्रेट-ब्रिटेन और अमेरिका की परम्परा के अनुसार परिवेष्टन भंग के परिणाम-स्वरूप इस तथ्य की जानकारी करनी चाहिए कि जहाज के कर्मचारियों को परिवेष्टन स्थापित होने की जानकारी थी। परिवेष्टन की सूचना की प्रक्रिया भी विभिन्न देशों द्वारा अलग-अलग अपनाई जाती है। इटली और फ्रांस में राजनैतिक और स्थानीय दोनों तरीकों से सूचना दी जाती है। जब कोई जहाज परिवेष्टित प्रदेश में प्रवेश करने को तत्पर होता है तो परिवेष्टन-कर्ता रणपोत द्वारा उसे रोक कर चेतावनी देनी चाहिए तथा इसे अपनी दैनिक नो–पंजिका (Log-book) में अंकित करना चाहिए। ऐसा न होने पर किसी जहाज को अपराधी नहीं माना जाता। संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान और ग्रेट-ब्रिटेन की परम्परा इससे भिन्न है। वहाँ केवल राजनैतिक सूचना देना ही पर्याप्त माना जाता है और स्थानीय सूचना अथवा रणपोत द्वारा दी गई चेतावनी आवश्यक नहीं मानी जाती। जब परिवेष्टन लोकप्रिय बन जाता है तो स्थानीय सूचना की आवश्यकता नहीं रह जाती।

परिवेष्टन भंग का दण्ड
(Penalty of Breach of Blockade)

परिवेष्टन भंग करने का विचार मात्र ही राज्य को अपराधी नहीं बनाता बरन् इस अपराध का प्रमाणित होना परम आवश्यक है। यह स्पष्ट रूप से ज्ञात

होना चाहिए कि परिवेष्टन भग करने का प्रयास किया गया था। लन्दन घोषणा की धारा 21 के अनुसार परिवेष्टन भग करने वाले जहाज को दण्डनीय माना गया है। ऐसे जहाज पर लदा हुआ माल भी जब्त कर लिया जाता है। परिवेष्टन का उल्लघन करने वाला जहाज अधिग्रहण न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। *जहाज के नाविकों को बन्दी बनाना आवश्यक नहीं है। जब जहाज और उस पर* लदे हुए माल का स्वामी एक होता है तो यह माल भी जब्त कर लिया जाता है। माल का स्वामी भिन्न होने पर उसे केवल तभी जब्त किया जाता है जबकि उसके स्वामियों को माल लादते समय नाकाबन्दी का ज्ञान रहा हो।

कुछ महत्वपूर्ण वाद विवाद
(Some Important Cases)

परिवेष्टन और उसके उल्लघन से सम्बन्धित कुछ मामलों को देखकर उसकी प्रकृति को अधिक अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। प्रमुख वाद-विवाद निम्नलिखित हैं—

(1) फ्रांसिस नाम का एक डेनिश पोत था। जब यह रीगा जा रहा था तो इसे एक ब्रिटिश क्रूजर ने पकड लिया। इस समय रूस के विरुद्ध किए गए क्रीमिया युद्ध में ग्रेट ब्रिटेन ने रीगा नामक बन्दरगाह का परिवेष्टन कर दिया। पोत के मालिकों का कहना था कि नाकाबन्दी तोडना उनका लक्ष्य नहीं था। इस विवाद मे परिवेष्टित स्थान की अनभिज्ञता का तर्क अनुपयुक्त माना गया क्योंकि जहाज के कप्तान को परिवेष्टन की सूचना उसी समय हो गई जबकि जहाज पिछले बन्दरगाह से आगे बढ़ा।

(2) फ्रेडरिक मोलके (Fredrick Molke) का विवाद भी विशेष उल्लेखनीय है। यह एक डेनिश जहाज था। इसे एक ब्रिटिश पोत द्वारा उस समय बन्दी बना लिया गया जब यह हैवर नामक बन्दरगाह से गुजर रहा था। इस बन्दरगाह का परिवेष्टन ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा किया गया था। डेनमार्क का पोत तटस्थ था और उसका वास्तविक गन्तव्य हैवर था, किन्तु प्रगट रूप में उसे कोपेनहेगेन के रूप मे बुक किया गया था। लॉर्ड स्टोवेल द्वारा उस पोत एवं बेड़े की निन्दा की गई, क्योंकि पोत को परिवेष्टन के अस्तित्व की जानकारी दे दी गई थी।

(3) *बेटसी का मामला इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।* सर विलियम काट के मतानुसार नाकाबन्दी के प्रश्न पर तीन बातें प्रमाणित होनी चाहिए। यह स्पष्टतः इसी विवाद मे सामने आई।

(4) जमोरा (Zamora) के विवाद मे लॉर्ड पार्कर ने अपना यह निर्णय दिया कि परिवेष्टन की घोषणा करने वाला आदेश परिवेष्टित बन्दरगाहों में प्रवेश करने वाले पोतों को पकडने को न्यायोचित घोषित करेगा।

(5) ल्यूनारा (Leunara) के विवाद में एक रूस पोत को ब्रिटिश क्रूजर द्वारा पकड़ लिया गया। इस विवाद के समय यह स्पष्ट हो गया कि परिषद् के आदेश (Order in Council) द्वारा पोत को पकड़ लाने की परम्परा तटस्थ बन्दरगाहों की नाकाबन्दी के लिए उपयुक्त नहीं रहती और इस आदेश के अन्तर्गत तटस्थ राज्यों पर सामान लाने ले जाने के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता।

विश्व युद्ध म पारवष्टन
(The Blockade in World Wars)

प्रथम विश्व युद्ध से पहले किए जाने वाले परिवेष्टनो में शत्रु के बन्दरगाहों और समुद्र तट के समीप जंगी जहाजों का घेरा डालकर उन्हें घेर लिया जाता था। इस परम्परा को समीप का परिवेष्टन कहा जाता था, किन्तु प्रथम महायुद्ध मे मित्र राष्ट्रो ने जर्मन बन्दरगाहों से एक हजार मील की दूरी तक के लिए समुद्र मे परिवेष्टन किया क्योंकि जर्मनी ने समुद्रो में बड़े पैमाने पर सुरंगें बिछा रखी थी और वह पनडुब्बियों द्वारा भीषण विध्वंस कर रहा था। जर्मनी ने उसके समुद्रतटो एव बन्दरगाहो की रक्षा का प्रबन्ध सुरंगो और पनडुब्बियो की सहायता से इतना प्रभावशाली रूप से किया कि अब 19वीं शताब्दी का पुराना परिवेष्टन लागू नहीं किया जा सका। ऐसा करने पर भीषण क्षति की सम्भावना थी। जर्मनी द्वारा समुद्री जहाजो का उग्र रूप से विध्वंस किया जा रहा था। 1915 में जर्मनी ने ब्रिटिश द्वीप समूह के चारों ओर स्थित समुद्र को युद्ध क्षेत्र घोषित कर दिया। उसने कहा कि इस क्षेत्र मे पाए जाने वाले शत्रु के समस्त पोतों को नष्ट कर दिया जाएगा और तटस्थ जहाज भी संकट में पड सकते हैं। ग्रेट-ब्रिटेन न प्रतिकार के रूप में यह घोषणा की कि वह अपने मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर प्रयास करेगा कि जर्मनी को *किसी वस्तु का आयात-निर्यात न हो सके।* 11 मार्च, 1915 के परिषद् के आदेश मे स्पष्टत. इस कार्यवाही को प्रतिशोधात्मक माना गया।

कुछ दिन बाद ग्रेट-ब्रिटेन के विदेशी मन्त्री ने अमेरिकी राजदूत के समक्ष अपनी नई नीति का समर्थन किया। उनके मतानुसार "ब्रिटिश बेड़े द्वारा एक ऐसे परिवेष्टन की स्थापना की गई है जिसमे जर्मनी से आने-जाने वाले समुद्री मार्ग का नियन्त्रण लड़ाकू जहाजों के घेरे द्वारा प्रभावशाली तरीके से हो रहा है।" संयुक्तराज्य अमेरिका जैसे तटस्थ राज्यो ने लम्बी दूरी के इस परिवेष्टन को गलत माना।

यह स्पष्ट है कि परिवेष्टन सम्बन्धी पुराने नियम आधुनिक परिस्थितियों में उपयोगी नहीं रहे। इतने पर भी ब्रिटिश उपायों को अपनाने मे तीन प्रमुख बाधाओ का उल्लेख किया—

(A) इस व्यवस्था में घेरा डालने वाले जंगी जहाज शत्रु के प्रदेश से पर्याप्त दूरी पर होते हैं। तटस्थ राज्यों के पोतो को अपने बन्दरगाहों तक पहुँचने के लिए इस घेरे मे होकर आवश्यक रूप से गुजरना पड़ता था। ग्रेट-ब्रिटेन क्योंकि एक युद्धमान राज्य था इसलिए उसे तटस्थ बन्दरगाहो के परिवेष्टन का कोई अधिकार नहीं दिया गया।

26 जुलाई, 1915 तथा 24 अप्रेल, 1916 को ब्रिटिश सरकार ने परिवेष्टन के सम्बन्ध मे अपने विशेष नोट निकाले।

परिवेष्टन के सम्बन्ध मे ग्रेट-ब्रिटेन ने यह मत प्रकट किया कि इसे प्रभावशाली बनाने के लिए इसको तटस्थ बन्दरगाहों में से होकर गुजरने वाले व्यापार पर लागू किया गया तो यह सामान्य रूप से माने जाने वाले सिद्धान्तों के अनुकूल

होगा। मित्र राष्ट्रों ने सच्चे तटस्थ व्यापार और जर्मनी के साथ किए जाने वाले व्यापार में भेद पैदा करने का प्रयास किया। तटस्थ राज्यों द्वारा इस परिवेष्टन के भंग होने पर उन्हें कम दण्ड दिया जाता था।

मित्र राष्ट्रों ने परिवेष्टन को लागू रखते हुए अपने व्यापार को सुरक्षित करने हेतु विभिन्न उपाय अपनाए। विदेशों के साथ जर्मनी का व्यापार अनेक छिपे हुए रूपों में होता था। इन रूपों की खोज तथा रोकथाम के लिए अलग विभाग बनाए गए। जर्मनी के निकटवर्ती देशों द्वारा निर्यात की जाने वाली विभिन्न वस्तुओं पर उनके उत्पादनों का प्रमाण-पत्र आवश्यक माना गया। इसके बिना निर्यात किए जाने वाले माल को जब्त कर लिया जाता था। तटस्थ देशों में आयात करने वाले व्यापारियों के संगठनों की रचना की गई ताकि इनके माध्यम से जर्मनी को पहुँचने वाला माल को रोका जा सके। स्विट्जरलैण्ड,नार्वे,स्वीडन और डेनमार्क आदि स्थानों पर ऐसे संगठन बनाए गए। ऐसी व्यवस्था की गई कि सन्देहजनक माल को इंगलैण्ड के बन्दरगाहों पर भेज दिया जाए। वहाँ उसे उस समय तक रखा जाए जब तक युद्ध समाप्त न हो। किसी भी देश को यह माल तभी सौंपा जाए जब यह आश्वासन मिल जाए कि इसे शत्रु के पास पहुँचने से रोका जाएगा। दूसरी जहाजी कम्पनियाँ उत्तरी यूरोप को जाने वाले माल को अपने जहाजों में तभी ला सकती थीं जब वे मित्र राष्ट्रों के अधिकारियों द्वारा दिए गए परिवेष्टन में होकर गुजरने का प्रमाण-पत्र रखती हों। इस प्रकार शत्रु तक माल न पहुँचने की स्थिति में अनेक व्यवस्थाएँ की गईं। तटस्थ राज्यों की व्यापारिक संस्थाएँ बाहर से केवल उतना- ही माल मँगा सकती थीं जो उनके देश की वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

अप्रैल, 1917 में संयुक्त राज्य अमेरिका भी युद्ध में शामिल हो गया। उक्त सभी व्यवस्थाओं का पालन कठोरता के साथ किया जाने लगा। उत्तरी यूरोप के तटस्थ राज्यों से साथ होने वाला निर्यात व्यापार मर्यादित कर दिया गया। इसके लिए उपयुक्त गारण्टियाँ और वचन दिया जाना आवश्यक माना गया। फलत: जर्मनी और उसके साथी देशों में पूर्ण रूप से परिवेष्टन हो गया।

ग्रेट-ब्रिटेन ने जर्मनी पर जो परिवेष्टन लागू किया वह अत्यन्त दूरी से किया गया था। जर्मनी के बन्दरगाहों से यह लगभग 1000 मील से भी अधिक दूरी पर था। इसके कारण नागरिक जनता को कष्ट उठाना पड़ा। जर्मनी ने परिवेष्टन को अवैध घोषित किया। इंगलैण्ड की कार्यवाही का औचित्य यह था कि उसने जर्मनी के व्यवहार का प्रतिकार किया था। लॉर्ड समर के कथनानुसार एक युद्धमान राज्य को दूसरे युद्धमान राज्य की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय कानून भंग किए जाने पर प्रतिकार करने का अधिकार है।

द्वितीय महायुद्ध में परिवेष्टन की उक्त व्यवस्थाओं को दुबारा अपनाना आवश्यक नहीं रहा। 27नवम्बर,1939 को ग्रेट-ब्रिटेन ने एक सपरिषद् आदेश द्वारा जर्मनी से आने-जाने वाले जहाज को रोक कर बेच देने की व्यवस्था की। 1940-42 में ऐसे ही दूसरे आदेश निकाले गए। तटस्थ राज्य होने के नाते अमेरिका आदि ने

इसका विरोध किया किन्तु बाद मे जब ये देश युद्ध में शामिल हो गए तो जर्मनी के परिवेष्टन में पूरा सहयोग देने लगे।

परिवेष्टन की पुरानी विधि आधुनिक परिस्थितियों में लागू नहीं की जा सकती। वर्तमानकाल मे पनडुब्बियो और दूसरे वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण परिवेष्टित किनारो पर की जाने वाली कार्यवाहियाँ दिखाई नहीं दे सकती। नौ-सेना द्वारा किया गया परिवेष्टन हवाई हमले का शिकार बन सकता था। वर्तमान परिस्थितियों में वास्तविक परिवेष्टन व्यावहारिक नहीं बन सकता। प्रो. हिगिन्स और कोलम्बस के मतानुसार वास्तविक परिवेष्टन आजकल एक अव्यावहारिकता बन चुका है। उन्हीं के स्पष्ट शब्दो में "परिवेष्टन, जो पुराने नियमो के अनुसार किया जाता है। रणकौशल की दृष्टि से उसका बहुत कम मूल्य है। आधुनिक नौ-सैनिक युद्ध की परिस्थितियो मे लम्बी दूरी के परिवेष्टन उचित बन गए हैं।" स्पष्ट है कि पुराने नियमों का कठोरता से पालन करते हुए यदि परिवेष्टन किया गया तो आजकल वह किसी भी उपयोग का नहीं रहेगा। आज की परिस्थितियो म दूरवर्ती परिवेष्टन ही उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

बदली हुई परिस्थितियों और दशाओ के होते हुए परिवेष्टन के भविष्य के प्रति उत्सुकता जाग्रत हो जाती है। द्वितीय विश्व युद्ध मे ग्रेट-ब्रिटेन और उसके साथियों द्वारा परिवेष्टन के लिए जो उपाय अपनाए गए थे वे इस कार्य के लिए सामान्य रूप से स्वीकार किए जाने वाले कानून की आवश्यकताओं से भिन्न थे। आजकल के युद्ध केवल सैनिक न रहकर आर्थिक तथा दूसरे प्रकार के बन चुके हैं। सचार साधनो के विकास और नौ-सेना मे होने वाले अनेक परिवर्तनो के कारण अनेक नियम लागू नहीं हो पाते। यदि इनको बदला नहीं गया तो इनके पालन की अपेक्षा इनका उल्लघन अधिक सम्भव बन जाएगा।

आजकल परिवेष्टन का प्रयोग एक आर्थिक हथियार के रूप मे किया जाने लगा है। ये हथियार किसी रूप मे सैनिक हथियारो से कम नहीं होते। तटस्थ राज्य यह माँग करते हैं कि उन्हें दोनो युद्धमान पक्षों के साथ व्यापार करने का निर्बाध अधिकार होना चाहिए। दूसरी ओर उन्हें समुद्री मार्ग से युद्ध मे काम आने वाली किसी वस्तु को शत्रु तक पहुँचने से रोकने का अधिकार है। 20वीं शताब्दी मे युद्ध का रूप अत्यन्त व्यापक बन चुका है। युद्ध के काम आने वाली वस्तुएँ इतनी बन चुकी हैं कि इनके कारण तटस्थ राज्यों का व्यापार सीमित हो गया है। भविष्य मे *इस क्षेत्र के अधिक सीमित होने की सम्भावनाएँ हैं।*

विनिषिद्ध
(Contraband)

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)

युद्ध के समय दोनो पक्ष यह प्रयास करते हैं कि उनके शत्रु को युद्ध सचालन मे सहायता देने वाली युद्ध सामग्री उनको तटस्थ राज्यो से प्राप्त न हो। इसके लिए तटस्थ राज्य और शत्रु राज्य के व्यापार से सम्बन्धित अनेक नियम तथा कानून

बनाए जाते हैं। इनके द्वारा कुछ वस्तुएँ शत्रु को पहुँचाना रोक दिया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसे स्वीकृति प्रदान करके शत्रु के साथ इन वस्तुओं के प्रयोग को वर्जित कर देता है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे इन वस्तुओ के व्यापार पर रोक लगा दी जाती है और इसलिए वह सक्षेप मे विनिषिद्ध का नियम कहलाता है। सरल शब्दो मे विनिषिद्ध के नियम का अर्थ युद्ध मे दोनो पक्षों को ऐसी सामग्री न पहुँचने देना है जो शत्रु की युद्ध क्षमता को बढा दे। ऐसी सामग्री ले जाने वाले जहाजो और उनके माल को छीनकर जब्त किया जाता है।

ग्रोशियस के मतानुसार सैनिक प्रकृति के माल को शत्रु राज्य की ओर जाते हुए जब्त करने का युद्धमान राज्य का अधिकार है। इसे ग्रोशियस ने परिवेष्टन का केवल अन्य पहलू बताया है। परिवेष्टन और विनिषिद्ध दोनों शत्रु को पृथक् रखने के साधन हैं। विनिषिद्ध वस्तुओ को पकडना परिवेष्टन के क्षेत्र को व्यापक बनाना है। परिवेष्टन का सम्बन्ध एक या दो बन्दरगाहों से रहता है किन्तु विनिषिद्ध वस्तुओं का क्षेत्र इनकी अपेक्षा अधिक व्यापक और इसका सम्बन्ध दूसरे बन्दरगाहो से हो जाता है।

ओपेनहेम के कथनानुसार "युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री उस माल को कहते हैं जिसे दोनो युद्धमान पक्ष शत्रु को इसलिए नहीं पहुँचाना चाहते क्योंकि इसके पहुँचने मे शत्रु के युद्ध सचालन की क्षमता बढ जाती है।" स्टार्क के मतानुसार "विनिषिद्ध वस्तुएँ वे होती हैं जिनका परिवहन युद्धमान पक्षो द्वारा आपत्तिजनक माना जाता है क्योकि इनसे शत्रु युद्ध सचालन मे सहायता ले सकता है।"

मान्यता का विकास (Development of the Concept)

विनिषिद्ध वस्तुओ से सम्बन्धित विचार का विकास धीरे धीरे हुआ है। 13वी शताब्दी मे कुछ राज्यो ने अपनी घोषणाओ द्वारा शत्रु के साथ समस्त व्यापार को बन्द करने का प्रयास किया। 16वीं और 17वीं शताब्दी मे तटस्थ देशो ने इस प्रवृत्ति का प्रबल विरोध किया और व्यापार की स्वतन्त्रता बनाए रखने पर जोर दिया। धीरे-धीरे तटस्थ राज्यो के अधिकारो का विकास हुआ और इसलिए युद्धमान राज्यो को शत्रु के साथ इन राज्यो के व्यापार को अधिक स्वतन्त्रता देनी पडी। यह परिवर्तन दो प्रकार से हुआ—(1) शत्रु के सम्पूर्ण क्षेत्र से व्यापार निषेध को हटा कर कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण बन्दरगाहों तक सीमित कर दिया। केवल इन्हीं का परिवेष्टन किया जाने लगा। (2) सभी प्रकार की वस्तुओं के व्यापार को वर्जित करने की अपेक्षा कुछ वस्तुओ को ही व्यापार के लिए वर्जित किया गया और उसे शत्रु को भेजना अवैध माना गया।

प्रो केलसन के कथनानुसार "युद्ध मे विनिषिद्ध वस्तुएँ वे होती हैं जिनका परिवहन सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार युद्धमान राज्यों द्वारा निषिद्ध माना जाता है।" जैकसन के कथनानुसार "विनिषिद्ध वह सम्पत्ति है जो शत्रु के क्षेत्र को जा रही है और उसे युद्ध मे सहायता दे सकती है।"

विनिषिद्ध वस्तु का आधार यह है कि युद्धमान राज्य तटस्थ राज्य की उस

सम्पत्ति को अपराधी प्रमाणित कर सकता है जिसका प्रयोग शत्रु के सैनिक उपयोग के लिए किया जा रहा हो।

वस्तुओं का वर्गीकरण (Classification of Commodities)

ग्रोशियस ने विनिषिद्ध वस्तुओं को वर्गीकृत करने का प्रयास किया है, किन्तु यह प्रश्न लन्दन घोषणा तक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद का प्रश्न बना रहा कि किन वस्तुओं को शत्रु के लिए सैनिक दृष्टि से उपयोगी माना जाय और युद्धमान राज्य द्वारा उन पर नियन्त्रण लगाया जाय। हथियार एवं रण सामग्री निश्चय ही ऐसी वस्तुएँ होती हैं। ग्रोशियस का विश्वास था कि ऐसी वस्तुएँ शत्रु को भेजने वाला तटस्थ राज्य भी शत्रु का पक्षपाती बन जाता है। दूसरी ओर ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनका युद्ध में कोई उपयोग नहीं होता, इसलिए युद्धमान राज्य इनकी कोई शिकायत नहीं करता। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो युद्ध और शान्ति दोनों समय समान रूप से उपयोगी सिद्ध होती हैं। उदाहरण के लिए जहाज, मुद्रा आदि वस्तुएँ। इस प्रकार की वस्तुओं को युद्ध की परिस्थितियों के अनुसार युद्धमान राज्यों द्वारा पकड़ा जा सकता है। इस प्रकार ग्रोशियस ने व्यापार की विभिन्न वस्तुओं को तीन वर्गों में विभक्त किया—(1) वे वस्तुएँ जो केवल युद्ध के लिए उपयोगी हैं। (2) वे वस्तुएँ जो युद्ध की दृष्टि से निरर्थक हैं और विलास सामग्री कही जा सकती हैं। (3) वे वस्तुएँ जो युद्ध और शान्ति दोनों समय समान रूप से उपयोगी होती हैं। प्रथम वर्ग की वस्तुओं का व्यापार हमेशा विनिषिद्ध रहता है। दूसरे वर्ग की वस्तुओं का व्यापार कभी विनिषिद्ध नहीं रहता है और तीसरे वर्ग की वस्तुओं का व्यापार परिस्थितियों को देखकर निषिद्ध या विहित होता है।

16वीं और 17वीं शताब्दी में विभिन्न देशों द्वारा विनिषिद्ध वस्तुओं के निर्धारण के लिए अनेक सन्धियाँ की गई। इन सन्धियों में गिनाए गए निषिद्ध और विहित पदार्थों की सूची में व्यापक अन्तर रहा। युद्धकाल में विभिन्न राज्य परिस्थितियों के अनुसार इन वस्तुओं के वर्गीकरण में भेद करते रहे हैं। 1780 और 1800 में की गई सशस्त्र तटस्थताओं में विनिषिद्ध पदार्थों की संख्या सीमित करने का प्रयास किया गया था। 1856 की पेरिस की घोषणा में विनिषिद्ध शब्द का प्रयोग किया गया था किन्तु इसकी व्याख्या नहीं की गई।

ग्रोशियस द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण ब्रिटिश और अमेरिकी विनिषिद्ध के सिद्धान्त का आधार बन गया। वस्तुओं की एक लम्बी और व्यापक सूची बनाई गई जिसको ऐसी वस्तुओं के रूप में वर्गीकृत किया गया जो सभी परिस्थितियों में पूर्ण रूप से विनिषिद्ध थीं और वे वस्तुएँ जो सशर्त रूप से उनके प्रयोग के आधार पर विनिषिद्ध थीं। इस प्रकार ब्रिटिश मत विनिषिद्ध वस्तुओं की एक लम्बी सूची बनाने के पक्ष में है। इसके विपरीत फ्रांस का मत है कि सशर्त विनिषिद्ध हो ही नहीं सकता। फ्रांस तथा उसके अनुयायियों ने बहुत कम वस्तुओं को विनिषिद्ध माना है। कोई भी वस्तु या तो विनिषिद्ध हो सकती है अथवा विहित हो सकती है, इसके बीच का मार्ग सम्भव नहीं है।

लन्दन घोषणा में वर्गीकरण
(Classification in London Declaration)

1909 की लन्दन घोषणा द्वारा उक्त दोनों परस्पर विरोधी मतों के बीच सामजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया। लन्दन घोषणा मे विनिषिद्ध पदार्थों को विस्तार के साथ गिनाया गया । इसमे विभिन्न वस्तुओं को निम्नलिखित तीन वर्गों मे विभाजित किया गया—

1 पूर्णत विनिषिद्ध (Absolute Contraband)

इस सूची मे वे वस्तुएँ रखी गई जिन्हें विशेषतः युद्ध के लिए काम में लिया जाता है । उदाहरण के लिए प्रत्येक प्रकार के शस्त्र, उनका उत्पादन करने वाले यन्त्र, प्रक्षेप, बारूद एव अन्य विस्फोटक पदार्थ, तोपों से फेंकी जाने वाली वस्तुएँ, कारतूस तोप चढाने के यन्त्र, उनको खींचने वाली गाडियाँ, सैनिको के कपडे, उनके साज, कवच, सैनिक सवारी और सामान की ढुलाई करने वाल पशु, जहाजों की रक्षा के लिए धातु चादरें, रणपोत, नावें, रणपोतो के कलपुर्जे, इनकी मरम्मत करने वाले यन्त्र आदि । ये सभी वस्तुएँ शत्रु को सैनिक दृष्टि से लाभ प्रदान करती हैं। इन सभी वस्तुओं को पूर्ण रूप से विनिषिद्ध माना गया। राज्यों को यह अधिकार है कि वे ऐसी वस्तुओं की विज्ञप्ति प्रकाशित करके इस सूची को और बढा सकते हैं ।

2. सापेक्ष या सशर्त विनिषिद्ध
(Conditional Contraband)

इन सूची में वे वस्तुएँ आती हैं जिनको युद्ध और शान्ति दोनो प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है । उदाहरण के लिए खाद्य पदार्थ, अनाज, कपड़ा, सोना, चाँदी, नावें, रेलवे का सामान, जलाने की लकडी आदि । इस प्रकार की वस्तुओं को यदि युद्धमान राज्य के सैनिक उपयोग के लिए ले जाया जा रहा है अथवा ये वस्तुएँ शत्रु देश को जाने वाले जहाज में लदी हुई हैं और तटस्थ राज्य मे इनको उतारा जाता है तो युद्धमान राज्य द्वारा उन्हें अधिग्रहित किया जा सकता है। ऐसी वस्तुओं की प्रकृति अवस्था के अनुसार बदलती रहती है ।

3 अनिषिद्ध अथवा स्वतन्त्र सूची
(Non-contraband or Free List)

इस सूची मे ऐसी वस्तुओं को रखा गया जो युद्ध के उपयोग मे न आने के कारण कभी विनिषिद्ध घोषित नही की जा सकती । जैसे कच्ची रुई, ऊन, रेशम, रबड, कच्चा चमडा, चीनी मिट्टी के बर्तन, घडियाँ, शृंगार का सामान, कार्यालय की वस्तुएँ आदि आदि ।

लन्दन घोषणा का राज्यो द्वारा समर्थन नहीं किया गया । प्रथम विश्वयुद्ध के व्यवहार ने यह स्पष्ट कर दिया कि विनिषिद्ध पदार्थों का निर्णय करना सरल नही है । जब तटस्थ राज्य लडाई मे शामिल हो जाते हैं और युद्धमान राज्य की स्थिति ग्रहण कर लेते हैं तो उनके स्वार्थ पूर्णत बदल जाते हैं । तटस्थ राज्य के रूप

में वे जिन पदार्थों को विनिषिद्ध नहीं मानते थे उन्हीं को अब वर्जित समझने लगते हैं। आजकल समग्र युद्ध के विचार ने विनिषिद्ध वस्तुओं के स्वरूप में गम्भीर परिवर्तन कर दिए हैं। फलस्वरूप लन्दन घोषणा द्वारा किया गया वर्गीकरण निरर्थक बन गया है।

निरपेक्ष और सापेक्ष विनिषिद्ध वस्तुओं का अन्तर 16वीं तथा 17वीं शताब्दी में किया जाता था। इस समय सेनाओं का आकार छोटा था और लड़ाई में युद्धमान राज्य की जनसंख्या का छोटा अंश भाग लेता था। प्रथम विश्वयुद्ध ने इस स्थिति को बदल दिया क्योंकि अनिवार्य सैनिक भर्ती के कारण प्रत्येक बालिग पुरुष को सेना में योगदान करना पड़ता है। देश के समस्त साधन युद्ध को सफल बनाने के लिए संचालित किए जाते हैं। सरकार किसी भी वस्तु को युद्ध की आवश्यकता के आधार पर अपने नियन्त्रण में ले सकती है। अनेक वस्तुएँ जो पहले सापेक्ष या सशर्त विनिषिद्ध की सूची में आती थी अब उन्हें पूर्ण विनिषिद्ध में गिना जाता है।

13 अप्रैल, 1916 को ब्रिटिश सरकार ने पूर्ण और सापेक्ष विनिषिद्ध का अन्तर इसलिए समाप्त कर दिया क्योंकि शत्रु राज्य की इतनी जनसंख्या युद्ध कार्य में भाग ले रही थी कि वहाँ सैनिक और असैनिक जनता के बीच कोई अन्तर नहीं रहा। सितम्बर, 1965 के भारत-पाक संघर्ष में पाकिस्तान ने चाय और जूट जैसे पदार्थों को भी विनिषिद्ध वस्तुओं में शामिल करके इसकी सूची को बढ़ा दिया। पाकिस्तान ने कलकत्ता से विदेशों को आने जाने वाली चाय विनिषिद्ध घोषित कर दी और इसे जब्त करके बेचने की आज्ञा दी। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से उसका यह निर्णय अवैध था क्योंकि विदेशों को जाने वाली चाय विनिषिद्ध वस्तु नहीं मानी जा सकती। पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके लड़ाई प्रारम्भ नहीं की थी इसलिए भारतीय माल को शत्रु की सम्पत्ति नहीं कह सकता था और न उसे पकड़ने का अधिकार रखता था।

विनिषिद्ध का अधिकार—विनिषिद्ध वस्तु कोई तब मानी जाती है जब उसे युद्धकारी पक्ष के युद्ध में उपयोग करने की दृष्टि से भेजा जा रहा हो। यदि विनिषिद्ध वस्तुओं की सूची में आने वाले पदार्थ जैसे गोला बारूद आदि तटस्थ राज्य के लिए भेजे जा रहे हैं तो इनको विनिषिद्ध नहीं माना जा सकता। वस्तु का गन्तव्य स्थान अथवा लक्ष्य यह तय करेगा कि उसे विनिषिद्ध माना जाए अथवा नहीं। यदि वस्तु को शत्रु देश के किसी व्यक्ति अथवा बन्दरगाह के लिए भेजा जा रहा है तो इसे शत्रुतापूर्ण गन्तव्य की ओर उन्मुख माना जाएगा। यदि कोई वस्तु तटस्थ राज्य के किसी व्यापारी के लिए इस उद्देश्य से भेजी जाती है कि वह उसे युद्धमान शत्रु को पहुँचा दे तो अन्तिम लक्ष्य की दृष्टि से यह वस्तु विनिषिद्ध कही जाएगी। कभी-कभी विनिषिद्ध सूची की वस्तुएँ शत्रु देश के बन्दरगाहों को पार करती हुई तटस्थ राज्य तक पहुँचती हैं। यहाँ यह मान लिया जाता है कि वस्तु को शत्रु राज्य हड़प सकता है अतः उसे विनिषिद्ध माना जाता है।

विनिषिद्ध सम्बन्धी अपराध
(Guilt of Contraband)

विनिषिद्ध सम्बन्धी अपराध के तीन आवश्यक तत्त्व बताए जाते हैं। पहला तत्त्व वस्तुओं का परिवहन है। यदि तटस्थ देश के व्यापारी शत्रु देश के प्रतिनिधियों को हथियार अथवा गोला-बारूद बेचते हैं तो वे अपने अधिकार के अन्तर्गत ऐसा कर सकते हैं किन्तु जब इस सामग्री का परिवहन किया जाता है तो विरोधी राज्य उसे पकड़ सकता है। दूसरा आवश्यक तत्त्व शत्रुतापूर्ण गन्तव्य स्थान को माना गया है। यदि विनिषिद्ध की सूची में आने वाली वस्तुएँ किसी मित्र राज्य को भेजी जाती हैं तो उन्हें विनिषिद्ध नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत वे शत्रु देश के लिए भेजी जा रही हैं तो उन्हें विनिषिद्ध समझकर पकड़ लिया जाएगा। तीसरा तत्त्व यह है कि युद्धमान पक्ष के लिए विनिषिद्ध सामग्री जहाज पर लाद कर प्रादेशिक समुद्र से बाहर निकाल दी जाती है। विनिषिद्ध वस्तुओं को तभी पकड़ा जाना चाहिए जब शत्रु के बन्दरगाह की ओर जा रही हैं। 1909 की लन्दन की घोषणा के अनुसार जो वस्तुएँ केवल अस्वस्थ और घायलों के उपयोग तथा यात्रा के समय जहाज, उसके चालक गण अथवा यात्रियों के उपयोग के लिए हों तो उनका अधिग्रहण नहीं किया जा सकता। ऐसी वस्तुएँ विनिषिद्ध नहीं मानी जातीं।

विनिषिद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में दण्ड-व्यवस्था की गई है। 1909 की लन्दन घोषणा के अनुसार न केवल ऐसी वस्तुओं को वरन् इसे ले जाने वाले जहाज को भी जब्त किया जा सकता है। इस प्रकार पकड़े गए माल और जहाज को विचार के हेतु अधिग्रहण न्यायालय के सामने प्रस्तुत किया जाता है। यह न्यायालय माल को विनिषिद्ध बताए तो उसे जब्त कर लिया जाता है। यदि जहाज को निर्दोष बताया जाए तो उसे अभियोग चलाने, संरक्षण प्राप्त करने आदि कार्यों में होने वाले व्यय का भुगतान करना है। ऐसी स्थिति में विनिषिद्ध माल के स्वामी को निर्दोष माल की दृष्टि से भी दोषी बनाया जाता है। यदि जहाज में लदे हुए माल में से आधी से कम विनिषिद्ध वस्तुएँ हों तो वह अपराधी नहीं होता और विनिषिद्ध वस्तुओं को जब्त करके उसे छोड़ दिया जाता है। विलियम स्टॉक के मतानुसार, "राष्ट्रों के कानून के वर्तमान नियम के अनुसार जहाजों को विनिषिद्ध वस्तुओं का परिवहन करने के लिए दण्डित नहीं किया जा सकता।" इस नियम के बाद भी कोई जहाज का मालिक स्वयं विनिषिद्ध वस्तुएँ ले जाए और झूठे कागजों के साथ झूठे गन्तव्य स्थान पर जाए तो ऐसे जहाज को जब्त किया जा सकता है।

यदि जहाज और उसमें स्थित माल का अधिग्रहण कर लिया जाए तो तीन स्थितियों में उसे मुआवजा देना पड़ेगा—(1) यदि जहाज से समुद्र में ही मुठभेड़ हो और उसका स्वामी युद्ध छिड़ने तथा वस्तुओं के विनिषिद्ध घोषित होने से पूर्णतः अनभिज्ञ हो। (2) यदि जहाज के मालिक को यह ज्ञान तो प्रारम्भ में हो गया है, किन्तु उसे विनिषिद्ध वस्तुओं के उतारने का अवसर प्राप्त न हुआ हो।

(3) यदि भत्यन्त भावश्यक दबाव में भाकर चिकित्सा सम्बन्धी सामग्री को अधिग्रहित कर लिया जाए।

लन्दन की घोषणा विभिन्न राज्यों द्वारा स्वीकृत न होने के कारण मान्य नहीं हो सकी। ग्रेट-ब्रिटेन ने दोनों विश्वयुद्धों के बीच विनिषिद्ध वस्तुओं की सूची में पर्याप्त वृद्धि की। दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ने पर लन्दन घोषणा के प्रावधान पूर्ण रूप से महत्वहीन बन गए। इस सम्बन्ध में पुराने नियमों की उपेक्षा की गई। सितम्बर, 1939 में ग्रेट-ब्रिटेन ने विनिषिद्ध पदार्थों की एक नई, किन्तु लम्बी सूची प्रस्तुत की।

अलवाकी के विवाद में न्यायालय ने बताया कि युद्ध के लाभ की सामग्री के बारे में स्वयं दावेदार को बताना चाहिए कि वह किन तर्कों के आधार पर अपने दावे को सिद्ध करना चाहता है। इन वस्तुओं के बारे में जब तक कोई दावा प्रस्तुत नहीं किया जाता है तब तक उन्हें अधिग्रहित करने का पूरा अधिकार सम्बन्धित राज्य को रहता है

विनिषिद्ध और परिवेष्टन एक तुलना
(Blockade and Contraband : A Comparison)

इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है और इनके अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म हैं। विनिषिद्ध के अन्तर्गत दो बातें मुख्य हैं—माल की प्रकृति और उसका गन्तव्य स्थान। केवल उसी माल को पकड़ा जा सकता है जो विनिषिद्ध प्रकृति का हो और जो शत्रु के गन्तव्य की ओर जा रहा हो। दूसरी ओर परिवेष्टन में शत्रु के समस्त आवागमन को समुद्र तटों और बन्दरगाहों पर रोक दिया जाता है ताकि उसका समुद्री यातायात पूर्ण रूप से बन्द हो जाए। परिवेष्टित राज्य का व्यापारिक सम्पर्क दूसरे देशों के साथ पूर्ण रूप से टूट जाता है। इसका दूसरा उद्देश्य न केवल शत्रु देश में आने वाली वस्तु का वरन् वहाँ से निर्यात होने वाली वस्तुओं पर रोक लगाना है। विनिषिद्ध का उद्देश्य युद्ध में सहायक और शत्रु राज्य को भेजी जारही वस्तुओं को पकड़ना और छीन लेना है। विनिषिद्ध और परिवेष्टन के बीच प्रमुख अन्तर निम्न प्रकार हैं—

1. विनिषिद्ध में केवल उन जहाजों को पकड़ा जाता है जो विनिषिद्ध सूची में उल्लेखित विषयों का परिवहन करते हैं किन्तु परिवेष्टन में सभी व्यापारिक जहाजों को पकड़ा जा सकता है। वे चाहे विनिषिद्ध वस्तुओं का परिवहन करें या न करें।

2 दोनों के स्वरूप में अन्तर है। परिवेष्टन के अन्तर्गत शत्रु के समुद्र तट और बन्दरगाहों के समस्त मार्ग बन्द कर दिए जाते हैं ताकि दूसरे देशों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहे। विनिषिद्ध में शत्रु को युद्ध में सहायता पहुँचाने वाला माल पकड़ लिया जाता है।

3. परिवेष्टन की प्रादेशिक सीमा होती है। इसके अन्तर्गत शत्रु के किसी

विशेष बन्दरगाह या समुद्र तट का घेराव कर लिया जाता है और भौगोलिक दृष्टि से उसे संकुचित बना दिया जाता है। दूसरी ओर विनिषिद्ध में भौगोलिक सीमा नहीं होती। यह पदार्थों या वस्तुओं की दृष्टि से सीमित होता है। युद्ध-सामग्री की वस्तुएँ शत्रु तक पहुँचाने पर रोक लगाई जाती है। परिवेष्टन में प्रत्येक प्रकार की वस्तु शत्रु तक पहुँचने से रोकी जाती है।

दो महायुद्धों के समय परिवेष्टन और विनिषिद्ध का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक बन गया और इसलिए दोनों के बीच का अन्तर निरर्थक हो गया। आजकल प्रायः सभी वस्तुएँ युद्ध के लिए उपयोगी बन गई। समग्र युद्ध के कारण युद्ध की परिस्थितियाँ बदली हैं। अनेक वस्तुएँ जो पहले युद्ध के काम नहीं आती थी वे अब युद्धोपयोगी बन गई हैं तथा उनका कृत्रिम निर्माण होने लगा है। विनिषिद्ध की सूची व्यापक हो जाने के कारण वह अब परिवेष्टन का कार्य करने लगी है। इस सम्बन्ध में प्रो स्मिथ का यह विचार उपयुक्त है कि 'विनिषिद्ध का कानून परिवेष्टन का प्रयोजन पूरा करने लगा है।" पहले परिवेष्टन की भौगोलिक सीमाएँ अत्यन्त सकीर्ण होती थी आजकल वे समाप्त हो चुकी हैं। विश्वयुद्धों के व्यवहार ने यह स्पष्ट कर दिया कि शत्रु के लिए उपयोगी सभी व्यापारिक वस्तुओं को दूसरे पक्ष द्वारा नष्ट किया जा सकता है चाहे इनका परिवहन तटस्थ देश के झंडा वाले देश द्वारा किया जा रहा हो और यह माल किसी देश में होकर गुजर रहा हो। इस प्रकार परिवेष्टन का क्षेत्र समुद्रों का सम्पूर्ण प्रदेश हो गया है और परिवेष्टन का कानून विनिषिद्ध में शामिल हो गया है। दूसरी ओर विनिषिद्ध का कानून लागू न करते हुए सभी जहाजों को पकडा जाने लगा है। इस प्रकार आजकल दोनों का अन्तर बनाए रखना सम्भव नहीं रहा है।

प्रो फैनविक के मतानुसार परिवेष्टन के कानून की भाँति विनिषिद्ध के कानून का अधिकांश भाग प्रथम महायुद्ध में समाप्त हो गया। संयुक्तराज्य अमेरिका को प्रथम विश्वयुद्ध में अपनी तटस्थता और तटस्थ राज्यों के अधिकारों का कटु अनुभव प्राप्त हुआ क्योंकि इनके परिणामस्वरूप इनको युद्ध में शामिल होना पड़ा था। अतः उसने द्वितीय विश्वयुद्ध में इस पर इतना बल नहीं दिया।

निरन्तर यात्रा का सिद्धान्त -
(Doctrine of Continuous Voyage)

तटस्थ राज्यों के जहाज विनिषिद्ध वस्तुओं का परिवहन करते हुए भी पकड़े न जाने के लिए छलपूर्ण नीति अपनाते हैं। वे अपनी यात्रा दो भागों में विभाजित कर देते हैं—ऊपरी दिखावे के लिए वे अपना गन्तव्य स्थान शत्रु का निकटवर्ती कोई तटस्थ बन्दरगाह बनाते हैं। उनके कागजातों में भी इसी का उल्लेख रहता है। आवश्यक होने पर इसके लिए वे तटकर भी देते हैं और बन्दरगाह पर अपना माल उतार लेते हैं। उसके बाद जहाज पर माल को पुनः लादकर अपने सही गन्तव्य शत्रु के बन्दरगाह की ओर चल देते हैं। परिवेष्टन तोड़ने के लिए भी इसी प्रकार का तरीका अपनाया जाता है। परिवेष्टित समुद्र तट के किसी बन्दरगाह तक माल

पहुँचा दिया जाता है और वहाँ से उसे छोटी नौकाओं या जहाज द्वारा शत्रु राज्य तक पहुँचाया जाता है। अमेरिकी गृहयुद्ध के समय दक्षिणी अमेरिकी राज्यों को इसी प्रकार माल पहुँचाया गया था। इसके लिए यह माल लन्दन, लिवरपूल आदि ब्रिटिश बन्दरगाहों से चलकर दक्षिणी अमेरिका के निकटवर्ती वैस्ट-इंडीज आदि बन्दरगाहों मे पहुँचा दिया जाता था और यहाँ से पुन जहाजों तथा दूसरी नौकाओं द्वारा उसे दक्षिणी राज्यों तक पहुँचाया जाता था।

निरन्तरता के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए पिटकावेट ने लिखा है कि "इसमें वह साहसिक कार्य निहित है जिसमे माल प्रारम्भ मे किसी तटस्थ बन्दरगाह की ओर तथा वहाँ से आगे किसी शत्रु प्रदेश को ले जाया जाता है। यह कुछ दृष्टियों से केवल एक ही परिवहन रहता है।"

तटस्थ राज्यों द्वारा अपनाए गए इन तरीकों को रोकने के लिए निरन्तर समुद्री यात्रा के सिद्धान्त का विकास हुआ है। प्रो स्टार्क ने इसका लक्षण बताते हुए इसे "एक ऐसा साहसिक कार्य माना है जिसमे माल का परिवहन पहले तो एक तटस्थ बन्दरगाह तक और फिर वहाँ से किसी दूरवर्ती गन्तव्य स्थान तक किया जाता है। यह सिद्धान्त इन दोनो यात्राओं को शत्रु के गन्तव्य स्थान तक एक ही परिवहन मानता है और उसे वे सब परिणाम भोगने पड़ते हैं जो तटस्थ बन्दरगाह के बीच में न होने पर भोगने पड़ते।" दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब एक जहाज तटस्थ बन्दरगाह की ओर जा रहा होता है तो यह सोचा जाता है कि सम्भवतः यह जहाज शत्रु देश को ही जा रहा होगा। यदि इस पर विनिषिद्ध वस्तुएँ लदी हुई हैं तो जहाज और माल को वैसे ही पकड़ लिया जाता है जिस प्रकार शत्रु को विनिषिद्ध वस्तुएँ पहुँचाने वाले जहाज को पकड़ा जाता है।

जब तटस्थ बन्दरगाह मे रुकने के बाद वही जहाज शत्रु को विनिषिद्ध सामग्री पहुँचाता है तो उस यात्रा को अविच्छिन्न यात्रा कहते हैं। यदि वह माल तटस्थ बन्दरगाह पर उतार कर दूसरी नौकाओं या जहाजों द्वारा शत्रु राज्य को पहुँचाया जाए तो इसे अविच्छिन्न परिवहन का सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त का जन्म 18वीं शताब्दी के अन्त में होने वाले आंग्ल-फ्रांसीसी युद्धों से हुआ है। ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालयों ने अनेक मामलों में औपनिवेशिक बन्दरगाह में तटस्थ बन्दरगाह तक और वहाँ से शत्रु के बन्दरगाह तक एक ही अविच्छिन्न यात्रा मानी है और ऐसे जहाजों पर लदे हुए माल को जब्त करने की आज्ञा प्रदान की है। लॉर्ड स्टोवेल ने मेरीया नामक जहाज के मामले में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके कथनानुसार, यदि कोई जहाज किसी बन्दरगाह पर कुछ समय के लिए रुकता है और उस देश के सामान्य माल में अपने माल के आयात द्वारा किसी प्रकार की वृद्धि नहीं करता तो इससे उनकी समुद्री यात्रा मे कोई अन्तर नहीं आएगा। उस जहाज को प्रत्येक दृष्टि से अन्तिम बन्दरगाह तक की अविच्छिन्न यात्रा करने वाला समझा जाना चाहिए।

सिद्धान्त की उपयोगिता (Utility of the Theory)—प्रो हाइड के कथनानुसार, निरन्तर यात्रा का सिद्धान्त अधिग्रहण न्यायालय के हाथों में तटस्थ व्यापारियों द्वारा युद्ध के निषेधों को बचाने के लिए प्रयत्नों को विफल करने का एक साधन है। यात्राओं में निरन्तरता रहने के कारण परिवेष्टन अवतटस्थ सेवा विनिषिद्ध और शत्रुओं से व्यापार आदि की दृष्टि से उपयोगी रहती है। निरन्तर यात्रा का परीक्षण प्रायः तब होता है जब यह माना जाय कि अधिग्रहण करने वाली शक्ति का कोई प्रजा-जन शत्रु से व्यापार कर रहा है अथवा कोई तटस्थ राज्य विनिषिद्ध वस्तुओं को शत्रुओं के पास भेज रहा है।

निरन्तर यात्रा के सिद्धान्त का उपयोग परिवेष्टन, विनिषिद्ध एवं निषेध व्यापार आदि के क्षेत्र में किया गया है। इस सिद्धान्त ने यह सम्भव बनाया कि माल को यात्रा के किसी भी स्तर पर पकड़ा जा सकता है। लदन घोषणा की धारा 39 के अनुसार यह व्यवस्था की गई थी कि पूर्णतः विनिषिद्ध माल यदि शत्रु के अधिकार वाले अथवा इसके द्वारा अधिकृत क्षेत्र में उसके सैनिक दलों के लिए जा रहा है तो उसे अधिग्रहित किया जा सकता है। निरन्तर यात्रा के सम्बन्ध में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उपस्थित हुए। इनका उल्लेख विषय को समझने के लिए अधिक उपयुक्त है।

निरन्तर समुद्री यात्रा के महत्त्वपूर्ण विवाद (Leading Cases on Continuous Voyage)—इस सिद्धान्त से सम्बन्धित अनेक विवाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उपस्थित हुए। इन विवादों के सम्बन्ध में दिये गए निर्णयों ने सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट किया है। महत्त्वपूर्ण विवाद निम्नलिखित हैं—

1. मेरिया (Maria) नामक विवाद के सम्बन्ध में लॉर्ड स्टोवेल ने निरन्तर समुद्री यात्रा के सिद्धान्त को स्पष्ट किया और बताया कि केवल किसी बन्दरगाह को स्पर्श कर देना ही समुद्री यात्रा की प्रगति को बदलने के लिए पर्याप्त नहीं है। यह प्रत्येक दृष्टि से यहाँ तक मानी जायगी जहाँ का लक्ष्य लेकर जहाज चला है।

2. पॉली (Polly) के विवाद में सर विलियम स्कॉट का विचार था कि यदि कोई अमेरिकी व्यक्ति ऐसे व्यापार के लिए सीधे रूप में अनुमति प्राप्त नहीं कर सकता तो उसे चक्करदार तरीके से भी प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् तटस्थ राज्य के जहाज शत्रु देश के लिए विनिषिद्ध माल पहुँचाने के लिए कोई धोखा या छल काम में नहीं ले सकते।

3. बरमूडा (Bermuda) नामक जहाज को इंगलैण्ड से नसाऊ तक की समुद्री यात्रा के बीच बन्दी बनाया गया था। इस सम्बन्ध में न्यायालय ने यह मत प्रकट किया कि विद्रोही पोत का गन्तव्य प्रत्यक्ष हो अथवा छिपा हुआ हो इनसे कोई अन्तर नहीं आता, किन्तु यदि वह विरोधी राज्य के बन्दरगाह तक पहुँच जाता है तो निश्चय ही शत्रु का समर्थन कर रहा है। यदि तटस्थ बन्दरगाह में उतारने के बाद माल को पुनः जहाज में लाद लिया गया तो उतारने का कोई अर्थ नहीं

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे विनिषिद्ध सामग्री को ले जाने और परिवेष्टन का तोड़ने के लिए प्रायः इस उपाय को काम मे लिया जाता है कि तटस्थ देश से रवाना होने और युद्धकारी देश गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के बीच एक तटस्थ बन्दरगाह को और डाल दिया जाय। रास्ते मे अनेक स्थानो पर माल उतारते हुए जब एक जहाज युद्धमान राज्य तक पहुँच जाता है तो उसकी पूरी यात्रा पर वे ही नियम लागू होते हैं जो निरन्तर यात्रा करने पर लागू होते हैं।

4. अमेरिकी गृहयुद्ध के समय पीटर हॉफ (Peterhoff) नामक ब्रिटिश जहाज तटस्थ राज्य मैक्सिको के एक बन्दरगाह मैटामोरस की यात्रा कर रहा था। यह बन्दरगाह दक्षिण अमेरिका के राज्यों की सीमा से सटा हुआ है। जहाज पर युद्धोपयोगी सामान लदा हुआ था। ऐसी स्थिति में तटस्थ बन्दरगाह को जाते हुए भी यह जहाज पकड़ लिया गया और इसके युद्धोपयोगी सामान को जब्त कर लिया गया।

5. स्प्रिंग बॉक (Spring Bok) नामक ब्रिटिश जहाज 1866 मे नासो के तटस्थ बन्दरगाह के लिए सामान ले जाते हुए पकड़ा गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के अधिग्रहण न्यायालय ने इस आधार पर जहाज को दण्डित किया कि इसमे लदे हुए माल को देखने से प्रतीत होता है कि इसका अन्तिम लक्ष्य कोई न कोई परिवेष्टित बन्दरगाह रहा होगा। न्यायालय के अनुसार परिवेष्टन तोड़ने के इरादे से ही इस जहाज पर माल लादा गया था। माल के स्वामियो का इस इरादे से ही इस जहाज पर माल लादा गया था। माल के स्वामियो का यह इरादा था कि नासो के मे उतार कर छोटे जहाजों पर इसे लाद दिया जाय ताकि यह अधिक सुरक्षा के साथ पहुँच सके। कानून और सम्बन्धित इरादों की दृष्टि से यह यात्रा लन्दन से परिवेष्टित बन्दरगाह तक की एक यात्रा मानी जायेगी।

इस निर्णय की तटस्थ राज्यो ने कटु आलोचना की और अपने अधिकारों का अतिक्रमण माना। इस दृष्टि से न केवल शत्रु के वरन् तटस्थ राज्यो के बन्दरगाह भी *परिवेष्टित बन जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संस्था की एक समिति ने इसे* तटस्थ देशो के अधिकारो पर गम्भीर आक्रमण बताया। इतने पर भी यह अभ्यास जारी रहा। अनेक उदाहरणो मे तटस्थ बन्दरगाह के लिए जाने वाला माल जब्त कर लिया गया क्योकि सम्बन्धित देश को यह आशंका थी कि जहाज अन्तिम रूप से शत्रु प्रदेश मे पहुँचेगा क्योकि इसमे युद्ध सामग्री लदी हुई है।

निरन्तर समुद्री यात्रा का सिद्धान्त फ्रांस ने क्रीमिया के युद्ध से और ग्रेट ब्रिटेन ने दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध मे तथा संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने गृह-युद्ध में अपनाया। लंदन घोषणा मे एक समझौता किया गया कि पूर्ण विनिषिद्ध के परिवहन के बारे मे निरन्तर यात्रा का सिद्धान्त पूरी तरह लागू किया जाय किन्तु सापेक्ष विनिषिद्ध सामग्री के परिवहन के सम्बन्ध मे कुछ अपवादों को छोड़कर इसे बिल्कुल लागू न किया जाय। घोषणा के अनुसार जहाज—अथवा माल का

गन्तव्य स्थान चाहे कुछ भी हो किन्तु यदि वह किसी अपरिवेष्टित बन्दरगाह की यात्रा कर रहा है तो उसे पकडा नही जा सकता। यह घोषणा राज्यो द्वारा स्वीकार नहीं की गई और प्रथम विश्वयुद्ध मे इसका पर्याप्त उल्लघन हुआ।

1756 का युद्ध नियम
(Rule of War, 1756)

इस नियम के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन ने तटस्थ राज्यों को किसी मातृ-देश और उसके उपनिवेशो के बीच कोई व्यापारिक परिवहन करने से रोका। शान्तिकाल मे उपनिवेश तथा उसके संस्थापक मातृ देश मे व्यापार का एक मात्र अधिकार मातृ-देश के जहाजो को होता है। इसलिए युद्ध के समय तटस्थ राज्यों पर लगाया गया यह प्रतिबन्ध अनुपयुक्त है। लॉर्ड स्टोवेल ने इस नियम की व्याख्या करते हुए कहा कि "जब तटस्थ देशो को शान्तिकाल मे किसी तटीय तथा औपनिवेशिक व्यापार मे भाग लेने से वर्जित किया गया हो तो युद्धकाल मे ऐसा व्यापार करने वाला तटस्थ पोत शत्रु के व्यापारिक जलपोतों मे शामिल माना जाएगा।" सयुक्तराज्य अमेरिका और जापान ने बाद में इसे स्वीकार कर लिया। लन्दन घोषणा मे इस सम्बन्ध मे विचार व्यक्त नहीं किया गया।

निरीक्षण और तलाशी का अधिकार
(Right to Visit and Search)

परिवेष्टन और विनिषिद्ध सम्बन्धी नियमों के भग को रोकने के लिए युद्ध-मान राज्यो को अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने यह अधिकार दिया है कि महासमुद्रो मे तटस्थ जहाजों का निरीक्षण किया जा सके और उनकी तलाशी ली जा सके। यदि तटस्थ जहाज ऐसा करने का विरोध करता है अथवा बचता है तो उस पर वही दण्ड लगाया जायगा जो युद्धमान पोतो पर लगाया जाता है। जब कोई तटस्थ पोत अपनी राष्ट्रीयता के युद्धपोत के अधीन चल रहा है तो उनका निरीक्षण और तलाशी ली जा सकती है अथवा नहीं, यह एक विवादपूर्ण प्रश्न था। मेरिया (Mar a) के विवाद मे न्यायालय ने इस सम्बन्ध मे विचार प्रकट किए।

ओपेनहेम के कथनानुसार, "तटस्थ व्यापारिक जहाजों के निरीक्षण एव तलाशी का अधिकार इसलिए होता है ताकि यह देखा जा सके कि ये जहाज वस्तुत. तटस्थ देशो के व्यापारिक पोत हैं और ये परिवेष्टन तोडने या विनिषिद्ध सामग्री ले जाने अथवा अतटस्थ सेवा सम्पन्न करने का कार्य नही कर रहे हैं। युद्धमान राज्यो के पास केवल यही एकमात्र ऐसा उपाय है जिसके द्वारा वे यह जान सकते हैं। तटस्थ व्यापारिक पोत शत्रु को सहायता पहुँचाने या उसकी अतटस्थ सेवा करने का इरादा रखते हैं या नहीं।" प्रो विकर शॉक ने इस अधिकार का समर्थन करते हुए कहा है कि "यह सर्वथा वैध है कि तटस्थ जहाज को रोककर यह निश्चय किया जाए कि वह केवल अपनी ध्वजा के कारण ही तटस्थ नही है। ध्वजा को कपटपूर्ण

रीति से भी लगाया जा सकता है। जहाज पर स्थित प्रालेखों के प्राधार पर उनकी तटस्थता का निर्णय किया जा सकता है।"

यह अधिकार युद्धमान राज्य के प्रादेशिक समुद्रों अथवा महासमुद्रों में हो सकता है। तटस्थ देश के प्रादेशिक समुद्र में ऐसा नहीं किया जा सकता। यह अधिकार केवल व्यापारिक और व्यक्तिगत जहाजों के सम्बन्ध में ही प्रयुक्त होता है। तटस्थ राज्यों के युद्धपोतों और सार्वजनिक पोतों की तलाशी नहीं ली जा सकती।

स्पष्ट है कि निरीक्षण और तलाशी लेने का उद्देश्य युद्धमान राज्य को तटस्थ राज्यों के उन जहाजों की सूचना देते रहना है जो उसे मिलते रहते हैं। इस सूचना के आधार पर वह युद्धमान राज्य के रूप में अपने अधिकारों का प्रयोग कर सकता है।

युद्धमान का अधिकार—निरीक्षण एवं तलाशी का अधिकार युद्धमान राज्य को प्रदान किया जाता है। इसके आधार पर वह अपने शत्रु की सम्पत्ति से युक्त, विनिषिद्ध वस्तुओं वाले एवं परिवेष्टन भंग करने वाले पोतों के अधिग्रहण के अधिकार का प्रयोग करता है। यह अधिकार युद्ध प्रारम्भ होने के बाद से इसके समाप्त होने तक प्रयुक्त किया जाता है। तटस्थ जहाजों को इसके लिए रोकना उनके अधिकारों का अतिक्रमण नहीं। वरन् आवश्यक है ताकि वह देखा जा सके कि तटस्थ झण्डे का दुरुपयोग तो नहीं हो रहा है।

निरीक्षण की प्रक्रिया—निरीक्षण किस प्रकार किया जाएगा, इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने निश्चित नियम निर्धारित नहीं किए हैं। राज्यों का व्यवहार तथा 1939 की जिनेवा की शान्ति सन्धि की धारा-17 इसका मार्ग-दर्शक माना जाता है। निरीक्षण के लिए सर्वप्रथम जहाज को रोका जाता है। रोकने का आदेश एक या दो कारतूस छोड़कर किया जाता है।

जब जहाज रुक जाता है तो युद्धमान राज्य के एक या दो अधिकारी नौका द्वारा उस जहाज का निरीक्षण करने भेजे जाते हैं। ये अधिकारी विभिन्न कागजों की जाँच करके यह पता लगाते हैं कि उस जहाज की राष्ट्रीयता, माल तथा सवारियों की प्रकृति क्या है? जहाज के आने-जाने और रुकने के बन्दरगाहों का पता लगाया जाता है। यदि जहाज के पासपोर्ट, रजिस्ट्री के प्रमाण-पत्र, लॉग बुक माल का विवरण-पत्र, माल के वहन-पत्र आदि की जाँच करने के बाद सभी बातें सही दिखाई दें और जहाज से किसी प्रकार के कपटपूर्ण व्यवहार की आशंका न हो तो उसे आगे बढ़ने दिया जाए। यदि कागजों के निरीक्षण से यह आशंका हो जाए कि जहाज में कोई विनिषिद्ध पदार्थ है तो उसे रोककर तलाशी ली जाती है।

तलाशी—जब एक व्यापारिक जहाज के सम्बन्ध में यह सन्देह हो जाए कि वह कोई विनिषिद्ध सामग्री ले जा रहा है तो रणपोत के एक दो अधिकारियों द्वारा पोत के कप्तान की उपस्थिति में तलाशी ली जा सकती है। तलाशी लेते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है कि जहाज अथवा उसके माल को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे। तलाशी लेते समय शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाना

चाहिए। जहाज के कप्तान का यह कर्त्तव्य है कि वह सभी ताले खुलवाए, किन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता है तो उसे बाध्य नहीं किया जा सकता। ताला खुलवाने पर यह निश्चित हो जाता है कि जहाज में अवश्य ही विनिषिद्ध माल है। अतः उसे पकड़ लिया जाता है। पकड़ कर अधिग्रहण न्यायालय के सामने प्रस्तुत किया जाता है। यदि न्यायालय द्वारा इस जहाज को दोष-मुक्त कर दिया जाए तो इसके हर्जे खर्चे की पूरी जिम्मेदारी रणपोत के नायक की होगी। इसलिए समुद्र में तलाशी लेने के बाद यदि सन्देह का कारण प्रबल हो तभी उसको पकड़ना चाहिए अन्यथा नहीं।

1909 की लन्दन घोषणा के अनुसार युद्धमान राज्य के इस अधिकार के प्रयोग में बाधा उत्पन्न करना सम्बन्धित जहाज को दण्ड का भागी बना देता है। दूसरी ओर तलाशी-कर्त्ता जहाज का भी यह कर्त्तव्य है कि तलाशी लेते समय अनुचित विलम्ब या असुविधा उत्पन्न न करे और विनम्र एवं सम्मानपूर्ण व्यवहार करे।

नौ प्रमाण-पत्र (*Navicerts*)—ये प्रमाण-पत्र तटस्थ राज्य में स्थित युद्धमान राज्यों के राजदूतों या वाणिज्य दूतों द्वारा प्रसारित किए जाते हैं। इनमें यह उल्लेख किया जाता है कि इस जहाज का मामला पूर्णतः निर्दोष है और इसलिए इसे पकड़ा या जब्त नहीं किया जाना चाहिए। तटस्थ राज्य ऐसे जहाज को नहीं रोकते थे। यह परम्परा यद्यपि बहुत पहले ही प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु इसका व्यापक प्रयोग प्रथम विश्वयुद्ध के समय किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध में भी इसी प्रकार के जहाजों को तलाशी से मुक्त रखा जाता था। 31 जुलाई, 1940 को प्रकाशित ग्रेट-ब्रिटेन के प्रत्यपहार सपरिषद् आदेश के परिणामस्वरूप यह व्यवस्था हो गई कि यदि किसी माल के साथ नौ-प्रमाण-पत्र नहीं है तो उसे पकड़ा या जब्त किया जा सकता है। इस प्रमाण-पत्र के अभाव का अर्थ यह समझा जाने लगा कि जहाज का माल शत्रु राज्य को भेजा जा रहा है।

स्पष्ट था कि इस आदेश के बिना माल ले जाने वाले जहाजों को अपनी निर्दोषता स्वयं ही सिद्ध करनी होती थी। तटस्थ राज्यों द्वारा इस आदेश की आलोचना की गई। प्रो स्टार्क ने इसके समर्थन में अनेक तर्क दिए हैं—(1) यह प्रत्यपहार के वैध कार्य के रूप में सम्पन्न किया जा सकता है, (2) इनका उद्देश्य परिवेष्टन को सरल बनाना है, (3) इसके द्वारा शत्रु पर अधिक दबाव डाला जा सकता है, एवं (4) यह समस्त व्यापार को अनुमति-पत्रों की प्रणाली द्वारा नियन्त्रित करता है।

कुछ विवाद एवं निर्णय (*Some Cases and Decisions*)—जहाजों के निरीक्षण एवं तलाशी से सम्बन्धित अधिकार अनेक विवादों में स्पष्ट हुए। मेरिया (Maria) सम्बन्धी मामले में इस विवादपूर्ण प्रश्न पर प्रकाश डाला गया कि जब *एक तटस्थ पोत अपनी राष्ट्रीयता वाले युद्धपोत के साथ नौचालन कर रहा है तो क्या* उसे निरीक्षण और तलाशी से मुक्त रखा जाए? मेरिया एक स्वीडिश पोत था और *फ्रांस तथा ग्रेट-ब्रिटेन के युद्ध (1798) के समय वह एक स्वीडिश रक्षक बेड़े के* संरक्षण में जा रहा था। ब्रिटिश युद्धपोत ने *मेरिया की तलाशी लेनी चाही।* जब रक्षक बेड़े द्वारा इसका विरोध किया गया तो मेरिया को पकड़ लिया गया।

ग्रेट-ब्रिटेन के अधिग्रहण न्यायालय ने उसे दण्डित किया। इस विवाद मे लॉर्ड स्टोवैल ने *तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वे ये थे—*

1 युद्धमान राज्य के रणपोत महासमुद्र मे किसी भी जहाज तथा उसके माल का निरीक्षण एव तलाशी ले सकते हैं। स्टोवैल का विचार था कि जहाज उस पर लदे माल तथा गन्तव्य स्थान की प्रकृति कुछ भी क्यों न हो, जब तक इनका निरीक्षण एव तलाशी नहीं ली जाती तब तक इनका ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए निरीक्षण एवं तलाशी की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है।

2 सम्प्रभु तटस्थ राज्य के बीच मे डालने पर भी युद्धमान राज्य के अधिकार मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता।

3. यदि हिंसापूर्ण रूप से इस अधिकार का विरोध किया जाता है तो निरीक्षण एव तलाशी से बचायी जाने वाली सम्पत्ति को जब्त किया जा सकता है।

स्टोवैल के इस निर्णय से तटस्थ राज्यों को भय एवं चिन्ता हुई। सम्भवतः इसी से प्रेरित होकर 1800 मे बाल्टिक सागर के देशों ने दूसरी तटस्थता सन्धि की। *लन्दन घोषणा में इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया। ग्रेट-ब्रिटेन के पूर्व* निर्णय के विरुद्ध व्यवस्था की गई। अब उन तटस्थ जहाजों को निरीक्षण एव तलाशी से मुक्त किया गया जो अपनी राष्ट्रीयता वाले बेड़े के सरक्षण में चलते हैं।

सर विलियम स्कॉट ने एक विवाद में यह वक्तव्य दिया कि यदि कोई तटस्थ जहाज का कप्तान अपने जहाज को निरीक्षण अथवा तलाशी से छुड़ाने का प्रयास करता है तो वह एक अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य का उल्लघन करता है जो उस पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा डाला गया है। प्रो. लॉरेन्स के मतानुसार, "सभी विधिवेत्ता *इस बात पर सहमत हैं कि तलाशी का अधिकार केवल युद्धमान राज्य को है।"* न्यायाधीश स्टोरी मेरीयाना-फ्लोरा (Marianna-flora) के विवाद में कहा कि "यह अधिकार राज्यों की सामान्य सहमति से युद्ध के समय से ही दिया जाता है तथा उन्हीं अवसरों के लिए सीमित है।" इस अधिकार का प्रयोग केवल व्यापारिक जहाजों पर किया जा सकता है।

अधिग्रहण न्यायालय (Prize Courts)—शत्रु अथवा तटस्थ राज्य के व्यापारी जहाजों को युद्धमान राज्य द्वारा पकड़ने की वैधता का निर्णय और उनको जब्त करने का दायित्व युद्धमान राज्य के अधिग्रहण न्यायालयों को प्राप्त होता है। ये न्यायालय घरेलू न्यायाधिकरण (Domestic Tribunals) होते हैं जो राष्ट्रीय व्यवस्थापन के प्रावधानों के अनुरूप सगठित होते हैं तथा कार्य सम्पन्न करते हैं। यद्यपि अधिग्रहण न्यायालयों की सत्ता एव क्षेत्राधिकार राष्ट्रीय कानून से ग्रहण किया जाता है, किन्तु अपने सम्मुख आने वाले विवादों पर वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के *नियमों को लागू करते हैं। इन न्यायालयों के निर्णयों को निर्देशित करने के लिए* प्राय राष्ट्रीय व्यवस्थापन द्वारा हस्तक्षेप किया जाता है। इन न्यायालयों पर हम पिछले एक अध्याय मे विस्तार से विचार कर चुके हैं।

25 अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वर्तमान स्तर (The Present Status of International Law)

आजकल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कानून का महत्त्व अनेक कारणों से पहले की अपेक्षा पर्याप्त बढ़ गया है। आए दिन समाचार पत्रों तथा प्रचार के अन्य माध्यमों द्वारा ऐसी खबरें सुनने में आती हैं कि किसी राज्य ने अपने कमजोर पड़ोसियों पर आक्रमणात्मक हमला कर दिया, सन्धि के दायित्वों को तोड़ दिया, कानून ने कमजोर राज्यों के विरुद्ध शक्तिशाली राज्यों का समर्थन किया, दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया गया, आदि-आदि। ये सभी घटनाएँ एक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्त्व को बढ़ाती हैं, किन्तु दूसरी ओर उसकी प्रभावहीनता को भी सूचित करती हैं। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रभावहीनता के सम्बन्ध में एक निराशाजनक और सन्देहजनक व्यापक दृष्टिकोण विकसित होता जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वास्तविक तस्वीर इतनी धुंधली नहीं है। अभी भी तथ्य यह है कि दुनिया के देशों द्वारा कानून के नियम निरन्तर रूप से व्यवहृत किए जाते हैं और इनके उल्लंघन केवल अपवाद रूप में होते हैं। राज्यों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने वाली सैकड़ों सन्धियों का उन पर हस्ताक्षर करने वालों द्वारा अनुगमन किया जाता है। एक राज्य के विरुद्ध क्षतिपूर्ति का दावा करने वाला दूसरा राज्य जो दावे प्रस्तुत करता है उनको अधिग्रहण न्यायालयों द्वारा सुलझाया जाता है और अनेक बार सम्बन्धित राज्य सन्तुष्ट हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक नियम विभिन्न राज्यों के घरेलू कानूनों में स्वीकार कर लिए जाते हैं और उन राज्यों की सरकारों और न्यायालयों द्वारा लागू किए जाते हैं। कानून द्वारा राज्यों के विवादों को सुलझाने की प्रक्रिया का वर्णन किया जाता है। ये प्रक्रियाएँ अनेक अवसरों पर प्रयुक्त की जाती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून महत्त्वपूर्ण होते हुए भी राज्यों के सम्बन्धों का निर्धारण करने की दृष्टि से अपूर्ण है और इसकी अनेक कमजोरियाँ विश्व समाज को सच्ची और प्रभावशील कानूनी व्यवस्था के विकास को रोकने में महत्त्वपूर्ण बाधाएँ हैं। प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में केवल कुछ की प्रकृति कानूनी होती है। इन विवादों का समाधान कानूनी रूप से करना सरल नहीं है। अनेक विवाद उस समय उत्पन्न होते हैं जब दोनों पक्ष कानून के अनुरूप काम करते हैं। ऐसे विवादों के सम्बन्ध में कोई कानूनी समाधान प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की एक मुख्य समस्या यह है कि इसका क्षेत्राधिकार राज्यों की इच्छाओं पर आधारित है। राज्यों के अधिकारों का कानूनी निर्धारण उनके द्वारा स्वीकृत अथवा अस्वीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र पर्याप्त सीमित बन जाता है।

इस सम्बन्ध मे एक अन्य समस्या यह है कि राष्ट्रों के समाज के सदस्य कानून की व्याख्या करने की अन्तिम सत्ता रखते हैं। ये राज्य ही यह निर्णय लेते हैं कि उनमें से प्रत्येक के लिए प्रत्येक नियम का अर्थ क्या है? अन्तर्राष्ट्रीय कानून को *क्रियान्वित करने के लिए वे आवश्यक व्यवस्था करते हैं। यहाँ भी प्रमुख राज्यों* द्वारा लिए गए निर्णयों में उनका राष्ट्रीय हित उल्लेखनीय प्रभाव डालता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने 14 नवम्बर, 1947 को एक प्रस्ताव पास किया। इसके अनुसार संघ के चार्टर और विशेष अभिकरणों की संविधियों की व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य सिद्धान्तों पर आधारित रहेगी।

विश्व के रंगमंच पर अनेक नए परिवर्तन हो रहे हैं और इनके परिणाम-स्वरूप सामान्य मूल्यों तथा सामान्य हितों से युक्त एक जैसे राज्यों के समूह पर *लागू होने वाले सार्वभौमिक कानून के पुराने आदर्श मिटते जा रहे हैं। इसके स्थान* पर क्रमशः क्षेत्रीय कानूनी व्यवस्था का उदय हो रहा है। अनेक छोटे और बड़े क्रान्तिकारी राष्ट्र जन्म ले रहे हैं जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के स्वरूप में अस्थिरता ला दी है। इस क्रान्तिकारी भावना के अस्तित्व के कारण स्थापित व्यवस्था द्वारा विकसित व्यवहार की सीमाओं को स्वीकार करने से मना कर दिया गया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय समाज शान्तिपूर्ण परिवर्तन को व्यवस्थापन करने की प्रणाली विकसित नहीं कर सका है। दुर्भाग्य से अधिकांश क्रान्तिकारी समाजों के नेता केवल शक्ति और दबाव के आगे झुकना जानते हैं। इन समाजों में आन्तरिक परिवर्तन विदेशों द्वारा प्रयुक्त दबाव और बाध्यकारी शक्ति के प्रयोग द्वारा लाया जा सकता है। यह दबाव स्थापित व्यवस्था के सदस्यों द्वारा गैर-कानूनी समझा जाता है।

क्रान्तिकारी समाजों को सफल स्थापना प्रायः तभी हो पाती है जब वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक नियमों को पूर्ण रूप से एक तरफ उठाकर रख दें। इसका कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून उनके राज्य के आन्तरिक रूप को *वांछित रूप से निर्धारण करने में अवरोध बनता है। सामाजिक परिवर्तनों के हित* में क्रान्तिकारी सरकार आन्तरिक पूँजी और साधनों पर अपना प्रभाव जमा लेती है और विदेशी ऋण तथा ऐसे ही दूसरे दायित्वों को भुला देती है। उनकी दृष्टि से ऐसा करना सामाजिक न्याय के लिए आवश्यक है। यदि प्रभावित विदेशी हितों द्वारा तुरन्त और पर्याप्त क्षति-पूर्ति की माँग की जाय तो इसे क्रान्तिकारी नेतृत्व द्वारा शत्रुतापूर्ण समझा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम प्रभावित राज्य का समर्थन करते हैं उन्हें क्रान्तिकारी नेतृत्व ठुकरा देता है। उसका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय कानून विरोधी हो जाता है। शान्ति स्थापना के तरीके के रूप में वह अपना विश्वास खो देता है। प्रो. फॉक (Falk) के मतानुसार, "क्रान्तिकारी सरकारों को भी बाद में यह अनुभव होने लगता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम उनके स्वयं के लिए कुछ लाभदायक हैं।"

साम्यवादी और गैर-साम्यवादी राज्यों के बीच शीत युद्ध का प्रचलन भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रूप निर्माण मे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। राजनैतिक और सैद्धान्तिक विरोध आज के युग की मुख्य विशेषता बन गए हैं। इनके कारण राज्यों के मध्य स्थित महत्त्वपूर्ण विवादों पर निष्पक्ष निर्णय होना अत्यन्त कठिन बन गया है। प्रत्येक प्रमुख पक्ष अपने विरोधी निर्णय को अन्यायपूर्ण और पक्षपातपूर्ण मानने लगता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक पक्ष किसी भी ऐसे राज्य के निर्णयों पर विश्वास नहीं करता जो उसकी विचारधारा का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहा है।

प्रो ग्लान के मतानुसार, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे हमारी अनेक परेशानियों का मूल कारण राज्य की पूर्ण सम्प्रभुता का सिद्धान्त है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों की इस कल्पनात्मक धारणा को असत्य सिद्ध करता है। प्रत्येक राज्य अपने आप को आन्तरिक और बाह्य रूप से पूर्ण सम्प्रभु मानने के कारण किसी अन्तर्राष्ट्रीय नियमन को स्वीकार नहीं करता। वर्तमान समय मे ऐसे आसार नजर नहीं आते कि राज्य अपनी राष्ट्रीय सम्प्रभुता के दावे को छोड़ देंगे या कम कर देंगे। ये राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दायित्व का आसानी से उल्लंघन कर सकते हैं क्योंकि यह कानून कमजोर, अपूर्ण और अनेक खामियों से पूर्ण है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की गम्भीर अथवा छोटी-मोटी कमजोरियाँ रहते हुए भी इसके नियमों और सिद्धान्तों का प्रतिदिन प्रयोग किया जाता है। स्थित रिक्त स्थानों को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकताओं और वर्तमान कानूनी व्यवस्था की अपरिपक्वता की अभिव्यक्ति मानना चाहिए। यह एक तथ्य है कि अनेक अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के सम्बन्ध में विश्व समाज के सदस्यों की सहमति है। आज के अराजकतापूर्ण और अणुशक्तिपूर्ण ससार मे इसका महत्त्व स्पष्ट है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून समय की परिस्थितियों के साथ परिवर्तित होता रहता है। यह स्थिर न होकर परिवर्तनशील है।

आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास की मुख्य बाधाएँ राष्ट्रीय सम्प्रभुता, राष्ट्रीयता, क्रान्तिकारी समाज, नैतिक नियमों के सम्बन्ध मे सहमति का अभाव, विरोधी पक्ष के प्रति पूरा सन्देह आदि हैं। इतने पर भी समय की आवश्यकता और माँग को देखते हुए इस क्षेत्र मे अनेक आशाएँ की जा सकती हैं।

राष्ट्रों का कानून आज परिवर्तन और विकास के स्तर पर है। इसका योगदान सीमित है और सम्भवतः आने वाले समय मे पर्याप्त समय तक ऐसा रहेगा। भविष्य की दृष्टि से इसकी ओर आशा की निगाह रखी जा सकती है। यह दुनिया के राष्ट्रों के बीच अधिक स्थाई और मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की स्थापना मे योगदान करेगा। भविष्य मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे उसका महत्त्व और स्थान उस समाज के आचरण द्वारा निर्धारित होगा जिसे यह नियमित करना चाहता है। इस समाज के सदस्य निरन्तर बढ़ रहे हैं। इस सभी का भावी कानून के विकास मे योगदान रहेगा।

26 अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण मामले और उनका मूल्यांकन
(Leading Cases Relating to International Law and their Evaluation)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से कुछ विवादों का उल्लेख प्रासंगिक रूप मे इस पुस्तक मे अनेक स्थलों पर हुआ है और अनेक न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णयों का निर्देश किया गया है । प्रस्तुत अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण मामलों अथवा प्रमुख विवादों पर विस्तार से प्रकाश डाल रहे हैं। प्रत्येक मामले अथवा विवाद के नामोल्लेख के बाद कोष्ठक मे निर्णय किए जाने के वर्ष का और उसके विषय का सकेत किया गया है ।

(1) चु गी ची चेंग बनाम राजा विवाद (1936)
(प्रादेशिक समुद्र में सार्वजनिक जहाजों पर अदालतों का क्षेत्राधिकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून)

इस विवाद का सम्बन्ध राज्यो के प्रादेशिक समुद्र में मौजूद विदेशी जहाजों पर हुये अपराध से है —विशेषकर उस स्थिति से है जिसमें अपराधी की राष्ट्रीयता प्रादेशिक समुद्र वाले राज्य से है और अपराध विदेशी जहाज पर हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में विदेशी युद्ध पोतों को बाह्य-प्रादेशिकता (Ex-territoriality) का दर्जा दिया जाता है ।

चु ग ची चेंग ब्रिटिश उपनिवेश हांगकांग का नागरिक था । वह चीन के एक युद्धपोत पर नौकर था। जब पोत हांगकांग के जल क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक जल मे था, तभी उसने पोत के कप्तान को गोली चलाकर जान से मार दिया और पोत के कार्यवाहक मुख्य-अधिकारी को गोली से घायल कर दिया और फिर अपने आपको भी गोली मारकर घायल कर दिया । मुख्याधिकारी ने जहाज को तुरन्त हांगकांग बन्दरगाह पर लौटने का आदेश दिया जहाँ पहुँचते ही चेंग को हत्या के जुर्म मे गिरफ्तार कर लिया गया और हांगकांग की अदालत में उस पर मुकदमा चलाया गया ।

इस केस में अपराधी और आक्रान्ता दोनों ही ब्रिटिश नागरिक थे किन्तु ये सभी विदेशी युद्धपोत पर नौकर थे। चीन ने कहा कि अपराधी का प्रत्यर्पण होना चाहिए तथा उस पर चीन में मुकदमा चलाया जाना चाहिए। दूसरी ओर ब्रिटेन ने प्रत्यर्पण की माँग को अस्वीकार करते हुए तर्क दिया कि अपराधी और अपराध का घटना-स्थल दोनों ही ब्रिटिश क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत हैं (हांककांग ब्रिटिश उपनिवेश था), अतः ब्रिटेन को ही अपराधी चेंग पर मुकदमा चलाने का अधिकार है। अपराधी चेंग ने हांगकांग स्थित ब्रिटिश अदालत के क्षेत्राधिकार को चुनौती देते हुए यह माँग की कि उसका प्रत्यर्पण किया जाय। इस विषय पर ब्रिटिश प्रिवी-कौंसिल में अपील की गई जो नामंजूर कर दी गई। प्रिवी-कौंसिल का निष्कर्ष था कि क्षेत्राधिकार का विरोध करने के लिए कोई वैध आधार नहीं है। निर्णय देते हुए न्यायिक समिति के अध्यक्ष लॉर्ड एटकिन ने कहा कि :

(1) यदि यह मान लिया जाए कि राज्य के युद्धपोत चाहे वे किसी भी देश के प्रादेशिक समुद्र में हैं या प्रादेशिक समुद्र से बाहर, उनको बाह्य प्रादेशिकता का दर्जा प्राप्त है तो किसी भी विदेशी जहाज पर अन्य राज्यों का कोई क्षेत्राधिकार लागू नहीं किया जा सकता।

(2) यदि यह मान लिया जाए कि विदेशी जहाजों को राज्य अपने प्रादेशिक समुद्र में जो उन्मुक्तियाँ प्रदान करता है उनकी व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों द्वारा की जाती है तो ऐसी स्थिति में राज्य अपने आन्तरिक कानून के अनुसार कुछ उन्मुक्तियाँ दे सकता है, कुछ को देने से मना कर सकता है। जहाज भी चाहे तो कुछ उन्मुक्तियाँ स्वीकार कर सकता है और बाकी का परित्याग (Wiver) कर सकता है।

लॉर्ड एटकिन ने कहा कि दूसरा दृष्टिकोण ही ठीक है और इस प्रकार ब्रिटिश अदालत को एक ब्रिटिश नागरिक द्वारा दूसरे ब्रिटिश नागरिक की हत्या के सिलसिले में क्षेत्राधिकार प्राप्त है और चूंकि हत्या ब्रिटेन के ही प्रादेशिक समुद्र में ही हुई, अतः इस अधिकार का दावा और भी मजबूत होता है।

न्यायिक समिति के निर्णय ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच सम्बन्ध, और और राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों की बाध्यकारिता पर प्रकाश डाला गया। लॉर्ड एटकिन ने कहा कि—

'ब्रिटेन की यह परम्परा है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का सम्मान करता है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का अंग मानता है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय विधि के वही नियम ब्रिटिश अदालतों द्वारा लागू किए जा सकते हैं जिन्हें संसदीय व्यवस्थापन द्वारा राष्ट्रीय कानून का अंग घोषित कर दिया गया है। इसके अभाव में अदालतें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को लागू करने के लिए बाध्य नहीं होंगी। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परम्परा है कि राज्य अपने प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में विदेशी जहाजों, हवाई जहाजों, कम्पनियों, निगमों तथा व्यक्तियों को कुछ विशेष सुविधायें प्रदान करते हैं। इनमें से कुछ सुविधाओं या उन्मुक्तियों के बारे में निश्चित

प्रथाओं व नियमों का विकास हो चुका है जब कि अनेक प्रथाओं के बारे में स्पष्ट व्यवहार नहीं है। ऐसी प्रथाओं से सम्बद्ध जब कुछ मुकदमे न्यायालयों के सामने आ जाते हैं तो न्यायालय निश्चित के लिए संसदीय व्यवस्थापन या राष्ट्रीय कानून में ही उन प्रथाओं की बाध्यकारिता का आधार ढूंढता है। यदि इस आशय का कोई नियम राष्ट्रीय कानून में नहीं है तो न्यायालय स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपना सकता है। इसलिए जहाँ तक मुकदमा चलाने और अपराधी को दण्डित करने विषयक क्षेत्राधिकार का प्रश्न है हांगकांग स्थित ब्रिटिश न्यायालय के अधिकार को चुनौती नहीं दी जा सकती।"[1]

डॉ आसोपा का आभमत है कि यदि इस केस को इस आधार पर रखा जाए कि हत्या करने वाला और मरने वाला दोनों ही चीन के जहाज पर नौकरी करते थे इसलिए जहाज से सम्बन्धित अपराध के अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार चीन का है तो यदि इस अधिकार के सन्दर्भ में चेंग के प्रत्यर्पण की माँग असरदार ढंग से उठाई गई होती तो प्रत्यार्पण हो सकता था। चूंकि प्रत्यर्पण की माँग अस्वीकार कर दी गई और चीन द्वारा इस प्रक्रिया के खिलाफ कोई आपत्ति नहीं उठाई गई अतः ब्रिटिश अदालत के चेंग विवाद के क्षेत्राधिकार को स्वीकार किया जाना चाहिए।

(2) दी पाक्वेट हवाना और लोला विवाद (1899)

(मछली पकड़ने वाले जहाज और राष्ट्रों की प्रथाएँ)

यह विवाद प्रधानतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि की बाध्यकारिता से भी सम्बद्ध है और युद्धकाल में मछली पकड़ने वाली नौकाओं को पकड़े जाने से उन्मुक्ति पर भी आधारित हैं। दोनों ही सन्दर्भों में इसको उद्धृत किया जा सकता है।[2]

पाक्वेट हवाना और लोला दोनों ही स्पेन की मछली पकड़ने वाली नौकाएँ थी जिन पर स्पेन का झण्डा लगा हुआ था। अमेरिका और स्पेन के युद्ध (1898) के समय अमेरिकी रणपोतों द्वारा इन दो नौकाओं को पकड़ने पर यह प्रश्न उठा कि क्या मछली पकड़ने वाले नौकाओं को इस प्रकार पकड़ा जा सकता है। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के बहुमत का निर्णय था कि ऐसा नहीं किया जा सकता क्योंकि सभ्य राष्ट्रों के व्यवहार के इतिहास में मछली पकड़ने वाले जहाजों को पकड़ने योग्य नहीं माना गया है। अल्पमत वाले न्यायाधीशों का मत था कि इस व्यवहार का आधार केवल शिष्टता है, यह अभी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम नहीं बना है।

इस विवाद में बहुमत के निर्णय को सुनाते हुए न्यायाधीश ग्रे ने कहा—

"अन्तर्राष्ट्रीय कानून हमारे कानून का अंग है। उपयुक्त क्षेत्राधिकार रखने वाले न्यायालयों द्वारा इसका निश्चय किया जाना तथा प्रशासन किया जाना आवश्यक है। जब किसी विषय में कोई सन्धि न हो, इसे नियन्त्रित करने वाला

1 डॉक्टर के आसोपा से उद्धृत वही, पृ 515.
2 डॉक्टर के आसोपा : वही, पृ 575.

सरकार का आदेश अथवा विधानसभा का कोई कानून न हो तथा न्यायालय का कोई निर्णय न हो तो ऐसे विषय में सभ्य राष्ट्रों में प्रचलित आचारों (Customs) तथा प्रथाओं (Usages) का अवलम्बन लेना पड़ता है और इनकी साक्षी के लिए ऐसे विधि शास्त्रियों तथा इनके टीकाकारों के ग्रन्थ देखने पड़ते हैं, जिन्होंने वर्षों तक अनुसन्धान तथा अनुभव द्वारा इन विषयों का अच्छा परिचय पा लिया है। न्यायालय इन ग्रन्थों का सहारा इसलिए नहीं लेते कि वे लिखने वालों के ये विचार जानना चाहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून किस प्रकार का होना चाहिए, किन्तु वे इन्हें इस बात की विश्वसनीय साक्षी समझते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप वास्तव में क्या है ?"

इस प्रकार की नौकाओं को तभी गिरफ्तार किया जा सकता है जब यह सिद्ध हो जाए कि नौकाएँ जासूसी कार्य में रत हैं अथवा उन पर सचार उपकरण लगे हुए हैं, अथवा वे युद्ध विषयक गुप्त सूचनाओं के आदान-प्रदान में लगी हैं या शस्त्र आदि की सप्लाई करती हैं। चूँकि उपरोक्त मामले में जाँच के बाद यह पाया गया कि पाक्वेट हबाना और लोला पर कोई निषिद्ध सामग्री नहीं थी और न ही ये नौकाएँ कोई अतटस्थ सेवाएँ उपलब्ध करवा रही थीं, अतः न्यायालय के आदेश पर इन्हें मुक्त कर दिया गया।

(3) वैस्ट रैण्ड गोल्ड माइनिंग कम्पनी विरुद्ध राजा (1805)

(अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राष्ट्रीय कानून, राज्य का उत्तराधिकार)

इस विवाद का सम्बन्ध राष्ट्रीय विधि व अन्तर्राष्ट्रीय विधि में सम्बन्ध तथा राज्य उत्तराधिकार की समस्या से है। उत्तराधिकारी राज्य अपने पूर्ववर्ती राज्य के किन दायित्वों का निर्वाह करने के लिए बाध्य हैं और किन दायित्वों के प्रति स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपना सकता है, यह प्रश्न इस केस में विचारार्थ था और मुकदमे के दौरान इसके समाधान से सम्बन्धित केस ला का विकास हुआ।[1]

वैस्ट रैण्ड ग्रेट-ब्रिटेन में रजिस्टर्ड हुई एक ब्रिटिश कम्पनी थी जो ट्रांसवाल (दक्षिण अफ्रीका) में सोने की खुदाई का काम करती है। इस कम्पनी के सोने के दो पार्सल तत्कालीन दक्षिणी अफ्रीकी गणराज्य की डच सरकार के अधिकारियों ने पकड़ लिए। उस समय प्रचलित कानून के अनुसार सरकार के लिए आवश्यक था कि वह या तो इन पार्सलों को लौटा दे या इनकी कीमत अदा करे। यह घटना सन् 1891 के बोअर युद्ध (डचों और अंग्रेजों में) छिड़ने से पूर्व हुई। युद्ध में ब्रिटेन विजयी हुआ और ब्रिटिश सरकार ने डचों के दक्षिण अफ्रीकी गणराज्य को जीतकर अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। तत्पश्चात् वेस्ट रैण्ड गोल्ड माइनिंग कम्पनी ने पुरानी डच सरकार के स्थान पर स्थापित नई ब्रिटिश सरकार को प्रार्थना-पत्र देकर उपरोक्त दोनों पार्सलों को लौटाने अथवा उनकी कीमत अदा करने की माँग की। कम्पनी का तर्क था कि विजय के बाद इस प्रदेश में स्थापित ब्रिटिश सरकार पुरानी

1 वही, पृ 516

इस सरकार की उत्तराधिकारी है, उसने पिछली सरकार के सभी अधिकार और दायित्व उत्तराधिकार में प्राप्त किए हैं और उन्हें पूरा करना उसका कर्त्तव्य है।

किन्तु प्रिवी काउंसिल ने कम्पनी की माँग को रद्द कर दिया। मुकदमे से सम्बन्धित प्रमुख न्यायाधीश लॉर्ड एल्वरस्टोन ने अपने निर्णय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बड़ी सुन्दर व्याख्या करते हुए कहा कि—

"आवेदकों द्वारा उपस्थित किए गए विधिशास्त्रियों (Jurists) के ग्रन्थों के विशिष्ट उद्धरणों पर विचार करने से पहले हम इस विषय पर विचार करना चाहते हैं कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार सैद्धान्तिक रूप से विजेता राष्ट्र को विजित राष्ट्र के सभी दायित्वों को पूरा करना आवश्यक है। हमारा विचार है कि सैद्धान्तिक रूप में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। सन्धि करते समय विजय करने वाली शक्ति विजित देश के वित्तीय दायित्वों के सम्बन्ध में मनचाही शर्तें रख सकती है, यह पूर्ण रूप से उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह किन शर्तों का पालन करेगी। इस विषय में एकमात्र कानून सैनिक शक्ति का है। हमें इसका कोई कारण *समझ नहीं आता है कि चुप्पी का यह अर्थ क्यों लगाया जाए कि यह इस बात का* सूचक है कि नयी सरकार विजित राज्य की सरकार के साथ हुए वर्तमान सभी ठेकों को या संविदाओं (Contracts) को स्वीकार करती है। अनेक मामलों में यह कहा जा सकता है कि एक सरकार द्वारा दूसरी सरकार को किसी प्रदेश के हस्तान्तर (Cession) का अभिप्राय यह कभी नहीं होता कि उस प्रदेश में व्यक्तियों की सम्पत्ति जब्त कर ली गयी है। यदि ऐसे प्रदेश में सम्पत्ति का कुछ भाग कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को देता है, इसे गिरवी या रेहन पर रखता है, या इस पर कोई स्वत्व (Lien) पैदा हो जाता है तो इससे उत्पन्न होने वाले विचारणीय प्रश्न उनसे सर्वथा भिन्न होते हैं, जिनमें यह विचार किया जाता है कि विजित राज्य के संविदा सम्बन्धी दायित्वों को विजेता राज्य कहाँ तक स्वीकार करता है। इन कारणों से हमारी यह सम्मति है कि आवेदकों के आवेदन-पत्र में माँगा गया कोई ऐसा *अधिकार नहीं है, जिसे वह अथवा अन्य कोई न्यायालय ब्रिटिश सरकार से कम्पनी* को दिलवा सके।"

न्यायालय ने वेस्ट रेण्ड कम्पनी के विरुद्ध अपना निर्णय देते हुए निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं[1]—

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन नियमों का समूह है जिन्हें सभ्य राष्ट्रों ने स्वीकार किया है और वह उनके पारस्परिक सम्बन्धों में बाध्यकारी होंगे।

2. यह कथन कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत विजयी राज्य विजित के उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए बाध्य है, स्वीकार नहीं किया जा सकता। विजयी प्रभुत्व सम्पन्न शासक अपनी स्वेच्छा से विजित राष्ट्र के आर्थिक उत्तरदायित्वों को अस्वीकार कर सकता है।

1 ह्रीन के. कालोपा : वही, पृष्ठ 386.

3 अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है जिसके अनुसार विजयी राष्ट्र विजय करने के बाद विजित राष्ट्र के उत्तरदायित्वों को पूरा करने को बाध्य हो।

4. ऐसे मामले जो सम्राट ने किसी सन्धि द्वारा किए हैं या राज्य-कार्य (Acts of State) हैं, राज्य के न्यायालयों के क्षेत्राधिकार में नहीं आते।

5 विधिशास्त्रियों या भाष्यकारों के विचार तब तक अन्तर्राष्ट्रीय विधि का रूप नहीं ग्रहण करते जब तक कि उन्हें सभ्य राष्ट्रों ने लिखित अथवा व्यावहारिक रूप में स्वीकार नहीं किया है।

6 विजयी राज्य विजित राष्ट्र के व्यक्तिगत संविदात्मक उत्तरदायित्वों के प्रति बाध्य नहीं है।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर न्यायालय का यह निर्णय रहा है कि ब्रिटिश सरकार दक्षिणी-अफ्रीका गणराज्य के अधिकारियों द्वारा छीने गए सोने के दोनों पार्सलों को लौटाने के लिए उत्तरदायी नहीं है।

(4) चारकियेह विवाद (1873)

(अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति)

इस विवाद का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व से सम्बद्ध समस्या से है। चारकियेह मिस्र के खदीव (शासक) का जहाज था। इसे अक्टूबर 1872 में टेम्स नदी में एस. एस बटावियर नामक जहाज को टक्कर मारकर क्षति पहुँचाने के अपराध में पकड़ लिया गया। बटावियर जहाज के मालिकों ने टक्कर के लिए मिस्री जहाज को जिम्मेदार ठहराते हुए उसके विरुद्ध एक मुकदमा चलाया और टक्कर से होने वाले क्षतिपूर्ति के हर्जाने के लिए दावा किया। विवाद में विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या एक स्वतन्त्र राजा अथवा सम्प्रभु की सम्पत्ति अन्य राज्य के नौसैनिक न्यायालय के क्षेत्राधिकार में आ सकती है? चारकियेह ने अपने विरुद्ध कानूनी कार्यवाही को रोकने के लिए दिए आवेदन-पत्र में तर्क दिया कि यह जहाज मिस्र के खदीव की सम्पत्ति है जो एक स्वतन्त्र राजा या प्रभु है, अतः वह ब्रिटिश नौसैनिक न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत नहीं है।

जिस समय टक्कर हुई थी, उस समय मिस्री जहाज पर टर्की की उस्मानिया नौसेना (Ottomon Navy) का झण्डा फहरा रहा था क्योंकि मिस्र उस समय उस्मानिया या ओटोमन साम्राज्य की एक इकाई था, अर्थात् मिस्र का खदीव टर्की के सुल्तान के अधीन समझा जाता था। न्यायालय ने मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार करते हुए निर्णय दिया कि उस समय मिस्र का खदीव सभी दृष्टियों से स्वतन्त्र राजा या सम्प्रभु नहीं था इसलिए उसकी सम्पत्ति न्यायालय की कानूनी कार्यवाही से मुक्त नहीं है और चारकियेह जहाज को दुर्घटना के सम्बन्ध में गिरफ्तार करने, मुकदमा चलाने तथा दण्डित करने का ब्रिटिश अदालत को पूर्ण अधिकार है।

(5) दी क्रिस्टीना विवाद (1937)

(राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच सम्बन्ध)

इस विवाद का सम्बन्ध राष्ट्रीय और *अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच सम्बन्ध* से है। यह विवाद राज्यों के प्रादेशिक क्षेत्राधिकार, उन्मुक्ति एवं सीमा तथा मान्यता आदि प्रश्नों पर प्रकाश डालता है। क्रिस्टीना एक स्पेनिश पोत था जिसका पंजीकरण बिल्बाओ से किया गया था। 19 जून 1937 को यह बन्दरगाह गणतन्त्र सरकार से जनरल फ्रांको ने छीन लिया। गणतन्त्र सरकार ने एक आदेश जारी करके बिल्बाओ मे पंजीकृत सभी जहाजों की माँग की। जब क्रिस्टीना ब्रिटिश बन्दरगाह मे पहुँचा तो स्पेन के काउन्सलर ने उसे अपने अधिकार में ले लिया। पोत के स्वामी इस पर अपने एकाधिकार का दावा कर रहे थे।

विवाद मे प्रश्न यह था कि क्या एक सम्प्रभु राज्य दूसरे सम्प्रभु राज्य के *क्षेत्राधिकारों का प्रयोग कर सकता है। लॉर्ड राइट ने यह विचार व्यक्त किया कि* अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सामान्य सिद्धान्तों के अनुसार एक सम्प्रभु राज्य दूसरे सम्प्रभु राज्य के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त है। कोई राज्य अन्य राज्य पर क्षेत्राधिकार का दावा नहीं कर सकता है।

(6) दी एरान्तजाज़ु मेन्डी विवाद (1939)

(राज्यों को मान्यता देने विषयक नियम तथा प्रादेशिक क्षेत्राधिकार)

इस विवाद का सम्बन्ध राज्यों को मान्यता देने विषयक नियमों और प्रादेशिक क्षेत्राधिकार की व्यवस्था करने से है। एरान्तजाज़ु मेन्डी भी क्रिस्टीना की भाँति बिल्बाओ बन्दरगाह के पंजीकृत स्पेन का जहाज था। बिल्बाओ बन्दरगाह मे मौजूद और पंजीकृत सभी जहाजों को जनरल फ्रांको की विद्रोही सेनाओं ने विजयी होने के बाद जून 1937 मे अपने अधिकार मे कर लिया और स्पेन की एक नयी राष्ट्रवादी सरकार का निर्माण किया। जब जहाजों को जब्त करने का आदेश दिया गया तो उस समय एरान्तजाज़ु मेन्डी स्पेनिश प्रादेशिक समुद्र मे नहीं था, किन्तु जून 1936 मे जब यह जहाज ब्रिटिश प्रादेशिक समुद्र मे प्रविष्ट हुआ तो स्पेन की विद्रोही *सरकार ने इस पर अधिकार का दावा करते हुए ब्रिटिश सरकार से* अनुरोध किया कि वे जहाज को बन्दी बनाकर उसके स्वामी (विद्रोही सरकार) को लौटाएँ। ब्रिटेन ने जहाज को बन्दी तो बना लिया, किन्तु उसे ब्रिटेन के ही प्रादेशिक समुद्र मे रुके रहने के लिए आदेश दिया। अप्रेल 1938 मे स्पेन के अधिकांश भाग पर तथ्यत: स्वामित्व प्राप्त फ्रांको सरकार ने जहाज को नियोजित किया। स्पेन की पुरानी गणतन्त्रीय (Republic) सरकार ने जहाज पर स्वामित्व का दावा करते हुए अदालत मे विवाद प्रस्तुत किया और जहाज को फ्रांको सरकार द्वारा नियोजित किए जाने को गैर-कानूनी ठहराया।

विवाद में विचारणीय प्रश्न था कि जहाज पर कानूनी (De jure) गणतन्त्रीय सरकार का अधिकार है अथवा फ्रांस के विद्रोही तथ्यत: (De facto) सरकार का अधिकार है? मामले पर विचार करने वाले न्यायालय (ब्रिटिश) ने ब्रिटिश

सरकार के विदेश कार्यालय से यह जानकारी चाही कि फ्रांको की राष्ट्रवादी सरकार को ब्रिटिश सरकार विदेशी सरकार स्वीकार करती है अथवा नहीं । ब्रिटिश सरकार की ओर से न्यायालय को उत्तर दिया गया कि स्पेन की राष्ट्रवादी सरकार बार्सीलोना में स्थापित गणतन्त्रीय सरकार के साथ संघर्ष कर रही है, ब्रिटिश सरकार गणतन्त्रीय सरकार को स्पेन की कानूनी (de jure) सरकार स्वीकार करती है, यह राष्ट्रवादी सरकार को उत्तरी-स्पेन के सब बास्क प्रान्तों पर वास्तविक या तथ्यतः (de facto) नियन्त्रण करने वाली सरकार मानती है, एवं राष्ट्रवादी सरकार को किसी दूसरी सरकार के अधीन नहीं है । ब्रिटिश सरकार ने कहा कि राष्ट्रवादी सरकार विदेशी (Foreign) राज्य है या नहीं, यह एक कानूनी प्रश्न है निर्णय करना न्यायालय का काम है ।

अदालत ने फैसला दिया कि जनरल फ्रांको की राष्ट्रवादी सरकार विदेशी सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य है, सम्पत्ति मे उसका हित (Interest) है, इसलिए उस पर ब्रिटिश न्यायालय में मामला नहीं चलाया जा सकता । इस निर्णय के विरुद्ध जो अपील प्रिवी कौंसिल मे की गयी वह रद्द कर दी गयी । लॉर्ड एटकिन ने अपने निर्णय मे लिखा—

"वास्तविक प्रशासन के नियन्त्रण करने का अथवा प्रभावशाली प्रशासनात्मक नियन्त्रण करने का अभिप्राय मैं यह समझता हूँ कि यह एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न (Sovereign) सरकार द्वारा निम्नलिखित कार्यों का सम्पादन करना है—कानून और व्यवस्था को बनाए रखना, न्यायालयों की स्थापना करना तथा इन्हें चलाते रहना, एक प्रदेश के निवासियों के एक दूसरे के साथ तथा सरकार के साथ सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाले कानून को बनाना तथा लागू करना । आवश्यक रूप से इसका ध्वनितार्थ यह भी है कि सैनिक और असैनिक कार्यों के लिए अनेक प्रकार की सम्पत्ति के स्वामी होने तथा उसके नियन्त्रण करने का अधिकार रखनी है, इस सम्पत्ति में लड़ाकू तथा व्यापारिक दोनों प्रकार के जहाजों का समावेश होता है । उपर्युक्त अवस्थाओं में मुझे यह प्रतीत होता है कि यदि किसी प्रदेश में वहाँ किसी अन्य सरकार के वशवर्ती न होने पर, उपर्युक्त विशेषताएँ रखने वाली किसी सरकार को मान्यता प्रदान की जाती है तो यह इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से विदेशी सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य के समान मान लेना है ।"

(7) हेलसिलासी विरुद्ध केबल एण्ड वायरलैस लिमिटेड (1939)

(राज्य विषयक उत्तराधिकार)

यह विवाद राज्य के उत्तराधिकार सम्बन्धी विषय पर प्रकाश डालता है । यह विवाद इटली द्वारा इथोपिया को अधिकृत किए जाने के समय उत्पन्न हुआ । हेलसिलासी इथोपिया का सम्राट था और इथोपिया पर इटली का अधिकार हो जाने के बाद ब्रिटेन मे निर्वासन की स्थिति में रह रहा था । केबल एण्ड वायरलैस कम्पनी एक ब्रिटिश कम्पनी थी जिसने 1935 मे इथोपिया के पोस्ट एण्ड टैलिग्राफ विभाग के साथ एक अनुबन्ध किया था । अनुबन्ध के फलस्वरूप इथोपिया के सार्वजनिक राजस्व

में कम्पनी की ओर से कुछ धनराशि देय हो गई थी जिसे कम्पनी ने 1939 तक अदा नहीं किया। हेलसिलासी ने, जो उस समय ब्रिटेन में ही मौजूद था, कम्पनी के खिलाफ ब्रिटेन में मुकदमा चलाया और बकाया धन की अदायगी (हेलसिलासी को) की माँग की। इस बीच चूँकि इथोपिया पर इटली का अधिकार हो गया, अतः इटली ने भी यह धनराशि इटली को अदायगी की माँग की। कम्पनी ने देय धन का स्वीकार करते हुए यह आवेदन किया कि जो भी बकाया देय धन है वह इटली सरकार को ही मिलना चाहिए, क्योंकि उसे लंदन स्थित इटालियन राजदूत द्वारा आशय का एक पत्र मिला है। कम्पनी का यह भी कहना था कि इटली ने इथोपिया को अपने राज्य का अंग बना लिया है, अतः इटली उस देश का सर्वोच्च शासक या सम्प्रभु हो गया है। ब्रिटिश सरकार ने भी इटली की सरकार को इथोपिया की तथ्यानुसार सरकार (de facto Government) मान लिया है।

इटालियन सरकार इस मामले के निर्णय के लिए किसी ब्रिटिश न्यायालय का क्षेत्राधिकार मानने को तैयार नहीं थी। अतः न्यायालय ने ब्रिटिश विदेश मन्त्रालय से सम्राट हेलसिलासी की और इथोपिया में इटालियन सरकार की स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए कहा। विदेश कार्यालय ने उत्तर दिया कि ब्रिटिश सरकार हेलसिलासी को इथोपिया का विधिवत् (de jure) सम्राट मानती है और इटालियन सरकार को इथोपिया के सब हिस्सों को अपने नियन्त्रण में रखने वाली तथ्यानुसार या वास्तविक (de facto) सरकार मानती है। यह सूचना प्राप्त होने के बाद मुकदमा सुनने वाले न्यायाधीश बेनेट ने निर्णय दिया कि सारी शक्ति छिन जाने के बाद भी विधिवत् सरकार होने के कारण सेलसिलासी अपने आसन से वंचित नहीं हुआ है और इथोपिया के सर्वोच्च शासक के रूप में कम्पनी की राशि पाने का उसका जो अधिकार पहले था वह अब भी बना हुआ है।

कम्पनी ने 3 नवम्बर 1938 को न्यायाधीश बेनेट के निर्णय के विरुद्ध अपील की। इसी समय ब्रिटिश सरकार ने संसद् में यह घोषणा की कि उसका इरादा यह है कि इटली के राजा को इथोपिया का कानूनी या विध्यनुसार (de jure) शासक मान लिया जाए। 30 नवम्बर, 1939 को ब्रिटिश विदेश कार्यालय ने अदालत में यह प्रमाण पत्र पेश किया कि ब्रिटिश सरकार अब हेलसिलासी को इथोपिया का कानूनी सम्राट (de jure Sovereign) स्वीकार नहीं करती। इन परिवर्तित परिस्थितियों में अपीलीय न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अब कम्पनी से राशि प्राप्त करने का अधिकार इटली के राजा को है, न कि हेलसिलासी को। इस अधिकार-परिवर्तन का समय दिसम्बर, 1939 समझा जाना चाहिए क्योंकि इसी समय से ब्रिटिश सरकार ने इटालियन सरकार को इथोपिया की वास्तविक तथ्यानुसार (de facto) सरकार स्वीकार कर लिया था।

1939 ई में ब्रिटिश ईयर बुक ऑफ इन्टरनेशनल ला ने इस मामले के सम्बन्ध में जो लिखा था, उसे श्री वेदालंकार ने उद्धृत किया है :

जस्टिस बेनेट ने तथा अपील के न्यायालय (Court of Appeal) ने राज्य

ने उत्तराधिकारी (Succession) के सम्बन्ध में तीन महत्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय किया है :

(1) यह स्पष्ट रूप से तथा निर्विवाद रूप से मान लिया गया है कि जब पहले से स्वाधीन किसी राज्य को जीतकर उसका कोई नया सर्वोच्च शासक बनता है तो वह इंगलैण्ड में विद्यमान उन सब ऋणों को प्राप्त करने का उत्तराधिकारी हो जाता है, जो सार्वजनिक रूप में उससे पहले स्वतन्त्र शासक को प्राप्त होने वाले थे। जब कानूनी रूप से नए शासक का स्वत्व माना जायेगा तो इंगलैण्ड में उसकी अन्य सम्पत्ति पर भी नए शासक का उत्तराधिकार स्थापित हो जाएगा।

(2) इंगलैण्ड में इस सम्पत्ति को उत्तराधिकार में पा सकना तब तक नहीं जाएगा, जब तक पुराने शासक को विध्यनुसार या कानूनी (de jure) शासक माना जा रहा है और नया शासक केवल उस प्रदेश का तथ्यानुसार या वास्तविक (de facto) शासक हो।

(3) जब एक बार किसी शासक को कानूनी तौर से स्वीकृति प्रदान की जाती है तो सम्पत्ति को विरासत में पाने के लिए यह स्वीकृति भूतकाल में उस समय तक पीछे की ओर जा सकती है जब कि ब्रिटिश सरकार ने यह स्वीकार किया हो कि नए सर्वोच्च शासक ने वास्तविक या तथ्यानुसार (de facto) शासक का स्वत्व पा लिया है। यह पूर्व सम्बन्ध (Relation back) के सिद्धान्त को व्यवहार में लाना है।

(8) मिघेल बनाम जोहोर का सुल्तान (1893)

(सर्वोच्च शासक की विदेशी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से छूट)

यह विवाद सम्प्रभु शासक की विदेशी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से छूट के सम्बन्ध में विचार करता है। मलाया में अवस्थित जोहोर नामक राज्य के एक सुल्तान ने ब्रिटेन में अपने निवास के दौरान एल्बर्ट बेकर का नाम धारण किया और इसी रूप में मिघेल नामक एक ब्रिटिश महिला से उसका परिचय हुआ। बाद में ब्रिटिश महिला ने उस पर वचन भंग का आरोप लगाते हुए यह मुकदमा चलाया कि उसने (बेकर ने) उसके साथ विवाह करने का वचन दिया था, किन्तु इसे पूरा नहीं किया। सुल्तान ने विरोध में कहा कि वह एक स्वतन्त्र सर्वोच्च शासक (Independent Sovereign Ruler) है, अतः ब्रिटिश न्यायालयों का उस पर कोई क्षेत्राधिकार नहीं है। सुल्तान की बात स्वीकार करते हुए न्यायालय ने मिघेल की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया।

मिघेल ने उच्च न्यायालय में अपील की और तर्क दिया कि प्रतिवादी अपने आपको एक निजी व्यक्ति (Private Individual) बताता रहा है, इस रूप में वह इंगलैण्ड की प्रजा है और ब्रिटिश न्यायालयों का उस पर क्षेत्राधिकार है। यह बात भी पूरी तरह सिद्ध नहीं हो पाई कि प्रतिवादी एक स्वतन्त्र प्रभुत्वसम्पन्न शासक है, इस सम्बन्ध में औपनिवेशिक कार्यालय का पत्र पर्याप्त प्रमाण नहीं है।

मुकदमे में निर्णय देते हुए लॉर्ड एशर ने कहा—'अन्तर्राष्ट्रीय कानून के

अन्तर्गत प्रत्येक सम्प्रभु राज्य दूसरे सम्प्रभु राज्यों की स्वतन्त्रता एवं प्रतिष्ठा का आदर करता है । विदेशी शासक पर एक न्यायालय तभी अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सकता है जब उसे ऐसा करने के लिए कहा जाए और शासक उसके क्षेत्राधिकार को स्वयं स्वीकार करे । शासक यदि ऐसा नहीं करता तो न्यायालय का उस पर कोई क्षेत्राधिकार नहीं होगा ।" लार्ड एशर ने अपने निर्णय में बताया कि औपनिवेशिक कार्यालय का इस आशय का पत्र पूरी तरह प्रामाणिक है कि प्रतिवादी *जोहौर के सुल्तान के रूप में स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शासक है । विद्वान* न्यायाधीश ने मिघेल का यह तर्क स्वीकार नहीं किया कि निजी तौर पर रहने के कारण प्रतिवादी स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शासक के विशेषाधिकारों से *वंचित हो गया ।*

(9) कोर्फू चैनल विवाद (1949 में निर्णीत)

(प्रादेशिक क्षेत्राधिकार, समुद्री सीमा)

यह विवाद प्रादेशिक क्षेत्राधिकार, महासमुद्रों के एवं अन्तर्राष्ट्रीय जल मार्गों के प्रयोग के सन्दर्भ में है । कोर्फू-चैनल ग्रीस और अल्बानिया के बीच स्थिति है तथा दोनों देशों के प्रादेशिक समुद्र का अंग है तथापि इसे अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्गों की श्रेणी में गिना जाता है । द्वितीय महायुद्ध के दौरान कोर्फू-चैनल में नाकाबन्दी के उद्देश्य से विस्फोटक सुरंगें लगा दी थी और सम्बन्धित पक्षों का कर्त्तव्य था कि वे युद्ध समाप्ति के बाद इन सुरंगों को हटा दें। ब्रिटिश नौसेना ने अक्टूबर, 1944 और जनवरी, 1945 में इन सुरंगों का पता लगाने के लिए अपने खोजी जहाज भेजे, लेकिन कोई सुरंग नहीं मिली, फलस्वरूप कोर्फू-चैनल को समुद्री यातायात और परिवहन के लिए सुरक्षित घोषित कर दिया गया ।

15 मई, 1946 को कोर्फू चैनल से गुजरने वाले दो ब्रिटिश युद्धपोतों पर अल्बानिया की तटवर्ती तोपों ने गोलाबारी की । 22 अक्तूबर, 1946 को इसी स्थान से गुजरते हुए दो ब्रिटिश सैनिक जहाजों और पनडुब्बी जहाजों को यहाँ बिछाई गयी सुरंगों से जान और माल की भारी क्षति हुई । इससे ब्रिटेन उत्तेजित हुआ और अल्बानिया के विरोध पर भी तटलग्न जल में घुसकर छिपी हुई सुरंगों (Mines) को हटा दिया । इससे दोनों देशों के बीच गम्भीर तनाव उत्पन्न हो गया । यह मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष लाया गया ।

सुरक्षा परिषद् ने बहुमत से अल्बानिया को दोषी ठहराया । प्रस्ताव के पक्ष में आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, ब्राजील, चीन, कोलम्बिया, फ्रांस और अमेरिका थे । रूस और पोलैण्ड ने विरोध किया । सीरिया तटस्थ रहा । प्रस्ताव बहुमत से पास होने पर भी रूस के निषेधाधिकार (Veto) के कारण मान्य न हो सका । सुरक्षा परिषद् ने यह विषय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख उपस्थित किया ।

न्यायालय के सम्मुख विचाराधीन प्रश्न दो थे—(1) क्या अल्बानिया उसके *प्रादेशिक समुद्र में 22 अक्तूबर 1946 को होने वाले विस्फोटों के लिए उत्तरदायी है ?* क्या इस दुर्घटना के कारण होने वाली जान और माल की क्षति का उत्तरदायित्व

उस पर है ? (2) क्या ग्रेट-ब्रिटेन ने अल्बानिया के प्रादेशिक समुद्र में 22 अक्तूबर और 12–13 नवम्बर को शाही बेड़े द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अल्बानिया की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण किया है ? क्या उसे अल्बानिया को सन्तुष्ट करना चाहिए ?

इस सम्बन्ध में न्यायालय के तीन फैसले हुए—

(क) पहला फैसला 25 मार्च 1948 को दिया गया। अल्बानिया का मत था कि इस प्रकार के फैसले का अधिकार न्यायालय को नहीं है। न्यायालय ने निर्णय दिया कि संयुक्त राष्ट्र के अभिसमय के अनुसार सुरक्षा परिषद् द्वारा प्रेषित विवादों पर निर्णय देने का उसे अधिकार है।

(ख) दूसरा निर्णय जो अन्तर्राष्ट्रीय विधान के दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण था, 9 अप्रेल 1947 को हुआ। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अल्बानिया ने स्वयं विस्फोटक नहीं बिछाया था किन्तु विस्फोटक बिछाए जाने की जानकारी उसे थी क्योंकि बिना उसकी जानकारी के उसके तटलग्न समुद्र में विस्फोटक बिछाया नहीं जा सकता था, ऐसी परिस्थिति में अल्बानिया को उचित था कि इसकी चेतावनी राष्ट्रों को दे दे। *अल्बानिया ने चेतावनी नहीं दी। अतः उसने अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त की* अवहेलना की। इस कारण ब्रिटेन को अल्बानिया से समुचित क्षति प्राप्त करने का अधिकार है।

अल्बानिया ने ब्रिटेन के प्रति अभियोग लगाया था कि पहले तो उसके सैनिक जहाज उसके तटलग्न समुद्र में होकर गए और दूसरे बिना उसकी अनुमति के 12–13 नवम्बर को सुरंगों को हटाया। इन सब कार्यों से अल्बानिया की स्वतन्त्रता की अवहेलना हुई।

इस सम्बन्ध में न्यायालय ने पहला आरोप स्वीकार नहीं किया और निर्णय किया कि शान्ति काल में जहाजी बेड़ा दूसरे राज्य के तटलग्न समुद्र में जा सकता है, यदि वह कार्य सदुद्देश्यपूर्ण हो।

(ग) तीसरा निर्णय 18 सितम्बर 1949 को हुआ। विशेषज्ञ समिति की जाँच के परिणामस्वरूप न्यायालय ने निर्णय दिया कि मृत्यु और क्षति के लिए अल्बानिया 8,44,000 पौण्ड हर्जाना ब्रिटेन को दे।

इस प्रकार न्यायालय के निर्णय से इन सम्बन्ध का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार स्पष्ट और निश्चित हो गया। किसी राष्ट्र को अधिकार है कि दो जलमार्गों को मिलाने वाले तंग जलमार्ग (स्ट्रेट्स) सदुद्देश्य से सैनिक जहाज शान्ति काल में बिना अनुमति प्राप्त किए जा सकते हैं। साथ-साथ ब्रिटेन के कार्य की निन्दा की और उसे अवैध करार देकर न्यायालय ने चेतावनी दी कि सबल राष्ट्र का निर्बल राष्ट्र के प्रति बल प्रदर्शन अवैध और अनुचित है।

(10) लोटस विवाद (1927)

(प्रादेशिक और वैयक्तिक क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून)

यह विवाद प्रादेशिक एवं निजी क्षेत्राधिकार के सन्दर्भ में उद्धृत किया जाता

है। एस एस लोटस एक फ्रैन्च जहाज था जो 2 अगस्त, 1926 को टर्की के बन्दरगाह कुस्तुन्तुनिया की ओर जा रहा था। टर्की के प्रादेशिक समुद्र से बाहर महासमुद्र में यह फ्रैन्च जहाज टर्की के कोयला ढोने वाले बोज कोर्ट नामक एक जहाज से टकरा गया। परिणामस्वरूप टर्की का जहाज डूब गया और उस पर सवार 8 तुर्क नागरिकों को भी अपने प्राण गवाने पड़े।

3 अगस्त को जब फ्रैन्च जहाज लोटस कुस्तुन्तुनिया पहुँचा तो तुर्क अधिकारियों ने जहाज के कप्तान लेफ्टिनेण्ट दमोन को और टर्की के जहाज बोज कोर्ट के कप्तान हसन बे को बन्दी बना लिया। फ्रैन्च कप्तान को गिरफ्तार करने से पहले इसकी कोई सूचना टर्की स्थित फ्रैन्च दूतावास को नहीं दी गई। गिरफ्तारी का उद्देश्य दोनों जहाजों के कप्तानों पर मुकदमा चला कर मृतक तुर्क नागरिकों के परिवारों को हर्जाना दिलाना था।

टर्की की फौजदारी अदालत में मुकदमा चलने पर फ्रैन्च कप्तान दमोन ने न्यायालय के क्षेत्राधिकार को चुनौती देते हुए कहा कि उसे विदेशी नागरिक पर मुकदमा चलाने का कोई अधिकार नहीं है। यह भी तर्क दिया गया कि दुर्घटना टर्की के प्रादेशिक समुद्र में नहीं बल्कि उसके बाहर महासमुद्र में घटित हुई थी और इसलिए भी टर्की के न्यायालयों का इस मुकदमे में क्षेत्राधिकार नहीं बनता। तुर्क न्यायालय ने इस युक्ति को स्वीकार नहीं किया और दमोन की उपेक्षा तथा असावधानी को दुर्घटना का एक कारण मानते हुए उसे आठ दिन की जेल की सजा दी और 22 पौण्ड का जुर्माना किया। तुर्क कप्तान हसन बे को अपेक्षाकृत अधिक कठोर दण्ड दिया गया।

फ्रैन्च सरकार ने दमोन की मुक्ति की माँग की और कहा कि उस पर फ्रैन्च अदालत में मुकदमा चलाया जाएगा। टर्की सरकार ने फ्रैंच सरकार की बात स्वीकार नहीं की, किन्तु काफी आग्रह के बाद वह इस बात के लिए सहमत हो गई कि क्षेत्राधिकार के संघर्ष का यह मामला हेग के स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाए। दोनों पक्षों में हुए समझौते के अनुसार 12 अक्तूबर, 1929 को यह मामला हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंपा गया।

हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने विवाद में प्रस्तुत प्रश्नों पर क्या विचार प्रकट किया, इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप की क्या विवेचना की, दोनों पक्षों ने क्या तर्क पेश किए और न्यायालय का निर्णय क्या रहा तथा क्या वह निर्णय ठीक था, आदि पर हम डॉ शील आसोपा के वर्णन को प्रस्तुत करना चाहेंगे—

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में न्यायालय के विद्वान न्यायाधीशों में उग्र मतभेद था। इसके अध्यक्ष के निर्णायक मत द्वारा पहले प्रश्न का नकारात्मक फैसला करते हुए यह कहा था कि टर्की ने फ्रैन्च स्टीमर के इस्ताम्बूल पहुँचने पर इसके फ्रैन्च चालक ले. दमोन पर तुर्क अदालत में हसन बे के साथ फौजदारी का *संयुक्त मामला* चलाने में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों का उल्लंघन नहीं किया। पहले प्रश्न का

नकारात्मक उत्तर होने के कारण ले. दमोन का मुआवजा देने के दूसरे प्रश्न पर न्यायालय को निर्णय देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

फ्रेन्च सरकार ने इस मामले में टर्की से यह माँग की थी कि वह दमोन पर मुकदमा चलाने का तथा क्षेत्राधिकार साबित करने का अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा स्वीकृत कोई प्रमाण उपस्थित करे। तुर्क सरकार ने इस विषय में अपने पक्ष में 24 जुलाई 1923 को लोजान में हुए समझौते की 15वीं धारा को प्रस्तुत किया और न्यायालय ने इसे स्वीकार किया।

इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप की विवेचना करते हुए न्यायालय ने यह मत प्रकट किया—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्वतन्त्र राज्यों के सम्बन्धों का नियमन करता है। अतः इस क्षेत्र में राज्यों पर लागू होने वाले नियम उनकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा से स्वीकृत होते हैं इन्हें पारस्परिक समझौतों में व्यक्त किया जाता है अथवा ये नियम ऐसी प्रथाओं से निश्चित होते हैं जिन्हें सामान्य रूप से सब देश स्वीकार करते हैं। इन नियमों की स्थापना का प्रयोजन सहवर्ती एवं स्वतन्त्र समुदायों के आपसी सम्बन्धों का इस दृष्टि से नियमन करना होता है कि ये अपने सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें। अतः राज्यों की स्वतन्त्रता को मर्यादित करने वाले ऐसे प्रतिबन्धों की कल्पना नहीं की जा सकती जो राज्यों द्वारा स्वीकार न किए गए हों।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राज्य पर सबसे बड़ा प्रतिबन्ध यह है कि वह दूसरे राज्य के प्रदेश में अपनी शक्ति का प्रयोग बिलकुल नहीं कर सकता। इस प्रकार राज्य का क्षेत्राधिकार निश्चित रूप से प्रादेशिक है। कोई राज्य इसका प्रयोग अपने प्रदेश से बाहर नहीं कर सकता। केवल अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाज या समझौते द्वारा अनुमति दिये जाने पर ही राज्य अपने प्रदेश से बाहर अपनी सत्ता का प्रयोग कर सकता है।

किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी राज्य को अपने प्रदेश में किसी ऐसे मामले में क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने से रोक सकता है, जिसका सम्बन्ध उस राज्य के प्रदेश से बाहर हुए कार्यों से हो तथा जिसमें उसे ऐसा करने की अनुमति देने वाला अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम न हो। यह दृष्टिकोण तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सब राज्यों के सम्बन्धों में एक ऐसा सामान्य प्रतिबन्ध मान लिया जाए कि वे अपने प्रदेश के बाहर मौजूद व्यक्तियों और सम्पत्ति तथा कार्य के सम्बन्ध में अपने कानूनों को लागू नहीं करेंगे तथा इनके विषय में अपने न्यायालयों का क्षेत्राधिकार नहीं मानेंगे। किन्तु वर्तमान समय में निश्चित रूप से ऐसी स्थिति नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि राज्यों का क्षेत्राधिकार सीमित करने के स्थान पर, उन्हें इस विषय में बहुत बड़ी मात्रा में कार्यवाही करने का अधिकार प्रदान करती है। इन अवस्थाओं में फ्रेन्च सरकार का यह दावा ठीक नहीं है कि टर्की को अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम प्रमाण रूप में उपस्थित करना चाहिए।

फ्रेन्च सरकार ने निम्नलिखित उक्तियों के आधार पर अपना तर्क उपस्थित किया कि टर्की को इस मामले मे फ्रेन्च नागरिक का फौजदारी मामला सुनने का क्षेत्राधिकार पर्याप्त नहीं है

(1) अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी राज्य को यह अधिकार प्रदान नही करता कि वह विदेशियों द्वारा विदेश मे किए गए अपराधो के सम्बन्ध मे केवल पीडित व्यक्ति की नागरिकता के आधार पर कार्यवाही कर सके। इस मामले में तुर्क सरकार ने डूबने वालों की हत्या का आरोप ले दमोन पर लगाया है और इन व्यक्तियों के राष्ट्रीय तुर्क होने के कारण वह अपनी फौजदारी अदालत मे दमोन पर मुकदमा चला रही है, किन्तु दमोन टर्की का नागरिक नहीं है और यह अपराध टर्की की प्रादेशिक सीमाओ से बाहर महासमुद्र मे फ्रेन्च जहाज द्वारा हुआ है अतः टर्की की सरकार को ऐसे अपराधी के विरुद्ध कार्यवाही करने का कोई अधिकार नहीं है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय कानून यह स्वीकार करता है कि महासमुद्र मे किसी जहाज पर जो घटनाएँ होती हैं, उनके सम्बन्ध मे कार्यवाही करने का एकमात्र अधिकार उसी देश को होता है, जिस देश का झण्डा उस जहाज पर फहरा रहा हो। लोटस स्टीमर पर फ्रेन्च पताका थी अत महासमुद्रो मे इस पर हुई सब घटनाओं के सम्बन्ध में कार्यवाही करने का अधिकार केवल फ्रान्स की सरकार को है।

(3) यह सिद्धान्त दुर्घटना होने की दशा मे विशेष रूप से लागू होता है।

न्यायालय ने पहली युक्ति के सम्बन्ध मे विचार करते हुए फ्रेन्च सरकार का यह दावा स्वीकार नही किया कि कोई राज्य किसी विदेशी द्वारा देशान्तर में किए गए अपराध को पीडित व्यक्ति की नागरिकता के आधार पर दण्डित करने का अधिकार नही रखता।

फ्रेन्च सरकार की दूसरी युक्ति के सम्बन्ध मे विचार करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कहा कि यद्यपि यह सत्य है कि महासमुद्रो मे यात्रा करने वाले जलपोतों पर उसी राज्य का अधिकार होता है जिस राज्य का झण्डा उस पर होता, तथापि इससे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि राज्य को उन कार्यों के सम्बन्ध मे कोई क्षेत्राधिकार नही है जिसमे महासमुद्रो मे विदेशी जहाजो द्वारा उसके जहाजो को क्षति पहुँचाई गई हो। यदि महासमुद्रो मे किया गया कोई अपकारपूर्ण कार्य अपना प्रभाव दूसरे देश का झण्डा फहराने वाले जलपोत पर अथवा दूसरे देश के प्रदेश पर डालता है तो इस दशा मे वही सिद्धान्त लागू होगे जो विभिन्न राज्यो के प्रदेश मे हुए अपराधों पर लागू होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नहीं है जो क्षतिग्रस्त राज्यो को क्षति पहुँचाने वाले पक्ष के खिलाफ कार्यवाही करने से रोक सके।

तीसरी युक्ति के सम्बन्ध मे न्यायालय का यह मत था कि जहाजों की टक्कर के सम्बन्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नहीं है, जिसके अनुसार फौजदारी कार्यवाही करने का एकमात्र या अनन्य क्षेत्राधिकार (एक्सक्लुसिव ज्युरिसडिक्शन) केवल उसी राज्य को है, जिसका झण्डा उस जहाज पर फहरा रहा हो।

इस मामले में दमोन पर उसकी लापरवाही अथवा प्रमादकारी के लिए मुकदमा चलाया गया। यह अपराध यद्यपि उसने लोटस जहाज पर किया, किन्तु इसके प्रभाव बोजकुर्त जहाज पर पड़े। कानूनी दृष्टि से ये दोनों तत्व सर्वथा पृथक न हो सकने वाले हैं तथा इस तरह सम्बद्ध हैं कि उनको पृथक कर देने से अपराध का अस्तित्व ही नहीं रहता। न्याय की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए तथा दोनों राज्यों के हितों को प्रभावशाली रीति से सुरक्षित रखने के लिए यह उचित है कि इस मामले में न तो दोनों राज्यों में से किसी एक का एकमात्र क्षेत्राधिकार माना जाए और न ही दोनों में से प्रत्येक का क्षेत्राधिकार उनके जहाजों पर होने वाली घटना तक सीमित किया जाए। यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य इसमें क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सके तथा ऐसा करते हुए वह पूरी घटना पर विचार करे। अतः यह मामला समवर्ती क्षेत्राधिकार (कन्करेन्ट ज्युरिसडिक्शन) का है। इसमें दोनों देशों को कार्यवाही करने का अधिकार है।

उपर्युक्त विचार करने के बाद न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा प्रत्येक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य को प्राप्त होने वाले विवेक (डिस्क्रिशन) के आधार पर टर्की ने यह फौजदारी कार्यवाही की है, अतः उसने अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल कार्य नहीं किया है।

कुछ आलोचकों का यह मत है कि स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का यह निर्णय ठीक नहीं था। चाहे अध्यक्ष के निर्णायक मत से फ्रान्स के मत को अस्वीकार कर दिया गया हो किन्तु सही मत वही था क्योंकि सार्वजनिक जहाज महासमुद्रों पर विदेशी राज्यों के क्षेत्राधिकार से मुक्त होते हैं। शान्तिकाल में यह सिद्धान्त विशेष रूप से लागू होता है। जब लोटस तथा बोजकुर्त में टक्कर हुई उस समय किसी प्रकार का युद्ध नहीं चल रहा था, अतः टर्की को फ्रान्स के जहाज या फ्रेंच प्रजाजन पर मुकदमा चलाने का कोई अधिकार नहीं था। लेकिन यह विचार अल्पमत का है बहुमत का नहीं।

(11) ईस्टर्न ग्रीनलैण्ड केस (1933)

(प्रदेश पर किसी राष्ट्र का आवेशन)

आजकल प्रचलित प्रथा यह है कि यदि किसी राज्य का जहाज किसी नए भूखण्ड का पता लगाता है तो अन्य राज्य कुछ काल तक ठहर कर देखते हैं कि वह उस पर कब्जा करता है या नहीं। उसको कब्जा करने का पर्याप्त अवकाश दिया जाता है परन्तु सिर्फ पता लगाना ही कब्जा नहीं है। साधारण नियम यह है कि वहाँ राज्य का झण्डा गाड़ दिया जाए और उस सम्बन्ध की घोषणा उस राज्य की सरकार की ओर से कर दी जाए। अब ऐसे अवसर पर एक राज्यकर्मचारी विशेष अधिकार के साथ उस स्थान पर जाता है। भूभाग पर अधिकार करने के सम्बन्ध का झगड़ा नार्वे और डेनमार्क के बीच ग्रीनलैण्ड टापू के सम्बन्ध में उठा। उसका निर्णय 'ईस्टर्न ग्रीनलैण्ड केस' में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने किया।

ईस्टर्न ग्रीनलैण्ड वाद के तथ्य निम्नलिखित हैं—

"10 जुलाई 1931 की राजकीय घोषणा द्वारा नार्वे ने ग्रीनलैण्ड के पूर्वी भाग को नार्वे की प्रभुत्व सम्पन्नता में होने की घोषणा की। दूसरी ओर, उक्त क्षेत्र पर डेनमार्क अपना दावा करता था। प्रथम विश्वयुद्ध तथा उसके उपरान्त कई मित्र शक्तियों ने घोषणाएँ की थी कि पूर्वी ग्रीनलैंड डेनमार्क का है तथा वह इस पर डेनमार्क की प्रभुत्व सम्पन्नता के प्रति कोई आपत्ति नहीं करेंगे। नार्वे के विदेश मन्त्री ने भी उक्त तथ्य को स्वीकार किया था तथा कहा था कि नार्वे इस विषय में और कोई आपत्ति नहीं करेगा। नार्वे तथा डेनमार्क दोनों ने स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि (Statute) की ऐच्छिक उपधारा के अन्तर्गत न्यायालय को क्षेत्राधिकार देने की घोषणाएं कर रखी थी। डेनमार्क का तर्क था कि नार्वे का 10 जुलाई 1931 की घोषणा के आधार पर आवेशन अवैध है, क्योंकि उस समय पूर्वी (ईस्टर्न) ग्रीनलैण्ड डेनमार्क की प्रभुत्व सम्पन्नता के अन्तर्गत था। डेनमार्क का कहना था कि उक्त क्षेत्र पर डेनमार्क की प्रभुत्व सम्पन्नता बहुत समय से निरन्तर तथा शान्तिपूर्वक है तथा प्रस्तुत विवाद के पूर्व किसी शक्ति ने उसका विरोध नहीं किया। इसके अतिरिक्त नार्वे ने स्वयं सन्धि तथा अन्य प्रकारों से पूर्वी ग्रीनलैण्ड पर डेनमार्क की प्रभुत्व-सम्पन्नता को स्वीकार किया है। अतः वह अब इसका विरोध नहीं कर सकता है। दो मतों के विरुद्ध बारह मतों के बहुमत से अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना निर्णय डेनमार्क के पक्ष में दिया।"[1]

ईस्टर्न ग्रीनलैण्ड वाद में अस्थाई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने निम्नलिखित दो नियम प्रतिपादित किए—[2]

(1) आवेशन के लिए यह आवश्यक है कि सम्बन्धित प्रदेश पर प्रभुसत्ता स्थापित करने की इच्छा हो।

(2) सम्बन्धित प्रदेश पर प्रभुसत्ता उपयुक्त रूप से स्थापित की जाए तथा उसका वास्तविक प्रयोग अथवा प्रदर्शन होना चाहिए।

(12) पालमास द्वीप केस (1929)

(प्रदेश पर किसी राष्ट्र का आवेशन)

स्पेन ने पालमास द्वीप का पता लगाया था, किन्तु वास्तविक रूप से उस पर अपना अधिकार कायम नहीं किया था। किन्तु नीदरलैण्ड राज्य (हालैण्ड) ने उस पर वस्तुतः अधिकार कर लिया। संयुक्त राज्य अमेरिका और नीदरलैण्ड राज्य के बीच इस द्वीप के सम्बन्ध में विवाद उपस्थित हुआ। विवाद पंचायत के सम्मुख रखा गया। अमेरिका का कथन था कि स्पेन का उत्तराधिकारी होने के कारण उस द्वीप पर उसका स्वत्व है, किन्तु नीदरलैण्ड का कथन था कि बहुत काल से उसने उस द्वीप पर पूरा अधिकार कर रखा था अतः काल के प्रवाह से वह द्वीप उसका हो

1-2 एस के कपूर : वही, पृष्ठ 218

गया है। निर्णय नीदरलैण्ड के पक्ष मे हुआ। घोषणा के बाद थोड़ी बहुत बस्ती बसानी पड़ती है। बस्ती भी निरन्तर होनी चाहिए। कुछ राज्यो मे कर्मचारियों को रखना भी आवश्यक होता है। कभी-कभी इसके विपरीत भी होना है। दक्षिण अफ्रीका के नेटाल प्रदेश मे 1826 मे ही कुछ ब्रिटेन निवासी गए थे। किन्तु ब्रिटेन सरकार की घोषणा 1843 में हुई, और तब नियमित रूप से वह ब्रिटेन का एक अंग हुआ। यदि 1824 और 1843 के बीच दूसरा कोई राज्य अधिकार करने की घोषणा कर देता तब वह उसी राज्य का हो जाता। अतः अभिभोग के लिए अधिकार और घोषणा दोनों ही आवश्यक हैं।

(13) विम्बलडन विवाद (1923)
(प्रादेशिक क्षेत्राधिकार)

विम्बलडन एक ब्रिटिश जहाज था जिसे एक फ्रेंच कम्पनी ने चार्टर किया था। 21 मार्च 1921 को जब यह जहाज पोलैण्ड के लिए कील नहर के रास्ते से सैनिक सामग्री ले जा रहा था, उस समय पोलैण्ड और रूस परस्पर युद्धरत थे तथा जर्मनी युद्ध मे तटस्थ था। जर्मनी ने विम्बलडन जहाज को कील नहर में प्रवेश करने से रोक दिया। इस पर ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान ने अपने संयुक्त प्रार्थनापत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष विवाद प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वर्साय की धारा 380 मे व्यवस्था है कि कील नहर युद्ध और शान्ति दोनों ही स्थितियों मे जर्मनी के साथ मैत्री सम्बन्ध रखने वाले देशो के सभी व्यापारिक और लड़ाकू जहाजो के लिए खुली रहेगी। सन्धि की धारा मे उल्लेख है कि सभी राज्यों को बिना किसी भेदभाव के समानता के आधार पर कील नहर के रास्ते से यातायात और परिवहन का अधिकार होगा। चूंकि जर्मनी वर्साय की सन्धि का हस्ताक्षरकर्ता राज्य है, अतः उसे सन्धि की धारा 380 का सम्मान करते हुए विम्बलडन जहाज को कील नहर के रास्ते से गुजरने देना चाहिए। अपने आवेदन-पत्र मे उपरोक्त चारो राज्यों ने जर्मनी से ब्याज सहित हर्जाने की मांग भी की।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने मामले पर विचार किया और जर्मनी को वर्साय सन्धि की धारा 380 के उल्लंघन का दोषी ठहराते हुए इस धारा का सम्मान करने का निर्देश दिया। जैसा कि डॉ. आसोपा ने लिखा है "वैसे पनामा नहर व स्वेज नहर पर लागू होने वाले नियम कील नहर पर भी लागू होने चाहिए। लेकिन प्रथम महायुद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों ने कील नहर की व्यवस्था को वर्साय की सन्धि के साथ जोड़ दिया और धारा 380 के अनुसार ही इसकी व्यवस्था की। बाद मे हिटलर के अभ्युदय के बाद जर्मनी ने एकतरफा ढंग से वर्साय की सन्धि को अमान्य घोषित कर दिया और कील नहर विषयक व्यवस्थाएँ भी उसी के साथ समाप्त हो गयीं।"

(14) जमोरा विवाद (1916)
(अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राष्ट्रीय कानून तथा तटस्थता)

जमोरा विवाद अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्वपूर्ण विवाद है जिसमे प्रिविकाउंसिल

अथवा नोजितमाल न्यायालयों का अधिकार क्षेत्र, राष्ट्रीय कानून से सबन्ध, तटस्थता, परिवेष्टन और विनिषिद्ध माल से सम्बन्धित कुछ प्रमुख प्रश्नों को उठाया गया था। इन सभी सन्दर्भों मे जमोरा विवाद को उद्धृत किया जा सकता है।

जमोरा तटस्थ राज्य स्वीडन का एक व्यापारिक जहाज था जो प्रथम महायुद्ध के दौरान न्यूयॉर्क से ताम्बा और अनाज लादकर स्वीडन की राजधानी स्टाकहोम जा रहा था। 8 अप्रैल 1915 को एक ब्रिटिश क्रूजर ने इसे मार्ग मे ही रोक कर एक ब्रिटिश बन्दरगाह मे चलने के लिए विवश कर दिया। ब्रिटिश प्रोसीक्यूटर जनरल ने आदेश दिया कि जहाज को माल सहित जब्त कर लिया जाना चाहिए क्योकि इस पर लदा आधे से अधिक माल युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री (Contraband) में आता है। यह आदेश उस समय दिया गया जब जहाज का मामला अभिग्रहण न्यायालय के समक्ष विचाराधीन था। प्रोसीक्यूटर जनरल ने कहा कि जहाज पर लदे माल का मूल्य अभिग्रहण न्यायालय के पास जमा करा दिया जाएगा। इसीलिए माल और जहाज दोनो को बेचने का आदेश दे दिया गया।

जहाज के मालिकों ने प्रोसीक्यूटर जनरल के आदेश को चुनौती देते हुए कहा कि यह मामला उनके क्षेत्राधिकार का है ही नहीं और मामले पर फैसला अभिग्रहण न्यायालय ही कर सकता है, फैसला चाहे जो भी हो चुनौती दी गयी कि जहाज और माल को जब्त करने का आदेश गैर-कानूनी है। जहाज के मालिकों की कानूनी आपत्तियों को अस्वीकार करते हुए ब्रिटिश नौविभाग के न्यायालय (Admiralty Division) के अध्यक्ष सर सेमुअल इवान्स ने सरकारी आदेश को वैध ठहराया। इस पर जहाज के मालिक मामले को ब्रिटेन के उच्चतम न्यायालय-प्रिवी काउंसिल की न्यायिक समिति मे ले गए। प्रिवी कौंसिल में लॉर्ड पार्कर ने अपने प्रख्यात ऐतिहासिक निर्णय मे सरकार द्वारा जमोरा जहाज के माल की कुर्की के निचले न्यायालय के फैसले को रद्द करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनेक जटिल प्रश्नों पर सुन्दर प्रकाश डाला। इसलिए जमोरा विवाद अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मामलों में असाधारण महत्त्व रखता है।

जमोरा विवाद में जिन मुख्य प्रश्नों पर विचार किया जाना था वे ये :

1 क्या प्रोसीक्यूटर जनरल का निर्णय अभिग्रहण न्यायालय पर बाध्यकारी हो सकता है ?

2. क्या ब्रिटिश कानून के अन्तर्गत सरकार अभिग्रहण न्यायालय के विचाराधीन जहाज तथा माल को अपने क्षेत्राधिकार में लेकर निर्णय देने का अधिकार रखती है और क्या वह इस कार्यवाही को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार उचित ठहरा सकती है ?

न्यायाधीश लॉर्ड पार्कर ने अपना जो फैसला दिया वह भविष्य मे भी अभिग्रहण सम्बन्धी मामलों के लिए प्रमुख मार्गदर्शक फैसला बन गया। लॉर्ड पार्कर ने अपने फैसले में अभिग्रहण न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप पर जो प्रकाश डाला उसे श्री वेदालंकार ने उन्हीं के शब्दों मे उद्धृत किया है :

'अधिग्रहण न्यायालय (*Prize Court*) को जिस कानून के अनुसार, शासन करना है, वह राष्ट्रीय (National) या जनपदीय (Municipal Law) नहीं है, किन्तु राष्ट्रों का कानून (Law of Nations) या अन्तर्राष्ट्रीय कानून है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिग्रहण न्यायालय एक जनपदीय या राष्ट्रीय न्यायालय है, इसकी आज्ञाओं तथा आदेशों को राष्ट्रीय कानून द्वारा ही वैधता प्राप्त होती है। *अतः एक दृष्टि से यह समझा जा सकता है कि यह न्यायालय जिस कानून को लागू* करता है, वह राष्ट्रीय कानून की ही एक शाखा है। फिर भी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून में स्पष्ट अन्तर है। राष्ट्रीय कानून के अनुसार निर्णय करने वाला न्यायालय, इसका निर्माण करने वाले, सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य के नियमों से बधा होता है और इस कानून को क्रियात्मक रूप प्रदान करता है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू करने वाले न्यायालय को ऐसे कानून का स्वरूप निश्चित करना तथा उसे क्रियात्मक रूप देना है, जिस कानून को किसी विशेष राज्य ने नहीं *बनाया किन्तु जिसका प्रादुर्भाव या तो विभिन्न सभ्य राष्ट्रों द्वारा एक दूसरे के साथ* सम्बन्ध में पालन किए जाने वाले व्यवहार (Practice) तथा प्रथा (Custom) से हुआ है अथवा जिसका अन्य स्पष्ट अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा हुआ है।"

"यदि कोई न्यायालय किसी प्रश्न पर ऐसा निर्णय करता है, जिसे वह राष्ट्रों के कानून के अनुकूल समझता है तो यह विवाद में एक पक्ष बने हुए ब्रिटिश ताज (*Crown*) *से कोई आदेश ग्रहण नहीं करता। यह न्यायालय स्वयमेव अपनी* सर्वोत्तम योग्यता द्वारा यह निर्धारण करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून क्या होना चाहिए। यह निर्णय चाहे कितने सकोच के साथ किया जाए, किन्तु यह सर्वदा शासकीय आदेश की अपेक्षा प्रबल होता है। केवल इसी प्रकार कोई अधिग्रहण न्यायालय अपना कार्य अच्छी तरह पूरा कर सकता है और दूसरे राज्यों द्वारा इसके निर्णयों में रखे जाने वाले विश्वास का पात्र बना रह सकता है।"

"अधिग्रहण न्यायालय का प्रधान कार्य यह है कि वह (छीनी या पकड़ी *गयी) वस्तु (Res) को उन व्यक्तियों को देने के लिए सुरक्षित रखें, जो अन्ततोगत्वा* इस पर स्वत्व या आगम (Title) सिद्ध कर सकें। इस प्रकार की सम्पत्ति को बेचने के सम्बन्ध में न्यायालय की नैसर्गिक शक्ति (Inherent Power) केवल उन्हीं मामलों तक सीमित है, जहाँ तक इस प्रकार की सम्पत्ति की सुरक्षा किन्हीं कारणों से सम्भव न हो। यह कारण या तो यह हो सकता है कि यह सम्पत्ति क्षयशील (Perishable) हो अथवा कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाएँ, जिनमें इसका सरक्षण असम्भव या कठिन हो।"

"*सरकार द्वारा किसी वस्तु को प्राप्त करने की माँग, अधिग्रहण या प्रार्थना* का अधिकार (Right of Requisition) न्यायाधीशों की सम्मति में पूर्ण अधिकार (Absolute) नहीं है। इस अधिकार का प्रयोग कुछ निश्चित परिस्थितियों में तथा निश्चित उद्देश्यों के लिए ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा के अनुसार यह आवश्यक है कि युद्ध में पकड़ा गया शत्रु का सारा माल

अधिनिर्णय (Adjudication) के लिए अधिग्रहण न्यायालय मे लाया जाए, अतः सामान्य नियम के तौर पर अर्यनो के अधिकार (Right of Requisition) का तभी प्रयोग किया जा सकता है, जबकि ऐसे माल को विचार के लिए न्यायालय मे लाया जा चुका हो। इस बात का निर्णय युद्ध-सलग्न राज्य की कार्यपालिका को नही, किन्तु न्यायालय को करना है कि इस प्रकार जिस अधिकार का दावा किया जा रहा है, उसका प्रयोग किसी विशेष अवस्था मे किया जा सकता है या नही।"

"एक युद्ध-सलग्न शक्ति (Belligerent Power) को अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा यह अधिकार प्राप्त है कि वह अधिग्रहण न्यायालय द्वारा निर्णय किए जाने से पूर्व, इसके सरक्षण मे विद्यमान, युद्ध मे पकडे जहाजो तथा माल के उपयोग की माँग करें। किन्तु यह अधिकार कई प्रतिबन्धो के साथ है। पहला प्रतिबन्ध यह है कि राज्य की रक्षा, युद्ध के सचालन तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से ऐसे जहाज या माल की आवश्यकता होनी चाहिए। दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि न्यायालय के सामने इस प्रकार का वास्तविक प्रश्न होना चाहिए। तीसरा प्रतिबन्ध यह है कि अधिकार का प्रयोग अधिग्रहण न्यायालय के समक्ष आवेदन-पत्र देकर ही होना चाहिए। अधिग्रहण न्यायालय को ही न्यायिक दृष्टि से यह निर्णय करना चाहिए कि किसी विशेष मामले की परिस्थितियो को देखते हुए उसमे अर्यना या अधिग्रहण (Requisition) के अधिकार का प्रयोग होना चाहिए अथवा नही होना चाहिए।"

श्री वेदालकार के शब्दो मे—"उपरोक्त विचारो के आधार पर प्रिवी कौसिल ने अपील को स्वीकार करते हुए निचले न्यायालय के न्यायाधीश के निर्णय को इस आधार पर रद्द कर दिया कि उसके सामने ऐसे कोई सन्तोषजनक प्रमाण नही थे, जिनके आधार पर यह जमोरा जहाज की या उसके माल की सरकार द्वारा कोई माँग किए जाने पर यह माल सरकार को प्रदान कर सके। प्रिवी कौसिल ने अपील करने वालों का यह तर्क स्वीकार नहीं किया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अधिग्रहण न्यायालय के सरक्षण मे विद्यमान जहाजो की अथवा माल की माँग सरकार अपनी आवश्यकता के लिए नही कर सकती। सरकार को यह अधिकार है, किन्तु इसमे उपर्युक्त तीन प्रतिबन्धों का पालन आवश्यक है, इनका पालन न करने के कारण निचले न्यायालय के निर्णय को प्रिवी कौन्सिल ने रद्द कर दिया।"

(15) एप्पम का विवाद (1916)

(तटस्थता)

एप्पम (Appam) ग्रेट-ब्रिटेन का एक व्यापारिक जहाज था। इसे 1916 मे एक जर्मन् रणपोत द्वारा पकड लिया गया। इस समय यह जर्मन बन्दरगाह से 1600 मील दूर था। जर्मन क्रूजर ने इसे एक अमेरिकी बन्दरगाह मे पहुँचा दिया। सयुक्त राज्य अमेरिका ने इसका घोर विरोध किया क्योकि वह एक तटस्थ राज्य था और जर्मनी का व्यवहार उसकी तटस्थता को भग करने वाला था। अमेरिका ने ब्रिटिश जहाज के यात्रियो और नाविको को मुक्त कर दिया और जर्मनी के रणपोत के नाविकों को नजरबन्द करके जहाज के विरुद्ध मानहानि का अभियोग चलाया।

इस विवाद मे अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि युद्ध मे पकड़े हुए जहाज को तटस्थ राज्य के समुद्र मे रक्षक बेड़े के बिना नहीं लाया जा सकता। अमेरिका मे अनिश्चित काल तक ऐसे जहाज को रखना हेग समझौतों की व्यवस्था के अनुसार तटस्थता को भग करना था।

(16) नाटेबोहम का विवाद (1953)

(अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार)

यह अभियोग अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार पर प्रकाश डालता है। इसमे विचारणीय विषय यह था कि जिस घोषणा द्वारा दो देश न्यायालय के क्षेत्राधिकार को स्वीकार करते हैं उस घोषणा के समाप्त हो जाने पर भी क्या न्यायालय के लिए इसका कोई महत्व है।

लीक्टेन्स्टीन सरकार ने ग्वाटेमाला की सरकार से हर्जाना माँगा क्योंकि *ग्वाटेमाला की सरकार ने लीक्टेन्स्टीन राज्य के नागरिक नाटेबोहम के प्रति* अन्तर्राष्ट्रीय विधान के प्रतिकूल व्यवहार किया था। ग्वाटेमाला ने न्यायालय के क्षेत्राधिकार पर आपत्ति की, किन्तु 18 नवम्बर, 1953 के निर्णय द्वारा न्यायालय ने आपत्ति को अस्वीकार कर दिया। 6 अप्रैल, 1955 को दिए हुए अपने दूसरे फैसले द्वारा उसने निर्णय किया कि लीक्टेन्स्टीन का दावा नाटेबोहम की नागरिकता के आधार पर अग्राह्य था। एक नागरिक और *उसका अपने राज्य* की *नागरिकता* के साथ सम्बन्ध ही राज्य को उसकी ओर से आवेदन उपस्थित करने का अधिकार प्रदान करता है। किन्तु नाटेबोहम को जर्मन नागरिक था, 1905 मे ग्वाटेमाला मे बस गया था और वहीं रहता था। अक्तूबर, 1939 मे द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ मे उसने अपने यूरोप के भ्रमणकाल मे लीक्टेन्स्टीन की नागरिकता प्राप्त कर ली। 1940 में यह ग्वाटेमाला लौट आया और वहाँ उसने अपना पुराना व्यापार उस समय तक कायम रखा जब तक 1943 मे युद्ध सम्बन्धी कार्यवाहियों के फलस्वरूप उसे वहाँ से हटाया नहीं गया। नागरिकता की प्राप्ति को मान्यता उसी अवस्था मे दी जाती है जब उस व्यक्ति और नागरिकता प्रदान करने वाले राज्य के बीच वास्तविक सम्बन्ध हो। नाटेबोहम की नागरिकता लीक्टेन्स्टीन राज्य के साथ वास्तविकता और पूर्व के सम्बन्ध पर आधारित नहीं थी बल्कि आकस्मिक थी, क्योंकि उसने अपना सम्पूर्ण पारिवारिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध जर्मनी के साथ कायम रखा था और ग्वाटेमाला मे 34 वर्ष से बस गया था। नागरिकता प्राप्त करने का उसका उद्देश्य युद्धकाल में तटस्थ राज्य की नागरिकता प्राप्त करना था। अतः उस अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ग्वाटेमाला के विरुद्ध दावा करने का अधिकार न था।

(17) ब्रिटेन बनाम स्पेन और अमेरिका बनाम मैक्सिको (1923)

(राज्यों के अधिकार और कर्तव्य)

उत्तर अफ्रीका में मोरक्को नाम का देश है। आज वह स्वतन्त्र राष्ट्र है। किन्तु पहले उसका कुछ हिस्सा स्पेन और कुछ फ्रांस के अधिकार मे था। स्पेनी भाग मे 1921–22 मे विद्रोह हुआ। काफी उपद्रव रहा। वहाँ कुछ अंग्रेज रहते

थे। उनकी क्षति हुई। उन लोगों ने क्षति का दावा ब्रिटेन सरकार की ओर से किया। 1923 के समझौते के अनुसार विवाद एक व्यक्ति को प्रतिवेदक (रिपोर्टर) बनाकर सौंप दिया गया।

ब्रिटेन का कहना था कि अंग्रेज प्रवासियों की क्षतिपूर्ति स्पेन की सरकार को करनी चाहिए। रक्षा न कर सकना अन्तर्राष्ट्रीय विधान को तोड़ना है।

इस मुकदमें का निर्णय बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे राज्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों पर बहुत प्रकाश पड़ता है। निर्णय निम्न प्रकार हुआ—

1. जब कोई व्यक्ति विदेश में बसता है और व्यापार करता है तो वह इसी भरोसे रहता है कि वहाँ सुरक्षा की व्यवस्था रहेगी। अतः किसी देश को अपने प्रजाजनों की ओर से क्षतिपूर्ति की माँग उपस्थित करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसलिए अधिकार को स्वीकार न करने का तात्पर्य यह होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय विधान के पास अन्याय के प्रतिकार का कोई साधन ही न रह जाएगा।

2 पात्रता के प्रश्न पर प्रतिवेदक ने यह राय दी है कि भले ही प्रत्येक नागरिक अन्तर्राष्ट्रीय विधान का पात्र न हो परन्तु जब कोई राज्य अपने प्रजाजनों की ओर से ऐसा प्रश्न उठाता है तो मानना चाहिए कि वह प्रजा की क्षति को अपनी क्षति समझता है।

कुछ काल बाद इससे मिलता जुलता मुकद्दमा अमेरिका और मैक्सिको में चला जबकि अमेरिका के नागरिक बायरन एवरेट जेम्स की हत्या मैक्सिको में हुई और मैक्सिको पुलिस ने हत्यारे को पकड़ने का प्रयत्न नहीं किया। अमेरिका की सरकार ने जेम्स की विधवा और बच्चे की ओर से मैक्सिको की सरकार से क्षतिपूर्ति की माँग की। जजों ने अमेरिका की माँग को न्यायपूर्ण कहा।

दूसरे महायुद्ध के बाद युद्धापराधी होने के मुकदमे चले। अपराधियों में बहुत बड़े सेनापति तथा जापान के प्रधान मन्त्री तोजो भी थे। न्यायालय निष्पक्ष नहीं थे। विजेताओं ने उन्हें स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त किसी को गिरफ्तार करके तब कानून बनाना और नए कानून के अनुसार दण्ड देना विधानशास्त्र के सर्वथा प्रतिकूल है। तथापि इन मुकदमों से इस बात पर प्रकाश पड़ा कि युद्धकाल में कौन से काम अकरणीय हैं। इससे आशा की जा सकती है कि भविष्य में निषेध की सीमा उल्लंघन करने में हिचकिचाहट तथा संयम बरता जाएगा।

दो अदालतें एक जर्मनी के अपराधियों के लिए और दूसरी जापान के अपराधियों के लिए बनाई गई। दोनों न्यायालयों को एक-एक अधिकार पत्र दिया गया। अपराधियों को वकील करने का अधिकार था और वे अपनी भाषा से काम ले सकते थे। अपराध तीन प्रकार के थे—

(क) शान्ति के विरुद्ध अपराध—आक्रमणकारी युद्ध करना, उसके लिए पहले से ही आयोजन और तैयारी करना और इन कामों के लिए दूसरों से मिलकर षड्यन्त्र करना या रचना।

(ख) साधारण अपराध—सामरिक अपराध अर्थात् लड़ाई के सर्वसम्मत नियमों की अवहेलना।

(ग) मानवता के विरुद्ध अपराध—विजित प्रान्तो की जनता की हत्या, बडी सख्या मे नर-सहार, गुलाम बनाना, पकड कर अन्यत्र भेज देना या किसी विशेष जाति या धर्म के व्यक्तियों का उत्पीडन। किसी अभियुक्त का यह कहना कि वह अपने अफसरो या सरकारी आदेश के अनुसार काम कर रहा था, मान्य नहीं था।

(18) एग्लो ईरानियन आयल कम्पनी का मुकदमा
(अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार)

1935 मे ईरान की सरकार और एग्लो ईरानियन ऑयल कम्पनी के बीच एक समझौता हुआ था। 1951 मे तेल उद्योग के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में विधान स्वीकृत हुआ। इसके फलस्वरूप ईरान और कम्पनी के बीच विवाद खडा हो गया। ब्रिटेन ने कम्पनी का मामला अपने हाथ मे ले लिया और न्यायालय मे कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। ईरान ने न्यायालय के क्षेत्राधिकार पर विवाद किया। अपने 22 जुलाई, 1952 के फैसले द्वारा न्यायालय ने यह निर्णय किया कि न्यायालय को स्वत विवाद का निर्णय करने का क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं है। इसका क्षेत्राधिकार ईरान और ब्रिटेन की घोषणा पर निर्भर करता है। अधिनियम के ऐच्छिक खण्ड के मन्तव्य के अनुसार यदि उभय पक्ष न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को स्वीकार कर लें तो न्यायालय को निर्णय करने का अधिकार प्राप्त हो जाएगा। न्यायालय ने निर्णय दिया कि ईरान की घोषणा जिसकी उसने 1933 मे पुष्टि की थी, केवल उन्ही विवादों से सम्बन्ध रखती है जो उन सन्धियों पर आधारित है और जिनको ईरान ने उस तिथि के पश्चात् की थी। परन्तु ब्रिटेन का दावा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से 1932 के पूर्व की सन्धियों पर आधारित था।

न्यायालय ने ब्रिटेन के इस दावे को भी स्वीकार नही किया कि 1933 का समझौता ईरान और कम्पनी के बीच रियायती समझौता था तथा यह अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि थी। न्यायालय ने निर्णय किया कि समझौता ब्रिटेन के साथ नही हुआ था बल्कि तेल कम्पनी के साथ हुआ था। अत वह अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि का रूप नही पा सकता। समझौता राष्ट्रसघ के तत्वावधान मे होने के कारण परिस्थिति मे कोई भेद उत्पन्न नहीं कर सकता अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि का रूप नहीं ले सकता।

इस निर्णय से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो राष्ट्रों के बीच समझौता ही अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि का रूप धारण कर सकता है। किन्तु यदि एक पक्ष राष्ट्र न होकर कम्पनी अथवा व्यक्ति हो तो समझौते की मान्यता सन्धि के रूप में नहीं हो सकती।

(19) मोरक्को में अमेरिकी राष्ट्रजनों के अधिकार (1952)
(राज्य के क्षेत्राधिकार के रूप मे)

इस विवाद में राज्य के क्षेत्राधिकार के रूपो के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। सरक्षित मोरक्को राज्य के फाँसीसी अधिकारियो ने 30 दिसम्बर, 1948 को एक आज्ञप्ति (Decree) जारी की, जिसके अनुसार उन्हीं वस्तुओ का आयात हो सकता था जो मोरक्को की अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक थी। अमेरिका का

कथन था कि उसके नागरिकों को जो अधिकार सन्धि द्वारा प्राप्त था, उस पर यह आपत्ति आघात पहुँचाती है। अमेरिका ने विवाद उपस्थित किया कि उन सन्धियों के तथा अल्जेसिरस के 1906 के सामान्य अधिनियम (General Act of Algeciras) के अनुसार मोरक्को की कोई विधि या नियम बिना अमेरिका की पूर्व सहमति के अमेरिका के नागरिकों पर लागू नहीं की जा सकती। न्यायालय ने 27 अगस्त 1955 के फैसले द्वारा निर्णय किया कि फ्रान्स अमेरिका और मोरक्को के बीच 1938 में हुई आयात नियन्त्रण सम्बन्धी सन्धि तथा अल्जेसिरस के सामान्य अधिनियम के प्रतीक थी, क्योंकि वह अमेरिका के विरुद्ध थी और फ्रान्स को सुविधा देती है।

न्यायालय ने मोरक्को में संयुक्त राज्य अमेरिका के वाणिज्य के क्षेत्राधिकार के विस्तार पर भी विचार किया और यह निर्णय किया गया कि संयुक्त राज्य का फ्रांसीसी क्षेत्र में अपने नागरिकों या संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा सुरक्षित व्यक्तियों के बीच उत्पन्न हुए व्यवहार अथवा दण्ड सम्बन्धी विवादों के सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार के प्रयोग का अधिकार प्राप्त है। जो ऐसे क्षेत्राधिकार को अल्जेसिरस के सामान्य अधिनियम के संगत प्रावधानों द्वारा अपेक्षित सीमा तक प्रयोग करने का भी अधिकार है।

न्यायालय ने अमेरिका के इस दावे को स्वीकार नहीं किया कि उनके वाणिज्य के क्षेत्राधिकार में वह स्थिति भी सम्मिलित है जब केवल प्रतिवादी अमेरिका का नागरिक या अधीनस्थ व्यक्ति हो। तात्पर्य यह है कि अमेरिका वाणिज्य दूत को उसी अवस्था में वाणिज्य सम्बन्धी क्षेत्राधिकार प्राप्त है जब उभयपक्ष अमेरिका के नागरिक हों।

न्यायालय ने अमेरिका के उस दावे को भी अस्वीकार कर दिया कि मोरक्को के फ्रांसीसी क्षेत्र में संयुक्त राज्य के नागरिकों पर विधि और अधिनियमों का प्रयोग अमेरिका की स्वीकृति से ही किया जा सकता है। ऐसी स्वीकृति की आवश्यकता केवल उसी अवस्था में होगी जब वाणिज्यदूत का हस्तक्षेप विदेशी नागरिकों के विरुद्ध ऐसी विधि या अधिनियमों के प्रभावशाली पालन के लिए आवश्यक हो। न्यायालय ने मोरक्को के निराशाजनक प्राधिकारी द्वारा आयात मूल्यांकन के प्रश्न पर भी विचार किया। न्यायालय के निर्णय के फलस्वरूप फ्रांसीसी अधिकारियों ने पहली अक्तूबर 1952 को आज्ञप्ति द्वारा आयात पर से अनुज्ञा-नियन्त्रण हटा दिया।

(20) स्वर्ण मुद्रा सम्बन्धी विवाद (1945)

युद्ध काल में इटली से कुछ स्वर्ण मुद्रा जर्मनों द्वारा जर्मनी ले जाई गई। युद्ध समाप्ति पर वह जर्मनी में पाई गई और मालूम हुआ कि वह स्वर्ण मुद्रा अल्बेनिया की थी। 1946 की क्षतिपूर्ति सम्बन्धी संविदे में यह तय हुआ था कि जर्मनी में जो स्वर्ण मुद्रा प्राप्त हो वह उन देशों के बीच विभाजित करने के लिए जमा रहे जो क्षतिमुद्रा पाने के अधिकारी हों। ब्रिटेन ने दावा किया कि कोर्फू चैनल वाले मुकदमे के निर्णय के अनुसार जो क्षतिपूर्ति सम्बन्धी रकम उसे मिलनी है उसके

भुगतान के आंशिक रूप में उसे दे दिया जाए। इटली का यह दावा था कि वह सोना उसे 13 जनवरी 1945 को अल्बानिया द्वारा बनायी गयी विधि से उत्पन्न क्षति की आंशिक पूर्ति में दे दिया जाए। 25 अप्रैल के वाशिंगटन के वक्तव्य द्वारा ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रान्स ने जिनको क्षतिपूर्ति की संविदा को कार्यान्वित करने का भार सौंपा गया था, यह निर्णय किया कि वह सोना ब्रिटेन को दे दिया जाए यदि निर्धारित समय के भीतर इटली और अल्बानिया न्यायालय से अपने विवाद का निर्णय करने की प्रार्थना न करे। अल्बानिया ने इस सम्बन्ध में कोई कार्यवाही नहीं की किन्तु नियत समय के भीतर इटली ने आवेदन पत्र दिया। बाद में इटली ने विवाद उपस्थित किया कि क्या न्यायालय को इटली और अल्बानिया के बीच के झगड़े पर अपना निर्णय देने का अधिकार प्राप्त है। 15 जून को न्यायालय ने निर्णय किया कि यह तय करने के लिए कि इटली सोना पाने का अधिकारी है या नहीं पहले यह निर्णय करना आवश्यक है कि अल्बानिया ने इटली के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय भूलें की या नहीं और क्या वह उसे क्षतिपूर्ति देने के लिए बाध्य है। ऐसे प्रश्नों पर विचार करना अल्बानिया और इटली के बीच के विवाद का निर्णय करना होगा जिसका क्षेत्राधिकार न्यायालय को बिना अल्बानिया की स्वीकृति के प्राप्त नहीं है। इस कारण से न्यायालय इटली और ब्रिटेन के बीच की प्राथमिकता के प्रश्न पर विचार नहीं कर सकता क्योंकि यह प्रश्न तभी उठ सकता है जब इटली और अल्बानिया के झगड़े के सम्बन्ध में निर्णय हो जाए कि इटली को अल्बानिया से क्षतिपूर्ति का अधिकार है।

(21) पीटरहाफ का विवाद (1866)

(परिवेष्टन तथा विनिषिद्ध माल की सप्लाई)

इस विवाद का सम्बन्ध परिवेष्टन तथा विनिषिद्ध माल की सप्लाई से है और विनिषिद्ध माल के यातायात के सन्दर्भ में भी इसका हवाला दिया जा सकता है। पीटरहाफ एक ब्रिटिश जहाज था जिसे अमेरिका के गृह युद्ध के दौरान मैक्सिको के तटस्थ बन्दरगाह मेटामोरोज जाते समय एक अमेरिकी क्रूजर ने बन्दी बना लिया। इस जहाज पर विनिषिद्ध माल (Contraband) लदा था। यद्यपि जहाज का लक्ष्य तटस्थ बन्दरगाह पर पहुँचना था, किन्तु वह परिसंघ के उन क्षेत्रों से गुजर रहा था जिनकी नाकेबन्दी की गई थी। अत. यह सन्देह किया गया कि जहाज का लक्ष्य किसी तरह परिवेष्टित अर्थात् नाकेबन्दी किये गये प्रदेश में घुसना है। अमेरिकी अदालत ने आदेश दिया कि जहाज को माल सहित जब्त कर लिया जाए क्योंकि जहाज पर लदे माल को देखते हुए इसका लक्ष्य संदिग्ध नजर आ है और यह भी लगता है कि इसका उद्देश्य भी नाकेबन्दी का उल्लंघन करना है।

इस मुकदमे की सर्वोच्च न्यायालय में अपील की गई जहाँ निचले न्यायालय के निर्णय को बिलकुल बदल दिया गया। सर्वोच्च न्यायालय का अभिमत था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार तटस्थ राज्य और युद्धकारी राज्य के बीच व्यापार वर्जित नहीं है, अत ब्रिटिश जहाज यदि मैक्सिको जा रहा है तो इसमें कोई गैर-

कानूनी बात नहीं है। पर चूंकि जहाज पर लदा माल निश्चित रूप से विनिषिद्ध माल है और जहाज के स्वामी इस माल को मैक्सिको के रास्ते परोक्ष रूप से गृह युद्ध से सम्बन्धित विपक्षी को भेजना चाहते हैं, अतः वह सभी माल जब्त कर लिया जाना चाहिए जो विनिषिद्ध माल की श्रेणी का है, और शेष माल तथा जहाज को मैक्सिको जाने के लिए मुक्त कर देना चाहिए।

पीटरहाफ मुकदमे के दौरान अदालत ने दो अन्य पहलुओं पर प्रकाश डाला प्रथम, अमेरिका ने परिवेष्टन या नाकेबन्दी (Blockade) को पूर्ण प्रभावकारी ढंग से लागू नहीं किया था, अतः अदालत का कहना था कि जब तक परिवेष्टन पूर्ण प्रभावकारी नहीं है तब तक वह बाध्यकारी नहीं हो सकता। द्वितीय जहाज पर लदे माल के सन्दर्भ में अदालत ने कहा कि माल को पूर्ण निषिद्ध तथा आंशिक निषिद्ध श्रेणियों में रखने के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञों में गम्भीर मतभेद है, तथापि मतभेद के बावजूद व्यवहार में यही पाया गया है कि लक्ष्य के आधार पर माल की विनिषिद्धता का निर्णय अधिक किया जाता है और माल की प्रकृति के आधार पर कम। न्यायालय ने इसी मत के आधार पर पीटरहाफ जहाज पर लदे माल को विनिषिद्ध ठहरा कर जब्त करने का आदेश दिया।

(22) असमा मारू का विवाद (1940)

(कुछ विशेष स्थितियों में व्यक्तियों को विनिषिद्ध माल की श्रेणी में रखे जाने से सम्बन्धित)

यह विवाद कुछ विशेष स्थितियों में व्यक्तियों को भी विनिषिद्ध माल (Contraband) की श्रेणी में रखे जाने से सम्बद्ध है। असमा मारू एक जापानी व्यापारी जहाज था जो द्वितीय महायुद्ध के समय जनवरी 1940 में अमेरिकी बन्दरगाह होनोलूलू से जापान के याकोहामा नामक बन्दरगाह की ओर लौट रहा था और जहाज में कुछ जर्मन नागरिक सवार थे। उस समय तक जापान और अमेरिका दोनों तटस्थ देश थे। जब असमा मारू जापानी सीमांत जल के समीप था, एक ब्रिटिश क्रूजर ने उसे पकड़ लिया और इसके 21 जर्मन-यात्रियों को यह कहकर जहाज से उतार लिया कि ये जर्मनी जा रहे हैं और वहाँ सेना में भर्ती हो सकते हैं।

टोकियो (जापान) सरकार ने ब्रिटिश सरकार की इस कार्यवाही का कड़ा विरोध किया और इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अतिक्रमण बताया। ब्रिटिश सरकार ने तर्क दिया कि चूंकि जर्मन सैनिक संहिता के अन्तर्गत प्रत्येक जर्मन-पुरुष को जिसकी उम्र 18 और 45 के भीतर है, शस्त्र धारण करके सैनिक सेवा करना अनिवार्य है, इसलिए 21 जर्मन नागरिक जो कि सैनिक सेवा सीमाओं के भीतर के हैं, युद्ध की विनिषिद्ध वस्तुओं (Contraband of War) के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि स्वदेश पहुँचने पर वे सेना में भर्ती हो सकते हैं।

जापान सरकार ने अपने उत्तर में कहा कि ब्रिटिश सरकार का यह कार्य ट्रेंट के सुविख्यात मामले तथा स्टीमशिप चायना के मामलों में निर्धारित किए गए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल है क्योंकि इस मामले में रोके

गए व्यक्तियों का पद और स्वरूप ऐसा नहीं है जो उन्हें विनिषिद्ध वस्तु बना सके। तटस्थ राज्यों को प्रत्यक्षतः यह अधिकार है कि वे युद्धकाल में दोनों युद्ध-संलग्न राज्य के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखें। जापान सरकार ने यह भी तर्क दिया कि किसी भी सरकार को अधोतल में देखकर यह भविष्यवाणी करने का अधिकार नहीं है कि किन नागरिकों का भविष्य में क्या होगा। एस एस चायना के मामले में यह स्पष्ट रूप से निर्धारित किया गया था कि केवल सैन्य बल अथवा सहायक शस्त्रबल के लोग ही अवरुद्ध किए जायेंगे।

सुप्रसिद्ध विधि शास्त्रियों ने ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण को गलत ठहराया क्योंकि यह दृष्टिकोण ट्रेन्ट के सुप्रसिद्ध मामले तथा एस एस चायना के मामले में निश्चित किए गए अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल था। विधि-शास्त्रियों का यह स्पष्ट अभिमत रहा कि ब्रिटेन का उपरोक्त कार्य किसी भी प्रकार न्यायोचित नहीं था। अन्त में ब्रिटिश सरकार ने 21 जर्मन बन्दियों में से नौ व्यक्तियों को इस आधार पर छोड़ दिया कि वे सैनिक सेवा करने योग्य नहीं थे।

(23) ट्रेन्ट का विवाद (1812)
(दूतों की स्थिति)

ट्रेन्ट विवाद भी असमा-मारू विवाद से मिलता-जुलता मामला है जिसे विनिषिद्ध माल के अतिरिक्त अतटस्थ सेवाओं के सन्दर्भ में भी उद्धृत किया जा सकता है।

ट्रेन्ट (Trent) ग्रेट-ब्रिटेन का डाक ले जाने वाला जहाज था जो 1861 में क्यूबा की राजधानी हवाना से सेण्ट टामस जा रहा था। इस समय संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तरी एवं दक्षिणी राज्यों में गृह युद्ध चल रहा था। ट्रेन्ट जहाज पर दक्षिणी राज्यों द्वारा ब्रिटेन और फ्रान्स में नियत किए गए दो दूत (Envoys) मैसन तथा स्लिडेल भी सवार थे। ब्रिटिश विरोध के बावजूद एक अमेरिकी क्रूजर ने जहाज को घेरकर दोनों दूतों को उनके पूरे सामान के साथ जहाज से उतार लिया। इनको बन्दी बना लिया गया और फिर जहाज को अपने गन्तव्य स्थान को जाने दिया गया।

संयुक्त राज्य अमेरिका का तर्क था कि उसका यह कार्य सर्वथा न्यायोचित था। मैसन और स्लिडेल सैनिक व्यक्ति थे जो युद्ध में वर्जित सन्देशों और कागजों को ले जा रहे थे। चूंकि प्रेषण स्पष्टतः विनिषिद्ध था, अतः उन्हें लाने वाले वाहक या दूत भी विनिषिद्ध की कोटि में ही आते हैं। अमेरिकी जहाज द्वारा ट्रेन्ट की तलाशी लेने पर उपरोक्त आपत्तिजनक कागज बरामद हुए थे अतः उसे विनिषिद्ध वस्तु (Contraband) के रूप में दूतों को पकड़ने का पूरा अधिकार था।

इसके विपरीत ब्रिटिश सरकार का तर्क था कि मैसन और स्लिडेल दक्षिणी राज्यों के दूत थे, उनका पद और स्वरूप ऐसा था कि उन्हें विनिषिद्ध नहीं समझा जा सकता था। इन्हें दक्षिणी राज्यों की ओर से तटस्थ देशों में भेजा जा रहा था और तटस्थ राज्यों को युद्धकारी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण कूटनीतिक सम्बन्ध रखने का अधिकार है। ब्रिटेन ने न केवल दूतों को अविलम्ब मुक्त करने की माँग की

वरन् अमेरिका पर इस बात के लिए भी जोर डाला कि वह इस काण्ड के लिए क्षमा याचना करे। ग्रेट-ब्रिटेन के पक्ष का समर्थन रूस, प्रशिया, इटली और आस्ट्रेलिया ने भी किया।

एक लम्बे अर्से तक विवाद बना रहा। अन्त मे मध्यस्थता वार्ता के परिणामस्वरूप अमेरिका ने बन्दियो को मुक्त कर दिया उन्हें ब्रिटिश जहाज पर बैठा दिया ताकि वे अपने मूल गन्तव्य स्थान इगलैण्ड और फ्रान्स तक पहुँच सकें। अमेरिका इस मामले मे सम्भवत इसलिए झुका कि उसके क्रूजर ने मैसन और स्लिडेल को जबरन ट्रेण्ट से उतार लिया था जबकि उचित यह था कि वह इस जहाज को अमेरिका के अधिग्रहण न्यायालय (Prize Court) मे पेश करके उससे इन्हे उतरवाने की आज्ञा प्राप्त करता।

(24) एस एस चाइना विवाद (1916)
(कुछ विशेष स्थितियों में व्यक्तियों के विनिषिद्ध माल की श्रेणी में रखे जाने से सम्बन्धित)

स्टीमशिप चाइना विवाद भी कुछ विशेष स्थितियो में व्यक्तियो का विनिषिद्ध माल की श्रेणी मे रखे जाने से ही सम्बन्धित है।

एस. एस. चाइना अमेरिका का एक डाकवाहक-यात्रीवाहक जहाज था जो शघाई से अमेरिकी बन्दरगाहो के लिए डाक और यात्री लाता, ले जाता था। 1916 में इसी क्षेत्र की यात्रा के दौरान एस एस चाइना पर जर्मन, आस्ट्रेलियन, तुर्क आदि अन्य राष्ट्रीयताओ के नागरिक सवार थे। जहाज मनीला जा रहा था। मार्ग मे लारेंटिक नामक ब्रिटिश क्रूजर ने जहाज की तलाशी ली और इन सभी यात्रियो को उतार लिया।

अमेरिकी सरकार ने गम्भीर आपत्ति प्रकट करते हुए इस कार्य को लन्दन घोषणा के अनुच्छेद 47 का उल्लघन माना। अमेरिका का तर्क था कि असैनिक कर्मचारियो और सामान्य नागरिकों को विनिषिद्ध माल (Contraband) की श्रेणी मे रखना गलत है, केवल सैनिक अधिकारियो और कर्मचारियो के विरुद्ध ही इस प्रकार की कार्यवाही की जा सकती है।

ब्रिटिश सरकार का कहना था कि जहाज पर सवार ये व्यक्ति भड़काने वाली कार्यवाही और तस्करी मे लगे हुए थे, अत. इनको पकड़ना राष्ट्रहित म अनिवार्य था।

जब विवाद चल ही रहा था तभी अमेरिका भी मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध मे कूद पड़ा। फलस्वरूप अमेरिका ने विवाद को वापस ले लिया और गिरफ्तार किए गए यात्रियों को भी रिहा कर दिया।

उपरोक्त तीनो मामलों ट्रेण्ट, एस एस चाइना तथा असमा मारू से यह *स्पष्ट हो जाता है कि विनिषिद्ध माल के अर्थ युद्ध के फैलाव के साथ-साथ बदलते* जाते है और एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब शत्रु के प्रदेश को जाने वाली हर

वस्तु विनिषिद्ध माल बन जाती है तथा शत्रु की राष्ट्रीयता व शत्रु के स्वामित्व वाली हर वस्तु को पकड़ा जा सकता है। इस दृष्टि से व्यक्ति भी विनिषिद्ध माल की श्रेणी में आ जाता है।[1]

(25) ओरोजेम्बो विवाद (1807)
(अतटस्थ सेवा)

ओरोजेम्बो एक अमेरिकी जहाज था जो 1807 में, जबकि हालैण्ड तथा इंगलैण्ड के बीच युद्ध चल रहा था, कुछ वरिष्ठ डच अधिकारियों तथा कर्मचारियों को लेकर बटेविया जा रहा था। रास्ते में इसे ब्रिटिश जहाजों ने अतटस्थ सेवा के आधार पर गिरफ्तार कर लिया और न्यायालय के समक्ष पेश किया।

ओरोजेम्बो जहाज के कप्तान ने कहा कि उसे डच व्यक्तियों को जहाज के चलाते समय यह नहीं बताया गया था कि ये कर्मचारी कौन हैं और किस आशय से जा रहे हैं। उसे यह ज्ञात नहीं था कि वह अतटस्थ सेवा में सलग्न है, अर्थात् ऐसे कार्य में लगा है कि जिससे शत्रु को लाभ पहुँचेगा। ब्रिटिश न्यायालय ने इस तर्क को नहीं माना तथा अपने निर्णय में कहा कि यदि अज्ञानता में भी कोई जहाज अतटस्थ सेवा का दोषी है तथा उसके कार्य से शत्रु को लाभ पहुँचता है तो युद्धरत देश को अधिकार है कि वह ऐसे जहाज को रोक ले और पकड़ ले। न्यायाधीश सर विलियम स्कॉट ने कहा कि "शत्रु द्वारा किराए पर लिया गया जहाज शत्रु की सम्पत्ति माना जाता है इसलिए उस पर आक्रमण किया जा सकता है। ओरोजेम्बो न केवल शत्रु के आदेश पर काम कर रहा था वरन् शत्रु के सैनिक अफसरों को ले जा रहा था जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत ऐसे कर्मचारियों को युद्धकाल में विनिषिद्ध माल की श्रेणी में रखा जा सकता है। दोनों ही कारणों से जहाज की गिरफ्तारी और जब्ती उचित ठहराई जा सकती है।" न्यायालय ने यह भी कहा कि यह बात भी सारहीन है कि सैनिकों की सख्या कितनी है क्योंकि यह सम्भव है कि उच्च पद वाले कुछ सैनिक अधिकारी बहुत से सैनिकों के मुकाबले कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

(26) संयुक्त राज्य अमेरिका विरुद्ध रोशर (1866)
(प्रत्यर्पण)

यह विवाद प्रत्यर्पण सम्बन्धी विषय का विवेचन करता है। रोशर नामक व्यक्ति महासमुद्र में अमेरिकी पोत पर हत्या करके इगलैण्ड भाग गया। अमेरिकी सरकार के माँगने पर ब्रिटिश सरकार ने उसे समर्पित कर दिया। न्यूयॉर्क के सर्किट न्यायालय में इस मामले पर विचार करते समय उस सजा को बदल दिया गया जिसके लिए रोशर के प्रत्यर्पण की माँग की गयी थी। प्रश्न यह था कि क्या आरोप में इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है? अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि रोशर को एक प्रत्यर्पण सन्धि के आधार पर अमेरिका के क्षेत्राधिकार में

1 हील के. आसोरा, वही, पृ 448.

लाया गया है इसलिए उस पर सन्धि में उल्लेखित आरोपों में से किसी के आधार पर कार्यवाही की जा सकती है। यदि किसी अन्य आधार पर कार्यवाही की जानी है तो सम्बन्धित व्यक्ति को पहले उस देश को लौटने का अवसर दिया जाए जहाँ से उसका प्रत्यर्पण किया गया था।

(27) कोलम्बिया तथा पेरू के बीच शरण देने सम्बन्धी विवाद (1950)

पुराना रिवाज है कि राजदूतों को अपने निवास स्थान में किसी को भी शरण देने का अधिकार है। पहले इस सम्बन्ध मे काफी मतभेद था, परन्तु 1928 में हवाना में एक सम्मेलन हुआ और वहाँ तय हुआ कि राजनीतिक अपराधियों को तात्कालिक आवश्यकता की अवस्था में शरण दी जा सकती है।

1948 में पेरू राज्य मे सशस्त्र विद्रोह हुआ और विद्रोही दल के नेता ने कोलम्बिया के दूतावास मे शरण ली। पेरू सरकार का कथन था कि शरण देना हवाना समझौते के विरुद्ध था। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने निर्णय किया कि सशस्त्र विद्रोह राजनीतिक अपराध है। इसमें विद्रोही का कोई निजी स्वार्थ नहीं रहता। उसका उद्देश्य राज्य परिवर्तन रहता है। ऐसे लोग हवाना समझौते के अनुसार शरण पाने के योग्य हैं। अतः राजदूत अपने विचार के अनुसार शरण देते हैं। विवाद उठने पर न्यायालय के निर्णय के अनुसार कार्य होता है।

यदि शरणार्थी को तत्काल संकट की आशंका न हो तो शरण देना अवैध समझा जाएगा। चूँकि कोलम्बिया ने विद्रोह दमन के तीन माह बाद ही हया डी ला टौरे को शरण दी थी अतः वह अवैध थी।

दूसरा विचारणीय प्रश्न यह था कि राज्य शरणार्थी को कुशलतापूर्वक दूतावास से किसी दूसरे देश मे जाने के लिए सुरक्षा प्रदान करने को बाध्य है अथवा नहीं। अपने 20 नवम्बर 1950 के निर्णय द्वारा न्यायालय ने निर्णय किया कि राज्य बाध्य नहीं हो सकता।

(28) आल्टमार्क (1940)

(तटस्थता)

आल्टमार्क जर्मनी का एक सहायक युद्धपोत था जो सितम्बर 1929 मे (जब जर्मनी, ब्रिटेन और फ्रांस के बीच द्वितीय महायुद्ध छिड़ा) मैक्सिको खाड़ी से होता हुआ राटहॅम बन्दरगाह के लिए तेल के एक बेड़े सहित लौट रहा था। उसमें 300 ऐसे ब्रिटिश पदाधिकारी और नाविक थे जो जर्मन युद्ध पोत एडमिरल ग्रैफ स्पी (Admiral Graf Spee) द्वारा डुबोए गए ब्रिटिश व्यापारिक जहाजों में से युद्धबन्दियों के रूप मे चुने गए थे। 14 फरवरी 1940 को आल्टमार्क नार्वे के प्रादेशिक समुद्र (Territorial waters) मे तट के साथ-साथ चलते हुए सुरक्षित रूप से किसी जर्मन बन्दरगाह मे पहुँच जाए और ब्रिटेन के नौसैनिक आक्रमणों से सुरक्षित बच निकले।

नार्वे के अधिकारी आल्टमार्क के कागजों की जाँच के बाद इस नतीजे पर पहुँचे कि वह एक सहायक युद्धपोत है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार तटस्थ

"ा के समुद्र में से गुजरने का अधिकार है, अतः उन्होंने इसे अपने प्रादेशिक समुद्र
में से गुजरने की इजाजत दे दी और जहाज की तलाशी लेने की ब्रिटिश प्रार्थना को
इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि तलाशी केवल व्यापारिक जहाजों की ही
ली जा सकती है। इस पर 16 फरवरी 1940 को नार्वे की प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय
जल-सीमा के भीतर ही ब्रिटिश विध्वंसक कासैक (Cossack) ने आल्टमार्क पर
आक्रमण कर दिया और नार्वे सरकार के विरोध के बावजूद इस जहाज पर मौजूद
सभी ब्रिटिश प्रजाजनों को बलपूर्वक छीनकर इंगलैण्ड भगा ले गया।

नार्वे सरकार ने ब्रिटेन पर अपनी तटस्थता भंग करने का दोषारोपण किया
और इस ब्रिटिश कार्यवाही की निन्दा करते हुए कड़ा प्रतिवाद-पत्र भेजा। ब्रिटिश
सरकार ने उत्तर दिया कि चूँकि आल्टमार्क में बन्दियों को ले जाया जा रहा था और
नार्वे सरकार ने जहाज की सावधानीपूर्वक तलाशी के कर्त्तव्य का पालन नहीं किया,
अतः इस जहाज की यात्रा अवैध थी और ब्रिटिश विध्वंसक कोसेक की कार्यवाही सर्वथा
उचित थी। युद्ध बन्दियों की उपस्थिति ने आल्टमार्क जहाज को अन्तर्राष्ट्रीय कानून
की इस व्यवस्था के लाभ से वंचित कर दिया था कि उसे तटस्थ देशों के प्रादेशिक
समुद्र में से गुजरने का अधिकार है। नार्वे सरकार का कर्त्तव्य था कि वह या तो
बन्दियों को मुक्त कराती अथवा जर्मन जहाज को अपने प्रादेशिक समुद्र से बाहर
निकल जाने का आदेश देती।

नार्वे सरकार ने ब्रिटिश सरकार के तर्कों का खण्डन करते हुए कहा कि
आल्टमार्क एक युद्धपोत था जिसकी तलाशी लेने का कोई अधिकार नार्वे को नहीं
था। नार्वे को केवल इतना ही अधिकार था कि वह उस पोत के परिचय-पत्रों से ही
उसकी पहचान करता तथा उसके स्वरूप का निर्धारण करता, जैसा कि 14 फरवरी
को नार्वे की प्रथम तारपीडो बोट द्वारा किया गया। नार्वे सरकार ने यह भी कहा
कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का ऐसा कोई नियम नहीं है जिससे कि एक युद्धरत राज्य
के इस अधिकार को कि यदि यात्रा मार्ग वैध है तो वह तटस्थ प्रादेशिक समुद्र से
यातायात कर सकता है, अस्वीकार किया जा सके। आल्टमार्क ने किसी भी
नार्वेजियन बन्दरगाह को स्पर्श नहीं किया और निरन्तर यात्रा (Continuous
voyage) करता रहा। *1907 के हेग अभिसमय में और नार्वे की तटस्थता के*
नियमों में ऐसे युद्धपोत के गुजरने के लिए कोई समयावधि निश्चित नहीं की गई है,
अतः आल्टमार्क के लिए यह भी आवश्यक नहीं था कि वह 24 घण्टे के बाद नार्वे
के प्रादेशिक समुद्र से बाहर निकल जाए। आल्टमार्क का नार्वे के समुद्र से गुजरना
सर्वथा वैध था, नार्वे ने इस सम्बन्ध में अपने अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का अनुपालन
किया, अतः ब्रिटेन द्वारा उसके प्रादेशिक समुद्र में घुसकर ऐसा कार्य करने का कोई
औचित्य नहीं था।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ विद्वानों के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन का कार्य
न्यायसंगत था जबकि अधिकांश विधिशास्त्रियों ने नार्वे के पक्ष को न्यायोचित माना
है। उनका मत है कि नार्वे ने अपनी तटस्थता का पालन किया। 1907 के तेरहवें

हेग के समझौते की दसवीं धारा नार्वे के पक्ष का समर्थन करती है और क्रीमिया युद्ध में सिटका काण्ड (The case of Sitka) भी उसके दावे का पोषक है। येल (Yale) विश्वविद्यालय के प्रो० येडविन बोर्चर्ड ने इस वाद के सम्बन्ध में उचित ही कहा था कि कोई भी व्यक्ति ब्रिटिश विध्वंसक की इस भावना से सहानुभूति रख सकता है कि आल्टमार्क के कैदियों को छुड़ा लिया जाए, फिर भी, इस प्रसंग में नार्वे की ओर से अपनी तटस्थता सम्बन्धी आभारों का उल्लंघन *नहीं कहा जा* सकता। उन्होंने यह भी कहा कि एक सार्वजनिक जहाज के रूप में आल्टमार्क की नार्वे की तटस्थता सबंधित विनियमों को छोड़कर अन्य किसी आधार पर तलाशी नहीं ली जा सकती थी।

आल्टमार्क विवाद के सम्बन्ध में डॉ एस के कपूर ने लिखा है—हेग अभिसमय संख्या 13 के अनुच्छेद 5 के अनुसार, युद्धरत राज्य तटस्थ देशों के *बन्दरगाह तथा क्षेत्रीय पानी का प्रयोग अपने शत्रु के विरुद्ध नहीं कर सकते।* अनुच्छेद 12 के अनुसार, युद्धरत देश का युद्धपोत तटस्थ देश के क्षेत्रीय पानी में 24 घण्टे से अधिक नहीं रह सकता है। ओपेनहेम के अनुसार, यदि 24 घण्टे के *बाद जहाज आवश्यकतावश रुकता है तथा ऐसा रुकना तटस्थता से असंगत नहीं है* तो यह तटस्थता का उल्लंघन नहीं माना जाएगा। तटस्थ देश के क्षेत्रीय पानी में युद्धरत देश का जहाज कोई युद्ध-सम्बन्धी या तटस्थता से असंगत कार्यवाही नहीं कर सकता है। तटस्थ देश के क्षेत्रीय पानी या बन्दरगाह को राज्य सैनिक-अड्डा नहीं बना सकता है। यदि कोई युद्धरत राज्य तटस्थ देश के क्षेत्रीय *पानी का प्रयोग* छिपने आदि के कार्य के लिए करता है तो यह अवैध प्रयोग होगा तथा तटस्थता की *विधि से असंगत होगा। ऐसी दशा में अन्य युद्धरत राज्य को अधिकार है कि आवश्यक* कार्यवाही करे। उक्त आधारों पर, ब्रिटिश कार्यवाही वैध प्रतीत होती है।

(29) अम्बाटिलोस का मामला (1952)

1919 ई० में अम्बाटिलोस नामक यूनान के एक जहाजी व्यापारी ने ब्रिटेन के साथ जहाज खरीदने के लिए एक संविदा (Contract) किया था। अम्बाटिलास ने यह दावा किया था कि ब्रिटेन की सरकार द्वारा संविदा की पूर्ति न करना और ब्रिटेन के न्यायालय द्वारा दिया गया तत्सम्बन्धी निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधान के विपरीत था और उसके परिणामस्वरूप उसे क्षति उठानी पड़ी। ग्रीस सरकार ने *अपने नागरिक का पक्ष लेते हुए यह प्रश्न उठाया और दावा किया कि ब्रिटेन का* कर्त्तव्य था कि वह ब्रिटेन और यूनान के बीच 1886 तथा 1926 में हुई सन्धियों के अनुसार उन विवादों को पंचायत के सम्मुख निर्णय के लिए उपस्थित करे। ब्रिटेन ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार पर आपत्ति की। पहली जुलाई 1952 के फैसले द्वारा न्यायालय ने निर्णय दिया कि उसे इस बात का निर्णय करने का क्षेत्राधिकार प्राप्त था कि ब्रिटेन संवाद को पंचायत के पास निर्णयार्थ उपस्थित करने के लिए बाध्य था या नहीं। उसने यह भी निर्णय किया कि नागरिक

अम्बाटिलोस के विवाद का निर्णय करने का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को था या नहीं।

प्रथम विवाद के सम्बन्ध में न्यायालय ने निर्णय किया कि 1886 और 1926 की सन्धियों के मन्तव्य के अनुसार ब्रिटेन विवाद को निर्णयार्थ पंचायत में देने के लिए बाध्य था।

दूसरे निर्णय का यह आशय था कि न्यायालय को अम्बाटिलोस के दावे पर विचार करने और निर्णय देने का अधिकार प्राप्त नहीं था।

(30) मिंकियर्स और इक्रीहोस का मुकदमा (1953)

जरसी के ब्रिटिश चैनल और फ्रान्स के किनारे के बीच मिंकियर्स और इक्रीहोस के द्वीप समूह स्थित हैं। ब्रिटेन और फ्रान्स के बीच एक विशेष संविदा के अनुसार न्यायालय से अनुरोध किया गया था कि वह उपर्युक्त द्वीप समूह के स्वत्व के सम्बन्ध में निर्णय दे। 1066 में नारमण्डी के ड्यूक विलियम द्वारा इंग्लैण्ड पर विजय के बाद यह द्वीप समूह इंग्लैण्ड और नारमण्डी के सघराज्य का भाग हो गया था। यह 1204 तक चला क्योंकि इस साल फ्रांस के राजा फिलिप्स आगस्टस ने नारमण्डी को जीत लिया किन्तु वह द्वीपों पर अधिकार नहीं कर सका। ब्रिटेन ने आवेदन किया कि वे द्वीप ब्रिटेन के साथ सम्बद्ध है और यह परिस्थिति दो देशों के बीच हुई सन्धियों के कानूनी आधार पर आधारित है। फ्रांस का दावा था कि 1204 के विजय के बाद फ्रांस का अधिकार इन द्वीपों पर हो गया। फ्रांस ने उन्हीं मध्यकालीन सधियों का हवाला दिया जिनका ब्रिटेन ने उल्लेख किया था। 17 नवम्बर, 1953 को न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि उपर्युक्त किसी भी सन्धि में विशेष रूप से नहीं कहा गया था कि कौन से द्वीप ब्रिटेन के अधिकार में थे और कौन से द्वीप फ्रांस के। न्यायालय ने निर्णय दिया कि विचारणीय विषय मध्यक लीन बातों पर आधारित अप्रत्यक्ष मान्यता पर अवलम्बित नहीं था बल्कि वास्तविक प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रभुसत्ता के वास्तविक प्रयोग पर था। साक्ष्यों को देखते हुए न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इन द्वीप समूह पर ब्रिटेन का प्रभुता थी।

(31) रूस बनाम लेहाइवैली रेल रोड कॉर्पोरेशन केस (1927)

दूत के सम्बन्ध में कभी-कभी बड़े रोचक कानूनी प्रश्न उठ जाते हैं। जुलाई 1916 में कुछ सैनिक सामग्री अमेरिका में रूस जा रही थी जो विस्फोट होने के कारण नष्ट हो गई। रूसी सरकार के राजदूत ने वैली रेल रोड कॉर्पोरेशन पर अदालत में मुकदमा दायर किया। मुकदमे में फैसले के पूर्व ही रूस में राज्य क्रान्ति हो गई और दूसरे ढंग की सरकार कायम हो गई। अमेरिका का कहना था कि अमेरिका के न्यायालय की दृष्टि में मुकदमा दायर करने वाले राज्य का अस्तित्व ही नहीं रहा अतः मुकदमा चल नहीं सकता। 1926 में न्यायाधीश ने यह निर्णय दिया कि राज्य के रूप में परिवर्तन हो सकता है किन्तु राज्यसत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है। नई सरकार को भले ही स्वीकृति न मिली हो पर राज्य तो वही है। अतः जब तक नए राज्य की स्वीकृति राष्ट्रों द्वारा नहीं होती और नया राजदूत नहीं बहाल

किया जाता, तब तक पुराना राजदूत ही अपने राज्य का प्रतिनिधि माना जा सकता है। राजनीतिक काम में उसे भले ही, मान्यता प्राप्त न हो किन्तु अपने राज्य के दीवानी मामलों की वह रक्षा कर सकता है। अतः मुकदमा चल सकता है।

(32) मैक्लोड केस

यदि किसी राज्य की फौज दूसरे राज्य की भूमि पर हो और वहाँ वह अपराध करे तो उस देश के न्यायालय द्वारा उसे दण्ड नहीं दिया जा सकता। सिर्फ उसी सेना का सेनापति ही दण्डित दे सकता। किन्तु यदि कोई सैनिक अथवा फौजी अफसर अपनी छावनी से बाहर जाकर नगर में या ग्राम में अपराध करे तो उसको उस देश के न्यायालय को दण्ड देने का अधिकार है।

दूसरे देश में स्थित सेना द्वारा विवाद उपस्थित होने के सम्बन्ध में 'मैक्लोड केस' प्रसिद्ध है। जो सेना कोरोलाइन जहाज को पकड़ने के उद्देश्य से अमेरिका की भूमि पर गई थी उसमें अलेक्जेंडर मैक्लोड नाम का एक सैनिक था। संयोगवश वह कुछ समय पश्चात् अमेरिका के न्यूयॉर्क नगर में गया। वहाँ वह कोरोलाइन जहाज को नष्ट करने के सिलसिले में अमेरिका के नागरिक अमोस डर्फी की हत्या के अपराध में पकड़ा गया। ब्रिटेन ने विरोध में कहा कि मैक्लोड अपने कर्त्तव्य के सम्बन्ध में वहाँ गया था। अतः उसे मुक्त किया जाए। अमेरिका के विदेशमन्त्री ने ब्रिटेन के राजदूत के पास जो पत्र भेजा उससे स्पष्ट होता है कि अमेरिका के मन्त्री ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि यदि कोई सैनिक अपने कर्त्तव्य पालन के सिलसिले में दूसरे राज्य में प्रवेश करता है तो वह साधारण न्यायालय के सम्मुख जवाबदेह नहीं होता। मैक्लोड पर जो मुकदमा चला उसमें उसकी रिहाई हुई।

(33) दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका का अन्तर्राष्ट्रीय स्थान (1950)

इस विवाद में इस विषय पर प्रकाश डाला गया कि मण्डेट व्यवस्था के द्वारा स्थापित संरक्षित एवं सरक्षित राज्यों का न्याय व्यवस्था के अन्तर्गत क्या स्थान है? विचाराधीन प्रश्न यह था कि इस समय जबकि राष्ट्रसंघ समाप्त हो चुका है और संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने राष्ट्रसंघ की परिषद् के पर्यवेक्षण सम्बन्धी कार्यों को स्वीकार कर लिया है तो दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति क्या रहेगी? संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने दिसम्बर, 1949 में न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख परामर्श के लिए कुछ प्रश्न भेजे। इनमें दो महत्वपूर्ण हैं— (1) दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका के पूर्ववर्ती प्रदेशों के सम्बन्ध में दक्षिणी अफ्रीका संघ का अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व क्या है? (2) क्या दक्षिण अफ्रीकी संघ यह अधिकार रखता है कि दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका के प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व को परिवर्तित कर सकें। यदि उसे यह अधिकार नहीं है तो किसे है?

न्यायालय ने पर्याप्त विचार विमर्श के बाद 11 जुलाई 1950 को यह निर्णय दिया कि दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका अब भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रदेश के अधीनस्थ है और दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर में दक्षिण अफ्रीका के संघ द्वारा परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

(34) आयोनियन जहाज (1855)

1815 की पेरिस सन्धि के अन्तर्गत आयोनियन द्वीपों को स्वतन्त्र राज्य बना दिया गया जिसे ग्रेट-ब्रिटेन की सरक्षिता में सन्धि और युद्ध करने की शक्तियां दी गई। क्रीमियन युद्ध के समय आयोनियन राज्यों के झण्डे उड़ाते हुए कुछ जहाजों को ब्रिटिश रणपोतों द्वारा काले सागर में पकड़ा गया। इन्हें इस आधार पर न्यायाधिकरण के सम्मुख लाया गया कि ब्रिटिश प्रजा होते हुए भी गैर-कानूनी रूप से शत्रु के साथ व्यापार कर रहे थे। ग्रेट-ब्रिटेन ने रूस के विरुद्ध आयोनियन राज्यों की ओर से युद्ध की घोषणा नहीं की थी। अतः न्यायालय के सम्मुख मुख्य समस्या यह तय करना था कि क्या इस द्वीप के निवासी ब्रिटिश प्रजा हैं। न्यायालय के निर्णय के अनुसार द्वीपों के निवासी ब्रिटिश प्रजा नहीं थे और वे उन सब अधिकारों का उपयोग कर सकते थे जो तटस्थ राज्यों को प्राप्त थे।

(35) हाया डी ला टोरे विवाद (1951)

इस अभियोग द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि एक राष्ट्र के राजनैतिक अपराधियों को शरण प्रदान कर सकता है। विचाराधीन प्रश्न यह था कि क्या पीरू के नागरिक हाया डी ला टोरे को जिसके ऊपर विद्रोह का आरोप था कोलम्बिया के राजदूतावास द्वारा शरण दिया जाना उपयुक्त था। न्यायालय से प्रार्थना की गई कि वह दो प्रश्नों का उत्तर दे—(1) प्रत्यर्पण और शरणदान सम्बन्धी 1911 और 1928 के समझौतों एवं अमेरिका में सामान्य रूप में स्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार क्या कोलम्बिया को शरण देने के लिए अपराध शिथिल करने का अधिकार था? (2) क्या पीरू का यह दायित्व था कि वह अपने देश में स्थित विदेशी दूतावास के किसी शरणार्थी को अपने देश से बाहर जाने दे। न्यायालय ने अपने निर्णय में इन दोनों प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक रूप में दिया। न्यायालय का विचार था कि पीरू यह सिद्ध नहीं कर सका कि सम्बन्धित अभियुक्त सामान्य अपराधी था। निर्णय के अनुसार पीरू को अपना अपराधी प्राप्त करने का अधिकार है किन्तु कोलम्बिया को ऐसे शरणागत को समर्पित करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। उचित यही है कि कोलम्बिया की सरकार शरणागत को समर्पित करने के अतिरिक्त कुछ और तरीका अपनाए।

इस विवाद में यह स्पष्ट किया गया कि प्रत्यर्पण सम्बन्धी प्रत्येक मामला इस सम्बन्ध में की गई सन्धि के अनुसार तय किया जाएगा। यदि सन्धि में सामान्य अपराधी को शरण देने की बात कही गई है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि राजनैतिक अपराधियों को भी शरण नहीं दी जा सके।

(36) अल्बामा पंच-निर्णय (1872)

इसमें तटस्थ राज्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का विवेचन किया गया है। अमेरिकी गृह-युद्ध के समय ब्रिटिश जहाज निर्माता कम्पनी में अनेक जलपोत सघ सरकार की नौ-सेना के प्रयोग के लिए बनाए गए। जब उन्होंने ब्रिटिश बन्दरगाह छोड़ा तो उनको नि:शस्त्र कर दिया गया। फिर भी उनमें भारी बन्दूकें रखने की

व्यवस्था की गई थी। सामान्य जानकारी के अनुसार इन जहाजों का प्रयोग अमरिकी वाणिज्य को ठप्प करने के लिए किया गया। लदन स्थित अमेरिकी मंत्री ने इन जहाजों के उद्देश्य की ओर ब्रिटिश सरकार का ध्यान आकर्षित किया और बताया कि उनकी बिक्री तटस्थ राज्य के रूप में ग्रेट-ब्रिटेन के कर्त्तव्यों का उल्लंघन है। इन विरोधों के बाद भी ये जहाज जाते रहे। ब्रिटिश राष्ट्रीय कानून गैर-सरकारी समझौतों में हस्तक्षेप की अनुमति नहीं देता।

लिवरपूल में बनाया गया अलबामा जहाज सबसे अधिक बदनाम था। क्राउन के कानूनी अधिकारियों ने सरकार को यह सुझाव दिया कि इसे रोक दिया जाए। इन सुझाव को न मानते हुए अलबामा छोड़ दिया गया। इसने 70 अमेरिकी जहाजों को पकड़ा। संयुक्त राज्य अमरिका के मतानुसार ब्रिटिश बन्दरगाह में बने हुए रणपोतों द्वारा उसे जो हानि हुई है उसका मुआवजा उसे प्राप्त हो। ब्रिटिश सरकार ने अपने को उत्तरदायी मानने से मना कर दिया यहाँ तक कि पंच निर्णय को भी अस्वीकार कर दिया। 1871 की वाशिंगटन सन्धि में यह तय किया गया कि इस विवाद को पंच न्यायाधिकरण के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए। इसमें एक अमेरिकी तथा एक ब्रिटिश सदस्य हो तथा तीन तटस्थ सदस्य हों। इस सन्धि की धारा 6 के अनुसार पंचों को वाशिंगटन सन्धि के तीन नियमों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के उन नियमों को लागू करने के लिए कहा गया जो इस विवाद से असंगत नहीं थे। ब्रिटिश सरकार ने इन नियमों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की घोषणा करने वाला मानने से मना कर दिया, किन्तु बताया कि पंचों को यह मानना चाहिए कि ग्रेट ब्रिटेन इन नियमों के अनुसार व्यवहार करेगा। नियमों के अनुसार तटस्थ सरकार को निम्न कार्यों के लिए बाध्य किया गया था—

(A) अपने क्षेत्राधिकार में स्थित किसी जलपोत पर ऐसे हथियारों को लदने से रोकना जिनका प्रयोग ऐसे राज्य के विरुद्ध किया जा सके जिसके साथ उसके शान्तिपूर्ण सम्बन्ध हों।

(B) किसी भी युद्धमान राज्य को यह सुविधा न दी जाए कि वह तटस्थ राज्य के बन्दरगाहों या समुद्रतटों का दूसरे के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही के लिए प्रयोग कर सके। इनका प्रयोग सैनिक सामग्री की पूर्ति, हथियारों के भेजने और व्यक्तियों की नियुक्ति के लिए नहीं किया जाना चाहिए।

(C) यह अपने बन्दरगाहों और समुद्रों पर तथा अपने क्षेत्राधिकार में स्थित सभी व्यक्तियों द्वारा उक्त दायित्वों एवं कर्त्तव्यों का उल्लंघन रोकने के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयास करे।

इस प्रकार अलबामा पंच निर्णय ने ग्रेट-ब्रिटेन को उत्तरदायी पाया, किन्तु अप्रत्यक्ष नुकसान के लिए किए गए अमेरिकी दावों को अस्वीकार कर दिया।

(37) पोलिश अपर साइलेशिया में जर्मनी के हित (1926)

15 मई, 1922 को जर्मनी और पोलैण्ड ने जनेवा में एक अभिसमय स्वीकार किया। इसकी धारा 23 के अनुसार अभिसमय की 6 से लेकर 22 तक

की धाराओं के विवादों पर अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थाई न्यायालय को क्षेत्राधिकार सौंपा गया। *1925 में जर्मन सरकार ने शिकायत की कि पोलैण्ड जेनेवा अभिसमय* और वर्साय सन्धि के प्रावधानों के विरुद्ध चोरजोव के औद्योगिक उद्यमों की सम्पत्ति छीन रहा है। इसके अतिरिक्त वह कुछ देहाती सम्पत्ति को भी हड़पने का प्रयास कर रहा है। *अतः जर्मनी ने न्यायालय में एक प्रार्थना-पत्र दिया ताकि यह सिद्ध* किया जा सके कि सन्धियों का उल्लंघन हुआ है और पोलैण्ड को इसके लिए कौन से कदम उठाने चाहिए।

पोलैण्ड का तर्क था कि यह विषय न्यायालय के क्षेत्राधिकार में नहीं आता। न्यायालय ने इस तर्क को ठुकरा दिया। उसने एक के विरुद्ध दस मतों से यह निर्णय लिया कि पोलैण्ड द्वारा उठाए गए कदम जेनेवा अभिसमय के प्रावधानों के अनुरूप नहीं थे।

(38) उत्तरी एटलांटिक कोस्ट-फिशरीज का विवाद (1910)

संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के बीच 1783 में एक सन्धि हुई। इसके द्वारा अमेरिकी नागरिकों का न्यूफाउंडलैंड (Newfoundland) में मछली पकड़ने का विशेषाधिकार बना रहा। यह अधिकार उस समय भी था जब ये नागरिक ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों देशों के संयुक्त रूप से नागरिक थे। 1812 के युद्ध के कारण ग्रेट ब्रिटेन ने इस सन्धि को समाप्त हुआ मान लिया, किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसे केवल निलम्बित माना। 1818 में अमेरिकी मत्स्य अधिकारों के सम्बन्ध में एक नई सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए। *कठिनाई यह रही कि इस* सन्धि की धारा 1 के क्षेत्र को किस प्रकार प्रभावित किया जाए। 1905 में अमेरिका के मछली पकड़ने वाले जहाजों को ग्रेट ब्रिटेन ने पकड़ लिया। उसके बाद दोनों *देशों के सम्बन्ध बिगड़े। 1909 में दोनों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके* अनुसार वे अपने विवाद को पंच निर्णय के स्थाई न्यायालय को सौंपने के लिए तैयार हो गए। पंच निर्णय को सात प्रश्न सौंपे गए और उसे भविष्य में मछलीगाह से सम्बन्धित विवादों को सुलझाने की प्रक्रिया बताने की प्रार्थना की गई। पंच निर्णय ने अपना पंचाट 1910 में प्रस्तुत किया।

(39) आंग्ल-नार्वेजियन फिशरीज विवाद (1951)

नार्वे और डेनमार्क के राजा की शिकायत के बाद ब्रिटिश मछलीगाहों को 1906 से 1916 तक नार्वे के तटवर्ती जल में से मछली पकड़ने की मनाही कर दी गई। *1908 से नार्वे की सरकार ने कुछ क्षेत्रों में विदेशियों के आगमन को* रोकने के लिए प्रयास करना प्रारम्भ कर दिया। 1911 में एक ब्रिटिश जहाज इन सीमाओं को तोड़ने के कारण पकड़ा गया और उसकी निन्दा की गई। 1933 में ग्रेट-ब्रिटेन ने यह विरोध प्रकट किया कि *नार्वे ने अपने प्रादेशिक समुद्र को सीमित* करते हुए अनुचित आधार रेखा का प्रयोग किया है। जुलाई, 1935 में नार्वे के एक शाही आदेश द्वारा नार्वे के मछलीगाह क्षेत्र को सीमित किया गया। आदेश की भूमिका में सुस्थापित राष्ट्रीय अधिकारों, भौगोलिक परिस्थितियों, देश के इन भागों

में रहने वाले निवासियों के हितों और 1812, 1869, 1881 और 1889 के शाही आदेशों का उल्लेख किया गया।

ग्रेट-ब्रिटेन ने चार मील के क्षेत्र तक नार्वे का दावा स्वीकार किया, किन्तु 1935 में निर्धारित रेखा के औचित्य को चुनौती दी और कहा कि ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रचलित नियमों के अनुसार नहीं हैं। फलत: ग्रेट-ब्रिटेन ने न्यायिक कार्यवाही प्रारम्भ की और न्यायालय से कहा कि आधार रेखा को परिभाषित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों को घोषित करे। न्यायालय ने दो के विरुद्ध आठ मतों से यह स्वीकार किया कि सीमा निर्धारण का तरीका अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध नहीं था। उसने चार के विरुद्ध आठ मतों से यह निर्णय दिया कि आधार रेखा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुरूप थी।

(40) न्यूरेम्बर्ग निर्णय (1946)

इस निर्णय द्वारा युद्ध अपराधों की प्रकृति और गम्भीरता पर प्रकाश डाला गया। द्वितीय विश्व-युद्ध अभी चल ही रहा था कि मित्र राष्ट्रों की ओर से ऐसे वक्तव्य दिए जाने लगे कि युद्ध के बाद उन जर्मन अधिकारियों तथा नाजी पार्टी के व्यक्तियों और सदस्यों को पकड़े जाने के बाद उनके युद्ध अपराधों और अत्याचारों के लिए न्यायिक कार्यवाही की जाएगी। 8 अगस्त, 1945 को लन्दन में फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन, सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधियों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार उन यूरोपीय धुरी शक्तियों के प्रमुख युद्ध अपराधियों के विरुद्ध न्यायिक कार्यवाही की व्यवस्था की गई जिनके अपराध किसी भौगोलिक क्षेत्र तक सीमित नहीं थे। इस समझौते के साथ एक चार्टर संलग्न किया गया जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण का प्रावधान था। चार्टर की धारा 7 के अनुसार न्यायाधिकरण को तीन प्रकार के अपराधों पर विचार करने की शक्ति दी गई—स्वतन्त्रता के विरुद्ध अपराध, शान्ति युद्ध के विरुद्ध अपराध तथा मानवता विरोधी अपराध।

चार्टर ने स्पष्ट रूप से कहा कि किसी अपराधी की पद-स्थिति अपराध को कम करने की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखेगी। कोई अभियुक्त अपनी सुरक्षा के लिए तर्क नहीं दे सकता कि उसने उच्च अधिकारी की आज्ञा का पालन करते हुए कोई कार्य किया था और इसलिए वह दोषी नहीं है। न्यायाधिकरण का यह अधिकार दिया गया कि वह किसी भी समूह व संगठन को अपराधी घोषित कर सके या किसी संगठन के सदस्य को राष्ट्रीय अथवा सैनिक न्यायालय के सम्मुख कार्यवाही के लिए प्रस्तुत कर सके।

न्यायालय के सम्मुख 22 जर्मन और नाजी नेता लाए गए। 6 संगठनों को भी अभियुक्त बनाया गया। इन संगठनों में केवल दो (रीक मन्त्रिमण्डल और जनरल स्टाफ तथा हाई कमान) को छोड़ दिया गया। अपराधी व्यक्तियों में तीन को छोड़ा गया, 12 को मृत्यु दण्ड दिया गया, तीन को आजन्म कारावास की सजा मिली और शेष चार को लम्बे समय तक के लिए जेल हुई।

(41) दी वर्जीनियस (1876)

संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् 1870 में इस जहाज का पंजीकरण किया गया। सन् 1873 में क्यूबा के स्पेन विरोधी विद्रोह में विद्रोहियों ने इस जहाज को ले लिया। यह किंगस्टन से क्यूबा जा रहा था। स्पेन के एक जंगी जहाज ने इसका पीछा किया और पकड़ लिया। जहाज पर प्रचुर मात्रा में हथियार, गोला बारूद और बड़ी संख्या में ऐसे यात्री पाए गए जो विद्रोहियों की सहायता के लिए क्यूबा जा रहे थे। इस जहाज में कुछ ब्रिटिश यात्री कोस्टारिका भी जा रहे थे जो इस जहाज का एक घोषित लक्ष्य था। इन यात्रियों को क्यूबा की ओर जाने का तनिक भी ज्ञान नहीं था।

जहाज के यात्रियों और नाविकों को बन्दी बना लिया गया। इन पर समुद्री डकैती और विद्रोहियों को सहायता देने का आरोप लगाया गया। एक फौजी अदालत ने आरोपों पर विचार किया और यात्रियों में से 37 को गोली से उड़ाने का दण्ड दिया। इनमें 16 ब्रिटिश प्रजाजन थे।

ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस निर्णय का विरोध किया और कहा कि प्राण दण्ड की आज्ञा को क्रियान्वित नहीं किया जाए। स्पेन ने उस समय तक जीवित ब्रिटिश प्रजाजनों को अमेरिकी सरकार को सौंप दिया। ग्रेट-ब्रिटेन ने अनेक तर्कों के आधार पर यह शिकायत की कि वर्जीनियस के यात्रियों को मृत्यु दण्ड देना अनुचित था। इस सम्बन्ध में हुए वाशिंगटन सम्मेलन में स्पेन को वर्जीनियस जहाज, इसके बचे हुए यात्री और नाविक अमेरिका तथा ग्रेट-ब्रिटेन को लौटाने पड़े और सैनिक न्यायालय की आज्ञा से मारे गए ब्रिटिश प्रजाजनों के परिवार वालों को हर्जाने की राशि देनी पड़ी।

इस विवाद में एक विचाराधीन प्रश्न यह भी था कि अमेरिका के स्वीकृत और उसी का झण्डा फहराने वाले जहाज के महासमुद्र में होने पर इसका पीछा या आक्रमण किस प्रकार किया जा सकता? स्पेन को ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं था।

(42) वीर सावरकर का विवाद (1911)

यह विवाद प्रत्यर्पण एवं प्रादेशिक क्षेत्राधिकार से सम्बन्ध रखता है। वीर सावरकर को उन पर लगाए हुए आरोपों की जाँच के लिए जब ग्रेट ब्रिटेन से भारत भेजा रहा था तो रास्ते में एक फ्रांसीसी बन्दरगाह पर वे जहाज से समुद्र में कूद पड़े तथा तैरते हुए तट पर आ गए। एक फ्रांसीसी सिपाही ने उन्हें पकड़ने के बाद ब्रिटिश जहाज के कप्तान को सौंप दिया। सावरकर एक राजनैतिक अपराधी थे, इसलिए ब्रिटिश सरकार से फ्रांस ने यह माँग की कि उन्हें फ्रांस को वापस दे दिया जाए और औपचारिक रूप से उनके प्रत्यर्पण की माँग की जाए। ग्रेट-ब्रिटेन ने यह माँग स्वीकार नहीं की। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपने निर्णय में यह माना कि सावरकर को न सौंपकर ब्रिटिश अधिकारियों ने अनियमितता की है, किन्तु उनका व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विपरीत नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का कोई नियम

ऐसा नहीं है जो किसी राज्य को अपने ऐसे बन्दी को लौटाने को बाध्य करे जो किसी विदेशी व्यक्ति की भूल से उसे मिल गया है। अनेक कानूनवेत्ताओं ने इस निर्णय की बड़ी आलोचना की, फिर भी सम्बन्धित परिस्थितियों में इस व्यवहार का औचित्य अनेक आधारों पर सिद्ध किया गया।

(43) कार्थेज का विवाद (1913)

अफ्रीका में 1912 में इटली और टर्की के बीच युद्ध के दौरान इटली ने यह प्रयास किया कि टर्की की सैनिक सामग्री को ट्यूनिस के रास्ते जाने से रोका जाए। 16 जनवरी, 1912 को इटली ने एक फ्रांसीसी डाक पोत कार्थेज को रोक लिया। यह पोत मर्सेलीज से ट्यूनिश जा रहा था। इसका कारण यह बताया गया कि इसमें वायुयान और उसके कुछ हिस्से रखे हुए थे जो युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री हैं। वायुयान को कार्थेज से इटालियन जहाज पर नहीं रखा जा सकता था इसलिए उसे इटली के बन्दरगाह की ओर भेज दिया गया। यह वायुयान तथा उसके हिस्से कार्थेज के स्वामी के निर्देशानुसार उतारे गए। इटली के अधिकारियों ने जहाज पर स्थित डाक की तलाशी ली। जब इटली को यह आश्वासन दे दिया गया कि जहाज केवल प्रदर्शनकारी उद्देश्यों के लिए ले जाया जा रहा है और इसका स्वामी इसकी सेवाएँ टर्की के लिए प्रदान करने का कोई इरादा नहीं रखता तो 21 जनवरी को इसे छोड़ दिया गया।

फ्रांसीसी सरकार ने यह मत प्रकट किया कि कार्थेज को पकड़ना अवैध था। यह विवाद पंच फैसले के स्थाई न्यायालय को सौंपा गया। फ्रांस का कहना था कि उसके झण्डे के विरुद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोड़कर किए गए अपराध के बदले उसे क्षति-पूर्ति दी जाए। इटली की सरकार ने अपने कार्य को उचित बताया और कार्थेज को पकड़ने में किए गए व्यय की माँग की। न्यायाधिकरण ने अपने निर्णय में कहा कि कार्थेज को पकड़ना अनुचित था, किन्तु फ्रांस का क्षतिपूर्ति का दावा स्वीकार नहीं किया जा सका।

(44) किम का विवाद (1913)

किम और नार्वे के अन्य तीन जलपोत एक स्वीडिश जहाज के साथ न्यूयार्क से कोपेनहेगन जा रहे थे। एक अमरिकी निगम द्वारा इन्हें किराए पर लिया गया था। इस निगम का अध्यक्ष जर्मन था और उसका योरोपीय एजेन्ट भी जर्मन था। किम नामक जलपोत पर खाद्य सामग्री, रबर और जानवरों की खालें लदी हुई थीं। इस सामग्री को युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री घोषित करके पकड़ लिया गया। किम पर लदी हुई रबर को पूर्ण विनिषिद्ध माना गया और अन्य वस्तुओं को सशर्त विनिषिद्ध कहा गया। विचारणीय प्रश्न यह था कि जलपोतों पर लदी हुई सामग्री को विनिषिद्ध पदार्थ माना जाए।

न्यायाधीशों के निर्णय के अनुसार निरन्तर यात्रा का सिद्धान्त सबसे पहले अंग्रेजी न्यायालयों ने अवैध व्यापार के सन्दर्भ में लागू किया था। सशर्त विनिषिद्धों के सम्बन्ध में समझौता यह हुआ था कि यदि शत्रु देश में शिप-बोर्ड नहीं है तो द

लागू किया जाएगा। न्यायालय के विचार के अनुसार जलपोत पर लदा सामान वास्तव में कोपेनहेगन को नहीं वरन् जर्मनी को भेजा जा रहा था। इस सामान का प्रयोग निश्चय ही जलसेना एवं थलसेना द्वारा किया जाना था।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ भारतीय विवाद

(Some Indian Cases Concerning International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित अनेक ऐसे विवाद उत्पन्न हुए जिनमें भारत भी एक पक्ष था अथवा जिसे भारतीय न्यायालय में प्रस्तुत किया गया। इन विवादों में कुछ उल्लेखनीय निम्नलिखित है—

(45) डालमिया दादरी सीमेंट कम्पनी लिमिटेड विरुद्ध कमिश्नर ऑफ इनकम टैक्स (1958)

इस विवाद में राज्य के उत्तराधिकार सम्बन्धी प्रश्न पर प्रकाश डाला गया। इस विवाद में पंजाब के एक दादरी नामक स्थान पर सीमेन्ट बनाने तथा बेचने के लिए एक कम्पनी स्थापित की गई। यह स्थान जींद नामक एक पुरानी रियासत में स्थित था। इसके तत्कालीन शासक ने 1 अप्रैल, 1938 को एक समझौते द्वारा कम्पनी के निर्माता शान्ति प्रसाद जैन के लिए कुछ अधिकार दिए। उसे पूरे जींद राज्य में सीमेन्ट बनाने का एकाधिकार सौंपा गया। यह सुविधा 25 वर्ष के लिए थी। समझौते में आयकर की दर 5 लाख की आय तक 4% और इससे अधिक पर 5% निर्धारित की गई। कम्पनी को चुंगी के अतिरिक्त दूसरे सभी आयात और निर्यात करों से छूट दी गई। 27 मई, 1938 को डालमिया दादरी सीमेन्ट कम्पनी स्थापित हुई और शान्तिप्रसाद जैन के अधिकार इसे प्रदान कर दिए गए। 15 अगस्त, 1947 को जींद के राजा द्वारा अपने देश की प्रतिरक्षा, विदेशी मामले और संचार साधनों के सम्बन्ध में कानून बनाने की शक्ति भारत सरकार को दे दी गई। 20 अगस्त, 1948 को पेप्सू (पटियाला व पूर्वी पंजाब राज्यों का संघ) के प्रमुख ने जींद राज्य का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया और पिछले कानूनों को रद्द करके पटियाला राज्य के कानून लागू किए गए। 24 नवम्बर, 1949 को राजप्रमुख ने भारतीय संविधान स्वीकार किया और 13 अप्रैल, 1950 को अपने प्रदेश में केन्द्र सरकार द्वारा निश्चित कर लगाने की व्यवस्था की। फलत उक्त कम्पनी की आय पर केन्द्र सरकार ने निर्धारित दर से कर लगाया।

कम्पनी का कहना था कि उससे आयकर नवीन दर से न लेकर 1 अप्रैल 1938 में जींद के राजा के साथ हुए समझौते में तय की गई दर से लिया जाए क्योंकि इस राजा द्वारा किए गए समझौते के दायित्व एवं शर्तें नए राज्य को उत्तराधिकार में मिली हैं। इनका पालन करने के लिए वह बाध्य है। नए राज्य के कानून और अध्यादेश पुराने राज्य द्वारा किए गए समझौता की कानूनी स्थिति को समाप्त नहीं कर सकते।

इस मत के विरोध में कहा गया कि राजाओं ने पेप्सू बनाने के लिए जो *समझौता किया था वह एक राज्य-कर्म है* और इसकी वैधता पर राष्ट्रीय न्यायालय

विचार नहीं कर सकते। सर्वोच्च न्यायालय ने इस सम्बन्ध में प्रतिवादी के तर्क को स्वीकार किया। उसका यह कहना था कि पूर्वी पंजाब के राजाओं द्वारा बनाया गया यह सब स्वतन्त्र राज्यों के शासकों द्वारा की गई सन्धि का परिणाम था। इस सन्धि के अनुसार राज्यों ने अपनी प्रभुसत्ता के सभी अधिकार छोड़ दिए। यह एक राज्य-कृत्य था। इसके द्वारा इन प्रदेशों के निवासी नवीन शासक के प्रजा-जन बन गए। इस स्थिति में इस प्रदेश के रहने वालों को केवल वे अधिकार प्राप्त होते हैं जिन्हें नया शासक स्वीकार करे अथवा प्रदान करे। इस प्रकार डालमिया कम्पनी पर आयकर के वे *नियम लागू* होंगे जो *नई सरकार द्वारा* निर्धारित किये जाएँ। सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश ने अपना विरोधी मत प्रकट करते हुए कहा कि प्रभुसत्ता के परिवर्तन से पुराने नागरिकों के सभी अधिकार समाप्त नहीं हो जाते।

(46) सैन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया लिमिटेड विरुद्ध रामनारायण (1955)

इस विवाद में राष्ट्रीयता के प्रश्न पर प्रकाश डाला गया। इसमें रामनारायण नामक व्यक्ति मुल्तान नगर का निवासी और वहीं के सैन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया की एक शाखा में कर्मचारी था। 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतन्त्र होने पर मुल्तान नगर पाकिस्तान में चला गया, किन्तु रामनारायण भारत नहीं आया, न उसने अपनी नौकरी छोड़ी। 9 नवम्बर, 1947 को बैंक में गबन करके वह 10 नवम्बर को भारत भाग आया। भारतीय सैन्ट्रल बैंक ने पूर्वी पंजाब सरकार की स्वीकृति से कई अपराधों के लिए रामनारायण पर मुकदमा चलाया। रामनारायण का यह कहना था कि वह पाकिस्तान का नागरिक है। इसलिए भारतीय दण्ड विधान के चौथे खण्ड और फौजदारी प्रक्रिया की संहिता के 188वें खण्ड के अन्तर्गत ली गई यह अनुमति अवैध थी और उस पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

न्यायालय ने रामनारायण की आपत्ति को रद्द करते हुए कहा कि 15 अगस्त, से 10 नवम्बर, 1947 तक मुल्तान में निवास के कारण रामनारायण पाकिस्तान का नागरिक नहीं बन जाता। निम्न न्यायालय के इस निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की गई जिसने रामनारायण के पक्ष में फैसला दिया और नीचे की अदालत के फैसले को रद्द कर दिया। सर्वोच्च न्यायालय में अपील होने पर भी निर्णय उच्च न्यायालय की भाँति रामनारायण के पक्ष में रहा। न्यायाधीश महाजन का तर्क था कि रामनारायण ने स्पष्ट रूप से अपने पूर्व निवास स्थान को छोड़ने का इरादा प्रकट नहीं किया था, अतः वह उस समय पाकिस्तानी था। भारतीय नागरिक बन जाने के बाद उससे पूर्व विदेशों में किए गए अपराधों के लिए भारतीय न्यायालय उसके विरुद्ध अभियोग चलाने का अधिकार नहीं रखते।

(47) मद्रास राज्य विरुद्ध राजगोपालन (1956)

इस विवाद में श्री राजगोपालन 1937 में भारतीय नागरिक सेवा में नियुक्त हुए तथा मद्रास का कार्य करने लगे। 2 जून, 1947 से उन्होंने कुछ दिन का अवकाश लिया। स्वतन्त्रता के बाद मद्रास सरकार ने उनको सेवा से हटा दिया।

उन्होंने मद्रास के उच्च न्यायालय में इस आदेश की वैधता को चुनौती दी। वादी का तर्क था कि ऐसा करके मद्रास सरकार ने 1935 के भारत सरकार कानून के खण्ड 240 का उल्लंघन किया, जिसके अनुसार नागरिक सेवाओं को सर्वाधिक गारण्टियाँ दी गई थी। प्रतिवादी ने बताया कि जब 1947 के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम द्वारा सत्ता का हस्तान्तरण हुआ तो राजगोपालन की सेवाएँ स्वतः ही समाप्त हो गईं। उसमें सेवा में पूर्ववत् बने रहने का कानूनी अधिकार नहीं रहा। उच्च न्यायालय ने मद्रास सरकार के तर्क को अपर्याप्त बताया और उसके आदेशों को अवैध ठहराया।

मद्रास सरकार ने इस निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की। मद्रास सरकार का यह तर्क था कि स्वतन्त्रता के बाद भारत एक नवीन स्वतन्त्रता सम्प्रभु राज्य बना चुका है। पुराना राज्य अब समाप्त हो गया है और इसलिए सेवा सम्बन्धी सभी अनुबन्ध जो इससे पहले किए गए थे, अब समाप्त हो गए हैं। पिछली सरकार के समाप्त होते ही उसके साथ की जाने वाली सभी संविदाएँ समाप्त हो जाती हैं।

सर्वोच्च न्यायायालय का निर्णय मद्रास सरकार के पक्ष में हुआ। उसने अपीलकर्त्ता के इस तर्क को स्वीकार कर लिया कि भारत अब एक पूर्ण प्रभुता-सम्पन्न राज्य है और इसके किसी भाग द्वारा पहले किए गए अनुबन्धों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय नागरिक सेवा का नियन्त्रण भारत सचिव करता था। अब इसका पद समाप्त हो गया। अतः उसके द्वारा बनाये गये तत्सम्बन्धी नियम भी समाप्त हो गये हैं। सेवा के सम्बन्ध में दी गई गारण्टियाँ तथा शर्तें समाप्त हो गईं। भारत से अंग्रेजों के जाने के बाद भारत सरकार को यह पूरा अधिकार है कि पुराने कर्मचारियों को नौकरी पर रखे या न रखे।

(48) रावजी अमरसिंह विरुद्ध राजस्थान सरकार (1958)

जनवरी 1948 को रावजी अमरसिंह को भूतपूर्व बीकानेर राज्य में जिला तथा सेशन जज नियुक्त किया गया। 7 अप्रैल, 1959 को बीकानेर संयुक्त राजस्थान में शामिल हो गया। इसने अपने न्यायिक प्रशासन का पुनर्गठन किया। परिवर्तन के परिणामस्वरूप रावजी को जो पद दिया गया, वह उसे पसन्द नहीं था। उनके मतानुसार यह भारतीय संविधान की धारा 311 के द्वारा दिए गए अधिकारों का अतिक्रमण था।

इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार वादी की अपील को नामन्जूर कर दिया गया। न्यायाधीश विवियन बोस के अनुसार, जब एक राज्य विजय, विलय, एकीकरण, सम्मिलन आदि द्वारा दूसरे राज्य में मिल जाता है तो पहली सरकार एवं उसके सेवकों के बीच किए गए सेवा विषयक सभी अनुबन्ध समाप्त हो जाते हैं। नई सरकार में सेवा स्वीकार करने वाले व्यक्ति को नई सरकार के नियमों का पालन करना पड़ेगा।

(49) रहीमतुल्ला विरुद्ध निजाम हैदराबाद तथा अन्य (1957)

यह विवाद निजाम हैदराबाद के नाम लदन के एक बैंक म स्थित 1,00,7940 पौण्ड की रकम से सम्बन्धित था। 1948 मे भारतीय सेनाओं के हैदराबाद मे प्रविष्ट होने तक यह धन निजाम के नाम ही जमा था, किन्तु अब बैंक ने इसे निदशों के क्रम मे हबीब इब्राहीम रहीमतुल्ला (लन्दन मे पाकिस्तानी उच्चायुक्त) के नाम के खाते मे हस्तान्तरित कर दिया। जुलाई, 1954 मे निजाम ने इसके विरुद्ध न्यायिक कार्यवाही करते हुए यह तर्क दिया कि धन को न्यास के रूप मे रखा गया था और पक्षकारो को यह हस्तान्तरित करने का अधिकार नही था।

पाकिस्तान ने अपने वैध दावे की माँग की तथा सम्प्रभु उन्मुक्ति का तर्क दिया। चांसरी डिवीजन ने पाकिस्तान के मत को स्वीकार कर लिया, किन्तु अपीलीय न्यायालय ने इसके विपरीत निर्णय दिया। जब इस निर्णय की अपील लॉर्ड सभा मे की गई तो उसने अपीलीय न्यायालय के निर्णय को उलट दिया।

(50) यूनियन ऑफ इण्डिया विरुद्ध चमन लाल लूना (1958)

यह विवाद उत्तराधिकारी सम्बन्धी प्रश्न पर प्रकाश डालता है। मि चमन लाल लूना भारतीय सेना को माल देने वाला ठेकेदार था। 1945 मे उसने लाहौर छावनी के माध्यम से सेना विभाग को भूसा देने का ठेका लिया और इसके लिए जमानत के रूप मे 11026/- रुपए जमा करा दिए। ठेके के समझौतो की शर्त के अनुसार इस सम्बन्ध मे कोई विवाद होने पर उनका फैसला पच द्वारा किया जाना था। स्वतन्त्रता के समय लाहौर पाकिस्तान मे चला गया। लूना ने भारत सरकार के सेना विभाग से *11026/-* रुपये की माँग की। भारत सरकार ने इसे अस्वीकार किया और कहा कि भारतीय स्वतन्त्रता (अधिकार और दायित्व) आदेश के अनुसार *जमानत का उत्तरदायित्व सरकार पर नही वरन् पाकिस्तान पर है। लूना का तर्क था कि इस विवाद मे 1947 का प्रतिरक्षा आदेश लागू होना है और इसलिए भारत सरकार का मत गलत है। नीचे के न्यायालय ने लूना के पक्ष मे निर्णय दिया।* इसके विरुद्ध हाईकोर्ट तथा सर्वोच्च न्यायालय मे अपील की गई। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार लाहौर छावनी का फार्म पाकिस्तान मे है अत: इस ठेके का प्रयोजन पाकिस्तान के हित को पूरा करना है, इसलिए जमानत की रकम भारत सरकार से नही माँगी जा सकती है।

(51) प्रेमाभाई छोबा भाई लगल विरुद्ध यूनियन ऑफ इण्डिया एण्ड अदर्स (1966)

सर्वोच्च न्यायालय ने इस विवाद मे इस प्रश्न पर विचार किया कि सैनिक कार्यवाही द्वारा जीते गए पुर्तगाली प्रदेश मे नई सरकार को पुरानी सरकार के केवल उन्ही दायित्वों को पूरा करने के लिए बाध्य किया जा सकता है जिन्हे उसने स्वीकार किया है। प्रार्थी एक पुर्तगाली बस्ती का नागरिक था जिसे 20 दिसम्बर 1961 को भारत ने सैनिक कार्यवाही द्वारा अपने प्रदेश में मिला लिया। प्रार्थी ने पुर्तगाली अधिकारियों से 10 लाख पौण्ड से अधिक मूल्य का आयात करने का

लायसेन्स प्राप्त किया। इसके अनुसार 20 दिसम्बर से पूर्व विदेशों में माल मँगाने के आर्डर दे दिए गए। यह माल निर्धारित समय पर नहीं आया। इसलिए प्रार्थी ने भारत सरकार के इन लायसेन्सों के अनुसार माल मँगाने की अनुमती माँगी। भारत सरकार के अनुमति न देने पर मई, 1963 में प्रार्थी ने न्यायालय की शरण ली।

प्रार्थी के मतानुसार भारत सरकार 20 दिसम्बर, 1961 से पूर्व उसे दिए गए लायसेन्सों का माल मँगाने के अधिकार को स्वीकार कर चुकी है। इसलिए वह प्रार्थी को वाँछित वस्तुओं का आयात करने की अनुमति देने के लिए बाध्य है। भारत सरकार का तर्क था कि उसने पुर्तगाली प्रदेश को सैनिक विजय द्वारा प्राप्त किया है इसलिए वह पूर्व स्थित सरकार द्वारा उसके प्रजाजनों के साथ किये गये समझौता को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है। भारत सरकार पुराने अनुबन्धों का पालन करने से इन्कार करती है। अत. प्रार्थी को इस सम्बन्ध में कोई अधिकार नहीं है।

न्यायालय के निर्णय के अनुसार प्रार्थी को अपने पूर्व अधिकारों को माँगने का अधिकार नहीं है क्योंकि नियमानुसार पुराने राज्य के प्रजाजन अपने उन्हीं अधिकारों की माँग कर सकते हैं जिन्हे नये शासक ने स्वीकार किया है। न्यायालय ने *इस सम्बन्ध में कुछ विवादों का उल्लेख किया। गोवा के राज्यपाल* ने 30 दिस, 1961 को यह घोषणा की थी कि आयात किया गया जो माल जहाजों द्वारा रवाना हो चुका है अथवा जिसकी विदेशी मुद्रा दी जा चुकी है, केवल उसी का आयात किया जा सकेगा। प्रार्थी का माल दोनों में से किसी शर्त को पूरा नहीं करता इसलिए भारत सरकार उसके अधिकार को स्वीकार नहीं करती।

(52) रायल नेपाल एयर लाइन्स विरुद्ध मनोरमा मेहरसिंह रेगर (1966)

इस विवाद में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने ऐसे महत्त्वपूर्ण कानूनी प्रश्नों पर विचार किया जिनका सम्बन्ध राज्य के क्षेत्राधिकार में विदेशी राजा और अभिकरणों की उन्मुक्ति तथा राजदूत द्वारा इन उन्मुक्तियों का दावा किये जाने से था। विवाद में वादी मनोरमा एक रायल नेपाल एयर लाइन्स कॉर्पोरेशन नामक कम्पनी के एक कर्मचारी की विधवा पत्नी थी। कम्पनी का मुख्य कार्यालय काठमाण्डू में था और उसकी एक शाखा कलकत्ता में कार्य करती थी जो कलकत्ता उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में था। वादी का पति नवम्बर, 1960 में एक हवाई दुर्घटना में मारा गया। यह दुर्घटना वादी के आरोप के अनुसार कॉरपोरेशन की लापरवाही के कारण हुई इसलिए उसे पति की मृत्यु से होने वाली हानि का हर्जाना दिया जाना चाहिए।

प्रतिवादी का तर्क था कि कॉर्पोरेशन नेपाल सरकार का एक अंग है जो एक स्वतन्त्र विदेशी राज्य है। दुर्घटनाग्रस्त विमान नेपाल सरकार की सम्पत्ति था और उसी की देख-रेख में कार्य करता था। कार्पोरेशन के व्यय का प्रबन्ध नेपाल

सरकार करती थी। इस प्रकार वादी का अभियोग स्पष्टत नेपाल सरकार और उसके शासक के विरुद्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार कलकत्ता के न्यायालय इस अभियोग की सुनवाई का अधिकार नहीं रखते।

न्यायालय ने प्रतिवादी के तर्क को अस्वीकार कर दिया। बाद में भारत स्थित नेपाल के राजदूत ने *न्यायालय में एक आवेदन-पत्र द्वारा यह प्रार्थना की कि* विदेशी राज्यों को प्राप्त उन्मुक्ति के आधार पर इस मामले को रद्द करदें और सम्बन्धित राजदूत को इस मामले में उन्मुक्ति का दावा करने का अधिकार दे। न्यायाधीश ने इस आवेदन पत्र को रद्द करते हुए यह तर्क दिया कि दीवानी विधि प्रक्रिया की सहिता में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है कि किसी विवाद से सम्बन्ध न रखने वाला व्यक्ति उस विवाद को रद्द करने की प्रार्थना करे। नीचे की अदालत के इन दोनों आदेशों के विरुद्ध कलकत्ता में उच्च न्यायालय में दो अपीलें की गई और एक साथ इनकी सुनवाई की गई। पहली अपील में यह कहा गया था कि न्यायाधीश को विवाद के गुण और अवगुणों पर विचार करने से पूर्व यह निर्णय लेना चाहिए कि अपीलकर्ता नेपाल सरकार का अंग है अथवा नहीं है। दूसरी अपील में यह कहा गया था कि यदि विदेशी राज्य अप्रत्यक्ष रूप से भी किसी विवाद से सम्बन्ध रखता है तो उसे यह अधिकार है कि विचार के दौरान किसी समय वह न्यायालय से यह प्रार्थना कर सके कि मामले की सुनवाई की जाए अथवा न की जाए। इस प्रकार न्यायालय को तीन प्रश्नों पर विचार करना था—विदेशी राज्य तथा राजा को क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति का स्वरूप और मात्रा, इस उन्मुक्ति की माँग का अधिकारी *किसे माना जाए और यह माँग किस प्रकार की जानी चाहिए।*

इस विवाद के समय न्यायाधीश ने यह मत प्रकट किया कि यद्यपि दीवानी विधि प्रक्रिया सहिता में विदेशी राजा अथवा सरकार को दीवानी मामलों में उन्मुक्ति *की माँग का उल्लेख नहीं किया गया है। फिर भी प्रश्न यह है कि क्या* न्यायालय विदेशी राजा या सरकार से सम्बन्धित मामलों पर विचार कर सकते हैं? न्यायाधीश का विचार था कि सामान्य कानून के नियम भविष्य के सम्भावित मामलों के बारे में पहले से ही व्यवस्था नहीं कर सकते। इसलिए किसी विशेष प्रश्न का निर्णय सामान्य नियमों से किया जाना चाहिए। ऐसे विवाद में लॉर्ड सभा ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो सामान्य नियमों का प्रतिपादन किया है—(1) स्वदेशी न्यायालय किसी विदेशी न्यायालय से सम्बन्ध रखने वाले मामले में उसी इच्छा के विरुद्ध ऐसी कोई कानूनी कार्यवाही नहीं करेंगे जिसमें वह स्वयं कोई पक्ष बने। विदेशी राजा, उसकी सम्पत्ति अथवा हर्जाने की माँग की कोई कार्यवाही नहीं कर सकता। (2) न्यायालय विदेशी राजा से सम्बन्ध रखने वाली, उसके स्वामित्व अथवा उसके नियन्त्रण में स्थित किसी सम्पत्ति को जब्त करने या रोकने के बारे में कोई कार्यवाही कर सकता है। न्यायालय ने इन नियमों की पुष्टि में अनेक तर्क प्रस्तुत किए तथा विवाद प्रस्तुत किए। इन्हीं नियमों को प्रस्तुत विवाद में न्यायाधीश ने लागू किया। न्यायालय का निर्णय यह था कि विवाद को रद्द कर दिया जाना चाहिए और आगे कोई कार्यवाही नहीं की जानी चाहिए।

(53) कमिश्नर ऑफ इन्कम टैक्स आन्ध्र प्रदेश विरुद्ध एच ई. एच मीर उस्मान अली बहादुर (1966)

यह विवाद क्षेत्राधिकार से सम्बन्धित था। सर्वोच्च न्यायालय ने इस सम्बन्ध में यह निर्णय दिया था कि निजाम हैदराबाद अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से एक प्रभुता-सम्पन्न राज्य का शासक है और इसलिए भारतीय आयकर कानून में वह उन्मुक्त है।

आन्ध्र प्रदेश के उच्च न्यायालय के अनुसार निजाम 25 जनवरी, *1950* तक एक सम्प्रभु राजा था, किन्तु इसके बाद राजा न रहने पर आयकर अधिनियम में उन्मुक्त नहीं रहा। बाद में इस प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय ने विचार किया और उच्च न्यायालय के मत को अस्वीकार कर दिया।

सर्वोच्च न्यायालय के सामने विचारणीय बातें दो थी–(i) विदेशी राजाओं को कर में मुक्ति पाने के अधिकार की मात्रा एवं स्वरूप क्या है, (ii) क्या हैदराबाद *के निजाम को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति अथवा प्रभुता सम्पन्न राजा माना जा सकता है?* प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध में अभी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास हो रहा है। कुछ विचारक सम्प्रभु को प्रत्येक कर से पूर्णत उन्मुक्त मानते हैं। अन्य विचारकों ने इस उन्मुक्ति पर सीमा लगाई है। विदेशी व्यापार में प्रयुक्त की जाने वाली इन शासकों की सम्पत्ति को वे उन्मुक्त नहीं मानते। दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय का मत था कि स्वतन्त्रता से पूर्व भारत की सर्वोच्च शक्ति ब्रिटिश ताज में थी। उस समय हैदराबाद का स्तर वशवर्ती राज्य (Vassal States) का था। इस प्रकार के राज्य आपस में अथवा विदेशी राज्यों के साथ कोई अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध नहीं रख सकते। *1947* के भारतीय स्वतन्त्रता कानून द्वारा ब्रिटिश सम्प्रभुता समाप्त हो गई और रियासतों की सर्वोच्च शक्ति उन्हें प्राप्त हो गई। इतने पर भी उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व नहीं मिला। किसी विदेशी राज्य ने हैदराबाद को *वास्तविक या कानूनी रूप में मान्यता नहीं दी। इस प्रकार किसी भी समय अन्य* राज्यों ने इसे स्वतन्त्र राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया। बाद में हैदराबाद सन्धि-वार्ता द्वारा भारतीय राज्य का एक अंग बन गया। प्रो हॉल ने भी यही मत प्रकट किया है कि भारतीय रियासतें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय नहीं बन सकतीं। अन्त में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि हैदराबाद को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त नहीं था। इसलिए इसका राजा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर सम्पत्ति पर लगाए कर से मुक्ति का दावा नहीं कर सकता।

(54) डॉ रामबाबू सक्सेना विरुद्ध राज्य (1950)

यह विवाद उत्तराधिकार के प्रश्न से सम्बन्धित था। इसके तथ्य यह थे–1869 में ब्रिटिश सरकार ने भारत के टोंक राज्य में सन्धि की। इसके अनुसार उन अपराधियों के प्रत्यर्पण की शर्तें का उल्लेख किया गया था जो भयंकर अपराधों के अपराधी थे। इस अपराधों में छल तथा बलात् अपहरणों को शामिल नहीं किया गया था। 1903 के प्रत्यर्पण अधिनियम द्वारा छल और बलात् ग्रहण को भी

अपराध मान लिया गया। 1947 मे स्वतन्त्रता अधिनियम की तरह देशी रियासतो पर से ब्रिटिश प्रभुसत्ता समाप्त हो गई और टोंक राज्य को भारत सघ मे विलय करके राजस्थान का भाग बना दिया गया। इस राज्य मे डॉ रामबाबू सक्सेना को 1948 मे कार्य करने को भेजा गया। यह उत्तर प्रदेश की नागरिक सेवा का सदस्य था। उत्तर प्रदेश वापस आने पर मि सक्सेना पर छल तथा बलात् ग्रहण का आरोप लगाया गया और 1903 के प्रत्यर्पण अधिनियम की धारा 7 के अनुसार गिरफ्तार कर लिया गया। इसके विरुद्ध उसने अपील की और कहा कि प्रत्यर्पण कानून की धारा 18 और 1869 की प्रत्यर्पण सन्धि की दृष्टि से उसे पकडना अवैध था।

न्यायालय ने मि सक्सेना की अपील को अस्वीकार कर दिया क्योंकि टोंक आजकल कोई स्वतन्त्र राज्य नही वरन् किसी राज्य का एक भाग है। इसके द्वारा पहले की गई सन्धियो का कोई महत्त्व नही रहा है।

(55) पुर्तगाल विरुद्ध भारत (1960)

पुर्तगाल सरकार ने एक आवेदन-पत्र द्वारा यह घोषित किया कि पुर्तगाल के राष्ट्रजनो और पुर्तगाल द्वारा अधिकृत व्यक्तियों को भारत स्थित दमन नामक क्षेत्र से दादरा एव नगर हवेली जाने का अधिकार है। आवेदन-पत्र मे भी यह कहा गया कि पुर्तगाल और भारत ने न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को मान्यता दी है। इसलिए न्यायालय को इस विवाद के सम्बन्ध मे निर्णय देने का अधिकार है।

सितम्बर, 1959 मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस विवाद पर विचार किया। पुर्तगाल सरकार का मत इस सम्बन्ध मे यह था कि "गुजरने का अधिकार (Right of Passage) अप्रत्यक्ष स्वीकृति पर निर्भर है और यह उन बस्तियो पर पुर्तगाली सम्प्रभुता का स्वाभाविक और आवश्यक परिणाम है। जब तक गुजरने का अधिकार नही होगा तब तक पुर्तगाल इन बस्तियों पर अपने सम्प्रभुता के अधिकार का प्रयोग नही कर सकता।"

इसके विरुद्ध भारत का मत यह था कि यह उसका घरेलू विवाद है और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को इस विषय पर क्षेत्राधिकार नही है। यह तर्क अपर्याप्त है कि पुर्तगाल भारत स्थित अपने उपनिवेशो मे सत्ता का प्रयोग तभी कर सकता है जब उसे भारतीय क्षेत्र मे होकर आने-जाने का अधिकार दिया जाए।

अप्रैल, 1960 मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना निर्णय भारत के पक्ष मे दिया। न्यायालय का मत था कि पुर्तगाल सशस्त्र सैनिकों को भारतीय क्षेत्र मे होकर नही ले जा सकता। ऐसे सैनिकों को भारत की पूर्व अनुमति लेनी होगी।

परिशिष्ट

अन्तर्राष्ट्रीय विधि संघ का 56वाँ सम्मेलन

(अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सामाजिक परिवर्तन)

अपने जीवन के दूसरे शतक में प्रवेश करते समय अन्तर्राष्ट्रीय विधि संघ का छप्पनवाँ सम्मेलन, पहली बार ब्रिटेन से बाहर, नई दिल्ली में 30 और 31 दिसम्बर, 1974 को हुआ। इसका उद्घाटन करते हुए तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने यह आरोप लगाया कि विश्व के विकसित देश 'अपनी पूँजी की सुरक्षा के हित में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का दुरुपयोग कर रहे हैं। इसके नवनिर्वाचित अध्यक्ष तथा भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश अजीतनाथ राय ने कहा कि विश्व समुदाय में कानून का महत्त्व विधि संहिता और सामाजिक परिवर्तन में स्वस्थ तालमेल स्थापित करना है। इस सम्मेलन में 43 देशों के 400 प्रतिनिधियों ने भाग लिया, जिनमें भारत के 105 विधिशास्त्री भी थे। सम्मेलन की शुरुआत में संघ के अवकाश ग्रहण करने वाले अध्यक्ष प्रोफेसर सी जे आम्सडेड ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि संघ के विकास में भारतीय विधिशास्त्रियों के योगदान की सराहना की। अन्तर्राष्ट्रीय विधि-आयोग की कार्य समिति के अध्यक्ष लॉर्ड विलबफोर्स ने प्रतिनिधियों को आह्वान किया कि वे व्यक्ति और मानवता के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों को राज्यों के प्रहार से बचाने के हित में संघर्ष करें। इस सम्मेलन के लिए भेजे गए सन्देश में ब्रिटेन की महारानी ऐलिजाबेथ ने शुभकामना सन्देश देते हुए इस बात का स्वागत किया कि संघ के सौ वर्ष के जीवन के बाद इसका अधिवेशन एक राष्ट्रमण्डलीय देश में हो रहा है।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने अपने उद्घाटन भाषण में विश्व के साधनों के समुचित बँटवारे पर बल देते हुए कहा कि समृद्ध और शक्तिशाली राष्ट्र कभी-कभी अपनी पूँजी की सुरक्षा के बारे में बहुत ही चिन्तित हो जाते हैं तथा इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अपने हित में दुरुपयोग करते हैं। उन्होंने कहा कि जो राष्ट्र सैनिक या आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली हैं, वे दूसरे राष्ट्रों के लिए कानून बनाने का अधिकार भी अपने ही पास रखना चाहते हैं। उन्होंने प्रतिनिधियों से पूछा क्या यह समृद्ध राष्ट्रों की नए तरीके की दादागिरि नहीं है कि वे विकासशील देशों के निवासियों की जनसंख्या को अपने जीवन-स्तर के लिए खतरा मानने लगे हैं।

श्रीमती गांधी ने उन्नत राष्ट्रों से कहा कि यह उनका दायित्व है कि वे निर्धन राष्ट्रों में आत्म-विश्वास पैदा करें और ऐसे आत्म-विश्वास के लिए सम्भवत विदेशों में पूँजी लगाने में एक ऐसे नए दृष्टिकोण को बनाएँ जिसमें यह कार्य सेवा के अन्तर्गत हो, न कि पूँजी विस्तार की दृष्टि से। इन्होंने कहा, लम्बे अर्से तक पराधीन रहने के बाद अब अनेक राष्ट्र स्वतन्त्र हुए हैं तब राष्ट्रीयता को व्यर्थ मानना गलत होगा और इसी तरह से यह मानना भी उचित नहीं होगा कि इन नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों को अपनी आर्थिक शक्ति सगठित करने का प्रयास एक नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास में बाधक होगा। उन्होंने कहा कि यदि विश्व शान्ति और मानव कल्याण की रक्षा करनी है तो नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों की राष्ट्रीयता तथा आर्थिक महत्त्वाकाँक्षाओं का सम्मान करना चाहिए और इस दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उन्होंने कहा कि पिछले कुछ वर्षों में शीतयुद्ध की समाप्ति तथा राष्ट्रों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि से प्रतिस्पर्धा और सघर्ष में जो कमी हुई है उसमें अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विधि का विकास हुआ है और व्यापार जहाजरानी तथा व्यापारिक करारों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। फिर भी व्यापक हितों की दृष्टि से अधिकाधिक सहयोग का विकास होना चाहिए तथा इस दिशा में समृद्धि से प्राप्त साधनों और बाह्य अन्तरिक्ष सम्बन्धी तकनीक के बारे में विधि का विकास जरूरी है। उन्होंने कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास से सभी जगह विधि विहित शासन का विस्तार होना चाहिए तथा उसे सभी प्रकार के भेदभाव की समाप्ति के सघर्ष में सहायक होना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि संघ के छप्पनवें सम्मेलन के नव-निर्वाचित अध्यक्ष अजीतनाथ राय ने कहा कि बदलती हुई परिस्थितियों की आवश्यकताओं की पूर्ति में अन्तर्राष्ट्रीय विधि को सहायक होना चाहिए। उन्होंने कहा कि संघ को इस आशय से दो दिशाओं में काम करना चाहिए—अन्तर्राष्ट्रीय विधि के कुछ ऐसे पक्षों की छानबीन जो कि विकासशील राष्ट्रों के लिए अवरोध बन रहे हैं, तथा समग्र विश्व समुदाय के हित में आर्थिक साधनों के उपयोग के लिए सुरक्षात्मक व्यवस्था और नियमों का विकास। उन्होंने कहा कि संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक परिषद् (यूनेस्को) तथा इन क्षेत्रों में काम करने वाली गैर-सरकारी संस्थाओं के बीच तालमेल की परिकल्पना की गई थी, तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि संघ इस दिशा में बहुत काम कर सकता है। उन्होंने कहा कि तकनीकी प्रगति, आर्थिक सहायता और वित्तीय सम्बन्धों में तालमेल तथा समन्वय करना होगा और इस दृष्टि से उन्नत देशों को विकासशील देशों का यह दावा स्वीकार करना होगा कि उनका दायित्व है कि वे अपनी आर्थिक नीतियाँ ऐसी बनाएँ कि निर्धन राष्ट्रों का अहित न हो।

श्री अजीतनाथ राय ने कहा कि राष्ट्रों के अन्दर विभिन्न वर्गों के बीच जो असमानताएँ हैं वे ही कमोबेशी विकसित और विकासशील राष्ट्रों के बीच परिलक्षित होती हैं। उन्होंने कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय अधिवक्ताओं का यह दायित्व है कि वे इस

विषमता को घटाएँ। उन्होंने कहा कि कानून का मुख्य कार्य यह है कि शक्तिशाली को जिम्मेदार बनाएँ और एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका में उभरने वाले नए राष्ट्रों की आकांक्षाओं को ध्यान में रखकर बदलती हुई परिस्थिति में नई मान्यताएँ प्रदान करें।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि संघ की एक अध्ययन समिति ने आतंकवादी कार्यों के सन्दर्भ में यह चेतावनी दी कि यदि उपयुक्त कानूनी कदम नहीं उठाए गए तो वह दिन दूर नहीं जबकि राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक मान्यताओं तथा विचारों की भिन्नता को दरकिनार रखकर किसी भी व्यक्ति या देश का सुरक्षित रहना सम्भव न रह जाए। सम्मेलन की अठारह सदस्यीय समिति ने यह मत प्रकट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को प्रभावहीन बनाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अपराध सम्बन्धी वर्तमान कानूनों को लागू करना जरूरी है। इसके अतिरिक्त सम्मेलन की विभिन्न समितियों में इन प्रश्नों पर चर्चा हुई—संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कानून और जल साधन।